

सौनी सुधा तामहति सौम्यः देवतुल्य ।' दण्डादित्व से 'य' प्रत्यय होगा और देवतुल्य अर्थ में सौनी + य = सौम्य निष्पन्न हो जायेगा । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग और उपना बलकार ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि वा त्वदीक्षामुद मदक्षपोरपि याऽतिशेताम् ।

निजामृते लोचनसेचनाद्वा पृथक्किमिन्दुस्तृजति प्रजानाम् ? ॥ ५८ ॥

जीवात्—अथ यदुक्त त्वेष्वित् किं विदधे ? अनिषेहाति, तत्रोत्तर-माह—मत्प्रीतिमिति । वा मत्प्रीतिं किं वा मदीप्सितमित्यर्थः । आधित्सति आघातुं कर्तुं निच्छति ? दधाते स्रज्ज्वात् । वा प्रीतिर्नदक्ष्यो त्वदीक्षामुद त्वदीक्षणप्रीतिमतिशेतान्त्वदर्शनोत्सवादन्त्यत्किं मनेष्वितमित्यर्थः । तथाहि इन्दु प्रजाना जनाना निजामृते लोचनसेचनान् पृथक् अन्यत् 'पृथग्विने'त्यादिना पञ्चमी । किंवा नृजति करोति न किञ्चित् करोतीत्यर्थः । दृष्टान्तालङ्कार ॥ ५८ ॥

अन्वय—वा मत्प्रीतिम् अधित्ससि, वा मदक्षणे त्वदीक्षामुदम् अपि अतिशेताम् ? इन्दु निजामृते प्रजानां लोचनसेचनान् पृथक् किं वा नृजति ?

हिन्दी—और कौन-सा मेरा प्रिय-तपादन करो, जो मेरे नेत्रों को तुम्हारे दर्शन से प्राप्त आनन्द को भी अतिशय कर जाय ? अथवा चन्द्र अपनी अनृत-किरणों से लोक जना के लोचन परिषिक्त करने के अतिरिक्त और किस कार्य का सपादन करता है ?

टिप्पणी—अनिजति बचनों की पराकोटि । वाच्य यह है कि तुमने दर्शन देकर मुझे जलन्त प्रसन्न किया । यह प्रशंसि है । चन्द्र अमृत वर्षा करके लोचनानन्द ही तो दे सकता है । इस ने वाचनवें श्लोक में कहा था—'तवेष्वित् किं विदधेऽभिदेहि' । सो दमयन्ती उसके उत्तर में संकेत करती है कि यदि अन्य कुछ कर सकते हो तो तुम नक्ष-प्राप्ति के निमित्त बल करो । यह संकेत अगले श्लोक में और स्पष्ट है । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टात् बलकार, विद्याधर के अनुसार आक्षेप ॥ ५८ ॥

मनस्तु य नोज्झति जातु यानु मनारयं दण्डनय कथं स ।

का नाम वाला द्विजराजपाणिग्रहामिलाप कथयेश्निज्ञा ॥ ५९ ॥

जीवात्—अथ सर्वथा मनोरथ-कथनीय इत्यभिप्रेत्य तत्र कथयमित्याह—

मनस्त्विति । मनो मन्चिच्च कर्तृ य मनोरथ जातु कदापि नोज्जति न जहाति, स मनोरथ कण्ठपथ वाग्विषयम् उपकण्ठदेश च कथं यातु, सम्भावनाया लोट् । सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः । केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भावः । कुत ? अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला का वा स्त्री द्विजराजस्य इन्दो पाणिना, ग्रहे ग्रहणे अभिलाप कथयेत् । तथा द्विज ! पक्षिन् ! राजपाणिग्रहाभिलाप नलपाणिग्रहणेच्छामिति च गम्यते तथा च दुलभजनप्रार्थना द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्पदीभूता कथं लज्जावत्या वस्तु शक्या इत्यर्थः । पूर्व एवालङ्कार ॥ ५९ ॥

अन्वय — स मनोरथ कण्ठपथ यातु, मनः य जातु न उज्जति ? का नाम अभिज्ञा बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाप (अथवा 'द्विज, राजपाणि-ग्रहाभिलापम्') कथयेत् ?

हिन्दी—वह अभिलाप (नलेच्छा) कठमार्ग से बाहर (वचनगोचर) कैसे हो, मन जिसे कमी त्यागता ही नहीं ? कौन समझदार बाला चंद्रमा को हाथ में पकड़ने का अभिलाप कह सकती है (जबकि इच्छा कर भी नहीं सकती) अथवा हृद्विज (पक्षी), कौन अभिज्ञा बाला राजा नल से विवाह होने की अभिलापा कह सकती है ? नल तो दुलभ है, उसकी इच्छा करना भी 'बालता' है ।

टिप्पणी—दमयंती नल की प्राप्ति दुलभ अथवा इतनी असंभव मानती है कि उसकी इच्छा करना ही मूर्खता है, अभिलाप कथन और भी बड़ी मूर्खता है । नल तो उस चंद्र के समान है, जिसे हाथों पकड़ा ही नहीं जा सकता । 'अभिज्ञा' का पाठांतर 'अलज्जा' भी है । उस स्थिति में यह अर्थ भी होगा कि पाणिग्रहण के विषय में तो प्रीडा भी नहीं कह सकती, क्योंकि निलज्जा कौन बनेगी ? 'बाला' तो कमी कह ही नहीं सकती । मल्लिनाथ क अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर के अनुसार अनुशास और श्लेष ॥ ५९ ॥

यात्र तदीया परिपीय मृद्धी मृद्धीकया तुल्यरसा स हस ।

तत्याज तोषं परपुष्टुष्टे घृणाश्च वीणाववणिते वितेने ॥ ६० ॥

जीवानु—वाचमिति । स हस' मृद्धीकया दासया, 'मृद्धीना गोस्त्वनी

दोस्रोत्वमर । तुन्वरता समानस्वादा मधुरार्थामित्यर्थ । मृद्धी मधुराक्षरा
तदीया वाच परिपीय अत्यादरादाकर्ष्य परपुष्टपुष्टं कोकिलकूजिते तोप प्रीति
तत्याज, बीणाक्वणिते च घृणा जुगुप्सा 'घृणा जुगुप्साहृपयोरि'ति विश्व ।
चित्तेने ॥ ६० ॥

अन्वय—उस हंस मृद्धीक्या तुन्वरता तदीया मृद्धी वाच परिपीय परपुष्ट-
पुष्टे तोप तत्याज बीणाक्वणिते च घृणा वित्तेने ।

हिन्दी—उस हंस ने डाँसा रस के समान मधुररसनीय उस (दमयन्ती)
को कोमल वाणी का परिपान करके (भलोभाति तुनकर) कोकिल कूजन पर
नृष्टि को त्याग दिया और बीणा के झनकार के प्रति घृणा प्रकट की ।

टिप्पणी—आशय यह कि दमयन्ती की वाणी कोकिल-स्वर और बीणा
की झङ्कति से अधिक सरस और कोमल है । अनुपाय और प्रतीप बलकार । ६०।

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्या समकुञ्चितवाचि हंसः ।

तच्छित्ते किञ्चन सश्यालुगिरा मुखाम्नोजमयं युयोज ॥ ६१ ॥

जोवातु—मन्दाक्षेति । तस्या भूम्या मन्दाक्षेण ह्लिया मन्दा सन्दिग्धार्था
जज्ञरमुद्रा 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्यक्षरविन्यासो यस्मिन् उत्तयोक्तमुक्त्वा
समाकुञ्चितवाचि निपमितवचनाया सरयामच हंसस्तच्छित्ते भंभीनापिते
किञ्चन किञ्चित्तश्यालु सन्दिहान- सन्, 'सृष्टिही'त्यादिना जालुच्
प्रत्यय । मुखाम्नोज गिरा युयोज मुत्तेन गिरमुवाचेत्यर्थ ॥ ६१ ॥

अन्वयः—अप हंस मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रम् उक्त्वा तस्या समाकुञ्चितवाचि
तच्छित्ते किञ्चन सश्यालु मुखाम्नोज गिरा युयोज ।

हिन्दी—उस हंस ने लज्जा से थोड़े शब्दों में कहकर उस (दमयन्ती) के
चुप हो जाने पर उसके कथन पर कुछ संदेह करते हुए मुखकमल में वाणी की
योजना की (कहने के लिए मुख-कमल खोला) ।

टिप्पणी—दमयन्ती के लज्जा के कारण सश्ट न कहने पर हंस को थोड़ा-
सा संदेह बना रहा । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और समासोपना
बलकार ॥ ६१ ॥

कण वाञ्छेव विद्यु विद्युं यमित्यभात्यादरिणी तमयंम् ।

पानु श्रुतिन्यामपि नाधिकुर्वं वग श्रुतेर्वर्ण इवान्तिमः किन् ॥ ६२ ॥

जीवातु—करेणिति । हे भैमि ! करेण विष्णु चन्द्र विधत्तुं ग्रहीतु वाञ्छेव यमयमित्य 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती आत्थ ब्रवीषि, 'ब्रुव पञ्चानामिति ब्रुवो छटि सिपि थलादेश ब्रुवश्चाहादेश 'आहस्य' इति हकारस्य थकार । तमर्थमन्ते भवोऽऽतितमो वणं पूद्र, 'अन्ताच्चेति वक्तव्यमिति इमच् । श्रुतेर्वणं वेदाक्षरमिव श्रुतिम्या पातु श्रोतुमधीत्यर्थं । नाधिकुर्वे नाधिकायस्मि किम् ? अस्म्येवेत्यर्थः । अत सोऽर्थो वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

अन्वयः—करेण विष्णु विधत्तुं वाञ्छा इव यम् इत्यम् आदरिणी आत्थ तम् अथम् अन्तिम वणः श्रुते वणम् इव श्रुतिम्या पातुम् अपि न अधिकुर्वे किम् ?

हिन्दी—'हृथ से चद्रभा-पकड़ने' की आकाशा के समान जिस (प्रयोजन) को तुमने इतने गोपनीय और आदर के साथ कहा, उस अथ को—जैस चतुर्वर्णों में अतिवचन (पूद्र) वेद के अक्षर को कान मे डालने का अधिकारी नही होता, वैसे ही मैं क्या सुनने का भी अधिकारी नही हूँ ?

टिप्पणी—दसयती ने कहा था—'का नाम वाला द्विराजपाणिग्रहामिलाप कथयेत्' । इसमें 'द्विजराज' का अथ चद्र है और 'द्विज + राज'—इस प्रकार पदच्छेद करके 'राज' (नल) भी हो जाता है । इसी अस्पष्टता पर हस का आक्षेप है । वह कहता है कि मैंने रहस्य-गोपन का विश्वास दिलाया, नल से सबथ जतलाया, पर फिर भी सलज्जता के नाम पर मुझसे दुराव छिपाव ? बाक्य से अर्थ होता है कि हस इस रहस्य का जानन का अधिकारी है । वह इतना चाहता है कि वह केवल दचनीय ही नही है, नल-प्राप्ति में पूण सहायक भी है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा ॥ ६२ ॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तेरुपचामपि वर्त्तत य ।

यत्रान्यकारः खलु चेतसोऽपि जिहोतरेत्रंहा तदप्यवाप्यम् ॥ ६३ ॥

जीवातु—ननु तमथमत्य तदुलमत्वाद्भवतु जिह्वेमीत्यासङ्गुपाह—अर्थाप्यत इति । हे भैमि ! भवत्या भिवा इयदेतावद्यथा तथा अर्थाप्यते किमयमयमर्थो

द्विजराजपाणिग्रहवदति दुर्लभत्वेनाख्यायत इत्यर्थ । अर्थशब्दात्तदाक्षटे इत्यर्थे
 पिच 'अर्थवेदकत्वानामापुण्यकनव्य' इत्यापुत्रात् । कृतस्तयानाल्येव इत्यत
 बाह-योर्ध्वं एक पादो यस्यामित्तेकपदी एकपादनश्चारयोभ्यमागं । 'वक्तव्येक-
 पदीति चे'त्यमर । 'कुम्भीपक्षीषु चे'ति निपातनात् साधु । चित्तैकपद्या
 मनोभागोपि वक्तते चक्षुराद्यविषयत्वेऽभीत्यपिशब्दार्थं । स कथं दुर्लभ इति
 नाव । तथाहि—यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसोऽप्यन्वकारः प्रतिबन्ध तद्
 ब्रह्म जिहोतरैरकुटिलं कुशलधीनिरिति यावत् । अवाप्य मुप्रापन् अननोगम्य
 ब्रह्मापि कैश्चिद् गम्यते, किमुत मनोगतोऽयमर्थः । अथ एवार्थापत्तिरलङ्कारः ।
 'कमुत्वेनार्थान्तरापतनमर्थापत्तिरिति' वचनात् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—भवत्या किं वा इयत् अर्थाप्यते य चित्तैकपद्याम् अपि वक्तते ?
 यत्र चेतसः अपि अन्वकारः, तद् ब्रह्म अपि जिहोतरं अवाप्य ललु ।

हिन्दो—(उच्ये) आप इतना दुप्राप्य क्यों मान रही हैं जो मन की
 पाददो में विद्यमान है (मन में छिपी जिसकी इच्छा है) ? जिसके विषय में
 चित्त का नी अवेरा है (मन में स्पष्टता नहीं है), वह ब्रह्म भी अलस व्यक्तियों
 से भिन्न (आलस्यहीन) व्यक्ति द्वारा निश्चय पूर्वक प्राप्य है ।

टिप्पणी—नाव यह है कि आपके मन का नाव न तो पूर्णत छिपा ही है
 और न नल अप्राप्य ही है और उत्तर में उद्योगी व्यक्ति तो ब्रह्म को नी पा
 लेते है, जो अवाङ्मनोगोचर है । अप्राप्य है, अननोगम्य ब्रह्म भी जब प्राप्त हो
 जाता है, तब नलप्राप्ति तो मनागत अर्थ है । अतएव मल्लिनाथ के अनुसार
 यहाँ अर्थापत्ति अलङ्कार है, विद्याधर विरोधानास मानते हैं ॥ ६३ ॥

ईशाणिर्मन्त्रविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये ।

तिर्यन्धमप्यञ्च मूपानभिन्नरसज्ञतोपज्ञतमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

जीवातु—अथ मयि मूपावादित्वाशङ्कया वक्तुं सङ्कोचस्तच्च न शङ्कित-
 व्यमित्याह—ईशेत्यादिना त्रयेण । ईशस्य यदणिर्मन्त्रवर्तं तस्य विवर्तौ रूपान्तर
 मध्ये यस्या सा तयोक्ता है इशोदरीत्यय । लोकेशलोके शेरत इति लोके-
 शलोकाया ब्रह्मलोकवासिनः 'अधिकरणे शैनेरि'त्यन्वृत्त्यय । 'शयवासवाति-
 प्यकालादि'त्यनुक्तेषा लोकाना जनाना मध्ये जज्ञ मूढ तिर्यञ्च पक्षिणमपि

मामिति शेष । मृषा जनूत तस्य जनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य नाव-
स्तता सत्यवादितेत्यर्थ । उपज्ञायत इति उपज्ञा आदावुपज्ञाता, 'उपज्ञा ज्ञान-
माद्य स्यादित्यमर । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्यय बहुलग्रहणात् कर्माथत्व
तथात्वेन ज्ञात तदुपज्ञम् 'उपज्ञोपश्रम तदाद्याचित्वासायामि'ति नपुसकत्वम् ।
सम साधारण सर्वज्ञायत इति समज्ञा कीर्तिः पूर्ववदङ्प्रत्यय तदुपज्ञ तथात्वे
नादी ज्ञाता समज्ञा कीर्तियेन त तयोक्त मामञ्च, सत्यवादिन विद्वीत्यर्थ ।
अञ्चतेगत्यथत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ॥ ६४ ॥

अन्वय — ईशाणिमैश्वर्यं विवर्तमध्ये लोकेशलोकेद्यलोकमध्ये अज्ञ
तिर्यञ्चम् अपि मृषानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् अथ ।

हिंदी—हे परमेश के (अष्टविध) ऐश्वर्य के मध्य जो अणिमानामक
ऐश्वर्य है, उसके विवर्त (रूपांतर)—रूप मध्यनाम वाली (सूक्ष्मकटि),
लोकेश्वर (ब्रह्मा) के लोकवर्ती जनों के मध्य (ब्रह्मलोकवासी प्राणियों के
बीच) मुझ अज्ञानी पक्षी को भी तुम असत्य से अपरिचित (सत्यवादी)
और रसज्ञ (सहृदय) जनों के शाबो का आद्यज्ञानी और समज्ञाता समतकर
पूजो (जयवा 'अज्ञम्' को केवल 'अञ्च' से पूर्य अन्वित करलेने पर सत्य-
वादिता और सहृदयता के रसज्ञाता मुझ सबज्ञ को तुम अज्ञानी समझो) ।

टिप्पणी—पारोरिक सौन्दर्य के द्योतक संबोधन 'कृशोदरि' से दमयती
का संबोधित कर हस उसे यह वधाना चाहता है कि ब्रह्मशक्र के प्राणियों के
मध्य अज्ञाना पक्षी होते हुए भी मैं सत्यवादी और रसज्ञ सहृदय हूँ, ऐसा
समज्ञ पूजनीय हूँ, पर ऐसे मुझे तुम यदि मूर्ख समझोगी तो इससे तुम्हारी ही
हानि है । ब्रह्मलोक के सत्यवादी और रसज्ञ प्राणियों के बीच रह मैं मूर्ख
और अरसिक कैसा हो सकता हूँ ? श्रीहृष ने ऐसी पण्ड योजना की है कि
दोनों भाव मङ्गलित हो जाते हैं । विद्याघर के अनुसार यहाँ ओज गुण और
अनुप्रास अलंकार हैं । अष्टसिद्धियाँ (ऐश्वर्य) हैं—अणिमा, महिमा, गरिमा,
लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य (अभिलषित वा लेने की क्षमता), ईशित्व
(सामध्यातिजय) और वसित्व । 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्ति प्राकाम्यमोशित्व वसित्व चाष्टसिद्धयः' ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीना प्रतिवेशिनीना सरस्वती वासवती मुखे नः ।

ह्रियेय तान्यश्चलतीपमद्वापयात्र समगंगुणेन वद्धा ॥ ६५ ॥

जीवानु—मध्य इति । किं च, प्रतिवेशिनीना प्रतिवेशना श्रुतीना वेदाना ब्रह्ममुखस्थाना श्रुतीना मध्ये वासवती निवसन्ती इय नोऽस्माक मुखे सरस्वती वाक् सप्तं एव गुण. श्लाघने तन्नुत्तरे तन्वद्धा चरी, तान्य श्रुतिन्यो ह्रियेवेषुल्लेखा । अद्वापयान्त्यनागान् बद्धति सर्वो जा दोषगुणा भवन्तीति भाव । 'तत्पे त्वद्वाङ्मयाद्वयमित्यनर ॥ ६५ ॥

अन्वय—न मुखे इय सरस्वती प्रतिवेशिनीना श्रुतीना मध्ये वासवती सप्तगंगुणेन वद्धा तान्यः हिना इव अद्वापयान् न चलती ।

हिन्दी—हमारे मुख में विद्यमान यह सरस्वती (वाणी) पर्वतोंकी श्रुतियों (वेदों) के मध्य में स्थित रहने से सप्त गुण से सर्वदृष्टीके, काइप्रः उनकी लज्जा से ही जैसे अल्पपय से विचलित नहीं होती । (अथवा 'वद्धा अयात्' पदच्छेद करनेपर 'निर्वयपूर्वक 'अपय' अयात् कुमां पर नहीं चलती') ।

टिप्पणी—श्रुतिसमूह व्यवहार करने वाला कुपय पर चल ही नहीं सकता, वह अल्पपय से विचलित नहीं होता । इस की वाणी तो वेदों की प्रतिवेशनी है, वह कैसे जूड़ी हो सकती है ? मल्लिनाथ के अनुसार उरदेशा, विद्याधर ने समासाक्ति और उपना का निर्देश किया है ॥ ६५ ॥

पर्यङ्गनापन्नसरस्वदद्धा लङ्कापुरीमप्यभिलापि चित्तम् ।

कुत्रापि चेद्वन्मुनि ते प्रयाति तदप्यवेहि स्वयं शयालु ॥ ६६ ॥

जीवानु—तत् किमित्यत आह—पर्यङ्गेति । कुत्रापि वस्तुनि द्वीपान्तर-स्वेषीति भाव । अनिनापि ज्ञानिनाय ते तव चित्तं कर्तुं पर्यङ्गता वासव-कथिकास्वनापन्न सरस्वान् सारोऽद्भुत्स्वित्त्वं यत्पास्तामविदुं नानित्ययं । ता लङ्कापुरीमपि प्रयाति चेत्तदपि तद्दुःस्मनपि स्वयं स्वहस्ते शयालु स्थितमवेहि । पर्यंस्तनपि पर्यङ्गस्यनिव जानीहि ॥ ६६ ॥

अन्वय—त चित्तं पर्यङ्गतादन्सरस्वदद्धा लङ्कापुरीम् अनिनापि, कुत्र अपि वस्तुनि प्रयाति वेत् (अथवा 'कुत्र अपि अनिनापि ते चित्त

पर्यङ्कतापन्नसम्बद्धा लङ्कारपुरीम् प्रयाति चेत्') तत् अपि स्वहस्ते शयालु
अवेहि ।

हिन्दी—यदि तेरा चित्त जिमके परित (चारो ओर) समुद्र का वृत्त
घिरा हुआ है (अथवा समुद्र जिसका पलग (शय्या) बना हुआ है), उस
लका का अमिलापी है, अथवा वह अन्य किसी दुःप्राप्य वस्तु की ओर जा
रहा है (अथवा किसी भी वस्तु की अमिलाप करने वाला तेरा मन समुद्र के
मध्य बसी लका की ओर जा रहा है), तो उसे भी तू अपने हाथ में विद्यमान
समस्त ।

टिप्पणी—दुर्गम समुद्र के मध्य में स्थित दुःप्राप्य लका या ऐसी ही किसी
अन्य वस्तु को भी दमयती प्राप्त कर सकती है, अथ किसी अमिलाप को
पूर्ति तो सरल ही है । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च वभाण भेमी ।

चेतो नल कामयते मदीय नान्यत्र कुत्रापि च साभिलापम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—इतीति । तेन पत्ररथेन पक्षिणा हृष्टेन इतीत्यमीरिता उक्ता
भेमी ह्रीणा स्वयमेव स्वाकृतकथनसङ्कोचाद् लज्जिता, 'नृदविदे'त्यादिना
विकल्पाग्निष्ठानत्वम् । हृष्टा उपायलाभान्मुदिता च सती वभाण । किमिति ?
मदीय चेतो लङ्का नायत, किन्तु नल राजान कामयत इति श्लेषभङ्ग्या
वभाणेत्यर्थ । अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभिलाप न ॥ ६७ ॥

अन्वय —तेन पत्ररथेन इति ईरिता ह्रीणा हृष्टा च भेमी वभाण—मदीय
चेत लङ्काम् न अयते, कुत्र अपि अन्यत्र साभिलापम् न (अथवा मदीय
चेत नल कामयते कुत्र साभिलाप न, अथवा कुत्र अपि अन्यत्र न साभिलाप
मदीय चेत अनल कामयते) ।

हिन्दी—उस हृष्ट द्वारा इस प्रकार संबोधित लङ्का जोर प्रस ता से
पूण भीममुता ने कहा—'मेरा चित्त लका की ओर नहीं जाता, वही ओर भी
अमिलापी नहीं है' । अथवा मेरा चित्त नल की कामना करता है, वही ओर
साभिलाप नहीं है, अथवा वही ओर अनादृष्ट मेरा मन अनल (आग) की
कामना करता है ।

टिप्पणी—राज्य पर कवि का कितना अधिकार हो सकता है, किस प्रकार वह उनके कौशलपूर्ण प्रयोग से व्यय-व्यवहार प्रकट कर सकता है, यह इस श्लोक में स्पष्ट है। एक-सी शब्दावली के विभिन्न पदच्छेद करके तीन व्यय निकल आते हैं, वे व्यय जो दमयती को इच्छा का क्रमिक रूप हैं—(१) दमयती को लका की चाह नहीं है, (२) वह नल की कामना करती है, (३) यदि यह न हो तो आग में जल मरने की इच्छा है। एक लज्जावती कुमारी के सब अनिप्राय संकेतित हो गये। श्रीहर्ष का ही सामर्थ्य है। मल्लिनाथ की टिप्पणी है—कि श्लेष-भंगिमा से सब कुछ कह दिया गया। विद्याधर कहते हैं—‘यहाँ श्लेष है।’ दमयती का हर्ष इसलिए है कि हंस कहता है कि सब कुछ प्राप्त कर सकती है जो भी कामना करे। लज्जा है कि कैसे सीधे शब्दों में अपने नलाभिलाप के प्रकट कर दे ? ॥ ६७ ॥

विचिन्त्य बालाजनशीलशैल लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम् ।

आचष्ट विस्पष्टमनापमानेना स चक्राङ्गपतङ्गशक्र ॥ ६८ ॥

जीवातु—विचिन्त्येति । विस्पष्टमनापमाना श्लेषोक्तिवशात्सदिग्धमेव नापमानामित्ययं । एना दमयन्ती स चक्राङ्गपतङ्गशक्र ह्युपनिधेयु बालाजनस्य मुग्धाङ्गनाजनस्य शील स्वभावमेव शैल लज्जायामेव तथा मज्जदनङ्गनागो यस्य त विचिन्त्य विचार्य आचष्ट, तस्य लज्जाविजितमन्मरत्व ज्ञात्वा लज्जाविसजनार्यं वाचनमुवाचेत्ययं ॥ ६८ ॥

जन्वय—स चक्राङ्गपतङ्गशक्र विस्पष्टम् अनापमानाम् एना बालाजन-शीलशैल लज्जानदीमज्जदनङ्गनाग विचिन्त्य जगाद ।

हिन्दो—वह हंस विहगनो का स्वामी पूर्ण स्पष्ट न कह सकने वाली उस (दमयती) से बालाजा के शील (स्वभाव) रूप-वर्त और लज्जा रूपिणी नदी में डूबते कामरूप हाथी का विचार करते हुए बोला ।

टिप्पणी—स्पष्ट नापण के दो कारण हंस ने समझ लिए—(१) एक तो कुमारी बालिकाओं का शील, जो स्पष्ट नापण को दुर्लभ्य पर्वत-चैसा रोके खड़ा है, (२) लज्जा की अतिशयता, जिसमें कामनाएँ डूब कर रह जाती हैं। भाव यह कि इन ममन गया कि कुमारी जनाचितशील और

लज्जा से अभिभूत दमयती ने जो कह दिया, वही पर्याप्त है। इससे अधिक वह क्या कहती ? विद्याधर के अनुप्रास ऐकानुप्रास और रूपक अलंकार ॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहेति नल मन कामयते ममेति ।

आश्लेषि न श्लेषकवे भवत्या श्लोकद्वयार्थस्मुविधा मया किम् ? ॥ ६९ ॥

जीवातु—नृपेणेति । श्लेषकवे श्लेषभङ्गघा कवयिभ्याः श्लेषशब्द प्रयोक्तव्या इत्यथ, कव्यवर्णन इति घातोरोणादिक इकारप्रत्यय । भवत्यास्तव सम्बन्धि नृपेण कर्त्रा पाणिग्रहण पाणिपीडनम्, 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति विहितया पठुषा 'कर्मणि चे'ति समासनिषेधेऽपि दोषे पठ्योक्तमास । तत्र स्पृहेति मन मनो नल कामयते द्विजराजपाणिग्रहेति चेता नल कामयत इति श्लोकद्वयार्थं सुधिया मया विदुषा नाश्लेषि नाग्राहि किं ? गृहीत एवेत्यथ ॥ ६९ ॥

अन्वय—श्लेषकवे। भवत्या नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा इति मम मनो नल कामयत इति श्लोकद्वयार्थं सुधिया मया न आश्लेषि किम् ?

हिन्दी—श्लेषकविता की विदुषी आपव—'राजा (नल) के साथ पाणिग्रहण की अभिलाषा है', 'मेरा मन नल को कामना करता है', इन दोनों श्लोकों का अर्थ क्या मली बुद्धि वाला मैं न समझ पाया ? (अपितु समझ गया)

टिप्पणी—दमयती का भाव समझ कर हम ने कहा कि मैं आपको श्लेष धातुरी मली भाँति समझ गया हूँ। धापन जो दो श्लोक—'का नाम बाला' इत्यादि (३।५९) और 'बितो नल कामयते' (३।६७) में श्लेष काव्य का प्रयोग करते हुए जो कहा, वह मैं न मलीभाँति समझ लिया। अब मुझसे कुछ भी छिपाना व्यर्थ है ॥ ६९ ॥

त्वन्चेतसं स्थेयविपर्ययं तु सम्भाव्यभाव्यस्मि तदज्ञ एव ।

लक्ष्ये हि बालाहृदि लोलशीले दरापराड्येपुरपि स्मर स्यात् ॥ ७० ॥

जीवातु—तहि किमर्थं करेण याच्छेत्त्यादिकमनावदुनतवदुनतमित्यत आह—त्वन्चेतस इति । किन्तु त्वन्चेतसं स्थेयविपर्ययमस्मिन्नस्मिन्नसनाय्य आदाङ्कष तदज्ञ नस्य श्लोकद्वयार्थस्य अत्र अनभिज्ञ नावी भविष्यन् 'भविष्यति मय्यादय' इति साधु अस्मि । त्वन्चितनिश्चयपर्यन्तमित्यथ । धातु सम्बन्धे प्रत्यया इति भविष्यत्ताया गुणात्सावतमानतानुरोधः । नन्वेवमनु-

रक्ताया मयि कुत इय शङ्केत्याशङ्कय खीणा चित्तघान्त्वच्यसम्नवाहित्वाह-
लम्प इति । लोलशीले चचलस्वभावे बालाहृदि चित्त एव स्मरोऽपि दरापरा-
द्धेपुरीषच्युतमायकृ स्यात् कुशलोऽपि धन्वी चल्क्ष्यात्कदाचिदपराध्यत इति
भाव । 'अपराद्धपृथक्लोऽपी लक्ष्याद् मरच्युतसायक' इत्यमर । जयांतर-
न्यासोऽङ्कार ॥ ७० ॥

अन्वय — तु त्वच्चेतस स्वयंविषयय समाध्य तदज्ञ एव नावो अस्मि
हि लोलशीले बालाहृदि लक्ष्ये स्मर अपि दरापराद्धेपु स्यात् ।

हिन्दी—किन्तु तुम्हारे चित्त की अस्थिरता की समावना करके उक्त
रोगोकार्य से जननिष्ठ ही बना रहूँगा, क्योंकि चचल स्वभावा बाला के हृदय-
लक्ष्य पर कामदेव के बाण भी कुछ चूक जाते हैं ।

टिप्पणी—हृस का कथन है कि मैं नरा जानकर भी अजाना ही बना
रहना चाहता हूँ, क्योंकि लडकियाँ होती हैं चचल स्वभाव की । न तो उनका
मन बदलते देर छाती है और न उन्हें काम ही तदणियों के समान व्यथा
देता है । जर्णान्तरन्यास ॥ ७० ॥

महीमहेन्द्रं खलु नैपथेन्दुस्नद्वोवनीय कथमित्यनेव ? ।

प्रयोजन साशयिकम्प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव न भद्विवेन ॥ ७१ ॥

जीवातु—महीति नैपथ इन्दुरिव नैपथेन्दुर्नलचन्द्र महीमहेन्द्रो भूदवेन्द्र
खलु तस्मात् स नल । पृथग्जनन प्राहुतजनेनेव भद्विवेन मादृशा विदुषा
ईदृक् साशयिक सन्देहदु स्पम् अस्थिर प्रयोजन प्रति इत्यमेव मुग्धाकारेणैव
कथ बोधनीय ? अनर्हमित्यर्थ । 'गतिबुद्धी'त्यादिना अपि कर्तुंनलस्य
कमत्व, 'घ्नन्ते कर्तुंश्च कनप' इति अभिधानाश्च ॥ ७१ ॥

अन्वय — तत् महीमहेन्द्र स. नैपथेन्दु मद्रिधेनव पृथग्जनेन ईदृक्
साशयिक प्रयोजन प्रति इत्यम् एव कथ बोधनीय ।

हिन्दी—इस पृथ्वी के महेन्द्र उस नैपथचन्द्र के प्रति मेरे जैसे प्राहुत
जन पक्षी द्वारा (अथवा पृथग्जनेन इव भद्विवेन' जन्वय करके प्राहुतजन के
समान सुप्त जैसे विद्वान् द्वारा) ऐसे सशयपूर्ण अस्थिर प्रयोजन का निवेदन
किस प्रकार किया जाय ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयती का भाव तो स्पष्ट कहा नहीं गया, सो बात सदेह की है। उसे हंस जैसा समझदार प्राणी एक मूख की भांति इतने बड़ राजा से कह नहीं सकता अथवा कही यह न समझ लिया जाय कि हंस तो पक्षी है, उसने न जाने क्या समझा और प्रलाप कर दिया। सो बात साफ होनी चाहिए। एक महीमहेन्द्र से वह अप्रामाणिक, सदेहास्पद सदेश नहीं कह सकता। विद्याधर के अनुसार उपमा और काव्यालिंग ॥ ७१ ॥

पितुनियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्य यदि वा वृणीषे ।

त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीति कौदृङ्मयि स्यान्नपधेश्वरस्य ॥ ७२ ॥

जीवातु—अथेत्यमेव बोधने को दोषस्तत्राह—पितुरिति । पितुनियोगेन आज्ञया निजेच्छया स्वेच्छया वा अन्य नलाद य युवान यदि वृणीषे वृणीषि यदि, तदा निपधेश्वरस्य नलस्य मयि विषये त्वदर्थं तुभ्य, 'चतुर्थी तदर्थ'-त्यादिना चतुर्थी समास, 'अर्थेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्त्रव्यम्' । तद्यत्तया अर्थित्वकृति अर्थित्वभजन तत्र प्रतीतिविश्वास कौदृक् स्यान्न स्यादित्यर्थं । तस्मादसदिग्ध वाच्यमिति भाव ॥ ७२ ॥

अन्वय —पितु नियोगेन निजेच्छया वा यदि अन्य युवान वृणीषे त्वदर्थम् अर्थित्वकृति' मयि निपधेश्वरस्य कौदृक् प्रतीतिः स्यात् ।

हिन्दी—पिता की आज्ञा अथवा अपनी इच्छासे यदि तुम नलातिरिक्त युवा का वरण करती हो, तो तुम्हारे निमित्त याञ्चा करते मेरे प्रति निपधराज का विश्वास कैसा होगा ?

टिप्पणी—हंस का तात्पर्य है कि दमयती जब तक निश्चयपूर्वक अपना निर्णय स्पष्ट न कहेगी हंस की नल से उसके साथ विवाह करने की प्रार्थना ठीक नहीं होगी। यदि दमयती के पिता ने अन्यत्र कही अपनी बेटी ध्याहने का निणय ले लिया और दमयती ने उससे बाध्य हो जन्म किसी पुरुष को बर लिया अथवा उसकी ही इच्छा बदल गयी, तो नल हंस को एक लबाडिया या मूठा ही तो समझेगे। सो स्पष्ट कहे बिना काय आगे नहीं बढेगा ॥ ७२ ॥

त्वयाऽपि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम् ।

इतं पृथक् प्रार्थयसे तु यद्यत्कुर्वे तदुर्वोपतिपुत्रि । सर्वम् ॥ ७३ ॥

जोवातु—अन्यथा तथा वक्तु न शक्यते तर्हि ततोऽन्यदीप्सित करिष्ये प्रतिज्ञानङ्गरिष्टारायेत्याह—त्वयेति । हे उर्वीपतिपुत्रि । भूमि । त्वयापि वा किं विनातु किं वक्तुं शक्यते विक्रिये सम्नादिनविनयये अस्मिन् विषये राजपाणि-प्रहसप्रघटनकार्ये जहम्, जयिक्रिये विनियुग्ये, अविनयोज्य इत्यर्थ । करोते अन्वि लट्, किन्तु इत पृथक्स्नादन्वत् यद्यत्प्रायश्चित्ते तत्त्वं कुर्वे करोमीत्यर्थ ॥

अन्वय—स्वया जयि शङ्कितविक्रिये अस्मिन् विषये विधातु किं वा जयिक्रिये ? उर्वीपतिपुत्रि, इत पृथक् यत् यत् प्रायश्चित्ते तत् त्वं कुर्वे ।

हिन्दी—और तुम नी जिसमें परिवर्तन की बायका है, उस इस विवाह-विषय में समोजन करन का अधिकार नुते क्यों दे रही हो ? हे पृथ्वी के स्वामी की पुत्री (राजकुमारी), इससे निम्न ओ-ओ नुत वे चाहोगी, मैं वह सब कहूँगा ।

टिप्पणी—हस एक और उत्तेजना देता है—ज्रच्छा हो कि तुम इस सदेहास्पद कार्य-साधन में नुते निरुक्त ही न करो । इस विवाह विषयक कार्य के अतिरिक्त, जो नी कहो, मैं करूँगा अर्थात् या तो स्पष्ट कहो, या फिर इस विषय को ही छोड़ो । विद्यावर ने इस लोक में अनुदास अथवा 'नियत-दशावयवयमक' का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

श्रव-प्रविष्टा इव तद्गिरन्ता विधूय वंमत्यधुतेन भूधर्ना ।

ऊचे हिया विस्फियानानुरोवा पुनर्धरित्रीपुस्हूतपुत्री ॥ ७४ ॥

जोवानु—श्रव इति । धरित्रीपुस्हूतपुत्री भूमिन्द्रनुता भूमि श्रव प्रविष्टा इव न तु सम्पक् प्रविष्टा तद्गिरो हसवाच । वंमयेन जसम्मत्या धुतेन कम्पितेन भूधर्ना विधूय प्रतिपिन्य हिया कर्त्या विस्फियानानुरोवा शिथिलित-वृत्तिस्त्वक्तलम्बा नतो पुनरप्युचे उवाच ॥ ७४ ॥

अन्वय—धरित्रीपुस्हूतपुत्री श्रव प्रविष्टा तद्गिरे वंमत्यधुतेन भूधर्ना विधूय इव हिया विस्फियानानुरोवा पुन ऊचे ।

हिन्दी— धरणी के इन्द्र की पुत्री (पृथ्वीन्द्रनुता दम्पती) कानों में धुत्ती उस (हस) की वचनावली को अन्नमति में हिलते जिव ने मानो निरस्त करती हुई लम्बा के अनुरोध को शिथिल कर (लम्बा छाड) पुन बोली ।

टिप्पणी—दमयती ने हंस के वचनों के प्रति असमति प्रकट करने के लिए सिर हिलाया, जैसे बान में प्रवेश करते किसी दुष्ट कीट को सिर के झटके से निवारित करना चाहती हो। इस आवेश में उसने लज्जा छोड़ कर निम्नांकित स्पष्ट वचन कहे। उत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥

मदन्यदान प्रति कल्पना वा वेदस्त्वदीये हृदि तावदेषा ।

निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्या ॥ ७५ ॥

जीवातु—मदिति । मम अन्वदानमन्यस्य दान प्रति दानमुद्दिश्य वा कल्पना पितृनियोगेनेत्यादि श्लोकरतक । एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदस्तावत्सत्य एवेत्यर्थ । निशो निशाया अपि 'पद्मिनि'त्यादिना निशाया निशादेष्ट सोमा-च्चन्द्रादितरकान्तशङ्का पुरुषान्तरकल्पनामेव ओङ्कार प्रणवम् अस्य वेदस्या-ग्रेसरमाद्य कुर्या कुरु सबस्यापि वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भाव । यथा निशाया निशाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय, तथा ममापि नलेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यर्थ । स्मकालङ्कार ॥ ७५ ॥

अन्वय—मदन्यदान प्रति त्वदीये हृदि वा एषा कल्पना तावत् वेद, निशा अपि सोमेतरका तशङ्काम् अस्य ओङ्कार कुर्या ।

हिन्दी—मेरे नलातिरिक्त पुरुष को दिये जान के विषय में तुम्हारे हृदय में जो यह कल्पना वेद (वेदसम प्रामाणिक) है, तो रात्रि की भी चंद्रेतर प्रियविषयकण्ठा को इस (मेरे धन्य दान विषयक तथ्यागीकार) का 'ओङ्कार' कर लो ।

टिप्पणी—दमयती का कथन यह है कि उसके अन्व किसी पुरुष से विवाह होने के विषय में जो हंस कल्पना कर रहा है, वह निर्मूल है। यदि वह इस कथा को वेद के समान सत्य और प्रामाणिक माने बैठा है, तो उसे इसे सत्य मानने के पूर्व यह भी मानना होगा कि रात्रि का चन्द्रमा के अतिरिक्त भी प्रिय होता है। यदि दमयती विषयक हंस की आशका वेद है, तो रात्रि विषयक तथ्य को वेदमत्रो से पूर्ण उच्चारित होनेवाला आकार (ॐ) मानना होगा अर्थात् जैसे चन्द्रमा ही रात्रि का प्रिय है, वैसे ही नल ही दमयती का। महिलनाथ क अनुसार रूपक, विद्याधर के अनुसार रूपक और अविद्ययोक्ति ॥ ७५ ॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनङ्गसम्पर्कमनङ्गमित्वा ।

भदन्यपाणिग्रहणञ्छ्रुतेयमहो महीयस्तव साहचिक्यम् ॥ ७६ ॥

जीवानु—सरोजिनीति । सरोजिन्या मानसरागवृत्तेर्मनोजुरागस्थितेर-
न्मन्तराख्यप्रवृत्तेऽत्र जनकसम्पर्कनङ्गतरवान्तसञ्चान्तिनठकमित्वा अनूहित्वा
तत्र मन अन्यस्य नलेतरस्य पाणिग्रहं यद्भूत इति तच्छ्रुतस्य भावन्ता
महीयो महत्तर साहचिक्य साहचिक्यत्वम् अहो असन्नावितसन्भावनाशङ्क्यम् ।

अन्वय—सरोजिनीमानसरागवृत्ते जनकसम्पर्कम् अङ्गमित्वा तत्र इदं
भदन्यपाणिग्रहणञ्छ्रुता अहो, महीय साहचिक्यम् ।

हिन्दी—कमलिनी के मनोजुराग के होने का सूर्यातिरिक्त के साथ सबस
की लक्षणा न करके तुम्हारी यह मेरे नलातिरिक्त के साथ विवाह की एक
बास्वय और बड़े साहस की बात है ।

दिप्या—बाज्य यह है कि द्विच प्रकार कमलिनी का अनुराग नूर्य से
ही होता है, अन्य से नहीं उसी प्रकार इन ती का विवाह नल से ही संभव है,
नलातिरिक्त से नहीं । जब कमलिनी-नूर्य के सवष में हस को शक्त नहीं है,
तो दनयती-नल के विषय में उसकी शक्त बड़ा हुआ है । विद्याधर के
अनुसार समासोक्ति और अतिशयोक्ति ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाशक्तिं तदेकमेव स्वेनानल यन्त्रिल मश्रपिप्ये ।

विनाज्जुता स्वात्मनि तु प्रहर्तुं नृपागिर त्वा नृपती न कर्तुम् ॥ ७७ ॥

जीवातु—भाविति । किन्तु स्वेन स्वेच्छया अनल नलादन्यम् अर्नि च
सश्रपिप्ये प्राप्स्यामीति यत् त्वया अर्त्तिकं उहित तदेकमेव साधु अर्त्तिकं, किन्तु
ज्जुता नलेन विना तदलाभ इत्यर्थः । स्वात्मनि प्रहर्तुं स्वात्मानं हिंसितुं
नमणोऽभिदरूपत्वविवजाया सप्तमी । 'अनेकशक्तिवृत्तस्य विनवस्थानेककर्मणः ।
सबदा सर्वतोभावात् ववचित् किञ्चिद्विषयते ॥' इति वचनादनल सश्रपिप्ये
इत्यनुपङ्ग नृपती नले विषये त्वा नृपागिरनसत्यवाच कृतुमन एव शरणम्
अन्यथा मरणमेव शरणमिति भावः ॥७७॥

अन्वय—एतत् एव त्वया साधु शक्तिं किल यत् स्वेन अनलम् सश्रपिप्य,
ज्जुता विना तु स्वात्मनि प्रहर्तुम्, नृपती त्वा नृपागिर कर्तुं न ।

हिन्दी—यही तुमने ठीक विचार किया कि मैं स्वयम् ही अनल (नल-तिरिक्त, अग्नि) का आश्रय ले लूँगी, किन्तु (नल) के बिना अपने को समाप्त करने के लिए (अग्नि-अनल का आश्रय लूँगी) न कि तुम्हें नरराज (नल) के समुल्लूख सिद्ध करने के लिए (अनल अर्थात् नल-व्यतिरिक्त का आश्रय) ।

टिप्पणी—हस ने 'वितुनियोगेन' इत्यादि (७२) में आशका प्रकट की थी कि तुम स्वेच्छया अनल (नल व्यतिरिक्त) को बर लो तो उसे नल झूठा समझेगे, इसी का एक प्रकार से उपहास करती दमयती ने कहा कि वह निश्चय ही स्वेच्छया नल से विवाह न होने पर अनल (अग्नि) का आश्रय लेगी—आत्मवाह कर लेगी, किन्तु 'अनल' (नल व्यतिरिक्त) से विवाह करके हस को नल के सम्मुख झूठा नहीं सिद्ध करेगी । विद्याधर द्वारा उल्लेख्य अलंकार श्लेष ॥ ७७ ॥

मद्विप्रलम्ब्य पुनराह यस्त्वा तर्कंस्त किं तत्फलवाचि मूक ? ।

अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

जीवातु—मदिति । किञ्च, यस्तर्कं ऊह मद्विप्रलम्ब्य मया विप्रलम्बनीय 'पौरुषधादि'ति यत्प्रत्यय । आह बोधयतीत्यर्थं स तर्कं तस्य विप्रलम्बस्य फलवाचि प्रयोजनाभिधाने मूक अशक्त किम् ? अतो मय्यसत्यवादित्वशङ्का न कार्येत्यर्थं । कथमेतावता सत्यवाक्यरविश्रय अत आह—अशक्या शङ्का यस्य स अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्विप्रलिप्सालक्षणी यस्या सा वाणी न वेदा यदि न प्रमाण चेत्तर्हि के तु वेदा सन्तु ? न केऽपीत्यर्थं सम्भावनाया लोट् । वेदवाचामसत्यत्वे मद्वाचोऽप्यसत्यत्वम्, नान्यथेति भावः ॥ ७८ ॥

अन्वय —पुनः य तर्कं मद्विप्रलम्ब्य स्वाम् आह स तत्फलवाचि मूक किम् ? अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुः यदि वेदा न, के तु सन्तु ?

हिन्दी—और फिर जिस तर्क ने तुम्हें यह बताया कि मैं तुम्हारी प्रतारणा करूँगी, उसके परिणाम को बताने में क्या वह गूँगा है ? जित (बचना) में व्यभिचार के (अज्ञानादि) कारणों को घना की ही नहीं आ सकती, यदि वेद (प्रामाणिक) नहीं हैं तो वेद क्या है ?

टिप्पणी—७२ वें श्लोक में हृष ने आशुका की थी कि वह झूठा बनेगा, दमयती द्वारा प्रचारित होगा। दमयती इसके उत्तर में कहती है कि यह आशुका भी निर्मूल है। हृष ने किस तर्क से यह सोच लिया कि दमयती उसे प्रचारित करेगी, उस तर्क ने उसे यह नहीं बताया कि हृष की प्रचारित करने में दमयती को लान क्या होगा ? हृष तो जानो है, उस अपनी प्रामाणिकता पर विश्वास होना चाहिए, अन्यथा फिर उसकी प्रामाणिकता ही क्या रहे जायेगी ? अथवा दमयती यह कहना चाहती है कि वह जो कह रही है, वह पूष इत्य और प्रामाणिक है, वेद के समान, जिसमें उज्ञानादि व्यभिचार-कारणों की आशुका ही नहीं की जा सकती। जो वाणी व्यभिचारिणी है—अपरिवर्तनीय। यदि वेद झूठे हैं तो दमयती की वाणी भी। विद्यावर के अनुसार कार्यालि ॥ ७८ ॥

अनेपथायेव जुहोति किं मा तात वृद्धानो न शरीरदोषाम् ? ।

ईष्टे तनूजन्मतनोन्तथापि मत्प्राणनाथस्तु नलस्त एव ॥ ७९ ॥

जीवातु—एव निजेच्छया नलान्मशङ्का निरस्य पित्राज्ञयापि ता निरस्यति-अनेपथायेति । तातो मम जनक । 'तातस्तु जनक पिता' इत्यनर । मान-नैपथाय नैपथान्नलादन्यस्मै एव जुहोति ददातीति काकु, तथा शरीरदोषा मृता तथापि वृद्धानो न किं न तु जीवतीं नाम्नेरन्यत्र जुहोतीत्यर्थं तदङ्गीकृत्यमेवेति भाव । कुत ? स जनक. तनूजन्मतनो आत्मजशरीरस्य ईष्टे स्वामी, भवतीत्यर्थं । 'अधीमर्षदपेक्षा कर्मणी'ति शेषे पृथी । तथापि शरीरस्य पितृ-स्वानिदत्त्वेऽपीत्यर्थं । मत्प्राणनाथस्तु नल एव प्राणानामतज्जन्वत्वादिति भाव । अतो नन्यविश्वास मा कुवित्यर्थं ॥ ७९ ॥

अन्वय — तात शरीरदोषा माम् अनेपथाय जुहोति, वृद्धानो एव किं न ? स तनूजन्मतनो ईष्टे तथापि मत्प्राणनाथ तु स नल. एव ।

हिन्दी—पिता शरीरमात्रावधेय (मृत) मुझे निपराजातिरिक्त को देते हैं ता अग्नि को ही क्यों नहीं देते ? वे (पिता , स्वदेह से जन्म पाने वाले देह के स्वामी हैं, तथापि मेरे प्राणों का स्वामी ता वह नल ही है ।

टिप्पणी—दमयती का भाव यह है कि पिता जीवित क्षण में मलातिरिक्त से उसका विवाह नहीं कर पायेगा, यदि वे ऐसा करेंगे तो दमयती प्राण दे

देगी और फिर उस शरीरमात्रावशेषा को पिता द्वारा अग्नि में ही समर्पित किया जा सकेगा। पिता का अधिकार शरीर मात्र पर है, क्योंकि उसे उन्होंने जन्म दिया है, उसे वे ले सकते हैं, किन्तु प्राणों के स्वामी तो नल ही हैं। अतः हंस को दमयती का विश्वास करना ही उचित है। विशाधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ७९ ॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।

अहेलिना किं नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८० ॥

जीवातु—फलितमाह—तदेकेति । तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्व तदेव पदमधिकारस्तस्मादुदग्रे अधिके मदीप्सिते पत्नीत्वरूपे विषये तव विधित्सुता चिकीर्षुं तव साधु साध्वी, अविचारेण मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भावः । साध्विति सामान्योपक्रमान्नपु सकत्वम्, 'शक्य इवमासेनापि क्षुन्निवर्तयितुमिति' भाष्यकारप्रयोगात् । ननु किमनाभिनिवेशेन गुणवत्तर चेद्युवान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह—अहेलिनेति । नलिनी सुधाकरेण अमृतदीपितिनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विधत्ते ? किं तेन तस्या इत्यर्थः । तद्वन्ममापि किं युवा तरेणेति भावः । दृष्टान्तालङ्कार ॥ ८० ॥

अन्वय—तदेकदासीत्वपदात् उदग्रे मदीप्सिते तव विधित्सुता साधु, नलिनी सुधाकरेण अपि अहेलिना सुधाकरेण किं विधत्ते ?

हिन्दी—उस (नल) की एक दासी होने के पद से भी उत्कृष्ट मेरे मनोरथ को पूर्ण करने की तुम्हारी मली ही इच्छा है, किन्तु कमलिनी अमृत के जावार भी अहलि (असूर्य) चंद्र का क्या करेगी ?

टिप्पणी—हंस न ७३ वें श्लोक में कहा था कि वह इस सदेहात्पद कार्य-योजना में नहीं पड़ना चाहता, किन्तु अब किसी दमयती के मनोरथ को वह पूरा करेगा। इसी का उत्तर इस श्लोक में है। दमयती हंस को साधुवाद देती बातों है कि वह जोर कुछ चाहती ही नहीं, केवल नल की दासी होना उसका अमीष्ट है। नल ही उससे उत्कृष्ट कुछ हो, होता रहे, उससे दमयती को क्या काम ? चंद्र अमृतनिधि है, पर वह सूर्य तो नहीं है। कमलिनी का क्या इससे संबंध ? दृष्टान्त अलङ्कार ॥ ८० ॥

तदेकलुब्धे हृदि मेऽस्मि लब्धु चिन्ता न चिन्तामणिमप्यनर्घम् ।

नित्ते नमैकस्त नलस्त्रिशोकसिंहारो निधिः पद्ममुलस्म एव ॥ ८१ ॥

जीवातु—उदिति । तन्मिन्नेवैकस्मिन् सुखे लोलुपे मे हृदि जनयं चिन्तानमिमपि लब्धु चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्तं धनविषयेऽपि मन स नल-स्त्रिलोकीसारस्त्रिलोक्यश्रेष्ठु पद्मनुख पमानन एक स नल एव त्रैलोक्यसारः; पद्मनिमिश्च । नलादन्यत्र कुत्रापि मे स्मृता नास्ति । किमुन सुवान्तर इति नाव ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तदेकलक्ष्ये मे हृदि जनयं चिन्तानमिन् अपि लब्धु चिन्ता नास्ति । वित्तं (चित्ते वा) अपि मन स नल त्रिलोकीसारः पद्मनुख एक एव ।

हिन्दो—उसी एक मे लुब्ध मेरे मन मे अनून्य चिन्तानमि का भी पाने की चिन्ता नहीं है । धन के विषय में भी (अथवा मेरे चित्त में भी) नेा वह नल त्रिलोकी का सारसूत्र (सर्वोत्कृष्ट) कमलवदन अकेला ही है ।

टिप्पणो—भाव यह कि नल के अतिरिक्त किन्ती दुर्लभतम वस्तु को भी पाने की इच्छा दमयती की नहीं है । विचारर के अनुसार रूपक और श्लेष ॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्लु मोहाद् ध्यातस्त्व नीरन्ध्रतबुद्धिवारम् ।

मनाद्य तत्प्राप्तिरसुख्यो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

जीवातु—श्रुतश्चेति । कि बट्टना स नल श्रुत दूतद्विजनन्धादिमुखादा-कर्मितश्च, मोहाद् भ्रान्तिवशात् हरित्लु दृष्ट साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रत-बुद्धिवार निरन्तरीकृततदेकविषयबुद्धिप्रवाह यथा तथा ध्यातश्च । अथाद्य मन तत्प्राप्तिर्नलप्राप्तिरसुख्यं प्राणत्यागो वा द्वयमेव द्वयोरन्यतर एवेत्यर्थं । शेष-कार्यशेष स च तव हस्ते ज्ञान्ते त्वदायत्त तिष्ठतीत्यर्थं । अत्र तत्तदायंश्वप-मनननिदिदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्मप्राप्तिदुःत्रोच्छेदरक्षणमोजो पुर्वायत्त एवे-त्यर्थान्तरप्रतीतिर्ध्वंनिरेव अमिनाया प्रकृतार्थनिदन्वपादि सजेर ॥ ८२ ॥

अन्वय—श्रुत मोहात् हरित्लु च दृष्ट नीरन्ध्रतबुद्धिवार ध्यातश्च, अत्र मन तत्प्राप्तिं अनुन्य वा द्वयम् एव शेष तव हस्ते ज्ञान्ते ।

हिन्दो—(उन दूतनुवा से मैंने) मुना है, माह के कारा सब दिशाओं मे देखा है और निरन्तर बुद्धिविचारणा मे उसी का ध्यान किया है । आज मुजे उसकी प्राप्ति अथवा मर प्राप्ति का भाव—दो ही तुम्हारे हाथ मे मेरे लिए रह गय है ।

टिप्पणी—भाव यह कि हस यदि कुछ करना चाहता है तो दमयती को नल की प्राप्ति करा दे या फिर उसके प्राण निकल जाने दे। नल के अभाव में मृत्यु ही वरेण्य है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अभिधा द्वारा प्रकृतार्थ का नियंत्रण हो जाने के कारण ब्रह्म के ध्वण, मनन, निदिध्यासन से सपन्न व्यक्ति ब्रह्मप्राप्ति दुःखोच्छेद रूप मोक्ष गुरु के अधीन है—यह ध्वनि है। प्रकाशकार ने भी ऐसा ही कहा है—‘तत्त्वमसि’ इति श्रुती तच्छब्दवाच्यस्य ब्रह्मण प्राप्ति कस्यचिदेव सुकृतिना भवति, तथा मम नलप्राप्तिस्त्वत्प्रसादादेव।’ विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलकार ॥ ८२ ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थ मत्प्राणविश्राणनज च पुण्यम् ।

निवार्यतामार्यं । वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेयमये । भृश का ? ॥ ८३ ॥

जीवातु—सञ्चीयतामिति । हे हस ! आश्रुतपालनोत्थ प्रतीज्ञाताय-निर्वाहणोत्पन्नम् ‘अङ्गीकृतमाश्रुत प्रतिज्ञातमित्यमर । मत्प्राणाना विश्राणन दान तज्जश्च पुण्यं सुरुत सञ्चीयता सगृह्यता, हे आय ! वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम् । अये ! अङ्ग ! भद्रे पूर्वोक्तपुण्यरूपे श्रेयसि विषये भृशद्वेय मुद्रा औदासीन्य, श्रेयसि नोदासितव्यमिति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वय.—आश्रुतपालनोत्थ मत्प्राणविश्राणनज च पुण्यं सञ्चीयताम्, आय, वृथा विशङ्का निवार्यताम्, अये भद्रे अपि भृश का इय मुद्रा ?

हिन्दी—प्रतिज्ञा पाठन से समुत्पन्न, मुझे प्राण दान करने का पुण्य-सचय करो, हे आय, व्यर्थ की आशंका छोड़ो, अरे तुमने सदेह रहित (मगल) विषय में भी यह कैसी उदास मुद्रा बना रखी है ?

टिप्पणी—पूर्वोक्त प्रकार से अपने निश्चय और अनुराग का विश्वास दिलाती दमयती इस पद्य में यह स्पष्ट करती है कि नल से उसका सवध करान में हस को दो पुण्य मिलेगे— एक उसने स्वयं जो वचन दिया है, उनका पालन होगा जोर दो—दमयती के प्राण बचाने का ध्येय भी हस का प्राप्त होगा। इस शिष्ट से सब प्रकार की आशंका और सदेह का परित्याग कर हस को इन मगलकार्य-सिद्धि के लिए उदासीनता छोड़ प्रयत्न शील हो जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य छेकानुप्रास अलकार ॥ ८३ ॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय । विज्ञ । याच्ना कृत्वापि वाक्य विविध विधेये ।

यथापयादाश्रयतापदोत्यान् खलु स्तलित्वाऽस्तखलोक्तिखेलात् ॥ ८४ ॥

आवातु—अलनिति । हे प्रिय । प्रियङ्कर विज्ञ । विज्ञेपज्ञ । उनयन 'इगुने'—यादिना कत्रत्यय । याच्ना प्रार्थना विलङ्घ्य जल याच्योमङ्गो न काय इत्ययं । विधेये विनीतजने विविध वाक्य वरुता कृत्वापि अल, तच्च न कार्यमित्ययं । बाधवां ययोक्तहारो, 'वचने न्यित बाधव' इत्यमर । तस्य नावास्तत्ता संव पद पदक्षेपः तदुत्यात् जस्ता निरन्ता खलाक्तिखेला निव्या वादविनोदो येन तस्माच्चजपयात् स्तलित्वा चञ्जित्वा खनुन स्तलितव्यमित्ययं अयथा हानि स्यात् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिनासोनुनय' इत्यमर । 'जल खन्वो प्रतिषेधयो प्राचा क्त्वे'ति उनयनापि क्त्वाप्रत्यय इह 'न पादादौ खन्वाद्य' इति निषेधस्योद्वेजकत्वानिप्रायत्वान्नजस्य खलस्यस्यानुद्वेजकत्वान्नवदेव पादादौ प्रयोगा न दूष्यत इति अनुसन्धेयम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—प्रियविज्ञ, (अथवा प्रिय, विज्ञ,) आनवशापदोत्यात् अस्त-खलोक्तिखेलात् यजपयात् स्तलित्वा खलु याच्ना विलङ्घ्य, विधेये विविध वाक्य कृत्वा अपि अलम् ।

हिन्दी—हे प्रिय को नलीनाति जाननेवाले, (अथवा प्रिय और विज्ञ, अथवा 'प्रियेपु विपु ज्ञ'—प्रिय पक्षियों न जानी,) वचन-पालन-कर्तारों से पद अर्थान् श्रेष्ठ स्थान से उत्पन्न (अथवा शरण-दात), खलवचनों के खेल सरहित यज्ञ के माग से स्तलित हो (हटकर) मेरी याचना का लयन मत करो और करणीय कृत्य के विषय में भी नानाविध उलटा-सीधा विचार नो छोड़ दो ।

टिप्पणी—अल को विज्ञेपज्ञ के विज्ञेप से संवोधित करती दमयती उसे चेतानवी देती है कि सज्जन वचन का पालन करते हैं, वे दुष्टों के समान वचन देने को खेल नहीं समझते । प्रतिज्ञा-पालन ही यज्ञ का मार्ग है । यदि हस्त वचन-पालन में उलटी-सीधी बातें सोचेंगे और दमयती की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देंगे तो वह अयय का भागी होगा । नीर क्षीर-विवेकी हस्त तो ज्ञानी और सज्जन माने जाते हैं । विज्ञापर ने उल्लेख्य अलकार अनुशास माना है ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यात्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः ।

मह्य मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मं कराद् भ्रश्यति कीर्तिधौत ॥ ८५ ॥

जीवात्—स्वेति । ईदृशबद्धमुष्टेरीदृक्कष्टलुब्धस्य तव आर्त्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीव ददद्भ्य स्वप्राणभ्रयन परत्राण क्लृप्तयो जीमूतवाहनदिभ्य इत्यय । 'जीवञ्जीमूतवाहन' इति प्रसिद्धम् । त्रपा नेति काकु, त्रपाया मन प्रत्यावृत्तिरूपत्वात्तदपक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी । यद्यस्मान्मदीयानेवासूनं प्राणान् मह्यमदित्सो तव कीर्त्या धौत शुद्धो धर्मं कराद्धस्तात् भ्रश्यति, न चैतत्तवाहं-मिति भाव ॥ ८५ ॥

अन्वय.— ईदृशबद्धमुष्टे तव आर्त्तमुदे स्वजीवम् अपि ददद्भ्य त्रपा न, यत् मदीयान् असूनं मह्यम् अदित्सो तव कीर्त्तिधौत धमकरात् भ्रश्यति ?

हिन्दी—एसे मुट्टी बांधे बैठे (कृपण तथा अकर्मण्य) तुम्हे दुखी जनों (पीड़ितों) की प्रसन्नता के लिए अपना जीवन भी दे देने वाले (कर्मण्य दानियो) व्यक्तियों के समुच्च लाज भी नहीं लगती क्योंकि मेरे प्राणों को मुझे ही न देने की इच्छायुक्त तुम्हारे यद्य से धुला (स्वच्छ) धर्म हाथ से गिर पड़ेगा ?

टिप्पणी—दमयती कहती है कि उसके प्राण उसे ही न देने वाले हस के यद्य और धर्म—दोनो गह हो जायेंगे । इस श्लोक मे 'बद्धमुष्टि' शब्द के प्रयोग से चमत्कार जाया है । 'मुट्टी बांधना' कृपणता का लक्षण भी है और अकर्मण्यता का भी । तो ये दोनो स्थितियाँ हस के लिए लज्जाजनक हैं । उसे पिबि, रतिदेव तथा हरिरत्नद्र आदि—जैसे वचनपालक और याचकों के कल्याणहित स्वप्राण भी जपित कर देने वाले महाजनों का स्मरण करने अपनी अदानशीलता और अकर्मण्यता को त्यागना ही उचित है । कदाचित् वह 'मुट्टी बांधे' इसलिए बैठे हैं कि यद्य और धर्म उसके खुले हाथ से गिर न जायें, पर उसे स्मरण रखना चाहिए कि वचन से हटना और याचक को निरास करने का 'बद्धमुष्टि' कृपण—अकर्मण्य के यद्य-धर्म नष्ट हो जाते हैं । 'बद्धमुष्टि न कर से गिर जाना' के आधार पर प्रवाचनार ने यहाँ 'विराधाभास' का निर्देश किया है । वे 'काकु' का भी निर्देश करके इस अर्थ का भी संकेत

करते हैं कि हृष सब कुछ समझ रहा है कि यश धर्म इस स्थिति में नष्ट हो जायेंगे । विद्याधर ने यहा अतिशयोक्ति का निर्दोष किया है ॥ ८५ ॥

दत्त्वाऽऽत्मजीव त्वयि जीवदेशिपि शुष्यामि जीवाधिकदे तु केन ।

विषेहि तन्मा त्वदृणेष्वशोद्घुममूद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्न्याम् ॥ ८६ ॥

जीवातु—दत्त्वेति । किं च जीवदे प्राणदे त्वयि विषये आत्मजीव मत्प्राण दत्त्वापि शुष्यामि आनृण्य गनिप्राणोत्तर्यम् । किन्तु जीवादधिक प्रिय तद्दे त्वयि केन शुष्यामि ? न केनापि, तत्तुल्यदेयवस्त्वनावादित्वर्यम् । अम्प्रति प्राणं यम तु न किञ्चिदस्तांति नाव । तत्तस्मादभावादेव मा त्वरणेषु जशोद्घुम-
ऋणप्रस्ता भवितुमेव अनुदे अपरिमिते दारिद्र्य त्वद्देयवस्त्वभावरूप तस्मिन्नेव समुद्रे । मग्ना विषेहि नलतद्दृष्टनेन मामृणप्रस्ता कुर्वित्यर्यम् । जशोद्घु, मग्ना-
मिति मग्नत्वानुवादेन जशुद्धिविषोयते दरिद्राणामृणमुक्तिनांस्तीति भाव ॥ ८६ ॥

अन्वयः—जीवदे त्वयि आत्मजीव दत्त्वा अपि शुष्यामि, जीवाधिकदे तु केन (शुष्यामि) ? तत् मा त्वदृणेषु जशोद्घुम् अमूद्रदारिद्र्यघतमुद्रमग्ना विषेहि ।

हिन्दी—जीवन दान के तरे ऋण का शोष तो मैं अपना जीवन देकर भी कर लूँगी, परन्तु जीवन से भी अधिक (नल) के दान के ऋण का क्या देकर शोष कर सकती हूँ ? सो तुम ऋण-परिशोधन में असमर्थ रहने के कारण मर्यादाहीन (अपरिमित) दरिद्रता के समुद्र में मुझे मग्न बना दो ।

टिप्पणी—नाव यह है कि नल का महत्व जीवन से भी अधिक है । जीवनदान का बदला तो जीवन देकर चुकाया जा सकता है, नल दान मिलने का ऋण तो चुकाया ही नहीं जा सकता । सो हृष ऐसा उपकार करे कि दमयंती उसकी सदा ऋणी बनी रहे । विद्याधर ने इस श्लोक में विरोधाभास का निर्दोष किया है, चंद्रकलाकार ने रूपक का ॥ ८६ ॥

क्रेणीष्व मज्जीवितमेव पप्यमन्य न चेद्वस्तु तदस्तु पुण्यम् ।

जीवेशदातयदि ते न दान् यशोऽपि तावत्प्रभवामि गातुन् ॥ ८७ ॥

जीवातु—क्रेणीष्वेति । ह जीवेशदात प्राणेश्वरद । मज्जीवितमेव पप्य अयं वस्तु क्रेणीष्व, जीवेशरूपनून्यदानेन स्वीकुष्येत्वर्यम् । अन्यदेत-
न्मून्यानुरूप वन्वन्तर नास्ति चेत्तहि पुष्य मुकृतमस्तु, किञ्चिद्यदि ते तुन्य

दातु न प्रभवामि न शक्नोमि तावत्सहि यशोऽपि कीर्ति गातु प्रभवामि,
श्यातिसुकृताथंभेवोपकुरुष्वेत्यर्थं ॥ ८७ ॥ -

अन्वय — पण्य मज्जीवितम् एव क्रीणीष्व, अन्यत, वस्तु न चेत् तन्नुप्यम्
अस्तु जीवितेशदाह यदि ते दातु न प्रभवामि, तावत् यद्य गातुम् अपि
(प्रभवामि) ।

हिन्दी—तुम विक्रयार्थं उपस्थित मेरे जीवन का ही क्रय करलो, और
विक्रय वस्तु न हो तो पुण्य तो है ही, हे जीवन के स्वामी के द्यता, मैं यदि
तुम्हें देने में समर्थ नहीं हूँ तो यशोगान में तो समर्थ हूँ ।

टिप्पणी—जाण्य है कि हस यदि दमयन्ती को नल दान में ला देगा तो
वह उसे प्राणो का अधिकारी मान लेगी, जब चाहे वह दमयन्ती के प्राण माग
सकता है । इससे हस को पुण्य होगा और सदा ऋणमग्न रहती दमयन्ती उसका
यशोगान करती रहेगी । दमयन्ती नल का संयोजन करके हस को महान् यद्य
प्राप्त होगा । साहित्यविद्याधरो के अनुसार अतिशयोक्ति जलकार ॥ ८७ ॥

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्याधेभ्याः कृतज्ञानधवाद्वियन्ते ।

प्राणैः पणै स्व निपुण भणन्त क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः ॥ ८८ ॥

जीवातु—अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकार कुर्वित्वाह—वराटिकेति ।
वराटिकोपक्रियया कपदिकादानेनापि लभ्यान् कृतज्ञान् साधुदेव बहुमन्यमानान्
उपकारज्ञान् इम्या घनिका, 'इम्य आढघो घनी स्वामी'त्यमर । नाद्रियन्ते
घनलोमान्पोपकुवन्तीत्यर्थं । सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मान निपुण भणन्त, सन्त
एते वय त्वदधीना इति साधु वदन्त इत्यथ तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणै
क्रीणन्ति आत्मसात्कुवन्ति, किमुत जनैरित्यथ । अतस्त्वयाऽपि सता कृतज्ञाऽ-
हमुपकृतध्वेति भाव । हन्त ह्ये ॥ ८८ ॥

अन्वय — वराटिकोपक्रियया अपि लभ्यान् कृतज्ञान् इम्या न आद्रियन्त,
हस्त, सन्त तु स्व निपुण भणन्त तान् एव प्राणैः पणै क्रीणन्ति ।

हिन्दी—एक कोठी बराबर उपकार करने से भी प्राप्य कृतज्ञ जनो का
आदर धन के लोभी आदर नहीं करते, किन्तु आश्चर्य है कि सज्जन अपने
का उनके अधीन रहते, उन (कृतज्ञो) को ही प्राणो के मूल्य से ही लरीऽ
लेते हैं ।

टिप्पणी—वाक्य यह है कि धन के लोभी अमीर इतना ही का मूल्य नहीं समझ पाते, उनके लिए तो जादर का कारण धन ही होता है। इसके विपरीत सज्जन इतना जनों का अत्यन्त आदर करते हैं और यह समझते हैं कि इनका मूल्य ही प्राणायिक है, योडा सा उपकार करके उनका द्रव्य बढ़ा सकता है। इससे दमपन्ती जपन को इतना बनाती हुई स्वोन्कार के लिए हस से आग्रह करती है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा प्रसा-रूपक अलंकार ॥ ८८ ॥

स भूमदष्टावपि लोकपालास्त्रिंशत् तदेकाग्रधिय प्रसेदे ।

न ह्योनग्न्माद्धृते यदेत्य न्वय तदासिप्रतिभूर्नमानू ॥ ९ ॥

जावातु—स इति । किञ्च स भूमन्ल अष्टावपि लोकपाला, तदात्मक इत्ययं । 'अष्टानिल्लोकपालाना मानानिनिर्मितो नृप' इति स्मरणात् । अत एव तदेकाग्रधियो नलं क्नातबुद्धे मे मन तल्लोकपाले प्रसेदे प्रसन्न भावे लिट् । देवता ध्यायत प्रसीदन्तीति भाव । कुत ? इतरस्मात् प्रसादादन्यथेत्ययं । स्वय स्वयमेवागत्य मन तदासिप्रतिभू नन्प्राप्तिरु नकोऽनुरिति यत्, तन्न घटते हि । उत्पत्तादानावे कुतो मनेद ध्येय ? इत्ययं ॥ ८९ ॥

जन्वय—सः नभूत् अपि अष्टो अपि लोकपाला, तदेकाग्रधिय ये तं प्रनेदे, हि यत् स्वयन् एत्य मन तदासिप्रतिभू अनु (तत्) इतरस्मात् न घटते ।

हिन्दी—वह धरणीधर (राजा नल) की इन्द्रादि अष्ट लोकपाल रूप है, उस (नल) में ही एकत्रान बुद्धिवाली (एकाग्रतया अनुरक्त) मेरे प्रति वे (अष्ट लोकपाल) प्रसन्न हो गये हैं, कारण कि जो तुम अपने आप आकर उस (नल) की प्राप्ति में सल्लभ हो गये, वह और (लोकपालातिरिक्त) किसी प्रकार से नहीं घटता ।

टिप्पणी—दमपन्ती को जो नल से सयोजना का साधक हस स्वय मिल गया, वह सामान्य बात नहीं है। यह दमपन्ती के नल के प्रति एकाग्र अनुराग का प्रमाण है। राजा अष्ट लोकपालों की मात्राओं से निर्मित होता है, सो नल के माध्यम से अष्ट लोकपाल ही दमपन्ती पर इतना हो गये हैं। इसी से यह सब घटित हो रहा है। विद्याधर ने यहाँ रूपक और अनुमान का निर्देश किया है ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्ममुवाऽजितस्य भूत्वाऽपि मूल मयि वीरणस्य ।

भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥ ९० ॥

जीवानु—अकाण्डेति । हे हृत् । वि पक्षी 'विविप्निरपतत्रिण' इत्यमर । 'रोरी'ति रेफलोपे 'दलोपे पूवस्ये'ति दीर्घे । भवान् अकाण्डमनवसर एव 'अत्यन्तसयोगे द्वितीया' आत्मभुवा कामेन मयि विषये अजितस्य कृतस्य रणस्य मादप्रहारलक्षणस्य मूल ह्मानामुद्दीपकत्वेन निदान भूत्वाऽपि अन्यत्र वाण्डो दण्ड तद्वजितमकाण्ड यथा तथा आत्मभुवा ब्रह्मणा अजितस्य सृष्टस्य वीरणस्य तृणविशेषस्य मूल मूलावयवो भूत्वा अत एव नलदत्व नैपघदातृत्वम् । अन्यत्र उशीरत्व चेत्यर्थं । हृद चन्दनलेपकृत्य शैत्योत्पादन न कर्ता करिष्यत्येव परोपकारशीलत्वादिति भाव । 'काण्डोऽस्त्री दण्डवाणावंवर्गविसरवारिपु ।' 'स्याद्वीरण वीरतरमूलस्योशीरमस्त्रियाम् ।' 'अभय नलद सेव्यमि'ति चामर वीरणस्येति शब्दश्लेष । अन्यत्राथश्लेष । तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृता-प्रकृतयोर्भेदाध्यवसायेन हृसे आरोप्यमाणस्योशीरस्य प्रकृत्या तादात्म्येन चन्दन-कृत्यलक्षणप्रकृतकार्म्योपयोगाद् परिणामालङ्कार । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोप-योगित्वे परिणाम' इति लक्षणाद्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बोत्यापित इति सङ्कर ॥ ९० ॥

अन्वयः—अकाण्डम् एवमपि आत्मभुवा अजितस्य रणस्य मूल भूत्वा अपि वि भवान् नलदत्वम् एत्य हृद चन्दनलेपकृत्य न कर्ता ? अथ च—'अकाण्ड-मेव अजितपट वीरणस्य मूल भूत्वा अपि भवान् न कर्ता ?'

हिन्दी—अनवसर (कौमारावस्था मे) ही मेरे प्रति 'आत्मभू' (काम) द्वारा आरोपित युद्ध के मूलकारण होकर भी हृसविह्वल आप नल को देने वाले हाकर मेरे हृदय पर क्या चन्दनलेप का काय नहीं करेंगे ? अथवा—विघाटा द्वारा मेरे निमित्त सृष्ट पवरहित वीरणघास (खस खस) के मूल (जड़) आप नलदत्व (उशीरता — खस-खस होना) का प्राप्त होकर मेरे (सतप्त) हृदय पर चन्दन का (ठंडा) लेप न करेंगे ? करना ही उचित है ।

टिप्पणी—दममन्ती पर अनवसर ही कौमारास्था मे ही काम ने युद्ध आरोपित कर दिया है, जिसका कारण है नल का सवाद देने वाला हृत् ।

तो उचित यही है कि वह हृत्त ब्रह्मा द्वारा दमयन्ती के निमित्त ही विशेषतः उत्साहित पर्वरहित खस-खस पाच के नाव को प्राप्त कर—जीतलता-दायक खस-खस (उगीर) बनकर, विरहसतस दमयन्ती के हृदय पर चन्दन-रूप के समान राजा नल की उपलब्धि कराये । जिसने पीठ दी, वही उपचार करे । यही उचित है । हृत्त ही इस कार्य को सम्पन्न कर सकता है, अन्य कोई नहीं । यहाँ 'वीर्य' में शब्द-श्लेष है, जन्मत्र अर्ध-रूप । परिणाम अलंकार भी है, क्योंकि 'नन्दत्वम् एव'—इसमें प्रकृत और अप्रकृत के अनेकध्वनितय द्वारा हृत्त में आरोपनाप उगीर का प्रकृत के साथ तादात्म्य से 'चन्दनरूप-रूप प्रकृत कार्य में दमयो है और परिणाम शोभा ही ह आरोपनाप को प्रकृतोन्मोषिता में । इस प्रकार यहाँ श्लेषोत्पादित-परिणाम होने से स्रष्टर है ॥ ९० ॥

अल विलम्ब्य त्वरितु हि वेला कार्ये किञ्चिदयं न हे विचारः ।

गुरुपदेश प्रतिनेव नीक्ष्या प्रतीक्षने जानु न कालमातिः ॥ ९१ ॥

जीवानु—अलमिति । हे हृत्त । विन्म्वगल न विलम्बितध्वनित्ययं ।

'अलङ्कृत्वोरि'त्यादिना क्वाप्रत्यये ल्यबादेशः । त्वरितु वेला हि त्वराकाल लम्बनित्ययं । 'काण्डनयवेलानु तुमुन्' कुत ? स्वयं न हे विन्म्वगल हे कार्ये विचारो विमर्शं किञ्चेति प्रसिद्धौ, अन्यथा विरत्त्यत इति नाव, तथाहि लोका योप्रशाहिणी प्रतिना प्रज्ञा गुरुपदेशनिव जातिराधिशानु कदापि काल न प्रतीक्षते, कान्क्षेन न स्रष्ट इत्ययं । उपनार्यान्तरन्यासयो. समृष्टि ॥९१॥

जन्वयः—विलम्ब्य अलम्, हि त्वरितु वेला, किल स्वयंसहे विचार, लोका प्रतिना गुरुपदेशन् इव जाति जानु काल न प्रतीक्षते ।

हिन्दी—विलम्ब मत करो, शीघ्रता करने का समय है, जिसमें विलम्ब सह लिंग जाय, उस कार्य में सोच विचार दिया जाता है । दिव्य की कुलाय तुल्य शीघ्र नव-वोन्मेषयाहिनी प्रज्ञा जैत गुरु के उपदेश की प्रतीक्षा नहीं करती, बँने ही पीडा विलम्ब (समय) की प्रतीक्षा नहीं करती ।

टिप्पणी—नाव यह है कि दमयन्ती अब विरह पीडा सहने में अक्षम है, अब हृत्त को अब अधिक सोच-विचार में ज्हापोह में समय बिताना ठीक नहीं । लोकाबुद्धि कार्य करने में यह प्रतीक्षा नहीं करता कि जब गुरु भी

कार्यं निर्देश करें, तब वह कुछ करे, वह तो अविलंब कार्य में लग जाता है, विलंब उसे सख्त नहीं, ऐसे ही विरह-पीडा भी समय की प्रतीक्षा नहीं करती। मल्लिनाथ यहाँ उपमा-अर्थान्तरन्यास की सृष्टि मानते हैं, विद्याधर काव्य-त्रिग उपमा ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम् ।

प्रियास्यदाक्षिण्यवलात्कृतो हि तदोदयेदन्यवधूनिषेध ॥ ९२ ॥

जीवातु—अथानन्तरकृत्य सविशेषमुपदिशति—अभ्यर्थनीय इत्यादिश्लोक पञ्चकेन । गतेन इतो यातेन त्वया स राजा नलः शुद्धान्तगत जन्तपुरस्सो मदर्थं मत्प्रयोजनं नाभ्यर्थनीयो न वाच्य, दुहादित्वाद् द्विकमत्वम् 'अप्रधाने दुहादीनामि'ति राजोऽभिहितकर्मत्वम् कुत ? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणा-मास्यदाक्षिण्यं मुखावलोकनोत्थापितञ्छन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थः । तेन वलात् कृतो वलात्प्रतिवर्तितो अन्यवधूनिषेध उदयेत् उत्पद्यते ॥ ९२ ॥

अन्वय —यातेन त्वया शुद्धान्तगत सः राजा मदर्थम् न अभ्यर्थनीय, हि तदा प्रियास्यदाक्षिण्यवलात्कृतं अन्यवधूनिषेध उदयेत् ।

हिन्दी—यहाँ से जाकर तुम शुद्धरनिवास में स्थित उस राजा से भेदे निमित्त प्रार्थना न करना क्योंकि उस समय प्रिय रानियों के मुख समुख होने से उत्पन्न दक्षिणभाव के अनुरोध से और एक पत्नी के विषय में नकारात्मकता उठ सकती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने हंस को सलाह दी कि जब राजा नल अंतपुर में अन्य रानियों के साथ बैठे हों तो वहाँ वह दमयन्ती-विषयक प्रस्ताव उपस्थित न करे, क्योंकि यह उचित न होगा । कारण कि नल हैं दक्षिण नायक—सब क्रियाओं में एक-सा अनुराग रखनेवाले, उनको अपनी प्रियाओं का मुख देखते अपने दक्षिणभाव के कारण एक और पत्नी लाने का प्रस्ताव अनुकूल न लगेगा । राजा के मन में दो भाव उत्पन्न होंगे—एक तो और एक पत्नी लाने के संबन्ध में लज्जा, दो—समक्ष उपस्थित प्रियाओं से अधिक सुन्दरी की कल्पना के कारण उनकी अवज्ञा समझी जाने से उनके प्रति प्रीति का अभाव प्रकट होगा । उस स्थिति में हंस का दमयन्ती विषयक प्रस्ताव उचित न होगा । काव्यलिंग अलंकार ॥ ९२ ॥

शुद्धनानमभोगनितान्ततृप्ते न नैपथे कार्यमिदं निगाद्यम् ।

अथा हि तृप्तये न वारिधारा स्वादुन्सुगन्धिः स्वदते तुपारा ॥९३॥

जीवातु—शुद्धान्नेति । किञ्च शुद्धान्तसम्भोगेन अन्तपुरस्त्रीसम्भोगेन नितान्ततृप्ते अत्यन्तमन्तुष्टे नैपथे नलविषये इदं कार्यं न निगाद्यं न निगदितव्यम्, 'ऋहलोर्ष्वत्' 'गश्मदे'त्यादिना सोपसार्गाद्यतो निषेधात् । यथाहि अपा नृप्याय अद्भिस्तृप्तायत्ययं । 'पूरणगुणे'त्यादिना पष्टीसमासप्रतिषेधादेव ज्ञापकात् पृष्टी 'रच्यमाना प्रीयमाना' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्यो । स्वादुर्मधुरा सुगन्धिकर्पूरं रात्रिवाचना शोभनगन्धा । अत्र कवीना निरकुरत्वाद्गन्धस्त्वेत्वे तदेकान्तत्वनिबनानादत्त । तुपारा शीतला वारिधारा न स्वदते न रोचते हि । इष्टान्तालकार ॥ ९३ ॥

अन्वय—शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततृष्टे नैपथे इदं कार्यं न निगाद्यम्, हि जपा तृप्ताय स्वादु सुगन्धि तुपारा वारिधारा न स्वदते ।

हिन्दी—जब निपत्ररात्र शुद्धान्तपुर मे सभोग करके परितुष्ट हो, तब भी यह कार्य (विवाह-प्रस्ताव) न करना, क्योंकि जो जब जल पीकर पूर्णत तृप्त हो चुका है, उसे स्वादिष्ट, सुगन्धि और अति शीतल जल की धारा में भी स्वाद नहीं आता ।

टिप्पणी—एक दूसरे अनवसर की ओर सकेत । जो नारी भोग से तृप्त हो, उसे स्त्री-चर्चा वैसे ही अर्चकर लगती है, जैसे जिसकी प्यास बुझ गयी है, उसे स्वादिष्ट, कपूर-केवडा आदि की सुगन्ध से युक्त अति शीतल जल भी नहीं रुचता । मल्लिनाथ के अनुसार इष्टात्, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास-माना है ॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्याः क्रुधा कटुष्णे हृदि नैपथस्य ।

पित्तेन दूने रसने नितार्जपि तिक्तायते हृत्कुलावतस । ॥ ९४ ॥

जीवानु—विज्ञापनीया इति । हे हृत्कुलावतस । नैपथस्य हृदि हृदये क्रुधा श्रोधेन कटुष्णे ईपदुष्णे चकारात्को कदादेश । महामिमा मदर्या अर्थेन सह नित्यसमास सर्बलिङ्गता च वक्तव्या, गिरो वाचो न विज्ञापनीयाः न विद्येयाः न विज्ञाप्या इत्यर्थं । तथाहि पित्तेन पित्तदोषेण दूने दूषिते रसने रसनेन्द्रिये सिता शकरापि तिक्तायते तिक्तो नवति लोहितादित्वात् क्यप्, 'वा क्यप्' इति आमनेपदम् । अत्रापि इष्टान्तालकार ॥ ९४ ॥

अन्वय — हसकुलावतस , नैपथस्य हृदि क्रुधा कदुष्णे त्वया मदर्या गिर-
न विज्ञापनीया रसने पित्तेन दूने सिता अपि तिक्तायते ।

हिन्दी—हे हसवशप्रसूत, निपथराज का हृदय क्रोध से कुछ तप्त होने पर
तुम मेरे निमित्त वचन न कहना, जोम के पित्त विगडने से दूषित होने पर
मिसरी भी तीवी लगती है ।

टिप्पणी—तीसरे अनवसर की चर्चा । क्रोध मे व्यक्ति को उचितानुचित
का भान नहीं रहता, सो जब निपथराज कुछ क्रुद्ध हा, तब भी दमयन्ती-
विषयक चर्चा का कुफल हो सकता है । यद्यपि दमयती ह्यगुणसपत्ना अनुपम
रमणीरत्न है, फिर भी उचित अवसर का अभाव उसे अवमानना योग्य बना
सकता है । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टात अलकार, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास
माना है और 'तिक्तायते' को उपमा कहा है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्शयाच्चा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्ते ।

सदाऽर्थितस्मानवबोधनिद्रा- विभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

जीवानु—धरेति । तुर त्वरित सहयत्यभिभवत्परीणिति तुरापाङ्गिन्द्र-
सहृतेश्चोरादिकत्वात् चिचप्, 'नहिवृती'त्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घं, प्रकृतिग्रहणे
प्य-तस्यापि ग्रहणात्, मुग्धभोजस्तु तुरासञ्च टाबन्तमाह । तस्मिन् धरा-
तुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिपु असाङ्ग पत्वाद् 'सहे साङ् स' इति पत्व
नास्ति । कार्यान्तरचुम्बिचित्ते व्यासक्तचित्ते मदर्शयाच्चा मत्प्रयोजनप्रार्थना
न कार्या । तथाहि—तदा व्यासङ्गवाले अर्थितस्य अनवबोध अवोध स एव
निद्रा सा अवज्ञाऽऽचरणस्य अनादरकरणस्य मुद्रामभिज्ञान विभर्ति, अनादर-
प्रतीतिं करोतीत्यथ । तच्चातिकष्टमिति भावः ॥ ९५ ॥

अन्वय,—धरातुरासाहि कार्यान्तरचुम्बिचित्ते मदर्थयाच्चा न कार्या, तदा
अर्थितस्य अनवबोधनिद्रा अवज्ञाचरणस्य मुद्रा विभर्ति ।

हिन्दी—धरती के इन्द्र (नल) का चित्त जब अन्य कार्य मे तल्लीन हो,
तब भी मेरे निमित्त याचना न करना, उस समय याचित (नल) की प्रबोध
रूप—अप्रवणरूप निद्रा अवहेलना का रूप धारण कर सकती है ।

टिप्पणी—एक बोधा अनवसर । अन्य कार्यावश नल भी दमयन्ती-

विषयक प्रार्थना के लिए उपयुक्त न होगा। दूसरे काम में चित्त के आसक्त होने पर वह इस प्रार्थना पर ध्यान न दे सकता है और प्रस्ताव को अवज्ञा ही लक्ष्मी है। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार काव्यलिङ्ग। इस प्रकार चार श्लोको में दमयन्ती ने प्रस्ताव के निमित्त चार अनुपयुक्त अवसरों का निर्देश किया है ॥ ९५ ॥

विज्ञेन विज्ञाप्यनिद्रे नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाऽस्मिन् समय समीक्ष्य ।
आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्धयोः कार्यस्य काऽऽर्यस्य शुभा विभाति ॥९६॥

जीवातु—विज्ञेनेति । तस्मात् करणाद् विज्ञेन विवेकिना त्वया समय समीक्ष्य इदं कार्यमस्मिन् नले विषये विज्ञाप्यम् । विलम्ब स्यादित्याद्यङ्कुयाह—आत्यन्तिकेति । हे हम ! कार्यस्य आत्यन्तिकासिद्धिविलम्बसिद्धयोर्मध्ये आयस्य विदुषस्तं वा कतरा शुभा समीचीना विभाति ? अनवसरविज्ञापने काय-विधाताद्वर विलम्बनेनापि कायसाधननिति भाव ॥ ९६ ॥

अन्वय—तस्मान् विज्ञेन त्वया समय समीक्ष्य इदम् अस्मिन् नरन्द्र विज्ञाप्यम् । कायस्य आत्यन्तिकस्य सिद्धिविलम्बसिद्धयोः कार्यस्य का शुभा विभाति ?

हिन्दी—अतएव विशेषज्ञ आप उचित समय की समीक्षा कर यह (प्रस्ताव) इस नरराज (नल) के समुच्च उपस्थित करें। कार्य पुणतया सिद्ध ही न हो अथवा विलम्ब से सिद्ध हो—इन दोनों स्थितियों के मध्य कौन सों स्थिति आपको शुभ (नली) प्रतीत होती है ?

टिप्पणी—नायं की दो स्थितियाँ संभव हैं—(१) वह सपन्न न हो, (२) वह विलम्ब से सपन्न हो। काई समझदार मानेगा कि पहिली का अपेक्षा दूसरी ही स्थिति भली है। वो हंस की रूपना प्रस्ताव उचित अवसर पर ही रखना चाहिए, मले ही कुछ विलम्ब हो जाये। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार छैरानुशास ॥ ९६ ॥

इत्युक्तवत्या यदप्यपि लज्जा साज्जोचिते चेतसि नरचक्रास्तु ।

स्मरस्तु साक्षी तददोषतायामुन्माद्य यस्तत्तदवीवदत्ताम् ॥ ९७ ॥

जीवातु—इतीति । इत्थमुक्तवत्या तथा लज्जा अलोपित्यक्तेति यत् । सा, विधेयप्राधान्यात् खीलित्वा, अनौचित्ये अनौचित्यङ्गतमेतद् नोऽस्माक शृङ्खला चेतसि चकास्तु । किन्तु लज्जात्यागस्य अदोपतार्या स्मर साक्षी प्रमाण, य स्मर ता भैमीमुन्माद्य उन्मादावस्था प्राप्यैतत्तदनुचित वचनमवी-
च्यत् वादयतिस्म । वदतेणी चडि 'गतिबुद्धी' त्यादिना वदेरणि कर्तुं कर्म-
त्वम् । प्रकृतिस्थस्याय दोषो न कामोपहतचेतसि इति भाव ॥९७॥

अन्वय — इति उक्तवत्या यत् लज्जा अलापि सा न चेतसि अनौचित्ये चकास्तु, तु तददोपताया स्मर साक्षी, य ताम् उन्माद्य तत् अवीवदत् ।

हिन्दी—यह सब (उपयुक्त) कही दमयती ने जो लज्जा का लोप कर दिया, वह भले ही हम लोगो के चित्त में अनुचित प्रतिभासित हो, किन्तु उस (दमयती) को निर्दोषता में काम ही प्रमाण है, जिसने उसे उन्माद से भरकर यह कहलाया ।

टिप्पणी—लज्जा त्याग कर वाला दममन्ती जो यह सब बोल गयी, वह श्रोता, पाठक अथवा कवि को अनुचित लग सकता है, पर दोष उसका नहीं उस काम का है जिसके कारण उत्पन्न उन्माद ने उससे यह कहला डाला । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥९७॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरश्च द्वावप्यसोमा मृदमुद्ब्रहेते ।

पूर्वस्मरस्पर्धितया प्रमून न् द्वितीयो विरहाधिदूनम् ॥ ९८ ॥

जीवातु—वामो वा किमथमेव कारयतीत्याशङ्क्य तस्याय निसर्गो यदु-
न्मत्तेन प्रीडतीति सट्टान्तमाह—उन्मत्तमिति । हर स्मरश्च द्वावपि उन्मत्त-
मासाद्य अभीमा दुरेता मुदमुद्ब्रहेत दवतु । वहे स्वरितेत्त्वादात्मनेपदम् किन्तु
तत्र निर्देशकमात् पूर्वो हर स्मरस्पर्धितया स्मरद्वेषितया प्रमून धुत्तूरकुसुम
तस्यायुषतयेति भाव । अयस्तु द्वितीय स्मरस्तु विरहाधिदून विरहव्यया-
दु स्यमुमादावस्थापन्नमित्यय । अन्यत्र विनोदलाभादित्यर्थ । 'उन्मत्त
उन्मादवति घुत्तूरमुचुकुन्दयोरिति विश्व । उन्मत्तोरभेदाध्यवसायात् समान-
घर्मन्त्वविशेषणमत्रादलेपात्प्रकृताप्रकृतगोचरत्वाच्च उन्मत्तदलेप तेन हरवत्
स्मरोऽप्युन्मत्तप्रिय इति उपमा गम्यते ॥ ९८ ॥

अन्वय — परस्परस्पर्द्धितया नून ह्यस्मर च द्वौ अत्र उन्मत्तम् जात्याद्य
वसोना मुदम् उद्बहेते, पूर्वं प्रसून द्वितीय विरहाधिदुनम् ।

हिन्दी—अन्योन्य के प्रतिस्पर्धी होने के कारण महादेव शिव और काम में दोनों ही ऐसा लगता है कि उन्मादी को प्राप्त कर उसीमें प्रसन्नता-धारण करते हैं । इनमें पहिले शिव उन्मत्त अर्थात् घतूरे के फूल को, और दूसरा काम उन्मत्त अर्थात् विरहोन्मादी जन को अथवा शिव के गण पिशाच को (प्राप्त कर) ।

टिप्पणी—पूर्व लोके में दमयन्ती के उन्मादजनित निर्लज्ज व्यवहार का कारण स्मर बताया गया था । यहाँ कवि और-एक उभावना करता है । उन्मत्त का अर्थ उन्मादग्रस्त तो है ही, घतूर और पिशाच भी है । इस आधार पर कवि सकेत करता है कि शिव और काम दोनों 'उन्मत्त' को प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं । उन्मत्त-घतूरा शिव को प्रिय है और उन्मत्त पिशाच तो उनका गण ही ठहरे । सो दोनों की प्राप्ति पर उन्हें विशेष प्रसन्नता होती है । प्रतिस्पर्द्धा की बात यहाँ यह है कि शिव-काम में शत्रुभाव है, सो उन्मत्त' को प्राप्त कर दोनों में प्रसन्न होने की भी प्रतिस्पर्द्धा हो जाती है कि कौन अधिक प्रसन्न हो ? उन्मत्त 'घतूर' काम का एक वाण ही है, सो उसकी प्राप्ति उसकी प्रसन्नता का कारण होगी ही, 'उन्मत्त' व्यक्ति इसलिए उसकी प्रसन्नता का कारण बनता है कि वह अपने प्रभाव की सिद्धि देखता है ।

अथवा शिव काम के वायुष-प्रतिस्पर्द्धा के अर्थ 'घतूर' को पाकर प्रसन्न होते हैं कि चलो, शत्रु को वस्तु पर अधिकार हुआ । ऐसे ही काम भी 'उन्मत्त' अर्थात् पिशाच को पाकर प्रसन्नता से भर जाता है कि चलो, शत्रु का एक सेवक पकड़ में आया ।

अथवा दोनों ही परस्पर स्पर्द्धा में उन्मत्त को पा एक-दूसरे से अधिक प्रसन्नता व्यक्त करते हैं ।

'विरह' कोष के अनुसार 'उन्मत्त' के अर्थ हैं उन्मादी और घतूर और मुचुकुद । इस प्रकार दोनों में अभेद होने से समानधर्मत्व विशेषणभाव है, इस प्रकार प्रकृताप्रकृत भोचर होने से यहाँ उन्मत्त और अर्थ श्लेष हुआ, जिससे

हर के तुल्य स्मर भी उन्मत्तप्रिय है, यह उपमा व्यंग्य होती है। यह जीवातु-कार मल्लिनाथ का कथन है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा व्यतिरेक अलंकार है ॥९८॥

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्री निणाय ता नैपथवद्धरागाम् ।

अमोचि चञ्चुपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूय ॥ ९९ ॥

जीवातु—तथेति । तथाऽभिधानी ता राजपुत्री भैमी नैपथे नले बद्धरागा निर्णाय तेन विहायसा विहगेन विहस्य भूय चञ्चुपुटस्य मौनमुद्रा निर्वचनत्व-ममोचि आवादीदित्यर्थं ॥ ९९ ॥

अन्वय—अथ तथा अभिधात्री ता राजपुत्री नैपथवद्धरागा निर्णाय तेन विहायसा विहस्य भूय चञ्चुपुटमौनमुद्रा अमोचि ।

हिन्दी—इसके अनंतर उस प्रकार कहनेवाली उस राजकुमारी को नैपथ-राज के अनुराग में आवद्ध मानकर उस पक्षी ने हँसकर पुन अपनी चोच की मौनस्थिति का परित्याग किया, अर्थात् कहने के लिए चोच खोली ।

टिप्पणी—हस को दमयन्ती के नल पर अनुरक्त होने का विश्वास हो गया और वह कहने लगा । विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण है और छेकानुप्रास अलंकार ॥९९॥

इद यदि क्षमापतिपुत्रि । तत्त्व पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।

त्वामुच्चकैस्तापयता नलं च पञ्चेपुणैवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

जीवातु—इदमिति । हे क्षमापतिपुत्रि ! इदं त्वदुक्तं तत्त्व यदि सत्यं यदि तत्तद्दि अस्मिन् विषये स्वविधेयं मत्कृत्य न पश्यामि, तन्तु त्वा नृप च उच्च-कैरत्यन्तं तापयता पञ्चेपुणैव इयं योजना युवयोः सङ्घटना अजनि जाता ! जने कमणि 'चिणो लुक्' ॥ १०० ॥

अन्वय—क्षमापतिपुत्रि, यदि इदं तत्त्व तत् अस्मिन् स्वविधेयं न पश्यामि, त्वं नृप च उच्चकैः तापयता पञ्चेपुणा एव इयं योजना अजनि ।

हिन्दी—हे धरणी के श्यामी की बेटो, यदि यह (उक्त) सत्य है, तो इस सबध में मुझे कुछ करणीय नहीं दीखता, तुम्हें और राजा नल को अत्यधिक विरह सत्पत् करते पञ्चबाण (काम) ने ही इस योजना की सृष्टि की है ।

टिप्पणी—दमयन्ती और नल के मन में एक-दूसरे को पाने की अदम्य कामना है, अतः इस का कार्य अब कुछ रह ही नहीं जाता। योजना तो बनी-बनायी है। विद्याधर के अनुसार यहाँ कार्यकारण पौवपियंरुना अति-संयोजित है ॥ १०० ॥

त्वद्बद्धबुद्धेर्वाहिरिन्द्रियाणा तस्योपवासव्रतिना तपोनि ।

त्वामद्य लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजा स्व देवन्य चरितार्थमस्तु ॥ १०१ ॥

जीवानु—त्वदिति । किन्तु त्वद्बद्धबुद्धे त्वदायत्तचित्तस्य त्वामेव घायत इत्यर्थ । अत एव तस्योपवासव्रतिना त्वदात्तद्वाद्भिपयान्तरव्यावृत्ताना तपोनिष्कृतोपवासव्रतरूपेरद्य त्वा लब्ध्वा मन्नुद्येन लब्धप्राया निश्चित्य साक्षात्कृत्येति च गम्यते, अत एव अमृतेन या तृप्तिस्तद्भाजा वहिरिन्द्रियाणा स्व स्वकीय देवन्य देवत्वमिन्द्रियत्व सुरत्वञ्च, 'देव सुरे यत्ति देवमाख्यात-मिन्द्रियमि'ति विश्व । चरितार्थं सफलमस्तु । अमृतपानैकफलत्वाद्देवत्व स्यादिति भावः । अयान्तरप्रतीतेर्धनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—त्वद्बद्धबुद्धे तस्य उपवासव्रतिना तपोनि अद्य त्वा लब्ध्वा अमृततृप्तिभाजा वहिरिन्द्रियाणा स्व देवन्य चरितार्थम् अस्तु ।

हिन्दी—तुम्हारे प्रति अपनी बुद्धि को प्रतिबद्ध किये उस (नल) को उपवास-व्रत में लगीं, तपस्वरण द्वारा आज तुमको प्राप्त कर अमृतपान की परितृप्ति की नाजत वाञ्छ इन्द्रियों का अपना 'देवत्व' (इन्द्रियत्व और देवता होना) सफल हो ।

टिप्पणी—दमयन्ती के अनुराग के विषय में जानकर नल चरितार्थं हो जायेगा, उनकी नेत्रादि बाह्येन्द्रियां तृप्त हो जायेंगी, जैसे दमयन्ती के रूप में उसे अमृत की मन्दाकिनी मिल गयी हो । इस प्रकार उनका देवत्व अर्थात् इन्द्रिय-होना ही चरितार्थं न होगा, प्रत्युत देवत्व अर्थात् देव होना भी सफल हो जायेगा, क्योंकि यह माना जाता है कि इन्द्रियों में देवता का वास होने से वे 'देव' कही जाती हैं । उदाहरणार्थ—मूर्धं 'चक्षु' होकर आँसों में प्रविष्ट है—'आदित्यश्चक्षुः त्वाऽक्षिणी प्राविशत्' (ऐतरेय० २।४) । दमयन्ती के अनाय में नल की इन्द्रियां न तो कृतकाम ही थी और न उक्त 'देव' नाम ही

सार्यक था, अब वे कृतकाम होगी । 'विश्व' कोप के अनुसार 'देव' शब्द सुर, राजा और इन्द्रिय अर्थों का वाचक है । 'व्यक्ति' उपवासादि व्रत-परिचालन म लगकर तपस्यारत हो और तल्लीन भाव से ब्रह्म में बुद्धि लगाकर ही पुण्य भाजन हो ब्रह्म को प्राप्त करता है और मोक्षानन्द रूप देवत्व प्राप्त करता है, ऐसी ही नल की बाह्येन्द्रियो की स्थिति है । मल्लिनाथ ने यहाँ अर्थात्तर प्रतीति से ध्वनि का संकेत किया है, विद्याधर समासोक्ति मानते हैं ॥ १०१ ॥

तुल्यावयोभूतिरभूमदीया दग्धा पर साऽप्ये न ताप्यतेऽपि ।

इत्यभ्यसूयन्निव देहताप तस्याऽतनुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२ ॥

जीवातु—यदुक्तं नृप पञ्चे पुस्तापयतीति तदाह—तुल्येति । आवयो नलस्य मम चेत्यर्थ । 'त्यदादीनि सर्वे नित्यमि'ति सबग्रहणादत्यदादिना नलेन सह त्यदाद्येकशेष । मूर्तिस्तनुस्तुल्या तुल्यरूपाऽभूत् । तत्र मदीया सा भूति पर नि शेष दग्धा भस्मीकृता, अस्य मूर्तिस्तनुं ताप्यते तापमपि न प्राप्यते इति हेतोरभ्यसूयन्-ईष्यन्निवेत्युत्प्रेक्षा । अतनुरनङ्गस्त्वद्विरहात्त्वद्विरहमेव रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थ । तस्य नलस्य देहताप विधत्ते । तस्मारिसद्विषयमुपतिष्ठते ते मनोरथ इति भाव ॥ १०२ ॥

अन्वय—आवयो भूतिः तुल्या अभूत्, मदीया दग्धा परम् अस्य ता ताप्यते अपि न—इति अभ्यसूयन् इव अतनु त्वद्विरहात् तस्य देहताप विधत्ते ।

हिन्दी—हम दोनों (काम-नल) का रूप समान था, मेरा (काम का) देह तो जल गया, किन्तु इस (नल) का देह तपाया भी नहीं जाता—इस प्रकार मानो ईर्ष्या करता अदेह कामदेव तेरे वियोग से उसके देह को तप्त कर रहा है ।

टिप्पणी—विरही नल की स्मरजन्य ताप दशा का व्याज से वणन । विद्याधर ने यहाँ चिंता नामक स्मर दशा और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, प्रकाशकार यहाँ कामजनित विरहस्वर मानते हैं ॥ १०२ ॥

लिपि दुशा भित्तिविभूषण त्वा नृप पिबन्नादरनिर्निमेषम् ।

चक्षुर्ज्ञरैरपितमात्मचक्षुराग स धत्ते रचित त्वया नु ॥ १०३ ॥

जीवातु—अयास्य दशावस्था वणयन् चक्षु प्रीति तावत् श्लोकद्वयेनाह—

लिपिमित्वादि । हे नैमि ! न नृपो नित्तिविभूषण कुड्यालङ्कारभूता लिपि चित्रमयी त्वा दृशा आदरेपात्यया निर्निमेष पिबन् चञ्चुरैरश्रुमिर्यपि त्वया नु त्वया वा रचितनात्मचञ्चुपो रामादभ्यननुरागञ्च घत्ते । जत्रोनयकारण-सम्भवाद्गुणयस्मिन्नपि रागे जाते श्लेष्महिम्नैकनानिवानात्कारणविशेषे सन्देहः ॥

अन्वयः—स नृप नित्तिविभूषण लिपि त्वा दृशा आदरनिर्निमेष पिबन् चञ्चुरैः अस्ति नु त्वया रचितम् ज्ञातमचञ्चुराग घत्ते ।

हिन्दो—वह राजा दीवार की अलंकार चित्ररूप में बनी (दीवार पर बने चित्र रूपमें) तुमको दृष्टि से आदर पूर्वक बिना पलक जपाये पीता हुआ (एकटक आदर-अनुराग से देखता) आँसों से बहती आँसु की झड़ी से जनित भावों तुम्हारे द्वारा उत्पन्न किये—अग्ने नत्रों में लाली को धारण कर अपनी आँसुओं के अनुराग प्रकट कर रहा है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के 'चञ्चु-प्रेम' का वर्णन है । वह दीवार पर बने दमयन्ती के चित्र को अनुराग और आदर से एकटक निहारता रहता है, जिससे उसकी आँसुओं से जलू बह जाते हैं और वे लाल हो जाती हैं, इसी पर कवि की कल्पना है कि नेशों का यह एकटक निहारना, आँसु बहाना और लाली उसके 'चञ्चु-प्रेम' का प्रमाण है । इति-सन्वय के अनुसार अनुराग का रग लाल माना जाता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सन्देह अलंकार है, क्योंकि चञ्चुराग का कारण एकटक निहारना अथवा अनुराग—धोना हो सकते हैं । विद्याधर नयन-प्रीति और विषय निवृत्ति स्मर-दशा मानते हुए उत्प्रेक्षा अलंकार मानते हैं । प्रकाशकार ने उत्प्रेक्षा का कारण माना है कि वाप्यजनित-लाहितिया मानो दमयन्ती विषयक, उद्भूत नयनानुराग है । प्रथम काम दशा । 'रतिरहस्य' के अनुसार दस काम-दशाएँ हैं—'नयनप्रीतिः प्रथम चित्ता-सङ्गन्ततोऽयं सङ्गुणः । निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रयानाय । उन्नादो मूर्च्छा मृतिरित्येता स्मरदशा दशैव स्फु' ॥ १०३ ॥

पानुर्दृशाऽऽलेख्यमयीं नृपस्य त्वामादरादस्तनिमोलयाज्जस्ति ।

ममेदमित्युश्रुणि नेत्रवृत्ते प्रीतिनिमेषच्छिदया विवादः ॥ १०४ ॥

६ नै० तृ०

जीवातु—इममेवायं भङ्गघन्तरेणाह—पातुरिति । अस्तनिमीलया निनि-
मेपया दृशा आलेख्यमयी चित्रगता त्वामादरात्पातुर्दृष्टुरित्यर्थं पिबतेस्तृन्
प्रत्यय । अत एव 'न लोके'त्यादिना पृष्ठीप्रतिषेधात्वमिति द्वितीया । नृपस्य
नेत्रवृत्ते प्रीतेरचक्षु प्रीतेर्निमेपस्य च्छिदया च्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति दोष ।
मिदादित्वादङ् प्रत्यय । अश्रुणि विषये इदमश्रु ममेति मत्कृतमेवेति विवाद
कलह अस्ति भवतीत्यर्थं ॥ १०४ ॥

अन्वय—अस्तनिमीलया दृशा आलेख्यमयी त्वाम् आदरात् पातुः नृपस्य
नेत्रवृत्ते प्रीते निमेपच्छिदया विवादः अस्ति ।

हिन्दी—अपलक दृष्टि से चित्रगता (चित्र में बनी) तुमको आदर से
पीते (निहारते) राजा के नेत्रों में वतमान अनुराग का निमित्तच्छिदा (अप-
लक देखना) से विवाद चल रहा है ।

टिप्पणी—नेत्रानुराग का अन्य भगिमा से वर्णन । नेत्रप्रीति और निमित्त-
च्छिदि—दोनों का दावा है कि नयनाश्रु का कारण वह है । नेत्र प्रीति कहती
है—ये आँसू मैंने उत्पन्न किये हैं, निमित्तच्छिदि कहती है मैंने । यहाँ भी 'नयन-
प्रीति' काम दशा का ही वर्णन है ॥ १०४ ॥

त्व हृद्गता भेमि । वहिगताऽपि प्राणायिता नासिकयाऽस्य गत्या ।

न चित्तमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥ १०५ ॥

जीवातु—अथ मन सङ्गमाह—त्वमिति । हे भेमि ! त्व वहिगतापि हृद्गता
अन्तगता, अति विरोधे तेन धाभासाद्विरोधाभासोऽलङ्कार । कया गत्या केन
प्रकारेण जस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाचारे'
कर्तुं क्यङ् प्रत्यय । नासि अस्येवेत्यर्थं । यत प्राणोऽपि नासिकया नासाद्वारेण
आस्यगत्या मुखद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण वहिगतोऽप्यन्तगतो भवतीति
शब्दश्लेष । अत एव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणयमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन
सञ्जीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्रयस चित्तघ्राणमिति न किञ्चि-
च्चित्रमित्यर्थं । कुत यद्यस्मादेतन्मनो नलचित्त भवती त्वमेवैका वृत्तिर्जीविका
यस्य तद्भवदेकवृत्तिः, नवच्छब्दस्य सर्वनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पु वद्भाव ।
जीवितभूतस्य प्राणायितत्व कि चित्र, जीवितस्य प्राणधारणारम्भत्वादिति भाव ॥

अन्वयः—हे नैनि, (१) बहिर्गता अपि हृद्गता त्व कया गत्या अत्र प्राणापिता न असि ? (२) बहिर्गता त्व नासिकाया आस्यगत्या अपि प्राणापिता । (१) यत् नवदेकवृत्ति एतत् मन चित्रम्, न आक्रामति तत्र चित्रम् । (२) चित्रं तत्र चित्तं न आक्रामति यत् एतत् मन नवदेकवृत्ति ।

हिन्दो—हे नोमकुमारो, (१) बाहर रहती भी हृदय में बसती तुम किस प्रकार इस (नल) की प्राणतुल्या नहीं हो ? हो ही । (२) बाहर निवास करती तुम नासिका और मुख की गति (सौन्दर्य) से नल के प्राणों में स्थित हो अर्थात् प्राणसमा हो, जैसे नासिका द्वारा बाहर अगुल बाहर गया वायु मुख द्वारा प्रविष्ट हो प्राणवायु की सजा पाता है । (२) या कि आपके प्रति एकनिष्ठ यह मन चित्रसमान अवचल, आपके चित्र पर झपट क्यों नहीं कर देता—यह आश्चर्य है (विरह चंचल हो आक्रमण कर देना चाहिए) । (२) तुम्हारा चित्र चित्त को नहीं छोड़ता, क्योंकि यह मन आपमें तन्वीन है ।

टिप्पणी—तृतीय चरण में 'चित्तम्' भी है और पाठान्तर 'चित्रम्' भी । वस्तुतः इसमें दूसरी स्मरदशा चित्तासग का वर्णन है, जिसमें मन की दमयन्ती के प्रति उन्मयता और एकनिष्ठता का विवेचन है । विद्याधर ने यहाँ विषय-निवृत्ति और सकल्प नामक कामदशाओं का प्रतिपादन माना है तथा विरोधाभास श्लेष-उपमा की समृष्टि ॥ १०५ ॥

अजस्रमागेह्मि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानतति तदीयाम् ।

श्वासान् स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्वयानात्तव त्वन्मयतान्तदाप्य ॥ १०६ ॥

जीवानु—जय दान्या सङ्कल्पावत्यामाह—अजस्रमिति । दूरदीर्घाम-त्यन्तायता तदीया सङ्कल्पा मनोरथा एव सोपानानि तेषाम् तति इडि-स्त्वमजस्र त्वनारोहसि, श्वासान् पुन स नल अधिक वर्षति मुञ्चतीति यत् तच्छ्वासवर्षं तव ध्यानात् त्वन्मयतां त्वदानकृत्वनाप्य प्राप्य, प्राप्नोतेराड्, समाप्ते क्तो स्पवादेश, अन्यथा कर्मन्यानासादन्यस्य श्वासनोक्ष इति भाव । अत्र श्वास सोपानाराहणो कार्यकारणभेदविपर्ययोन्तरसङ्कल्पककारः 'कार्यकारणयो-

भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरिति लक्षणात् तन्मूला चेय तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ १०६ ॥

अन्वय —दूरदीर्घा तदीया सङ्कल्पसोपानउतिम् अजस्रम् आरोहति यत् पुन स तव ध्यानात् तदा त्वन्मयताम् अवाप्य अधिक श्वासान् यपति ।

हिन्दी—तुम उस (नल) के मनोरथा की बहुत बड़ी सीढ़िया पर निरन्तर चढ़ी रहती हो (नल प्रतिक्षण तुम्हारे विषय मे ही विचारता रहता है) कि वह नल तुम्हारे ध्यान मे उस समय त्वत्स्वरूप हो लम्बे लम्बे साँस छोड़ता है ।

टिप्पणी—यहाँ तृतीय स्मरदशा सङ्कल्प का वर्णन है । नल दमयन्ती का प्राप्त करने के उपाय सदा सोचता रहता है और लम्बे नि श्वास छोड़ता रहता है । वह दमयन्ती का ध्यान करते-करते तत्स्वरूप ही हो जाता है भू गीरीट के समान । सीढ़ियों पर बारम्बार चढ़ता-उतरता व्यक्ति श्रम के कारण लम्बे उच्छ्वास लेगा ही, सा सङ्कल्पसोपानउति पर निरन्तर आरोहण करती दमयन्ती के ध्यान न तद्रूपता के कारण मानो यका नल सद्यत्न उच्छ्वासों छोड़ता रहता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्वास-सापानारोहण रूप काय-कारणों की व्य-धिकरण से उक्ति के आधार पर असंगति अलंकार है, कारण कि काय कारण की भिन्न-देशता असंगति होती है—काय कहीं, कारण कहीं । नल के दमयन्ती-तादात्म्य की उत्प्रेक्षा असंगतिमूलक है, अतः सङ्कर है । विशाखर के अनुसार यहाँ असंगति अलंकार का आभास है ॥ १०६ ॥

हृत्तस्य या मन्त्रयते रहस्त्वा ता व्यक्तनामन्त्रयते मुख यत् ।

तद्वारिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्यौचित्ता सा खलु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

जीवातु—हृदिति । तस्य नलस्य हृत् हृदय कृत् या त्वा रह उपायु 'रहस्योपायु चालिङ्गे' इत्यमर । मन्त्रयते सम्भाषत ता त्वा तन्मुख कर्तृ व्यक्त प्रकाशनामन्त्रयते । हे प्रिय ! क्व यामि ? मामनुयान्त पश्य इत्येव-मुच्चंश्चरतीति यत् सा तद्रहस्यप्रकाशन, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीतिङ्गता । तन्मुखस्य तद्वारिणा नलद्वेषिण पुष्पायुधस्य मित्र सखा धरच्चन्द्रः । तेन यत् सस्य मैत्री सादस्यञ्च, तस्य जीवितौ औचित्य खलु । अरिमित्रस्याप्यरित्या-

दुचितमेतद्रहस्यनेशनमित्ययं । अत्र मुखकृन्तृकृष्णोद्भेदनस्य उक्तवैरनिमित्त-
त्वनुत्प्रेक्षण ॥ १०३ ॥

जन्मय—उभय हृद् या त्वा रह मन्त्रदते ता मुत्र व्यक्तम् आमप्रयते, सा
दग्नुत्सम्य तद्वैरिपुष्पानुबानिधचन्द्रस्योचिती बहु ।

हिन्दी—उस (नर) का हृदय जो तुमसे एकत्र न गुप्त बनना करता है,
मुख उसे स्पष्ट व्यक्त कर देता है, उस (नर) के मुख की (स्पष्ट व्यक्ति)
उस (नर) के शत्रु दुःखानुत्प्रेक्षण (काम) के मित्र चन्द्र का मित्रजनोचित
अवस्था ही है ।

टिप्पणी—यह भी सकल दया है । नाव यह है कि नर तो मन-हो-मन
गुप्त रूप से दमपती-विषयक विचार करता है, परन्तु उसके मुख पर झलकते
विभो-जनित पीलापन, म्लानभाव आदि उसके नाव को प्रकट कर देते हैं ।
सौन्दर्यादि-रूप श्री के कारण काम नर का प्रतिस्पर्धी और शत्रु है, चन्द्र काम
का मित्र है । मित्र का शत्रु शत्रु ठहारा है—इस दृष्टि से नर चन्द्र का भी शत्रु
हूया । मुख की प्रतिस्पर्धा (मुख-चन्द्र) के कारण भी चन्द्र नर और नर मुख
का शत्रु है । अथवा मुख रूप में चन्द्र ही है, जो अपने मित्र (काम) के शत्रु
(नर) का रहस्य प्रकटित कर रहा है और इस प्रकार नर की कामान्यता
की स्पष्ट घोषणा कर रहा है । मुखरूप चन्द्र का इस प्रकार मित्र की सहायता
करना मित्रजनोचित व्यवहार है । उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ १०३ ॥

मिनस्य रात्रावधिगम्य शय्या मोहे मनस्य निमग्नवन्ति ।

आलिङ्गय वा चुम्बति लोचने सा निद्राशुना न त्वदृतेऽङ्गना वा ॥

जावातु—अथ एकेन जागरनरतिश्चाह-स्थितस्येति । रात्रौ शय्यामधि-
गम्य शय्यायां शयित्वा 'जदिशीङ्स्थासनि'ति अधिकरपस्य कर्मत्वम् ।
स्थितस्य तस्य मनो मोहे मुखनारवश्ये निमग्नवन्ती सती वा आलिङ्गयलोचने
चुम्बति, सा निद्रा त्वस्ये त्वत्ता विना 'अन्यापश्चित्त' इत्यादिना पञ्चमी ।
त्वद्विच्छादितोस्त्वदन्त्या चेति द्रष्टव्यम् अङ्गना वा अधुना नास्ति, निद्रानिषेधा-
ज्जागरः अङ्गनान्तरनिषेधाद्विषयद्वेषरुक्षणा अरतिस्वीक्या अत्र निद्राङ्गनयो
प्रस्तुतयोरेवाङ्गिङ्गनादिचुम्बनादिधर्मनाम्नादौपम्यप्रतीते केवल द्रुतमोषरा-

(३) वर्णनप्रधान तो महाकाव्य को होना ही चाहिए, पर वर्णन रोचक और सजीव हो। इससे पृथुभूमि, घटनाएँ, चरित्र, उनके कार्य—सभी का उद्घाटन होता है।

(४) कुछ अचार्यों की मान्यता है कि 'एविक' में 'हीरोइक मीटर' (वीररसात्मक छंद) का प्रयोग उचित है, परन्तु वीररस के अतिरिक्त अन्ये-रसप्रधान काव्यों के लिए यह उपयुक्त नहीं होता, अतः अन्य मनीषी मानते हैं कि भावानुसृत छन्दोयोजना उचित है। सँची भी भावानुसृष्टि ही होनी उचित है।

(५) महाकाव्य के विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न उद्देश्य बनाये हैं। प्राचीनतम आचार्यों ने नैतिकता और धार्मिकता पर बल दिया है, जबकि अरस्तू ने आनन्द और सत्य का उद्घाटन महाकाव्य का उद्देश्य माना है। जो भी हा, महाकाव्य का उद्देश्य होना महान् ही चाहिए, उसकी व्यापकता और प्रभावशीलता स्वतः लोकरजन में समर्थ होगी।

भारतीय और पाश्चात्य—दोनों प्रकार की मान्यताओं पर ध्यान देने से एक बात अवश्य स्पष्ट हो जाती है कि कथावस्तु, चरित्र, शैली और उद्देश्य—इन चारों अंगों की दृष्टि से महाकाव्य को 'महान्' होना चाहिए। उनका महान् कलेवर ही उसे 'महाकाव्य' नहीं बनाता, प्रत्युत उसकी महत्ता के आधारभूत कथावस्तु आदि अंग ही हैं जिनकी उदात्तता उसे महाकाव्य बनाती है।

दोनों प्रकार की मान्यताओं पर ध्यान रखते हुए 'नीपवीरचरित' की समीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसमें प्रायः ये सभी विशेषताएँ हैं।

(१) इतिवृत्त अथवा कथावस्तु—'नीपय' की कथा 'पुराणेतिहासादि-प्रसिद्ध वृत्तात्' अर्थात् रजत है। जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है कि 'महा-भारत' के वनपर्व का 'नभोपान्वान' (५८-७८ अध्याय) इसका प्रमुख आधार है। जैसा कि 'प्रकाश'-कार ने लिखा है, 'नीपय' का आरम्भ पुण्यदशक नलक्षण विशिष्ट के निर्देश से हुआ है—'जत्र पुण्यदशकनलक्षणविशिष्टवस्तु-निर्देशन निबिन्नप्रत्ययमस्ति।' 'इतिवृत्त'—सुघटन 'पञ्च-सग्निसमन्वित' है। मुख्यतः है—प्रथम, द्वितीय, तृतीय सर्ग में। इन सर्गों में 'नानामं रम-सम्मवा बोद्धवमुत्पत्ति' हा जाती है—दमयन्ती-नरक का अनुरागरूप बीज सपुरगन्त हा जाता है। चतुर्थ सर्ग में प्रतिमुत्पत्ति है, जिनमें आरन्व बीज का

उद्घाटन होकर उत्तरोत्तर विकास का चारुतम्य दृष्टिगोचर हो जाता है। दमयंती के पिता भीम दमयंती-स्वयंवर का निश्चय करते हैं। पञ्चम से नवम सग का कथानक 'गर्भसंधि' है। भरतमुनि के अनुसार जहाँ मुख तथा प्रतिमुख संधि की उत्पत्ति और उद्घाटन दशाओं से अविष्ट बीज का उद्भेद अथवा प्राप्ति या अप्राप्ति और पुनरन्वेपण होता है, वह गर्भसंधि है। (नाट्यशास्त्र १९।४१)। अभिनवगुप्त के अनुसार उद्भेद का अर्थ है 'फलजनाभिमूखता'। प्राप्ति नायकविषया होती है और अप्राप्ति प्रतिनायकविषया। प्राप्ति, अप्राप्ति और अन्वेपण—इसी बार बार होती रहती अवस्थाओं से मुक्त गर्भसंधि होती है। इन सर्गों में नल देवदूत हो दमयंती से मिलते हैं। और स्वयंवर में समिलित होने का वचन देते हैं। इसमें प्राप्ति है नल विषया, अप्राप्ति है देवादिप्रतिनायक विषया और अन्वेपण है वह नल का स्वयंवर में समिलित होने का वचन, जिसने फल प्राप्ति की आशा बघनी है। विमलसंधि का प्रसंग आता है चतुदश सग के समाप्त होते होने, जब देवगण प्रकट हो नल—दमयंती को आशीर्वाद और वर देने हैं। इसमें नल—दमयंती अनुरागरूप बीज पुनः प्रकट होता है। इस संधि में विष्णो द्वारा बीजार्य बाधित होता है, विघ्न—हेतुओं का निश्चय होता है, फल प्राप्ति में सदेह भी होता है, किन्तु नियत-फलानि अवस्था व्याप्त रहती है। देवगण विघ्न हैं, पर उक्त उपसमन हो, नल दमयंती परिणय की आशा नियत हो जाती है। पचदश-षोडश सर्गों में 'निर्वहण' संधि है। वरमाला पहती है, विवाह हो जाता है और आगे के सर्गों में सजात नल-दमयंती मिलन की पूर्ण भूमिका बन जाती है। पूर्वकथित चारों संधियों के प्रारम्भादि अर्थों का समानयन हो जाता है, जैसा कि अभिनवगुप्त ने बताया है कि क्रम से उत्पत्ति, उद्घाटन, उद्भेद और गर्भ-निर्भेद रूप बीज विकारों में मुक्त, नानाविध सुख दुःखात्मक हास, शोक, ह्योषादि भावा से चमत्कारारूपद उत्कृष्टता प्राप्त मुखादि चारों संधियों के प्रारम्भादि अर्थों का एक अपराधि में समानयन—अर्थात् फलनिष्पत्ति में भोजन निवहण है, जो फलयोगावस्था से व्याप्त रहता है। (ना०शा० १९।४२ पर अभिनव मारती)। नायक नल का 'बाय' है दमयंती प्राप्ति, वह यही सम्पन्न हो जाता है।

यह कथानक आठ से अधिक अर्थात् बाइस सर्गों में व्याप्त है। कोई सर्ग ऐसा छोटा तो नहीं है, परन्तु एक दो सर्ग दीर्घ अवश्य हैं, मले ही नातिदीर्घ हो, जमें दो सी बार्स श्लोको का सप्तदश सर्ग। सर्गांत में भाविकथा का आभास प्राय मिल जाया करता है।

(२) पात्र—'नैपथीयचरित्र' के प्रज्ञानपात्र नल और दमयन्ती हैं। प्रतिनायक रूप में हैं इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण, जो आगे चलकर नल के सहायक हो जाते हैं। वस्तुतः 'नलीपाह्यान' का प्रतिनायक तो कलि है, जिसका उपयोग ही नैपथीयचरित्र में अवाञ्छित रहा है। केवल सत्रहवें सर्ग में उसका रोप दिखाया जासका, जिसमें चार्वाकदर्शन का दर्शन तो हो जाता है रोप के लिए अवसर ही नहीं आया। रोप सामान्य पात्र हैं विदर्भनरेश भीम, स्वप्नवर में एकत्र नरेश और देवी सरस्वती तथा दमयन्ती की सखियाँ। इन सबकी प्रसंगत चर्चा आ गयी है। भीम एक हिनचिन्तक पिता हैं, देवी सरस्वती वाग्देवी हैं, जिन्होंने स्वप्नवर में दमयन्ती का दिशा-निर्देश किया। कला आदि सखियाँ राजनदिनी की उपयुक्त परिचारिकाएँ हैं, राजमर्त्यादा को समझने वाली। एक विशिष्ट पात्र है पक्षी हंस, जो एक कुशल दूत का कार्य करता है और जिसकी क्या के माध्यम से कुरुप्रसंग की भांगिक अभिव्यक्ति हो गयी है। इस प्रकार 'नैपथ' में मानव मानवी, देव-देवी और मानवेतर प्राणी प्रकार के पात्र हैं, जो यद्यपि सहजा में छोटे हैं, तथानि गुणों में प्रभूत हैं।

(५) नल—परम्परा के अनुसार नल सद्बोधोत्पन्न कुलीन क्षत्रिय है, जिसे पुगणादि में पुण्यश्लोक कहा गया है, जो प्रातः स्मरणीयों में प्रथम है—पुण्यश्लोको नलो राजा पुण्यश्लोको मुनिष्ठिर। पुण्यश्लोका च वैदेही पुण्यश्लोको जनार्दन ॥ 'नैपथीयचरित्र' के आरम्भ के तीस श्लोकों में नल का वर्णन किया गया है, जिनमें उसके रूप, गुण, समृद्धि, बल, वैभव प्रभाव, धी, शोभा, काति, उदारता, वीरता, दानशीलता आदि का विस्तार से उद्घाटन किया गया है। वे चतुर्दश विद्याओं के ज्ञाता हैं, कलामर्मज्ञ हैं, 'महोज्ज्वल' हैं और 'महेशां राशि' हैं। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार वे 'धीरोदात्त' शक्य हैं—आत्मप्रशसा की श्लाघा न करने वाले, समावाप्त, अति गम्भीर, निदा प्रशसा, हृष शोकादि से अप्रभावित, स्थिरमति, स्वानि-

जानी और बचनपालक । विश्वनाथ महापात्र के शब्दों में—'अविकल्पना
समाधानतिगम्भीरो महासत्त्व । स्थेयान्निगूढमानो धीरोपतो दृढवत् कथित ॥'
(सा० द० ३।३२) ।

उनके अनुराग की गम्भीरता, कल्पनाशक्ति, कला-विलास प्रियता, दान-
शीलता, दृढ़प्रतिज्ञता आदि के दर्शन इस काव्य में अनेक स्थलों पर हुए हैं ।
दमयन्ती के प्रति उनका अनुराग गूढ़ ही रहा, उन्होंने उसे प्रकट न होने देने
के लिए एकांत उद्यान-सेवन उचित समझा । उन्होंने दमयन्ती की उसके पिता
से याचना भी नहीं की । बचननिर्वाह के लिए, देवों को दान करने के लिए
उन्होंने ऐसा दूतकार्य किया, जो स्वयम् उनके लिए, स्वार्थ-विघातक था ।
उनकी कल्पनाशीलता इस प्रसंग में व्यक्त हुई है । उनकी कल्पनाशीलता और
उदार व्यवहार के कारण ही इस ने उनका दूतत्व स्वीकारा । 'नीपथीयचरित'
में क्रमशः उनके चरित का विकास दिखाया गया है, जो काव्य के नाम और
'चरितकाव्यत्व' की प्रमाणित करता है । नरक ससृष्ट परपरा के आदर्श
नामक हैं, जिनकी उदात्तता और महत्ता का चरित-नाटकों पर अशक्य सत्प्रभाव
पड़ता है ।

(ख) दमयन्ती—'नाट्यशास्त्र' के रचयिता भरतमुनि के अनुसार मुख
की मूल स्थिति 'नानाशीला' होती है, उनके भिन्न-भिन्न स्वभाव होते हैं ।
इनके प्रकृत्यनुसारी तीन भेद होते हैं—कुलीना (आम्पतरा), बाह्या (वैश्या)
और वृत्तशीला (बाह्याम्पतरा) । आम्पतरा स्त्री पान्नों में महादेवी देवियाँ
और उनका समस्त पारिवारिक मङ्गल आता है । दमयन्ती की स्थिति भी
इसी मङ्गल की आम्पतरा पान्नी है । 'नीपथीयचरित' की प्रथम पान्नी दमयन्ती
भी कुलीना नायिका है, अपने कौमार्यकाल में वह अया (प्रनूठा परकीया)
है, विवाहोपरांत वह 'स्वा' (विवाहिता, स्वीया) हो जाती है । नायक सवध
से वह आरम्भ में विरहोत्कण्ठिता है, विवाहोपरांत वह प्रिय की प्रिया है ।
'नैपथ' में दमयन्ती की रूप-गुण की दृष्टि से विदग्ध ने सर्वोत्कृष्ट चित्रित किया
गया है । उसका नाम ही 'दमयन्ती' इसलिए पड़ा है कि वह अपनी तनुओं से
त्रिलोकी की सुदरियों के सीदोंभिमान का दमन करनेवाली है —

मुदन्तममुधुधामसो दमयन्ती कमनीयतामदम् ।

उदियाय यस्तनुमिवा दमयन्ती ततोमिवा दधो ॥ (नै २।१८) ।

‘नैपथीयचरित’ (२।१८-४३) में उसके रूप-गुणों का विस्तार से वर्णन किया गया है और उस विवरण के पश्चात् हंस-वाणी में यह बताया गया है कि दमयन्ती नल के बिना शोभा न पासकेगी और नल का यह रूप उसके बिना निष्फल है । (२।४४-४५) । इस प्रकार नल-दमयन्ती को परस्परानु-कूलता बनायी गयी । नल नरश्रेष्ठ है और दमयन्ती त्रैलोक्यमुदरी है—

‘प्रिय’ प्रिया च विजगज्जयप्रियो लिखाधिलीलागृहभित्तिकावापि ।
इति रम सा कास्त्ररेण लेखित नलस्य च स्वस्य च सख्यमीशते ॥

(गी० १।३८)

वह नल के सदृश है—‘सदृशी तव शूर सा’ (२।३९) । हंस दूत ने इसी सब का ध्यान रखते हुए कहा था—

धन्यामि वैदग्धि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैपथोऽपि ।

इत स्तुति का खलु चन्द्रिका या मदन्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ (२।११६)

वह विदमंङ्गुमारी धन्य है, जिसने धैर्यधन निपघराज को भी आकृष्ट कर लिया । जैसे चाँदनी गमीर सागर को भी उत्तरल कर देती है, वैसे ही दमयन्ती ने नल को उत्तरल कर दिया । इसमें अजिक उसके दिपय में और कहा ही क्या जा सकता है ?

अनेक स्थलों पर ‘नैपथ में उसके विविध स्वरूपों का तनुश्री का तया, अङ्गमुपमा का विशद चित्रण हुआ है, जिससे वह सर्वथा श्रेष्ठ आदर्श नायिका प्रमाणित होती है । आरम्भ में नलमुग्धा अनुरागिणी नायिका है । उसका नल के प्रति अनुराग इतना दृढ़ है कि विश्व में नल के आगे वह किसी को मान्यता नहीं देती, न किसी राजा-सम्राट् को, न इन्द्रादि देवताओं को । उसका चित्त तो केवल नल की कामना करता है—‘चेतो नल कामयते मदीयम् ।’ स्वर्णपुरी लका की भी उसे कामना नहीं है—‘चेतो नल कामयते मदीयम् ।’ यदि नल नहीं तो फिर ‘अनल’ (अग्नि) में जल मरना ही है—‘चेतोऽनल कामयते मदीयम् ।’ विवाह होने के बाद उसका अनुराग, पूर्णता को प्राप्त हो जाता है और वह नरराज नल को ‘तृतीय पुरुषार्थवारिधि’ में तरानेवाली ‘तरी’ (नौका) बन जाती है । और फिर ‘दिवानिच’ आनन्द-उल्लास-विलास का सागर उमट पड़ता है । हेमचन्द्र भूमि से दमकते ‘शेकवर्गमणिकोटिकुट्टिमसौष भूषर’ में

मदनाराधना चलने लगती है। 'नेपथ्य' का अड्डारहवाँ सर्ग इसीके शृङ्गार से आप्लावित है।

श्रुजुता, मधुरता, विनयशीलता आदि दमयन्ती के स्वाभाविक गुणों का विकास 'नेपथ्य' में निरंतर दीखता है। दमयन्ती विश्व काव्य की अविस्मरणी नायिका है, जिसके बाह्याम्बन्तर शृङ्गार से 'नेपथ्य-चरित' मडित है।

(३) रस—अगीरम—'नेपथ्यचरित' के रचयिता श्रीहर्ष के अनुसार उनका काव्य शृंगारामृतवर्षी शीतकर चन्द्र है—'शृङ्गारामृतशीतगी' (१।। १३०)। रति-काम के परिणयोत्सव पर सहस्रधारो में बरसते देव से तुष्टि की कामना करते हुए इस काव्य की कवि ने आद्योर्वादात्मक समाप्ति की है। ये रति-काम दमयन्ती नल का और 'सहस्रधारकल्पश्री' देव श्रीहर्ष के 'मधुवर्षि' नेपथ्य काव्य का भी यदि सकेत बनजाते ह तो अनपेक्षित नहीं है। इसमें थोड़ी भी सन्देह करने का अवकाश नहीं है कि श्राहृष का 'नेपथ्य-चरित' शृंगाररसप्रधान उत्कृष्ट महाकाव्य है। इस प्रकार उस साम्ब्रीय परम्परा को भी आदर मिल जाता है, जिसके अनुसार महाकाव्य में शृंगार, वीर, शात में कोई एक प्रधान रस होना चाहिए—'शृङ्गारवीरशातानामेकोऽङ्गी रस इष्यते।' आदि से अत तक इस महाकाव्य में शृङ्गाररस अगी रूप में परिलक्षित होता है।

शृंगार—शृंगार के विप्रलम्भ और सयोग—दोनों पक्षों का 'नेपथ्य' में सुन्दर चित्रण है। आरम्भ में नल-दमयन्ती विवाह तक विप्रलम्भ है और तदनन्तर सयोग। जहाँ तक विप्रलम्भ शृंगार का पक्ष है वह शास्त्रीय अधिक है। इसी परम्परा का पालन करके कवि ने यद्यपि वर्णन पहिले नल का किया है, पर रति नाच का जागरण पहिले दमयन्ती में दिखाया गया है। मदन प्रवेश पहिले विदमजा के मन में हुआ—'विदमजाया मदनस्तथा मनोभलावच्छद ययसंब वेष्टित।' (१० १।३२)। नौ दलोंको (१० १।३४-४२) में कवि ने दमयन्ती के पूर्वानुराग का वर्णन किया है। यह अनुराग नल के गुणों के ध्वनि से उत्पन्न हुआ है, बहाने से उसने नल का चित्र दृशन पाया और नल के सपने देखने लगी। आगे चलकर यही अनुराग इतना दृढ़ हुआ कि सब

को ठुकरा कर दमयन्ती ने नल का चरण किया। स्वयंवर-सभा में बैठे पाँच पाँच नली को देख उसके मन में उपजे क्षणिक संदेह का उसके हठानु-रागी मन ने ही क्षण में स्पष्ट कर दिया। क्या कारण है कि चार नली को छोड़कर पाँचवें नल में ही उसकी रुचि विशेष है ? लगता है, जैसे महू पाचवाँ नल दमयन्ती के मन को मुवा-स्नान करा रहा है—'इतरनलनुनामागेषु शेष, मुधानि स्नानति मम चेतो नैषः कस्य हेतो ?' (गी० १३।५३)। और यथासमय दमयन्ती ने नल के गले में दूध के जकुरो से सची मधुसूक्त डाल दी—'दूवाङ्कुण्डया नलकण्डाले वधु मधुसूक्तत्रमुत्सजं ।' (नं० १४।४५)। इस मान्यदान-प्रथा में कवि ने दमयन्ती के लज्जान का बड़ा स्वामाजिक किन्तु पाहित्यपूर्ण वर्णन किया है। वन्युष संघ में नल विरह में व्याकुल दमयन्ती की व्यादा का वर्णन है। इन वर्णन में ताप, चिंता, चिंताका अनुभाव निःश्वास, अन्तर्द्वंद्व, जयुगत, शका, विरह-पाइरता, विवशता, विरह की दुःसहता आदि का शास्त्रीय परम्परा के अनुरूप चित्रण हुआ है। मूर्च्छा प्राप्त दमयन्ती का चदनादि से जब उपचार हुआ, तब मल्लिकों के कल-कल से आकृष्ट, कन्या के अस्वास्थ्य से चिन्तित भीमगज ने आकर देखा और घोषणा की—'दमितम-निमत स्वयंकरे त्व गुणयमःप्युहि वासरं. किमिदं ।' (गी० १४।१९)।

नल का दमयन्ती के प्रति आकर्षण बाद में बताया गया है, क्यों कि शास्त्रीय परम्परा है—'शारी वाच्य स्त्रिय पृथ पश्चात्तदिङ्गितं ।' 'नैषध' (१।४२-५४) में नल का यह अनुराग और तज्जनित व्यादा का वर्णन हुआ है। निधय ही इस न पांडित्य-प्रदशन और शास्त्र-न्याया का परिपालन विधिष्ट है। घर्म-भग, ताप, निःश्वास लज्जा आदि का वर्णन इसमें है। नल अन्त में अनुग-चिह्नो की उगाने की इच्छा से निर्जन देश में चले गये। नल का आत्मा-मिमान और बडपन इनमें कवि न प्रकट किया है। उन्होंने स्मरतम होने हुए भी विदमंरुज से उनकी तनया की याचना नहीं की, मागन से वे मरना भला समझते थे—'स्मरोगरहोऽपि भृश न स प्रनुवदमराज तनयामयाचत । त्यजन्त्य-सुन्दरं च मानिनो वर तरज्जित न त्येकनयाचिवज्जम् ॥' (१।५०)। उनका सिद्धांत था—'मागन से मरने भलो मत्र कोई मा'न जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहर्ष को नल दमयन्ती के सामाजिक गौरव का अधिक ध्यान था, अतः बड़ी शान्तिता के साथ उ हाने नारु-नायिका के विरगमन शृंगार का

चित्रण किया है। फिर भी विषोगदशाओं का वर्णन बनेक स्वलो पर स्वाभाविक और सुन्दर है।

सयोग शृंगार का वर्णन तो विवाह के पश्चात् साठ-आठ सयों में पूर्ण मनोमोग पूर्वक विस्तार से किया ही गया है, वास्तव में आनन्द और उल्लास से ही हृदय उदयना है, प्रसन्नता आती है। पाठकों के मन में आनन्द-सुधासागर का उद्देवन शृंगार के सयोग पक्ष से ही अधिक सम्भव है? सयोग शृङ्गार की भंगिना से गौपथीय चारित 'बाध' बन सका है।

गौपथी का अष्टादश सर्ग नल दमयन्ती के उल्लास विलास से परिपूर्ण है। कवि न नि मञ्चोच भाव से इस 'विलास-बला' का चित्रण किया है। 'दिवानिशमो' कण्ठे दण्डी की विविध चेष्टाओं और त्रिया-कलापो का स्वीहर्ष ने ह्योन्माह के साथ वर्णन—विस्तृत वर्णन किया है। कवि की दृष्टि यह तृतीय पुरपायचारिषि' का सवरण पाप नहीं है, आवश्यक्ता है केवल निर्मल अन्व-करण की, 'ज्ञानधो-मनस' की। (१८१२)। सुमेष को लज्जाने-वाले सौधन्दर में यह आनन्दोत्सव रचन आ। अगर और चदन से वह सुवासित हो रहा था, चदन की सिद्धिनिर्ण थी, जिनमें आनन्द हीनमोरण सुगन्धि हो जाना था। औरत महाकाव लेल से सुगन्धि दोषों की मन्द आना सौधन्दर के धीमुन बना रही थी। 'मणिकुट्टिम का पक्ष का और प्रमून-एम्पा थी। बड़े विस्तार के साथ कवि ने सौध के अलक्षरण का विवरण दिया है। वहाँ समोदर नल दमयन्ती के जोड़े को देख कर रति-रतीय भी मोह गये। 'प्रकाशकार (१८२८ की टीका) लिखते हैं—'नीमीनली हृष्टा रति-कामो सभातमुरतेच्छो जानी।' उस सौध-भूषण में उन दोनों की जो कामकेलि दीप्त हुई—वह महाकवियों की भी बुद्धिपोचर न हुई होगी, स्वैरिणी नारिणो की गिणा भी बँसी न हुई होगी। गे० १८१२९]। कामशास्त्र के अनुरोध से नारी का प्रथम सयोग माधव, लज्जानुनाशुषं सयोग-इन रति दधि और सञ्चोच, 'कुमुदस्य-शास्त्रविद्' नल द्वारा दमयन्ती को सन्धि में लाना, बरोल चुन्दन से पूब ललाट-चुम्बन, लज्जानुना, रसानाकलापमोचनार्थ बड़े प्रिय के हाथ का प्रतिरोध, धीरे धीरे लज्जानुनाग और प्रथम सयोग का अनुभव कविने बड़ी उदस्य दृष्टि से किया है। आनन्द-उन्मास के विविध अनुयोगों के साथ रत्न विज्ञाने व दानो बह कर परस्पर उह जोड़े, अथर निलादे, रतिकेलि

इसे मन्दप देहते आलिंगन-संपुट में परस्पर पीड़ित होते निद्रानुस्र का अनुभव करने लगे, उनके दार्ढ्य बलम्बल और आम्बतर अतसू में कोई भेद न रह गया । (नं० १८।१२-१८३) । अगले चार सर्गों में शृंगार की उज्ज्वलता का बान है, त्रिलोमे प्रभाव है, सज्या है, चन्द्रोदय है, तारों-भरी रात है । चरानता पूजा भी है, प्रातर्विमान भी है । सभी उज्ज्वल पक्ष हैं । शृंगार की उज्ज्वलता के पूं दर्शन इन उतर सर्गों में है । ३५५१५

आरम—शृंगारातिरिक्त वाः रम अङ्ग रूप में आये हैं, उनमें कश्म, वीर, हास्य, अद्भुत, रौद्र, बीमत्स और भ्यातक हैं । केवल शात नहीं है ।

कहना—कहना 'नैपथ' में हस प्रसंग में आया है । नल के द्वारा पकड़े गये हस की उक्तियों में हृदयस्पर्शी कहनाता व्यजित हुई है । हस-विलाप-प्रसंग दक्षिण छोटा है, किन्तु वह इतना प्रभावी और मनोवैज्ञानिक है कि उसे दिक्कताहित्य में सरलता से स्थान दिया जा सकता है । विनाप करते हस ने जो कहा, उनमें नल का हृदय कहनातिगन्धित कर दिया और निपथपति की दीनदयालुता उतर जायी और हस मुक्त हो गया ।

हस ने पकड़े जाने पर पहिले तो राजा के इस कार्य का कनीचित्प सिद्ध किया और उसमें कहना जगायी । यह कहनाताव 'नैपथ' (१।१३५-१४२) के बाठ श्लोकों में व्यक्त हुआ है । हस ने अपनी वृद्धा माँ, नवप्रदता पत्नी की निराश्रयता की दुहाई दी । किस प्रकार माँ यह दाहन कष्ट सह सकेगी ? कैसे पत्नी से वह क्षण व्यतीत किया जायेगा, जब वह यह मुनेगी ? निश्चय ही वह प्राण त्याग देगी और माँ बाप के न रहने पर अनाथ छोटे बच्चे मर ही जायेंगे । हस का यह विलाप आज भी सरम पाठकों की आँसों में आँसू ला देता है । हिन्दी के सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस प्रसंग को कहनास की अविस्मरणीय रचना माना है । वे जब भी इसे पढ़ते थे, उनका अश्रुपात होने लाता था ।

वीर—कश्म की भाति वीर रस के प्रसंग कई स्थलों पर होते हुए भी छोटे ही हैं, किन्तु उतने प्रभावी नहीं हैं । उनमें श्रीहर्ष का पादित्य तो लक्षित होता है, धास्त्रीयता है, पर कहना-प्रसंग जैसी सहृदयता नहीं है ।

पद्यपि विश्वनाथ ने करुण, वीर, रौद्र, बीभत्स और भयानक की गणना शृंगार रस के विरोधी रसों में की है—'आद्य करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकै' (सा० द० ३।२५४), तथापि आनन्दवर्द्धनाचार्य ने बाध्यबाधकभाव से केवल शृंगार बीभत्स में विरोध माना है (ध्वन्यालोक, कारिका २४ का पूर्वपक्ष) । उस पर भी वे ऐसा नहीं मानते कि 'नवरसरुचिर' महाकाव्य में प्रसंगत विरोधी रस का वर्णन ही न किया जाय, वे केवल विरोधी रस के प्रत्यधिक परिपोष के विरुद्ध हैं । उनके अनुसार परिपोष अङ्गी रस का ही होना चाहिए, विरोधी या अविरोधी अग रसों का नहीं—'अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे । परिपोष न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ।' (तदेव) । वास्तव में रसभंग अनौचित्य से होता है, औचित्य निवन्धन तो रस की परमोपनिषद् है—'अनौचित्यास्ते नान्यद् रसमङ्गस्य कारणम् । प्रसिद्धौचित्यवन्धस्तु रसस्योपनिषत्परः ॥' इस दृष्टि से 'नैपथ्य' में किसी अग अग रस का परिपोष नहीं हुआ है, जो रस आये हैं, प्रसङ्गत, औचित्य के साथ । और फिर विवक्षित अतएव अगो रस जब लब्धप्रतिष्ठ हो जाता है, लब्धपरिपोष हो जाता है तो विरोधी अग रसों के बधन में दोष नहीं होता—'विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिताम् । बाध्यानामङ्गभाव वा प्राप्ताना- युवितरच्छला ॥' (ध्वन्यालोक ३।२०) ।

वीर रस का वर्णन नल की युद्धवीरता चित्रण प्रसंग में है, वे शताधिक-सन्तुष्य हैं, जलते हुए सन्तुष्यों की अग्नि के समान उनके प्रताप से भूमण्डल प्रकाशित था, उनकी तलवार उनके चाँदनी जैसे यश का विस्तार करती थी । उनके ओज और यश के समुच्च मूर्ध-वन्द भी अगणनीय थे । आदि-आदि (न० १।९-१४) ।

इसके अतिरिक्त स्पयवर-प्रसंग में (सर्ग ११-१३) राजाओं के परिचय में उनकी वीरता का बखान किया गया है । वस्तुतः इसमें शास्त्रीयता का परिपालन और कल्पना की उदात्त ही अधिक है, स्वामाविक वीर भाव कम ।

दयावीरता के भी कुछ प्रसंग हैं, उदाहरणार्थ नल की विलाप करते हुए पर दीनदयालुता । (१।१४३) ।

दानवीरता के उदाहरण भी हैं । नल ने इतना दिया कि दरिद्रता भी

दखि हों गयी । (११५) । नल को यही असनोप था कि वे सुमेरु के टुकड़े करके याचकों को क्यों न दे पाये, दान-जल के व्यय से सागर को भी मर क्यों न बना डाला ? (११६) । राजा नल से अभीष्ट-याचना सभी करते थे (११५) । नल से देवा ने भी याचना की । (५१७) । और उन्हें 'अर्षी' पाकर नल का रोम-रोम हृषित हो उठा (५१९) । वे मांगे जाने पर प्रायः तर्क दे सकते थे । (५१८) । उनका सिद्धांत था कि 'अग्निने न तृणं बद्धनमात्रं किन्तु जीवनमग्निं प्रतिपाद्यम् । (५१८) । जो जन्म याचकों के मनोरथ पूर्ण करने के लिए नहीं हुआ, धरती का बोझा वही है, न ये वृक्ष है, न पर्वत, न समुद्र । (५१८) ।

हास्य-हास्य के भी यत्किंचित् प्रसंग 'नैपथ' में है । पौंड्र्य सभ के भोज-प्रसंग में स्वामाक्षि और अवसरोक्षि हास्य-प्रसंग हैं । वाराणसियों और परोक्षनेवालियों में अच्छा ~~कहना~~ बुद्धिमान चला है । दमयन्ती के भाई पदम ने भोजन के बड़े सुख-बुद्धि के लिए 'नैपथालि' (पान का बीड़ा) दी, उसका हन विनाश कर दिया गया ~~था~~ के मारे वाराणसियों ने उसे फेंक दिया ~~था~~ हास्य के पात्र बने । (११९) । वही ऐसा था कि मृष्टिकर्ता ~~का~~ नी ~~अनाज~~ इक्षुस्तथा ~~सुख~~ कर खा लिया, इसीलिए उसमें छिद्र हो गये । (१६१) ।

स्वयंवर में मगधराज की कौटिल्य ~~की~~ दमयन्ती की सखी द्वारा ऐसा श्लिष्ट वर्णन किया गया है कि सभी ~~दमयन्ती~~ समाज ~~हंस~~ । (१२१) । स्वयंवर सभ में कलि की उक्ति में व्यस्य ~~हंस~~ का कारण बन धाया है । बोधिसत्त्व, अग्निहोत्र, इन्द्र, पाप-पुण्य, व्यान, गौतम आदि का व्यगमय उपहास किया गया है जो श्रद्धानुओं के रोय का कारण भी बन जाता है—स्वयम् इन्द्र भी उन दुर्वर्तों को सुनकर ऋद्ध हो उठे—'इत्यनाकर्ष्यं दुर्वर्णं शक्रः सक्रोधता दधे ।' (१०१) ।

इसमें सदेह नहीं कि 'नैपथ' की हास्य-व्यंग्य-भोजना सहस्रत-साहित्य में अनूठी है ।

अद्वैत—अद्वैत-प्रणय केवल स्वयं-हंस के कारण उत्पन्न हुआ है ।

इसी स्वर्णहम को देखकर विरही नल के भी हृदय में कुतूहल उत्पन्न हुआ ।
सुवर्ण-मखी हम कहीं दीखता है ? (११११९, १२९) ।

रौद्र—सप्तदश सग में क्रुद्ध वक्ति के क्रोधपूर्ण वचन रौद्रभाव की व्यजना करते हो हैं, उसके वे वचन इन्द्र में भी रौद्रभाव उत्पन्न कर देते हैं । (यद्यपि 'सक्रोधता दधे' में 'स्वराब्दवाच्यत्व' दोष आ गया है) । बज्रधर का हाथ फडफ उठा, वे चीख उठे—कौन है यह जो उनके रहते घम ममों का कृतन कर रहा है—'अवोचदुर्चै वम्बोज्य धर्ममर्माणि कृतति । लोकत्रयी प्रपीनेत्रा बज्रवीर्यं स्फुरत्करे । न इत्थ भापते पाकशासने मयि शासति?' (१७।८३-८४) ।

वीभत्स—वीभत्स तो वाघ्यता के साथ शृंगार वा विरोधी रस है, अतः वीभत्स का नाममान का वर्णन 'नैपथ्य' में है । विरही नल के मन में रमणीय वस्तुओं के प्रति भी जुगुप्सा उत्पन्न हो गयी । खिला लाल पलाश उसे 'पलाश' (मासमधी) लगा, झूमती लता उसे डरावनी प्रतीत हुई, चम्पे की कल्पियाँ पतंगों को जलाती पापिनी सी लगी । (१।८४ ८६) । वस्तुतः यह सब परम्परागत विरह-वर्णन है ।

भयानक—इसी प्रकार 'भय' के प्रसंग भी नहीं से हैं । झूमती लता—से भय तो ही ही, स्वयंवर में नागराज वासुकि को देख दमयन्ती भी भय से भर जाती है । 'आशीविष', स्फुरत्फण' नागराज को देख कर कौन कामिनी भीति से न भर जाती ? (१०।२१) ।

'प्रकाश'-टीकाकार के द्वारा स्वीकृत 'नैपथ्य' में काव्य को 'स्वादूत्पाद-भृति' (टीकाकार के अनुसार सहृदयहृदयाह्लादकारक होने से अत्यन्त मधुर-नवायंसहित) कहा गया है और सगविशेष को 'रसाम्मोनिधि' (१३। ५६) । श्रीहर्ष की यह उक्ति असंदिग्ध है, 'नैपथ्य' विभिन्न रसधाराओं का सागर ही है ।

(४) छन्द—शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार महाकाव्य के नातिदीर्घ सर्गों में एक ही 'वृत्त' (छन्द) के पद्य होना अच्छा माना जाता है, हाँ सर्ग के अवसान में जय छन्द का प्रयोग है । इस दृष्टि से 'नैपथ्यवचरित' में मर्यादा का पर्वान्त ध्यान रखा गया है । प्रथम सर्ग में परिचयात्मक अतिमश्लोक को छोड़कर एकसी चवालीस श्लोक हैं । परिचयात्मक श्लोक सभी सर्गों के अन्त

में शार्दूलविक्रीडित छन्द में है।) इसमें सनी श्लोक वयस्य छन्द में है, अन्तिम श्लोक 'अन्यवृत्तः' अर्थात् वसन्ततिलका छन्द में है। इसी प्रकार द्वितीय सर्ग में आरम्भ के १०१ श्लोक 'वैजालीय' अथवा 'त्रियोगिनी' छन्द में हैं, श्लोक-संख्या १०२ और १०४ शार्दूलविक्रीडित हैं, १०३ पुष्पिताम्रा है, १०५ स्रग्धरा है, १०६, ७, ८, और १०९ मालिनी छन्द में हैं। तृतीय सर्ग में आरम्भिक १२४ श्लोक उज्जाति है, १२५, १२९, १३१ वसन्ततिलका है। शेष श्लोकों में १२६, २७, २८, ३० शार्दूलविक्रीडित हैं। १३२ वां स्रग्धरा है, १३३, १३४, १३५, वे श्लोक मालिनी छन्द में हैं। चतुर्थ सर्ग में आरम्भ के ११५ श्लोक द्रुतविक्रीडित है, ११६ वां और १२२ वां (अन्तिम) शार्दूलविक्रीडित हैं, ११७ वां वसन्ततिलका है और श्लोक-संख्या ११८, १९, २०, १२१ औनन्दसिक अथवा बालभारिणी वृत्त में हैं। पंचम सर्ग में आरम्भिक १३३ श्लोक स्वागत वृत्त में हैं, १३४ वां द्रुतविक्रीडित है, शेष अन्तिम तीन शार्दूलविक्रीडित हैं। छठे सर्ग में उज्जाति छन्द का प्रयोग है, अन्तिम ११२ वां श्लोक मालिनी छन्द है। सप्तम सर्ग के कुछ श्लोक उपेन्द्रव्या है, कुछ इन्द्रज्जा अर्थात् उज्जाति अन्तिम श्लोक में हरिणी छन्द का प्रयोग किया गया है। आठवें सर्ग की भी यही स्थिति है आरम्भिक १०४ श्लोक उज्जाति है, १०५, १०६ स्रग्धरा है, १०७ वां पुष्पिताम्रा है और अन्तिम १०८ वां वसन्ततिलका। नवम सर्ग के आरम्भिक १५५ श्लोक वयस्य है, १५६ वां मन्दाक्रान्ता है, १५७ वां तोटक, १५८ वां शार्दूलविक्रीडित और अन्तिम १५९ वां मालिनी। दशम सर्ग में पुनः उज्जातिछन्द का प्रयोग है, केवल अन्तिम 'दधानियरिष्यम्'-इत्यादि श्लोक मालिनी छन्द में है। एकादश सर्ग वसन्ततिलका वृत्त में है, केवल अन्तिम १२९ वां श्लोक स्रग्धरा में है। द्वादश सर्ग में प्रथम ९० श्लोक वयस्य हैं, ९१, ९२, ९३, ९६, ९७, ९८, ९९ शार्दूलविक्रीडित हैं, और ९४, ९२, १००, १०१, १०२ स्रग्धरा हैं, १०२, १०४, १०६, १११ पुनः शार्दूलविक्रीडित हैं, १०५, १०७, १०८, १०९ पुनः वयस्य है, ११० वसन्ततिलका है और अन्तिम ११२ वां पुनः स्रग्धरा है। त्रयोदश सर्ग के आरम्भ से 'य' स्मादमीषु' इत्यादि श्लोक पर्यन्त वसन्ततिलका का प्रयोग है, अन्तिम दो श्लोकों में मालिनी है। चतुर्दश सर्ग के

प्रारम्भिक (८४ अथवा ८७) 'अर्धो विनैवाधर्नयोपसीदन्'-इत्यादि तक श्लोक उपजाति हैं, शेष श्लोको में चार शिखरिणी हैं, दो शार्दूलविक्रीडित हैं, दो स्रग्धरा हैं, तीन वसन्ततिलका हैं, एक रघोद्धता है और एक मालिनी है । पचदश में आरम्भिक एकयासी श्लोक वसन्तस्थ हैं, वयासीवाँ श्लोक स्रग्धरा है तथा तिरासीवाँ शिखरिणी । शेष नौ शार्दूलविक्रीडित हैं । षोडश में भी आरम्भिक श्लोक 'पुरीनिरीक्षायमना'-इत्यादि तक वसन्तस्थ हैं, पुन दो पुष्पिताग्रा हैं, शेष पाँच मालिनी हैं । सप्तदश में अनुष्टुप् छन्द-प्रधान है, केवल अन्तिम दो श्लोको में पहिला शिखरिणी और दूसरा शार्दूलविक्रीडित है । इसी प्रकार अष्टादश सर्ग रघोद्धता प्रधान है, केवल अन्तिम श्लोक स्रग्धरा है । उन्नीसवें सर्ग के आरम्भिक पचपन श्लोक हरिणी छन्द में हैं, चार मन्दाक्राता हैं, पाँच शार्दूलविक्रीडित हैं, एक श्लोक 'जलजभिदुरी-भावम्' इत्यादि भी हरिणी छन्द में है, इसे प्रक्षिप्त भी माना जाता है । एक पृथ्वी छन्द है, एक मालिनी है और एक स्रग्धरा है । विंश सर्ग भी अनुष्टुप्-प्रधान है, अन्तिम श्लोक शार्दूलविक्रीडित है, उससे पूर्व के तीन पुष्पिताग्रा हैं । इक्कीसवाँ सर्ग रघोद्धता-प्रधान है । 'विप्रपाणिषु' इत्यादि तक के श्लोक रघोद्धता छन्द में हैं । इसके अनन्तर इक्कीस श्लोक वसन्ततिलका हैं, शेष में सात पुष्पिताग्रा हैं, तीन स्रग्धरा हैं, ग्यारह शार्दूल-विक्रीडित हैं, एक मालिनी है । द्वाविंश (अन्तिम) सर्ग उपजाति-प्रधान है । 'अन्त स लक्ष्मी क्रियते' इत्यादि तक श्लोक उपजाति हैं, पुन एक रघोद्धता है, सदन-उर तीन वसन्ततिलका हैं । शेष में आठ शार्दूलविक्रीडित हैं, एक स्रग्धरा है और एक शिखरिणी और एक पुष्पिताग्रा है । प्रत्येक चरण में सर्वलघु सोलह-सोलह यणों का भी एक छन्द है, टीकाकारों ने इसे 'सर्वलघु' सज्ञा ही दी है । इसे 'अचलघृति' नाम भी दिया जाता है । अन्त के कवि प्रशस्त संवधी चार श्लोका में एक शिखरिणी है, दो शार्दूलविक्रीडित और एक हरिणी ।

इस प्रकार धीहर्ष ने प्रत्येक सर्ग में एक छन्द को प्रधानता दी है, अन्तिम छन्द भिन्नवृत्तक अवश्य है । किन्तु यह अनियमितता केवल अन्तिम श्लोक तक ही सीमित नहीं रह गयी है, कवि ने अन्त के अनेक श्लोको में

निल वृत्तो का प्रयोग कर लिया है। अन्तिम श्लोक ही बिनमें ~~नैषध~~ तक है, वे सर्ग हैं—प्रथम, पठ, सप्तम, अष्टम, एकदश और अष्टादश।

जहाँ तक श्रीहर्ष के छन्दोज्ञान का प्रश्न है, कवि छन्दशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता है, उसने विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है। सब निलकर अष्टादश,—उन्नीस प्रकार के छन्दों 'नैषध' में हैं। उन्नाति का प्रयोग कवि ने सबसे अधिक किया है सात सर्गों में चार सर्गों में प्रधान छन्द ब्रह्मण्य है। दो-दो सर्ग वसुधैवकुटुम्बक, स्वागता रथद्वारा और अनुष्टुप्-प्रधान है और एक-एक में द्रुतविलम्बित, वृत्तालीय और हरिणी का प्रयोग है। इसी दृष्टि से कवि की छन्द प्रियता का तारतम्य प्रतीत हो जाता है। मदाश्रिता छन्द में पाँच ही श्लोक हैं, शताधिक शार्दूलविक्रीडित हैं। स्यान्-स्यान् पर सगरा, शिखरिणी, पुष्पिताम्रा, मालिनी, वियोगिनी का भी प्रयोग है, अक्षरधृति, पृथ्वी, तोटक भी हैं। गानाकारो ने इनकी गणना भी की है। श्री नन्दिनीनायकदास गुप्त ने श्रीहर्ष के छन्दोर्नैषध की प्रशंसा की है। उनकी मान्यता है कि 'नैषधीयचरित' में लगभग बीस प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है, जिनमें अष्टादश गीतात्मक लघुवृत्त हैं, बड़े छन्द मदकाता, शिखरिणी, सगरा आदि का प्रयोग अपेक्षाकृत विरल है। परन्तु वाक्यावली और शब्दावली में श्रीहर्ष की रचि कठिनता और क्लिष्टता की ओर है, जिनमें कहीं-कहीं लयात्मकता और गति में बाधा पहुँची है।

(५) वर्णन—श्रीहर्ष कल्पना के धनी कवि हैं। किसी विषय में कितना विचार किया जा सकता है, 'नैषधीयचरित' में इसकी इयत्ता नहीं प्रतीत होती। चाहे जो विषय हो, श्रीहर्ष उसका विस्तृत विवरण देने में समर्थ हैं। 'नैषध' में मनुष्य पशु, पत्नी, नगर, उपवन, प्रनात, रात्रि, स्वयंवर आदि के विस्तृत और कवित्व-पूर्ण वर्णन हैं।

मानव वर्णन में नल और दमयन्ती के विस्तृत वर्णन हैं। प्रथमसर्ग के इकतीस श्लोकों में नल का और द्वितीय सर्ग के छब्बीस श्लोकों में दमयन्ती का वर्णन है। इनकी वियोग-कथा के भी विस्तृत काव्यमय वर्णन हैं, तृतीय सर्ग (१००-१२८) में नल की वियोगदशा का और चतुर्थ (२-१०१) में दमयन्ती की। अगले आठ श्लोकों (१०२-१०९) में प्रतीतिर ह्य मे दमयन्ती और उल्लिखो के माध्यम से यह विवरण प्रस्तुत हुआ है।

- पशु वर्णन में अश्व-वर्णन है प्रथमसर्ग (५८-६४) में और हंस तथा उसकी उड़ान का तो क्रमशः प्रथमसर्ग (११८, १२१, १२२) और द्वितीय सर्ग (६५-७२) में अत्यन्त स्वाभाविक विवरण उपस्थित किया गया है।

वाक्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार उपवन (१७६-१०६) का और उसी में स्थित सरोवर (१०७-११७) का वर्णन है। उन्नीसवें सर्ग (१-६४) में प्रभात और मूर्षोदय के विस्तृत विवरण हैं, इक्कीसवें (१२५-१३४) में सध्या का। बाईसवें सर्ग में क्रमशः सध्या, रात्रि और चन्द्रोदय के विस्तृत वर्णन भीर्हों की वाक्य प्रतिमा के पञ्चायक हैं। कल्पना और उर्रेक्षा की ऊँची उड़ान इन वर्णनों में प्राप्त होती है।

नगर और नगर जीवन की समृद्धि तथा क्रिया कलाप तो कवि ने बड़ी स्वाभाविक दृष्टि से चित्रित किये हैं। द्वितीय सर्ग (७३-१०६) के कुठिन-पुरी तथा समदस (१६१-२०१) में नल की राजधानी तथा राजोद्यान (२०६-२०८) का वर्णन किया गया है। राज्यसभा और स्वयंवर का इतना विस्तृत और विस्तृत वर्णन कदाचित् ही कही प्राप्त हो, पूरे पाँच सर्गों पाँच सौ के लगभग श्लोक (१०-१४ सर्ग) इस विवरण से पूर्ण हैं। भोज, भोग्य पदार्थ, वरयात्रा आदि के वर्णन तो बड़े रमणीय और मनोरञ्जक हैं। इन सभी वर्णनों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह करते हुए भी कथानक के भाग ही प्रतीत होते हैं। ये वर्णन ऊपर से जोड़े गये, अलग अलग से नहीं लगते।

युद्ध, समुद्र आदि के वर्णन प्रायः नहीं हैं किन्तु क्या में इनका अवसर भी तो नहीं है। शृङ्गार वर्णन कवि को विशेष प्रिय है। अष्टादश सर्ग तथा अथ नल दमयन्ती विलास के प्रसंग शृङ्गार-वेषाओं के प्रचुर विवरणों से परिपूर्ण है, कही कही तो इस सीमा तक पहुँच गये हैं कि धाधुनिक सामान्य सामाजिक दृष्टि से वे ग्राह्य भी कठिनता से हैं। परन्तु नवदम्पती के जो रति चित्र इसमें हैं, वे कवि के वामशास्त्र की अनिज्ञता के सटीक उदाहरण हैं।

वस्तुतः कल्पना का अपार विस्तार और उसके अनुरूप नवीन उद्भावनाएँ इन वर्णनों में प्रचुरता से उपलब्ध हैं। पर उनमें सरसता भी है और

हृदय को छूने की क्षमता भी। 'श्रीहर्ष' और 'नैषधीयचरित' के समान्य अध्येता और व्याख्याता डॉ० चडिकाप्रसाद शुक्ल का यह निष्कर्ष इस विषय में उचित ही है—'नैषध में जिन वस्तुओं का वर्णन उन्होंने (श्रीहर्ष ने) किया है, उनमें उनकी वृत्ति स्वयं रही हुई है।' प्रबल कल्पनाशक्ति और बहुज्ञता के मात्र साथ उन उक्तियों में हृदय को स्पर्श करने की क्षमता है। वे एक जन्मत भरस हृदय में निकली समस्त पड़ती हैं।'

(६) शैली—'नैषधीयचरित' में यद्यपि कहा गया है कि 'धन्यासि वैदमिगुणैस्वदारै' (३।१।१६) और इस दृष्टि से अनेक विद्वानों ने इस काव्य को वैभ्रि रीति प्रधान माना भी है और सामान्यतः यह सत्य भी है, तथापि अल्पसमासयुता पाञ्चाली और ओज प्रधाना गौडी पदरचना से 'नैषध' रहित नहीं है। (द्रष्टव्य १।२) इसमें 'समस्तपाञ्चपदपदबन्ध' भी हैं और आडम्बर पूर्ण समासबहुल भी (द्रष्टव्य १।१।१५३ में दो चरणों का समस्तपद) किंतु प्रचुरता माधुर्यव्यञ्जक वर्णों की ही है और रचना लालित्य भी, ओज, प्रसाद, माधुर्य—तीनों ही गुण 'नैषध' के शृंगार हैं। यथोचित, यथावनर तीनों रीतियाँ और तीना गुणों से युक्त पदरचना है। पदलालित्य तो 'नैषध' का उल्लेख्य ही है—'नैषधे पदलालित्यम्।' समासबहुल पद हो, या अन्यसमास—लान्घन्य उनमें सर्वत्र है। अनुप्रास की छटा, श्लेषमय पदयोजना। पदों की ऐसी ममायोजना कि एक-एक वाक्य अनेक अर्थ देने लगे। स्वयंवर का 'पचनलीय' प्रसंग तो इस श्लिष्टपदयोजना के लिए विख्यात ही है, अर्थ भी अनेक प्रसंग ऐसे हैं, जिनसे कवि का पद-योजना-शौण्डेय प्रकट होता है। दमयन्ती ने कहा—'चेतो नलङ्कामयते मदीयम्।' (३।६७)। इन एक वाक्य से तीन भाव प्रकट हुए—(१) मेरा चित्त लका की कामना नहीं करता—'चेतो न लङ्कामयते।' (२) चित्त नल की कामना करता है—'चेतो नल कामयते।' (३) और यदि वह न हो सके तो जाग में जलने को जी चाहता है—'चेतोऽनलङ्कामयते।' लज्जाशीलाकुमारी की लाज भी रह गयी और हृदयगत भाव भी (समयने वाले के लिए) स्पष्ट हो गये। 'साहित्य-विद्यापरी' के अनुसार यहाँ श्लेष भले ही हो, पर यह सामान्य श्लेष योजना ही नहीं है, कवि के 'एक शब्द सम्पत्तात् सुष्ठु प्रयुक्त' का उदाहरण है।

'नैपथीयचरित' के आलोचको ने श्रीहर्ष की शैली की आठ विशेषताएँ गिनायी हैं। यहाँ उनका उल्लेख करना अनुचित न होगा—(१) अनुप्रास की पर्याप्त योजना। (२) श्लिष्ट पदरचना (३) वक्रोक्तिपूर्ण वाक्य। (४) कल्पनामयी उपेक्षाएँ (५) विभिन्न प्रकारकी उपमाएँ। (६) व्यंग्यपूर्ण समापण। (७) नाटकीय सवाद—योजना और (८) कमणि लुङ् और भावे प्रयोग। अनुप्रास तो प्रथम श्लोक से प्रकट हो जाता है—'क्षिति रक्षिण' 'बुधा सुधाम्' 'महसा महोज्ज्वल' आदि। श्लिष्ट-पदयोजना की पराकाष्ठा तो 'पचनलीय' प्रसंग है ही। वक्रोक्ति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं, चतुर्थ सर्ग (१०२-१०९) में, जहाँ उत्तरप्रत्युत्तर रूप में सखी दमयन्ती सवाद है। उपेक्षाओं की तो इतनी प्रचुरता है कि पद पद पर उनका चमत्कार दीख जाता है। (द्रष्टव्य १।१२३, २।३१, २।३४, २।३५ आदि)। उपमाएँ अनेक प्रकार की हैं—मालोपमा, गूढोपमा, श्लिष्टोपमा। (श्रेष्ठ उपमाओं के लिए द्रष्टव्य १।४१, १।१४, १।१२७ आदि)। व्यंग्यपूर्ण समापण के श्रेष्ठ उदाहरण बीसवें सर्ग में हैं। (२०।६५, ६७, ९०)। इनमें लोक-व्यवहार ज्ञान और सभापण कुशलता का द्योतन हुआ है। नाटकीय-सवाद-योजना चतुर्थ सर्ग (१०२-१०९) के प्रश्नोत्तर हैं। नाटकीयता भी यत्र-तत्र है, भोज प्रसंग में, केलि मन्दिर प्रसंग में। कमणि लुङ् और भावे प्रयोग के लिए उदाहरणीय हैं ३।१३२, ४।१७-४३ तथा ५।५०, १७ आदि।

अलंकार-अलंकार योजना की दृष्टि से श्रीहर्ष की अलंकार प्रियता प्रसिद्ध ही है। इलेप, उपेक्षा, व्यक्तित्व, प्रतीप, वक्रोक्ति आदि का प्रचुर प्रयोग 'नैपथ' में मिलता है। इसी अलंकार प्रचुरता के कारण प्रायः सबक या समृष्टि की समावना आ जाती है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि अलंकार-योजना कवि का स्वभाव है, वह अमसाध्य नहीं है। चिन्तालंकार कवि को प्रिय नहीं है। कल्पना के घनी कवि के सब से प्रिय अलंकार उपेक्षा और अतिशयोक्ति हैं। अनुप्रास, चमक आदि चमत्कार तो अनायास—मानो कवि के अंतर्जाने ही—आ जाते हैं। हाँ, श्लिष्ट प्रयोगों में कवि के पाठित्य, अम, घण्टकोप ज्ञान, व्युत्पत्ति का विशिष्ट परिचय मिलता है। इससे अतिरिक्त उनकी उपमान-योजना उपमालंकार के अतिरिक्त रूपक, प्रतीप,

व्यतिरेक आदि के माध्यम से भी हुई है। इनके व्यतिरिक्त विरोधानास, विनयोक्ति, जाति आदि का भी प्रयोग किया गया है। लङ्-वन्देसा का तो अनेक स्थानों पर योग हुआ है। (द्रष्टव्य १५८, १८४ आदि)। अनेक अलकारों के मेष के तो अनेक उदाहरण हैं। द्रष्टव्य ११७ (वचना-इत्येय सहीक्ति), १२० (छेदानुदास-परिकर), १२१ (अन्हनुति वन्देसा), २१०८ (वचना लङ्-जाति) आदि-आदि। अर्थांतरस्यास के भी अत्यंत माद-मय प्रयोग 'नैषध' में उदादिष्ट हैं। उदाहरणार्थ—१५०, ५४, १०२, १२१, २४८ आदि। स्वभावोक्ति (जाति) के अच्छे मनोरम उदाहरण हृद प्रथम में हैं। (द्रष्टव्य २१२, २१० आदि)। समासोक्ति के उदाहरण के लिए तो 'नैषध' का 'नवा स्त्रा गधवहेन चुम्बिता'—इत्यादि (१८५) काव्यशास्त्रियों में प्रसिद्ध है।

'नैषध' अलकारों का सार है। उक्त अलकारों के व्यतिरिक्त उनकी वक्रोक्तियाँ और व्यंग्योक्तियाँ बड़ी प्रभाव शालिनी हैं। पादात यमक का तो अत्यन्त स्मरणीय और दृशनीय उदाहरण है—यदातीत् कानने तत्र विनिद्र-कल्कि स्त्रा । तदा नल्ललासक्तिविनिद्रकलिका स्त्रा ॥ (१७१२८),

श्रीहर्ष की जैनी विद्वत्तापूर्ण है। कहा जाता है—'नैषध त्रिदशोपधम्।' 'नैषध' में यह विद्वत्ता प्रचुर मात्रा में प्रनागत है। 'साहित्यविद्याधरो'—कर्ता ने श्रीहर्ष को विविध शास्त्रों का वेत्ता सुधी कौविद कहा है—

अष्टौ व्याकरणानि तर्कनिबहू साहित्यसरो नयो

वैशार्यावगति पुराणतडितिर्यस्यान्दशास्त्राग्यपि ।

नित्य स्यु स्फुरितार्यदीनविहृताज्ञानाग्यकाराग्यधी

ध्याख्यातु प्रभवत्समु सुविषम सर्गं सुधी कौविद ॥

'नैषधपरिसीलन' के विद्वान् रचयिता डॉ० चडिकाप्रसाद मुखर्जी ने अपनी इसी प्रकार की मान्यता पुष्टि में डॉ० सुशीलकुमार दे के 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' से जो उद्धरण दिया है, वह भी 'नैषध'कार की विद्वत्ता और पौढित्य का समर्थन करता है—'नैषधचरित केवल एक वैदुष्यपूर्ण काव्य ही नहीं है, अपितु अनेक प्रकार से परंपरागत ज्ञान का भांडार है।'

इसी कारण 'नैपथ' में दुरूहता भी आ गयी है। 'नैपथ' का ठीक ठीक आनन्द वही ले सकता है, जिसे अलंकारशास्त्र के साथ-साथ व्याकरण, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदांत मीमांसा (पद्धदर्शन) और चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि दार्शनिक सिद्धान्तों से अच्छा परिचय हो। इसी कारण अनेक भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों को 'नैपथीयवरित' में कलापक्ष की अपेक्षा भावपक्ष दुर्बल प्रतीत होता है, यद्यपि नैपथकार का आत्मकथन है कि ये गाँठें उसमें इसलिए बाल दी हैं कि विद्वन्मन्य खलजन इस काव्य से खिलवाड़ न करें, यह सज्जन विद्वानों को ही आनन्द दे सके —

ग्रामप्रन्थिरिह क्वचित्क्वचिदपि न्यासि प्रयत्नान्मया

प्राज्ञमयमना हठेन पठिती मास्मिन् खल खेलतु ।

अद्वैतराजगुरुलघीकृतदृढग्रथि समासादय-

त्वेतस्काव्यरसोमिमज्जनसुखव्यासज्जन सज्जन ॥

व्याकरण—व्याकरणानुसार शब्द प्रयोग जानना तो सामान्य स्थिति है, श्रीहर्ष ने व्याकरण के सूत्रों को आधार बना व्यंग्य की सृष्टि की है। पाणिनि के सूत्र 'अवर्गे तृतीया' (अष्टा० २।३।६) को लेकर कलि कहता है कि मोक्ष का तो स्त्री पुष्ट्य के लिए धोचित्य ही नहीं है, यह अपवग इनसे भिन्न (नपुंसक) के निमित्त होता है। (१७।७०) मुनि का मन तो स्त्रीपुंसलक्षणा प्रवृत्ति का घमें तो काम-सज्जा है। इसी प्रकार 'नैपथ' में पाणिनि-सूत्रों को आधार बनाकर द्रव्य का चमत्कार भी दिखाया गया है। 'स्थानिवदादेशो-ज्जन्विघो' (अष्टा० १।१।५६) का आधार बनाकर इन्द्र को दोषी सिद्ध किया गया है (१०।१३५ या १३६), 'अस्तेर्मू' (अष्टा० २।४।५२) के आधार पर काशी का महत्त्व प्रतिपादन किया गया है (११।११७), 'बुहोस्तावद्भ्राजिष्ययवरस्याम्' (अष्टा० ७।१।३५) का उपयोग प्रभाव-वजन में किया गया है (११।६० या ६१), और 'अत इनिठनो' (अष्टा० ५।२।१।५) द्वारा व्याकरण नियमा की अपेक्षा लोक-व्यवहार की मान्यता प्रमाणित की गयी है (२२।८४)। कवि का कथन है कि जैसे 'दाशोऽस्यास्ति इति दाशो' उक्त सूत्र के नियम से 'मनुवर्यं' में निष्पन्न होता है, वैसे ही 'मृगोऽस्यास्तीति मृगी' नहीं निष्पन्न होता, अत 'लघयमुद्दिश्य लक्षणप्रवृत्ति

मनु उज्ज्वलमुद्गिर्य लक्ष्मप्रवृत्ति' इसलिए व्याकरण प्रयोगमूल होता है, प्रयोग में 'व्याकरणाल्लोक एव बलीयान् ।'

ऐसे ही 'मु, औ, जन्' के आन्दर पर श्लेष-चमत्कार दिखाकर नल-प्रससा की गयी है। (द्रष्टव्य ३।७३)। नलवर्णन में 'अधीतिदोषाचरण-प्रचारण' (१।४) के प्रयोग का आधार है पातञ्जल 'महानाम्य'— 'चतुर्भिरथ प्रकारैर्विद्योत्तयुक्ता भवति वागमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचन-कालेन, व्यवहारकालेन (साध्य १।१।१)। जनेक स्थानों पर श्रीहर्ष ने नवीन शब्द रचना भी की है, जैसे मृगनामक, प्रतीनचर और अधिगामुका। (१।८। १२४ या १२९)।

षड्दर्शन - न्यायशास्त्री गौतम को (१।७।७४ या ७५ने) वैशेषिक-कतां कणाद को (२।२।३५ या ३६ में) उग्रहारा का पात बनाया है। वैशेषिकदर्शन पर व्या है 'स्व च ब्रह्म च'—इत्यादिमें (१।७।७३ या ७४)। साह्य के सत्कार्यवाद सिद्धांत (कार्यकारणयोन्वतिभेदो नाम्ति ५।१४) योगदर्शन की सप्रज्ञात समाधि (२।१।११८), वैशेषिक के परमाणुवाद (३।३७) और मन की अच्युतता (१।५९) पूर्वमीमांसा की देशों की अशरीरता (१।१७) का उल्लेख भी श्रीहर्ष ने किया है। 'नैषध' ने मीमांसकों का उग्रहारा भी किया गया है (१।७।६०-६२)। पारिभाषिक शब्द भी मिलते हैं, उदाहरणार्थ— पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष (१।०।८०)। उत्तरमीमांसा (वैदान्त) के 'अनस्तेषु हीन्द्रिभ्यु स्वप्नान् पश्यति' (शकुराचार्य) सिद्धांत के उपयोग के लिए द्रष्टव्य है 'नैषध' १।४०। ब्रह्म-प्राप्ति-मद्वति के लिए द्रष्टव्य है २।३, ४; ५।८ और ९।१२३। ब्रह्मविचार (७।१८) भी है और मोक्षदशा का वर्णन भी (९।१२१)।

बौद्धदर्शन—बौद्धदर्शन के सूत्रवाद, विज्ञानवाद और साकारवादा का (१।०।८८), पारमिता का (५।११), 'चतुष्कोटि' और 'षडभिज्ञा' (२।१।८८) का उल्लेख भी श्रीहर्ष ने किया है और चार इत्रों में (२।१।८८-९१) बुद्धमगवान् के प्रति श्रद्धा भी प्रकट की है।

जैन-दर्शन—जैनदर्शन के 'गिरल' (सम्मक् ज्ञान, सम्मक् दर्शन, सम्मक् चरित्र) मुख्य तत्व हैं। इनका उल्लेख 'नैषध' (९।७१) में है।

चार्वकदर्शन—सबहूँ सगें (१७-८३) में कलि के बक्तव्य का आधार चार्वकदर्शन ही है। प्रायः सभी दर्शन-सिद्धांतों का इसमें उपहास है। 'मत्स्य भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत' का तो उद्धरण ही है (१७।६९)।

सामुद्रिकशास्त्र—सामुद्रिक ज्ञान का परिचय भी 'नैपथ' में अनेक स्थलों पर मिलता है। 'सामुद्रिकसारमुद्रणा' (२।५१) है, पत्र (१।६५), मत्स्य (१।१०५) और वज्र (२०।७१) रखाएँ भी हैं, ऊर्ध्वरेखांकित चरण भी हैं (१।१८, १३।६)।

तत्र—श्रीहर्ष तान्त्रिक थे, मत्र तत्र के साधक। उनकी चित्तमणि मंत्र की साधना विख्यात ही है। अनेक तन्त्र-ग्रन्थ उल्लेख 'नैपथ' में हैं। तत्रसिद्धि की उपयुक्त अष्टमी निशा (७।२३), शक्ति सिद्धि की चौदस की रात (७।९७), चित्तमणि मंत्र की साधना विधि और फल (१४।८७) के उल्लेख इसके प्रमाण हैं।

प्राणिविज्ञान—जल-स्थल और आकाश तीनों के प्राणियों से सबद्ध ज्ञान का उल्लेख 'नैपथ' में है। प्रथम सर्ग में अश्वस्रवधी वर्णन श्रीहर्ष में घालिहोत्र का ज्ञाता सिद्ध करता है। इसमें अश्व रक्षण, स्वभाव, गति आदि का श्रेष्ठ चित्रण है। हम प्रथम पक्षिविज्ञान का परिचायक हैं। मयूर, कोकिल, उलूक आदि के भी उल्लेख हैं। जङ्घर मीन से सबद्ध उल्लेख नेत्रों की उपमा के लिए तो हैं ही, मीन-प्रकृति का भी निरीक्षण मिलता है (४।३५)।

अन्य शिल्प ज्ञान—रत्नविद्या (१०।९४), चित्रकला (२०।१३६), धातुज्ञान (५।११४, १०।९१) तथा षोडश सर्ग में पाककला का ज्ञान भी संवेनित हो जाता है। वहस्रुत लोक जीवन में श्रीहर्ष की गहरी पैठ थी। लोक-जीवन के व्यवहार और रीतियों के उल्लेख 'नैपथ' में प्राप्त हैं। द्रष्टव्य—दीड लगना और उसका उपाय (२।२६), काजल बनाने की रीति (२२।३१)।

वेद-वेदांग पुराणोत्तिहासादिका ज्ञान—जहाँ तक इनका प्रश्न है, श्रीहर्ष इन ज्ञान के अधिकारी विद्वान् ।। वैदिक हिरण्यपुरुरूप-रूप ह्य (१।११७), ब्रह्मानन्द (२।१), वेदाष्ट (३।७५, १०।६६, ११।५२) आदि विवरण श्रीहर्ष के वेद-संबद्ध ज्ञान के परिचायक हैं। श्रवण, मनन, विधि निदिष्टवासन (३।८२), आनन्दरूप ब्रह्म (५।८), देवानन्द अग्नि

(१०।२१), शतऋतु इन्द्र (१७।१०४) आदि के उल्लेख उनके औप-
निषदिक ज्ञान का आभास कराते हैं । वैदिककर्मकाण्ड और वैदिक विधिया के
अनेक उल्लेख भी 'नैषधोपनिषत्' में हैं । पृथ्वि, इयेन तथा कारीरीयाग के
लिए द्रष्टव्य १७।१४, वैदिक विविज्ञान के लिए १७।१७७, दर्श,
अग्निष्टोम, पीणमास, सोमयाग (१७।१९६), सोत्रामणि (१७।१८७),
सर्वमेव (१७।१८६), महाव्रत (१७ २०३) आदि के अनेक उल्लेख
श्रीहृषं ने किये हैं ।

वेदांगों में शिक्षा (२।८९), निरुक्तिय व्युत्पत्ति (दमयन्ती २।१८,
न्दप्रोच (१।१३०, पञ्चधर २२।१८) और ज्योतिष (ऋषि, बुध १।१७) के
उल्लेख 'नैषध' में सहजपाय्य हैं । उनका छन्दशास्त्र का ज्ञान पृथक् दिखाया
हो जा चुका है ।

पुराणेतिहास-ज्ञान के परिचायक तो अनेक उल्लेख हैं । प्रथम सर्ग में
बाणपुत्री तथा और श्रीकृष्ण-पीन अनिरुद्ध की कथा (१।३२), शिवपूजा ने त्यक्त
केतकपुष्प (१।७८), मदन-दहन (१।८७), समुद्रान्तर्गम्य मीनाक (१।११३),
और वामनावतार (१।७२४ तथा ५।१३०) के सकेत हैं । प्रलय काल में
विष्णुदरागत मार्कण्डेय का कई स्थानों पर उल्लेख है (२।९१, १०।३०, १२।
९५ २।१९४) राहु द्वारा चन्द्र ग्रहण भी कई स्थानों पर सकेतिक है (१२६,
४।६४, ६५, ७१, ७२, १२।९४, २२।६६, १३६, १४८) । अगस्त्य द्वारा
समुद्रपान (४।११, २२।६७), प्रणाम करते विन्ध्याचल का अगस्त्य की प्रतीक्षा
में झुका रहना (५।१३०), दधीविक्रया (५।१११), पृथुवरित (११।१०
१२।२०), पारिजात-हरण (१०।२४) ऐरावत को दुर्वास का शप
(१६।३१), सजीवनी विद्या द्वारा कच का पुनर्जीवन (१९।१५), शकंरा-
गिरि और अमृत-मन्थन (२१।१३९), इत्यादि पौराणिक सदसं यत्र तत्र
'नैषध' में हैं । विष्णुपूजा प्रसंग (२१ सर्ग) में रामायण, महाभारत,
श्रीमद्भागवत आदि के अनेक प्रसंग हैं ।

यत्र-तत्र अन्य शास्त्रों के सदसं भी पर्याप्त हैं । अथंशास्त्र (४।८१
'पुष्परपि न षोढव्य किं पुनर्निशर्तं धरं'), धर्मशास्त्र (१।९७, ९।८१,
८२, १५१, ११।९२, १४।६८, १५।६४, २१।१२, २१।२०) के अनेक नियमों

का सबेस है । आयुर्वेद ज्ञान के सूचक हैं—सांज्ञामिक रोग का चिकित्सको में प्रविष्ट हो जाना (३।११), सर्पदंशचिकित्सा (४।३३), ताप शान्ति के निमित्त नलद (खस) का सुभूत और चरक द्वारा अनुमोदित प्रयोग (४।११६) । धनुर्वेद से श्रोत्र्य का अछा परिचय प्रतीत होता है, दृष्टव्य ३।१२६, १२७, १०।११७, ११९, २१।१५८ । राजनीति शास्त्र (१०।१३, २०।१३३), और संगीतविद्या (१।५२, ११।६, १२।१६, १५।१६ १७ १८।१३, २१।१२४, १२५, १२७ में नृत्य, गान, वाद्य के सूक्त) का मदभं है ही । कामशास्त्र के तो श्रोत्र्य विज्ञाता ही थे, अष्टादश मर्ग तो इसका पूरा परिचायक है ही, कामदशा (६।१०१, ११४) कामग्वर (४।२) आदि के वर्णन भी है । ऐसी कामश्रीडाओं का वर्णन उन्होंने किया है, जिनका ज्ञान न तो महाकवियों को है और न पासुलाओ—स्वैरविहारिणियों को—महाकविभिर्ग्य-वीक्षिता पासुलाभिरपि ये न शिक्षिता । (१८।२९) ।

दोष—इतने ज्ञानी, अगाध पांडित्य के अभिमानी महाकवि के महाकाव्य में यदि अनेक विद्वानों को दोष भी लगे तो आश्चर्य ही क्या ? आलोचकों की इस दोषदृष्टि को विद्वानों ने इस प्रकार परिणित किया है ।—

(१) भावपल की अपेक्षा कलापल की प्रबलता ।

(२) शास्त्रीय सदर्थों का अतिशय प्रयोग ।

(३) क्लिष्ट कल्पनाओं की पुनरुत्तिमुता क्यावरोधिका अतिशयता ।

(४) शृङ्गार की अत्यन्तता और तज्जनित अमर्यादा ।

(५) शीघ्रता का अतिवहि । उदाहरणार्थ सभी तरुणियों द्वारा (स्वप्न में ही सही) नल को पति रूप से भजना (१।३०), शृगु, नारद, ध्यात आदि का भी सम्यत्ता पर मोह (७।९५), स्वयंवर हो जाने पर भी चन्द्र-बिन्दु के माध्यम से उसके प्रति इत्र का माह (१५।६४), हरिहरादिदाराओं का सर्वेक मदन कारा में बन्दिनी रहना (१७।७६) आदि ।

(६) पार्वकदर्शन के कलि द्वारा प्रतिपादन से देव आह्वानादि पर लभ्ये आशेष ।

(७) लवे अनावश्यक वर्णन ।

(८) अप्रचलित तथा नवगठित शब्दों के प्रयोग से उत्पन्न दुरुहता और

दुर्बोधता, उदाहरणार्थ ब्राह्मण, स्वैयता, बहुपार (अप्रतिष्ठ, अप्रचलित), अप्रतीतचर, हृदयस्थ, सुननायक आदि (नवगणित) शब्द ।

(९) महाकाव्योचित विस्तृत जीवन-दर्शन का अनाव और एकागिता ।

(१०) रचना-शैली, जिससे जन्मसिद्ध अर्थ भी समझ है तथा अनेक शास्त्रवर्तिन दोषों की स्थिति, उदाहरणार्थ १।२० में 'मृद्य' का दुष्क्रम प्रयोग, चम्पक पुष्प पर बैठने से भ्रमर की मृद्यु की स्थिति विच्छिन्नता (१।८६), भ्रमर-पक्षि का चम्पा को कली पर बैठना—प्रतिद्विष्टता (१।९१), अनेक स्थानों पर किञ्चित्त्व, नपुंसकलिंग में प्रयुक्त होने वाले पद्म का द्वितीया बहुवचन में पुल्लिंग-प्रयोग 'पद्मन्' (१०।१२०)—आकरपविच्छिन्नता आदि ।

(११) शृङ्गार और हास्य इनमें वश्लीलता ।

'हिस्ट्री आफ् सम्बृत लिटरेचर' दान्बून १, पृ० ३२८ में डॉ० सुयोग्य कुमार दे न लिखा है कि आधुनिक रीति के पाश्चात्य अन्वेषक समीक्षक को श्रीहृषी की कृति अक्षयिभूषण और शैली की दृष्टि से प्रगत अनुन्दर लगे तो आश्चर्य नहीं—'इट इज नो बटर, दैट जॉइंग गाय माडेन स्टैंडर्ड, एन इन्सैट वेस्टर्न क्रिटिक मुड स्टिम्पेटाइज दि वर्क एज ए परफेक्ट मास्टर पीज आफ् बंड टैस्ट ऐंड बंड स्टाइल' ।

वस्तुतः यह दोष-दर्शन 'गुणमन्त्रिणाते' चन्द्रकिरणों में कलक के समान हैं और कुछ अतिपरंपरावाद तथा आधुनिक समीक्षा दृष्टि के परिणाम भी हैं । 'नैपथीयवरित' के अनुशीलन के समय अन्वेषकों से काम नहीं चलता, उसके लिए सुस्थिरता और सुस्थिर मति अपेक्षित है । श्रीहृषी की कविता कामिनी की रमणीयता से सुधीजन ही प्रभावित होते हैं, 'कुमारों' (बालकों) के लिए वह नहीं है—'परमरमणीयाऽपि रमणी कुमाराणामन्तःकरणहरण नैव कुस्ते' ।

श्रीहृषी की रक्ति सुधीजनों को आनन्दित कर सके, इसी में उसकी सापेक्षता है, रसहीन जनों के अनादर से उसका कुछ विगहता नहीं—

'मदुक्तिश्चेदन्तर्दयति मुधीभूय मुषिय' ।

किमस्या नाम स्यादरसमुक्षयानादरभरे ॥'

जहाँ तक शब्द-प्रयोगों में नवगणितता का प्रश्न है, वह तो श्रीहृषी का स्तुत्य नवीन प्रयास है । राजा के लिए भूजानि (१।२), काम के लिए सुननायक, आननेहारी के लिए अधिगामुक्षा, पूर्वाज्ञात के लिए अप्रतीतचर

चरितम्', अर्थात् निपथराज (नल) का चरित । इससे उसका उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है, वह अपने इस 'राजचरित' के माध्यम से निपथराज के महनीय चरित का उज्ज्वल पक्ष दिखाना चाहता है । उसे छूत में पराजित श्रीहीन नल का चरित अभीष्ट नहीं, वह नल का वैभव, उसकी कलाविज्ञता, त्रिलोकधन्य पौष्य, उदारता, वदान्यता, दानशीलता, गभीरता, दृढप्रतिज्ञता, आस्तिकता, विलासकौशल, गभीर अनुराग आदि उत्तम मानवीय गुण पाठकों के समुक्त रखना चाहता है । नल-सम्बन्ध से रमणीयतन दमयन्ती का गौरव भी स्पष्ट हो जाता है । अनेक शास्त्रों के सदम न केवल कवि की बहुज्ञता के परिचायक हैं, कविशिक्षा भी उसका उद्देश्य है । यदि 'नैपथ' का साङ्गोपाङ्ग गभीरता से अध्ययन मनन किया जाय तो सक्षेप में भारतीय वाङ्मय और सस्कृति का अच्छा परिचय प्राप्त हो सकता है ।

पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार इसके 'दर्शन' में व्यापकता और अपेक्षित उदात्तता मले ही न हो और इस प्रकार उनके समीक्षण में यह एक आदर्श 'एपिक' सिद्ध न हो सके, यह विचारणीय नहीं है, देखना यह है कि 'नैपथीय चरित' उन्हें कितना रिखा पाता है, जिनको ध्यान में रखकर इसका प्रणयन हुआ है, यह 'नैपथीयचरित' अपने सुधी पाठकों को 'सुधीभूय' (अमृत बनकर) मतवाला बना सकता है अथवा नहीं ? यदि कवि के इस कथन अथवा प्रश्न का उत्तर 'हां' में मिलता है, तो यह कहना पूर्णतः उचित है कि अपने उद्देश्य में कृताय है—'किमस्या नाम स्यादरसपुरुषानादरभरं' ?

सक्षेप में कहा जा सकता है कि 'नैपथीयचरित' के रूप में श्रीहर्ष की 'उक्ति'—'वैशम्पयनीमणिति' धीरसागर के समान अमृतदायिनी है, यह पर्वत-पापानों से उद्भूत आढम्बरकालाहल करती नदी नहीं —

दिशि दिशि गिरिप्राधानः स्वां यमन्तु सरस्वती

तुल्यतु मियस्ताभापातस्फुरदध्वनिडम्बराम् ।

स परमपर क्षीरोदन्वान्यमुदीयते

मधितुरमृत सेदच्छेदि प्रमोदनमोदनम् ॥

गुच्छुलिमा

वि० सं० २०४१

—देवीय सनादध

॥ श्री ॥

नैपथ्यसहाकाव्यम्

मल्लिनाथकृत 'जीवानु' शीघ्रपंचविंशति-
सान्द्रय-सहितप्रमाणे 'चन्द्रिका' हिन्दोद्यात्प्रयोगसूत्रम्

प्रथमः सर्गः

निपीय यस्य क्षितिरक्षिण कथा तथीन्द्रियन्ते नृबुधास्तुधामपि ।

नलस्सितच्छत्रितक्रीतिमण्डलस्स राशिरासीन्महत्मा महोज्ज्वल ॥ १ ॥

जीवानु—अथ तत्रभवान् श्रीहृषिकेशि 'काव्य यद्यसेऽर्षवृते व्यवहारविदे
शिवेतरक्षणे । सद्यः परनिर्बृते कथासाधिततयोपदेशयुजे ॥" इत्यालङ्कारिक-
वचनप्रामाण्यात् काठप्रस्थानेकप्रेयसाधनत्वाच्च 'कव्याडापास्व वज्रवेदि'ति
तनिर्पेयन्धावत्काव्यविषयता पश्यन् नैपथ्यात् नहाकाव्य त्रिकीर्णद्विकीर्णपिठायां-
विचनपरिसमाप्तिहेतो 'आसीर्नमस्त्रिधा वस्तुनिर्देशो वापि तन्मुखमि' त्यासीरा-
द्यन्यतमस्य प्रबन्धमुखलक्षणत्वात् कथानायकस्य राशौ नलस्य इतिवृत्तरूप मङ्गल
वस्तु निर्दिशति-निपीयति । यस्य क्षितिरक्षिण, क्षमापालकस्य नलस्य कथाम्
उपाख्यानम् । निपीय नितरासास्वाद्य पीड् स्वादे क्वो त्यबादेशः न तु पिवते-
'न त्यपी' ति प्रतिषेधादीत्वासम्भवात् । बुधास्तग्ना मुरास्व 'ज्ञानुचान्द्रिमुरा
बुधा' इति क्षीरस्वामी । सुधामपि तथा यथेय कथा नद्विदित्यर्थं, नाद्रियन्ते, सुधा
मपेक्ष्य बहु मन्यन्ते इति यावत् । सितच्छत्रित सितच्छत्र इति सितातपत्रीहृत-
मिन्द्रियं, तत्र कृत्राक्षिणि व्यन्तात् कर्मणि क्त । क्रीतिमण्डल येन स । महसा
तेजसा राशि. रविरिवेति भावः । महै उत्सवं उज्ज्वल दौप्यमानो नित्यमहोन्स-
वशालीत्यर्थं । 'मह उद्वेग उत्सव' इत्यमरः । स नर आसीत् । अत्र नले महसा

—क्षितिर्दत्त कीर्तिमण्डले च सितच्छत्ररूपस्यारोपात् रूपक कथायाश्च सुधापेक्षया
 उन्मत्तान् व्यतिरेकश्चेत्यनयो ससृष्टि । तदुक्त दर्पणे 'रूपक रूपितारोपाद् विषये
 निरपह्नवे' इति । "आधिवयमुपमेयस्योपमानान्भूतनाशयवा । व्यतिरेक" इति
 मियाऽपेक्षयतेषा स्थिति ससृष्टिष्यते इति च । अस्मिन् सर्गे वशस्य वृत्त, 'जनौ
 तु वशस्यमुदीरित जरावि' ति तत्प्रक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वय — यस्य क्षितिरक्षिण कथा निधीय बुधा सुधाम् अवि तथा न
 आद्रियन्ते सितच्छत्रितकीर्तिमण्डल महसा राशि महोज्ज्वल स नल आसीत् ।

हिन्दी—जिस पक्षीपालक की कथा का पान करके धिद्धञ्जन अमृत का भी
 वैसा आदर नहीं करने, ऐसा (क्षपने) श्वेत छत्र (आतपत्र) के समान
 परोनडल से युक्त, उत्सवा से देदीप्मान, तेजोराशि राजा नल था ।

टिप्पणी—'नैपथीयचरित' महाकाव्य के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष ने विष्णु-
 विनाश के निमित्त काव्य के नायक राजा नल की कथा-रूप मंगलकारिणी वस्तु का
 द्वादश श्लोक द्वारा निर्देश किया है,—"आशी कथन" और 'नमोवाद' के अनुरूप
 ही कथावस्तु का निर्देश भी मंगलविधायक होता है । राजा नल की कथा
 अमृत से भी अधिक मरस है, कवि का यह भाव है । 'बुध' शब्द का अर्थ
 'देवता' भी है, अतः यह भी भाव है कि सदा सुधापान करने वाले देवता भी राजा
 नल की कथा का आस्वादन कर अमृत को पहिंते जैसा आदर नहीं देते । 'क्षिति-
 क्षिण' का प्रथमा बहुवचन मानकर यह अर्थ भी हो जाता है कि लान्य धरती
 के पालक राजा यज्ञादि द्वारा प्राप्त अमृत को भी नल-कथा का आस्वादन कर
 भूल जाते हैं । 'क्षितिरक्षिण' का एक अर्थ फण पर धरती को धारण करने वाले
 ऐश-तन्नादि नाग भी है और 'मुधा' का अर्थ 'भुजग भाजन' भी । इसमें भाव
 यह हुआ कि पातालशासी नागादि भी नल कथा में उतनी ही रूचि रखते हैं,
 जिनकी कि पृथ्वीवासी बुधजन और स्वर्ग में बसने वाले देवता । भावार्थ यह
 कि नल का यथा त्रिलाकी में ग्यात है । 'मुधाम् + अवि' का खण्ड करके 'नैप-
 थीयप्रकाश' श्यामशास्त्र नारायण पंडित 'अवि' का अर्थ 'धद्रमा मे' करके
 यह अर्थ भी करते हैं कि देवगण 'मुधाजठपारा' चंद्र को भी राजा नल के
 समान नहीं समझते ।

'अतिरक्षिण' का अर्थ कलि के मय से मुक्ति दिलाने वाला राजा नल भी हो सकता है—अर्थात् 'जि' धातु से 'स्त्रिया क्तिन्' हो 'जिति' निष्पन्न हुआ, 'सिति' अर्थात् नाश! 'क्षिति - अक्षिण' (अक्ष वासी धर्म्य स अक्षी अर्थात् पनि में वास करने वाला कलि) अर्थात् अक्षी-कलि की क्षिति-मय में आदर नहीं रह जात। कहा जाता है—'ककौटकस्य नागस्य दमयन्त्या नलस्य च । परम्य रात्रये कीर्तनं कलिनायनम् ।'

'अक्षी धर्म्य सन्नि स अक्षी तस्य अक्षिण' अर्थात् द्यूतव्यसनी राजा नल, उसकी भी 'सिति' अर्थात् धरती या राज्य है, यह आश्चर्यजनक भी है। सो द्यूतव्यसनी नरेण की क्या निश्चयतः मनोरञ्जक होगी, सुधा से भी तरस। क्षितिना विचित्र है कि वह राजा अनत कीर्तिप्राप्ती भी है।

राजा नल 'महता राशि' अर्थात् सूर्य के तुल्य वैजम्बी है, 'स' अर्थात् वही नल। अर्थात् सुसोममा अथवा सुसोमप्रेक्षा ललकार मानकर अर्थ हुआ कि सूर्यतुल्य वैजम्बी प्रतापी नल के अतिरिक्त कोई नहीं हुआ। नल की यही सूर्य से समता चद्रादि के प्रति अक्षता का कारण भी है। सूर्य ही वषां करके अन्नोन्पादन है। 'आदिन्याज्जायते कृष्टि ।'

'महोऽम्बल' का विग्रह 'महे उज्ज्वल' करके उन्सवों से देखीप्यमान अर्थ हुआ। 'महान् उज्ज्वलः शृङ्गारो यत्र दमयन्त्या।' विग्रह में मह अर्थ भी संकेतित होता है कि दमयन्ती का उज्ज्वल अर्थात् शृङ्गार (रति) नल में ही था। 'शृङ्गार सुविन्ज्ज्वत इत्यमरः ।'

इस सर्ग में प्रथम श्लोक से १४२वें श्लोक (मुदाः कमाहूय) तक वशस्ये छंद है। श्लोक में शब्दालंकार अनुप्रास है। जर्वालंकार उपमान 'सुधा' से उपमेय क्या का आधिक्य—निर्देश होने के कारण व्यतिरेक है और सूर्य और नल का अभेद होने से रूपक अथवा प्राक्पणिक नल और अप्राक्पणिक सूर्य के सिद्ध पद में अनुबन्धन होने से श्लेष। इस प्रकार व्यतिरेक और रूपक की सन्निधि तथा रूपक और श्लेष का संकर हुआ। 'सिन्धुच्छ्रयकीर्तिनाडल.' सूर्य का भी विशेषण है—'क्षेत्रावननीकृत कीर्तिमुक्त मण्डल यस्य स.'—क्षेत्र छत्र के समान विस्तृत मंडल वाला सूर्य।

रसे क्या धर्म्य सुधादधीरिणो नलस्य भूजानिरभूद् मुणादमुता ।

सुवर्णदण्डैः क्लृप्ता नपस्त्रिनञ्ज्वत्प्रनापावलिक्कीर्तिमण्डल ॥ २ ॥

जोवातु—इममवार्यमन्यया आह—रसरिति । यस्य नलस्य कथा रसै स्वादे , 'रसो गंधो रस स्वाद' इति विश्व । सुधाम् अवधोरयति तिरस्करोति तथोक्ता अमृतादतिरिच्यमानस्वादेति यावत्, ताच्छील्ये गिति । भूर्जाया यस्य स भूजानि भूपतिरित्यथ । 'जायाया निडि'ति बहुव्रीहौ जायात्तद्वत्त्वं निडादेश । स नल गुणः द्यौष्यदाक्षिण्यादिभि । अद्भुत. लोकातिशयमहिमेत्यर्थ । अभूत् । कथम्भूत सुवर्णदण्डश्च एक सितातपत्रश्च ते कृते द्वद्वात् तट्टताच्चित् प्यतात् कम्मणि क्त । ज्वलत्प्रतापावलि कीर्तिमण्डलश्च यस्य तपाम्भूत । इह कीर्ते सितातपत्र-त्वरूपण पूर्वोक्तमपि सुवर्णदण्डवैशिष्ट्यात् राजश्च गुणाद्भुतत्वेन वैविध्यात् न पुनरुक्तिदोष । अत्रापि पूर्ववद् व्यतिरेकरूपकयो समृष्टिः ॥ २ ॥

अन्वय — यस्य नलस्य कथा रसै सुधावधोरिणी गुणाद्भुत (स) भूजानि. सुवर्णदण्डकमितातपत्रितज्वलत्प्रतापावलि कीर्तिमण्डल अभूत् ।

हिन्दी—जिस नल की कथा (शृङ्गारादि नव अथवा मधुरादि पद) रसो क कारण अमृत को तिरस्कारनेवाली है, गुणो के कारण अद्भुत वह भूमिपति ऐसा हुआ, जिसके सुवर्णदण्ड और श्वेत छत्र ही तेजोमयी प्रतापावलि और यशोमण्डल के सदृश थे ।

टिप्पणी—इस दलोक में कवि का यह भाव है कि अनेक गुणों से युक्त होने के कारण राजा नल एक अद्भुत और अनुपम पृथ्वीपति था, धरती ने उसके गुणों पर अनुरक्त हो नलराज की ही अपना स्वामी स्वीकारा था । कथा के अमृत तिरस्कारिणी होने में उसका नवरसमयी होना है । जिससे वह मधुरादिपद रसमयी सुधा से श्रेष्ठ है । राजा नल में गुण भी अनेक हैं । वह 'सुधावधो' (शोभन धावतीति सुधा पुण्यसंचारिणी धी यस्य स) अर्थात् पुण्यचरित्र है (महाभारतातगत 'नलोपाख्यान' (८।१) में तदा अयत्र नल 'पुण्यदलोक' कहा गया है, तदेव (१।१-४ में) नल के अनेक गुणों का उल्लेख है), 'रणी' (रण अस्यास्तीति) अर्थात् रणभूर है 'भूजानि' अर्थात् पृथ्वीपति है । इस प्रकार वह मात्र, उत्साह और प्रभु धक्ति से सम्पन्न है । 'सुवर्णदण्डक'—इत्यादि विशेषण में नल का प्रतापी और यशस्वी होना घोषित है । 'शोभमान श्याम द्विजातिवर्णना दण्डः शासन वा यत्र तथा एक

मितावपत्र यस्मिन् तादृश मण्डल राष्ट्र यन्म स' विग्रह द्वारा नल न्यायी, सुशासक वार्ताप्रम-वस्थापक संकेतित होता है। 'मूत्रानि' नल ही था, इससे 'मू' के समान दमयती का पनि वही हुआ, यह भी व्यम्ब है।

यहाँ व्यतिरेक जोर रूपक को समृष्टि है। 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार यहाँ कथा के सुभावपीरिणी होने से व्यतिरेक है और 'सुवर्णादग्ड-सितच्छत्र' से क्रमशः 'प्रतापारलि कीर्त्तमगड' विशेषित होने से यथासम्ब है, इस प्रकार व्यतिरेक-यथासम्ब का संकर है।

पवित्रमत्राननुते जगद्युगे स्मृता रसक्षालनयेव तत्कथा।

कथ न ना मद्गिरमाविलामनि स्वसेविनीमेव पवित्रविष्यति ॥ ३ ॥

जोवानु—सम्प्रति कवि म्ब्रिनयमाविकरोति पवित्रमिति। अत्र युगे कलौ इति यावत्। मस्य नलस्य कथा स्मृता स्मृतिनय नीतेत्ययं। सती जगन्लोकं रसक्षालनयेव जलक्षालनयेवे-चुत्प्रेक्षा, 'दिहघात्वम्बुवारदा' इति रसपय्यपि विरवः। पवित्र विष्यद्म आउनुते करोति, सा कथा आविला कल्पामपि सदोयामपोति यावन्, स्वसेविनीमेव केवल स्वकीर्त्तनपरामेवेति भाव। मद्गिर मम वाच कथ न पवित्रविष्यति? अपि तु पवित्रा करिष्यन्त्येवेत्यर्थ। तथा चोक्त 'ककॉटकस्य नागस्य दमयत्या नलस्य च। ऋतुपपांस्य राजप्ये कीर्त्तन कलिनाशनम् ॥' इति। या स्मृतिनात्रेण शोधनी सा कीर्त्तनात् किनुतेति कैमुन्यन्यायेनानान्तरापत्या अर्थात्तिरलङ्कार। तदुक्तम्—'एकस्य वस्तुनो भावाद यत्र वस्त्वन्यमा भवेत्। कैनु-न्यायत सा स्वादपांतिरलङ्क्रिया ॥' इति ॥ ३ ॥

अन्वय—तत्कथा स्मृता अत्र युगे जगत् पवित्रम् आउनुते, सा आविलाम् अपि स्वसेविनीम् एव मद्गिर रसक्षालनया इव कथ न पवित्रविष्यति?

हिन्दी—वह कथा स्मरण करने पर इस युग में भी मसार को पवित्र कर देती है, वह दोयमती किन्तु 'स्वकथैकतत्परा'—नल की ही कथा कटने में छन—मेरी कानी को मानो शृङ्गारादि उज्ज्वल रसों से परिक्षालित करके मला क्यों न पवित्र करेगी?

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि-विनय प्रतिपादित है, जिसकी नल धरित्र के वर्णन में ही आसक्ति है, इसी सम्भावना के कारण 'साहित्यविद्याधरी' में

यहाँ उत्प्रेक्षा मानी गयी है। रस का अथ नवरस भी है और जल भी, सो ह्लेष है। जो क्या स्मरणमात्र से पवित्र करती है, वर्णन स तो और भी करेगी इस अर्थान्तर की आपत्ति हो जाने के कारण 'उर्धापत्ति' बलङ्कार है। 'कथं न पवित्रयिष्यति अपितु पवित्रयिष्यत्येव'—काकुवक्रोक्ति।

अधीतिबोधाचरणप्रचारणैर्दशश्वतस्र प्रणयन्नुपाधिभिः ।

चतुर्दशत्व कृतवान् कृतस्त्वय न वेदि विद्यासु चतुर्दशस्त्वयम् ॥ ४ ॥

जीवातु—अस्य सर्वविद्यापारदर्शित्वमाह—अधीतीति । अयं नल चतुर्दशसु विद्यासु 'अङ्गानि वेदाश्चन्वारो मीमासा न्यायविस्तर । धर्मशास्त्र पुराणञ्च विद्या ह्येताश्चतुर्दशे' त्युक्त्वासु अधीतिरध्ययनं गुरुमुक्त्वात् श्रवणमित्यर्थं । दोष, अर्धावगति, आचरण तदर्थानुष्ठान, प्रचारणम् अध्यापनं सिद्ध्येम्य प्रतिपादन-मित्यर्थं, तंश्चतुर्भिः उपाधिभिः विशेषणं आचरणविशेषित्वयर्थं । 'उपाधिधर्म-चित्ताया कर्तवे च विशेषणं' इति विश्व । चतस्रो दशा व्यवस्था प्रथमं कुर्वन्मित्यर्थं, स्वयं चतस्रो दशा यासां तासां भावश्चतुर्दशत्व 'त्वत्तलोर्णवचनस्ये' ति पुबद्धावो बक्तव्य, इति स्त्रिया पुबद्धाव । 'संगजातिभ्यतिरिक्ताश्च गुणवचना' इति सम्प्रदायः । चतुर्दशस्यैकत्व कृतं परमात् कृतवान् न वेदि न जाने इति स्वतः सिद्धस्य स्वयङ्करण कथं पिष्टपेयणवदिति चतुर्दशानां पुरा-वृत्तौ षट्पञ्चाशत्त्वात् कथं चतुर्दशत्वमिति च विरोधानासङ्गयम् । चतुरव्यय-मिति तत्ररिहारश्च । तदुच्यते 'नामासत्वे धिरोधस्य विरोधाभात् उच्यते' इति ॥ ४ ॥

अन्वय —अयं चतुर्दशसु विद्यासु अधीतिबोधाचरणप्रचारणैः उपाधिभिः चतस्र दशा प्रणयन् चतुर्दशत्व कृतं कृतवान् (इति) स्वयं न वेदि ।

हिन्दी—इस राजा नल ने अध्ययन, अधिज्ञान, आचरण और प्रचार—इन चार प्रकारों से बसो चीन्ह विद्याओं को 'चतुर्दशत्व' ही बनाया—चौदह को चौदह ही रहने दिया—यह मैं स्वयं नहीं समझ पाता ।

टिप्पणी—राजा नल चारों वेद, षट् वेदांग, मीमासा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—इन मनु प्रतिपादित चौदह विद्याओं (याज्ञवल्क्य के अनुसार चौदह विद्याएँ हैं—पुराणन्यायमीमासाधर्मशास्त्राङ्गमिश्रिता । वेदा स्थानानि

विद्याना धर्मस्य च चतुर्दश ।) के न केवञ्च ज्ञाता ही ये वे उनका स्वाध्याय भी करते थे तदनुहुञ्च जीवन व्यवहार भी चलाने में और उनके प्रचार-प्रकाश में भी उत्तर दे । 'चतुर्दश का अर्थ चौदह तो है ही 'चतुर्दशम्' का अर्थ चार 'अप्रीतिदोषावरात्रचारण' दशा भी है, सो कवि (कालिदास) ने 'चतुर्दश' का 'चतुर्दशम्' क्यों है, यह समझ ही गया है । राजा नल चौदहों विद्याओं के चारों व्यवहार में उत्तर रहते थे ।

चतुर्दश के चतुर्दश ही रहने में विरोध प्रतीत होता है किन्तु पुन 'चतुर्दश' का अर्थ चार दशा कर लेने पर विरोध का परिहार हो जाता है, अत 'विरोधानात्र' अलंकार है । 'साहित्यविद्यापरी' में यहाँ उल्लेख बताया गया है ।

अमृत्यु विद्या रक्षणाग्रतर्जनी त्रयोन् नीताङ्गुणेन विस्तरम् ।

अगाहवाद्यादशता जिगीषया नवद्वयद्वीपनृयगजयधियाम् ॥ ५ ॥

जीवानु—अमृत्युना अर्थात् अमृत्यु विद्या सर्वाभ्याह—अमृत्युनेति । अमृत्यु नञ्च रक्षणाग्रतर्जनी विद्याप्रसन्नारिप्योत्तरम् । विद्या पूर्वोक्ता नृदविद्या चेति तन्मते, रक्षणाग्रतत्त्वधर्मादिति भाव । त्रयोन् त्रिविधैव 'इति वेदान्प्रपश्यती' त्तर । अङ्गाना 'विज्ञा कल्पे व्याकरण निरुक्त छन्दसा चिति । अर्थात् इत्येति विज्ञेय पदङ्ग बुधश्चतुर्दश' इत्युक्ताना पन्ना मधुराम्बकपादलवनकद्रुतिक्रानाञ्च रक्षाना पन्ना गुणेन आहृत्वा वैदित्येन च, अथ च अङ्गगुणेन शरीरानामर्थेन स्वकीयानुभूतिविद्येनेति भावः विस्तर इति नीता प्राणिता सती नवाना द्वय नवद्वय लक्षणया अष्टादशेत्पर्यं, तेषा द्वीपाना पृथगनुता जनश्रिय तासा जिगीषया व्यञ्जनाप्रयोगान् सम्योप्रेक्षा । जेनुमिच्छतेत्पर्यं, अष्टादशताम् अगाहत् अमवन । पूर्वोक्तानु चतुर्दशानु विद्यासु विज्ञितव्युत्तरया आपुर्वेदादीनामनुशीलन-शीकृत्यान् तन्प्रादुर्भावित्वेन, नृदविद्यापक्षे च पन्ना रक्षानाम् उत्स्वनानुभवसमता-रुपत्रिविधेन त्रयोन्तरे च एकैकवेदस्य प्रपश्येत् । अङ्गाना शिक्षादीना पाठविध्य-वैशिष्ट्येन आष्टादशत्वविद्धि । प्रागुक्तारचचतुर्दश विद्याः । 'आपुर्वेदो चतुर्वेदो गान्धर्वश्चेति ते त्रय' । अयंशास्त्र चतुर्थानु विद्या एतादृश स्मृता' इति । अङ्ग-विद्यापुण्येन अथवा अष्टादशत्वमित्युक्तान्याप-वित्तेस्वरनशारकव्यत्याने तु अङ्गानि वेदादन्वयार इत्यापर्वणस्य पृथग्वेदत्वे त्रयोवहति । अमृत्युनवि तु नाष्टा-दशत्वविद्धिरिति चिन्त्यम् । उपनोत्प्रेक्षयो' समृष्टिः ॥५ ॥

हिन्दो—अष्ट दिक्-पालो (इंद्र, अग्नि, यम, वायु, सूर्य, वरुण, चन्द्र, बुधेर) के अद्यो से उत्पन्न (स्मृति के अनुसार राजा अष्ट लोकापाला की मात्रा से युक्त होता है) अष्ट दिशाओ का स्वामी वह (राजा नल) काम के प्रसार की अवरोधक, अपने को त्रिनेत्र शिव के अवतार होने का बोध कराने वाली द्वय से अधिक अर्थात् तीसरी घास्त्र रूप दृष्टि को धारण करता था ।

टिप्पणी—राजा सब देवों से बड़ा 'महादेव' था, यह दो तर्कों से प्रमाणित किया गया है—(१) इंद्रादि लोकपाल एक एक दिशा के स्वामी हैं, नल आठा का । (२) वह सामान्य नेत्र युगल के अतिरिक्त त्र्यम्बक शिव के समान काम अर्थात् स्वेच्छाचार की निरोधिका घास्त्र दृष्टि से समन्वित था । राजा नल घास्त्रानुसार आचरण करता था । और अष्टलोकपालाश था, इस प्रकार वह त्रिनेत्र शिव के अवतार सह्य था । मनुस्मृति (५।१६) के अनुसार—'सोमाम्य-कानिलेन्द्राणां विसाप्स्योयंमस्य च । अष्टाभिस्व सुरेन्द्राणां मात्रामिनिमित्तो नृप ॥'

साहित्य विद्याधरी के अनुसार यहाँ उपमा है । 'दृशम् घास्त्राणि' में रूपक और नल के विभूति भेद होने पर भी अभेद कथन से अतिशयोक्ति है, इस प्रकार रूपक और अतिशयोक्ति का 'सकर' है ।

पदैश्वर्यमिस्सुकृते स्थिरोकृते कृतेऽमुना के न तप प्रपेदिरे ? ।

भुव यदेवाद्घ्निकनिष्ठया स्पृशन् दधाववमोऽपि वृशस्तपस्विताम् ॥७॥

जीवातु—अयास्य प्रभाव दशंयति—पदैरिति । अमुना नलेन कृते सत्ययुगे सुवृते धम धृपहरपत्वात् चतुर्मि पदै चरणं —'तप पर कृतयुगे प्रेताया ज्ञान-मुच्यते । द्वापरे मत्तमेवाहूर्दानमेक कली युगे ॥' इत्युक्तचतुर्विधैरिति भावः, स्थि-रोकृते निश्चलीकृत इति यावत्, के जना तप चान्द्रायणादिरप कठिन व्रत का क्या ज्ञानादोनामिति भावः, न प्रपेदिरे ? अपि तु सर्व एव तपस्वेहरित्यर्थः । यद् यव अधर्मोऽपि का क्या अयेवामित्यपि शब्दापे, कृथ, दुर्बल सन् एकया अहृधेशचरणस्य कनिष्ठया कनिष्ठयाऽङ्गुल्येत्यर्थः, भुव स्पृशन् कृतेऽपि अपमंस्य क्लेशत सम्भवादेनेति भावः तपस्विता तापसत्व दीनत्वञ्च 'मुनिदीनी तपस्विना' इति विश्व । दधी धारयामास । अस्य घासनादधर्मोऽपि धर्मेण आसक्तोऽभूत् ।

किमुत अन्य इति कैमुग्न्यायादर्थोतरापत्या अर्थापत्तिरलङ्कारः अधर्मोऽपि धार्मिक इति विरोधश्चेत्यनयो समृष्टि ॥ ७ ॥

एतन्नय — श्मुना चतुर्भिः पदं सुकृते स्थिरीकृते कृते के न तप प्रवेदिरे यन् कृश अधम अपि एकाङ्घ्रिनिष्ठया भुव स्पृशद् तपस्विताम् दधौ ॥

हिन्दी—इस (नल) के द्वारा चारों पैरों से सुकृत—धर्मके निश्चल किये जाने पर कृतयुग में कौन तपस्यारत न हो गय (अपितु सब हो गये), क्योंकि दुर्बल अधर्म भी एक पैर पर खड़ा धरती को छूता तपस्या करने लगा ।

टिप्पणी—राजा नल को त्रेता में उत्पन्न माना जाता है, उसने अपने पुत्र से त्रेता में भी धर्म की पूर्ण स्थापना करके सतयुग ला दिया था, जिसमें धर्म चारों पैरों से विचरण करता है और अधर्म एक पैर से, सो जब अधर्म भी धरती पर एक पैर से खड़ा हो तपस्वी हो गया तो और कौन तपस्वी न हो जाता । इस प्रकार राजा नल का पूणधर्मात्मत्व सिद्ध किया गया है । धर्म के चार चरण हैं—सत्य, अस्तेय, धर्म और दम अथवा तप, दान, यज्ञ और ज्ञान । नल के राज्य में सर्वत्र यही आचार धर्म था ।

नल के शासन में अधर्म भी धर्माचारी हो गया तो अन्य कौन न हो जाता यह 'अर्थापत्ति' है और अधर्म भी धर्म हो गया यह विरोध, दान अर्थापत्ति—विरोध की समृष्टि है । साहित्य विद्याधरी के अनुसार अधर्म का धर्मो हो जाना विरोध है, जिसके परिहार से 'विरोधाभास है' और सब के तपोनिष्ठ हो जाने का 'अनुमान' है । शब्दालंकार अनुप्रास है ।

यदस्य यात्रामु बलोद्धत रज स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम ।

तदेव गत्वा पतित सुधाम्बुधौ दधाति पङ्क्रीभवदङ्कता विधौ ॥ ८ ॥

जीवातु—अथास्य सप्तभिः प्रताप वर्णपति—यदित्यादिभिः । अस्य नलस्य यात्रामु अत्रयानेषु बलोद्धत रज स्फुरत् प्रतापानलस्य यो धूम तस्यैव मञ्जिमा मनोहारित्व यस्य तपोक्त 'ससम्युपमाने' त्यादिना बहुव्रीहि । मञ्जुशब्दादिमनिच्प्रत्यय । यन् रज' धूलि, तदेव गत्वा उत्क्षेपवेगादिति भाव । सुधाम्बुधो क्षीरनिधो पतितम्, अतएव पङ्क्रीभवद् सन् विधौ चन्द्रे तद्भासिनीति

भाव । अङ्कता कलङ्कत्व दधाति । अत्रापि व्यञ्जकाप्रयोगात् गम्योत्प्रेक्षा तथा च कलङ्कत्व दधातीवेत्यर्थं ॥ ८ ॥

अन्वय — अस्य यात्रासु बलोद्धत स्फुरत्प्रतापानलधूममञ्जिम यत् रजः तत् एव गत्वा मुषाम्बुधी पतित पङ्कीभवत् विधी अङ्कता दधाति ।

हिन्दी—इस (नल) की (विजयार्थ) यात्राओं में सेना के द्वारा उड़ायी गयी स्फुरित होने प्रताप रज अग्नि के धूमसम मनोहारिणी जो धूल थी, वही जाकर क्षीरसागर में गिरी और कीचड़ बनकर चन्द्रमा में कृष्णचिह्न हो गयी ।

टिप्पणी—प्रथम मातृ श्लोक में नल के महिमान का वर्णन करके श्रीहर्ष अब सात ही श्लोकों में उसके प्रताप का वर्णन कर रहे हैं । दिग्विजयेपिणी नल की सेना जब चलती थी तो उससे प्रचुर धूल उड़ती थी, जो स्वामाविके है । क्षीर सागर के जल से मिलकर उसके कीचड़ होकर चन्द्रकलक बन जाने की सम्भावना से सेना-वाहिन्य और समुद्र पर्यन्त उसकी गति छोटित है । 'प्रकाश'-वार ने यहाँ लुप्तोत्प्रेक्षा मानी है और 'जीवातु'-कार ने व्यञ्जक का प्रयोग न होने के कारण गम्योत्प्रेक्षा । 'साहित्य विद्याधरो' कार अतिशयोक्ति मानते हैं । 'प्रतापानलधूम' से औपम्य में रूपक है ।

'तिलक'—व्याख्या में बताया गया है, यह प्रश्न उठाकर कि कीचड़ बनी धूलि का चन्द्र-कलङ्क होना क्या वस्तुगति द्वारा सूचित होता है अथवा उसकी उत्प्रेक्षा होती है ? दोनों ही सम्भव नहीं है । पहला इस कारण सम्भव नहीं क्योंकि पुराणादि में ऐसी कोई कवि प्रसिद्धि नहीं है । उत्प्रेक्षा इसलिए नहीं हो सकती क्योंकि 'इव' आदि दोषक पद का अभाव है । वस्तुतः 'तदेव' में जो 'एव' है, वह प्रसिद्ध पशानर के अस्वीकारार्थ या निषेधार्थ है, जिनसे यह छोटित होता है कि चन्द्रकलङ्क प्रसिद्ध मृग, शयक आदि नहीं है, न ल गम्य द्वारा उद्धत धूलि ही है ।

स्फुरद्भुनिम्बननद्धनानुगप्रगन्भवृष्टिव्ययितम्य सङ्गरे ।

निजस्य तेजशिविन परशता विनेनुरद्गारमिवायश परे ॥ ९ ॥

जीवातु—स्फुरदिति । सङ्गरे बुद्धे सजात् परे परशता सजापिका इत्यर्थं, ब्रह्म इति यावन, पञ्चनोति योगविभागात् समास, राजदृतादिश्चादुपसर्जनस्य

परनिपात पारस्करादित्वात् सुडागमरच । परे शत्रव स्फुरन्ती प्रसरन्ती धनुनि-
स्वनो चापघोषो इन्द्रचापगजिते—यस्य यत्र वा तथोक्त स नल एव घन मेघ-
तस्य आशुगना शरागाम् अन्यत्र आशुगा वेगगामिनी यद्वा आशुगेन वेगगामिना
वायुना या प्रगल्भा महती वृष्टिः 'आशुगौ वादुविश्विन्वादि' इत्यमर । तथा
व्ययितस्य निर्वापितस्य विपूर्वादयते कमणि क्त । निजस्य तेज शिखिन प्रतापाम्ने-
अङ्गारमिव अयशः अपकीर्ति वितेनु विस्तारितवन्त । पराजिता इति भाव ।
अत्र रुक्कोत्प्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभाव सङ्करः ॥ ९ ॥

अन्वयः—परस्यता परे सगरे निजस्य स्फुरदधनुनिस्वनतदघनाशुगप्रगल्भ-
वृष्टिव्ययितस्य तेज शिखिन अङ्गारम् इव अयश वितेनु ।

हिन्दी—धताधिक अर्थात् असह्य शत्रु सग्राम में स्फुरित होते, टकारते
धनुष से उच (नज) द्वारा छोड़े गये असह्य बाणों की असह्य वर्षा के कारण
बुझे स्वकीय तेज रूप अग्नि के अगारो के सटश अयश का विस्तार करते थे ।

टिप्पणी—इस दलोक में नल के शत्रुओं के निस्वन पराजय और नल के
अद्भुत धनुर्धारी होने का भाव है । मल्लिनाथ ने इसमें रूपक और उत्प्रेक्ष का
अगामिभाव सकर अलंकार माना है । साहित्य विद्याधरी में उपमा और रूपक
अलंकार बताये गये हैं ।

'प्रकाश' व्याख्या में 'स्फुरद्'-इत्यादि का विग्रह इस प्रकार किया गया है—
स्फुरत् धनुनिस्वन, यस्य एव विघट्च स तस्य घना ये आशुगास्तेषा प्रगल्भा या
वृष्टिस्तया व्ययितस्य । 'प्रकाश'—कार ने यह भी कहा है कि 'स्फुरद्धनुनिस्वनो
यस्याम्' ऐसा विग्रह करके यह वृष्टि का विधेयण भी हो सकता है । उन्होंने दो
प्रकार से और भी विग्रह किया है—'धनुनिस्वन तनोति तयते वा धनुनिस्वनतत्
स्फुरत्प्रकाशमानश्चासौ धनुनिस्वन तच्च तस्य । अथवा स्फुरन्ती धनुनिस्वनो धनु
सिंहनादो यस्य चामो स एव घनो मेघस्तस्या शुगा शिख्रगामिनी प्रौढा च या
वृष्टिस्तया व्ययितस्य । शिख्रपक्ष में—स्फुरन्ती इन्द्रधनुर्गजिते येषु ते च घना
स्तेषामाशुगा शीघ्रगामिनी प्रौढा, आशुगेन वायुना वा प्रौढा या वृष्टिस्तया
व्ययितस्य । एक और भी सम्भावना की है—'निस्वन तवन्तीति निस्वन तत
स्फुरदधनुर्मुक्ता निस्वन ततश्च मे घना मेघा इति ।'

अनल्पदग्धारिपुगनलोज्ज्वलैर्निजप्रतापैर्बलयं ज्वलद् भुवः ।

प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्ट्या रराज नोराजनया स राजघ ॥१० ॥

जीवातु—अनल्पेति । राज प्रतिपक्षानिति भावः, हन्तीति राजघ द्युघाती-
 र्यर्थे 'राजघ उपसहस्रानमि'ति निपात । नलः अनल्प दग्धानि अरिपुराणि
 द्युघाताणि यैः तयोक्ता अनलवत् उज्ज्वला तं निजप्रतापैः कोपदण्डसमुत्प
 तेजोभिः 'स प्रनाप प्रभावश्च यत्तेज कोपदण्डजमि'त्यमर । ज्वलत् दीप्यमान
 भुव बलय भूमण्डल प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिण परिभ्रम्य क्रमेण सर्वदिग्गधिजेतृत्वा-
 दिति भावः । जयाय सृष्ट्या सर्वभूजयनिमित्तं कृतयेत्यर्थः, पुरोहितैरिति शेषः ।
 श्रीराजनया वारारतिकया रराज सुशुभे दिशो विजित्य प्रत्मावृत्त विजिगीपु
 स्वपुरोहिताः मङ्गलसन्निधानाय श्रीराजयन्तीति प्रसिद्धिः । केचित्तु निजप्रतापैरिव
 जयाय सृष्ट्या जयाययेवेत्यर्थः । नोराजनया वारारतिकया ज्वलत् दीप्यमान भुवो
 बलय भूचक्र प्रदक्षिणीकृत्य प्रदक्षिण परिभ्राम्य रराज । तत्र ज्वलत्प्रनापानलो
 नानादिजैत्रयात्राया प्राच्यादिप्राक्षिण्येन भूमण्डल परिभ्रमन् निजप्रतापनीरा-
 जनया भूदेवता श्रीराजनयैव रराजेत्युद्देशा ध्वजकाचप्रयोगाद्गम्या । इति
 व्याचक्षते । तन्न मनीषीनम् निजप्रतापैरित्यस्य श्रीराजनयेत्यनेन सामानाधिक-
 रण्यात्तद्भूतेरिति ॥ १० ॥

अन्वयः—न राजघ अनल्पदग्धारिपुरानलोज्ज्वलैः निजप्रतापैर् ज्वलद्
 भुवः बलय प्रदक्षिणीकृत्य जयाय सृष्ट्या नोराजनया रराज ।

हिन्दी—द्यु राजाओं का हुता वह (नल) द्युओं की प्रभूत पुरियों को
 जलाइने वाले अग्नि से उज्ज्वल स्वकीय प्रतापपुज द्वारा जलते-दमकते
 भू-बलय (भूचक्र) की प्रदक्षिणा करके विजयाय प्रस्तुत धारारतिक—आरती से
 सुसोमित हुआ ।

टिप्पणी—राजा नल जब भी सामान्य द्युओं को नहीं, राजाद्युओं को
 जीतकर और उनके नगरों को धार-धार कर विजयी हो लौटता था, तब
 पुरोहितादि विजयो नरेण की आरती उतारा करते थे । 'भूबलय की प्रदक्षिणा'
 -से नर का समस्त पृथ्वी मण्डल का जेता होना घोषित है ।

'श्रीराजना' का अर्थ आरती तो है ही, राजाओं का अभाव करना भी

है—'राजामनाबो नीराज नीराजकरण नीराजना तथा ।' अर्थात् शत्रुघ्नो का विनाश करके नल सुयोधित होते थे । इसका अन्य अर्थ जल-क्षेपण भी है—'नीरम्य शान्त्युदकम्प्राजना क्षेपणया' अर्थात् स्वयंभुवसिधों द्वारा फेंके गये शान्तिमल्लि से राजा शोभित होता था । तृतीय चरण का अन्य प्रकार से पदच्छेद करके यह अर्थ भी लिया जाता है कि विष्णु-रूप राजा नल की अजया—लक्ष्मी नीराजना उतारती थी—'प्रकृष्टा दक्षिणा देया ते प्रदक्षिणा वदान्मा ते मन्ति यत्न स 'प्रदक्षिणी (प्रकृष्ट दान करने वाले अनुगत हैं जिसके, ऐसा राजा नल), जयवा प्रकृष्टदक्षिणा ज्योतिष्टोमादयो यन्म सन्धीति प्रदक्षिणी (अनेक ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का कर्ता), अतएव वृत्ती (कर्मकुशलः, पुण्यशीलो वा) अजया लक्ष्म्या काय विष्णवे सृष्ट्या नीराजना रेजे ।

'साहित्य-विद्याधरी—कर्ता इसमें अनुप्रास और लुप्तोपमा का निर्देश करते हैं । एक यह अर्थ भी किया जाता है कि ज्वलन्प्रतापनल से उज्ज्वल नल नाना दिशाओं के विनयनिमित्त मूमडल में परिभ्रमण करना मानों भू देवता की नीराजना उतारता था, इस प्रकार स्वजनादि का वनाश होने के कारण यहाँ गम्भीरप्रेक्षा है । मल्लिनाथ इसे समीचीन नहीं मानते, क्योंकि उनके अनुसार 'निवृत्तानं' और 'नीराजना' में सामानाधिकरण्य की संगति नहीं बैठती । यह कल्पना करने कि प्रतापनल द्वारा नीराजना हो रही है और शरिपुर उसकी बर्तिका है, यह उपेक्षा है कि उसी से राजा भू-बल्य की आरती उतारता है । इस प्रकार रूपक और उपेक्षा के अगाधिभाव के कारण यहाँ मकर है ।

निवारितास्तेन महीनलेऽखिले निरोतिभाव गमितेऽतिवृष्टयः ।

न तन्पुत्रुन्मनन्यमश्रया प्रतीपनृपालमृगोदृशा दृश ॥ ११ ॥

जीवानु—निवारिता इति । तेन नलेन यस्मिन् समये महीतले न सन्ति ईतनः अतिवृष्ट्यादयः यत्र तत्र निरोति, तस्य भाव तम् ईतिराहित्यमित्यर्थः । ईत्यशोक्ता यथा—'अतिवृष्टिरनावृष्टि शान्ता मूषिका क्षणाः । प्रत्यागन्नाथ राजान पडेता ईत्य स्मृता' ॥ इति । गमिते प्रापिते सति निवारिता स्वराष्ट्रात् निराहता इत्यर्थः । जतिवृष्टयं नन्वि अय सश्रय आश्रयं याता उपानुता ।

सत्या. प्रतीपभूपालाना प्रतिपक्षनृपतीना या मृगीदृश मृगनयना कान्ताः तासा
दृशः नयनानि न तस्यजु । नूर मन्ये इत्यर्थ । उत्प्रेक्षावाचकमिदं, तदुक्त दर्पणे
'मन्ये शङ्के घ्रुव प्रायो नूनमित्येवमादय । उत्प्रेक्षाव्यञ्जकाः शब्दा इवशब्दोऽपि
तादृश' इति । नलनिहतभर्तृका राजपत्न्य सतत दुरुदुरिति भाव ॥ ११ ॥

अन्वय—तेन असिले महीतले निरीतिमाव गमिते निवारिता अतिवृष्ट्य
अनन्यसद्यया नून प्रतीपभूपालमृगीदृशा दृश न तस्यजु ॥

हिन्दी—उस (राजा नल) के द्वारा समस्त पृथ्वीतल के निरीतिमाव
(जहाँ अतिवृष्टि, अनावृष्टि, टिड्डीदल, चूह, तोते और आक्रांत शत्रुनृप—य
छ ईतियाँ न रहे) को प्राप्त करा दिये जान पर प्रतिरोध (रोक) प्राप्त
अतिवृष्टियों ने अन्यत्र आश्रय न पाकर निश्चय ही शत्रु-राजाश्री की मृग-
नयनाश्री के नेत्रों को नहीं तजा (रिपुनाशियों को आँखों में सदा का बसरा
कर लिया) ।

टिप्पणी—भाव यह है कि राजा नल पुण्यात्मा सदाचरण और महान्
पराक्रमी था । न तो उसके कारण इस धरती पर अतिवृष्टि आदि आपदाएँ
रह गयी थी और न अन्य राजागण उस पर आक्रमण का ही साहस कर पाते
थे, सभी शत्रुओं को उसने पराजित कर दिया था, अतएव अतिवृष्टि आँसुआ के
रूप में सदा रिपुनाशियों के नेत्रों में जा बसी थी ।

'नूनम्'—इस उत्प्रेक्षाबोधक शब्द से स्पष्ट है कि यहाँ उत्प्रेक्षा श्लकार
है । 'प्रकाश'-कारने प्रतीपभूपालमृगीदृशाया के नेत्रों से निरंतर अथु प्रवाह के
आधार पर यह भाव लेकर कि नल ने सभी दुष्ट भूपालों का विनाश कर दिया,
यहाँ 'पर्यायोक्त' श्लकार माना है, क्योंकि गम्य का अर्थ प्रकार से कथन
पर्यायोक्त है—'गम्यस्यापि मद्गम्यतरेणाश्रयान पर्यायोक्तम् ।' साहित्य विद्या-
धरी के अनुसार 'अतिवृष्टया न तस्यजु'—इस कथन के आधार पर यहाँ
अतिशयोक्ति है ।

सिताशुवर्णैर्वयति स्म तद्गुणैर्महासिवेम्नस्महृद्वरी बहुम् ।

शिवगङ्गाङ्गाभरण रणाङ्गणे यशपट तद्भूटचातुरी तुरी ॥ १२ ॥

जीवानु—सिताश्रित । महान् अश्विरेव वेमा वायदण्ड 'पृथि वेमा

बाददण्ड' इत्यनरः । तस्य सहस्रवरी महकारिणी 'सहे चे त्रि कगेते' क्वदिनु-
 प्रन्वयः । 'वनो र चे'ति डीन् रञ्ज । तस्य नलस्य नटाना संनिकाना यद्वा स
 नल एव नटः वीर तस्य चानुरो चतुरता नैनुभ्यनति यावत् एव तुरी वपन-
 साधन वन्तुविधेय इत्यर्थं । 'माकु' इति प्रसिद्धा, रम एव अङ्गनं चत्वर तस्मिन्
 निताशुवर्गैः शुभ्रैरित्यर्थं, तस्य नलस्य गुणं शोभ्यांशिनः तन्तुनिश्च दिश एव
 अङ्गनाः तासाम् अङ्गान्तरणम् जङ्गनूयाम् । 'अङ्गान्तरणमिति पाठे अङ्गाच्छा-
 दन बहु षण् एव पठः वसन त वयति रन तजान । साङ्गहनकनलङ्कारः ।
 संग्रामे तथा नैनुभ्यननेन प्रकृष्टत यथा तेन सर्वो दिशो यद्यथा प्रचरता इति
 भावः ॥ १२ ॥

अन्वय — महाशिवेन सहस्रवरी तद्वन्तचातुरीतुरो निताशुवर्गैः तदुत्त-
 रणाङ्गनां बहुम् शिङ्गनाङ्गान्तरणम् यथा पठ वयति म् ।

हिन्दी—महाशु वृणाप ह्य वपन काठ (बुतने का लकड़ी का बना मक्-
 विधेय) की सहकारिनी उस नल योद्धा (अथवा उस नल के सैनिकों) की
 चतुरता रूपी तुरी (बुतने का दूधरा पत्र, जिसमें बाने का सूत भर बाठा है
 अथवा बुतकरों की कूची) चरना के समान शुभ्रवर्णों के उस (नल) के गुण
 (शौर्य, जोशयं आदि) ह्य तुनों (सूत के धातों) ने रमनूमि में शिक्-
 सुन्दरियों को सोहने बाधा प्रचुर यत् ह्य वस्त्र बुना करनी थी ।

टिप्पणी—नाशार्थ यह है कि महाशु शूर और पराक्रमी राजा नल विधिष्ट
 वृणाप प्रयोग कर्ता था, तलवार चलाने की कला द्वारा उसने अपनी सभी
 शत्रुओं को चतुर्दिक् परास्त कर दिया था और सब ओर उसकी कीर्ति का
 विस्तार हो गया था ।

दुन्दर के वपनयंत्र तुरी से नल की 'चातुरीतुरो' विनिष्ट है, क्योंकि
 यह जनेक वस्त्र एक साथ बुनती है, जत नाशयम पहिल के अनुया यहाँ
 व्यतिरेक जलकार है । 'गु' अन्त यत् शिष्ट है और 'महाशि' में 'विम'
 'चातुरी' में 'तुरी' और 'यश' में 'पठ' का स्मारोप है, जत साहित्यविद्यापय
 के अनुसार यहाँ श्लेष और रूपक है ॥ १२ ॥

प्रतीपनूपैरिव कि ततो निशा त्रिन्दुधर्मरपि नैनूनोजिता ।

असिन्नजिम्बिन्नजिदोजय स असिन्नकारदृक्कारदृक्कारजत ॥ १२ ॥

जीवातु—प्रतोपेति । प्रतीपां प्रतिकूला भूया राजान तं विरुद्धधर्म
 असमानाधिकरणधर्मे विपरीतवृत्तिभिरित्यर्थः, अपि तत नलात् भिया मयेनेव
 हेतुना भेत्तुता स्वाश्रयभेदकत्व परोपजाप इत्यर्थः । उज्जिता त्यक्ता किम् ? यद्
 यस्मात् स नल ओजसा तेजसा अमित्रात् शत्रून् जयतीति तपोक्त मित्र सूर्यं
 जयतीति तथामुत । अत्र य खलु अमित्रजित् स कथ मित्रजिदिति विरोधाभास ,
 परिहारस्तु पूर्वमुक्त । तदा विचारेण पश्यतीति विचारदृक् चारे गूढपुष्टै
 पश्यतीति चारदृक् । 'राजानश्चारचक्षुष' इति, 'चारे पश्यन्ति राजान' इति
 च नीतिशास्त्रम् । अत्रापि यो विचारदृक् स कथ चारदृग् भवतीति विरोधाभास ,
 परिहारस्तु पूर्वमुक्त । अवर्तित आसीत् । अपि विरोधे । मूष्यतेजस चारदृशश्च
 नल ज्ञात्वा शत्रवो भयात् परस्परपजातादिवैरभाव तस्यजुरिति भावः । अत्र
 विरोधोऽपेक्षयोरङ्गाङ्गिभावः ॥ १३ ॥

अन्वयः—किंभिया प्रतीपमुपे इव विरुद्धधर्मे अपि तत भेत्तुता उज्जिता ?
 यत् स ओजसा अमित्रजिद् (अपि) मित्रजित्, विचारदृक् अपि अविचारदृक्
 अवर्तितः ।

हिन्दी—क्या डर से शत्रुओं के सहज परस्पर विरोधी धर्मों ने भी उस
 (नल) से भेद भाव छाड़ दिया था ? क्योंकि वह अपने तेज के कारण अमित्र
 जेता (शत्रुजयी आर सूर्य को न जीतने वाला) होकर भी मित्रजेता
 (मित्रजयी और सूर्यजयी) था और विचारदृक् (विवेक अथवा गुप्तचरों के
 द्वारा सूचना पाने वाला 'चारचक्षु') हाकर भी अविचारदृक् (अविवेकी और
 अचारचक्षु) था ।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'विरोध' अलंकार है । अमित्रजित् (सूर्य का
 शत्रुजेता) होकर भी कोई मित्रजित् (सूर्यजयी) कैसे हो सकता है ? विरोध
 के परिहारार्थ अर्थ द्वारा शत्रुओं को जीतने वाला होकर भी तेज से सूर्य का
 जेता था, अर्थात् सूर्य से भी अधिक तेजस्वी था । इसी प्रकार विचारदृक्
 (विवेकी) होकर भी राजा अविचारदृक् (अविवेकी) कैसे हो सकता है ?
 परिहारार्थ है, राजा विवेकी था और गुप्तचरों द्वारा प्राप्त समाचारों के आधार
 पर सारा सारा हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष करता था । यत्किनापि के अनुसार यहाँ

विरोध—उत्प्रेक्षा का संकर है। कुछ टीकाकार 'इव'—प्रयोग से उपमा—
उत्प्रेक्षा—विरोध का संकर मानते हैं ॥ १३ ॥

तदोजसस्तद्यग्मः स्थिताविमौ वृथेति चित्ते कुस्ते यदा यदा ।

तनोति मानो परिवेषकैतवात्तदा विधिः कुण्डलना विधोरपि ॥१४॥

जीवानु—तदिति। तस्य नलस्य ओज तेज प्रताप इत्यर्थं, तस्य तथा तस्य
नलस्य यशस्य स्थिता सत्तायाम् इमौ मानुविषूष्या निरर्थकौ इति चित्ते यदा यदा
कस्ते विवेचयतीत्यर्थं, विधि तदा तदा परिवेष परिधि 'परिवेषस्तु परिधि-
रूपमूर्ध्वमङ्गले' इत्यमरः। एव कंतव छल तस्मात् मानो, सूर्यस्य विधोरपि
चन्द्रस्य च कुण्डलनाम् अतिरिक्ततानुषङ्गवेष्टनमित्यर्थं, करोति अधिकाक्षर-
वर्जनार्थं लेखकादिवदिति भावः। विजितचन्द्राकौ अस्य कीर्तिप्रतापो इति
तात्पर्यम्। अत्र प्रकृतस्य परिवेषस्य प्रतिषेधेन अप्रकृतस्य कुण्डलनस्य स्थापनात्
अपह्नुतिरलङ्कारः, तदुक्तं दर्पणे 'प्रकृत प्रतिषिद्धयान्वस्थापन स्यादपह्नुति'-
रिति। प्राचीनास्तु परिवेषमिमेण मूर्ध्याचन्द्रमसो कुण्डलनोत्प्रेक्षणात् सापह-
नोत्प्रेक्षा। सा च गम्या व्यञ्जकाप्रयोगादित्याह ॥ १४ ॥

अन्वयः—तदोजस तद्व्यशस इमौ वृथा स्थिता इति विधि यदा चित्ते
कुस्ते, तदा परिवेषकैतवात् मानो विधो अपि कुण्डलना तनोति।

हिन्दी—राजा नल के तेज और यश के रहते ये दोनों (सूर्य, चन्द्र)
व्यर्थ हैं—विधाता जब-जब यह मन में करता (विचारता) है, तब-तब परि-
वेष (गोलधरा, जो कभी सूर्य-चन्द्र के चारों ओर दीख पड़ता है) के व्याज
से सूर्य और चन्द्र पर कुण्डलना (व्यर्थतामूचके रेखामङ्गल) बना देता है।

टिप्पणी—नल के तेज के रहते सूर्य निःप्रयोजन है और यश के रहते
चन्द्रमा। अर्थात् नल सूर्य से अधिक तेजस्वी है और चन्द्रिका से अधिक आह्ला-
दिका ठसकी कीर्ति है। विधि द्वारा सूर्य-चन्द्र पर कभी-कभी दीखनेवाली
कुण्डलना छींच देना—प्रतिपादित करके कवि ने यही उत्प्रेक्षा की है। प्रकृत
परिवेष के अप्रकृत कुण्डलना-व्ययन के आधार पर यहाँ अपह्नुति अलंकार है,
साहित्यविद्याधरी का भी यही स्थापना है। प्राचीन व्याख्याकारों ने यहाँ साप-
ह्नुता गम्या उत्प्रेक्षा मानी है ॥ १४ ॥

अयं दरिद्रो भवितेति वैधसो लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतोम् ।

मृपा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपं प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नृपं ॥१५॥

जीवानु-अस्य वदान्यतां द्वाभ्यां वर्णयति-अयमिति विभज्येति च । अल्पित-
अल्पोकृतं निजितं इति यावत्, दानशीलत्वादिति भावः, कल्पपादपं अल्पतरु-
वाञ्छितफलप्रदवृक्ष इति यावत्, येन तयाभूतं स नृप दारिद्र्यस्य अभावस्य
निर्घनत्वस्य इति यावत्, दरिद्रतां अभावमिति यावत्, प्रणीय कृत्वा दरिद्रेभ्यः
प्रभूतघनदानेन तेषां दारिद्र्यम् अपनीयेति भावः । अयं दरिद्रः अभाववानिति
यावत्, भविता इति अर्थिजनस्य याचकजनस्य ललाटे जाग्रतो दीप्यमानामिति
यावत्, वैधस इयं वैधमीता लिपिं मृपा मिथ्या न चक्रे न कृतवान् । विधातुलिपौ
सामान्यतः दरिद्रशब्दस्य श्वितौ दरिद्रशब्दस्य यथायथं घनदरिद्रं, पापदरिद्रं,
ज्ञानदरिद्रं इत्यादिप्रयोगदर्शनात् अभावमात्रबोधकत्वमङ्गीकृत्य राजा दरिद्राणां
घनाभावरूपं दारिद्र्यमपाचकार इति निष्कर्षः ॥ १५ ॥

अन्वयः—अल्पितकल्पपादपं नृप दारिद्र्यदरिद्रतां प्रणीय 'अयं दरिद्रः
भविता'—इति अर्थिजनस्य ललाटे जाग्रतो वैधसो लिपिं मृपा न चक्रे ।

हिन्दी—कल्पवृक्ष को भी (स्वदानशीलताधिक्य से) छोटा बना देनेवाले
उस राजा ने दारिद्र्य का भी दरिद्र बनाकर 'यह दरिद्र हागा'—इस याचको
के ललाट पर जाग्रतो दीपतो विधाता की लिपि को झूठी नहीं किया ।

टिप्पणी—कल्पवृक्ष याचक को देता है, किन्तु नल अयाचकों को भी
देता था, इस प्रकार उसके सम्मुख कल्पवृक्ष भी छोटा पड़ गया और इस प्रकार
दरिद्रों के माल पर विधाता की लिखी लिपि झूठी नहीं पड़ी, माल पर लिखी
दरिद्रता ही दरिद्र बन गयी मिटकर । अथवा 'काङ्क' मानकर यह अर्थ भी
हो सकता है कि विधि लेख को प्रभूतदान के द्वारा झूठा कर दिया । भाव यह है
राजा नल इतना दानी था कि भूमण्डल पर दरिद्रता का नाम भी नहीं रह गया था ।
इस तथा अगले पद्य में भी राजा की दानशीलता का वर्णन किया गया है ॥१५॥

विभज्य मेघर्षं यदर्थिमात्कृतो न सिन्धुस्रसर्गजलव्ययेर्मह ।

अमानि तत्तेन निजायशोयुगं त्रिफालवद्धाधिचक्रुराशिशरस्स्थितम् ॥१६॥

जीवानु-विभज्येति । मेघ हेमाद्रि विभज्य विमत्तीकृत्य अधिसात् अधिभ्या
देयं न कृतं अर्थिने देयमिति 'देयं वा चे'ति सातिप्रत्ययः । सिन्धु समुद्रः

उत्सर्गब्रह्मणा व्ययं दानाम्बुप्रसेरैः नरु निजलदेशं न कृत इति यत् तत् तन्मात्
 तेन नलेन द्विचालब्रह्माः इतो फलमोः शिरपास्त्रमो बद्धा रगिता इति भावत्,
 फलतेविशरपायै अत्रप्रथमः । विनामिना पुना संनन्तितगिरोरुहत्वात् चिकु-
 रापा द्विचालब्रह्मत्वमिति भावत्, द्विचाल विमत्ता इति भावत् । चिकुरा केशा
 'चिकुर कुन्तलो बाल च्च केश शिरोरुह' इत्यनर शिरःस्थित मन्त्रकवृत्त-
 निति भाव , निजं न्योयम् अयसोपुगाम् अन्कीर्तिद्वय पूर्वोक्तैरविमानिगु-
 जलव्ययाकरगजनिमित्तमिति भाव । अनानि केशरूपेण द्विचालस्थित स्वगिरति
 अयसोपुगामेव त्रिगुति इति जनन्यत इत्यर्थः । जयशानः पापलान्त्वात् कृष्णवर्ण
 कविमनमनिदम् 'तना च मालिन्य व्योम्नि पापे' इत्यादि । उद्देशविषयरूप
 वर्णद्वयम् । केशेषु काव्यंभाम्यात् जयसोरुपगमिति व्यन्तरूपकम् ॥ १६ ॥

अन्वयः—यत् मेह विमन्त्र्य अयिसार् न कृतः सिधु उत्सर्गब्रह्मणः मेहः
 न कृत (अथवा मेह उत्सर्गब्रह्मणः सिधुः न कृत), तत् तेन द्विचालब्रह्माः
 चिकुराः शिरः स्थित निजामशोनुगम् अनानि ।

हिन्दो—जो कि मुनेशगिरि को खण्ड-खण्ड करके टाचकों के अंगीन नहीं
 कर दिया, और दानार्थ जल उगीचते-उलीचते समुद्र को मरम्यल नहीं बना
 दिया (अथवा दानरत्न से मरम्यल को समुद्र नहीं बना दिया) तो उद्य (तल)
 ने (बीच में माँग निकाल कर काटे गये) दोनों ओर करके नौबारे गये अपने
 केशों को अपने शिरःस्थित—शिरोगाय—अयस के प्रतीकरूप स्वीकार्य ।

टिप्पणी—कवि का भाव यह है कि क्लृप्तसे से जो अधिक टाचकों को
 इच्छा पूर्ण करने पर तो नरु की इच्छा भरी नहीं थी, वह अनूतपूर्व दान करना
 चाहता था, जो न कर सकने के कारण अपने को असंतुष्ट मानता था ।

काले केशों की समता कविमनमन्वीकृत जयस से होने के कारण मल्लि-
 नाथ ने यहाँ व्यन्तरूपक माना है । केशों की केशता का नियंत्रण करके उन्हें
 अयसोन्म मानने की कल्पना के कारण साहित्यविद्याधरो-कार इस श्लोक में
 अहनुति मानने है ॥१६॥

अत्रत्रमन्थानमुनेपुगा सम मुदेव देवः कविना बुधेन च ।
 दधौ पटोमान् समर्ष ननत्रय दिनेस्वरश्रोदय दिने दिने ॥ १७ ॥

जीवातु—अस्य विद्वज्जनसम्माननामाह—अजस्रमिति । दिनेश्वररयेव श्रीर्यस्य, अन्यत्र दिने ईश्वरस्येव श्री यस्य तथाभूत पटीयान् समर्थतर अय देवो राजा सूर्यश्च 'देव सूर्ये यमे राज्ञी'ति विश्व । अजस्र सततम् अभ्यास सान्निध्यम् उपेयुषा प्राप्तवता सहचारिणा इति यावत्, 'उपेयिवाननाश्वाननुचानश्चे'ति निपात । कविना काव्यशास्त्रविदा पण्डितेन शुक्रेण न बुधेन विदुषा धर्मशास्त्रादिदर्शनेति भाव, सौम्येन च सप्त सह मुदैव आन-देर्नव न तु द्रुक्षेनेत्येवकारार्थं समय नयम् अतिवाहयन् दिने दिने प्रतिपादनम् उदयम् अम्बुप्रतिम् आविर्भाववच्च दधौ धारयामास । अत्र श्लेषालङ्कार ॥ १७ ॥

अन्वय —दिनेश्वरश्री परीयान् अय देव अजस्रम् अभ्यासम् उपेयुषा कविना बुधेन च सप्त मुद्रा एव समयं नयन् दिने दिने उदय दधौ ।

हिन्दी—दिनपति (सूर्य) की सोभा धारण करना, बुद्धिमान् यह राजा नल निरन्तर काव्याभ्यास करते कवि शुक्राचार्य और विद्वान् वैयाकरण बुध के साथ सान्निध्य समय व्यतीत करते हुए प्रतिदिन उसी प्रकार अम्बुदय प्राप्त करता रहा, जिस प्रकार दिनेश्वर श्री सूर्य कवि शुक्र ग्रह और बुध (चन्द्रतमय) ग्रह के साथ प्रभात, मध्याह्न, संध्या आदि का विधान करता, तेज विकीर्ण करता, प्रतिदिन उदित होता है ।

टिप्पणी—राजा काव्य, शास्त्रादि-परिशीलनकर्ताओं के साथ समय व्यतीत करता था, अतएव उसका अम्बुदय हो रहा था । ज्योति शास्त्र के अनुसार उदय होते सूर्य के साथ शुक्र और बुध रहा करते हैं—'बुधशुक्रौ सदा पूर्वोत्तर-राशिस्यौ ।

साहित्यविद्याधरो के अनुसार यहाँ उपमा-श्लेष-सहोवित्त अलंकार हैं । दिनेश्वरस्य श्रीरिव श्रीर्यस्य स —ऐसा विग्रह करने पर यहाँ निदर्शना अलंकार है और बुध, कवि द्वयर्थाची हैं, अत श्लेष भी है । इस प्रकार निदर्शना श्लेष का सकर है ॥ १७ ॥

अथो विधानात् कमलप्रवालयोश्शिरस्सु दानादखिलक्षमाभुजाम् ।

पुरेदमूर्ध्वं भवतीति वेधसा पद किमस्याङ्कितमूर्ध्वरेखया ॥ १८ ॥

जीवातु—अथ इति । कमलप्रवालयो पद्मपल्लवयो कर्मभूतयो अथो-विधानात् अथ करणात् न्यक्तरणादिति यावत् । तथा असिलाना सर्वेषा

सनाभुजा प्रतिभूलवत्तिना राजा शिरःसु दानात् विधानात् इदम् अस्य नलस्य पदम् ऊर्ध्वम् उत्कृष्टम् ऊर्ध्वंस्थितश्च पुरा भवति नविष्यतीत्यर्थं । 'यावत्पुरा-निपातयोर्लट्' इति पुरासञ्चयोगात् नविष्यदर्थे लट् । इति इदं मत्वा इति शेषः, गम्यमानार्थत्वादप्रयोगः । वेधना विधाशा कर्त्ता ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं चिह्नितं किम् ? 'ऊर्ध्वरेखाङ्कितपदं सर्वोत्कर्षं नञेत् पुमानिति सामुद्रिका । सौन्दर्य-सुलक्षणान्या युक्तमस्य पदमिति भावः ॥ १८ ॥

अन्वयः—कमलप्रवालद्वी अघोषिधानात् अखिलज्ञमाभुजा शिरस्सु दानात् अस्य पदम् ऊर्ध्वं पुरा भवति—इति वेधना इदम् ऊर्ध्वरेखया अङ्कितं किम् ?

हिन्दी—कमल द्वीर प्रवाल को नीचा करने और समस्त पृथ्वीपतियों के शिरों पर स्थित होने के कारण इस (नल) का चरण आगे चलकर ऊँचा रहेगा—मान्य होगा, इसी कारण बना विधाता ने उसके चरण को ऊर्ध्व रेखाओं से पहले से ही चिह्नित कर दिया था ।

टिप्पणी—सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार चक्रवर्ती के चरण में ऊर्ध्व रेखाएँ अंकित होती हैं, वे नल के चरण में भी थी, उसी पर यह कवि की कल्पना है—सम्भावना, अतः स्पष्टता उत्प्रेक्षा है ॥ १८ ॥

जगज्जय तेन च कौशमक्षय प्रणीतवान् शैशवशेषवानयम् ।

सन्वा ग्तीगम्य ऋनुर्मुधा वन वधुन्नथालिङ्गदयान्य यौवनम् ॥ १९ ॥

जीवातु—अयं अन्वय यौवनागमं ऋणेण वषंयति—जगदित्यादिभिः । अयं नल शैशवशेषवान् शैशवशिष्टशैशव एवेत्यर्थः । जगता अयं तेन च जनेनेत्यर्थः । कौशमक्षयप्रणीतवान् अक्षय प्रणीतवान् कृतवान् । अयानन्तरं रतीशस्य कामस्य सखा ऋतु वसन्त इत्यर्थः । वनं यथा यौवनम् अस्य नलस्य वपुः शरीरं तथा जालिङ्गवत् सदिलिष्टवत् । उपमात्कारः ॥ १९ ॥

अन्वयः—शैशवशेषवान् अयं जगज्जय तेन च कौशम् अक्षयं प्रणीतवान्, अयं रतीशस्य सखा ऋतु यथा वनं तथा यौवनम् अस्य वपुः अलिङ्गवत् ।

हिन्दी—जिसकी बाल्यावस्था कमो शेष है—अर्थात् पोष्टवर्षीय इस (नल) ने अपत् विजय करके अपने कोय को अक्षय बना दिया, अनन्तर जैसे रतिपति काम का सखा ऋतु वसन्त वन में जाता है, वैसे ही यौवन ने इसके शरीर का आलिङ्गन किया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि यह बताना चाहता है कि नल ने जीवन आने से पूर्व ही नगद्विजय करके अपना मण्डार अक्षय बना लिया । उपमा ॥१९॥

अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ?
तदास्यदाम्येऽपि गताऽधिकारिता न शारद पाविकशर्वरीश्वर ॥ २० ॥

जीवानु-अधारोति । तस्य नलस्य अङ्घ्रिणा चरणेन पद्मेषु घृणा अवज्ञा 'घृणा जगुष्माकृपयोरिति विश्व । अपारि घृता । पल्लवे नवकिसलये तस्य नलस्य शय पाणि 'पञ्चशाख शय पाणि'रित्यमर । तस्य छाया तच्छय-यच्छाय 'विभाषे'त्यादिना समाप्ते छायाया नपुमकत्वम् । तस्य लवो लेशोऽपि क्व ? नैव लेशोऽस्तीत्यर्थं । शरदि भव शारद शरत्कालीन इत्यर्थं । सविध-वेलाद्यनुनक्षत्रेभ्योऽणुप्रत्यय । पर्वणि पूर्णमास्या भव पाविक' । 'पावणे'ति पाठान्तर कालादृक् 'नस्तद्धित' इति टिलोप । स च अग्री शर्वरीश्वरश्चेति तयोक्त पूर्णचन्द्र इत्यर्थं । तस्य नलस्य यत् आस्य मुख तस्य दासे कङ्कयैऽपि अधिकारिता न गत न प्राप्त । एतेनास्य पाणिपादवदनानामनोपम्य व्यज्यते । अत्र अङ्घ्रिपादीना पद्मादिषु घृणाद्यन्मन्वेऽपि सम्ब-योक्ते अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥ २० ॥

अन्वय —तदङ्घ्रिणा पद्मेषु घृणा अधारि, पल्लवे तच्छयच्छायलव' अपि क्व ? शारद पाविकशर्वरीश्वर तदास्यदास्ये अपि अधिकारितां न गत ।

हिन्दी—उमके चरण ने पद्मों के प्रति घृणा अवज्ञा दया या उपेक्षा का भाव दिखाया और पल्लव में तो उसके हाथ की कांति का लेश भी नहीं था ? शरत्पूणिमा का निशानाथ उसके आनन की दासता का भी अधिकारी नहीं पाया ।

टिप्पणी—नल के अर्गों का वर्णन करते कवि ने उमके चरण, हस्त और मुख के सम्मुख उनके उपमानों पद्म, पल्लव और शारदी पूर्णमा के चन्द्र की हीनता प्रतिपादित की है, इस दृष्टि से यहाँ 'प्रतोप' अलंकार है, अनुप्रास की छत्रा भी है । माहित्यविद्याधरीकार छेकानुप्रास के साथ साकूठ विरोपणों से युक्त उक्ति होने के कारण परिवर भी मानते हैं और इस प्रकार अनुप्रास परिवर की समृष्टि । अङ्घ्रि आदि का पद्म आदि से घृणादि का सम्बन्ध न होने पर सम्बन्ध बड़े जाने के कारण जीशतुकार यहाँ अतिशयोक्ति मानते हैं ॥२०॥

किमन्य रोम्णाङ्घ्रिपटेन कोटिभिर्विधिर्न रेखाभिरजीगणद् गुणान् ।
न रोमकूपौघमिषाञ्जान्कृता कृताश्च किं दूषणशून्यविन्दवः ? ॥ २१ ॥

जीवातु—विनिनि । विधिर्विधाता जस्य नलस्य गुणान् रोम्णा ऋपटेन
व्याज्जेन कोटिभि कोटिसुव्यानि रेखाभि न अजीगणत् न गणितवान् किम् ?
अनितु गणितवानेवेत्यर्थं तथा जान्कृता, कृता विधिनेत्यर्थं । रोम्णा कृपा
विवरानि हेतान् ओघं सप्त एव निय व्याज तस्मात् । दूषणाना दोषाणा
शून्यस्य अनावस्य विन्दव जापदचिह्नभूता वर्तुलरेखा न कृता किम् ? अनि
तु कृता एवेत्यर्थं । अस्मिन् गुणा एव सन्ति, न कदाचित् दोषा इति नाव ।
अत्र रोम्णा रोमकृपाणाञ्च कसटमिषाञ्जान्नाम् अरह्णवे दुर्गगणनालेखत्वदूषण-
शून्यविन्दुत्वशोद्रेक्षात् सापह्नवोद्रेक्षयो सृष्टिः ॥ २१ ॥

अन्वय —विधि अस्य गुणात् रोम्णा ऋपटेन कोटिभि रेखाभि न अजी-
गणत् किम् ? अगन्तुजा रोमकृपामिषात् दूषणशून्यविन्दव न कृता किम् ?
(अपि तु कृता एव) ।

हिन्दी—विधाता ने रोजों के बहाने करोड़ों रेखाओं द्वारा क्या इसके
गुणों को गणना नहीं की ? अपितु गणना ही की । सवार बनानेवाले ने रोम-
कृपा के व्याज से क्या दोषानावमूचक शून्य नहीं बनाये ? अपितु बनाये ।

टिप्पणी—राजा के नृप अनन्त, असह्य ये, सो विधाता उनकी गिनती में
समयन हो पाया, अत्र मूविधा के लिए सत्तने नल के शरीर में गणनानूचक
रोम बना दिये और दोषों के अनाव की नूचना के निमित्त रोमकूप रूपशून्य
बना दिये । यहाँ 'कपट' और 'मिष' शब्दों के प्रयोग द्वारा नियेव सूचित किना
गया और अन्य सम्भावना की गयी, अत्र अरह्णविन्दुत्वशोद्रेक्षा की सृष्टि है । यह
वाँन सामुद्रिक शास्त्रानुसारी है ॥२१॥

अमुष्य दोन्वामरिदुर्गलुफ्ठने ध्रुव गृहीतागलदीर्घपीनता ।
उरःश्रिया तत्र च गापुरम्फुरन्कपाटदुर्धर्षनिरप्रसारिता ॥ २२ ॥

जीवानु—जमुष्येति । अमुष्य नलस्य दोन्वा नृजान्मा कर्तुंन्याम् अरि-
तुर्गलुफ्ठने अनुदुर्गमञ्जने अगलस्य कपाटप्रिक्मभशहविशेषस्य 'तद्विज्मोऽ-
गल न ना' इत्यमरः । दीर्घश्च पीनश्च तपोर्माव दीर्घपीनता आयतपीवरत्व-

मित्यर्थं', किञ्चेति चार्थं ! उरस वक्षस श्रिया लक्ष्म्या कर्पा तत्र अरिदुर्ग-
लुण्ठने गोपुरेषु पुरद्वारेषु 'पुरद्वारन्तु गोपुरमि'त्यमर । स्फुरता राजता क्वा-
टाना दुर्धर्षाणि च तानि तिरप्रसारीणि च तेषा भाव -तत्ता अप्रघृष्यत्व
तिय्यं प्रसारित्वञ्चेत्यर्थं । गृहीता ध्रुवम् अवलम्बिता किम् ? ध्रुवमित्युत्प्रे-
क्षाव्यञ्जकम् । तदुक्तं दर्पणे 'मन्ये शङ्के ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादय । उत्प्रेक्षा-
व्यञ्जका शब्दा इव शब्दोऽपि तादा' इति । दीर्घवाहू क्वाटवक्षाश्चायमिति
भाव ॥ २२ ॥

अन्वयः—अमुष्य दोर्म्याम् अरिदुर्गलुण्ठने अर्गलदीर्घपीनता तत्र उर-
श्रिया च गोपुरस्फुरत्क्वाटदुर्धर्षतिर' प्रसारिता ध्रुव गृहीता ।

हिन्दी—उसके बाहुयुग्म ने शत्रुओं के दुर्गों को लुण्ठित करते अर्गलों की
दीर्घता और स्थूलता और वही वक्ष की घोषाने नगरद्वारों पर छिन्ते किवाडों
की दृढ़ता और विशालता का मानो ग्रहण किया था ।

टिप्पणी—नल की भुजाएँ लम्बी और पुष्ट थी—आजानुबाहु था वह,
और छाती दृढ़ तथा विशाल वक्ष स्थूल था, कवि ने इसी भाव का प्रतिपादन
करने के निमित्त यह 'उत्प्रेक्षा' की है । साहित्यविद्यापीठकार ने यहाँ उत्प्रेक्षा
और उपमा माने हैं ॥२२॥

स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो निजाशदृक्त्तजितपद्ममम्पद ।

अतद्वयीजित्वरमुन्दरान्तरे न तन्मुखस्य प्रतिमा चराचरे ॥ २३ ॥

जीवातु—स्ववेलीति । स्वस्य केलिलेश विलासविन्दुर्यंत् स्मित मन्दह-
सित तेन निर्दिष्ट तिरस्कृत इन्दुचन्द्र ये तथोक्तस्य स्मितरूपकिरणेन
निर्जितशीतागुममूक्षस्येति भाव । निजांश स्वानयव यद्वा नेत्र तथा तजिता
निर्मलसिता पद्माना सम्पद् सौभाग्य येन तथाभूतस्य तन्मुखस्य नलमुखस्य
तयोश्च रूपस्यो द्वयी तस्या जित्वर जयशील ततोऽधिकमिति भावत् मुन्दरा-
न्तर नास्ति, यत्र तथाविधे चराचरे जगति 'चराचर स्माञ्जगदि'ति विश्व ।
प्रतिमा उपमान न आसीदिति शेष । अत्र चन्द्रारवि-द्वयवविशेषणनया मुखस्य
निरोपम्यप्रतिपादनात् पदायहेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कार । तदुक्तं दर्पणे—
'हृनीर्वाक्यपदायंश्वे काव्यलिङ्ग निगद्यते' इति ॥ २३ ॥

अन्वय — स्वकेलिलेशस्मितनिर्जितेन्दुनो निजाशदृक्त्तजितपद्ममम्पद तन्मु-
खस्य अतद्वयीजित्वरमुन्दरान्तरे चराचरे प्रतिमा नास्ति ।

हिन्दी — अपने क्रीडाविलास की अशमान मुमकान से चन्द्रमा को जीतने-वाले या निन्दायोग्य प्रमाणित करनेवाले तदा अपने अद्यनेत्र से पद्म-शोभा के जेना उनके मुख की उन दोनों (चन्द्र और पद्म) का जीत करने वाले अन्य पदार्थ में शून्य जड चेतनमय समार में और कोई उपमा नहीं थी ।

टिप्पणी—नल के मुख नेत्र के साम्य में जगत् की दो ही वस्तुएँ रखी जा सकती थी—चन्द्र और पद्म । वे दोनों तो उनके सौन्दर्य में पराजित हो गये, अतः अन्य उपमान के अभाव में राजा नल का मुख चराचर समार में अप्रतिम ही रहा । अनुपम, अद्वितीय मुख के चन्द्र पद्म-विजयी होने से निरुपम कहे जाने के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ पदार्थहेतुत्व काव्यनिग अलंकार माना है, किन्तु उपमानों के तिरस्काररूपन के आधार पर साहित्यविद्याधरो-कार के अनुसार यहाँ प्रतीप अलंकार है ॥२३॥

मरोरुह तस्य दृष्ट्वा तजितं जिता स्मितेनैव विधोरपि श्रियः ।

कुत्र परं भव्यमहो महोयसो तदाननस्योपमिती दरिद्रता ॥ २४ ॥

जीवातु—उत्तार्य भङ्गमन्तरेणाह—मरोरुहमिति । तस्य नलस्य दृष्ट्वा नयनेनैव मरोरुह पद्म तजितं ग्यकृतम् । स्मितेनैव विधोरचन्द्रस्य श्रियः कान्तय अपि जिता तिरस्कृता परम् अयत् आम्नामिति शेषं भव्य रम्य वस्तु कुत ? न कुत्राप्यस्तीत्यर्थः । अहो आश्चर्यं तस्य नलस्य यत् ज्ञानन मुख तस्य उपमिती तोलने महोयसो अतिमहती दरिद्रता अभाव अत्यन्तभाव इत्यर्थः । सर्वथा निरुपमस्य मुखमित्याश्चर्यम् । अत्र वाक्यार्थहेतुत्व काव्य-लिङ्गमलङ्कारः ॥ २४ ॥

अन्वय —तस्य दृष्ट्वा एव मरोरुह जिता स्मितेन एव विधो अपि श्रिय जिता , परं भव्य कुत ? अहो, तदाननस्य उपमिती महोयसो दरिद्रता ।

हिन्दी—उसके नेत्र ने ही कमल-पद्म को जीत लिया, मद्रस्मित ने ही चन्द्र की शोभाएँ भी जीत लीं ! इन दोनों से सुन्दर और कहाँ कुछ है ? हाय, उसके मुख की उपमा देने में (कविगण की) भारी दरिद्रता है ।

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक के भाव को और चमत्कारी बनाते हुए कवि ने मह्यपतर से मुख-शोभा का वर्णन किया है, मुख के उपमानस्वरूप प्रसिद्ध पद्म-चन्द्र मुखास से ही विजित हैं, मुख की तुलना कंस हो ?

पूर्वोक्त श्लोक की भाँति मल्लिनाथ ने यहाँ भी वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलंकार माना है, साहित्यविद्याधरीकार ने क्रिया का प्रतिषेध होने पर भी फल में उसकी व्यक्ति रहने के आधार पर यहाँ विभावना स्वीकारी है— 'क्रियाया प्रतिषेधेऽपि फले व्यक्तिविभावना ।' जो मुख श्लोकही है, उसे दरिद्रता कैसी ? पर वह है, नले ही उपमान की दरिद्रता ही ॥ २४ ॥

स्ववालभारस्य तदुत्तमाङ्गजैस्स्वयञ्चमर्यैव तुलाभिलाषिण ।
अनागमे शसति बालचापल पुन पुन पुच्छविलोलनच्छलात् ॥ २५ ॥

जीवातु—स्ववालेति । चमरी मृगीविशेष तस्य नलस्य उत्तमाङ्गजै शिरो-
रहै सम सहैव तुलाभिलाषिण मादश्यकाङ्क्षिण स्ववालभारस्य निजलोम-
निचयस्य अनागमे अनपराधाय नीचस्य उनमै सह साम्याभिगमोऽपि महान्
अपराध इति भाव । क्वचित्तदभावे नञ्समासे दृश्यते । पुन पुन पुच्छस्य
काङ्क्षूलस्य विलोलन विचालनम् एव छल तस्मात् बालचापल रोमचाञ्चल्यम्
अथ च शिशुचापस्य शसति कथयति बालचापस्य सोढव्यमिति धियेति भाव ।
अत्र पुच्छविलोलनप्रतिषेधेन अयस्य बालचापलस्य स्थापनादपह्नुतिरलङ्कार ।
तदुक्त दर्पणे—'प्रकृत प्रतिपिध्यान्यस्थापन स्यादपह्नुतिरिति' ॥ २५ ॥

अन्वया—चमरी तदुत्तमाङ्गजै सम तुलाभिलाषिण स्ववालभारस्य अना-
गसे पुन पुन पुच्छविलोलनच्छलान् बालचापल शसति ।

हिन्दो—मुदा गाय उस (नल) के सिर के केशों के साथ साम्य के अभि-
लापी अपने केशों के निरपराध होने पर बारम्बार पूँछ हिलाने के व्याज से
(स्वकेशा की) बालकीचिन घलता को व्यक्त किया करती है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में कवि ने नल के केश-सौन्दर्य का वर्णन किया है ।
चमरी गाय के बाल उसके केशा से समता की घृष्टता करते हैं, यह अपराध है,
किन्तु दारीर सम्बन्ध से नील गाय केशों—बालों की माता तुल्य है । माता को
बच्चे के अपराध अपराध नहीं लगा करता, और फिर बच्चा का अपराध उनका
बालघापत्य ही माना जाता है । कवि कहता है कि मुरागाय इसी बालघापत्य की
अभिरूपित कर रही है निरन्तर पूँछ हिलाती, अथवा अपने बालों (बाल
'बबयारनेद ') की घलता के निमित्त क्षमा चाह रही है ।

पुच्छविलोन्न-प्रतिषेध करके बालचापल की स्थानता होने के कारण मल्लिनाथ यही अपहृनुति मानत है, विद्याधर (साहित्यविद्यापरी के कर्ता) 'चापलनिव शसति'—ऐसी कल्पना करके प्रतीपमानोत्प्रेक्षा, और अपहृनुति भी ।

महीमृतस्तस्य च मन्मथश्रिया निजस्य चित्तस्य च त प्रतीच्छया ।

द्विधा नृपे तत्र जगत्त्रयीभुवा नतभ्रुवा मन्मथविभ्रमोऽभवत् ॥२६॥

जीवानु—महीमृत इति । तस्य महीमृतो नलस्य मन्मथस्येव श्री कातिः तमा च निजस्य चित्तस्य त नल प्रति इच्छया रागेण च तत्र नृपे नले जगत्-त्रयीभुवा त्रिभुवनवर्तिनीना नतभ्रुवा कामिनीना द्विधा द्विप्रकारेण मन्मथ-विभ्रम अत्र मन्मथ इति विशिष्टा भ्रान्ति कामावेशश्च अभवत् । अत्र श्लेष-सङ्कीर्णो मयासत्कालद्वार ॥ २६ ॥

अन्वय—तस्य महीमृत मन्मथश्रिया त प्रति निजस्य चित्तस्य इच्छया च तत्र नृपे जात्त्रयीभुवा नतभ्रुवा द्विधा मन्मथविभ्रम अभवत् ।

हिन्दा—उस पृथ्वीति की कामग्रमान काति और (अथएव उनके प्रति अपने चित्त का अनिलाप—इस प्रकार उस राजा नल ने त्रिलोकी में इतना समस्त सुन्दरिया को दो प्रकार से काम का भ्रम हो गया, जिससे उनके नयन लाज से झुक गये ।

टिप्पणी—राजा मदननुष्य मनोहर था और त्रिलोकी की सुन्दरियाँ उसका अनिलाप करती थीं—कवि का यहाँ यहाँ भाव है । यहाँ एक भाव त्रिलोकी-सुन्दरियों की सुगता का वर्णन कर कवि ने अपने तीन श्लोकों में 'मन्मथ' स्वर्ग, पाताल और मर्त्यसुन्दरियों का विमोहन प्रतिपादित किया है । 'विभ्रम' का अर्थ भ्रम-भ्रान्ति भी है और कामजनित कटाक्षादि विहास भी—'विभ्रमो भ्रान्तिहावयो' इति विश्व । यह 'विभ्रम' का द्वैविध्य है, एक तो राजा के 'मन्मथ' होने से उसमें मन्मथ भ्रान्ति, दूसरा अनिलाप-जनित सज्जा अपवा विहास का सूचक नीशों का नीचा हो जाना ।

मल्लिनाथ ने यहाँ श्लेषसङ्कीर्ण मयासत्काल अलंकार माना है, विद्याधर ने 'मन्मथश्रिया' के कारण उपमा और 'विभ्रम' के कारण श्लेष । नारायण पण्डित ने मन्मथ की व्युत्पत्ति की है—मनव मत् शास्त्राद्यन्यासबन्ध जान मन्मातीति मन्मथ । मूलविभ्रुवादित्वात्कः ॥२६॥

निमीलनघ्नं शत्रुघा दृशा भृश निपीय तं यस्त्रिदशीभिरजितः ।

जमून्मन्म्यामभर विवृष्वते निमेषनि स्वैरधुनापि लोचने ॥२७॥

जीवान्तु—निमीलनेति । त्रिदशीभिः सुराङ्गानामि निमीलनघ्नं शत्रुघा
'निनिमेषयेत्यर्थः । दृशा नयनेन तं नलं भृशम् अतिमात्रं निपीय सन्तुष्टा इष्टे-
त्यर्थः । यः अन्त्यामभरः अन्त्यामातिशयं कृतः जमून्मिदस्य देव्यः अधुनापि
निमेषनिस्वैः निमेषशून्यं लोचनं तम् अन्त्यामभरं विवृष्वते प्रकटयन्ति ।
तासां स्वानादिकस्य निमेषामादस्य तादृशनिरीक्षणान्त्यामभरतया तत्त्वमु-
द्वेद्यत ॥ २७ ॥

अन्वयः—त्रिदशीभिः निमीलनघ्नं शत्रुघा दृशा तं भृशं निपीय यः अजित-
श्च नू अधुना अपि निमेषनि स्वैर्न लोचने' तम् अन्त्यामभरं विवृष्वते ।

हिन्दी—सुरागताश्रा ने निनिमेष (अणकक) दृष्टि से उन्के रूप का पान
करके त्रिदशा जिन किया था, उस निरन्तर अन्त्यास को आज भी वे अपन
अणकक नेत्रों से प्रकट करते हैं ।

टिप्पणी—इस श्लोक में भी नल के सुरागताविमोहक अणकक रूप का
वर्णन है । जनविश्वास है कि देवता 'अणककदृष्टि' होते हैं, उनके पाक नहीं
सकते । कवि ने यहाँ उणकक कारणविषय की 'उत्प्रेक्षा' की है । विद्याधर ने
इसी आधार पर यहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा माना है, वे अध्ववसाय की सिद्धि के
कारण इसमें प्रतिशय भी मानते हैं ॥२७॥

अदम्नदाकणि फटाटपजीविन दुगोदंय नन्तदवीक्षि चाफलम् ।

इति स्म चतुश्रवसा प्रिया नटे म्नुवन्ति निन्दन्ति हृदा तदात्मनः ॥२८॥

जीवान्तु—अद इति । चतुश्रवसा नागानां प्रिया पत्यः इत्यर्थः । अद-
दद नोऽन्मार्कः एगोदचतुश्रोत्रं तं नलम् आकर्णयतीति तदाकणि तद्गुणध्या-
वीक्ष्य, तामा चतुश्रवस्वादिति भावः । अत एव फटाटपजीविन मुह्यन्ती-
वित्म् । न वीक्षते इत्यवोक्षि, अश्रोमयोस्ताच्छीन्ये गिति । तस्य नलस्य
अवीक्षि तदवीक्षि तदददीयर्थः । अत एव अददद्वच, इति हेतुः । तदा तस्मिन्
वाते आत्मना स्वेन हृदा मनसा नटे नविवये स्तुवन्ति प्रशंसन्ति निन्दन्ति
शुभयति च । अतिशयोक्तिरुद्भाट ॥ २८ ॥

अन्वय—अद न दृशो द्वय तदाकर्मि (अत) फडाटपवीवितुम्, तद्
 लवीसि च (अत) फल्म्—इति चनु श्रवसा प्रिया तत् आत्मनः हृदा
 स्तुवन्ति स्म, निन्दन्ति स्म च ।

हिन्दी—यह हमारा नेत्रयुग्म नल के गुणों को सुनता है, अत इसका
 बोधन संकल है, उसका दर्शन नहीं पाता, इस से निन्दित है—इस प्रकार नेत्रों
 से ही सुन करने की शक्तिवाले अनुभववानागों की पातालवासिनी प्रियाएँ
 उस अपने नेत्रयुगल की अपने मनमें प्रशंसा मां करती थी और निन्दा भी ।

टिप्पणी—पाताल में नल के गुण ही तो विख्यात थे, वह वहाँ उपस्थित
 कहाँ था ? पातालवासिनी नाम प्रियाएँ उसे न देख सकने के कारण अपने नेत्रों
 को कोसती थी, पर गुण-श्रवण तो उनसे ही हो पाता था, अत एक ओर
 प्रशंसा, दूसरी ओर निन्दा ।

जीवानुकार मलिनताय ने इसने अविशयोक्ति मानी है और नाहित्यविद्या-
 धरोकार विद्यापर ने गुणविद्याविरोधालकार । यह दस है—'शास्त्रिस्वयुग्मि-
 जांनार्थं विद्वदा म्याद् गुणास्त्रिभिः । क्रिया द्वाभ्यामथ द्रव्यं द्रव्यैर्गैवेति ते दश ।'

विलोक्यन्तीभिरजलभावनादलादमु तत्र निमीलनेष्वपि ।

अलम्बि न्न्यामिरमुष्य दर्शने न विघ्नलेशोऽपि निनेपनिमित्त ॥२९॥

जीवातु—विलोक्यन्तीभिरिति । अवलनाकनावलात् निरन्तरध्यान-
 प्रनावात् अनु नल तत्र भावनायानिति भाव । निमीलनेषु अपि निनेपा-
 वस्यामु अरि विलोक्यन्तीभिः समेपावस्थावामिव साक्षात् कृर्वतीभि मत्स्यानि
 मानवीभि जमुष्य नलस्य दर्शने निनेपनिमित्त नेत्रनिमीलनजनित विघ्नले-
 शोऽपि जन्तरापलोऽपि अलम्बि न प्राप्त । 'विनाया चिन्मुरो' इति
 मुनामिः । मानस्य दृष्टितोचर दृष्टवा जदृष्टितोचरश्च त मनसा सज्ज पश्यन्ति
 स्मेति भाव । अविशयोक्तिरलङ्कार ॥ २९ ॥

अन्वय—अवलभावनावलाद् अमु नेत्रनिमीलनेषु अपि विलोक्यन्तीभि
 मस्याभिः अनुष्य दर्शने निनेपनिमित्त विघ्नलेशो अपि न अलम्बि ।

हिन्दी—निरन्तर नल की भावना करते रहने के चल पर उसे नयन शन-
 कने पर (मन में) भी देखती हुई मत्स्यलोकासिनी मानवतुन्दरियों ने पलक
 क्षणके के कारण उत्पन्न इसके दर्शन में पडते विघ्न का लेश भी नहीं प्राप्त किया ।

टिप्पणी—मानवसुन्दरियां तो नल मे ऐसी रम रही थी कि वह सम्मुख हो या न हो, भावनावश वे सदा उसका दर्शन पाती ही रहती थी ।

मल्लिनाथ ने अतिशयोक्ति मानी है और कारण की समप्रता मे भी कार्य की अनुपपत्ति के आधार पर विद्याधर ने विशेषोक्ति ॥२९॥

न का निशि स्वप्नगत ददर्श त जगाद गोत्रस्खलिते च का न तम् ?
तदात्मताध्यातधवा रते च का चकार वा न स्वमनोमयोद्भवम् ? ॥३०॥

जीवातु—भेति । का नारी निशि रात्रौ त नल स्वप्नगत न ददर्श ? सर्वैव ददर्शेत्यर्थ । का च गोत्रस्खलितेषु नामस्खलनेषु त न जगाद स्वमर्तृ-नाम्नि उच्चरितस्थे तन्नाम न उच्चरितवती अपि तु सर्वैव तथा कृतवती इत्यर्थ । का च रते मुरतव्यापारे तदात्मतया नलात्मतया ध्यात चिन्तित धवा भर्ता यया तथाभूता 'धव प्रिय पतिभर्ता'त्यमर । स्वस्य आत्मन मनोभव काम तस्य उद्भव त वा न चकार ? अपि तु सर्वैव तथा चकारे-त्यर्थ । अतिशयोक्तिरलङ्कार ॥ ३० ॥

अन्वय—का निशि त स्वप्नगत न ददर्श का च गोत्रस्खलिते त न जगाद, तदात्मताध्यातधवा का च वा रते स्वमनोमयोद्भव न चकार ।

हिन्दी—कौन सुन्दरी उसे रात मे सपने मे मिली नहीं देखती थी और कौन नामोच्चारण में भटककर उसका नाम नहीं ले देती थी ? नल की भावना से पति का ध्यान करती किम रमणी ने मुरत काल मे अपने काम का उद्भव नहीं किया ?

टिप्पणी—प्रत्येक सुन्दरी नल का ही स्वप्न देखती थी, उसका ही नाम लेती थी और उसकी ही भावना करके अपने पति को रमण किया करती थी ।

इस श्लोक मे स्वप्नदर्शन, नामस्मरण और नलभावना से रमण—इन तीन प्रकारों से कवि ने मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा नायिकाओं के नलानुसंग का चित्रण किया है । काव्यवक्रोक्ति तो है ही, मल्लिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति है, क्योंकि असम्बन्ध में भी सम्बन्ध-कथन है । ऐकानुप्रास भी है ॥३०॥

श्रियास्य योग्याहमिति स्वमीक्षितु करे तमालाक्य सुरूपया धृत ।

विहाय भेमीमपदर्पया क्या न दर्पण श्वाममलीमम कृत ? ॥३१॥

जीवातु—धियेति । त नलम् आलोच्य दृष्ट्वा धिया सौन्दर्येण बह्वनस्य नलस्य योम्या अनुरुपा इति । गियेति शेष स्वम् आत्मानं स्वावपवमित्यर्थं । ईक्षितुं द्रष्टुं करे धृतः । गृहीतं दर्पणं भैमी भौमनन्दिनीं दमयन्तीमित्यर्थं । विहाय विनेत्यर्थं कमा मुरुपया शोभनरूपवती बह्वनित्यग्निमानवत्या नाय्या अपदर्पया दर्शयन्त्या स सा स्वासेन दुःखनिश्वासेन मलीमत्तं मलदूषितः 'मली-मसन्तु मलिन कश्चर मलदूषितमित्यमरः । न कृत ? अपि तु सर्वयैव कृत इत्यर्थं । सौन्दर्यंगविता, एतन्नेमां विदित्वा कानिन्यः तनवलोक्य बह्वमेवास्य सदृशीत्यभिप्रायानात् । रघुतदर्पणे कस्यात् इति न नाहमस्य योम्येति निश्चयेन विषया कदुष्पनिश्वासेन त दर्पण मलिनमिति निश्चितं । ३१॥

अन्वयः—उत्तु आलोच्य धिया अक्षय्योम्या इति स्वम् ईक्षितु करे धृत दर्पण। भैमी विहाय कमा अरुपया मुरुपया स्वासमतीमुत्तु न कृतः ?

हिन्दी—उसे (नल को) देखकर 'तू सौन्दर्य के कारण इसके योग्य है'—ऐसा विचारते अपने मुख (अपना सम्पूर्ण शरीर) को—किहारने के लिए हाथ में लिये दर्पण भीमसुता (दमयन्ती) को छिड़कर, जिस गवस्वरुपों सुन्दरी ने निश्वास से मँला नहीं किया ? सती ने किया ।

टिप्पणी—कोई सुन्दरी दर्पण में निहार कर अपने को नल के योग्य मानने का साहस न कर पायी और लिन्नजा से निकली निश्वास से हाथ का दर्पण धुँधला पड़ गया—इससे कवि का भाव यह है कि नल के अनुरूप भीमसुती वंदनी दमयन्ती ही थी, अन्य कोई सुन्दरी रूप-रूप में नल के योग्य नहीं थी । अस्मन्व्य में सम्बन्ध बधन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति है और विद्याभर के अनुसार व्यभिचारभाव गर्व की शान्ति ॥३१॥

ययोह्यमान खलु भोगभोजिना प्रमह्य वीरोचनिजन्म्य पत्तनम् ।

विदमर्जजाया मदनस्तथा मनोजलावरुद्ध वयमेव वेशितः ॥३२॥

जीवातु—एवमत्थालोकिक्कसौन्दर्यद्योतनाय र्छानावस्य तदनुरागमुक्त्वा सम्प्रति दमयन्त्यास्तत्रानुरागं प्रन्तीति—यथेति । मदनं कामः प्रहृष्टम् इति भावत् भोगभोजिना वरंशरीराशिना वदसा पक्षिणा गच्छेनेत्यर्थं । ऊह्यमान नीपमान, वहे वर्मणि यकि सम्प्रसारणे पूर्वस्वम् । अनलावरुद्धम् अग्निपरि-

वेष्टित विरोचनस्य अपत्य पुमान् वैरोचनि बलि तज्जस्य तत्पुत्रस्य
 वाणासुररक्षेत्पर्यं । पत्न्य शोणितपुरमिति यावत् । प्रसह्य सहसा यथा वेष्टित
 सलु प्रवेष्टित एव, 'ततो गरुडमारुह्य स्मृतमाश्रागत हरिः' । उपाहरणे विष्णु-
 पुराणात् । तथा नलावरुद्ध नलासक्त विदर्भजाया ऋषयन्त्या मन भोग-
 भोजिना सुखभोगासक्तेनेत्यर्थं, वयसा यौवनेन ऊह्यमान परैस्तक्येमाण ऊहेर्वि-
 त्तर्कार्यात् नर्मणि यक् । वेष्टित प्रवेष्टित । 'भोग सुखे स्थ्यादिभृतावहेदच
 फणकाययोरि'त्यमर । पुरा उपानाम्नी वाणदुहिता स्वप्ने प्रचुम्नपुत्रमनिरुद्ध
 दृष्ट्वा सुप्तप्रतिबुद्धा सहचरो चित्रलेखामवदत् । सा च योगवलेन तस्यामेव राश्री
 द्वारजाया प्रसुप्तमनिरुद्ध विहायसा समानीय तथा समगमयत् । कालेन नारद-
 मुखात् तदाकर्ण्ये कृष्ण प्रचुम्नवलरामाम्या बहुभिर्बलेदच गत्वा वाणनगरमरौ-
 त्मीदिति कथा अत्रानुसन्धेया । अत्र यथोह्यमानो नलावरुद्धमिति शब्दश्लेषः ।
 तदनुप्राणिता उपमा च सा च वयमेति वयमोरभेदाद्यवसायमूलात्तिसयोक्ति-
 मूला चेत्येषा सङ्करः ॥ ३२ ॥

अन्वय — यथा सलु भोगभोजिना वयसा ऊह्यमान मदन अनलावरुद्ध
 वैरोचनिजस्य पत्न्य प्रसह्य वेष्टित तथा (वयसा) एव विदर्भजायाः नलावरुद्ध
 मन (मदन वेष्टित) ।

हिन्दी—जिम प्रकार सर्पभोजी वयस् पक्षिराज गरुड ने अपनी पीठ पर
 ले जाकर मदन अर्थात् (कृष्णपुत्र, अनिरुद्ध-जनक मदनावतार) प्रचुम्न को
 अग्नि से समतल धिरे वैरोचनि—(प्रह्लादमुत् पातालराज) बलि के पुत्र
 वाणासुर के नगर (शोणितपुर) में शठिति प्रविष्ट करा दिया था, उसी
 प्रकार मुखासक्त वयस् अर्थात् तारुण्य ने ही वैदर्भ के नलसे व्यास मन में काम
 को प्रविष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार पहिले नारी का अनुराग
 दिखाया जाना उचित होता है, तत्पश्चात् नर का—'आदौ वाच्य स्त्रिया राग
 पुंस परचासदिङ्गितं', इस प्रकार इसमें रूप-गुण-श्रवण तथा चित्रादिदरीन से
 आकृष्ट दमयन्ती के पूर्वानुराग का कवि ने वर्णन किया है । इसके लिए उसने
 उपा-अनिरुद्ध को पौराणिक कथा (श्रीमद्भागवत, १०।६२-६३) का उपमान

उपस्थित किया है। विद्यापति ने इस पद्य में केवल श्लेष और उपमा बलकारों का उल्लेख किया है, यों यहाँ शब्दश्लेष, अर्थश्लेष-विशिष्टा उपमा, अल्पवसाय-मूला प्रतिशयोक्ति और अनुप्रास का सङ्कर है। मल्लिनाथ यही मानते हैं ॥३२॥

नृपेज्जुह्वे निजस्वसम्पदा दिदेश तस्मिन् बहूय श्रुति गते ।

विशिष्य सा मीमनरेन्द्रनन्दना मनोमवाज्ञैकवचनं मन ॥३३॥

जीवानु—इह विरहिणा चक्षु प्रीत्यादयो दशावस्था सन्ति, तत्र चतुः प्रीति श्रवणानुरागान्वाप्सुषलक्षणमस्तन्पूर्विका मनःसङ्गात्या द्वितीयमवस्थानाह—नृप इत्यादि । सा मीमनरेन्द्रनन्दना दमयन्ती नन्द्यादित्वाभ्युपगतय । निजस्वसम्पदा स्वलावयसम्पत्तीनानुरूपे बहूय । 'बहूयस्यार्थच्छब्दकारकादन्तरस्यामि'त्यादानार्थे सप्रत्यय । श्रुति श्रवण गते एतेन श्रवणानुराग उक्तं, तस्मिन् नृपे नले मनोमवाज्ञाया एव वचनम् एकस्यैव विधेये शिवनागवतवत् समानम् । 'प्रियवचने वद सच्च' 'अर्थादिपदि'त्यादिना तस्य भुम् । मनो विशिष्य दिदेश अस्मैदमिति निदिश्याति सनत्प्रत्ययं, तद्गुणश्रवणात्-दासकचित्तासीदित्यर्थं ॥ ३३ ॥

अन्वय—सा मीमनरेन्द्रनन्दना निजस्वसम्पदाम् अनुस्ये बहूय श्रुति गते तस्मिन् नृपे विशिष्य मनोमवाज्ञैकवचनं मन दिदेश ।

हिन्दो—उस राजा मीम की पुत्री दमयन्ती ने अपनी रूपात्म्यति के अनुस्य (सोच) बहुत दूर त्रिषका हन-मुज-जीर्न कान में पड चुका था, उस राजा नल में आसक्त कर अपने मन को कामाज्ञा का ही एक मात्र वचन ही बना दिया ।

टिप्पणी—नल के प्रति दमयन्ती के एकानुराग का द्योतन । अनुप्रास बलकार । श्रवणजात जनुगा, इसका ही अगले चारों श्लोकों में वर्णन है ॥३३॥

उपासनानेत्य पितुस्स रज्यते दिने दिने मावसरेषु वन्दिनाम् ।

पठन्तु तेषु प्रति भूपतीनलं विनिद्रगेमाजनि शृण्वती नलम् ॥३४॥

जीवानु—जयास्या श्रवणानुरागमेव चतुर्निबंधं प्रति—उपासनानित्यादि । सा मीमो दिने दिने प्रतिदिन 'नित्यवीप्सयोरिति वीप्साया द्विर्नात्र । वदिना स्तुतिपाठकानामवनरेषु पितुस्सासात् संवामेत्य प्राप्य तेषु वन्दिषु भूपतीन् प्रति-भूपतीनुद्दिश्य पठन्तु नस्त्विति शेष । नल शृण्वती नल रज्यते स्म रक्ष्य-

भूदित्ययं । रञ्जेदेवादिकाल्पद् । अतएव विनिद्ररोमा रोमाञ्चिता अजनीति सात्त्विकोक्तिः । जने कर्त्तरि लुङ् 'दीपजने'त्यादिना ज्ञेयश्चिन्नादेशः । नलगुणश्रवणजन्यो रागस्तस्य रोमाञ्चेन व्यक्तोऽभूदिति भावः ॥ ३४ ॥

अन्वयः—सा दिने दिने वन्दिनाम् अवसरेषु पितु उपासनाम् एतत्पुत्रेषु भूपतीवृ प्रति (प्रतिभूपतीवृ वा) पठत्सु नल शृण्वती विनिद्ररोमा अजनि रज्यते स्म (च) ।

हिन्दी—वह प्रतिदिन स्तुतिपाठकों के स्तुतिपाठ के समय अपने पिता की सेवा में उपस्थित होकर उनके राजाओं (अथवा अन्य राजाओं) के सम्बन्ध में वर्णन करते होने पर नल के विषय में सुनती पुलकित हो जाती थी और इस प्रकार वह (नल में) अनुरक्त हो गयी ।

टिप्पणी—यहाँ गुणश्रवण का अवसर बताया गया । विद्याधर के अनुसार यह औत्सुक्य भाषोदय का उदाहरण है, सात्त्विक रोमाञ्च का वर्णन भी है ॥३४॥

कथाप्रसङ्गेषु मिथस्सखीमुखात्तृणेश्चि तन्व्या नलनामनि श्रुते ।

द्रुत विधूयान्यदभूयतानया मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया ॥३५॥

जीवातु—कथेति । मिथोऽयोज्य रहसि कथाप्रसङ्गेषु विसम्मगोष्ठीप्रसङ्गेषु सखीमुखाञ्चलनामनि नलालये तृणेश्चि श्रुते सति 'नल पोटागले रानी'ति विद्व । अनया तन्व्या दमयत्या द्रुतमन्यत् कार्यांतर विधूय निराकृत्य मुदा हर्षेण तदाकर्णने नलशब्दाकर्णने सज्जकर्णया दत्तकर्णया अभूयत अभावि । 'मुदो भावे' लङ् । अर्थांतरप्रमुक्तोऽपि नलशब्दो नृपस्मारकतया तदाकर्णकोऽभूदिति रागातिशयोक्तिः ॥ ३५ ॥

अन्वय —तन्व्या अनया मिथः कथाप्रसङ्गेषु सखीमुखात् तृणेश्चि नलनामनि श्रुते अपत् द्रुत विधूय मुदा तदाकर्णनसज्जकर्णया प्रभूयते ।

हिन्दी—सोमलाङ्गी यह दमयती परस्पर बातचीत के अनेक रहस्यालापों में सखियों के मुख से घोडा भी नल का नाम सुनने पर धूय (विषय) तुरन्त ह्यागकर प्रसन्नतया उसके सम्बन्ध में सुनने के लिए कान लगा देती थी ।

टिप्पणी—यहाँ रागानिधय दिखाया गया है । हर्ष और औत्सुक्य की 'भावजबलता' है 'तन्वी' पद विरहदृष्टता का सातक है ॥३५॥

स्मरात्परासोरनिमेषलोचनाद् विभेमि तद्भिन्नमुदाहरेति सा ।

जनेन यून स्तुवता तदास्पदे निदर्शनं नैषधमभ्यपेचयत् ॥३६॥

जीवातु—स्मरादिति । परासोभृतात् अत एवानिमेषलोचनात्प्रिच्छलाज्ञा-
हृवादिति च गम्यते । उभयथापि भ्रष्टहेतुक्वि । तस्माद्विभेनीति तद्भिन्न ततो-
ऽन्यमुदाहरेति तत्सदृश निदर्शयत्याह सा दमयन्ती यून स्तुवता जनेन प्रयोग-
वर्त्ता तदास्पदे स्मरस्थाने निदर्शनं शृण्वन्त नैषध निषघाना राजान नल 'जन-
पदशब्दात्प्रियादत्' । अभ्यपेचयत् स्मरस्य स्थाने तत्सदृश एवानिमेषकु युक्त
स च नलादभ्यां नास्तीति तस्मिन् नल उदाहृतेऽनुवप शृणोतीति रागातिरे-
कोक्ति । 'उपसर्गात् नुनोती'त्यादिना बहुव्यवायेऽपि पत्वम् ॥ ३६ ॥

अन्वयः—परासो जनिमेषलोचनात् स्मरान् विभेमि, तद्भिन्नम् उदा-
हर—इति सा यून स्तुवता जनेन नैषध तदास्पदे निदर्शनम् अभ्यपेचयत् ।

हिन्दी—गुणप्राण (अतएव) अपञ्क नेत्र कामदेव से मुझे डर लगता है,
उसके अतिरिक्त कोई उदाहरण दो—इम प्रकार वह किसी तरफ को प्रशंसा
करती सखियों आदि से निषधराज का उस (काम) के स्थान में उपस्थापित
कराती थी ।

टिप्पणी—काम देवविशेष होने के कारण अनिमेषलोचन है, किन्तु दम-
यन्ती उसकी अनिमेषलोचनता उसके मृत होने के कारण मानती है और मृत
को देखकर स्वयं डरने का बहाना करती हुई किसी तरफ के सौन्दर्य में काम
से उपमानित करने का निषेध करके अन्य उदाहरण प्रस्तुत करने का निर्देश
करती है, क्योंकि वह जानती है कि सौन्दर्य में काम के अतिरिक्त समान उदा-
हरण नल ही है, सो श्लोकाज्जन काम के स्थान में नल का ही नाम लेंगे ।

यह भी रागातिरेक का वर्णन है । गुणकीर्तन-श्रवणरूपा काम की दशा का
उपपादन ॥३६॥

नलस्य पृष्ठा निषघागता गुणात् भिषेण दूतद्विजवन्दिचारणा ।

निषीय तत्कीर्तिकथामथानया चिराय तस्ये विमनायमानया ॥३७॥

जीवातु—नलस्येति । निषधेभ्य आगता दूता सन्देशहरा, द्विजा ब्राह्मणा,
वन्दिन स्तावका चारणा देशभ्रमणजीविन ते नवै भिषेण व्याजेन नलस्य

गुणान् पृष्ट्वा पृच्छतेर्दुहादित्वास् प्रधाने कर्मणि क्त । अथ प्रदानान्तरमनया भैम्या तत्कीतिकथा नलस्य यश कथामृत निपीय नितरा श्रुत्वेत्यर्थं । चिराय विमनायमानया विमनीभवन्त्या मृशादित्वात्वयडि सन्नोपश्च 'अकृत्सावंधातुकयोर्दीर्घ' ततो लट शानजादेश । तदा तस्ये स्थित तिष्ठतेभवि लिट् । अथच दूतादिब्यवधाने गुणकीर्त्तनलक्षण प्रलापारयो रत्यनुभव ॥ ३७ ॥

अन्वय —अनया निपघामता दूतद्विजवन्दिचारणा मिषेण नलस्य गुणान् पृष्ट्वा, अथ तत्कीर्त्तिकथा निपीय चिराय विमनायमानया तस्ये ।

हिन्दी—दमयती निपवदेश से नाये दूतो, ब्राह्मणों, स्तुति पाठकों और चारणों से बहाने से नल के गुण पूछा करती थी, और फिर उसकी यशोगाथा को तन्मय हो सुन देरतक अनमनी बैठी रह जाया करती थी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में व्यभिचारीभाव चिंता का उदय दिखाया गया है । अनमने होने में कारण है यह चिंता कि कैसे नल से मिलन होगा ? यहीं मल्लिनाथ ने प्रलाप नामक रत्यनुभव बताया है ॥३७॥

प्रिय प्रिया च त्रिजगज्जयिश्चिषी लिखाधिलीलागृहभित्ति कावपि ।

इति स्म सा कास्तरेण लेखित नलस्य च स्वस्य च सख्यमीक्षते ॥३८॥

जीवात्—प्रतिकृतिस्वप्नदशनादयो विरहिणा विनोदोपाया, अथ तत्कथनमुखेन दर्शनानुरागश्चास्या दशयन् प्रतिकृतिदशन तावदाह—प्रियमिति । सा भैमी श्रीणि जगति समाहृतानि त्रिजगत् । समाहारो द्विगुरेकवचनम् । तस्य जयिनो लोकत्रयजित्वरी थी शोभा ययोस्तादृशी कावपि प्रिय प्रियाश्च तौ अधिलीलागृहभित्ति विलासवेश्मकुड्ये विमपरयर्थेऽव्ययीभाव । लिखेत्युवती कास्तरेण सिल्लिकपण्डेन प्रयोग्येन लेखित नलस्य च स्वस्य च सख्य रपनाम्यापादनम् ईगने स्म ॥ ३८ ॥

अन्वय —अधिलीलागृहभित्ति का अपि त्रिजगज्जयिश्चिषी प्रिय प्रिया च लिख—इति सा कास्तरेण लेखित नलस्य स्वस्य च सख्यम् ईक्षते स्म ।

हिन्दी—श्रीलागृह की दीवार पर कि-ही दो त्रिलोकी की शोभा में जीतने वाले युवक और युवती का चित्रण कर—इस प्रकार वह सिल्वी चित्रकार द्वारा आलेखित नल को और अपने को सहस्रिपुत्र (एक साथ आँका गया) देखा करती थी ।

टिप्पणी—शास्त्रीय परम्परा के अनुसार इन्द्र लोक में चित्र दर्शन का निरूपण है। नल युग का श्रेष्ठ त्रिलोकजयी नर था और दमयन्ती त्रिलोक-जयिनी नारी। उस युग में जैसे यह सर्वमान्य सत्य था। लीलागृहमिति इति अधिलीलागृहमिति—स्वयीभावसमाप्तम्। अन्यत्र विभक्तिजनोपसृष्टिवृद्धयर्थाऽभावात्पद्याऽप्रतिशब्दप्रादुर्भावविपरिवाद्यानुपूर्व्ययोगपक्षसाहस्यसम्पत्तिस्माकल्या-न्तवचनेषु (अष्टाध्यायी २।१।९)-द्वारा विभक्त्यर्थ में अधि का प्रयोग ॥३८॥

मनोरथेन स्वपतीकृत नल निशि क्व मा ना स्वपती स्म पश्यति ।

अदृष्टमप्यर्थमदृष्टवैभवात्करोति सुप्तिर्जनदशंनातिथिम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—मनोरथेनेति । मनोरथेन सङ्कल्पेन स्वपतीकृत स्वमनूकृत नलम् अनूततद्भ्रातृवैधौ दीर्घं । स्वपती निद्राती सा दमयन्ती क्व निशि कुत्र रात्रौ न पश्यति स्म ? सर्वस्यामपि रात्रौ दृष्टवती । तथा हि सुप्तिं स्वप्न अदृष्टम् अत्यन्ताननुभूतमप्यर्थं किमुत दृष्टमिति भावः । अदृष्टवैभवात् प्राक्तननाम्बलात् जनदर्शनातिथिं लोकदृष्टिगोचरं करोति, तदपि निमित्ताददृष्टात्तादृक् स्वप्नज्ञानमुत्पन्नमित्यर्थः । सामान्येभ्य विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥३९॥

अन्वय - स्वपती सा मनोरथेन स्वपतीकृत नल क्व निशि न पश्यति स्म ? सुप्तिं अदृष्टम् अपि कथम् अदृष्टवैभवात् जनदर्शनातिथिं करोति ।

हिन्दी—सोती वह दमयन्ती स्वेच्छया अपने पतिरूप में स्वीकारे नल का किस रात में नहीं देखा करती थी ? प्रत्येक रात में देखती थी । स्वप्नदशा अदृष्टे अर्थ को भी पुरातन भाग्य के सामर्थ्य से मनुष्यों के दर्शन का विषय (देखने योग्य) बना देती है ।

टिप्पणी—दर्शन तीन प्रकार में होता है—(१) प्रत्यक्ष, (२) स्वप्न में, (३) चित्र में—साक्षाच्चित्रे तथा स्वप्ने स्माद्दर्शनं त्रिधा ।' यहाँ स्वप्नदर्शन का वर्णन है । सान्नाय (प्रथम द्वितीय-चरण-कथन) से यहाँ विशेष (तृतीय चतुर्थ चरण का उक्ति) का समर्थन है, अतएव अर्थान्तरन्यास अलंकार है । 'स्वपती' के दो बार प्रयोग से यमक । विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुप्रास और हेतु अलंकार है ॥३९॥

निर्मोलितादक्षिपुगाम्च निद्रया हृदोऽपि बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितात् ।

अर्दाशि संगोप्य कदाप्यत्रीक्षिणो रहस्यमस्यात्स महन्महीपति ॥ ४० ॥

जीवात्—निमीलितादिति । निद्रया प्रयोजिवया निमीलितामुकुलि-
तादुपरतव्यापारादित्यर्थं , अक्षियुगाच्च तथा बाह्येन्द्रियाणा चक्षुरादीना मोने
न व्यापारराहित्येन मुद्रितात्प्रतिष्ठधात्, मनसो बहिरस्वातन्त्र्यादिति भाव ।
हृदो हृदयादपि मङ्गोप्य गोपयित्वेत्यथ , 'अतद्वोपेनादशनमिच्छती'त्यक्षियुग-
मनसोरपादानत्वम् । अदर्शनं चात्र मनसो बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितादिति विशेष-
णसामर्थ्यादिन्द्रियार्थसप्रयोगजन्यज्ञानविरह एवेति ज्ञायते, स्वप्नज्ञानं तु मनो-
जयमेव । तदजन्यज्ञानमत्रेत्याह—कदाप्यवीक्षित इति । अत्यन्तादृष्टचर इत्यर्थं ,
महद्रहस्यमतिगोप्य वस्तु स महीपतिर्नल । अस्या भूम्या अर्दश दशया-चक्रे,
दृशेर्ष्यंतात् कमणि लुङ् । तथा वाचिच्चेटी कस्यचित्कामिन्य कश्चन कात्
सगोप्य दशयति तद्वदिति ध्वनि ॥ ४० ॥

अन्वय — निद्रया निमीलितात्, अक्षियुगात् बाह्येन्द्रियमौनमुद्रितान् हृद
अपि च सगोप्य कदापि अवीक्षित स महीपति अस्या महत् रहस्यम् अर्दश ।

हिन्दी—नींद में मुँदे दोनों नेत्रों और बाहरी इन्द्रियों कि निष्क्रियता के
कारण निष्क्रिय मन से भी छिपाकर भी कभी न देखा हुआ वह पृथ्वीपति, जो
इसी कारण दमयंती के लिए एक बड़ा रहस्य था, निद्रा ने दिखा दिया ।

अन्य प्रकार से पदच्छेद करके नारायण पण्डित ने इस श्लोक का अन्य अर्थ
भी किया है । 'निद्रया निमीलितात् अक्षियुगात् इन्द्रियमौनमुद्रितान् अहृद-
अपि बाह्य, रहस्यम्, महत्, अर्दशसङ्ग अकदाप्यवीक्षित मही स पतिः स्याः ।'

हे निद्रा (अज्ञान) के कारण निरोहित, अज्ञ मे वास करने वाले युग
कलि मे और इन्द्रिय अर्थान्, वाक् रूप व्यापाराभाव मोन ही जिसका स्वभाव है
ऐसे अहत् मूल मे मित्र अर्थान् कलिदोष से मुक्त और ज्ञानी, हे अक्षिगोपनीय
रहमी वाले रहस्यमय (रहस्या अत्यन्तगोप्या भा लभ्योपस्य स), हे मान
योग्य, विष्णुभक्तों के मित्र अर्दशसग (अ विष्णु पदपत्नीत्येव शीला अर्दशिन
विष्णुभक्ता तौ सह सङ्गो मंत्री यस्य न), दुष्टों द्वारा अदेष्टे (न कश्च अक
दु स दामयतीति अकदापिन दुष्टाः तं अदीक्षिन न दृष्ट), उत्सवप्रिय
। महा उत्सव अस्यास्तीति मही) वह तुम (मेरे) पति होओ—(ऐसा पूर्व-
श्लोक मे वर्णित स्वप्न मे दृष्ट नल से दमयंती कहा करती थी) ।

टिप्पणी—मन्त्रिणाथ ने माना है कि इस श्लोक में ऐसी ध्वनि है कि निद्रा एक ऐसी दूती है जो प्रिया को चुनवान—सबसे छिपाकर शिव का दर्शन करा देती है। विद्याधर इनमें रुक मानते हैं ॥४०॥

अहो कर्होनिर्महिमा हिमागमेऽप्यनिप्रपेदे प्रति ता स्मरादितान् ।
तन्तुपूर्णावपि मेदसा भरा विनावरोनिर्विनरावभूविरे ॥ ४१ ॥

जोवानु—अथास्यात्त्वि ताजाऽपवाह—अहो इति । हिमागमे हेमन्तेऽपि स्मरादिता ता दमयन्ती प्रति कर्होनिर्विभ्रं अतिमहिना अतिवृद्धि प्रपेदे तथा तन्तुपूर्णावपि प्रीष्णान्तेऽपि विनावरोनि निशानि मेदसा भरा मासराशयोऽतिवृद्धिरिति पाठः । विनरावभूविरे बभ्रिरे, नृत्र कर्नाति छिट् बाभ्रत्स्य । जहो आश्चर्यं शास्त्रविरोधादनुभवविरोधाच्चेति भावः । विरहिणा तथा प्रतीकत इत्यविरोध, एतेनास्या निरतरचिन्ता जागरस्व गम्यते । अहोशब्दस्य 'ओदि'ति प्रकृतत्वात् प्रकृतिभावः ॥ ४१ ॥

जन्मनः—अहो, हिमागमे अति स्मरादिता ता प्रति कर्होनि- महिना प्रपेदे, तन्तुपूर्णावपि विनावरोनि- मेदसा भरा विनरावभूविरे ।

हिन्दो—अचरज की बात थी कि हेमन्त ऋतु के आगमन पर भी काम-निद्रिता उस (दमयन्ती) के सदर्भ में दिनों ने अतिदीर्घता प्राप्त करली थी और भरपूर प्रीष्ण ऋतु में भी रात्रियों ने प्रनूत मज्जा (स्पृष्टता-दीर्घता) धारण करली ।

टिप्पणी—दमयन्ती को विरह में जाड़े के छोटे दिन भी बड़े प्रतीत होते थे और गर्मों की छोटी रातों भी लम्बी । विद्याधर के अनुसार हिमागम कारण होने पर भी दिनों का छोटा होना कार्य और प्रीष्णतु होने पर भी रात्रि की लघुता का अनिर्देश होने से विशेषीक्ति और दिन रात की दीर्घता में स्मरादिता कारण होने से विभावना अलंकार है तथा ऐकानुप्रास भी । अट्टकला-व्याख्याकार ने दो विरोधानासा की निरलेखना से स्थिति होने के कारण इस श्लोक में समृद्धि अलंकार का निर्देश किया है ॥४१॥

स्वकान्निर्कोनिर्जमौत्तिकमज श्रयन्मन्तर्धटनागुणश्रियम् ।

कदाचिदम्या युवचैर्यलोपित नलोऽपि लोकादभृणोद् गुणोत्तरम् ॥४२॥

जीवातु—स्वेत्यादि । अथ नलोऽपि स्वस्य कान्त्या मोदयेण या कीर्तय-
तासा व्रज पुञ्ज एव भोक्तिवसक् मुक्ताहार तस्या अन्त अम्यतरे घटना-
गुणश्रिय गुम्फनसूत्रलक्ष्मी श्रयन्त भजन्त युवधर्मलोपिन तस्मिन्चित्तमर्थ्यपरि-
हारिणम् अस्या दमयत्या गुणोत्कर सौदर्यसन्दोह लोकादायन्तुवजनात् अशृ-
णोत्, अत्र कीर्त्तव्रजगुणोत्करयोर्मुक्ताहारगुम्फनसूत्ररूपणाद्रूपनालङ्कार ॥४२

अन्वय—बदाचिन् नल अपि लोकात् स्वकान्तिकीर्तिव्रजमोक्तिवसज
अन्तघटनागुणश्रिय श्रयन्त युवधर्मलोपिन अस्या गुणोत्करम् अशृणोत् ।

हिन्दी—किसी समय नल ने भी लोगों के मुँह से स्व अर्थान् अपने अथवा
दमयन्ती के सौंदर्यविषयक मुक्तामाल के मध्य गुफिन होने वाले सूत्र अथवा
नल के अठसू मन में प्रविष्ट गुण अर्थान् सौंदर्यादि की श्री को प्राप्त करके
तरुणा के धर्म को विलुप्त करते उस (दमयन्ती) के गुणो (रूप, शोभाआदि)
को सुना ।

टिप्पणी—गुणश्रवण से आकृष्ट नल के दमयन्ती के प्रति अनुराग का
वर्णन । कीर्तिव्रज और गुणोत्कर के मुक्ताहार और गुफन सूत्र भाव में रूपण
के कारण इस श्लोक में रूपक अलंकार है ॥४२॥

तमेव लब्ध्वावसर तत स्मरत्शरीरशोभाजयजानमत्सर ।

अमोघशक्त्या निजयेव मूर्त्तया तथा विनिर्जैतुमियेष नैषधम् ॥ ४३ ॥

जीवातु—अथास्य तस्या रागोदय वर्णयति—तमेवेति । ततो गुणश्रवणान-
न्तर शरीरशोभाया देहशो दम्यस्य जयेन जातमत्सर उत्पन्नकर स्मर, तमेवा
वसरमवकाश लब्ध्वा मूर्त्तया मूनिमत्या निजया अमोघशक्तयेव अतुष्टितमाम-
ध्यैनेवेत्पुत्रेला । तथा दमयन्त्या नैषध ७७ विनिर्जैतुमियेष इच्छति स्म, रन्ध्रा-
वेपिणो हि विद्वेषिण इति भाव । तेन रागादय उक्त ॥ ४३ ॥

अन्वय—तत शरीरशोभाजयजातमत्सर स्मर तम् एव अवसर लब्ध्वा
मूर्त्तया निजया अमोघशक्त्या इव तथा नैषध विनिर्जैतुम इयेप ।

हिन्दी—दमयन्ती के रूप गुण सुनने के अनंतर अपने शरीर की शोभा
के (नल द्वारा) जय के कारण जिससे (नल के प्रति) ईर्ष्या जाग गयी है,
ऐसे नामने उसी अवसर को पाकर मानो देहधारिणी अपनी अमोघ शक्ति
के सुन्य उस (दमयन्ती) के माध्यम से निपटपति को जीतने की इच्छा की ।

टिप्पणी—नल ने रूपसौमा में पराजित होनेवाले काम को दमयन्ती के माध्यम से अपनी पराजय का बदला लेने का अच्छा बंदसर मिला— इस कल्पना द्वारा कवि ने नल के काम नाव का वर्णन किया ॥४३॥

अकारि तेन श्रवणातिथिर्गुणः क्षमाभुजा भीमनृपात्मजाश्रित ।

तदुच्चर्घ्यं व्ययमसहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मशरासनश्रय ॥ ४४ ॥

जीवात्—अकारीति । तेन क्षमानुजा नलेन भीमनृपात्मजाया दमयन्त्याः श्रितं गुणं तदीयं सौन्दर्यादि श्रवणातिथिः श्रोत्रविषय अकारि कृत धृत इत्यर्थः । करोते कर्मणि लुङ् । तस्य नलस्य उच्चर्घ्यं व्ययाय उच्चर्घ्यं नाशाय सहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मन शरासनाश्रयं चापनिष्ठो गुणो भीर्वा श्रवणातिथिरकारि जाकर्णं कृष्ट इत्यर्थः । दमयन्तीगुणश्रवणान्नलमनसि महान् मदनविकारं प्रादुर्भूत इत्यर्थः । अशोक्तवाक्यायंस्त्य पूर्ववाक्यायं हेतुश्च काव्यलिङ्गमलङ्कार ॥ ४४ ॥

अन्वय —तेन क्षमानुजा भीमनृपात्मजाश्रित गुण श्रवणातिथि अकारि तदुच्चर्घ्यं व्ययमसहितेषुणा स्मरेण च स्वात्मनशरासनाश्रय (गुण श्रवणातिथि अकारि) ।

हिन्दी—उस पृथ्वपति ने राजा भीम की कन्या दमयन्ती-निष्ठ रूपदि गुण को अपने कानों का अतिथि बनाया (सुना) जोर काम ने भी उस (नल) के उच्चर्घ्य का नाश करने के निमित्त वाण को अपने शरासन (धनुष्) पर धर कर अपने दृढ़ धनुष् की प्रत्यचा को वान तक खींच लिया ।

टिप्पणी—भाषायें यह है कि दमयन्ती के गुण श्रवणानंतर नल में काम उचार हो गया । 'स्वात्मशरासन' में 'स्व' और 'आत्म' पर्याय शब्दों के होने से पुनरुक्ति प्रतीत होती है, पर नु + आत्म—ऐसा पदच्छेद करके सुन्दर अर्थान् दृढ़ अन्तः धनुष् ऐसा अर्थ करने पर पुनरुक्ति नहीं रह जाती है, इन प्रकार पुनरुक्तवदामास अलंकार है । 'अकारि' श्रिया के नल और स्मर—दोनों प्रस्तुत कर्तृ हैं, अतः तुल्योक्ति है, फलतः पुनरुक्तवदामास—तुल्योक्ति की मनुष्य है । विद्याधर भी यहाँ ये दो अलंकार मानते हैं । मन्त्रिणान ने काव्यरिण माना है ।

अमुष्य घोरस्य जयाय साहसी तदा खलु जया विशिलैर्म्यनाथयन् ।

निमज्जयामास यशासि सशये स्मरसिन्नश्रीवीविजमाजितान्यपि ॥४५॥

जीवातु—अमुष्येति । स स्मर साहूनी साहसकार 'न साहसमनाहृष्ट
नरो भगणि पश्यतो'ति न्यायादविलम्बी सन्नित्यर्थं । अमुष्य घोरस्य अवि-
चलितस्य नलस्य जयाय शराशनज्या निजघनुमौर्वी विशिखं शरं सनाथपन्
सनाथ कुर्वन् सयोजयमित्यर्थं , त्रयाणा लोकाना समाहारस्त्रिलोकी 'तद्धिता-
र्थे'त्यादिना समासः, 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगु स्त्रियामिष्यत' इति श्रीलिङ्ग-
श्वात् 'द्विगोरि'ति ङीप् । तस्य विजयेनाजितानि सम्पादिता अपि यशसि
सशये निमज्जयामास किं पुन सम्प्रति सम्पाद्यमित्यपि शब्दार्थं । वृद्धरूपेक्षया
जनुचितकर्मारम्भे मूलमपि नश्येदिति सशयितवानित्यर्थं । अत्र स्मरस्योक्त-
सशयाऽनम्ब-वेऽपि तत्सम्प्र-बोक्तेरतिशयोक्तिः ॥ ४५ ॥

अन्वय —साहूनी स्मर धारस्य अमुष्य जयाय तदा ज्या विशिखे सनाथपन्
त्रिलोकीविजयाजितानि अपि यशसि सशये निमज्जयामास खलु ।

हिन्दी—साहसशील काम ने धैर्यवान् उम (नल) के जय के निमित्त उस
काल प्रत्यवा को बाणों से सनाथ करते (घनुप की डोरी पर बाण चढ़ाते) हुए
हीनो लोको के विजय से प्राप्त भी यश समूह को कदाचित् सशय में डाल दिया था ।

टिप्पणी—नल को जीतना जोखिम का काम था । इसकी पूरी समावना
थी, त्रिलोकजयी काम को जा जगद्विजयी होने का यश प्राप्त था, यह नल पर
आक्रमण करके अमरुत होने पर मिट जाता, अब उसने एक नहीं, बनेक बाण
(विशिखं) डोरी पर चढ़ाये । काम का अविवेकी होना और नल का अत्यन्त
धैर्यवान् होना सचेतन है । अमरुत में सबष कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति है ।

अनेन भैमी घटयिष्यतस्तथा विधेरब्रन्ध्येच्छतया व्यलासि तत् ।

अभेदि तत्तादृगनङ्गमार्गणैर्यदस्य पौष्परपि धैर्यकञ्चुकम् ॥ ४६ ॥

जीवातु—देवमहायात् पुष्पेपोरेव पुष्पकार फलित इत्याह—अनेनेति ।
अनेन नलेन सह भैमी घटयिष्यत योजयिष्यतो विधेर्विधातुरब-ध्येच्छतया
अमोघमङ्गुलत्वेन यत्समात्तथा तेन प्रकारेण योऽथे बश्यत इति भावः ।
व्यलासि विलम्बित लमतेमवि लुङ् । यत् पौष्परपि न तु कठिनं रनङ्गस्य न तु
देहयत् मार्गणैर्यमेव कञ्चुनमस्य नलस्य अभेदि मित्र, ब्रम्हणि लुङ् । दम-
यतीनलमार्शम्पत्यघटनाय अनङ्गमार्गणैर्नलधैर्यं कञ्चुकभेदनाद्विधेरब्रन्ध्येच्छत्यर्थं

विज्ञापय इत्यर्थं, देवानुबन्धे किं दुष्करमिति भावः । तत्रानङ्गपीप्सयो वञ्चुक-
नित्रमिति विरोधः, तस्य विलासेनाभासीकरणाद्विरोधानासः, स च धैर्य-
कन्दकमिति स्फोटोत्थापित इति तयोर्ङ्गाङ्गिभावेन सङ्कुर ॥ ४६ ॥

अन्वयः—अनेन भैमी घटादिप्यत विधे अदग्धेच्छतया तत् तथा व्यलासि
यत् पीप्से अनङ्गमार्गणं तत् तादृक् अस्य धैर्येकञ्चुकम् अनेदि ।

हिन्दी—इस (काम) ने भीमजा को बनाने वाले विघाता की अमोघ
इच्छा के कारण बहू बंसा (धैर्यनाश कार्य) कर लिया, जो कि फूलों के नाम-
बाणों के उस (नल) उतना दृढ़ बहू धैर्यरूपी कवच विदीर्ण कर दिया ।

टिप्पणी—‘तत् तादृगनङ्गमार्गणं’—पदयास करने का अर्थ हो जायेगा—
‘उम प्रकार के फूलों के कोमल बाणों से’ । ‘अनङ्ग’ शब्द के प्रयोग से यह भी
संकेतित होता है कि दुःसाहसी होने पर भी डर कर काम अप्रत्यक्षत आघात
कर रहा था । यह भी भाव निकलता है कि विघाता की इच्छा से असमर्थ भी
समर्थ है, कि नल का दृढ़ धैर्य भी अनेही के कोमल बाणों से विदीर्ण हो गया ।
दृढ़ का विदीर्ण हो जाना असमर्थ है, यह विरोध है जो विधि की ‘अदग्धे-
च्छता’ से सम्पादित हो गया अतः विरोधानास और ‘धैर्येकञ्चुक मे रूपक’
इस प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोधानास-रूपक का अर्थाभिभाव सक्क
है । विघातक अनुमान और विरोध श्लकार मानते हैं ॥४६॥

विमन्यदद्यापि मदस्रतापिन पितामहो वारिजमाश्रयत्वहो ।

स्मरतनुच्छायतया तमात्मना शशाकशङ्खे स न लङ्घितुं नल ॥ ७॥

जीवातु—अथ विधिमपि जितवतः किं विध्यपेक्षयेत्याशयेनाह—विमिति ।
विमन्दत् अयत् किमुच्यते, पितामहो विधिरपि तस्य स्मरस्यास्वैस्तापितः
सन्तापितः अद्यापि वारिजमाश्रयति तस्य पद्मासनत्वादिति भावः । सर्वनीतेर-
पचाराद्वच गम्यते, अहो विधेरपि स्मरविधेयत्वमाश्रयम् । पितामहतापिन स्मर
स नल आत्मनस्तनोः छायेव छाया कार्तिर्यस्य तस्य भावस्तत्ता तथा तनुच्छा-
यतया तनोश्छाया अनातपस्तनुच्छाया तत्तयेति च गम्यते ‘छाया त्वनातने
कान्तादिति’ वैशयन्ती । लङ्घितुं न शशाक इतह शङ्खे, न हि स्वच्छाया लङ्घितुं
शक्या इति भावः । अत्र स्मरलङ्घने पितामहोऽन्यशक्तः किमुत नल इत्यर्था-

पत्तिस्तावदेकोऽङ्गुलारः । 'एकस्य वस्तुनो भावाद्यन्नवस्त्वयथा भवेत् । कौमुत्य-
न्यायत सा स्यादर्थापत्तिरलङ्कारिणा' इति लक्षणात् तनोश्छायेवच्छायेत्यु-
पमा छाययोरभेदाध्यवसायादतिशयोक्तिः । एतत्त्रितयोपजीवनेनालङ्कारत्वे
तनुच्छायताया हेतुत्वोत्प्रेक्षासङ्कीर्णा, सा च शङ्का इति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति ।

अन्वयः—अहो, अल्पम् किम्, यदस्त्रतापित पितामह अद्य अपि धारिजम्
आश्रयति । शङ्के स नञ् स्मरम् आत्मन तनुच्छायतया लङ्घनम् न घटाक ।

हिन्दी—अरे, और क्या कहा जाय, काम के बाणो से सताये बूढ़े बाबा
अह्मा जी आज भी जलज-कमल का आश्रय लिये रहते हैं । ऐसा लगता है कि
वह नल काम के स्वदेह साम्य अथवा देह की परछाई होने के कारण उसे न
जीत सका ।

टिप्पणी—कामरुध-काम के सताये बूढ़े ब्रह्मा का भी जलजात कमल
में आश्रम लिए रहना यह चोतित करता है कि काम तो सब को ही सताया
करता है सो नञ् का भी सता सका । एक दूसरी समावना भी है कि नल
काम का अपनी छाया समझ बैठे और धोखा खा बैठे ।

'अत्र पितामह मो काम जय में असक्त रहे, तो नञ् की क्या गिनती—'
यह अर्थापत्ति होने में अर्थापत्ति अलंकार हुआ, 'तनुच्छायतया'—तनुच्छाया
के तुल्य, यह उपमा हुई, अतिशयोक्ति भी है, तनुच्छायता हेतु है, अत हेतु-
त्प्रेक्षा भी, जो 'शङ्के' में प्रतीत होती है, अत अर्थापत्ति उपमा-अतिशयोक्ति-
उप्रेक्षा की समृद्धि है । विद्याकर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति, उप्रेक्षा और
इत्ये अलंकार है ।

तनुच्छायतया' का तन्वी छाया यस्य भावस्तथा तथा विग्रह करके यह
अय भी होता है--बिरह-अप्यथित होने से म्लान-शोभा होने के कारण, अ-य-
मन्मथ नल काम को न जीत सका ॥४७॥

उगभुवा वुष्मधुर्गन जम्भितं नवोपहारेण वयसृतेन किम् ।

प्रभासरिदुग्मपि प्रतीर्य सा नलस्य तन्वी हृदयं विवेश यत् ॥४८॥

जोवात्--उरोमुवेति । सा तन्वी भेमी प्रपैव सरिद् संव दुर्गं नलसम्बन्धि
सन्पि प्रतीर्य नञ्स्य हृदयं विवेशेति यत् तत्प्रवेशन 'यत्तदो नित्यमन्मथात्'

वदस्त्वैत नवीनहारेण नूतननिम्नांगेन उरोनृवा तज्जयेत कुम्भपुत्रेण कुचमु-
गाह्येनेति भाव, उपनिशयोक्ति । 'न लीके'त्यादिना वृद्धोपपत्तीप्रतिषेधा-
त्त्वत्तंरि नृवीया, 'नपुंसके भाव उपनख्यानमि'ति पत्ती तृ क्षेपविवशायाम् ।
जृम्भित जृम्भा किमुप्रेक्षा सा चोक्तातिशयोक्तिनूलेक्ति सङ्करः । दमयन्ती-
कुचकुम्भविद्यमप्रदाता न नृवा, तस्मान्नासकत्रवितोऽनूदित्यर्थ, वैन
मनसद्ग उक्त ॥ ४८

अन्वय — सा उक्तातिशयोक्तिनूलेक्ति अपि प्रतीति, नृवा, हृदय विवेक,
(तत्र) दमयन्ती नवीनहारेण कुम्भपुत्रेण जृम्भित किम् ?

हिन्दी—वह कुम्भपुत्र (दमयन्ती) लज्जाहारी नदी में, दुर्ग (प्रतिरोध)
रूपवा लज्जातरी हरी दुर्ग की भी तरु कर जो नद के हृदय में प्रविष्ट हो सकी,
वह क्या साहस्य प्रन्दुत नूतन उपहार कुम्भपुत्र (दो घडे और कुचमुगल)
द्वारा हो सका ?

टिप्पणी—'प्रदाता'कार नारायण ने 'नवीनहारा' का 'नव' नूतन उप-
सनीममजो हारा मुक्ताहारो मय्य दयापन तद्रूपेण' विग्रह में किया है । इस
प्रकार अर्थ हुआ 'नवीन मुक्ताहार रूपधारी उपहार से युक्त कुचकण्ठ ।'
उन्होंने 'जम्बुध्व' जय मानकर 'जृम्भित' को 'दुर्ग' का विशेषण भी माना है ।

प्रणयजन तात्पर्यमद में वहाँ की सहायता से मिलन के निमित्त दुर्गम
नदी तैर जाया करते हैं । अनेक प्रायश्चित्तों में नर-नारी के ऐसे साहस का
वृत्तात मिलता है । पशवी की लोच-प्रसिद्ध प्रायश्चित्त 'सोनीमहीवाल' की
नायिका सोनी भी अपने प्रायश्चित्त 'महिवाल' से मिलने इसी प्रकार जाया
करती थी । श्रोत्रं ने मही भी ऐसी ही कल्पना की है, जिससे नल दमयन्ती
की प्रायश्चित्त प्रकृत होती है । यह सब 'यौवन' की ही इरा है, 'कुचमुगल'
भी 'वय. इत'—यौवन के उपहार हैं ।

विद्यापार ने इसमें उल्लेख, रुचक ओर श्लेष ब्रह्मकार माने हैं । मन्त्रि-
नाथ ने यहाँ उपरेक्षा अतिशयोक्ति का सङ्कर माना है ॥ ४८ ॥

अपह्लावानम्य जनाय यन्निजामवीरतामस्य कृत मनोमृवा ।

अवोर्ध्व तज्जागरदुःखसाक्षिणी निगा च शय्या च सागाङ्गकोमला ॥ ४९ ॥

जीवातु—अथास्य जागरावस्वामाह—अपह्नुवानस्येति । निजामधीरता चपलत्व अनायापह्नुवानस्यापलपत 'इलाघह्नुइस्येति' त्यादिना सम्प्रदान त्वाच्चतुर्थी । अस्य नलस्य मनोभुवा कामेन यज्जागरप्रलापादिक कृतन्तत्सर्वं जागरदुःखस्य साक्षिणी 'साक्षाद्दृष्टि सञ्जायामि'ति साक्षाच्छब्दादितिप्रत्यये ङीप् । शशाङ्केन कोमला रम्या निशा चाबोधि । 'दीपजने'त्यादिना वक्षरि क्लेशिणादेस । तथा शशाङ्कवत्कोमला मृदुला शय्या अबोधि, निशायां शय्याया जागरणयोस्तत्साक्षित्वमिति भाव ॥ ४९ ॥

अन्वय—निजाम् अधीरता अपह्नुवानस्य अस्य मनोभुवा यत् कृत तत् जागरदुःखसाक्षिणी शशाङ्ककोमला निशा शय्या च अबोधि ।

हिन्दी—अपनी अधीरता को छिपाते इस (नल) की मनोभव काम ने जो दुर्दशा की, उसे जागरण के कष्ट की गवाह चद्र से मनोहर चाँदनीरात और सारहे के अक के समान मुलायम अथवा चंद्रतुल्य घबल आवरण से युक्त अथवा चद्र अर्थात् बपुर छिडक कर शीतल बनायी गयी शय्या हो जान पायी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल का उत्कट विरह और लज्जाशीलता चोतित है । उसके मन की पीर को रात और शय्या के अतिरिक्त कोई न जान सका । 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार इसमें इलेप है और 'चञ्चला' के अनुसार तुल्ययोगिता और उपमा ॥ ४९ ॥

स्मरोपतसोऽपि भृशं न स प्रभुर्विदम्भराज तनयामयाचत ।

त्यजन्त्यसूक्ष्मं च मानिनो वर त्यजन्ति न त्वेकमयाचितव्रतम् ॥ ५० ॥

जीवातु—ननु किमनेन निबन्धनेन, याच्यताम्भीमनूपतिर्दमयतीम्, नेत्याह—स्मरेत्यादि भृशं गाढ स्मरोपतस्य कामस्य तसोऽपि प्रभु सपर्यं स नल विदम्भराज भीमनूपतितनया दमयतीं न अयाचत न याचितवान् 'दुहियाची'त्यादिना यार्धद्विवर्भक्ता । तथाहि—मानिनो मनस्विनोऽत्युच्चमनस्वा प्राणान् क्षमं च मुसञ्च त्यजन्ति एतत्यागोऽपि वर मनाक् वरमिति मनागुत्कर्षं इति महापाध्यायवदंमनि । किन्तु, एकमद्वितीयवयाचितव्रतम् अयाच्यानियमन्तु न त्यजन्ति, मानिनां प्राणत्यागदुःखाद् दुर्गहं पाच्याया दुःखमित्यर्थं । मामायां विशेषसमर्चनरूपोऽर्थान्तरमास ॥ ५० ॥

अन्वय — मृत्यु स्मरीतउत्त अपि स प्रभु विदमराज तनया न अयाचत,
मानि अहम् शर्म च त्यजन्ति, एवम् प्रयाचितव्रत न त्यजन्ति ।

हिन्दी—जन्त नाम सतउ होने पर नी उत सर्वसमय राजा नल ने
विदमनरेष से उनकी पुत्री (दमयन्ती) की याचना नहीं की । आत्मानिमानो
पुरुष प्राणों को और मुख को सज सकते हैं किन्तु एक अयाचना (किसी से
कुछ न मागना) रुपी व्रत को नहीं छोड सकते ।

टिप्पणी—सम्मानो कष्ट सह लेंते हैं, पर किसी से कुछ मागते नहीं,
नल भी ऐसे ही मानी थे—प्रभु । सामान्य से विशेष का समर्थनरूप अर्थान्तर-
न्यास अलंकार ॥५०॥

मृषाविषादाभिनयादयं कश्चिज्जुगोप निःश्वासतति वियोगजान् ।

विलेपनस्याधिकचन्द्रभागताविभावनाचनापललाप पाण्डुताम् ॥५१॥

जीवात्—मृषेति । अय नलो वियोगजा दमयन्तीवियोगजन्या निःश्वास-
तति निःश्वासनरम्परा क्वचिद् कुत्रचिद्वस्त्व तरे विषये मृषाविषादस्य मिव्या-
दुक्तस्याभिनयात् छलेन, जुगोप सक्वार । तथा पाण्डुता विषदता शरीर-
पाण्डिमान च विलेपनस्य चन्दनादधिक चन्द्रभाग कर्पूराशी यस्मिन् विलेपने
'धनसारअन्द्रसङ्ग सिताश्रो हिमवासुजा' इत्यमरः । तस्य भावस्तता तस्या
विभावनात् कर्पूरमायाधिकतोऽप्रेतपादपललाप निह्नुते स्म । अत्राङ्गताम्या
मृषाविषादचन्द्रभागपाण्डिमन्या तद्विरहश्वासपाण्डिमनोनिगूहनान्मीलनाल-
ङ्कारः । 'मीलनं वस्तुना यत्र वस्त्वतरनिगूहनम् ।' इति लङ्गात् ॥ ५१ ॥

अन्वय —अय क्वचिन् मृषाविषादाभिनयात् वियोगजा निश्वासतति
जुगोप, विलेपनस्य अधिकचन्द्रभागताविभावनात् च पाण्डुताम् अपललाप ।

हिन्दी—उत्त राजा नल ने कभी झूठे छेद-प्रकाशन का अभिनय करके
(किसी और विषय पर छेद प्रकट करने के बहाने) वियोग के कारण सजात
लम्बी साँसों को छिपाया और लेप (अंगराग) में कर्पूर की अधिकता को
कारण बता कर वियोगजनित पाण्डुता को छिपाया ।

टिप्पणी—राजा की लज्जाशीलता और विरहदया का वर्णन, पाण्डुता
को लेप से छिपाना आदि होने से मन्त्रिनाथ ने यहाँ 'मीलन' अलंकार का

निर्देश किया है और छय से भिन्न वन्तु के रूप निगूहन के आधार पर विद्या-
घर ने व्याजोक्ति ॥५१॥

शशाक निह्लोतुमनेन तत्प्रियामय वभापे यदलीकव्रीक्षिताम् ।

समाज एवालपितासु वैणिकैर्मुमूर्च्छं यत्पञ्चममूर्च्छनासु च ॥५२॥

जीवातु—शशाकेति । अयत्रलोऽलीकव्रीक्षिता मिथ्यादृष्टा प्रिया दमयती
समाजे सभायामेव यत् वभापे वभाषण, वीणा शिपमेपा तैर्वैणिकं वीणावादे
'शिल्पमि'ति ठ्ठ् । आरुपितासु मूर्च्छरितासु व्यक्ति गतास्वित्यर्थं । 'राग-
व्यञ्जक आलाप' इति लक्षणात् । पञ्चमस्य पञ्चमाव्यस्य स्वरस्य मूर्च्छनासु
'धारोहावरोहणेषु क्रमात् स्वराणा सप्तानामारोहादवरोहणम् । मूर्च्छंनेत्युच्यत'
इति लक्षणात् । पञ्चमग्रहणन्तस्य कोत्रि गणपकोमरत्वेन उद्दीपकस्वातिशय-
विवक्षयेत्यनुसंधेयम् । मुमूर्च्छंत्यपि यत्तदुभयम् अनेन प्रकारेण निह्लातुमाच्छा-
दयितुं शशाक । 'अये' इति पाठे विपादे इत्यर्थं । 'अये कोत्रे विपादे'चे'ति
विश्व । एतेन ह्योत्यागोन्मादमूर्च्छावस्थाः सूचिता ॥ ५२ ॥

अन्वय —यत् अयम् अलीकव्रीक्षिता प्रिया वभापे, यत् च वैणिकं पञ्चम-
मूर्च्छनासु आरुपितासु समाजे एव मुमूर्च्छं तत् अनेन निह्लोतुं शशाक ।

हिन्दी—जो कि नर ने भ्रांति से मिथ्या परिलक्षित प्रिया दमयती ने
प्रति कुछ कहा और वेणुवादको द्वारा पञ्चम स्वर की मूर्च्छनाश्री में आलाप लिख
जाने पर जो समाज सभा में वे मूर्च्छित हुए, वे इसे (इसी कारण उस
अलपित और मुच्छित हो जान की वास्तविकता को) छिपाते भी समर्थ हुए ।

टिप्पणी—प्रथम चरण में 'शशाकनिह्लोतुमनेन' पाठ भी है, 'अयन निह्ला-
तु शशाक'—शशाक पदच्छेद करने पर अर्थ हुआ कि नर का अपरिचित सभा-
मध्य मूर्च्छनालाप सुनने से 'अयन'—माध्य में बच गया । यह समझा गया
कि वे रागालाप से मूर्च्छित हो गये हैं, अथवा सम्भ्रमण ही रागालाप के समो-
हन में आ गये और वे नर का अपरिचित न सुन सके । यह सब ईश्वर्य ही
हो पाया । यह जादि सप्तस्वरों के रम में आरोह अवरोह मूर्च्छना कहे जाते हैं
(चान्द्रदेव, सगीतरत्नाकर, स्वराध्याय) । भरतराय (पंडितमण्डरी) के
अनुसार 'मूर्च्छं' वातु मु त्मुट् प्रत्यय हाकर कर्णापं में मूर्च्छना शब्द की निष्पत्ति

होती है—जितका अर्थ है मोह और उच्छ्राय अर्थात् उभरना । भरत (नाट्य-शास्त्र २८।३२) के अनुसार 'क्रमयुक्त सप्तस्वर' मूर्च्छना हैं । तुम्बुरु 'श्रुति (नाद के श्रुतिगोचर होना) के मादंवं' को मूर्च्छना मानते हैं । श्रुति का मादंवं—उत्तरी हुई अवस्था कोहल (भरतकोष) के अनुसार अमृतसरोवर में गायक और श्रोताओं के मन का मञ्जन मूर्च्छना है । (यही अर्थ यहाँ अमि-प्रत है ।) नान्यदेव (भरतकोष) का कथन है कि जिस स्वर से उच्छ्राय आरोह होना है, उनी स्वर से अब समाप्ति भी होती है, तब मूर्च्छना होती है । जैसे पङ्कज राम प्रथम मूर्च्छना—'सा रे ग म प ध नि सा ।' सामान्यतया किन्हीं सात स्वरों का उच्चार-बटाव मूर्च्छना है । 'प्रकाश'-कार ने मूर्च्छनाओं की रचना इक्कीस बतायी है । 'नाट्यशास्त्र' (२८।३१) में स्वर-क्रमयुक्त सम्पूर्ण पाठने, औदुवीहता और स्वर-साधारणोहता मूर्च्छनाएँ चौहद बतायी गयी हैं । 'वालापित' कहते हैं राग के प्रकटीकरण को ।

'जयेन' का शब्द (जये—न) करके 'प्रकाश'कार ने यह भी अर्थ किया है कि नल समाजनों से तो वास्तविकता छिना सके 'इ'—काम (इ काम तस्मै जये) से नहीं । इस पद्य में नल का लज्जात्याग, उन्माद और मूर्च्छा सूचित हैं । ऐकानुप्रास अक्षरकार ॥१२॥

अवाप सापन्नता स भूपतिर्जिनेन्द्रियाणा घुरि कीर्तिनम्यति ।

असवरे शम्बरवैरिविक्रमे क्रमेण तत्र स्फुटतामुपेयुपि ॥५३॥

जोवातु—अवापेति । जितेन्द्रियाणा घुरंघ्रे कीर्तितस्यति स्तुतमवां द म भूपति नल तत्र समाजे असवरे सवरितुमशक्ये सवरेण सवर शमश्चेत्पि, न विद्यते सवरो यम्य तन्मिन् शम्बरवैरिविक्रमे मनसिजविकारे क्रमेण स्फुट-तामुपेयुपि सति सापन्नता नत्त्वंताम् अवाप । धर्मशास्त्रिणा तद्भङ्गल्लनाकर इति भाव ॥ ५३ ॥

अन्वय—जितेन्द्रियाणा घुरि कीर्तितम्यति स भूपति तत्र असवरे शम्बर-वैरिविक्रमे क्रमेण स्फुटतामुपेयुपि सापन्नताम् अवाप ।

हिन्दी—जितेन्द्रियों में अग्राम्य (जितका कथन सर्वप्रथम हो) वह भूमि-पति समा के बीच असवराण्य (रोक जा सकने वाला) शबरासुर ने शम्-

काम का विक्रम (विकार) क्रमशः प्रकट हो जाने से लज्जायुक्त हो गया । प्रथम चरण में 'पकार' की आवृत्ति होने से वृत्त्यनुप्रास है, पूर्वार्द्ध में अन्त्य और उत्तरार्द्ध में 'व, र' और 'क्रम' की आवृत्ति होने से छेकानुप्रास है । इन तीनों अनुप्रासों की निरपेक्षता से स्थिति होने के कारण सृष्टि ॥५३॥

अल नल रोद्धुममी किलाभवन् गुणा विवेकप्रभवा न चापलम् ।

स्मरं स रत्यामनिरुद्धमेव यत्सृजत्यय सर्गनिसर्ग ईदृश ॥५४॥

जोवातु—ननु विवेकिन कुत इदं चापल्यम् ? इत्यत आह—अलमिति ।

युक्त्यायुक्तविचारो विवेक तत्प्रभवा अमी गुणा धैर्यादय नलमिदं स्त्रीलामरूप चापल निरोद्धुम् 'दुहियाची'त्यादिना रुन्धेद्विकर्मवत्वम् । अल समर्था नामवन् किल खलु । तथाहि—स्मरं काम । जनमिति शेष । जन रत्या रागे अनिरुद्ध-सृजति अनीश्वरमवशं करोति रत्या रतिदेव्यामनिरुद्धात्पुं कुमारं सृजतीति ध्वनि । इति यत् अयं सर्गनिसर्गं सृष्टिस्वभाव इदृश । 'रति स्मरप्रियाया च रागेऽपि मुरतेऽपि च' । 'अनिरुद्धं कामपुत्रेऽरुद्धे चानीश्वरेऽपि चे'ति विश्व । अत्र स्मररागदुर्वारतायाः सबसृष्टिसाधारण्येन चापलदुर्वारतासमर्थनात् सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ५४ ॥

अन्वय—अमी विवेकप्रभवा गुणा नल चापल रोद्धुम् अल न अमवन् किल, अयम् ईदृश सर्गनिसर्गं यत् स्मरं रत्याम् अनिरुद्धम् एव सृजति ।

हिन्दी—ये विवेक से समुद्रमूठ ('विवेकप्रमुखा' पाठांतर में विवेकादि) गुण नल की अपलता या अवरोध-निवारण करने में समर्थ न हो पाये, यह ऐसी सत्कार की प्रकृति—स्वभाव है कि काम (अवस्थाविशेष होने पर अनुप्रास को) प्रणय में स्वच्छद बना ही देता है ।

टिप्पणी—भावार्थ यह है कि साक्ष्य में काम सभों को घबड़ा बनाकर प्रणय में स्वच्छद बना देता है । स्मर, रति, अनिरुद्ध-शब्दों के प्रयोग से कवि पौराणिक कथा का भी संकेत देता है—कामावतार कृष्णतनय प्रद्युम्न अपनी रति-अवतारिणी प्रिया में अनिरुद्ध नामक पुत्र को ही उत्पन्न करता है । मस्तिष्कनाथ के अनुसार यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास है, विद्याधर न हसने उर्रेता और हनु अलङ्कार माने हैं ॥५४॥

अनङ्गचिह्नं स विना शशाकं नो यदा नितु सप्तदि यत्नवानपि ।

क्षणं तदारामविहारकेनवान्निपेविनु देगमियेप निर्जनम् ॥१५॥

जीवानु—अथास्य मत्तोत्पत्तिद्वयीपयिकदिव्यहममुवादिनिदानमूत वन-
विहार प्रन्तीति—अनङ्गेति । न नैपयो नन्ते यत्नवानप्यनङ्गचिह्नं मूर्छा-
प्रशपादिस्मरविकार विना सप्तदि क्षणप्यासिनु यदा नो शशाक, तदा
वारामविहा—तैववाडुनवनविहरन्याजान्निर्जनं देश निपेवितुम् इत्येप देगान्तर
गन्तुमैच्छदियं । एतेन चापलास्ये सञ्चारिणि भ्रमनलक्षणानुनाव उक्तः ॥

अन्वय—यत्नवान् अपि सः यदा अनङ्गचिह्नं विना सप्तदि क्षणम् आसिनुं
नो शशाक तदा आगमविहारकेनवात् निर्जनं देश निपेवितुम् इत्येप ।

हिन्दी—प्रन्तः शीघ्रं होकर नो यह (नल) जब कामचिह्नों के बिना
अप्रकट रहते सप्तदि में क्षण भर नो बैठने में उत्तमयं रहा, तदा उद्यान विहार के
वहाने निर्जन स्थान का सेवन करना चाहने लगा ।

टिप्पणी—सञ्चारिमाव वपलता और भ्रम अनुनाव का दर्शन । विद्याप
के अनुनाव चहनुति अङ्कार । शब्दलङ्कार वृत्त्यनुनाव ॥१५॥

अथ श्रिया भस्मितमत्स्यकेतनस्सम वयस्यैस्वरहृम्यवेदिमि ।

पुरोपकण्ठोपवन किञ्चित्ता दिदेश यानाय निदेशकारिण ॥५६॥

जीवानु—अयेति । अयानन्तर श्रिया सौन्दर्येण भस्मितमत्स्यकेतनस्ति-
रमृतस्मर स स्वरहृम्यवेदिमि निजभैमीरागमर्मज्ञैर्वंदमा तुल्या वयस्या
स्तिग्मा 'स्तिग्धो वयस्य सवना' इत्यमर । तं मह सम पुरोपकण्ठोपवन पुर-
समीपाराममीक्षिता द्रष्टा, तृन्तमेवैतत् अतएव 'न लोके' त्यादिना पट्टी-
प्रतिषेध । किञ्चिन्त्येकीके । निदेशकारिण आज्ञाकरान् यानाय यानमानेतु-
मित्ययं । 'श्रियायोपि' त्यादिना चतुर्थी । दिदेश आज्ञापयामास ॥ ५६ ॥

अन्वय—अथ श्रिया भस्मितमत्स्यकेतन स्वरहृम्यवेदिमि वयस्यै सम
पुरोपकण्ठ वनम् ईक्षिता यानाय निदेशकारिण आदिदेश ।

हिन्दी—तदनन्तर अपनी योग्या में मीनश्वर काम को तिरस्कृत करनेवाले
नठ ने अपने रहस्य के वेत्ता तुल्यवयस्क मित्रों के साथ नगर के निकटवर्ती उपवन
को देखने की इच्छा जताते हुए वाहन आने के लिए आज्ञापालक सेवक को
आदेश दिया ।

टिप्पणी—‘भस्तित्रमल्पवेतन’ से यह भी ध्वनित है कि काम नल की सोमा बढ़ाने का काम करनेवाला कर्मचारी हुआ, इस प्रकार नल के कामचिह्न-युक्त अंग भी उनके कामजयी होने का प्रमाण देने लगे । विद्याधर के अनुसार इसमें उपमा और सहोक्ति है ॥५६॥

अमी ततस्तस्य विभूषित नित जवेऽपि मानेऽपि च पौरपाधिकम् ।

उपाहरन्नद्वमजसचञ्चलै तुराञ्चलै क्षोदितमन्दुरोदरम् ॥५७॥

जीवात्—अमी इति । तत आज्ञापनानन्तर अमी निदेशकारिण तस्य विभूषितमलङ्कृतञ्जवेऽपि बेगेऽपि माने प्रमाणेऽपि च पौरपात् पुरपगतिवेगात् पुरपप्रमाणात् चाधिक ‘उर्ध्वंविस्तृतदो पाणिनुमाने पौरप त्रिपु’ इत्यमर । ‘पुरुषहस्तिम्यामण् च’ त्यप्प्रत्यय । अजसचञ्चलैश्चतुस्वभावं तुराञ्चलै सफाषं क्षोदित मन्दुरोदर चूर्णीकृताश्रयालाम्बन्तर ‘वाजिशाला तु मन्दुरे’त्यमर । एतेनोत्तमाद्वलक्षणयुक्तं सित श्वेतमद्वमृपाहरञ्चानि युजित्वयम् ॥५७॥

अन्वयः—उत्त प्रमी तस्य विभूषितं सितं जवे अपि माने अपि च पौरपाधिकार अजसचञ्चलं तुराञ्चलं क्षोदितमन्दुरोदरम् अश्वम् उपाहरम् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् ये निदेशकारी उन (नल) के सुसज्जित, स्वतरंग के वेग में भी और परिमाण (ऊँचाई) में भी पुरुष प्रमाण कथवा बल में अधिक निरन्तर चञ्चल तुरो की अँगली कोरों से मन्दुरा (धुडसाल) के मध्य की विदीर्ण करनेवाले अश्व को ले आये । -

टिप्पणी—इस श्लोक से अगले सात श्लोकों तक अश्व का वर्णन है, जिस पर नल सवार हुए—‘कुल्ब’ अर्थात् एक ही भाव से सबद्ध पञ्चाधिक पद्य । इत्यनुप्रास और छेकानुप्रास की समृद्धि ॥५७॥

अथान्तरेणावट्टगामिनाऽध्वना निशीथिनोनापमहस्सहोदरे ।

निगालाद् देवमणेरिवोत्थितैर्विराजित केसरवेशरश्मिभि ॥ ५८ ॥

जीवान्—अथ सप्तमि कुल्बमाह—अथेत्यादि । अथानन्तरं स नलो ह्यमाहरोहेत्युत्तरेणावट्टम् । अथनूतमात्तरेणाम्बन्तरेण अवट्टगामिना वृकाटिकाद्यमन्तवपृथुमाजा ‘अवट्टर्षाटा वृकाटिवे’त्यमर, अध्वना मार्गेण निगालगाद्गलोद्देशात् ‘निगालस्तु गलोद्देश’ इत्यमर । देवमणि आवत्तविशेष,

'निगात्रजो देवमणिरि'ति लक्षणम् । दिव्यमाणिक्यं च गम्यते, तस्माद्भुव्यर्न-
रिव म्यनैरित्युपेक्षा । निशीथिनीनाथमहं नहोदरं अन्नासुसद्वृणैरित्युपमा ।
केसरकेशा एव रम्यय इति रूपकं तैविराजितम् ॥ ५८ ॥

अन्त्रम् —अथ निशीथिनीनाथमहं नहोदरं निगात्रात् देवमणे आन्तरेण
अवटुपामिना गधना उम्निनै इव केसरकेसरदिग्नि विराजितम् (त हनम्
वाहरोरु—इति (६४) चन्पात्तमेत इत्येकेन अन्वयः) ।

हिन्दी—तत्परत्वात् निगानाथ (चद्र) की किरणों की सहजात (चन्द्र-
किरणों-सी शुभ्र, उज्ज्वल), तत्र प्रदश में म्यित देवमणि (घडो के कंठ की
भाति दाहिनी ओर धूमि—दक्षिणावर्त,—धुन, घोडा की गरदन पर होने
वाली बालों की नैवरी) से अवटु अर्थात् गर्दन के पीछले भाग तक के आंतर
अर्थात् मध्य से जानेवाले मार्ग से उद्भूत जैसी, कपे पर फँसे बालों की किरणों
से सुशोभित घोड़े पर नल आरूढ हो गये ।

टिप्पणी—चौसठवें श्लोक तक अत्र का दर्शन है, जिसमें 'घोड़े पर
आरूढ हो गये—इस वाक्य तक अन्वय होता है । सुभ्रता के कारण केसर-
रदिगियों की तुलना चद्रकिरणों से की गयी है । 'देवमणि' चद्र का भी कहा
जाता है, इस प्रकार 'देवमणे उत्थितम्' का सादृश्य भी बैठ जाता है । 'प्रकाश-
कारने 'विराजित' का अर्थ किया है 'पक्षिराज गहड के तुल्य वेगवान्'—'दीना
पक्षिणा राजा विराजो गहड तद्भावरितम् ।' विद्याधर के अनुसार इस पद्य
में अनुप्रास-उत्प्रेक्षा-रूपक का सङ्गर है । 'चद्रकला' कर्ता ने उपमा-उत्प्रेक्षा-
रूपक की मसृष्टि का निर्देश किया है । मल्लिनाथ ने भी उत्प्रेक्षा-उपमा रूपक
बलञ्चार माने हैं ॥५८॥

अजलनूमीनटकुट्टनोद्गतैरुपास्यमानं चरणेषु रेणुभिः ।

ग्वप्रकर्षाध्ययनायमागतैर्जनस्य चेनाभिरिवाणिमाङ्कितैः ॥ ५९ ॥

जीवातु—उच्यते । अजलनूमीनटकुट्टेन उद्गते रेणुभि र्वप्रक-
र्षस्य वेगातिशयस्याध्ययनायमागतेरर्जनस्य चेनाभिरिवाणिमाङ्कितैरपुत्वरिमाणविशिष्टै-
र्जनस्य लोकस्य चेतोभिरिवेत्युत्प्रेक्षा । चरणेषु पादेषु उपास्यमानं सेव्यमानम् ।
'अपूपरिमाण मन' इति तात्पर्यम् ॥ ५९ ॥

अन्वय—रथप्रकर्षाव्ययनायम् आगतं अणिमाद्धितं जनस्य चेतोमि
इव अजस्रभ्रूमीतटकुट्टनोदगतं रेणुमि चरणेषु उपास्यमानम् इव ।

हिन्दी—वेग की प्रकृष्टता—आविष्य को सीखने आये, परिमाण में अणु
के समान लोगों के चित्तों के तुल्य निरन्तर भूमितल के कूटने से उड़ी घूलि में
उपामित (युक्त और पूजित) घोड़े पर ।

टिप्पणी—अश्व के वेग और स्वभाव का वर्णन । रेणु की तुलना अव्ययन
करने आये मन से करना द्योतित करना है कि अश्व 'मनोजव' ही नहीं था,
मन से कहीं अधिक वेगवान् था, उसी कारण घूलि-कणरूप में जन-मन अश्व के
चरणों पर सलग्न ही नहीं थे, शिष्यों के सदृश चरणोपासना कर रहे थे ।
मल्लिनाथ ने इस श्लोक में उत्प्रेक्षा का ही उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा
और जाति धलकार माने हैं। चद्रकलाकार ने समासोक्ति-उत्प्रेक्षा का 'एका-
शयानुप्रवेशसकर' माना है ॥५९॥

चलाचलप्रोथतया महीभूने स्ववेगदर्पानिव वक्तुमुत्सुकम् ।

अल गिरा वेद किलायमाशय स्वय ह्यस्येति च मीनमास्थितम् ॥६०॥

'जीवातु—चलाचलेति । पुन चलाचलप्रोथतया स्वभावत स्फुरमाण-
घोणतया 'चरिचलिपदीनामुपसखाना'ञ्चलेद्विवंचन दीघञ्च । 'घोणा तु प्रोथ-
मस्त्रियामि'त्यमर । महीभूते नशाय स्ववेगदर्पान् वेगातिरेकान् वक्तुमुत्सुक-
मुद्युक्तमिवेत्युप्रेक्षा । अथावचने हेतुमुत्प्रेक्षते-अलमिति । गिरा उक्त्या अल,
कुत, अय नल स्वय ह्यस्याश्वस्य आशयमभिप्राय वेद वेति किल ।
'विदो एटो वे'ति णलादेश । इति हेतोरिवेत्यनुपज्ञः । मीन तूष्णी-
म्भावञ्चास्थित प्राप्तम् । अश्वहृदयवेदी नल इति प्रनिद्धि ॥ ६० ॥

अन्वय—चलाचलप्रोथतया स्ववेगदर्पान् महीभूने वक्तुम् उत्सुकम् इव,
अय स्वय ह्यस्य आशय वेद किञ्—इति गिरा अलम् आस्थितम् ।

हिन्दी—अत्यंत चलाचल नासापुट ओप्लाग्रभाग से युक्त होने के कारण
अरने वेगभिमान के विषय में माना राजा से निवेदन करने को उत्सुक परतु
यह (राजा) स्वय पाठक के आशय को समझता है—तो वाणी को विधाम
शिय—मीन घाड़े पर ।

टिप्पणी—‘चलुचलप्रोपता’ अश्व का स्वभाव है, इसी आधार पर यह उत्प्रेक्षा है। राजा हयाशय को समझता है—यह उक्ति नल के अश्वविद्या-विशारद होने को संकेतित करती है। विद्याधर ने इस श्लोक में सापह्नुवा-उत्प्रेक्षा बतायी है। चन्द्रकलाकार ने पूर्वार्द्ध में द्वाच्या और उत्तरार्द्ध में प्रतीय-माना उत्प्रेक्षा का निर्देश कर दोनों की निरपेक्षम्यति के आधार पर असृष्टि-इत्यन्तर माना है ॥६०॥

महारथस्वाध्वनि चक्रवर्तिनः परानपेक्षोद्बहनाद्यश्मिन्तम् ।

रदावदानाङ्गुमिपादनीदृशा हनन्ममन्वर्षानवना रवे ॥ ६१ ॥

जीवातु—महारथस्येति । महान् रथो यस्य तस्य महारथस्य । ‘आत्मानमारविञ्चदाश्व रक्षन् युद्धयेत यो नरः । न महारथस्य न स्मादित्याहुर्नोतिको-विदा ।’ इत्युक्तं शास्त्रस्य रजिकविशेषस्येत्यर्थः । अन्वयः महारथो नः तस्य महारथस्य चक्र राष्ट्रं वर्तयतीति चक्रवर्ती सार्वभौम तस्य नलस्य, ‘हरिश्चन्द्रो नलो राजा पुरु कुस्त पुरुरवा । सागरं कार्तवीर्यञ्च पठेते चक्रवर्तिनः ॥’ इत्यागमात् अन्वयः चक्रैरेकेन वर्तनशीलस्येत्यर्थः । अध्वनि मार्गं नापेक्षत इत्यनपेक्षपचाद्यच्, परेपामनपक्ष तस्मादुद्बहनादसहायोद्बहनादेतोर्यश्च नित कीर्तिविशम् अत एवानोद्गामीदृशयशोरहितानाम् । ‘सत युञ्जन्ति रथमेक-चक्रमि’ति सप्ताना सम्भूयोद्बहतश्रवणादिति भावः । रवेरवतामदवानामन्तर्व-त्तमन्तःसार रदाना दन्ताना ये अवदाताः सित्वा अश्व तेषा मिपादसन्त हन्तनिव स्थितमित्यर्थः । अत्र मिपशब्देनाशूनामसत्यत्वमापाद्य हासत्वो-त्प्रेक्षापात्सापह्नुवोत्प्रेक्षेण गम्या च अञ्जुकाप्रयोगात् । ‘रदना दशना दन्ता रदा’ इत्यमरः ॥६१॥

अन्वयः—महारथस्य चक्रवर्तिन अध्वनि परानपेक्षोद्बहनात् यद्यपि रदावदानाङ्गुमिपात् अनीदृशा रवे अवता दलम् अन्त हसन्तम्* ।

हिन्दां—महान् योद्धा, चक्रवर्ती राजा नल को मार्ग में अन्य अश्वों के अपेक्षा न करके उद्बहन (चढ़ाने) के कारण प्राप्त यद्य से मानो युद्ध, श्वेत दाँतों की किरणों के ध्यात्र से अन्य को अपेक्षा बिना—अकेले टोने में असमर्थ सूर्य के घोड़ों के बल पर मन-ही-मन हँसते* ।

टिप्पणी—सूर्य के सात घोड़े मिलकर सूर्य का उद्बहन करते हैं और राजा नल का घोडा अकेला सूर्य से भी अधिक प्रजापी नल को चढ़ा ले जाता

है। इस प्रकार यह उन सारों से श्रेष्ठ है और उन पर हँसने का अधिकारी है। घोड़ा सफेद रंग का है, जो मानो उसे प्राप्त यश की शुभ्रता है, सूर्याश्वो का रंग नीला कहा जाता है, यह मानो उनकी अकीर्ति का द्योतन करता है। महारथ का अर्थ महान् रथ वाला भी है। यो महारथ उसे कहते हैं, जो दश सहस्र धनुर्धारियों से अकेला लड़ सके और दसत्र शस्त्र प्रयोग हो। जो पुरुष अपने सारथि और रथ की रक्षा करता हुआ युद्ध कर सके, वह भी महारथ कहा जाता है। विद्याधर के अनुसार इस पद्य में अपह्नुति व्यतिरेक-श्लेष का सकार है, मल्लिनाथ सापह्ला उल्लेख मानते हैं। भविष्योत्तरपुराण-आदित्य-स्तोत्र के अनुसार सूय के सात घोड़े हैं—(१) जय, (२) अजय, (३) विजय, (४) जितप्राण, (५) जितधर्म, (६) मनोजव और (७) जित-क्रोध—‘जयोऽजयश्च विजयो जितप्राणो जितधर्म । मनोजवो जितक्रोधो गजिन सप्तकीर्तिता ॥६१॥

सितत्वपश्चच्चलतामुपेयुपो मिषेण पुच्छस्य च केसरस्य च ।

स्फुटान्चलच्चामरयुग्मचिह्नकैरनिहनुवान निजवाजिराजताम् ॥६२॥

जीवातु—सितेति । पुन कथम्भूतम् ? सितत्वप विशदप्रभस्य चञ्चल-तामुपेयुपा चञ्चलस्यैत्यर्थं । पुच्छस्य लाङ्गूलस्य केसरस्य ग्रीवास्थवारस्य च मिषेण च्छलेन चलत्त्रामरयुग्मस्य चिह्नकं लक्षणं स्फुटा प्रतिष्ठा निजा वाजिराजतां अश्वेश्वरत्वमनिहनुवान प्रकाशयन्तमिव । अश्वामिन कथञ्चा-मरयुग्ममिति भाव । पूर्ववदलङ्कार ॥ ६२ ॥

अन्वय—सितत्वप चचलताम् उपेयुप पुच्छस्य केसरस्य च मिषेण चलच्चामरयुग्मचिह्नकं निजवाजिराजतां स्फुटम् अनिहनुवानम् ।

हिन्दी—श्वेत दीप्तियुता, चचलता को प्राप्त (चचल) पूँछ और केसर (अयाल, गरदन के बाल) के ध्याज से डोलने चामर युगल-(राजोपयुक्त)-चिह्न द्वारा जैम अपना अश्वराज होना स्पष्टतया प्रकट करते ।

टिप्पणी—पुच्छ और केसर दो राजाओं के चिह्न हैं—एक ओर चामर राजा धारण करते हैं—दूसरे दो चिह्नों के लिए ‘विहर्ष’ बहुवचन ‘चलन्त्रिया देणया’ है—यह ‘प्रकाश कार की मायता है। विद्याधर और मल्लिनाथ इस

श्लोक में सापह्लावा उत्प्रेक्षा मानते हैं, चद्रकलाकार ने इसे अणु-नुति-उत्प्रेक्षा की समृष्टि कहा है ॥६२॥

अपि द्विजिह्वान्भवहा-पांरुपे मृदानुपत्तायतवन्गुवलाया ।

उपेपिवाप्त प्रतिमल्लता रयन्मये जितस्य प्रनभ गरुत्मन ॥६३॥

जोशानु—बगीति । पुन वनम्भूत त्वितम् ? रयन्मये वेगप्रयुक्ताटङ्कारे प्रनभ प्रनह्य जितस्य प्राप्तेत्र विजितस्य गरुत्मन मुदानुपत्ता वक्ताग्ना जायता दीर्घा वन्तु रम्या च या वन्ता मुखरज्जु तया तन्मिपेपेत्यर्थ । द्विजिह्वानाम्हांनानामभवहारे आहारे यत् पांरुपे सर्पमक्षणपुष्टपनारेऽपि प्रतिमल्लता प्रनिद्वन्द्वितामुपेपिवास प्राप्तम् । तथा च गम्भोदप्रेक्षेयम् । 'उपेपिवाप्तनाद्वान-नूषान्मये'ति वचमुपेपयान्तो निपात ॥ ६३ ॥

अन्वय—रयन्मय प्रनभ जितस्य गरुत्मन' द्विजिह्वान्भवहारपांरुपे अपि मुदानुपत्तायतवन्गुवलाया प्रतिमल्लताम् उपेपिवासम् ।

हिन्दो—वेग के रूप में बलात् विजित पक्षिराज गरुड के द्विजिह्वनपां के मक्षणरूप पुरुषार्थ में भी मुँह में लम्बी और शीतलमयी लाम लगी हान से (गरुड की) प्रतिमल्लता को प्राप्त होत ।

टिप्पणी—नल की सवारी का घोडा गरुड क्या, मन से भी अधिक वेग-वान् था, गति में तो उसने पक्षिराज को जीता ही था, इस पद्य में 'सर्पमक्षण-पोरुप' में उसे जीता जीतित किया गया । मुखलग्ना वन्ता ही मक्षण किये जाते सर्प की प्रतिमान है । विद्याधर ने यहाँ पूर्ववत् सापह्लावा-उत्प्रेक्षा ही मानी है, मल्लिनाथ ने रम्या उत्प्रेक्षा और चद्रकलाकार ने अतिशयोक्ति-उपमा की, समृष्टि ॥६३॥

स मिन्युज शीतमहस्महोदर हरुन्ममुच्चैश्रवस श्रिय ह्यम् ।

जिताखिलभानुदनल्पश्लोचनस्तमाहरोह क्षितीपाङ्गामन ॥६४॥

जोशानु—स इति । जिता अक्षिन्ना क्षान्मृतो नूना भूजराञ्च येन स अनल्पश्लोचनो विशाङ्गास अन्वय बहूनेत्र सहास इति यावत् । क्षितीपाङ्गामन क्षितीपाङ्गामन क्षितीन्द्रो नल देवेन्द्रञ्च मिन्युज मिन्युदेसोद्भवञ्च समुद्रोद्भवञ्च 'देशे नदविशेषेऽपी सिधुर्ना सरिति क्षितीमि'त्यमर । शीतमह सहोदर चन्द्र-

मवणमित्यर्थं, अन्यत्र चन्द्रभ्रातरमेवयोनित्वादिति भावः । उच्चैश्च श्रवस इन्द्रा-
श्वस्य श्रियं हरत तत्स्वरूपमित्यर्थं, तं हयमाहरोह । अत्रोच्चैश्च श्रवसं श्रियं
हरन्तमिवेत्युपमा । सा च शिल्पविशेषणात् सङ्कीर्णैः क्षितिपाकशासन इत्य-
तिशयोक्तिः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—जितालिलक्षमाम्बुत् अनन्पलोचन क्षितिपाकशासन स सिन्धुज
शीतमह सहोदरम् उच्चैश्च श्रवसं श्रियं हरन्त तं हयम् आहरोह ।

हिन्दी—समस्त क्षमा (पृथ्वी) को धारण करनेवाले पवनों के जयी-
सहस्रनेत्रधारी (इन्द्र के समान) समस्त राजाओं का विजेता, विशालनेत्रधारी
पृथ्वीमण्डल पर पाकशास्त्र का प्रणेता होने से क्षितिपाकशासन अर्थात् धरती का
इन्द्र यह राजा नल सिन्धु अर्थात् समुद्र से उत्पन्न और (अतएव) चन्द्र के
सहोदर उच्चैश्च श्रवा (इन्द्राश्व) की तुलना करते (अथवा उससे भी श्रेष्ठ)
मिथु देश के चन्द्रमा के समान शुभ्र अश्व पर आरूढ़ हुआ ।

टिप्पणी—समान घमंता के आधार पर नल को क्षितिपाकशासन अर्थात्
महीमहेन्द्र और उसकी सवारी के अश्व को उच्चैश्च श्रवा की समता में रखा
गया । 'सिन्धुजम्' शब्द अश्व के उत्तम कुल, बल और महाकायत्व का द्योतक
है । सत्तावनवें श्लोक से आरम्भ 'कुलक' समाप्त । विद्याधर के अनुसार यहाँ
उपमा, परिक और श्लेष अलङ्कार हैं, मल्लिनाथ ने शिल्पविशेषण होने के
कारण सङ्कीर्ण उपमा और अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, चद्रकलाकार यहाँ
श्लेष-उपमा-निदर्शना की समृष्टि मानते हैं ॥ ६४ ॥

निजा मयूखा इव निग्मदीधिति स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कजम् ।

तमश्ववारा जत्रनाश्रयायिनं प्रनाशरूपा मनुजेशमन्वयु ॥ ६५ ॥

जीवातु—निजा इति । निजा आत्मीया प्रनाशरूपा उज्ज्वलाकार भास्व-
ररूपाश्च अश्वा वारयतीत्यश्ववाराः अश्वारोहा स्फुटारविन्दाङ्कितपाणिपङ्कज
पद्मरेखाङ्कितहस्तम्, अन्यत्र पद्महस्त जवनो जवशील 'जुषङ्क्रम्ये'त्यादिना
युक् । तेनाश्वेन अन्यत्र तैरश्वैर्मातीति तथोक्तं मनुजा मनोजिता मनुजा नरा-
स्तेषामीना राजानश्च तं नल तिग्मदीधितिं मूर्ध्नि मयूखा इव अन्वयु
अवगच्छन् । यातेलङ्घि भर्जुमादेश ॥ ६५ ॥

अन्वय — प्रवासरूपा निजा ममूलाः इव अस्ववा । स्तुटारविन्दोद्धृत-
पादिपद्मज्ज जवनास्वदायिन तीक्ष्णदीपितम् इव स मनुजेषुम् अन्वय ।

हिन्दी—प्रकाश-उजियाला ही जिनका रज जाकार है, ऐसी स्वर्गोप
किरणों के तुल्य सुन्दर शरीरधारी स्वकीय राजा के निनी अस्ववार-शोडों के
रखदारे करकमल में खिला कमल धारते, वेगवान् अस्वों से यात्रा करते तीव्र
किरणमाली सूर्य के समान जिसके करकमल में खिले कमल का चिह्न है और
वेगवान् अस्वरर सवार है, उस मरनाथ नल के पीछे-पीछे चले ।

टिप्पणी—इस पद्य में नल की सूर्य से और उसके पीछे चलते अस्ववारों
की सूर्यानुपायिनी किरणों से तुलना की गयी है । समुचित शब्दों के प्रयोग
द्वारा इस साम्य को सचना की गयी है, इसी आधार पर विद्याधर ने इस
पद्य में उपमा, रूपक और श्लेष अलङ्कार माने हैं, चन्द्रालाकार ने इसे पूर्णो-
पमा कहा है ॥६५॥

चञ्चललङ्कृत्य महारथ ह्य स वाहवाहोचितवेपथुः ।

प्रमोदनिम्बन्तराशिपद्मनिर्व्यलोकि लोकेनंगल्यनन्त ॥६६॥

जीवातु चञ्चलिति। वाहवाहोचितवेपथुः अस्ववाहोचितनेपथुष्वार
'बासी दक्षे च पेशल' इत्यमर । स नलो महारथमतिजव हृदमङ्कृत्य चल्न्
स्वय हृदस्य सूपानीभूय गच्छन्निन्त्ययं । प्रमोदेन निम्बन्तराशि अन्त-
निस्त्वानि जशिपद्मनिर्व्यलोकि देवान्तरनिम्बेपङ्क्तिनिरित्ययं । नारात्न्यनन्तर
निवातिनिरित्ययं । लोकेनंगल्यनन्त दिस्मयहर्षान्मा विलोकित इत्ययं ।
वृत्त्यनुप्रासोऽङ्कार ॥ ६६ ॥

अन्वय — प्रमोदनिम्बन्तराशिपद्मनि नारात्न्यं लोके महारथ हृदम्
अलङ्कृत्य चलन् वाहवाहोचितवेपथुः स नल व्यलोकि ।

हिन्दी—प्रहृष्य के कारण अपनकलोचन (पलक झपाटे दिना) नागावादी
प्रजाजनों ने महावेगवान् अस्व को सुघोमित कर जाते हुए अस्वारोहियों के योग्य
वेप में सुन्दर लगते उसे नल को देखा ।

टिप्पणी—नल के अस्वास्त होकर बाठे समय उसकी तेजस्विता पर मुग्ध
नाराधसियों का सानन्द अस्वरुक देखना वर्णित कर कवि ने राजा के प्रति पुर-
वासी प्रजाजनों का आदर व्यक्त किया है । विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानु-
प्रास है और अन्तिनाय के अनुसार वृत्त्यनुप्रास ॥६६॥

क्षणदथैष क्षणदापतिप्रभ प्रभञ्जनाध्येयजवेन वाजिना ।

सहैव ताभिर्जनदृष्टिवृष्टिभिर्बहि पुरोऽभूत् पुरुहूतपीरप ॥६७॥

जोवातु—क्षणदिति । अधान्तर क्षणदापतिप्रभश्चन्द्रतुल्यस्तथा पुरहूत-
पीरप इन्द्रस्यैव पीरप कर्म तेजो वा यस्य तादृश एव नल । प्रभञ्जनेन
वायुना अध्येय शिक्षणीय जवो वेगो यस्य तथाविधेन वाजिना अश्वेन क्षणा-
दिति-क्षणोत्ताभि पूर्वोक्ताभि जनाना दृष्टिवृष्टिभि दृक्पातं सह जनैर्दृश्य-
मान एवेत्यर्थं । बहि पुर पुरादबहि स्थितोऽभूदिति बहिर्योगे पञ्चमी । पूर्व
पुरे दृष्ट क्षणादेव पुरादबहिर्दृष्ट इति वेगातिशयोक्ति ॥ ६७ ॥

अन्वय—अथ क्षणदापतिप्रभ पुरहूतपीरप एव प्रभञ्जनाध्येयजवेन
वाजिना क्षणात् ताभि जनदृष्टिवृष्टिभि सह एव पुर बहि अभूत् ॥

हिन्दी—सदन तर निशानाय चन्द्रमा की कातिवाला, इन्द्रसम सामर्थ्य-
वान् वह नल बाँधी भी जिससे तीव्रगामिता का अध्ययन करती थी, ऐसे तीव्र-
गामी अश्व पर आरुढ़ उन (अपलक निहारती) पुरजनों के दृष्टिपातो के
साथ ही नगर से बाहर हो गया ।

टिप्पणी—राजा के शीतल सोन्दर्य और सामर्थ्य और प्रजाजन का उसके
प्रति अनुराग यहाँ धोतित है, दृष्टिपातो का राजा के साथ ही बाहर चला
जाना, जिसे व्यक्त करता है । विद्याधर ने यहाँ छेकानुप्रास उपमा-सहोक्ति के
संकर का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने वेगातिशयोक्ति का, चन्द्रकलाका-
उपमा अतिशयोक्ति की समृष्टि मानते हैं ॥६७॥

तन् प्रनीच्छ प्रहरेनि भापिणी परस्परोल्लासितशल्यपल्लवे ।

मृषा मृध सादिबले कुतूहलान्नलम्भ नासीरगते वितेनतु ॥६८॥

जोवातु—तत इति । तन पुरादबहिगमनानन्तर प्रतीच्छ गृहाण प्रहर
ऋति भापिणी भापमाणे शल्य । परस्परमन्त्रोपरि उल्लासितानि प्रसारि-
तानि शल्यपल्लवानि तोमराश्राणि याम्यांते तयोक्ते 'शल्य तोमरमि'त्यमर ।
नस्य नासीरगते मेनाश्रत्तिनी 'सेनामुखतु नावीरमि'त्यमर । सादिबले
पुरङ्गसंभ्ये कुतूहलात् मृषा मृध मिथ्यामुद्ध मुदनाटकमित्यर्थं । वितेनतुश्चक्रतु
'मृषमायो घन मन्त्रमि'त्यमर ॥ ६८ ॥

अन्वय — तवः 'प्रतीच्छ, प्रहर'—इति भाषिणी परस्परौऽन्वितशब्दपञ्चमे नञ्स्य नासीरोऽन्ते सादिवले कुतूहलात् मृषा मृथ विनेतु ।

हिन्दी—दूर से बाहर निकलने के पश्चात् 'मेरा धम्प्रा संभालो, प्रहार करो, ऐसा कहती अन्वोत्तर पर पञ्चव तुल्य यस्त्रो को उठाती (किन्तु आघात न करती), नल की अग्रभाग में चलती दो अरब सेनाजो ने केवल कुतूहल के लिए झूठे मुँह का प्रदर्शन किया ॥६८॥

टिप्पणी—सैनिकों के उत्साह का वर्णन । अनुप्रास और उपमा ।

प्रदानुमस्माकमिय कियत्वद् घरा तदम्भोधिरपि स्थलायताम् ।

इतीव बाह्यनिजवेगदर्पितैः पयोविरोधक्षममुत्पित रजः ॥६९॥

जीवानु—प्रदानुमिति । इय घरा नू समुद्रातिरिक्तेनि भाव । अस्माक प्रयातु प्रस्थानु कियत् पद गन्तव्य स्थान विश्वित्पर्याप्तमित्यर्थ । तस्मादम्भो-
निरपि स्थलायता स्थलवदाधरतु, नूरेव भवत्वित्यर्थ । 'कर्त्तु क्यत् सलोप-
श्चे'ति क्यङ्प्रत्यय । इतीवेति । इतीव इति मत्वेत्यर्थ । इति नैव गन्वमाना-
दन्त्वादप्रयोग, अन्यथा पौनरुक्त्यात् । क्रियानिमित्तोत्प्रेक्षा । निजवेगेन दर्पितैः
सञ्जातदर्पे बाह्यैर्लास्यै पयोविरोधक्षम समुद्रच्छादनपर्याप्त रज उत्पित-
मुत्पापित तथा मान्द्रमिति भाव ॥ ६९ ॥

अन्वय — दूर धरा अस्माक प्रयातु कियत् पदम्, तत् पयोधि अपि
स्थलायताम्—इति इव निजवेगदर्पितैः बाह्यै पयोविरोधक्षम रज उत्पितम् ।

हिन्दी—'यह घरतो हमारे सचरण के लिए कितने पग है ? (छोटी है),
हा उस पयोधि समुद्र को भी स्थल बना दिया जाय'—मानो यही सोच कर
'पनी गति के दर्प में धूर्ण घोड़ो ने समुद्र को भी पाटने में पर्याप्त (प्रभूत)
धूल उठा दी ।

टिप्पणी—वहूत से घोड़ों के एक साथ सरपट दौड़ने से उठी धूल और
घोड़ों के उत्साह का चित्रण । क्रिया निमित्ता उत्प्रेक्षा, अनुप्रास ॥६९॥

हुरैर्यदक्रामि पदेककेन स्र पदेऽवतुमि क्रमणेऽपि यम्य न ।

त्रया हुरीणामिति नम्रिताननैन्यवनि तैरर्धनभ कृतकर्म ॥७०॥

जीवानु—हुरैरिति । यत् क्षमाकाश हुरैर्विष्णोरेकवेन एकाकिना 'एका-
दाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कन्प्रत्यय पदा पादेन 'पाद पदङ्घ्रिश्चर-

णोऽस्त्रियामि'त्यमर । 'पह्नि'त्यादिना पदादेश । अक्रामि अलङ्घि, तस्य सस्य चतुभि पदैः क्रमणे लङ्घने कृते सत्यपीति शेष । हरीणा वाजिना विष्णुना चेति गम्यते, 'यमानिलेन्द्रचन्द्राकंविणुसिहाशुवाजिपु । शुवाहिकपिभेकेपु हरिर्ना कपिले त्रिप्वि'त्यमर । उभयत्रापि नोऽस्माक जपेति वेत्यर्थं । गम्यार्थ-त्वादिवचनप्रयोगः । अत एव गम्यात्प्रेक्षा । नम्रितानि निम्नीकृतानि आन-नानि यस्तं हरिभि अर्द्धं नभसि कृतक्रमं कृतलङ्घनं सङ्घिन्यं वृत्तिं निवर्ति-तम्, भावे लुङ् । यदन्वयेन पुसा लघुपायेन साधित तस्य गुरुपायेन करण समा-नस्य लाघवाय भवेदिति भावः । एतेन प्लुतगतिरुच्यता, तत्र गगनलघनस्य सम्भ-वादिति भावः ॥ ७० ॥

अन्वय — यत् 'रव हरे' एककेन पदा अक्रामि तस्य चतुभि पदै अपि क्रमणे न हरिणा भषा—इति नम्रितानि अर्द्धतम कृतक्रमं तं न्यवर्ति ।

हिन्दी—जिस आकाश का हरि (वामनावतार विष्णु) ने एक चरण स ही क्रमण—लघन कर लिया था, उसका लघन चार पँरो से भी करने में हम बहुत से हरियो (घोडो) के लिये लज्जा की बात है—इसी से नीचे को मुँह करके आधे गगन के प्रति पदक्षेप करने से छोटे मानों लौट आये ।

टिप्पणी—'हरि' शब्द के चमत्कारो प्रयोग के आधार पर सुन्दर कल्पना । मल्लिनाथ के अनुसार गम्योत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा और श्लेष ॥७०॥

चमूचरास्तस्य नृपस्य सादिनो जिनोक्तिपु श्राद्धतमेव सैन्धवा ।

विहारदेशं तमनाप्य मण्यलीमकारयन् भूरितुरङ्गमानपि ॥ ७१ ॥

जीवातु—चमूचरा इति । तस्य नृपस्य चमूचरा सेनाचरा घोषट्च, सिंघु-देशमवा सैन्धवा अदवा, 'ह्यसै'घवसतय' इत्यमर । 'तत्र भव' इत्यण्प्रत्यय, तत्सम्बन्धिनोऽपि सैन्धवा 'तस्येदमि'त्यणा ते सादिन अदवसादि इत्यथ, त्रिनोक्तिपु श्राद्धतमेव जैनदर्शनश्रद्धाभुतयेवेत्युत्प्रेक्षा, 'श्रद्धार्थोक्तिम्योऽणि'नि मत्वर्थो योऽण्प्रत्यय, त विहारदेश सञ्चारभूमि सुगतात्यन्व 'विहारा भ्रमणं स्वर्घं लीलाया सुगतात्य' इति विश्व । अवाप्य तुरङ्गमान् भूरि बहुल मण्ड-लीमपि मण्डलावत्र च अकारयन् अपिसन्दोऽन्वातिसमुच्चयार्थं । अत्र मण्डली

मण्डलानामन्वयं । 'बौद्धा स्वकानुष्ठाने प्रायेण मण्डलानि कुर्वन्ति' इति प्रसिद्धिः ॥ ७१ ॥

अन्वयः—तस्य नृपस्य चतुर्वराः सैषवा सादिनः जिनोत्तिपु श्राद्धतया इव त विहारदेशम् अवाप्य भूरि तुरङ्गमात्रं अपि मण्डलीम् अकारयत् ।

हिन्दी—उस राजा की सेना में चरनेवाले घुड़सवारों ने मानों 'जिन' (जैन धर्म के उपास्य) के बचनों में थड़ा रखने के कारण ही उस विहार-स्थल को प्राप्त कर अनेक बरसों की भी जिस प्रकार जैन साधक मडली बनाकर अस्थित होते हैं, उसी प्रकार मडल बनाकर चलाया (मडलाकार घुमाया) ।

टिप्पणी—अश्व सञ्चारण के कौशल का वर्णन । जैन सप्रदायी स्वधर्म-अनुष्ठान में मडल बनाया करते हैं, ऐसी मान्यता है । उत्प्रेक्षा ॥ ७१ ॥

द्विपद्भिरेवास्य विलङ्घिता दिशो यशोभिरेवाधिधरकारि गोप्पदम् ।

इतीव धारामवधाय्यं मण्डलीक्रियाधियाऽमण्डि तुरङ्गमे स्थली ॥७२॥

जीवानु—द्विपद्भिरिति । अस्य नलस्य द्विपद्भिरेव पलायमानैरिति भाव दिशो विलङ्घिता । अस्य यशोभिरेवान्नि ते पद गोप्पदमकारि गोप्पदमान कृत , 'गोप्पद सेवितानेवितप्रनाशार्थे' इति मुद्यागमपत्वशोनिपात । इतीव इति मत्वेवेत्युपप्रेक्षा, अन्यसाधारण कर्म नोत्कर्षाय नवेदिति भाव । तुरङ्गमैश्वराङ्गति जातावेकवचन पञ्चापि धारा इत्यर्थं । 'आम्बन्दिस्त घोरितक' रेचित वन्निन प्लुतम् । गतयोऽम् पञ्च धारा' इत्यमर । अवधीर्य्यं अनादृत्य मण्डली क्रियाधिया मण्डलीकरणलक्षणा मण्डलारथैवेत्यर्थं । स्थली जट्टत्रिमा भू जानपदेत्यादिना अट्टत्रिमाथे छीपु, अमण्डि अभूपि । मण्डि भूयायामिति घातोन्वन्तात् कर्मणि लुङ्, इदित्वान्नुमागम ॥ ७२ ॥

अन्वयः—अस्य द्विपद्भि एव दिशः विलङ्घिताः अस्य यशोभिः एव अधिव गोप्पदम् अकारि—इति इव तुरङ्गमं धाराम् अवधीर्यं मण्डलीक्रियाधिया स्थली अमण्डि ।

हिन्दी—इस (नल) के शत्रुओं ने ही (प्राणरक्षार्थं, नय से दिशाओं का लक्ष्य कर दिया है, इसके यशः समूह ने ही समुद्र को गोक्षुर-प्रमाण का गर्त

दना दिया है—मानो यह विचार कर ही अश्वो ने 'धारा' (एक प्रकार घोड़ो के वेग से दौडने का प्रकार)—गति को छोडकर मडल करके दौडने की क्रिया (चक्कर काटना) को शान्ता से धरती को सुशोभित किया ।

टिप्पणी—नल के शत्रुओं का भय स पलायन और समुद्रपर्यंत प्रसरित उत्सुकी कीर्ति का सकेत है। आस्कदित (सरपट) चाल, पौरितक (डुलकी), रेचित (सीधे दौडना), वलित (नाचते हुए—जैसे चलना) और प्लुत (उछलकर दौडना)—ये पाँच प्रकार की घोडो की चाल 'धारा' कही जाती हैं । जिन विहारस्थली में घोडों को इन प्रकारों से न चलाकर मडलाकार चलाया । उत्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति का सकर अलंकार ॥ ७१ ॥

अचीकरच्चारु ह्येन या भ्रमीनिजातपत्रस्य तलस्थले नल ।

मरुत् किमद्यापि न तामु शिक्षते वित्तव्य वात्यामयचक्रचक्रमान् ॥७२॥

जीवात्—अचीकरदिति । नलश्चारु यथा भवति तथा ह्येन प्रयोज्येन कर्त्तु निजातपत्रस्य तलस्थले जघ प्रदेरे 'अथ स्वरूपयोरस्त्री तलमि'त्यमर । या भ्रमीमण्डलगतीरचीकरत् कारितवान्, करोतेणौ चङ् । तामु भ्रमीषु विषये मरुत् अद्यापि वाताना समूहो वात्या, 'वातादिभ्यो य' । अत्र तद्भ्रमयो लक्ष्यन्ते, तन्मयान् तद्रूपान् चक्रचक्रमान् मण्डलगतीर्बितस्य विस्तीर्य न शिक्षते किनाभ्यस्यते किमित्युत्प्रेक्षा । शिक्षितश्चेत् तथा सोऽपि गतिं कुर्यादित्यर्थ । वायोरप्यसम्भविता गतीरचीकरदिति भाव ॥ ७२ ॥

अन्वय —नल निजातपत्रस्य तलस्थले ह्येन या चारु भ्रमीः अचीकरत् तामु अथ अपि मरुत् वात्यामयचक्रचक्रमान् वित्तव्य किं न शिक्षते (अपितु शिक्षत्येव) ।

हिन्दी—नल ने अपने छत्र के नीचे घोडे द्वारा जो मनोहर भ्रमण (चक्कर) कराये, आज भी क्या वायु वात्याचक्र (बवंडर) रूप में चक्कर साते हुए उनके विषय में शिक्षा प्राप्त नहीं करता ? (अपितु शिक्षा प्राप्त करता ही है, पर अभी तक सीप नहीं पाया) ।

टिप्पणी—नल का विशिष्ट अद्वचालन-कौशल और अरुण की वायु क्षे भी अधिक हीमगामिता और सत्त्व द्योतिष्ठ । उत्प्रेक्षा । ७३ ॥

विदेह गत्वा स विलासकानन ततः अगात् क्षोणीपतिर्धृतीच्छया ।

प्रवालरागच्छुरित सुपुष्पया हरिर्धनच्छायमिवाम्भसा निविम् ॥७४॥

जीवानु—विदेहेति । ततः स क्षोणीपतिः अगात्वा धृतीच्छया सन्तोष-
काङ्क्षया प्रवाला पन्था अन्यत्र प्रवालाः विद्रुमा 'प्रवालो वल्कलीदण्डे
विद्रुमे नवपन्थ' इत्यमरः । तथा रामेणादग्नेन दूरित रूपित धनच्छाय
साम्प्रानातपनन्वत्र मेघकान्ति 'छाया त्वनातपे कान्तावि'ति विश्वः । विलास-
कानन ऋडावनम् अन्यत्र बदरारभेदात् विलासकाना विलेशयाना सर्पाणाम्
शानन प्रागत सुपुष्पया स्वप्नुमिच्छया हरिविष्णुरम्भसान्निविनविनवि
विदेह ॥ ७४ ॥

अन्वय—तत्र सः क्षोणीपतिः गत्वा हरिः इव सुपुष्पया प्रवालरागच्छुरित
धनच्छायम् विलासकाननम् अम्भसा निविम् इव (विलासकानन) धृतीच्छया अगात्
विदेह ।

हिन्दी—उत्सवात् बहू पृथ्वीपति चाकर मूर्खों की छाली से सजित मेघ
की छाया के समान छायावाले (मेघजाति) विलों के निवासी सर्पों के आवास
समुद्र में जैसे हरि (विष्णु) सदन की इच्छा से प्रविष्ट हो जाते हैं, अथवा जैसे
मूँड़े—जैसे छाल किमूल्यों से सुंदर धनीछायावाले, जलस्थान से मूक सुंदर
वन में मूक से सोने की इच्छा से सिंह घुस जाता है, उसी प्रकार नवपन्थों
की छालिमा से विच्छुरित, धनीछायावाले ऋडावन में मन बहलाने के लिए
सर्पों में प्रविष्ट हो गया ।

टिप्पणी—राजा नर को सिंह पराक्रमी और विष्णु के समान समर्थ
प्रदानालोक संकेतित किया गया है । उभया लीं इत्ये ॥७४॥

वनान्तपर्यन्तमुपेय सम्पूह क्रमेण तन्मिन्नवनीगंदृक्षये ।

न्यवत्तदृष्टिप्रवरैः पुरोकसामनुब्रजद्वन्धुसमाजद्वन्धुभिः ॥ ७५ ॥

जीवानु—वनान्तेति । अनुब्रजद्वन्धुसमाजद्वन्धुभिः स्नेहादनुच्छेद्वधु-
सङ्घसङ्घैरित्यर्थः । जत्र एवोभनात्कार । पुरोकसा दृष्टिप्रवरैर्दृष्टानुहं
वत्'निर्वनान्तपर्यन्त वाननोभान्तसीनाम् उन्नप्रान्तपर्यन्तश्चेति गम्यते,
'वने सलिलकानने' इत्यमरः । सस्पृह नामिलाप यथा तथा उपेत्य गत्वा

अथ अनन्तर क्रमेण तस्मिन् नले अवतीर्णद्वपथे अतिक्रान्तदृष्टिविषये सति न्यवर्ति निवृत्त, भावे लुङ् । यथा बन्धुभि 'उदक्रान्त प्रिय पान्थमनुव्रजेदि' त्यागनात्प्रवर्तमानमनुव्रज्य निवर्त्यत तद्वदित्यर्थं ॥ ७५ ॥

अन्वय — क्रमेण अवतीर्णद्वपथे तस्मिन् अनुव्रजदबन्धुममाजबन्धुभि पुरीकसा दृष्टिप्रकरं वनान्नपर्यन्त सस्पृहम् उपेत्य न्यवर्ति ।

हिन्दी—धीरे धीरे राजा के नेत्रों से अगोचर हो जाने पर अनुगमन करते बधुजनों का बधु-सदृश नगरवासियों का दृष्टि-समूह अभिलाष के साथ वन-भूमि तक जाकर लौट पड़ा ।

टिप्पणी—जब तक राजा दिखायी पड़ता रहा, तब तक नगरवासी चाव से देखते रहे, जब आँस ओझल हो गया, तभी लौटे,—यह कथन पुर-वासियों की राजा के प्रति प्रीति का द्योतक है । अनुप्रास और सहोक्ति धल-कार । चतुर्थं चरण में उपमा ॥ ७५ ॥

तत प्रसूने च फले च मञ्जुले स सम्मुखीनाङ्गुलिना जनाधिप ।

निवेद्यमान वनपालपाणिना व्यलोकयत् वाननरामणीयकम् ॥७६ ॥

जोवातु—तत इति । तत वनप्रवेशान्तरं स जनाधिपो नल मञ्जुले मनोज्ञे प्रसूने फुसुमे फले च विषये सम्मुखीना सद्दशिनी सम्मुखादस्थितवस्तु-प्रकाशिकेति यावत् 'यथामुल्लसम्मुखस्य दर्शनं स' इति सप्रत्ययात्तो निपात । तादृशी अङ्गुलिर्यस्य तेन वनपालपाणिना निवेद्यमानम् इदमिदमित्यङ्गुल्या पुष्पफलादिनिर्देशेन प्रदर्शयमानमित्यर्थ । वाननरामणीयक वनरामणीयक 'योषणाद् गुरूपोत्तमाद् वुन्' इति वुन्प्रत्यय । व्यलोकयत् अपरयदिति स्वभावाक्ति ॥ ७६ ॥

अन्वय — तत स जनाधिप मञ्जुले प्रसूने फले च सम्मुखानाङ्गुलिना वनपालपाणिना निवेद्यमान वाननरामणीयकं च व्यलोकयत् ।

हिन्दी—उदकान्तर बह नरनाथ मनोहर फूल और फल तथा अंगुलि उठा कर वन-पालक के हाथ से छादर विज्ञापित वन की रामणीयता का अवलोकन करने लगा ।

टिप्पणी—राजा का प्रहृति-प्रेम मकेतित । विद्याधर के अनुसार जात और अनुश्रम अलंकार और मल्लिनाथ के अनुसार स्वभाषोक्ति, प्रमून, फल और वन में एक गुण मञ्जुलता बयवा रमणीयता होने से चद्रकलाकार के अनुसार तुल्ययोगिता ॥७६॥

फलानि पुष्पाणि च पल्लवे करे वयोऽतिपातोद्गतत्रातवेपिने ।

स्थिते ननाधाय महर्षिवाङ्मकाद्वने तदातिथ्यमगिच्छिगाम्बि ॥ ७७ ॥

जीवातु-पत्रानोति । वयोऽतिपातेन पक्षिपातेन वान्याद्यपगमेन चोद्गतेना-
स्थितेन वानेन वायुना वातदोषेण च वेपिने कम्पिते 'भगवान्यादिनोर्वय' इत्यमर ।
पल्लव एव कर इति व्यस्तहृत्क पत्रानि पुष्पाणि च समाधाय निधाय स्थिते-
न्निग्रिद्धि वने शास्त्रिनिवृक्षं वेदशास्त्राध्यायिमिच्छ, 'शास्त्राभेदे द्रुमे शास्त्रा
वेदेषो'ति वैजयन्ती । तदानिथ्य तस्य नलस्यातिथ्यम् अनिथ्ययं कर्म,
'अतिथेज्यं' इति व्यप्रत्यय । महर्षीणां वाङ्मकाद् बृद्धसमूहात् तत्रत्यबृद्धमहर्षि-
सङ्घादित्ययं । सिक्कनागव्रतवन्दनमास । 'बृद्धसथे तु वाङ्कमि'त्यमर ।
'बृद्धाच्चेति वक्तव्यमि'ति समूहार्थे वुज्प्रत्यय । जसिक्कि शिक्षितमन्मन्तम्,
अन्यथा क्यमिदमाचरितमिति भाव । कर्मणि लुङ् उप्रेक्षेय ना च व्यञ्जका-
प्रयोगाद्गन्या पूर्वोक्तहृत्कर्त्तृपान्यामुत्नापिता चेति सङ्कर ॥ ७७ ॥

अन्वय — वयोऽतिपातोद्गतवानवेपिने पल्लवे करे फलानि पुष्पाणि च
समाधाय स्थिते शास्त्रिनि वने महर्षिवाङ्मकात् तदातिथ्यम् अगिच्छि ।

हिन्दी—वय जयान् पक्षियों के जाकर बैठने से उत्पन्न वायु से हिलते
पल्लव (किसलय)—हृत् हाथ में फल-फूलों को लेकर खड़े वृक्षों ने वन में वय
जयान् ताम्ब्य के वीत जाने से (बुढ़ापा आ जाने पर) उत्पन्न वात दोष से
कांपने पल्लव मद्गु हाथ में फल-फूल लेकर खड़े विशिष्ट वेद शास्त्रियों के
अन्यथन से सज्ज बूटे महर्षिगण ने उस (नल) के आतिथ्य की शिक्षा ली ।

टिप्पणी—नाय अनिधि का स्वागत हुआ ही करता है, किसी आश्रम में
पहुँचने पर जिम प्रकार बृद्ध महर्षि राजा का आतिथ्य करते, वैसे ही वन में
फल फूलों में सुपन्न पल्लव-करों द्वारा पुराने वृक्ष कर रहे हैं । कालिदास ने
वन में गौचरण करते राजा दिलीप का बालकतामा द्वारा पुत्र-वर्षा से आतिथ्य

होना चित्रित किया है (रघुवश २।१०) । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ गम्या उत्प्रेक्षा-श्लेष-रूपक का सकर है । विद्याधर के अनुसार प्रतीयमाना उत्प्रेक्षा और श्लेष । चन्द्रकलाकार के अनुसार व्यस्तरूपक श्लेषप्रतीयमानोत्प्रेक्षा का सकर ।

विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान्मृगाङ्कुचूडामणिवर्जनाजितम् ।

दधानमाशामु चरिष्णु दुर्यंश स कौतुकी तत्र ददर्श कैतकम् ॥ ७८ ॥

जीवातु-विनिद्रेति । विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवात् विकचदलावलिस्मित
मृङ्गमिपात् मृगाङ्कुचूडामणरीश्वरस्य कर्तुर्वज्रनेन परिहारेणार्जित सम्पादित
'न केतक्या सदाशिवमि'ति नियेधादिति भाव । आशामु चरिष्णु सञ्चरणशील
'अलङ्कृजि'त्यादिना चरेरिष्णुच्प्रत्यय । दुर्यंशोऽपकीति दधान कैतक केतकी-
कुसुम तत्र वने स नल कौतुकी सन् ददर्श । अहस्य महापुरुषस्य बहिष्कारी
दुष्कीतिकर इति भाव । अत्रालिकैतवादित्यलित्वापह्लवेन तेषु दुयशस्त्वारो-
पादपह्नुत्यलङ्कार । 'नियेध्यविपये साम्यादन्यारोपेऽपह्नुति' इति लक्षणात् ॥

अन्वय — कौतुकी स तत्र विनिद्रपत्रालिगतालिकैतवान् मृगाङ्कु-
चूडामणिवर्जनाजितम् आशामु चरिष्णु दुयश दधान केतक ददर्श ।

हिन्दी—(अपूर्व पुष्पादि के दर्शन की) उत्सुक उस (नल) ने वहाँ
(वन में) विकसित दलों की पत्तियों पर बैठे भौरो के छल से चद्रचूड शिव
से तिरस्कृत होने से प्राप्त दिग्गत में व्याप्त होते (भौरों भी उड़कर दिग्गतरी में
चले जाते हैं) अपयश को धारण किये केतकी (केवटा) के फूल को देखा ।

टिप्पणी—काले भौरो से आच्छादित केतक की कविसमयसिद्ध वृष्णवर्ण
दुर्यंश-धारण-कर्त्ता के रूप में चित्रण किया गया है, इस कारण अपह्नुति
है । चन्द्रकलाकार ने कैतवापह्नुति-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा का सकर माना है ।

केतक के शिव द्वारा परित्यक्त होने के सम्बन्ध में दो पौराणिक प्रसिद्धियाँ
हैं—(१) एक बार ब्रह्मा और विष्णु में परस्पर श्रेष्ठता को लेकर विवाद हो
गया । आकाशवाणी हुई कि जो शिवलिंग के उर्ध्वाधोभागों की देख सके,
वही दोनों में बड़ा है । शिवलिंग की ऊँचाई नीचाई का पार तो दोनों में कोई
पा न सका, पर जहाँ विष्णु ने तथ्य की स्वीकारा वहाँ ब्रह्मा ने असत्य मापण

जिया कि वे शिवलिंग के उर्वाचोभागों को देख सके हैं। साक्षी बना केतक। इस पर मित्यासाक्षी केतक का शिव ने त्याग किया। (२) राम-सीता-लक्ष्मण पितरों के श्राद्धार्थ गया पहुँचे। रामचन्द्र ने फल्गु नदी-तट पर पितरों का आवाहन किया और लक्ष्मण नगर में श्राद्ध सामग्री लेने गए। उन्हें अब विलम्ब हुआ तो श्रांगम भी उनकी खोज में सीता को वहीं छोड़ चले गये। वे दोनों भाई लौट भी न पाये थे कि श्राद्ध पितरों के हाथ श्राद्धविह-ग्रहणार्थ प्रकट हुए। यह देव सामग्री के अभाव में सीताजी घराने लगीं। तनी आकाशवाणी हुई कि डरो मत, बालू के श्राद्धविड बनाकर मनपित कर दो। सीता ने उसी प्रकार श्राद्ध-विधान कर दिया, साक्षी हुए वहाँ उपस्थित गौ, अग्नि, फल्गु नदी औ केतकों का पूजा। राम-लक्ष्मण के लौटने पर वह वृतात बता कर सीता ने उन्हें पुन श्राद्ध न करने की समति दी, परन्तु साक्षियों ने इस विषय में अन्ना अज्ञान प्रकट किया। साक्षियों के इस असत्य भाषण पर सीता ने इन्हें शाप दिये—गौ को मुखनाग से अपवित्र हो जाने का, अग्नि को सर्वमशी होने का, फल्गु को निर्जल होने का और केतकी पुष्प को शिव से त्यक्त होने का। तनी ने केतक पुष्प सदाशिव को नहीं चढाया जाता ॥७८॥

विनोगनाजा हृदि कण्ठकैः कटुर्निमीयसे कर्णिशरं स्मरेण यन् ।
ततो दुराकर्पंतया तदन्नकृद्धिगोप्रमे मन्मथदेहदाहिना ॥ ७९ ॥

जीवातु—विनोगेत्यादि। केतक। यद्यत्नास्त्व स्मरेण विनोगनाजा हृदि कण्ठकैः निजतीक्ष्णावयवै कटुन्तीक्ष्ण केतकविशेषणस्यापि कर्णिशरत्वम् । विशेषणविवक्षया पुस्त्रिङ्गनिर्देशः, किन्तुद्देश्यविशेषणस्य विशेषविशेषणत्वं किञ्चिद् । कर्पेवत् कर्ण प्रतिलोमशब्दं तद्वान् शरं कर्णिशरं अग्निधीयते कण्ठकवटो केतकस्य कर्णिशरत्वरूपगात्रूपकालङ्कारः । तत्र कर्णिशरत्वादिवद् दुराकर्पंतया दुश्कारतया तदन्नकृद्धिगोप्रमे विनोगिना मारकं मन्मथदेहदाहिना स्मरत्प्रेण विगीयते विगृह्णते । द्वेष्यवत् द्वेष्योपकरणमप्यनहमेव, तदपि हिंस्रं चेत् किमु वक्तव्यमिति भावः । अनेश्वरकर्तृकस्य केतकीविगर्हणस्य तद्गतविनोगिहिंस्रताहेतुकत्वोत्प्रेक्षयाद्देवत्वोपेक्षा व्यञ्जकप्रयोगाद्ग्रन्था, सा शोक्तस्वरूपकोत्यापितेति सङ्कटः ॥ ७९ ॥

अन्वय—यत् स्मरेण वियोगमात्रा हृदि कण्ठके वटु कणिसर निधीयसे
नत दुराकर्षतया तदन्तर्गुत् मन्मयदेहदाहिना विनीयसे (इति क्रुधा तेन वेतवम्
अक्रुश्यत—इति एकाशीतितमेन (८१) श्लोकेना—वय) ।

हिन्दी—जो कि कामदेव द्वारा वियोगियों के हृदय में कांटों से क्रूर
नुकीला बाण बनाकर घुसाये जाने हो, इससे बड़ी कठिनता उ निकाल पाये
जाने के कारण वियोगी के प्राण लेना तुम कामदेव के दह को भस्म कर डालने
वाले शकर द्वारा विग्रहित—तिरस्कृत हो—ऐसा शोध में राजा ने केतक को कोसा ।

टिप्पणी—केतकी का फूट देखकर वियोगिया का धीरज छूट जाता है,
ऐसा मान्यता है । उसके पत्ते कटिदार, नोकीले होने हैं । केतक पर कणिसरत्व
का आरोप होने से रूपक और वियोगि हिसक होने के कारण महादेव से उसके
त्यस्त होने की सम्भावना में गम्भी हेतुप्रेक्षा, फलत दोनो का सक्कर बलकार ।

त्वदग्रमूचीसचिव म कामिनोर्मनोभव सोव्यति दुर्यंश पटी ।

स्फुटञ्च पत्रे करपत्रमूर्तिभिवियोगिहृद्दारणि दारुणायते ॥८०॥

जीवातु—स्वदिति । तवाप्राण्येव मूच्य सचिवा सहकारिणो यस्य स
तपोक्त स प्रसिद्धो मनोभव कामिनी च कामी च कामिनौ तयो, 'पुमान्
स्त्रिये'त्येवशेष' । दुर्यंशासि अपकीर्तयस्ता पटाविति रूपक तानि सोव्यति
कण्ठकस्यूत करोतीत्यर्थ । किञ्चेति वाय करपत्रमूर्तिभि ऋकचाकारै,
'ऋकचोऽस्त्री करपत्रमि'त्यमर । पत्रैस्तेष्वियोगिना हृद्येव दारुणि दारुणतीति
दारुणो विशरका भेत्ता स इवाचरतीति दारुणायते, 'वक्तुं वयद् सलोपश्चे'ति
वमडन्नात् एट् । दारुणायत इत्युपमा, सा च हृद्दारुणातिरूपकानुप्राणितेति
मडकर ॥ ८० ॥

अन्वय—स्वदग्रमूचीसचिव स मनोमय कामिन दुर्यंश पटी सोव्यति
य पत्रमूर्तिभि पत्रै च वियोगिहृद्दारुणि दारुणायते—इति स्फुटम् ।

हिन्दी—(अरे कंधड़े के फूल), तरो नोम रूप सुई की सहायता में वह
मनसिज कामिजनों के अपयग्रूप वस्त्रों का सिलता है और करपत्र (आरी)
के तुल्य रूप वाले पत्रों से वियोगियों के हृदयरूपी काष्ठ का धीर डालता
है यह स्पष्ट है ।

टिप्पणी—कंबडे की कल्पना को अत्यन्त उद्दीप्त माना जाता है, मान्यता है कानाथ नरनाथी उसे देखकर उचितानुचिन का मान भूत जाते हैं, कंबडे की कली देखकर उनका धैर्य नग होता है और पन-दहन में हृदय विदीर्ण । उनका रूपक का संकर ॥८०॥

धनुर्मनुस्त्रिकरोऽपि भीमजापरं परागंस्तत्र धूलिहस्तयन् ।

प्रमूनधन्वा शरसात्करोति मामिति क्रुधाऽऽक्रुद्यन् तेन कंतकम् ॥८१॥

जीवानु—धनुरिति । कंतक । प्रमून धन्वा यतुयंम्येति प्रमूनधन्वा पुष्पचाप । 'वा मजायामि' त्यवडादेश । अत एव धनुषो मधुना मकरन्देन स्विकनकरं जाद्रंपापि सन् अत एव परागं रजोमि धूलिहस्तयन् पुन पुन धून्धुङ्गाविद्वन्तमात्मानं कुर्वन् अन्यथा धनुत्र सनादिति भाव, तत्करोतेत्यन्ताल्ड शशादेश । जतिनीमजापरमतिनाथ इत्यन्त्यामकन मा शरमात् शरधीनङ्करोति, 'तदर्धाने च' इति सातिप्रत्यय, जन्यया सन्-चाप स मा कि कुर्यादिति भाव । इतीत्य इलोकत्रयोक्तिरिति तेन राजा कृपा कंतकनाकुलवत अपराधोद्धाटने अधोप्यन्तेत्यर्थं ॥ ८१ ॥

अन्वय—धनुर्मनुस्त्रिकरः अपि प्रमूनधन्वा तव परागं धूलिहस्तयन्, भीमजापर मा शरसात्करोति—इति तेन क्रुधा कंतकम् अक्रुद्यन्त ।

हिन्दी—उस (नर) ने क्रोधपूर्वक इमलिए कंबडे को बोसा कि फूला के धनुष से टपकते मधु से गीला हाथ होने पर भी पुष्पधन्वा काम ठेरे पराग की धूलि हाथ में (चिकनापन मिटाने के लिए, जिसने चाप फिमल न जाय) लगा कर ही भीमपुत्री-भरायण मुझे अपने दाग का अखेट बना पाता है ।

टिप्पणी—इस प्रकार तीन दृश्यों में कामोद्दीपक कंतक पुष्प का वर्णन किया गया । जतिशयोक्ति जलवार ॥८१॥

विदमंमुभ्रुस्तननुङ्गतासये घटानिवापश्यदरु तपम्यन् ।

कशानि धूनम्य घयानसोमस्वान् म दाडिमे दोहृदचूपिनि द्रुमे ॥८२॥

जीवानु—विदमेति । 'तद्गुण्यलतादीनामकाले कुशलं कृत्वा । पुष्पा-दुष्पादिषु द्रव्यं दोहृद स्यात्तु तत्क्रिया ॥' इति शब्दांशे । दोहृदश्चामी धूपश्च

तदुक्त 'मिषामिषाम्बुससेकस्तत्केशामिषधूपनम् । श्रेयानय प्रयोग स्याद्
दाडिमीकण्डूद्वये ॥ मत्स्याज्यत्रिफलापैमांसैराजाविरोद्भवै । लिपिता
धूपिता सूने फलतालीव दाडिमी ॥ अक्विक्वायेन सखिकता धूपिता तमरो-
मभि । फलानि दाडिमी सूने सुग्रहूनि पृथूनि च ॥' इति । तद्वति दाडिमीद्रुमे
फलानि विदर्भसुभ्रुवो दमयन्त्या स्तनयोर्मा तुङ्गता तदाप्तये तादृगीश्रत्य
लाभायेत्यर्थः । अलमत्यर्थं तपस्यतस्तपस्वरत, 'कमणो रोमन्यतपोम्या
वत्तिचरोरि'ति क्यङ्प्रत्यये तपस परस्मैपदश्च वक्तव्य, धूमस्य दोहदधूमस्य
घयन्तीति घयान् पातून्, घेट्-पाने अत्र 'आतश्चोपसर्गं' इति उपसर्गग्रह-
णान्नानुवर्ति-पक्षत्वात् 'पाघ्नै'त्यादिनाऽनुपसृष्टादपि घेट् शप्रत्यय इति
गति । अत एव काशिकाया केचिदुपसर्गं इति नानुवत्तयन्तीति । अघोमुत्तान्
घटानिव अपश्यदित्युत्प्रेक्षा । महाफलानि इत्यमुष तपस्यन्तीति भावः ॥

अन्वय — स* दोहदधूपिनि दाडिमे द्रुमे विदर्भसुभ्रुस्तनतुङ्गतासये अल
तपस्यत* धूमस्य घयान् अघोमुत्तान् घटान् इव फलानि अपश्यत् ।

हिन्दी—उस (नल) ने दोहद अर्थात् अतिशय फल समृद्धि के लिए विहित
सामग्री से धूपायित अनार के वृक्ष पर सु दर भ्रुजुटीवाली बंदर्भी (दमयन्ती)
के स्तनो की उत्तुगता प्राप्त करने के निमित्त मानो बठोर तपस्या करत (दोहद
का) धूम पीते नीचे को मुँहवाले घटो के तुल्य फलो को देला ।

टिप्पणी—पहिले फूल (नेटक) का, फिर फल (दाडिम) का दर्शन ।
उत्प्रेक्षा बलकार । समय से पूर्व ही फल पाने के निमित्त भाँति भाँति के द्रव्यो
के प्रयोग को दोहद कहते हैं । कहा जाता है कि भेड़ के मांस के पानी से
सीचना और उसके केश जलाकर धूप देना दाडिम फल की समृद्धि के लिए
लामदायक होता है ॥८२॥

वियोगिनीमैशन दाडिमोमसो प्रियस्मृते* स्पष्टमुदीतकण्टकाम् ।

फलस्ननस्थानविदीर्गरागिहृद्विशच्छुकास्यस्मरकिञ्जुवाशुगाम् ॥ ८३ ॥

जीवानु—वियोगिनीमिति । अगो नल प्रियास्मृतेर्दमयन्तीस्मरणादिव
स्पष्ट व्यक्तमुदीनेति ई गताविति घाता क्त्वरि क्त । उदीता उद्गता
कण्टका स्वावयवमूचय एव कण्टका रामाश्चा यस्यास्तामिति रिच्छन्पकम् ।

विषां द्रुमाञ्छे रोमाञ्छे सुद्वयत्री च षष्टके' इति वैद्वपन्ती । पञ्चान्येव
स्तनी तावैव स्यान् नत्र विदीर्षा रागी यस्यान्तीति रागि रक्तवर्णननुक्तञ्च
यन्मिन् हृदि त्रिगतु बीजनसंगान्त प्रविजेत्तुकास्वरप शुक्लतुन्दरिव स्मरस्य
किमु पलायतुद्मन्नेवागुणो बापो यस्यास्ता दाहिनीनव विद्योगिनी
विद्योगिनीमैव अपश्यत् । रूपकालङ्कार । वि पक्षी उद्योगिनीमिति च
गम्यते ॥ ८३ ॥

अन्वय—असौ विद्योगिनीं प्रियन्मृते स्पष्टम् उदीतकष्टका फलस्तनस्यान-
विदीर्षांगिहृदिमच्छुकास्यन्मरकिमुकागुणा दाहिनीम् ऐश्वर ।

हिन्दी—इस नल ने प्रिय की स्मृति से स्पष्टतः रोमाञ्छित होती जिसके
अनार के फलों के तुल्य स्तनम्पटी के मन्त्र (विरह से) विदीर्षा अनुरागी
हृदय में मोह की चोंच के उन्नत काम के बाप प्रविष्ट हो रहे थे, ऐसी विरहिनी
के, लयदा परमात्म-जगत्कार रूप फल की बोधक तुरीयावस्था से विदीर्षा
अर्थात् अतृप्त (तुरीयावस्था को जगत्) अतृप्त विषयवाचना में चातुष्य
जिसके हृदय से नृक्षदेव मुनि (व्यासमुनि) के उपदेश प्रविष्ट हो रहे होने के
कारण जामदग्न निकालकर उके जा रहे थे, ऐसी विषयवराङ्गुल, परम-
प्रेमानन्द मच्चिदानन्द परमेश्वर की स्मृति अर्थात् निरन्तरध्यान करने से
शीघ्र परमात्मजाति की सम्भावना से जात हृषं के कारण स्पष्ट जो रोमा-
ञ्चित हो रही थी उस विद्योगिनी अर्थात् अथाः योग की साधिका या विविष्ट
योगिनी के समान 'वि' अर्थात् पक्षियों से मुक्त, प्रियस्मृति अर्थात् दोहद प्राप्ति
के कारण, जिसमें स्पष्टतः नोक दीखने लगी थी और जिसके फल रूप स्तनों
के स्थलम्पान पर फट जाने से पक्षों की लालिमा स्पष्ट हो रही थी, जिसमें
तोड़ों की चाब रूप काम के पलाय-बाग प्रविष्ट हो रहे थे, ऐसी दाहिनी
(अनार के पेठ) को देखा ।

टिप्पणी—वन में पक जाने के कारण जिसके फट गये फलों के बीच तोड़े
चोंच मार रहे थे, ऐसी दाहिनी की तुलना एक विरहिनी अथवा योगिनी से
की गयी है । मलिनाथ ने इसमें एक अलंकार माना है विद्यापर ने अनुप्रास-
रूपक-उत्प्रेषा का उद्धरण । चंद्रकलाकार के अनुसार यहाँ स्तिष्टकदेशविदिति
रूपकालंकार है ॥८३॥

स्मराद्धंचन्द्रे पुनिभे कशीयसा स्फुटे पलाशेऽध्वजुपाम्पलाशनात् ।

स वृन्तमालोकन खण्डमन्वित वियोगिहृत्खण्डिनि कालखण्डजम् ॥८४॥

जीवानु—स्मराद्धेति । नल स्मरस्य योऽद्धंचन्द्र अद्धंचन्द्राकार इपु-
स्तन्निभे तत्रमद्वी नित्यममासत्वादस्वपदविग्रह, अत आहामर—‘स्युत्तरपदे
त्वमो । निभसद्काशनीकाशप्रतीकाशोपमादय ’ इति । वियोगिना हृत्खण्डिनि
हृदयवेधनि कशीयसा वृशतराणामध्वजुपामध्यगामिनाम् पलाशनात्
मामभक्षणात् पत्राद्ये पलमशनातीति व्युत्पत्त्या पलाशमशाभाजि किशुक-
कल्कियामित्यथ । ज्वित सम्प्रद्व वृन्त प्रसववधन तदव कालखण्डज
खण्ड यकृत्खण्डमिति व्यस्तरूपकम् । आलोकत आलोकितवान् । ‘कालखण्ड
यकृत्समे’ इत्यमर । तच्च दक्षिणपाश्वस्य, कृष्णवर्णो मासखण्डविशेष ॥८४॥

अन्वय —स स्मराद्धंचन्द्रेपुनिभे वियोगिहृत्खण्डिनि कशीयसाम् अध्वजुपा
पलाशनात् स्फुट पलाशे ज्वित वृन्त कालखण्डज खण्डम् (इव) आलोकत ।

हिन्दी—उसने काम के अद्धंचन्द्राण के तुल्य विरहितनो के हृदय-विदारक
अत्यत कृश (दुर्बल) राहुगीरो (पथिको) के पल (मास) को खाने से
स्पष्टत ‘पलाश’ नाम को सार्थक करते (पल मासम् दाशनातीति पलाश)
पलाश में लगे कृष्णवर्ण प्रसववधन (कली के निम्नभाग में लगा वाला खोल)
को (पथिको के) कालखण्ड से जात खड (फलेजे के टुकडे) के समान दता ।

टिप्पणी—कवि ने पलाश की लाल कली में वियोगी पथिका के ‘पलाश’
(मासाशो) द्वारा खाये गये कलेजे के टुकडे की कल्पना की है । कली के नीचे
के भाग में जो ऊपरी खोल रा वाला पत्ता जमा लगा रह गया है, वह उस
खाये गये मास के सूख जाने के कारण है । नारायण पंडित ने यहाँ सुसोपदेशा
का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार न उपमा-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा क मकर का
और वियापर न रूपक और उपप्रेक्षा का ॥८४॥

नवा लता गन्धवहेन चुम्बिता करम्बिताङ्गी मकरन्दशोकरैः ।

दृशा नृपेण स्मिन्शोभितुद्मन्ना दरादराभ्या दरकम्पिनि पपे ॥ ८५ ॥

जीवानु—नवेति । गन्धवहेन वायुना चुम्बिता स्पृष्टा अयत्रानुलिप्तैन
पुमा शीघ्रिणा मकरन्दशोकरै पुष्परसकर्म करम्बिताङ्गीश्यामिधितरूपे

अन्यत्र त्विन्नाङ्गीति च गम्यते । स्मितशोभिन् विकासरम्या कुटुमला
 मुकुला रदनारच यस्यास्ता मन्दहासमधुरदन्तमुकुला च गम्यते । दरकम्पिनी
 वामुष्णशादीपत्कम्पिनी सात्त्विकवेषधूमती च नदा लता बली तन्मदुशी
 कान्ता च गम्यते । नृपेण कर्त्रा दृशा करणेन दरादराम्या भयवृणान्यामुप-
 क्षिप्तेन सता पपे अवेक्षिता गट्ट दृष्टा इत्यर्थः । उर्हीपकत्वात् दरः प्रिया-
 सादृशभावाद्दरश्च । 'दरोऽस्त्री शङ्खनीगर्तोष्वल्पायौ त्वञ्चयम्' इति वैजयन्ती ।
 अत्र प्रस्तुतविशेषणनाम्नादप्रस्तुतनामिकाप्रतीति समासोक्तिरलङ्कारः । 'विशेष-
 णस्य तौल्येन यत्र प्रस्तुतवर्णनात् । अप्रस्तुतस्य गम्यत्वे सा समासोक्तिरिष्यते'
 इति लक्षणान् ॥ ८५ ॥

अन्वय — गन्धवहेन चूमिवता मकरन्दशीकरैः करम्बिताङ्गी स्मितशोभिन्कु-
 वनला दरकम्पिनि नवा लता नृपेण दरादराम्या दृशा पपे ।

हिन्दी - सुगन्धिद्रव्य लगाये नायक के तुल्य गन्धवह (सुगन्धि समीर)
 द्वारा चूमा जाती, पृथक्पृथक् से उत्पन्न स्वेद के समान पुष्प-रस-रसों से
 युक्त लता वाली (सस्वेदा), मुसकान के कारण स्पष्ट होती सुन्दर दत्तावली
 के तुल्य खिनी मनोहर कलिकायों से सम्पन्न, गाल्पिक कंठ के सहस्र वामु से
 धीरे-धीरे हिलनी नवीना मन्दरो के समान नयी लता को राजा ने दर (दर)
 और आदर के साथ देखा ।

टिप्पणी—यहाँ बल्लरी को उस लता के तुल्य माना गया है, जो 'नवा
 लता'—नयी लता के समान ली है ही, उसमें 'न विद्यते बालता (जिसमें बच-
 पन शेष नहीं रहा) यस्या'—तरुणी भी है । लता को चूमनेवाला गन्धवह
 समीरण 'नदाऽशागन्धवह' भी (बालतागन्धस्य वह लेश अपि यस्मिन् न
 विद्यते)—जिसमें नाम को भी बचपन नहीं रह गया है—तरुण है, वह चन्दन,
 कस्तूरी आदि की सुगन्ध लगाये शोकीन छैला भी है । राजा ने उस समीरलता
 के मिलन को कृतहृत्कृत्य आदर के साथ देखा, स्वयम् विरही-विद्युक्त होने के
 कारण वह मिलन उसे असह्य लगा । यह दर (दर) का कारण हुआ ।
 स्पष्ट विशेषण, लिंग और कार्य की समानता के आधार पर लता में अप्र-
 स्तुत नामिका प्रतीति के कारण समासोक्ति ॥८५॥

विचिन्वती पान्थपतङ्गहिंसनैरपुण्यकर्माण्यलिकज्जलच्छलान् ।

व्यलोकयच्चम्पककोरकावली स शम्बरारेवलिदीपिका इव ॥८६॥

जीवात्—विचिन्वतीरिति । पन्थान गच्छन्ति नित्यमिति पान्था-
नित्यपथिका, 'पथोऽण् नित्यमि'त्यणुप्रत्यय पन्थादेशश्च । स एव पतङ्गा
पक्षिण 'पतङ्ग पक्षिमूर्खयो' इत्यमर । तेषा हिंसनं बधे अपुण्यकर्माण्येव
अलय कज्जलानीचेत्पुपमिनममास । तेषा छलादिश्यपह्नुवालङ्कार ।
विचिन्वती सगृह्णीती हिंसापापकारिणीरित्यर्थे । चम्पककोरकावली
शम्बरारेमंसिजस्य बलिदीपिका. पूजादीपिका इवेत्युत्प्रेक्षा, स नरो
व्यलोकयत् ॥ ८६ ॥

अन्वय —स अलिकज्जलच्छलात् पान्थपतङ्गहिंसनै अपुण्यकर्माणि विचि-
न्वती शम्बरारे बलिदीपिका इव चम्पककोरकावली व्यलोकयत् ।

हिन्दी—उस (राजा) ने भ्रमर रूप काजल के व्याज से पक्षि रूपी
पतंगों को जला मारने के पाप को दृक्छटा करती कामपूजा में प्रयुक्त की जाने
वाली दीप बत्तिकाओं (शमा) की भाँति प्रतीत होती चम्पे की बलियों को
देखा ।

टिप्पणी—एक मा यता यह है कि मौरा चम्पा पुण्य पर नहीं जाता, यदि
जाता है तो मर जाता है । सो चम्पा के पुण्य पर आसक्त हो चिपके मौरि
दीपिका में लगे काजल—वालों के तुल्य हैं, कृष्णवर्ण होने से जिसे अपुण्य-
वर्म कहा गया है । चम्पक इतना कामोद्दीपक माना गया है कि जिसे देख
विरही मर जाते हैं । विद्याधर ने इसमें रूपक अपह्नुति और उपमा अलंकार
का निर्देश किया है, मन्दिनाथ ने अपह्नुव और उत्प्रेक्षा का । चन्द्रकाकार
के अनुसार यहाँ कौन्वापह्नुति उत्प्रेक्षा उपमा का अर्थाभिभाव सकर है ॥८६॥

अमन्यतामो कुसुमेपुगर्भज परागमन्धङ्करण विद्योगिनाम् ।

स्मरेण मुक्तेषु पुरा पुरारमे तदङ्गमस्मेव शरेषु सङ्गतम् ॥ ८७ ॥

जीवात्—अमयतेति । यत्सौ नरः कुसुमायेव इयव कामवाणास्तेषा
गर्भत्र गर्भजात विद्योगिनामिति वर्मणि पट्टी । अथा त्रियन्तेऽनेनेत्यधङ्क-
रण 'आद्यमृभगे'त्यादिना व्यर्थे स्युन्प्रत्यय, 'अर्द्धिपदि'त्यादिना मुमा-

नम । त पराग पुरा पूर्वं पुरारये पुरहराय स्मरेण मुक्तेषु शरेषु सङ्गतं ससक्त तन्व पुरारैरङ्गै मद्भ्रुस्म तदिवामन्यत इति उत्प्रेक्षितवानित्यर्थं । पुरा पुरारये वै मुक्तास्त एवैते पुरावर्तिन कुसुमेपव इत्यभिमान, अन्यथैषा तदङ्गनस्मनङ्गोप्रेक्षानुत्थानादिति ॥ ८७ ॥

अन्वय—अग्री कुसुमेपुगर्भज विमोहिनाम् अन्धच्छरण पराग पुरा स्मरेण पुरारये मुक्तेषु शरेषु सङ्गत तदङ्ग-नम्न इव अमन्यत ।

हिन्दी—इसे (नल को) फूलों के भीतर का वियोगियों को अथा बना देने वाला पराग प्राचीन काल में काम द्वारा शिव पर छोड़े गये कुसुम बाणों पर लगे गयी शिव के अग की नस्म के समान प्रतीत हुआ ।

टिप्पणी—आँखों में नस्म पड जाने पर दिखाई नहीं देता, कुसुमपराग भी उद्दीपक और वियोगियों को अथा कर देनेवाला है । उत्प्रेक्षा और शब्दा-लकार अनुप्रास ॥ ८७ ॥

पिकाद्वने शृष्वति भृङ्गदृङ्कुनैर्दशामुदञ्चत्करण वियोगिनाम् ।

अनास्यया सूनकरप्रसारिणी ददर्श दूनः स्थलपद्मिनी नल ॥ ८८ ॥

जोवानु—निकादिति । वने उपवने श्रोतरि पिकाद्वक्तु सकाशाद् भृङ्गदृङ्कुनैर्वियोगिना दशामलिङ्कारकृता दुःखावस्यामित्यर्थं । उदञ्चत्करा विक्रमदुःखविशेषमुघरहृषञ्च यया तथा शृष्वति सति, 'कदास्तु रसे वृक्षे वृषाया कक्ष्या मर्ते'ति विश्वः । अनास्यया श्रोतुमनिच्छया सून प्रनूनमेव कर प्रसारयतीति प्रसारिणी पुष्परूपहस्तविस्तारिणी तयोक्तामनिष्टक्या करेण वारयन्तीमिव स्थितामित्यर्थं । सूनकरेति प्रसारिणीमितिरूपकानुप्राणिता गम्भोत्प्रेक्षेयम् । स्थलपद्मिनी नलो दूनः परितप्त सन् दूट कर्तरि क्तः; 'त्वादिभ्यस्त्वे'ति निष्ठानत्त्वम् । ददर्श ॥ ८८ ॥

अन्वय—दून नल, पिकाद् भृङ्गदृङ्कुनैः वियोगिना दशाम् वने उदञ्च-त्करणा शृष्वति सूनकरप्रसारिणीं स्थलपद्मिनीम् अनास्यया ददर्श ।

हिन्दी—मत्स नल ने काबिल और मोरों के गुजार से विरहिदूनो की

दशा को विकसित होने करुण वृक्षों से युक्त वन में कृष्णा से परिप्लावित हो सुनते पुष्प रूप कर फैलाये स्थलकमलिनो को अनिच्छापूर्वक देखा ।

टिप्पणी—वन में कौकिल कूजन था, भ्रमर-गुजार था, स्थल-पद्मिनी थी, जिस पर कमल सिंठे हुए थे । इन सब को देखकर 'वियोगी जन कष्ट पाते हैं । राजा की श्रवण में अनास्था का कारण है मानो स्थल-पद्मिनी का कमल फेर फैला कर निषेध कि क्या किसी को करुणकथा—दुःशा की गाथा सुनते हो ? यह निवारण कूजन, गुजार, खिले कमल—सब की अनित्यता का सूचक है, इसके प्रति अनास्था ही उचित है । करुणा ही उचित है । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकानुप्राणितता गम्योत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति, रूपक और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, जिसे चद्रकलाकार ने सब का अगाधिभाव सकर कहा है ।

रसालमाल समदृश्यतामुना स्फुरद्द्विरेफारवरोपद्दृष्टि ।

समीरलोलैर्मूकुलैर्वियोगिने जनाय दित्सन्निव तज्जनाभियम् ॥ ८९ ॥

जीवातु—रसालेति । अमुना नलेन स्फुरन्तो द्विरेफास्तेषामारवो भ्रमर-शङ्कार एव रोपेण या हृद्दृष्टिर्हृद्कारो यस्य स समीरलोलैर्वायुचर्लर्मुकुलै-रङ्गमुलिभिरिति भाव । वियोगिने जनाय तज्जनाभिय दित्सन् दातुमिच्छन्निव स्थित, ददाते सन् प्रत्यय 'सनिमीमे'त्यादिना इगादेश, अत्र लोपोऽभ्या-सस्ये'त्यभ्यासलाप, 'सस्याघघातुव' इति सकारस्य तकार । रसालसालश्चूत-वृक्ष समदृश्यत सम्पश्येत् । द्विरेफेत्यादिरूपकोत्थापितेय तज्जनाभयजननोत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ ८९ ॥

अन्वय—अमुना स्फुरद्द्विरेफारवरोपद्दृष्टि समीरलोलै मुकुलै वियोगिने जनाय तज्जनाभिय दित्सन् इव रसालसालः समदृश्यत ।

हिन्दो—उष (राजा नल) ने भनमनाते भ्रमरो के गुजाररूप प्रोष की दृक्कारी से युक्त समीरण में डोलते घोर द्वारा वियोगियों को अँटने-पमकाने-हराने की इच्छा करते जैसे आघवृक्ष को देखा ।

टिप्पणी—वियोगियों के सताप देने वाले उद्दीपन बीराते धाम का वर्णन मल्लिनाथ के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा का सकर, विद्याधर के अनुसार शनुप्रास-उत्प्रेक्षा ।

दिने दिने त्व तनुरेधि रेऽधिक पुनः पुनर्मूर्च्छं च मृत्युमूर्च्छं च ।

- इतोव पान्य शपतः पिकान् द्विजान् सखेदमैक्षिष्ट सलोहितेक्षणान् ॥ ९० ॥

जीवातु—दिने दिने इति । रे इति हीनसम्बोधने । त्व दिने दिने अधिक तनु एषि अधिक कृशो भव, अस्तेलोद् निप् 'दृशान्मो हेधिरि'ति धित्वम् 'ध्वसोरेडावन्मासलोपरच' इति एत्वम्, पुनः पुनः मूर्च्छं च मृत्यु मरणमूर्च्छं च इति पान्य नित्यपथिकं शपते उपमानानिवृत्तित्वात् प्रोक्षा, लोहितेक्षणान् रक्तदृष्टीन् एकत्र समस्यतोऽप्यत्र सखेदमैक्षिष्ट इति पिकान् कोकिलान् द्विजान् पक्षिणां ब्राह्मणेषु स नत् सखेदमैक्षिष्ट । इत्यापि उक्त्यङ्गुपेति भावः ॥ ९० ॥

अन्वय — रे, त्व दिने दिने ऐषि, पुनः पुनः मूर्च्छं च, मृत्युमूर्च्छं च—इति स पान्य शपत इव लोहितेक्षणान् (द्विजान्-इव) पिकान् द्विजान् सखेद ददशं ।

हिन्दो—अरे, तू दिन दिन और अधिक दुबल हो, बार-बार मूर्च्छित और मृत्यु को प्राप्त हो,—इस प्रकार राही को घाप देते लाल बाँधे किये ब्राह्मणों के तुल्य कोकिलबिहगों को उस (राजा) ने खेदसहित देखा ।

टिप्पणी—कोकिल की आँखें तो लाल हं होती हैं, इन्हों के आजार पर उनके जोषी ब्राह्मणसम होने की कल्पना की गयी है, जो पास होकर त्र ने वाले को नी यों ही निष्कारण कोसता है । ऐसे लोगों को देखकर खेद होना स्वभाविक है । कोकिला शब्द को सुनकर वियोगी परदेशी पथिक मन्त्रस और मूर्च्छित होते हैं । 'द्विज' शब्द के सिन्धु प्रयोग के कारण उपमा व्यङ्ग्य है ।

अलिप्तजा कुड्मलमुच्चशेखर निपीय चाम्पेयमघोरया दृशा ।

स धूमकेतु विपदे विभोगिनामुदीनमानङ्कितवानराङ्कत ॥ ९१ ॥

जीवानु—अलिप्तजैति । अलिप्तजा भ्रमरपक्ष्या उच्चशेखरमुन्नतशिरो- नूपाम् अलिप्तलिनाङ्गमित्यर्थः । 'शिलास्वापीडशेखरादित्यमर । चाम्पेय चम्पकविदार कुडमम् 'अय चाम्पेय' चम्पको हेममुष्क' इत्यमरः । नन्वपुत्र- निद 'त पदपदो गन्धर्वालीमजिघ्रसि'त्यादावलीना चम्पकस्वर्गानावप्रमिद्धेरिति चेत् नैव हिन्तु सृष्ट्येव तावत्तं चाम्पयोक्ति' स्वचित् केपाचित् उक्तपरिहार

अथवा चाम्पेय नागकेसर 'चाम्पेय केसरो नागकेसर काञ्चनाह्वय' इत्यमर । अधोरया दृशा निपीय विकर्णवदृष्टया गाड दृष्टा आशङ्कितवान् किञ्चिदनिष्ट-
मुत्प्रेक्षितवान् । स नल 'अनिष्टान्म्यागमोत्प्रेक्षा सङ्क्रामाचक्षते बुधा' इति
लक्षणात् । वियोगिना विपदे उदीतमुत्थित धूमकेतुमशङ्कत अतर्क्यदित्यु-
त्प्रेक्षालङ्कार ॥ ९१ ॥

अन्वय —अनिष्टया उच्चसौख्ये चाम्पेय बुद्धमलम् अधोरया दृशा निपीय
आशङ्कितवान् स वियोगिना विपदे उदीत धूमकेतुम् अशङ्कत ।

हिन्दी—भ्रमरमाल मे जिसका शिरोभाग उन्नत हो रहा था, ऐसी चम्रा
की कली को अधोर दृष्टि से देखकर आतन्त्रि उम (नल) ने वियोगियों
के विनाशाय उदित धूमकेतु की आशंका की ।

टिप्पणी—लकी चोटी के समान जिसपर भ्रमरावली लिपटी है, उस चपा
की कली में विनाशकारी धूमकेतु की आशंका यह चोतिन करती है कि विर-
हिजनो को, उसका देखना असह्य है । भौरा प्राणधानी होने से चपकपुष्प
पर नहीं जाता—इम मान्यता को ध्यान में रखते हुए मन्त्रिनाथ 'चाम्पेय-
बुद्धमल' का अर्थ 'नागकेसर' किया है, जो पीले रंग का फूल होता है ।
उत्प्रेक्षा अलङ्कार ॥९१॥

गलतराग भ्रमिभङ्गिभि पतत् प्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसरम् ।

स मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्वण शाणमिव व्यलोकयत् ॥ ९२ ॥

जीवानु—गलदिति । स नरो गलतराग निर्यद्रास्क भ्रमिभङ्गिभि
भमणप्रकारैरपलक्षित पतद् भ्रश्यत् प्रसक्तभृङ्गावलि मक्नालिकुल नागकेसर
मुमुमविद्येय मारनाराचनिघर्षणै स्मरसरकपर्णै स्खलतः लुप्तत ज्वलन्तश्च
वणा स्फुलिङ्गा यस्य त शाण निवपोत्पलमिवेत्युत्प्रेक्षा व्यलोकयत्, 'शाणस्तु
निवप वप' इत्यमर ॥ ९२ ॥

अन्वय —स गलतराग भ्रमिभङ्गिभि पतप्रसक्तभृङ्गावलि नागकेसर
मारनाराचनिघर्षणस्खलज्ज्वलत्वर्ण शाणम् इव व्यलोकयत् ।

हिन्दी—उस (राजा) ने त्रिशते पराग सह रहा था और जिसपर

भेंढरा-भेंढरा कर गिरती नौरों की पक्ति मसकत थी, उस नागकेसर पुष्प को काम-बागों की रगड़ से जिसमें चिनगारियाँ निकल रही हों, ऐसी सान (लोहे की बनी छुरी, चाकू, तलवार, बाग आदि रगड़कर उत्र करने का यंत्र) के समान देखा ।

टिप्पणी—नागकेसर का पराग-काइता फूल मानों काम-बागों को पैना करने का यंत्र है, उसकी मारक शक्ति का सहायक । 'मार' शब्द का सायक प्रयोग । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और जाति अत्रकार, मल्लिनाथ ने (और चद्रकलाकार ने भी) केवल उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥९२॥

तदङ्गमुद्दिश्य मुग्धस्य पातुकाः शिलीमुखालीः कुमुमाद् मुग्धस्पृशः ।
स्वचापदुर्निर्गंतमार्गं भ्रमात् स्मरन् स्वन्तीरवशोक्य लज्जित ॥ ९३ ॥

लौत्रात्—तदङ्गमिति । मुग्धस्य शोभनगद्य 'गन्धस्त्रे'त्यादिना समा-
शान्त इकार । तदङ्ग तस्म नलन्याङ्गमुद्दिश्य लक्ष्यीकृत्य गुण गत्यादि
'भौर्वी च, 'मुग्धस्त्रादृनिशब्दादिभ्येन्द्रियामुच्चतन्तुष्विति वैत्रयन्ती । तन्स्पृश-
स्तद्युक्त्या 'सृशोऽनुक्ते क्विप्' कुमुमादभादानात् पातुका धावन्ती, 'लपपते'
त्यादिना उक्प्रत्यय । स्वनन्तीध्वनन्ती शिलीमुखाली जलिपक्ती बाण-
पक्तीश्चावलोक्य स्मरन् स्वचापात् पौष्पाद् दुर्निर्गता विषमनिर्गता ये मार्गा
वागाम्भ्रमाद्वेनोर्लज्जितोऽभवत् न्यूनमिति शेषः । दुर्निर्गतेष्वो ह्यधिक
स्वनन्तीति प्रसिद्धे । अत्र स्वनच्छिन्नीमुषेपु दुर्निर्गंतमार्गं भ्रमाद् भ्रान्तिमद-
लङ्कारः, म च शिलीमुखेति इत्यानुप्राधिनादुत्थापिता धेय स्मरस्य लज्जित-
त्वोन्प्रेक्षेयनपोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ ९३ ॥

अन्वय — मुग्धस्य तदङ्गम् उद्दिश्य गुणस्पृशः कुमुमात् पातुका स्वन्ती
शिलीमुखाली अवलोक्य स्वचापदुर्निर्गंतमार्गं भ्रमात् स्मरन् लज्जित ।

हिन्दी—मुग्धपुरुष नल के जगों की दिशा में मुग्ध गुण की धारण-
करते पुन से उठकर जाती (अथवा 'गुणस्पृशः कुमुमात् मुग्धस्य तदङ्गम्
उद्दिश्य पातुका'—अन्वय करके 'मुग्धस्य दूँ से भी अधिक मुग्धमय नल के
अगों की ओर उठी जाती) मननताती भ्रमरावलि को देखकर उसे कुमुनपनु
के गुण जरात् प्रपचा से उठी मार करती शिलीमुख अर्थात् बागों की मान्य

समक्ष अपने धनुष् से दुर्निगत अर्थात् लक्ष्य से भटके बाण की भ्रांति के कारण कामदेव लजा गया ।

टिप्पणी—हृदयघ्नता के कारण काम का भ्रम में पड़ लज्जित होना,— इस आधार पर भ्रांति और श्लेषानुप्राणिता उत्प्रेक्षा का सङ्कर ॥९३॥

मरुत्पल्लवपल्लवकण्टके क्षत समुच्चरच्चन्दनमारसौरभम् ।

स वारनारीकुचसञ्चितोपम ददश मालूरफल पचेलिमम् ॥ ९४ ॥

जीवातु—महदिति । मरुता वायुना ललत्पल्लवानाञ्चलत्किसलयान् कण्टकैस्तीक्ष्णान्प्ररवमवै क्षतमन्यत्र विलसद्विनसं क्षतमिति गम्यते, समुच्चरत् परित प्रसपत् चन्दनसारस्येव सौरभ यस्य तत् अतएव वारनारीकुचेन वेश्यास्तनेन सञ्चितोपम सम्पादितसादृश्यमित्युपमालङ्कार । 'वारन्त्री गणिका वेश्ये'त्यमर । कुलाङ्गनानखक्षताङ्गनाञ्चिरथाद्वारविशेषण, पचेलिम स्वतःपक्व कमकर्तारि 'केलिमर उपसंख्यानमि ति पचे केलिमरप्रत्यय । मालूरफल विल्वफल 'विल्वे शाण्डिल्यशैलूपो मालूर श्रीफलावपी'त्यमर । स नलो ददर्श ॥ ९४ ॥

अन्वय —स मरुत्पल्लवकण्टके क्षत समुच्चरच्चन्दनसारसौरभ वारनारीकुचसञ्चितोपम पचेलिम मालूरफल ददर्श ।

हिन्दी—उस (मरु) ने वायु से झूमते पल्लवों और कांटों से कटे-भटे, चन्दन गन्ध से भी श्रेष्ठ सुगंध छलकाते, (अतएव) मरुत् देव के समान पल्लव बपात् विलासी विट के काटा के समान तीक्ष्ण नखों (अथवा विलासी के पल्लव-सम हाथ के काटे अर्थात् नखों) के क्षत-चिह्न से युक्त, चन्दन, कपूर आदि की सुगंध छलकाते वाराणसी के कुच का सादृश्य अर्जित करनेवाले पके विल्वफल को देखा ।

टिप्पणी—विल्वफल का 'वारनारीकुचसञ्चितोपम' इस आधार से कहा गया कि कुलनारी के नख क्षता का प्राकट्य उचित नहीं होता । उपमा अलङ्कार । युवद्वयोषितनिपुञ्जनाञ्चिनप्रमूननून्वेतरगर्भगङ्गारम् । स्मरेपुधोऽश्रुस्य धिया भियाञ्घया स पाटलाया स्तवक प्रकम्पिन ॥ ९५ ॥

जीवानु—सुवेति । सुवा च सुवती च नरोपनोद्वंद्वी मिथुन तस्याश्रितयो
 वनंपोनिनग्जने ष्यन्त्रान्नुद् उचिर्वं धर्मं प्रसूनं पुष्पदापं शून्यतरदशूय
 पूं तंताह्वर तंकेह्वर मन्व तत् पाटलाया पाटलवृक्षस्य मन्वव कुमुम-
 गुच्छमिदाम्बया नयमूढया विद्या मन्ववन्मन्वदेन्दव्यं । मन्वेषुधीहृत्य
 कामतुपीहृत्य तथा विभ्रम्य दृश्यं , अथ एव नभात् प्रकम्पितदचकम्पे । अत्र
 पाटलस्तदके मदनतुपीरभ्रमात् भ्रान्तिनदत्तकार । 'कविप्रमनसादृश्याद्विपये
 विहितात्मनि । आरोप्यनाणानुभवो नत्र स भ्रान्तिमान्मत ॥' इति स्तनात् ॥

अन्वय — सुवदयोचिननिमग्जनोंचिनप्रसूनशून्यतरदशूयनाह्वर पाटलाया
 मन्वव निदाम्बया विद्या मन्वेषुधीहृत्य न प्रकम्पित ।

हिन्दी—तरुण-तरुणी के विंधे चित्तों के मध्य डूब जाने योग्य फूलों से
 जिसका भीतरी भाग परिपूर्ण है, ऐसे पाटल के गुच्छे में नय से अधी बुद्धि
 (विवेकहीनता) के कारण कामबाणों की भ्रांति में वह कण्ठ होने लगा ।

टिप्पणी—राधा ने समझा कि यह पाटलस्तदक नहीं बाणों से परिपूर्ण
 काम का तूषोर है । टटोपन । मल्लिनाथ ने यहाँ भ्रांतिमत् अकार का
 निर्देश किया है, विद्याधर ने रूपक और अनुप्रास का ॥९५॥

मुनिद्रुमं कोरकित शितिद्युतिवनिष्मुनाऽमन्वत सिद्धिक्वामुत ।

तमिन्नपक्षश्रुटिकूटमक्षित कलाकलाप विल वैषव वमन् ॥ ९६ ॥

जीवानु—मुनीनि । अमुना नलेन बने कोरकित मुञ्जातन्नेरक शिति-
 द्युति पत्रेषु कृष्णच्छवि मुनिद्रुमोऽगस्त्यवृक्ष तमिन्नपक्षे श्रुटिकूटेन क्षयध्याजेन
 नक्षितम् नक्षितत्वे कृत्र क्षय ? इति नाव । अत्र कूटशब्देन क्षयोपह्वयेन
 नक्षणाग्रादपह्ववभेदः । वैषव च द्रसम्बन्धि 'विष्णु मयामु मुन्नागुरि'
 स्मर । कलाकलापइकलामनृह वमनुदिगरन् सिद्धिक्वामुतो राहुरमन्वत
 विल मनु ? अथ कोरकितशितद्युतित्वाभ्या मुनिद्रुमस्तेन्दुकलाकलापवमन-
 विशिष्टराहृत्वोत्प्रेक्षा, सा चोक्त्वापह्ववोभ्यापितेति सङ्कर ॥ ९६ ॥

अन्वय — बने कोरकिन शितिद्युति मुनिद्रुम अनेन तमिन्नपक्षश्रुटिकूट-
 म्पित वैषव कलाकलाप वमन् सिद्धिक्वामुत. अमन्वत किं ।

हिन्दी—वन में (शुभ्र) कलियों से युक्त काले रंग के अगस्त्य वृक्ष को राजा ने काले पाषाण में हुए चन्द्रकला दाय के कूट (व्याज, मिस) से खाये विष्णु (चद्र) की कलाओं का वमन करता सिंहिकापुत्र राहु समझा ।

टिप्पणी—अगस्त्य वृक्ष के पत्ते काले होते हैं, परन्तु कलियाँ उज्ज्वल शुभ्र, इसी कारण वृक्ष में राहु की ओर कलियों में चन्द्रकलाओं की समावना की गयी है । राजा के मन में अगस्त्यवृक्ष को देखकर डर सा लगा उसे कुछ पह राहु समझकर । 'प्रकाश'-कार ने सिंहिका-पुत्र का अर्थ सिंहिनी का जाया सिंह करके यह भी कल्पना की है कि वन में खाये गये किसी खगोश आदि शुभ्र पशु को उगलता यह सिंह है, जिसे देख राजा को डर लगा । वस्तुतः विरही राजा को अगस्त्यवृक्ष कष्टदायक लग रहा था । यह भी माना जा सकता है कि अगस्त्यवृक्ष को राहु रूप में देख राजा कुछ हुआ कि अब वियोगियों को सतप्त करनेवाला चद्रमा तो राहु के डर से सताने को नहीं रहेगा, पर जब उसने देखा कि खाये चद्र का राहु उगल रहा है, तो पुन चद्र-भय राजा को हो गया । मत्तिलनाथ ने इस पद्य में उत्प्रेक्षा-अपह्नुति के संकर का निर्देश किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षारूपक-अपह्नुति-श्लेष के संकर का ।

पुरोहठाक्षिसतुपारपाण्डरच्छदा वृतेर्भीरुधि नद्विभ्रमा ।

मिलन्निमील विदधुर्विलोकिता नमस्वतस्त कुसुमेपु केलय ॥ ९७ ॥

जीवातु—पुर इति । पुरोऽप्रे हठात् क्षटित्याक्षिता आवृष्टा तुपारेण हिमेन पाण्डराणा छदाना पत्राणा तुपारवत् पाण्डरस्य च्छदस्याच्छादकस्य वलस्य चावृतिरावरण येन तस्य नमस्वतो वायो बीरुधि रताया नद्धा अनुबद्धा विभ्रमा भ्रमणानि विलासादथ यासान्ता कुसुमेपु विषये केलय क्रीडा कुसुमेपु केलय कामक्रीडाश्च विलोकिता सत्यस्त नृर नल मिलन्निमीलो मिलन यस्य त विदधु निमीलिताक्षश्चक्रुरिययं । विरहिणामुद्दीपकदर्शनस्य दुःसहदुःखहेतुत्वात् अयत्र ('नेक्षेताकं न नग्ना स्त्री न च सस्पृष्टमेषुनामि'ति निषेधादिति भाव ।) अत्र प्रस्तुतनमस्वद्विशेषणसामर्थ्यादप्रस्तुतवामुत्तविरह-प्रतीते समामोक्तितरलङ्कार ॥ ९७ ॥

अन्वय — पुर (पुरा) हठाक्षिसतुपारपाण्डरच्छदा वृते नमस्वत बीरुधि नद्विभ्रमा कुसुमेपु केलय त मिलन्निमील विदधु ।

हिन्दी—सम्मुख (पहिले) बलान् तुषा ने पाहु हुए पत्ते रूप आवरण (बन्ध) को सोचने वाले वायु की लता से सम्बन्ध रखनेवाले हिन्दू-बौद्धों के विचार से मुक्त फूलों के साथ झोटाएँ देख राजा ने आँखें मूंद लीं ।

टिप्पणी—'नद्धविभ्रमा' का 'वि' अर्थात् पक्षियों के अन्त बयान् इधर-उधर उड़ते रहने का व्यंजित किया जाता है । वायु नायक है और वीर्य-लता नायिका, त्रिभुजा पत्र रूप बन्ध नायक बलान् उद्योग रहा है, इस समीप दृश्य को न देखने की इच्छा के लज्जा अथवा विरह के कारण राजा ने आँखें मूंद लीं । दाहबन्ध का भी इन विषय में निमित्त है कि नम्र अथवा रतिहीन में सन्तान नाभी को देवता उचित नहीं है । समाश्रित्त अलङ्कार ।

गता यदुत्सङ्गतले विगालना द्रुमा शिरोभि फल्गोरवेण ताम् ।

कत्र न धात्रीमन्निमात्रनामिनिं. स वन्दमानानभिनन्दतिस्म तान् ? ॥९८॥

जीवानु—गता इति । द्रुमा यस्या धान्या उत्सङ्गतले उपरि देसे च विगालता विवृद्धि गता ता धात्रीमनुबन्ध उपमातर का 'धात्री जनन्यामलङ्का वसुमन्सुमनातृष्वि'ति विन्ध । 'धा वन्ति ष्टृग्नि'ति दधात्रे ष्टृन्प्रत्यय । फल्गोरवेण फल्गुरेण मुहूर्ताविजनेन च हेतुना अतिमात्र नामितं, प्रह्लाद्वृत्तं तमेनिन्वविकल्पाद्भ्रम्बानाव । शिरोनिरग्रं उत्तमाङ्गैश्च वन्दमानान् स्पृष्टवा-ऽनिवाद्यमानाश्च तान् प्रहृतान् द्रुमान् अत एव यच्छब्दानपेक्षी स नल् कत्र नामिनन्दति स्म जनिनन्दवैष्यर्थं । वृक्षाणा क्षेत्रानुहपफलस्य सम्पत्तिम-पस्याना च मातृमन्त्रिश्च को नाम नामिनन्दतीति नाव । अत्रापि विरह्या-सान्ध्यात् पुत्रवतीते समाश्रित्तित्तरलङ्कार ॥ ९८ ॥

अन्वय—स यदुत्सङ्गतले द्रुमा विगालना गता फल्गोरवेण अतिमात्र-नामिनिं गितामि ता धात्री वन्दमानान् तान् कत्र न अमिनन्दतिस्म ?

हिन्दी—यह राजा त्रिभुजा के मे पत्कर वृक्ष बटे हुए, फल्गार से अतिमात्र मात्र शि-करके (निरनुत्ता) उच्च धनी धान्य करने-हारी धान्य-माँ (धरती) की उदता कत्र उन वृक्षा का अमिनन्दन क्यों न करता ? (अथवा यह अन् भी कि राजा ने (विरही होने के कारण कुछ भी मन न प्रतीत होने से) अमिनन्दनीय वृक्षा का भी अमिनन्दन नहीं किया ।)

टिप्पणी—कर्तव्य करने वालों का सभी अभिनन्दन करते हैं, सो राजा ने बदना करते वृक्षों की प्रशंसा की, अथवा वियोग के राजा को कुछ भी—फल, फूट, वृक्ष, लता—मला नहीं लगता था, अतः उसने कर्तव्य पालक वृक्षों की भी उपेक्षा कर दी। समासोक्ति ॥९८॥

नृपाय तस्मै हिमिन् वनानिलैः सुधीकृतं पुष्परसैरहमंह ।

विनिर्मितं केतक्रेणुभिः सितं वियोगिनेऽप्यत्तं न कौमुदी मुदं ॥९९॥

जीवानु—अत्रातपस्य चन्द्रिकावन्निरूपणाय तद्धर्मन् सम्पादयति—नृपा-
येति । वनानिलैः उद्यानवाते हिम शीतलं कृतं हिमिन्, तत्करोतेऽर्ष्यं तावत्
कर्मणि षत् । पुष्परसैर्वनवातानीतं मकरन्दं सुधीकृतममृतीकृतं तथा केतक्रे-
णुभिः मितं विनिर्मितं सुधीकृतम् अहो महस्तेज अहमंह आतप 'रो
मुदी'ति रेफादेशः । तदेव कौमुदीति व्यस्तरूपकं वियोगिने तस्मै नृपाय मुदं
पमोदान् नाशयति न कृतवती, प्रत्युत्तोटीपिर्वाभाभूदिति भावः ॥ ९९ ॥

अन्वय—वनानिलैः हिमिन् पुष्परसैः सुधीकृतं केतक्रेणुभिः सितं विनिर्मितं
अहमंह तस्मै वियोगिने नृपाय कौमुदी मुदं न अशयति ।

हिन्दो—जानन समीरण से अतिशीतल, फूलों के रस द्वारा अमृत तुल्य
और केतक-पराग-बणों से सुन्न बनाया गया (अतएव सब प्रकार से सुख
दायक बनाया गया) भी दिन का प्रकाश उस विरही राजा को चाँदनी—जैसा
सुख न दे पाया ।

टिप्पणी—ताप कम करने के सभी उपाय विरही राजा को व्यर्थ लगते
थे । 'तस्मै वियोगिने नृपाय वनानिलैः' नृपाय मुदं अशयति, कौमुदी न', इस
प्रकार अशय करके यह अर्थ भी किया जाता है कि दिन के प्रकाश ने ही
राजा को मोद दिया, चाँदनी ने नहीं, क्योंकि विरहिनियों को चाँदनी पीटा-
दासिनी मानी जाती है । 'मुदं न अशयति ? अपि तु अशयति एव'—इस प्रकार
काकुत्स्थोक्ति मात्सर यह अर्थ भी किया जाता है कि क्या सुखदायक देने
दिन के प्रकाश ने चाँदनी जैसा मोद नहीं दिया, अपि तु दिया । 'कौमुदी' के
समान 'अहमंह' को मानने पर 'उपम' अथवा रूपक अलंकार । वनानिल

इत्यादि में सुखदायक बना होने पर भी 'अहर्निह' मोद जो न दे सका—इस
 अर्थ में काग्न होने पर भी कार्य की अनुपति निम्न विशेषोक्ति है, विद्याधर
 ने ऐसा ही माना है ॥१९२॥

त्रियोगनाजोऽपि नृपस्य पश्यता तदेव नाशादमृतामृमाननम् ।

निकेन रोषादावभ्रुषा मुहुः कुहूँताञ्जहूयत चन्द्रवैरिणी ॥ १०० ॥

जीवानु—वियोगेति । वियोगनाजोऽपि वियोगिनोऽपि नृपस्य तदशननेव
 नाशादमृतां प्रपन्नचन्द्र पश्यता अत एव रोषादद्यापि चन्द्रता न बहावीति
 क्रोधादिवारावभ्रुषा निकेन चन्द्रवैरिणी कुहूँताञ्जहूयत एव कुहूँतचन्द्रकला
 अनावाभ्येति सिद्धरूपक, 'कुहूः स्यात् कोकिलालापनष्टेन्दुञ्जहोरनी'ति
 विश्व । मुहुरात्मत आहूता किमिच्छन्प्रेक्षा पूर्वोक्तरूपकसापेक्षेति मुक्त ।
 अस्य चन्द्रस्तेनेन कुहूँताह्वानीया स्यात्तन्वान्ति गृह्यसम्भवाश्चेति नाव ॥

अन्वय—वियोगनाज अपि नृपस्य तत् आननम् एव ताशात् अनृतां
 पश्यता रोषादावभ्रुषा निकेन कुहूँता मुहुः चन्द्रवैरिणी आहूयत ।

टिप्पणी—विह्वी भी राजा के उस मुख को ही ताशात् (पश्यत) अनृता
 दीपित चन्द्र के समान देखते क्रोध से आँखे लाल किये कोकिल ने 'कुहूँ-कुहूँ'
 बोलकर बारम्बार चन्द्रमा की शत्रु 'कुहूँ' व्यांश अनावस्था को पुकारा ।

टिप्पणी—वियोग पीड़ित होने पर भी राजा का मुख रमणीय रहा,
 यह नाव है, बिसे देखकर वियोगियों को दुःख देने वाले कोकिल ने क्रुद्ध हो
 चन्द्रवैरिणी अनावस्था को पुकारा । कोकिलरव वियोगी की पीडा को बढ़ाता
 है । अरु-अप्रेक्षा का मुक्त ॥१००॥

जशोकमयोन्वितनानताशया गतान् शरप्य गृहशोचिनोञ्जगान् ॥

जमन्वनावन्तनिवेष पल्लवैः प्रनीष्टकामज्वलदक्षजालकम् ॥ १०१ ॥

जीवानु—अशोकमिति । एष नः पल्लवैः प्रनीष्टानि प्रतिहृतीतानि सच्छन्नानि
 कामस्य ज्वलदक्षानि तद्रूपकाणि जालकानि तादृकानि बालनुकुलपुच्छा देन
 न पल्लवसच्छन्नकुमुनरूपकामाश्रमित्यर्थ । अन्यथा तद्गनादेव ते त्रियेरन्निति
 नाव । अशोकमत एवाशोचिननानता नाम्नि शोकोऽस्मिन्नित्यवयवसत्ता
 तन्मृता आशया जस्तानप्यशोकान् करिष्यतीत्यनिच्छादेन शरणे रमणे

साधु समर्थं शरण्यं मत्वेति वेष । 'शरणं रक्षणे गृह' इति विश्व । 'तत्र साधुरिति यत्प्रत्यय । आगतान् शरणागतानित्यर्थं । गृहान् दारान् शोचन्तीति गृहशोचिनं गृहानुद्दिश्य शोचन्त इत्ययम् । 'गृहं पत्न्या गृहे स्मृत' इति विश्व । अध्वगान् प्रोपितान् अवतमिव शरणागतरक्षणे महाफल-स्मरणादन्यथा महादोषस्मरणाच्च रक्षन्तमित्यर्थम् । अमयतं ज्ञातवान् । अस्त्रमीरुणा तद्गोपामेव रक्षणाय इति भावः ॥ १०१ ॥

अन्वय — एष पल्लवः, प्रतीक्षकामज्ज्वलदस्त्रजालकम् अशोकम् अर्थावित-नामताशया शरण्यं गतान् गृहशोचिनं अध्वगान् अवतम् इव अमन्यत ।

हिन्दी—उस (राजा) ने पल्लवरूप करी मे काम के देदीप्यमान अस्त्ररूप नवकलिकाशो को ग्रहण क्रिये अशोक वृक्ष को 'यह वृक्ष अपना 'अशोक' (शोकरहित, शोकनाशक) नाम साधक करेगा'—इस आशा से शरण गये घर के सोच में व्याकुल पथिकों की रक्षा करनेवाला जैसा माना । अथवा काम के आग्नेय अस्त्र पल्लव-करी में लिये शरण आये पथिकों की रक्षा करनेवाला जैसा माना ।

टिप्पणी—अशोक के रत्नवर्ण पत्रों की समता काम के देदीप्यमान आग्नेय अस्त्रों से की गयी है । कामोद्दीप्त करनेवाला अशोक उन विद्योपी पथिकों की, जो उसके 'अशोक' नाम से आकृष्ट हो उसकी शरण आये हैं काम से उनकी रक्षा के लिए अस्त्र लेकर सन्नद्ध है अथवा अवतम् का 'ध्यापादयत्तम्' अर्थ करने पर उनकी रक्षा कर रहा है । दोनों ही समावनाएँ हैं । अस्त्रधारी रक्षक भी हो सकता है, विनाशक भी, किन्तु विरट्टिजना का पीछे जाने से 'विनाशक'—पक्ष ही अधिक सार्थक प्रतीत होता है, जिसमें यह भाव निकलता है कि नल भी अशोक के पल्लव-कलिकाशो को देख और भी व्यथित हुए । 'गृहिणी गृह-मूच्यते'—इस न्याय से 'गृह' का अर्थ पत्नी मानकर 'गृहशोचिन' का सात्त्विक 'प्रिया के शोच मे डूबे समयना चाहिए । सापेक्षवा उत्प्रेषण ।

विलासवार्पेनटवीचिवादनात् पिकाग्निने सिखिलाम्पलाभरात् ।
वनेऽपि तौम्यप्रियमाग्नात् तं क्व भोगमाप्नोति न भाग्यमाग्नात् ? ॥
जीवात्—विनामिति । विलासवापी विहारदीपिका तस्याग्नेः वीचीनां

वादनान्पिकानामलीलाञ्च गीतेर्गानात् शिबिना मयूराणां रास्यलाघवात्
नृत्यनैपुण्यात् च वनेऽपि तं नल तौर्यंत्रिकं नृत्यगीतवाद्यत्रयं कर्तुं, आरराध
वाद्ययगमाम् । तथा हि—नाग्यभाक् नायवान् जनः क्व भोग्यत इति
भोग्यं मुक्तं तं नाप्नोति सर्वत्रैवाप्नोतीत्यर्थं । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽ-
र्पन्तिग्न्याम् ॥ १०२ ॥

अन्वयः--(नल) विलासवापीतटवीचिवाटनात् पिकालिगीते शिबि-
लास्यलाघवान् वने अपि तं तौर्यंत्रिकम् आरराध, नाग्यभाक् जनः क्व भोग्यम्
न आप्नोति ?

हिन्दी-- राजा नल ने विलास-वावडों के तट से टकगती स्त्रियों से
वादन, कोकिल-भ्रमरों से गीत और मयूरों के नृत्य कौशल से नर्तन—इस वन
में भी तौर्यंत्रिक (नृत्य, गीत, वाद्य) का आनंद पाया, नाग्यवान् व्यक्ति
को कहीं भोग-ऐश्वर्य नहीं प्राप्त हो जाता ? सर्वत्र ही प्राप्त हो जाता है ।

टिप्पणी-- राजा को वन में भी 'तौर्यंत्रिक' प्राप्त हो जाने से वह नाव
निकरता है कि नाग्य का लेख कहीं पीछा नहीं छोड़ता । राजा के नाग्य में
यह सुन्न था, सो वन में भी मिला गया, जयवा राजा चित्त विनोदायं—
मन बहलाने एकांत की खोज में निकला था, पर सुख भोग ने, जो वियोग-
दशा ने उसे भाटा नहीं था, उसका पीछा न छोड़ा और उसके खेद का कारण
बना । १०४वें श्लोक ने यह स्पष्ट हो गया है । सामान्य से विशेष समर्थन
रूप अर्पन्तिग्न्याम् ॥ १०२ ॥

तदर्थमध्याप्य जनेन नटने शुक्ता विमुक्ता पटवन्ममस्तुवन् ।

स्वरामृतेनापजगुश्च शारिक्तास्तथैव तत्पौरुषपात्रनीकृता ॥ १०३ ॥

जीवानु--तदर्थमिति । जनेन सेवकजनेन तदर्थं मन्प्रोत्यर्थमध्याप्य
स्तुति पाठयित्वा तस्मिन् वने विमुक्ता विनृष्टा पटव स्फुटगिरः शुक्लास्त
नत्मस्तुवन् । तथैव शुक्लदेव तदर्थमध्याप्य मुक्ता तत्पौरुषस्य नल्परान्नस्य
गायिन्यां गावता कृता गायनीकृता शारिक्ता शुक्लध्वं स्वरामृतेन मधुर-
स्वरेणेत्यर्थं । उपजगुश्च ॥ १०३ ॥

अन्वय — जनेन तदर्थम् अध्यास्य तद्वने विमुक्ता पटव शुका तम्
अस्तुवन्, तथैव तत्पौरुषगायनोक्त्या शारिका (शारिका.) च स्वरामृतेन
उपजगुः ।

हिन्दी—परिजना द्वारा नल की स्तुति के लिए सिखाकर उस वन में छोड़े
गये, चतुर (स्पष्ट बोलने वाले) तोनों ने (वहाँ नल की) स्तुति गायी और
उसी प्रकार नल के परारूप के गीत गाना सीसी मैनाओं ने अपने स्वरामृत
(मोठे स्वर) से गायन किया ।

टिप्पणी—वन में भी पक्षियों द्वारा राजा की विरुदावली का गान ।
कालिदास ने भी वन में गाय करते सच्चाट् दिलीप के विषय में ऐसा ही उल्लेख
किया है—‘आलोकशब्द इयता विरावै ।’ (रघुवत् २।१) । विद्याधर के
अनुसार जाति अलकार ॥ १०३ ॥

इतोऽष्टगन्धाढ्यमटन्नसौ वन पिकोपगीतोऽपि शुक्स्तुतोऽपि च ।

अविन्दतामोदभर वहिश्चर विदभंसुभ्रूविरहेण नान्तरम् ॥ १०४ ॥

जोयातु—इतीति । इतीत्यमिष्टगन्धाद्यमिष्टमोगन्ध्यसम्पन्न वन

मटन्, ‘देशकालाध्यगतव्या वमंसशा ह्यवम्मणामिति वनस्य देशत्वात्
वम्भत्वम् । असौ नल पितृ कौकिलैरुपगीतोऽपि शुक् स्तुतोऽपि च पर केवल
‘पर स्यादुत्तमानात्तवैरिदूरेषु केवल’ इति विश्व । वहिरामोदभर सौरम्याति-
रेवमेवाविदत विदभंसुभ्रूविरहेण हेतुना आन्तरमामोदभरमान्दातिरेक-
रूपनाविदत न रण्यवान्, प्रत्युत दुःखमेवान्वभूदिति भाव । ‘आमोशो
गघर्षंयोरिति विश्व ॥ १०४ ॥

अन्वय — इति इष्टगन्धाद्य वनम् अटन् पिकोपगीत अपि शुक्स्तुतः
अपि च असौ पर वहि आमोदभरम् अविन्दत, विदभंसुभ्रूविरहेण आन्तरम्
न (अविन्दन) ।

हिन्दी—इस प्रकार अभीष्ट गाय से समृद्ध वनमें भ्रमण करते हुए कौकिल
गान और शुक्-स्तुति सुनकर नी उमने केवल बाह्य आनन्द ही प्राप्त किया,
विदभं की सुनयना (दमयन्ती) से विरह के कारण (वास्तविक) आंतरिक
आनन्द नहीं ।

टिप्पणी—विद्योगी को 'तुहिनदीधिति' भी 'दवदहन' प्रतीत होता है, सो सुख-साधन भी विरही नल के खेद के कारण ही बने, वास्तविक आनन्द उसे न मिल पाया । उक्तिनिमित्ता विद्येपोक्ति । १०४।

करणे मीन निजकेतन दधद् द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया ।

व्यतर्कि सर्वतुंघने वने मधु स मित्रमत्रानुमर्त्तन्नव स्मरः ॥ १०५ ॥

जीवातु—करेतेति । स नल निजकेतन निजलाञ्छन मीन द्रुमाल-
वालाम्बुपु निवेशशङ्कया प्रवेशभिया करेण दधत् तादृन् शुभरेखाव्याजेन
दधान इत्यर्थं, सर्वतुंघने सर्वतुंसङ्कुले अत्र अस्मिन् वने मित्र सखाय मधु
वसतमनुसरन् अन्विष्यन् स्मर इव व्यतर्कि इत्युत्प्रेक्षा । १०५ ॥

अन्वय—स निजकेतन मीन द्रुमालवालाम्बुनिवेशशङ्कया करेण दधत्
सर्वतुंघने अत्र वने मित्र मधुम् अनुसरन् स्मर इव व्यतर्कि ।

टिप्पणी—उस (राजा) ने कहीं वृक्षाँ के चारों ओर बने झालवालों (पालों)
के जलमें प्रविष्ट न हो जाय—इन भय से अपने श्वज के मत्स्य को हाथ से
पकड़े सब ऋतु से परिपूर्ण (अथवा सब ऋतुओं में घन अर्थात् हरे-मरे रहने
वाले) उस वन में वसततखा का अनुसरण करते—जैसे कामदेव की तर्पण की ।

टिप्पणी—'सदावहार' उस वन में विरही नल को चारों ओर कामसाम्राज्य
ही प्रतीत हुआ । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार
अनुप्रास—उत्प्रेक्षा ॥ १०५ ॥

रताञ्जलालास्यक्लागुहस्तरप्रसूनगन्धोत्करपश्यतोहर ।

असेवतामु मधुगन्धवारिणि प्रणीतलीलाप्लवनो वनानिल ॥ १०६ ॥

जीवातु—तेति । रता एवावलास्तासा लास्यक्लामु मधुरनृत्तविद्यानु
गृहस्तरद्वेति माञ्चोक्ति, तरप्रसूनगन्धोत्कराणा द्रुमकुसुमसौरभसम्पदा
पश्यतोहर पश्यतमनादृत्य हर प्रसङ्गापहर्त्तव्यं । 'पश्यतो यो हरत्वर्थं स
चौर पश्यतोहर' इति हर्षयुध, पचाद्यच् पठो वानादरे' इति पठो ।
'वाग्दिनान्यङ्गो युक्तिदण्डहरेष्विति वक्तव्यादलुक् । सौरभ्ययुवन मधु-
मकरन्द एव गन्धवारि गन्धोदक तत्र प्रणीतलीलाप्लवन । एतेन कृतलीलाव-

गाहन इति सौन्दर्योक्ति , ईदुम्बनातिशयोक्त्युत्तमसेवत गुणवान् सेवक सेव्यप्रियो भवतीति भाव ॥ १०६ ॥

अन्वय — लताब्रह्मलतास्यकलागुरु तदप्रसूनगन्धोत्करपरशयोद्गर मधुगन्ध-
वारिणि प्रणीतलीलाप्लवनः वनानि अनुम अघेदत ।

हिन्दी—बनारी हव कामिनिया दो नृत्य बला का शिक्षा देनेवाले गुरु,
बृक्षों के फूलों की गंध आदि देखते उड़ानेवाले चोर, पुष्पमधु से सुगन्धित जल में
जल-तीहा (विहार) करनेवाले (इस प्रकार मधु, सुगन्ध, शीतल) वन समीर ने
नल की अन्वयना की ।

टिप्पणी—वन म भी राजा की अन्वयना । तुलसीय—पृक्तस्तुपारै-
गिरिनिनराणामनोकहाकम्पिनपुष्पगन्धी । तमातपकलान्नेमनानपत्रमाचारपत
पवन सिपेवे ॥ (रघु० २।१३) । विद्यारत्ने अनुप्रास-रूपक बलहारों का
निर्देश किया है, चद्रकलाहार ने रूपक समासोक्तिभाव के अगाधिभाव सकर का ।

अथ स्वमादाय भयेन मन्यनाच्चिरत्नरत्नाधिकमुच्चित चिरात् ।

निलीय तस्मिन्निवनन्नगानिधिवने तडागो ददृशेऽवनीभुजा ॥१०७॥

जीवार्—अपेति । जय वनाः लोकानन्तर म पन्थाद्भवेन घनाय पुनमं-
यिष्पतीति मयादित्यय । चिरादुच्चित सञ्चिन चिरत्न चिरन्तन 'चिरत्न-
त्तरादिभ्यस्तो वचनभ्य' इति स्तप्रत्यय । तच्च तद्रत्नाधिक श्रेष्ठवस्तु नूयिष्ठ
चेति चिरत्नरत्नाधिक 'रत्नं स्पजाती श्रेष्ठेऽपी'त्यमर । स्व घनमादाय
तस्मिन् वने निलीयात्तर्थाय निवसन् वर्तमानोऽपान्निधिखित्युत्प्रेक्षा । तेन
नत्ने तडाग सरोविशेषोऽवनीभुजा राणा ददृशे इष्ट ॥ १०७ ॥

अन्वय — अथ अवनीभुजा मयनात् भयेन चिरात् उच्चित स्व चिरत्न-
रत्नाधिक आदाय तस्मिन् वने निलीय निवसन् असा निधि इव तडाग ददृशे ।

हिन्दी—तत्पदवात् राजा ने मन्यन के डर से चिरकाल से सचित्र (वृद्धि
को प्राप्त) अपने पुरातन प्रचुर रत्नों को लेकर उस वन में छिपकर रहत हुए
अन्वयि के सहस सरोवर को दखा ।

टिप्पणी—मदन करते बहूँ ये रत्न भी न निकाल दिये जाय — इस डरने

वन में बाकर छिपे समुद्र के रूप में सरोवर की उदभावना सरोवर की निर्मलता और गभीरता की छोटक है। 'प्रकाश'-कार ने यहाँ लुप्तप्रेक्षा मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा तथा चद्रकलाकार ने समासोक्ति प्रतीयमानोन्प्रेक्षा के टकर का निर्देश किया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-व्यतिशयोक्ति समासोक्ति हैं। यहाँ से ११६वें श्लोक तक सरोवर का वर्णन है ॥१०७॥

पयोनिनीनाभ्रमुकामुकावलीरदाननन्तोरगपुच्छसच्छवीन् ।

जलाद्धरद्वस्य तटान्तभूमिदो मृणालजालस्य निभाद् वनारय ॥१०८॥

जोवानु—यदुक्त्त धनमादायेति, तदवात्र सम्पादयति नवमि श्लोकं पम इत्यादिभि । यस्तदा जलनाद्धरद्वस्य द'द्वंच्छन्नस्य तटान्तभूमिदस्तट-प्रान्तनिर्गतस्येत्यर्थे । मृणालजालस्य विरुवृन्दस्य निभाद्वयाजादित्यपह्न-वाच्छकार, 'निभो व्याजसदृशयोरिति विश्व । अनन्तोरगस्य शेपाहे, पुच्छेन सच्छवीन् सवपान् तद्वद्वलानित्यर्थे, पयोनिनीनाभ्रमुकामुकावलीना-नैरावतयेतीना रदान् दन्तान् वनार । तत्रैक एवैरावत, अत्र त्वसत्या इति व्यतिरेक । अभ्रमुकामुका इति द्वितीयाममासो मधुपिपातुवत्, 'न लोके'त्यादिना पशोप्रतिषेधात् 'अपने'त्यादिना ऋमरुद्रप्रत्यय ॥१०८॥

अन्वय,—य जलाद्धरद्वस्य तटान्तभूमिद मृणालजालस्य निभाद् अनन्तोरगपुच्छसच्छवीन् पयोनिनीनाभ्रमुकावलीरदान् वनार ।

हिन्दी—जो (सरोवर) जल में बाधे हूवे, तीर के निकट की घरती से बाहर बाधे मृणालों के व्याज से असह्य सपों की पूछ के सदृश जल में छिपे ऐरावतों के दातो को घारे हुए था ।

टिप्पणी—जब तालाब समुद्र-सम था तो उसमें उसके अनुरूप सामग्री भी उपेक्षित है, अतः यहाँ ऐरावतों की उदभावना की गयी मृणालजाल में । समुद्र से ता एक ही ऐरावत निकल पा, यही 'अभ्रमुकामुकावली' है । ऐसा लगता है कि समुद्र में अनेक ऐरावत थे, मद्यत में एक निकाल लिया गया, शेष की रक्षा के लिए समुद्र तालाब बनकर वन में आ छिपा । मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नव और व्यतिरेक, विद्याधर के अनुसार अपह्नवुक्ति । चद्रकलाकार ने यहाँ उपमा-वैतनापह्नवुक्ति का मकर माना है ॥१०८॥

तदान्तविश्रान्तनुरङ्गमच्छटास्फुटानुविम्बोदयचुम्बनेन य ।

यभी चलद्वीचिकशान्तशातनै सहस्रमुच्चै श्रवसामिव श्रयन् ॥१०९॥

जीवातु—तटातेति । यस्तडागस्तटान्ने तीरप्रान्ते विश्रान्ता या तुरङ्गमच्छटा
नलानीताश्वश्रेणी तस्या स्फुटानुविम्बोदयचुम्बनेन प्रकटप्रतिबिम्बाविर्भावप्रीत्या
निमित्तेन च एकैकशस्तामा वीचीना कशानामन्तै शातनैघ्रताटनै , 'अश्वादे-
स्ताडनी करो'त्यमर , चलदूल्ललदुच्चै श्रवमा सहस्र श्रयन् प्राप्नुवधिव वमा-
वित्पुत्रेक्षा, व्यतिरेकश्च पूर्ववत् । एतेन नलाश्वानामुच्चै श्रव साम्य गम्यत
इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनि ॥१०९॥

अन्वय*—य तटातविश्रान्तनुरङ्गमच्छटास्फुटानुविम्बोदयचुम्बनेन
वीचिकशान्तशातनैः चलत् उच्चै श्रवसा सहस्र श्रयन् इव यभी ।

हिन्दी—जो (तडाग) तीर पर विश्राम करते नल के अश्वों के स्पष्ट
उमरते प्रतिबिम्बों के चुम्बन (सवध) से (व्याज से) लहर रूपी चाबुक की
मार खाकर चलते हजारों उच्चै श्रवा (नाम के इन्द्राश्वों) को धारण करता
सुशोभित हो रहा था ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नलाश्वों की प्रतिच्छाया से अनेक इन्द्राश्वों की
सभावना की गयी । विद्याधरने यहाँ अपह्नुति, रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों
का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने उत्प्रेक्षा व्यतिरेक के साथ-साथ 'नलाश्वों का
उच्चै श्रवा के सदृश होना' गम्य मानकर छलकार से वस्तुध्वनि भी । चद्र-
कलाकार वस्तुध्वनि के साथ रूपक और उत्प्रेक्षा का निर्देश करते हैं ॥१०९॥

सिताम्बुजाना निवहस्य यश्छत्वाद् वभावलिश्यामलितोदरश्रियाम् ।

तम समच्छायकलङ्कसङ्कल कुल मुधाशोयह्ल वहन् बहु ॥११०॥

जीवातु—सितेति । यस्तडाग अलिमि श्यामलितोदरश्रिया श्यामीवृत्त-
मध्यशोभानां सिताम्बुजानां पुण्डरीकाणां निवहस्य च्छत्वात् तम समच्छाय
तिमिरवध य कलङ्क तेन मङ्गल वहल सम्पूर्णम्बुह्लनेक मुधाशोश्च इत्य कुल
वश वहन् सन् यभी । अत्र च्छत्वात्तदन पुण्डरीकेषु विपयापह्लवेन चन्द्रत्वाभे-
दादपह्लवभेद , व्यतिरेकस्तु पूर्ववत् ॥ ११० ॥

अन्वयः—य अलिस्वामलतोदरधिया सिनाम्बुजाना निवृत्तस्य छलात् तम-
समच्छायकलङ्कसङ्कुल बहल मुपायो ऋल बह्व् बहू वनो ।

हिन्दी—जो (तालाब) न्न मरो से इनामल मध्य नाग की रोमा से युक्त
श्वेतकमल-समूह के व्याज से अक्षर सद्य प्रतीत होते कलकविल्ल से व्याप्त
अमृत किरण चद्र के वितृत समूह को धारण करता बड़ा भला लग रहा था ।

टिप्पणी—यहाँ अननगवली से शोभित श्वेतकमलो मे अनेक चद्रों की
कल्पना की गयी, जिससे सरोवर की स्वच्छता भी चोतिव होती है । 'बहुलम्'
का अर्थ कृष्णपद्म-सदृश भी हो सकता है । मन्दिनाथ के अनुसार यहाँ अपह्लव
और व्यतिरेक है, चद्रकलाकार उपमा-वैतव्य अपह्लुति का अगाधिभाव सफर
मानते हैं और विद्याधर अनुप्रास और अपह्लुति का निर्देश करते हैं ॥११०॥

रयाङ्गमाजा कमलानुपर्ङ्गा शिलीमुत्तस्तोमसखेन शार्ङ्गिणा ।

सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवान्मृगालशेपाहिनुवाञ्चयायि य ॥ १११ ॥

जीवानु—रयाङ्गंति । मन्तडागे रयाङ्ग चक्रवाक चक्रायुधश्च यद्यपि
चक्रवाके रयाङ्गनामेति च प्रयोगो ऋत् तद्यपि प्रायेणान्म चक्रसदृशपद्म्यां-
त्वन्वयादर्शनात् (रयाङ्ग) पदस्याप्युभयत्र प्रयोगान्मन्वते ऋत्वि, तद्भावा 'मजो
जि', मन्तै कमत्या चानुपर्ङ्गा ससांवता जिीमुत्तस्तोमसखेन अलिकूल-
सदृशरेण जयन सखिसद्व साधयवचन तत्सवर्णेत्पयं, मृगाल शेपाहिर्हि-
वेत्युपमितममाम, तद्भुवा तदाकरेण जयत्र मृगालमिव शेपाहि तद्भुवा
तदायारेण शार्ङ्गिणा विष्णुना सरोजिनीना स्तम्बा गुम्मा, 'अप्रकांडे
स्तम्बगु'नमित्यमर, शेपा कदम्बस्य कैतवान्मिपात् अन्वयायि अनुयातोऽनुमृ-
ताऽपिठित इति यावत् । अत्रापि कैतवशब्देन स्तम्बत्वमपह्लुत्य शार्ङ्गित्वारो-
पादनहृत्वभेद ॥ १११ ॥

अन्वय —य रयाङ्गमाजा कमलानुपर्ङ्गा मृगालशेपाहिनुवा शिलीमुत्त-
स्तोमसखेन सरोजिनीस्तम्बकदम्बकैतवाश् शार्ङ्गिणा अन्वयायि ।

हिन्दी—जो (सर) चक्रवाकयुगलों से शोभित, कमलों से परिपूर्ण, मृगाल
रूप शेपनाग पर स्थित, अनन-समूह से पूर्ण कमलिनी के गुम्फ समूह के व्याज से

चक्रपारो लम्बीपति, मृणालसदृश रोपनाग पर रावन करनेवाले, भ्रमरसमूह के तुल्य श्यामशाङ्गपाणि विष्णु के सदृश लगता था ।

टिप्पणी—द्वधर्यक शब्दावली के प्रयोग द्वारा 'सरोजिनीस्तम्बकदम्ब' में विष्णु की कल्पना की गयी है, जैसे सागर में रोपशायी विष्णु हैं, वैसे ही यहाँ कमलिनी-गुल्म समूह है । विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेष उपमा-अनहनुति अलंकार है, जिनकी निरपेक्षस्थिति के आधार पर चक्रलाकार यहाँ उनकी समृष्टि मानते हैं, मल्लिनाथ ने कंतवाहनूति का निर्देश किया है ॥१११॥

तरङ्गिणीरङ्गजुप स्ववल्लभास्तरङ्गलेखा विभराम्बभूव य ।

दरोदगतै कोकनदोषकोरकंघृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च य ॥ ११२ ॥

जोवातु—तरङ्गिणीरिति । यस्तडागोऽङ्गुजुपोऽन्तिकमाज उत्तमङ्गसङ्गि-
न्यश्च वा तरङ्गरेखास्तरङ्गराजिरेव स्ववल्लभास्तरङ्गिणीरिति व्यस्तरूपक
विभराम्बभूव वमार, 'भील्लीभृहुवा श्लुवच्चे'ति भृजो विकल्पादाम्प्रत्यय ।
किञ्च यस्तडागो दरोदगतैरीपदुदुद्धै कोकनदोषकोरकै रक्तोत्पलखण्ड-
कलिकाभि घृतप्रवालाङ्कुरसञ्चयश्च घृतविद्रुमाङ्कुरनिकरश्चेति । अत्रापि
कोकनदकोरकाणा विद्रुमत्वे रूपणाद्रूपकालङ्कार ॥ ११२ ॥

अन्वय—य अङ्गुजुप तरङ्गरेखा स्ववल्लभा तरङ्गिणी विभराम्बभूव,
य च दरोदगतै कोकनदोषकोरकं घृतप्रवालाङ्कुरसञ्चय ।

हिन्दी—जो (तालाब) अब में उठी तरंगमाला रूप अपनी प्रिया
नदियों को घारण कर रहा था और जो कुछ कुछ खिली रक्तकमलसमूह की
कलियों के-से मुग्धोन्मत्त होने के कारण मूर्खों के अङ्कुरों के सचय से मुक्त
लगता था ।

टिप्पणी—समुद्रप्रिया नदियों के रूप में तडाग में उठनी लहरे है और
छालकमलों की कलियाँ छाल मूर्खों का ढेर, इस प्रकार भी सर-सागर में साम्प
स्थापित किया गया । मल्लिनाथ के अनुसार कोकनद कोरकों के विद्रुमभाव
से रूपण होने के कारण रूपक है, विद्याधर के अनुसार अनुशान रूपक-अपहनुति
का सार ॥११२॥

महीपसः पङ्कजमण्डलस्य यश्छलेन गौरस्य च मेचकस्य च ।

नलेन मेने सलिले निलीनयोस्त्वप विमुञ्चन् विद्युकालकूटयो ॥ ११३ ॥

जीवात्—महीपस इति । मस्तद्याग महीपसो महत्तरस्य गौरस्य च मेच-
कस्य च पङ्कजमण्डलस्य सितासितसरोजयोरछलेन सलिले निलीनयो विद्यु-
कालकूटयो सितासितयोरिति भाव । त्वप विमुञ्चन् विसृजतिव नलेन
मेने । अत्रच्छलेन विमुञ्चन्निवेति सापह्नवोत्प्रेक्षा ॥ ११३ ॥

अन्वयः—नलेन य महीपस गौरस्य मेचकस्य च पङ्कजनण्डलस्य छलेन
सलिले निलीनयो विद्युकालकूटयो विप विमुञ्चन् मेने ।

हिन्दी—नल ने जिसे अत्यन्त धुँध और जलान्त नील कमलसमूह के छल
ने जल में छिपे चद्र और कालकूट विप की छटा छोड़ते हुए मारा ।

टिप्पणी—श्वेत कमल चद्र के और नील कमल कालकूट के प्रतीक हैं ।
विप से कुछ विद्वाद् 'अमृत' का संकेतार्थ भी लेते हैं, क्योंकि आघार से आघेय
का नाश हो सकता है, चद्र को अमृतदीधिति कहा ही जाता है । अमृत विप
का विरोधी युग्म भी है । सापह्नवा उत्प्रेक्षा अथवा इन दोनों का संकर ।

चलीकृता मन तरङ्गरिङ्गणैरवालशैवाललतापरम्परा ।

ध्रुवन्दधुर्बाडवहव्यवाडवस्यिनिप्ररोहत्तमभूमधूमताम् ॥ ११४ ॥

जीवानु—चलीकृता इति । मन यस्मिन् तडागे तरङ्गरिङ्गणैस्तरङ्ग-
कम्पनाञ्चलीकृता चञ्चलीकृता अवालाना कठोरणा शैवाललताना परम्परा
पक्ष्य ह्य्य वृत्तीति ह्य्यवाडवानि 'वह्वे'ति द्विप्रत्यय । तस्यच्छन्दो-
मात्रविषयत्वाद् अनादरेण भाषाया प्रयोग । वाडवहव्यवाहो वाडवान्मेरेव
स्यिवाऽन्तरवस्यानेन प्ररोहत्तमो बहि प्रादुर्भवत्तमो भूमा येषान्ते च धूमाश्च
तेषा भावन्तना ता श्चु । वृत्तित्यतधूमपटलवद्बभूवुरित्यर्थ । ध्रुवमित्यु-
त्प्रेक्षायाम् ॥ ११४ ॥

अन्वयः—मन तरङ्गिणं चलीकृता अवालशैवाललतापरम्परा वाडवह-
व्यवाडवस्यितिप्ररोहत्तमभूमधूमता ध्रुव श्चु ।

जहाँ लहरों के कपन से चञ्चल बड़ी-बड़ी शैवाल की बेलें वाडवानि की
स्थिति के कारण ऊपर उठते प्रचुर धूम को निश्चपत धारणा बना रहों थीं ।

टिप्पणी—घुए की रग की सिवार मे सागर की बाडवान्नि के घुए की कल्पना, जिससे सर मे समुद्र के तुल्य बाडवान्नि की समावना । उत्प्रेक्षा ।

प्रकाममादित्यमवाप्य कण्टकं करम्बितामोदभरं विवृण्वती ।

घृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा दिवा सरोजिनी यत्प्रभवाप्सरायिता ॥ ११५ ॥

जीवातु—प्रकाममिति । आदित्य सूर्यमवाप्य प्रकाम कण्टकं मालगतं तीक्ष्णार्थक्यवं करम्बिता दत्तुरिता, अन्यत्रादित्यमदितिपुत्रमिन्द्रमवाप्य कण्टकं पुलकं करम्बिता अतएवामोदभर परिमलसम्पदमानन्दसम्पद च विवृण्वती प्रकटयन्ती दिवा दिवसे घृतानि स्फुटश्रीगृहाणि पद्मानि यस्य स विग्रह स्वरूप यस्या सा, अन्यत्र दिवा स्वर्गेण स्फुटश्रीगृहमुज्ज्वलशोभास्पद विग्रहो देहो यस्या सा स्वर्गलोकवालिनीत्यर्थं । यस्तडाग प्रभव कारण यस्या सा तज्जया सरोजिनी पद्मिनी अप्सरायिता अप्सर श्वाचरिता । 'उपमानाद् कर्तुं वयद् सलोपश्चे'ति कर्त्तरि क्त, 'ओजसोऽप्सरसो नित्यमि'त्यप्सरसः सकारलोप । दिल्ष्टविशेषणैयमुपमा ॥ ११५ ॥

अन्वय — यत्प्रभवा सरोजिनी आदित्यम् अवाप्य कण्टकं प्रकाम करम्बिता आमोदभर विवृण्वती दिवा घृतस्फुटश्रीगृहविग्रहा अप्सरायिता ।

हिन्दी—जिस सरोवर मे उत्पन्न कमलिनी सूर्य को पाकर बटकाखित हो सुगंध भार को फैलाती दिन मे स्पष्टन कमलरूप प्राप्त करती जैसे ईंद्र को पा रोमांचित हो आनदातिशय प्रकट करती उज्ज्वल सुन्दर शोभाययी देह-धारिणी अप्सरा होती है, वंसी ही प्रतीक होती है ।

टिप्पणी—स्लिष्ट शब्दों के प्रयोग मे कमलिनी मे अप्सरात्व की कल्पना । दिल्ष्टापमा (कल्पना) अपवा श्लेष उपमा अलंकार (विद्याधर) ॥११५॥

यदम्बुपूरप्रतिबिम्बितायनिर्मत्तगङ्गा स्तरलम्नद्रुम ।

निमग्ज्य मैनाकमहोभूत सतम्नतान पशान् ध्रुवत सपक्षताम् ॥ ११६ ॥

जीवातु—यदिति । यस्य तडागस्याम्बुपूरे प्रतिबिम्बितायति प्रतिफलितायाम महत्तरङ्गं वातबीजनैस्तरलद्रवचल तटद्रुमं निमग्ज्य सतो वत-

मानस्य पशान् ध्रुवत वम्पयतो मंनाकनहीनृतन्तशाल्यस्य पर्वतस्य सपक्षता
साम्य ततानेत्युपमा ॥ ११६ ॥

अन्वयः—यदम्बुपुरप्रतिबिम्बतायति मरुत्तरङ्गं तरलं उट्टुम निमज्ज्य
नत पशान् ध्रुवत मंनाकनहीनृतः स'क्षता ततान ।

हिन्दी—बिज (मुरोवर) के जल-प्रवाह में बिसफी दीर्घता प्रतिबिम्बित
हो रही थी, ऐसा वायु-प्रकपित स्तरो वाला सींगवर्ती वृक्ष पानी के भीतर
छिनकर रहते मंनाक पर्वत को समानता का विस्तार कर रहा था ।

टिप्पणी—समुद्र के अन्तवर्ती मंनाक पर्वत के साम्य में उट्ट-वृक्ष के प्रति-
बिम्ब की कल्पना । उपमा ॥११६॥

(युगम्)

पयोधिलक्ष्मीमुपि केलिपल्लवे रिरसुहृसांकलनादसादरम् ।

न तत्र चित्र विचरन्तमन्तिके हिरण्मय हृममवोधि नैपथ ॥ ११७ ॥

प्रियासु बालामु रतिक्षमानु च द्विपत्रिन पल्लवितन्त्रे चित्रनम् ।

स्मराजित रागमहीस्हाङ्कुर म्पिण चञ्चोश्चराद्वयम् च ॥ ११८ ॥

जीवानु—पयोधीति । जय च नैपथो निपथाना राजा नल्, 'जन्पद-
शब्दात् क्षत्रियादत्रि' त्यत्र पयोधिलक्ष्मीमुपि तत्सदृश इत्यर्थं । अत्र केलि-
पल्लवे श्रीहानुरति रिरसूना रन्तुनिच्छूना हमीना व'नादेषु मादरं ससृह
तत्रान्तिके तस्मिन्ने विचरन्त चित्रमङ्कुर हिरण्मय मुवर्णमय 'दाडिनायना'-
दिना निपातनात् माधु । हृममवोधि ददशैत्यर्थं । 'दीपत्रने'त्यादिना कर्त्तरि
विष् । पुनस्तमेव विशिनष्टि-प्रियास्विति । बालामु अरतिक्षमानु किन्त्वासन्न-
योवनास्वित्यर्थं । अन्वया राजाङ्कुरासम्भवात् । रतिक्षमानु युवतीषु द्विवि-
धामु प्रियासु विपये त्रमाञ्चञ्चोश्चोटपो 'चञ्चुश्चोटिरुभे स्त्रियामि'त्यमरः ।
चरणद्वयस्य च म्पिण द्विपत्रित मञ्जातद्विपत्र पल्लविन मञ्जातपल्लवञ्च
चञ्चोद्वयो सम्पुटितन्त्रे साम्नाद् द्विपत्रित्व चरणयोस्तु विभ्रमरागमयत्वेन
पल्लवसाम्यात्पल्लवत्व राजहसाना लौहित्यञ्चुचरणत्वाद् तस्मिन् म्पिणे-
त्युक्त स्मराजित स्मरेणैव वृक्षरोपणेनोत्पादितमित्यर्थं । राग एव नहींह-

स्तस्याङ्कुर रागमहीरहाङ्कुर विभ्रत चञ्चुपुटमिषेण द्विपत्रित वालिकागोचर-
 राग चरणमिषेण पल्लवित युवतीविषये रागञ्च विभ्रतमित्यर्थं । ईदृश हसम्
 बोधीति पूर्वणावय । 'नाम्यस्ताच्छतुरि'ति नुम्प्रतिषेध, वृक्षाङ्कुरो हि
 प्रथम द्विपत्रितो भवति, पश्चात् पल्लवित इति प्रसिद्धम् । तत्र राग विभ्रतम्
 इति हसविशेषणात्, तद्भागस्म हसाधिकरणत्वोक्ति, प्रिमास्वधिकरणभूतास्वि-
 त्युपाध्यायविश्वेश्वरव्याख्यान प्रत्याख्येयम्, जन्यनिष्ठस्य रागस्यान्याधिकरण-
 त्वायोगात्, न चायमेक एवोभयनिष्ठ इति भ्रमितव्यम्, तस्येच्छापरतर-
 पर्यायस्य तथात्वायोगात्, बुद्ध्यादीनामपि तथात्वापत्ती सर्वसिद्धान्तविरो-
 धात्, विषयानुरागभावप्रसङ्गाच्च उभयोरपि रागत्वसाम्यादुभयनिष्ठभ्रम
 केषाञ्चित्स्मात्कामिनोरन्योन्याधिकरणरागयोरन्योन्यविषयत्वमेव नाधि-
 करणत्वमेवमिति सिद्धान्त, प्रियास्विति विषयसप्तमी, न त्वाधारसप्तमीति
 सर्वं रमणीयम् । अत्र रागमहीरहाङ्कुरमिति रूपक चञ्चुचरणमिषेणेत्यपह्लावा-
 नुप्राणितमिति सङ्कर । तेन स बाह्याम्यन्तररागयोर्भेदे अभेदलक्षणाति-
 शयोत्पापिता चञ्चुचरणव्याजेनान्तरस्यैव बहिरङ्कुरितत्वोत्प्रेक्षा व्यज्यत
 इत्यलङ्कारेणालङ्कारत्वनि ॥ ११७-११८ ॥

अन्वय—पयोधिलक्ष्मीमुपि तत्र केलिपन्वले स नैपथ्य रिरसुहृसीकल-
 नादसादर बालासु रतिसमासु च प्रियामु चञ्चुवो चरणद्वयस्य च मिषेण
 द्विपत्रित पल्लवित च स्मरार्जित रागमहीरहाङ्कुर विभ्रतम् अतिके विचरन्त
 चित्र हिरण्मय हसम् अबोधि ।

हिन्दी—(उपयुक्त प्रकार से) समुद्र की क्षी के अपहृती (सागरतुल्य)
 उस श्रीहा सरोवर में उस निपथराज ने रमणैच्छुका हसियों के अव्यक्त मधुर
 स्वर में सामिलाप, बाला और रमण में समर्थ एवं प्रियाओं के मध्य बीचों
 और चरणमुगल के मिस दो पतियों और पल्लवों से युक्त कामसमुत्पन्न
 अनुराग रूप वृक्ष के अंकुर को धारण कर निकट ही विचरण करते विचित्र
 स्वणमय हस को दाना ।

टिप्पणी—इस 'युग्म' में विचित्र स्वर्णहस के दृष्टिपथ में आने का वर्णन
 है । 'अतिके विचरन्तम्' का अर्थ हसियों के समीप ही नहीं, श्रीहासर के

निकट भी माना गया है। 'प्रकाश'-कार ने 'हिरण्य पुष्पः', 'एको हस'—
 इमं धृति वचन को आधार मानकर 'पयोधिलङ्गोमुपि ... नैपथ' का
 अन्य अर्थ भी द्योतित किया है। वह कहता है कि पूर्वोक्त श्लोको में और
 यहाँ भी त्रिडा सर को सागर के सदृश बनाया गया है और यहाँ केलिपल्लव
 (त्रिडा की लघु सरसों) कहा गया, यह उचित नहीं है। इसी के श्रोत्रिय
 ने वह अर्थ करता है कि विस्तार में समुद्र तुल्य और विनद्वर होने से पल्लव
 तुल्य शरीर में विचरते जैसे कोई योगी आत्म 'रिरसुहृसैकलनादसादर' (आत्म
 शक्ति के अन्वयत प्रिय नाद में सानिलाप) परमात्मा को देखता है, वैसे ही
 उन हिरण्य परमात्मस्वरूप हृष को नैपथ ने देखा। प्रियासु ... विभ्रतम्'
 का अर्थ यह भी पल्लवित किया गया है कि हस की दो प्रकार की प्रिया यो-
 बाला-श्रवणमा कितु आसन्नयोवता, जिनके निमित्त हस चोच रूप पत्तियां
 निन्दे या अर्पान् उनकी चम्बन मात्र से तुष्ट करता था और इस प्रकार बालिका
 गोधर राग प्रकट कर रहा था। दूसरे प्रकार की प्रीति रतिसमर्पा नायिकाओं
 के निमित्त गटरागतासृचक लाल चरण युगल थे। इस प्रकार वह हस स्मर-
 तर के अकूर में युक्त था, जो क्रमशः पत्रित और पल्लवित था। विद्याधर ने
 इस 'युग्म' में अनुप्रास-नयासख्य रूपक-अपह्नुति की ससृष्टि का निर्देश किया
 है, मल्लिनाथ के अनुसार 'रायमहीरहाट्कुर' में रूपक है, जो 'चञ्चुचरण-
 निपेण'—अपह्नुति से अनुप्राणित है, इन प्रकार रूपक-अपह्नुति का सकार
 है। और इसके द्वारा बाह्य और आन्तर गगनों के भेद में अभेद लक्षण
 अतिशयोक्ति से उत्थापित चञ्चु चरण के व्याज से आंतर की बहिरङ्कुरितता-
 उन्प्रेक्षा व्यजित हुई है। इन प्रकार अलंकार द्वारा अलंकार ध्वनि है। चद्र-
 कलकार ने जलकार ध्वनि मानी है और पहिले श्लोक में निदर्शना तथा
 दूसरे में ययस्य-रूपक-कृतवापह्नुति के मकर का निर्देश किया है।

महीमहेन्द्रस्नमवेदय म क्षण मकुन्ममेकात्मनोविभोदिनम् ।

प्रियाविभोगद्विधुरोर्जपि निर्भर कुतूहलाक्रातमना भनगिन्नुत् ॥ ११९ ॥

जीवानु—महीनि । महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्र म नल एवान्त मनो विनोद-
 यतीति तपोवत् त इवुत् पक्षिण रूपमवेदय प्रियाविभोगनिर्भरमतिमात्र

विधुरो दुःस्थोऽपि मनागोपकुतूहलाक्रान्तमना कौतुकिनचित्तोऽभूत्, पृहीतमामोऽभूदित्यर्थः ॥११९॥

अन्वय — स महोमहेन्द्र एकान्तमनोविनोदिन त शकुन्त क्षणम् ज्वेक्ष्य प्रियावियोगान् निर्भङ्ग विधुः, अपि मनाक् कुतूहलाक्रान्तमना अभूत् ।

हिन्दी—इस घरती को इन्द्र (नल) का मन घटी निजन में मनोविनोद करने वाले अथवा वहाँ एकांत मन में राजा का मन प्रसन्न करने वाले अथवा नियमपूर्वक अत्यन्त आह्लाददायक उस पक्षी (स्वर्णहम) को क्षण भर निहार कर प्रिया के वियोग के कारण अत्यन्त विह्वल होने पर भी थोड़ा सा कुतूहल से आक्रांत हो गया ।

टिप्पणी—विचित्र पदार्थ प्रत्येक अवस्था में मन को आकृष्ट करते ही हैं । ऐसा ही नल के साथ हुआ, कौतुक में उसका चित्त भर उठे । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और विशेष अलंकार ॥११९॥

अवश्यमभ्येष्ट्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधस स्पृहा ।

नृणेन वात्येव तथाऽनुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ॥ १२० ॥

जोवातु—कथमीदृशो चापत्ये प्रवृत्तिरस्य घीरोदात्तस्येत्याशङ्क्य नात्र जन्तो स्वातन्त्र्य किन्तु भाव्यर्यानुसारिणी विधातुरिच्छेत् तथा प्रेरयतीत्याह—अवश्येति । अवश्यमभ्येष्ट्वनवग्रहस्य भाव्यर्येषु विषये 'भाव्यगेवा'दिना कर्त्तरि यत्प्रत्ययान्तो निपात, 'लुम्पेदवश्यम कृत्वे' इत्यवश्यमो मकारलोप, अनवग्रहग्रहा जप्रतिवधनिर्वाधा निरङ्कुशाभिनिवेशेति यावत्, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्वन्धग्रहणेषु रणोद्यम' इति विश्व । वेधस स्पृहा विधातुरिच्छा यया दिशा धावति येनाध्वना प्रवर्तते तयैव दिशा भृशावशात्मनाऽऽवतपरतत्रस्वभावेन जनस्य चित्तेन नृणेन वात्या वातमभूत् इव, 'वाशादिभ्यो ष' अनुगम्यते, वेधस स्पृहा कर्म ॥ १२० ॥

अन्वय — अवश्यमभ्येष्टेषु कथसु अनवग्रहग्रहा स्पृहा यया दिशा धावति तथा जनस्य भृशावशात्मना चित्तेन नृणेन वात्या इव अनुगम्यते ।

हिन्दी—नियम से होने वाले शुभागुण कार्यों के विषय में विधाता की अवाध्य—निरणल प्रसार वागे इच्छा जिन माय से मागती जाती है, उनी

मार्गं से मनुष्य का अत्यन्त पगधीन चित्त नी उसी प्रकार अनुगमन करता है, विस प्रकार तिनका वात का अनुगमन ।

टिप्पणी—विग्ही राजा का मन नी कुतूहलाक्रान्त क्यों हुआ, इसका उत्तर इस श्र्यान्तरन्यास द्वारा दिया गया । यह निघाता का नियत लेख था कि हस के माध्यम से नल्ल-दमयन्ती के सदेशों का आशय प्रदान हो और उनका विवाह हो, इसी कारण विह्वल राजा का मन भी विधि-विधान वग स्वर्णहस के प्रति कुतूहलाक्रान्त हुआ । उपमा ॥ १२० ॥

अथावन्मध्य क्षणमेकपादिका तदा निद्रद्रावुपपत्त्वल खगः ।

मनिर्व्यंगावर्जितकधरं गिर पिषाय पक्षेण रतिक्लमालस ॥ १२१ ॥

जोवानु—चिकीपितायै देवानुद्भूय कार्यतो दशमति-जयेति । अथ नल्लक्षि-
प्राप्त्यनन्तर रतिक्लमालसं स खगो हस तदा नल्लकुतूहलकाले क्षणमेकाः पादो
पस्या त्रिजामानित्रेकपादिका एकपादेनावस्थान मन्वर्धोपग्रन्प्रत्यय,
'तद्विधायै'त्यादिना नल्लयामनास, 'यस्येति' लोपस्य स्थानिवद्भावेन तादृष्या-
नावात्त पाद पदादेश, तामेकपादिकामवलम्ब्य तिर्यंगावर्जितकधरः
वावन्तिश्रीव सन् पक्षेण गिर पिषाय उपपत्त्वल पत्त्वले निद्रद्री मुष्वाप ।
स्वभावोक्तिरलङ्कार 'स्वभावोक्तिरलङ्कारो यथावद्वस्तुवर्णनम्' इति लक्षणात् ॥

अन्वय—अथ तदा रतिक्लमालसः स खगः एकपादिकाम् प्रवलस्य तिर्यंगा-
वर्जितकधरं (नृत्ता) पक्षेण गिर पिषाय उपपत्त्वल क्षण निद्रद्री ।

हिन्दी—तदनन्तर उस समय मुरतखेद से शब्द कर वह पक्षी (हठ)
एक पैर के सहारे खड़ा हां थोड़ी-सी टेंडी गरदन करके पक्ष से गिर टककर
सरोवर के निकट झा भर को नो गया ।

टिप्पणी—यसिम्बभाव का वार्त । मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति
और विधाधर के अनुसार जाति अन्कार ॥१२१॥

मनालमारमानननिर्जितप्रन ह्यिया नतं काञ्चनमम्बुजन्म किम् ।

अबुद्ध त विद्रुमदण्डमण्डित म पीतमम्भ-प्रमुचानरख किम् ? ॥ १२२ ॥

जोवानु—तनारमिति । अ नल्ल न निद्राण हृदम् जात्माननेन निर्जितप्रनं

निजमुखनिराकृतशोभम् अत एव ह्रिया नत सनाल नालसहित काञ्चन सौवर्णमम्बुजन्मावुज किम् ? तथा विद्रुमदण्डेन मण्डित भूषित पीतवणमम्भ प्रनीरपाभ्यत्यु वरुणस्य चामर किम् ? इति शङ्खोऽत्राहाय्य इति अबुद्ध बुद्धवानुत्प्रेक्षितवानित्यर्थः । बुध्यतेलुङि तड 'क्षपस्तथोर्घो घ' इति तकारस्य घकारः ॥ १२२ ॥

अन्वय — स तम् आत्मानननिजितप्रभ ह्रिया नत सनालम् अम्बुजन्म किम् (इति) अबुद्ध, (अथ) विद्रुमदण्डमण्डित पीतम् अम्भ प्रभुचामर घ किम्— (इति अबुद्ध) ।

हिन्दी—उसने उस (हस) को अपने (नल के) मुख की काँति से पराजित (अतएव) लज्जा से झुका यह नाल सहित जलज (कमल) है, यह तकणा की अथवा यह मूर्तों से जिसका दड मडा हुआ है, ऐसा पीले वर्ण का जल के स्वामी वरुण का चामर है—यह समया ।

टिप्पणी—हस के प्रति दो सम्भावनाएँ । लाल चरण और पीला हस, अत वणसाम्य के आधार पर विद्रुमदण्डमण्डित वरुण चामर की कल्पना । विद्याधर के अनुसार सदेह अलकार, चद्रप्रभाकार के अनुसार काव्यलिङ्ग-सदृशेक्षा-तुल्ययोगिता का अङ्गागिमाव सकर ॥ १२२ ॥

कृतावरोहस्य ह्यादुपानही तत पदे रेजतुरस्य विभ्रती ।

तयो प्रवालैर्वनयोस्तथाऽम्बुर्जनियोद्भुक्कामे किमु बद्धवर्मणी ? ॥ १२३ ॥

जीवानु—कृतेति । ततस्तन्निर्दानानतर ह्यादश्चाकृतावरोहस्य कृतावतरणस्यास्य नलस्योपानही वर्मणी पादत्राणे । 'पादत्राणे उपानही' इत्यमरः । पदे घरणे तयोर्वनयोः सलिलकाननयो 'वने सलिलकानने' इत्यमरः । प्रवालैर्वन्न्वं तयाम्बुर्जं पदं धेत्यर्थं, 'सहायै तृतीया' नियोद्भुक् कामोऽभिलाषो मयोस्ते नियोद्भुक्कामे मुद्धकामे इत्यर्थः । 'तु काममनसोरपी'ति तुमुनो मकारलोप, अतो बद्धवर्मणी किमु बद्धवर्मे इव ते रेजतु किमित्युत्प्रेक्षा ॥ १२३ ॥

अन्वय — तत ह्यान् कृतावरोहस्य अस्य उपानही विभ्रती पदे तयो वनयोः प्रवालैः तथा अम्बुर्जं नियोद्भुक्कामे बद्धवर्मणी रेजतु किम् ?

हिन्दी—उदनतर पीछे से उतरे इस (नल) के जूता-पहिने पर दोनों

बनों (जगन् और जल) के पल्लव और कमलों से युद्ध करने के निमित्त कवच-धारण किये मुशोमित हो रहे थे क्या ?

टिप्पणी—नल उपानह्-धारी दोनों चरणों का साम्य क्रमशः बन (उपवन, जगन्) के किसलय और बन (जल) के रक्तोत्पल से किया गया है। जुटा रूपी कवच धारे के चरण पल्लव और रक्तोत्पल से युद्धार्थ प्रस्तुत हैं। भाव यह है कि नल के चरण अपने दोनों उपमानों की धुनौती स्वीकार कर उन पर अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने को उद्यत हैं। विद्याधर के अनुसार ययासह्य और उत्प्रेक्षा, जिसे चद्रकलाकार ने इन दोनों, बलकारों का अगागिभाव सकर कहा है। मल्लिनाथ ने केवल उत्प्रेक्षा का ही उल्लेख किया है ॥१२३॥

विधाय मूर्ति कपटेन वामनीं स्वयं बलिध्वमिविडम्बिनीमयम् ।

उपेत्तपार्श्वश्चरणेन मौनिना नृप. पतङ्ग समघत्त पाणिना ॥ १२४ ॥

जीवातु—विधायेति । अयं नृप स्वयमेव कपटेन छयना वामनीं ह्रस्वा गौरादित्वात् ङीप्, बलिध्वमिविडम्बिनीं कपटवामनविष्णुमूर्त्त्यनुकारिणीमित्यर्थं, मूर्ति विधाय काय सङ्कुच्येत्यर्थं । मौनिना नि शब्देन चरणेनोपेतपार्श्वः प्राप्तहस्तान्तिष्ठ पाणिना पतङ्ग पक्षिण समघत्त, सघृतवान् जग्राहेत्यर्थं, । स्वभावोक्तिरङ्कार ॥ १२४ ॥

अन्वय —अयं नृप स्वयं कपटेन बलिध्वमिविडम्बिनी वामनीं मूर्ति विधाय मौनिना चरणेन उपेतपार्श्वं पाणिना पतङ्ग समघत्त ।

हिन्दी—इस राजा (नल) ने स्वयं कपट से बलिराज का ध्वंस करने-वाले विष्णु का अनुसरण करने वाली वामनी—छांटी देह बनाकर (सिकुठते हुए) नि दन्द चरण धरते हुए समीप पहुँचकर हाथ से उसी प्रकार उस पतंग (पक्षी हंस) को हाथ से पकड़ लिया, जैसे वामन विष्णु ने अकाशगामी नि शब्द चरण धरते हुए पास पहुँच कर सूर्य को हाथ से छू लिया था ।

टिप्पणी—पौराणिक कथा के माध्यम से वामन से राजा नल की तुलना। पक्षी को दबे पैर चुपचाप पहुँच कर ही पकड़ा जाता है। मल्लिनाथ ने यहाँ स्वभावोक्ति, चद्रकलाकार ने उपमा स्वभावोक्ति के सकर और विद्याधर ने उपमा और जाति बलङ्कारों का निर्देश किया है ॥१२४॥

तदात्तमात्मानमवेत्य स भ्रमात् पुन पुन प्रायसदुत्प्लवाय सः ।
गतो विरह्योऽङ्घ्रये निराशना करी निरोद्धुर्दशति स्म केवलम् ॥ १२१ ॥

जीवातु—तदिति । स ह्यन आत्मानं तदा तु तेन नलेनात्तं गृहीतमवेत्य
ज्ञात्वा सम्भ्रमादुत्प्लवायोत्पतनाय पुन पुन प्रायसदायस्तवान् । यमु प्रयत्न
इति घातोर्लुं टि पुण्यादिवात् च्छैरङ्गादेश । उङ्घ्रयेने उत्पतने निराशता गतो
विरह्य विरह्य निरोद्धुं गृहीतुं करी केवलं करावेव दशति स्म दष्टवान् ।
अत्रापि स्वभावोक्तिरेव ॥ १२५ ॥

अन्वय -—स आत्मानं तदात्तम् अवेत्य स भ्रमात् उत्प्लवाय पुन पुन
प्रायसम् (किन्तु) उङ्घ्रयेन निराशता गत विरह्य केवलं निरोद्धुं करी
दशति स्म ।

हिन्दी—बह (हृद्य) जपने को नल के अधीन जान कर आतंकिन हो
बारबार उडने का प्रयत्न करने लगा, किन्तु उडने में निराशा को प्राप्त हो
केवल हीन शब्द बरता हुआ पकडनेवाले नल के हाथों को काटने लगा ।

टिप्पणी—यह पद्य का स्वभाव है कि इस दशा में फटफडाता और
बिचलाता काटता है । स्वभावोक्ति ॥ १२५ ॥

समम्भ्रमोत्पातिपतत्कुलाकुल सगः प्रपद्योत्कतयाऽनुकम्पिताम् ।
तमूर्मिलोलै पतगग्रहान्नुप न्यवारयद्धारिष्ठं करैरिव ॥ १२६ ॥

जीवातु—स इति । समम्भ्रम सत्वरमुत्पातिना उङ्घ्रियमानेन पतत्कुलेन
पक्षिसङ्घेनाकुल सटकुल सरं कर्तुं उत्कतया उमनस्तथा 'उत्क उमना' इति
निपाननादिविधानाच्च साधु । अनुकम्पिता प्रपद्य कृपालुता प्राप्य तं नृपमूर्मि-
त्प्लोलैर्धारिष्ठं करैरिति व्यस्तरूपकम्, पतगग्रहान्पक्षिग्रहात् न्यवारयदिवेष्यु-
त्प्रेक्षा । वास्तवनिवारणामम्भवाद्दुःप्रेक्षा, निवारणस्य करसाध्यत्वात् तत्र
रूपनाशयणम्, अत एववस्तस्य उपमावाघेनाथानुनासाद्व्यवहितान्वयेनाप्यु-
त्प्रेक्षाव्यञ्जकत्वमिति, रूपनाःप्रेक्षयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ १२६ ॥

अन्वय -—समभ्रमोत्पानिपतत्कुलाकुलं सरं उत्कतया अनुकम्पिताम् (अनु-
कम्पिताम्) प्रपद्य तं नृपम् तूर्मिलोलैर्धारिष्ठं करै इव पतगग्रहान् न्यवारयत् ।

हिन्दी—सहसा आतक के कारण उठ पडने वाले पक्षिगण से परिध्याप्त सरोवर उछलते जल के रूप में उत्सुकता प्रकट करता दयामाव को प्राप्त हो उस राजा को मानो तरंगों में घबल जलत्र रूप हाथों से हस के ग्राह से रोकने लगा (निषेध करने लगा) ।

टिप्पणी—हस के पकड़े जाने पर स्वानाविक रूप आतङ्कित पक्षी जब सहसा उठ पड़े और इस कारण जल हिल गया और उसमें बनती सहरों द्वारा कमल भी घबल हो उठे, बिनाकी राजा को हस पकड़ने का निषेध करते सरोवर के हाथों के रूप में सभावना की गयी है । मन्दिनाय ने इस श्लोक में रूपक-उत्प्रेक्षा का तथा चद्रकलाकार ने उपमा-उत्प्रेक्षा के अगागिमात्र के संकर का निर्देश किया है । विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-उत्प्रेक्षा-रूपक-स्वभावोक्ति का मकर है ॥१२६॥

पतत्रिणा तद्रुचिरण वञ्चित श्रियः प्रयान्त्या प्रविहाय पत्वल्नम् ।

चत्पदान्मोहन्तुपुरोपमा चुकूज कूले कलहसमण्डली ॥ १२७ ॥

जीवानु—पतत्रिणेति । रुचिरेण पतत्रिणा हर्सेन वञ्चित विरहित तन्मन्वल सर विहाय प्रयान्त्या गच्छन्त्या श्रियो लक्ष्म्यात्चक्रुजा पदान्मोहन्तुपुराणाम् उपमा साम्य यस्या सा कलहसमण्डली कूले चुकूज । मूयन्न से कूजननेपा स्वभावस्तत्र हनेनैव सह गच्छन्त्या सरशोभाया श्रीदेव्या सहाभेदाध्यवसायेन कूजत्कलहसमण्डल्या तदुत्तवमुत्सवने । उपमासन्दोषि मुन्यार्यानुपपत्ते सम्भावनाशक इत्यवधेयम् ॥ १२७ ॥

अन्वय —रुचिरेण पतत्रिणा वञ्चिन तत् पत्वल्न विहाय प्रयान्त्या श्रियः चत्पदान्मोहन्तुपुरोपमा कलहसमण्डली कूले चुकूज ।

हिन्दी—(उच) मनोहर पक्षी (स्वर्णहस) से रहित उस सर को छोड़ कर जाती लक्ष्मी के गमन करते चरण-कमल में पहिने नूपुरों से सनानता करती कलहसों की मडली तीर पर दग्ध करने लगी ।

टिप्पणी—मनोरम हस के न रहने से साक्षात् की मानो श्री-शोभा ही समाप्त हो गयी । आतङ्कित तीरवर्ती सापी कलहस कूजने लगे । इस पर सर-धर्म के वर के बबूने मजीरों की सुन्दर कल्पना की गयी है । कवि ने प्र-मा

+ शतृ + डीप् + पष्ठी = 'प्रयान्त्या' के वर्तमानकालिक प्रयोगद्वारा श्री के प्रत्यागमन का सूचन किया है। मल्लिनाथ ने यहाँ समावनालक्षक उपमा और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। और चन्द्रकलाकार ने अतिशयोक्ति उपमा के अगाधि-भाव मकर का। विद्याधरने यहाँ अनुप्रास उपमा स्वभावोक्ति का सूचन माना है।

न वासयोग्या वसुधेयमीदृशस्त्वमङ्ग । यस्या पतिरुज्जितस्थिति ।

इति प्रहाम क्षितिमाश्रिता नम खगास्तमाचुकुशुरारवै खलु ॥१२८॥

जीवातु—नेति । इय वसुधा वामयोग्या निवासाहार्हा न, पुत अङ्ग भो ! यस्या वसुधाया उज्जितस्थिति त्यवनमय्यादि ईदृश अनपराधपक्षिधारक-त्व पति' पालक, इत्य खगा क्षिति प्रहाम नम आश्रितास्त मलमारवै-रुन्ध्वनिभिराचुकुशु खलु । उक्तरीत्या सनिन्दोपालम्भन चक्रुरिवेत्यु-त्प्रेक्षा गम्या ॥ १२८ ॥

अन्वय—'अङ्ग यस्या ईदृश उज्जितस्थिति। त्व पति (सा) वसुधा वामयोग्या न'—इति क्षिति प्रहाम नम आश्रिता खगा तम् आरवै आचुकुशु खलु ।

टिप्पणी—'ए राजा जिस घरती का ऐसा मर्यादा छोड़देनेवाला तू स्वामी है, वह घरती रहन योग्य नहीं है'—इस प्रकार घरती को छोड़कर आकाश में उड़ गये पक्षी शब्द करते हुए मानो राजा की निंदा करने लगे ।

टिप्पणी—जिम घरती का स्वामी मर्यादारहित आचरण करने लगे, धन-धान्य से परिपूर्ण होने पर भी उस सोपद्रवा घरती पर सज्जन नहीं रहते, उस भरी-भूरी घरती में सूना आकाश ही मला । स्वभावत उड़कर मँडराते चिन्लाते हंसों ने माध्यम से यह सभावना की गयी है । उत्प्रेक्षा अलंकार ॥१२८॥

न जातदृष्टदजातरूपता द्विजस्य दृष्टेयमिति स्तुवन् मृदु ।

जवादि तैनाथ स मानमौकमा जनाधिनाथ करपञ्जरस्पृशा ॥१२९॥

जीवातु—नेति । इयमोदज्जातरूपदृष्टं सुवर्णपथं जातरूपता उत्पन्न-मौदयं द्विजस्य पक्षिणो न दृष्टा द्विरण्मय पक्षी न मुत्रापि दृष्ट इत्यर्थः । इति मृदु स्तुवन् स जनाधिनाथ अयास्मिन्नतरे करपञ्जरस्पृशा तद्गतेन

मानस सरः ओक्. स्थान यस्मैति च तेन मानसौकसा हसन 'हृद्यास्तु श्वेत-
गधत्स्वभाङ्गा मानसौकस' इत्यमरः । जवादि उक्त । वदे कर्मणि
सुद् ॥ १२९ ॥

अन्वय — 'अथ इय जातिरुच्छदजातरूपता द्वित्रस्य न दृष्टा'—इति मूढः
श्रुवन् स जनाधिनाथ करपञ्चरसृष्टा तेन मानसौकसा जवादि ।

हिन्दी—तन्पश्चात्, 'सोने के पक्ष होने से उत्पन्न ऐसी सुन्दरता मैंने पत्नी
की नहीं देखी—इस प्रकार हृद्य की (विविध सौंदर्य की) बारबार प्रशंसा
करत उस नरनाथ से हाथ के पित्ररे में पकटा वह मानसरावासी हृद्य बोला ।

टिप्पणी—हृद्य को अवरूपता पर मुग्ध राजा का वर्णन । विद्याधर के
अनुसार यहाँ अनुप्रास—रुक्म अलंकार है, चन्द्रकलाकार ने यमक का उल्लेख
किया है ॥१२९॥

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्नन समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मन ।

तवारणवस्येव तुपारशीकरैर्भवेदमीनि कमलोदय कियान् ॥१३०॥

औदात्त—उद्वेग चतुर्निराह—धिगिन्यादि । हम्मो जम येषां तान् हेम-
जन्मतो हैमान् मम पक्षान् पतन्त्राणि समीक्ष्य तृष्णातरलम् आशावशग
भवन्ननो धिगस्त्विति निन्दा 'धिङ्निर्नत्सननिन्दयोरि' इत्यमरः । 'धिपु-
श्यादिषु धिष्वि'ति धिग्योगात् मन इति द्वितीया । तुपारशीकरैर्हिमकर्ण-
रणवस्येव तव एनि पत्रं कियान् कमलाया लक्ष्म्या कमलस्य जन्मस्य बोदयो
वृद्धिर्नवेत्, न कियानित्यर्थं ॥ १३० ॥

अन्वय—हेमजन्मत मम पक्षान् समीक्ष्य तृष्णातरलं भवन्नन' धिक् अस्तु,
तुपारशीकरैर् अणवस्य इव तव अमीनि कियान् कमलोदय नवेत् ।

हिन्दी—हे नल, मेरे सोने के पक्षों को देखकर तृष्णा से चञ्चल हुए तेरे
मन को धिक्कार है, ओस-कणों के समान इन से सागरतुल्य तुझ में कितने
उग्ररूप धन (कमल = जङ्ग, कमला = लक्ष्मी, धन) की वृद्धि हो सकेगी ?

टिप्पणी—नल ने हृद्य की 'जातिरुच्छदजातरूपता' (स्वर्णपक्षों के सौन्दर्य)
को प्रशंसा की, इस पर हृद्य ने राजा के धन-शोभ की निन्दा की । लक्ष्मीरति

राजा के लिए घोडा-सा स्वर्ण वैसे नगण्य है, जैसे जलनिधि समुद्र को ओस की बूँदें । विद्याधर के अनुसार उपमा, चन्द्रकलाव्याख्याकार के अनुसार उपमा श्लेष की सृष्टि ॥१३०॥

न केवल प्राणिवधो वधो मम त्वदीक्षणाद्विश्वसितान्तरात्मन ।

विगर्हित धर्मधर्मेनिबर्हण विशिष्य विश्वासजुपा द्विपामपि ॥१३१॥

जीवातु—नेति । हे नृप ! त्वदीक्षणात् त्वन्मूर्त्तिदशनादेव विश्वमितान्तरात्मनो विस्रब्धचित्तस्य विश्वस्तस्येत्यर्थं मम वध केवल प्राणिमात्रवधो न किन्तु विश्वासघातपातकमित्यर्थं । तत किमत आह—विश्वासजुपा विस्र-
म्भभाजा द्विपामपि निबर्हणं हिसन धम्मधर्मधर्मपरं मन्वादिभि विशिष्या
तिरिच्य विगर्हितमत्यन्तनिन्दितमित्यर्थं ॥ १३१ ॥

अन्वय.—त्वदीक्षणात् विश्वसितान्तरात्मन मम वध केवल प्राणिवध न, विश्वासजुपा द्विपाम् अपि निबर्हणं धर्मधर्मे विशिष्य विगर्हितम् ।

हिन्दी—तुम्हें देखकर जिसके मन में विश्वास जाग गया था, उस विश्व-
स्नमना मेरी हत्या केवल जीवहिंसा नहीं है, विश्वास की प्राप्त दानुओं को भी
मारने की धर्महिंसाओं ने विशेष निंदा की है ।

टिप्पणी—विश्वासघान से अपराधी दानु से भी उचित नहीं ठहराया
जाता, मैं तो निरीह, निरपराध पक्षी हूँ, मेरी हत्या तो अन्यत निन्दनीय है ।
विश्रयानुप्रास और काव्यलिंग का विद्याधर द्वारा उल्लेख, चन्द्रकलाकार के
अनुसार अर्थान्तरास-अथावति का संकर ॥१३१॥

पदे पदे सन्नि भटा रणोद्भूटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते ? ।

धिगोदृशन्ते नृपत कुविक्रम कृपाश्रये य कृपणे पतत्रिणि ॥ १३२ ॥

जीवातु—पदे पद इति । रणोद्भूटा रणेषु प्रचण्डा भटा योषा
पदे-पदे सति सर्वत्र सतीत्यर्थं, वीष्माया द्विर्भाव एष हिंसारसो हिंसारण-
स्तेषु भटेषु न पूर्यते अत्र बाहु न पूर्यत किमित्यर्थं । नृपतेर्महाराजस्य ते
तव ईश्वरमवध्यवधरूप कुविक्रम धिक् य कुविक्रम कृपाश्रये कृपाविषये
अनुकम्पनीये कृपणे दीने पतत्रिणि त्रियत इति विशेषः ॥ १३२ ॥

अन्वय—पदे पदे रणोद्धटा मटाः सन्ति, तेषु एष, हिंसारस न ते नृपते ईदृश क्रुविक्रम धिक्, यं कृपाश्रये कृपणे पततिपि पूयते ।

हिन्दी—रण-पग पर रणबाँकुरे योद्धा हैं, उनमें तेरा यह हिंसारस पूर्ण नहीं होता ? तुझ राजा के ऐसे कुत्सित पराक्रम को धिक्कार, जो दयापात्र बेचारे—(निरीह) पक्षी पर पूर्णता को पा रहा है ।

टिप्पणी—निबल निरीह पर दिखाया गया पराक्रम निन्दनीय ही होता है, पराक्रम-प्रदर्शन तो समानदल योद्धा पर किया जाना उचित है, सो निरीह पक्षी का वध निन्दनीय ही होगा । विद्याधर के अनुसार विदग्धानुप्रास ॥१३२॥

फलेन मूलेन च वारिभूह्या मुनेरिवेत्य मम यस्य वृत्तय ।

त्वयाऽद्य तस्मिन्नपि दण्डधारिणा कथं न पत्या धरणी हृणीयते ॥१३३॥

जीवातु—फलेनेति । यस्य मम मुनेरिव वारिभूह्या जलह्या पद्मादीनाम् अन्वय वारिह्या भूह्याञ्च फलेन मूलेन चेत्यमनेन दस्यमानप्रकारेण वृत्तयो जीविका तस्मिन् अपि अनपराधेऽपीति भावः । दण्डधारिणा दण्डकारिणा अदण्डधरदण्डकेनेत्यर्थः । पत्या त्वया हेतुना अद्य धरणी कथं न हृणीयते जुगुप्सत एवेत्यर्थः, हृणीयते कण्ठ्वादियगन्ताल्लट् तत्र हृणीडिति डित्करण-दात्मनेपदम् । अकार्यकारिण भक्तारमपि हन्ते स्त्रिय इति भावः ॥ १३३ ॥

अन्वयः—मने इव यस्य मम वारिभूह्या फलेन मूलेन च इत्य वृत्तय तस्मिन् अपि त्वया दण्डधारिणा पत्या धरणी अद्य कथं न हृणीयते ।

हिन्दी—मुनि के समान जिस मेरा जीवन-व्यापार कमलों के फलमूल-द्वारा चला है, उस मृग पर तुझ दण्डधारी पति के कारण धरती आज क्यों लज्जित नहीं होती ?

टिप्पणी—कदमूलफलासी मुनि पर दण्ड उठाने वाले व्यक्ति के कारण उसकी पत्नी का लज्जित होना ही स्वभाविक है, ऐसी ही स्थिति उस समय पृथ्वीपति की थी । विद्याधर ने यथासक्य और उपमा अलंकार का निर्देश किया है ।

इतोदृशोऽन्त विरचय्य वाङ्मये सचित्रवैश्वकृप नृप स्वग ।

दयानमुद्रे म तदाशयेऽनियोजकार काटण्यरमापगा गिरः ॥ १३४ ॥

जीवातु—इतीति । इतीत्य खगो ह्यस्त नृपम् ईदृशदोषालम्भैरित्यर्थः, वाङ्मयैर्वाग्निकारे 'एकाचो नित्य मयटमिच्छती'ति विकाराथे मयट्प्रत्यय । पक्षिकथनात् चित्र, परं स्वाकार्योद्घाटनादपत्रपा वैलक्ष्य, परासिदशनने तन्निवत्तनेच्छा वा कृपा, ताभि सह वत्तत इति सचित्रवैलक्ष्यकृत विरचय्य विधाय 'त्यपि लघुपूर्वादि'त्ययादेत् । दयासमुद्रे तदाशये तन्वित्तं कारुण्यरसापगा करुणारसनदी गिर अतिधीचकार प्रवेशयामासेत्यर्थं समुद्रे नदीप्रवेशो युक्त इति भावः ॥ १३४ ॥

अन्वय —स खग इति ईदृशो वाङ्मयैः त नृप सचित्रवैलक्ष्यकृत विरचय्य दयासमुद्रे तदाशये कारुण्यरसापगा गिर अतिधीचकार ।

हिंदी—उस पक्षी (हंस) ने इस प्रकार के उपयुक्त वचनों द्वारा उस राजा को विस्मय, दुःख और कृपा से पूरा बनाकर दया के सागर रूप उसके हृदयम करुणारस की नदी रूप वाक्समुद्द्र का प्रवेश कराया ।

टिप्पणी—नरु के द्वारा पकड़े हंस ने पूर्व (१२८-१३३) छ श्लोको मे जो तत्कसमत और न्यायसिद्ध वचन कहे, वे प्रत्येक सज्जन को विचार करने मे विवश करने के तिमिन पर्याप्त थे, फलस्वरूप राजा को इस प्रकार की मानवोचित धाणी और विचार पर आश्चर्य, स्वाभाविक करुणा और खेद हुआ और हंस ने इस प्रकार की स्थिति देख उपयुक्त समझा कि राजा की करुणा को तीव्र बनाया जाय । विधाघर के अनुसार अनुप्रास और रूपक, चद्रकलाकार के अनुसार श्लिष्टपरम्पित रूपक ॥ १३४ ॥

मदेवपुत्रा जननी जरातुरा नवप्रसूतिर्वरटा तपस्विनी ।

गतिस्तयोरेप जनस्तमद्दयन्नहो विधे । त्वा कण्या रुणद्धि नी ॥१३५॥

जीवातु—तायश्गिर प्रपञ्चयति—मदित्यादिना । तत्र तावद् देवमुपालभते हे विधे ! जननी अहमेवैक पुत्रो यस्या सा मदेवपुत्रा मम नाशे तस्या गत्यंतर नास्तीत्यथ । जरातुरा स्वयमप्यसमर्पेत्यर्थं, वरटा स्वभार्या हंसस्य 'योपिद्ररटे'त्यमर । नवप्रसूतिरचिरप्रमथा तपस्विनी सोच्या एव जन स्वयमित्यर्थस्तयोर्जायाजनन्योर्गति कारण त जन मामित्यर्थं, अदयद् पीडयन्

हे विधे ! विधात ! त्वा वरुणा नो ह्यद्वि मन्वीडनान्न निवारयतीति वाक्नु,
न ह्यद्वि किमिन्द्रियं ॥ १३५ ॥

अन्वय—मदेकपुत्रा जननी जरातुरा, वरुणा नवप्रभूति तपस्विनी, एषा
जन तयो गति, अहो विधे, तम् अदंयम् त्वा कथना न ह्यद्वि ।

हिन्दी—मैं ही त्रिमका एक पुत्र हूँ, ऐसी मेरी माता बुढ़ापे से पीड़ित है,
मेरी पत्नी को सभी निरुद्ध अज्ञान में ही प्रसन्न हुआ है, वह दीना है, यह जन
(मैं हूँ) ही उन दोनों का जीवन साधक है, अरे विधाता, उस (मुझे) को
पीडा देते—मारते तुझे कथना नही रोकती ?

टिप्पणी—राजा के हृदय में आश्चर्य, दुःख और कथना जगत्कर कथना
को और भी तीव्रतर बनाने के लिए विधाता को अथवा उसी मिय राजा को
संशोधित करते हुए हम ने इस प्रकार कथना प्रारम्भ किया । अपनी माता और
पत्नी का जीवनाश्रय एक मात्र वही था, इसे प्रमाणित करने के लिए अपनी माँ
को विवश, बूढ़ी, पीड़िता बताया, जो उस अकेले बेटे के अभाव में निश्चय ही
मर जायेगी । उसकी पत्नी दूही हो नहीं है, परन्तु 'नवप्रभूति' होने से वह
भी अच्छी स्थिति में नहीं है पतिव्रता होने से वह मेरे बाद दूसरा पति भी
नहीं ढूँढ लेगी, सो उसकी भी दुर्गति होगी । ऐसे माँ और पत्नी के एक मात्र
लाभ को मारने में मारक के हृदय में कथना न उत्पन्न होना ही आश्चर्य है ।
यद्यपि आगे उनका सन्दर्भ नहीं बैठता, तथापि 'प्रकाश'—कार ने अन्य प्रकार से
पदच्छेद करके इस श्लोक में एक अर्थ अर्थ की समावना भी दिखायी है ।
उनके अनुसार इस ही अपने एक मात्र नवजात पुत्र और नवप्रभूता माया का
आसरा है—मदेकपुत्रा (मत्त एक पृथो यस्या, सा, मुझसे ही जिसे एकमात्र
पुत्र जन्मा है), अजननी (आगे वह 'जननी' न बन सकेगी) । यह ठीक है कि
अभी वह बूढ़ी नहीं है—'जरातुरा न' परन्तु वह 'तपस्विनी वरुणा' (वह बेचारी
दीन धरती) मेरे न रहने में यदि कहीं शरण पासकेगी तो वप्र अर्थात् पर्वतशिखर
पर ही—वप्र एव सुतराम् कतिः रक्षण यस्याः सा । विद्याधर के अनुसार परिकर
अल्कार क्योंकि यही सामिप्राय विशेषणों का प्रयोग है—उक्तैर्विधेयणं सामि-
प्रायं परिकर ॥ १३५ ॥

मुहूर्तमात्रं भवतिन्दया दयासखा* सखायं सखदश्रवो मम ।

निवृत्तिभेष्यन्ति परं दुस्तरस्त्वयैव मातः । सुतशोकसागर ॥ १३६ ॥

जीवातु—अथ मातरं शोचयति—मुहूर्तेति । हे मातः । सखायं सुहृदो दयासखा सदया भवतिन्दया ससारगहणेन मुहूर्तमात्रं क्षणमात्रं सखदश्रवो गलिताश्रव एव सन्तो निवृत्तिं शोकौपरतिभेष्यन्ति, किन्तु त्वयैव सुतशोक एव सागरं परमत्यन्तं दुःखेनोत्तीर्यन्ति इति दुस्तरो दुस्तरं तरते वृच्छार्थं सलप्रत्यय ॥ १३६ ॥

अन्वय—मम दयासखा सखायं भवतिन्दया मुहूर्तमात्रं सखदश्रवो निवृत्तिम् एष्यन्ति, परं मातं त्वया सुतशोकसागरं, दुस्तरं एव ।

हिन्दी—दयालु मेरे मित्र ससार की निन्दा करते मुहूर्त भर आँसु गिरा शोक-निवृत्त हो लेंगे, पर हे माँ, तुझ से पुत्र शोक का समुद्र दुस्तर ही होगा, अर्थात् न तरा जा सकेगा ।

टिप्पणी—माँ के दुःख की सभावना दिखाकर कष्टोद्बोधन करानेवाले वचन । अनुप्रास रूपक अलंकार ॥ १३६ ॥

मदर्यसन्देशमृणालमन्थरं प्रियं कियद्दूरे इति त्वयोदिते ।

विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये । स कीदृग्भविता तव क्षणः ? ॥

जीवातु—अथ भार्यामुद्दिश्य विलपति—मदर्यस्यादिना । हे प्रिये । मह्यमिमे मदर्ये 'अर्थेन सह नित्यसमाप्तौ विशेष्यलिङ्गता चेति वनन्वयम्' तयो स-देशमृणालयो वाचिकविसयो मन्थरस्तत्प्रेषणे विलम्बितप्रवृत्तिं प्रियं कियद्दूरे देशे वर्तते इति त्वया उदिते उक्ते पृष्ठे मनीष्यये । अथ प्रदानानन्तरं रुदतं अनिष्टोच्चारणाशय्या अथूणि विमृशन्त पक्षिण इत्या गच्छतो गताविलाक्यत्यास्तव स क्षणः स कालः कीदृग्भविता भविष्यति ? वक्ष्यतातप्राम इति भावः । कर्त्तरि लुट् ॥ १३७ ॥

अन्वय—प्रिये, मदर्यसन्देशमृणालमन्थरं प्रियं कियद्दूरे—एति त्वया उदिते अथ रुदन् पक्षिणः विलोकयत्या तव स क्षणः कीदृग्भविता ?

हिन्दी—हे प्रिय, मेरे निमित्त समाचार और कमलनाल भेषने-साने

विलम्ब लगाने वाला मेरा प्रिय कितनी दूर है,—इस प्रकार तेरे पृष्ठने पर (उत्तर में) रोंते पक्षियों को विलोन्ती तेरा वह क्षण कितना कष्टकारक होगा ?

टिप्पणी—पानी के समाहित दुःख का मर्मस्पर्शी चित्रण । वह क्षण पत्नी के लिए बजपाठ तुल्य ही होगा । भावोदय अलंकार ॥१३७॥

कथं विधातमयि पाणिपङ्कजात् प्रियाशैत्यमृदुत्वचिन्पिन ।

वियोज्यसे वल्लभयेति निगन्ता लिपिलक्षराक्षरा लिपि कथं निगन्ता ॥ १३८ ॥

जीवातु—कथमिति । विधात ! प्रियाया वरदोषा शैत्यमृदुत्वचिन्पिन-

नस्तात्क तदङ्गशैत्यमार्दवनिर्वाणिक्यत्तव पाणिपङ्कजात्कमृदुत्वचिन्पित्

पापेरित्ययं । मयि विषये वल्लभयो सहैवियोज्यमे इत्यवस्था अतएव वल्लभ

तान्ति दहन्तीति ललाटन्तपानि 'अक्षरैर्नाट्योद्दे चित्तपोरि'ति ब्रह्मप्रत्यय,

'अरद्विपदि'त्यादिना मुमागम तानि निगन्ता काकठोरानि चाक्षराणि

यस्या सा लिपिरक्षरविन्यास कथं निगन्ता निगन्ता 'अक्षरैर्नाट्योद्दे चित्तपोरि'ति ब्रह्मप्रत्यय

विद्वद्वाच्योत्पत्तिकथनाद्विपमालङ्कारभेद 'विद्वद्वाच्योत्पत्तिर्वानयस्य

भावयेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपनालङ्कितिनन्ते'ति ॥ १३८ ॥

अन्वय —विधात, प्रियाशैत्यमृदुत्वचिन्पिन तव पाणिपङ्कजात् मयि वल्लभया वियोज्यमे—इति ललाटन्तपानिष्ठुराक्षरा लिपि कथं निगन्ता ?

हिन्दा—हे विधाता, प्रिया की शीनलता और मृदुता के चिन्पी तेरे कर-कमल से मेरे विषय में ललाट को तनाने वाले निष्ठुर अक्षरों-वाला ऐसा लेख कि तू प्रिया से विमुक्त होगा, कैसे निकला ?

टिप्पणी—जो हाथ शीतलता और कोमलता का चिन्पी है, कमल के सम्मान शीत और मृदु है, आश्चर्य है कि विधाता ने उसी हाथ ने प्रिया-वियोग जैना तारदायक और कठार लेख हस के नाम्य में लिखा, कारण के गूढ कार्य में क्यों नहीं आये ? कौन्सी विमगति है ? विषम और रूपक अलंकार । विषम—कार्यस्य कारणस्य च यत्र विरोध पश्यर गुणसो । तद्व्यक्रिययोः यथा सञ्जायेतेति विषमम् ।—मद्रट ॥१३८॥

अपि स्वदूष्यैरशानिजनोपम ममाद्य वृत्तान्तमिम वतोदिता ।

मुखानि लोलाक्षि । दिशाममशय दशापि शून्यानि विलोकयिष्यसि ॥

जीवानु—अपीति । अपि चैत्यपेरथं । अद्यास्मिन् दिने 'सद्यः पर्यदि'त्या-
दिना निपातात् स्वयूष्यं स्वसङ्घवरं हंसं कर्तृभिरशनिकतोपमं वज्रप्रहारशाय
ममेव वृत्तान्तम् अनर्थवातां उदिता उक्ता सती वदेनूर्जर्यस्य दुहादित्वाद-
प्रधाने कर्मणि क्त 'वचिस्वपी'स्यादिना मम्प्रसारण, हे लोलाक्षि । दशदिशा
मुखानि शून्यान्यलक्ष्याकाराणि विज्ञानयिष्यसि असशय सन्देहो नास्तीत्यर्थं ।
अर्षाभावेऽन्ययोभाव , वतेति श्चे ॥ १३९ ॥

अन्वय —अपि अद्य स्वयूष्यं अशनिकतोपमं मम वृत्तान्तम् उदिता
लोलाक्षि, असशय दश अपि दिशा मुखानि शून्यानि विलोकयिष्यसि वत ।

हिन्दी—और आज अपने दिल के साथी हमो द्वारा वज्राघात के समान
मेरा वृत्तान्त कहे जाने पर खेद है, कि हे खचल नयनो वाली, नि सदेह दशो ही
दिशाओं के मुख तुझे सूने दिखायी पड़ेंगे ।

टिप्पणी—वज्र का हृदय भी द्रवीभूत करने वाले और पत्थर को भी
मोम कर देने वाले स्वभाविक कथना जागरित करनेवाले वचन । अनुप्रास
और उपमा ॥१३९॥

ममेव शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वयाऽपि चित्राङ्गि । विपद्यते यदि ।

तदस्मि दैवेन हतोऽपि हा हतः स्फुट यतस्ते शिशवः परासवः ॥१४०॥

जीवानु—ममैवेति । हे चित्राङ्गि । लोहितचञ्चुषरणत्वाद्विचित्रगात्रे ।
मम शोकेनैव मद्भिपत्तिदुःखेनैव विदीर्णवक्षसा विदलितहृदा त्वया विपद्यते
घ्नयते यदि तत्तर्हि दैवेन हतः स्फुटं ध्रुक् पुनहतोऽस्मि हेति विपादे, 'हा
विस्मयविपादयोरिति विश्व । कुत' ? यत ते शिशवः परासवो भातुरभावे
पोषकाभावान्मृता , अतः शिशुमरणभावनाया द्विगुणित मे मरणदुःख प्राप्त-
मित्यर्थं ॥ १४० ॥

अन्वय—चित्राङ्गि, यदि मम शोकेन विदीर्णवक्षसा त्वया अपि विपद्यते,
हा, तद्, दैवेन हतः स्फुटं हतः अस्मि, यत ते शिशवः परासवः ।

हिन्दी—हे सुन्दर शरीर वाली, यदि मेरे शोक में वन फट जाने से तू
भी मर जायेगी, हाय, तो देव द्वारा मारा मैं और मारा जाऊँगा, क्योंकि तेरे
बिना तेरे छोटे बच्चे भी मर जायेंगे ।

टिप्पणी—कहना को तीव्रतर करनेवाला तर्क । कदा रस, काव्यमि
 अलंकार ॥१४०॥

तवापि हाहा विरहान् क्षुधाकुला कुलायकूलेषु विदुष्य तेपु ते ।

चिरेण लब्धा बहूनिमनोरथैर्गता क्षणेनान्मृष्टितेक्षणा मम ॥ १४१ ॥

जीवानु—ननु मन्मृतौ कथं तेषां मृतिरस्य आह—तवापीति । हे प्रिये !
 बहूनिमनोरथैश्चिरेण लब्धा बहून्मनोरथान् इत्यर्थः, अन्मृष्टितेक्षणा अद्याप्यनु-
 लितेक्षणा मम ते पूर्ववता शिशवः तवापि न केवलं ममैवेति भावः । विरहा-
 द्विपत्ते क्षुधाकुला क्षुत्पीडिता नेपु स्वसम्पादितेष्वित्यर्थः, कुलायकूलेषु
 नीढान्तिकेषु, 'कुलामो नीढमस्त्रियामि'त्यमरः । विलुठय परिवृत्त्य क्षणेन
 गता मृतप्रायाः, हा हेति खेदे ॥ १४१ ॥

अन्वय —हा हा, बहूनि मनोरथं चिरेण लब्धाः अन्मृष्टितेक्षणाः मम तव
 अपि विरहान् क्षुधा आकुला तेषु कुलायकूलेषु विलुठय क्षणेन गताः ।

हिन्दी—हाय, बहुत से मनोरथ करके चिरकाल में प्राप्त जिनकी अनो
 आखें भी नहीं खुल पायी हैं, ऐसे मेरे और तेरे न रह जाने से मृत से व्याकुल
 (वे छोटे-छोटे बच्चे) नीढ के भीतर लोटते हाण में मृतप्राय हो जायेंगे ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक के सदनं में यह श्लोक भी है । नवजात पशु-
 चावकों की दृष्टि ठीक से देखने योग्य नहीं होती—'अस्फुटितेक्षणा' बच्चों के
 बहुत छोटे होने का द्योतक है । 'गता' का अर्थ 'गये' होता है, पर जो
 'अस्फुटितेक्षणा' हैं, वे 'गता' कैसे हो सकते हैं ? विरोध-परिहार में 'गता'
 का अर्थ हुआ 'मृतप्राय' । कदाचिन् इसी के आधार पर विद्याधर ने यहाँ
 विरोधान्नास अलंकार का उल्लेख किया है । कदा रस ॥१४१॥

मुनाः कन्माहूय चिराय ब्रूहृत्तैर्विधाय कम्प्राणि मुखानि क प्रति ? ।

कयामु शिष्यध्वमिति प्रमोह्य स स्तुतम्य सेवाद् बुबुधे नृपाश्रुण ॥१४२॥

जीवानु—मुता इति । हे मुता ! ब्रूहृत्तैश्चूहृत्कारिभिराय क प्रति कम्पि
 प्रति मुखानि कम्प्राणि चञ्चलानि विधान कयामु शिष्यध्व कयामाश्रयेया
 नवत । कुत्रापि पित्रोरदर्शनाद् शिष्यध्व, प्राप्तकाले लोट्, मरणकाले प्राप्त

इत्यर्थं । इतीति इत्युक्त्वेत्यर्थं । गम्भमानार्थत्वादप्रयोग । प्रमीत्य मूर्च्छा प्राप्य स हम् स्रुतस्य दयाद्रभावात्प्रवहती नृपस्याश्रुण सेकाद् बुबुधे सभा लेभे । प्रायेणात्र स्वभावोक्तिरूह्या । १४२ ॥

अन्वय — सुता , चूडकृतं चिराय कम् आहूय क प्रति मुस्तानि कम्प्राणि विधाय कषामु शिष्यध्वम्,—इति प्रमीत्य स स्रुतस्य नृपाश्रुं सेकात् बुबुधे ।

हिन्दी—पुत्रो, चें चें करके चिरकाल तक किसे बुलाकर और किसकी ओर चल मुझ करके कषामात्रावद्येव हो जाओगे ?—ऐसा कह मूर्च्छित हुआ वह हम राजा के टपकते आँसुओं के सिंचन से बोध को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—अपने बच्चों की समाहित दुर्दशा पर विचार करते-करते हस मूर्च्छित हो गया, जिससे दयाशील नल के आँसू टपकने लगे, जो हस पर गिरे और उनके कारण उसकी मूर्च्छा छूटी । पक्षिगवक चें-चें बोलते त्वरापूर्वक आने जननी जनक से चोंच बढ़ाने-खोलते भोज्य ग्रहण किया करते हैं । उन दोनों के दिवगत हो जाने पर चिल्लाते चिल्लाते धक कर बच्चों का बषावनेप-मत हो जाना ही स्वभाविक है । कवणरमपोषिका उक्ति । जाति अथवा स्वभावानि अलकार ॥ १४२ ॥

इत्यममु विलपन्तममुश्वहीनदयालुतयाऽवनिपाल ।

रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय ॥ १४३ ॥

जीवात्—अत्र सर्वत्र 'भिन्नसर्गान्निरिति काञ्चलक्षणाद् वृत्तान्तरेण दवाकद्रपमाह—इत्यमित्यादिना । इत्य विलपत परिदेवमानममु हंमन्वनिपालो नलो दीनेश्वरात्तेषु दयालुतया काङ्क्षितमरुतया रूपमाकृतिरदर्शि अपूवत्वादव-लोकित, यस्मै यदर्थं ह्यदर्शनायमेव धृतो गृहीतोऽसि, अथ यथेच्छ गच्छेत्यभि-धाय अमुञ्चत् मुक्तवान् । 'दोषकवृत्तमिदम्भममा गावि'ति लक्षणात् ॥ १४३ ॥

अन्वय — इत्य विलपतम् अमु दीनदयालुतया अवनिपाल — रूपम् अदर्शि यदर्थं घृत असि,—इति अभिधाय अमुञ्चत् ।

हिन्दी—इम प्रकार विलपते दम (हस) को दोनों पर दयालु होने के कारण पृथ्वीराज ने यह कहकर कि तुम्हारा रूप दिख गया, जिसके निमित्त तुम्हें पकड़ लिया था—हम को छोड़ दिया ।

टिप्पणी—कृष्ण-मल्लि हो जो धरती मात्र का पालनहार था, बेचारे हंस को कैसे दशम में रख सकता था ? अनुपम की छटा । दोषक वृत्त, जिसके प्रत्येक चरण में ग्याह् झर होते हैं, तीन मगप (511) और अत में दो गुरु— नममा गौ ॥१४३॥

आनन्दजाश्रुभिरनुस्त्रियमाणमार्गान् प्राक्शोकनिर्गलितनेत्रपय प्रवाहान् ।
चक्रे स चक्रनिमचङ्क्रमणच्छन्नेन नीराजना जनयता निजबान्धवानाम् ॥

जीवातु—आनन्देति । हंस चक्रनिमचङ्क्रमणस्य मण्डलाकारभ्रमणस्य छन्नेन नीराजनाजनयता कृर्वता निजबाधवाना 'बन्धमुक्त बान्धवा नीराज-
यन्ती'ति समाचार । प्राङ्मोचनात्पूर्वं शोकं निर्गलिता निःसृता नेत्रपय-
प्रवाहा दाप्यनुरास्तानानन्दजाश्रुनिरानन्दद्वार्यरनुनिममाणमार्गान् अनुपम्य-
मानमार्गाञ्चक्रे कृतवान् । अत्र पक्षिणा स्वभावसिद्ध बन्धमुक्त स्वयुध्यभ्रमण-
छन्नच्छन्नेनापह्यन्त्य तत्र नीराजनात्वारोपादपह्ववभेद । अत्र चमत्कारित्वान्म-
ङ्गलाकारस्यत्वाच्च सर्वत्र सङ्गीतरत्नोक्तेष्वानन्दशब्दप्रयोग, यमाह
नावान् नाप्यकार—'मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि विहितानि
शास्त्राणि प्रयन्ते वीरपुरुषाप्यायुष्मत्पुराणि च भवति अध्येतारश्च प्रवक्ष्यरो
भवन्ती'ति । वसन्ततिलकावृत्तम् 'उक्ता वसन्ततिलका तनजा जगौ ग' इति
रक्षणम् । सर्गान्तत्वाद् वृत्तभेद, यमाह दण्डी—'सर्गेरनतिविस्तीर्णं श्राव्यवृत्तौ
सुवन्धिनि । सर्वत्र भिन्नमार्गान्तेर्येत लोकरञ्जनम् ॥' इति ॥ १४४ ॥

अन्वयः—स चक्रनिमचङ्क्रमणच्छन्नेन नीराजना जनयता निजबान्धवानां
प्राक्शोकनिर्गलित नेत्रपय-प्रवाहात् आनन्दजाश्रुनि अनुस्त्रियमाणमार्गान् चक्रे ।

हिन्दी—उस (मुक्त हंस) ने चक्राकार में हराने के व्याज से मानो
आरती उतारते अपने बाधवाँ (साथी हंसों) के पहिले शोक के कारण टपकती
अश्रुवार को हसोपल नमनजलवार से अनुामित होती बनाया ।

टिप्पणी—साथी के द्वारा-मुक्त होने पर दन्धुजन प्राय आरती उतारा
करते हैं । हंस के बन्धन में पहवाने से आवाज में (१२५वें श्लोक के अनु-
सार) मङ्गलाकार में हराने जो हंसमहली शोक के आंसू गिरा रही थी, वह
अब प्रसन्न हो आनन्दाश्रु बहाने लगी, अर्थात् बन्धन पर कष्ट था रही थी,

साथी के मुक्त होने पर प्रमोद से मर उठी । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास अपह्नुति जाति की ससृष्टि है । 'नैपथीयचरित' के प्रत्येक कथा के समाप्ति श्लोक में 'आनन्द' शब्द आता है, जैसे इस श्लोक का आरम्भ ही 'आनन्द' शब्द से है, ऐसे ही प्रत्येक सर्गान्त श्लोक में कही न कही आयेगा, इसलिए इस महाकाव्य को 'आनन्दाङ्कु' कहा जाता है । वसततिलका वृत्त, जिसका वा त्वाण है—तगण (551), भगण (511), दो जगण (151) और अठ के दो (55) गुण अक्षर,——१४ अक्षरों का एक चरण ॥१४४॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः सुत

श्रीहीरः सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारमङ्गला महा

काव्ये चाहणि नैपथीयचरिते सर्गोऽप्यमादिर्गतः ॥ १४५ ॥

जीवातु—अथ कवि शब्दवर्णनमाख्यातपूर्वक सर्गसमाप्ति श्लोकबधेनाह-श्रीहर्षमिति । कविराजराजिमुकुटाना विद्वच्छ्रेणीमुकुटानाम् अलङ्कारभूतो हीरो वक्ष्यमणि हीरो नाम विद्वान् श्रीहर्षनामान य सुत सुपुत्रे जनयामास, मामल्लदेवी नाम स्वमाता सा च य सुत सुपुत्रे, तस्य श्रीहर्षस्य यच्चिन्तामणिमन्त्र तस्य चिन्तनमुपासना तस्य फले फलभूते शृङ्गारमङ्गला शृङ्गारमेन चाहणि निपथाना राजा नैपथो नल तदीयचरिते नलचरितनामने महाकाव्ये क्षयमादि प्रथम सर्गो गत समाप्त इत्यर्थे । एवमुत्तरत्रापि द्रष्टव्यम् ॥१४५॥

इति 'मल्लिनाथमूरि'विरचिताया 'जीवातु'समाख्याया नैपथटीकाया

प्रथम सर्गं समाप्त ॥ १ ॥

अन्वयः—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर श्रीहीर मामल्लदेवी च जितेन्द्रियचय य श्रीहर्षं सुत सुपुत्रे, तच्चिन्तामणिमन्त्रचिन्तनफले शृङ्गारमङ्गला चाहणि नैपथीयचरिते महाकाव्ये अयम् आदि सर्गं गत ।

हिन्दी—कविराज समूह के मुकुट के अलङ्कार 'हीरक' के तुल्य श्रीहीर (पिता) और मामल्लदेवी (माता) ने जिस इन्द्रियविजयी श्रीहर्षं पुत्र को जन्म दिया, उस श्रीहर्षं को चिन्तामणिमन्त्र के अनुष्ठान जपादि के फलरूप शृङ्गार की मणिमामय उक्तिवा से चाह बने नैपथीय चरित्र महाकाव्य का यह आदि सर्ग पूर्ण हुआ ।

टिप्पणी—यह परिचय श्लोक है, जो प्रत्येक सर्ग के अन्त में है। चित्त-मनिमत्र के अनुष्यान से श्रीहर्ष को कवित्व दत्त प्राप्त हुई थी, जिसका उल्लेख 'नैदधीयचरित' के 'अवामावामार्थे' (१४।८८) श्लोक में है। 'वेदग्यनङ्गी-मपिति' ही 'वक्रोक्तिजीवित' कार के अनुसार काव्य है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-स्पर्क-अलंकार हैं। शार्दूलविकीरित छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में उन्नीस अक्षर होते हैं, जिनका क्रम इस प्रकार है—मगण (५५), सगण (११५), जगण (१७१), सगण (११५), दो तगण (५१), अन्तिम गुरु (५) ॥१४५॥

नैदधीयचरित के प्रथमसर्ग में 'चन्द्रिका' हिन्दी-व्याख्या समाप्त ।



॥ श्री ॥

नैषधसहाकाव्यम्

मन्त्रिनायकृत् 'जीवानु' टीकासहित-
सान्त्वय-सटिप्पण 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

द्वितीयः सर्गः

अधिगत्य जगत्यधीश्वरादय मुक्तिं पुद्ग्योत्तमात्तन ।

वचनमपि गोचरो न यः स तमानन्दमविन्दत द्विज ॥ १ ॥

जीवानु—अधिगत्येति । अयं मोचनानन्तरं स द्विजः पक्षी विप्रश्च, 'दन्त-
विप्राण्डजा द्विजा' इत्यमरः । जगत्यधीश्वरान् क्मापते भुवनपतेश्च 'जगती
भुवने क्मायामि'ति विश्वः । पुद्ग्योत्तमात् पुद्ग्यश्रेष्ठात् विष्णोश्च ततः तस्मात्
प्रकृतान्तात् अन्यत्र प्रसिद्धाञ्च मुक्तिं माचनं निर्वाणञ्च अधिगत्य प्राप्य
आनन्दो वचनमपि न गोचरं वक्तुमशक्यं, 'यतो वाचो निवर्तत' इत्यादेर-
वाङ्मनसगोचरश्च तमानन्दं परमानन्दञ्च अविदतालभत, विदेर्लोनाथात्
'कनेमिप्राये क्रियापत्' इत्यात्मनेपदं, 'शे मुचादोनामि'ति शुभागमः । अत्रा-
भिधाय प्रकृतार्थमात्रनियन्त्रणादुभयपदलेपानुपपत्तेर्भेदान्तरानवकाशाल्लक्षणायाश्च
मुन्यार्यबाधमन्तरेणासम्भवात् ध्वनिरेवायं, ब्राह्मणस्य विष्णोर्मोक्षानन्दप्राप्ति-
लक्षणाद्यन्तरेप्रतीतेर्न श्लेषः प्रकृताप्रकृतोभयगतः । अस्मिन् सर्गे एकशतश्लो-
कस्यन्तं विमोहिनीवृत्तम् । 'विपने ससजा गुरु समे सभरा लौज्यं गुरुविमो-
हिनी'ति लक्षणादिति संक्षेपः ॥ १ ॥

अन्वय —अयं स द्विजः ततः जगत्यधीश्वरान् पुद्ग्योत्तमात् मुक्तिम् अधि-
गत्य यः वचनम् अपि गोचरं न तम् आनन्दम् अविन्दत ।

हिन्दी—तदनन्तरं जिस प्रकार द्विज (विप्र) उस सत्तार के स्वामी
पुद्ग्योत्तम हरि विष्णु से सत्तार-मोक्ष पाकर वाणी से भी अवर्णनीय परमानन्द
को प्राप्त करता है, उसी प्रकार उस द्विज (पक्षी हंस) ने उस सत्तार के

अधिपति (राजा) पुरुषथेष्ठ नर से छुटकारा पाकर जिसका वर्णन वाणी (शब्दों) से भी नहीं किया जा सकता, उस आनन्द को प्राप्त किया ।

टिप्पणी—आनन्द की अनुमृति को अत्यन्त सुखद प्रकट करने के निमित्त उसकी अवाङ्मनोगोचर मोक्ष के आनन्द से समता की गयी है । इस सर्ग में इस श्लोक से लेकर १०१ वें श्लोक (अमृतघृतिलक्ष्म) तक 'विद्योगिनी' छंद है, जिसके प्रथम तृतीय चरणों में दस अक्षर इस क्रम से होते हैं—दो सगण (115), एक जगण (151), दसवाँ अक्षर गुरु (5) तथा द्वितीय-चतुर्थ में ग्यारह अक्षर इस क्रम से रहते हैं—एक सगण (115), एक भगण (511), एक रगण (515), एक लघु, एक गुरु (15) । 'प्रकाशकार' ने इसे 'बंतालीय' छंद कहा है । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास और श्लेष अलंकार हैं, मल्लिनाथ इसमें श्लेष न मानकर अर्थांतर प्रतीति के कारण 'ध्वनि' ही मानते हैं । उनका कथन है कि अभिधा से प्रकृतार्थ मात्र का नियंत्रण होता है अतः श्लेष समझ नहीं और भुक्त्यायं-बाध के अनाथ में लक्षणा भी नहीं हो सकती, अतः व्यञ्जना के आशय से ही इष्टाय-प्रतीति होगी ॥ १ ॥

अधुनीत खग स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूह्रीकृताम् ।

करयन्त्रणदन्तुरान्तरे व्यलिपञ्चञ्चुपुटेन पक्षती ॥ २ ॥

जीवातु—अधुनीतेति । स खगो ह्य उत्फुल्लतनूह्रीकृता नृपकरपीडना-
दुदुदुदध पतत्रीकृता 'पतत्रञ्च तनूह्रिमि'त्यमर । तनु शरीर नैकधा, नक्षत्रस्य
मुष्मुपेति समास । नञ्समासे नलोपप्रसङ्ग । अधुनीत घृतवान् । घृत श्या-
देलङिति तद्, 'ष्वादीनां ह्रस्व' इति ह्रस्व । चिञ्च करयन्त्रणेन नृपकरपीडनेन
दन्तुरे निम्नोन्नतमध्यप्रदेशे पक्षती पक्षमूत्रे 'स्त्री पक्षति, पशमूलमि'त्यमरः
चञ्चुपुटेन प्रोटिमष्पुटेन व्यलिपत्तु विलिपनेन ऋजूचकारेत्ययम् । एतदादे
श्लोकचतुष्टयेषु स्वभावोत्तिरङ्कार ॥ २ ॥

अन्वय—स खग उत्फुल्लतनूह्रीकृता तनुम् एकधा न अधुनीत ।
करयन्त्रणदन्तुरान्तरे पक्षती चञ्चुपुटेन व्यलितम् ।

हिन्दी—उम विहग (हन) ने अपने रोमाञ्चन शरीर को अनेक
प्रकार में कम्पित किया, रात्रा के द्वाग पकड़े जाने से ऊँचे नीचे मध्य भाग
वाले पक्षों को बाध से सहलाकर बराबर किया ।

टिप्पणी—पङ्क से छूटे पक्षी की द्रिया का स्वभाविक वर्णन ।
स्वभावोक्ति ॥ २ ॥

अयमेकतमेन पक्षतेरधिमध्योर्ध्वंगजङ्घमङ्घ्रिणा ।

स्खलनक्षण एव शिथ्रिये द्रुतकण्डूपितमौलिरालयम् ॥ ३ ॥

जीवानु—अयमिति । अयं हस स्खलनक्षण एव मोचनानन्तरमेवेत्ययं ।
एकतमेनाङ्घ्रिणा पक्षते पक्षमूलस्याधिमध्य मध्ये ऊर्ध्वंगामिनी जङ्घा यस्मिन्
कर्मणि तद्यथा तथा कण्डूयनेन तत्तथा द्रुत कण्डूपितमौलि सत्वर कर्पितचूड
सन् आलय निजावास शिथ्रिये श्रितवान् ॥ ३ ॥

अन्वय—अयं स्खलनक्षणे एव पक्षते अधिमध्योर्ध्वंगजङ्घम् एकतमेन
अङ्घ्रिणा द्रुतकण्डूपितमौलि आलय शिथ्रिये ।

हिन्दी—वह हस छूटे क्षण ही पक्षों के मध्य से जघा ऊर्ध्वंगामिनी कर
(पक्ष मूल के बीच में ऊपर को जघा करके) एक पैर से जन्दी जल्दी सिर
सुजलाता हुआ अपने घोंसले में जा बैठा ।

टिप्पणी—यह भी पक्षिस्वभाव है । यहाँ भी स्वभावोक्ति अलंकार ॥३॥

म गच्छन् दुर्गदुर्ग्रहान् कटु कीटान् दशतः सतः क्वचित् ।

नुनुदे तनुकण्डु पण्डित पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनै ॥ ४ ॥

जीवानु—स इति । पण्डित निपुण स हस गच्छ पक्षा एव वनदुर्गं तत्र
दुर्ग्रहान् प्रहीतुमशक्यान् कटुनीक्षान्दशत दन्तस्तुदत क्वचित् कुत्रचिदेव सत
वर्तमानान् कीटान् क्षुद्रजन्तून् पटुचञ्चूपुटस्य समर्थत्रोटे कीटया अत्रेण कुट्टनै
कुट्टनैस्तनुरन्त्या कण्डूयस्मिन् तनुकण्डु यथा तथा 'गोत्रियपोरुपसर्जनस्येति'
हन्व । नुनुदे निवारितवान् 'स्वरितत्रित' इत्यारभनेपदम् ॥४॥

अन्वय—पण्डित स क्वचित् सत गच्छन् दुर्गदुर्ग्रहान् कटु दशत
कीटान् पटुचञ्चूपुटकोटिकुट्टनै तनुकण्डु नुनुदे ।

हिन्दी—उम चनुर पक्षी ने यत्र-तत्र स्थित पक्ष-रूप वन दुर्गं (अथवा
पक्षनगृह रूप दुर्गं) में छिपे रहने में कठिनता से हाथ आने वाले पीढादायक

रूप में काटते कीड़ों को कीड़ा आदि खोदने में अत्यन्त उपयोगी चीज की नोक से मार-मार कर हटा खुजली को कुछ दूर किया ।

टिप्पणी—दुर्जय दुर्ग में जा छिपे शत्रु को पकड़ कर उसका वध किया जाता है, तभी उपद्रव मिट पाता है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास, स्वभावोक्ति और श्लेष अलंकार, चद्रकलाकार के अनुसार रूप, स्वभावोक्ति की सृष्टि ॥ ४ ॥

अयमेत्य तडागनीडजैलघु पर्यन्त्रियताथ शङ्किते ।

उदडीयत वैकृतात् करग्रहजादस्य विकस्वरस्वरै ॥ ५ ॥

जीवातु—अयमिति । अय हसस्तडागनीडजै सरपक्षिभिस्तत्रत्यहसै 'नीडोद्भवा गहमत' इत्यमर । लघु क्षिप्रमेत्यागत्य पर्यन्त्रियत परिवृत, वृणोते कर्मणि लट् । अय परिवेष्टनानन्तरमस्य हसस्य करग्रहजा नलकर-पीडनजन्यादिकृतादेव वैकृताद्विलुण्ठितपक्षत्वरूपादिकारदशनादित्यर्थ, स्वायंऽणु प्रत्यय शङ्कितश्चकिते अतएव विकस्वरस्वरैरुच्चैर्घोर्पिस्तैरुदडीयतीड्डीनमु डोडो भावे लङ् ॥ ५ ॥

अन्वय—तडागनीडजै लघु एत्य अय पर्यन्त्रियत, अय अस्य करग्रहजातु वैकृतात् शङ्कितै विकस्वरस्वरै उदडीयत ।

हिन्दी—सरोवर के घोंसलो में उत्पन्न पक्षियो (हस आदि) ने तुरन्त आकर उस (हस) को चारों ओर से घेर लिया, तदनन्तर हाथ से पकड़े जाने के कारण उत्पन्न उसकी विकृति से आशंकित हो ऊँचे स्वर में बोलाहल करते वे उड़ गये ।

टिप्पणी—'प्रकाश-कार के अनुसार तीर्थों पर आय व्यक्ति को भी पड़े पुजारी घेर लिया करते हैं और फिर झगडा करते, चिन्तिते हट जाया करते हैं । विद्याधर ने इसमें आतिरक्तिशेषानुप्रास अलंकार का उल्लेख किया है और 'करग्रहजातु' को दिलिष्ट माना है । चद्रकलाकार ने स्वभावोक्ति का निर्देश किया है ॥ ५ ॥

दधनो बहुशैवदमना घृतरुद्राशमधुव्रत रग ।

स नलम्य यथी वरं पुन सरम धोवनदध्रमादिव ॥ ६ ॥

जीवातु—दधत इति । अथ स खगो हस बहुशैवला भूरिशैवला क्वा भूर्नस्य तद्बहुशैवलक्ष्म तस्य भाव तत्ता ता दधतो दधानात् सरस पन्वलात् बहूनि शैवलक्ष्माणि शिवनक्तचिह्नानि यस्य न बहुशैवलक्ष्मा तस्य भाव तत्ता ता दधतो दधानस्य नस्य रुद्राक्षाणि मधुव्रता इवेत्युपमितसमास , ते घृता येन ता कर कोकनदभ्रमाद्रक्तोत्पलभ्रान्तेरिव पुनर्ययी, कोकनदन्तु रुद्राक्षसद-शमधुव्रत खलु । अत्र बहुशैवलेत्यादीं शब्दश्लेषस्तदनुप्राणिता रुद्राक्षमधुव्रत-मित्युपमा तत्तापेक्षा चेवं कोकनदभ्रमाद्रिवेत्युत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ ६ ॥

अन्वय —स खग बहुशैवलक्ष्मता दधत (बहूत) सरस नलस्य (बहु-शैवलक्ष्मता दधत) घृतरुद्राक्षमधुव्रत कर कोकनदभ्रमात् इव पुन ययी ।

हिन्दी—बहू (हस) प्रचुर सिवार घास से टकी घरती को धारण करते नरोवर से (अनेक शिवमक्ति-भूचक अथवा शिव अर्थात् शुभ-भूचक चिह्नों से युक्त) रुद्राक्ष रूप भ्रमरों को नियमित धारण करते नल के हाथ में (रुद्राक्षों के तुल्य भौरों से युक्त) मानों लाल कमल के भ्रम से पुन पहुँच गया ।

टिप्पणी—गजा शैव होने के कारण हाथ में रुद्राक्ष धारण किये रहना था, वर्ण-साम्य के आधार पर उनकी समता कोकनद पर बैठे भ्रमरों से की गयी है । प्रकाशकार ने 'रवाग र्त् घृता र्द्यंस्ते घृतस्त सद्यद्वा , र् अग्निस्तद्र-दक्षीणि पिङ्गलानि नेत्राणि येषा ते राक्षा एवभूता भ्रमरा यत्र' यह विग्रह करके 'भन-भन करते पिङ्गल नेत्र भ्रमरों से युक्त' अर्थ भी किया है । नल के पक्ष में 'रुद्रस्य अन्नमाद् भुनोति रुद्राक्षमधु तन्व तद्व्रत च घृत येन' यह विग्रह करके गजा के हाथ को 'शिवद्रोही को परामव देने वाला' बताया है । मन्त्रिनाथ के अनुसार यहाँ शब्दश्लेष-उपमा-उत्प्रेक्षा का सङ्कर है । 'इव' के कारण 'भ्रम' की उत्प्रेक्षा हो गयी है, अन्यथा 'भ्रान्तिमाद्' अलंकार स्पष्ट है ।

पतगश्चिरकाललान्नादतिविभ्रम्भमवापिनो नु सः ।

अतुल विदधे कुतूहल भुजमेतस्य भजन्महीभुजः ॥ ७ ॥

जीवानु—जयास्य स्वयमागमनादुत्प्रेक्षते—पतग इति । पतङ्गो हसश्चि-

रकाललालनाहुपलालनादतिविश्रम्भमतिविश्वास 'समी विश्रम्भविश्वासावि'
त्यमर । अवापित प्रापितो नु किमित्युत्प्रेक्षा, अन्यथा कथं पुन स्वयमागच्छे-
दिति भाव । विश्व एतस्य महीभुजो भुजम्भजन् स्वयमाप्नुवन् अतुल कुतूहल
विदधे कौतुकश्चकारेत्ययं । अत्रोत्प्रेक्षावृत्यनुप्रासयो शब्दार्थालङ्कारयोस्ति-
लतण्डुलवत् ससृष्टि । 'एकद्विभ्यादिवर्णानां पुनरुक्तिर्भवेद्यदि सङ्ख्यानियम-
मुल्लङ्घ्य वृत्यनुप्रास ईरितः ॥' इति ॥ ७ ॥

अन्वय — चिरकाललालनात् नु अति विश्रम्भम् अवापित स पतग एतस्य
महीभुज भुज मजन् अतुल कुतूहल विदधे ।

हिन्दी—निश्चयत बहुत समय तक सात्वनादि पाने से अत्यन्त विश्वास
को प्राप्त हुआ वह पक्षी उस पृथ्वीपति की भुजा में आकर अत्यन्त कुतूहल को
उत्पन्न कर रहा था ।

टिप्पणी—राजा द्वारा पकड़ लिये जाने पर उद्धारार्थ रुदन करता हंस
छूट कर फिर से उसकी पकड़ में स्वयम् आ गया है, यह निश्चय ही राजा
के प्रति हंस के विश्वास और अमय के कारण हुआ । यह कुतूहलजनक भी था
ही । क्या कारण है स्वयं हंस के सौट कर आने का ? इस दलोक में तिल-
तण्डुलवत् स्थित उत्प्रेक्षा-वृत्यनुप्रास की ससृष्टि है । कुतूहलोत्पत्ति में मुजहेतुता
मानते हुए पदार्थहेतुक काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा की ससृष्टि का षड्वक्त्राकार ने
निर्देश किया है ॥ ७ ॥

नृपमानसमिष्टमानस स निमग्जत्कुतुकामृत्वोमिषु ।

अवलम्बितकणशप्पुलीकलसीक रचयन्नवोचत ॥ ८ ॥

जीवातु—नृपमानसमिति । इष्टमानस प्रियमानस स राजहंस कुतुक
हर्षस्तदेव अमृत मुष्ठा तस्योमिषु निमग्जदन्तगत नृपमानस नलमन कर्णौ
सप्पुल्याविव कणशप्पुल्यो ते कलस्यो ते अवलम्बिते अवघोषते धृते च येन
तस्योचत 'नद्युतश्चे'ति कप् । रचयन् कुर्वन्नवोचत उक्तवान् । अले भग्जन्नपि
तरणार्थं बलमभवत्स्वते, तद्वत्कर्णं शप्पुली-कलस्यादित्युपमास्वरूपयो ससृष्टि ।

अन्वय — कुतुकामृत्वोमिषु निमग्जत् नृपमानसम् अवलम्बितकणशप्पुली-
कलसीक रचयन् इष्टमानस स अवोचत ।

हिन्दी—कृतूहलरूप अमृतहरियों में डूबते राजा के मानस को कर्णविवर
रूप कलसों का सहारा देता मानसरोवर-प्रिय वह (हस) बोला ।

टिप्पणी—राजा का मन, मानस-मानसरोवर है, विचित्र है कि 'मानस'
ही अहरियों में डूब रहा है । डूबते व्यक्ति को बचाने के लिए कलसों—घड़ों
का सहारा अनेकित होता ही है । भाव यह है कि राजा के कुतूहल को शांत
करता हनु बोला । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में उपमा रूपक की
समृद्धि है, विचार ने अनुप्रास-रूपक का निर्देश किया है और 'अमृत' को
'स्लिष्ट' कहा है । चंद्रकलाकार ने 'मानस' की द्विद्विक्ति के आधार पर कदा-
चित् यमक का भी उल्लेख किया है । विरोधानास भी है—'नृपमानस' में
'मानस' का अर्थ 'सरोवर' न कर्णके परिहासार्थ 'मन' करने से ॥ ८ ॥

मृगया न विगीयते नृपैरपि धर्मांगममर्मपारणैः ।

स्मरमुन्दर ! मा यदप्रजन्तव धर्म. न दयोदयोज्ज्वलः ॥ ९ ॥

जोवातु—मृगयति । धर्मांगममर्मपारणैर्धर्मशास्त्रतत्त्वपारदक्षिभिरिव 'अन्ता-
त्मन्ता-वदरपारसर्वाङ्गान्तेषु इ' इति ममेहंप्रत्यय । नृपैर्मृगया आखेटो न
विगीयते न गह्यते । तथापि हे स्मरमुन्दर ! मामत्यन इति यत् स त्यागस्तव
दयोदयेनोज्ज्वलो विमलो निरुपाक्षिज इति यावत् धर्मं मुहुतम् । न केवल-
मावारादेव मुन्दरोग्नि किन्तु धर्मतोऽपीति भाव ॥ ९ ॥

अन्वय—धर्मांगममर्मपारणै नृपै अपि मृगया न विगीयते, स्मरमुन्दर !
यत् माम् अत्यन्त स तव दयोदयोज्ज्वल धर्म ।

हिन्दी—धर्मशास्त्रों के धर्म में पारंगत नृप भी आखेट की निन्दा नहीं
करते, हे कान के समान सुन्दर (अथवा 'स्मर + सुन्दर' पदच्छेद करके 'हे
सुन्दर, स्मर कर') जो तूने मुझे छोड़ दिया, वह तेरा कहना की उत्पत्ति
से उज्ज्वल धर्म है ।

टिप्पणी—धर्मियों के लिए मृगया त्यागादि है वह निन्दनीय नहीं
होती, कर्णोप ही मानो आलो है । राजा ने जो हस का आखेट नहीं किया,
यह उसके कर्णपरायण होने का सूचक है । राजा उन से ही सुन्दर नहीं,
अतः कर्ण से भी सुन्दर । काव्यलिङ्ग अलंकार ॥ ९ ॥

अवलस्वकुलाशिनो क्षपात्रिजनीडद्रुमपीडित खगान् ।
अनवद्यतृणाद्दिनो मृगान् मृगयाऽघाय न भूमृता घनताम् ॥ १० ॥

जीवानु—ननु प्राणिहिना कथं न विगीयते तत आह—अवलेति । अव-
लस्वकुलाशिनो क्षपा 'दुर्वलस्वकुलघानिनो मत्स्या' इति प्रसिद्धिः, त्रिजनीड-
द्रुमपीडिनो विष्मोक्षफलभक्षगाशिनो म्वाश्रयवृक्षापीडाकरान् खगान् जनवद्य
तृणाद्दिन अनपराधितृणहिसकान् मृगान्, 'अतः सज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखम-
विता' इति मनुस्मृत्या तद्वृणादीनामपि पाणित्वात्तद्विसा पीड्येति भावः ।
सर्वत्रापि ताच्छील्ये णिनिप्रत्ययः, घनता हिमता भूमृता मृग्या अघाय पापाय
न भवति । तद्व्यस्य दण्डरूपत्वात् प्रत्युत्पाकरणे दोष इति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—अवलस्वकुलाशिनः क्षपान्, त्रिजनीडद्रुमपीडितः खगान्, जनवद्य
तृणादिभिः मृगान् घनता भूमृता मृगया अघाय न ।

हिन्दी—अपने कुल के निर्वल मीनो को खा जाने वाले मत्स्यों, अपने
ही घोंसले—वृक्ष को गंदा करनेवाले पक्षियों और निरपराध तृणाकुरों को
खाने वाले पशुओं को मारने वाले पृथ्वीपालका की मृगया पापनिमित्तिका
नहीं होती ।

टिप्पणी—'हावत है—'छोटी मछली को बड़ी मछली खा जाती है' ।
पक्षी भी जिस वक्ष पर घोंसला बनाते हैं, उसके फल फूल खा जाते हैं, बीट
आदि करके गंदा करते हैं । वेचारे तृण, घास आदि का क्या दोष है कि
मृगादि उनका विनाश किया करते हैं । पृथ्वीपालक यदि ऐसे कुलघानी, देव-
घाती और निर्दोष हताशों को दृष्ट देता है, तो उचित करता है । ये सब
राजाओं के मृगया विलास का औचित्य प्रमाणित करते हैं, किन्तु नल ने सबसे
बड़ा धर्म अपनाया—प्राणिमात्र पर दया, करुणा, क्षमा । विद्याधर के अनुसार
यहाँ अनुशास काव्यलिङ्ग, त्रिपादीपक अकार है । अक्षर-कार ने पदाय-
हेतुक काव्यलिङ्ग और अग्रानुसंज्ञा का मकर माना है ॥ १० ॥

यदवादिप्रमप्रियन्तव प्रियमाधाय नुनुत्सुरस्मि तन् ।
कृतमातपसञ्चर तरोरभिवृष्यामूनमनुमानिव ॥ ११ ॥

जीवातु—तथापि किमर्थं पुनरागतन्वयेत्यत आह—यदिति । तत्र यद-
प्रियमवादिपमवोचम् । प्रियमावाय प्रिय कृत्वा तदप्रियन्तरो कृत स्वकृतमा-
तपसन्तापम् अमृतमुदकमभिवृष्य 'पय कीलालममृतमि'त्यमरः । अशुमानिव
नुनुन्मुतोदितु प्रमाप्यु'मिच्छु, मुद-प्रेरण इत्यन्माद्धातो मन्त्रतातुप्रत्ययः ॥११॥

अन्वयः—यत् तव अप्रियम् अवादिपम् तत् प्रियम् आषाय तरो कृतम्
वातपमज्वरम् अमृतम् अभिवृष्य अशुमान् इव नुनुत्सु अस्मि ।

हिन्दी—जो मैंने आपको बुरा-मला कहा, उसका निराकरण मैं आपका
प्रिय कार्य करके उसी प्रकार चाहता हूँ जैसे किरणमाली सूर्य वृक्षों पर घूप
की झन्ना से उन्हें पीड़ित करने के पश्चात् अमृत जल बरसा कर करता है ।

टिप्पणी—अविव्य मे प्रिय करने का द्योतन । विद्याधर के अनुसार वृष्टात-
उपमा-परिवृत्ति अलंकार ॥ ११ ॥

उपनम्रमयाचितं हितं परिहृतुं न तवापि साम्प्रतम् ।

करकल्पजनान्तराद्विधेः शुचितः प्रापि स हि प्रतिग्रहः ॥ १२ ॥

जीवातु—तर्हि भवन्मोचनं सुकृतमेव मम पर्याप्तम् किं वृष्टोपकारेणेति न
वाच्यमित्याह-उपनम्रमिति । अयाचितमप्रायितमुपनम्रमुपनतं हितम् इह
चामुत्र चोपकारकं तवापि परिहृतुं न साम्प्रतम् युक्तम् । 'अयाचितं हितं
ग्राह्यमपि दुष्कृतकर्मणः' इति स्मरणादिति भावः । तदपि मादृशात् पृथग्जनान्
कथं ग्राह्यमत आह करेति । हि यस्मात्कारणात् न प्रतिग्रहः करकल्पङ्करस्या-
नीयमित्यर्थः । ईषदनमाप्तो कल्पप्रत्ययः, यज्जनान्तरं स्वयं यस्य तस्माच्छुचे-
शुद्धाद्विधेः ब्रह्मणः प्राप्तं न तु मत्त इति भावः । आप्नोते कर्मणि लुङ् ।
विधिरेव ते दाता अहं तस्योपकरणमात्रम्, अतो न याञ्चालाघवन्तवेति भावः ।

अन्वयः—अयाचितम् उपनम्रं हितं तव अपि परिहृतुं साम्प्रतं न हि स
प्रतिग्रहः करकल्पजनान्तरान् शुचितं विधेः प्रापि ।

हिन्दी—अप्रायित, उपस्थित प्रिय (वस्तु) आप जैसे समर्थ राजा को
भी छोड़ना उचित नहीं है, क्योंकि वह दान हस्तस्थानीय (हाथ जैसे) अन्य
व्यक्ति (मुझ हस) के माध्यम से शुद्ध भाम्य से ही प्राप्त हुआ है ।

टिप्पणी—नल जैसे समर्थ ध्यस्त किसी से याचना नहीं करते, दान नहीं लेते, इस कारण हंस जो कुछ प्रिय देना अथवा करना चाहता है, उससे उपहृत होने में सकोच हो सकता है। इस मकोच के निराकरणार्थ हंस का यह तर्क है कि समर्थ व्यक्ति को भी माग्यवशात् बिन मांगे मिले अभीष्ट का ग्रहण करना अनुचित नहीं है। इसके अतिरिक्त शुभाशुभ प्राप्ति में दैव ही कारण है, उसका परिहार कोई कर ही नहीं सकता, सो राजा को भी स्वीकारने में सकोच करना तर्कसमत नहीं है। और हम तो एक प्रकार से बहदय दैव का हाथ है, जिसके माध्यम से नल का प्रियसाधन हो रहा है। काव्यरत्न अलंकार ॥ १२ ॥

पतगेन मया जगत्पतेरुपकृत्यै तव किं प्रभूयते ? ।

इति वेधि, न तु त्यजन्ति मा तदपि प्रत्युपकर्तुं मर्त्तय ॥ १३ ॥

जीवातु—ननु सावर्भौमस्य मे तिरश्चा त्वया किमुपकरिष्यते, तत्राह—पतगेनेति । पतगेन पक्षिमात्रेण मया जगत्पते सावर्भौमस्य तवोपकृत्यै उपकाराय प्रभूयते क्षम्यते किं न भूयत एवेत्पर्य, भावे लट्, इति वेधि अक्षमत्वं जायामि । तदपि तथाप्यर्त्तयो यास्तु त्वया विनिवृत्ता इति भाव । मा प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति प्रत्युपकरणाय प्रेरयन्तीत्यर्थ । अत्र पतगोऽप्यह महोपकारिणस्ते महोपकार करवाणीति भाव ॥१३॥

अन्वय—जगत्पते तव उपकृत्यै मया पतगेन किं प्रभूयते ? इति वेदिम्, तदपि अर्त्तय तु मां प्रत्युपकर्तुं न त्यजन्ति ।

हिन्दी—सत्कार के स्वाभी तेरा उपकार में सामान्य पक्षी क्या कर सकता है ? (नहीं कर सकता) यह मैं समझता हूँ, तथापि तेरा प्रत्युपकार करने की तीव्रतम आनुरागताएँ मुझे तही छोड़ती ।

टिप्पणी—एक चक्रवर्ती नरेश का एक सामान्य निरीह पक्षी उपकार क्या करेगा ? यह तथ्य जानन बूझते हुए भी हम इतना विवश है राजा के उपकार का बदला देने के लिए कि प्रत्युपकार की उद्दाम इच्छा उसे पौष्टादायन प्रतीत हो रही है, इन ८ समर्थ-जैसे निरीह पक्षी को भी राजा के हितसाधनार्थ विवश कर रही है—प्रेरित कर रही है । हेतु और अनुप्रास ॥ १३ ॥

अचिराद्दुपकर्तुं राचरेदयवात्नीपयिकीमुपक्रियाम् ।

पृथुरित्यमथागुरस्तु सा न विद्येते विदुषामिह ग्रह ॥१४॥

जीवानु—जयवा यथाशक्तिपक्षोऽन्वित्याह—अचिरादिनि । अथवा उपकर्तुं—
चिराद्दिलम्बादुपाय एवौपयिक, विनयादित्वात् स्वायं ढक् 'उपघाया
ह्रस्वञ्च' इति ह्रस्व, तत आगता औपयिकी तामात्मीपयिकी स्वोपायसाध्या-
मित्यर्थं, 'तत आगत' इत्यप् प्रत्यये 'टिड्ढापत्रि'त्यादिना टीप् ।
उपक्रियानाचरेत् प्रत्युनकार कृपात्, चरघातोर्विधिलिङ् । इत्यमेव सति
सोऽश्रिया पृथुरविकाऽस्तु अथ अथवा अगुरल्पाऽस्तु विदुषा विवेकिनामिहास्मिन्
विषये विद्येते ग्रह आग्रहो न । गुणग्राहिणो विवेकिन कृतज्ञतामेव अस्य
पश्यन्ति, न दोषमन्विष्यन्तीत्यर्थं ॥१४॥

अन्वय — जयवा अचिरान् उपकर्तुं औपयिकी क्रियाम् आचरेत्, इत्य
सा पृथु अथ अगु अस्तु, इह विदुषा ग्रह न ।

हिन्दी - इससे अतिरिक्त यह भी है कि अदिलम्ब उपकारक का प्रिय
(प्रत्युपकार) अपने द्वारा साध्य उपाय से करे इस स्थिति में वह कार्य
बड़ा है अथवा छोटा, इसका मन्तव्यदारी में कोई आग्रह नहीं होता ।

टिप्पणी—भाव यह है कि प्रत्युपकार तुरन्त करना उचित है, छोटे-बड़े
की चिन्ता किये बिना अपनी शक्ति भर उपकारी का प्रिय साधन अदिलम्ब
करना विद्वज्जनानुमोदित है । अस्तुत-प्रशसा और ऐकानुश्रुति ॥ १४ ॥

भविता न विचारचारु चेत्तदपि श्रद्धामिद मदीरितम् ।

खगवागियमित्यतोऽपि किं न मुद दाम्यनि कौरगीन्वि ॥ १५ ॥

जीवानु—अथ स्ववाक्रे आदर याचते—भविनेति । हे नृप । इद बक्ष्यमाण
मदीरित मद्बच मद्बचन विचारे दिमस्यं चारु मुक्त्वा न भविष्य न भविष्यति
चेत्तदपि अविचारितरमणीयमपि श्रद्ध्य श्रोतव्यम् । इय खगवागित्यतोऽपि हेतो-
कौरगी मुक्त्वागिव मुद किं न दास्यति दास्यत्येव । प्रयोजनात्तरामावेऽपि
कौतुकादपि श्रोतव्यमित्यर्थं, वदते लृट् ॥ १५ ॥

अन्वय — इद मदीरित विचारचारु न भविता चेत् तदपि श्रद्ध्यम्, इय
खगवाक्, इत्यत अपि कौरगी इव किं मूढु न दास्यति ?

हिन्दी—यह जो मेरा कथन समझ है विचार करने पर सुन्दर न प्रतीत हो, तथापि सुनना तो उचित ही है, 'यह पक्षी की वाणी है'—इससे भी क्या तोते की वाणी के तुल्य आनन्द न देगी ? (देगी ही) ।

टिप्पणी—मले ही हंस का कथन मीमांसा करने पर महत्वपूर्ण न प्रतीत हो, तथापि राजा को इस कारण ही मुन लेना चाहिए कि ताते के समान यह हंस भी मनुष्य की वाणी बोल रहा है। मनुष्य-भाषा बोलते हंस को सुनना अमहत्त्व का होने पर भी एक सुन्दर आश्चर्य की तुष्टि तो करता ही है। उपमा और अनुप्रास ॥ १५ ॥

स जयत्यरिसार्यमार्यकीकृतनामा किल भीमभूपति ।

यमवाप्य विदमंभू प्रभु हसति द्यामपि शक्रमर्तुकाम् ॥ १६ ॥

जीवातु—अथ यद्वक्तव्यं तदाह—स इति । अर्थेन अभिधेयेन सह वर्तते इति सार्यकम्, 'तेन सहेति तु-ययोग' इति बहुव्रीहि, 'वोपसजनस्ये'ति मह-शब्दस्य विकल्पात् मभाव 'शेषाद्विभाषे'ति क्व समासात्, तत्तद्विचरभूत-तद्भावे । अरिसार्येषु शत्रुमङ्घेषु सायकीकृत नाम भीम दन्याग्या येन स तथोक्त च प्रसिद्ध दिव्यत्यस्मादिति भीम 'भियो म' इभ्यपादानार्थे निपात-नान्मप्रत्यय औणादिक, भीम इति भूपति नृपः जयति किल सर्वोत्कर्षेण वर्तते खलु । विदमंभूविदमंभेदेन य भूपति प्रभु भक्तारमवाप्य शक्रो भर्ता यस्यास्ता शक्रमर्तुका 'नशूतश्चे'ति कपि द्यादिवमपि हसति, किमुतान्यमर्तु-कदेशानित्यय । खियो हि भर्तुं कृत्वापादास कुर्वन्तीति भावः । अत्र विदमं-मुक्तेऽपि द्युहासासम्प्र-धेऽपि मन्व-धोक्तेरतिशयोक्ति ॥ १६ ॥

अन्वय — अरिसार्यकीकृतनामा स भीमभूपतिः जयति किल, य प्रभुम् अवाप्य विदमंभू शक्रमर्तुका द्याम् अपि हसति ।

हिन्दी—शत्रुआ के दण्ड में जिनने (मयकर युद्ध करके अपना भीम) नाम माधक कर दिया है, वह भीम भूपास सवया जय प्राप्त करे, जिसको स्वामी पाकर विदमं की भूमि द द जिसका स्वामी है, ऐसी स्वगम् का भी उपहास करती है ।

टिप्पणी—विदग्ध भूमि का स्वामी भीम पराब्रह्मी शासक है, वह प्रजा-
रजक भी है, समृद्ध भी है, जिसके सम्मुख इन्द्र और उसकी स्वर्ग भूमि भी नगण्य
है। विद्याधर ने यहाँ अनुप्रास और उपमा अलंकार का निर्देश किया है,
मल्लिनाथ ने अस्वभाव्य में सुस्वभाव्य कथन के आधार पर अतिशयोक्ति का, चद्र-
कलाकार अतिशयोक्ति और अर्थापत्ति की समृद्धि मानते हैं ॥ १६ ॥

दमनादमनाक् प्रसेदुपस्तनयां तय्यगिरस्तपोधनात् ।

वरमाप स दिष्टविष्टपत्रितयानन्यसद्गुणोदयाम् ॥ १७ ॥

जीवातु—दमनादिति । स भीमभूपतिरमनागन्तव्य प्रसेदुपो निजोपान-
नया प्रसन्नात् 'नापाया सदवसश्चुव' इति सदेष्टि क्वस्वादेश । दमनादम-
नाख्यात् तय्यगिर अमोषवचनात् तपोधनाख्ये दिष्टाना कालाना विष्टपाना
लोकानाञ्च पत्रितयोरनन्यसद्गुणी गुणोदया कालत्रये लोकत्रये चानन्यसाधा-
रणप्रकथां तनया दुहितर वरमाप । वरत्वेन लब्धवानित्ययं । 'देवाने वर-
येच्छं त्रिषु बलीवे मनाक्प्रिय' इत्यमर ॥ १७ ॥

अन्वय —सः अमनाक् प्रसेदुपः तय्यगिरः तपोधनात् दमनात् दिष्टविष्टप-
त्रितयानन्यसद्गुणोदया तनया वरम् आप ।

हिन्दी—ठस (नोमभूपति) ने अत्यन्त प्रसन्न, सत्यवक्ता (जिनका बचन
झूठा न हो) तपस्वी दमन से कालत्रय (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) और
लोकत्रय (स्वर्ग, मर्त्य, पाताल) में जो असाधारण रूप-गुणवती है, ऐसी पुत्री
का वर पाया ।

टिप्पणी—दमयन्ती अनुपम रूप गुणवती है,—यह कह कर नल की उसके
प्रति उत्कृष्टा जागरित करने की चेष्टा । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और
व्यतिरेक, चद्रकलाकार ने केवल 'दमनादमनाक्' के यमक का निर्देश किया है ॥

भुवनत्रयसुभ्रुवाममी दमयन्ती कमनीयतामदम् ।

उदियाय यनस्तनुश्रिया दमयन्तीति ततोऽभिधा दधौ ॥ १८ ॥

जीवातु—अथास्या नामधेय व्युत्पादयनेवाह—भुवनत्रयेति । असौ वर-
प्रसादलब्धा तनया कर्त्री तनुश्रिया निजशरीरसौ दयेण करणेन भुवनत्रयसुभ्रुवा
र्त्रलोकयसुन्दरीषा कमनीयतामद सौन्दर्यगर्वं दमयती अस्त गमयन्ती दमेर्ष्य-

न्ताद् 'न पादमि'त्यादिना कर्त्रभिप्राय आत्मनेपदापवाद परस्मैपदप्रतिषेधेऽ-
प्यत्रभिप्रायविवक्षाया परस्मैपदे लट् शनादेश । उदियाय उदिता, इणो
लिट्, ततस्तस्मादेव िमित्ताह्मयन्तीत्यभिधामाख्या दधौ, दधातेलिट् ॥१८॥

अन्वय —यन असौ भुवनत्रयमुभ्रुवा कमनीयतापद तनुधिया दमयन्ती
उदियाय तत 'दमयती' इति अभिधा दधौ ।

हिन्दी—क्योकि यह (भीमतनया) तीनों भुवनो की सुनयनाओ के
सौन्दर्यं गर्भ को तन की शोभा से दमन करती उत्पन्न हुई, इससे (इसका)
'दमयती'—यह नाम रखा गया ।

टिप्पणी—पूर्वं श्लोक मे दमयन्ती का त्रिलोक सुन्दरियो मे अप्रतिम बताया
गया था यहाँ उसी की एक प्रकार से पुष्टि की गयी है । विद्याधर ने यहाँ
उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है, किन्तु त्रिलोक सुन्दरियो से दमयन्ती की श्रेष्ठता
प्रतिपादित होने के कारण चद्रकलाकार यहाँ व्यतिरेक अलकार मानते हैं ॥१८॥

श्रियमेव पर धराधिपाद् गुणसिन्धोर्दत्तामवेहि ताम् ।

व्यवधावपि या विधो कला मृडचूडानिलया न वेद क ॥ १९॥

जीवातु—अयं क्विशातिश्लोकैश्चिकुरादारम्य दमयती वर्णयति—श्रियमिति ।
हे नृप ! ताम् दमयन्ती गुणसिन्धो गुणसागरादधिपाङ्गीमनरे द्राहुदितामुत्पन्ना
श्रिय साक्षाल्लक्ष्मीमेव पर ध्रुवमवेहि जानीहि, अबपूर्वादिणो लोटि 'सेहिरि'ति
ह्यादेशे द्वित्वान् भावघातुक्गुण, महितायाम् 'आद्गुण' अत्र केवलाव-
पूर्वस्य इणो शानार्थत्वादाङ्प्रश्लेषे तदलाभात्, प्रश्लेषेऽपि 'ओमाडोश्चे'ति
पररूपमिति केषाञ्चित्प्रक्रियोपयासो वृथा । प्रधान्य त्याग 'अवैहीति वृद्धि-
रवने'ति वामनसूत्रमप्यनाङ्प्रश्लेष एव भ्रान्तिप्राप्तवृद्धिप्रतिषेधपर गुण एव
युक्त इति व्याख्यानादयथा 'ओमाडोश्चे'ति, पररूपमेव युक्तमित्युच्येत इति ।
न च दशान्यवधानाना न श्रीरेवेति वाच्यमित्याह—व्यवधौ व्यवधाने सत्यपि 'उपसर्गो
पो किरि'ति किरत्यय मृडचूडानिलया हरशिलाश्रया कला विधोरिन्दोरेव
कला को वा न वेद ? सर्वेऽपि वेदैवेत्यय, 'विदो लटो वे'ति वंकिपको
जलादत्त । यथा हरशिरोगतापि वरुण च द्रवत्सैव, तथा भीमभवनोदिताऽप्येया
श्रीरेवेति सौ दर्शयित्वायोजित । अत्र श्रीवल्लभो नृपमृष्टो वाक्पदमे विम्बप्रति-

विम्बनावेन सानान्धधर्मवत्तया निर्दिष्टाविति दृष्टान्तालङ्कारः । 'यत्र वाक्यद्वये विम्बप्रतिविम्बवयोच्यते । सानान्धधर्मं वाच्यते स दृष्टान्तो नियम्यते ॥' इति लज्जात् ॥ १९ ॥

अन्वय — ता पर गुणसिन्धो घराधिनात् उदिता थियम् एव जवेहि, वा व्यवधौ जनि मूढचूडानिरुपा विधो कला क न वेद ?

हिन्दी—हे नल, जाप उन्हे गुणों के सागर पृथ्वीपति से सनुत्पन्न निरवयव से लक्ष्मी ही समझिए, रूपका अन्तराय होने पर भी महादेव के मस्त्रक पर शिञ्जका आवास है, उस चद्र की कला का कौन नहीं जानता ? (सब ही जानते हैं ।)

टिप्पणी—घरती की लक्ष्मी दमयन्ती के विषय में सर्वत्र म्याति है, प्रपञ्ज अथवा अरन्धस रूप से सभी लक्ष्मी के विषय में जानते हैं, जैसे अरन्धस महादेव की चूडालया चद्रकला से सभी परिचित होते हैं, अतः राजा नल भी दमयन्ती के विषय में सब जानते ही होंगे । अधिक कहना व्यर्थ है । विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक और आशेन अलंकार हैं, मन्दिनाप के अनुसार अतिशयोक्ति और दृष्टान्त, वसोक्ति दमयन्ती को 'भीमनवनोदिता श्री' कहकर सौन्दर्यातिशय रूपक है और 'श्री-चद्रकला' तथा 'भीम महादेव' सामान्य धर्म होने से विम्ब प्रतिविम्ब नाव से निर्दिष्ट है । चद्रकलाकार ने रूपक-दृष्टान्त को नमृष्टि मानी है ॥ १९ ॥

चिह्नुरप्रकरा जयन्ति ते विदुषो मूर्धनि सा विनत्ति यान् ।

पशुनाज्यपुरस्कृतेन तत्तुलनामिच्छतु चामरेण क. ॥ २० ॥

जोवानु—चिह्नुरप्रकरा इति । चिह्नुरप्रकरा केससमूहाः जयन्ति सर्वोन्वयौ वर्तते, यान् वेत्तीति विदुषो विज्ञेयज्ञा 'विदे शतुर्वंसुः' 'उगितरचे'ति ईप् 'वनो सम्प्रसाराम्' । सा दमयन्ती मूर्धनि विनत्ति, विद्वद्गृह एव सर्वस्याप्युत्कर्षहेतुरिति भाव । अतएव पशुना तिरस्चा चमरीमृगेणाप्यपुरस्कृतेनानाशेन चामरेण चमरीपुच्छेन सह तत्तुलनान्तेषां चितुराणां समीकरण क इच्छतु ? न कोऽपीत्यर्थ । सम्भावनाया लोट् । जत्र तुलनानिषेधस्यापुरस्कृत-पदार्थहेतुस्तत्त्वान्यपार्थहेतुक काव्यलिङ्गम्, 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गमुदाहृतमिति' लज्जात् ॥ २० ॥

अन्वय —विदुषी सा यान् मूर्धनि विभक्तिं ते विकुरप्रकरा जयन्ति, पशुना अपि अपुरस्कृतेन आपरेण तत्तुलना कः इच्छतु ?

हिन्दी—बुद्धिमती वह जिन्हें चिरोघार्य किये हैं, वे जयी हैं (सर्वोत्कृष्ट) हैं) केश-समूह, पशु (सुरा माय) ने भी जिन्हें पुरस्कृत नहीं किया (पृष्ठ-भाग पूँछ में रखा) उन चमरी-केशों से कौन दमयन्ती की विकुरराशि को तुलना करना चाहेगा ? (कोई नहीं ।)

टिप्पणी—चमरी के तुलनायोग्य केशों से भी दमयन्ती के विकुरजाल की श्रेष्ठता प्रमाणित करने का अद्भुत तर्क । मल्लिनाथ के अनुसार पदार्थहेतुक काव्यालिंग अलंकार और विद्यापर के अनुसार अतिशयोक्ति और व्यतिरेक । काकु वक्रोक्ति ॥ २० ॥

स्वदृशोर्जनयन्ति सान्त्वना खुरकण्डूयनकैतवान्मृगा ।

जितयोरुदयत्प्रमीलयोस्तदखर्वेक्षणशोभया भयात् ॥ २१ ॥

जीवातु—स्वदृशोरिति । मृगा हरिणास्तस्या दमयन्त्या अखर्वयोरप्यत-योरीक्षणयोरदणो. शोभया कर्त्या जितयोरत एव भयादुदयत्प्रमीलयो रूप्य-माननिमीलनयो स्वदृशानिजनयनयो खुरं शफे 'शफ क्लीवे खुर पुमानि' त्यमर । कण्डूयनस्य कर्पणस्य कंतवाच्छलात्सात्वना जनयन्ति लालना कुर्वन्ति । यया लोके परपराजिता निमीलिताक्षा स्वजनैर्भयनिवृत्तय वरत-लास्फालनादिना परिसान्त्वयन्ते तद्वदिति भाव । अत्र कंतवशब्देन कण्डूयन-मपहृन्त्य सान्त्वना रोपादपह्लवभेद ॥ २१ ॥

अन्वय —मृगा तदखर्वेक्षणशोभया जितयो भयात् उदयत्प्रमीलयो स्वदृशो खुरकण्डूयनकंतवात् सात्वना जनयन्ति ।

हिन्दी—हरिण उसके विद्याल नेत्रों की शोभा से विजित हो भय से मूर्द गये (तद्वा से निमीलित अपने नेत्रों को खुर से खुजाने के व्याज से सात्वना देते हैं ।

टिप्पणी—हारे व्यक्ति को सहलाकर सात्वना दी जाती है, सो मृग भी दमयन्ती के विद्याल नयनों में पराजित अतएव त्रस्त हो मूर्दे नेत्रों को खुर से

सहला कर सात्वता देते हैं। उन्द्रालु मृग को खूबलाना मृग-स्वभाव है। दश-
नीय—‘शृङ्गेण च स्पष्टनिमीलिताक्षीं मृगीमकच्छुद्यत वृष्णसारः’। (कालि-
दास, वृनारत्नभव)। मल्लिनाथ के अनुसार अपह्नुति-अलकार और विद्यापर
के अनुसार मनासोक्ति तथा अपह्नुति, चन्द्रकलाकार के अनुसार कंतवापह्नुति
प्रतीनमानोद्देशा की सृष्टि ॥ २१ ॥

अपि लोकयुग दशावपि श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि ।

श्रुतिगामिनया दमम्बसुर्व्यतिभाते सुतरा धरापते । ॥ २२ ॥

जीवानु—अतीति । हे धरापते ! दमो नाम भीमस्यैवात्मजस्तस्य
स्वमुदमन्त्या लोकयुग मातापितृकुलपुग श्रुतिगामितया वेदप्रसिद्धतया सुतरा
व्यतिनाते परस्परोत्कर्षेण भाति तथा दृशौ नेत्रे अपि श्रुतिगामितया कान्त-
विश्रान्तनया व्यतिभाते परस्परोत्कर्षेण नातस्तया श्रुता श्रुतिप्रसिद्धा। ते च
ते दृष्टा लोकप्रसिद्धाश्च विशेषणयोरपि विशेषणविशेष्यभावविवक्षाया विशेष-
णसमान, ते रमणीगुणा स्त्रीधर्मा अपि श्रुतिगामितया जनै श्रूयमाणतया
‘श्रुति श्रोत्रे तथाभ्याये वार्ताया श्रोत्रकर्मणी’ति विश्व । सुतरा व्यतिभाते
व्यतिहासे भाति ! ‘आत्मनेपदेष्वन्त’ इति इत्यादादेशः, सर्वत्र ‘कर्त्तरि
कर्मव्यनिहार’ इत्यात्मनेपदम्, अदादित्वाच्छपो लुक्, सर्वत्र टेरेत्वम् । अत्र
लोकयुगादीनात्रयाणामपि प्रकृतत्वः केवलप्रकृतविषयतुल्ययोगिजाभेद ।
‘प्रस्तुताप्रस्तुतानाञ्च केवल तुल्यवर्त्मनः । जीषम्य गम्यते यत्र सा मता
तुल्ययोगिते’ति लक्षणात् ॥ २२ ॥

अन्वयः—धरापते, दमस्त्वन्तु लोकयुग, दृशौ, श्रुतदृष्टा रमणीगुणा अपि
श्रुतिगामितया सुतरा व्यतिभाते ।

हिन्दी—हे धरणी के स्वामी, दमम्बसा (दमयन्ती) के दोनों कुल
(मातृ पितृ कुल), दोनों नेत्र और सुने देखे रमणीजनोक्ति सौन्दर्यादि गुण
भी श्रुतिगामी (जगद्विख्यात मानृपितृकुल), कान तक फैले (विद्याल
नदन) तथा लोकवर्णन-विषय (रमणीगुण) होने से परस्पर अत्यन्त सुसोमित
होते हैं ।

टिप्पणी—भाष यह है कि दमयन्ती के मातृ-पितृकुल विख्यात हैं, वह विशालनयना, आकर्णविशालनेत्रा है, उसके नारीजनोचित रूप गुण की चर्चा लोक-जीवन का अंग है, अनेकार्थ 'श्रुति' शब्द का प्रयोग कर कवि ने पदार्थों की उत्कृष्टता का एक ही कारण निर्देश किया है—'श्रुतिगामिता' 'श्रुत' (पुराणादि, सामुद्रिक शास्त्रादि में वर्णित) तथा 'दृष्ट' (किन्हीं सुन्दरियों में देखी गयी) जो नार्मुचित विशेषताएँ हैं, वे सब दमयन्ती में हैं। इस श्लोक में 'व्यतिभाते' (वि = अति + मा) का प्रयोग चमत्कारपूर्ण है, 'प्रकाश'-कार के अनुसार यह 'वचनश्लेष' है, अर्थात् तीनों वचनों में एक सदृश रूप-व्यति + मा + लट् + त = व्यतिभाते (एकवचन)। व्यति + मा + धाताम् = व्यतिभाताम्, 'दित् आत्मने पदाना टेरे' (अष्टा ३।४।७९) से एत्व = व्यतिभाते (द्विवचन)। व्यति + मा + क्ष = अत् तथा पूर्वोक्त प्रणाली से एत्व (बहुवचन)। इस प्रकार एक 'व्यतिभाते' क्रिया तीनों कर्ताओं से सम्बन्धित हो गयी—(१) लोकयुगम्—एकवचन, (२) दृशो—द्विवचन, (३) रमणीगुणा—बहुवचन। 'व्यतिभाते' का अर्थ है कर्म विनिमय से भासित होना। इस प्रकार पितृकुल मातृकुल से व्यतिभासित है और पितृकुल मातृकुल में, दक्षिण नेत्र की शोभा को बायाँ नयन स्वीकारता है, वामनेत्र की दक्षिण नेत्र, जो शास्त्रों में वर्णित (श्रुत) गुण हैं, वे दमयन्ती में दृष्ट—देखे गये हैं, जो दमयन्ती में देखे जाते हैं—'दृष्ट' हैं, वे ही शास्त्रों में 'श्रुत' हैं। अथवा इन सब युगों को परस्पर-एक दूसरे से घोसा है—मातृकुल पितृकुल से सुशोभित है, पितृकुल मातृकुल से, इसी प्रकार दोनों नेत्र अन्योन्यतः। शास्त्रादि में 'श्रुत'—वर्णित रमणीगुणों की सार्थकता दमयन्ती में 'दृष्ट' होने से है और जो उसमें दृष्ट हैं, वे ही शास्त्रविख्यात हैं। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में तुल्य-घोषिता अलंकार का उल्लेख किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ वचन श्लेष-त्रिमाकारक और दीपक की समृष्टि है। अद्वक्लाकार के अनुसार वचनश्लेष-तुल्ययोगिता का एकाग्रयानुप्रवेश सत्तर है ॥ २२ ॥

नलिन मलिन विवृष्वतो पुपतीमस्पृशती तदीक्षणे ।

अपि सञ्जनमञ्जनाश्विते विदधाते रुचिगवन्दुविषम् ॥ २३ ॥

जीवातु—नलिनमिति । नलिन पद्म मलिनमचाह विवृष्वती कुर्वाणे पृषती मृगीमस्पृशती जसमानत्वात् दूरदेव परिहार इत्यर्थं, तदीक्षणे तल्लोचने अञ्जनाञ्चिते कञ्जलपरिष्कृतं सती सञ्जन सञ्जरीटास्य सञ्जनामकः पक्षिविशेष 'सञ्जरीटस्तु सञ्जन' इत्यमर । तमपि रुचिगर्वदुर्विध चास्त्वगर्वनिम्ब विदधाते कुर्वाते, सर्वथाप्यनुभेये इत्यर्थं । 'निस्वस्तु दुर्विधो दीनो दरिद्रो दुर्गंतोऽपि स' इत्यमर । ईक्षणयोर्नलिनादिमलिनीकरणसम्बन्धे सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति, तथा चोपमा व्यज्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनि ॥

अन्वय—नलिन मलिन विवृष्वती, पृषतीम् अस्पृशती अञ्जनाञ्चिते तदीक्षणे सञ्जनम् अपि रुचिगर्वदुर्विध विदधाते ।

हिन्दी—कमल को मलिन बनाने वाले, हरिणी की अगणना करनेवाले काजल लगे उसके नेत्र सजन को भी सौन्दर्याभिमान से रहित बना देते हैं ।

टिप्पणी—नेत्रों के प्रायः तीन उपमान हैं, कमल, हरिणनयन, सजन । दमयन्ती के नयनों के सम्मुख तीनों हीन हैं । अन्वय भेद से इसके अन्य अर्थ भी होते हैं । 'पृषती' का अर्थ हरिणी भी है और काजल लगाने की शलाका (सलाई) भी । इस प्रकार एक यह अर्थ हुआ कि काजल की शलाका का स्पर्श किये बिना इसके विद्याल काजल-रहित नयन कमलों को फीका कर देते हैं, अञ्जनसञ्चित होकर तो सजन का भी सौन्दर्य-गर्व खर्व कर देते हैं । और भी जयं हो जाते हैं—'मलिन विवृष्वती' अर्थात् स्वगत श्याम गुण का दृष्टिवश प्रसार करती 'नलिन' पर भी श्यामता बिखेर कर उसे मलिन बना देती है अथवा 'मलिन मलिन रुचिगर्वदुर्विध विदधाते', नीलोत्पल का सौन्दर्य गर्व खर्व कर देती है । 'अस्पृशती तदीक्षणे' विस्तार को अप्राप्त उसके नेत्र हरिणी का सौन्दर्य गर्व खर्व कर देते हैं, कमल को मलिन कर देते हैं, जब विस्तार पाते हैं, तो दुष्कृष्ण, अतिमरल, अतिचञ्चल सदन का भी सौन्दर्याभिमान भग हो जाता है । भाव यह है कि दमयन्ती के नेत्रों के सम्मुख कोई उपमान उहरता नहीं । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ असम्बन्ध में सम्बन्ध-बचन रूपा अतिशयोक्ति से उपमा व्यञ्जित होती है, अथ अलङ्कारध्वनि है, विद्याधर के अनुसार छेका-

नुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार हैं, चंद्रकलाकार ने अतिशयोक्ति-व्यतिरेक के अगाधिभाव से सकर का उल्लेख किया है ॥ २३ ॥

अधर खलु, विम्बनामक फलमस्मादिति भव्यमन्वयम् ।

लभतेऽधरविम्बमित्यद. पदभस्या रदनच्छद वदत् ॥ २४ ॥

जीवातु—अधरमिति । अधरविम्बमित्यद पदम् अधर विम्बमित्येत्युप-
मित्तसमासाश्रयणेन स्त्रीणामधरेर्पुंभ्यत्पद प्रयुज्यते तदित्यथ । अस्या दमयन्त्या
रदनच्छदम् ओष्ठमविदधत् तदभिधानाय प्रयुक्त सदित्यथ । विम्बनामक फल
विम्बमस्माद्दमयन्तीरदनच्छदादधर किलापकृष्ट खल्विति अधरशब्दस्यापकृष्टा-
र्यत्वे अधर विम्ब यस्मात्तदिति बहुव्रीहिसमासे च सति भव्यमवाधितमन्वय
वृत्तिपदार्यसमर्गलक्षण लभते, अथवा समर्थसमासाश्रयणे 'समर्थं पदविधिरि'ति
समर्थपरिभाषा भज्येत, तर्हि नोपमा स्यादिति भाव । अन दमयन्ती-
दत्तच्छदस्य विम्बाधरीकरणासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति पूर्ववत्
ध्वनिश्च ॥ २४ ॥

अन्वय —अधरविम्बम् इति अद पदम् अथा रदनच्छद वदत् विम्ब-
नामक फलम् अस्मात् अधर खलु—इति भव्यम् अन्वय लभते ।

हिन्दी—'अधर विम्ब' (अधर विम्ब के सदृश है) यह पद (चन्द्र) इस
(दमयन्ती) के ओष्ठधर के अभिधान के निमित्त प्रयुक्त होता हुआ 'विम्ब नाम
का फल इस ओष्ठ में निश्चयत अधर (निम्न) है'—समीचीन अन्वय को
प्राप्त करता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के रदन च्छद के सम्मुख रक्षण विम्बफल भी हीन
है, यह कह कर कवि उपमान (विम्ब) से उपमेय (ओष्ठ) की उत्कृष्टता
सिद्ध करना चाहता है । इस भाव के लिए उसने एक अनूठी कल्पना की है ।
सामान्यत 'अधर-विम्ब' का अर्थ 'अधर विम्ब के समान है'—बनने के लिए
यह कर्मधारय समास से निष्पन्न शब्द माना जाता है—'अधरो विम्ब इव', किंतु
दमयन्ती के सदृश में कवि के अनुसार यह समास उपयुक्त नहीं होगा क्योंकि
उसका ओष्ठ विम्ब से श्रेष्ठ है, वहाँ बहुव्रीहि समास बनने पर ही चन्द्र और

अर्थतः नयता वा सकेंगी—'अधर (निम्नतरम्) विम्ब यस्मात् तत्'—निवृष्ट है विम्बकृत विषये । इस प्रकार ही अर्थ में उपमुक्ता वा सकेंगी । विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा है, किन्तु मल्लिनाथ पूर्वदशोक के तुल्य ही इसमें भी व्यतिशयोक्ति और अलंकार-ध्वनि मानते हैं, चद्रकलाकार व्यतिरेक ॥ २४ ॥

हृतभारमिवेन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय वेधसा ।
कृतमध्यविल विलोक्यते घृतगम्भीरखनीखनीलिमि ॥ २५ ॥

जीवानु-हृतसारमिति । इन्दुमण्डलं दमयन्तीवदनाय तन्निर्माणयेत्यर्थः । 'क्रियायोरपदस्वे'ति चतुर्थी, वेधसा हृतसारमुद्घृतमध्याङ्कमिव, कुत ? कृतमध्यविल विहितमध्यरन्ध्रमत एव घृतो गम्भीरखनीखनीलिमि निम्नमध्य-रन्ध्राकाशस्य नीलिमा नैल्पन्त्या विलोक्यते, 'खनि' खिगानाकार स्वादि'-त्पमर । 'कृदिराकाशक्तिर' इति डोप् । अत्र कलङ्कापह्लवेन खनीलिनारो-पादपट्टनवभेदः, स च कृतमध्यविलमित्येतत्सदार्थहेतुककाव्यलिङ्गानुप्राणितः, तदपेक्षा चेय हृतसारमित्युत्प्रेक्षेति सङ्करः । तथा चापभा व्यज्यत इति पूर्ववत् ध्वनि ॥ २५ ॥

अन्वय — इन्दुमण्डल दमयन्तीवदनाय वेधसा हृतसारम् इव कृतमध्यविलं घृतगम्भीरखनीखनीलिम विलोक्यते ।

हिन्दी—ऐसा प्रतीत होता है—विषादा द्वारा दमयन्ती के मुख की संरचना के निमित्त चन्द्रविम्ब का श्रेष्ठ जस ले लिया गया, अतः उसके मध्य में छिद्र हो गया, विसर्पे (कलक चिह्न रूप में) उस गहरे गड्ढे में आकाश की नीलिमा दिखायी पड़ रही है ।

टिप्पणी—चद्रमा का कलङ्क वस्तुतः कलक-चिह्न नहीं है, यह तो दमयन्ती-मुख-रचना के लिए ले लिये गये उसके श्रेष्ठांश के अभाव में पड़े गतं के पीछे से दीखती नमोमण्डल की नीलिमा है—इस शक्ति से कवि प्रतिपादित करना चाहता है कि दमयन्ती-वदन निष्कल चद्र के श्रेष्ठांश के सदृश सम्भव है, यह चद्र उसके सम्मुख हीन है । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अनुप्रास, मल्लिनाथ के अनुसार कलक का अपह्लव करके आकाश-नीलिमा का आरोप

होने से अपह्नुति है, जो 'वृत्तमध्यविलम्'—इस पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग से अनुप्राणित है। 'हृत्सारम्'—इत्यादि उत्प्रेक्षा है। इस प्रकार यहाँ अपह्नुति-काव्यलिङ्ग-उत्प्रेक्षा का सकर है। उत्प्रेक्षा से उपमा व्यजित है, सो बलकारध्वनि भी है ॥ २५ ॥

घृतलाञ्छनगोमयाञ्चन विधुमालेपनपाण्डर विधि ।

भ्रमयत्युचित विदभंजानननीराजनवद्धमानकम् ॥ २६ ॥

जीवातु—घृतेति । विधिव्रं ह्या घृत लाञ्छनमङ्कु एव गोमयाञ्चनं मध्यस्थितगोमयसदलेपणम् एनम् आलेपनपाण्डर निजकान्तिसुधाघबलित-मित्यर्थं, विधु चन्द्रमेव विदभंजाननस्य वैदर्भीमुखस्य नीराजनवद्धमानक नीराजनशरावम् 'शरावो वद्धमानक' इत्यमर । किरणदीपकलिकायुक्तमिति भाव । भ्रमयत्युचितम लौकौत्तरत्वात् इति भाव, एव नीराजयतीति देशावात् । अथ विधुत्लाञ्छनादेर्नीराजनशरावगोमयादित्वेन निरूपणात्सावयवरूपकम् ॥ २६ ॥

अन्वय—विधि घृतलाञ्छनगोमयाञ्चनम् आलेपनपाण्डर विधु विदभं-जानननीराजनवद्धमानक भ्रमयति—(इति) उचितम् ।

हिन्दी—ब्रह्मा कलङ्क-चिह्न रूप गोवर के अंचना (लेप) से मुक्त, पिष्टो-दक (ऐपन) से मुरे चद्र को विदभंतनया (दमयन्ती) के मुख की आरातिका (आरती) के निमित्त घृतपात्र (मिट्टी का बर्तन—शराव, सरैया) के समान जो घुमाता है, सो वह उचित ही करता है ।

टिप्पणी—मूर्यं चद्र सब ईश्वरेच्छा से घूमा हो करते हैं—यह प्रवृत्ति का नियम है । कवि दमयन्ती के मुख के सम्मुख चद्र कहीं निहृष्ट है—यह प्रभाणित करने के लिए चद्र-भ्रमण का कारण बताता है कि दमयन्ती के मुख की आरती उतारने के लिए ब्रह्मा की वेशा, जिससे हम सलौने मुखडे को नजर न लग जाय, सपूर्ण दृष्टिदोषों का निराकरण हो जाय—उद्ध-मुहावरे के अनुसार 'वश्ये-वदङ्कर' । चद्रमा को गोवर से लिया ऐपन से भूरा किया गया मिट्टी का पात्र बनाया गया है, जिससे यह दृष्टिदोष निराकरण हो रहा है । लोकजीवन में भी

गोबर लिने, ऐपन से विह्वित शराब से नरर उठारो जाती है। मन्त्रिनाथ के अनुसार सावद्व रूपक, विद्याधर के अनुसार रूपक और सन अलंकार— योष्यता के कारण यो की यदि सम्भावना हो तो सन होता है—'सन योष्यतया योयो यदि सम्भावितः क्वचित्।' चन्द्रकन्ताकार ने यहाँ सागरूपक और असंबंध में सम्बन्ध कथन ह्या अतिशयोक्ति के संकर का निर्देश किया है ॥ २६ ॥

मुपमाविपदे परीक्षणे निखिल पद्ममभात्रि तन्मुखात् ।
अधुनापि न नङ्गलक्षणां सल्लोलोन्मज्जनमुज्जति स्फुटम् ॥ २७ ॥

जोदानु—मुपमेति । मुपमा परमा घोना संव विषय यस्मिन् परीक्षणे जन्दिब्यसोनेने हृते निखिल पद्म पद्मजात तन्मुखापदानात् नङ्गावन्तिवाद- नात्रि जनञ्चि स्वनेव ममननूदिन्यं, स्फुट, कतरि सुङ्, 'नञ्चेष चिणि'ति वैनापिको नकारलोप । जतएवाधुनापि नङ्गलक्षणां परावयविह्वं सल्लोलोन्मज्जन क्षामपि नोज्जति न जहाति । जन्दिब्योन्मज्जनस्य परावयल्लङ्गत्वन्मरणादिति नाव । तन्मज्जनक्रियानिमित्तेन नङ्गोप्रेक्षा । २७।

अन्वय—मुपमाविपदे परीक्षणे निखिल पद्म तन्मुखात् अनात्रि, अधुना अपि नङ्गलक्षणां सल्लोलोन्मज्जन न उज्जति स्फुटम् ।

हिन्दी—सौन्दर्य-विषयक परीक्षा में समस्त कमल उसके मुख से परावित हो गये, सो लाता है वही परावय-विह्वन्वस्वभाव आत्र भी जल से ऊपर रहना नहीं छोड़ते । अथवा 'पद्म' परावित हो 'अनात्रि' अर्थात् टूट गये हैं, सो उसी 'मग' (टूटन) के कारण आत्र भी 'स्फुट' अर्थात् छितरे हुए बल के रूप पर खड़े हैं ।

टिप्पणी—कवि सगर मर के कमलों से दमयन्तीमुख का सौन्दर्य श्रेष्ठ सिद्ध करना चाहता है, एतदर्थं यह कल्पना है । यादवन्मर स्मृति के व्यवहारा- ध्याय (२।१५-११३) में 'दिम्ब' प्रकरन है, त्रिसके अनुसार 'बजदिम्ब' में दमयन्ती- मुख और 'निखिल पद्मजात' के मध्य सौन्दर्य-श्रेष्ठता का परीक्षा हुआ । 'समें होता यह है कि एक धनुषं द्वाय छोडे बाण को लेकर जव-तक दूसर को दता हुआ जाता है, तव-तक जो जल में डूबा सटा रहता है, वही विजयो

माना जाता है। और जो बाण ले-आने के पूर्व ही जल से बाहर उभर आता है, वह पराजित माना जाता है। दमयन्ती-मुख से कमल पराजित हो गय, सो तब के उभर कर आये-आये आज भी जल के ऊपर ही रह कर मानो स्वपराजय को स्वीकारे हुए हैं। एतद्विषयक याज्ञवल्क्य का श्लोक (२।१०९) इस प्रकार है—

“समकालमिषु मुक्तमातीयान्यो जयो नर ।

गते तस्मिन्निमग्नाङ्ग पश्येच्चेच्छुद्धिमाप्नुयात् ।”

मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अनुमान तथा अतिशयोक्ति ॥ २७ ॥

धनुषी रतिपञ्चबाणयोर्दिने विश्वजयाय तद्भ्रुवी ।

नलिके न तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयोः ॥ २८ ॥

जीवातु—धनुषी इति । तद्भ्रुवी विश्वजयायोर्दिते उत्पन्ने रतिपञ्चबाणयोर्धनुषी नूनमित्यादिन्यञ्जकाश्रयोणाङ्गभ्योत्प्रेक्षा, विञ्च तस्या दमयत्या उच्चनासिके उन्नतनासापुटे त्वयि नालीगना द्रोणिचापशराणा विमुक्ति कामयेते इति तयोक्तयो तयो ‘शीलिकामिभक्ष्याचारिभ्यो ण’ इति णप्रत्यय, ‘नालीक पद्यछण्डेश्च्री नालीक शरशत्ययोर्’ इति विश्व । नलिके न द्रोणिचापे न किमिति वाङ् । पूर्ववदुत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

अन्वय—तद्भ्रुवी विश्वजयाय उदिते रतिपञ्चबाणयो धनुषी, तदुच्चनासिके त्वयि नालीकविमुक्तिकामयो नलिके न (नु) ।

हिन्दी—उसकी भौंहें जगज्जम के निमित्त उद्यत रति और पञ्चबाण काम के दो धनुष हैं और उसकी उन्नत नासिका के दो छिद्र मुख पर उन छोटे-छोटे बाणों को छोड़ने के निमित्त बाणाधार दो नलिकाएँ नहीं हैं क्या ? (हैं ही) ।

टिप्पणी—उसकी भौंह सब को विमोहित करने वाली है, यह भाव है। काम के पाँच बाण हैं—(१) अरविन्द, (२) अशोक, (३) बाघ, (४) नवमल्लिका और (५) नीलकमल—“अरविन्दमशोक च घ्ना च नवमल्लिका । नीलोत्पल च पञ्चने पञ्चबाणस्य सायका ॥” उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा, अथवा इन दोनों का संकर ॥ २८ ॥

सदृशी तत्र शूर । सा पर जलदुर्गस्यमृणालजिद्भुजा ।

अपि मित्रजुषा सरोरुहा गृह्याट् करलील्या श्रिय ॥ २९ ॥

जीवातु—नक्षीति । हे शूर ! जलदुर्गस्यानि मृणालानि जयत इति तज्जितौ नुजो, यस्या सा मित्रजुषामर्षसेविना सुहृत्सल्लिङ्गनाच्च सहायक-सम्पन्नानामपीत्यर्थः । 'मित्र नुहृदि मित्रोऽर्कं' इति विश्व । सरोरुहा श्रिय-शोना सम्बद्ध 'न लोके'त्यादिना पृष्टीप्रतिषेधः, करलील्या नुजविलासेन नुजव्यापारेण बलिहृतेन च 'बलिहृताशय' करा 'लीलाविलासत्रियवोरि'ति चामर, गृह्यालु प्रहीता गृह-ग्रहण इति घातोञ्चौरादिकात् 'सृष्टिहृते'त्यादिना आलुच प्रत्ययः, 'अयामन्ते'त्यादिना पेर्यादेशः । सा दमयन्ती तव परमत्वन्त सदृशी अनुकूलेत्युपमालङ्कारः । शूरस्य शूरैव भार्या भवितु-मर्हतीति भावः ॥ २९ ॥

अन्वय —शूर, जलदुर्गस्यमृणालजिद्भुजा मित्रजुषाम् अपि सरोरुहा श्रिय-करलील्या गृह्यालु सा पर तव सदृशी ।

हिन्दी—हे वीर, जल के दुर्ग में स्थित कमलनालों के जयी मुखयुग्मवाली, मित्र (सूर्य) की सहायक के रहते भी (अथवा मृणाल रूप हाथों से सूर्य की सेवा करते भी) कमलों की शोना संपत्ति को जैसे हस्तविलासद्वारा प्रहरी शीला वह (दमयन्ती) केवल आपके योग्य है ।

टिप्पणी—कमलनाल से भी श्रेष्ठ मुख युग्म का वर्णन करने के साथ कवि 'जलदुर्गस्य' इत्यादि द्वारा दमयन्ती और नल की सद्गुण प्रमाणित करता है । जैसे नल जल में बने सुरक्षित दुर्ग में जा छिने मित्रों की सहायता पाये हुए शत्रुओं का अपने बाह्यप्रताप से बाहर निकाल उनकी सम्पत्ति ले लेता है, वैसे ही दमयन्ती भी 'करलील्या' 'मित्रजुट् सरोरुहा' की शोना सम्पत्ति को छीन लेती है । इस प्रकार दमयन्ती शूर नल के ही योग्य है । शूर की भार्या शूरा ही हो सकती है, नल रणशूर, दमयन्ती सौन्दर्यशूरा । मल्लिनाथ के अनुसार उपमा और विद्याधर के अनुसार सम-रन्ध्र का सङ्कर । चद्रकलाकार यहाँ सम-रन्ध्र-अतिशयोक्ति का अगाधिभावसङ्कर मानते हैं ॥ २९ ॥

वयसी शिशुतातदुत्तरे सुदृशि स्वाभिविधि विधित्सुनी ।

विधिनापि न रोमरेखया कृतसीम्नी प्रविभज्य रज्यत ॥ ३० ॥

जीवातु—वयसी इति । सुदृशि दमयन्त्या स्वाभिविधि स्वव्याप्ति विधि-
त्सुनी विधातुमिच्छती अहमहमिकया स्वयमेवाक्रमितुमिच्छती इत्यर्थं शिशु-
तातदुत्तरे बाल्ययौवने वयसी विधिना सीमाभिज्ञेन रोमरेखया सीमाचिह्नेन
प्रविभज्य रोमराजे प्रागेव अत्र शैशवेन स्यातव्यन्तत पर यौवनेनेति
कालतो विभाग कृत्वा, कृतसीम्नी कृतमय्यदि अपि 'विभाषा छिद्रयो'
रित्यल्लोप, न रज्यत न सन्तुष्यन । रम्यवस्तु दुस्त्यजमिति भाव । एतेन
वय सधिरुक्त । अत्र प्रस्तुतवयोविशेषसाम्यादप्रस्तुतविवादप्रतीते समासोक्ति-
रलङ्कार ॥ ३० ॥

अन्वय —सुदृशि स्वाभिविधि विधित्सुनी शिशुता तदुत्तरे वयसी विधिना
रोमरेखया विभज्य कृतसीम्नी अपि न रज्यत ।

हिन्दी—उस सुलोचना पर अपनी अभिव्याप्ति (अधिकार) रखने के
इच्छुक बाल्य और यौवन आयु विधाता द्वारा रोमों की रेखा से विभाजन
करके सीमाबद्ध किये जाने पर भी सतुष्ट नहीं है ।

टिप्पणी—वय सधि का वर्णन है । शिशुता अभी पूर्णत गयी नहीं,
यौवन का आगमन हो रहा है, जिसके चिह्न रूप रोमराजि प्रकट हो गये है ।
यही रोम-राजि जैसे शैशव-यौवन की विधि-निमित्त सीमा-रेखा (मेड) है,
पर जत्र तत्र शैशव यौवन 'दमयती पर जितना सम्भव हो, अधिकार बना
रखा जाय,' इस बात पर (लोकजीवन की भाँति) झगडा करते रहते हैं ।
महिलनाय ने प्रस्तुत शैशव-यौवन के साम्य से अप्रस्तुत विवाद की प्रतीति होने
के कारण यहाँ समासोक्ति मानी है, किन्तु विद्याधर के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति
है । काकु वश्रोक्ति मान कर 'कृतसीम्नी अपि न रज्यत' का यह अर्थ भी
सम्भव है कि दोनों आयु सीमा निर्धारण हो जाने पर भी दमयती पर अनुरक्त
है और सीमा सम्बन्धी झगडा करते दो व्यक्तियों की भाँति स्थित हैं ॥३०॥

अपि तद्वपुषि प्रसपतोर्गमिते कान्तिक्षरैरगाधताम् ।

स्मरयौवनयो ह्यलु ह्यो प्लवकुम्भी भवत वृचावुभौ ॥ ३१ ॥

जीवातु—सम्प्रति यौवनमेवाश्रित्याह - अपीति । कान्तिहरंलावण्यप्रवा-
हेरगाघता दुरवगाहता गमिते तद्गुण्यि दमयन्तीशरीरे प्रसपंतोस्तरतो स्मर-
यौवनयोर्द्वोरपि उभौ कुचौ प्लवस्योग्मज्जनस्य कुम्भौ प्लवनाय कुम्भा-
वित्पर्यं, प्रवृत्तिविकारमावाभावादश्रधामादिवत्तादर्थ्यं पशुसमास । लोके
तरद्भि अनिमज्जनाय कुम्भादिकमलम्ब्यत इति प्रसिद्ध, भवत खलु । अत्र
कुचयो स्मरयौवनप्लवनकुम्भत्वोत्प्रेक्षया तयोरोत्कट्य कुचयोश्चातिवृद्धिर्व्यंग्यत
इत्यलङ्कारेण वस्तुध्वनि ॥ ३१ ॥

अन्वय — कान्तिहरं अगाघता गमिते तद्गुण्यि प्रसपंतो स्मरयौवनयोः
द्वयो अपि उभौ कुचौ प्लवकुम्भौ भवत ।

हिन्दी—लावण्य की झड़ी (धारा-प्रवाह) से अलम्ब्यगिणी दुःखगाहना
को प्राप्त उभके शरीर पर प्रसर्पण (सतरण) करते काम और यौवन-दोनों
के ही जैसे दोनों कुच सतरण-सहायक घड़े हो गये हैं ।

टिप्पणी—दमयन्ती पूर्ण लावण्यवती है, धीरे धीरे काम और यौवन का
प्रसार उसके भरपूर सुन्दर शरीर में हो रहा है । यह भाव प्रकट करने के लिए
सौन्दर्य धारा से उमड़ती गहरी देह नदी में कुच रूप सतरण-कुम्भ का सहाय
से तरते दो व्यक्तियों के रूप में काम-यौवन की कल्पना की गयी है । इस
दलोक में दमयन्ती-कुचों की सतरण-कुम्भों के रूप में उत्प्रेक्षा के कारण कुचों
का उभार और विस्तार व्यजित होन से मन्त्रिनाय के अनुसार अलङ्कार द्वारा
वस्तुध्वनि है । विद्याधर रूपक का नियेष कर 'खलु' शब्द के आधार पर
उत्प्रेक्षा मानते हैं अथवा अतिशयोक्ति ॥ ३१ ॥

कलसे निजहेतुदण्डज किमु चक्रभ्रमकारितागुण ? ।

स तदुच्चकुचौ भवन् प्रभाङ्गरचक्रभ्रममातनोति यन् ॥ ३२ ॥

जीवातु—कस इति । निजहेतुदण्डज स्वनिमित्तकारणजन्य चक्रभ्रम-
कारिता कुलात्तन्नाण्डभ्रमजनकत्व संव गुणो धर्मो रूपादिश्च, 'गुण प्रयाने
रूपादावित्यमर । स । कलसे किमु ? दण्डकार्यं कलसे सक्रान्तः किमु ?
इत्यर्थं, कुत यद्यत्मात् स कलस तस्या दमयन्त्या उच्चकुचौ भवन् तत्तुचा-

त्मना परिणत सन् प्रमादरे लावण्यप्रवाहे चक्रभ्रम चक्रवाकभ्रार्ति कुलाल-
दण्डभ्रमण चातनोति, 'चक्रो गणे चक्रवाके चक्र संन्यरयाङ्गयो । ग्रामजाले
कुलालस्य भाण्डे राष्ट्रास्त्रयोरपि' इत्युभयत्रापि विश्व । अत्र 'समवायि-
कारणगुणा रूपादय काव्ये मनामन्ति न निमित्तगुणा' इति तार्किकाणा
समये स्थिते गुण इति चक्रभ्रम इति चोभयत्रापि वाच्यप्रतीयमानयोरभेदा-
ध्यवसाय एव 'स तदुच्चकुचो भवन्नि'ति कुचकलसयोरभेदातिशयोक्त्युत्था-
पितक्षरचक्रभ्रमात्मकत्रियानिमित्ता कुचात्मनि कल्से कार्ये चक्रभ्रमकारिता
रक्षणनिमित्तकारणगुणसक्रमणलक्षणेनोत्प्रेलेति सङ्क्षेप । तार्किकसमये विरोधात्
विरोधाभासोऽलङ्कार इति कैश्चिदुक्तम् तदेतदत्यन्ताश्रुतचरमलङ्कारपार-
श्चान शृण्वन्तु ॥ ३२ ॥

अन्वय — निजहेतुदण्डज चक्रभ्रमकारितागुण कल्से किमु, यत् स तदु-
च्चकुचो भवन् प्रमाकरचक्रभ्रमम् आतनोति ।

हिन्दी—कलश में जो चक्रभ्रमकारी (चाक का भ्रम उपजाने वाला)
भाव-रूप गुण दीखता है, वह क्या निमित्त कारण दण्ड से सजात है, जिससे
वह कलश उस (दमयन्ती) के उन्नत दोनों कुच होता हुआ दीप्ति की झडी
से (भ्रमकार के) चक्र का भ्रम (दर्शकों की दृष्टि में) उत्पन्न कर रहा है ?
अथवा लोक समूह में मदजनित मोह उत्पन्न कर रहा है अथवा वह कलश
कुचयुग्म होकर प्रमा प्रवाह में भ्रमते चक्रों का भ्रम उत्पन्न कर रहा है ।

टिप्पणी—दमयन्ती का चक्रवाक और कलश के समान कुचयुग्म अत्युन्नत
है, जो देखता है, सोन्दर्य की चकाचौंध में दृष्टि भ्रत हो जाता है, वैसे ही
जैसे तीव्र सूर्यप्रकाश को देखकर सब विमुग्ध हो जाते हैं, जैसे उन पर मद
चढ़ गया हो । भ्रम का अर्थ धुमना—चक्कर खाना भी है । इसको लेकर
कवि ने 'न्यायग्रहप्रचिह्न तक' में अपना ज्ञान प्रदर्शन किया है । न्यायशास्त्र
में तीन प्रकार के कारण माने जाते हैं—(१) समवायि, (२) असमवायि और
(३) निमित्त । जिससे समवेत काय उत्पन्न होता है, वह समवायि कारण है, जैसे
मृत्पिण्ड घट का । यह द्रव्य ही होता है । इसमें मिन असमवायि कारण है ।
यह गुण या बर्ण होता है, जैसे मुक्तापल द्रव्य-संयोग घट का । निमित्त कारण

साधनभूत होता है, जैसे घट का कुन्डल, लसुका दण्ड आदि । कारण के गुण कार्य में जाते हैं, पर बबल समवायि कारण के, असमवायि और नित्तम के नहीं । परन्तु दमयन्ती के कुन्डल चक्रभ्रमकारो कुचकलय म यह चक्रभ्रम गुण (द्रव्य नहीं) निमित्त कारण दण्ड में जाता है । यह कितना विचित्र है कि न्यायशास्त्र के नियम भी बदल गये । पूर्वजोफ में कुचपुग्म घटसम कहे गये थे, यहाँ विशिष्टता दिखाकर जैसे कवि न भूच सुधारी ।

तार्किक मान्यता का विरोध होने से कुछ विद्वान् इस पद्य में विरोधाभास अलंकार मानते हैं, मन्त्रिनाथ इसे उचित नहीं मानते । उनके अनुसार यहाँ कुचा में कलश-भ्रम अनेकशयोक्ति है, कुचात्ना कलस कार्य में शरचक्र-भ्रमनात्मक क्रिया निमित्ता उत्प्रेक्षा इस अतिशयोक्ति से उत्पानित है, चक्रभ्रम-कारिता रूप निमित्त कारण के गुण के भ्रमना के कारण । विद्याधर के अनुसार अनुमान रूप और भ्रान्तिमान् अलंकार हैं । चद्रकलाकर ने एक-उत्प्रेक्षा-श्लेषमूला अतिशयोक्ति का संकर माना है ॥ ३२ ॥

मज्जते क्षलु पण्मुखं शिखी विकुरैर्निर्मितबहंगहंणः ।

अपि जम्नरिपुं दमस्वसुजितकुम्भ. कुचशोभयेभराट् ॥ ३३ ॥

जोधातु—मज्जते इति । दमस्वमुद्रमयत्प्रादिचिकुरैर्निर्मितबहंगहंणः कृतपिच्छनिन्द-जितबहं इतरथं । शिखी मयूर पण्मुख कातिकेय मज्जते क्षलु, तथा कुचशोभया जितकुम्भ इनराटैरावतोऽपि जम्नरिपुमिन्द्र मज्जते । पर-परिभूता शयनायाण प्रव-नाश्रयन्त इति प्रसिद्धम् । जत्र शिखैरावतयोः पण्मुखजम्नारिमज्जतस्य जितबहंत्वजितकुम्भत्वपदायहेतुकन्वात् तद्धेतुके काव्य-तिगे तदनम्ब-धेऽपि सम्ब-धामिधानादतिशयोक्तिरच ॥ ३३ ॥

अन्वयः—दमस्वमु विकुरैर् निर्मितबहंगहंणः शिखी पण्मुख, कुचशोभया जितकुम्भ इनराट् अपि जम्नरिपु मज्जते क्षलु ।

हिन्दी—दमयन्ती की केशराशि के द्वारा अपने पिच्छों के तिरस्कृत होने के कारण मयूर मानों छ मुखवाले स्वामिकातिकेय की सेवा में चला गया है और कुचों की शोभा में पराजित कुम्भमयल वाला मज्जराज ऐरावत भी जैसे जम्नानुर के शत्रु इन्द्र की सेवा में ।

टिप्पणी—दमयन्ती की केशराशि मयूरपिच्छ से अधिक घनी, लहरदार और शोभाशालिनी है और कुचयुग्म के सम्मुख गजराज ऐरावत की कुम्भस्थली भी निम्न है। ऐसा प्रतीत होता है कि मयूर ने इसी में पडानन (मत-एव अधिक केशराशि वाले) की धारण ली है और ऐरावत दवराज की सेवा करके प्रसन्न करना चाहता है कि मयूर ऐरावत दमयन्ती की केशराशि और कुचयुग्म की समानता करने योग्य केश कुम्भस्थल पा सके। मल्लिनाथ की दृष्टि में काव्यलिंग और अतिशयोक्ति, जिनका चद्रकलाकार सकर मानते हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा और दोषक बलकार हैं ॥ ३३ ॥

उदरं नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना ।

चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृत दमस्वसु ॥ ३४ ॥

जीवातु—उदरमिति । दमस्वसुदरं नतमध्य तिमिमध्यप्रदेश पृष्ठ यस्योदरस्य तस्य भावस्तप्ता तथा स्फुरत् इडफलके पृष्ठपलके स्फुटीभवदङ्गुष्ठपदमङ्गुष्ठयासस्थान यस्य तेन मुष्टिना करणेन चतसृषामङ्गुलीनां समाहारदचतुरङ्गुलि 'तद्धिते'त्यादिना समाहारे द्विगुरेकवचननपुसवत्वे । तस्य मध्येभ्योऽतरालेभ्यो निर्गत तत्रिवलि पूर्ववत् समासादि कार्यं, पतूकृत वामनेन 'त्रिवलिशब्द सज्ञा चेदि'ति सूत्रेण सप्तपंथ इत्यादिवत् 'दिक्सख्ये सज्ञायामि'ति सज्ञाया द्विगुरिति । तदपि चेद्वरणसामर्थ्यात् त्रिवलय इति बहुवचनप्रयोगदर्शने स्थित गतिमात्र न सार्वत्रिकमितिप्रतीम । तेन भ्राजत् इति तद्भ्राजि वलिप्रयशोभि शृतमित्युत्प्रेक्षा, कोतुकिनेति शेष । मुष्टि-प्राह्यमध्येयमित्ययं । मुष्टिग्रहणादङ्गुष्ठनोदनात्पृष्ठमध्ये नम्रता उदरे च चतुर-ङ्गुलिनोदनाद्वलिप्रयाविर्भावश्चेत्युत्प्रेक्षते ॥ ३४ ॥

अन्वय—दमस्वसु उदर नतमध्यपृष्ठतास्फुरदङ्गुष्ठपदेन मुष्टिना चतुर-रङ्गुलिमध्यनिर्गतत्रिवलिभ्राजि कृतम् ।

हिन्दी—दमयन्ती का उदर पीठ का मध्यभाग नत होने के कारण जिसका अंगुष्ठ स्थान प्रकट हो रहा है, उस मुठ्ठी से चार अंगुलियों के बीच से निकली त्रिवली (तीन रेखाओं) से मुशोभित बनाया गया है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के उदर-सौन्दर्य का वर्णन । अगुल्ट-निवेश का कारण पृष्ठमध्य में निम्नत्व है और चार अगुलियों द्वारा घारण करने के कारण तीन रेखाएँ (त्रिवली) बन गयी हैं । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग और रूपक अलंकार ॥ ३४ ॥

उदर परिमाति मृष्टिना कुतूकी कोऽपि दमम्बमु किमु ? ।

घृतनच्चनुरङ्गुलीव यद्वलिभिर्भाति सहेमकाञ्चिभि ॥ ३५ ॥

जीवानु—उदरमिति । कोऽपि कुतूकी दमस्त्वसुदर मृष्टिना परिमाति किमु ? परिच्छिनत्ति किमित्युत्प्रेक्षा, कुत ? यद् यत्नात् सहेमकाञ्चिनि-
वलिनिहेमकाञ्चना सट् चतमृनिस्त्रिबलिभिरित्ययं । एतस्या कनकसावर्ण्यं सूचितम् घृत तस्य मातृदत्तुरङ्गुली अङ्गुलीचतुष्टय येन तदिव नाती-
त्युत्प्रेक्षा । अत्रोत्प्रेक्षयोर्हेतुहेतुमद्भूतयोरङ्गाङ्गिभावेन सजातीय सङ्करः ।
पूर्वदोके बलीना तिमृणा चतुरङ्गुलिमध्यनिर्गन्तव्यमुत्प्रेक्षितम् । इह तु
तासामेव काञ्चोत्प्रेक्षिताना चतुरङ्गुलित्वमुत्प्रेक्षत इति भेद प्रेक्षितुरिति
भावः ॥ ३५ ॥

अन्वय—क अपि कुतूकी मुष्टिना दमस्त्वमु उदर परिमाति किमु यद्
सहेमकाञ्चिभि वलिभि घृतनच्चनुरङ्गुलि इव भाति ?

हिन्दी—क्या कोई कीतुकी मुठ्ठी से दमयन्ती का उदर नापना चाहता है
कि स्वयं मेखला सहित त्रिवलियों के कारण वह नापनेवाले की चार अगुलियों
से मुक्त जंघा सुशोभित हो रहा है ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्वयंमेखला पहिन रखी है, एक वह और तीन
त्रिवली—सब मिल्कर ऐसा लग रहा है कि किसी ने नापने के लिए चार
अगुलियों में दमयन्ती का उदर पकड़ रखा है । मल्लिनाथ के अनुसार दो
उत्प्रेक्षाओं का सजातीय सङ्कर, विद्याधर के मत में उत्प्रेक्षा और उपमा ॥ ३५ ॥

पृथुवतुलनाप्रितम्बकृन्मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षाया ।

विधिरेकचक्रचारिण किमु निर्मित्सति मान्मय रथम् ॥ ३६ ॥

जीवातु—पृथ्विति । पृथु वस्तुल च तस्या नितम्ब करोतीति नितम्ब-
कृत्रितम्ब कृतवान् विधि ब्रह्मा मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया रविरथनिर्माणा-
भ्यामपाटवेन एकचक्रैककि 'एकादाकिनिच्चासहाये' इति चकारात् कप्रत्यय ।
तेन चक्रेण चरतीति तच्चारिण मामय रथ निर्मित्सति किमु ? सूर्यस्यैव
मन्मयम्यापि एकचक्र रथ निर्मातुमिच्छति किमु ? इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा
किमथमिदं नितम्बनिर्माणमिति भाव । माते सप्तन्ताल्लट् । 'सनि मीमे'
त्यादिना ईमादस, 'सस्याद्धंघातुक' इति सकारस्य तकार, 'अत्र लोपोऽ-
भ्यासस्ये'त्यभ्यासलोप ॥ ३६ ॥

अन्वय — पृथुवस्तुलतानितम्बकृत् विधि किमु मिहिरस्यन्दनशिल्पशिक्षया
एकचक्रचारिण मामय रथ निर्मित्सति ?

हिन्दी—(दमयती के) विशाल और गोलाकार नितम्ब का निर्माता
विधाता क्या सूर्य रथ के शिल्प के अभ्यास से एक ही चक्के पर चलनेवाला,
धामदेव का रथ बनाना चाहता है ?

टिप्पणी—दमयती के बतुलाकार, विशाल नितम्बरथल को देखकर मदन
प्रादुर्भाव हो जाता है इस कारण कवि ने उसे 'मामयरथ' बताया । विधाता
को सूर्यरथ के निर्माण का अभ्यास होने के कारण उसने शायद 'मामयरथ'
को 'एकचक्रधारी' बनाना चाहा है । उत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥

तद्मूढ्युगेन सुन्दरी किमु रम्भा परिणाहिना परम् ।

तरणीमपि जिष्णुरेव ता धनदापत्यतप फलस्तनीम् ॥ ३७ ॥

जीवातु—तरुमिति । सुन्दरी दमस्वसा परिणाहिना विपुलेन ऋष्युगेन
रम्भा रम्भा नाम तरु परतरुमेव 'न लोके' त्यादिना पृष्ठीप्रतिषेध । जिष्णु
किमु ? किन्तु धनदापत्यस्य बल्लूबरस्य तपस फलस्तनी फलभूतकृत्वा ता
रम्भाप्राप्त तरुणीमपि जिष्णुरेव । 'रम्भावदल्पप्सरसोरिति विश्व । रम्भे
इव रम्भाया इव चोरु यस्या सा इत्युभयथा रम्भोदरित्यर्थ ॥ ३७ ॥

अन्वय — सुदगी परिणाहिना ऋष्युगेन पर रम्भा तरु किमु धनदापत्यतपः
फलस्तनी तां तरुणीम् अपि जिष्णु एव ।

हिन्दी—वह सुन्दरी विशाल लक्ष्मण से केवल रम्भा (कदली) वृक्ष को क्या, लाता है कि कुबेर के पुत्र (नलकूबर) की तपस्या के फलस्वरूप कृच-मुग्धगङ्गी (जयदा नलकूबर ने तप करके जिस रम्भा को फलस्वरूप में पाया उसे) तहनी (जम्बूरा रमा) को भी जीवना चाहती है ।

टिप्पणी—नाम यह है कि दमयन्ती का लक्ष्मण चित्रकला और सुडोल होने में कदली वृक्ष में श्रेष्ठ तो है ही, उसकी मुपमा स्वर्गसुन्दरी, कुबेर की पुत्रवधु जम्बूरा रमा के लक्ष्मण में भी कमनीय है । 'रम्भा' शब्द का स्थिप्र प्रयोग-वैचित्र्य । विशाखर के अनुसार उत्प्रेषण चन्द्रकलाकार ने श्लोक के पूर्वार्द्ध में अर्थापत्ति तथा उत्तरार्द्ध में अर्थापत्ति का निर्वहण किया है ॥ ३७ ॥

जलजे रविसेवये यः पद्मेन हृद्गुणवापनु ।
ध्रुवमेतन्न स्त सहस्रकीकुम्भे विधिपत्रदम्पती ॥ ३८ ॥

जीवानु—जलजे इति । रविसेवये । पद्मेन हृद्गुणवापनु । ध्रुवमेतन्न स्त सहस्रकीकुम्भे विधिपत्रदम्पती ॥ ३८ ॥
एतस्या पद्मता चरणत्वमेव पद्मप्रतिष्ठाविकल्पेन के अर्थे कर्मभूते विधिपत्र दम्पती इन्द्रचारिणी ब्रह्मवाहनहृषी एत्यागत्य स्त रवात्कूजनादित्ययं । रौते सम्पदादित्वात् त्रिविप तुगागम । महमकी मपादकटकी सहस्रकी च कुरुत 'अभूततद्भावे च्चि' । 'हमक पादकटक' इत्यमर । ह्रमपक्षे वैनायिक कप्रत्यय ध्रुवमिन्मुप्रेक्षायाम् । पञ्चहसयोरविनाभावात् कयोश्चि-द्विभ्यपदयोस्तत्पदत्वमुत्प्रेक्ष्य दिव्यहसयोरेव हसपत्वञ्चोप्रेक्ष्ये ॥ ३८ ॥

अन्वय — ये बलजे रविसेवया इव एतत्पद्मता पद्म अवापनु ते विधिपत्र-दम्पती एत सः ध्रुव सहस्रकीकुम्भे ।

हिन्दी—जिन दो कमलों ने जैसे सूर्य की सेवा द्वारा इस (दमयन्ती) के चरण होने का पद (स्थान) पाया है, ब्रह्मा के वाहन हसदम्पती आकर अपने कलरव से निश्चय ही उन (कमल चरणों) को सहस्रक (पादकटक-नूपुरसहित) कर रहे हैं ।

टिप्पणी—नाम यह है कि दमयन्ती के कमल-सम चरण नूपुर (ध्वनि)

युक्त है। उनकी सुपमा कमल और हंस दोनों से अधिक कथनीय है। कमलों को चरण हाने का गौरव तब मिला, जब उन्होंने सूर्योपासना की और हंस-दम्पती को उन चरणों के नूपुर होने का तब, जब उन्होंने ससार के निर्माता विधाता की वाहन रूप में सेवा की। लगता है कि विधाता ने दम्पती के कमल-चरण बनाकर और कुछ उपयुक्त न पाने हुए अपने वाहन हंसदम्पती को ही उनके नूपुर बना दिया। उत्प्रेक्षा। चन्द्रालाकार ने इस श्लोक के पूर्वाह्न में गुणोत्प्रेक्षा और उत्तरार्द्ध में इन्पाघृता अतिशयोक्ति मान कर उनकी ससृष्टि का उल्लेख किया है ॥ ३८ ॥

श्रितपुष्पसर सरित्कथ न नमः। क्षिपिनाखिलक्षपम् ।

जलज गतिमेतु मञ्जुला दमयन्तीपदनाम्नि जन्मनि ॥ ३९ ॥

जीवातु—धितेति । श्रिता सेविता पुण्या सर सरित मानसादीनि सरसि गङ्गाया सरितश्च येन तत्समाधिना ध्यानेन निमीलनेन क्षपिता-खिलक्षप यापितसर्वरात्र जलज दमयन्तीपदमिति नाम यस्मिन् जन्मनि मञ्जु-लाङ्गति रम्यगतिमुत्तमदशाश्च, 'गतिमार्गे दशाया चे'ति विश्व । कथ नंतु एत्वेवेत्पर्यं । पदस्थ गतिसाधनत्वानथापि दमयन्तीसम्बन्धाच्चोभयगति-लाभ । तथापि जमान्तरेऽपि सवया सप फलितमिति भाव । सम्भाषनाया त्नेत् ॥ ३९ ॥

अन्वय — श्रितपुष्पसर सरित् समाधिपत्ताखिलक्षप जलज दमयन्तीपद-नाम्नि जन्मनि मञ्जुला गति कथ न एतु ?

हिन्दी—पुष्पसर सरोवर और उदिया का आश्रय लेनेवाला (तीर्थमेवी) और राज भर मुँदा रम्य समाधि लगा ममय रात्रियाँ प्रिताने वाला कमल दमयन्ती चरण नाम पाकर त्रिमम जन्मा, उस जमानत में ऐसी रमणीय गति क्यों न प्राप्त करे ? (प्राप्त करना ही उचित है) ।

टिप्पणी—पूर्वार्द्ध में कमलों के दम्पती चरण न पाने के जिस मौभाग्य का उत्प्रेक्षा की थी, यही उसी के कारण की सम्भाषना की गयी है । दिन रात पुष्पतीर्थों में निवास करने और रात-रात भर समाधि में लीन रह

कर यह सीनाम्ब निम्न है। ऐसे ही उत्तमा गति प्राप्त होती है। 'साहित्य-विद्याररी' के अनुसार यहाँ समासोक्ति है और 'चद्रकशाखा' के अनुसार समासोक्ति और जयानति का अगागिनाव सङ्कर ॥ ३९ ॥

सरसी परिशीलितु मया गमिकर्माकृतनैकनीवृता ।

जतियिन्वमनायि ना दृशो सदसत्प्रशयगोचरोदरी ॥ ४० ॥

जीवातु—यत्र क्व त्वमेना देस्सीत्यत आह—सरसीरिति । सरसी मयापि परिशीलितु परिवेनु तत्र विहनुंमिन्वयं । चुरादिगेरनित्यत्वाद्भ्यन्तप्रयोग । गमिानन शब्दपरशाब्देनाथो गम्यते तन्व कर्माकृता कर्मकारकीकृता नैके जनेके नजयन्व्य नशन्दस्य सुष्पुपेति समास । नितरा वतन्ते जना देविति नीवृता जनपदा येन तेन श्रान्तानेकदेशेनेययं । 'नहिबृती'त्यादिना दीर्घं । मया सदसद्वेति सशयगोचर शब्देहास्यदनुदर यस्या सा कृशोदरी-त्ययं । 'नासिकोदरे' त्यादिना डीप् । सा दनयन्ती द्योरतिथित्वमनायि स्वविषयता नीता इष्टेत्ययं । नयते कर्मणि लुङ् ॥ ४० ॥

अन्वय -- सरसी परिशीलितु गमिकर्माकृतनैकनीवृता मया सदसत्प्रशय-गोचरोदरी सा दृशा अतिथित्वम् अनायि ।

हिन्दी—अनेक शरोवरों में अवगाहन करने की इच्छा से अनेक देशों को गमन कर्म का विषय बनाते (अनेक दिशा-दिशान्तरों में घूमते) मैंने जिसका उदा 'अस्ति-नास्ति' का सशय उत्पन्न कर देता है—दृष्टिपथ में आता ही नहीं—उस शरोदरी) को नदनों का अतिथि बनाया (देखा) ।

टिप्पणी—विचित्र है कि जिसका जग सरलतया दृष्टिगोचर ही नहीं हो पाना, उसे हम ने अपने नदनों से देखा । यह दिग्दिगत में परिभ्रमण से ही हो सका, जपरि जनेक देशों में वही ऐसी अकेली सुन्दरी है । अद्वितीया, अनुपना, उच्च-सी और कोई नहीं । साहित्यविद्याधरी के अनुसार 'वक्रोक्ति जीवित' के आधार पर यहाँ 'अर्थ की प्रीति' अर्थात् ओज गुण जोर पर्याय-वक्रा-प्रकार है । अनियोजित ॥ ४० ॥

अदध्व्य दिवोऽपि यौवर्तनं सहाधीतवनीनिमामहम् ।

कन्मस्तु विद्यानुगमे पत्रिरन्या वसनीत्यचिन्तयम् ॥ ४१ ॥

जीवातु—अवधृत्येति । अहमिमान्दमयन्ती दिव स्वर्गस्य सम्बन्धिभियो-
वतैर्मुंबतिसमूहैरपि 'गाभिण योवन गण' इत्यमर । भिक्षादित्वात्समूहाद्यै
अणप्रत्यय , तत्राप्यस्य युवतीति स्त्रीप्रत्यान्तस्यैव प्रकृतित्वेन तदग्रहणात् तत्सा-
मर्थ्यादेव 'भस्वाढे तद्धित' इति पुबद्भाव इति वृत्तिवार । न सहाधीतवती-
मसरशी ततोऽप्यधिकमुदरीमित्यर्थ । 'नजयंस्य न शब्दस्य सुप्सुपेति समास'
इति वामन । अवधृत्य निश्चित्य विधातु ब्रह्मण आशये हृदि अस्या पति-
कतमो नु कतमो वा वसतीत्यचिन्तयम्, तदैवेति शेष ॥ ४१ ॥

अन्वय — इमा दिव योवतै अपि सह तु न अधीतवतीम् अवधृत्य विधातु
आशये अस्या पति कतमः वसति—इति अहम् अचिन्तयम् ।

हिन्दी—यह निश्चय करके कि यह (दमयन्ती) स्वर्ग सुन्दरियों के साथ
भी तो पाठ नहीं पढ़ी है (रूप गुण में स्वर्ग सुन्दरियाँ इसके समान नहीं हैं)
मैं यह सोचने लगा कि विधाता के मन में कौन इसका पति है ?

टिप्पणी—भाव यह है कि असद्य सुन्दरी दमयन्ती के अनुरूप कहाँ
त्रिलोकी में वर प्राप्त होगा ? प्रतीप अथवा व्यतिरेक अलंकार ॥ ४१ ॥

अनुरूपमिम निरूपयन्नथ सर्वेष्वपि पूर्वपदानाम् ।
युवसु व्यपनेतुमक्षमस्त्वयि सिद्धान्तधिय न्यवेशयम् ॥ ४२ ॥

जीवातु—अनुरूपमिति । ययेदानीमनुरूप योग्य त्वा निरूपयन् तस्या
पतित्वेनालोचयन् सर्वेष्वपि युवसु पूर्वपदानां द्रुप्यकोटित्व व्यपनेतुमक्षम सन्
त्वयि सिद्धान्तधिय न्यवेशयम् । त्वमवास्या पतिरिति निरर्चपमित्यर्थ । अय-
मेव विधातुरप्याशय इति भाव ॥ ४२ ॥

अन्वय — इमम् अनुरूप निरूपयन् अप सर्वेषु अपि युवसु पूर्वपदानां व्यपनेतुम्
अक्षम त्वयि सिद्धान्तधिय न्यवेशयम् ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के अनुरूप (योग्य पति) का विचार करते
हुए सभी अन्य युवकों में पूर्वपदानां (अयोग्यरूपता) का निराकरण करने में
असमर्थ मैं आप (राजा नल) में सिद्धान्त बुद्धि (भ्रम्यनुरूपता) का
निश्चय किया ।

टिप्पणी—‘पूर्वपक्ष’ होता है किसी ‘विचार’ का आरम्भिक, असिद्ध और सदेहान्तर पक्ष, जो उत्तरपक्ष अर्थात् सिद्धांत पक्ष की अपेक्षा दुर्बल होगा ही। पूर्वपक्षमें जो समस्या उठायी जाती है, सिद्धांत पक्ष में उस का समाधान होता है। पूर्वश्लोक के अनुसार हृत् को दृष्टि में त्रिलोकी का कोई नष्ट-सदृशी दमयन्ती के सदृश नहीं आया। उस स्थिति में उसके मन में स्वानाविक विचार आया कि कौन तदा इसका अनुरूप पनि होगा? अनेक स्थात युवकों पर विचार किया, पर वे ‘पूर्वपक्ष’ ही रहे, ‘समाधान’ न बन पाये, ‘समाधान’ मिला नल के रूप में। सिद्धांत यह निर्गत हुआ कि त्रिलोक में दमयन्ती के अनुरूप नल ही है। इस प्रकार अन्य तदा है ‘पूर्वपक्ष’ और नल है ‘सिद्धान्तपक्ष’। सम अलकार ॥ ४२ ॥

अनया तव रूपसौमया कृतसस्कारविवोधनस्य मे ।

चिरमवलकिताऽपि सा स्मृतिमाहृत्वती शुचिस्मिता ॥ ४३ ॥

जीवात्—अयं त्वद्रूपदर्शनमेव सम्प्रति तत्स्मारकमित्याह—अनयेति । चिरमवलकिताऽपि सा शुचिस्मिता मुन्दरी अत्राधुना हस्तेन निदिशन्नाह—अनया तव रूपसौमया नौन्दर्यकाष्ठया कृतसस्कारविवोधनस्य उद्वुद्धसस्कारस्य मे स्मृतिमाहृत्वती स्मृतिपयङ्गता, सदादर्शनं स्मारकमित्यर्थं ॥ ४३ ॥

अन्वय—अत्र अनया तव रूपसौमया चिरम् अवलकिता अपि सा शुचिस्मिता कृतसस्कारविवोधनस्य मे स्मृतिम् आहृत्वती ।

हिन्दी—आज इस आपकी रूप-सौमा (लावण्य की पराकाष्ठा) द्वारा बहुत काल पूर्व देखी गयी थी वह शुभ्रमदहासशालिनी (दमयन्ती) पूर्व सस्कार के अनुद्बोध के कारण मेरी (हृत् की) स्मृति में आ गयी ।

टिप्पणी—मनुष्य बन्धु के दर्शन ने प्राकृष्टन सस्कार उद्वुद्ध हो जाते हैं और पूर्व दृष्ट का स्मरण हो जाता है। दमयन्ती के अनुरूप नल को देख कर हृत् की पुरानी स्मृति नवीन हो गयी और दमयन्ती ध्यान में आ गयी। स्मरण अलकार ॥ ४३ ॥

स्वयि वीर । विगजते परं दमयन्तीकिलकिञ्चित् किल ।

तदगीम्नन एव दीप्यते मणिहारावलिरामणीयकम् ॥ ४४ ॥

जीवातु—तत किमत आह—त्वयीत्यादि । हे वीर ! दमयत्या किल-
किञ्चित्तम्, 'क्रोधाधुर्त्पभीत्यादे सङ्खर किलकिञ्चित्तमि'त्युक्तलक्षणलक्षित-
श्रृङ्गारचेष्टित त्वयि परन्त्वय्येव विराजते किल शोभते लभु । तथाहि—मणि
हारावलेमुक्ताहारपङ्कजे रामणीयक रमणीयत्व 'मौपाघाद् गुरुपोत्तमाद् वृत्' ।
तरुणीस्तन एव दीप्यते, नाग्यशेरयथ । स्तनादीना द्वित्वविशिष्टा जाति प्राये-
णेति प्रायग्रहणादेकवचनप्रयोगा । अत्र हारकिलकिञ्चित्तयोरुपमानोपमेययो-
र्वाक्यद्वये विम्बप्रतिविम्बतया स्तननूपयो समानधर्मत्वोक्तेर्दृष्टान्तालङ्कार,
लक्षणन्वक्तम् ॥ ४४ ॥

अन्वय —वीर, दमयन्ती किल किञ्चित पर स्वयि विराजते किल, मणि-
हारावलिरामणीयक तरुणीस्तने एव दीप्यते ।

हिन्दी—हे वीर, दमयती का किलकिञ्चित (शृंगार चेष्टा) केवल तुष
पर विशेषतः रामा पायेगा, मणिमाल को रमणीयता तरुणी के कुक्षों पर ही
दीपती है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल और दमयती की रूप रामा परस्पर प्रयुक्त
ही सुशोभित और सार्थक होगी । प्रिय मग होने पर मद हास्य, अश्रुरहित
रुदन, हँसो, मय, क्रोध, श्रम आदि के समिश्रण से जो तरुणियों की श्रृङ्गार-
चेष्टाएँ होती हैं, वे 'किलकिञ्चित' है—'स्मितशुष्करुदितहसितश्रासक्रोधश्रमादीनाम्
साङ्ख्यं किलकिञ्चित्तममोष्ठमसङ्गमादिजाद्वर्पात्' (साहित्यदर्पण ३।१।१०) ।
मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टात और विधापर के अनुसार प्रतिवस्तूपमा ॥ ४४ ॥

तव रूपमिद तथा विना विकल पुष्पमिवावकेशिन ।

इयमूढधना वृथाश्वनी, स्ववनी सम्प्रवदत्पिकापि का ? ॥ ४५ ॥

जीवातु—तवेति । हे वीर ! तवेद रूप सो दर्श तथा दमयत्या विना
अवकेशिनो बन्ध्यवृक्षस्य 'बन्ध्योऽश्लोश्ववेशी चे'त्यमर । पुष्पमिव विफल्
निरर्थकम्, अूढधना सम्पूर्णवित्ता इयमवनी वृथा निरर्थिका । सम्प्रवदत्पिका
बुद्धत्वोक्लिा स्ववनी निजोद्यानमपि 'डीप्' का तुच्छा निरर्थकत्वार्थः । तद्योगे
तु सर्व सकरमिति भाव । 'नि वितव' परिप्रदाने क्षेपे नि'दापराधमारि'ति
विद्व । अत्र नलरूपावनीवनीना दमयत्या विना रम्यतानियेषाद्विनोक्तिरल-

द्वार । 'विना सम्बन्धि दक्षिदिशाद्यत्र परा नदेत् । रम्यताश्रमता वा
स्मात् सा विनोक्तिरनुमृते'ति लक्षणात् । तन्वाञ्च पुष्पनिवेत्पुष्पमया सृष्टि ।

अन्वय — एवकेयिन पुष्पम् इव तव इदं रूपं तथा विना विफलम्, इदम्
शृङ्खला इवनी वृथा, सम्प्रवदन्विका अपि स्ववती का ?

हिन्दी—जैसे अवकेशी (बान वृत्त) का फूल (जयवा 'अवकेशी' जयान्
केन्द्रित व्यक्ति द्वारा सिर में लगाया फूल) विकल जयान् फलरहित होता है,
वैसे ही यह आपका रूप उससे विना निष्फल है, यह धनवान् से सृष्ट घरा व्यर्थ
है जोर कीकिल-द्वन्द्व से कूजित जापकी विनास-वाटिका भी क्या है ?
(व्यर्थ है ।)

टिप्पणी—आप यह है कि न-का यह रूप सौन्दर्य, यह समृद्धराज्य,
यह हरी-भरी विलास शाली तनी सार्थक है, जब 'यह' साथ हो । मन्दिनाय
के अनुसार विनोक्ति-इपमा की सृष्टि, विद्याधर न कैतानुप्रास, विनोक्ति,
दीपक जोर इपमा जलकारो का निर्देश किया है ॥ ४५ ॥

अनयाश्चरकाम्यमानया सह योगः सुदुर्लभः न त्वया ।

घनसद्वृत्तयाऽनुदागमे कुमुदेनव निराकरत्विषा ॥ ४६ ॥

जीवानु—जवान्यापेजा दस्यमिनु तस्या दौलन्मनाह-अनयेति । अमरैरि-
न्द्रादिभि काम्यमानयाऽनिलप्यनापया दनयन्त्या सह योगः अम्बुदागमे घन-
सद्वृत्तया मेघावृत्तया निराकरत्विषा सह योगः कुमुदेनैव त्वया न मुल्लो दुर्लभ
इत्यर्थः । जत्र तन्सयोगदौलन्मत्य क्षमरकामनापदायहेतुवत्त्वात् काव्यलिङ्गभेदः,
तन्नापेजा चैवमुपमेति सङ्कर ॥ ४६ ॥

अन्वय — अम-काम्यमानया अनया सह योगः अम्बुदागमे घनसद्वृत्तया
निराकरत्विषा कुमुदेन इव त्वया न मुल्लन ।

हिन्दी—निचली बानना देवाग वृत्ते है, ऐसी इस (दनयन्ती) के साथ
धनता मिलन समी प्रकार सुदुर्लभ नहीं है, जिस प्रकार वर्षा-न में मेघाच्छल
चक्र को चन्द्र के साथ कुमुद का योग नहीं होता ।

टिप्पणी—सर्वथा अनुपपत्ता होने पर भी न-का दनयन्ती से विवाह सरल

नहीं है, सुसाध्य नहीं, दु साध्य बयवा प्रयत्नसाध्य है, क्योंकि इन्द्रादि देव भी उसकी कामना करते हैं। वर्षा का ७ में बादला स टकी चाँदनी कुमूद को तभी लवण हो पायी है, जब देव सहायता से वायु द्वारा मेघ उड़ जाते हैं, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार देवों सहायता और प्रयत्न से ही नल दमयन्ती-योग याम्य हागा, वैसे ही नहीं। मन्त्रिनाथ के अनुमार पदाद्यहेतुक काव्यलिङ्ग और उपमा का सकर, विद्याधर की दृष्टि में 'विम्बप्रतिविम्बमावेन' उपमा अलंकार।

तदहं विदधे तथा तथा दमयन्त्या सविधे तव स्तवम् ।

हृदये निहितस्तथा भवानपि नेन्द्रेण यथाऽननीयते ॥ ४७ ॥

जीवानु—अत्र का गतिरित्याह-सदिति । तत्तस्मात्कार्यस्य सप्रतिबन्ध-त्वादहं दमयन्त्या सविधे समीपे तथा तथा तव स्तव स्तोत्र विदधे विधास्य इत्यर्थ, सामीप्ये वर्तमाने प्रत्यय । यथा तथा हृदये विहितो भवानिन्द्रेणापि नापनीयते नेतुमशक्य इत्यर्थ । यथेन्द्रादिप्रभामिताऽपि त्वय्येव गाढानुरागा स्यात्तथा करिष्यामीत्यर्थ ॥ ४७ ॥

अन्वय—तू अहं दमयन्त्या सविधे तथा तथा तव स्तव विदधे यथा तथा हृदये निहित भवान् इन्द्रेण अपि न अपनीयते ।

हिन्दी—सो मैं (हम) दमयन्ती के निकट आपकी ऐसी-ऐसी प्रशंसा करूँगा, जिसमें उसके हृदय में स्थापित थाप इन्द्र द्वारा भी नहीं हटाये जा सकेंगे ।

टिप्पणी—प्रयत्न बोलता का सकेत । हस द्वारा राजा का ऐसा प्रशंसात्मक विवरण उपस्थित किया जायेगा कि अग्निदेव क्या इन्द्र को भी दमयन्ती नल के सम्मुख न गिनेगी । साहित्य विश्वप्ररी के अनुमार अनिष्टयोक्ति चद्रकलास्या के अनुसार अर्थापत्ति ॥ ८७ ॥

तव सम्मतिमत्र केवलामधिगतु म्रिगिद निवेदितम् ।

द्रुवते हि फलेन मावयो न तु कष्टेन निगोपयोगिनाम् ॥ ४८ ॥

जीवानु—तत्र तवैव क्रियता कि निवेदनेनेत्यन आह तत्रैति । यथास्मिन् कार्ये केवलामधी तत्र सम्मतिमन्नीभारमधिग तुमिद निवेदिन निवेदन धिरु ।

तथा हि साधवो निजोपयोगिता स्वोपकारित्व फलेन कार्येण द्रुवते बोधयन्ति,
किंतु कष्टेन वाग्वृत्त्या न द्रुवते । सामान्येन विद्येपत्तनयनं ह्यनोऽर्थांतरन्यास ॥

अन्वय --अन केवला एव सम्मतिम् अधिगन्तुम् इद निवेदितम् चिह्न,
हि साधव निजोपयोगिता फलेन द्रुवते न तु कष्टेन ।

हिन्दी—इस समय केवल जापकी स्वीकृति प्राप्त करते के निमित्त जो
वह निवेदन किया, उसे धिक्कार, क्योंकि भले व्यक्ति अपनी उपयोगिता फल
(कार्य) से ही बखानते हैं, कष्ट से (मोखिक) नहीं ।

टिप्पणी—उज्ज्वल अपनी सार्यकता क्रिया द्वारा प्रमाणित करते हैं, केवल
वातों से नहीं । हस ने जो इना कहा, वह इसी कारण कि कार्य सम्मन करने
से पूर्व वह महाराज नर को 'मङ्गरो' चाहता था । अर्थान्तरन्यास ॥ ४८ ॥

तदिदं विशद वचोऽमन परिपीयाभ्युदित द्विजाधिपात् ।

अनितृप्ततया विनिर्ममे म तदुद्गारमिव स्मित मितम् ॥ ४९ ॥

जौवातु—तदिति । स नलो द्विजाधिपात् ह्यनाच्छन्दाच्चान्युदितमावि-
नूत विशद प्रन नमवदातश्च तत् पूर्वोक्तमिदमनुभूयमान वच एवामृतमिति
रुचक तत्परिपीय अउ एव अतिवृततया अतिशील्येन तस्य वचोऽमृतस्य
उद्गारमिव स्मित स्मित विनिर्ममे निमित्तवान् । माह कर्त्तरि लिट् । अनितृ-
प्तस्य किञ्चिन्न सार उद्गार । स्मितत्वसाम्यात् स्मितस्य वामृतोद्गारोत्प्रेक्षा ।

अन्वय —द्विजाधिपात् जम्बुदित विशद तत् इद वचोमृत परिपीय स
अनितृप्ततया तदुद्गारम् इव स्मित स्मित विनिर्ममे ।

हिन्दी—द्विजराज चद्र के नमान सुध द्विजराज (पक्षिराज हस) से
उत्पि (निभून, रुहे गये) विशद (उज्ज्वल, विन्तु) वचनामृत का पान
कर अत्यन्त तृप्ति के कारण उस (राजा नर) ने उस (हस-वचन) के
उद्गार के सदृश मद हास्य किया ।

टिप्पणी—राजा को हस का प्रस्ताव सुनकर अत्यन्त उत्तुप और सुख
मिला । हस का वचन अमृत के समान सुध है, क्योंकि श्वेत से श्वेत ही का
उद्भव होता है । कवित्तनयसिद्ध मद हास्य का वर्ण भी श्वेत । मन्त्रिनाय

ने स्मित के सित्रव-साम्य के आधार पर बागमृतोद्गार की उत्प्रेक्षा मानी है। कदाचिन् कृठ टीकाकारों ने इस श्लोक में समासोक्ति मानी है, विद्यापर ने उसका खडन करते हुए रूपकोत्प्रेक्षालकार का निर्देश किया है। उनका कथन है कि 'वधोमृतम् मे रूपक है, वह उत्प्रेक्षा का निमित्त है। अर्थात्तर की प्रतीति का कारण रूपक ही है। इसमें यहाँ समासीनित नहीं है। चद्रवन्नाकार ने श्लिष्टपरपरितरूपक-उत्प्रेक्षा का अगागिमात्र सकर माना है ॥ ४९ ॥

परिमृज्य भुजाप्रजन्मना पतगङ्गोक्नदेन नैषध ।

मृदु तस्य मुदेऽगिरद् गिर. प्रियवादानामृतकूपकण्ठजा ॥ ५० ॥

जीवातु—परिमृज्येति । निषघाना राजा नैषध नल 'जनपदसन्दाह क्षत्रियादन्' । भुजाप्रजन्मना कौकनदेन पाणिगोणपङ्कजेनेत्यर्थ । पतग हल परिमृज्य तस्य हसस्य तथा मुदे ह्यपि प्रियवादानामेवामृताना कूप निधि कण्ठो वागिन्द्रिय तज्जन्त्या गिर मृदु यथा तथा अगिरद् प्रियवाक्यामृतरमि-
ञ्चदित्यर्थ । अत्र भुजाप्रजन्मना कौकनदेनति विषयस्य पाणोर्नगरणेन विष-
यिण काकनदस्यैवोपनिबन्धात् अतिशयोक्ति, 'विषयस्यानुपादानाद्विषय्युपनि-
बन्धने । यत्र सातिशयाक्ति इत्यतःविप्रौढोक्तिरसम्भवा ॥' इति उक्त्यात् । सा-
च पाणिकोक्तदयोरभेदाक्ति अभेदरूपा तस्या प्रियवादानामृतकूपकण्ठेति रूप-
समृष्टि ॥ ५० ॥

अन्वय—नैषध भुजाप्रजन्मना कौकनदेन पतग परिमृज्य तस्य मुदे प्रिय-
वादानामृतकूपकण्ठजा. गिर मृदु अगिरत् ।

हिन्दी—नल ने भुजा के अग्रभाग में जन्मे खडकमल (रजताग कर)
से विह्वल का मण्डल करके उसकी मोद वृद्धि ने निमित्त प्रिय वचन दण अमृत
के रूप स्वरूप कण्ठ से उत्पन्न वचन धीरे धीरे कोमलता पूर्वक बोले ।

टिप्पणी—हृद्य को कमल प्रिय होता है, राजा ने जनपदसन्दाह से हृद्य
का स्पर्श कर उसके प्रति प्रीति प्रकट की, कमल-भाजन दन्तर तदन्तर प्रिय
वचनरूप नुषा का पान कराया । अतिशयिस्कार । अतिशयोक्ति रूपक की
समृष्टि ॥ ५० ॥

न तुलात्रिपये तदावृत्तिर्न वचो वर्त्मनि ते सुनीलता ।
त्वद्बुदाहरणावृत्तौ गुणा इति मामुद्रिकमारमुद्रणा ॥ ५१ ॥

जीवानु—न तुलेति । हे हस ! तव जाकृति जाकारः तुलात्रिपये सादृश्य-
भूनां न वदति अमङ्गीत्यर्थः । ते तव सुशीलता शौशील्य वचो वर्त्मनि न
वदति वक्तुमशक्येत्यर्थः । अत एवावृत्तौ गुणा 'यदावृत्तिन्त्र गुणा' इति
सामुद्रिकाणा यः सारमुद्रणा सिद्धाप्रतिपादन सा त्वमेवोदाहरण यस्या सा
तयोक्ता आवृत्तिशौशील्ययो त्वय्येव सामानाधिकरन्त्यदर्शनादित्यर्थः । अत्र
एवोक्त वाक्याद्येभ्य पूर्ववाक्याद्यहेतुत्वात् बाध्यन्तिङ्गमलङ्कार 'हेतुर्वाच्यार्थ-
हेतुन्वे बाध्यन्तिङ्गमुद्रावृत्ति'ति लक्षणात् ॥ ५१ ॥

अन्वय —नत्र आवृत्ति तुलात्रिपये न, ते सुनीलता वचो वर्त्मनि न,
आवृत्तौ गुणा - इति सामुद्रिकमारमुद्रणा त्वद्बुदाहरणा ।

हिन्दी—तुम्हारा अकार ठीक नहीं जा सकता और तुम्हारी सुनीलता
वचन के पक्ष में नहीं जानी (तुम्हारे रूप की तुलना नहीं की जा सकती—
असह्य है तुम्हारा अकार और तुम्हारी सुशीलता का वर्णन मनत्र नहीं है),
अत सामुद्रिकशास्त्र के इस रहस्य या उदाहरण कि आवृत्ति में गुण एका कठ
है, सुद्धी हो ।

टिप्पणी—इस के अनुपमेय अकार और सुध्वनात्र की प्रशंसा । जैसा
सुन्दर रूप, वैसा ही स्वभाव । इस के माध्यम से 'यदावृत्तिन्त्र गुणा वदन्ति'
प्रमाणित हो रहा है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्तरवाक्याद्यं के पूर्ववाक्याद्यं हेतुक
होने से बाध्यन्तिङ्ग अकार, विद्यापर की दृष्टि में अतिशयोक्ति और बाध्यन्तिङ्ग ।
अक्षरालाकार ने इन दोनों अल्फाबे की निरपेक्षतया स्थिति के आधार पर समृष्टि
का निर्देश किया है ॥ ५१ ॥

न मुदर्पमयो तनु पर ननु कि वागपि तावकी तथा ।

न पर पयि पशुपानिताज्वलन्वे किमु मादृशेर्जपि सा ॥ ५२ ॥

जीवानु—न मुवर्षेति । ननु हे हस ! तवैव तावकी 'मुष्मदस्नदोरन्व-
तरस्मा सज् वै'ति चकारादण् प्रत्यये ङीप् 'तवन्ममकावेकवचने' इति तवका-

देश । तनु पर मूर्तिरेव सुवर्णमयी हिरण्यमयी न किन्तु वागपि तथा सुवर्णमयी शोभनाक्षरमयीत्यर्थं । अनवलम्बे निरवलम्बे पथि परमाकाश एव पक्षपातिता पक्षपातित्व किम् किं वेत्यर्थं । निपातानामनेकार्थत्वात् । अनवलम्बे निराधारे माह्लोऽपि सा पक्षपातिता स्नेहवत्तेत्यर्थः । अत्र तनुवाचो प्रकृताप्रकृतयो सुवर्णमयीति शब्दश्लेष एव पथि माह्लोऽपि पक्षपातितेति मजातीयससृष्टि, तथा चोपमा व्यज्यते ॥ ५२ ॥

अन्वय — तनु तावकी इय तनु पर सुवर्णमयी न किं वाक् अपि तथा अनवलम्बे पथि पर पक्षपातिता न, माह्लो अपि सा किम् ?

हिन्दी—निश्चय ही, तेरी यह देह ही सुवर्णमयी नहीं है किन्तु वाणी भी वैसी ही 'सुवर्णमयी' (शोभन वर्णों-अक्षरों, शब्दा, वाक्यों से-युक्त) है, निराधार पथ (आकाश) में ही तुम्हारी 'पक्षपातिता' (पक्षा द्वारा यात्रा) नगरी है, वह पक्षपात (अनुकूल भाव) मुझ जैसे निगतिक अर्थात् पर भी है । क्यों, है न ?

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक में कथित रूप और वाणी के सौंदर्य की पुष्टि । भाव यह कि दमयन्ती प्राप्ति के विषय में आधारहीन, असह्यम नल का सशर अथवा आधार हस ही है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ 'सुवर्णमयी' और 'पक्षपातिता'—इन दो श्लेषों की सजातीय ससृष्टि है, जिससे उपमा व्यजित होती है, विद्याधर ने श्लेष और उत्प्रेक्षा माने हैं ॥ ५२ ॥

भुजनापभृता मया भवान्मरुदासादि तुपारमारवान् ।

धनिनामितर सता पुनर्गुणवत्सन्निधिरेव सन्निधि ॥ ५३ ॥

जीवातु—मृतेति । भुजतापभृता अतिमतापभाजा मया भवास्तुपारै शीतलं मारवानुवृष्टो मरुत् माहन मन् आगादि सतापहरत्वादिति भाव । तथा हि—धनिना धनिकाना कुपेरादीनामितर पश्यद्वादि सश्चामी निधि-द्वेति सन्निधि, मता विदुषा पुन गुणवता सन्निधि माभिध्यमेव सन्निधि महानिधि । सतापहारित्वात् त्वमेव गिशिरमाहत, अयतस्तु दहन एवेति भावः । इष्टांताल्लङ्कार लक्षण नूतनम् ॥ ५३ ॥

अन्वय—मृगतापनृता मया तुषारस्तरवान् मत्सु भवान् वासादि, धनिता सन्निधि इतर पुन सता जुगवत्सन्निधि एव ।

हिन्दी—(वियोगज्वर से) अत्यंत लतल मैंने हिम के श्रेष्ठ नाम से यक्त (बन्दत शीतल) वायु आपकी प्राप्त कर लिया, धनवानों की अन्य धनद्रव्य आदि अच्छी निधि (कोप) हो सकते हैं, सज्जनो की सन्निधि (श्रेष्ठ कोप) तो फिर गुणियों से समागम ही है ।

टिप्पणी—प्रायः यह कि विरहज्वर से पीड़ित नल को हस की प्राप्ति शीतलतम समार के समान सुखदायिनी प्रतीत हुई, उन्हें हस क्या मिला, बहुत बड़ी निधि मिल गयी । निधियाँ नौ मानी जाती हैं—(१) महापद्म, (२) पद्म, (३) शल्ल, (४) मकर, (५) कच्छप, (६) मुकुन्द, (७) कुन्द, (८) नील और (९) खर्व—‘महापद्मश्च पद्मश्च शल्लो मकरकच्छपौ । मुकुन्दकुन्दनीलाश्च खर्वश्च निधयो नव ॥’ मालवनाथ ने यहाँ दृष्टांत अलंकार का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार ने रूपकद्वय की समृष्टि । किन्हीं टीकाकारों ने यहाँ सनानोक्ति मानी है, बिद्याधर उसे अमान्य ठहराते हैं, क्योंकि यहाँ रूपक और जयांतरन्मास अलंकार हैं और अर्थान्तर की प्रतीति रूपक से ही होती है ॥

शतस्र. श्रुतिमागतैः सा त्रिजगन्मोहमहीपधिर्मम ।

अधुना तव शसितेन तु स्वदृशोवाधिगतामवैमि ताम् ॥ ५४ ॥

जीवानु—शतस्र इति । त्रिजगतं त्रैलोक्यस्य मोहे सम्मोहने महीपधिः सहोपधमिति रूपकम् । सा दमयन्ती शतस्रो मम श्रुति श्रोत्रमागतैव अधुना तव शसितेन कथनेन तु स्वदृशा मम दृश्यवाधिगता दृशामवैमि साक्षाद् दृष्टा मन्ये । आसक्तिप्रामाण्यादिति भाव ॥ ५४ ॥

अन्वय—त्रिजगन्मोहमहीपधिः सा शतस्रः मम श्रुतिम् आगता एव, अधुना तव शसितेन तु ता स्वदृशा एव अधिगताम् अवैमि ।

हिन्दी—त्रिलोकी का समोहन करने की उत्तम ओपधि (श्रेष्ठ जड़ी दूटी-समोहिनी विद्या) वह (दमयती) सैकड़ों बार मेरे कानों में आयी हो है, इस समय तुम्हारे इस कान द्वारा तो वह मुझे अपने नेत्रों से देख रही ही प्रतीत हो रही है ।

टिप्पणी—जैसा कि पहिले प्रथम सर्ग मे (श्लोक स ४४) कहा जा चुका है कि नल ने अनेक बार दमयन्ती को चर्चा सुनी थी, हय ने तो उसका ऐसा सजीव चित्र उपस्थित किया कि नल को लगा कि वह दमयन्ती को प्रत्यक्ष देख रहा है। रूपक और भाविक अलंकार अथवा दोनों की समष्टि। 'काव्यप्रकाश' के अनुसार—'प्रत्यक्षा इव यद्भावाः क्रियन्ते भूतभाविनः, तद् भाविकम्' ॥ ५४ ॥

अखिल विदुषामनाविल मुहुदा च स्वहृदा च पश्यताम् ।

सविधेऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रसाक्षिणी ॥ ५५ ॥

जीवानु—अथ स्वदृष्टेरप्याप्तदृष्टिरेव गरीयसीत्याह—अखिलमिति । मुहुदा आत्ममुखेन स्वहृदा स्वान्तःकरणेन च मुहुद्ग्रहण तद्वत्सुहृद श्रद्धेयत्व-ज्ञापनायमखिल कृत् नमर्थमनाविलमसदिग्यम् अविपर्यस्त यथा तथा पश्यता-मवधारयता विदुषा विवेकिना सविधे पुरोऽपि न सूक्ष्मसाक्षिणी असूक्ष्मार्थ-दक्षिणी 'सुप्सुपे'ति समाम । अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्र न तु द्वरमूढमायद-शनोपयोमितीत्यय ॥ ५५ ॥

अन्वय.—सुहृदा स्वहृदा च अखिलम् जनाखिलम् पश्यता विदुषा सविधे अपि न सूक्ष्मसाक्षिणी अक्षिणी वदनालङ्कृतिमात्रम् ।

हिन्दी—आस, मित्र और अने मन के माध्यम से समस्त वस्तुजात हो असदिग्ध रूप से देखनेवाले विद्वज्जनों की निकटस्थ भी सूक्ष्म वस्तु को न देख सकने वाली अवि मुष की अलङ्कृति मात्र है ।

टिप्पणी—आँलों के निकटतम हाता है काजल, पर वे उसे भी नहीं देख पातीं, तो दूर की वस्तु क्या देखोगी ? दूर की वस्तु तो आस, मित्रों अथवा स्वम-गोमावना के माध्यम से ही गोचर होती है, अतः विद्वज्जनों के नेत्र तो बस मुख की गोमावाय हैं । सूक्ष्म—भार सहिनी के आँस नहीं हाँसी । हृद प्राप्त है, मित्र है, उमका 'गसिन' विश्रसनीय होना ही चाहिए । भाव यह है कि अप्रत्यक्ष दमयन्ती को—दूरदशम्विना की ये आँगे मित्र के माध्यम से देख सकती हैं । अनियोजित ॥ ५५ ॥

अमित मधु तन्कया मम श्रवणप्राचुणकीकृता जने ।

मदनान्प्राधनेऽभनन् स्वग धाय्या विगर्धयंधारिग ॥ ५६ ॥

जीवानु—अन्तर्निहित । हे स्वर्ग ! जनें विदनांतजनं मम धवग-
प्राधुग्रीहृता कार्तिथीहृता तद्विषयीहृतेत्यर्थं । 'आवेद्यिक् प्राधुग्राक आग-
न्तुरतिविस्तये'ति ह्याद्युय । अमितमपरिमित मयु औद्र तद्वदतिमयुरेत्यर्थं ।
तत्कथा तद्गुणानां अर्थपरिचरिणो यत्नान्तरम्य मम मदनानलदोषने मदना-
न्तिप्रवृत्तने धाव्या सामिधेनी नवेत् 'ऋत् सामिधेनी धाव्या च वा स्यादग्नि-
समिधने' इत्यनर । 'पाय्यनात्राय्ये'त्यादिना निपात । विक् वाक्यायौ
निष्ठा । अत्र तत्कथाया धाव्यात्मना प्रहृतमदनाग्नीन्धनोपयोगात् परिष्ठा-
नालङ्कार, 'आरोपनात्म्य प्रहृतोपयोगित्वे परिष्ठा' इत्यलङ्कारसंबन्धकारः ।

अन्वय — स्वर्ग, जनें मम धवगप्राधुगिक्रीहृता अमित मयु तत्कथा अर्थपरि-
धागिण मम मदनानलदोषने धाव्या अमवत्—(इति) विक् ।

हिन्दी—हे विहा, लोकजनों द्वारा मेरे कानों की अतिथि बनायी गयी
(मुनायी गयी) प्रचुर मयु सम मीठी उसकी कथा मुझ अधोर व्यक्ति के काम-
ज्वर को दौल करने में सामिधेनी—अग्नि दौल करनेवाली ऋचा (अग्नि-प्रवृ-
त्तन) बन गयी—सो धिक्कार है मुझे ।

टिप्पणी—दमयती की कथा तो अनृत समान मीठी है, पर हाय रे हृतनाम्य
न, उसके निमित्त वह अग्निसमिधनो सामिधेनी ऋचा प्रनामित हुई । 'मुधा-
वतीरणी' कथा का ज्वलन प्रहासिका बन जाना दुर्भाग्य ही है । 'अलङ्कारसंबन्ध'
के अनुसार आरोप्यमान के प्रहृतोपयोगी होने पर परिष्ठा अलङ्कार होता है—
'आरोपनात्म्य प्रहृतोपयोगित्वे परिष्ठा ।' इन जाघा पर मन्त्रिनाथ ने
यहाँ दमयती-ऋचा के धाव्या रूप में प्रहृतमदनाग्नि के इषन्स्वरूप उपयोग से
परिष्ठा अलङ्कार माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति रूपक-अर्था-
न्तरत्यास की समृष्टि है । पद्य के प्रथम चरण में रूपक और मदन में अनलत्व
के आगे का कथा में मन्त्र के आरोप में निमित्त होने से अस्मिष्ट उद्ग-
तिवधन परमगिरूपक मान कर चद्रलाकार ने दोनों रूपकों का अगाग्निभाव-
संकर माना है ॥ ५६ ॥

विधनो मन्त्राहिमष्टशीविस्फूकारमयो मत्रोहित ।

वन कालकलत्रदिग्द पवनन्तद्विरहानलधना ॥ ५७ ॥

जीवातु—विपम इति । विपम प्रतिकूल कालकलत्रदिग्भव यमदिग्भव प्राणहर इति भाव , पवनो दक्षिणमास्त तद्विरहानलैधमा दमयन्तीविरहाग्नि समिधा तदाह्निनेत्यथ । मया मलये मलयाचले या अहिमण्डली सर्पसङ्घ तस्या विपफूत्कारमय ऊहितस्तद्रूप इति तर्कित इत्यथ । लोके च 'अग्निरेधासि फूत्कारवार्तध्मायत' इति भाव । वतेति खेदे । विरहानलैधसेतिरूपकोत्यापितेय दक्षिणपवनस्य मलयाहिमण्डलीफूत्कारत्वात्प्रोक्षेति सकर ॥ ५७ ॥

अन्वय — कालकलत्रदिग्भव, विपम पवन तद्विरहानलैधसा मया मलयाहिमण्डली विपफूत्कारमय ऊहितः वत !

हिन्दी—खेद कि यमरात्र की भायारूपा दक्षिण दिशा में उत्पन्न हुआ वह पवन को उस (दमयती) के विरहानल के ईंधन मीने मलयाचल की सर्प मण्डली के विपभरे फूत्कार—सदृश मानने की क्लिष्ट कल्पना की ।

दिप्यणी—मलय का शीतल, मद, सुगन्ध समीर दमयती को वियोगाग्नि में दग्ध होते नल को मलय-चन्दन-वृक्षों पर लिपटे नागों का फूत्कार-सदृश प्रतीत होता था । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकोत्यापिता उत्प्रेक्षा होने से सकर, विद्या धर की दृष्टि में वाय्व्यालिंग और रूपक अलंकार और पदार्थ भ वाक्यार्थ प्रतिपादन से अोज गुण ॥ ५७ ॥

प्रतिमासमसौ निशाकर खग । सङ्गच्छति यद्दिनाधिपम् ।

किमु तीव्रतरंस्तत करेमंम दाहाय स धैर्यं तस्करे ? ॥ ५८ ॥

जीवातु—प्रतिमासमिति । असौ निशाकरो मासि मासि प्रतिमासम्प्रतिदर्शमित्यथ । वीप्सायामव्ययोभाव । दिनाधिप सूर्यं सङ्गच्छति प्राप्नोतीति यत्तत् प्राप्ते, स निशाकर तीव्रतरंस्त एव धैर्यं तस्करे मंम धैर्यं हरिभि करे-सौरं तत् आनीतं मम दाहाय सङ्गच्छतीत्यनुपङ्ग , किमुशब्द उत्प्रेक्षायाम् । अत्र सङ्गमनस्य दाहायत्वात्प्रोक्षणात् फलोत्प्रेक्षा ॥ ५८ ॥

अन्वय — खग, असौ निशाकर प्रतिमास यद् दिनाधिप सङ्गच्छति किमु तव स तीव्रतरं धैर्यं तस्करे करने मम दाहाय ?

हिन्दी—हे शायणकारी (हठ), यह निशाकर (चंद्र) प्रत्यक्ष महीने

जो सूर्य में सगमन करता है, सो क्या वह अन्धत तीक्ष्ण, धीरज की तस्कर किरणों द्वारा मूत्रे चलाने के लिए उससे मिलता है ?

टिप्पणी—विरही का शीतल चद्र किरणें भी दाहक प्रतीत होती हैं । इसके कारण की यह संभावना की गयी है कि चद्र प्रतिमास जो सूर्य राशिस्थित होता है, सो उनसे यह दाहकता ले आता है । स्वयम् तो हानि पहुँचा नहीं सकता तो अय की सहायता से पहुँचाता है । आकाशचारी ग्रहों का भेद आकाशचारी ही जान सकता है, 'खग' सम्बोजन को यही सायंकता है—खे आकाशे गच्छति खग । 'सङ्गमन' को 'दाहायता' में उत्प्रेक्षा के कारण फलोत्प्रेक्षा (जीवातु), अनुपमान (साहिन्यविद्याधरी) ॥ ५८ ॥

कुसुमानि यदि स्मरेपवो न तु वज्रं विपवल्जिजानि तत् ।

हृदय यदमूमुहृत्प्रमूमं यच्चतितमामतीतपन् ॥ ५९ ॥

जीवातु—कुसुमानीति । स्मरेपव कुसुमान्येव यदि न तु वज्रमयनि सद्योमरणानावादिति नाव । तत्तथा अस्तु किन्तु विपवल्जिजानि विपलतो-
त्पनानि । यद्यस्मादमू स्मरेपव 'पत्री रोप इपुद्वंयोरि'ति स्त्रीलिङ्गता, मम हृदयममूमुहृत् अमूच्छंयन् मुह्यते'णी चङ्, यद्यस्मादतितमामतिमात्रमव्ययादाम्प्र-
त्यय । अतीतपन् तापयन्तिस्म, तपतेपी चङ् मोहतापलक्षणविपमकार्यदंशना-
द्विपवल्जिजत्वोत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

अन्वय—स्मरेपव कुसुमानि यदि न वज्र तु तत् विपवल्जिजानि (अथवा यदि स्मरेपव विपवल्जिजानि कुसुमानि न तु तत् वज्रम्), यत् मम हृदयम् अमूमुहृत् यत् च अतितमाम् अतीतपन् ।

हिन्दी—यदि काम के बाण फूल हैं, वज्र नहीं, तो वे विपवल्जिरी से उत्पन्न हुए हैं (अथवा यदि कामबाण विपलता से उत्पन्न फूल नहीं हैं तो वे वज्र हैं), जो कि मेरे हृदय को उन्हांने मुच्छित कर दिया और जो कि अत्यंत संतप्त किया ।

टिप्पणी—नाव यह कि दमयती के वियोग में नल का हृदय वेनुष और अतिसंतप्त है, पुष्पबाण विपवल्जी से जन्मे हैं, अतः विमोहित करनेवाले हैं, वे

वञ्ज है, सो दाहन्ता से युक्त हैं । विद्याधर के अनुसार अनुपमान और मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

तदिहानवधौ निमज्जतो मम कन्दर्पशराधिनीरधौ ।

भव पोत इवावलम्बन विधिनाऽकस्मिन्सृष्टसन्निधिः ॥ ६० ॥

जीवातु—तदिति । तत्तस्मादिहान्निमज्जतो नवधौ अपारे कन्दर्पशरैरे आधि-
र्मनोध्यया 'पुस्याधिर्मानसो व्यथे'त्यमर । तस्मिन्नेव नीरधौ समुद्रे निमज्जतो
अतर्गतस्य मम विधिना दैवेनाकस्मादकाण्डे भवमाकस्मिकमध्यात्मादित्वात्
ठक्, अव्ययानाम्ममाथै टिलोप तद्यथा तथा सृष्टसन्निधि सन्निधान भाग्यादागत
इत्ययं । त्व पोतो यानपात्रमिव 'यानपात्रन्तु पोत' इत्यमर । अवलम्बन भव ॥

अन्वय—तत् इह अनवधौ कन्दर्पशराधिनीरधौ निमज्जत. मम विधिन
थाकस्मिकसृष्टसन्निधि पोत इव अवलम्बन भव ।

हिन्दी—सो इस निमर्षादि कामवाणजानव्यया-समुद्र मे डूबने मेरे विधाना
द्वारा जो अकस्मात् निकट भेज दिया गया है, उस जलयान की भाँति आश्रय बने ।

टिप्पणी—विरह व्यथा सागर में डूबने नल को हस्त देवादिष्ट जलयान के
समान महायक—आलवन प्रतीत हुआ । रूपक उरमा की सृष्टि ॥ ६० ॥

अथवा भवत प्रवर्तना न कथ पिष्टमिय पिनष्टि न ? ।

स्वत एव सता परार्थता ग्रहणाना हि यथा यथार्थता ॥ ६१ ॥

जीवातु—अथवेति । अथवा इय नोऽस्माक सम्वायिनो 'उभयप्राप्तौ
कर्मणी ति नियमात् कतरि वृद्धोगे पठ्योनिपेयेऽपि शेषपृष्टीपर्यवमानात् कर्मण-
लाम । भवत 'उभयप्राप्तौ कर्मणी'ति पठ्यो, प्रवर्तना प्रेरणा 'व्यासधन्वो
युक्', कथ पिष्ट न पिनष्टि ? स्वत प्रवृत्तिविवक्षत्वात् पिष्टपेपणरुन्नेश्वर्यं ।
हि यस्माद् ग्रहणाना जानाना यथार्थता याथाव्ययथा प्रामाण्यमिव स्वत सर्व-
प्रमाणाना प्राभाष्यमिव 'गृह्यता जाता मनीषा स्वत एव मानमि'ति मीमांसका ।
सता परार्थता परायप्रवृत्ति स्वत एव न तु परत । उरमामसुष्टोऽर्थांतरन्याम ।

अन्वय—अथवा न इय भवत प्रवर्तना कथ पिष्ट न पिनष्टि, हि यथा
ग्रहणाना यथापता स्वत एव (तथा) सता परार्थता (अथ स्वत एव) ।

हिन्दी—अथवा जो यह भी आपको प्रवर्तित कर रहा है, वह क्या पिष्ट-
पेपण नहीं है ? (है हो), कारण कि वैसे ज्ञान स्वतः प्रमाण होते हैं वैसे ही
सज्जनों की परोपकार शीलता भी स्वतः होती है ।

टिप्पणी—भीमासकों के अनुसार ज्ञान स्वयम् अपना प्रमाण होता है—गृह्यता
आवा मनीषा स्वत एव मानम् । इसके विपरीत नैयायिक ज्ञान को परत प्रमाण
मानते हैं । सज्जन अप्रवर्तित ही परोपकाररत रहते हैं । भट्टहृदि के अनुसार
स्वार्थ त्याग कर परार्थघटक सन्तुष्य कहाते हैं—'सन्तुष्या परार्थघटका स्वार्थं
परित्यज्य ।' मल्लिनाथ के अनुसार उपमासन्तुष्ट अपरान्तरन्यास, विद्याधर के
अनुसार निदर्शना वाक्यदृष्टान्तालङ्कार ॥ ६१ ॥

तव वर्त्मनि वर्त्तता शिव पुनरन्तु त्वरित समागम ।

अपि साधय साधयेप्सित स्मरणीया समये वय वय ॥ ६२ ॥

जीवानु—तवेति । हे वय ! तव वर्त्मनि शिव मङ्गल वर्त्तता, त्वरित
क्षिप्रमेव पुन समागमोऽस्तु, अपि साधय गच्छ, ईप्सितमिष्ट साधय सम्पादय
समये कार्यकाले वय स्मरणीया । जनन्यागामि कार्यं कुर्या इत्यर्थ ॥ ६२ ॥

अन्वय—तव वर्त्मनि शिव वर्त्तताम्, त्वरित पुन समागम अस्तु, अपि
साधय, ईप्सित साधय, वय, समये वय स्मरणीया ।

हिन्दी—मार्ग में तेरा कन्वाग हो, शीघ्र ही फिर (वरा-भेरा) मिलन
हो, जाओ और अभीष्ट-प्राप्त करो, हे पक्षी, यथासमय हमारा स्मरण करना ।

टिप्पणी—राजा ने 'शिवो सन्तु ते पन्यात'—बहुते हृत् से विदावचन कहे ।
छोटे उठे नाट्योपयोगी वाक्य कवि के सवाद-कौशल के परिचायक हैं । 'आशीः'
नामक नाट्यालंकार । दही के अनुसार अमिलपित वस्तु का आद्यसन आशी
होता है—'आशीनांमालङ्कारेऽमिलपिते वस्तुत्वाद्यसनम् । चन्द्रकलाकार के
अनुसार यहाँ छेकाकार त्रार ओज नामक काव्य लक्षण है ॥ ६२ ॥

इति त स विसृज्य धैर्यवान्नुपनि सूनृनवाग्बृहस्पति ।

अविशद्वनवेश्म विस्मित श्रुतिलग्नेः कलहमशमिते ॥ ६३ ॥

जीवानु—इतीति । धैर्यवानुपनिनात् सधैर्यं सूनृनवाक् सत्यप्रियवादिषु

वृहस्पति तथा प्रगल्भ इत्ययं । 'सूनृत च प्रिये सत्यमि'त्यमर । स नृपतिरि-
तीत्य हस विभूज्य धृतिलग्नं श्रोत्रप्रविष्टं कलहसस्य घसितैर्विस्मित सन्
वावेश्म भोगगृहमविशत् ॥ ६३ ॥

अन्वय—घंघंवान् सूनृतवाग्वृहस्पति स नृपति इति त विभूज्य धृति-
लग्नं कलहसस्यसितैर्विस्मितः वनवेश्म अविशत् ।

हिन्दी—घंघंशाली, सत्य और प्रिय वाणी बोलने में वृहस्पतिसम प्रगल्भ
वह नरराज इतना बह हस को भेज कर कानों में लगे (प्रिय होने के कारण
अविस्मरणीय) सुन्दर हस के कहे हुए (अथवा हस के रमणीय अथवा गभीर
वचनों) पर विस्मित होना वाटिका गृह में प्रविष्ट हो गया ।

टिप्पणी—नल के घंघ, सत्यवादिता और प्रियवादिता का विवरण । राजा
ने हस को कार्य-साधाय भेजकर वाटिका में ही उसके लौट आने तक प्रतीक्षा
करने का निर्णय लिया । विद्याधर के अनुसार दीपक और अनिशयोक्ति ।
चद्रकलाकार के अनुसार 'सूनृतवाग्वृहस्पति' में लुप्तोपमा ॥ ६३ ॥

अथ भीमसुतावलोकनं सफल कर्तुं महस्तदेव सः ।

क्षितिमण्डलमण्डनायित नगर कुण्डिनमण्डजो ययो ॥ ६४ ॥

जोवातु—अथेति । अथ सोऽण्डजो हस तदहरेव भीमसुताया भूम्या
अवलोकनं सफल कर्तुं तस्मिन्नेव दिने ता द्रष्टुमित्ययं । क्षितिमण्डलस्य
मण्डनायितमलकारभूत कुण्डिन कुण्डिनास्थनगर ययो ॥ ६४ ॥

अन्वय—अथ स अण्डज तत् वह एव भीमसुतावलोकनं सफल कर्तुं
क्षितिमण्डलमण्डनायितं कुण्डिन नगर ययो ।

हिन्दी—तत्पश्चात् वह पक्षी उसी दिन भीमतनया (दमयती) के दशनों
द्वारा (अपने को) सफल करने के निमित्त पृथ्वीमण्डल के अलकार बने कुण्डिनपुर
की ओर चल दिया ।

टिप्पणी—कुण्डिन नगर समृद्धि के कारण तो रमणीय था ही, दमयती के
कारण वह पृथ्वीमण्डल का शृंगार बन गया था । अनुप्रास और उपमा
अलकार ॥ ६४ ॥

प्रथम पथि लोचनातिथि पथिकप्रार्थितनिद्धिसानिनम् ।

कलस जलममृत पुर कल्हम कल्याम्बभूव स ॥ ६५ ॥

जीवातु—अथ श्लोकत्रयेण शुभनिमित्तान्याह-प्रथममित्यादिना । स कल्हस प्रथममात्री पथि मार्गे लोचनातिथिं दृष्टिप्रिय पदिकाना प्रख्यातुणा प्रार्थितस्य इष्टायंस्य सिद्धिसानिन सिद्धिसूचक जलममृत जलपूर्णं कल्पन पूर्णकुम्भ पुरोऽग्रे कल्याम्बभूव ददर्श ॥ ६५ ॥

अन्वय—सः कल्हस प्रथम पथि पथिकप्रार्थितनिद्धिसानिन जलममृत कस पुर लोचनातिथि कल्याम्बभूव ।

हिन्दी—उस कल्हम ने पहिले मार्ग में पथिकों के अमोष्ट की सिद्धि के द्योतक जलपूर्ण कलस को समुक्त नेत्रों का अतिथि बनाया (देखा) ।

टिप्पणी—उद्देश्य सिद्धि के द्योतक शून शकुनों का तीन श्लोकों (६५-६७) में विवरण प्रस्तुत किया गया है, इस में जलपूर्ण कलस का विवरण है । 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार अनुनास और उपमा, चद्रकलाख्या के अनुसार वृष्यनुप्रास और छेकानुप्रास का एकाग्रयानुपवेशसकर ॥ ६५ ॥

अवलम्ब्य दिदृक्षयाऽम्बरे क्षणमाश्रयंरसालस गतम् ।

स विलामवनेऽवनीभूतः फलमैक्षिष्ट रमालमगतम् ॥ ६६ ॥

जीवातु—जवलम्ब्येति । स हसो दिदृक्षया स्वगतव्यमार्गालोकनेच्छया अम्बरे क्षणमाश्रयंरसेन तद्वस्तुदर्शननिमित्तेन अद्भुतरसेन अलस भद्र गत गतिमवलम्ब्य अवनीभूजो नालस्य विलासवने विहारवने रसालेन चूतवृक्षेण मङ्गत सम्बद्धम्, 'आम्रश्चूतो रमालोऽना' वित्यमर, फलमैक्षिष्ट दृष्टवान् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—स दिदृक्षया अम्बरे क्षणम् जादशयंरसालम गतम् अवलम्ब्य अवनीभूजो विलासवने रसालसङ्गत फलम् ऐक्षिष्ट ।

हिन्दी—उस (हस) ने देखने की इच्छा से आकाश में क्षण भर विस्मय-रस से मद गति का अवलंबन कर राजा की विलासवाटिका में आम्रवृक्ष पर लगे फल को देखा ।

टिप्पणी—वृक्ष पर लगा फल दीखा, एक और दुभनकुन हुआ । 'आश्चर्य-रस' में स्वशब्दवाच्यत्व नामक रसदोष । विद्याधर के अनुसार असदष्टयमक अलंकार, चद्रकलाकार के अनुसार प्रथम चतुर्थ-चरण में आये दो अत्ययमको की मसृष्टि ॥ ६६ ॥

नभस कलभैरुपासित जलदैभूरितरक्षुपन्नगम् ।

स ददर्श पतङ्गपुङ्गवो विटपच्छन्नतरक्षुपन्नगम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—नभस इति । पुमान् गौ वृषभ विशेषणममास, 'गोरतद्वितलु-गि'ति समासा तष्टच् स इव पतङ्गपुङ्गव पक्षिश्रेष्ठ उपमितसमासा, नभस कलभैः खेधरकरिक्लर्परित्ययं । जलदैरुपासित व्याप्त भूरय बहवस्तरक्षवो मृगादना पन्नगा यस्य तं विटपै शालाविस्तारेण, 'विस्तारो विटपोऽस्त्रियामि'त्यमर छन्नतरा अतिसयेन छादिता क्षुपा ह्रस्वशाखा, 'ह्रस्वशाखाशिफ क्षुप' इत्यमरः । नग पर्वत ददर्श 'पूर्णकुम्भादिदर्शनं पान्यक्षेमकरमि'ति निमित्तना ।

अन्वय —स पतङ्गपुङ्गव कलभैः जलदै उपासित भूरितरक्षुप विटपच्छ-न्नतरक्षुपन्नग नग ददर्श ।

हिन्दी—आकाशचारियों में श्रेष्ठ उस (हम) ने हस्तिशावकी जंग मेंघों से व्याप्त, प्रचुर शाला-बल्लरियों से युक्त छोटे-छोटे वृक्षा से परिपूर्ण वक्षों में छिपे तेंदुए और सर्पों से भरा पर्वत देखा ।

टिप्पणी—यात्रा में हाथी का मिल्ना शुभ माना जाता है, अतः पर्वत-शिखरो पर छाये मेंघों की 'कलम' रूप में कल्पना की गयी, हिंस्र पशु और सर्प का दीखजाना अशकून माना जाता है, अतः उनके अदर्शन के निमित्त उनका वृक्षों में छिपा हो जाना बताया गया । पर्वत पर 'यह सब' होता ही है । 'साहि-त्यविद्याधरो' के अनुसार यहाँ अतिसयोक्ति और असदष्टयमक अलंकार हैं, 'चद्रकलाधमा' के अनुसार रूपक और अत्ययमक ॥ ६७ ॥

स ययौ घृतपक्षति क्षण क्षणमूर्ध्वापिनदुविभावनः ।

विततीकृन्निश्चलच्छद्र क्षणमालौकिकदत्तकौतुक ॥ ६८ ॥

जीवातु- स इति । स हम क्षण घृतपक्षति कम्पितपक्षमूत क्षणमूर्ध्वा-

यनेन ऋष्यंगमनेन दुविनायनो दुष्परावधारणो दुलक्ष इत्ययं । पितृतीकृतो
विस्तारीकृतो निश्चलो ह्यदी पञ्ची यन्म्य स , तथा क्षपनालोकनाया द्रष्टृणा
वत्तज्ञोक्तं सन् ययौ । स्वभावोक्तिः ॥ ६८ ॥

अन्वय — स क्षप घृतपति क्षपन् ऋष्यापनदुविनायन क्षप विवृती-
कृतनिश्चलच्छदः आलोककदत्तगौतुकं सन् ययौ ।

हिन्दी—बह (हस) क्षप भर पक्षमूलो को कपित करता, क्षप भर लंबे
उठने के कारण दुर्लक्ष्य होता, क्षपभर निश्चल पक्षों को फेंकता बटएव दण्डों
में कौतुक उत्पन्न करता रहा ।

टिप्पणी— इस प्रकार विविध शैलियों में उठना पक्षि-स्वभाव है, फलतः
मस्तिष्काय के अनुसार स्वभावोक्ति अलंकार, 'साहित्यविद्यापरी' के अनुसार दीपक-
जाति का सङ्कर । यहाँ से पाँच श्लोकों (६८-७२) में तीव्र गति से उठने हस
का वान है ॥ ६८ ॥

तनुदीधितिघान्या रयाङ्गमया लोकविलोकनामसौ ।

छदहेम क्यन्निवालसत् क्यपापापनिभे नमस्तले ॥ ६९ ॥

जीवानु—तन्विति । असौ ह्यसौ रयाङ्गो तत्पन्नयेति वेग । लोकस्य
आलोकिकजनस्य परीक्षकजनस्य च दिशोऽङ्गना दशनं गतया कौतुकाद्वर्षपरिक्षा च
विलोकनानपेक्षार्थं । तनोः शरीरस्य तन्वा मूक्यया च दीपितिवारया रस्मि-
रेखया निमित्तेन क्यपापापनिभे निक्षयोपलमनिभे नमस्तले छदहेम निजनभसुवर्गं
क्यन् क्यन्निवालसत् असौमत्सुप्रज्ञा ॥ ६९ ॥

अन्वय — असौ रयात् लोकविलोकना गत्या तनुदीधितिघारया क्यपापा-
पनिभे नमस्तले छदहेम क्यन् इव क्लृप्तत् ।

हिन्दी—बह (हस) वेग के कारण जन-भोचरदा को प्राप्त (दीखती)
शरीर की किरणों की धार से (छदवा तीव्र गमन वेग से हस दीखती दीपित
घारा में) कमीटी के पपर के समान जाकर टल में पक्षों-का स्वर्ग कसता जैसा
मुशोन्नित हुआ ।

टिप्पणी—स्वगहन के शरीर को चमक इव आकाश में रेखा सी खिचती

तो लगता कि कसौटी पर कसे गये सोने की लकीर है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और उपमा, जिसमें उत्प्रेक्षा की अगमूता है। इसे चद्रकलाकार ने उपमा उत्प्रेक्षा का सकर कहा है ॥ ६९ ॥

विनमद्भिररथ स्थितैः खगैर्झटिति श्येननिपातशङ्खिभिः ।

न निरक्षि दृशंकयोपरि स्पन्दसाकारिपतत्रिपद्धति ॥ ७० ॥

जीवातु—विनमद्भिरिति । स्पन्देन वेगेन नाकारिणी सामिति शब्द कुवर्णा पतत्रिपद्धति पक्षसरणियंस्य म हस श्येननिपात शङ्खत इति तच्छङ्खिभि अतएव विनमद्भिवितीयमानैरथ स्थितै खगै झटिति द्राक् एकया दशा उपरि निरक्षि निरीक्षित । कमणि लुङ् । स्वभावोक्ति ॥ ७० ॥

अन्वय—स्पन्दसाकारिपतत्रिपद्धति स श्येननिपातशङ्खिभि विनमद्भि अथ स्थितै खगै पटिति एकया दशा उपरि निरक्षि ।

हिन्दी—वेग के कारण 'साँसाँ' करते पक्षी वाला बट्ट (हस) बाजपक्षी के आक्रमण को झका कर नीचे झुकन, अतएव निम्न भाग में जाकर उड़ते आकाशचारियों (पक्षियों) द्वारा झटपट ऊपर एक निगाह से ही देखा गया ।

टिप्पणी—हस इतने वेग से उड़ा जा रहा था कि उसके पक्षी से 'साँसाँ' की ध्वनि हो रही थी, अतएव अन्य उड़ते विहगों को शङ्का हुई कि कहीं यह आक्रान्ता श्येन न हो, सो वे ऊपर केवल एक दृष्टि डाल कर उससे प्राण पाने को धीरे नीचे जाकर उड़ने लगे । मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति, विद्याधर के अनुभार जाति और काव्यालङ्कार ॥ ७० ॥

ददृशे न जनेन यत्नमौ भुवि तच्छायमवेक्ष्य तत्क्षणान् ।

दिवि दिक्षु त्रितीर्णचक्षुषा पृथुवेगद्रुतमुक्तदृक्पय ॥ ७१ ॥

जीवानु—ददृशे इति । यत् न गच्छन्, इणो लट् शत्रादेश्च अतो हन भुवि तच्छाय तस्य हनस्य च्छाया 'विभाषा मेने'त्यादिना नपुमवत्वम् । अवेक्ष्य तत् क्षणात् प्रथम दिशि पश्चात् दिक्षु च त्रितीर्णचक्षुषा उत्तरदिष्टता जनेन पृथुवेगेन द्रुत तीघ्र मुक्तश्चय यत् न ददृशे न दृष्ट । क्षगमात्रेण दृष्टियमतिक्रान्त इत्यय ॥ ७१ ॥

अन्वयः—भूवि तच्छायम् अवेक्ष्य तन्नात् द्विविदिभु च द्वितीयां च सुधा
वनन पृथुवेगद्रुतमुत्तदृक्त्वात् अती यत् न ददौ ।

हिन्दी—धरती पर पठती रक्तकी छाया देख कर उसी क्षण से आकाश
और उड़ने की दिशाओं की जोर काँधें उठाकर देवने वनमनुह द्वारा अत्यन्त तीव्र
गति के कारण नयनपथ से ओझल होता बह (हम) उठकर जाता न दीप्त पडा ।

टिप्पणी—शोक जब तक ऊपर आँसु टटा कर देख सके तब तक तो तीव्र
गति में उड़ता हंस जाँसु-जोसल हो गया । विद्याधर ने इस श्लोक में काव्यलिंग
और पुल्लिङ्गत्वदानात् अलङ्कार माने हैं, चन्द्रकलाकार ने केवल काव्यलिंग का
निर्देश किया है ॥ ७१ ॥

न वन पथि शिश्रियेऽमुना क्वचिदप्युच्चतरद्रुचास्तम् ।

न सगोत्रजमन्ववादि वा गतिवेगप्रसरद्रुचा स्तम् ॥ ७२ ॥

जीवानु—नेति । गतिवेगेन प्रसरद्रुचा प्रसर्पतेऽमा अनुता हनेन क्वचिदपि
उच्चतरापामत्युन्नताना द्रुपा द्रुमाणा चास्ता रम्यता यस्मिन्नात् वन न
शिश्रिये । सगोत्रज वन्पुत्रव्य स्रूजिन वा नान्वादि नानूदितम् । मध्यमार्गे
जन्मनापनोदन वन्पुमन्नापणादिकमपि न वृत्तनिति सुदृक्त्वासांनुनन्यान्-
परोक्ति 'पलाशो द्रुद्रुमागमा' इत्यमर ॥ ७२ ॥

अन्वय — गतिवेगप्रसरद्रुचा अनुता पथि क्वचित्, अत्र उच्चतरद्रुचास्त
वन न शिश्रिये सगोत्रज स्त वा न अन्ववादि ।

हिन्दी—उड़े जाने के वेग के कारण जिनकी शोभा का प्रसार हो रहा था,
ऐसे इस (हंस) ने मार्ग में कहीं ऊँचे-ऊँचे द्रुमा (वृक्षों) की सुधना से मडित
वन में आश्रय नहीं लिया और न अपने कूजन करते सगोत्र वृक्षों के साथ संलग्न
रिया ।

टिप्पणी—ऊँचे वृक्ष देख कर वन में विनाश करना जोर सञ्जातीय पक्षियों
के साथ कूजन-मेलन करना पक्षि-स्वभाव है, किन्तु शीघ्रपक्षुवन के आकाशी राव
हंस ने इस स्वभाव का व्यतिश्रम किया । यमकालङ्कार ॥ ७२ ॥

अथ भीमभुजेन पालिता नगरी मञ्जुरसौ धराजिता ।
पतगस्य जगाम दृक्पथ हरशैलोपमसौधराजिता ॥ ७३ ॥

जीवानु—अथेति । धराजिता भूमिजयिना 'सत्सूद्विधे'त्यादिना विवपि
तुक् भीमस्य भीमभूपस्य भुजेन पालिता हिमशैलोपमं सौधं राजिता मञ्जु-
मनोज्ञा असौ पूर्वोक्ता नगरी कुण्डिनपुरी पतगस्य ह्रस्वस्य दृक्पथ जगाम, स ता
ददर्शत्यर्थं । अत्र यमकाख्याप्राप्तस्य हिमशैलोपमेति, उपमापादश्च ससृष्टि ॥

अन्वय —अथ धराजिता भीमभुजेन पालिता हरशैलोपमसौधराजिता
मञ्जु असौ नगरी पतगस्य दृक्पथ जगाम ।

हिन्दी—उदन्नतर पृथ्वीजयी राजा भीम की भुजा द्वारा रक्षित शिव-भवत-
कैलास सहस्र प्रासादों से घेरित वह कुण्डिनपुरी ह्रस्व के दृष्टिपथ को पाठ हुई
(दीखी) ।

टिप्पणी—इस श्लोक से आरम्भ करके 'विधुकर भ्रमीवनेन' (श्लोक
सख्या १०६) तक ३४ श्लोकों में कुण्डिनपुरी का वर्णन है । अतः गत्वा ह्रस्व
को कुण्डिनपुरी दिखायी दो । वह ऊँचे और मफेदी किये—सुधाधवल श्राधादो
से युक्त थी, यह चोदित करने के लिए 'हरशैलोपमसौधराजिता' कहा गया ।
'भीमभुजेन' का मीमांश शशुणा भयजनकी भुजा यस्य तेन—विग्रह करके पृथ्वीजयी
राजा के शशुभयजनक भुजाओं से पालित' अर्थ भी किया गया है । 'प्रकाश—वार
ने 'असौ धराजिता' का 'असौधराजिता' पाठ कल्पित कर 'सौधराजिता-असौध-
राजिता' में विरोधाभास का उल्लेख किया है । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक
में समासापमा और यमक अलंकार हैं तथा महिलनाथ की दृष्टि में यमकाख्या-
नुप्रास—उपमा' की ससृष्टि है । चद्रकलावार ने विरोधाभास यमक-अनुप्रास-
उपमा की ससृष्टि का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

दयित प्रति यत्र सन्तत रतिहासा इव रेजिरे भुव ।

स्फटिकोपलविग्रहा गृहा शशुभृद्भित्तनिरङ्कमितय ॥ ७४ ॥

जीवानु—ता वर्णयति—दयितमिति । यत्र नगर्पा स्फटिकोपल-विग्रहा
स्फटिकमयशरीरा इत्यर्थं । अत एव शशुभृद्भित्तनिरङ्कमितय शशुभृद्व-

शकलनिष्कलङ्कानि बृहदानि देयाते 'मित्तं नगरं हृष्टे वे'त्यमर', म्निदे विव-
 प्प्रयय । 'मित्तं शकलमि'त्यादि निपातनात् 'रदाम्यामि'त्यादिना निष्ठान-
 त्यान्वात् । गृहा दमिन नीम प्रति सततं नुव नूमेनायिवाया रतिहासाः
 केलिहासा इव रेजिरे इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥

अन्वय — यत्र स्फटिकोत्पलविग्रहा यद्यनृदन्तनिरङ्कुमित्तय गृहा दमित्तं
 प्रति सततं नुव रतिहासा इव रेजिरे ।

हिन्दी—जिस नगरी में स्फटिकरत्नमय शरीर धारी (स्फटिकरत्नों से निर्मित),
 उभाक (चंद्र) के खड (कला) के तुल्य निष्कलक दीवारों वाले घर स्वामी
 (राजा) के प्रति प्रवृत्त पृथ्वी के सुरतकेलिनमय के हासों के समान सुसोनित्र थे ।

टिप्पणी—गृहों की सनृद्धि जनित शोभा के वर्णन के साथ ही 'रतिहास' के
 साम्य द्वारा कवि यह द्योतित करना चाहता है कि नीमनरेश पृथ्वी का प्रिय प्रति
 दयित' था, जिसके साथ वह निरंतर रतिकेलि में निमग्न रहती थी । मल्लिनाथ
 के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने यहाँ अनुप्रास, उपमा उत्प्रेक्षा का उल्लेख
 किया है । चंद्रकलाकार उत्प्रेक्षा-उपमा की संसृष्टि का निर्देश करते हैं ॥ ७४ ॥

नृपनीलमणीगृहत्विषामुपप्रेत्र भयेन भास्वतः ।

शरणाप्तभुवाम वासनेऽप्यनदावृत्त्युदयत्तम तन ॥ ७५ ॥

जोवानु—नृपेति । यत्र नगदां तमोन्धकार भास्वतो भास्वत् भयेन
 नृपस्य ये नीलमणीना गृहा तेषां त्विष तासामुपघेऽन्नादित्यपह्लवभेद ।
 'रत्न मणिद्वयोरित्यमर । 'वृद्धिकारादत्तित्' इति ङीप् । शरणाप्त शरण
 गृह रक्षितारमन्वागत 'शरणं गृहं रक्षितोरित्यमर । वासने दिवसेऽप्यनदावृत्ति
 अपुनरावृत्ति किञ्चोदयत्तममुदयत्तमं सद्भुवाम ॥ ७५ ॥

अन्वय — यत्र भास्वत भयेन नृपनीलमणीगृहत्विषाम् उपधे शरणाप्त
 तम वासने अपि असदावृत्ति उदयत्तमम् उवाच ।

हिन्दी—जहाँ सूर्य के भय से राजा के नीलमणि से बने गृहों की नील
 कांति के व्याज से शरण-प्राप्त अधकार दिन में भी आवृत्तिहीन उदय को प्राप्त
 होता निवास करता था ।

टिप्पणी—आशय यह है कि कुर्बिनपुरी में ऐसे इन्द्रनीलमणिनिर्मित प्रासाद भी थे, जिनकी नीलिमा पर सूर्य भी अप्रभावी था। जो अषकार एक बार आ गया, वह फिर उन भवनो से सूर्य से आक्रांत होने की आशका के कारण वापस ही नहीं गया, इन्द्रनीलमणियों की नीलिमा में मिलकर धरो के भीतर ही रह गया। मल्लिनाथ के अनुसार अपहृन्व, विद्याधर की दृष्टि में अपहृन्वुति, विभावना और उदात्त अलकार। चंद्रकलाकार की दृष्टि में ममासोक्ति और उदात्त की ससृष्टि ॥ ७५ ॥

सितदीप्रमणिप्रकल्पने यदगारे ह्रमदङ्करोदसि ।

निखिलान्निशि पूर्णिमा तिथीनुपतस्येऽतिथिरेकिवा तिथि ॥ ७६ ॥

जीवानु—सितेति । सितं दीप्रंश्च मणिभिः प्रकल्पिते उज्ज्वलस्फटिकनिर्मिते ह्रमदङ्करोदसि विलसदङ्करोदस्के धावापृथिवीव्यापिनीत्यर्थं । यदगारे यस्या नगरी गृहेष्वित्यर्थं । जातावेकवचन, निशि निखिलान् तिथीने-किवा एकाकिनी एकैवेत्यर्थं । 'एकादाकिनिच्चासहाय' इति चकारात् कप्रत्यय । 'प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्ये' लीकार । पूर्णिमा तिथी राकातिथि । 'तदाद्यास्तिययोरि' त्यमर । अतिथि सन् उपतस्ये अतिथिभूत्वा सङ्गतेत्यर्थं 'उपाद्देवपूजे'त्यादिना सङ्गतिकरणे आत्मनेपदम् । स्फटिकभवनकारितित्यक्ती-मुदीयोगात् मर्वा अपि रात्रयो राकाराद्य इवासन्नित्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेद ॥

अन्वय—सितदीप्रमणिप्रकल्पिते ह्रमदङ्करोदसि यदगारे निधि निखिलान् तिथिन् अतिथि एकिवा तिथि पूर्णिमा उपतस्ये ।

हिन्दी—शीतमय श्वेत स्फटिकमणि निर्मित, (अतएव) समीपस्थ धरती-आकाश विहसित (प्रकाशित) करने वाले (अथवा धरती आकाश के मध्य को प्रकाशित करनेवाले) त्रिप नगरी के गृहों में रात्रि में समग्र तिथियों को अतिथिभूता एक तिथि पूर्णिमा ही रहा करती थी ।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमकती स्फटिक मणियों के बने शुभ्र गृहों में वहाँ रात्रि में न। चाँदनी जैसा प्रकाश फैला रहता था, लगता था प्रत्यक्ष रात्रि पूर्णिमा ३ । स्फटिक मणियों से निकलते प्रभापटल के कारण धरो में

योडा-सा भी बधकार न रह पाता था, सो प्रत्येक तिथि जो पूणिमा ही की भाँति हो जाया करती थी। मल्लिनाथ ने नेत्र होने पर भी अभेद-कथन के कारण यहाँ अतिशयोक्ति मानी है, विद्याधर के अनुसार यहाँ लमबध में सद्वधकथनरूपा अतिशयोक्ति के अतिरिक्त तिथियों में गृह-व्यवहार समागम से समासोक्ति और पूणिमा के अतिशयभाव के कारण रूपक भी है, शब्दालंकार अनुप्रास है ॥ ७६ ॥

सुदतीजनमञ्जनापितैर्घुसृणोयंत्र कथादिताशया ।

न निशाऽखिलयापि वापिका प्रससाद ग्रहिलेव मानिनी ॥ ७७ ॥

जीवातु—सुदतीति । यत्र नार्यां शोभना दन्ता याता ता सुदत्यं स्त्रियं, अत्रापि विषानामावाद्वादेशस्त्रित्य इति केचित् 'अग्रान्तसुदसुब्रवृष-वराहेन्द्रत्वे'ति चकारात् सिद्धिरित्यन्ये, सुदत्यादयः स्त्रीषु योगस्ता, 'स्त्रिया समापानि'ति दशादेशात् साधव इत्यपरे, तदेतत्सर्वमनिसन्त्यायाह वामन— 'सुदत्यादयः प्रतिविधेया' इति । ता एव जना लोका तेषा मञ्जनादवाहा-दपितं क्षालितं घुमृणं कुङ्कुमैः कथायिताशया सुरमिताम्यन्तरा नागचिह्नैः कल्पितहृदया च वाप्येव वापिका दीघिका ग्रहिला, 'ग्रहोऽनुग्रहनिर्वन्धावि'ति विश्व । तद्वती दीर्घरोषा पिच्छादित्वादित्श्च दिवादि । मानिनीस्त्रीणामीर्ष्या-कृतं कोपां 'मानोऽप्यासङ्गिनि प्रिये' इत्युत्कल्लसपो मान तद्वती नापिनेव अखिल्या निशा निशया सर्वरात्रिप्रसादनेनेत्यर्थं । न प्रससाद प्रसन्नहृदया नाभूत् ताद्वत् सोमादिति भावः ॥ ७७ ॥

अन्वय—यत्र सुदतीजनमञ्जनापितैर्घुमृणैः कथायिताशया वापिकया ग्रहिला मानिनी इव अखिल्या निशा अपि न प्रससाद ।

हिन्दी—जिस नगरी में सुदर दाँतों वाली सुन्दरी-समूह की जलक्रीडा से वितीर्णं कु कुमागरागो से गँदले जल वाली बावडी पुरी रात भी उसी प्रकार प्रसादित-स्वच्छ नहीं रहती थी, जैसे कि (सपलीजन में प्रतिकलित प्रिय के) कु कुमागराग को देख दूषित मन वाली, दुराग्रहयुक्ता मानवती नारी (प्रिय के द्वारा भाँति भाँति से मनाये जाने पर भी) अशया (जागी) रहकर रात में भी प्रसन्न नहीं होती है ।

टिप्पणी—भाव यह कि स्नान और जलक्रीडा इतनी अधिक हुआ करती

यो कि स्नानार्थिनी सुन्दरियो क शरीर से छूटकर जल को मँला बनाने वाला अगराग रात दिन वादडियों मे घुला ही रहता था । दुराग्रहवती मानिनी नी निशा काल मे जागी रहकर प्रिय की मानमनोअल से प्रसन्न नहीं होती । उदमा और उदात्त अलकार ॥ ७७ ॥

क्षणनीरवया यया निशि श्रितवप्रावलियोगपट्टया ।

मणिवेशममय स्म निर्मलं किमपि ज्योतिरब्राह्ममीक्ष्यते ॥ ७८ ॥

जीवातु—क्षणेति । निशि निशीथे क्षण नीरवया एकत्र सुमजनत्वादयत्र ध्यानमिति तत्त्वानि शब्दमाश्रित प्राप्त वप्रावलि योगपट्ट इव अयत्र वप्रावलिरेव योगपट्टो यया सा तथोक्ता यया तगर्या मणिवेशममय तद्रूप निमलमन्वात्मतर्वाति किमपि अवाङ्मनसगोचर ज्योति प्रमा आत्मज्योतिश्च ईक्ष्यते मेव्यते स्म । अत्र प्रस्तुतनगरीविशेषसाम्यादप्रस्तुतयोगिनीप्रतीते समाप्तोक्ति ।

अन्वय —निशि क्षणनीरवया श्रितवप्रावलियोगपट्टया यया मणिवेशममय निर्मलम् किमपि अवाह्य ज्योति ईक्ष्यते स्म ।

हिन्दी—मध्य रात्रि में क्षण भर को नि शब्द हो प्राकारपक्तिरूप योगपट्ट का आश्रय ले जिस (कुडिनपुरी) के द्वारा रत्नगृहरूप निर्मल किसी (अवाङ्मनोविषया) आभ्यन्तर ज्योति (आत्म ज्योति) का दर्शन किया जाता था ।

टिप्पणी—आशय यह है कि दिन भर कर्मसकृला कोलाहल से पूण कुडिनपुरी में आधी रात का जाकर वही कुछ शांति—नि शब्दता आती थी । इसकी उद्भावना नि शब्द ही, योगपट्ट का सहारा ले आत्मज्योति का साक्षात् करती ध्यानमग्ना योगिनी की ममता द्वारा की गयी है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ समाप्तोक्ति है, क्योंकि प्रस्तुत नगरी के साम्य द्वारा अप्रस्तुत योगिनी की प्रतीति होती है । विद्यापद के अनुसार उदात्त अलकार है ॥ ७८ ॥

विश्राम जलागयोदरे कचन दीरनुप्रिम्बितेव या ।

परिखाकपटस्फुटस्फुरत्प्रतिविम्बानवलम्बिताम्बुनि ॥७९ ॥

जीवातु—विश्रामेति । या नगरी परिखाया कपटन ध्याजेन स्फुट परितो श्यक्त तथा स्फुरता प्रतिविम्बनावलम्बित मध्य चाग्रहमाण याम्बु

यस्मिन् तस्मिन् प्रतिविम्बायान्तमन्वु परितः स्फुरति प्रतिविम्बदेशेन स्फुरति
तेनैव प्रतिविम्बादिति भावः क्वचन कृत्रविज्वलस्योदरे हृदमध्यं कल्पचित्
हृदस्य मध्यं दृश्यं । अनुविम्बिता प्रतिविम्बिता घोरनरावतीत्र विल्लाते-
स्तुत्रेणा ॥ ७९ ॥

अन्वय—या परिष्कारप्रसृष्टस्फुरत्प्रतिविम्बानवलम्बितान्बुनि क्वचन
जलास्योदरे अनुविम्बिता घौ इव विल्लाते ।

हिन्दी—जो (कृत्रिपुरी) खाई के व्याज ने व्यक्त, स्फुरित होते अपने
प्रतिविम्ब से निराकार जल में कहीं जास्य के मध्य प्रतिविम्बित होती स्वर्ग-
पुरी जैसी विलसित होती थी ।

टिप्पणी—नारी के चारों ओर जल नरी विजाल खाई घौ, जिसमें कहीं-
कहीं नगरी की परछाई स्पष्ट होती थी, लाता था कि स्वर्गपुरी ही जल में
उत्तर प्रायी है । जहाँ-जहाँ परछाई पड़ती थी, वहाँ नारी ही दीखती थी जल
नहीं । उन्नेशा, विद्याधर ने इसके अतिरिक्त अपह्नुति भी मानी है, क्योंकि
'परिखा नहीं, जलास्य ही है'—ऐसी भावना भी बनती है । चद्रकलाकार ने
कंठावापह्नुति-उन्नेशा को संसृष्टि का उल्लेख किया है ॥ ७९ ॥

ब्रजते दिवि यद्गूहादलीचलवेलाञ्चलदण्डनाडना ।

व्यनरत्नरुणाय विधम मृजते हेल्हियालिकालनाम् ॥ ८० ॥

जीवानु—ब्रजते इति । यस्या नगर्मा गृहावलीषु च चञ्चला चे-
ञ्चला पताकाशानि ता एव दण्डास्तै ताडना कथाघाता इत्यर्थः । ता
अस्यो दिवि ब्रजते से गच्छते हेल्हियाले सूर्याश्वरुक्ते हेल्हियालिङ्गने
रवादि'ति वैजयन्ती । कान्ता जोडना मृजते कुर्वते जहाय सूर्यसारथये
विधम न्वय नत्कार्यन्तराद्विश्रान्ति 'नोशासोपदेशे'त्यादिना घत्रि वृद्धि-
प्रतिभेन । व्यनरत्नं ददु । वषहेल्हियालेञ्चलाञ्चलदण्डताडनासम्बन्धेन
तन्मन्वुजोक्तं रतिगोक्तिभेद, तेन दृष्टागामकमन्डपर्वन्मनोक्षत्र व्यज्यत
इति जलद्वारा वन्मुञ्चनि ॥ ८० ॥

अन्वय—यद्गूहादलीचलवेलाञ्चलदण्डनाडना दिवि ब्रजते हेल्हियालि-
कालना मृजते अरुणाय विधम व्यनरत्नं ।

हिन्दो—जिस (नगरी) के प्रासादो पर फहरती चबल पताकाभा के वस्त्र-प्रात-रूप डडो के प्रहार आकाश मडल में दीटते सूर्य के घोडो को प्रेरणा देते सारथि अरुण का विश्राम दिया करते थे ।

टिप्पणी—कुडिनपुरी के उच्च प्रासादो पर जो पताकाएँ फहरती थी, वे सूर्यश्वो के शरीर पर लग-लग कर हँकने क दह का काम किया करती थी, जिससे सूर्य-सारथि को विश्राम मिल जाता था । मल्लिनाथ के अनुसार अस्वध में सवप कपन के कारण अतिशयोक्ति, जिसस प्रासादों की अत्युन्नता व्यजित होती है, अत अलंकार द्वारा चस्तुध्वनि । विद्याधर की दृष्टि में अतिशयोक्ति और अनुप्रास ॥ ८० ॥

क्षितिगमधराम्बरात्म्यैस्तलमध्योपरिपूरिणा पृथक् ।

जगता स्रलु याऽखिलाद्भुताऽजनि सारंनिजचिह्नधारिभि ॥८१॥

जीवातु—क्षितिगति । तलमध्योपरि अयोमध्योध्वदेशान् पूरयतीति तत्पूरिणा जगता पातालभूमिस्वर्गाणा पृथगसङ्कीर्णं यानि निजानि प्रतिनिप-
तानि निजचिह्नानि निध्यन्नपानसकचन्दनादिलिङ्गानि पारयन्तीति तद्धारिभि तथोक्तं सारंस्तदृष्टं क्षितिकृद्वरे धरामा भ्रूपृष्ठे अम्बरे आवासे च ये आलया गृहा तै भूम्यन्तर्दहि । शिरोगृहैरित्यथ । या नगरी अखिला वृत्तना अद्भुता विना अजनि जाता । 'दीपजने' त्यादिना जने कर्त्तरि लुङ्, क्लेश्रिणादेशः । अत्र क्षितिगर्भादीना तलमध्योपरि जगत्सु यता तच्चिह्नानाञ्च यथासह्यसम्बन्धात् यथासह्यालङ्कारः । एतेन त्रैलोक्यसम्भव गम्यते ॥

अन्वया—तलमध्योपरिपूरिणा जगता पृथक् चिह्नधारिभि सारं क्षिति-
गमधराम्बरात्म्यै या अखिला अद्भुता अजनि स्रलु ।

हिन्दो—तल (निम्न प्रदेश पाताल), मध्य (धरती), उपरि (आकाश) सप्तक सृष्टियो (पाताल, पृथ्वी और स्वर्ग) के पृथक्-पृथक् चिह्न धारण करने वाले सार (श्रेष्ठ) अर्थात् से निर्मित पाताल, पृथ्वी, आकाश त्रिलोकी के आवासों से (युक्त) जो सपूर्ण नगरी विवित्र ही निर्मित हुई थी ।

टिप्पणी—कुडिनपुरी में त्रिभूमिक-तितल्ले घर थे, गृहस्थाने (पाताल

के प्रतीक), उनके ऊपर के खट (क्षिति के प्रतीक), उनके ऊपर (बाबास के प्रतीक), जिनमें इनमें इन तीनों के प्रतीकस्वरूप सपत्ति, घान्यादि और चंद्रमादि-भोग सामग्री रहती थी, जिससे प्रतीत होता था कि नगरी के बाबास त्रिलोकी के सारभूत तत्त्वां से निर्मित हैं । इस प्रकार वह नगरी तीन लोक से न्यायी लाती थी । मन्दिनाथ के अनुसार यथासक्य, विद्याधर के अनुसार यथासक्य और उदात्त तथा चंद्रकलाकार के अनुसार व्यतिरेक अलंकार ॥ ८१ ॥

दधदम्बुदनीलकण्ठता वहदत्यच्छनुधोग्ज्वल वपु ।

कयमृच्छनु यत्र नाम न क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलितान् ॥ ८२ ॥

जीवातु—दधदिति । यत्र नगर्यामम्बुदैरम्बुदवन्नील कण्ठ शिखरोर-
कण्ठ गजश्च यस्य तस्य नावस्तत्ता 'दण्ठी गले सतिधान' इति विश्व ।
दधत् अच्छना मुनया लेपनद्रव्येण च सुजावदमृतवच्चोग्ज्वल वपुर्वहत् 'सुधा
लेनोऽमृत सुधे'त्यमर । निनिभृन्मन्दिर राजमवनमिन्दुमौलितामिन्दुमण्डल-
पर्यन्तशिखरत्व कथं नाम न श्छनु ? गच्छत्वेत्ययं । राजमवनस्य ताद्यौत्रत्य
मुक्तमिति भाव । अन्यत्र नीलकण्ठस्य इन्दुमौलित्वमौश्वरत्व च युक्तमिति
भाव । अत्र विनेपनविशेषाणां शिष्टानामभिप्राया प्रकृतार्पमात्रनियन्त्रणात्
प्रकृतेरुत्तरप्रतीते ध्वनिरेव ॥ ८२ ॥

अन्वय—यत्र अम्बुदनीलकण्ठता दधत् अत्यच्छमुधोग्ज्वल वपु वहत्
क्षितिभृन्मन्दिरम् इन्दुमौलितान् कय नाम न श्छनु ?

हिन्दी—जिस (नगरी) में घिरे बादलों के कारण ऊपरी भाग और
धूना-भोता होने के कारण अत्यन्त स्वच्छ सन्तद शरीर (बाबास स्थल) धारण
करता धरणीजर (राजा) का महल मेघस्यामकठ वाले और निर्मल चाँदनी
(अथवा अमृत) के समान शुभ्र देहधारी चंद्रमौलि (शिव) के भाव को
(मौलि अर्पान् शिखर पर चंद्रमा को) क्यों न प्राप्त करे ? (करे ही) ॥

टिप्पणी—राजमहल बहुत ऊँचा है, जिससे घिरे बादलों के कारण उसका
ऊपरी भाग नीला दीखा करता है और ऐसा लाटा है कि चंद्रमा जैसे उसके

शिखर पर ही टेंगा है। वह (राजप्रासाद) सफेदी किये जाने के कारण अत्यन्त उज्ज्वल भी है। शिव नीलकण्ठ, कपूरगौर और चन्द्रमौलि है। ये तीनों विशेषज्ञाएँ राजप्रासाद में भी उपयुक्त प्रणाली से स्पष्ट हैं, अतः उसको तुलना नीलकण्ठ, सुधोज्ज्वल, चन्द्रमौलि जिव से की गयी। समस्त गुण होने के कारण यह शिवत्व, यह उन्नतभाव प्राप्त करना उचित ही है। मल्लिनाथ के अनुसार श्लिष्ट विशेषण-विशेष्यों का प्रकृतार्थ मात्र नियन्त्रण होने से प्रकृत शिवप्रतीति के कारण यहाँ ध्वनि है, विद्यापर ने यहाँ श्लेषालंकार का निर्देश किया है, चन्द्रकलाकार अक्षयध मे सवध-कथन होने के कारण अतिशयोक्ति मानते हैं।

बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कव ।

यदनेककसौधकन्धराहरिभि कुक्षिगतोवृता इव ॥ ८३ ॥

जीवातु—बहुविक्रिति। बहुरूपका भूयिष्ठसौन्दर्या, शैषिक कप्रत्यय। तेषु शालभञ्जिकाना कृत्रिमपुत्रिकाणा मुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कव चन्द्रत्वात् सम्भाविता कलङ्कमृगा ते यस्या नगर्यामनेकेषा वहना सौधाना कन्धराभु कण्ठ-प्रदेशेषु ये हरय सिंहा तं कुक्षिगतोवृता इव प्रस्ता किमित्युत्प्रेक्षा मुखचन्द्राणा निष्कलङ्कत्वनिमित्तात्, अन्यथा कथ च द्रे निष्कलङ्कतेति भाव। ८३।

अन्वय—बहुरूपकशालभञ्जिकामुखचन्द्रेषु कलङ्करङ्कव यदनेककसौधकन्धराहरिभि कुक्षिगतोवृता इव (दृश्यन्ते)।

हिन्दी—अत्यन्त सुन्दर आकार वाली पुतलियों के मुखचन्द्रों पर स्थित लाछनमृग जिस नगरी के बृहत्सङ्घक प्रासादों की कथराओं (मध्य स्थानों) में बने (कृत्रिम) सिंहों द्वारा मानो कुक्षिगत कर लिये (खा डाले) गये दीखते हैं।

टिप्पणी—कुटिनपुरी के अनेक प्रासादों में स्तम्भादि पर शालभञ्जिकाएँ (पुतलियाँ) बनायी गयी हैं, उनके मुख अत्यन्त सुन्दर हैं, मृगचिह्न नहीं चद्र के समान। जब मुख चद्र है, तब स्वाभाविकतया उन पर कलङ्कचित् मृग भी रहना उचित है, पर वैसा नहीं है। इसका कारण यह समझित है कि प्रासादों की कथराओं में बने (कृत्रिम) सिंह उन्हे खा गये। मल्लिनाथ

ने उत्प्रेक्षाकार का उल्लेख किया है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा और रूपक का, चद्रकलाकार दोनों अलंकारों की निरपेक्ष स्थिति के कारण समृष्टि मानते हैं।

बलिमदनदिवं स तथ्यवागुपरि स्नाह दिवोऽपि नारदः ।

अधराय कृता ययेत्र सा विपरीताज्जनि भूमिभूपया ॥ ८४ ॥

जीवातु—बलीति । न प्रसिद्ध तथ्यवाक् सत्पववन नारद बलिमद-
दिव पातालस्वर्गं दिवो मेरुस्वर्गादप्युपरिस्थितामुल्लृष्टाञ्चाह स उक्तवान् ।
अयेदानीं भूमिभूपया यथा नायां अधरा न्यूना अबन्ताञ्च कृतेवेत्युत्प्रेक्षा सा
बलिमदयोविपरीता नारदोक्तविपरीता ज्जनि । सर्वोपरिन्दिनाया पुनरव
न्विति वैपरीत्यम् ॥ ८४ ॥

अन्वयः—तथ्यवाक् स. नारद बलिमदमदिव दिव अपि उपरि आह स्म,
अय भूमिभूपया यथा अधरा कृता इव सा विपरीता ज्जनि ।

हिन्दी—सन्धवादी उन देवों में नारद ने बलिराज के आवास पाताल-स्वर्ग
को द्यौ-स्वर्ग से नीचे ऊपर (ऊँचा, श्रेष्ठ) कहा था, परन्तु पृथ्वी को अल्लृप्त
करनेवाली कुडिनपुरी द्वारा बैसे नीची (न्यून, जबर, अधोत्री भाषा में
'डाउन') कर दी गयी वह (पातालपुरी) विपरीत (पुन निम्ननास्तित्वा)
हो गयी ।

टिप्पणी—नारद ने तो ठीक ही कहा था कि बलिराज का वैभव, उनका
पाताल स्वर्ग को नीचे तिरस्कृत करने वाला है, पर कुडिनपुरी के वैभव के
सम्मुख पातालपुरी का वैभव भी नग्न्य हो गया, तो अधस्थित पाताल पुन
अधस्थित हो गया । नारद के कथनानुसार पाताल स्वर्ग से समृद्ध था, कुडिन
पुरी पाताल से नीचे समृद्ध है, इस प्रकार कुडिनपुरी पाताल-स्वर्ग दोनों से
श्रेष्ठ सिद्ध हुई । 'स्वर्गोऽपि रम्यापि पातालानीति नारद । प्राह स्वर्गसदा
मध्ये पातालान्यो गतो दिवि ॥' (विष्णुपुराण २।५-५) । मस्तिनाथ न
उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा और रूपक
अलंकार है, त्रिनका अगाग्निभाव 'सर्वर' चद्रकलाकार द्वारा निर्दिष्ट है ॥८४॥

प्रनिहृदुपये धरट्टजान् पयिकाह्वानदसत्सुसौरनेः ।

कल्हान्न धनान् यदुत्थिनादधुनाप्युज्जति धर्षरेस्वरः ॥ ८५ ॥

जीवातु—प्रतीति । पन्थान गच्छन्तीति पथिका तेषामाह्वान ददाति तयोक्तमाह्वकम् अघ्वान गच्छतामाकपकमित्यथ । सक्तूना सौरभ सुगन्धो यस्मिन् प्रतिघट्टपथे प्रत्यापणपथे । 'अन्वय विभक्तो'त्यादिना वीप्सायाम-
 व्ययीभाव । 'तृतीयासप्तम्योबहुल'मिति सप्तम्या अमभाव' । घरट्टा गोधूम-
 चूणप्रावाण तज्जात् यस्मा नगर्या उरियतात् कलहात् घर्घरस्वन निझर-
 स्वर कण्ठध्वनि घनान् मेधान् अघुनापि नोज्झति न त्यजति । सर्वदा सर्वहृद्रेषु
 घरट्टा मेघध्वान ध्वनन्तीति भाव । अत्र घनाना घरट्टकलहासम्बन्धेऽपि
 सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति । तथा च घर्घरस्वनस्य तद्धेतुत्वोत्प्रेक्षा, व्यञ्जका-
 प्रयोगाद् गम्पोत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ ८५ ॥

अन्वय — प्रतिघट्टपथे पथिकाह्वानदसक्तुसौरभं घरट्टजात् यदुत्पितात्
 कलहात् घघरस्वर अघुता अपि घनान् न उज्झति ।

हिन्दी—प्रत्येक हाट के मार्ग में पथिक का आह्वान करने वाले (अपनी
 ओर धावने वाले) सक्तुओं की सुगन्ध उठाती आटा-चक्कियों के सघट्टन से
 जिस नगरी में उठा 'घघर' शब्द आज भी बादलों को नहीं छोड़ता ।

टिप्पणी—भाव यह कि प्रत्येक हाट-बाजार में सक्तुओं की विपुलता है,
 सक्तु आदि पीसती चक्कियों से उड़ता सक्तु सुगन्ध पथिकों को आह्वान करता
 है । चक्कियों के पत्थरों की कलह—रगड़ से जो 'घघर' शब्द होता है, यही
 मानों बादलों से उठा गया है, अन्यथा बादलों को गडगडाहट कहाँ से मिलती ?
 यह भी माना गया है कि कुडिनपुरी में बने सक्तु इतने सुगन्धि और स्नादिष्ट
 होते थे कि पथिक सक्तु भोजन के स्वाद में वहाँ रुक जाया करते थे और
 मध पथिकों को घर जाने की प्रेरणा दिया करते थे, यही 'घरट्ट मघ-
 कलह' का कारण बराबर बना रहता था । मेघ पीड़ित करते हैं, सक्तु परि-
 मला से घरट्ट जिलात है । घरट्ट पथिकों को आह्वान देते हैं, मेघ छटन करते
 हैं । घरट्ट-मघ कलह करते 'घघराते' रहते हैं । हाट-बाजारों में बराबर ऐसा
 कलह रहा करता है, ग्राहकों को एक दुवानदार पुरारता है, दूसरा उसका
 प्रतिवाद करता है, दोनों सगडते रहते हैं । कुडिनपुरी का बाजार ऐसा ही
 व्यापार सकूल हाट था । विद्याधर ने यहाँ अध्यवसाय के सिद्ध होने के आधार

पर अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, मल्लिनाथ ने अशुभ में सबजनपरुपा अतिशयोक्ति और गम्योत्प्रेक्षा के स्वर का, क्योंकि धन धरदृ-बलह का हेतु धर्म शब्द है, जिसे उत्प्रेक्षा होती है ॥ ८५ ॥

वराः कनकस्य मानिनीं दिवमद्भ्यादमराद्रिरागतान् ।

धनरत्नकवाटपक्षतिः परिरन्व्यानुनयन्नुवान याम् ॥ ८६ ॥

जीवानु—वरण इति । कनकस्य सम्बन्धी वरण तद्विकार प्राकार स एवानराद्रिर्मेरुः या नगरीमेव मानिनीं कौपसम्पन्नामत एव जङ्काभिर्जान्त्वा-
दागता नूलोक प्राप्ता दिवमरावतीं धने निविष्टे रत्नाना कवाटे रत्ननयकवाटे
एव पक्षती पक्षमूले यस्य स तम् परिरन्म्य उपगूह्य मेरो पक्षवत्त्वात्पक्षति-
रूपत्वननुसरन् अनुवर्त्तमान उवान । कामिन प्राप्यकुपिता प्रेयसीनाप्रसाद-
मनुगच्छतीति नावः । रुक्मालङ्कार स्फुट एव, तत्र चैव नगरी कुतश्चित्
कारणादागता द्यौरैव वराश्च स्वर्णाद्रिरेवेत्युत्प्रेक्षा व्यज्यते ॥ ८६ ॥

अन्वय—कनकस्य वरण अमराद्रि या मानिनीम् अद्भ्यात् आगता दिव
धनरत्नकवाटपक्षति परिरन्म्य अनुनयम् उवान ।

हिन्दी—स्वर्ण प्राकार-रूप देवगिरि मुमेरु जिस मानिनी (नगरी) को
गोद में छिटक आसी स्वर्गपुरी के तुल्य अनेक रत्नरत्न कवाट-रूप पत्तों से
सूक्त ही आलिंगन कर मनाता हुआ बस गया है ।

टिप्पणी—यहाँ नगरी को मानिनी नायिका स्वर्गपुरी से तुलना की है, जो
अपने प्रिय मुमेरु से छूट कर गोद में छिटक आयी है, प्राकार प्रिय मुमेरु, रत्न-
रत्न किवाड उसके पक्ष और बाहू हैं, जिसे उठकर वह प्रिया के पास आ
पहुँचा है और आलिंगन करके मानिनी को मना रहा है । प्रिया वहाँ से जाती
नहीं, सो 'पवेत्' होते हुए भी प्रिय कहीं बस गया है । अर्थात् पुरी स्वर्गपुरी
के तुल्य है और मुमेरु बिजना उन्नत और दमकीला । मल्लिनाथ के अनुसार
रूपक द्वारा उत्प्रेक्षा व्यंग्य है, विद्यानाथ रूपक का निर्देश करते हैं और कहते
हैं कि यहाँ उमाशोक्ति नहीं हो सकती, क्योंकि नायक-नायिका के व्यवहार
की प्रतीति रूपक से ही होती है । चद्रकलाकार ने समस्तवस्तुविषय साङ्ग-

रूपक और लिंगसाम्य से नायक-नायिका-व्यवहार का समारोप मान कर समासोक्ति के अगाधिभाव सत्त्व का उल्लेख किया है ॥ ८६ ॥

अनले परिवेपमेत्य या ज्वलदकोपलवप्रजन्मभि ।

उदय लयमन्तरा रवेरवहृद्बाणपुरीपराद्धर्षताम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—अनलैरिति । या नगरी रवेरुदय लयमस्तमय चान्तरा तयो-
र्मध्यकाल इत्यर्थ । 'अन्तरान्तरेण युक्त' इति द्वितीया । ज्वलतामर्काशुसम्बर्त्वात्
प्रज्वलतामर्कोपलाना वप्राज्जन्म येषान्तै सूर्यकान्तै प्राकारजन्यै अनलै परि-
वेपमेत्य परिवेष्टन प्राप्य बाणपुर्या बाणासुरनगर्या शोणितपुरस्य पराद्धर्षता
श्रेष्ठतामवहृत् । अत्रान्यधर्मस्यान्येन सम्बन्धासम्भवात्तादृशी पराद्धर्षतामिति
सादृश्याक्षेपाभिदर्शनालङ्कारः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—या रवे उदय लयम् अन्तरा ज्वलदकोपलवप्रजन्मभि अनलै
परिवेपम् एव बाणपुरीपराध्यताम् अवहृत् ।

हिन्दी—जो नगरी सूर्य के उदय और अस्त के मध्य देदीप्यमान सूर्यकांत
मणि के प्राकारों से उत्पन्न अग्निपुंज से परिविष्ट (आवृत) हो बाणासुर-
नगरी (शोणितपुरी) की श्रेष्ठता को धारण कर लेती थी ।

टिप्पणी—शिव कृपा से शिवभक्त बाणासुर की नगरी शोणितपुरी चारों
ओर अग्नि से परिविष्ट रहती थी, कुडिननगरी की भी वैसे श्रेष्ठता यहाँ
प्रमाणित की गयी है । कुडिननगरी के प्राकार में सूर्यकांत मणियों की पर्याप्त
था, सूर्योदयास्तकाल में ऊँचे प्राकार की वे मणियाँ दमकने लगती थी, जिससे
पुरी परिविष्ट हो, अग्निपरिविष्टा बाण-नगरी सी लगती थी । मल्लिनाथ के
अनुसार अन्य के धर्म का अर्थ से संबन्ध-निरूपण होने से यहाँ निदर्शनालङ्कार
है, विद्याधर के अनुसार उदात्त भी है ॥ ८७ ॥

बहुवच्युमणिवराटिकागणनाटत्करककंटोत्कर ।

हिमवालुकयाञ्छवालुक पट्ट दध्वान यदापणार्णव ॥ ८८ ॥

जीवातु—इति । बहुवच्यु मणिवराटिकागणनाटत्करककंटोत्कर
गणनाय कर्पाविकासख्यानाय अटन्त तियक् प्रचरत्त करत पाणय एव कर्क-

दोस्तुरा कुलीरसुधा यस्मिन् स, हिमवाल्क्या कपूरैष अच्छवालुक स्वच्छ-
निकन यस्या पुर आपणो दिनपिरेवापंक् पटु धीर दध्वान ननाद, 'कपर्दो
वराटिने'ति हलामुष । 'शङ्ख' स्मात् ष्मरुस्त्रिगामि'त्यमर । 'चितात्रो हिम-
वानुका', 'स्मात्कुलीर कर्कटक' इति चामर ॥ ८८ ॥

अन्वय—बहुकम्बुमणि वराटिकागानाटत्वरककर्कटोत्तर हिमवाल्क्या
अच्छवालुक यदापणोपंक् पटु दध्वान ।

हिन्दी—जनेक शखों, मणि-मुक्तादि से परिपूर्ण, कौडियों की गिनती के
लिए घूमते हाथ रूप कर्कटसमूह (गिरगिटों) से व्याप्त, कपूररैणुका द्वारा
स्वच्छ बालू से युक्त जिस (नगरी) का हाट रूप समुद्र अतिशय गर्जना करता
रहता था ।

टिप्पणी—कर्म-सकुल कुडिनपुरी के हाट की तुलना की गयी है गरजते
समुद्र से । वहाँ लहरों का कोलाहल होता है, यहाँ के समुद्रसम शख-मणि
आदि से पूर्ण, कपूर-वाल्क्यामय हाट में लैन-देन में कौडिया गिनते अन्समूह
का कोलाहल है । 'पटुदध्वान'—से जन सकलता सूचित की गयी है । सा-
रुक् अलंकार ॥ ८८ ॥

यदगारघटाट्टकुट्टिमल्लवदिन्द्रूपलतुन्दिलापया ।

मुमुचे न पतिव्रतौचिनी प्रतिचन्द्रोदयमभ्रगङ्गाया ॥ ८९ ॥

जीवातु—यदिति । यस्या मया अगारघटासु गृहपङ्क्तिषु अट्टानान-
ट्टालिकाना कुट्टिनेषु निवृद्धमूनिषु, 'कुट्टिने'स्त्री निबद्धा भूरित्पमर । लव-
द्विरिन्द्रुसम्पर्णात् स्पन्दमानैरिन्द्रूपलैश्चन्द्रकान्तं हेतुभि तुन्दिला प्रवृद्धा
आनो यस्या तथा, तुन्दादिभ्य इत्श् 'शुक्लभूरि'त्यादिना समासन्त । अभ्रग-
ङ्गाया मन्दाकिन्या, 'मन्दाकिनी विदग्गङ्गे'त्यमरः । चन्द्रोदये चन्द्रोदये
प्रतिचन्द्रोदय वीप्सायामध्ययीमाव । पतिव्रतानामोचिती लौकिक्य ब्राह्मण-
दित्वाद् 'पुणवचने' त्यादिना प्यत्रप्रत्यय, 'पिद्गौरादिभ्यश्चे ति डीप् । स
च 'मातरि पिच्छे'नि पित्वादेव सिद्धे मातामह्यस्य गौरादिपाठेनानित्य-
त्वज्ञापनाद्वैकल्पिक । जत एव वामन —प्यत्र पित्कार्यं बहु मिति स्त्रीनपुंस-

कयोर्भावक्रिययो ष्यञ् । क्वचिच्च बुञ् 'ओचित्यमौचित्यी मैत्र्य मैत्री बुञ् प्राणुदा-
 हृतमि'त्यमरश्च । न मुमुचे न तत्पजे । भर्तुं ममुद्रस्य चन्द्रोदये वृद्धिदर्शना-
 तस्य अपि तथा वृद्धिरुचिता । 'आर्तानि मुदिते हृष्टा प्रोपिते मलिना कृशा ।
 मृते हि भ्रियते या स्त्री सा स्त्री ज्ञेया पतिवृता ॥' इति स्मरणादिति भाव ।
 अत्राभ्रगङ्गाया यदगारेण्यादिना विशेषणार्थासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोवत्तेरतिश-
 योक्ति, तथा च यदगाराणामती-दुमण्डलमौन्नत्य गम्यते तदुत्थापिना वैय-
 मस्या पातिव्रत्यधर्मापरित्यागोत्प्रेक्षेति सङ्कर, सा च व्यञ्जकाश्रयोगाद्
 गम्या ॥ ८९ ॥

अन्वयः—यदगारघटाट्टकुट्टिमस्रवदिन्द्रूपलतुन्दिलापया अभ्रगङ्गाया प्रतिच-
 न्द्रोदय प्रतिव्रतौचित्यी न मुमुचे ।

हिन्दी—जिसके आवासो की अटारियो की ऊपर की छत में लगी द्रवीभूत
 होती (पिघलती) चद्रकातमणियो से बहते प्रचुर जल से आकाशगगा ने प्रत्येक
 चन्द्रोदय के अवसर पर (पूर्णिमा मे) पतिव्रताओं के लिए उचित धम को
 नहीं छोडा ।

टिप्पणी—कु डिनपुरी के आवास इतने ऊँचे थे कि चन्द्रोदय के अवसर
 उनकी छतों पर लगी चद्रकात मणियाँ पिघलकर अपने प्रचुर जल से आकाश
 गगा मे जलवृद्धि कर देती थी । नदियों का पति है समुद्र, प्रत्येक चन्द्रोदयपर्व
 पूर्णिमा को समुद्र मे ज्वार आ जाता है, उम्के ससर्ग से समुद्र पत्नी गगा मे
 भी ज्वार आ जाता है, इस प्रकार पति के हर्ष मे हृषित गगा भागीरथी पाति-
 व्रत्य का आचरण करती है । परन्तु क्या करे आकाशगगा, कैसे उसमे ज्वार
 उत्पन्न हो ? कु डिनपुरी-प्रासादो की अटारियो की चद्रकानमणियाँ पिघल कर
 इसमे सहायक बन जाती हैं और आकाशगगा का पातिव्रत रह जाता है । विद्याधर
 के अनुमार यहाँ अतिशयोक्ति काव्यलिंग-उदात्त की ससृष्टि है । मल्लिनाथ
 ने अतिशयोक्ति-उत्प्रेक्षा का सङ्क माना है तथा अतिशयोक्ति अलकार मे गम्य
 आगारोन्नत्य के आधार पर वस्तुध्वनि ॥ ८९ ॥

क्वयोऽन्तमितस्य भास्वतः स्वलिना यत्र निराश्रया सत्तु ।

अनुसापमभुर्विनेपनापणवश्मीरजपण्यवीथय

॥ ९० ॥

जीवातु—दृश्य इति । यत्र नगर्यामनुजाय प्रतिसाय वीष्नायामव्ययी-
भाव । विलेपनापपेपु सुगन्धद्रव्यनिपद्यामु वरमीरजानि कुङ्कुमा येव पश्यानि
पपनीयद्रव्यापि तेषा वीक्षय' श्रेणय अन्तनितम्यास्तङ्गतस्य भास्वत सम्ब-
न्धिन्य' स्खलिता अन्तमयसोनात् च्युता अतएव निरालया निराधया दृश्य'
प्रना' अन्नु सन्नु कथञ्चित्प्रच्युता' सायन्तनाकंत्विय इव भान्ति स्मेत्ययं ।
कृद्भुमराशीना तदा तत्सावर्णादिपनुत्प्रेक्षा व्यञ्जवाप्रयोगाद्गम्या । नातुल्लङ्घि
शेर्जसादेश ॥ ९० ॥

अन्वय —यत्र अनुजाय विलेपनापपेपु वरमीरजानि कुङ्कुमा येव पश्यानि अन्तम् इतस्य
भास्वत स्खलिता निरालया दृश्य' अन्नु किल ।

हिन्दी—जिस नगरी में प्रत्येक सुगन्ध सामग्री के हाट में केसर-
विक्रय की गलियाँ बस्ताचल की धातु सूर्य से च्युत हुई (अतएव) निराधार
कान्ति श्रेणियाँ जैसी आनासित होती थीं ।

टिप्पणी—केसर की गलियों के समूह के आधार पर मूलद्रव्यों से इनकी
तुलना की गयी । यहाँ मल्लिनाथ ने गम्योत्प्रेक्षा मानी है, विद्याधर ने विशेषा-
लंकार भी, छट्ट के अनुसार जिसका लक्षण है—किञ्चिद्वैश्याधेयं यस्मिन्नवधी-
यते निराधारम् तादृगुपलभ्यमान विज्ञेयोऽप्यो विशेषोऽतः ॥ चद्रकलाकार उत्प्रेक्षा
विशेष का अर्थाग्निभाव सकर मानते हैं ॥ ९० ॥

वितत वणिजापणेऽखिल पणितु यत्र जनेन वीक्ष्यते ।

मुनिनेव मृकण्डुसूनुना जगतीवस्तु पुरोदरे हरे ॥ ९१ ॥

जीवानु—वततनिति । यत्र नगर्यां वणिजा वणिजनेन पणितु ध्यवहनु-
मापणे पञ्चवीष्या वितत प्रसारितमखिल जगत्या लोके स्थित वस्तु पदार्थ-
जात पुरा पूर्वं हरेविणोदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना मार्कण्डेयेनेव जनेन लोकेन
वीक्ष्यते विष्णुदरमिव समस्तवस्त्वानरोऽयमवभासत इत्ययं । पुरा किल मार्क-
ण्डेयो हरेदर प्रविश्य विश्व तपात्राक्षीदिति कथयन्ति ॥ ९१ ॥

अन्वय —यत्र वणिजा पणितुम् आपणे विततम् अखिल जगतीवस्तु पुरा
हरे उदरे मृकण्डुसूनुना मुनिना इव जनेन वीक्ष्यते ।

हिन्दी—जहाँ व्यापारियों द्वारा विक्रयाथं हाट में फँलाये समस्त सासारिक वस्तुजात (सामान) को प्राचीन काल में विष्णु के उदर में (समाया विश्व) भृकद्गु के पुत्र मार्कण्डेय के समान लोक-जन देखा करते हैं ।

टिप्पणी—हाट में सब आवश्यक सामग्री प्राप्त होती थी, इसे पौराणिक कथा द्वारा स्पष्ट किया गया है । प्राचीन काल में मार्कण्डेय मुनि ने विष्णु के उदर में समग्र ससार देखा था । दशनीय—श्रीमदभागवत (१२-९) । विद्याधर के अनुसार उपमा और उदात्त, अलंकार ॥ ९१ ॥

समभेणमदैयदापणे तुलयन् भौरभलोमनिश्चलम् ।

पणिता न जनारवेरवैदपि कूजन्तमलिं मलीमसम् ॥ ९२ ॥

जीवातु—सममिति । यस्या नगर्यां आपणे सौरभलोमनिश्चल गन्ध-ग्रहणनिष्पन्द तत् क्रियया दुर्बोधमित्यर्थः । मलीमस मलीन सर्वाङ्गनील-मित्यय । अन्यथा पीतमध्यस्थाले पीतिर्भूय ध्ववच्छेदात्, अतो गुणतोऽपि दुर्बुद्धमित्यय । 'ज्योत्स्नातमिस्त्रे—न्यादिना निपात । अलिं भृङ्गभेणमदै-सम वस्तूरीभिः सह तुलयन् तोलयन् पणिता विभ्रेता कूजन्तमपि जनानामारवै-कल्बलं नावैत्, शब्दतोऽपि न ज्ञातवान् इत्यय । इह निश्चलस्थाले गुञ्जन-कविना प्रौढवादेनोक्तमित्यनुसंधेयम् । अत्रालेनेत्यादेणमदोक्ते सामान्याल-ङ्कार । 'सामान्य गुणमामान्ये यत्र वस्त्वन्तरैक्ते' ति लक्षणात् । तेन भ्रांति-मदलङ्कारो व्यज्यते ॥ ९२ ॥

अन्वय —यदापणे सौरभलोमनिश्चल मलीमसम् अलिम् एणमदै सम तुलयन् पणिता कूजन्तम् अपि जनारवे- न अवैत् ।

हिन्दी—जिस (नगरी) के हाट में सुगन्ध के अभिलाष में निश्चल काले भौरे को एणमृग के मद (कस्तूरी) के साथ तोलता दुकानदार (उसके) गुजार करने पर भी जन-कोलाहल में पहिचान नहीं पाता था ।

टिप्पणी—कस्तूरी के रंग का बाला भौरा सुगन्ध से प्राकृष्ट हो निश्चल उस पर बँटा था, सो एक-सा रंग होने के कारण दुकानदार कस्तूरी के साथ भौरे को भी तोल दिया, अब भौरा भग्नमाने लगा, परन्तु जन-सबुल हाट में

इतना बोलाहल हो रहा था कि व्यापारी को नीरे का भान ही नहीं हुआ । मन्त्रिनाथ को यहाँ यह जापत्ति है कि बैठा होने पर नीरा 'मनमन' नहीं करता, उठने पर ही करता है, कवि की यह उक्ति प्रौढवाद के आधार पर ही है । उनके अनुसार 'अलि' को बर्षासाम्य के आधार पर कस्तूरी मानने के कारण यहाँ सामान्य अलंकार है, जिससे आन्तिमान् अलंकार व्यञ्जित होता है ॥१२॥

रविकान्तमयेन सेतुना सकलाह ज्वलनाहितोष्मणा ।

शिशिरे निशि गच्छता पुरा चरणौ यत्र दुनोति नो हिनम् ॥ १३ ॥

जीवानु— रविकान्तेति । यत्र नगर्यां सकलाह ज्वलनमह 'राजाह सतिन्व-
ष्ट्व' । 'रात्राह्लाहा पु सी'ति पु लिङ्गता, अल्पन्वसमो द्वितीया, योग-
दिनागात्तमास' । ज्वलनेन तपनकरानिपातात्प्रज्वलनेन बाहितोष्मणा जनि-
तोष्मणा जनितोष्मेन रविकात्तमयेन सेतुना सेतुसङ्घेनाश्वना सूर्यकान्तदुष्टि-
माश्वनेत्यर्थं । गच्छता सञ्चरता चरणौ चरणानित्यर्थं । 'स्वनादीना द्वित्व-
विशिष्टा जाति प्रायेणे'ति आती द्विवचनम् । शिशिरे शिशिरती तत्रानि निशि
हिन पुरा नो दुनोति नापीडयत् । 'यावत्पुरानिपातयान्तु' अत्र सेतोरुष्मा-
सम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः, तनोत्तरस्या पूर्वसापेक्षत्वाद्
सङ्कर ॥ १३ ॥

अन्वय — यत्र सकलाह ज्वलनाहितोष्मणा रविकान्तमयेन सेतुना गच्छता
चरणौ शिशिरे निशि हिन पुत्र नो दुनोति ।

हिन्दी—बिच (पुरी) में समग्र दिन (सूर्य के) ताप से उष्ण (गरमाये)
सूर्यकातमपिमय सेतु पर जानेवालों के चरणों को शिशिर श्चतु की (ठंडी) रात
में चीर कष्ट नहीं दे पाता था ।

टिप्पणी—धूप से दिन में सेतु की सूर्यकातमपिदां उठनी गर्म हो जाती
थी कि उष्णता रात भर बनी रहती थी और जानेवाले बड़े मुछ से पुल पार
कर लेते थे, ठंड जाटे की श्चतु में भी नहीं ला पाती थी । मन्त्रिनाथ के अनु-
सार यहाँ सेतु-उष्मा का असम्बन्ध रहने पर भी सम्बन्धवचन के कारण अति-
शयोक्ति है, उसमें उत्तरवर्तिनी के पूर्वसापेक्ष होने के कारण नकर है । विद्याधर

की दृष्टि में विशेषोक्ति और उदात्त अलकार, चद्रकलाकार ने इन दोनों अलकारों के अर्गागभाव से स्थित होने के आधार पर दोनों का सकर माना है ॥ ९३ ॥

विधुदीधितिजेन यत्पथ पयसा नैपथशीलशीतलम् ।

शशिकान्तमय तपागमे कलितीव्रन्तपनि स्म नातप ॥ ९४ ॥

जीवातु—विधिवति । विधुदीधितिजेन इन्दुकरसम्पर्कजन्येन पयसा सलिलेन नैपथस्य नलस्य शील धृत स्वभावो वा तद्वृत्तीतल शशिकान्तमय यत्पथ यस्या नगर्या पन्थान तपागमे ग्रीष्मप्रवेक्षे कलितीव्र कलिकालवच्चण्ड आतप न तपति स्म । नलकथाया कलिनाशकत्वादिति भाव । अत्र नगरपथस्य इन्द्रूपल्पय मन्वन्धोक्तेरतिशयोक्ति, तत्सापेक्षत्वादुपमयो सङ्कर ॥ ९४ ॥

अन्वय—विधुदीधितिजेन पयसा नैपथशीलशीतल शशिकान्तमय यत्पथ तपागमे कलितीव्र आतप न तपति स्म ।

हिन्दी—चद्रकिरणों से सजात जल के कारण नियधराज (नल) के शील से शीतल चद्रकांतमणिमय जिस (नगरी) के मार्ग को ग्रीष्मनुं के आजाने पर कलि के तुल्य तीव्र घूप ताप न दे पाती थी ।

टिप्पणी—इस श्लोक में पूर्व श्लोक की भांति मार्ग के ग्रीष्मनुं, में भी शीतल रहने का विवरण दिया गया है, साथ ही संकेत है कि नल कथा के श्रवण में कलि प्रभाव नष्ट होता है, जैसा कि 'नै च' (१।१) में 'सितिरक्षिण' से (अक्षिणक्षिति) अक्षी—कलि का नाश बताया गया है । मल्लिनाथ ने पूर्व श्लोक के समान अतिशयोक्ति और तत्सापेक्ष होने से उपमा के सकर का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार विशेषोक्ति-उदात्त-उपमा की सृष्टि है ॥ ९४ ॥

परिखावल्यच्छलेन या न परेया ग्रहणस्य गोचरा ।

फणिभापितभाष्यफट्टिका विपमा कुण्डलनामवापिता ॥ ९५ ॥

जीवातु—परिखेति । परिखावल्यच्छलेन परिखावेष्टनव्याजेन कुण्डलनां मण्डलाकाररंजामवापिता परेया शत्रूणां ग्रहणस्याभ्रमणस्य अथवा अन्येषां ग्रहणस्य ज्ञानस्य न गोचरा अविपया या नगरी विपमा दुर्वोधा फणिभापित-भाष्यफट्टिका पतञ्जलिप्रणीतमहाभाष्यस्य कुण्डलिप्रत्य तद्वदिति शेष । अत्र

नगर्वा कुण्डलिप्रन्यत्वेनोत्प्रेक्षा ॥ सा च परिखावल्यच्छलेनेति अपह्लवोत्या-
पितत्वात् सापह्लवा व्यञ्जनाप्रयोगाद् गम्या ॥ १५ ॥

अन्वयः—परिखावल्यच्छलेन कुण्डलिनाम् अवापिता परेषा ग्रहस्य न
गोचरा विषया फणिनापितनाध्यक्षकिका ।

हिन्दी—खेया-मण्डल (छाई के घेरे) के व्याज से कुण्डलिना (गोलाकार)
को प्राष्ठ (घिरी) अतएव शत्रुधो के अधीन (पराधीन) न हो सकने का
विषय जो (नारी) अन्य छोरों के ज्ञान का अविषय बनी, कुण्डलिना
उपावतार महामुनि पञ्चलिखित महानाध्य की फक्किका के समान थी ।

टिप्पणी—जनश्रुति है ऋ दररश्चि ने पातञ्जल महानाध्य की फक्किका
को कुण्डलित कर दिया था अर्थात् प्रन्य के दुर्ज्ञेय स्थलों पर घेरा बना दिया था
कि इनका आशय 'शेष' ही समझ सकते हैं अन्य कोई नहीं, इसी प्रकार कुण्डिन-
पुरी को 'कुण्डलिना' अर्थात् छाई से घिरी होने के कारण पर-शत्रु अपने अधीन
करने की बात सांच भी नहीं पाते थे । मन्त्रिनाय के अनुसार अपह्लव से उत्प्रा-
पित 'सापह्लवा-ग्रहोत्प्रेक्षा' है, विद्याधर की दृष्टि में यहाँ जपह्लवुति और उपमा
अलंकार है । चन्द्रलाकार के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा-कृतवापह्लुति का संकर
है । राजशेखर के अनुसार 'आक्षिप्य भाषणाद् भाष्यम्' (काव्यमीमासा-
शास्त्रनिर्देशाध्याय, अर्थात् स्वयम् उद्धाराओं का आक्षेप करके उसका समाधान
भाष्य है । एक और परिभाषा के अनुसार जहाँ सूत्रानुसारी पदों के द्वारा
सूत्रार्थ किया जाता और स्वपदों का वर्णन होता है, वह भाष्य है—'सूत्रार्थो
व्यज्जे यत्र पदै सूत्रानुसारिणि । स्वपदानि च वर्ज्यंते भाष्य भाष्यविशे विदु ॥'

मुखपाणिपदाक्षि पङ्कजै रचिताञ्जेष्वपरेषु चम्पकैः ।

स्वयमादित यत्र भीमजा स्मरपूजाकुमुमत्तजः श्रियम् ॥ १६ ॥

जीवातु—सुषेति । यत्र नगर्वा मुखश्च पापी च पदे च अक्षिणो च यस्मिन्
तस्मिन् प्राण्यङ्गत्वाद् द्वन्द्वैकवद्भावः । पङ्कजै रचिता सृष्टा अपरेषु मुस्तादिव्य-
तिरिक्तेष्वङ्गेषु चम्पकैश्चम्पकपुष्पैः, रचिता सर्वत्र साध्याद्ग्रहपदेशः । भीमजा
भैमी स्वय स्मरपूजाकुमुमत्तजः श्रिय शोभामादित आत्तवती । ददातेर्लुङि

'स्थाध्वोरिच्छे' तीव्र 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सलोप । अत्र अन्यथियोऽन्यस्या-
सम्भवात् थियमिव थियमिति सादृश्याक्षेपान्निदर्शनाभेद । तथा तदङ्गानां
पङ्कजाद्यभेदोन्तेरतियोक्ति । तदुत्थापिता चेय निदर्शनेति सङ्कर ॥ ९६ ॥

अन्वय — यत्र पङ्कजं मुखपाणिपदाक्षिण चम्पकं अपरेषु अनेषु रचिता
नीमजा स्मरपूजाकुसुमस्रज थिय स्वयम् आदित ।

हिन्दी—जहाँ कमलों द्वारा जिसके मुख, हाथ, पैर और नयन रचे गये हैं
और चम्पक पुष्पों से अथ अग, ऐसी फूलों से रची गयी नीमपुत्री (दमयन्ती)
ने काम पूजा की फूलमाला की शोभा को स्वयम् ही स्वीकार लिया था ।

टिप्पणी—कमलवदना, कमलकरचरणा, पकजनयना, चम्पकवतनु दमयन्ती
जैसे फूलों की बनी थी, इस प्रकार वही मानो स्वयम् कामपूजा की पुष्पमाल थी ।
काम भी उससे सन्तुष्ट हो जाने की स्थिति में था । जो उसे एक बार देख लेता
था, उसकी 'कामना' करने लगता था । मन्दिनाथ के अनुसार यहाँ अति-
उयोक्ति और तदुत्थापिता निदर्शना का सङ्कर है, विद्याधर की दृष्टि में निदर्शना
और रूपक ॥९६॥

जघनस्तनभारगौरवाद्द्विदालम्ब्य विहृतुमक्षमा ।

ध्रुवमप्सरसोऽवतीर्य या दत्तमध्यासत तत्सखीजन* ॥ ९७ ॥

जीवातु—जघनेति । जघनानि च स्तनौ च जघनस्तन, प्राण्यङ्गत्वाद् द्वै-
चवद्भाव । तदेव भार तस्य गौरवात् गुरुवाद्द्विदालम्ब्य विहृतु मक्षमा* शत
दत्तमस्याका 'विशत्याद्या सदैकत्वे सख्या सन्धेयसख्ययोरि' त्यमर । अप्सर-
सोऽवतीर्य स्वर्गादागत्य तदाखीजन सख्य जातावेकवचनम् । या नगरीमध्या-
सत अध्यतिष्ठन्, 'अधिगीड्स्थासा कर्म'ति कर्मत्व ध्रुवमित्युत्प्रेक्षा । जप्सर-
वत्पा शत सख्य एतामुपासत इत्यर्थ ॥ ९७ ॥

अन्वय — जघनस्तनभारगौरवाद् विपर्य आलम्ब्य विहृतुम् अक्षमा
घनम् अप्सरस्य अवतीर्य तत्सखीजन याम् अध्यासत ध्रुवम् ।

हिन्दी—जघन (नितम्ब) और कुच-भार गुरु (गह्रा) होने से आकाश
का सहारा लेकर विहार करने में अक्षम (अक्षमर्थ) सैकड़ों अप्सराएँ (धरती

पर) उतर कर उस (दमयन्ती) की सखियां होकर लगता है, उस (नगरी) में निवास कर रही थीं ।

टिप्पणी—आज्य यह है कि दमयन्ती अप्पराअंति अत्रि सौंदर्यशालिनी थी, अप्पराएँ तो उसकी सखी बन कर कुंठिनपुरी में उतर आयी थीं । मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने सापह्लवा उत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है ॥

स्थितिशास्त्रिसमन्तवर्णता न कथं चित्रमयी विनतुं या ? ।

स्वरभेदमुपेतुं या कथं कलितानल्पमुखात्वा न वा ? ॥ ९८ ॥

जीवानु—म्यतीति । चित्रमयी आश्चर्यप्रचुरा आलंकारप्रचुरा च, 'आलंकारव्यंभोश्चित्रमि'त्यनर । या नगरी स्थित्वा नर्मादया स्थायित्वेन च घालन्ते ये तं समन्ता वर्णा ब्राह्मणादय मुक्तादयश्च यस्या तस्या नावस्तता "वर्णा द्विवादी मुक्तादादि' त्यनरः । कथं न विनतुं विनन्नेवेत्यर्थं । कलितं प्रातः जनन्याना बहूना मुक्तानामारवो बहूमुखाना बहूमुख-पञ्चमुख-पञ्चुखाना च आरव शशो यस्या सा या पुरी स्वरम्य ध्वनेभेद नानात्व स्व स्वर्गादभेद च कथं वा नोपेतुं उपन्नेवेत्यर्थं । उभयत्रापि सति धारणे कार्यं नभेदेवेति नाव । जत्र केवलप्रकृतश्लेषालङ्कार उभयोरप्यर्थयो प्रकृतत्वात् । किंतु एकनाले फलद्वयदेकस्मिन्नेव शब्दे अर्थद्वयप्रतीतिर्यस्यै प्रयभायै । द्वितीये तु जनुका-दृशदेकवद्भूतालङ्कारद्वयप्रतीति शब्दश्लेष ॥ ९८ ॥

अन्वय —चित्रमयी या स्थितिशास्त्रिसमन्तवर्णता कथं न विनतुं कलितानल्पमुखात्वा या कथं वा स्वरभेद न उपेतुं ?

हिन्दी - (१) जो आलंकारों (चित्रों) से पूर्ण है, उस नगरी में परस्पर उचित स्थिति प्राप्त करते सभी नील-पीठादि रंग क्यों न रहें ? (रहेंगे ही) । और जहाँ प्रचुर मात्रा में मुख शब्द कर रहे हैं (जनेक व्यक्ति एक साथ बोल रहे हैं), वहाँ स्वर भेद (विभिन्न स्वरता) क्यों न हो ? (होना ही उचित है) ।

(२) जिस नगरी में अपने-अपने आचार का परिपाटन करते सभी ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों योगित हो, ऐसा भाव धारण करती नगरी आश्चर्यमयी क्यों न हो ? (अन्वय वर्णसंकरता है, कुंठिनपुरी में नहीं, अतः उस नगरी को

आश्चर्यरूपा होना ही चाहिए) । और जहाँ बाघाट अतएव अनल्पमुख ब्राह्मणों द्वारा 'आरव' (वेदपाठ) होता है, वहाँ उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरो का भेद क्यों न हो ? (त्रिस्वर वेद-पाठ में स्वरभेद होगा ही) ।

(३) वह नगरी आश्चर्ये विचित्र (अनुठी) क्यों न हो, जहाँ आठ (उर, कण्ठ, चिर, जिह्वामूल, दन्त, नासिका, ओष्ठ, तालु) स्थानों से उच्चरित होने वर्ण स्थित हो ? (जहाँ सलक्षण वेदपाठ होता है, वह विचित्र है ही, क्योंकि सर्वत्र ऐसा सम्भव नहीं है) । और वह नगरी 'स्व.' (स्वर्ग) से 'अभेद' क्यों न स्थापित करे, जहाँ अनल्पमुख ब्राह्मण 'अनल्पमुख' अर्थात् अनेक मुख वाले (चतुर्मुख) ब्रह्मा जैसे स्वर्ग में वेद का 'आरव' करते रहते हैं, उसी प्रकार वेद-स्वर गुजरित करते रहते हैं ? अथवा स्वर्ग में अनल्पमुख-चतुर्मुख ब्रह्मा पञ्च-मुख शिव, पण्मुख स्कन्द के स्वर जैसे हैं, वैसे ही नगरी में अनेक मुखों के शब्द रव होते हैं ।

टिप्पणी—चित्रमयी कृ दिनपुरी का वर्णन विचित्र श्लिष्ट शब्दावलि में किया है, जिसमें तीन अर्थ नगरी के वैचित्र्य को प्रकट करते हैं, वहाँ वर्णव्यवस्था की बर्णना है, सलक्षण सस्वर वेदपाठ होता है, अनेक थालेरूप सजे हैं, प्रचुर जन-बल है । विद्यापर के अनुसार यहाँ श्लेष छलकार है, जिसे मल्लिनाथ ने प्रकृत श्लेष कहा है, क्योंकि सभी अर्थ प्रकृत हैं । केवल दो अर्थों के उल्लेख करके मल्लिनाथ ने बताया है कि एक नाम में दो फलों के समान एक शब्द के दो अर्थ प्रतीत होने से प्रथमाद में धयश्लेष है, द्वितीयाद में जतुकाष्ठवत् एकपुत्र वा शब्दों से अर्थ प्रतीति होने के कारण शब्दश्लेष है । चद्रकलाकार के अनुसार पूर्वाद में अर्थापत्ति, शब्दश्लेष और प्रकृतश्लेष का एकाश्रयानुप्रवेदारूप सवर है, द्वितीयाद में भी उसी प्रकार सवर है और सम्पूर्ण श्लोक में ससृष्टि है ॥

स्वरुचाऽऽरुणया पताकया दिनमर्केण समीपुतोत्प ।

ललितदूर्वहुघा सुधाकर निशि माणिक्यमया यदालया ॥ ९९ ॥

जीवातु—स्वर्षधेति । माणिक्यमया पथरागमया यदालया यस्या नगर्षा शृङ्गा दिने दिने, अत्यन्तसयागे द्वितीया । समीपुया सङ्गतेन अर्केण हेतुना उत्पु अर्कसम्पर्कादुत्पन्नपिपासा सन्त स्वरुचा स्वप्रभया अरुणया आरुण्य

प्राप्तयेति तद्गुणान्द्वारः, 'तद्गुण' स्वगुणत्यागादन्योत्कृष्टगुणाहृतिरिति लक्षणात् । पताक्या रसनायमानयेति भावः, सुधाकर बहुधाःलिलिहृ' आस्वादयामासुरित्यर्थः । अह्नि सन्तप्तानिधि घीतोपचारः कुर्वन्तीति भावः । अत्र गृहाणा सन्तापनिमित्तसुधाकरलेहनात्मकघीतोपचार-उत्प्रेक्ष्यते । सात्वोक्तवद्गुणोत्प्रेति सङ्करः, व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ ९९ ॥

अन्वयः—माणिक्यमया यदाक्षया -दिन-समीपुया -अर्केन उत्तुप' निधि स्वरुचा अरुमया पताक्या सुधाकर-बहुधा-लिलिहृ' ।

हिन्दी—माणिक्य-रत्नों से बने-जिस (नगरी) के गृह समग्र दिन निकटागत सूर्य के कारण उद्दाम तृया (प्यास) से आकुल हो रात में अर्को, काठि से अरुम हुई पताका रूपा जिह्वा से अमृतनिधि चद्र को अनेक प्रकार से चाह्ते रहते हैं ।

टिप्पणी—काठि का आशय है कि नगरी में सूर्य-चद्र को छूनेवाले अप्सृच्च आवास हैं । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ तृयानिवारणार्थं सुधाकर-लेहनारमक घीतोपचार की 'उत्प्रेक्षा' (गम्या) है, जो 'तद्गुण' से उत्प्रापित है, अतः दोनों का सकर है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति-अतिशयोक्ति-तद्गुण-उदात्त अलकारो का सकर है ॥ ९९ ॥

लिलिहे स्वरुचा पताक्या निधि जिह्वानिमया सुधाकरम् ।

थिनमर्ककरे पिपासु यन्नृपसद्यामल्पभरागजम् ॥ १०० ॥

जीवातु—अयानयं व नङ्गया राजनवन वनयति-लिलिहृ इति । अमन्-पद्मरागज यस्या नगया नृपसद्म राजमवनम् अर्ककरे थियमतिसामी-प्यादनिन्यातम् । थयते' कर्मणि क्तः, शृणाते' पक्वार्थादिति केचित् । तदा ह्रस्वञ्चिन्त्य', प्रहृत्यन्तर मृग्यमित्यान्ता तत् । अत एव पिपासु तृपित सत् पिबते सन्तान्तादुप्रत्यय । स्वकीया र्थ् यस्या तया स्वरुचा तद्रूपितयेत्यर्थः । अत एव जिह्वानिमया पताक्या सुधाकर लिलिहे आस्वादयामास । लिहे कर्तरि लिट् । त्वरितत्वादात्मनेपदम् अलङ्कारश्च पूर्ववत्, जिह्वानिमयेत्युपमा सङ्करश्च विशेषः ॥ १०० ॥

अन्वय —अमलपद्मरागजम् अर्ककरै - श्रित पिपासु यन्नुपसद्म निधि स्वह्वा जिह्वानिमया पताकया मुष्ठाकर लिलिहे ।

हिन्दी—निर्मल पद्मराग मणियों से निर्मित, सूर्य-किरणों के समीप हुआ अतएव प्यासा जिस (नगरी) के राजा का गृह रात में अपनी शान्ति से जिह्वासदृश लाल बनी पताका द्वारा मुष्ठाकर को चाटा करता है ।

टिप्पणी—पूर्वमणिमा के अनुरूप ही राजगृह की अत्युच्चता द्योतित । मल्लिनाथ के अनुसार अलकार-स्फिति पूर्वश्लोकवत् है, विशेषता यही है कि यहाँ 'जिह्वानिमया'—उपमा है और सकर है । विद्याधर की दृष्टि में अलकार-स्फिति पूर्ववत् ही है । चद्रकलाकार ने भी सद्गुण—प्रनीयमानोत्प्रेक्षा-उपमा का अगाधिभाव सकर माना है ॥१००॥

अमृतद्युतिलक्ष्म पीतया मिलितं यद्वलभीपताकया ।

वलयायितशेषशायिनस्सखितामादित पीतवासस ॥ १०२ ॥

जीवातु—अमृतेति । पीतया पीतवर्णया यस्या नगर्या वलभ्यां 'कूटागारन्तु वलमि'रित्यमर । पताकया मिलितं सामीप्यारसं ज्ञतममृतद्युतिलक्ष्म चन्द्रलाञ्छन वलयायिते वलयीभूते शेषे शेषे इति तच्छायिन पीतवासस पीताम्बरस्य विष्णो सखितां सद्गुणतामादित अग्रहीदित्युपमालङ्कार ॥ १०१ ॥

अन्वय —पीतया यद्वलभीपताकया मिलितम् अमृतद्युतिलक्ष्म वलयायित शेषशायिन पीतवासस सखिताम् आदित ।

हिन्दी—जिस (नगरी) के ऊँचे कूटागार की पीले रंग की पताका से मिल कर अमृतद्युति चद्र का शेष चिह्न कुण्डली बनाये शेषनाग पर ध्यान करते पीतांबर हरि (विष्णु) के साम्य को प्राप्त होता था ।

टिप्पणी—ऊँची वलभी की पीली पताका चद्र के काले चिह्न के चारों ओर फिर जाती है, जिससे वह चद्र कलक 'पीतांबरो हरि' बन जाता है, गोल घेरे वाला चंद्रमा ही, गेडुरी मारे पटा शेषनाग है, जिस पर शशचिह्न-रूप पीतांबर विष्णु साये हैं, अर्थात् घरो ऊँची है वलभी (कूटागार) ।

उपमा । चन्द्रकलास्या के अनुसार असंबन्ध में नवय-कथनके कारण अतिगयोक्ति-
उपमा का अगाधिभाव सकर ॥ १०१ ॥

अभ्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनाविभक्तमूर्गिन्निवा-
निह्यग्रह्यमुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकैलिना ।
पूर्वं गाधिमुतेन सामिघटिना मुक्ता नु मन्दाकिनी
यथासाददुकूलबल्लिरनिलान्दोलैरखेऽदिवि ॥ १०२ ॥

जीवानु—अथान्तेति । यस्या नायां प्रासादे दुकूल बल्लिरिव दुकूलबल्लि
दुग्धमयो पताकेत्तरयं । अथानेन श्रुतिपाठेन निव्यवेदपाठेन पूताभ्य पवित्राभ्य
रसनाभ्यो जिह्वाभ्य जाविन्तेषु मूर्गिन्निवेषु अनेकस्मोत्रेषु प्रजिह्वेन अकुण्ठेन
ब्रह्मगो मुखानामोघेन हेतुना विघ्निता मञ्जानविघ्ना नवस्वर्गक्रिया नूतनस्वर्ग-
सृष्टिन्द केलि लीला यस्य तेन गात्रिमुतेन विश्रामिश्रेण पूर्वं ब्रह्मप्राथेनात्पूर्व
सामि घटिता अर्धमृष्टा 'सामि त्वद्वे जुगुप्सन्' इत्यमर । मुक्ता पश्चान्मुक्ता
मन्दाकिनी नु आकाशगङ्गा किमनिलस्य कर्तुरान्दोलनैदिवि आकाशे अनेनत्
विजहारत्युत्प्रेसा । एषा कथा त्रिशङ्कूपाख्याने द्रष्टव्या । शार्दूलविक्रीडितवृत्त
'नूयांश्वैर्ममजासना मगुरव शार्दूलविक्रीडितमि'ति लक्षणात् ॥ १०२ ॥

अन्वय.—अनिलान्दोलै यथासाददुकूलबल्लि अभ्रान्तश्रुतिपाठपूतरसनावि-
भूटनुरिस्त्रवाजिह्वमग्रह्यमुखौघविघ्नितनवस्वर्गक्रियाकैलिना गाधिमुतेन पूर्वं
सामिघटिना मुक्ता मन्दाकिनी नु दिवि अखेलत् ।

हिन्दी—पवन से डोलती जिस (नगरी) के प्रासादों की ध्वजा-रूपा श्वेत
चन्द्रिका निरन्तर वेदपाठ से पवित्र रसनाओं में प्रकट होते स्तुतिगान में अकु ठ
ब्रह्मा के चारों मुखों द्वारा (अर्थात् वेदपाठ से पवित्र चारों मुखों में एक साथ
ब्रह्मा जो द्वारा प्रार्थना किये जाने पर) नवीन स्वर्ग निर्माण की जिसकी शीला
में विघ्न पड़ गया है, ऐसे गाधिपुत्र (विश्वामित्र) द्वारा अर्धनिमित्त कर
छोड़ दी गयी मन्दाकिनी के समान मानो आकाश में लहराती थी ।

टिप्पणी—नवीन मूर्ति रचनेवाले विश्वामित्र की कथा (त्रिशङ्कु-उपा-
ख्यान) के माध्यम से आकाश में लहराती प्रासाद ध्वजा के चित्रण द्वारा
प्रासाद की अत्युन्वता छोटित । उत्प्रेक्षालकार । शार्दूलविक्रीडित छद ॥१०२॥

यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभाश्शुचिसौधवस्त्रवल्लि ।

अलभत शमनस्वसुशिशुत्व दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती ॥ १०३ ॥

जीवातु—यदिति । यस्या नगर्या अतिविमलनीलवेश्मन इन्द्रनीलनिकेतनस्य रश्मिभि भ्रमरिता भ्रमरीकृता भ्रमरशब्दात् 'तत्करोती'ति प्यन्तात् कर्मणि क्त । वल्ल्याश्च भ्रमरैर्भाव्यमिति भाव । तथाभूता भा छाया यस्या सा श्यामीकृतप्रभेत्यर्थ । अत एव तद्गुणालङ्कार । शुचि स्वभावत शुभा सौधस्य वस्त्रमेव वल्लि पताकेत्यर्थ । रूपकसमाप्त । भ्रमरितभा इति रूपवादेव साधकात् दिवसकरस्य सूर्यस्य अङ्कतले समीपदेशे उरसङ्गप्रदेशे च चला अपक्वा लुठन्ती परिवर्तमाना सती शमनस्वसुर्यमुनाया शिशुत्व शैशवमलमत बाल्यमुनेव वमावित्यर्थ । बालिकाश्च पितुरङ्के लुठन्तीति भाव । अत्रान्यस्य शैशवेनान्यसम्बन्धासम्भवेऽपि तत्सदृशमिति सादृश्यासोपात्तिदर्शना पूर्वोक्त-तद्गुणरूपकाम्या सङ्कीर्णा ॥ १०३ ॥

अन्वय—यदतिविमलनीलवेश्मरश्मिभ्रमरितभा शुचिसौधवस्त्रवल्लि-दिवसकराङ्कतले चला लुठन्ती शमनस्वपु शिशुत्वम् अलम् ।

हिन्दी—जिस (नगरी) के अखण्ड निर्मल नीलमणि निर्मित गृहो की किरणों से भ्रमर-वर्ण (नीले रंग की अनावाला प्रासाद की शुभ्र पताका सूर्य की गोद में (समीप) चञ्चलता से क्रीडा करती घम भगिनो (यमुना) के बाल्यकाल की प्राप्त करती थी ।

टिप्पणी—इन्द्रनीलमणि निर्मित प्रासादो की लहराती पुन्न पताका मणि के नीले रंग के कारण नीली बन कर उस यमुना (यमुना का वण भी नीला माना जाता है) के सादृश्य को प्राप्त कर लेती थी, जो अपने बाल्य काल में पिता सूर्य की गोद में चञ्चलतापूर्वक क्रीडा करती है । मल्लिनाथ ने हम पद्य में तद्गुण और रूपक में सर्वाङ्ग निदर्शना का निर्देश किया है, विद्याधर ने अनु-प्रास-अतिशयोक्ति-उदात्त तद्गुण निदर्शना के संकर का । चद्रकलाहया के अनु-सार यहाँ निदर्शना तद्गुण रूपक उपमा का संकर है । पुष्पिताम्रा छंद है, जिसके प्रथम तृतीय चरणों में दो नगण (III), एक रगण (SIS), एक यगण

(155) क्रम से बारह-बारह वर्ष होते हैं- और द्वितीय-चतुर्षं चरण में एक नगण (111), दो जगण (151), एक नगण (515) एक गुरु (5) क्रम से तेरह तेरह वर्ष— 'अयुजि नयुरेफ्तो यकारो युजि च न्यो जरमाश्च पृषिताप्रा' ॥ १०३ ॥

स्वप्राणेश्वरनमं हर्म्यं कटकातिथ्यग्रहायोत्सुक
पायोदं निजकेलिसौषधिखरादारुह्य यत्कामिनी ।
साक्षादप्सरसो विमानकलिनव्योमान एवामव-
द्यन्न प्राप निमेषमभ्रतरसा यान्तो रसादध्वनि ॥ १०४ ॥

जीवातु—स्वेति । यत्कामिनी यन्नगराङ्गना विमानेन कलित श्रान्त व्योम यानिस्ता साक्षादप्सरसो दिव्याङ्गनैवामवत् । 'स्त्रिया बहुष्वप्सरस' इत्य- निधानादेकत्वेऽपि बहुवचनप्रयोग कृत , यद्यस्मान्निजकेलिसौषधिखरादपादानात् स्वप्राणेश्वरस्य नमं हर्म्यं श्रीडासौष तस्य कटकान्निताम्बादातिथ्यग्रहाय स्वीकाराय तत्र विश्रमार्थमित्यर्थं । उत्सुकमुद्युक्त गच्छन्तमित्यर्थं , पायोद मेघमारुह्य रसाद्रागाद् यान्तो गच्छन्ती जध्वनि अभ्रतरसा मेघदेगेन हेतुना निमेष न प्राप । अत्र नगरामराङ्गनयोर्भेदेऽपि अनिमेषमेघारोहणव्योमयाने नैव इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिभेदः । शार्दूलविज्रीडित वृत्तम् ॥ १०४ ॥

अन्वयः—यत्कामिनी विमानकलितव्योमानः साक्षात् अप्सरस एव अमवत्, यत् निजकेलिसौषधिखरात् स्वप्राणेश्वरनमं हर्म्यं कटकातिथ्यग्रहाय उत्सुक पायो- दम् आरुह्य रसात् यान्तो अध्वनि अभ्रतरसा निमेष न प्राप ।

हिन्दी—जिस (नगरी) की कामिनी विमान द्वारा आकाश में यात्रा करती साक्षात् अप्सरा ही हो गयी थी, जो कि अपने झीडा-प्रासाद के शिखर से स्व-प्राणानाथ के झीडा गृह के मध्य आतिथ्य-ग्रहणार्थ, जाते हुए जलद पर आरोहण करके, अनुराग से जाती हुई, मार्ग में मेघ के वेग के कारण क्षण भर भी पलक न क्षपा पायी ।

टिप्पणी—केलप्रासाद की ज्युच्चता द्योतित । कामिनी-सहज सौन्दर्य, मेघमान और अनिमेषता के कारण अप्सरानृत्य लगती थी । प्रिय के प्रति उत्कण्ठिता नादिका की शीघ्रता अपेक्षित रहती है, विलम्ब उसे सह्य नहीं

होता, अतः—'अध्वनि निमेषे न प्राप'—मार्गं मे क्षण निमेष भर—क्षण भर को भी नहीं रुकी। मल्लिनाथ ने भेद में अभेदकथन रूपा अतिशयोक्ति अलंकार का उल्लेख किया है, विद्याधर ने उपदेश का, चंद्रकलाकार ने दो बार अभेद का अध्यवसाय होने से यहाँ दो अनिश्चयवृत्तियों को मसृष्टि और 'कटक', 'शिलर' शब्दों से नर्महर्म्यं तथा सौध की अत्युच्चता व्यंग्य होने के कारण शब्द शक्ति-मूलवस्तु ध्वनि का निर्देश किया है। शार्ङ्गलविक्रीडित छंद ॥ १०४ ॥

वेदभीकिलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरशुदर्भै-
 व्रंह्याण्डाघातभग्नस्यदजमदतया ह्रीघृतावाङ्मुखत्वं ।
 कस्या नोत्तानगाया दिवि सुरसुरभेरास्यदेश गताप्रै-
 यद्गोप्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्तमुज्जृम्भते स्म ॥ १०५ ॥

जोवातु—वेदभीति । 'उत्ताना वै देवगवा वहती'ति श्रुत्यर्थमाश्रित्याह—
 वेदभीकिलिशैले मरकतशिखरादुत्थितं अथ ब्रह्माण्डाघातेन भग्नो स्यदजमदो
 वेगवर्षो येषा तत्तया ह्रिया घृतम् अवाङ्मुखत्वं यैस्तैरघोमुखं अतएव दिवि
 उत्तानगाया ऊर्ध्वंमुखाया इत्यर्थः । कस्या सुरसुरभे देवगव्या आस्यदेश
 गताप्रैरशुभिरेव दर्भैर्यस्या नगर्षा मम्बन्धि गोप्रासप्रदानव्रतसुकृतमविश्रान्त
 नोज्जृम्भते स्म । किंतु सर्वस्य अपि प्रासदानाद्यस्तसुकृतमेवोज्जृम्भतमित्यर्थः ।
 अत्युत्तमालङ्कारोऽयमिति केचित् । अगुदर्भणा ब्रह्माण्डाघाताद्यसम्बन्धेऽपि
 मम्बन्धोक्तरतिशयोक्तिभेदः । स्रग्धरावृत्त 'अर्भर्षाना त्रयेण त्रिमुनियनियुता
 स्रग्धरा कीर्तितैरभि'ति लक्षणात् ॥ १०५ ॥

अन्वय—वेदभीकिलिशैले मरकतशिखरात् उत्थितं ब्रह्माण्डाघातभग्नस्य-
 दजमदतया ह्रीघृतावाङ्मुखत्वं । दिवि उत्तानगाया कस्या सुरसुरभे आस्यदेश
 गताप्रै यद्गोप्रासप्रदानव्रतसुकृतम् अविश्रान्तम् उज्जृम्भते स्म ।

हिन्दी—विदर्भ कुमारी (दमयन्ती) के श्रीरूपवर्त पर मरकतमणिनिर्मित
 शिखरों से उठी ब्रह्मांड के सघट्टन से वेगजात अभिमान के टूट जाने के कारण
 स्रग्धरा से नीचे मुख किये स्वर्ग में ऊपर मुख करके जानेवाली किसी देवगी के
 मुखमें जिनके अग्रभाग चले जाते हैं, ऐसी, किरणा के अग्रभागों द्वारा जिस
 (भगरी) में गोप्रास प्रदान रूप व्रत का पुण्य अनवरत बढ़ रहा था ।

टिप्पणी—वैदर्भी के केलि शैल की उच्चता घोषित है, जो मरकत का बना है, त्रिनये निकलती किरणों के अप्रनाग उत्तानगा देवगौ मे मुख के पहुँच गौ को प्राप्त खिलाने का पुण्य निरन्तर नगरी को दिलाते रहते हैं। केलि-शैल के मरकत रत्नों की किरणों ब्रह्मांड की ओर वेग से उठी, परन्तु ब्रह्माण्ड-सघट्टन से उनका वेग गर्व क्षणित हो गया और वे फिर नीचे की ओर गिरें कि उत्तानगा किसी मुरमुरमि के मुख में जा गिरें। इस प्रकार बनाया ही नगरी को गोप्रास देने का पुण्य मिलता रहा। मन्दिनाथ ने असद्वध में सबधक्षयरूपा अतिशयोक्ति का उल्लेख करते हुए यह भी बताया है कि कुछ टीकाकारों ने यहाँ अत्युत्तमालकार भी माना है। विद्याधर ने रूपातिशयोक्ति मानी है, चंद्रकलाकार ('अष्टदश' में) रूपक, अतिशयोक्ति, प्रतीयमानोन्प्रेक्षा और उदात्त अलंकारों की संसृष्टि मानते हैं। स्रग्धरा छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में एक मगग (SS), एक रगग (SIS), एक नगग (SII), एक तगग (III), तीन यगग (ISS) के क्रम से इक्कीस वर्ण होते हैं। सात-सात-सात पर यति होती है—'अभ्रमंयाना त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् ॥ १०५ ॥

विधुकरपरिरम्भादात्तनिष्यन्दपूर्णेः

शशिदृपदुपकृप्तैरालवालैस्तल्पाम् ।

विफलिनजलसेकप्रक्रियागौरवेण

व्यरचि स हृतचित्तमत्र नैमीवनेन ॥ १०६ ॥

जीवानु—विध्विति । तत्र तस्या नगर्यां शशिदृपदुपकृप्तैश्चन्द्रकान्तशि-
लाबद्धे अत एव विधुकरपरिरम्भात् चन्द्रकिरणसम्पर्कात् हेतो आत्तनिष्यन्दं
ज-प्रसन्नवर्णरेव पूर्णैस्तल्पामालवालैर्विफलित व्यर्योहृन् जलसेकस्य प्रक्रियाया
प्रकारे गौरव भारो यस्य तेन नैमीवनेन स हसो हृतचित्तो व्यरचि । कर्तुं
सुद्ध । अत्रात्वालाना चन्द्रकान्तनिष्यन्दासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति-
भेदः । एतदारम्य चतुस्लोकपर्यन्तं मालिनीवृत्त- 'ननमयययुतेर्व मालिनी
नोगिनोर्करि'ति लक्षणात् ॥ १०६ ॥

अन्वय—तत्र शशिदृपदुपकृप्तैः विधुकरपरिरम्भात् आत्तनिष्यन्दपूर्णेः

संरुणाम् आलवाले विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण भंभीवनेन स हृतचित्तो
ध्वरचि ।

हिन्दी—वहाँ (नगरी में) चद्रकातमणियों से बने अतएव चद्र किरणों
के सम्पर्क से। पसीजने के कारण अपने ही जल प्रवाह से परिपूर्ण वृक्षों के
आलवाले (जलाधारों) द्वारा जिसमें जल से सींचने की क्रिया का भार व्यर्थ
है, ऐसे भीमसुता (दमयन्ती) के उपवन पर वह (हृष) आकृष्टचित्त
हो गया ।

टिप्पणी—दमयन्ती की घाटिका में वृक्षों के आलवाल (घाँवले) चद्र-
कात मणि से बनाये गये थे, चद्रमा निकलता, मणियाँ पसीजती और जल
से आलवाल पूर्ण हो जाते । अपने आप ही सिंचाई हो जाती थी । बड़ी ही
विचित्र और मनोरम थी वह घाटिका कि मानव नहीं, पक्षी का भी चित्त
उसमें रम गया । मल्लिनाथ ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है और
विद्याधर ने अतिशयोक्ति और उदात्त का । इसमें और अगले तीन (१०७,
१०८ १०९ वें) श्लोको में भी मालिनी छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में
दो नगण (III), एक मगण (SSS), दो यगण (ISS) क्रम से पंद्रह वर्ण होते हैं-
आठ और सात पर यति होती है ॥ १०६ ॥

अथ कनकपत्रप्रस्तत्र ता राजपुत्री

सदसि सदशभासा विस्फुरन्ती सखीनाम् ।

उडुपरिपदि मध्यस्थायिशीताशुलेखाऽ-

नुकरणपटुलक्ष्मीमक्षिलक्षीचकार ॥ १०७ ॥

जोवातु—अथेति । अथ दर्शनानन्तर कनकपत्र स्वर्णपक्षी तत्र बने सदश
भासामात्मतुल्यलावण्यानां सखीनां सदसि विस्फुरन्ती 'स्फुरतिस्फुरत्योनिनिविभ्य'
इति पत्वम् । उडुपरिपदि तारकासभाजे मध्यस्थायिण्या शीताशुलेखायाश्च चद्र-
कलाया अनुकरणे पटु समर्था लक्ष्मीं शोभा यस्या सा इत्युपमालङ्कारः । ता
राजपुत्रीम् अक्षिलक्षीचकार अत्राक्षीदित्यर्थः ॥ १०७ ॥

अन्वय —अथ कनकपत्र तत्र सदशभासां सखीनां सदसि विस्फुरन्तीम्
उडुपरिपदि मध्यस्थायिशीताशुलेखानुकरणपटुलक्ष्मीम् अक्षिलक्षीचकार ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती-उपवन के दशम) के उपरांत स्वर्णपक्षी (हंस) ने वहाँ (वाटिका में) समान वाटिमती सखियों की समामध्य विशेष रूपसे दीपती, तारो की परिपद् ने मध्यस्थिता (नेतृत्व करती) शीतकिरण (चन्द्र) की कला के अनुकरण में समर्थ शोभान्विता (दमयती) को नेत्रगोचर किया ।

टिप्पणी—वाटिका में अनुपम रूपवती सखियों के मध्य विराजती दमयती सुवर्णपक्षी को ऐसी प्रतीत हुई, जैसी कि तारिकाओं के मध्य चन्द्र-कला । दमयती की सखियाँ भी उसी जैसी नहीं, तो उसी के समान सौंदर्य-शालिनी थी, दमयती तो अनुपम सुन्दरी थी कि विचित्र पक्षी, सोने के पल्ल-वाले राजहंस के नेत्र भी उसे देखते ही रह गये । उपमालङ्कार ॥ १०७ ॥

भ्रमणपरयविकीर्णान्दर्शनमासा खगेन

क्वचन पतनयोग्य देशमन्विष्यताऽपि ।

मुखविधुमदसीय सेवितु लम्बमान

शशिपरिधिरिवोच्चैर्मण्डलस्तेन तेने ॥ १०८ ॥

जीवातु—भ्रमणेति । अधो भूतले क्वचन कुत्रचित्पतनयोग्य देश स्थानम् अन्विष्यता गवेपमाणेन कत एव भ्रमणरूपेण विकीर्णा स्वर्णस्य भा दीक्षितंस्व तेन खगेन अनुप्या अयम् अदसीयम् वृद्धाच्छ' 'त्यदादीनि चे'ति वृद्धिसज्ञा । मुखेन्दु सेवितु लम्बमान' स्र समान शशिपरिधि चन्द्रपरिवेप इव उच्चैरुपरि मण्डलो वलय तेने दितेने तनोते कर्मणि लिट् । उत्प्रेक्षास्वभावोक्तयोः सङ्कर ॥ १०८ ॥

अन्वय —अध' क्वचन पतनयोग्य देशम् अन्विष्यता भ्रमणपरयविकीर्ण-स्वर्णमासा तेन खगेन अदसीय मुखविधु सेवितु लम्बमान शशिपरिधि-इव उच्चै' मण्डल' तेने ।

हिन्दी—नीचे (धरती पर) कहीं उतरने योग्य स्थान को खोजते परिभ्रमण के वेग से सुवर्णदीप्ति विकीर्ण करते हुए उस पक्षी (हंस) ने जैसे उस (दमयती) के मुखचन्द्र के सेवन के निमित्त लटकते चन्द्रपरिवेप के समान ऊपर महल लिया (गोल चक्कर लगाया) ।

टिप्पणी—घरती पर नीचे उतरते पक्षी का यह स्वभाव है कि वह गोल चक्कर लगाकर स्थान निश्चित करके तब उतरता है, राजहंसने भी ऐसा ही किया । कवि ने इसी पर यह बिम्ब-वर्णन किया है । लगा कि चन्द्र के निकट चन्द्र का घेरा 'फेम' आ रहा है दमयती का मुख चन्द्रमा है, स्वर्णाभा बिखेरता चक्कर लेता हंस उमका सुनहरी फेम है । हंस की 'सेवितुम्' क्रिया का भाव नारायण पंडित ने 'परिचुम्बितुम्' लिया है, कुछ अन्य टीकाकार 'द्रष्टुम्' लेने हैं । वस्तुतः यह भाव अधिक स्वाभाविक लगता है कि मुख चन्द्र का प्रमामण्डल, जो पीछे छूट गया था, चन्द्र के चारों ओर लगने के लिए निकट आ रहा है—'सेवितुम्-उपमेवितुम्' । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा-स्वभावोक्ति का सकर, विद्याधर की दृष्टि में रूपक उपमा-जाति की ममृष्टि ॥ १०८ ॥

अनुभवति शचीत्य सा घृताचीमुखामि-

र्न सह सहचरोभिर्नन्दनानन्दमुच्चै ।

इति मतिरुदयासीत्यक्षिण प्रेक्ष्य भैमी

विपिनभुवि सखीभिर्मार्धमावद्धखेलाम् ॥ १०९ ॥

जोवानु—अनुभवतीति । विपिनभुवि वाप्रदेशे सखीमि सहचरोमि 'सत्यशिक्षीति मायायामि'ति निगतनाम डीप् । सार्धमावद्धखेलामनुवद्धक्रीडां, 'क्रीडा खेला च कूर्दनमि'त्यमर । भैमी प्रेक्ष्य पक्षिण' सा प्रसिद्धा शची इन्द्राणी घृताचीमुखामि सहचरोमि गह इत्यमुच्चैरुत्कृष्ट नन्दनानन्द नन्दनमुख नानुभवतीति मती बुद्धिरुदयासीदुत्थिता । अत्र प्रेक्ष्य मतिरिति मननक्रियापेक्षया समानकर्तृत्वात् पूर्वकालत्वाच्च प्रेक्ष्येति बन्धानिर्देशोपपत्तिः, तावन्मात्रस्यैव सत्प्रत्ययोत्पत्ती प्रयोजकत्वात् । प्राधान्यत्वप्रयोजकमिति न चञ्चिद्विराघ । अत्रोपमानादुभयस्याधिक्योत्तेज्यतिरेकालङ्कार 'भेदप्रधानसार्धम्युपमानोपमेययो । आधिक्यादल्पकथाद्वयतिरेक स उच्यते ॥' इति रुसणात् ॥ १०९ ॥

अन्वय —-विपिनभुवि सखीमि सार्धम् आवद्धखेला भैमीं प्रेक्ष्य-घृताची-मुखामि सखीमि सह सा शची इत्यम् उच्चै नन्दनानन्द न अनुभवति—पक्षिण इति मति उदयासीत् ।

हिन्दी—रूपवनप्रदेश में सखियों के साथ श्रीदारता भीमपुत्री को देख पक्षी (हंस) की ऐसी बुद्धि बनी कि घृताचीप्रभृति सहचरियों के साथ उस सुविख्यात इन्द्राणी शची को इस प्रकार के प्रचुर आनन्द का नन्दन उपवन की श्रीदा में भी अनुभव नहीं होता ।

टिप्पणी—दमयती की शची, उसकी सखियों की घृताची आदि अप्सराओं और वाटिका की नदनकानन से तुलना करते हुए दमयती के श्रीदा-सुख की शची के केलिसुख से श्रेष्ठता बताकर एक प्रकार से दमयती-परिवेष की शची परिवेष की अपेक्षा श्रेष्ठता द्योतित की गयी है । मल्लिनाथ ने इसी आधार पर यहाँ व्यतिरेक अलंकार माना है, यों विद्याधर ने आतिमान् का निर्देश किया है ॥ १०९ ॥

श्रीहर्षं. कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुत

श्रीहीरस्सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवी च यम् ।

द्वैतीयोक्तया मितोऽप्रमगमत्तम्य प्रवन्वे महा-

काव्ये चारुणि नैपधीयचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वल ॥ ११० ॥

जीवानु—श्रीहर्षमित्यादि । व्याख्यातम् । द्वितीय एव द्वैतीयोक्तं, 'द्वैतीयोक्तोक्त् स्नायें वा बल्लभ्य' इतीक्त् द्वैतीयोक्तया मितो द्वितीयत्वेन गणित द्वितीय इत्यर्थं, आगतम् ॥ ११० ॥

इति मल्लिनाथ'सूरिविरचिताया 'जीवानु' समाख्यायां नैपधीयकायां
द्वितीय सर्गं समाप्त ॥ २ ॥

अन्वय — (प्रथम सर्ग के समान) कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीरः
सुपुत्रे, तस्य चारुणि प्रवन्वे महाकाव्ये नैपधीयचरिते अथ द्वैतीयोक्तया मितो निसर्गोज्ज्वल सर्ग आगतम् ।

हिन्दी—कविराजसमूह श्रीहर्ष के चारु प्रवन्ध महाकाव्य नैपधीय-चरित में यह द्वितीय रूप में परिगणित स्वभावमुन्दर-प्रकृतिचित्रों से शृङ्गारित सर्ग परिपति को प्राप्त हुआ ॥ ११० ॥

द्वितीय सर्ग समाप्त

पद्यानुक्रमणिका

(द्वितीय सर्ग)

श्लोका	श्लोकांश	श्लोका	श्लोकांश
अखिल विदुषा०	२६	उवनन्नमया०	१८
अचिरादुपकम्पु०	१४	कलसे	३२
अथ कनकपत्र	१०७	कुसुमानि यदि	२६
अथ भीमभुजेन	७३	चणनीरवया	७८
अथ भीमसुताव०	१६४	चित्तिगर्भधरा०	८१
अथवा भवत	१६१	चिकुरप्रकरा०	२०
अथर किल	२४	जघनस्तनभार०	३८
अधिगत्य जगत्य०	१	जलजे रविसेवयेव	३८
अधुनीत स्वग	२	तदह विदधे	४७
अनया तव	४३	तदिद विदध०	४६
अनया सुरकाम्य०	४६	तदिहानवधौ	६०
अनलै	८७	तनुदीधिति०	६६
अनुभवति	१०६	तरुमूल्युगेन	३७
अनुरूपमिम०	४२	तव रूपमिद	४६
अपि तद्वपुषि	३१	तव वर्त्मनि	६२
अपि लोकयुग०	२२	तव संमतिमेव	४८
अबल०	१०	त्वयि धीर	४४
अमित मधु	६६	ददरो न जनेन	७१
अमृतघृतिलक्ष्म	१०१	दधतो बहु०	६
अयमेकतमेन	३	दधदम्बुदनील०	८२
अयमेत्य	६	इमनादमनाक्०	१७
अवष्टय	४१	दधित प्रति यत्र	७४
अवलम्ब्य	६६	धनुषी	३८
इति त स निष्पद्य	६३	घृतलाम्बुन०	२६
उदर नतमभ्य०	३४	घृताक्षपकोपा	८
उदर परिमाति	३६	न तुगाविपये	६१

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः	श्लोका	श्लोकाङ्काः
नमस्त	६७	वयसो सिन्धुता०	३०
नलिनं मलिनं०	२३	वरगं कनकस्य	८६
न धर्मं पथि	७२	वितत वाणिजापणे	३१
न सुवर्गमयी	१२	विद्युकरपरिरग्मा०	१०६
नृपनीलमणी०	७५	विद्युदीधितित्रेन	३४
नृपमानसामिष्ट०	८	विनमद्भिरघ स्थितै०	७०
पगतश्चिरकाल०	७	विललास	७३
पतगेन भया	१३	विपमो मलया०	१७
परिस्वावल्यच्छलेन	३५	वैत्रभीकिलिशैले	१०५
परिमृज्य	१०	भ्रजते दिवि	८०
पृथुवर्तुल०	३६	शतश	१४
प्रविभासमसौ	१८	श्रितपुण्यसर०	३६
प्रविहृष्टपथे	८५	श्रियमेव	१६
प्रथमं पथि	८१	श्रीहर्षे कविराज०	११०
बलिसद्म	८४	स गरद्वनदुर्ग०	४
बहुकम्बुमणि०	८८	स जयत्यरिसायं०	१६
बहुस्पर्कशाल०	८३	सदृशी सव	२६
भजते खलु	३३	सममेगमर्दयंदा०	३२
भविता न	११	स ययौ पुत्रपञ्चति	६८
सुवनत्रयसुभ्रुवा०	१८	सरसी	४०
मृशतापमृवा	१३	सितदीप्रमणि	७६
भ्रमगरयविकीर्णं०	१०२	सुद्वीजन०	७७
सुन्नपाणिपदादिग	३६	सुपमाविपथे	२७
मृगया न विगीयते	३	स्थितिशातिसमस्त०	६८
यद्गारघटा०	८३	स्वहृगोर्जनयन्ति	६१
यद्विद्विमलनील०	१०३	स्वप्राणेश्वरनर्म०	१०४
यद्वादिप०	११	स्वरचारगया	३६
रचयोऽस्तमितस्य	६०	हृदयत्रस्तसरोरुहया	२१
लिलिहे स्वरुचा०	१००		



कथासार

(द्वितीय सर्ग)

राजैस्तां दमयन्तिकां त्वयि तथा कर्षांऽस्मि रका यथा

शक्रादीनपि हास्यतीति नृपति हसः इतज्ञोऽन्यथात् ।

एवं चेत्यग साधवेप्सितमिति प्रोक्तः सः राजा मुदा

प्रागुड्डीय ददर्श कुण्डिनगतो भैमीमटबिष्कुटे ॥

—श्री रामकृष्ण कवि

राजा द्वारा मुक्त हो जाने पर हंस नलराज के प्रति अत्यन्त हृत्तज्ञता का अनुभव करने लगा । उसने हृत्तज्ञता प्रकट करते हुए कहा—‘हे राजन्, मैं आपके प्रति दमयन्ती को ऐसी अनुरक्त कर सकता हूँ कि आपकी तुलना में वह देवराज इन्द्र को भी नगण्य और उपहसनीय मानने लगेगी ।’ राजा का तो यह अभीष्ट ही था, उन्होंने हंस के इस प्रस्ताव का सहर्ष अनुमोदन किया और हस उड़कर वैभवशालिनी कुण्डिनपुरी में जा उतरा । वहाँ उसने क्रीडाराम में भीमराज-मुता दमयन्ती को देखा जो अपनी अपूर्व सुदरी सखियों के मध्य ऐसी दीप्त रही थी जैसे तारिकाओं के मध्य चन्द्रकला ।

७ नै० द्वि०

कथासार (तृतीय सर्ग)

मामुद्दिश्य किमेपि गैमि चतुर्विन्नालोम्नि विस्ते हवि-
स्वेग्नस्यस्ति नलं वृषोष्व वत तामुक्त्वा व्यरसौद्वय ।
तस्मै श्रूहि तथा यथा स नृपतिर्मानुद्वहेदिपुना-
दिष्टो नीमवया क्षणो द्रुताति सिद्धिं नलापारुपत् ।

—श्रीकृष्णरामकवि

विदर्भराज के झोंडोद्यान में जा उतरे स्वर्णहंस पर विमुग्ध हुई दमयती को अपने पीछे-पीछे नटकाता वह हंस एकान्त स्थल पर ले गया और उसे अपनी और नलनरेश की म्यक्ति इस प्रकार बताया कि नरमुग्धा दमयती का अनु-राग तीक्ष्ण हो गया और उसने उक्तपाये जाने पर राज छोड़ हंस से प्रार्थना की कि वह नल के साथ उसका विवाह करा देने का सफल प्रयत्न अविरलव करे। दमयती को समझा और कार्यसिद्धि का विश्वास दिला हंस निषध-देश की ओर उड़ गया और दमयती को उसकी सखियाँ राजमहल की ओर ले गयीं। हंस ने विरही नल को सब सुसमाचार सुनाया, जिससे वह अत्यन्तदित हुआ।



पद्यानुक्रमणिका
(तृतीयसर्ग)

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः	श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
अकाण्डमेवारममुवाजितम्	१०	इत्युक्तवत्या	१७
अजस्रमारोहमि	१०६	इदं यदि	१००
अनार्यमप्याचरितम्	१०७	इष्टेन पूर्तेन नलस्य	२१
अनैपधार्यैव	१०८	इंशागिमैश्वर्यविधर्तमभ्ये	६४
अन्येन पत्या	१०९	उच्चाटनीयः	७
अन्योन्यसंगनवशा०	१११	उन्मत्तमासाद्य	१२८
अभ्यर्चनीय	११२	एक सुघाशुर्न	१११
अये क्रिययावदुपैषि	११३	कथितमपि नरेन्द्र	१११
अर्थाप्यते	११४	करेण धान्तेव	१११
अल विलङ्घय	११५	कमीकृतामीत्	१११
अल विलम्ब्य	११६	कामिर्न	१११
अलं सतन्धर्मविधौ	११७	काम	११६
अवारितद्वारतया	११८	किञ्चित्तरश्चीन०	११६
अस्तित्व कार्यसिद्धे-	११९	क्रियेत चेत्	११६
अस्मत्किल	१२०	क्रीणीष्व	११६
अहो तपकल्पतरु-	१२०	चेतोऽन्मसारप्रभून्०	१२०
आकुञ्चिताम्या	१	तथाभिषात्रीमथ	११६
आदर्शताम्	११	तदेकदामीन्व०	११६
आस्ताम्	१२	तदेकलुप्ये इदि	११६
इतीरयित्वा विरताम	१३	तन्नैपघानूदतया	११६
इतीरिता पत्रस्थेन	१४	तस्या दृशो नृपति०	११९
इत्यालप्यथ	१२१	तस्यैव वा यास्यमि	१२०

श्लोका	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
तामिङ्गितैरप्यनुमाय	१	परवति दमपन्ति	१३४
तुल्यावपोमूर्तिरभूत्	१०२	पर्यद्रुतापन्न०	६६
स्व हृद्गता नैमि	१०५	पातुर्शलैख्यमयीम्	१०४
स्वचेतस	७०	पितुर्नियोगेन	७२
स्व प्रापकात्प्रस्यति	११०	पीयूषधारा०	४२
स्वद्गुच्छाकलिमौक्तिकानि	१२७	पुष्पेपुश्विदुरेषु ते	१२८
स्वद्बद्ध०	१०१	बन्धनाख्यानानारत०	१२४
स्वयापि किं	७३	बन्धाय दिव्ये न	२०
स्वया विधेया	१४	विभेति रष्टासि	११२
स्वयि स्मराधे	११५	भवद्वियोगाच्छिदुरा०	११३
दादा मजीव स्वयि	८६	मत्प्रीतिमाधित्ससि	१८
दारिद्र्यदारि०	२५	मदन्यदान प्रति	७५
धन्यासि वैदर्भि	११५	मद्भिप्रलम्बम्	७८
धरातुरासाहि	६५	मघ्ये श्रुतीनाम्	६५
धातुर्नियोगादिह	१८	मनस्तु य मोरहावि	१६
धार्यं कथ	१५	मन्दा समन्दाहर०	६१
धिकचपले	२५	महीमहेन्द्र० खलु	७१
धिक च विधे	३२	यदि त्रिलोकी	४०
नलाश्रयेण	४५	यशो यदस्याजनि	३६
नलेन भाया	११७	यस्ते नव पल्लवित	१२१
निलीयते क्षीविपुर	३३	रविकान्तमयेन	३३
निशा शशाङ्कम्	४८	राजा स यज्जा	२४
नृपेण	६६	रया निपिद्वालि०	१२
नेत्राणि	३	रेन्याभिरात्ये	३५
पदे पदे भाविनि	३१	लिपि दशा भित्ति०	१०३

श्लोका	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
वराटिकोपक्रिययापि	८८	संज्ञाप्य न स्वप्नञ्च०	३४
वाचं तदीयाम्	६०	मन्त्रानुवस्वेदमधृत्य०	१२३
वार्तापि नामथपि	४४	स भूमृदृष्टावपि	८६
विचिन्त्य बाला०	६८	सरमि	१२३
विधिम्	२०	मरोजिनीमानस०	७६
विधे कदाचिद्०	११	सञ्चापसञ्च०	११४
विना पत्रम्	३७	सहस्रपत्रासन	१६
वृषापयन्तीमपथे	१४	साधु त्वया	७७
बेलातिगस्त्रैण०	४६	सापीद्वरे शृण्वति	२६
व्यर्थीकृतं पत्ररथेन	६	मुवर्गंशोलाद्वतीयं	२२
शस्ता न	३	स्तनद्वये तन्निद	११८
शुद्धान्तसमोग०	१३	स्वित्तस्य रात्रावधिशरत्प	१०८
शृण्वन्	२८	स्मार ज्वरम्	१११
श्रव प्रविष्टा इव	७४	स्वज्ञीवमप्यार्तमुदे	८२
श्रियन्तदालिङ्गन०	३१	स्वर्गापगाहेम०	१७
श्रियां नरेन्द्रस्य	३६	स्वलोकमस्मानिरित	२७
श्रीहरं कविरात्र०	१३६	हस तनां सद्भिहितम्	४
ध्रुतं स दृष्टदत्त	८२	हंमाऽप्यसौ हसगते	१०
संप्रामभूमौपु	३८	हृत्तस्य यन्मन्त्रयते	१०७
मचीपतामाशु	८३		

नैषधीयचरितम्

मल्लिनाथकृत 'जीवातु' टोकासहित-
सान्त्वय-सटिप्पण 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

तृतीयः सर्गः

आकुञ्चितान्यामय पक्षतिभ्या नभोविभागात्तरसाश्रुतोर्यं ।

निवेशदेशात्तदधूनपञ्च पपात भ्रूमावृषभैमि हस ॥ १ ॥

जीवातु—आकुञ्चितान्यामिति । अय मण्डलीकरणान्तर हस । आकु-
ञ्चितान्या पक्षतिभ्या पक्षमूलान्या नभोविभागादाकाशदेशात्तरसा वेगोभावतीर्य
निवेशदेशे उपनिवेशम्याने आनतो विस्तारिली घृती कम्पितौ च पक्षो येन स
तया सन्नुषभैमि नैम्या समीपे, सामीप्येऽव्ययीभाव, नपुंसक, ह्रस्वत्व च ।
भ्रूमौ पपात । स्वभावोक्तिरलङ्कार ॥ १ ॥

अन्वय—अय हस आकुञ्चितान्याम् पक्षतिभ्याम् नभोविभागात् तरसा
अवतीर्य निवेशदेशात्तदधूनपञ्च भ्रूमौ उपनैमि पपात ।

हिन्दी—विदर्भराज श्री वाटिका में पहुँचने जयवा चक्कर लगाने के
पश्चात् स्वयं हस पक्ष सिकोड़ कर आकाशमंडल से वेगपूर्वक उतर कर बैठने
के स्थान पर पक्षों को फँसला और कपित करता घरती पर भीमसुता
दमयती के निकट बैठ गया ।

टिप्पणी—मल्लिनाथ के अनुसार स्वभावोक्ति अलङ्कार, इसी को साहित्य-
विद्यापरिहार ने जाति बताया है, उनके अनुसार इस श्लोक में जाति और
अनुप्रास है । इस सर्ग में आरम्भिक श्लोक से १२४ वें श्लोक तक उपजाति
छन्द है । उपजाति में इन्द्रवज्रा-उपेन्द्रवज्रा का मिश्रण रहता है, जैसा कि इसमें
(प्रथम द्वितीय चरण में इन्द्रवज्रा तथा तृतीय-चतुर्थ में उपेन्द्रवज्रा) है ।

उपजाति का लक्षण है—'स्यादिन्द्रवच्चा यदि तो जनी ग, उपेन्द्रवच्चा जतजास्तवो गो । अनन्तरोदीरितलक्षमभाशो पादो षदीपावुपजानयन्ता ॥' अर्थात् SS, SSI, ISI, दो SS (१, २ चरण), ISI, SSI, ISI, दो SS (३, ४ चरण) ॥१॥

आकस्मिकः पक्षपुटाहताया क्षितेस्तदा य स्वन उच्चचार ।

द्राग्न्यविन्यस्तदृश म तस्या संभ्रान्तमन्त करणञ्चकार ॥ २ ॥

जीवातु—आकस्मिक इति । तदा पतनसमये पक्षपुटाहताया क्षिते । अस्माद्भ्य आकस्मिक अष्टहेतुको निहंतुव इत्यर्थ । य स्वनी ध्वनिश्च-
चार उत्थित, स स्वन अन्मविन्यस्तदृश विषयान्तरनिविष्टेस्तस्या भ्रंम्या
अन्त करण द्राक् क्षटिति संभ्रान्त ससभ्रम चकार । अकाण्डेऽसम्भावितशब्द-
श्रवणाच्चमत्कृतचित्ताऽभूदित्यर्थ । स्वभावोक्तिः ॥ २ ॥

अन्वय — पक्षपुटाहताया क्षिते आकस्मिकः यः स्वन तदा उच्चचार
स अयविन्यस्तदृश तस्या अन्त करण प्राक् संभ्रान्त चकार ।

हिन्दी—हस्त के बँडते समय उसके पक्षयुगल में गाहत घरती से सहसा
पो शब्द उत्पन्न हुआ, उसने किसी दूसरी ओर निहारती उस दमयन्ती के
अन्त करण को झटिति सभ्रम में परिपूर्ण कर दिया (उस शब्द से दमयन्ती
धीक पड़ी और उसकी दृष्टि अपने पूर्वलक्ष्य से हट गयी) ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक के सहस्र इसमें स्वभावोक्ति (महिलनाय) अथवा
जाति (विद्याधर) अलंकार है ॥ २ ॥

नेत्राणि वैदर्भमुतामखीना विमुक्तनत्तद्विषयग्रहाणि ।

प्रापुस्तमेकं निरुपादररूप ब्रह्मेव चेनासि यतत्रतानाम् ॥ ३ ॥

जीवातु—नेत्राणीति । विदर्भणा राजा वैदर्भ । तस्य सुताया भ्रंम्या
सखीनां नेत्राणि विमुक्तास्तत्तद्विषयग्रहा तत्तद्विषयग्रहानि अयत्र तत्तद्विषयासङ्गो
र्थस्तानि सति एवमेव चरम् अद्वितीयञ्च नोपाशयति इति निरुपादररूपमवाच्य
रूपमाचार, स्व स्वरूप च यस्य त पुरोवर्तिन ह्य तत्पदार्थभूतञ्च यतत्रताना
योगिना चेतानि ब्रह्म परात्मानमिव प्रापु, अत्यादरणाद्राशुरित्यर्थ ॥ ३ ॥

अन्वय — विदर्भमुतामखीनां विमुक्तनत्तद्विषयग्रहाणि नेत्राणि यतत्रतानां
चेतासि ब्रह्म इव एव निरुपादररूपं तं ह्य प्रापु ।

हिन्दी—विद्वान्तरंग की पुत्री को सखियों के नेत्र अपने-अपने विषयों का देखना त्याग कर जिस प्रकार ब्रजधारी योगियों के चित्त समस्त सासारिक विषयों को त्याग कर जवांतीयस्वरूप ब्रह्म में लीन रहते हैं, उसी प्रकार जिसके रूप का वर्णन समझ नहीं है, ऐसे उस हृद को (हो) देखने लगे ।

टिप्पणी—इस श्लोक में हृद को अनिर्वचनीय ब्रह्म से उपमित करते हुए कवि ने उस आनन्द की प्राप्ति का संकेत किया है, जो परमात्म्य है, जिसे मनादिभ्य इतिन्द्रिय योगिजन ही प्राप्त कर पाते हैं । हृद न केवल अपूर्व सुन्दर था, आदरणी भी उत्पन्न करता था । उरमा अङ्कार । मयनि यहाँ नेत्र और ब्रह्म के सादृश्य में निम्नवचनता और निम्नलिङ्गता है, तथा वह उद्वेग का कारण नहीं बनता, अतः दोष नहीं है । दहों के अनुसार—'न लिङ्ग-वचने दिन्ने न हीनाधिकत्राणि वा । उपमाद्रूपगानाल यत्रोद्वेगो न क्षीयताम् ॥३॥

हृद तनौ सन्निहित चरन्त मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम् ।

ग्रहीतुकामादरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलता जगद्दे ॥ ४ ॥

जीवातु—हृदमिति । जसौ दमयन्ती मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकाया स्वकीयाया 'प्रत्यक्षम्यात्कात् पूर्वस्थे'तीकार । तनौ शरीरान्तिके अन्यत्र तदन्यन्तरे सन्निहितमासन्नमाविर्भूत च चरन्त सञ्चरन्त वर्तमान च हृद मराल परमात्मान च, 'हृदो विहङ्गभेदे च परमात्मनि मन्त्र' इति विश्व । अदरिणा निर्भोक्षेण शयेन पाणिना 'दरो खिया भये श्चभ्रे', 'पक्षघात यम पाणिरि'त्यमर । अन्यत्र आदरिणा आदरवता जागयेन चित्तंन ग्रहीतुकामा साक्षात्कर्तुकामा च यत्नात् निश्चलता निश्चलङ्गत्व जगद्दे जगाम ॥ ४ ॥

अन्वय — तनौ सन्निहित चरन्त हृद दरिणा (अदरिणा वा) शयेन (आदरिणा आशयेन वा , ग्रहीतुकामा मुने मनोवृत्ति इव स्विकाया तनौ यत्नात् निश्चलता जगद्दे ।

हिन्दी—उस दमयन्ती ने निकट विचरण करते उस हृद को ढरते ढरते (अथवा निर्भय) हाथ से (अथवा आदरपूर्ण भावना से) पकड़ने की इच्छा से जिस प्रकार (ब्रह्मज्ञान निष्ठ हो) मुनि अपनी मनोवृत्तियों को अपने शरीर में प्रयत्नपूर्वक निश्चेष्ट कर लेते हैं, उसी प्रकार अपने शरीर में निश्चलता को ला दिया ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में हस-दर्शन गुप्त की तुलना ब्रह्मानन्द से की गयी, इस श्लोक में हस-प्राप्ति की क्रिया को मृनियो द्वारा आदरपूर्वक धारित ब्रह्म-निष्ठसाधना से उपमित किया गया है। विद्याधर ने यहाँ उपमालकार माना है, चन्द्रकलाकार के अनुसार यहाँ श्लेष और उपमा का अङ्गाङ्गीभाव सकर है ॥ ४ ॥

तामिङ्गितैरप्यनुमाय मायामय न धैर्याद्विपदुत्पत्त ।

तत्पाणिमारमोपरिपातुक तु मोघ वितेने प्लुतिलाघवेन ॥ ५ ॥

जीवानु—तामिति । अय हसस्तां पूर्वोक्ता माया कपटमिङ्गितैरप्येष्टितैरनुमाय निश्चित्यापि धैर्यात् स्वैर्यमास्थाय ल्यब्लोपे पचमी । विपदाकाश प्रति नोत्पपान नोत्पतितवान् आत्मन उपरि पातुषम्पतयालू 'लपपते'त्यादिना उक्त्वं प्रत्यय । तस्या पाणि तु प्लुतिलाघवेन उत्पत्तनकीशलेन मोघ वितेने विफलयत्नम् अकरोत् आशाञ्च जनयति न तु पाणी लगतीत्यर्थं ॥ ५ ॥

अन्वय—अय हाँ भैया मायाम् इङ्गितै अनुमाय अपि विपत् न उत्पत्त, आन्मीपरिपातुक तत्पाणि तु प्लुतिलाघवेन माघ वितेने ।

हिन्दी—वह हस मौमसुता की उस माया (कपटनिश्चलता) का सकेतो से अनुमान करके भी आकाश में नहीं उड़ गया, किन्तु पकड़ने के लिए अपने ऊपर गिरते हाथ को उसने अपनी फुदक जाने की चतुरता से व्यर्थ कर दिया ।

टिप्पणी—मावाघं यह कि हम ने इधर-उधर फुदक कर बच जाने की चेष्टा करते हुए स्वाभाविकता की रक्षा की, सरलता से मह प्रकट न होने दिया कि वह दौत्य सपादन के लिए ही आया है । जाति अलकार ॥ ५ ॥

व्यर्थोक्त पत्ररथेन तेन तथाश्वसाय ध्ववमायमस्या ।

परस्परामर्षितहस्तताल तत्तालमालीभिरहस्यतालम् ॥ ६ ॥

जीवानु—व्यर्थोक्तमिति । अस्या भैया ध्ववसाय हनप्रहणोद्योग तेन पत्ररथेन पक्षिणा व्यर्थोक्त तथाश्वसाय ज्ञात्वा तत्काल तस्मिन् काले अत्युत्सयोगे द्वितीया । स एव कालो यस्येति बहुव्रीहौ क्रियाविशेषण वा । परस्पर परस्परस्यामित्ययम् । 'कर्मव्यतिहारे भवंनाम्नो द्विर्भाव समासवच्च बहुवृत्ति'ति बहुवृत्त्यात्समासवद्भावे पूर्वपदस्य प्रथमैवचने कस्मादित्वादिमजनीयस्य

सत्वमुनरपदस्य यथायोग द्वितीयाद्येकवचन 'स्त्रीनुसकपोरुतरपदस्याया विनक्ते-
राम्नावो वक्तव्य' इति विकल्पादानादेश । अतितहस्तताल दत्तहस्तताडन
यथा तथा आलीनि नक्षीनिरागम् अत्ययम् अहम्यत हसितम् । भावे रङ् ॥६॥

अन्वय—तेन पत्ररथेन अग्या, व्यवसाय तथा व्यनीकृतम् अवसाय
आलीनि तत्काल परस्वाम् जपितहस्तताडनम् अग्यम् अहम्यत ।

हिन्दी—उस हस्त के द्वारा उस (दमयन्ती) के हस्त-पकड़ लेने के उद्योग
को उस प्रकार (प्लुतिगधव द्वारा) व्यय कर दिया जान कर (दमयन्ती
की) मुखिया उस समय हाथ पर हाथ मार कर, ताँती बजाती हुई जोर
से हसने लगी ।

टिप्पणी—हिन्दी की अमरकृतियों पर हंसना मानने का सामान्य स्वभाव
है जिम्मे ईर्ष्या प्रत्यक्ष कारण नहीं होती, प्रकृत एक प्रकार का विनोद होता
है, यद्यपि असफल व्यक्ति को सोमंही होता है ॥ ६ ॥

उच्चाटनीय करतातिकाणा दानादिदानो भवतीतिरेय ।
याज्वेति मा द्रुहति महामेव नाऽत्रत्यम्पालम्नि नयाऽऽलिवर्गं ॥७॥

जोवानु—उच्चाटनीय इति । हे नख्य । भवतीतिरेय, द्रुहति, करता-
तिकाणा दानादनयो महस्तताडनकरणादुच्चाटनीय निष्काशनीय किमिति
काकु, नोच्चाटनीय एवेत्यर्थ । अत्र माम् अन्वेति सा मह्य द्रुहति एव—इति तथा आलिवर्गः उपाहमिन् ।
द्रुहति मा विधासतीत्यर्थ । 'ऋषद्रुहे'त्यादिना सम्प्रदानत्वात् चतुर्थी ।
इतीत्य तथा भैम्या आलिवर्गं सखीसध उपाहमिन् अद्यापि, सापेनैव निवारित
इत्यर्थ ॥ ७ ॥

अन्वय—करतातिकाणा दानात् इदानीं भवतीमि एष उच्चाटनीय ?
अत्र या माम् अन्वेति, सा मह्य द्रुहति एव—इति तथा आलिवर्गः उपाहमिन् ।

हिन्दी—ताली इत्यादि बजाकर इस समय आप लोगों द्वारा इस हस्त को
उठा देना उचित है ? (जपितु अनुचित है ।) अब आप लोगों में से जो भी मेरे
पीछे जायेगी, वह मेरे साथ द्रोह करेगी—इस प्रकार उस (दमयन्ती) ने
असनी सखियों को उपाहम दिया ।

टिप्पणी—सखियों द्वारा किये उपहास पर दमयन्ती की स्वाभाविक
प्रतिक्रिया । प्रदन वरण में काकु ॥ ७ ॥

घृताल्पकोपा हसिते सखीना छायेत्र भास्वन्तमभिप्रयातुः ।

श्यामाऽथहसस्य करानवाप्तेमन्दाक्षलक्ष्या लगति स्म पश्चात् ॥ ८ ॥

जीवातु—घृतेति । अथ सखीनिवारणानन्तर सखीना हसिते हासनिमित्तं घृताल्पकोपा तामु ईषत्कोपा इत्यर्थं । भास्वन्तमभिप्रयातु सूर्याभिमुख गच्छत छाया अनातपरेखेव श्यामा यौवनमध्या 'श्यामा यौवनमध्यस्या' इत्युत्पल-मालायाम् । अन्यत्र श्यामा नीला, हसस्य कर्मणि पठ्ठी । करेण हस्तेन अनवा-सेरग्रहणाद्वेतोमन्दाक्ष ह्रीस्तेन लक्ष्या उपलक्ष्या ह्रीणा सतीत्यर्थं । अन्यत्र हसस्य सूर्यस्य करानवाप्ते अशुसस्पर्शाभावात् मन्दाक्षरपटुदृष्टिभिलम्ब्या ग्राह्या तै छाया लक्ष्यते न प्रकाश इति भावः । पश्चाल्लगति स्म पृष्ठे लग्नाऽभूत् प्राप्याशया तमन्वगात् । 'रविश्वेतच्छदी हसौ', 'बलिहस्तांशव करा' इति चामर ॥ ८ ॥

अन्वय — अथ सखीना हसिते घृताल्पकोपा भास्वन्तम् अभिप्रयातु छाया इव श्यामा करानवाप्ते मन्दाक्षलक्ष्या हसस्य पश्चान् लगति स्म ।

हिन्दी— तत्पश्चात् सखियों के उपहास पर कुछ अल्प क्रोध करती, सूर्याभिमुख जाते व्यक्ति की सूर्य किरणों की अप्राप्ति के कारण श्यामल छाया के समान हस को हाथ से न पकड़ सकने से सलज्जा वह श्यामा (तरुणी दमयन्ती) हस के पीछे लग ली ।

टिप्पणी—सूर्याभिमुख जाते व्यक्ति की छाया उसके समुख पडती है, किरणों का वहाँ न पहुँच सकना इसका कारण है । यहाँ 'करानवाप्ते' मे 'कर' 'हस' और 'श्यामा' द्वयार्थक शब्द हैं, जिनका अर्थ किरण-हस्त, हमपक्षी-सूर्य और श्यामछाया-तरुणी होते हैं । इसी आधार पर यहाँ किरणों के न पहुँच सकने से श्यामल छाया से 'श्यामा' दमयन्ती की तुलना की गयी है । दमयन्ती हस को हाथ मे न पकड़ सकने से क्षुब्ध है, सखियों के उपहास से अल्प क्रुद्ध भी है, हस ग्रहण को उरमुक्त भी है । विधाघर ने यहाँ इसी आधार पर उपमा मान-घबलता—अलंकार का विधान किया है ॥ ८ ॥

शस्ता न हसाभिमुखी तवेयं यात्रेति ताभिदृच्छहस्यमाना ।

साऽऽह स्म नैवाशकुनीभवेन्मे भाविप्रियावेदक एव हस ॥ ९ ॥

जीवातु—इस्तेति । तदेव हसस्य इवेत्च्छस्य चानिमुखी यात्रा गमन न
 शस्ता न प्रशस्ता श्रेयस्वी न शास्त्रविरोधात् श्रमसन्तापलटदोषाच्चेति
 नाव । इतीत्य तानि दृष्टेन व्याजोक्त्या हस्यमाना सती भाविप्रियावेदको
 मङ्गलमूर्त्तिवादागामिशुभम्बुचव एष हसो मे मम नाशकुनीनत्रेदेव, कि तु
 शकुनमेव भवेदित्यर्थ । अपशी न भवेदिति च गम्यते 'शकुन' तु शुभाशसा-
 निमित्ते शकुन पुमानिति विश्व । 'अनूततद्भावे च्चि' विध्यादिसूत्रेण प्रार्यने
 लिट् । इत्याह स्म अवोचत्, 'ब्रूव पचानामि'त्याह्लादेश । एतेन तदीययात्रा-
 निषेधोक्तदोष परिहृतो वेदितव्य ॥ ९ ॥

अन्वयः—ते हसानिमुखी यात्रा पुनः शस्ता न—इति तानि दृष्टहस्यमाना
 सा आह स्म—भाविप्रियावेदक एष हस एव, मे न अशकुनीनत्रेत् ।

हिन्दी—आपकी हस (सूर्य) के अभिमुख यात्रा (गमन) प्रशस्तनी-
 नहीं है (शास्त्रनिषिद्ध होने से अशकुन है)—इस प्रकार उन सखियों द्वारा
 छल-उपहसित होती उस दमन्ती ने कहा—माथी प्रिय का सूचक यह हस
 हस पक्षी ही है (सूर्य नहीं, जिसके समुच्च गमन शास्त्रविरुद्ध है), सो यह
 'शकुन' मेरे लिए 'अशकुन' (अशुन) न होगा ।

टिप्पणी—यहाँ द्वयर्थक 'हस' के प्रयोग से चमत्कार लाया गया है और
 राजहस को नावी प्रिय-मिलन का सूचक संकेतित कर शकुन (शुन) बताया
 गया है । यह नाटकीय 'पटाधारधान' तुल्य है, जिसमें नावी का इङ्गित
 दे दिया गया है । चन्द्रकलाकार ने यहाँ श्लेषालंकार माना है, साहित्य-
 विद्याधरोकार के अनुसार यहाँ अपह्नुति और वक्रोक्ति श्लकार हैं ॥ ९ ॥

हसोऽप्यसौ हसगतेः सुदत्या पुर पुग्श्चारु चल्न् वभासे ।

वैरक्ष्यहेतोरतिमेतदीयामग्रेऽनुवृत्त्योपह्मन्निवोच्चैः ॥ १० ॥

जीवातु—एव दमन्तीव्यापारमुक्त्वा सम्प्रति हंसस्य व्यापारमाह-
 हसोऽपीति । असौ हसोऽपि हसस्य गतिरिव गतिर्यस्यास्तस्या सुदत्या
 सोननदन्ताया भैम्बा, सुदती व्याख्याता । पुरपुर वीप्साया द्विर्भाव ।
 अग्रे समतात्, चाह चल्न् रम्य गच्छन् सन् वैरक्ष्यमेव हेतुस्तस्य
 वैरक्ष्यहेतो, अहो मामयनतिविडम्बयतीति तस्या अपि विस्मयजननार्थ-

मित्यर्थं । 'विलक्षो विस्मयान्वित' इत्यमर । 'पृष्ठी हेतुप्रयोग' इति पृष्ठी । एतदीयाङ्गतिमनुकृत्य अभिनीय उच्चैरुपहसन्निवेत्युत्प्रेक्षा, वभासे वभो लोके परिहासका तच्चेष्टाद्यनुकरणेन परान् विलक्षयन्ति ॥ १० ॥

अन्वय—हसगते सुदत्या पुर पुर चारु चलन् असौ हस अपि विलक्षयहेतो तदीया गतिम् अनुकृत्य उच्चै उपहसन् इव वभासे ।

हिन्दी—हसगामिनी, सुन्दर दाँते वाली (दमयन्ती) के आगे आगे सुन्दरता से चलता वह हस भी दमयन्ती को लक्ष्य से च्युत करने के निमित्त उसकी गति का अनुकरण करके उच्च स्वर से जैसे उपहास करता हुआ ही घोषित हुआ ।

टिप्पणी—यहाँ दमयन्ती के दो विधेयण दिये गये हैं, एक तो वह 'हस-गति' है और दूसरे 'सुदती' है । तो जिस हस की गति दमयन्ती का उपमान बनी है, वह तो उससे श्रेष्ठ हुआ ही, उसकी सुभ्रता और शीघ्र्य के समुच्च मानो सफेद दाँत भी सर्वयोग्य नहीं है । इस प्रकार दोनों विधेयताओं के न्यून हो जाने से दमयन्ती का लज्जित होना स्वाभाविक ही है । इसके अतिरिक्त हस उसकी चाल का अनुकरण कर रहा है और यह पकड़ में भी नहीं आ रहा है—यह भी उपहास का कारण है । उत्प्रेक्षालकार, साहित्यविद्याधरीकार ने 'हसगते' में लुप्तोपमा का भी निर्देश किया है ॥ १० ॥

पदे पदे भाविनि भाविनी त यथा करप्राप्यमवैति नूनम् ।

तथा मखेलं चलता लतासु प्रतार्यं तेनाचकृपे कृशाङ्गी ॥ ११ ॥

जीवातु—पदे पद इति । भावयन्तीति भाविनि हसग्रहणमेव मनसा भावयन्ती कृशाङ्गी भैमी भाविनि भविष्यत्यनन्तर इत्यर्थं । 'भविष्यति गम्यादय' इति साधु । पदे पदे त हस यथा करप्राप्य करग्राह्यनून निश्चितमवैति प्रत्येति, तथा मखेल चलता गच्छता तेन हमेन प्रतार्यं यच्चपित्वा लतासु आचकृपे आकृष्टा, एकान्त नीतेत्यर्थं ॥ ११ ॥

अन्वय—भाविनी कृशाङ्गी भाविनि पदे पदे त यथा करप्राप्य नूनम् अवैति तथा मखेल चलता तेन प्रतार्यं लतासु आचकृपे ।

हिन्दी—हस को ग्रहण करने के भाव से युक्त वह कोमलांगी (दमयन्ती)

प्रत्येक अगले चरण-विन्यास में उस हंस को जैसे ही निश्चयत हाथ-आने योग्य समझती, वैसे ही झींझा सहित चलता-चलना वह (हंस) उसे बचना करके लवाओ के समीप ले गया ।

टिप्पणी—भाव यह कि हंस पीछा करती दमपन्ती को खेच चलता एकान्त स्थली में ले गया जहाँ उसे नल-संदेश सुनाया जा सके । साहित्य-विशासरी के अनुसार छेकानुनास और जाति अलंकार ॥ ११ ॥

स्या निषिद्धालिङ्गनां यदेनां छायाद्विनीयां कल्याञ्चकार ।

तदा श्रमाम्भकणभूपिताङ्गी स कीरवन्मानुपवागवादीत् ॥ १२ ॥

जीवातु—श्येति । स्या निषिद्धालिङ्गना निवारितसखीजना यदा छाया एव द्वितीया दम्यास्तामेकाकिनी कल्याञ्चकार विवेद, तदा श्रमाम्भकणभूपिताङ्गीं स्वैशम्बुलवपरिष्कृतशरीरा श्विभ्रात्रान्ता स हंस कीरवत् शुकु-वग्मनुप्यम्येव वाग्यस्य स सन्नवादीत् ॥ १२ ॥

अन्वय—यदा स स्या निषिद्धालिङ्गनाम् एता छायाद्विनीया कल्याञ्चकार तदा श्रमाम्भकणभूपिताङ्गीं कीरवत् मानुपवाक् अवादीत् ।

हिन्दी—जब उस हंस ने क्रोध से जिसने सखियों को साथ-आने में रोक दिया था, उस (दमपन्ती) को केवल छायासहचरी (जिसके साथ केवल जाया ही है ऐसी, अकेली) समझ लिया, तब श्रम से सजात स्वेदवर्णों के सुगोभित अगोंवाली (दमपन्ती) से वह तोते के सदृश मानुषी वाणी में बोला ।

टिप्पणी—विद्यापक के अनुसर उपमा और रूपक अलंकार ॥ १२ ॥

अये । कियद्यावदुपैपि दूर व्यर्थं परिश्राम्यसि वा किमर्थम् ? ।

उदेति ते भीरपि किन्तु बाले विलोक्यन्त्या न धना वनालीः ? ॥ १३ ॥

जीवानु—अय इति । अये बाले । व्यर्थं कियद्दूर यावदुपैपि उपैप्यसि ? 'यावत्पुरानिपातमोलंङ्' । किमर्थं परिश्राम्यसि वा ? धना सान्ना वनालीर्वन-पक्तीविलोक्यन्त्यास्ते भीरपि नोदेति किन्तु ? ॥ १३ ॥

अन्वय.—अये कियद् दूर यावत् व्यर्थम् उपैपि, किमर्थं परिश्राम्यसि वा ? बाले, धना वनाली विलोक्यन्त्या ते भीर अपि न उदेति किन्तु ?

हिन्दी—अरे, कितनी दूर तक व्यर्थ चली आ रही हो, अथवा किस लिए परिश्रम कर रही हो (थक रही हो) ? अरी बाले, सधन वनपक्तियों को देख कर तेरे मन में भय भी नहीं उत्पन्न होता क्या ?

टिप्पणी—नारायणी टीका के संकरण में 'व्यर्थ परिश्राम्यसि किमित्यम्' पाठांतर है। उसके अनुसार 'व्यथम्' का पदच्छेद है 'वि + व्यथम्' अर्थात् 'वये इति व्यथम् पश्यथम्'—'वि' अर्थात् पक्षी हंस के निमित्त व्यथो परिश्रम कर रही हो ? भाव यह कि एक पक्षी के लिए इतना श्रम व्यथे है। विद्याधर ने इस पद्य में उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास माना है ॥ १३ ॥

वृथाऽर्पयन्तीमपथे पद त्वा मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पे ।

आलीव पश्य प्रतिपेधतीर्यं कपोतहुङ्कारगिरा वनाली ॥ १४ ॥

जीवातु—वृथेति । वृथा व्यर्थमेव न पन्था अपथम्, 'शृक्पूरित्यादिना सभासान्तं अ, 'अपथ नपुसकम्' । तस्मिन्नपथे दुर्भागो अदृश्ये च पद पाद व्यवसाय च अपर्पयती 'पद व्यवसितप्राणस्यामलक्षमाङ्घ्रिवस्तुष्वित्यमर । मरुता ललन् चलन् पल्लव एव पाणिस्तस्य कम्पे कपोतहुङ्कारगिरा च वनाली आलीव सखीव प्रतिपेधति निवारयति, पश्य इति वाक्यार्थं कर्म । यथा लोके अमागंवृत्त सुहृज्जन पाणिना वाचा च वारयति तद्वदित्यर्थं । अत एव पल्लवपाणीत्यादौ रूपकाध्ययणम् तत्सङ्कीर्णा वनाल्यालीवेत्युपमा ॥ १४ ॥

अन्वय — वृथा अपथे पदम् अपर्पयन्ती त्वाम् पश्य इय वनाली मरुल्ललत्पल्लवपाणिकम्पे कपोतहुङ्कारगिरा आली इव प्रतिपेधति ।

हिन्दी—व्यर्थ अगम्य मार्ग में पैर धरती (अथवा निपिष्ट आधरण करती) तुझे देख, यह वनपक्ति वायु से हिलते पल्लवरूप करों को हिलाती, वनूतरो की 'गुदुरगूँ'-रूप वाणी द्वारा सखी के समान वरज रही हैं ।

टिप्पणी—'वनाली' (प्रकृति) का मानवीकरण—'पर्सानिकितेशन' । पल्लवपाणि में रूपक, वनाली—आली में उपमा ॥ १४ ॥

धायं कथंकारमह भवत्या वियद्विहारी वसुधैकगत्या ।

अहो शिशुत्व तव खण्डितं न स्मरस्य सख्या वयसाऽप्यनेन ॥ १५ ॥

जीवातु—धाय इति । एषत्रैव गतियंस्यास्तथा एकगत्या वसुधायामेकगत्या

नूनात्रचारिण्येत्यथ । शिवनाम्नवतत्समास । मवत्या विपद्बिहारी वेचरोऽह
 कदङ्कार कथमित्यर्थं । 'अन्यथैव कथनित्यनुसिद्धाप्रयोगश्चेदिति' कथशब्दो-
 पपदात्कारोतेर्णमुल् । धार्यो धतुं ब्रूहीतु शक्य इत्यर्थं । 'शक्ति लिङ् च' इति
 चकाराच्छब्दधार्यो वृत्तप्रत्ययः । अनेन स्मरस्य सख्या सखिना तदुद्दीपनेन वचसा
 यौवनेन सखिशब्दस्य भाषितपुस्तत्वात् पुबङ्गाव । न खण्डिन न निवर्तितम्
 अहो विरुद्धवचनोरेकेत्र समावेशादाश्चर्यमित्यर्थं । अत्राधार्यत्वस्य वनुष्ठागतिविय-
 द्बिहारपदार्थहेतुक्त्वादेक काव्यलिङ्गभेदस्तथा शैशवात्तण्डनस्य पूर्ववाक्यार्थ-
 हेतुक्त्वादपर इति सञ्जातीयसङ्करः ॥ १५ ॥

अन्वय — वसुधैकगत्या त्वया विपद्बिहारी अह कदङ्कार धार्यं ? अहो;
 स्मरस्य सख्या अनेन वचसा अपि तव सिन्धुत्व न खण्डितम् ।

हिन्दो—धरती पर ही चल सकनेवाली तेरे द्वारा, आकाश में बिहार
 करने वाला मैं भला किस प्रकार पकड़ा जा सकूँगा ? अरे, नाम के मित्र इस
 वयस् (यौवन) ने नौ तेरी सिन्धुता को नहीं निटाया ।

दिष्पणी—नूनात्रचारिणी मानुषी कहीं गगनबिहारी हथ को पकड़ सकती
 है ? फिर भी दमयन्ती का हस को पकड़ने का यत्न देखी शैशवोचित
 प्रबोधता ही है । हस इन्ही पर व्यग करता रह रहा है—'इतनी बड़ी हो गयी,
 पर तेरा बचन अभी नहीं गया ।' 'वयन्' के दो अर्थ हैं—(१) यौवन की
 आयु, (२) पक्षी (हम) । नारायण ने तृतीय चतुर्थ चरण से सरचित्त
 वाक्य में 'काङ्' का प्रयोग कर वाक्य गूठा इस प्रकार किया है—'स्मरस्य
 सख्या अनेन वचसा अपि तव सिन्धुत्व च खण्डितम्, अपितु खण्डितमेव ।' जयान्तु
 कामसदृश नल के मित्र मुझ हस पक्षी द्वारा उसका प्रत्यक्षदेस तेरा दचपन
 खण्डित हो किया गया ही समजो । जहाँ मन में प्रणय-वार्ता पड़ी कि बचपना
 गया । विद्याधर ने यहाँ विरोध जोर विशेषोक्ति अलंकार माने हैं, मल्लिनाथ
 के अनुसार यहाँ दो काव्यलिङ्ग-भेदों का सञ्जातीय सङ्कर है ॥ १५ ॥

सहस्रपत्रासनपत्रहमदन्य पत्राणि पत्रत्रिण स्म ।

अस्मादृशा चादुरसामृतानि स्वलोकलोकेतरदुर्लभानि ॥ १६ ॥

जीवानु—अथ प्रस्तुतोपयोगितया नित्राक्य निवेदयति—सहस्रेति ३

सहस्रपत्रासनस्य कमलासनस्य पत्रहना वाहनहसा तेषां वशस्य कुटस्य वेणोश्च पत्राणि वाहनानि पर्णानि च 'वशो वेणो कुले वर्णे', 'पत्र स्याद्वाहने पर्णे' इति च विश्व । पत्रत्रिणं स्म ब्रह्मवाहनहसवश्या वयमित्यर्थं । अस्मानिव पश्यन्तीति अस्मादस्मामस्मद्विधाना 'त्यदादिष्वि'त्यादिना एते दिवन् चाद्रुषु सुभाषितेषु ये रसा शृगारादय त एव अमृतानि स्वर्लोकं लोका जना, 'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । तेभ्य इतरभैर्नृप्यैर्दुर्लभानि लघुमशक्यानीत्यर्थं ॥ १६ ॥

अन्वय — सहस्रपत्रासनपत्रहसवशस्य पत्राणि पत्रत्रिणं स्म अस्मादस्मा चाद्रुसामृतानि स्वर्लोकलोकेतरदुर्लभानि ।

हिन्दी—हस कहने लगा—हम सहस्रदल कमल के आसनपर बैठनेवाले ब्रह्मा के वाहन हस के कुल रूप वश (वास) के की सतरुप पत्तं पक्षी हैं, हम—जैसों के प्रियवचनरूप रस के अमृत स्वर्ग लोक से मिल लोको (भू पातालादि) के वासियों को दुर्लभ हैं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती हस को पकड़ तो सकती ही नहीं, हस का इस प्रकार उससे मिलन भी एक दुर्लभ संयोग ही है, सो अमृतरस से हसवचन सुनना बड़े सौभाग्य की बात है भूलोकवासिनी दमयन्ती के लिए । धामन के अनुसार ओज होता है अर्थ की प्रीति—'अर्थस्य प्रीतिरोज ।' विद्याधर के अनुसार यही ओज गुण है, क्योंकि 'मनुष्य' पद से वाच्य अर्थ के लिए 'स्वर्लोकलोकेतर' कृत् कर प्रीति लायी गयी है । उ होने यहाँ उल्लेख्य अलकार छेदानुप्रास माना है । यों सामान्यत रूपक स्पष्ट है ॥ १६ ॥

स्वर्गापगाहममृणालिनीना नालामृणालाग्रभुजो भजाम् ।

अभ्रानुरूप्यां तनुरूपश्रद्धिं कार्यं निदानाद्धि गुणानधीते ॥ १७ ॥

जीवातु—अथ स्वाकारस्य वनकमयत्वे कारणमाह—स्वर्गेति । स्वर्गापगा स्वर्गं दी तस्यां ह्रममृणालिनीस्तासा या नाला वाण्डा यानि मृणालानि कदाश्च । अथ नालामृणालशब्दस्य शब्दानुशासन वेया शब्दानामिति वत्समासे गुणभूतेन संभ्यं य मोडव्य 'नालो नालमयास्त्रियामि'त्यमरवचनाप्राप्तेति स्त्रीलिङ्गनिर्देशे न च तथापि सदेह । तद् व्याख्यानेषु देशान्तरकोशेषु च

स्त्रीलिङ्गपाठस्यैव दर्शनात् । तथा च दशमं सर्गं प्रचोक्षते 'मृदुत्वमप्रौढमृणा-
लनालया' इति, 'नाला स्वादिसकन्द' इतिविश्व, 'तेषामप्राणि नुञ्जत इति
तदनुज' वयमिति शेष । अत्रानुरूपामाहारसदृशीन्तनो शरीरस्य रूपसदृशि
वर्णसमृद्धिम् 'श्रुत्यक्' इति प्रकृतिनाव । नञाम' प्राप्ता स्म इत्यर्थः । तथा हि
कार्यं जन्य द्रव्य निदानादुपादानात्, 'आख्यातोपयोग' इत्युपादानता गुणान्
रूपादिविशेषगुणान् अधीते प्राप्नोतीत्यर्थः । प्रातिविशेषवाचिनस्तत्सामान्य-
रूपजात् प्रायेण आहारपरिपतिविशेषपूर्विका प्राणिना कायकावय इति नावः ।
सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ १७ ॥

अन्वयः—स्वापगाहेमृणालिनीनां नालामृणालप्रमुजः (वयम्) अत्रानुरूपा
तदुत्पत्तिं नञाम, हि कार्यं निदानात् गुणान् अधीते ।

हिन्दी—स्वगङ्गा में उत्पन्न स्वर्ण कमलिनियों के नाल—मृणालों का
अप्रमाण खाने वाले हम अपने खाद्य के अनुरूप ही शरीर घोना रूप समृद्धि के
भाजन हैं, क्योंकि कार्य कारण से ही गुण प्राप्त करता है ।

टिप्पणी—नैयायिकों के अनुसार—'कारणगुण, कार्ये गुणानामन्ते'—
कारण के गुण ही कार्य में जाते हैं, जैसे निदानादिकारण मृत्पिण्डादि से कार्य
घट आदि में गुण जाते हैं । इसी प्रकार स्वर्णकमल भोजन से हृद्य का स्वर्ण-
शरीर है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ सामान्य से विशेष का समर्थनरूप
अर्थान्तरन्यास है, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास के साथ अनुप्रास भी उल्लेखनीय
माना है ॥ १७ ॥

घातुनिर्गोपादिह नैपथीय लीलासरस्सेवितुमागतेषु ।

हैमेषु हंसेष्वहमेक एव अत्रामि भूलोकविलोकनोक्तः ॥ १८ ॥

जोवानु—अथात्मन क्षमातेजसञ्चरणे कारपमाह—घातुरिति । घातु-
ब्रह्मणो निर्गोपादादेद्यादिह भूलोके नैपथीय नलीय लीलासरस्सेवितु श्रीवा-
सरनि विहृतमित्यर्थः । आगतेषु हैमेषु हैमविकारेषु । विकारायैः प्रत्यय ।
'नस्तद्धित' इति टिलोप । हृद्येषु मध्ये अहमेक एव भूलोकविलोकने उक्तं उरमुक्
रन् 'दुर्मना विमना अतर्मना स्यादुक्त उन्मना' इत्यमरः । उच्छब्दात्कन्
प्रत्ययान्तो निपात अत्रामि पर्यटामि ॥ १८ ॥

अन्वय — घातु। नियोगात् इह नैपथीय लीलासर सेवितुम् जागतेषु हैमेषु हृषेपु एकः अहम् एव भूलोकविलोकनोत्कः भ्रमामि ।

हिन्दी—विधाता के आदेश से यहाँ (पृथ्वी मंडल में) निपघराज के श्रीडासरोवर में विहारार्थ आये सुवर्ण हंसों में से एक में ही भूलोक के दर्शनाय उत्सुक हो भ्रमण कर रहा है ।

टिप्पणी—इस पद्य में स्वर्ण हंस ने ब्रह्मलोक छोड़ अपने भूमंडल पर होने का कारण स्पष्ट किया है ॥ १८ ॥

विधे कदाचिद् भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्यस्स्वमहत्तरेभ्यः ।

स्कन्धस्य विश्रान्तिमदा तदादि श्राम्प्रामि नाविश्रमविश्वगोऽपि ॥ १९ ॥

जीवातु—अनवरतभ्रमणेऽपि श्रमजये कारणमाह—विधेरिति । कदाचिद्विधे ब्रह्मणो भ्रमणीविलासे भ्रमणभ्रमणविनोदे श्रमातुरेभ्य अवसन्नेभ्य स्वमहत्तरेभ्य स्वकुलवृद्धेभ्य स्वघस्यासस्य, 'स्कन्धो भुवश्शिरोऽसोऽस्त्री'त्यमर । विश्रान्तिमदा प्रादाम् । स्वयमेव एवाहृमिस्त्वर्थ । दबातेर्लुङि 'गातिस्थे'त्यादिना सिचो लुक् । तदादि तत्प्रभृति अविश्रममनवरत 'नीवात्तोपदेश'त्यादिना श्रमेर्धञि वृद्धिप्रतिषेध, विश्वगो विश्व गच्छन्पि 'अपत्रापि व्रजत' इति गमेडप्रत्यय । न श्राम्यामि न स्त्रिये ॥ १९ ॥

अन्वय.—कदाचित् विधे भ्रमणीविलासे श्रमातुरेभ्य स्वमहत्तरेभ्य स्कन्धस्य विश्रान्तिम् अदाम् तदादि अविश्रमविश्वगः अपि न श्रम्यामि ।

हिन्दी—किसी समय (एकबार) विधाता के भ्रमण विनोद में (बाहनी भूत) श्रम से थके अपने गुरुजनो के कंधे को मैंने विश्राम दिया था, तब से बिना विश्राम किये विश्वगमन करने पर भी मैं नहीं थकता ।

टिप्पणी—बिना थके विश्वयात्रा करने का कारण यहाँ हंस ने स्पष्ट किया । अपने गुरुजनो की सहायता कर उमने उन्हें सतुष्ट किया था, तभी से उमे यात्रा में थकान न आने की दामना प्राप्त हुई । काव्यलिंग अलंकार ॥ १९ ॥

व वाय दिव्ये न तिरश्चि कश्चित्ताशादिरासादितपौरुषस्स्यात् ।

एकं विना मादृशि तन्नरस्य स्वर्भोगभाग्य विरलोदयस्य ॥ २० ॥

जीवातु—अथ व्याघादिबधनमपि न मेऽस्तीत्याह—वन्धायति । मादृशि दिव्ये निरश्चि विषये विरलोदयस्य दुर्लभजमनो नरस्य मत्यस्य प्रायेणैवविधो

नास्तीत्यर्थं । अन्यत्र त्रिरो विगतरेफ स चासौ लोदयो लोदयवाश्च मत्वर्थो-
 योज्जारः । तस्य रेफस्यानाधिष्ठितल्कारस्य नलस्येत्यर्थं । शब्दधर्मोऽर्थ उपचर्यते,
 नुन्यत इति भोगं सुखं स्वर्गंभोगस्य स्वर्गंमुखस्य भाग्यं तद्रापकादृष्टमित्यर्थं ।
 स्वभाष्येस्तद्रापकत्वादिति भावः । तदेकं विना कश्चित् पाशादि पाशाद्यु-
 पायः । वन्द्याय वन्दनार्थनासादितपौष्यं प्रातश्चापारो न स्यात् । स्वर्भोग-
 नार्थकमुल्मा वय, नोपायान्तरसाध्या इत्यर्थं । जस्माद्भूमसार्गादन्य' को नाम
 स्वर्गपदार्थं इति भावः ॥ २० ॥

अन्वयः—माट्टि दिव्ये तिरदिच विरलोदयस्य नरस्य एक स्वर्भोगभाग्य
 दिना कश्चित् पाशादि वन्द्याय आसादितपौष्यं न स्यात् ।

हिन्दी—मेरे ममान अन्वैकिक पक्षी के सम्बन्ध में किसी विरलजन्मा
 नर के एक स्वर्ग भोगने के भाग्य के अतिरिक्त कोई पाश (जाल) आदि
 बाँधने में सामर्थ्यशील न होगा ।

टिप्पणी—सामान्य पक्षी को जाल में पकड़ा जा सकता है, पर हंस
 सामान्य नहीं, दिव्य पक्षी है । उसे वही पकड़ सकता है, जिस विरल मनुष्य
 का स्वर्गभोग भाग्य हो । अन्य किसी में यह सामर्थ्य नहीं । 'विरलोदय
 नरस्य' का अर्थ 'नल' भी किया जा सकता है । प्रथम सर्ग में वर्णन है कि
 नल ने हंस को पकड़ लिया था, तो नल ऐसा मर्त्य प्राणी है, जिसमें दिव्य
 हंस को पकड़ने की क्षमता है । विग्रह है—विगत रेफ यत्स्य स विर, तस्य
 विगतरेफस्य स्थाने लस्य उदय यस्मिस्तस्य नलस्य अर्थात् जिस 'नर' में से
 'र' हटा कर 'ल' का उदय हो गया है, वह 'नर' अर्थात् नल ॥ २० ॥

दृष्टेन पूर्णेन नलस्य वक्ष्यास्त्वर्भोगमत्रापि सृजन्त्यमर्त्याः ।

मदीरुणा दोहृदनेकृतकेराकाराणि कोरकमुद्गिरन्ति ॥ २१ ॥

जीवन्तु—तत्र भाग्यं नलस्यैवान्तीत्याह—दृष्टनेति । इष्टेन यागेन
 पूर्णं खानादिभोगं च । 'त्रिपत्यं त्रुम्ने'ट पूर्णं खानादिभोगं'त्यमरः ।
 वक्ष्या वक्ष्यता इति प्राग्दीव्यतीयो यत्प्रत्ययः । अमर्त्या देवा नलस्यात्रापि
 भूलोके स्वर्भोगं सृजन्ति स्वर्गंमुखं सम्पादयन्तीत्यर्थं । ननु देवाश्च क्व लोका-
 न्तरकायान्तरभोग्यं स्वर्गमिदानीं सृजन्तीत्याद्यद्वा दृष्टान्तेन परिहरति ।

महीरुहो वृक्षा दोहदस्य अकालप्रसवोत्पादनद्रव्यस्य स्रोकस्य जलस्रोकस्य श्वने
सामर्थ्यात् समानकालावाद्यन्ती उत्पत्तिविनाशावस्थेत्याकालिक उत्पत्त्यनन्तर
विनाशीत्यथ । 'आकालिकडाद्य' तवचन' इति समानकालशब्दस्याकालशब्दादेशे
ठञ्प्रत्ययान्तो निपाठः । प्रवृत्ते त्वकालमव कोरकमुदिगरन्तीत्यर्थः । 'तरुगुल्म-
लतादीनामकाले कुशलं वृत्तम् । पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात् तत्क्रिया'
इति शब्दाणंवे । दोहदवशाद् वृक्षा इव देवता अपि उत्कटपुण्यवशाद्देशकालेऽपि
फलं प्रयच्छन्तीत्यर्थं दृष्टान्तालङ्कारः ॥ २१ ॥

अन्वयः—इष्टेन पूर्यते वक्ष्या अमर्त्या अत्र अपि नलस्य स्वर्गो सुजन्ति,
महीरुह दोहदस्रोकश्वने आकालिक कोरकम् उदिगरन्ति ।

हिन्दी—यज्ञक्रिया और कृपादि निर्माण इत्यादि से वश में किये जा
सकने योग्य अमर्त्य (देव) यही (भूलोक) भी नल के लिए स्वर्गभोगो
की सर्जना कर देते हैं, (अमर्त्य अर्थात् मनुष्येतर) भू में उत्पन्न होने वाले
वृक्ष खाद और सींचने की शक्ति से असमय (मी) फली उत्पन्न कर देते हैं ।

टिप्पणी—'स्वर्गभाग्य' पुण्य वृत्तों से बनता है । यज्ञ, कृपा, तडाग आदि
के निर्माण से प्रसन्न हो देवता मनुष्य को भूलोक में ही स्वर्ग सुख-सौभाग्य
उपलब्ध कर देते हैं । वृक्ष में असमय कोरक दशन के उदाहरण से कथन को
पुष्ट किया गया । दृष्टान्त अलङ्कार—'अर्पणविशेष पूर्वं याद्य यस्तो विरक्षित-
तरयो । तादृशमन्य न्यस्येद्यत्र पुन सोऽत्र दृष्टान्तः ॥'—रुद्रट ॥ २१ ॥

सुवर्णशैलावतीर्णं तूर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावतीर्णं ।

त वीजयाम स्मरकेलिकाले पक्षे नृप चामरवद्धसस्ये ॥ २२ ॥

जीवातु—स्वर्गगमेवाह—सुवर्णति । सुवर्णशैला मेरोस्तूर्णमवतीर्णं अव-
रुह्य स्वर्वाहिनीवारिकणावतीर्णं मन्दाकिनीजं विन्दुसम्पृक्तं चामरेषु बद्ध-
सस्यंस्तत्सस्यं पक्षे पत्रं स्मरकेलिकाले त नृप वीजयाम तादृक्पक्षवीजनं
सुरतश्चान्तिमपनुदाम इत्यथ ॥ २२ ॥

अन्वयः—सुवर्णशैलात् तूर्णम् अवतीर्णं स्वर्वाहिनीवारिकणावतीर्णं
चामरवद्धसस्यं पक्षे स्मरकेलिकाले त नृप वीजयाम ।

हिन्दी—स्वर्णशैल मुमेह से शीघ्र उत्तर कर स्वर्गगा के जल-बन्धो से

व्यास चेंबर के समान (अथवा अमरों (देवों) से सख्य अर्थात् मंत्री रखने वाले) पक्षों से सुरसकेलि के समय हम उस राजा पर पखा झलते हैं ।

टिप्पणी—हस अपने पक्षों से नल पर पखा झलते हैं और देव स्वर्गों की सृजना । इस प्रकार ममर्मा होने के कारण अमरों और हस-पक्षों में सख्य (मंत्री, साध्य) हुआ । साहित्यविद्याधरी के अनुसार उभया ॥ २२ ॥

क्रियेत चेत्साधुविभक्तिचिन्ता ध्यत्तिस्तदा सा प्रथमानभिधेया ।

या स्वोजसा साधयितु विलसन्तावक्षमा नामपद बहु स्यात् ॥ २३ ॥

जीवानु—क्रियेतेति । साधुविभक्तिचिन्ता सज्जनविभागविचार क्रियेत चेत्सा नलानिधाना व्यक्ति मूर्ति प्रथमानभिधेया प्रथम परिगणनीया । कृत या व्यक्ति स्वोजसा विलासैर्वाप्तिभि तावद्बहु तथा प्रभूत नान्ति नामो नतिर्यस्येति—अनाकननस्र पद परराष्ट्र साधयितु स्वायत्तीकृतु क्षमा समर्था स्यात् । अन्यत्र साधुविभक्तिचिन्ता मतविभक्तिविचार क्रियेत चेत् यदा ना प्रथमा व्यक्ति अभिधेया विचार्या, या स्वोजसा 'सु औ जम्' इत्येषा प्रत्ययाना विलासैः विन्तारैस्तावद्बहु अनेक नामपद सुबन्तपद 'वृक्ष' इत्यादिक पद साधयितु निष्पादयितु क्षमा । अत्रामिन्त्या प्रकृतार्थमात्रनिमित्तत्वत्वात्प्रत्यायादवानुपनस्यनावेनानावादप्रकृतार्थप्रतीतिर्ध्वनिरेव ॥ २३ ॥

अन्वय —साधुविभक्तिचिन्ता क्रियेत चेत् तदा सा व्यक्ति प्रथमानभिधेया या स्वोजसा विलासैः तावद् बहु अनामपद (पक्षान्तरे नामपदम्) साधयितु क्षमा स्यात् ।

हिन्दी—(१) नलपक्ष यदि सज्जनों के विभाग की विचारणा की जाय तो वह व्यक्ति (नल) प्रथम कहा जायेगा, जो कि अपने बल-पराक्रम के प्रभाव से जनेक पशुआ को अपने अधीन करने में समर्थ है । (२) प्रथमादि विभक्ति पक्ष—यदि दिवेकपूर्वक 'सुप्' आदि विभक्तियों का विचार किया जाय तो वह 'प्रथमा' विभक्ति ही प्रथम वाच्य होगी, जो कि सु-औ-जस् (सभी वचनों के प्रथमो) के विस्तार (विसर्ग-लोप-आदेश आदि) से अनेक नामपदों (प्रातिपदिकों) को निष्पन्न करने में समर्थ होगी ।

टिप्पणी—भाव यह है कि जिस प्रकार व्याकरण शास्त्र में प्रथमा विभक्ति २ नै० तृ०

सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सब विभक्तियों में वही पहिली होती है और उसी के एकवचन, द्विवचन, बहुवचन के सु-भौ जस् प्रत्ययों में विसर्गलोप, वृद्धि, दीर्घ करके 'वृक्ष' आदि प्रातिपदिका को सिद्ध किया जाता है, उसी प्रकार सबको अपने शौर्य औदाय आदि से स्ववश करने में, समथ राजा नल ही पृथ्वी मडल के सज्जनो में अग्रगण्य है। प्रथमा विभक्ति इस कारण भी सर्वप्रधान है कि अग्य किसी विभक्ति की अप्राप्ति में प्रथमा ही होती है—'प्रतिपदिकायं-लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' (अष्टाध्यायी २।३।४६)। कहा भी जाता है—'एकवचनमुत्सगत करिष्यते'। प्रथमा विभक्ति कर्ता कारक की विभक्ति है, कर्ता ही सब कारकों में प्रधान होता है, क्योंकि सभी व्यापार कर्ताश्रित ही होते हैं—'व्यापाराश्रय कर्ता'। ऐसे ही राजा नल भी सर्वसामर्थ्यान्वा होने के कारण सज्जनो में 'प्रथमामिधेय' है।

इस पद्य में अमिषाशक्ति के प्रकृतार्थमात्रनियंत्रित होने के कारण और अनुपपत्ति के अभाव के कारण लक्षणा को अवकाश न होने से अप्रकृत (अप्रस्तुत) प्रथमा विभक्त्यर्थ की प्रतीति ध्वनि से होती है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ ध्वनि है, बिद्याधर ने यहाँ समासोक्ति मानी है, क्योंकि सामान्यतः प्रथमा सबत्र विहित होती है—'सामान्येन प्रथमाया सर्वत्र विहितत्वात्समासोक्तिरलङ्कार' ॥ २३ ॥

राजा स यज्वा विबुधन्नजत्रा वृत्वाऽध्वराज्योपमयेव राज्यम् ।

भुङ्क्ते श्रितश्रोत्रियमात्कृतश्री पूर्वं त्वहो शेषमशेषमन्त्यम् ॥ २४ ॥

जीवातु—राजेति । 'यज्वा तु विधिनेष्टवान्', 'सुयजोर्ध्वनिप्', श्रिता आश्रिता ये श्रोत्रिया छान्दसा अधीतवेदा इत्यर्थं । 'श्रोत्रियञ्छान्दसो समावि' त्यमर । 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीत' इति निपात । तत्सात्कृता दानेन तदधीना कृता श्री सम्पद्येन स राजा नल अध्वरेषु यथाज्यन्तदुपमया तत्सात्श्येनैव तद्वदेत्यर्थं । राज्य विबुधा देवा विद्वांसश्च तद्भ्रजत्रा दानेन तत्स-
ङ्गाधीन कृत्वा 'क्षेपे त्रा चे'ति चकारादितरत्र सातिप्रत्ययश्च, 'तद्धितश्चा-
सर्वविभक्तिरि'त्यव्ययत्वम्, पूर्वं पूर्वनिर्दिष्टमध्वराज्य शेष इतशेष भुङ्क्ते अन्त्य
पश्चात्निर्दिष्ट राज्य त्वशेष वृत्स्तमखण्ड भुङ्क्ते, अहो उपभुक्तादय शेष

पूर्वस्थाद्येषस्य तथात्वम्, अत्यस्य अद्येपत्वि कथं विरोधादित्याश्चयंम्, अत एव विरोधाभासोऽङ्कार, अक्षपदमिति परिहारः ॥ २४ ॥

अन्वय — धिनभोत्रियसान्कृतश्री मञ्वा स राजा अध्वराज्योपमया एव राज्य विबुधप्रजना कृत्वा अहो, पूर्वं द्येपम् अन्त्यम् अद्येप मुद्कते ।

हिन्दी—अपने आश्रयस्थ वेदाध्यायिजनों (भोत्रियों) को सपत्तिदान करनेवाला, यनकर्ता वह राजा अध्वर (यज्ञ) के घृत के सहस्र ही राज्य को विबुधों (विद्वानों-देवा) के समूह के अधीन करके पहिले द्येप का भोग करता है, परन्तु अद्येप (सम्भूत) का भोग करता है, यह आश्चर्य है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि राजा नल विधिपूर्वक यज्ञादि सम्पन्न करता है, विद्वानों, देवों को समान-युक्ता करता है और समस्त राज्येश्वर्य का भोग करता है, अर्थात् धर्मनिष्ठ, दानी और ऐश्वर्यवान् है । 'द्येप' और 'अद्येप' में विरोध है । जो राज्य पहिले 'द्येप' (अवशिष्ट) रह गया है, वह परन्तु 'अद्येप' (सम्भूत) बँसे होगा ? यह विरोध है । परिहार है कि 'द्येप' अर्थात् यज्ञ में देवप्रदानित 'घृत' और 'अद्येप' अर्थात् सम्भूत राज्य, अर्थात् जँसे राजा नल यज्ञ में अर्पित करके यज्ञावशिष्ट घृत का उपभोग करता है, बँसे ही देव और विद्वानों को अर्पित करके सम्भूत राज्य का उपभोग करता है ।

नारायण पट्टि ने 'अध्वराज्यं' का एक और विग्रह किया है—'अत्रनि मागं एव यद्राज्यम्' अर्थात् जो राज्य मागं में ही है, वह 'सर्वदत्तोपभोग्य' है, राजा नल जो उस समस्त का उपभोग कर लेते हैं, यह विरोध है अत आश्चर्य-कारण है, परिहार यह है कि सर्व-साधारण को दानयज्ञादि से संतुष्ट कर सम्भूत राज्य-भोग करते हैं । भाव यह है कि नल जनेक यज्ञों के कर्ता और आसमुद्राध्वरागो के अधिराज्य का भोग करते हैं ।

'द्येप-अद्येप' के विरोध-परिहार के आधार पर मन्त्रिनाथ ने यहाँ विरोधा-भास अङ्कार माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ छेकानुशास और उपमा-उत्प्रेक्षा अतिरेक अङ्कारों का संकर है ॥ २४ ॥

दारिद्र्यं दारिद्र्यविणोघवर्षे अमोघमेघव्रतमथिसार्थे ।

सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेव नायन्ति के नाम न लोकनाथम् ॥ २५ ॥

जीवांतु—दारिद्र्येति । दारिद्र्यं दारयति निवर्तयतीति तस्य दारिद्र्य-
दारिणो द्रविणोघस्य घनराशेर्वर्षे रथिसार्थे विषये अमोघमेघव्रतं वर्षवृत्त्व-
लक्षणं यस्य तं सन्तुष्टं दानहृष्टमिष्टदेव यज्ञाराधितसुरलोकनाथ तं नल के नाम
इष्टानि न नायन्ति ? न याचन्ते सर्वेऽपि नाथ-त्येवेत्यर्थं । नायतेर्मा अर्थस्य
बुहादित्वाद् द्विकर्मकत्वम् ॥ २५ ॥

अन्वय—दारिद्र्यं दारिद्र्यविणोघवर्षे रथिसार्थे अमोघमेघव्रतं सन्तुष्टम्
इष्टदेव लोकनाथ तं के नाम इष्टानि न नायन्ति ?

हिन्दी—दारिद्र्यता को दूर भगानेवाले घन समूह की वर्षा के द्वारा याचक-
समूह के मध्य जिसका मेघव्रत सन्तुष्ट हो गया है (जो राजा नल उस मेघ
के समान सन्तुष्ट है, जो जलघार बरसा कर लोक की सुख देकर सन्तुष्ट हो
जाता है), इष्टदेव (हित कर राजा यथा जो देव यज्ञ कर्ता है अथवा जिसे
देवता प्रिय हैं), लोको के स्वामी से कौन इष्ट, घन आदि की याचना नहीं
करते हैं ? सभी करते हैं ।

टिप्पणी—राजा नल धारासार जल बरसाने वाले दादल-जैसा दानी है,
जिससे दान प्राप्त कर सबकी इच्छा पूरी हो जाती है । उससे सारा जगत्
उसी प्रकार याचना करता है, जिस प्रकार प्रसन्न ब्रह्मादि देवों से याचना की
जाती है । काकु बक्रोक्ति, अनुप्रास और उपमालकार ॥ २५ ॥

अस्मत्किल श्रोत्रसुधा विधाय रम्भा चिर भामतुला नलस्य ।

तत्रानुरक्ता तमनाप्य भेजे तन्नामगन्धान्नलकूबर सा ॥ २६ ॥

जीवांतु—अस्मदिति । सा प्रसिद्धा रम्भा नलस्यातुलामनुपमा भा सोन्दय-
मस्मद् मत्त श्रोत्रसुधा विधाय कर्णे अमृत कृत्वा रसादाकर्ण्येत्यर्थं । तत्र
तस्मिन्ने अनुरक्ता सती तं नलमनाप्य अप्राप्य, आहृपूर्वादान्तीते क्त्वो ल्यवादेश-
नज्जमास । अथवा त्वसमासे ल्यवादेशो न स्यात् तन्नामगन्धात्तस्य नलस्य
नामाधारस्यर्थाद्वेत्तोर्नलकूबर कूबेरात्मज भेजे किल । तादृशस्य सो-दर्शमित
भाव ॥ २६ ॥

अन्वय—सा रम्भा नलस्य अतुला भाम् अस्मत् चिर श्रोत्रसुवा विधाय
 सप्त अनुरक्ता तम् अनाप्य तनामगन्धात् नलकूबर भेजे ।

हिन्दी—वह रम्भा (अर्पणा) नल की अतुलनीय रूप-कांति को हमसे
 चिरकाल तक कर्णामृत बनाकर उनमें डुबकर हो गयी, किन्तु उसको प्राप्त
 न कर उसके नाम से छोड़ी सी समानता होने के कारण कूबर पुत्र नलकूबर
 को भजने लगी ।

टिप्पणी—पौराणिक कथा का आश्रय बना कर नल की प्रशंसा । स्वर्ग
 मुन्दरी रम्भा ने प्रेम के कारण नलकूबर को नहीं स्वीकारा, वह तो इसलिए
 उसको स्वीकार बैठी कि उसके नाम में भी 'नल' है । नल ही नहीं उसका
 नाम भी स्वर्गमुन्दरियों की सृष्टा की वस्तु है । विद्याधर के अनुसार छेकानु-
 प्राप्त और उत्प्रेक्षा ॥ २६ ॥

स्वर्लोकमस्माभिरिन प्रयातं केलीपु तद्गानगुणान्निपीय ।

हा हेनि गायन् यदशोत्रिनेन नाम्नेत्र हाहा हरिगायनोऽभूत् ॥ २७ ॥

जोबानु—स्वर्लोकमिति । केलीपु विनोदगोष्ठीपु तस्य नलस्य कतुंगनि
 गुणान्निपीय इत अम्माल्लोग्नात् स्वर्लोक प्रयातेरस्माभिर्हरिगायन इद्रगायको
 ग'घवं 'ष्युद् चे'ति गायते शिन्विनि ण्युत्प्रत्यय' । गायन् यच्चम्मात् हाहेत्य-
 शोचि, तस्यन्तेव कारणे नाम्नाहाहा अभूत्, आलापाक्षरानुकारादिति भाव ।
 हाहाहृद्दृष्वमाद्या ग'घर्वास्त्रिद्वौकसामि'त्यमर' । 'आलापाक्षरानुकार-
 निमित्तोऽयमाकारान्त' पुंसि चे'ति केचित् । 'हा हा खेदे हू हू ह्ये ग'घर्वेऽभू अन-
 व्यय' इति विश्व । अव्ययमेवेति भोज' अत्र शोकनिमित्तासम्बन्धेऽपि सम्बन्धा-
 दतिशयोक्ति । तथा च ग'घर्वातिशायि गानमस्येति वस्तु व्यज्यते ॥ २७ ॥

अन्वय—केलीपु तद्गानगुणान् निपीय इत स्वर्लोक प्रयातं अस्मामि
 हरिगायन गायन् यत् हा हा इति अशोचि, तेन नाम्ना एव हाहा अभूत् ।

हिन्दी—विनोदगोष्ठियों में उस (नल) का जो गान होता था, उसके
 गुणों को सादर सुनकर यहाँ (भूलोक) से स्वर्ग लोक में पहुँचि हम (हसों)
 ने इन्द्र के गायक के प्रति 'हा-हा' इस प्रकार कह जो खेद प्रकट किया, उसी
 निन्दा से उसका 'हाहा' नाम पढ गया ।

टिप्पणी—‘हा हा’ खेद सूचक अव्यय मी है, और ‘हाहा’, ‘ह्र्र’ नाम के दो गन्धवं भी कहे जाते हैं। इसी शब्दसाम्य के आधार पर यहाँ असदय में सवध-रुचन है, अतः अतिशयोक्ति अलंकार है। भाव यह है कि नल का गान गन्धर्वों से भी अधिक मोहक है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ यह व्यंजित होता है कि नल का गान ‘गन्धर्वातिशायि’ है ॥ २७ ॥

शृण्वन् सदारस्तदुदारभाव हृष्यन्मुहुर्लोम पुलोमजाया ।

पुण्येन नालोकत नाकपाल प्रमोदवाष्पावृतनेत्रमाल ॥ २८ ॥

जीवातु—शृण्वन्निति । नाकपाल इन्द्र सदार सवधूक तस्य नलस्य उदारभावमीदार्यं शृण्वन्नत एव प्रमोदवाष्पंरानन्दाश्रुभिरावृतनेत्रमालस्तिरो-हितदृष्टिब्रज सन्पुलोमजाया शच्या मुहुहृष्यन्नलानुरागादुल्लसल्लोमरोमाञ्च पुण्येन शय्या भाग्येन नालोकत नापश्यत् अथवा मानसव्यभिचारपराधाद् दण्डर्षवेत्यथ ॥ २८ ॥

अन्वय—सदार नाकपाल तदुदारभाव शृण्वन् प्रमोदवाष्पावृतनेत्रमालः पुलोमजाया मुहु हृष्यत् लोम पुण्येन न आलोकत ।

हिन्दी—अपनी पत्नी (इन्द्राणी शची) के सहित स्वर्ग का पालक इन्द्र उस (नल) के औदार्य को सुनता आनन्द अधुआ से नेत्र पूर्ण हो जाने के कारण पुलोमसुता शची के बारबार होते रोमांच को उसके पुण्य के कारण ही न देख पाया ।

टिप्पणी—नल के वदान्यभाव को सुनकर इन्द्र तो प्रसन्न होता ही था, जिससे आनन्दाश्रु उसके नेत्रों में भर जाते थे और वह कुछ भी देखने में असमर्थ रहता था, शची इन्द्राणी के मन में भी नल के प्रति अनुराग उत्पन्न हो रहा था, जिससे वह रोमांचित हो जाती थी। आनन्दाश्रुओं से नेत्र भरे होने से उस रोमांच को इन्द्र न देख पाया। यह इन्द्राणी का कोई पुण्य ही था, अन्यथा पर पुरुष में अनुरागवती पत्नी को पा इन्द्र उसे मानसिक व्यभिचार की अरराधिनी मानने लगता और क्रोध तथा ईर्ष्या से दग्ध हो उसे दंड देता। विद्याधर के अनुसार ऐकानुप्रास और भावोदय अलंकार ॥ २८ ॥

साञ्जीवरे शृण्वति तद्गुणोधान् प्रमह्य चेतो हरतोऽङ्गम्भु ।

अभूदपर्णाङ्गुलिद्विकर्णा कदा न कण्डूयनकैत्रवेन ? ॥ २९ ॥

जीवानु—मेति । ईश्वरे हरे प्रमह्य चेतो हरता बलामनोहारिणस्तस्य नलस्य गुणोधान् शृण्वति इति सा प्रतिज्ञा अथ दम्भोरखंडंभु दम्भोरखंड-
ङ्गभूतेत्यर्थे । तथा चापत्तरपमशक्यमिति भाव । अपर्णा पावंत्वपि कदा
कण्डूयनकैत्रवेन कण्डूनोदनव्याभेन जडगुण्या दृढं पिहित कर्णो यया सा नानृतं
अभूदेवेत्यर्थे । अन्यथा चित्तवल्नादिति भाव ॥ २९ ॥

अन्वय — ईश्वरे प्रमह्य चेतो हरत तद्गुणोधान् शृण्वति सा अद्वंदंभु
अपर्णा अपि कण्डूयनकैत्रवेन कदा अङ्गुलिद्विकर्णा न अभूत् ?

हिन्दी—महादेव के बन्धु मनोहरण करनेवाले उस (नल) के गुणों का
श्रवण करते समय उस शिव के अर्द्धांग अर्णा पार्वती ने खुत्रजाने के व्याज से
कद अँगुली से बाने कानों को नहीं मूँद लिया ? सदा ही मूँद लिया ।

टिप्पणी—इस श्लोकवाच्य से नल के गुणों की आकर्षणशीलता का
कथन है । पार्वती उमा शिव की अर्द्धाङ्गिणी है, शिव को अर्द्धनारोत्तर कहा
जाता है । शिव-प्राप्ति के लिए उन्होंने तप करते पत्ते छाना भी छोड़ दिया
था, इसी में उन्हें 'अर्णा' कहा गया—'पुनि परिहरे सुस्तानेठ परना, उमहि
नाम तव नयठ अपरना ॥' (रामचरितमानस, बालकांड, ७४।७) ।
कालिदास ने बताया है—'स्वय विशीर्णंद्रुमपणवृत्तिना परा हि काष्ठा तपसस्तया
पुन । तदप्यनाकीर्णमतः प्रियवदा वदन्त्यपरोति च ता पुराविद' ॥' (कुमार-
सम्भव ५।२८) । वे पतिव्रताओं में अग्रगण्य हैं, किन्तु उनके पति, उनके
अर्द्धांग शिव जब सटिति मनोहरण करनेवाले राजा नल के गुणों का श्रवण
करत हैं, उस समय विवशत पार्वती को भी नल-गुण-श्रवण करना होता है,
बिनासे पातिव्रत-नग की आशंका हो जाती है, अतः अय-अब ऐसे अवसर
आते हैं, वे कान खुलवाने के बहाने अँगुली से कान बंद करलेती हैं अथवा
उनका चित्त धक्का हो सकता है । विद्याधर ने उत्पल जमिनाय के निगूहन
के कारण इस पद्य में व्याजोक्ति अकारमाना है ॥ २९ ॥

अल सजन् धर्मविधौ विधाना द्वाद्धि मौनस्यमिषेऽवाणीम् ।

तत्कण्ठमालिङ्गय रमस्य तूष्ठा न वेद ता वेदजडः स वक्राम् ॥ ३० ॥

जीवात्—अत्रमिति । विधाता ब्रह्मा अलमत्यन्त घर्मविधौ सुकृताचरणे सजन् घर्मासक्त सन्नित्यर्थं । वाणी स्वभाष्यां वाग्देवी वर्णात्मिकाञ्च मौनस्य वाग्यमनन्नस्य निषेण रुणद्धि नलकथाप्रसङ्गाद्विरुधे, तस्या उभय्या अपि तदासङ्गभयादिति भावः । मन्तु वेदजड छान्दस्य विधाता तामुभयीमपि वाणी तस्य नलस्य कठ ग्रीवामालिङ्ग्य मुखमाधित्य च रसस्य तृप्ता तद्रागसत्पुष्टामन्यत्र शृङ्गारादिरसपुष्टाञ्च । सम्बन्धसामान्ये षष्ठी, 'पूरणगुणे' त्यादिना षष्ठीनिषेधादेव ज्ञापकादिति केचित् । वक्रा प्रतिभूलकारिणी वक्रो-
 धत्प्रलङ्कारयुवताञ्च न वेद न वेत्ति, 'विदो लटो वे'ति णलादेश अशक्यरक्षा
 स्त्रिय इति भावः । अत्र प्रस्तुतवाग्देवीकथनादप्रस्तुतवर्णात्मिकावाणीवृत्तान्त
 प्रतीते प्रागुक्तरीत्या ध्वनिरेवेत्यनुसन्धीयम् ॥ ३० ॥

अन्वय —घर्मविधौ सजन् विधाता मौनस्य निषेण अल वाणी रुणद्धि
 (अथवा वाणी रुणद्धि अलम्), वेदजड स तत्कण्ठम् आलिङ्ग्य रसस्य
 तृप्ता ता वक्रा न वेद ।

हिन्दी—घर्माचरण (सध्यावदनादि) में आसक्त ब्रह्मा मौन के मिस
 जल्पतता के साथ (स्वपत्नी) वाणी (वर्णात्मिका वाक् और सरस्वती) का
 निवारण करते रहते हैं (अथवा वाणी का निवारण व्यर्थ ही करते हैं),
 वेदाभ्यास से जड वे उस (नल) के कठ का आलिगन कर रस से तृप्त हुई
 उस वक्रा (प्रतिभूला, वक्रोक्तिरूपा) को नहीं जान पाते ।

टिप्पणी—आशय यह है कि नल रसध्वनियुक्ता वक्रोक्ति का पूर्ण
 ज्ञाता है । इसी आधार पर यह कल्पना की गयी है कि यद्यपि विधाता
 सध्यादि के वहाने बराबर मौन रहते हैं कि वहीं उनकी वाणी रूपा पत्नी
 वाक् इस प्रकार बाहर जाकर पर पुहप को न भजने लगे, पर वाक्, वाणी
 सरस्वती तो परम चतुरा है, वेदाभ्यासजड, बूढ़े ब्रह्मा जान ही नहीं पाने
 कि उनकी पत्नी सरस्वती उन्हें छोड़ शृंगाररसतृप्ता परपुरुष नल का
 कठालिगन कर आती हैं । शृंगारादि रसमयी जो वक्रोक्तियाँ नल के कठ से
 उद्भूत होती हैं, वे ही जैसे सरस्वती द्वारा उसके कठ का आलिगन है ।
 प्रस्तुत वाग्देवी के कथन से अप्रस्तुत वाणी-व्यापार की प्रतीति हो जाने से

यहाँ मलिनताय के अनुसार ध्वनि है, विद्याधर ने यहाँ ऐकानुप्रास, अहंभुति और समासोक्ति का निर्देश किया है ॥ ३० ॥

श्रियस्तदा लिङ्गनभूर्नभूता व्रतसतिः कार्जपि पतिव्रताया ।

समस्तभूतात्मनया न भूत तद्भर्तुरीर्ष्याक्लुषापुनापि ॥ ३१ ॥

जोवानु—श्रिय इति । पतिव्रताया श्रियः श्रीदेव्या तद्भर्तुर्विष्णो नमस्तभूतात्मतया, सर्वभूतानवश्वेन नलस्यापि विष्णुरूपत्वेनेत्यर्थः । तदालिङ्गनभूर्नभूतत्वेपमवा कानि व्रतसति पातिव्रतमङ्गो न भूता नभूत् । अत एव तद्भर्तुर्विष्णोरेव ईर्ष्याया नलालिङ्गनभूता अक्षमया यत्कल्प कालुष्य मन क्षोभ दुःखादित्वेन अन्य धर्मवन्निवचनत्वादत इव क्षीरस्वामी 'शस्त चाय त्रिपुद्रव्ये पाप पुन्य सुखादि वैत्यत्र आदिशब्दाच्छ्रेयकल्पगिबमद्रादय इति उभयवचनेषु सत्रब्राह् । तस्मापुना लेणेनापि न भूत नामावि । नपुसके भावे क्त । अत्र शब्दादिचित्तचाखत्योक्तेनलसौन्दर्ये तात्पर्यात्तानौचित्यदोषः ॥३१॥

जन्वय —पतिव्रताया श्रियः तदनर्तुः समस्तभूतात्मतया तदालिङ्गनभूकार्जपि व्रतसति न भूता, तदनर्तुः ईर्ष्याक्लुषापुना अपि न भूतम् ।

हिन्दी—प्रतिव्रता श्री (लक्ष्मी) के पति विष्णु के सर्वभूतात्मा होने के कारण उनके उस (नल) के आलिंगन से उत्पन्न किसी प्रकार के पातिव्रत जादि का क्षय नहीं हुआ और (इसी कारण) उनके स्वामी विष्णु के हृदय में ईर्ष्यावन्निव कालुष्य का अणु भी नहीं उत्पन्न हुआ ।

टिप्पणी—शोभासरगता, राजलक्ष्मी इत्यादि के कारण नल श्रीसग्न है, अर्थात् श्रीद्वारा आलिंगित है, परन्तु फिर भी उनका पातिव्रत-भय नहीं होना, क्योंकि उनके पति विष्णु ही सर्वभूतात्मा होने में सब में व्याप्त हैं, अर्थात् सब विष्णुरूप ही हैं । नल भी विष्णुरूप है, इस प्रकार लक्ष्मी का पातिव्रत भय नहीं हुआ । विष्णु के मन में ईर्ष्याजन्य मलिनता भी नहीं उत्पन्न हुई, क्योंकि वे अपनी सर्वभूतात्मता से परिचित हैं । वे जानते हैं कि श्री उनका आलिंगन करके एक प्रकार से समस्त विश्व का ही आलिंगन करती हैं । आशय यह है कि राजा नच विष्णु के समान श्री-शोभाभ्यामर्ष्यं सपन्न है । मलिनताय ने बताया है कि इन श्लोकों में कवि का आशय नल के

सौन्दर्यातिशय का निरूपण करना है, अतएव घची, उमा, सरस्वती और लक्ष्मी के पातिव्रतभग का अतीचित्य नहीं मानना चाहिए । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार है ॥ ३१ ॥

धिक् त विधेः पाणियजातलज्ज निर्माति य पर्वणि पूर्णमिन्दुम् ।
मन्ये स विज्ञ स्मृततन्मुखश्रीः कृतार्धमौज्जद्भवमूर्ध्न यस्तम् ॥ ३२ ॥
जीवातु—धिगिति । तमजातलज्ज निस्त्रप विधे पाणि धिक् य पाणि स्मृततन्मुखश्रीरपि पवणि जातावेकचन पर्वस्वित्यर्थं । पूर्णमिन्दु निर्माति अद्यापीति भाव । स विज्ञ अभिज्ञ इति मन्ये य, पाणि स्मृततन्मुखश्री सन तमिन्दु कृत अर्द्धं एकदेशो यस्य त कृतार्द्धमर्द्धनिमित्तमेव भवमूर्ध्न हरशिरसि औज्जत् । अतिसौन्दर्ययुक्तमस्यास्यमिति भाव ॥ ३२ ॥

अन्वय —स्मृततन्मुखाथो य पर्वणि पूर्णम् इन्दु निर्माति अजातलज्ज त विधे पाणि धिक्, मन्ये य भवमूर्ध्न त कृतार्द्धम् औज्जत् स विज्ञ ।

हिन्दी—उस (नल) की मुख घोमा का स्मरण होते हुए भी जो पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र का निर्माण करता है, उस निर्लज्ज विधाता के हाथ को धिक्कार है, मैं मानता हूँ कि जिस (विधिहस्त) ने शिव के मस्तक पर उस (चन्द्र) को आधा रचकर छोड़ दिया, वह विशेषज्ञ है (समझदार है) ।

टिप्पणी—एक रमणीय रचना करके उसके पश्चात् उससे उत्कृष्ट ही निर्माण करना उचित है, अथवा एक उत्तम आदर्श देखकर उससे निकृष्ट रचना तो नितात अनुचित है । विधाता के हाथ ने ऐसा किया । नल का रमणीय मुख देखकर, उसे ध्यान में रखते हुए भी जो वह प्रति पूर्णिमा को पूर्ण चन्द्र का निर्माण करता है, वह अकुशलता ही विज्ञापित करता है, क्योंकि नल के मुख की घोमा के समुल्लस, पूर्ण चन्द्र नगण्य है । हाँ, शिव के मस्तक पर जो उसने चन्द्र को आधा बना के छोड़ दिया, यह क्षुब्धता दिखायी । आशय है कि नल का मुख चन्द्र से कहीं अधिक रमणीय है । उपमेय मुख से उपमान चन्द्र को हीन दिखाने के कारण यहाँ प्रतीप अलंकार है । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में प्रतीप और प्रदीप अलंकार है ॥ ३२ ॥

निलीयते ह्योविधुर स्वर्जेत्र श्रुत्वा विपुलस्य मुख मुखात् ।

सूरे नमुद्रस्य कदापि पूरे कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे ॥ २३ ॥

जीवातु—निलीयते इति । विधुरश्चन्द्र स्वस्य वैश्व, तृणन्तात्प्रशादित्वात्
स्वायेऽन् प्रत्यय । तस्य नन्वस्य मुख नोऽन्नात् मुखाच्छ्रुत्वा ह्योविधुर लज्जा-
विधुर नन् कदापि सूरे सूरे दस्योऽदित्यस्य, कदापि नमुद्रस्य पूरे प्रवाहे तदुत्प-
न्नत्वात् कदाचिदभ्रभ्रमदभ्रगर्भे आवागे मन्वरेनापनेनादरे निलीयते अन्तर्बन्ते,
न कदाचिदभ्रत म्यानुमुल्लहत् इति भाव । अत्र विधो स्वामाविरनूर्प्यादि-
प्रवेद्ये पगजपप्रयुक्तह्योनिलीयत्वोत्प्रेक्षा व्यङ्ग्यप्रयोगाद् गम्या ॥ २३ ॥

अन्वय — विधु न मुखात् तस्य मुख स्वर्जेत्र श्रुत्वा ह्योविधुर कदापि
सूरे कदापि नमुद्रस्य पूरे अभ्रभ्रमदभ्रगर्भे निलीयते ।

हिन्दी—चन्द्रमा हमारे (हृषीं के) मुख से उठ (गड) के मुख को
स्वर्जरी (अपने को—चन्द्र को—जीतनेवाला) सुनकर लज्जा से विडल हो
कनी (अनावस्था को) सूर्य में, कनी (अन्न-काल में) सनुद्र के प्रवाह में
और कनी (वर्षाकाल में) आवाग में अन्नप करने वाले बादलों के मध्य
जिन जाता है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में भी अल्प भगिना से चन्द्र को अपेक्षा नन्मुख को
रमणीय बताया गया है । स्वविजरी के नय से सनी जहाँ स्पष्ट निलता है,
वहाँ छिन जाते हैं । ऐसा ही चन्द्र भी करता है । मन्त्रिनाथ के अनुसार
यहाँ गम्या उत्प्रेक्षा है, विद्याधर ने समानोक्ति और पर्याय अलंकारों का
निर्देश किया है ॥ २३ ॥

सज्ञाप्य न स्वध्वजभूयवर्गान् दैत्यारिरत्यङ्गनलान्चतुर्षु ।

तत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीताढ्यानुविलज्ज रमने रमायाम् ॥ २४ ॥

जीवानु—सज्ञाप्येति । दैत्यारि विष्णु स्वध्वजस्य गह्वस्य पतिराजस्य
भूयवर्गानोऽस्मान् अतिक्रान्तमन्वरेनापनेनादरे निलीयते अन्तर्बन्ते,
द्वितीयमेति समास । तस्य नलास्यस्य तुर्षु स्तोत्राय, 'स्त्व स्तोत्र स्तुतिर्नु-
तिरि'त्यमर । सज्ञाप्य तत्सङ्कुचता तथा भुया निमीलितानाभिसरोजैः पीता-

त्तिरोहिताद्वातुर्ग्रहणो विलज्ज यथा तथा रमाया रमते । अत्र विष्णोरुक्त-
व्यापारासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति ॥ ३४ ॥

अन्वय—दैत्यारि स्वध्वजभृत्यवर्गान् नः अत्यञ्जनलास्यनुत्यै सजाप्य घातु
सत्सङ्कुचन्नाभिसरोजपीतात् रमाया विलज्ज रमते ।

हिन्दी—दैत्यारिपु (विष्णु) अपने ध्वज (गरुड) के सेवकगण हम
(हंसों) को कमल को अतिक्रांत करने वाले (जयी) नल-मुख की स्तुति
के निमित्त आशा देकर विधाता के (लज्जा से) मुद गये—उस नाभि कमल में
छिप जाने के कारण लक्ष्मी के साथ लज्जा छोड़कर रमण करते हैं ।

टिप्पणी—बूढ़े ब्रह्मा लज्जा से मुँदे विष्णु के कमल में छिप गये, एकांत
हो गया, परिणामतः विष्णु की लज्जा का कारण न रहा । आशय यह कि
विष्णु नाभि, सरोज से भी नल मुख अधिक शोभाशाली है । मल्लिनाथ के
अनुसार असबध में सबध कथन के कारण अतिशयोक्ति, विधाघर के अनुसार
प्रतीप अलकार ॥ ३४ ॥

रेखाभिरास्ये गणनादिवाम्य द्वात्रिंशता दन्तमयीभिरन्त ।

चतुर्दशाष्टादश चात्र विद्या द्वेषाऽपि सन्तीति शशस वेधा ॥ ३५ ॥

जीवातु—रेखाभिरिति । अस्य नलस्य आस्ये दन्तमयीभिर्दन्तरूपाभिर्द्वा-
त्रिंशतारेखाभिर्गणनात्सख्या । चतुर्दश चाष्टादश च विद्या द्वेषा अपि अत्र आस्ये
सन्ति सम्भवन्व्यायेनेति वेधा शशसेवेत्युत्प्रेक्षा । 'जङ्गानि वेदाश्चत्वारो
भीमाना न्यायविस्तर । पुराण धर्मशास्त्रश्च विद्या ह्येताश्चतुर्दश ॥ आयु-
र्वेदो घनुर्वेदो गाधर्वश्चेत्यनुक्रमत् । अर्थशास्त्र पर तस्माद्विद्या दृष्ट्यादश
स्मृता ॥' इति ॥ ३५ ॥

अन्वय—वेधा अस्य आस्ये द्वात्रिंशता दन्तमयीभि रेखाभि गणनात्
चतुर्दश अष्टादश च विद्या द्वेषा अपि अत्र सन्ति—इति शशस इव ।

हिन्दी—विधाता ने इस (नल) के मुख में बत्तीस दाँतों की रेखाओं में
गणना करके चौदह और अठारह विद्याएँ दोनों ही प्रकार से यहाँ हैं—
मानो यह कृत्वा ।

टिप्पणी—प्रथम सर्ग में नल को सर्वविद्याओं का ज्ञाता बताया गया है (दशमीय १।४-५), यहाँ अन्य ऋषिमा से उज्ज्वल का पुत्र प्रतिपादन मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार साङ्ख्योपदेशा ॥ ३१ ॥

श्रियो नरेन्द्रस्य निरीक्ष्य तस्य स्मरामरेन्द्रादपि न स्मराम ।

वासेन सम्यक् क्षमयोश्च तस्मिन् बुद्धौ न दध्मः खलु शेषबुद्धौ ॥ ३६ ॥

जीवातु—श्रियादिति । तस्य नरेन्द्रस्य श्रियो सौन्दर्यमम्भतो निरीक्ष्य, 'शोभामम्भतिपद्मानु लक्ष्मी श्रीरिति शास्त्रत । स्मरानरेन्द्रादपि न स्मरामः किं च तस्मिन् नरेन्द्रे क्षमयो क्षितिज्ञान्त्यो 'क्षितिज्ञान्त्यो क्षमे'त्यमर । सम्यग्वासेन निर्वाणस्वित्वा शेषबुद्धौ फणिरतिबुद्धदेवो चित्ते न दध्मः न धारयान खलु । अत्र द्वयोरपि श्रियो द्वयोरपि क्षमयो प्रकृतत्वाद् केवलप्रकृत-श्लेष । एतेन सौन्दर्यादिगुणं स्मरादिभ्योऽप्यपि इति व्यतिरेको व्यज्यते । श्लेषव्यासख्यो सङ्कुर ॥ ३६ ॥

अन्वय—तस्य नरेन्द्रस्य श्रियो निरीक्ष्य स्मरामरेन्द्रो अत्र न स्मराम-तस्मिन् क्षमयो च सम्यक् वासेन बुद्धो शेषबुद्धौ न दध्मः खलु ।

हिन्दी—उस राजा (नल) की दोनों शोभाओं (देह-सौन्दर्य और धनसम्पत्ति) को देखकर हम कामदेव और देवराज का भी स्मरण नहीं करते और उसमें दोनों क्षमाओं (बुद्धों तथा क्षान्ति) की भलीभाँति स्थिति देखकर बुद्धि में शेषनाग और सदागत बुद्ध को भी नहीं धरते ।

टिप्पणी—पाठ्य यह है कि राजा नल काम में भी अधिक सुन्दर, देवराज इन्द्र से भी अधिक समृद्ध, शेषनाग से भी अधिक क्षमता से धरा का धारण करने वाले और सदागत गौतम बुद्ध से भी अधिक क्षमाशील हैं । विद्याधर ने यहाँ व्यासख्य का निर्देश किया है, मल्लिनाथ व्यतिरेक का व्यञ्जित होना और श्लेष-व्यासख्य का सकर मावते हैं ॥ ३६ ॥

विना पतत्र विनतातनूजैस्समीरणैरोक्षगल्शपीये ।

मनोभिरासोदनगुप्रमाणेन निर्जिता दिङ्मन्मा तदश्वैः ॥ ३७ ॥

जीवातु—विनेति । पतत्र विना स्थितैरिति शेष । विनतातनूजैर्दैन-तेर्यै, अपश्रुताश्वैरित्यर्थः । ईशगल्शपीये समीरणैश्चाश्रुतवानुनि अत्रगु-

प्रमाणं 'अणुपरिमाण मन' इति तार्किका, तद्विपरीतमहापरिमाणमनोभिर्वे-
नतेयादिसमानवेगैरित्यर्थं । एवविधै तदस्वै वतमा दिक् न लङ्घिताऽऽभीत् ?
सर्वापि लङ्घितवासीदित्यर्थं । अशाश्वाना विशिष्टवेनतेयादित्वेन निरूपणा-
द्रूपकालङ्कार ॥ ३७ ॥

अन्वयः—पक्ष विना विनतातनूजं ईक्षणलक्षणीयं समीरणं अनणुप्रमाणं
मनोभि तदस्वै कतमा दिक् न लङ्घिता आसीत् ?

टिप्पणी—पक्षरहित गड्डो, आँखो मे देखे जानेवाले पवन और अनणु-
प्रमाण (विद्याल) मन वे सदृश उसके छोडो ने कौन सी दिशा को नहीं लाँघ
हाला ? सभी को लाँघ डाला ।

टिप्पणी—राजा नल के अश्व वैनठेय गड्ड, वायु और मन के समान
वेगशाली हैं, इस प्रकार वे बिना पक्ष के गड्ड, लोषनगोचर पवन और
अनणुपरिमाण मन-जैसे हैं । स्पष्ट ही है कि गड्ड पक्षवाला, गमोरण जटगोचर
मन जणुपरिमाण माना जाता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपक और
विद्याधर के अनुसार विभावना है ॥ ३७ ॥

सग्रामभूमिषु मन्व्यरोणामस्रं नदीमातृकता गतासु ।

तद्वाणधारापवनाशनाना राजब्रजीयैरसुभिस्तुभिक्षम् ॥ ३८ ॥

जीवात्—सग्रामेति । अरीणामस्रंरसुग्मिनेद्येव माता याता तास्तासा
भावस्तत्ता नदीमातृकता नद्यम्बुसम्पन्नशस्याढ्यता, 'द्वेसा नद्यम्बुवृष्टधम्बु-
सम्पन्नभीहिपालित । स्यान्नदीमातृको देवमातृकश्च यथाक्रममित्यमर ।
'नद्यतश्चे'ति मप्, 'स्वतलोणु'णवचनस्ये'ति पु वद्भाव । ता गतासु सग्रामभूमिषु
तस्य नद्यस्य वाणधारा वाणपरम्परास्ता एव पवनाशनानास्तेषां राजब्रजीयै
राजसधमम्बुधिभि, 'वृद्धाच्छ' । अमुभि प्राणवायुभि सुभिक्षम् । भिक्षानां
समृद्धिर्भवति समृद्धावव्ययीभावा । नदीमातृकदेशेषु सुभिक्ष भवतीति भाव ।
रूपकालङ्कार ॥ ३८ ॥

अन्वयः—अरीणाम् अस्त्रं नदीमातृकता गतासु सग्रामभूमिषु राज-
ब्रजीयै अमुभि तद्वाणधारापवनाशनानां सुभिक्ष भवति ।

हिन्दां—शत्रुओं के श्पिर से 'नदीमातृक' (नहरों, नदियों आदि से परि-
पिक्त) बनी रणभूमियों में राज-समूह के प्राणों से उस (नल) की बाण-
घारा रूप वायुमयी सर्पों के लिए सुमिश्र बन जाता है ।

टिप्पणी—जिस प्रकार नदी-नहर आदि से सींची गयी भूमि में प्रचुर
अन्न उत्पन्न होता है और वन 'नदीमातृक' भूमि के बाणियों के लिए वहाँ
सुकाल हो जाता है, ऐसे ही प्रभूत शत्रु नरेशों के हृद होने से बड़े श्पिर से
रणभूमियाँ सिंच जाती हैं और राजा-नल के शत्रु-प्राणहर बाणरूप सर्पों के
लिए शत्रुओं के निर्गत प्राणवायु रूप खाद्य की प्रचुरता से उपज हो जाती है ।
भाव यह है कि नल सग्राम क्षेत्र में सभी शत्रुओं को मारकर भूमि को श्पिर
से परिप्लावित कर देते हैं । रूपक अलंकार ॥ ३८ ॥

यदा यदस्याजनि सयुगेषु कण्डूलभाव भजता भुजेन ।

हेनोर्गुणादेव दिगापगालीकूलकपत्व व्यसन तदीयम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—यदा रति । सयुगेषु समरेषु कण्डूलभाव कण्डूलत्व, 'सिध्मा-
दिभ्यस्त्वे'ति मत्वर्थो लच् । भजता अस्य भुजेन यदाश अजनि जनित,
जनेर्ष्यंतान्वर्भणि लुङ् । तदीय तस्य यदा सम्बन्धि दिसा एव आपगा नच-
तानाम् लि राजि तस्या कूलकूपतीति कूलकूप, शिवभागवतवत्समाश
'सर्वकू' त्यादिना सचि मुमागम । तस्य भावस्तत्त्व तत्र व्यसनमासक्ति हेतो
कारणस्य मुजस्य गुणादेव कण्डूलवादागतमिति शेष । यद्यसो दिक्कू-कपणा-
नृमिताया कण्डूलताया तत्कारणकण्डूलभुजगुणपूर्वत्वमुत्प्रेक्षयते ॥ ३९ ॥

अन्वय —कण्डूलभावं भजता अन्य भुजेन सयुगेषु यत् यदा अजनि तदीय
दिगापगालीकूलकपत्व व्यसन हेतो गुणात् एव ।

हिन्दं—सुजली मिटाते इन (नल) के बाहू ने मरामों में जो यदा अजित
किया, उस यदा में दिशाहय नदियों की पवित्रियों के किनारों को रणढकर
सोड डालना हय व्यसन कारण के गुण से ही आया है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल की भुजाएँ समर में शत्रुओं को मारकर
अन्यों सुजली मिटाती रहती हैं, इस प्रकार सुजलाना भुजा का व्यसन बन
गया है । तो इस सुजलाहट के फलस्वरूप शत्रु-विजय कर जिस यदा की उत्पत्ति

होती है, कारण गुण कार्य में भी आते हैं—इस नियम से कार्य स्वरूप उस यश का भी खुजलाना व्यसन बन गया है। भी नल का यश भी दिशा रूप नदियों के किनारे खुजलाहटे मिटाने की रगड़ रगड़ कर तोड़ डालता है। अर्थात् नल का यश विस्तार में असीम है, भूगोल की कोई सीमा उसे बाँध नहीं पाती। सब दिशाओं में व्याप्त है उसका यश। मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा का संकेत दिया है, विद्याधर के अनुसार यही रूपक है ॥ ३९ ॥

यदि त्रिलोको गणनापरा स्यात्तस्यास्समाप्तिर्यदि न्यायुप स्यात् ।

पारेपरार्द्धं गणितं यदि स्याद् गण्यनिश्चोपगुणोऽपि स स्यात् ॥ ४० ॥

जीवातु—यदीति । किं बहुना, त्रयाणां लोकानां समाहारस्त्रिलोकी 'तद्विधायै'त्यादिना समाहारे द्विगु, अकरान्तोत्तरपदो द्विगु स्त्रिया भाष्यते, 'द्विगो'रिति डीप् । गणने परा नलगणसंख्यामतत्परा स्याद्यदि तस्या त्रिलोक्या आयुष समाप्तिर्न स्याद्यदि अमरत्व यदि स्यादित्यर्थं । परार्द्धस्य चरमसख्यायाः पारे पारेपरार्द्धं, 'पारे मध्ये पप्रथा वे'ति अव्ययीभाव 'गणितं स्यात्परार्द्धात्परतोऽपि यदि सख्या स्यादित्यर्थं । तदा स नलोऽपि गण्ये गणितुं शक्या निक्षेपा निखिला गुणा यस्य स स्यात्, गण्ये इति औणादिक एवप्रत्यय । अत्र गुणानां गण्येयत्वासम्बन्धेऽपि सम्बन्धाभिधानादतिशयोक्तिः ॥ ४० ॥

अन्वय — यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात् यदि तस्या आयुष समाप्ति न स्यात् यदि गणित पारेपरार्द्धं स्यात् स अपि गण्यनिश्चोपगुण स्यात् ।

हिन्दी—यदि तीनों लोक गणना में तत्पर हो जायें, और उन (गणना-पर त्रिलोक) की आयुष की समाप्ति न हो, और यदि गणित विज्ञान चरम सख्या को पार कर ले, तब भी उस (नल) के समग्र गुणों की गणना संभव नहीं है ।

टिप्पणी—आज यह है कि तीनों लोकों के प्राणी सदा जीवित रहकर भी नल के गुणों की गिनती करने बैठें और गणना करने के लिए जो गणित विज्ञान में चरम सख्या निर्धारित की गयी है, वह भी पार कर ली जाय, तब भी नल के गुण नहीं गिन जा सकते । अगणनीय हैं सर्वथा वे । मल्लि-

नाम के अनुसार सम्बन्ध में भी असम्बन्धपूर्ण के कारण प्रतिशयोक्ति है। चन्द्राद्योक्कार जयदेव द्वारा निरिद्ध समानता बलकार की भी यहाँ समानता है ॥ ४० ॥

अवारितद्वारतया तिरस्चान्तःपुरे तस्य निविश्य राज्ञः ।

गतेषु रम्येष्वविक विज्ञेयमध्यापयामः परमाणुमध्याः ॥ ४१ ॥

जीवानु—एव नञुनामनुवच्यं गूढानिउन्दिनाऽऽनन्तदन्तःपुरेण परिषद दशंपति—अवारितेनादि । तिरस्चा पक्षिणामवारितद्वारतया अप्र-
तिभिद्धप्रवेशतयेत्यर्थः । तस्य राज्ञो नलस्यान्तःपुरे निविश्य अवस्थाय परमाणु-
मध्यास्तदङ्गना । रम्येषु गतेषु अविक्रमपूर्वं विशेष भेदमध्यापयामः अन्यासयामः ।
बुद्धादित्वाद् द्विकर्मत्वम् ॥ ४१ ॥

अन्वय—तिरस्चाम् अवारितद्वारतया तस्य राज्ञो अन्तःपुरे निविश्य पर-
माणुमध्या रम्येषु गतेषु अविक्रमपूर्वं अध्यापयामः ।

हिन्दी—पक्षियों के निमित्त द्वार बन्द न होने से उस राजा के अन्तःपुर में प्रविष्ट हो हम परमाणु के समान कृश कटिवाली लडनाओं की रमणीय गतियों के विषय में और भी लोकोत्तर विशेषता लाने का पाठ पढ़ाया करते हैं ।

टिप्पणी—नाम यह कि राजा नल के रनिवास में अत्यन्त कृश कटिवाली और रमणीय ति वाली लडनाएँ हैं । विद्याधर के अनुसार सुप्तोपमा बलकार ॥ ४१ ॥

पीयूषधारानधरामिरन्तस्तासा रसोदन्वति मञ्जयामः ।

रम्भादितीनाम्यरहःक्यामिः काव्येन काव्य सृजताऽऽवृत्तानि ॥ ४२ ॥

जीवानु—पीयूषेति । किं च पीयूषधारान्म अनधरानिरपुनानिरपुत्र-
समानानि काव्य सृजता स्वयं प्रबन्धकर्त्रा, कत्रेपरस्य पुनान् काव्यस्तेन, 'शुक्रो
दंत्युह काव्य' इत्यमरः । 'कृषादिन्योन्य' इति व्यप्रत्ययः । आद्यानिरम्यानि
वित्तपकारीनिरित्यर्थः । रम्भादीना दिव्यस्त्रीणा मौनान्य पतिवान्म्य
तन्प्रपुत्रतामि र्हक्यामी रहस्पदुत्तान्दवंगानिस्तासा गेलातपुरस्त्रीणा-
मनरन्तःपुरे रसोदन्वति मृङ्गाररसमारो मञ्जयामः अवेदाहयामः ॥ ४२ ॥

अन्वय—पीयूषधारानधरामि काव्य सृजता काव्येन अह्वयानिः
रम्भादितीनाम्यरहःक्यामिः तासाम् अन्तः रसोदन्वति मञ्जयामः ।

हिन्दी—अमृतधाराओ से अन्वून काव्य के कर्ता काव्य (सुक्राचार्य) से आहत (सुक्राचार्य के काव्य मे वजित) रभादि अप्सराओ के सौभाग्य की रहस्यमयी कथाओं के द्वारा हम उन (लज्जाओ) के अन्त करण को इस-सागर मे मड्डित कराते रहते है ।

टिप्पणी—नलातपुर-लज्जाएँ न केवल सुदेहा और हसगामिनी है, प्रत्युत हम से अप्सरियो की रहस्यकथाएँ सुन-सुन अप्सराओ के समान मोहक और पुरुषवशीकरण मे समर्थ तथा रसमयी हो गयी हैं । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमा अलंकार ॥ ४२ ॥

काभिर्न तत्राभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् क्रियेऽहम् ? ।

जिह्नेति यन्नेव कुतोऽपि तिर्यक्क्षित्तिरश्चन्नपते न तेन ॥ ४३ ॥

जीवानु—काभिरिति । किञ्च यद्यस्मात् तिर्यक् पक्षी कुतोऽपि जनान् जिह्नेति न लज्जत एव ही-लज्जायामिति घातोलंट्, 'श्लावि'ति द्विर्भाव । तिरश्चोऽपि कश्चिज्जनो न प्रपते न लज्जते, तेन कारणेन तत्रान्तपुरे काभिस्त्रीभिरहमभिनवा अपूर्वा स्मराज्ञा रतिरहस्यवृत्तान्तः सैव विश्वास-निक्षेपो विश्वासेन गोप्यार्थं । तस्य वणिक् गोप्ता न क्रिये न कुतोऽस्मि ? । सर्वासामप्यहमेव विश्रम्भकथापात्रमस्मीत्यर्थं ॥ ४३ ॥

अन्वय—यत् तिर्यक् कृत अपि नैव जिह्नेति, तिरश्चः कश्चित् अपि न प्रपते तेन तत्र काभि अहम् अभिनवस्मराज्ञाविश्वासनिक्षेपवणिक् न क्रिये ?

हिन्दी—क्योकि पक्षी वही भी लज्जा नहीं करता और पक्षियो से कोई भी लज्जा नहीं करता इससे वहाँ किन लज्जाओ ने मुझे अतिनयीन (गोपनीय) कामाज्ञा को रखलेने का विश्वासी व्यापारी नहीं बनाया ? सभी ने बनाया ।

टिप्पणी—पक्षी लज्जा के कारण नहीं होते, अत नलातपुरकी लज्जाओ के नितनूतन गोपनीय कामव्यापार हस के समुल्लसलते रहते हैं । भाव यह कि हस नल-राज्य विषयक निगूढ व्यापारो का भी वेत्ता है, इससे साथ ही विश्वासनीय भी है अर्थात् दमपत्नी भी उस पर विश्वास करके अपने गूढ व्यापार उसे बता सकती है, यह प्रकट न होगा । विद्याधर के अनुभार रूपक और काव्यालय अलंकार ॥ ४३ ॥

वार्ता च साऽनल्पपि नान्यथेति योगादरन्ध्रे हृदि ता निरुन्धे ।

विरञ्चिनाताननवाद्यौतसमाधिशास्त्रश्रुतिपूर्णकर्णं ॥ ४४ ॥

जीवात्—अथ स्वस्य एवविषयविश्वासहेतुत्वमाह—वार्तेति । विरञ्चे-
ब्रह्मणो नानाननैर्दंष्ट्रमुखैर्बदिन व्याख्यानेन घौतस्य शोधितस्य समाधिशास्त्रस्य
सयमविद्याया श्रुत्या श्रवणेन पूर्णकर्णं अनुमुखात्म्यस्तवाङ्निगमविषय इत्यर्थः ।
अहमिति शेषः । योगात् अरन्ध्रे निरवकाशे पूर्णे हृदि हृदये या वार्ता निरुन्धे,
सा वार्ता लोकावार्ता किमुतरहस्यवार्तेति भावः । अनल्पपि विनोदार्थं
कथितापि, किमुत सतीति भावः । असत्यपि अन्यपुरुषान्तरं नैति न गच्छति ।
यथा ह्यसती दुश्चरी नीरन्ध्रस्थाने निरुद्धा नाग्यमेति तद्वदिति भावः ।
अतोऽ्मासां विश्वासस्य इति पूर्वोक्तान्वयः । अत्र वार्तानिरोधस्य विरञ्चीत्यादि-
पदार्थहेतुत्वात् कान्त्यलिङ्गभेदः ॥ ४४ ॥

अन्वयः—विरञ्चिनाताननवाद्यौतसमाधिशास्त्रश्रुतिकर्णपूर्णं योगात्
अरन्ध्रे हृदि यां निरुन्धे सा वार्ता असती अपि अन्यं न एति ।

हिन्दो—ब्रह्मा के अनेक (चार) मुखों के कथन द्वारा पवित्र किये गये
योगशास्त्र के श्रवण से जिसके कान पूर्ण हैं, ऐसा मैं प्रयत्नपूर्वक नीरन्ध्र
(अनेक, निर्दोष) हृदय में जिसे छिपा रक्ता है, वह बात झूठी परिहास
कथा होने पर भी अन्य व्यक्ति के पास नहीं जाती ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में संकेतित अपनी विश्वसनीयता को और भी दृढ़
बनाने का प्रयत्न । ब्रह्मा के श्रवण से योगवार्ता का ज्ञानी हंस निर्दोष और
स्ववशील मनु का स्वामी है । उनका हृदय छिद्ररहित है, इस कारण कोई
बात उससे बाहर जा ही नहीं सकती । जिस प्रकार 'असती' अर्थात् झूठी
नारी भी रोक लिये जाने पर बाहर जाकर परपुरुष से नहीं मिल सकती,
उसी प्रकार बात 'असती' अर्थात् असत्य या परिहासपूर्ण होने पर भी हंस के
छिद्ररहित हृदय में निरुद्ध हो किसी अन्य व्यक्ति के कान नहीं पहुँच सकती ।
कान्त्यलिङ्ग अलंकार ॥ ४४ ॥

नलाश्रयेण त्रिदिवाभोगं तवान-वाप्य लघते वतान्या ।

कुमुदनीवेन्दुपरिग्रहेण ज्योत्स्नोत्सव दुर्लभमम्बुजिन्या ॥ ४५ ॥

जीवातु—अथ इलोकद्वयेन अस्या नलानुरागमुद्दीपयति—नलेत्यादि । तवानवाप्यं नलपरिग्रहाभावात्त्वया दुराप, 'वृत्त्याना कर्त्तरि वे'ति षष्ठी तृतीयायै । त्रिदिव स्वर्गं पृषोदरादित्वात् साधु । तस्य उपभोग तादृग् भोगमित्यर्थं । तस्येन्द्रसदृशैश्वर्यत्वादिति भाव । अम्बुजिन्या दुर्लभमिन्दुपरिग्रहाभावात्तया दुराप ज्योत्स्नोत्सव चन्द्रिकाभोगम् इन्दो कर्तुं परिग्रहेण कुमुदायस्या सन्तीति कुमुदिनीव, 'कुमुदनडवेतसेम्यो इमत्तुप्' 'मादुपघायारचे'त्यादिना मकारस्य वकार । नलस्य कर्तुराश्रयेण नलस्वीकरणेन अन्या लभते, वतेति खेदे । ईदृग्योयोपेक्षिणी त्व बुद्धिमाद्यात् न शोचसि इति भावः ॥ ४५ ॥

अन्वय —अम्बुजिन्या दुर्लभ ज्योत्स्नोत्सवम् इन्दुपरिग्रहेण कुमुदती इव तव अनवाप्य त्रिदिवोपभोग नलाश्रयेण अया लभते वत ।

हिन्दी—जैसे कमलिनी को दुर्लभ चाँदनी का भोग चन्द्र के अगीकरण से कुमुदिनी प्राप्त कर लेती है, वैसे ही तुझे अप्राप्य स्वर्गोपभोग नल का आश्रय लेकर कोई दूसरी प्राप्त कर रही है, यह खेद की बात है ।

टिप्पणी—नल की प्रशंसा करने के पश्चात् दमयन्ती के मन में उसके प्रति राग उत्पन्न करने की प्रयास । दमयन्ती निश्चयत स्वर्गानन्द के उपभोग योग्य है, पर वह समव नल-परिग्रह से ही है । विद्याधर के अनुसार उपमा अलंकार ॥ ४५ ॥

तत्रैपधानूढतया दुराप शर्मं त्वयाऽस्मत्कृतचाटुजन्म ।

रसालवल्या मधुपानुविद्ध सौभाग्यमप्राप्तवसन्तमेव ॥ ४६ ॥

जीवातु—तदिति । किञ्च तत्प्रसिद्धमस्माभि कृतेभ्य प्रयुक्तेभ्यश्चाटुभ्यः प्रियवाक्येभ्यो जम तस्य तत्तज्जन्यमित्यर्थ । चाटुग्रहण पूर्वोक्तनिजवक्षणीजनाशुपलक्षण, शर्मं सुख त्वया अप्राप्तो वसन्तो यया तया वसन्तानधिष्ठितयेत्यर्थ । रसालवल्या सहवारश्रेण्या मधुपानुविद्ध सौभाग्य रामणीयकमिव नैपथेन नलेन अनुदतया अपरिणीतत्वेन हेतुना दुराप-तस्मात्ते नलपरिग्रहाय वतन काम्यं इति भाव ॥ ४६ ॥

अन्वय —एतु अस्मत्कृतचाटुभ्रम शर्मं त्वया अप्राप्तवसन्तया रसालवल्या मधुपानुविद्ध सौभाग्यम् इव नैपथानूढतया दुरापम् ।

हिन्दी—वह हमारे प्रिय बचनों से जनित आनन्द जैसे वस्तु जिसे प्राप्त नहीं हुआ है, उस आनन्दवन्तरी को अनरुद्ध सौभाग्य (मकरद का आस्वादन, गुबार आदि) नहीं प्राप्त होता है, वैसे ही नियमराज से अविवाहित तुझे दुःखप्राप है ।

टिप्पणी—आत्र जो हंस द्वारा निर्दिष्ट सुख-भोग दमयन्ती को प्राप्त नहीं है, वे नल से विवाह कर लेने पर प्राप्त हो सकेंगे । पूर्वश्लोक में अम्बुजिनी के उपनाम से यही सूचित किया गया था, यहाँ आनन्दवन्ती के उपनाम से सूचित है । उपमा अलंकार ॥ ४६ ॥

तस्यैव वा यास्यसि किं न हस्तदृष्ट विधे केन मन प्रविश्य ? ।

अजातपाणिग्रहाऽसि तावद्रूपस्वरूपानिगयाश्रयश्च ॥ ४७ ॥

जीवानु—अथ पुनरस्या नलप्राप्त्यासा जनयन्नाह तस्येत्यादि । यदा तस्य नलस्यैव हस्त किं यास्यसि ? यास्यस्यैवेत्यर्थः । केन विधेर्भेद एव प्रविश्य दृष्ट, विध्यानुकूल्यमपि सम्भावितमिति भावः । कुतस्तावदद्यापि अजातपाणिग्रहणा अदृष्टविवाहा अनि तवाप्य विवाहविलम्बोऽपि नलपरिग्रहणार्थमेव किं न स्यादिति भावः । रूपसौन्दर्यं स्वरूपस्वभावः शीलमिति यावत् । तयोरेतिशयः प्रवर्षन्तस्याश्रयश्चासि । योऽनुपाश्रयत्वान्च तद्धस्तमेव गमिष्यसीति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वयः—तस्य एव हस्त वा किं न यास्यसि ? विधे. मन केन प्रविश्य दृष्टम् ? अजातपाणिग्रहा रूपस्वरूपानिगयाश्रयश्च तावत् असि ।

हिन्दी—तुम उस (नल) के ही हाथ में क्यों न जाओगी ? विधाता के मन जिसने पुस कर देखा है ? अविवाहिता और रूप (सुन्दरता) तथा स्वरूप (स्वभाव शील) के आश्रय की स्पन्नी हो । अथवा रूप-स्वरूप अर्थात् सहज सौन्दर्य की तुम आश्रय हो ।

टिप्पणी—नल से दमयन्ती का विवाह असम्भावित नहीं है । सम्भव है कदाचित् अदृष्ट विधाता की यही इच्छा हो, कौन जान सकता है ? स्थिति तो अनुकूल ही है । दमयन्ती अविवाहिता है और अदृष्ट सहज सौन्दर्य-शालिनी और शीलगुणवती भी ॥ ४७ ॥

निशाशशाङ्क शिवया गिरीश श्रिया हरि योजयेत प्रतीत ।

विधेरपि स्वारसिक प्रयास परस्पर योग्यसमागमाय ॥ ४८ ॥

जीवातु—सत्य विधिसङ्कल्पस्तु दुर्ज्ञेय इत्यत आह—निर्येति । निशाश-
निशया 'पद्मि'त्यादिना निशादेश । शशाङ्कम्, शिवया गौर्या गिरीश शिव,
श्रिया लक्ष्म्या हरि च योजयती विधे प्रयासो यत्नोऽपि परस्पर योग्यसमागमाय
योग्यसङ्घटनार्थं स्वारसिक स्वरसप्रवृत्त प्रतीत प्रसिद्ध ज्ञातः । निशाश-
शाङ्कादिदृष्टान्ताद्विधिसङ्कल्पोऽपि सुज्ञेय इति भावं ॥ ४८ ॥

अन्वयः—निशाशशाङ्क शिवया गिरीश श्रिया हरि योजयत विधेः
अपि स्वारसिकः प्रयास परस्पर योग्यसमागमाय प्रतीत ।

हिन्दी—रात्रि से चन्द्र को, शिवा (उमा) से कैलासपति शिव को
और लक्ष्मी से विष्णु को सयोग देते विधाता का भी स्वरसमय (परमोपयुक्त)
प्रयत्न परस्पर योग्य-समिलन के लिए ही प्रख्यात हुआ है ।

टिप्पणी—हस यहाँ दो तथ्य प्रकट करना चाहता है—एक तो यह कि
भाग्यविधाता ब्रह्मा सदा समान रूप गुण-शील वालों का सयोग कराने के
लिए विख्यात है, स्वेच्छाचारी होने पर भी अरसिक नहीं है, इसके प्रमाण हैं
तीन युगल—निशाशशाक शिवा गिरीश और श्री हरि । दमयन्ती नल का
जोड़ा भी ऐसा ही रहेगा । दूसरा तथ्य यह है कि दमयन्ती भी नल के योग्य
ही है, सो योग्य से योग्य सयोग होगा । विधाता ऐसा ही करता आया है ।
सम अलकार—'सम स्यादानुरूप्येण श्लाघा या योग्यवस्तुनो'—साहित्य-
दर्पण ॥ ४८ ॥

वेलातिगर्खेणगुणाद्विधवणी न योगयोग्याऽसि नलेतरेण ।

सन्दर्भ्यते दर्भगुणेन मन्त्रीमाला न मृदो भूराक्कंशेन ॥ ४९ ॥

जीवातु—नलान्यसम्बन्धस्वरयोग्य इत्याह—वेलातिनेति । वेलामति-
गच्छतीति वेलातिगा नि सीमा स्त्रीणामिमे स्त्रीणा गुणा 'स्त्रीषु साम्या
नक्ष्त्रजावि'ति वचनात् नञ्प्रत्यय । त एवाग्न्यस्तस्य वेणी प्रवाहभूत,
त्वमिति शेष । वेलाऽद्विजलवर्धने । 'काले सीम्नि च वेणी तु बेशवधे
जलभूतो' इति वैजयन्ती । नलादितरेण योग्याया योगार्हा नामि । तथाहि

मृद्धी मल्लीमाला मृद्यकङ्गेन दम्भुणेन न सदम्भ्यते न सगुम्भ्यते । दून-ग्रन्थ इति धातो कमणि लट् । व्यतिरेकेण दृष्टान्तालङ्कार ॥ ४९ ॥

अन्वयः—बेलातिगम्भ्रीगुणाद्विप्रवेगी नल्लतरेण योगयोग्या न अस्मि, मृद्धी मल्लीमाला मृद्यकङ्गेन दम्भुणेन न सदम्भ्यते ।

हिन्दी—नीर का अतिदमन कर जाने वाले स्त्रीगुण-सागर की प्रवाह रूपा (निःसीम नारीगुणों से सम्पन्न) तुम नलातिरिक्त पुष्ट से मयुक्त करने योग्य नहीं हो, कोमल मल्लिजानुष्पमाला का दमन अत्यन्त कर्कश कुश-तन्तु से नहीं होता ।

टिप्पणी—नाव यह कि समस्त नारी जनोचित गुण दमयती में हैं, उसका योग सर्वपुरुषगुणसम्पन्न नल से ही होगा, क्योंकि 'योग्य योग्येन योग्येन' । मल्लिका दम्भ की कठोर डोरी से नहीं गुँथी जाती । मल्लिनाथ के अनुनार व्यतिरेक द्वारा दृष्टात जलकार, विद्याधर ने रूपक-सम-दृष्टात का निर्देश किया है ॥ ४९ ॥

विधि वधूनृष्टिमपृच्छमेन तद्यानयुग्यो नल्लकेलियोग्याम् ।

त्वग्रामवर्गा इव कर्पापीता मयाऽप्य मञ्जीडति चक्रचक्रे ॥ ५० ॥

जीवानु-विधिनिति । किं च, विधि ब्रह्माण नल्लम्ब केले श्रीढाया योग्यामहती वधूनृष्टि स्त्रीनिर्म्माण तस्य विधेर्दानस्य रयस्य युग्यो रयवोटा तत्र परिचित इत्यर्थ । 'तद्वहति रययुगप्रासङ्गमि'ति यत्रत्यम् । अहमपृच्छमेव दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम् । मया अस्य तद्यानस्य चक्रचक्रे रथाङ्गवजे सक्रीडति कूडति सति 'समोङ्कजन' इति धक्तव्येऽपि कूजनेनात्मनेपदम्, त्वग्रामवर्गा मया कर्णेन पीताः गृहीता । न केवल लिङ्गात् किन्त्वागनादपि ज्ञातोऽप्यमर्थ इत्यर्थ ॥ ५० ॥

अन्वय—तद्यानयुग्यं नल्लकेलियोग्या वधूनृष्टि विधिम् अपृच्छम् अस्य चक्रचक्रे सक्रीडति मया त्वग्रामवर्गा इव कर्पापीता ।

हिन्दी—उम (ब्रह्मा) के मान को टोते समय नल की श्रीढायोग्य वधु की सर्भना के विषय में विद्यादा ने मीने पूछा था, उसके मान के पहियों की ध्वनि में मीने तरे नाम के अक्षर जैसे सुने थे ।

टिप्पणी—हनु एक द्विविधा-सी रखना चाहता है, इसीसे उसने कहा कि

कानो मे 'दमयन्ती'—जैसे कुछ वर्ण पड़े, अर्थात् पहियों की लड लड में भलीभाँति तो नहीं सुना जा सकता, पर लगा ऐसा ही कि जैसे 'दमयन्ती' कहा गया। विद्याधर ने यहीं छेकानुप्रास और उपमा का निर्देश किया है। ५०।

अन्येन परया त्वयि योजिताया विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मनो वा ।

जनापवादाणं वमुत्तरीतु विधा विधात कतमा तरी स्यात् ? ॥ ५१ ॥

जीवातु—अन्येनेति । किं च, अन्येन नलेतरेण परया त्वयि योजितायां घटिताया सत्या विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मन अभिज्ञत्वख्यात्सैव नीतायुषो विधा तुर्वा जनापवादाणं वमुत्तरीतु निस्तरीतु 'वृतो वे'ति दीर्घ । कतमा विधा क प्रकार तरी तरणि स्यात् ? न काष्पीत्यर्थ । 'स्त्रिया नोस्तरणित्तरि' इत्यमर । अतो दैवगत्याऽपि स एव ते भर्तेति भाव ॥ ५१ ॥

अन्वय—वा त्वयि अन्येन परया योजिताया विज्ञत्वकीर्त्या गतजन्मन विधातु जनापवादाणं वमुत्तरीतु, कतमा विधा तरी स्यात् ?

हिन्दी—अथवा तुझे नलातिरिक्त पति से सत्क करके, विज्ञ होने के यत्न में जिसका जन्म बीता है, उस विधाता को लोकनिन्दा के समुद्र से निस्तार पाने से कौन सी नौका मिलेगी ? ।

टिप्पणी—विधाता सदा से सर्वज्ञ कहा जाता है। वह यदि नल से भिन्न किसी पुरुष से तेरा विवाह करा देगा, तो उसकी ऐसी लोकनिन्दा होगी कि निस्तार न हो सकेगा। अतः नल-दमयन्ती सयोग ही विधि विधान है। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास रूपक ॥ ५१ ॥

आस्ता तदप्रस्तुतचिन्तयाऽलं मयाऽसि तन्वि । श्रमिताऽतिवेलम् ।

मोऽह तदाग परिमाप्टुं कामस्तवेप्सित किं विदधेऽभिधेहि ॥ ५२ ॥

जीवातु—इत्यमाशामुत्पाद्य अस्याश्चित्तवृत्तिपरिज्ञानाय प्रसङ्गात्तरेण निगमपति—आस्तामिति । तत्पूर्वोक्तमास्ता तिष्ठतु, अप्रस्तुतचिन्तया अल, तथा साध्य नास्तीत्यर्थ । गम्यमानसाधनत्रियापेक्षया करणत्वात्तृतीया, अत एवाह 'न केवल श्रूयमाणत्रियापेक्षया कारकोत्पत्ति, किन्तु गम्यमानत्रियापेक्षयाऽपि' इति न्यासकार । किन्तु हे तन्वि, वृणाङ्गि ! मया अतिवेलम् अरदर्थ श्रमिता सेविताऽसि, श्रमेर्ष्यन्तात् कर्मणि क्त । तत् घमणरूपमागोऽनराध

परिभाष्युं कामं परिहृतुं कामं । 'तु काममनसोरपी' निमकारलोप । सोऽहं किं त्वदीप्तिन तव मनोरय विदधे कुर्वे, अनिघेहि ब्रूहि ॥ ५२ ॥

अन्वय—उत् जाम्नाम्, अस्तु तच्चिन्तया क्षल्म्, तन्वि मया अत्रिवेल श्रमिता अवि, तद् आः परिभाष्युं कामं स ऋम् अनिघेहि किं तव ईप्सित विदधे ?

हिन्दी—(अर्थ) अब यह सब (कनक-वर्णन) रहे, जो विषय प्रस्तुत नहीं है, उसको चिन्ता व्यर्थ है । हे कोमलापी, तुम्हें बहुत समय तक श्राव किया, उस अपराध का परिभाषण करने का इच्छुक मैं बहो, क्या तुम्हारा अनिश्चित कर्म ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अठकार अनुप्रास ॥ ५२ ॥

इतीरयित्वा विरराम पत्नी स राजपुत्रीहृदयं बुभुक्षुः ।

हृदे गभीरे हृदि चावगाडे शसन्ति कार्यावतर हि सन्त ॥ ५३ ॥

जोवातु—इतीति । स पत्नी हन इति ईरयित्वा राजपुत्र्या भंग्या हृदयं बुभुक्षुः विज्ञानमुद्विरराम सृष्टीं बभूव, 'व्याङ्परिभ्यो रम्' इति परस्मैरदम् । तथाहि—सन्त कार्यांशः । गभीरे अगार्धे हृदि हृदे च अवगाडे प्रविश्य द्ये सति कार्यांस्त्य स्नानादे रहस्योक्तेरिव अवतर तीर्थं प्रस्ताव च शसन्ति वक्षयन्ति, अन्यथा जनयं स्यादिति भावः । अवतरो व्याख्यातः । अर्थांतरण्या-सोऽहंकार ॥ ५३ ॥

अन्वयः—इति ईरयित्वा राजपुत्रीहृदयं बुभुक्षु स पत्नी विरराम, हि सन्त गभीरे हृदे हृदि च अवगाडे कार्यावतर शसन्ति ।

हिन्दी—ऐसा कह कर राजकुमारी दमयन्ती के हृदय का जिज्ञानु वह पत्नी चुन हो गया, क्योंकि सज्जन गहरे सरोवर के आलोडित होने और गूड हृदय का ज्ञान होने पर 'कार्यावतर' (पार जाने का मार्ग और कार्य के निमित्त प्रस्ताव) करते हैं ।

टिप्पणी—इतना विवरण देकर इस इस कारण धुप हो गया कि अब कुछ स्पष्ट बात कहे, अब दमयन्ती के मन का भाव ज्ञात हो जाय । समझदार व्यक्ति तनी कोई निश्चित प्रस्ताव करते हैं, जब सबद शक्ति का मनोभाव प्रकट हो जाय, जैसे कि गहरे जलाशय की बाह पता चलने पर ही निश्चय

किया जाना है कि मार किस मार्ग से जाया जायेगा। अर्थात्तरन्दास
श्लकार ॥ ५३ ॥

किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलिर्विचिन्त्यवाच मनमा मूर्हतंम् ।

पतत्रिण सा पृथिवीन्द्रपुत्री जगाद वक्त्रेण तृणीकृतेन्दु ॥ ५४ ॥

जीवातु—किञ्चिदिति । किञ्चित्तिरश्चीना स्वभावादीपत्साचीभूता
विलोला आयासाद्विलुलिता मौलि केशबन्धो यस्या सा । 'मौलय सयता
कचा' इत्यमर । वक्त्रेण तृणीकृतेन्दुरथ कृतचन्द्रा सा पृथिवीन्द्रपुत्री भैमी मूर्ह-
तंमल्पकाल मनसा वाच्य वचनीय विचिन्त्य पर्यालोच्य पतत्रिण जगाद । ५४।

अन्वय—किञ्चित्तिरश्चीनविलोलमौलि वक्त्रेण तृणीकृतेन्दु सा पृथिवीन्द्र-
पुत्री मुहूर्तं मनसा वाच विचिन्त्य पतत्रिणं जगाद ।

हिन्दी—कुछ तिरछा चचल मस्तक किये, मुख के संमुख चन्द्र को
तृणसमान करती वह पृथिवीपति की पुत्री क्षणभर मन में कथनीय को विचार
कर पत्नी से बोली ।

टिप्पणी—सहजसौन्दर्य, नारी के स्वाभाविक देह अलंकार और लावण्य-
मगिमा की चित्रमयी प्रस्तुति । साहित्यविद्याधरी के अनुसार उल्लेख्य
श्लकार उपमा ॥ ५४ ॥

धिवचापले वत्सिमवत्सलत्व यत्प्रेरणादुत्तरलीभवन्त्या ।

समीरसङ्गादिव नीरभङ्गपा मया तटस्थस्त्वमुपद्रुतोऽसि ॥ ५५ ॥

जीवातु—धिविति । चापले चपलकमणि, घुवादित्वादर्ण, 'वत्सस्य भाव'
वत्सिमा सिद्युत्वम् पृष्वादित्वादिमनिच् । तेन निमित्तंन वत्सलत्व वात्सल्य
वात्सल्यत्वप्रयुक्तचापलमित्यर्थ । तद्विक् । कुत ? यस्य चापलवात्सल्यस्य
प्रेरणादुत्तरलीभवत्या चपलायमानया समीरसङ्गाद्वाताहतेरुत्तरलीभवन्त्या
नीरभङ्गपा जलबीज्येव तटस्थ उदासीन कूल गतश्च त्वमुपद्रुत पीडितो-
ऽसि । अथमहेतुत्वाद् बालचापल सोढव्यमिति भाव ॥ ५५ ॥

अन्वय—चापले वत्सिमवत्सलत्व धिक् यत्प्रेरणात् समीरसङ्गात् नीर-
भङ्गपा इव उत्तरलीभवन्त्या मया तटस्थ त्वम् उपद्रुत असि ।

हिन्दी—चचलता के विषय में बालभाव से जो (मेरा) मोह था,

उसे धिक्कार है, जिसकी प्रेरणा से समीरण के सग से सहरी के समान उत्तरल (अति चंचल) होती मैंने तीर-स्थित व्यक्ति समान घटस्थ (अस्थिर) तुम्हें पीड़ित किया ।

शिष्पणी—पन्द्रहवें श्लोक में हंस ने दमयन्ती के बालभाव पर कटाक्ष किया था—‘अहो शिशुत्व तव खण्डित न’ । दमयन्ती ने अपने हंस के प्रति प्रथम वचन में ही उस बालभाव पर क्षोभ प्रकट किया । कवि की प्रथम-कुशलना का एक श्रेष्ठ उदाहरण । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य उपमालकार ॥

आदर्शना स्वच्छतया प्रयासि सता स तावत्सलु दर्शनीयः ।

आग पुरस्कृवंति सागस मा यन्यात्मनीद प्रतिविम्बित ते ॥ ५६ ॥

जीवात्—आदर्शतामिति । स्वच्छतया नैर्मल्यगुणेन आदृश्यते पुरोगत-वस्तुत्पमस्मिन्निति आदर्शो दर्पणस्तत्ता प्रयासि, कृतं यस्य स्वच्छस्य ते तव सम्बिम्बिति सागस सापरावा मा पुरस्कृवंति पूजयति अप्रे कुर्वाणे च आत्मनि बुद्धौ स्वरूपे च, ‘पुरस्कृत पूजिते स्यादमियुजतेऽप्रत कृते’ । ‘आत्मा यन्नो घृतिर्वृद्धि स्वभावो ब्रह्मदध्मणी’ति चामर । इद मदीयमागोऽपराध प्रति-विम्बित प्रतिफलितम् । पुरोवत्ति घम्नांगामात्मनि मङ्गमणादादर्शोऽमीत्ययं, तत किमत आह—‘न आदर्शं सता साधूना तावत्प्रथम दर्शनीय अथवा पूज्यस्वेति तादृच्छब्दायं छलु ‘रोचन चन्दन हेम मृदङ्ग वपण मणिम् । मुदनि तया नृपं प्रात पश्येत् सदा बुध ॥’ इति शास्त्रादिति भाव ॥ ५६ ॥

अन्वय—स्वच्छतया आदर्शता प्रयासि यस्य ते सागस मा पुरस्कृवति आत्मनि इदम् आग प्रतिविम्बितम्, स सता तावत् दर्शनीय सलु ।

टिप्पणी—निर्मलता के कारण हम आदर्शभाव (दर्पणता) को प्राप्त कर रहे हैं, जिस तुम्हारे मुझ अपराधियों को आदर देने स्वरूप में यही (मेरा तुम्हें कष्ट देने का) अपराध प्रतिविम्बित हो गया है, वह आदर्श सज्जनों को अवलोकनीय है ।

शिष्पणी—जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में सब कुछ प्रतिविम्बित हो दिखने लगता है, उसी प्रकार हंस के स्वभाविक स्नेह-व्यवहार में दमयन्ती को अपनी बान्धवपत्ता के कारण हुए अपराध का स्पष्ट बोध हो गया । हंस के

व्यवहार पर तुष्ट होती दमयती उमे सज्जनो के आदर्श—दृष्टान रूप मे स्वीकारती हुई हस को प्रशंसा करती है कि उसने सापराधा पर भी ऐसी बरसलता का प्रदर्शन किया विद्याधर के अनुसार अर्थात्तर और श्लेष ॥ ५६ ॥

गनायतप्याचरितं कुमार्या भवान्मम क्षाम्यतु सौम्य । तावत् ।

हसोऽपि देवाशतयाऽभिवन्द्य श्रीवत्सलक्ष्मेव हि मत्स्यमूर्ति ॥ ५७ ॥

जीवातु—अनायमिति । हे सौम्य ! भवान् कुमार्या शिशोर्मम सम्बन्धि अनार्यमप्याचरित त्वदुपद्रवरूप दुश्चेष्टिन क्षाम्यतु सहता, हसोऽपि तिर्यंगरी-त्यर्थ । त्वमिति शेष । भवानित्यनुपज्ञे अस्तीति मध्यमपुरुषायोगात् देवाशतया मत्स्यमूर्ति श्रीवत्सलक्ष्मा विष्णुरिव वन्द्योऽसि ॥ ५७ ॥

अन्वय—सौम्य भवान् कुमार्या मम अनार्यम् अपि आचरित तावत् क्षाम्यतु, हस अपि देवाशतया मत्स्यमूर्ति श्रीवत्सलक्ष्मा इव वन्द्य असि ।

हिन्दी—हे सौम्य (तन-मन से सुन्दर), तुम मुझ बालिका द्वारा हुए अनुचित भी आचरण को पहिले क्षमा करो, हस (पक्षी) होते हुए भी जिस प्रकार मत्स्यरूप-धारी, श्रीवत्समणि से अलकृन् (विष्णु) देव का अश होने से मत्स्य भी पूजित है, उसी प्रकार देवाश (ब्रह्मावाहन) होने से तुम भी वन्दनीय हो ।

टिप्पणी—^{५६}सत्सङ्गति कथय कि न करोति पुंसाम्—सो हस देवाश होने से पक्षी होते हुए भी मानवी सुन्दरी द्वारा पूज्य ठहराया गया । उदाहरण स्वरूप मत्स्य को लिया गया, मत्स्यरूप मे विष्णु ने अवतार लिया था । इस अवतार मे वे पृथ्वीरूपिणी नौका के आश्रय होकर समस्त जीवो का आधार बने थे—‘मत्स्यो युगात्समये मनुनोपलब्ध क्षोणीमयो निखिलजीवनिष्कायकेत । विस्रसितानुरुमये सलिले मखात्मा आदाय तत्र विजहार ह वेदमार्गान् ॥ (श्रीमद्भागवत २।७।१२, दर्शनीय मत्स्यपुराण) जैसे मत्स्यमूर्ति भगवान् का अश होने मे जलधर मत्स्य भी वन्दनीय बन गया, ऐसे ही हस (पक्ष) भी ब्रह्मावाहन होने से वर्य हो गया । नारायण ने ‘सौम्य’ की निष्पत्ति पर एक आश्रित उठाया है कि देवताधिकार में सोम से ‘टपण्’ का विधान है, सो ‘सौम्य’ की निष्पत्ति विन्तनीय है । समाधान में उन्होंने बताया है कि इस प्रकार अनुपत्ति होने से प्रयोग उचित हो जायेगा—‘सोमस्य चन्द्रस्येयं

सौमी मुधा तामहृति सौम्यः देवतुल्य ।' दण्डादित्वा से 'य' प्रत्यय होगा और देवतुल्य अर्थ में सौमी + य = सौम्य निष्पन्न हो जाएगा । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग और उपमा श्लकार ॥ ५७ ॥

मत्प्रीतिमाधित्ससि का त्वदीक्षामुद मदक्षणीरूपमाप्रतिशेताम् ।

निजामृतैर्लोचनसेचनान्ना पृथक्किमिन्दुस्सृजति प्रजानाम् ? ॥ ५८ ॥

जीवात्—अथ यदुक्तं त्वमेप्सितं किं विदधे ? अनिघेह्यति, तत्रोत्तर-माह—मत्प्रीतिमिति । का मत्प्रीतिं किंवा मदीप्सितमित्यर्थ । आधित्सति आधात् कर्त्तुमिच्छति ? दधाते सन्नन्ताल्लट् । या प्रीतिर्षदक्षणे त्वदीक्षामुद त्वदीक्षणप्रीतिमतिशेतान्त्वदृष्टानोत्सवादन्त्यत्किं ममेप्सितमित्यर्थ । तथाहि इन्दु प्रजाना जनाना निजामृतैर्लोचनसेचनान् पृथक् अन्यत् 'पृथग्विने'त्यादिना पञ्चमी । किंवा मृजति करोति न किञ्चित् करोतीत्यर्थ । दृष्टान्ताल्लङ्कार ॥ ५८ ॥

— अन्वय — का मदीप्सितम् अधित्ससि, या मदक्षणे त्वदीक्षामुदम् अपि अतिशेताम् ? इन्दु निजामृतं प्रजानां लोचनसेचनान् पृथक् किं वा मृजति ?

हिन्दी—और कौन-सा मेरा प्रिय सपादन करोगे, जो मेरे नेत्रों को तुम्हारे दर्शन से प्राप्त आनन्द को भी अतिक्रान्त कर जाय ? अथवा चन्द्र अपनी अमृत-किरणों में लोक जनो के लोचन परिपिक्त करने के अतिरिक्त और किस कार्य का सपादन करता है ?

टिप्पणी—अनिजात वचनों की पराकांक्षि । आशय यह है कि तुमने दर्शन देकर मुझे अत्यन्त प्रसन्न किया । यह प्रशंसा है । चन्द्र अमृत वर्षा करके लोचनानन्द ही तो दे सकता है ! इस ने वाचनवै श्लोक में कहा था—'तवेप्सितं किं विदधेऽभिदेहि' । सो दमयन्ती उससे उत्तर में संकेत करती है कि यदि अन्य कुछ कर सकते हो तो तुम नल-प्राप्ति के निमित्त यत्न करो । यह सकेत अगले श्लोक में और स्पष्ट है । मुल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त श्लकार, विद्याधर के अनुसार आशेन ॥ ५८ ॥

मनन्तु य नोज्झति जातु यातु मनोरथ कण्ठपर्यं कथ स ।

का नाम बाला द्विजराजपाणिप्रहासिनाप कथयेदभिजा ॥ ५९ ॥

जीवात्—अत्र सर्वथा मनोरथ कथनीय इत्यभिप्रेत्य तन्न कथयमित्याह—

मनस्त्विति । मनो मञ्चित्त कर्तुं य मनोरथ जातु कदापि नोद्भवति न जहाति, स मनोरथ कण्ठपथ वाग्विषयम् उपकण्ठदेश च कथं यातु, सम्भावनाया लोट् । सम्भावनापि नास्तीत्यर्थः । केनापि प्रतिबद्धस्य मनोरथस्य कथमन्तिकेऽपि सञ्चार इति भावः । कुत ? अभिज्ञा विवेकिनी का नाम बाला वा वा स्त्री द्विजराजस्य इन्दो पाणिना, ग्रहे ग्रहणे अभिलाप कथयेत् । तथा द्विज । पक्षिम् । राजपाणिग्रहाभिलाप नलपाणिग्रहभेच्छामिति च शक्यते तथा च दुर्लभजनप्रायं नाला द्विजराजपाणिग्रहणकल्पा परिहासास्वदीभूता कथं लज्जावत्या ववतु शम्पा इत्यर्थः । पूर्व एवालङ्कार ॥ ५९ ॥

अन्वय — म मनोरथ कण्ठपथ यातु, मन य जातु न उद्भवति ? का नाम अभिज्ञा बाला द्विजराजपाणिग्रहाभिलाप (अथवा 'द्विज, राजपाणि-ग्रहाभिलापम्') कथयेत् ?

हिन्दी—यह अभिलाप (भलेच्छा) कठमार्ग से बाहर (वचनगोचर) कैसे हो, मन जिसे कभी त्यागता ही नहीं ? कौन समझदार बाला चन्द्रमा को हाथ में पकड़ने का अभिलाप कह सकती है (जबकि इच्छा कर भी नहीं सकती) अथवा हे द्विज (पक्षी), कौन अभिज्ञा बाला राजा नल से विवाह होने की अभिलापा कह सकती है ? नल तो दुर्लभ है, उसकी इच्छा करना भी 'बालता' है ।

टिप्पणी—दमयन्ती नल की प्राप्ति दुर्लभ अथवा इतनी थसम्भव मानती है कि उसकी इच्छा करना ही मूर्खता है, अभिलाप कथन और भी बड़ी मूर्खता है । नल तो उस चन्द्र के समान है, जिसे हाथों पकड़ा ही नहीं जा सकता । 'अभिज्ञा' का पाठांतर 'अलज्जा' भी है । उस स्थिति में यह अर्थ भी होगा कि पाणिग्रहण के विषय में तो प्रौढा भी नहीं कह सकती, क्योंकि तिलज्जा कौन बनेगी ? 'बाला' तो कभी कह ही नहीं सकती । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टान्त, विद्याधर के अनुसार अनुशास और श्लेष ॥ ५९ ॥

याच तदोया पग्निपीय मृद्धी मृद्धीकया तुल्यरसा स हस ।

तत्याज तोषं परपुष्टुष्टे घृणाञ्च वीणाव्रणिते वितेने ॥ ६० ॥

जीवानु—वाचमिति । स हस मृद्धीक्या दादाया, 'मृद्धीका गोस्तनी

दोक्षे'त्यनर । तुन्दरसा समानस्वादा मधुरार्यामित्यर्थ । मृद्धी मधुराक्षरा
तदीया वाच परिपीय अत्यादरादाकर्ष्यं परपृष्टघुष्टे कोकिलकूजिते तोप प्रीति
तत्याज, वीणावदमिते च घृणा जुगुप्सा 'घृणा जुगुप्साहृपयोरिति विश्व' ।
वितेने ॥ ६० ॥

अन्वय—उ हंस मृद्धीक्या तुन्दरसा तदीया मृद्धी वाच परिपीय परपृष्ट-
घुष्टे तोप तत्याज वीणावदमिते च घृणा वितेने ।

हिन्दी—उस हंस ने द्राक्षा रस के समान मधुररसमयी उत (दमयन्ती)
की कोमल वाणी का परिपान करके (नलीभांति सुनकर) कोकिल कूजन पर
सुधि को त्याग दिया और वीणा के क्षनकार के प्रति घृणा प्रकट की ।

टिप्पणी—आशय यह कि दमयन्ती की वाणी कोकिल-स्वर और वीणा
की सङ्गति के अधिक सरस और कोमल है । अनुप्रास और प्रतीप अलंकार । ६० ।

मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रमुक्त्वा तस्या समाकुञ्चितवाचि हसः ।

तच्छसिते किञ्चन सश्यालुर्गिरा मुखाम्भोजमयं युपोज ॥ ६१ ॥

जीवानु—मन्दाक्षेति । तस्या भैम्या मन्दाक्षेण हिया मन्दा सन्दिग्धार्था
अक्षरमुद्रा 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याक्षरविन्यासो यस्मिन् तत्तयोक्तमुक्त्वा
मनाकुञ्चितवाचि नियमितवचनाया सत्यामय हसस्त्रच्छसिते भैमीभाषिते
किञ्चन किञ्चित्सश्यालु सन्दिहान् सन्, 'सृष्टिहृष्टी'त्यादिना श्यालुश्च
प्रत्यय । मुखाम्भोज गिरा युपोज मुक्तेन गिरमुक्त्वाचेत्यर्थ ॥ ६१ ॥

अन्वय—अयं हंस मन्दाक्षमन्दाक्षरमुद्रम् उक्त्वा तस्या समाकुञ्चितवाचि
तच्छसिते किञ्चन सश्यालु मुखाम्भोज गिरा युपोज ।

हिन्दी—उस हंस ने लज्जा से थोड़े शब्दों में कहकर उस (दमयन्ती) के
चुप हो जाने पर उसके कथन पर कुछ सदेह करते हुए मुखकमल में वाणी की
योजना की (कहने के लिए मुँह ऊपल खोला) ।

टिप्पणी—दमयन्ती के लज्जा के कारण सष्ट न कहने पर हंस को थोडा-
सा सदेह बना रहा । विद्याधर के अनुधार अनुप्रास और समासोपमा
अलंकार ॥ ६१ ॥

करणे वाञ्छेत्र विद्यु विद्यन्तुं यमित्यमात्यादरिणो तमयम् ।

पातु ध्रुविभ्यामपि नाधिकुर्वे वण श्रुतेर्वर्णं इवान्तिमः त्रिम् ॥ ६२ ॥

जीवातु—करणेति । हे भूमि ! करेण विघु चद्र विघर्तुं ग्रहीतु वाञ्छेव
 यमयमित्य 'द्विजराजपाणिग्रहे'त्याद्युक्तप्रकारेण आदरिणी आदरवती सती-
 आत्य ब्रवीपि, 'ब्रुव पञ्चानामिति ध्रुवो रुटि सिपि थलादेश ब्रुवश्चा-
 ह्हादेश.' 'आहस्य' इति हकारस्य थकार । तमयमन्ते भवोऽन्तिमो वणं शूद्र ,
 'अन्ताच्चेति वक्तव्यमिति इमच् । श्रुतेवणं वेदाक्षरमिव श्रुतिभ्या पातु
 श्रोतुमपीत्यर्थं । नाधिकुर्वे नाधिकार्यस्मि किम् ? अस्म्येवेत्यर्थं । अत सोऽर्थो
 वक्तव्य इति तात्पर्यम् ॥ ६२ ॥

अन्वया—करेण विघु विघर्तुं वाञ्छा इव मम् इत्यम् आदरिणी
 आत्य तम् अयम् अन्तिम वण, श्रुते वणम् इव श्रुतिभ्या पातुम् अपि न
 अधिकुर्वे किम् ?

हिन्दी—'हाथ से चद्रमा पकड़ने' की आकाशा के समान जिस (प्रयोजन)
 को तुमने इतने गोपनीय और आदर के साथ कहा, उस अर्थ को—जैसे
 चतुर्वर्णों में अन्तिमवर्ण (शूद्र) वेद के अक्षर को कान में डालने का अधिकारी
 नहीं होता, वैसे ही मैं क्या सुनने का भी अधिकारी नहीं हूँ ?

टिप्पणी—दक्षयती ने कहा था—'का नाम वाला द्विराजपाणिग्रहा-
 मिलाप कथयेत्' । इसमें 'द्विजराज' का अर्थ चद्र है और 'द्विज + राज'—
 इस प्रकार पदच्छेद करके 'राज' (नल) भी हो जाता है । इसी अस्पष्टता
 पर हस का आक्षेप है । यह कहता है कि मैंने रहस्य-गोपन का विश्वास
 दिलाया, नल से सबंध जतलाया, पर फिर भी सलज्जता के नाम पर
 मुझसे दुराव छिपाव ? बाह्य से अर्थ होता है कि हस इस रहस्य का जानने
 का अधिकारी है । यह बताना चाहता है कि वह केवल दशनीय ही नहीं है,
 नल-प्राप्ति में पूज्य सहायक भी है । विद्याधर के अनुसार अनुप्राप्त और
 उपमा ॥ ६२ ॥

अर्थाप्यते वा किमियद्भवत्या चित्तेऽप्यामपि वर्तत यम् ।

यन्नान्यकारं खलु चैतसोऽपि जिहोतरेऽहं तदप्यवाप्यम् ॥ ६३ ॥

जीवातु—ननु तमयमित्य'तदुलभत्वाद्भवन्तु जिहोमीत्याशङ्क्याह—अर्थाप्यते
 इति । हे भूमि ! भवत्या किंवा इमदेतावद्यथा तथा अर्थाप्यते किमयमयमयमयो

द्विवराजस्य प्रहृदयति दुर्लभत्वेनाग्न्यायत इत्ययं । अयंशब्दात्तदाचष्टे इत्ययं
 निच 'अर्थवेदसत्यानामापुग्वकनध्य' इत्यापुगागम । कृतस्तथानाल्हेय इत्यन
 आह-सोऽयं एक पादो दस्यामिहरेकपदी एकपादमन्धारयोग्यमार्ग । 'वर्तन्त्येक-
 पदीति चे'त्यमर । 'कुम्भोनीदीपु चे'ति निपातनात् साधु । चित्तैकपद्या
 मनोनामोनि वत्तंते चतुराद्यविपनत्वेऽपीयमिश्रद्वयं । स कय दुर्लभ इति
 नाव । तथाहि—यत्र यस्मिन् ब्रह्मणि विषये चेतसोऽप्यग्न्यकार प्रतिबन्ध तद्
 ब्रह्म जिहोतरैरकुटिलं कुशलधीनिरिति यावत् । अवाप्य सुप्रापम् अमनोगम्य
 ब्रह्मापि किंचिद् गम्यते, किमुत मनोगतोऽयमयं । अत एवाध्यापित्तिरलङ्कार ।
 'कैमु वेनायान्तरापतनमर्थापत्तिरिति' वचनात् ॥ ६३ ॥

अन्वयः—भवत्या किं वा इयत् अर्थाप्यते स चित्तैकपद्याम् अपि वत्तते ?
 यत्र चेतसः अपि अन्धकार, तद् ब्रह्म अपि जिहोतरं अवाप्य खलु ।

हिन्दी—(उसे) आप इतना दुःप्राप्य क्यों मान रही हैं जो मन की
 पगडढी में विद्यमान है (मन में छिपी जिसकी इच्छा है) ? जिसके विषय में
 चित्त का भी अंधेरा है (मन में स्पष्टता नहीं है), वह ब्रह्म भी अल्प व्यक्तियों
 से निम्न (आल्पहीन) व्यक्ति द्वारा निश्चय पूर्वक प्राप्य है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि आपके मन का भाव न तो पूर्णतः छिपा ही है
 और न नल अप्राप्य ही है और ससार में उद्योगी व्यक्ति तो ब्रह्म को भी पा
 सेंगे है, जो अवाङ्मनोर्गाचर है । अप्राप्य है, अमनोगम्य ब्रह्म भी जब प्राप्त हो
 जाता है, तब नलप्राप्ति तो मनोगत अर्थ है । अतएव मल्लिनाथ के अनुसार
 यही अर्थापत्ति अलङ्कार है, विद्याधर विरोधानास मानते हैं ॥ ६३ ॥

ईशाणिमैश्वर्यं त्रिवर्तमध्ये लोकैरालोकेश्वरलोकमध्ये ।

निर्यञ्चमप्यञ्च मृपानभित्तरसज्ञनोपज्ञसमज्ञमज्ञम् ॥ ६४ ॥

जीवानु—अथ मयि मृपावादित्वाद्यङ्क्या वक्तु सङ्कोचस्तन्व न शङ्कित-
 व्यभिचाह—ईशोत्यादिना वदेम । ईशस्य यदणिमैश्वर्यं तस्य विवर्त्तो रूपातर
 मध्यो मस्या सा तयोक्ता है कृशोदरीत्ययं । लोकैरालोकेश्वर इति लोकै-
 शानोकेशया ब्रह्मलोकवासिन 'अन्निकरणे शेतेरि'त्यच्प्रत्यय । शयवामवाति-
 प्यकालादि'त्यलुक् तेषा लोकाना अनाना मध्ये जज्ञ मूड तिमञ्च पक्षिणमपि

मामिति शेष । मृपा अनूत तस्य अनभिज्ञा रसज्ञा रसना यस्य तस्य भाव-
स्तत्ता सत्यवादितेत्यर्थ । उपज्ञायत इति उपज्ञा आदावुपज्ञाता, 'उपज्ञा ज्ञान-
माद्य स्यादित्यमर । 'आतश्चोपसर्गे' इत्यङ्प्रत्यय बहुलग्रहणात् कर्मार्थत्व
तथात्वेन ज्ञात तदुपज्ञम् 'उपज्ञोपक्रम तदाद्याचिख्यासायामिति' नपुंसकत्वम् ।
सम साधारण सर्वज्ञायत इति समज्ञा कीर्ति पूर्ववदङ्प्रत्यय तदुपज्ञ तथात्वे-
नादी ज्ञाता समज्ञा कीर्तियेन त तथोक्त मामञ्च, सत्यवादिन विद्वीत्यर्थ ।
अञ्चतेर्गत्यर्थत्वात् ज्ञानार्थत्वम् ॥ ६४ ॥

अन्वय — ईशाणिमैश्वर्यविवर्तमध्ये लोकेशलोकेशयलोकमध्ये अज्ञ
तिर्यञ्चम् अपि मृपानभिज्ञरसज्ञतोपज्ञसमज्ञम् अञ्च ।

हिंदी—हे परमेश के (अष्टविध) ऐश्वर्य के मध्य जो अणिमा नामक
ऐश्वर्य है, उसके विवर्त (रूपांतर)—रूप मध्यभाग वाली (सूक्ष्मकटि),
लाकेश्वर (ब्रह्मा) के लोकवर्ती जनों के मध्य (ब्रह्मलोकवासी प्राणियों के
बीच) मुझ अज्ञानी पक्षी को भी तुम असत्य से अपरिचित (सत्यवादी)
और रसज्ञ (सहृदय) जनों के चारों का आद्यज्ञानी और समज्ञाता समझकर
पूजा (अथवा 'अज्ञम्' को केवल 'अञ्च' से पूर्य अचित करलेने पर सत्य-
वादिता और सहृदयता के रसज्ञाता मुझ सर्वज्ञ को तुम अज्ञानी समझो) ।

टिप्पणी—धारीरिक सौन्दर्य के शोचक सबोधन 'वृशोदरि' से दमयंती
को सबोधित कर हस उसे यह बताना चाहता है कि ब्रह्मणिक के प्राणियों के
मध्य अज्ञाना पक्षी होते हुए भी मैं सत्यवादी और रसज्ञ सहृदय हूँ, ऐसा
समझ पूजनीय हूँ, पर ऐसे मुझे तुम यदि मूर्ख समझोगे तो इससे तुम्हारी ही
हानि है । ब्रह्मलोक के सत्यवादी और रसज्ञ प्राणियों के बीच रह मैं मूख
और वरसिक कैस हो सकता हूँ ? श्रीहर्ष ने ऐसी शब्द योजना की है कि
दोनों भाव मरुति हो जाते हैं । विद्याधर के अनुसार यहाँ ओज गुण और
अनुप्रास अलंकार हैं । वदसिद्धियाँ (ऐश्वर्य) हैं—आणिमा, महिमा, गरिमा,
लघिमा, प्राप्ति, प्राणाम्य (अमिलपित पा लेने की क्षमता), ईशित्व
(सामर्थ्यातिशय) और वदित्व । 'अणिमा महिमा चैव गरिमा लघिमा तथा ।
प्राप्ति प्राणाम्यमोक्षि च वदित्व चादसिद्धयः' ॥ ६४ ॥

मध्ये श्रुतीना प्रतिवेशिनीना सरस्वती वासवती मुखे नः ।

ह्रियेय ताम्यश्चलतीयमद्वापधान्न ससर्गगुणेन वद्धा ॥ ६५ ॥

जीवानु—मध्य इति । किं च, प्रतिवेशिनीना प्रतिवेशमना श्रुतीना वेदाना ब्रह्ममुखस्थाना श्रुतीना मध्ये वासवती निवसन्ती इय नोऽस्माक मुखे सरस्वती वाक् ससर्ग एव गुण श्लाघनीयं, तन्नुत्तरे तत्र वद्धा चती, तान्य श्रुतिन्यो ह्रियेवेत्युत्प्रेक्षा । जटपान्त्यमागान् बलति संसर्गजा दोषगुणा भवन्तीति भाव । 'उत्तरे त्वद्वाङ्मयसाधुमि'त्यमर ॥ ६५ ॥

अन्वय—न मुखे इय सरस्वती प्रतिवेशिनीना श्रुतीना मध्ये वासवती ससर्गगुणेन वद्धा ताम्यः ह्रिया इव अद्वापधान्न न बलति ।

हिन्दी—हमारे मुख में विद्यमान यह सरस्वती (वाणी)—पंडीतनी श्रुतियों (वेदों) के मध्य में स्थित रहने से सग गुण से संदेह-भीति, क्रांति, उन्की लज्जा से ही जैसे सन्धपय से विचलित नहीं होती । (अथवा 'अद्वा अथवात्' पदच्छेद करनेपर 'निश्चयपूर्वक 'अपय' अर्थात् कुमार्ग पर नहीं चलती') ।

टिप्पणी—श्रुतिसमत व्यवहार करने वाला कुपय पर चल ही नहीं सकता, वह सन्धपय से विचलित नहीं होता । इस की वाणी तो वेदों की प्रतिवेशिनी है, वह कैसे बूठी हो सकती है ? भलिनाय के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्यापर ने समाप्तोक्ति और उपमा का निर्देश किया है ॥ ६५ ॥

पर्यङ्कतापन्नमरम्बदङ्का लङ्कापुरीमप्यभिलापि चित्तम् ।

कुत्रापि चेद्वस्तुनि ते प्रयानि तदप्यवेहि स्वशये शमालु ॥ ६६ ॥

जीवानु—सत किमित्यत आह—पर्यङ्केति । कुत्रापि वस्तुनि द्वीपान्तर-स्थेऽपीति भाव । अभिलापि साभिन्नाय ते तव चित्त कर्तुं पर्यङ्कता वासम-कविकात्वमापन्न सरस्वान् सागरोऽङ्कस्त्रिह्न मन्वास्तामतिदुर्गमानित्ययं । ता लङ्कापुरीमपि प्रयानि चेत्तरनि तदुर्गस्थमपि स्वशये स्वहस्ते शयानु स्थितमवेहि । पर्यन्तमपि पर्यङ्कम्यनिव जानीहि ॥ ६६ ॥

अन्वय—ते चित्त पर्यङ्कतापन्नसरम्बदङ्का लङ्कापुरीम् अभिलापि, कुत्र अपि वस्तुनि प्रयानि चेर (अथवा 'कुत्र अपि अभिलापि ते चित्त

पर्यङ्कतापन्नसरस्वदङ्का लङ्कारपुरीम् प्रयाति चेत्') तत् अपि स्वहस्ते शयालु भवेहि ।

हिन्दी—यदि तेरा चित्त जिमके परित (चारो ओर) समुद्र का वृत्त घिरा हुआ है (अथवा समुद्र जिसका पलग (शय्या) बना हुआ है), उस लका का अभिलाषी है, अथवा वह अन्य किसी दुष्प्राप्य वस्तु की ओर जा रहा है (अथवा 'किसी भी वस्तु की अभिलाष करने वाला तेरा मन समुद्र के मध्य बसी लका की ओर जा रहा है), तो उसे भी तू अपने हाथ में विद्यमान समस्त ।

टिप्पणी—दुग्म समुद्र के मध्य में स्थित दुष्प्राप्य लका या ऐसी ही किसी अन्य वस्तु को भी दमयती प्राप्त कर सकती है, अथ किसी अभिलाष की पूर्ति तो सरल ही है । विद्याधर के अनुसार समासोक्ति ॥ ६६ ॥

इतीरिता पत्ररथेन तेन ह्रीणा च हृष्टा च वभाण भैमी ।

चेतो नल कामयते मदीय नान्यत्र कुत्रापि च साभिलापम् ॥ ६७ ॥

जीवातु—इतीति । तेन पत्ररथेन पक्षिणा हसेन इतीत्यमीरिता उक्ता भैमी ह्रीणा स्वयमेव स्वाकृतकथनसङ्कोचात् लज्जिता, 'नुदविदे'त्यादिना विक्ल्वाग्निष्ठानत्वम् । हृष्टा उपायलामान्मुविता च सती वभाण । किमिति ? मदीय चेतो लङ्का नायते, किन्तु नल राजान कामयत इति श्लेषमङ्गघा वभाणेत्यर्थ । अन्यत्र कुत्रापि वस्तुनि साभिलाप न ॥ ६७ ॥

अन्वय —तेन पत्ररथेन इति ईरिता ह्रीणा हृष्टा च भैमी वभाण—मदीय चेत लङ्काम् न अयते, कुत्र अपि अन्यत्र साभिलापम् न (अथवा मदीय चेत नल कामयते कुत्र साभिलाप न, अथवा कुत्र अपि अन्यत्र न साभिलाप मदीय चेत अनल कामयते) ।

हिन्दी—उस हस द्वारा इस प्रकार संबोधित लज्जा और प्रतप्ता से पूण भीमसुता ने कहा—'मेरा चित्त लका की ओर नहीं जाता, वही ओर भी अभिलाषा नहीं है' । अथवा मेरा चित्त नल की कामना करता है, वही ओर साभिलाप नहीं है, अथवा कही ओर अनाकृष्ट मेरा मन अनल (आग) की कामना करता है) ।

टिप्पणी—शब्द पर बलि का कितना अधिकार हो सकता है, किस प्रकार वह उनके कौशलपूर्व प्रयोग से अर्थ-चमत्कार प्रकट कर सकता है, यह इस श्लोक में स्पष्ट है। एक-ही दम्पती के विभिन्न पदच्छेद करके तीन अर्थ निकल आते हैं, वे अर्थ जो दमयन्ती की इच्छा का इमिक रूप हैं—(१) दमयन्ती को लका की चाह नहीं है, (२) वह लक को कामना करती है, (३) यदि यह न हो तो आग में प्रल मरने की इच्छा है। एक लज्जावती कुमारी के सब अग्निप्राय संकेतित हो गये। श्रौह्यं का ही सामर्थ्य है। मन्त्रिनाय की टिप्पणी है—कि श्लेष-महिमा से सब कुछ कह दिया गया। विद्याधर कहते हैं—‘यहाँ श्लेष है।’ दमयन्ती का हर्ष इसलिए है कि हस कहता है कि सब कुछ प्राप्त कर सकती है जो भी कामना करे। लज्जा है कि कैसे सीधे शब्दों में अपने मलामिच्छाप के प्रकट कर दे ? ॥ ६७ ॥

विविचित्र बालाजनशीलशैल लज्जानदीमज्जदनङ्गनागम् ।

आचष्ट विस्मयमनापमागानेना न चक्राङ्गपतङ्गशक्रं ॥ ६८ ॥

जीवातु—विविचयेति । विस्मयमनापमागानेना शैपोक्तिवशात्प्रदिग्मेव भापनागामित्यर्थः । एना दमयन्ती स चक्राङ्गपतङ्गशक्रं हृत्पक्षिभ्येष्ट बालाजनस्य मुष्णाङ्गनाजनस्य शैल स्वभावमेव शैल लज्जाशमेव नद्या मज्जदनङ्गनागा यन्त्यत विचित्रेन विचार्य आचष्ट, तस्य लज्जाविविचित्रतन्मयत्व ज्ञान्वा लज्जाविविचित्रतारं वाचनमुवाचेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

अन्वय—स चक्राङ्गपतङ्गशक्रं विस्मयम् अनापमागाम् एना बालाजन-शीलशैल लज्जानदीमज्जदनङ्गनागं विविचय जगाद ।

हिन्दी—वह हस विहगनों का स्वामी पूर्ण स्पष्ट न कह सकने वाली उस (दमयन्ती) से बालाजो के शैल (स्वभाव) रूप-वर्ण और लज्जा हरिणी नदी में डूबते कामरूप हाथी का विचार करते हुए बोला ।

टिप्पणी—स्पष्ट भाषण के दो कारण हम ने समझ लिए—(१) एक तो कुमारी बालिकाओं का शैल, जो स्पष्ट भाषण को दुर्लभ्य पर्वत-वैशा गंके लटा है, (२) लज्जा की अविशयता, तिनमें कामनाएँ डूब कर रह जाती हैं। भाव यह कि इन मनन गया कि कुमारी जनीचित्तशैल और

लज्जा से अभिभूत दमयन्ती ने जो कह दिया, वही पर्याप्त है। इससे अधिक वह क्या कहती? विद्याधर के अनुप्रास छेकानुप्रास और रूपक अलंकार ॥६८॥

नृपेण पाणिग्रहणं स्पृहेति नल मन कामयते ममेति ।

आश्लेषि न श्लेषकवे भवत्या श्लोकद्वयार्थस्सुविधा मया किम् ? ॥ ६९ ॥

जीवातु—नृपेणेति । श्लेषकवे श्लेषभङ्गाद्या क्वयिभ्याः श्लिष्टसम्प्रयोक्तव्या इत्यथ, क्ववर्णन इति घातो रोगादिक इकारप्रत्यय । भवत्यास्तव सम्बन्धे नृपेण कर्त्रा पाणिग्रहण पाणिपीडनम्, 'उभयप्राप्ती कर्मणी'ति विहिताया पशुया 'कर्मणि चे'ति समासनिषेधेऽपि दोषे पृष्ठीसमास । तत्र स्पृहेति मन मनो नल कामयते द्विजराजपाणिग्रहेति चेतो नल कामयत इति श्लोकद्वयार्थ सुधिया मया विदुषा नाश्लेषि नाग्राहि किं ? गृहीत एवेत्यथ ॥ ६९ ॥

अन्वय—श्लेषकवे। भवत्या नृपेण पाणिग्रहणे स्पृहा इति मम मनो नल कामयते इति श्लोकद्वयार्थ सुधिया मया न आश्लेषि किम् ?

हिन्दी—श्लेषकविता की विदूषी आपक—'राजा (नल) के साथ पाणिग्रहण की अभिलाषा है', 'मेरा मन नल की कामना करता है', इन दोनों श्लोकों का अर्थ क्या भली बुद्धि वाला मैं न समझ पाया ? (अपितु समझ गया)

टिप्पणी—दमयन्ती का भाव समझ कर हन ने कहा कि मैं आपकी श्लेषचातुरी भली भाँति समझ गया हूँ। धापन जो दो श्लोक—'का नाम वाला' इत्यादि (३।५९) और 'चेतो नल कामयते' (३।६७) में श्लेष काव्य का प्रयोग करते हुए जो कहा, वह मैं न भली भाँति समझ लिया। अमुझसे कुछ भी छिपाना व्यर्थ है ॥ ६९ ॥

त्वच्चेतस म्यैयविपर्यय तु सम्भाव्यभाव्यस्मि तदज्ञ एव ।

लक्ष्ये हि वालाहृदि लोलशीले दरापराद्धेपुरपि स्मर स्यात् ॥ ७० ॥

जीवानु—तहि किमर्थं करेण वाऽछेत्यादिकमनवदुक्तवदुक्तमित्यत आह—त्वच्चेतस इति । किन्तु त्वच्चेतस म्यैयविपर्ययमस्थिरत्व समास आद्यङ्कप्र तदन कस्य श्लोकद्वयार्थस्य अज्ञ अनभिज्ञ भावी भविष्यन् 'भविष्यति गम्यादय' इति साधु अस्मि । त्वन्चितनिश्चयपर्यन्तमित्यथ । घातु सम्बन्धे प्रत्यया इति भविष्यताया गुणान्नावतमानतानुरोधः । नचैवमनुः

रक्तानां मयि कुत इय शङ्केत्याशङ्क्य स्त्रीणां चित्तचञ्चलसम्भवादित्याह-
 रञ्ज इति । लोलशीले चचत्स्वभावे बालाहृदि चित्त एव स्मरोग्नि दरापरा-
 देपुरीषच्युतनायकं स्थात् कुशलोऽग्नि घन्वी चञ्चलस्यात्कनाचिद्रपराध्यत इति
 भाव । 'अपराद्धपृथक्त्वोऽग्नी रक्ष्याद् यश्च्युतसामक' इत्यमर । अयान्तर-
 न्यासोऽङ्कार ॥ ७० ॥

अन्वय — तु त्वच्चेत्तु स्वैर्यविरयं संभाव्य तदज्ञ एव भावी अग्नि
 हि लोलीले बालाहृदि लक्ष्ये स्मर अपि दरापराद्धेषु स्थात् ।

हिन्दी—किन्तु तुम्हारे चित्त की अस्थिरता की मनावना करके उक्त
 श्लोकार्थ से अनभिज्ञ ही बना रहूँगा, क्योंकि चचत् स्वभावा वाला के हृदय-
 लक्ष्य पर कामदेव के बाण भी कुछ धुक् बाते हैं ।

टिप्पणी—हम का क्या है कि मैं नञ् जानकर भी अज्ञता ही बना
 रहना चाहता हूँ, क्योंकि लड़कियाँ होती हैं चचत् स्वभाव की । न तो उनका
 मन बदलते देर लगती है और न उन्हें काम ही तरणियों के समान व्यथा
 देता है । अयान्तरन्यास ॥ ७० ॥

महीमहेन्द्रं खलु नैपथेन्दुस्तद्वोघनीयं कथमित्यमेव ? ।

प्रयोजनं साशयिकम्प्रतीदृक्पृथग्जनेनेव न मद्भिधेन ॥ ७१ ॥

जीवानु—महीति नैपथ इन्दुरिव नैपथेन्दुर्नलचन्द्र महीमहेन्द्रो भूदेवेन्द्र
 खलु तस्मात् स नल । पृथग्जनेन प्राकृतजनेनेव मद्भिधेन मादृशा विदुषा
 ईदृक् साशयिकं सन्देहदुःखं अस्थिर प्रयोजनं प्रति इत्यमेव मुग्धाकारेणैव
 कथं बोधनीयं ? अनर्हमित्यर्थः । 'गतिबुद्धी'त्यादिना अग्निं कर्तुर्नलस्य
 कर्मत्व, 'घ्नन्ते कर्तुश्च कर्मण' इति अभिधानाच्च ॥ ७१ ॥

अन्वय — तत् महीमहेन्द्रं स नैपथेन्दु मद्भिधेनेव पृथग्जनेन ईदृक्
 साशयिकं प्रयोजनं प्रति इत्यम् एव कथं बोधनीयं ।

हिन्दी—इस पृथ्वी के महेन्द्र उस नैपथचन्द्र के प्रति मेरे जैसे प्राकृत
 जन पक्षी द्वारा (अथवा पृथग्जनेन इव मद्भिधेन' अन्वय करके प्राकृतजन के
 समान मुझ जैसे विद्वान् द्वारा) ऐसे ससयुक्त अस्थिर प्रयोजन का निवेदन
 किस प्रकार किया जाय ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयती का भाव तो स्पष्ट बहा नहीं गया, सो बात सदेह की है। उसे हस जैसा समझदार प्राणी एक मूर्ख की भाँति इतने बड़े राजा से कह नहीं सकता अथवा कही यह न समझ लिया जाय कि हस तो पक्षी है, उसने न जाने क्या समझा और प्रलाप कर दिया। सो बात साफ होनी चाहिए। एक महीमहेन्द्र से वह अप्रामाणिक, सदेहास्पद सदेश नहीं कह सकता। विद्याधर के अनुसार उपना और काव्यालिंग ॥ ७१ ॥

पितुनियोगेन निजेच्छया वा युवानमन्य यदि मा वृणीषे ।

त्वदर्थमर्थित्वकृतिप्रतीति कीदृङ्मयि म्यान्निपधेश्वरस्य ॥ ७२ ॥

जीवातु—अथेत्यमेव बोधने को दोषस्तनाह—पितुरिति । पितुनियोगेन आज्ञया निजेच्छया स्त्रेच्छया वा अथ नलादन्य युवान यदि वृणीषे वृणोषि यदि, तदा निपधेश्वरस्य नलस्य मयि विषये त्वदर्थं तुभ्य, 'चतुर्थी तदर्थे'-त्यादिना चतुर्थी समास, 'अथेन सह नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वचनव्यम्' । तद्यत्तया अर्थित्वकृति अर्थित्वभजन तत्र प्रतीतिविश्वास कीदृक् स्यान्न स्यादित्यर्थं । तस्मादसदिग्य द्वाच्यमिति भाव ॥ ७२ ॥

अवयव —पितु नियोगेन निजेच्छया वा यदि अन्य युवान वृणीषे त्वदर्थंम् अर्थित्वकृति मयि निपधेश्वरस्य कीदृक् प्रतीतिः स्यात् ।

हिन्दी—पिता की आज्ञा अथवा अपनी इच्छासे यदि तुम नलातिरिक्त युवा का वरण करती हो, तो तुम्हारे निमित्त याञ्चा करते मेरे प्रति निपधराज का विश्वास कैसा होगा ?

टिप्पणी—हस का तात्पर्य है कि दमयती जब तक निश्चयपूर्वक अपना निर्णय स्पष्ट न करेगी हस को नल से उसके साथ विवाह करने की प्रार्थना ठीक नहीं होगी। यदि दमयती के पिता ने अन्यत्र कहीं अपनी बेटी प्याहने का निर्णय ले लिया और दमयती ने उससे बाध्य हो अथ किसी पुष्प को खर लिया अथवा उसकी ही इच्छा बदल गयी, तो नल हस को एक लबाडिया या मूठा ही तो समझेगा। सो स्पष्ट कहें बिना कार्य आगे नहीं बढ़ेगा ॥ ७२ ॥

त्वयाऽपि किं शङ्कितविक्रियेऽस्मिन्नधिक्रिये वा विषये विधातुम् ।

इत पृथक् प्रार्थयमे तु यद्यत्कुर्वे तदुर्वीपनिपुत्रि ! सर्वम् ॥ ७३ ॥

जीवानु—अन्वया तथा वक्तु न शक्यते तर्हि ततोऽन्यदीप्तिन कल्पये
प्रतिज्ञाम ह्यनपिहारादेः—त्वमेति ' हे उर्वीपतिपुत्रि ! भूमि ! त्वयापि वा
किं विनातु किं न्युं शङ्कितविच्छिन्ने सन्नादिन्विनयने अस्मिन् विषये राजानि-
ग्रहणनघटनकार्ये जहम्, अनिच्छिन्ने त्रिनिगुण्ये, जन्मियोग्य इत्यर्थे । करोते
कर्मणि लट्, किन्तु इत् पृथक्स्नादग्यत् पद्यप्रायेणमे तत्त्वं कुरुं करोमीत्यर्थं ॥

अन्वय — त्वया जनि शङ्कितविच्छिन्ने अस्मिन् विषये विनातु किं वा
जधिच्छिन्ने ? उर्वीपतिपुत्रि, इत् पृथक् यत् यत् प्रायेणमे तत्त्वं कुरुं ।

हिन्दी—और तुम भी जिसमें परिवर्तन की आशंका है, उस इस विवाह-
विषय में नयोजन करने का अधिकार मुझे क्यों दे रही हो ? हे पृथ्वी के
स्वामी की पुत्री (राजकुमारी), इसमें भिन्न जो जो मुम के चाहोगी,
मैं वह सब करूँगा ।

टिप्पणी—इस एक और उत्तेजना देता है—ब्रह्मा हो कि तुम इस
सदेहास्पद कार्य-स्थापन में मुझे निरूक्त ही न करो । इस विवाह विषयक कार्य
के अतिरिक्त, जो भी कहो, मैं कर दूँगा क्योंकि या तो स्पष्ट कहो, या फिर
इस विषय को ही छोड़ो । विद्याधर ने इस श्लोक में अनुप्रास अथवा 'निषत-
दशादयवयमक' का निर्देश किया है ॥ ७३ ॥

श्व प्रविष्टा इव तद्गिरन्ता विधूय वैमत्यधृतेन मूर्च्छा ।

ऊचे हिया विरूपयितानुरोधा पुनर्धरित्रीपुस्तूतपुत्रो ॥ ७४ ॥

जीवानु—श्व इति । धरित्रीपुस्तूतपुत्रो भूमिन्द्रमुता भूमौ श्व प्रविष्टा
एव न तु मन्मक् प्रविष्टा तद्गिरो हसवाच । वैमत्येन अलम्भस्या धृतेन
कम्पितेन मूर्च्छा विधूय प्रविष्टिभ्य हिया कर्त्या विरूपयितानुरोधा शिथिलित-
वृत्तिभ्यश्चलञ्जा सती पुनरप्युचं उवाच ॥ ७४ ॥

अन्वय — धरित्रीपुस्तूतपुत्रो श्व प्रविष्टा तद्गिरि वैमत्यधृतेन मूर्च्छा
विधूय एव हिया विरूपयितानुरोधा पुन ऊचे ।

हिन्दी - धरणी के इन्द्र की पुत्री (पृथ्वीद्रमुता दमयती) कानों में धुँसी
रक्त (ह्रम) की बचनावली को अनमति में हिलते शिव में मानो निरस्त
करती हुई लज्जा के अनुरोध को शिथिल कर (लज्जा छाड) पुन बोली ।

टिप्पणी—दमयती ने हंस के बचनो के प्रति असमति प्रकट करने के लिए सिर हिलाया, जैसे कान में प्रवेश करते किसी दुष्ट कीट को सिर के छटकके से निवारित करना चाहती हो। इस भावसे मे उसने लज्जा छोड़ कर निम्नांकित स्पष्ट बचन कहे। उत्प्रेक्षा ॥ ७४ ॥

मदन्यदान प्रति कल्पना वा वेदस्त्वदीये हृदि तावदेवा ।

निशोऽपि सोमेतरकान्तशङ्कामोङ्कारमग्रेसरमस्य कुर्या ॥ ७५ ॥

जीवातु—मदिति । मम अयदानमन्यस्य दान प्रति दानमुद्दिश्य या कल्पना पितृनियोगेनेत्यादि श्लोकस्तर्कं । एषा कल्पना त्वदीये हृदि वेदस्तावत्सत्य एवेत्यर्थं । निशो निशाया अपि 'पद्मिनि'त्यादिना निशाया निशादेश सोमाच्चन्द्रादितरकान्तशङ्काम् पुस्यान्तरकल्पनामेव ओङ्कार प्रणवम् अस्य वेदस्याग्रेसरमाद्य कुर्या कुर सर्वस्यापि वेदस्य प्रणवपूर्वकत्वादिति भावः । यथा निशामा निशाकरेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय, तथा ममापि नलेतरप्रतिग्रहो न शङ्कनीय इत्यर्थः । स्मकालङ्कार ॥ ७५ ॥

अन्वय—मदन्यदान प्रति त्वदीये हृदि वा एषा कल्पना तावद् वेद निशा अपि सोमेतरकान्तशङ्काम् अस्य ओङ्कार कुर्या ।

हिन्दी—मेरे नलातिरिक्त पुरुष को दिये जानें के विषय में तुम्हारे हृदय में जो यह कल्पना वेद' (वेदसम प्रामाणिक) है, तो रात्रि की भी चंद्रेतर प्रियविषयकथा को इस (मेरे धन्य दान विषयक तथ्यागीकार) का 'ओकार' कर लो ।

टिप्पणी—दमयती का बचन यह है कि उसके अन्य किसी पुरुष से विवाह होने के विषय में जो हंस कल्पना कर रहा है, वह निर्मूल है। यदि वह इस कथा को वेद के समान सत्य और प्रामाणिक माने बैठा है, तो उसे इसे सत्य मानने के पूर्व यह भी मानना होगा कि रात्रि का चन्द्रमा के अतिरिक्त भी प्रिय होता है। यदि दमयती विषयक हंस की आशका वेद है, तो रात्रि विषयक तथ्य को वेदमत्रो से पूर्व उच्चारित होनेवाला धोकार (ओं) मानना होगा अर्थात् जैसे चन्द्रमा ही रात्रि का प्रिय है, वैसे ही नल ही दमयती का। मल्लिनाथ के अनुसार एषक, बिद्याधर के अनुसार एषक और अतिशयोक्ति ॥ ७५ ॥

सरोजिनीमानसरागवृत्तेरनसम्पर्कमनकंपित्वा ।

मदन्यपाणिग्रहणाद्धितेयमहो महीयन्तव साहसिक्यम् ॥ ७६ ॥

जोदातु—सरोजिनीति । सरोजिन्या मानसरागवृत्तेर्मनोऽनुरागस्थितेर-
न्यतरारम्यप्रवृत्तेष्व अनर्कसम्पर्कमर्कतरकान्तिसन्तान्तिमतकंपित्वा अनुहित्वा
तत्रैव मम अन्यस्य नलेतरस्य पाणिग्रह शङ्कत इति तच्छङ्कितस्य नाशन्तत्ता
महीयो महत्तर साहसिक्य साहसिकत्वम् अहो असम्भावितसम्भावनाशास्चर्यम् ।

अन्वयः—सरोजिनीमानसरागवृत्ते' अनर्कसम्पर्कम् अतकंपित्वा तत इय
मदन्यपाणिग्रहणाद्धिता अहो, महीय साहसिक्यम् ।

हिन्दो—कमलिनी के मनोऽनुराग के होने का सूर्यनिरिक्त के साथ सबध
को तर्कणा न करके तुम्हारी यह मेरे नलातिरिक्त के साथ विवाह को शक
आश्चर्य और बड़े साहस की बात है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि जिस प्रकार कमलिनी का अनुराग सूर्य से
ही होता है, अन्य से नहीं उसी प्रकार दम ती का विवाह नल से ही सम्भव है,
नलातिरिक्त से नहीं । जब कमलिनी-सूर्य के सबध में हम को शक नहीं है,
तो दमती-नल के बिषय में उसकी शक बड़ा दु साहस है । विद्याधर के
अनुराग समासोक्ति और बतिसयोक्ति ॥ ७६ ॥

साधु त्वयाशक्ति तदेवमेव स्वेनानल यन्किल सश्रयिष्ये ।

विनाऽमूना स्वात्मनि तु प्रहृतुं मृपागिर त्वा नृपतो न कर्तुंम् ॥ ७७ ॥

जोदातु—साध्विति । किंतु स्वेन स्वेच्छया अनल नलादयम् अग्नि च
सश्रयिष्ये प्राप्सामीति यत् त्वया अतर्कि ङ्हित तदेकमेव साधु अतर्कि, किन्तु
अमूना नलेन विना तदलाभ इत्यर्थ । स्वात्मनि प्रहृतुं स्वात्मानं हिंसितु
कर्मणोऽप्रिकल्पत्वविवशया सतमी । 'अनेकशक्तिमुक्तस्य विश्वस्यानेककर्मणः ।
सर्वदा सर्वतोभावात् क्वचित् किञ्चिद्विपर्यते ॥' इति बचनादनल सश्रयिष्ये
इत्यनुपङ्ग नृपतो नले विषये त्वा मृपागिरमसत्यवाच कर्तुंमन एव शरणम्
अथवा मरणमेव शरणमिति भावः ॥७७॥

अन्वयः—एतत् एव त्वया साधु तर्कितं किल यत् स्वेन अनलम् सश्रयिष्ये,
अमूना विना तु स्वात्मनि प्रहृतुंम्, नृपतो त्वा मृपागिर कर्तुं न ।

हिन्दी—यही तुमने ठीक विचार किया कि मैं स्वयम् ही अनल (नल-तिरिक्त, अग्नि) का आश्रय ले लूँगी, किन्तु (नल) के बिना अपने को समाप्त करने के लिए (अग्नि अनल का आश्रय लूँगी), न कि तुम्हें नरराज (नल) के समुल नूठा सिद्ध करने के लिए (अनल अर्थात् नल-व्यतिरिक्त का आश्रय) ।

टिप्पणी—हस ने 'पितुनियोगेन' इत्यादि (७२) में आशका प्रकट की थी कि तुम स्वेच्छया अनल (नल व्यतिरिक्त) को बर लो तो उसे नल नूठा समझेंगे, इसी का एक प्रकार से उपहास करती दमयती ने कहा कि वह निश्चय ही स्वेच्छया नल से विवाह न होने पर अनल (अग्नि) का आश्रय लेंगी—आत्मदाह कर लेगी, किन्तु 'अनल' (नल व्यतिरिक्त) से विवाह करके हस को नल के समुल झूठा नहीं सिद्ध करेगी । विद्याधर द्वारा उल्लेख्य अलंकार श्लेष ॥ ७७ ॥

मद्विप्रलभ्य पुनरह यस्त्वा तर्कस कि तत्फलवाचि मूक ? ।

अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतुर्वाणी न वेदा यदि सन्तु के तु ? ॥ ७८ ॥

जीवातु—मदिति । किञ्च, यस्तर्कं ऊह मद्विप्रलभ्य मया विप्रलम्भनीय 'पौरदुपधादि'ति यत्प्रत्यय । आह बोधयतीत्यर्थं स तर्कं तस्य विप्रलम्भस्य फलवाचि प्रयोजनाभिधाने मूक अशक्त किम् ? अतो मय्यमत्यवादित्वशङ्का न कार्येत्यर्थं । कथमेतावता सत्यवाक्यत्वनिश्चय अत आह—अशक्या शङ्का यस्य स अशक्यशङ्क शक्तिमुशक्य व्यभिचारहेतुविप्रलिप्सालक्षणो यस्या सा वाणी न वेदा यदि न प्रमाण चेत्तर्हि के तु वेदा सन्तु ? न केऽपीत्यर्थं सम्भावनाया लोट् । वेदवाचामसत्यत्वे मद्वाचोऽप्यसत्यत्वम्, नान्ययेति भाव ॥ ७८ ॥

अन्वय —पुनः य तर्कं मद्विप्रलभ्य त्वाम् आह स तत्फलवाचि मूक किम् ? अशक्यशङ्कव्यभिचारहेतु यदि वेदा न, के तु सन्तु ?

हिन्दी—और फिर जिस तर्क ने तुम्हें यह बताया कि मैं तुम्हारी प्रनारणा करूँगी, उमके परिणाम को बताने में क्या वह सँगा है? जिन (वचना) में व्यभिचार के (अज्ञानादि) कारणों की दवा की ही नहीं जा सकती, यदि वे वेद (प्रामाणिक) नहीं हैं तो वेद क्या हैं ?

टिप्पणी—७२ वें श्लोक में हंस ने आद्यका की थी कि वह पुत्रा वनेगा, दमयती द्वारा प्रचारित होगा। दमयती इसके उत्तर में कहती है कि यह आशंका भी निर्मूल है। हंस ने जिस टुकड़े से यह मोक्ष लिया कि दमयती उसे प्रचारित करेगी, उस टुकड़े ने उसे यह नहीं बताया कि हंस का प्रचारित करने में दमयती को खान क्या होगा ? हंस तो जानो है, उसे अपनी प्रामाणिकता पर विश्वास होना चाहिए, अन्यथा फिर उसकी प्रामाणिकता ही क्या रह जायेगी ? क्या दमयती यह कहना चाहती है कि वह जो कह रही है, वह पूर्ण सत्य और प्रामाणिक है, वेद के समान, जिसमें कृत्तनादि व्यभिचार-कारणों की आशंका ही नहीं की जा सकती। जो वागो व्यभिचारिणी है—अपरिवर्तनीय। यदि वेद झूठे हैं तो दमयती की वाणी भी। विद्याधर के अनुसार दाम्यलिंग ॥ ७८ ॥

अनेपघायेव जुहोति किं मा तान वृश्चानो न शरीरशेषाम् ? ।

ईष्टे तनूज्जन्मनोमस्तथापि मत्प्राणनामस्तु नलम्न एव ॥७९॥

जीवानु-एव निवेच्छया नलायशब्दा निरस्य पित्राङ्गयापि ता निरस्यपि-अनेपघायेति । ततो मम जनक । 'तातस्तु जनक पिता' इत्यमर । माम-नैपघाय नैपघान्नलायस्यै एव जुहोति ददातीति ब्राह्म, तदा शरीरशेषा मृता तत्रापि वृश्चानो न किं न तु पीवती नाम्नेरमत्र जुहोतीत्यर्थं तदङ्गीकर्त्तव्यमेवेति भावः । कुत ? स जनक तनूज्जन्मनो आत्मनःशरीरस्य ईष्टे स्वामी, भवतीत्यर्थं । 'अधीगर्भदयेसां कर्मणी'ति शेषे षष्ठी । तथापि शरीरस्य पितृ-स्वानिकत्वेऽपीत्यर्थं । मत्प्राणनामस्तु नल एव प्राणानामतगज-यत्नादिति भावः । अतो मय्यविश्वास मा कुर्वित्यर्थं ॥७९॥

अन्वय — तात शरीरशेषा माम् अनेपघाय जुहोति, वृश्चानो एव किं न ? स तनूज्जन्मनो ईष्टे तथापि मत्प्राणनामस्तु स नल एव ।

हिन्दी—पिता शरीरमात्रावशेष (मृत) मुझे निपथराजातिरिक्त की देते हैं ता अग्नि की ही क्यों नहीं देते ? वे (पिता) स्वदेह से जन्म पाने वाले देह के स्वामी हैं, तथापि मेरे प्राणों का स्वामी तो वह नल ही है ।

टिप्पणी—दमयती का भाव यह है कि पिता जीवित क्षण में नलातिरिक्त से उसका विवाह नहीं कर पायेंगे, यदि वे ऐसा करेंगे तो दमयती प्राण दे

देगी और फिर उस शरीरमात्रावशेषा को पिता द्वारा अग्नि में ही समर्पित किया जा सकेगा। पिता का अधिकार शरीर मात्र पर है, क्योंकि उसे उन्होंने जन्म दिया है, उसे वे ले सकते हैं, किन्तु प्राणों के स्वामी तो नल ही हैं। अतः हस को दमयती का विश्वास करना ही उचित है। विद्यापर के अनुसार काव्यालिंग ॥ ७९ ॥

तदेकदासीत्वपदादुदग्रे मदीप्सिते साधु विधित्सुता ते ।

अहेलिना किं-नलिनी विधत्ते सुधाकरेणापि सुधाकरेण ॥ ८० ॥

जीवातु—फलितमाह—तदेकेति । तस्य नलस्यैकस्यैव दासीत्व तदेव पदमधिकारस्तस्मादुदग्रे अधिके मदीप्सिते पत्नीत्वरूपे विषये तत्र विधित्सुता चिकीर्षुर्तैव साधु साध्वी, अविचारेण मनोरथपूरणमेव ते युक्तमिति भावः । साध्विति सामान्योपक्रमान्नपु सक्तत्वम्, 'शक्य इवमासेनापि सुन्निवर्तयितुमिति' भाष्यकारप्रयोगात् । ननु किमत्राभिनिवेशेन गुणवत्तरं चेद्युवान्तरस्वीकारे को दोषस्तत्राह—अहेलिनेति । नलिनी सुधाकरेण अमृतदीधितिनापि अहेलिना असूर्येण सुधाकरेण चन्द्रेण किं विधत्ते ? किं तेन तस्या इत्यर्थः । तद्वममापि किं युवा-तरेणेति भावः । दृष्टान्तालङ्कारः ॥ ८० ॥

अन्वयः—तदेकदासीत्वपदात् उदग्रे मदीप्सिते तत्र विधित्सुता साधु, नलिनी सुधाकरेण अपि अहेलिना सुधाकरेण किं विधत्ते ?

हिन्दी—उस (नल) की एक दासी होने के पद से भी उत्कृष्ट मेरे मनोरथ को पूरा करने की तुम्हारी मली ही इच्छा है, किन्तु कमलिनी अमृत के आकार भी अहेलि (असूर्य) चंद्र का क्या करेगी ?

टिप्पणी—हस न ७३ वें श्लोक में कहा था कि वह इस सदेहास्पद कार्य-योजना में नहीं पड़ना चाहता, किन्तु अन्य किसी दमयती के मनोरथ को वह पूर्ण करेगा। इसी का उत्तर इस श्लोक में है। दमयती हस को साधुवाद देती बतानी है कि वह और कुछ चाहती ही नहीं, केवल नल की दासी होना उसका अर्थात् है। भले ही उससे उत्कृष्ट कुछ हो, होता रहे, उससे दमयती को क्या काम ? चंद्र अमृतनिधि है, पर वह सूर्य तो नहीं है। कमलिनी का क्या हमसे सबंध ? दृष्टान्त अलंकार ॥ ८० ॥

तदेकदुदगे हृदि मेऽस्मि लब्धु चिन्ता न चिन्तामणिमध्यनर्धम् ।

निते ममेवस्म नलस्त्रिशोक्विगारो निधिः पद्ममुत्तस एव ॥ ८१ ॥

जोवातु—उदिति । तस्मिन्नेवैकस्मिन् सुखे लोपुपे मे हृदि अनर्थं चिन्ता-
नगिमपि लब्धु चिन्ता विचारो नास्ति, तथा वित्ते घनविषयेऽपि मन स नल-
स्त्रिलोकीसारम्ब्रलोकपद्येणु पत्रमुख पमानन एव स नल एव त्रिलोकीसारः
प्रपनिमिद्व । नलादन्वय कुत्रापि मे स्पृहा नास्ति । किमुत युवात्तर इति
नाव ॥ ८१ ॥

अन्वयः—तदेकलब्धे मे हृदि अनर्थं चिन्तानगिमम् अपि लब्धु चिन्ता
नास्ति । वित्ते (चित्ते वा) अपि मम स नल त्रिलोकीसारः पत्रमुख एक एव ।

हिन्दी—उसी एक में लुब्ध मेरे मन में अमूल्य चिन्तानगि को भी पाने
की चिन्ता नहीं है । घन के विषय में भी (अथवा मेरे चित्त में भी) मेरा
बहु नल त्रिलोकी का सारमूत्र (सर्वोत्कृष्ट) कमलवदन अकेला ही है ।

टिप्पणी—भाव यह कि नल के अतिरिक्त किन्ती दुर्लभतम वस्तु को भी
पाने की इच्छा दमयती की नहीं है । विद्यारर के अनुसार ह्यरु और श्लेष ॥

श्रुतश्च दृष्टश्च हरित्तु मोहाद् ध्यानश्च नीरन्ध्रतबुद्धिधारम् ।

मनाद्य तत्प्राप्तिसुख्यो वा हस्ते तवास्ते द्वयमेव शेषः ॥ ८२ ॥

जोवातु—श्रुतश्चेति । किं बहुना स नल श्रुत दूतद्विवनद्यादिमुक्तादा-
र्कादश्च, मोहात् भ्रान्तिवशात् हरित्तु दृष्ट साक्षात्कृतश्च, तथापि नीरन्ध्रत-
बुद्धिधार निरन्तरीकृततदेकविषयबुद्धिप्रवाह मया तथा ध्यातश्च । अद्यपि मन
तत्प्राप्तिर्नलप्राप्तिनुन्वय प्राणत्यागो वा द्वयमेव द्वयोरप्यतर एवेत्यर्थः । शेष
कार्येण स च तव हस्ते आस्ते त्वशयनं तिष्ठतीत्यर्थः । अत्र लक्ष्यार्थवचन-
मनननिदिदिध्यासनसम्पन्नस्य ब्रह्मप्राप्तिदुःखोच्छेदलक्षामोक्षो गुर्वयत्त एव-
त्यर्थान्तरप्रतीतिर्ननिरेव अभिवाया प्रकृतार्थनियत्रणादि तक्षेन ॥ ८२ ॥

अन्वय — श्रुत मोहात् हरित्तु च दृष्ट नीरन्ध्रतबुद्धिधार ध्यातश्च,
अद्य मम तत्प्राप्ति अनुन्वय वा द्वयम् एव शेष तव हस्ते आस्ते ।

हिन्दी—(उने इतमुत्रा से मैंने) मुना है मोह के कारण सब दिशाओं
में देखा है और निरन्तर बुद्धिविचारणा में उत्ती का ध्यान किया है । आद्य
मुझे उसकी प्राप्ति जयभा मेरे प्राण का नाश—दो ही तुम्हारे हाथ में मेरे
लिए रह गये हैं ।

टिप्पणी—भाव यह कि हंस यदि कुछ करना चाहता है तो दमयती को नल की प्राप्ति करा दे या फिर उसके प्राण निकल जाने दे। नल के अभाव में मृत्यु ही वरेण्य है। मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में अभिघा द्वारा प्रकृतार्थ का नियंत्रण हो जाने के कारण ब्रह्म के ध्वज, मनन, निदिध्यासन से सपन्न व्यक्ति ब्रह्मप्राप्ति दुःखोच्छेद रूप मोक्ष गुरु के अधीन है—यह ध्वनि है। प्रकाशकार ने भी ऐसा ही कहा है—‘तत्त्वमसि’ इति श्रुतौ तच्छब्दवाच्यस्य ब्रह्मण प्राप्ति कस्यचिदेव सुकृतिना भवति, तथा मम नलप्राप्तिस्त्वत्प्रसादादेव ।’ विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलंकार ॥ ८२ ॥

सञ्चीयतामाश्रुतपालनोत्थ मत्प्राणविश्राणनज च पुण्यम् ।

निवार्यतामार्यं । वृथा विशङ्का भद्रेऽपि मुद्रेऽयमये । भृश का ? ॥ ८३ ॥

जीवातु—सञ्चीयतामिति । हे हंस ! आश्रुतपालनोत्थ प्रतीजाताय-निर्वाहणोत्पन्नम् ‘अङ्गीकृतमाश्रुत प्रतिज्ञातमित्यमर । मत्प्राणाना विश्राणन दान तज्जन्तु पुण्य सुकृत सञ्चीयता सगृह्यता, हे आर्य ! वृथा विशङ्का सन्देहो निवार्यताम् । अये ! अङ्ग ! भद्रे पूर्वोक्तपुण्यरूपे श्रेयसि विषये भृशङ्केय मुद्रा औदासीन्य, श्रेयसि नोदासितव्यमिति भावः ॥ ८३ ॥

अन्वय.—आश्रुतपालनोत्थ मत्प्राणविश्राणनज च पुण्य सञ्चीयताम्, आय, वृथा विशङ्का निवार्यताम्, अय भद्रे अपि भृश का इय मुद्रा ?

हिन्दी—प्रतिज्ञा पालन से समुत्पन्न, मुझे प्राण दान करने का पुण्य-सचय करो, हे आर्य, व्यर्थ की आशंका छोड़ो, अरे तुमने सदेह रहित (मगल) विषय में भी यह कैसी उदास मुद्रा बना रखी है ?

टिप्पणी—पूर्वोक्त प्रकार से अपने निश्चय और अनुराग का विश्वास दिलाती दमयती इस पद्य में यह स्पष्ट करती है कि नल से उसका सचय कराने में हंस को दो पुण्य मिलेंगे—एक उसने स्वयं जो वचन दिया है, उनका पालन होगा और दो—दमयती के प्राण बचाने का श्रेय भी हंस को प्राप्त होगा। इस दृष्टि से सब प्रकार की आशंका और सदेह का परित्याग कर हंस को इग मगलवाय-सिद्धि के लिए उदासीनता छोड़ प्रयत्न शील हो जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य छेदानुप्रास अलंकार ॥ ८३ ॥

अलं विलङ्घ्य प्रिय । विज्ञ । याच्ना कृत्वापि वाक्य विविध विधेये ।

यस्य पयादाश्रयतापदोन्थान् खलु स्वलित्वाऽस्तखलोक्तिखेलात् ॥ ८४ ॥

जोनातु—अलमिति । हे प्रिय ! प्रियङ्गुर विज्ञ ! विशेषतः ! उनयत्र 'इदुपरे'त्यादिना कप्रत्यय । याच्ना प्रार्थना विलङ्घ्य अल याच्यामङ्गो न कार्य इत्यर्थः । विधेये विनीतजनं विविध वाक्य वक्रता कृत्वापि अल, तच्च न कार्यमित्यर्थः । आश्रयो ययोक्तकारी, 'वचने स्थित आश्रय' इत्यमर । तस्य नावास्तत्ता संव पद पदभेदः तदुत्थात् अस्ता निरस्ता खलोक्तिखेला निष्पन्ना वादविनोदो धेन तस्माद्यस्य पयात् स्वलित्वा चर्त्तित्वा खलु न स्वलितव्यमित्यर्थं अयथा हानि स्यात् । 'निषेधवाक्यालङ्कारजिनासानुनय' इत्यमर । 'अल खन्वो प्रतिषेधयो प्राचा कन्वे'ति उनयत्रापि क्त्वाप्रत्यय इह 'न पादादौ खन्वादय' इति निषेधस्योद्वेजकत्वानिभाषत्वान्नजर्थस्य खलुश्चस्यानुद्वेज क्त्वात्तन्वदेव पादादौ प्रयोगो न दूष्यत इति अनुसन्धेयम् ॥ ८४ ॥

अन्वय—प्रियविज्ञ, (अथवा प्रिय, विज्ञ,) आश्रयतापदोत्थात् अस्त-खलोक्तिखेलात् यस्य पयात् स्वलित्वा खलु याच्ना विलङ्घ्य, विधेये विविध वाक्य कृत्वा अपि अलम् ।

हिन्दी—हे प्रिय को नलीभाति जाननेवाले, (अथवा प्रिय और विज्ञ अथवा 'प्रियेष्टु विष्णु ज्ञ'—प्रिय पसियो में जानी,) वचन-पालन-कर्त्ताओं में पद अर्थान् श्रेष्ठ स्थान से उत्पन्न (अथवा चरण-जात), खलवचनो के खेल से रहित यद्य के मार्ग से स्वलित हो (हटकर) मेरी याचना का लक्ष्य मत करो और करणीय कृत्य के विषय में भी मानाविन उल्टा-सीधा विचार भी छोड़ दो ।

टिप्पणी—अल को विशेषतः के विशेषण से संबोधित करती दमपती उसे चेतावनी देती है कि सज्जन वचन का पालन करते हैं, वे दुष्टों के समान वचन देने को खेच नहीं समझते । प्रतिज्ञा-पालन ही यद्य का मार्ग है । यदि हृद्य वचन पालन में उल्टी-सीधी बातें सोचेगा और दमपती की प्रार्थना पर ध्यान नहीं देगा तो वह अयथा का भागी होगा । नीर शीर-विवेकी हृद्य तो जानी और सज्जन माने जाते हैं । विद्याधर ने उल्लेख्य अलकार अनुप्रास माना है ॥ ८४ ॥

स्वजीवमप्यात्तमुदे ददद्भ्यस्तव त्रपा नेदृशबद्धमुष्टेः ।

मह्य मदीयान्यदसूनदित्सोर्धर्मं कराद् भ्रश्यति कीर्तिघोत ॥ ८५ ॥

जीवात्—स्वेति । ईदृशबद्धमुष्टे रीदृक्कष्टलुब्धस्य तव आर्त्तानां मुदे प्रीत्यै स्वजीव्य ददद्भ्य स्वप्राणव्ययेन परत्राण कृत्वद्भ्यो जीमूतवाहनादिभ्य इत्यर्थं । 'जीवञ्जीमूतवाहन' इति प्रसिद्धम् । त्रपा नेति काकु, त्रपाया मन प्रत्यावृत्तिरूपत्वात्तदपेक्षया तेषामपादानत्वात् पञ्चमी । यद्यस्मान्मदीयानेवासून् प्राणान् मह्यमदित्सो तव कीर्त्यां घोत सुदो घर्मं कराद्भस्तात् भ्रश्यति, न चैतत्तवाहं-मिति भावः ॥ ८५ ॥

अन्वयः—ईदृशबद्धमुष्टे तव आर्त्तमुदे स्वजीवम् अपि ददद्भ्य त्रपा न, यत् मदीयान् असून् मह्यम् अदित्सो तव कीर्तिघोत घर्मकरात् भ्रश्यति ?

हिन्दी—एसे मुट्टी बाँधे बैठे (कृपण तथा अकर्मण्य) तुम्हें दुखी जनों (पीड़ितों) की प्रसन्नता के लिए अपना जीवन भी दे देने वाले (कर्मण्य दानियो) व्यक्तियों के समुल्ल लाज भी नहीं लगती क्योंकि मेरे प्राणों को मुझे ही न देने की इच्छा युक्त तुम्हारे यश से घुला (स्वच्छ) घर्म हाथ से गिर पड़ेगा ?

टिप्पणी—दमयती कहती है कि उसके प्राण उसे ही न देने वाले हस्त के यश और घर्म—दोनो नष्ट हो जायेंगे । इस श्लोक में 'बद्धमुष्टि' शब्द के प्रयोग से चमत्कार आया है । 'मुट्टी बाँधना' कृपणता का लक्षण भी है और अकर्मण्यता का भी । तो ये दोनों स्थितियाँ हम के लिए लज्जाजनक हैं । उसे चिन्वि, रतिदेव तथा हरिदचन्द्र आदि जैसे वचनपालक और याचकों के कल्याणहित स्वप्राण भी अर्पित कर देने वाले महाजना का स्मरण करके अपनी अदानशीलता और अकर्मण्यता को त्यागना ही उचित है । वदाचित् वह 'मुट्टी बाँधे' इसलिए बैठा है कि यश और घर्म उसके खुले हाथ से गिर न जायें, पर उसे स्मरण रखना चाहिए कि वचन से हटना और याचक को निरास करने वाला 'बद्धमुष्टि' कृपण—अकर्मण्य के यश धर्म नष्ट हो जाने हैं । 'बद्धमुष्टि के कर से गिर जाना' का आधार पर प्रयासकार ने यहाँ 'विरोधाभास' का निर्देश किया है । वे 'काकु' का भी निर्देश करके इस अर्थ का भी संकेत

करते हैं कि हृंष सब कुछ समझ रहा है कि यश-धर्म इस स्थिति में नष्ट हो जायेंगे । विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ८५ ॥

दत्त्वाऽऽत्मजीव त्वयि जीवदेऽपि शुष्यामि जीवाधिकदे तु केन ।

विधेहि तन्मा त्वदृणेष्वशोद्धुममृद्रदारिद्र्यसमुद्रमग्नाम् ॥ ८६ ॥

जीवातु—दत्त्वेति । किं च जीवदे प्राणदे त्वयि विषये आत्मजीव मत्प्राण दत्त्वापि शुष्यामि आनृष्य गन्निष्पामीत्यर्थं । किन्तु जीवादधिक प्रिय तद्दे त्वयि केन शुष्नामि ? न केनापि, तत्तुभ्यदेयवस्त्वभावादित्यर्थं । अन्वयति प्राणं नम तु न किञ्चिदस्तीति भाव । तत्तस्नादभावादेव ना त्वदृणेषु जशोद्धुम-शृणप्रस्ता नवितुनेव अनुद्रे अपरिमिते दारिद्र्य त्वदृणवस्त्वभावरूप तस्मिन्नेव समुद्रे । मग्ना विधेहि नलसङ्घट्टनेन मानृणप्रस्ता कुवित्यर्थं । अशोद्धु, मग्ना-मिति मग्नत्वानुवादेन अगुडिविधीयते दरिद्रतागामृतामुक्तिर्नास्तीति भाव ॥ ८६ ॥

अन्वयः—जीवदे त्वयि आत्मजीव दत्त्वा अपि शुष्यामि, जीवाधिकदे तु केन (शुष्यामि) ? त्व मा त्वदृणेषु अशोद्धुम् अनुद्रेदारिद्र्यसमुद्रमग्ना विधेहि ।

हिन्दी—जीवन देने के तरे शृण का शोध तो मैं अपना जीवन देकर भी कर लूँगी, परन्तु जीवन से भी अधिक (नल) के दान के शृण का क्या देकर शोध कर सकती हूँ ? सो तुम शृण-परिशोधन में असमर्थ रहने के कारण मर्यादाहीन (अपरिमित) दरिद्रता के समुद्र में मुझे मग्न बना दो ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल का महत्त्व जीवन से भी अधिक है । जीवनदान का बदला तो जीवन देकर चुकाया जा सकता है, नल-दान मिलने का शृण तो चुकाया ही नहीं जा सकता । सो इस ऐसा उपकार करे कि दमयन्ती उसकी सदा श्रेणी बनी रहे । विद्याधर ने इस श्लोक में विरोधानास का निर्देश किया है, चद्रक-कार ने रूपक का ॥ ८६ ॥

क्रीणीष्व मज्जीवितमेव पश्यमन्य न चेद्वस्तु तदस्तु पुण्यम् ।

जीवेशदानयंदि ते न दान् यशोऽपि तावत्प्रभवामि गानुम् ॥ ८७ ॥

जीवातु—क्रीणीष्वेति । हे जीवेशदात प्राणदवरद ! मज्जीवितमेव पश्य श्रेय वस्तु क्रीणीष्व, जीवेशद्वयमून्यदानेन स्वीकृष्वेत्यर्थं । अन्यदेत-न्मून्यानुष्य वन्वतर नालि चेतहि पुष्य सुहृत्नस्तु, किञ्चिद्यदि ते तुष्य

दातु न प्रभवामि न शक्नामि तावत्तर्हि यशोऽपि कीर्ति गातु प्रभवामि,
स्थातिसुकृतायंमेवोपकुरुष्वेत्यर्थं ॥ ८७ ॥

अन्वय — एष्य मज्जीवितम् एव क्रीणीष्व, अन्यत, वस्तु न चेत् तत्पुण्यम्
अस्तु जीवितेशदाह यदि ते दातु न प्रभवामि, तावत् यद्य गातुम् अपि
(प्रभवामि) ।

हिन्दी—तुम विक्रयार्थं उपस्थित मेरे जीवन का ही ग्रन्थ करलो, और
विक्रेय वस्तु न हो तो पुण्य तो है ही, हे जीवन के स्वामी के दाता, मैं यदि
तुम्हें देने में समर्थ नहीं हूँ तो यशोगान मे तो समर्थ हूँ ।

टिप्पणी—आशय है कि हस यदि दमयती को नल दान मे ला देगा तो
वह उसे प्राणों का अधिकारी मान लेगी, जब चाहे वह दमयती के प्राण माप
सकता है । इससे हस को पुण्य होगा और सदा ऋणमग्न रहनी दमयती उसका
यशोगान करती रहेगी । दमयन्ती नल का संयोजन करके हस को महान् यश
प्राप्त होगा । साहित्यविद्याधरो के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ८७ ॥

वराटिकोपक्रिययाऽपि लभ्यान्नेभ्यां कृतज्ञानथवाद्विपन्ते ।

प्राणैः पणै स्व निपुण भणन्त क्रीणन्ति तानेव तु हन्त सन्तः ॥ ८८ ॥

जीवातु—अथवा साधुस्वभावेनापि परोपकार भुवित्वाह—वराटिकेति ।
वराटिकोपक्रियया कपदिकादानेनापि लभ्यान् कृतज्ञान् तावदेव बहुमन्यमानान्
उपकारज्ञान् इभ्या घनिका, 'इभ्य आढधो घनी स्वामी'त्यमर । नाद्रियते
घनलोमान्पोपकुर्वन्तीत्यर्थं । सन्तो विवेकिनस्तु स्वात्मान निपुण भणन्त, सत
एते वय त्वदधीना इति साधु वदन्त इत्यर्थं तानेव कृतज्ञान् प्राणैरेव पणै
क्रीणन्ति आत्मसात्कुर्वन्ति, किमुत जनैरित्यर्थं । अतस्त्वयाऽपि सता कृतज्ञान्-
हमुपकर्तव्येति भाव । हत हर्षे ॥ ८८ ॥

अन्वय—वराटिकोपक्रियया अपि लभ्यान् कृतज्ञान् इभ्या न आद्रियते,
हस्त, सन्त तु स्व निपुण भणन्त तान् एव प्राणैः पणै क्रीणन्ति ।

हिन्दी—एक कोड़ी बराबर उपकार करने से भी प्राप्य कृतज्ञ जनो का
आदर धन के लोभी आदर नहीं करते, किन्तु आश्चर्य है कि सज्जन अपने
का उनके अधीन रहत, उन (कृतज्ञो) का ही प्राणो के मूल्य से ही मरीज
हते है ।

टिप्पणी—उत्पद्यं यह है कि धन के लोभो अमीर वृत्तज्ञ का मूल्य नहीं समझ पाते, उनके लिए तो धातुर का कारण धन ही होता है। इसके विपरीत समस्त वृत्तज्ञ जनों का अत्यन्त जादर करते हैं और यह समझते हैं कि इनका मूल्य तो प्राणायाम है, योडा का उपकार करके उनका रूप बड़ा सन्ता है। इसने दमयन्ती जन्मे जो वृत्तज्ञ बनाते हुई स्वोत्कार के लिए हस से आग्रह करती है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा प्रसंगा-रूपक प्रलम्भार ॥ ८८ ॥

स भूदृष्टावपि लोकपालात्मैर्मे तदेकाप्रधिय प्रसेदे ।

न हांगम्माद्वृत्ते यदेव न्वत्र तदासिप्रतिभूर्नमानु ॥ ९ ॥

जोवानु—स इति । किञ्च स भूमूल्य अष्टावपि लोकपाला, तदात्मक इत्यर्थ । 'अष्टामिन्नोक्तपालाना मात्रामिनिर्मितो नृप' इति स्मरणात् । जत एव तदेकाप्रधियो नलै क्तानबुद्धे मे मन तैल्लोकपालै प्रसेदे प्रसन्न भावे लिट् । देवता ध्यायत प्रसीदतीति भाव । कुत्र ? इतरस्मात् प्रसादादन्वयेत्यर्थ । स्वय न्वयनेवापत्य मम तदासिप्रतिभू नलप्राप्तिग्नकोऽभूरिति मत् तन्न घटते हि । सत्प्रसादानावे कुतो मनेद धेय ? इत्यर्थ ॥ ८९ ॥

अन्वय—मः भूदृत् अति ज्यो अपि लोकपाला, तदेकाप्रधिय ये तं प्रसेदे, इ यन् स्वयम् एत्य मम तदासिप्रतिभू अनु (तत्) इतरस्मान् न घटते ।

हिन्दी—वह धरणीधर (राजा नल) भी इन्द्रादि अष्ट लोकपाल रूप है, उस (नल) में ही एकजान बुद्धिवाली (एकाप्रधया अनुरक्ता) मेरे प्रति वे (अष्ट लोकपाल) प्रसन्न हो गये हैं, कारण कि जो तुम अपने आप आकर उस (नल) की प्राप्ति में मल्लज हो गये, वह और (लोकपालातिरिक्त) किसी प्रकार से नहीं घटता ।

टिप्पणी—दमयन्ती को जो नल से सयोजना का सायक हस स्वय मिल गया, वह सामान्य बात नहीं है। यह दमयन्ती के नल के प्रति एकाप्र अनुराग का प्रमाण है। राजा अष्ट लोकपालों की मात्राओं से निर्मित होता है, जो नल के माध्यम से अष्ट लोकपाल ही दमयन्ती पर वृत्तानु हो गये हैं। इसी से यह सब घटित हो रहा है। विद्याधर ने यहाँ रूपक और अनुमान का निर्देश किया है ॥ ८९ ॥

अकाण्डमेवात्ममुवाऽजितस्य भूत्वाऽपि मूल मयि वीरणस्य ।

भवान्न मे किं नलदत्वमेत्य कर्ता हृदश्चन्दनलेपकृत्यम् ॥ ९० ॥

जीवात्—अकाण्डेति । हे हृत् 'वि वि वि र प त त्रिण ' इत्यमर । 'रोरी'ति रेफलोपे 'दृलोपे पूर्वस्ये'ति दीर्घ । भवान् अकाण्डमनवसर एव 'अत्यन्तसयोगे द्वितीया' आत्मभुवा कामेन मयि विषये अजितस्य कृतस्य रणस्य ग्राहप्रहारलक्षणस्य मूल हंसानामुद्दीपकत्वेन निदान भूत्वाऽपि अन्यत्र बाण्डो दण्ड तद्वजितमकाण्ड यथा तथा आत्मभुवा ब्रह्मणा अजितस्य सृष्टस्य वीरणस्य तृणविशेषस्य मूल मूलावयवो भूत्वा अत एव नलदत्व नैपथदातृत्वम् । अयम उशीरत्व चेत्ययम् । हृद चन्दनलेपकृत्य शंतयोत्पादन न कर्ता करिष्यत्येव परोपकारशीलत्वादिनि भाव । 'काण्डोऽस्त्री दण्डगणावेवर्गावसरवारिषु ।' 'स्या- ह्वोरण वीरतरुमूलस्योशीरमस्त्रियाम् ।' 'अमय नलद सेव्यमि'ति चामर वीरणस्येति शब्दश्लेष । अन्यत्राघंश्लेष । तथा च नलदत्वमेत्य चेति प्रकृता- प्रकृतयोरभेदाध्यवसायेन हृत् आरोप्यमाणस्योशीरस्य प्रकृत्या तादात्म्येन चन्दन- कृत्यलक्षणप्रकृतकार्योपयोगात् परिणामालङ्कार । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोप- योगित्वे परिणाम' इति लक्षणात्, स चोक्तश्लेषप्रतिबिम्बोत्थापित इति सङ्कर ॥ ९० ॥

अन्वय—अकाण्डम् एवमपि आत्मभुवा अजितस्य रणस्य मूल भूत्वा अपि वि भवान् नलदत्वम् एत्य हृद चन्दनलेपकृत्य न कर्ता ? अथ च—'अकाण्ड- मेव ' अजितस्य वीरणस्य मूल भूत्वा अपि भवान् न कर्ता ?'

हिन्दी—अनवसर (कौमारावस्था में) ही मेरे प्रति 'आत्मम्' (काम) द्वारा आरोपित युद्ध के मूलकारण होकर भी हृदविह्वल आप नल का देने वाले होकर मेरे हृदय पर क्या चन्दनलेप का कार्य नहीं करेंगे ? अथवा— विधाता द्वारा मेरे निमित्त सृष्ट पवरहित वीरणघास (तप्त लस) के मूल (जड़) आप नलदत्व (उशीरता — लस-लस होना) का प्राप्त होकर मेरे (सतप्त) हृदय पर चन्दन का (ठंडा) लेप न करेंगे ? करना ही उचित है ।

टिप्पणी—दमयंती पर अनवसर ही कौमारावस्था में ही काम ने युद्ध आरोपित कर दिया है, जिसका कारण है नल का सवाद देने वाला हृत् ।

तो उचित यही है कि वह हृष ब्रह्मा द्वारा दमयन्ती के निमित्त ही विशेषतः उन्मादित पर्वरहित सप्त सप्त धान के भाव को प्राप्त कर—दीर्घता-शायक सम-सप्त (उशीर) बनकर, विरहसतत दमयन्ती के हृदय पर चन्दन-रूप के समान राजा नल की उपलब्धि कराये । जिसने पीडा दी, वही उपचार करे । यही उचित है । हृष ही इस कार्य को सपन्न कर सकता है, अन्य कोई नहीं । यहाँ 'वीरण' में शब्द-रत्न है, अन्यत्र अर्थ-रत्न । परिणाम अलकार भी है, क्योंकि 'नलदम्बम् एतम्'—इसमें प्रकृत और अप्रकृत ने जनेशायवसाय द्वारा हृष में आरोप्यमाण उशीर की प्रकृति के साथ तादात्म्य से 'बदनकृत्य-रूप प्रकृत कार्य में उद्योग है और परिणाम होना ही ह आरोप्यमाण की प्रकृतोन्मोहिता में । इस प्रकार यहाँ श्लेषोत्थापित-परिणाम होने में सक्षर है ॥ ९० ॥

अल विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला कार्ये किञ्चिन्महे विचारः ।

गुरुपदेश प्रतिमेव तीक्ष्णा प्रतीक्षते जानु न कालमार्ति ॥ ९१ ॥

जोवानु—अलमिति । हे हन । विलम्ब्याल न विलम्बितव्यमित्यर्थ ।

'अलङ्कृतोरित्यादिना क्त्वाप्रत्यये त्यवादेश । त्वरितुं वेला हि त्वराकाल सन्वयमित्यर्थ । 'कालमयवेलासु तुमुन्' कुत ? स्वयं-हे विलम्बमहे कार्ये विचारो विमर्शं क्लिप्ति प्रसिद्धौ, अन्यथा विपत्स्यत इति भावः, तथाहि तीक्ष्णा शीघ्रप्राहिणी प्रतिभा प्रज्ञा गुरुपदेशमिव आक्षिप्यति जातु कदापि काल न प्रतीक्षते, कालसेन न मृत इत्यर्थः । उपमार्गतरन्यामयो नमृष्टि ॥ ९१ ॥

अन्वयः—विलम्ब्य अलम्, हि त्वरितुं वेला, किल स्वयंसहे विचारः, तीक्ष्णा प्रतिभा गुरुपदेशम् इव आर्ति जातु काल न प्रतीक्षते ।

हिन्दी—विलम्ब मत करो, शीघ्रता करने का समय है, जिसमें विलम्ब सह लागि जाय, उन कार्य में सोच विचार किया जाता है । दिव्य की कुशाग्र तुल्य तीक्ष्ण नव-श्रोत्रोन्मेषशालिनी प्रज्ञा जैसे गुरु के उपदेश की प्रतीक्षा नहीं करती, बैसे ही पीडा विलम्ब (समय) की प्रतीक्षा नहीं करती ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती अब विरह पीडा सहने में अगत है, अब हृष को अब अधिक साँच-विचार में ऊहापोह में समय बिताना ठीक नहीं । तीक्ष्णबुद्धि कार्य करने में यह प्रतीक्षा नहीं करता कि जब मुझ की

कार्यं निदेश करें, तब वह कुछ करे, वह तो अविलंब कार्य में लग जाता है, विलंब उसे सहा नहीं, ऐसे ही विरह-पीड़ा भी समय की प्रतीक्षा नहीं करती। मल्लिनाथ यहाँ उपमा अर्थात्तरन्यास की समृद्धि मानते हैं, विद्याधर काव्य-निग उपमा ॥ ९१ ॥

अभ्यर्थनीयस्स गतेन राजा त्वया न शुद्धान्तगतो मदर्थम् ।

प्रियास्यदाक्षिण्यवलात्कृता हि तदोदयेदन्यवधूनिपेध ॥ ९२ ॥

जीवानु—अथानन्तरकृत्य सविशेषमुपदिशति—अभ्यर्थनीय इत्यादिदलोक-पञ्चकेन । गतेन इतो यातेन त्वया स राजा नल शुद्धान्तगत अतपुरस्थो मदर्थं मत्प्रयोजन नाभ्यर्थनीयो न वाच्य, दुहादित्वाद् द्विकर्मत्वम् 'अप्रधाने दुहादी-नामि'ति राजोऽभिहितकर्मत्वम् कुत ? हि यस्मात्तदा तस्मिन् काले प्रियाणा-मास्यदाक्षिण्य मुखावलोकनोत्थापितच्छन्दानुवृत्तिबुद्धिरित्यर्थं । तेन वलात् कृतो वलात्प्रतिवर्तितो अयवधूनिपेध उदयेत् उन्पद्यत ॥ ९२ ॥

अन्वय —यातेन त्वया शुद्धान्तगत स राजा मदर्थम् न अभ्यर्थनीय, हि तदा प्रियास्यदाक्षिण्यवलात्कृतं अयवधूनिपेध उदयेत् ।

हिन्दी--यहाँ से जाकर तुम शुद्धरनिवास में स्थित उस राजा से मेरे निमित्त प्रार्थना न करना क्योंकि उस समय प्रिय रानियों के मुख समुत् होने से उत्पन्न दक्षिणभाव के अनुरोध से और एक पत्नी के विषय में नकारात्मकता उठ सकती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने हंस को सलाह दी कि जब राजा नल अत पुर में अन्य रानियों के साथ बैठे हों तो वहाँ वह दमयन्ती-विषयक प्रस्ताव उपस्थित न करे, क्योंकि यह उचित न होगा । कारण कि नल है दक्षिण नायक—सब क्रियाओं में एक-सा अनुराग रखनेवाले, उनको अपनी प्रियाओं का मुख देखते अपने दक्षिणभाव के कारण एक और पत्नी लाने का प्रस्ताव अनुकूल न लगेगा । राजा के मन में दो भाव उत्पन्न होंगे—एक तो और एक पत्नी लाने के संबंध में लज्जा, दो—समक्ष उपस्थित प्रियाओं से अधिक सुन्दरी की कल्पना के कारण उनकी अवशा समझी जाने से उनके प्रति प्रीति का अभाव प्रकट होना । उस स्थिति में हंस का दमयन्ती विषयक प्रस्ताव उचित न होगा । काव्यनिग अलंकार ॥ ९२ ॥

शुद्धनानमभोगनितान्ततुष्टे न नैषधे काममिदं निगाद्यन् ।

अथा हि तृप्तय न वारिधारा स्वादु-न्मुगन्वि- स्वदते तुभारा ॥९३॥

जीवानु—शुद्धान्तेति । त्रिच शुद्धान्तसम्भोगेन अन्तपुरस्त्रीसम्भोगेन नितान्ततुष्टे अन्तसम्भोगे नैषधे नलविषये इदं कार्यं न निगाद्य न निगदित-
व्यम्, 'ऋहलोन्वत्' 'गन्मदेत्यादिना सोपसर्गद्यतो निषेधात् । अथाहि अथा
तृप्तय नल्लिस्तृप्तयेऽनर्न । 'सुगन्तुमे'त्यादिना पद्योत्तमासप्रतिषेधादेव ज्ञानात्
पद्यो 'न्चयाना प्रीयमाण' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । स्वादुर्नधुरा सुगन्धि-
कर्षुरादिज्ञानना शोभनगन्धा । अत्र कवीना निरकृतात्वाद्गन्धमेवे तदेकान्तत्व-
निमनानादरः । तुभारा शीतला वारिधारा न स्वदते न रोषते हि । दृष्टान्ता-
लकार ॥ ९३ ॥

अन्वय—शुद्धान्तसम्भोगनितान्ततुष्टे नैषधे इदं कार्यं न निगाद्यन्, हि
अथा तृप्तय स्वादु सुगन्धि तुभारा वारिधारा न स्वदते ।

हिन्दो—जब नियन्त्राज शुद्धान्तपुर में सम्भोग करके परितुष्ट हो, तब
भी यह कार्य (विवाह-प्रस्ताव) न करना, क्योंकि जो अब बल पीकर पूर्ण
तृप्त हो चुका है, उसे स्वादिष्ट, सुगन्धि और अति शीतल बल की धारा में भी
स्वाद नहीं आता ।

टिप्पणी—एक दूधरे अनवसर की ओर संकेत । जो नारी भी से तृप्त हो,
उसे स्त्री-वर्षा बँसे ही जलचिह्न लगती है, जैसे जिसकी प्यास बुझ गयी है,
उसे स्वादिष्ट, कपूर-केवडा आदि की सुगन्ध से युक्त अति शीतल जल भी
नहीं रुचता । मन्त्रिणाप के अनुसार दृष्टात, विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास-माना है ॥

विज्ञापनीया न गिरो मदर्याऽऋषा कटुष्णे हृदि नैषधस्य ।

पित्तं दूने रसने मितीरपि तिक्तायते हसकुलावतस ' ॥ ९४ ॥

जीवानु—विज्ञापनीया इति । हे हसकुलावतस ! नैषधस्य हृदि हृदये
ऋषा शोधेन कटुष्णे ईषदुष्णे चकारात्को वदादेश । महामिमा मदर्या अप्येन
सह नियसमास सर्वलिङ्गता च वक्तव्या, गिरो वाचो न विज्ञापनीया' न
विषेयाः न विज्ञाप्या इत्यर्थः । अथाहि पित्तं पित्तशोषेण दूने दूयिते रसने रस-
नेन्द्रिये मिता शकंरपि तिक्तायते तिक्तोभवति लोहिवादित्वात् कस्य, 'वा कस्य'
इति आमनेपदम् । जत्रानि दृष्टातालङ्कारः ॥ ९४ ॥

अन्वय — हसकुलावतस, नैषधस्य हृदि क्रुधा कदुष्णे त्वया मदर्या गिर-
न विज्ञापनीया रसने पित्तेन दूने सिता अपि तिक्तायते ।

हिन्दी—हे हसवशप्रसूत, निषधराज का हृदय क्रोध से कुछ तप्त होने पर
तुम मेरे निमित्त वचन न कहना, जीम के पित्त बिगड़ने से दूषित होने पर
मिसरी भी सीती लगती है ।

टिप्पणी—सीसरे अनवसर की चर्चा । क्रोध में व्यक्ति को उचितानुचित
का भान नहीं रहता, सो जब निषधराज कुछ क्रुद्ध हो, तब भी दमयन्ती-
विषयक चर्चा का कुफल हो सकता है । यद्यपि दमयन्ती रूपगुणसंपन्ना अनुपम
रमणीरत्न है, फिर भी उचित अवसर का अभाव उसे अवमानना योग्य बना
सकना है । मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टांत अलंकार, विद्याधर ने अर्थांतरन्यास
माना है और 'तिक्तायते' को उपमा कहा है ॥ ९४ ॥

धरातुरासाहि मदर्ययाञ्चा कार्या न कार्यान्तरचुम्बिचित्त ।

तदार्षथिनस्यानवबोधनिद्रा- विभर्त्यवज्ञाचरणस्य मुद्राम् ॥ ९५ ॥

जीवानु—धरेति । तुर त्वरित सहयत्वभिभवत्परीनिति तुरापाठिन्द्र-
सहतेश्चौरादिकत्वात् त्विप्, 'नहिवृती'त्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घं, प्रकृतिप्रहणे
प्यन्तस्यापि ग्रहणात्, मुग्धभोजस्तु तुराशब्द टाबन्तमाह । तस्मिन् धरा-
तुरासाहि भूदेवेन्द्रे नले अजादिषु असाङ्ग पत्वात् 'सहे साङ्ग स' इति पत्व
नास्ति । कार्यान्तरचुम्बिचित्ते व्यासक्तचित्ते मदर्ययाञ्चा मत्प्रयोजनप्रार्थना
न कार्या । तथाहि—तदा व्यासङ्गकाले अथितस्य अनवबोध अबोध स एव
निद्रा सा अवज्ञाऽऽचरणस्य अनादरकरणस्य मुद्रामभिज्ञान विभर्ति, अनादर-
प्रतीतिं करोतीत्यर्थः । तच्चातिकष्टमिति भावः ॥ ९५ ॥

अन्वय,—धरातुरासाहि कार्यान्तरचुम्बिचित्ते मदर्ययाञ्चा न कार्या, तदा
अथितस्य अनवबोधनिद्रा अवज्ञाचरणस्य मुद्रा विभर्ति ।

हिन्दी—धरती के इन्द्र (नल) का चित्त जब अन्य कार्य में तल्लीन हो,
तब भी मेरे निमित्त याचना न करना, उस समय याचिन (नल) की प्रबोध
रूप—अप्रवणरूप निद्रा अवहेलना का रूप धारण कर सकती है ।

टिप्पणी—एक सीसा अनवसर । अन्य कार्यापेक्ष नल भी दमयन्ती-

विरयक प्रार्थना के लिए उपयुक्त न होगा। दूसरे काम में वित्त के आसक्त होने पर वह इस प्रार्थना पर ध्यान न दे सकता है और प्रस्ताव की अवज्ञा ही सम्भवी है। विद्याधर के अनुसार उल्लेखित प्रकार का व्यवहार। इस प्रकार चार स्थानों में दमयन्ती ने प्रस्ताव के निमित्त चार अनुनयुक्त अवसरों का निवेश किया है ॥ ९५ ॥

विज्ञेन विज्ञापयन्निदं नरेन्द्रे तस्मात्त्वयाजस्मिन् समय समीक्ष्य ।
कार्यन्तिकासिद्धिविश्म्वसिद्योः कार्यस्य काष्णस्य शुभा विभाति ॥९६॥

जीवातु—विज्ञेनेति । तस्मात् तस्माद् विज्ञेन विवेकिता त्वया समय समीक्ष्य इदं कार्यमस्मिन् नये विषये विज्ञापयम् । विश्व स्मादिभ्यासङ्कुमाह—
आयन्तिकेति । हे ह्य ! कार्यस्य कार्यान्तिकासिद्धिविश्म्वसिद्योर्नये कार्यस्य विद्युयस्ते वा कतरा शुभा समीचीना विभाति ? जन्वहरविज्ञापने कार्य-
विभाताद्वर विश्वनेत्यादि कार्यसाधननिष्ठि भाव ॥ ९६ ॥

अन्वय—तस्मात् विज्ञेन त्वया समय समीक्ष्य इदम् अस्मिन् नरेन्द्र विज्ञापयम् । कार्यस्य कार्यान्तिका सिद्धिविश्म्वसिद्योर्नये कार्यस्य का शुभा विभाति ?

हिन्दो—अनएव विशेषज्ञ कार्य उचित समय की समीक्षा कर यह (प्रस्ताव) इस नरराज (नर) के अनुष्ठान उपस्थित करें । कार्य पुनर्जया सिद्ध ही न हो अथवा विश्व के सिद्ध हा—इन दोनों स्थितियों के मध्य कौन-सी स्थिति आपको शुभ (मनी) प्रतीत होती है ?

टिप्पणी—कार्य की दो स्थितियाँ समझ हैं—(१) वह सफल न हो, (२) वह विफल में सफल हो । कार्य समझदार मातेगा कि पहिली की अपेक्षा दूसरी ही स्थिति मर्ती है । तो हृष की अपना प्रस्ताव उचित अवसर पर ही रखना चाहिए, नष्टे ही कुछ विफल हो जाये । विद्याधर के अनुसार उल्लेखित प्रकार के अनुनय ॥ ९६ ॥

इत्पुत्रवत्या यदप्येपि लज्जा साज्जीविती चेतुषि नःचकान्नु ।
स्तरन्नु साज्ञी तददोषतानानुन्माद्य यस्ततदवीवदत्तान् ॥ ९७ ॥

जीवातु—इतीति । इत्यमुक्तवत्या तथा लज्जा अलोपित्यक्तेति यत् । मा, विधेयप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता, जनौचिती अनौचित्यङ्गतमेतत् नोऽस्माकं शृङ्खला चेतसि चकास्तु । किन्तु लज्जात्यागस्य अदोषतायां स्मर साक्षी प्रमाण, य स्मर ता भंगीभुन्माद्य उन्मादावस्यां प्राप्यतत्तदनुचित वचनमवीच्यत् वादयतिस्म । वदतेषां चडि 'गनिबुद्धी' त्यादिना वधेरणि कर्तुं कर्मत्वम् । प्रकृतिस्वस्याय दोषो न वामोपहतचेतमि इति भाव ॥९७॥

अन्वय — इति उक्तवत्या यत् लज्जा अलापि सा न चेतसि अनौचितो चकास्तु, तु उददोषतायां स्मर साक्षी, य ताम् उन्माद्य तत् अवीचदत् ।

हिन्दी—यह सब (उपर्युक्त) कहती दमयती ने जो लज्जा का लोप कर दिया, वह भले ही हम लोगों के चित्त में अनुचित प्रतिमासित हो, किन्तु उस (दमयती) की निर्दोषता में काम ही प्रमाण है, जिसने उसे उन्माद में भरकर यह कहाया ।

टिप्पणी—लज्जा त्याग कर वाला दमयन्ती जो यह सब बोल गयी, वह श्रोता, पाठक अथवा कवि को अनुचित लग सकता है, पर दोष उसका नहीं उस काम का है जिसके कारण उत्पन्न उन्माद ने उससे यह कहा डाला । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥९७॥

उन्मत्तमासाद्य हरः स्मरन् द्वेष्यसोमा मुदमुद्वहेते ।

पूर्वस्मरस्पर्धितया प्रमूढ नून द्वितीयो विरहाधिदूढम् ॥ ९८ ॥

जीवातु—कामो वा किमर्थमेव कारयतीत्याशङ्क्य तस्याय निसर्गो यदुन्मत्तेन श्रीडतीति सरष्टान्तमाह—उन्मत्तमिति । हर स्मरश्च द्वावपि उन्मत्तमासाद्य अमीमा दुःखता मुदमुद्वहेते दयतु । वहे स्वरितेत्वादात्मनेपदम् किन्तु सत्र निर्देशनमात् पूर्वो हर स्मरस्पर्धितया स्मरद्वेषितया प्रमूढ धुत्तूरकुमुभ तस्यायुपतयेति भाव । अयस्तु द्वितीय स्मरस्तु विरहाधिदूढ विरहव्यथादुस्यमुन्मादावस्यापप्रमित्यर्थं । अयत्र विनोदलाभादित्यर्थं । 'उन्मत्त उन्मादवति धुत्तूरधुत्तूरदयोरिति विश्व । उभयोरभेदाप्यवमात् समानार्थम्वविशेषणमत्रास्तेपात्रकृताप्रकृतगाथरत्वाच्च उभयश्लेषे तेन हरवत् स्मरोऽनुमत्तप्रिय इति उपमा गम्यते ॥ ९८ ॥

अन्वय — परस्परस्पर्धितया नून हरः स्मरः च द्वौ अग्नि उन्मत्तम् जासाद्य
असीमा मुदम् उद्वहेत्ते, पूर्वं प्रसून द्वितीय विरहाविद्वनम् ।

हिन्दी—अन्वय के प्रतिस्पर्धी होने के कारण महादेव शिव और काम ये दोनों ही ऐसा लगता है कि उमादी को प्राप्त कर असीम प्रवृत्ता-
घाग्न करते हैं । इनमें पहिले शिव उन्मत्त अर्थात् घतूर के फूल को, और
दूसरा काम उन्मत्त अर्थात् विरहोमादी जन को अथवा शिव के गण पिशाच
को (प्राप्त कर) ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती के उन्मादजनित निर्लज्ज व्यवहार का
कारण स्मर बनाया गया था । यहाँ कवि और-एक उभावना करता है ।
उन्मत्त का अर्थ उन्मादग्रस्त तो है ही, घतूर और पिशाच भी है । इस
आधार पर कवि सकेत करता है कि शिव और काम दोनों 'उन्मत्त' को प्राप्त
कर प्रसन्न होते हैं । उन्मत्त-घतूर शिव को प्रिय है और उन्मत्त पिशाच तो
उनका गण ही ठहरे । सो दोनों की प्राप्ति पर उन्हें विशेष प्रसन्नता होती है ।
प्रतिस्पर्धा की बात यहाँ यह है कि शिव-काम में शत्रुभाव है, सो उन्मत्त को
प्राप्त कर दोनों में प्रसन्न होने की भी प्रतिस्पर्धा हो जाती है कि कौन अधिक
प्रसन्न हो ? उन्मत्त 'घतूर' काम का एक वाण ही है, सो उसकी प्राप्ति
उसकी प्रसन्नता का कारण होगी ही, 'उन्मत्त' व्यक्ति इसलिए उसकी प्रसन्नता
का कारण बनता है कि वह अपने प्रभाव की सिद्धि देखता है ।

अथवा शिव काम के वायुध-प्रतिस्पर्धी के जस्त्र 'घतूर' को पाकर
प्रसन्न होते हैं कि चलो, शत्रु की शत्रु पर अधिकार हुआ । ऐसे ही काम भी
'उन्मत्त' अर्थात् पिशाच को पाकर प्रसन्नता में भर जाता है कि चलो, शत्रु
का एक मेवक पकड़ में आया ।

अथवा दोनों ही परस्पर स्पर्धा में उन्मत्त को पा एक-दूसरे से अधिक
प्रसन्नता व्यक्त करते हैं ।

'विरह' काँप के अनुमान 'उन्मत्त' के अर्थ हैं उन्मादी और घतूर और
शत्रुद्व । इस प्रकार दोनों में जभेद होने से समानप्रभाव विशेषणभाव है, इस
प्रकार प्रकृतप्रकृत गोचर होने से यहाँ शत्रु और जय शत्रु हुआ, जिससे

हर के तुल्य स्मर भी उन्मत्तप्रिय है, यह उपमा ध्यम्य होती है। यह जीवातु-कार मल्लिनाथ का कथन है। विद्याधर के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा व्यतिरेक अलंकार है ॥१८॥

तथाऽभिधात्रीमथ राजपुत्री निणाय ता नैपथवद्धरागाम् ।

अमोचि चञ्चुपुटमौनमुद्रा विहायसा तेन विहस्य भूय ॥ ९९ ॥

जीवातु—तथेति । तथाऽभिधानी ता राजपुत्री भैमी नैपथे नले वद्धरागा निर्णाय तेन विहायसा विहगेन विहस्य भूय चञ्चुपुटस्य मौनमुद्रा निर्वचनत्व-ममोचि आवादीदित्यर्थ ॥ ९९ ॥

अन्वय—अथ तथा अभिधात्री ता राजपुत्री नैपथवद्धरागा निर्णाय तेन विहायसा विहस्य भूय चञ्चुपुटमौनमुद्रा अमोचि ।

हिन्दी—इसके अनंतर उस प्रकार कहनेवाली उस राजकुमारी को निपथ-राज के अनुराग में आवद्ध मानकर उस पक्षी ने हँसकर पुन अपनी चोच की मौनस्थिति का परित्याग किया, अर्थात् कहने के लिए चोच खोली ।

टिप्पणी—हस को दमपन्ती के नल पर अनुरक्त होने का विश्वास हो गया और वह कहने लगा । विद्याधर के अनुसार यहाँ अोज गुण है और छेकानुप्रास अलंकार ॥९९॥

इद यदि षमापतिपुत्रि । तत्त्व पश्यामि तन्न स्वविधेयमस्मिन् ।

त्वामुच्चकैस्नापयता नलं च पञ्चेपुणेवाजनि योजनेयम् ॥ १०० ॥

जीवातु—इदमिति । हे षमापतिपुत्रि । इद त्वदुक्त तत्त्व यदि सत्य यदि तत्तद्वि अस्मिन् विषये स्वविधेय मत्कृत्य न पश्यामि, किन्तु त्वा नृप च उच्च-कैरत्यन्त तापयता पञ्चेपुणैव इय योजना मुक्वयो सङ्घटना अजनि जाता । जने वमणि 'चिणो लुक्' ॥ १०० ॥

अन्वय — षमापतिपुत्रि, यदि इद तत्त्व तत् अस्मिन् स्वविधेय न पश्यामि, स्व नृप च उच्चकै तापयता पञ्चेपुणा एव इय योजना अजनि ।

हिन्दी—हे धरणी के स्वामी की बेटी, यदि यह (त्वोक्त) सत्य है, तो इस सबष में मुझे कुछ करणीय नहीं दीखता, तुम्हें और राजा नल को अत्यधिक बिरह सतप्त करते पञ्चबाण (काम) ने ही इस योजना को श्रुष्टि की है ।

टिप्पणी—दमयन्ती और नल के मन में एक-दूसरे को पाने की अदम्य कामना है, अतः इस का काम अथ कुछ रह ही नहीं जाता। याचना तो बनी-बनायी है। विद्याधर के अनुसार यहाँ कार्यकारण पौवपियंरूपा अति-शयोक्ति है ॥ १०० ॥

त्वद्ब्रह्मबुद्धेर्बहिरिन्द्रियाणा तस्योपवासव्रतिना तपोभि ।

त्वामथ लब्ध्वाऽमृततृप्तिभाजा स्व देवभूय चरितार्थमस्तु ॥ १०१ ॥

जीवानु—त्वदिति । किन्तु त्वद्ब्रह्मबुद्धे त्वदापत्तचित्तस्य त्वामेव धायत इत्यर्थं । अत एव तस्योपवासव्रतिना त्वदासद्गाद्विषयान्तरव्यावृत्ताना तपोनिष्कतोपवासव्रतरूपेरद्य त्वा लब्ध्वा मन्मुचेन लब्धप्राया निरिचित्य साक्षात्कृत्येति च गम्यते, अत एव अमृतेन या तृतिस्तद्भाजा बहिरिन्द्रियाणा स्व स्वकीय देवभूय देवत्वमिन्द्रियत्व सुरत्वञ्च, 'देव सुरे रात्रि देवमाख्यात-मिन्द्रियमिति विश्व । चरितार्थं सफलमस्तु । अमृतपानकपल्त्वाद्देवत्व स्यादिति भाव । अर्यान्तरप्रतीतिर्ध्वनिरेवेत्यनुसन्धेयम् ॥ १०१ ॥

अन्वय.—त्वद्ब्रह्मबुद्धे तस्य उपवासव्रतिना तपोभि अथ त्वा लब्ध्वा अमृततृप्तिभाजा बहिरिन्द्रियाणा स्व देवभूय चरितार्थम् अस्तु ।

हिन्दी—तुम्हारे प्रति अपनी बुद्धि को प्रतिबद्ध किये उस (नल) की उपवास-व्रत में लगीं, तपस्वरण द्वारा आज तुमको प्राप्त कर अमृतपान की परितृप्ति की भाजन बाह्य इन्द्रियों का अपना 'देवत्व' (इन्द्रियत्व और देवता होना) सफल हो ।

टिप्पणी—दमयन्ती के अनुराग के विषय में जानकर नल चरितार्थ हो जायेगा, उनकी नेत्रादि बाह्येन्द्रियां तृप्त हो जायेंगी, जैसे दमयन्ती के रूप में उसे अमृत की मन्दाकिनी मिल गयी हो। इस प्रकार उनका देवत्व अर्थात् इन्द्रिय-हाना ही चरितार्थ न होगा, प्रत्युत देवत्व अर्थात् देव होना भी सफल हो जायेगा, क्योंकि यह माना जाता है कि इन्द्रियों में देवता का काम होने से वे 'देव' कही जाती हैं। उदाहरणार्थ—सूर्य 'सु' होकर अर्थात् में प्रविष्ट है—'आदित्यस्यसु'त्वाऽक्षिणी प्राविश्य' (ऐतरेय० २।४)। दमयन्ती के अभाव में नल की इन्द्रियां न तो कृतकाम ही थी और न उक्त 'देव' नाम ही

सायंक था, जब वे कृतकाम होगी । 'विश्व' कोय के अनुसार 'देव' शब्द सुर, राजा और इन्द्रिय अर्थाँ का वाचक है । ध्वजि' उपवासादि धृत-परिचालन में लगकर तपस्वारत हो और तल्लीन भाव से ब्रह्म में बुद्धि लगाकर ही पुण्य भाजन हो ब्रह्म को प्राप्त करता है और मोक्षानन्द रूप देवत्व प्राप्त करता है, ऐसी ही नल की बाह्येन्द्रियो की स्थिति है । मल्लिनाथ ने महीं अर्थाँ उर प्रतीति से ध्वनि का संकेत किया है, विद्याधर समासोक्ति मानते हैं ॥ १०१ ॥

तुल्यावयोमूर्तिरभून्मदीया दग्धा पर साऽभ्य न ताप्यनेऽपि ।

इत्यभ्यसूयन्निव देहतापं तस्याऽननुस्त्वद्विरहाद्विधत्ते ॥ १०२ ॥

जीवातु—भदुक्त नृप पश्चेपुस्तापयतीति तदाह—तुन्येति । आवयो-
नलस्य मम चेत्यर्थ । 'त्यदादीनि सर्वेनित्यमि'ति सर्वग्रहणादत्यदादिना मलेन
सह त्यदाद्येकशेष । मूर्तिस्तनुस्तुन्या तुन्यरूपाऽभूत् । तत्र मदीया सा मूर्ति
पर नि शेष दग्धा भस्मीकृता, अस्य मूर्तिस्तनुनं ताप्यते तापमपि न प्राप्यते
इति हेतोरभ्यसूयन् ईर्ष्यानिवेत्युत्प्रेक्षा । अतनुरनङ्गस्त्वद्विरहात्त्वद्विरहमेव
रन्ध्रमन्विष्येत्यर्थ । तस्य नलस्य देहताप विधत्ते । तस्मात्सिद्धिपदमुपतिष्ठते
ते मनोरथ इति भाव ॥ १०२ ॥

अन्वय—आवयो मूर्तिः तुन्या अन्तः, मदीया दग्धा परम् अस्य ना
ताप्यते अपि न—इति अभ्यसूयन् इव अतनु त्वद्विरहात् तस्य देहताप विधत्ते ।

हिन्दी—हम दोनों (काम-नल) का रूप समान था, मेरा (काम का)
देह तो जल गया, किन्तु इस (नल) का देह तपाया भी नहीं जाता—इस
प्रकार मानो ईर्ष्या करता अदेह कामदेव तेरे वियोग से उसके देह को तप्त
कर रहा है ।

टिप्पणी—विरही नल को स्मरजन्य ताप दशा का घ्यात्र से वर्जन ।
विद्याधर ने यहाँ चिन्ता नामक स्मर दशा और उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है,
प्रकाशकार यहाँ कामजनित विरहेश्वर मानते हैं ॥ १०२ ॥

लिपि दूना भित्तिविभूषण त्वा नृप. पिवन्नादरतिनिर्निमेषम् ।

चक्षुर्नरेरस्मिन्मात्मचक्षुराग स धत्ते रचित त्वया नु ॥ १०३ ॥

जीवातु—अयास्य दशावस्था वर्पयन् चक्षुःप्रीति तावत् श्लोकद्वयेनाह—

लिपिनित्यादि । हे भ्रैमि ! म नृपो मित्तिविभूषण कृडयालङ्कारभूता लिपि
चित्रनयी त्वा दृशा आदरेणास्यमा निर्निमेष पिबन् चञ्जुसंरंरश्चुमिररपित त्वया
नु त्वया वा रचितमात्मचञ्जुपो रागमादभ्यमनुरागश्च घत्ते । जत्रोन्नयकारण-
सम्भवाद्गुणयस्मिन्नपि रागे जाते श्लेषमहिम्नैकत्रानिनातात्कारपविशेन सन्देहः ॥

अन्वयः—स नृप मित्तिविभूषण लिपि त्वा दृशा आदरनिर्निमेष पिबन्
चञ्जुसंरं रश्चुमि नु त्वया रचितम् आत्मचञ्जुराग घत्ते ।

हिन्दी—वह राजा दीवार की बलकार चित्ररूप में दनी (दीवार पर
बने चित्र रूपमें) तुमकी दृष्टि से आदर पूर्वक बिना पलक जनाये पीता हुआ
(एकटक आदर-अनुराग से देखता) आँसु से बहती आँसु की झड़ी से जनिउ
मानों तुम्हारे द्वारा उन्नत किये—अने नत्रों में लाली को धारा कर अपनी
आँसुओं के अनुराग प्रकट कर रहा है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के 'चञ्जु-प्रेम' का वर्णन है । वह दीवार
पर बने दमयन्ती के चित्र को अनुराग और आदर से एकटक निहारता रहता
है, जिससे उसकी आँसुओं से आँसु बह जाते हैं और वे लाल हो जाती हैं, इसी
पर कवि की कल्पना है कि नेत्रों का यह एकटक निहारना, आँसु बहाना और
लाली उनके 'चञ्जु-प्रेम' का प्रमाण है । कवि-सम्पद के अनुसार अनुराग का
रग लाल माना जाता है । मञ्जिनाथ के अनुसार यहाँ सदेह बलकार है,
क्योंकि चञ्जुराग का कारण एकटक निहारना अथवा अनुराग—दोनों हो सकते
हैं । विद्याधर नयन प्रीति और विषय निवृत्ति स्मर-दृशा मानते हुए उत्प्रेक्षा
बलकार मानते हैं । प्रयासकार ने उत्प्रेक्षा का कारण माना है कि वाप्यवनि-
लोहितिमा भानी दमयन्ती विषयक, उद्विग्न नयनानुराग है । प्रथम काम
दशा । 'रतिरहस्य' के अनुसार दस काम-दशाएँ हैं—'नयनप्रीति, प्रथम वित्ता-
सङ्गन्ततोऽप्य सङ्कल्प । निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रयानाथ । उन्नादो
मूर्च्छा मृत्रिरित्येता स्मरदशा दशैव स्युः' ॥ १०१ ॥

पानुदृशाऽऽप्येवमप्यो नृपस्य त्वामादरादस्तनिमोऽप्याजन्ति ।

ममेदमित्युश्रुणि नेत्रवृत्ते प्रीतिनिमेषच्छिदया विवादः ॥ १०४ ॥

६ नै० तृ०

जीवातु—इममेवार्थं मङ्गलान्तरेणाह—पातुरिति । अस्तनिमीलया त्रिनि-
मेपया दशा आलेख्यमयी चित्रगता त्वामादरात्पातुर्दंष्टुरित्यर्थं पिबतेस्तृन्
प्रत्यय । अत एव 'न लोके'त्यादिना पृथीप्रतिषेधात्वमिति द्वितीया । नृपस्य
नेत्रवृत्ते प्रीतेश्चक्षु प्रीतेर्निमेपस्य च्छिदया च्छेदेन सह नेत्रवृत्त्येति शेष ।
भिदादित्वादङ् प्रत्यय । अश्रुणि विपये इदमश्रु भमेति मत्कृतभेवेति विवाद
कलह अस्ति भवतीत्यर्थं ॥ १०४ ॥

अन्वय — अस्तनिमीलया दशा आलेख्यमयी त्वाम् आदरात् पातुः नृपस्य
नेत्रवृत्ते प्रीते निमेपच्छिदया विवादः अस्ति ।

हिन्दी—अपलक दृष्टि से चित्रगता (चित्र मे बनी) तुमको आदर से
पीते (निहारते) राजा के नेत्रों में वर्तमान अनुराग का निमित्तच्छिदा (अप-
लक देखता) से विवाद चल रहा है ।

टिप्पणी—नेत्रानुराग का अन्य भगिमा से वर्णन । नेत्रप्रीति और निमित्त-
च्छिदि—दोनों का दावा है कि नयनाश्रु का कारण वह है । नेत्र प्रीति कहती
है—ये आँसू मैंने उत्पन्न किये हैं, निमित्तच्छिदि कहती है मैंने । यहाँ भी 'नयन-
प्रीति' काम दशा का ही वर्णन है ॥ १०४ ॥

त्व हृद्गता भूमि । बहिर्गताऽपि प्राणायिना नासिकयाऽस्य गत्या ।

न चित्तमाक्रामति तत्र चित्रमेतन्मनो यद्भवदेकवृत्ति ॥ १०५ ॥

जीवातु—अय मन सङ्गमाह—त्वमिति । हे भूमि । त्व बहिर्गतापि हृद्गता
अतर्गता, अति विरोधे तेन चाभासाद्विरोधानासोऽत्रङ्कार । कया गत्या केन
प्रकारेण अस्य नलस्य प्राणायिता प्राणवदाचरिता प्राणसमा 'उपमानादाधारे'
कर्तुं वयङ् प्रत्यय । नासि अस्पेवेत्यथ । यत प्राणोऽपि नासिक्या नासाद्वारेण
आस्यगत्या मुतद्वारेण उच्छ्वासनिश्वासरूपेण बहिर्गतोऽप्यतगतो भवतीति
शब्दश्लेष । अत एव प्राणायितेति श्लिष्टविशेषणमुपमा पूर्वोक्तविरोधेन
सञ्जीर्णा, किन्तु तत्र प्राणायितत्वे चित्रमाश्वर्यरस चित्तमाक्रामति न किञ्चि-
च्छित्रमित्यर्थं । कुत मयस्मादेतन्मनो नलचित्त भवती त्वमेवैका वृत्तिर्जीविना
यस्य तद्भवदेकवृत्तिः, भवच्छब्दस्य सवनामत्वाद् वृत्तिमात्रे पु वद्भाद ।
जीवितमृतस्य प्राणायितत्वे किं चित्र, जीवितस्य प्राणधारणात्मकत्वादिति भाव ॥

अन्वयः—हे नैमि, (१) बहिर्गता अपि हृद्गतता त्व कया गत्या अन्य प्राणापिता न अस्ति ? (२) बहिर्गता त्व नासिकाया आस्थगत्या अपि प्राणापिता । (१) यत् भवदेकवृत्ति एतत् मन चित्रम्, न आक्रामति तत्र चित्रम् । (२) चित्र तत्र चित्त न आक्रामति यत् एतत् मन भवदेकवृत्ति ।

हिन्दो—हे नीमकुमारो, (१) बाहर रहती भी हृदय में बसती तुम किस प्रकार इस (नल) को प्राप्तुत्या नहीं हो ? हो ही । (२) बाहर निदास करती तुम नासिका और मुख को गति (सौन्दर्य) से नल के प्राणों में स्थित हो अर्थात् प्राणसमा हो, जैसे नासिका द्वारा बाहर अशुल बाहर गया वायु मुख द्वारा प्रविष्ट हो प्राणवायु की सजा पाता है । (२) बां कि आपके प्रति एकनिष्ठ यह मन विभक्तमान श्रवणल, आपके चित्र पर झपट क्यों नहीं कर देता—यह आश्चर्य है (विरह श्रवण हो आक्रमण कर देना चाहिए) । (२) तुम्हारा चित्र चित्त को नहीं छोड़ता, क्योंकि यह मन आपमें तन्वीन है ।

टिप्पणी—तृतीय चरण में 'चित्तम्' भी है और पाठान्तर 'चित्रम्' भी । वस्तुन इयमें दूसरी स्मरदशा चित्तासंग का वर्णन है, जिसमें मन की दमजन्ती के प्रति सन्मपता और एकनिष्ठता का विवेचन है । विद्याधर ने यही विषय-निवृत्ति और सकल्प नामक कामदशानों का प्रतिपादन माना है तथा विरोधानास-श्लेष-उपमा की समृष्टि ॥ १०५ ॥

अजस्रमागेह्मि दृग्दीर्घा नद्दृन्वसोपानति तदीयाम् ।

स्वासान् न वर्पत्यधिकं पुनर्यद्विजानासव त्वन्मयनान्तदाप्य ॥ १०६ ॥

जीवानु—जय शान्या सद्दुन्वावस्यामाह—अजस्रमिति । दृग्दीर्घान-
त्वन्नायता तदीया सद्दुन्वा मनोरया एव नोपानानि तेषाम् तति बद्धिक्त्वजस्र
त्वमारोहमि, स्वासान् पुन स नल अनिक वर्पति मुञ्चतीति यत् तच्छ्रवणवर्षे
तव ध्यानात् त्वमयता त्वदान्मकत्वनाप्य प्राप्य, प्राप्नोतेराह, समासे क्त्यो
स्यवादेश, अन्यथा कथमन्यायासादन्यस्य स्वामनोक्ष इति नाव । अत्र स्वास
श्रोत्रमारोहसो कार्यकारणयोर्बद्धिवरन्वीक्तेरसद्दुत्पल्लुत्वात् 'कार्यकारणयो-

भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्गतिरिति लक्षणान्, तन्मूला चेयं तादात्म्योत्प्रेक्षेति सङ्कर ॥ १०६ ॥

अन्वय—दूरदीर्घां तदीया सङ्कल्पसोपानततिम् अजस्रम् आरोहसि यत् पुनः स तव ध्यानात् तदा त्व-मयताम् अवाप्य अधिक श्वासान् वपेति ।

हिन्दो—तुम उस (नल) के मनोरथों की बहुत बड़ी सीढ़ियां पर निरंतर चढ़ी रह्यो हो (नल प्रतिक्षण तुम्हारे विषय में ही विचारता रहता है) कि वह नल तुम्हारे ध्यान में उस समय त्वत्स्वरूप हो लम्बे लम्बे सांस खाता है ।

टिप्पणी—यहाँ तृतीय स्मरदशा सङ्कल्प का वर्णन है । नल दमयन्ती का प्राप्त करने के उपाय सदा सोचता रहता है और लम्बे निश्वास छोड़ता रहता है । वह दमयन्ती का ध्यान करते-करते तत्स्वरूप ही हो जाता है भू गीचीट के समान । सीढ़ियां पर बारम्बार चढ़ता-उतरता व्यक्ति श्रम के कारण लम्बे उच्छ्वास लेगा ही, सो सङ्कल्पसोपानतति पर निरंतर आरोहण करती दमयन्ती के ध्यान में तद्रूपता के कारण मानो यका नल सदान्त उच्छ्वासे छोड़ता रहता है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्वास-सापानारोहण रूप काय-कारणों की वय-धिकरण से उक्ति के आधार पर असंगति अलंकार है, कारण कि कार्य-कारण की भिन्न-देशता असंगति होती है—कार्य कहाँ, कारण वही । नल के दमयन्ती-तादात्म्य की उत्प्रेक्षा असंगतिमूलक है, अतः संकर है । विद्याधर के अनुसार यहाँ असंगति अलंकार का आभास है ॥ १०६ ॥

हृत्तस्य या मन्त्रयते रहस्त्वा ता व्यक्तमामन्त्रयते मुख यत् ।

तद्वारिपुष्पायुधमित्रचन्द्रसख्योचितौ सा खरु तन्मुखस्य ॥ १०७ ॥

जीवातु—हृदिति । तस्य नलस्य हृत् हृदयं कर्तुं या त्वां रह उपायु 'रहचोपायु चालिङ्गे' इत्यमर । मन्त्रयते सम्भाषते ता त्वां तन्मुखं कर्तुं व्यक्त प्रकाशमामन्त्रयते । हे प्रिये ! क्या यामि ? मामनुपान्त पश्य इत्येव-मुर्ध्वच्छरतीति यत् सा तद्रहस्यप्रकाशन, विषेयप्राप्यायात् स्त्रीलिङ्गता । तन्मुखस्य तद्वारिणो नलद्वेषिण पुष्पायुधस्य मित्र सखा धरच्चन्द्रः । तेन यत् सख्य मंत्री साध्यञ्च, तस्य आचिती शोचित्य खलु । अतिमित्रस्मात्परित्या-

दुचित्तमनसहृन्मभेदनमित्यर्थ । जन मुषःशृङ्गखन्धोद्धेतस्य उक्तवैरिनिमित्त-
त्वमुत्प्रेतते ॥ १०३ ॥

अन्वय —उम्ह हूँ या त्वा रः मन्मदते ता मुख व्यक्तम् अमप्रदते, सा
तन्मुखस्य तद्वैरिपुष्पान्बमिप्रचन्द्रसखीवित्री वष्टु ।

हिन्दी —उप (नः) का हृदय जो तुमसे एकाउ में गुप्त मन्मदा करता है,
मुख हमे स्पष्ट व्यक्त कर देता है, उस (नः) के मुख की (स्पष्ट व्यक्ति)
उम (नः) के शत्रु कुमुनामुख (काम) के मित्र चन्द्र का मित्रवनाचिन
व्यवस्था ही है ।

टिप्पणी—उह भी सकल दया है । नाव यह है कि नः ता मन-ही-मन
गुप्त रूप से दमदनी-विषयक विचार करता है, परन्तु उसके मुख पर झलकते
विशेषचरित्त पीलावन, म्लानभाव आदि उसके नाव को प्रकट कर देते हैं ।
सौन्दर्यादि-रूप श्री के कारण काम नः का प्रतिस्पर्धी और शत्रु है, चन्द्र काम
का मित्र है । मित्र का शत्रु शत्रु होता है—उस दृष्टि से नल चन्द्र का भी शत्रु
हूँगा । मुख की प्रतिस्पर्धा (मुख-चन्द्र) के कारण भी चन्द्र नल और नः मुख
का शत्रु है । अथवा मुख रूप में चन्द्र ही है, जो अपने मित्र (काम) के शत्रु
(नः) का रहस्य प्रकाशित कर रहा है और इस प्रकार नल की कामासक्तता
की स्पष्ट घोषणा कर रहा है । मुखस्य चन्द्र का इस प्रकार मित्र की सहायता
करना मित्रवनाचिन व्यवहार है । उपेक्षा उलकार ॥ १०३ ॥

मिनस्य रात्रावधिगव्य शय्या मोहे मनस्य निमग्ज्वन्ति ।

आलिङ्गय या चुम्बनि लोचने मा निद्राञ्जुना न त्वद्वेञ्जुना वा ॥

टीकानु—अय एकेन जागरमरतिश्चाह—म्यितस्तेति । रात्री शय्यामपि-
शय्य शय्यायां गमित्वा 'अपिशीट्स्यात्तामि'ति अधिकरणस्य कर्मन्वम् ।
दिनस्य वस्य मनो मोहे मुखसारवस्ये निमग्ज्वन्ती सती या आलिङ्गयलोचने
चुम्बनि, सा निद्रा त्वदते त्वत्तो विना 'शय्यारादिठरते' इत्यादिना पञ्चमी ।
त्वद्विरगाद्वेतोस्त्वदया चेति द्रष्टव्यम् अङ्गना वा अङ्गना नास्ति, निद्रानिषेधा-
ज्जागर' अङ्गनान्तरनिषेधाद्विषयद्वेषणना अरतिरचोक्ता अत्र निद्राङ्गनयोः
प्रसृतयोरेवाङ्गनासिचुम्बनादिधनंमाभ्यादोपम्यप्रतीते' केचन प्रकृतपोषरा-

तुल्ययोगितालङ्कार । 'प्रस्तुताप्रस्तुतानाम्ब केवल तुल्यधर्मत । औपम्य गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता ॥' इति लक्षणात् ॥ १०८ ॥

अन्वय — रात्रौ शय्याम् अधिशय्य स्थितस्य तस्य मन मोहे निमग्ज्यन्ती या आलिङ्ग्य लोचने चुम्बति सा निद्रा एवदृते अङ्गना वा अधुना नास्ति ।

हिन्दी—रात में शय्या पर लेटे उसके मन को मोह में मग्न करती जो आलिंगन करके नेत्रों का चुम्बन करती है, तेरे बिना वह नींद अथवा अन्य रमणी इस समय नहीं है । अथवा 'वह नींद रूपी अगता' तेरे बिना इस समय नहीं आती ।

टिप्पणी—यहाँ 'निद्राच्छेद' नामक चतुर्थी स्मर दशा का वर्णन है । नल को आजकल दमयन्ती के वियोग में न तो नींद हो जाती है और न अय स्त्री ही आती है । रात भर परलंग पर पड़ा नल दमयन्ती के विचार ही में डूबा जागा रह जाता है । आलिंगन-चुम्बनादि धर्मों के साधम्य से निद्रा और अगता में औपम्य की प्रतीति होती है, जो दोनों प्रस्तुत हैं और प्रकृत गोचर हैं, अत-मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ तुल्ययोगिता अलङ्कार है । विद्याधर ने विकल्प अलङ्कार का निर्देश किया है ॥ १०८ ॥

स्मरेण निस्तक्ष्य वृषैव बाणर्लावण्यशेषा कृशतामनायि ।

अनङ्गतामप्ययमाप्यमान स्पर्धा न सार्धं विजहाति तेन ॥ १०९ ॥

जीवातु—अथ काश्याविस्थामाह—स्मरेणेति । अयं नल स्मरेण वाण-निस्तक्ष्य निघात्य वृषैव लावण्य भान्तिविशेष, 'मुक्ताफलेषु च्छायायास्त-लत्वमिवाङ्तरा । प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते ॥' इति भूपाल । तदेव शेषो मस्यास्ता तनुता काश्यमनायि नीत । नयतेद्विकमं कत्वात्प्रधाने कमणि तुङ् 'प्रधानकमंप्याख्येये लादीनाद्द्विकमणामि'ति वचनात् । वृषात्त्व व्यनक्ति—अनङ्गता कृशाङ्गताम् 'अनुदरे' तिवदीपदयै नय समाप्त, आप्यमानो आनीयमानोऽपि अत्र भूवर्तप्रधाने धानच् तेन स्मरेण सार्धं स्पर्धा न विज-हाति, तथापि त जिगीपत्येवेत्यर्थ । अङ्गकार्योऽपि स्पर्धाविजलावण्यस्या-काश्यादङ्गकथंन वृषैवेति भाव । अत एव विशेषोक्तिरलङ्कार, 'तत्साम-प्र-पामनुत्पत्तिविशेषोक्तिरलङ्कारः ।' इति लक्षणात् ॥ १०९ ॥

अन्वय —स्मरेण बाणैः निस्तस्य वृथा एव अय लावण्यरोषा वृथताम् अनापि, अनङ्गताम् आप्यमान अपि तेन साधं स्पर्धां न विजहाति ।

हिन्दी—काम ने बाणों से भेद भेद कर व्यर्थ ही इस (नल) को, सोईय ही जिसमें अवशिष्ट रह गया है (सौन्दर्यावशिष्ट), उस वृथता को पहुँचाया, शरीरभाव को प्राप्त होकर भी नल ने उस (काम) के साथ स्पर्धा को नहीं छोड़ा ।

टिप्पणी—उनुता नामक पंचमी स्मरदशा । काम ने पीठित कर नल को इतना दुर्बल-वृथ कर दिया है कि अब उसमें शरीर नाम का कुछ रह ही नहीं गया है, सौन्दर्य ही शेष है । इसमें काम का कोई लाभ तो नहीं हुआ, हाँ 'अनङ्गता' में भी नल इसकी प्रतिस्पर्धा करने लगा । यह हानि ही हुई । अनग होकर भी नल सौन्दर्य क्षमता में काम को पराजित कर रहा है । भाव यह है कि यद्यपि नल अत्यन्त दुर्बल हो गया है, पर उसके सौन्दर्य में रत्ती भर भी न्यूनता नहीं जायी । लावण्य रोषा-त्रिरोष को कहते हैं—'जैसे मोती में छाया की भी एक विशिष्ट तरलता दिखायी देती है, वैसे जो अंगों में प्रतिमासित हो, उसे छावण्य कहते हैं ।' मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विशेषोक्ति है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १०९ ॥

त्वत्प्रापकात्प्रस्यति नैनसाऽपि त्वय्येव दास्येऽपि न लज्जते यत् ।
स्मरेण बाणैरतितदय तीक्ष्णैर्लूनः स्वभावोऽपि कियान् किमस्य ॥ ११० ॥

जौनातु—अथ द्वाभ्या लज्जात्यागमाह—त्वदित्यादि । स्मरेण तीक्ष्ण-बाणैरतितदय शरीरमिति रोष । अस्य नलस्य स्वभावोऽपि पापनीहत्वनीचत्व-गहत्वशास्त्रीन्यमपि क्रियानल्वोऽपि लून किमित्युत्प्रेक्षा, यद्यस्मात्त्वत्प्रापकात् त्वन्प्राप्तिसाधनादेनस पापादपि न प्रस्यति, भीशार्थाना भयहेतुरिति अपादान-त्वात् पञ्चमी त्वय्येव दास्येऽपि त्वदधिगतदास्यविषये न लज्जते ॥ ११० ॥

अन्वय—स्मरेण तीक्ष्ण, बाणैः अतितदय अस्य स्वभाव अपि कि कियान् लून, यत् त्वत्प्रापकात् एनस अपि न प्रस्यति, त्वमि दास्ये अपि न लज्जते ?

हिन्दी—काम ने तीक्ष्ण बाणों से अत्यधिक भेद भेद कर इस (नल) का स्वभाव (प्रकृति-आदत्त) भी क्या कुछ छिन्न-भिन्न कर डाला है, जो तुझे प्राप्त

करा सकने वाले पाप (बलपूर्वक राक्षस विवाहादि) से भी बह नहीं डर रहा है और तेरी दासता करने में भी नहीं लज्जा रहा है ?

टिप्पणी—'त्रपानाश' नामक सातवीं स्मरदशा । इस समय नल की दशा ऐसी है कि वह दमयन्ती को पाने के लिए राक्षस-विवाह में प्रयुक्त बल प्रयोगादि जैसे पाप भी कर सकता है, इसमें न उसे डर है । और जहाँ तक लज्जा नाश का, नितलज्जता का प्रश्न है, नल को दमयन्ती का दास होना भी स्वीकार्य है । स्वभावतः नल पापभीरु है, लज्जाशील है, पर ऐसा लगता है कि काम ने उसका स्वभाव भी बदल डाला है । केवल शरीर ही छिन्न भिन्न नहीं किया, प्रयुक्त गहरे आघात कर स्वभाव तक छिन्न भिन्न कर डाला । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ११० ॥

स्मार ज्वर घोरमपत्रपिष्णोस्मिद्धागदङ्कारचये चिकित्सी ।

निदानमौनादविशद्विशाला साङ्क्रामिकी तस्य रुजैव लज्जा ॥ १११ ॥

जीवास्तु—स्मारमिति । घोर दारुण स्मार ज्वर काप्रत्यन्ताप चिकित्सी प्रतिकर्तारि कितनिवास इति धातो 'गुम्निङ्किदम् सन्निति निन्दाक्षमाव्यापि-प्रतीकारेषु इष्यत' इति रोगप्रतीकारे सन् प्रथम्य, 'सनाशसन्निष् उ', 'नलोके' त्यादिना षष्ठीप्रतिषेध । सिद्धागदङ्कारचये सिद्धबन्धसधे कर्मण्यणि 'कारे सत्यागदस्ये'ति भुमागम । निदानमौनाद्भागनिदानानभिधानाद्धतोरपत्रपिष्णो-लज्जाशीलस्य 'अलङ्कृजि'त्यादिना इष्णुच् । तस्य नलस्य विशाला महती लज्जा सक्रमादागता साङ्क्रामिकी रुजैव, 'अक्षिरोगो ह्यपस्मार सय पुष्टो मसूरिका । दर्शनात् स्पर्शनाहानात् सक्रमति नरान्तरम् ॥ इति उक्ताध्यादि-रोगा इवेत्यर्थं, निदादित्वादङ् प्रथम्य, अविशत् ॥ १११ ॥

अन्वय,—घोर स्मार ज्वर चिकित्सी सिद्धागदङ्कारचये निदानमौनात् अपत्रपिष्णो तस्य विशाला लज्जा साङ्क्रामिकी रुजा इव अविशत् ।

हिन्दी—दारुण काम ज्वर की चिकित्सा के निमित्त एकत्र सिद्धबन्ध समूह में निदान समय मौन रह जाने से (निदान न कर सकने से) लज्जाशील उस (नल) की विशाल लज्जाशीलता बड़े साङ्क्रामिक राग (छूट की बीमारी) की भाँति प्रविष्ट हो गयी ।

टिप्पणी—यह भी प्रजापति के उदर में ही कहा गया है। राजा की वृद्धता आदि रोग की चिकित्सा के लिए बड़े-बड़े सिद्ध वैद्य आये, पर कोई ठीक ठीक निदान न कर सका, अतः वे देवारे बड़े लज्जित हुए। इसी पर कल्पना की गयी है कि लज्जाशील नल की लज्जा एक छूत्र के रोग की भाँति बँधों को डाली। नल तो अपना रोग लज्जाशीलता से कहते नहीं, तो बँध कैसे बनामों ? फलतः वे लज्जित हुए। प्रजापति ने एक और-प्रकार से भाव स्पष्ट किया है—निदान करते समय बँधों ने नल से ही रोग-विषय में कुछ पूछा, उस पर नल ने लज्जा छोड़ कह दिया कि यह उवर दमयन्ती के कारण है। इस भेद की जान कर अथवा बिना कहे रोग को समझ न सके, इस कारण बँध लज्जित हो गये। इस प्रकार लज्जा-रोग का सङ्ग्रहण हुआ। कहा गया है कि अग्नि रोग, मिरगी, क्षय, कोड़ और मसूरिका (चेचक) दर्शन, स्पर्श, दान से एक व्यक्ति से दूसरे को हो जाते हैं। ऐसा भी कहा गया है कि अग्नि रोग, ज्वर, कोड़ और मिरगी महामौज आदि के कारण सन्निहित हो जाते हैं—
 'अग्निरोगो ज्वरं दुष्टं श्यामस्मार एव च । स ह्यनुष्णान्दिसम्बन्धात्सङ्क्रमन्ति नरान्तरम्' ॥
 विद्याधर के अनुसार अपहृति-उपना है, क्योंकि बँधों में लज्जान्तर का आरोप हुआ है ॥ १११ ॥

विभेति ह्यष्टासि किलेत्यकस्मात्स त्वां किलोपेत्य हसन्वकाण्डे ।

यान्तामिव त्वामनुयात्यहेतोश्कस्त्वयेव प्रतिवक्ति मोघम् ॥११२॥

जीवानु—अय उन्मादावस्थानाह—विभेतीति । स नल अकस्मादकाण्डे दृष्टा द्रुपितासीति विभेति, अकाण्डे अनवनरे उपेत्य किल प्राप्येव हसति, अहनोरकस्मादान्तीं गच्छन्तीं किञ्च त्वामनुयाति, त्वया उक्त इव मोघं निर्विषयं प्रतिवक्ति । सर्वोष्ण्यनुन्मादानुभाव । उन्माददिषत्तविभ्रम ॥ ११२ ॥

अन्वय—स अकस्मात् दृष्टा असि इति विभेति अकाण्डे उपेत्य हसति किल अहेता यान्तामिव त्वाम् अनुयाति इव, त्वया उक्त इव मोघं प्रतिवक्ति ।

हिन्दी—बह (नल) बँधे सहजा तुम दृष्ट हो गयी हो, इससे डर जाता है, मानों तुम्हारे निकट पहुँच कर अनवर पर हँस पड़ता है, अकारण जाती

हुई तेरे पीछे जैसे चल देता है और जैसे तुमने कुछ कहा हो, इस प्रकार व्यर्थ प्रत्युत्तर देने लगता है।

टिप्पणी—आठवीं स्मरदशा उन्माद का वर्णन। वियोगोत्त नल उलट्टे-सीधे कार्य करने लगता है। उन्माद में चित्त विभ्रम हो जाता है—'उन्माद-श्चित्तविभ्रमः'। विद्याधर ने उल्लेख्य अलकार उत्प्रेक्षा माना है ॥ ११२ ॥

भवद्वियोगाच्छिदुरातिधारायमस्वसुर्मज्जति निशरण्यम् ।

मूर्च्छामयद्वीपमहान्वयपङ्के हा हा महीभृद्भटकुञ्जरोऽयम् ॥ ११३ ॥

जीवातु—अथ मूर्च्छावस्थामाह—भवदिति। भवत्मा वियोगो भव-द्वियोग, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भाव'। तस्मिन्नच्छिदुरा अविच्छिन्ना 'विदिमिदिच्छिदे कुरव्'। आतिधारा दुःखपरम्परा तस्या एव यमस्वसुय-मुनाया मूर्च्छामय मूर्च्छावस्थारूप यद्वीप तत्र यन्महा-ध्य महामोहस्तस्मिन्नेव पङ्के महीभृद्भटो राजवीर स एव कुञ्जर निशरण्यो निरालम्ब सन् मज्जति हा हेति खेदे। रूपकालङ्कारः। आतिधारायास्तमोविकारत्वेन रूप-साम्प्राप्तमुना रूपणम् ॥ ११३ ॥

अन्वय—हा, हा, भवद्वियोगाच्छिदुरातिधारायमस्वसु मूर्च्छामयद्वीपमहा-न्वयपङ्के निशरण्य अथ महीभृद्भटकुञ्जर मज्जति।

हिन्दी—हाय हाय आपके वियोग की अविच्छिन्न दुःख परम्परा रूप यम की भगिनी यमुना के मूर्च्छावस्थारूप महामोहरूप कीचड़ में निराश्रित यह वीर धरणीधर रूपी हाथी घँसा जा रहा है।

टिप्पणी—नवीं मूर्च्छा दशा का विवरण। जैसे यम की बहिन-विनाश स्वरूपा यमुना के दलदल में कोई धटा हाथी फँस कर डूबता है, वैसे ही महामूर्च्छा में फँसे नल की खेदजनक दशा है। रूपक अलकार ॥ ११३ ॥

सव्यापसव्यव्यसनाद् द्विरुक्ते पञ्चपुत्राणो पृथगजितासु ।

दशासु शोषा खलु तद्दशा या तथा नम पुष्पतु कोरकेण ॥ ११४ ॥

जीवातु—दशमावस्था तु तस्य कदापि माभूदित्यत आह—सव्येति। सव्यापसव्याम्नां वामदक्षिणाम्या व्यसनाम्नोचनात् द्विरुक्ते द्विगुणीकृतदंशमि-

रित्वयं । पञ्चेपुवारं पृथग्जितासु प्रत्येभ्यमुपादितासु दशसु 'दृग्मनसञ्ज-
सङ्ख्या जागर वृशताऽऽरति' । ह्योत्पागोन्नादमूर्च्छान्ता इत्यनञ्जदशा दश ।'
इत्कृतानु चक्षु प्रोत्पादिदशावन्त्यानु शेषा अवशिष्टा या तद्दशा दशमावस्थे-
त्यर्थ । तदैव कोरक्षेप कल्किमेति रूपकम् । नम , पुष्यतु पुष्पितमस्तु । अस्म
सा दशा सप्तपुष्पकल्पास्तु, कदापि ना भूदित्यर्थ । तच्च स्वत्प्राप्तिलानादिति
भाव । पुष्य-त्रिकसन इति घातोर्लोट् ॥ ११४ ॥

अन्वय —सन्ध्यापसञ्चयसनात् द्विरुक्तं पञ्चेपुवारं पृथक् अजितासु दशासु
शेषेण वा तद्दशा तथा कोरक्षेपेन नम हलु पुष्यतु ।

हिन्दो—स्य (वाम), अरसञ्च (दक्षिण) हाथों से छोडे जाने के
कारण दो गुने ($५ \times २ = १०$) हुए पचबाण (वाम) के बाणों द्वारा पृथक्-
पृथक् बतनादित दशानों के मध्य (उपयुक्त दशाओं के बीच) अवशिष्ट जो
दशा (दसवीं मरण दशा) है उनकी कोर रूप कली से आकाश निरिन्दत
रूप से फूले ।

टिप्पणी—दशमी अन्वय मरण दशा का चित्रण । वाम के पाँच बाण हैं,
वह कमजूर बाँये दाँये-दोनों हाथों से एक-एक बाण का दाल छोड़ता है, जिससे
दो दशाएँ उत्पन्न होती हैं । दसवीं दशा है मरण, जो लवण्य है । इसका
वर्णन कवि इस प्रकार करता है कि वाम भी हो जाय और दसवीं अमाल-
मयी, अशुभ स्वर्णनीयना न आ सके । वह कहता है कि वाम बाणों के अंतिम
युग्म को तोक आकाश में जाकर लगे, जिससे वहाँ फूल खिलें । अर्थात् जैसे
आकाश पुष्प नहीं होता, उसी प्रकार निश्चयत वह दसवीं मरण-दशा न हा ।
अशुभ होने से कवि ने मरणदशा का नाम भी नहीं लिया, केवल 'तद्दशा'
(वह दशा) कहा । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तर, यथासह्य अलंकार ॥११४॥

त्वयि स्मराधेःसततास्मितेन प्रम्यापितो भूमिभृताऽस्मि तेन ।

आगत्य भूतस्तफलो मवत्या भावप्रतीत्या गुणलोभवत्याः ॥ ११५ ॥

जीवातु—त्वमीति । त्वयि विषये स्मराधे स्मरणीयादु खाद्येते सतत-
मस्मितेन स्मितरहितेन खिन्नेन तेन भूमिभृता प्रस्थापितोऽस्मि । अथ आगत्य

गुणलोभवत्या भवत्यास्तव भावप्रतीत्या अभिप्रायज्ञानेन सफलो भूत सिद्धार्थोऽस्मीत्यर्थं ॥ ११५ ॥

अन्वयः—स्मरान्ने सतनास्मिनेन तेन भूमिभूता त्वयि प्रस्थापित आगत्य गुणलोभवत्या भवत्या भावप्रतीत्या सफल भूत अस्मि ।

हिन्दी—काम रोग से निरन्तर विन्न होते उस पृथ्वीपति (नल) के द्वारा तुम्हारे पास भेजा गया मैं (यहाँ) आकर गुणों के प्रति लोभ शीला धापके भाव (प्रेम) के विश्वास से सफल हो गया हूँ ।

टिप्पणी—हस कहता है कि उसने नल को दमयन्ती के वियोग में अतीव खिन्न पाया, उगका दौत्य स्वीकार कर वह हस दमयन्ती के पास पहुँचा कि उसे नलानुरक्त कर सके । परन्तु वहाँ पहुँच कर उसने पाया कि दमयन्ती गुणों का आदर करने वाली है, वह नल पर उसके गुणों के कारण स्वयम् अनुरक्त है । इस प्रकार दमयन्ती का भाव जान कर हस ने अपने को कृतसाम माना । विद्याधर के अनुसार अनियत-देशावयव यमक अलङ्कार ॥ ११५ ॥

घन्याऽसि वैदर्भि । गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैपथोऽपि ।

इत स्तुतिः का खलु चन्द्रिका या यद्विभ्रमप्युत्तरलीकरोति । ११६ ॥

जीवातु—घन्येति । हे वैदर्भि ! भैमि ! वैदर्भीरीतिरपि गम्यते । घन लब्धा घन्या असि कृतार्थासीत्यर्थं । 'घनगण लब्धे'ति यत्प्रत्यय । कुत ? यया त्वया उदारैरुत्कृष्टैर्गुणैर्लावण्यादिभिरन्यत्र श्लेषे प्रसादादिभिः पार्श्वेति गम्यते, नैपथो नलोऽपि तादृक् धीरोऽपीति भावः । समाकृष्यत सम्यगाकृष्टो वशीकृत इति भावः । एतेन वैदर्भिन्यादिविशेषणाद् गुणैर्मावुक्त्वित्युपमा-रुद्धकारो मुग्यते । तथाहि चन्द्रिका या अविभ्रमपि गभीरमपीति भावः । उत्तरलीकरोति क्षोभयतीति यत् इतोऽपि अम्यपिवा स्तुतिर्वर्णना का खलु ? न कापीत्यथ दुष्टान्तालङ्कारः । एतेन नलस्य समुद्रगाम्भीर्यं दमयत्या-वचन्द्रिकाया इव सौन्दर्यं च व्यज्यते ॥ ११६ ॥

अन्वयः—वैदर्भि, घन्या असि, यया उदारैः गुणैः नैपथ अपि समाकृष्यत, अविभ्रकाया इत स्तुति का स्यात् यत् अविभ्रम् अपि उत्तरती करोति ।

हिन्दी—हे विद्वान्-कुमारी, तुम धन्य हो, जिसने उत्कृष्ट गुणों से निषध-राज को भी आकृष्ट कर लिया। चाँदनी की इससे बड़ी प्रशंसा क्या हो सकती है कि वह सद्गुरु को भी उत्तररूप (सुन्य) कर डालती है ?

टिप्पणी—नल-जैसे सागर-सम गभीर धरणीधर को भी जो अपने उत्कृष्ट गुणों से आकृष्ट कर ले, वह नारी प्रशंसायोग्य होगी ही। इससे अधिक दमयन्ती की प्रशंसा ही ही क्या सकती है कि उसने निषधराज को आकृष्ट कर लिया ? धन्य है वह चाँदनी, वा महासागर को भी चबल कर धरणी धोर खींचती है। मन्दिनाय व अनुसार दृष्टात्, विद्याधर के अनुसार प्रतीय। चन्द्रकलाकार न प्रतिबन्धना माना है। इस टीका में 'धन्याप्रति वैदनि' कथन से कवि का वैदनीरीतिप्रेमी होने का संकेत भी माना गया है ॥ ११६ ॥

नलेन भाषारगणिना निधेव त्वया स भाषान्निशया शशीव ।

पुन पुनस्तद्युगर्वात्रघाता स्वम्यासमास्ते नृ युवा यूयसुः ॥ ११७ ॥

जोधितु—कन्दिनाह—नैति । यद्विना निधेव त्व नलेन भाषा । भातेराधिपि लिङ् । साधि निदया शशीव त्वया भाषात्, भाते पूर्ववदाधिपि लिङ् । कि च अत्र दैवानुमूल्यनपि सुनायनित्यष्ट पुन पुनस्तयोनिंशाधि-नोमंनं युनक्ति योजनतीति तद्युक्पुक् विघाता युवा नल त्वान्ध 'त्वदादीति सर्वेति ननि'ति एदशय । मोक्षुनिच्छति युयुर्बुजे सन्नन्तादुप्रत्यय स्व-न्यासमन्यासत्य समृद्धी निरन्तरान्वास इत्यय । समृद्धयर्थेऽप्यमीनावा । तत-परत्या चतन्मा वैर्वाचिकत्वादम् भावः । वास्ते नु ? तयाऽन्मन्वेति किनि-त्यय । अत्र ताश्चैव वदुर्मां अन्माव इति व्याख्यान अन्मातायंनन्त्यतीत्यर्थ-स्यात् तशामाश्रयत्वादित्यत्रक्षणीयम् । अत्र दमयन्तीनल्पोरन्वोन्मघोनावन-नोक्तेरयोपाच्छार । 'परस्परक्रियाजननन्वोन्मनि'ति लक्षणात् । उप-माद्वयानुप्रापित इति सङ्कर । तन्मूला धेय विनातु पुननिशासधियोजनाया दमयतीन्तयोजनान्मासत्वंप्रेक्षेति ॥ ११७ ॥

अन्वय—यद्विना निदा इव नलेन भाषा, स निदया शशी इव त्वया भाषात्, नु पुन पुन तद्युगपुक् विघाता युवा युयुसु स्वम्यासम् आम् ।

हिन्दी—जैसे चंद्र से रात घामित होती है, वैसे ही तुम नल से शोभित

होओ और वह (नल) रात्रि से चन्द्र के समान तुम से योमित हो । मैं समझता हूँ कि बार-बार (प्रतिमास) निशा-चन्द्र के जोड़े को संयुक्त करने वाला विधाता तुम दोनों का संयोग कराने की इच्छा से अपना अभ्यास बढ़ाता रहता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती-नल के मिलन को शुभकामना करता हूँ कल्पना करता है कि बारबार निशा-चन्द्र का संघटक विधाता उन दोनों के संयोग के लिए ही एक अभ्यासरत शिल्पी के समान अपना अभ्यास किया करता है कि वह ऐसे रमणीयतम युगल की संरचना कर सके जो अनुपम हों । भाव यह कि दमयन्ती-नल का जोड़ा निशा-चन्द्र के जोड़े से भी उत्कृष्ट होगा । क्योंकि यहाँ नल-दमयन्ती के परस्पर योमित होने की संकित है, अतः अल्लिनाथ के अनुसार यही अन्योन्य अलंकार है । साथ ही वह दो उपमाओं से अनुप्राणित है, विधाता की अभ्यास-विषयक उत्प्रेक्षा सम्मूलक ही है, अतः अन्योन्य-उपमायुगल-उत्प्रेक्षा का संकर है । विधातर यहाँ उपमा-उत्प्रेक्षा के साथ साथ आशो, अलंकार भी मापते हैं ॥ ११७ ॥

स्तनद्वये तन्वि ? पर तवेव पृथो यदि प्राप्स्यति नैपथस्य ।

अनल्पवेदग्ध्यविवर्धनीना पत्रावलीना रचना समाप्तिम् ॥ ११८ ॥

जीवातु—स्तनद्वय इति । हे तन्वि ! किञ्च नैपथस्य नलस्य अनल्पेन महता वेदग्ध्येन नैपुष्येन विवर्धनीनामुज्ज्वलणीना पत्रावलीना रचना समाप्ति सम्पूर्णता प्राप्स्यति यदि, तर्हि पृथो पृथुनि मापितपु स्वत्वात्किन्त्वेन पु वद्भाव । तवेव स्तनद्वये पर प्राप्स्यति, नापस्या इत्यर्थ । अन्यस्या अयोभत्वादिस्तिभाव ॥

अन्वय—तन्वि, नैपथस्य अनल्पवेदग्ध्यविवर्धनीना पत्रावलीना रचना यदि समाप्ति प्राप्स्यति, पर तव पृथो स्तनद्वये एव ।

हिन्दी—हे कुशाङ्ग, निपथराज की प्रभूत कौशल की सुचिका पत्रधेनी समूह की रचना यदि समाप्ति को प्राप्त करेगी तो केवल तेरे विशाल कुच-युगल पर ही ।

टिप्पणी—हूँ दमयन्ती के कृचयुगल की विशालता की प्रशंसा करता हूँ कि शिलास-झीर में पत्रावली बनाने का नल का सपूर्ण कौशल

उन पर समाप्त हो जायेगा, अर्थात् नल समस्त कीचल और साधनों का प्रयोग करने पर भी दमयन्ती के विशाल कुचपुगल पर समग्रतया पत्रावली-रचना न कर सकेगा । विद्यापर ने यहाँ सम अलंकार माना है—'सम योष्यतया योगो यदि समाविजा क्वचित् ॥ ११८ ॥

एकमुधाशुनं कथञ्चन स्यात्तृप्तिक्षमस्त्वननद्वयस्य ।

त्वल्लोचनामेचनकस्तदस्तु नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः ॥ ११९ ॥

जीवानु—एव इति । एक मुधाशुस्त्वननद्वयस्य कथञ्चन कथञ्चिदपि नृत्तौ प्रीयते क्षमो न स्यात्तत्तस्मात्प्रलास्यशीतद्युतिना नलमुखचन्द्रेण सद्वितीय सन् त्वल्लोचनायोरालेचनकस्तृप्तिकरोऽस्तु । 'तदासेचनक तृतेनास्त्यन्तो यस्य दशनादित्यमर' । आभिष्यते अनेनेत्यासेचनक, करणे ल्युट्, स्वार्थे क ॥ ११९ ॥

अन्वयः—एक मुधाशु। स्त्वननद्वयस्य कथञ्चन तृप्तिक्षम न स्यात् तत् नलास्यशीतद्युतिसद्वितीयः त्वल्लोचनासेचनक अस्तु ।

हिन्दी—एक अमृतकर चद्र तरे दो नयनों को किसी प्रकार तृप्त करने में समर्थ न हुआ होगा, सो वध (चद्र) नल के मुखरूप घीत किरण (चद्र) के साथ दो बनकर तरे नयनपुगल को अत्यंत तृप्त करने वाला बने ।

टिप्पणी—दो नयनों को तृप्ति एक चद्र से संभव नहीं है, सो नलमुख के साथ चद्रमा मिलकर दमयन्ती के दो नयनों को तृप्त कर सकेगा । दो नयन, दो चद्र । एक आकाश का चद्र, दूसरा नलमुख-चद्र । नल दमयन्ती को प्राप्त हो, अथवा इस आवश्यकतावश नल-प्राप्ति के लिए प्रयत्न होना चाहिए, यह आशय है । रूपक ॥ ११९ ॥

(युगम्)

अहो तपश्चरन्तर्नलीयस्त्वत्तर्णिजाप्रस्फुरदङ्कुरश्रीः ।

त्वद्भ्रूयुग यस्य त्वलु द्विपत्री तवाधरा रज्यति यत्कलम्बः ॥ १२० ॥

यस्ते नव पन्डविन कराम्यां स्मितेन यं कोरविनस्तवास्ते ।

जद्गन्निदिम्ना नत्र पुष्पिनो यः स्मनश्रिया य फलिनमनवेव ॥ १२१ ॥

जीवानु—अथ श्राम्या नलतप माफन्वमाह—अहो दर्यादिना । नलस्याय नलीय, 'वा नामधेयस्ये'ति वृद्धशशाया वृद्धाच्छ । अत एव कल्पतरु अग्निव

प्रसिद्धकल्पतरुविलक्षण इत्यर्थं । धत एव अहो इत्याश्चर्यं वैलक्षण्यमेवाह—
 त्वदित्यादि । अत्रापि यच्छब्दो द्रष्टव्यः यः कल्पतरुः तव पाणिजाग्रैः करच्छाप्रै-
 नित्य स्फुरन्ती अङ्कुराधीर्यस्य स अङ्कुरवानित्यर्थं, यस्य त्वद्भ्रूयुगमेव
 द्वयोः पत्रयोः समाहारो द्विपत्री प्रथमोत्पन्नपत्रद्वयं खलु, तदाधरो यत्कलम्बो
 यस्य नालिका विसलयकाण्ड इत्यर्थं, 'अस्य तु नालिका' कलम्बश्च कडम्बश्चे'-
 त्यमरः ? रज्यति स्वयमेव रक्तो भवति, 'कुपिरजो प्राचा इयन् परस्मै-
 पदञ्चे'ति कर्मकर्त्तरि रूपम् । य इति । यस्ते तव कराम्या पल्लवित सञ्जात-
 पल्लवः, यस्तव स्मितेन कोरकित सञ्जातकोरकं सन् आस्ते, यस्तवाङ्गाना
 म्निदिम्ना भाद्वेन पुष्पित सञ्जातपुष्पः, यस्तवैव स्तनश्रिया स्तनसौन्दर्येण
 फलित सञ्जातफलः । सर्वत्र तारकादित्वादिते च प्रत्ययः । अत्र श्लोकद्वयेन
 तपसि दमयतीन्खादिषु च कल्पतरुतावयवत्वरूपात्सावयवरूपकं तथा
 अवयविनि कल्पतरोरवयवानां नसाङ्कुरादीनाञ्च मिथः कार्यकारणभूतानां
 निन्ददेशत्वादसङ्गत्पाधितमिति सङ्करः, 'कार्यकारणयोर्भिन्नदेशत्वे स्यादसङ्ग-
 तिरिति लक्षणात् ॥ १२०-१२१ ॥

अन्वयः—अहो, त्वत्पाणिजाग्रस्फुरदङ्कुराधीर्यं नलीयं तव कल्पतरुः, यस्य
 द्विपत्री तद्भ्रूयुगं यत्कलम्बश्च तव अधरः रज्यति, यः ते कराम्या नवः पल्लवितः,
 यः तव स्मितेन कोरकित आस्ते, यः तव अङ्गनिदिम्ना पुष्पितः, यः तव एव
 स्तनश्रिया फलितः । (युग्मम्) ।

हिन्दो—तेरे नखाग्रभागरूपं चमकते अङ्कुरों से शोभाशाली नल का
 तपारूप कल्पवृक्ष आश्चर्यमय है, जिसकी दो पत्तियाँ तेरी दोनों भौंयें हैं,
 जिसका नाल (डठल) बना तेरा अधर शोभित है, तेरे कर-युगल जिने
 पल्लवित बनाते हैं (अर्थात् हाथ ही पत्तियाँ हैं), जो तेरी मद मुसकान से
 कलिकावान् बनता है, जो अंगों की मृदुता रूप पुष्पों से युक्त है और जिसने
 फल तेरे ही शोभा-युक्त कुचयुगल हैं ।

टिप्पणी—दो पत्तियों में संपूर्ण भाव स्पष्ट होने के कारण यह 'युग्म' है ।
 इसमें दमयती-देह को उस विचित्र कल्पवृक्ष के रूप में चित्रित किया गया है,
 जिसकी प्राप्ति में नल का तप ही कारण है । इस विचित्र कल्पतरु की

सचरना जनेशी है। दमयन्ती को दो नौहें उनको ऊपरी दो पत्तियां हैं, ठठठ राक अरर है, करवुाउ पने हैं, मद म्मित कलो है, अन्य कोनउ अग पूउ है और कुचपुन ५९ हैं। इसमें वैचिश्य यह भी है कि अन्य वज्र में पत्तियां, कल्पियां, पूर, फल एक वन से अनेक बार में आ पाते हैं। इस कल्पवृक्ष में सब एक साथ ही जा गये हैं। नल को यही वन्या से यह कल्पवृक्ष प्राप्त हो गया है। मन्त्रिनाथ के अनुसार इस युवत में सावयववनक और ज्यगति का सकर है। दमयन्ती के आ कल्पवृक्ष के छोरेक, पुष्प, फल आदि हैं जो कारंकारानुन उनमें निन दयता है ॥ १२०-१२१ ॥

कञ्चीकृताक्षोरखटु मण्डश्रीन्दो ससुत्तरदिमप्रकरा स्मरेण ।

तुला च नाराचञ्जा निजेव नियोजुरागस्य समोदृती वान् ॥ १२२ ॥

जीवानु—किञ्च सनापुरागवाच्य वृत्त्या सनागन श्वाभ्य इत्याद्यनेनाह-
कञ्चीति । स्मरेण कजा का सुवयोर्नियोजुरागस्य श्वाभ्योन्वरागस्य, यन्त्र
तस्मिन्, यन्न तस्य त्वयि, तयोऽनुरागदोरित्यर्थं । समोदृती मर्माकरणं निमित्तं
तदर्थनिर्णयं । ससुत्तः सयाजित रसनीतानमुना सूवागाश्च प्रकरं समूहो यस्या
हा 'किञ्चिद्वही रसनी' इत्यमरः । श्वाभ्योन्वरागो विभ्व कञ्चीकृता आसीत् ।
'कञ्चीकृती लोहनाजनमि'ति शब्दिकमन्त्रेण । मन्त्रे निजा नाराचञ्जा वाज-
वन्ती यैव तुला तुलादन्वीकृतेति छेपः । तयोऽनुरागदो कञ्चादिस्वनादेव-
स्मरस्य कारंकाराह्लादिद्वैरेकदेशविधित्पदम् ॥ १२० ॥

अन्य—स्मरेण वा नियोजुरागस्य समोदृती ससुत्तरदिमप्रकरा इन्दो
मण्डलो कञ्चीकृता आसीत् तुला च निजा नाराचञ्जा एव ।

हिन्दो—काम ने तुम दाता (न-दमयन्ती) के परस्पर अनुराग की मात्रा
जानने के निमित्त ठोलेने के कार्य में किरणसमूह्य रज्जु में दोपक चद्र के
मण्ड को कपि का तरानु का पन्डा बनाया और तुलादण्ड बनाया अनी ही
दाता को ।

द्विष्यते—नल और दमयन्ती के मध्य द्विषके अनुराग की मात्रा छितनी
है, इसकी तोल कामदेव ने चद्रमण्ड के पन्डे बनाकर हमने किरणरज्जु
बाँधकर और दाता का तुलादण्ड बनाकर की, तब ज्ञात हुआ कि दोनों के

अनुराग की मात्रा मितनी है? एकदेशत्रिभक्ति रूप अलकार, क्योंकि इदुमण्डलादि में कसादिरूपण से ही स्मर के कार्य कारण रूप की सिद्धि होती है ॥ १२२ ॥

सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे मदनोत्सवेपु ।

लग्नोत्थितास्त्वत्कुचपत्ररेखास्तन्निगतास्तत् प्रविशन्तु भूय ॥ १२३ ॥

जीवातु—सत्त्रैति । किं च मदनोत्सवेपु रतिकेलिषु सत्त्वेन मनोविकारेण स्रुतो य स्वेद सात्त्विकविकारविशेष. तेनैव मधूत्थेन मधूच्छिष्टत सांद्रे निरन्तरे अत एव तस्य नलस्य पाणिपद्मे लग्ना सशान्ता । अतएव उत्थिता त्वत्कुचतटाद्विशिष्टा । मधूच्छिष्ट निकपस्थकनकरेखावदिति भाव । स्नातानुलिप्तवत्पूर्वकालसमाप्त । तन्निगता । तत्पाणिपद्मोत्पन्ना त्वत्कुचपत्ररेखा भूय तत् पाणिपद्म 'वा पुंसि पत्र नलिनमि'त्यमर । प्रविशन्तु । कार्यस्य कारणे लयनिममादिति भाव । युवयो समागमोऽस्तु इति तात्पर्यम् ॥ १२३ ॥

अन्वय —मदनोत्सवेपु सत्त्वस्रुतस्वेदमधूत्थसान्द्रे तत्पाणिपद्मे लग्नोत्थिता। त्वत्कुचपत्ररेखा भूय तत् प्रविशन्तु ।

हिन्दी—जामोत्सवों में सात्त्विक भाव से टपकते पसीनाहूँ गाढ़े मोम से समुक्त उस (नल) के करकमल में उगकर उभरीं तेरे कुचों की पत्ररेखाएँ पून उसी में प्रविष्ट हो जायें ।

टिप्पणी—यह मिलन सबधी आशीर्षचन है, जिसमें सयोग शृङ्गार का वर्णन है । विलास-क्रीडा में नल दमयन्ती के कुचों पर अपने करकमलों में पत्रावली रचना करेगा । रतिकाल में सजात स्वेदरूप मधूत्थ (मोम) उसके हाथों पर लग जायेगा । रतिसमय में कुचस्पर्श के कारण कुचों पर बनी पत्रावलियाँ पसीने से नल के हाथों पर उभर आयेंगी । इस ऐसे मदनोत्सव के घटित होने का आशीर्षचन कहना है । भाव यह है कि नल दमयन्ती का समागम हो । जैन कार्य का कारण में ही लय होता है, ऐसे ही पत्रावली रूप काय नल-करकमल रूप कारण में लीन हो जाये । निघांतर के अनुसार स्थाव भीर आशो धलकार ॥ १२३ ॥

वन्पाठ्यनानारतमन्मृद्धप्रमोदितैः केचिवने मरद्भिः ।

प्रनूनवृष्टिं पुनरन्मुक्ता प्रमोच्छत मीमि । युवा युवानौ ॥ १०४ ॥

जीवानु—अप्येति, किं च हे मीमि । वन्पाठ्यनानादिशरणं कान्मन्-
प्रनिर्द्धरादय मन्त्र नानारतमनुत्तातदादिविविन्नमुरत तदेव मन्मृद्ध नेन
प्रमोदित सन्मोषितं केचिवने मरद्भि वापुनिर्देवैश्च 'मरतो पवनानरो'
इत्यनर । पुनरन्मुक्ता मन्त्र यना तथा मुक्ता प्रनूनवृष्टिं युवद्विश्च युवा च युवानौ,
'युनाश्च खिने तैकक्षेत्र । युवा प्रतिच्छत स्वीकृतम् । युद्धविश्रवा हि देवै
पुनरवृष्टना मन्नाभ्यत उति नाव ॥ १०४ ॥

अन्वय.—मीमि, वन्पाठ्यनानारतमन्मृद्धप्रमोदितैः केचिवने मरद्भिः
पुनरन्मुक्ता प्रनूनवृष्टिं युवानौ युवाम् प्रमोच्छतम् ।

हिन्दी—हे मीमसुते, कमलासनादि से मनुष्य नानाविधमुरत रूप मन्मृद्ध
ने प्रमोदित (प्रकृत परिमल मे मनुष्य) शीघ्रावन में बहते समीराने द्वारा
बार-बार विनवित पुष्प-वर्षा का तुम दोनों तरफ-दरफे दृष्टन करा ।

टिप्पणी—दा मन्मों की नानाविध दौव पेष से मरी कुर्ती को दबने
वाले विष प्रकार प्रचल हो उन पर फूल बरसाते हैं, वैसे ही दशका के तुल्य
शीघ्रावन में बहते समीराने रतनमृद्ध में विविध आमना का प्रमोष कण्ठे
दपती पर जातवित हो पुनरवर्षा करेंगे । यह भी मनुष्य मरतो की कानना में
पूरी जासीवचन है । 'मरत' के सामान्य मृगधि समीरण में भी तात्पर्य है और
देवविशेष के मान्यन द्वारा देवों में भी अर्थात् मन्मृद्धमन्ती-नित्त से
देवान भी सतृष्ट हो पुनरवर्षा करेगा । विद्याधर के अदृष्टार यहाँ हस्त-
प्रमोषनानाप्रसा श्लेष की समृष्टि है ॥ १०४ ॥

अप्योप्यनङ्गनवशादनुता विभाना तन्प्रापि तेषपि मनसो विकसद्विज्ञासे ।
स्रष्टु पुनर्मनमित्तन्व तनु प्रवृत्तमादायिव दृष्टुश्चरनानुमन्म ॥ १०५ ॥

जीवानु—अप्योप्येति । किं च, अनुता अप्योप्यनङ्गनवशादिकमद्विज्ञाने
वर्षनाकोल्लाने तन्प्रापि तेषपि मन्मन्व तत्र च मनसो मनसिब्रम्य कानस्य तनु
मरार पुन स्रष्टुनारण्य प्रवृत्तमत एवादी दाम्पानारण्यं कानं दृष्टुश्च तत्करोतीति

तत्कृत् तदारम्भक, करोते विवप् । तत्परमाणुयुग्ममिवेत्युत्प्रेक्षा । तार्किकमते मनसोऽणुत्वादिति भाव । विभाता कार्यारम्भकपरमाणुयुगलवदविश्लेषेण विराजतामित्यर्थ । भातेलोट्, 'तस्ये'ति तसः तामादेश ॥ १२५ ॥

अन्वय —अधुना अन्योन्यसङ्गमवशात् विकसद्विलासे तस्य अपि ते अपि मनसी मनसिजस्य तनु पुन. श्रेष्ठ प्रवृत्तम् आदौ द्वघणुककृत् परमाणुयुग्मम् इव विभाताम् ।

हिन्दी—इस समय (पूर्वोक्त नल-दमयन्ती-सवध के पश्चात्) परस्पर मिलन के कारण उल्लास से विकसित उस (नल) के भी और तेरे (दमयन्ती के) भी मन मनोभव (काम) के (दग्ध) देह की पुन सजना के निमित्त प्रवृत्त आरम्भ में द्वघणुक का निर्माण करनेवाले परमाणु युगल के समान सुसंमित हो ।

टिप्पणी—न्याय-सिद्धांत है कि महत्कार्य के आरम्भ में पहिले दो सक्रिय परमाणुओं द्वारा एक द्वघणुक का निर्माण किया जाता है, इसी प्रकार क्रमशः महत् कार्य का आरम्भ किया जाता है—'सक्रियान्मा द्वाभ्यां परमाणुभ्यामेकं द्वघणुकमारभ्यते, एव क्रमेण महाकायमारभ्यते ।' काम के दग्ध देह की पुन स्वरूप देने के लिए सगम-विलसित उलसित दमयन्ती नल के मन ही सफ हो सकते हैं, जो उन दो परमाणुओं के समान हैं (मन परमाणुप्रमाणम्), जिनसे एक द्वघणुक का निर्माण होता है । इस की कामना है कि कामदेह की पुनर्निमित्त-रूप महत् कार्य को सम्पन्न करने में नवदम्पती के उलसित मन प्रवृत्त हो । काम के मनोज होने के कारण मन ही उसका देह निर्माण होगा । भाव यह है कि नल-दमयन्ती का सग-विलास इतना अनुराग बहल हो कि जैसे उससे अवेह काम पुन शरीरी हो जाय । अनुराग बहल नल-दमयन्ती द्वारा ही यह सम्भव है, अन्यथा नहीं । प्रेममय दम्पती को परिणय-फल काम जैसी स्वरूपवान् सदान पाने का आर्शादि भी इससे संकेतित है ।
- उत्प्रेक्षा अलकार, वसतविलका छंद ॥ १२५ ॥

काम को मुमचापदुर्जयममु जेनु नृप त्वा धनु-
 वल्लीमन्नमवन्जामधिगुणामानाद्य माद्यन्पत्नी ।

श्रीवाल्क्यकृतिपट्टमूत्रलया पृष्ठे क्रियन्म्वया

भ्राजिष्णु कपररेखयेव निन्दनग्निन्दूरनीन्दरंया ॥ १२६ ॥

जीवानु—काम दति । अनां सो नलजिगीपुगिति नाव । काम कौमुदेन
 चापेन दुर्जय जितेन्द्रियत्वादिति नाव । अनु नृप नन् जेगुनत्रावशया सन्कु-
 प्रमृता हृदयेगुणन्याञ्च, 'द्वौ वशी कृत्नमन्करावित्तर' । जमिगुणामधिकला-
 वन्नादिगुणामपिग्याञ्च निवनदनुवर्तमान सिन्दूरस्याङ्कुरावस्थाया नागन्त-
 राले पित्तस्य सौन्दर्यं धोना यन्वा तथा कपररेखया काळान्तरे निन्दूरसन्नाप्ति-
 पेरीजार्थं कृतधर्पांरेखमेवेत्पुत्रेया । पृष्ठे श्रीवापभ्राज्जागे क्रियत् किञ्चिद्यथा
 तथा म्वया मन्ना श्रीवाल्क्यकृति श्रीवाल्क्यरमृता या पट्टमूत्रलया तथा
 भ्राजिष्णु ताच्छीन्वे 'मूवद्वे'नि चकारादिष्णुम् । भ्राजमाना त्वामेव धनुर्वल्ली
 चापन्तामासाद्य माद्यति दृष्यति । इत्यंन्प्रेक्षासङ्घोर्गा स्वकालद्वार ॥ १२६ ॥

अन्वय —असी काम कौमुदचापदुर्जयम् अमु नृप जेनुम् अत्रावशयाम्
 अधिगुणान् निवसन्निन्दूरनीन्दरंया कपररेखया इव पृष्ठे क्रियन्म्वया श्रीवाल्-
 क्यकृतिपट्टमूत्रलया भ्राजिष्णु त्वाम् एव धनुर्वल्लीम् ज्ञासाद्य माद्यति ।

हिन्दी—यह कामदेव फूलों के धनुष से दुर्जय दस राजा (नल) को
 बोनने के लिए निरोंप कुल में जन्मी, गुणवती, (विवाहिता के चिह्न) लो
 निन्दूर के सौंदर्य से शोभित कमौटी की रेश के सनान पोठ पर कुठ लम्बी
 श्रीवा की अन्कारमृता पट्टमूत्रलया को धारतो तृण को ही, बिना-धुने-कटे
 बाग मे बनी, पिसे निन्दूर से उमन प्रमाणित कमौटी की रेशा से युक्त बड़ी
 प्रमत्ता को कुछ लंबी श्रीवा की मृग मूत्रलया के तृण्य धारन किये धनुष
 रूप लया के रूप मे शत कर हथिय हो रहा है ।

टिप्पणी—काम अब तो अपने सामान्य पुणचाप से नल को जीत न
 सका था । अब दमयन्ती रूप एक नवीन धनुर्ज्ञता को पाकर उसे विरवास हो
 रहा है कि अब नल-विजय सनव है । इस प्रकाश दुर्जय को असाया से काम
 प्रमत्त हो रहा है । नाव यह है कि अर-मुणालकृता दमयन्ती, नल जैसे मन्वी

के मत में भी मनोज को उद्वुद्ध कर सकेगी। दमयती की माँग में लग्य सिद्ध मानो उसकी पवित्रता और उत्तमता का प्रमाण है। अँस की निर्दोषिता के लिए उस पर भी सिद्ध रगटा जाता है। मल्लिनाथ ने अनुसार इस श्लोक श्लेष-उपप्रेक्षा से मकीर्ण रूपक अलंकार है, विद्याधर रूपक उपमा अलंकार मानते हैं। शाङ्खलिकीडित छन्द ॥ १२६ ॥

त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिकास्त राजहम विभो

वेध्य विद्धि मनोभुव स्वमपि ता मञ्जु धनुर्मञ्जरीम् ।

यन्मित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमान लम-

न्नाभीमध्यत्रिला विलासमखिल रोमालिरालम्बते ॥ १२७ ॥

जीवातु—त्वदिति । विमोर्मनोभुव कामस्य पदिवेद्घुरिति शेष । तव गुच्छावलेर्मुक्ताहारविशेषस्य मुक्ता एव मौक्तिकानि, 'विनयादित्वात् स्वार्थे ठगि'ति वामन । गुटिका गुलिका विद्धि जानीहि । त राजहम राजश्रेष्ठ तमेव राजहम कल्हस शिल्पतरुणम् । 'राजहसो नृपश्रेष्ठे वादम्प्रकलहसयो'-रिति विश्व । वेधितु प्रहर्तुमहं वेध्य लभ्य, विध विधाने 'ऋहलोष्यंत्' 'अनेकार्था घातव' एवमाह—'वेधितच्छ्रितावि'त्यत्र स्वामी । अन्ये त्वाहु—स्वप्नेऽपि विधानार्थं एव प्रयोगाच्च विध-वेधन इत्येतावारस्य पाठ, पाठान्तर तु प्रामादिकमन्धपरम्परायात्तमिति विद्धि । स्वमात्मानमपि 'स्वो ज्ञातावत्मनि स्ममि'त्यमर । ता वक्ष्यमाणप्रकारां मञ्जु मञ्जुला धनुर्मञ्जरी चापवल्लरी विद्धि, यस्या नित्यमङ्कनिवासेन समीपस्थित्या लालिततमया अत्याद्यया ज्यया मौल्या भुज्यमानभनुभूयमानमखिल विलास शोभा ज्यारूपतामित्यर्थं । लसन्नाम्पेव मध्य त्रिलङ्गुलिवास्थान यस्या सा रोमालिस्त्र्यदोमराजिरालम्बते भजति । अत्र मौक्तिकादौ गुटिका-शवयरूपणादवयविनि कामे वेद्घुत्वरूपणस्य मध्यमानत्वादेश्च देवविवात्तसावयवरूपकमलङ्कार ॥ १२७ ॥

अन्वय—विभो मनोभुव त्वद्गुच्छावलिमौक्तिकानि गुटिका त राजहम वेध्य स्वम् अपि ता मञ्जु धनुर्मञ्जरीं विद्धि, यन्मित्याङ्कनिवासलालिततमज्याभुज्यमानम् अखिल विलास लसन्नाभीमध्यत्रिला रोमालि अलम्बते ।

हिन्दी—अभ्युदयान् मनोवन्ना (कर्म) ई उी पुच्छादयो (वस्त्रं स लडी मुक्तानाम्) के मोती मोक्षिण है वत् गजान मे हृत् (नत्) वेद्य (वेधने मोप लक्ष्म) है और स्वयं तुम् वत् (पञ्चक) मनाह्य अनुदल्लो हो—(ऐना समनो), शिल्पी रोनावली निम्न उक्त (मन्त्र मात्) मे रहने से अतिउत्त छाया दीप्त, प्रनवाद्या अनुत्त उन्नत लीला-विज्ञान को, सुगुणेन्द्रि नामिह्य मन्त्रलिङ्ग से मुक्त हो ध्यान का रही है ।

टिप्पणी—पूर्वोक्त श्लोक क भाव का उन्नत प्रकार से स्पष्ट किया गया है । शानदेश का निशाना है रावहस नत्, उनका धनुष है वनपत्ती, शिल्पी मोती-माला के माली के मिट्टी की गेलियाँ हैं, जिन्हें प्रनवाहन रोनावली से मुक्त नामिह्य मन्त्र के छिद्र से स्वयं वत् शानदेश उन्नत नत् को निजाना बनाने । गेलिया छोड़ने का एक विशेष धनुष मन्त्र है, शिल्पी प्रपका में एक ऐसी गेय छेद-जैसा स्थान बनाया जाता है, जिन्में शूकर उन्नत पर गेलियाँ छेदी जाती हैं, एक बड़ी मुठेछ के समान । शिल्पिनाम से अनुभार एकदमविद्वित-साधनवदनक है, विद्याधर भी एक ही नाम्ने हैं । पुच्छादयो के छिद्र दृष्टम्—“हारनेदा मष्टिनेदा उच्छुच्छुधोमन्ना । अर्द्धहारो नावदक (कावन्धकमष्टिका ॥” (जनरहोप २११।१०५-१०६) ॥ १०३ ॥

पुष्पेभुरिचतुरेपु ते शरच्चन स्व नागमूले धनु
 रीद्रे चक्षुषि यज्जिनन्तुमनुम्राष्ट्र च यन्त्रिसिपे ।
 निर्विद्याप्रदानम स विननुस्त्वा तज्जानाद्युना
 पत्रादिन्दुपुरोत्रसौलानन्ना तलंगालापते ॥ १०८ ॥

लोकानु—पुष्पेभुरिति । या पुष्पेपु कामो यन्त्रितो येन नयेन सौन्दर्य-लक्षणानुत्तरत्वं निर्विद्य ईश्वर्या वीदतर्षपर्यं मन्त्रेणम् । तन्वज्ञानोविद्वेष्या-वेन्द्रिदो निष्टन्त्रधोमिति कृत्वात् । ते तत्र चित्तुरेपु केपेपु स्व स्वकीय शरच्चन स्वदुन्दुगुनन्नावाविति भाव । नागमूले तादृशमे अनु प्रबुद्धावा-दिति भाव । तथा रीद्रे यज्जिनन्तुमिति चक्षुषेव अनुम्राष्ट्रमन्त्रेण, विननुत्तम यज्जिनन्नाव । ‘वीद्रेन्द्ररीय नाष्टो ना’ उपनत् । तनु शरीर च विजिने

क्षिप्तवान् । पूर्वमेव दग्धतनुव्याजादिति भावः । स्वरितेस्वात्तद् । स पुष्पपुवित-
नुरनङ्गः सन् अधुना तज्जयाय नलविजयार्थं त्वाभेवाश्रम तपोवनमाश्रयत्
आश्रितवान् तपश्चर्यार्थमिति शेषः । अन्यथा कथं तं जेप्यतीति भावः । अत एव
त्वदुरोज एव शैलो िलयो यस्या या तन्निष्ठेत्यर्थः । पत्रालि पत्ररचना
पर्णचयश्च तस्य कामस्य पणशालायते मेवाचरति । उपमानान् कर्तुं कथम् ।
अत्र पूर्वार्द्धे शरचापादीनां पूर्वोक्तपुष्पादिविषयनिर्गमनेन तदभेदाध्यवसायाद्भेदे
अभेदलक्षणातिशयोक्तिः, तत्पणशायायत इत्युपमा चोत्थापितेन त्वमाश्रममिति
रूपवेण सङ्कीर्णा व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या कामस्याश्रमाश्रयणोत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥

अन्वयः—यत्प्रजितः निर्विद्य यः पुष्पेषु ते चिकुरपु स्व शरचयः भालमूले
घनुः रौद्रे चक्षुषि अनुभ्राष्ट तनु च चिक्षिपे, वितनु स अधुना तज्जयाय
त्वाम् आश्रमम् आश्रयत्, त्वदुरोजशैलनिलया पत्रालि तत्पर्णशालायते ।

हिन्दी—जिस (नल) के द्वारा जीते जाने पर धैर्याग्य को प्राप्त जिस
कामुमयाण (काम) ने तेरे केशों में अपनी बाणावली को, ललाट के मूत्र (भ्रू-
स्थान) में घनुप को और (भगवान्) रुद्र के (तृतीय) नेत्र रूप दारुण भ्राष्ट्र
(भाड) में अपने देह को फेंक दिया था, तनुहीन (अनग) उसने अब उस
(नल) के जयायं तुझ (दमयन्ती) रूप तपोवन का आश्रय लिया है, तेरे
उरोजात (कुचपुग्म) रूप पर्वन पर होनेवाली पत्रावली रूप पत्रसमूह (पत्ते)
रस (कामाश्रम) की पर्णशाला यत्र रहे हैं ।

टिप्पणी—प्रत्येक दृष्टि से नल द्वारा पराजित काम विरागी हो गया था ।
जैसे हारा व्यक्ति अपने आमुषादि त्याग कर जल मरता था, वैसे ही काम
अपना घनुराण त्याग जल मरा था । अब वही दमयन्ती के आश्रय से नल
विजयार्थ पुनः सन्तुष्ट हो रहा है । अब उसे तपोवनरूपा दमयन्ती प्राप्त हो गयी
है, जहाँ पर्णकृटी घनाकर अब वह तपश्चर्य कर रहा है । तथा आश्रय, नये
आयुषः । दमयन्ती की केशावली घाण है, मीर्हे घनुप हैं, भयनेत्रजन्मा वह्नि
में वह जल मरा था । अब नये आमुष प्राप्त कर वह दमयन्ती रूप तपोवन में,
जहाँ उच्चकुच शैल पर पत्रावलीरूप पणशाला बनी है, तप साधना कर रहा
है । दमयन्ती की सहायता से काम नल विजय में समर्थ होगा । यदि ने यहाँ

दमयन्ती के केश-बन्ध और ललटमूल (भ्रूयूँल) की काम-दाग और धनुष से श्रेष्ठता का भी संकेत दिया है। मन्त्रिनाय के अनुसार इन्द्र के पूर्वार्द्ध में शर-बाणादि के साथ पुनादि विपदा के अग्निपादन के कारण अनेकजना अतिशयोक्ति है, 'दन्वांशालायते'—उपम्य है, 'त्वामाधमम्'—मकोपलक तथा अद्भुत का प्रयोग न होने से उभ्या उपप्रेक्षा है—इस प्रकार सक्तर है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-मनासोक्ति-रूपक उभया की नमृष्टि है। शार्दूलविहीति छंद।

मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में बताया है कि उपमान की जाति अथवा प्रमाणात् न्यूनता-अधिकता का यदि प्रतिपादन हो तो वह उभया का दाप होता है। इस दृष्टि से दमयन्ती उरोत्रों को संल कहना-दोष है। परन्तु विद्याधर ने इतका समाधान इस प्रकार किया है कि दोष नहीं है, क्योंकि 'पर्वशाशयते' इस रूपक का अंग है। निमित्त-पुष्टय-व्यापार वर्म में क्रियमाण यह रूपक दोष नहीं गुणातिष्ठय है ॥ १०८ ॥

इत्याल्पव्यय पतत्रिणि तत्र भैमी सख्यशिवरात्तदनुमन्विपरा परीपु ।
शान्स्तु न विमृज मामिनि सोऽधुदीर्य वेगाज्जगाम निषधाधिपराजधानीम् ॥

जीवानु—इतीति । तत्र तस्मिन् पतत्रिणि ह्ये भैमीमिति इत्यमाल्पवि
भाषभाषे नति अयास्मिन्त्वदनरे चिरात्प्रमृति तन्वा भैम्या अनुसन्विषरन्वेपाम्,
'उत्सो घो किरि'ति कि । तन्परा सख्य परीपु परिवद्म, ङाो लिट् ।
हनोऽपि 'ते तव शर्मान्तु मुहमस्तु, मा विमृज' इत्युदीर्य उक्त्वा वेगान्निषधा-
धिपराजधानीं जगाम ॥ १०९ ॥

जन्त्रय — जय तत्र पतत्रिणि इति भैमीम् आल्पति चिरात् तदनुमन्वि-
परा सख्य परीपु न अवि ते धर्म अस्तु मा विमृज इति उदीर्यं वेगात्
निषधाधिपराजधानीं जगाम ।

हिन्दी—तदनन्तर वहाँ पत्नी (हन) के इस प्रकार चार्वाकार करते समय
बहुत समय से उस (दमयन्ती) के अनुपधान में लगी सखियाँ चारों ओर से
आ गयीं। वह (हस) भी 'तुम्हारा बन्धाग हो, मुझे बिदा दो'—यह कह
कर वेग पूर्वक निषधराज की राजधानी की ओर चल पडा। (उठ चला) ।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार श्रेष्ठ गुण । वसन्तकालका छद ॥१२९॥

चेतोजन्मशरप्रसूनमधुभिर्ज्यामिश्रितामाश्रयत्

प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन रमात् ।

स्वाद स्वादमसीममृष्टसुरभि प्राप्नाऽपि तृप्ति न सा

ताप प्राप नितान्तमन्तरतुलामानच्छ मूर्च्छामपि ॥ १३० ॥

जीवातु—चेत इति । सा भैमी चेतोजन्मन कामस्य शरप्रसूनाना शरभून-
पुष्पाणा मधुभिस्तद्रसं क्षौद्रैश्च 'मधु मद्ये पुष्परसे क्षौद्र' इत्यमर । व्यामिश्रता-
माश्रयत् तथा मिश्र सदित्यर्थ । असीम नि सीमम् अपरिमितमित्यर्थ ।
नकारान्तोत्तरपदो बहुवीहि । मृष्ट शुद्धम् । अयत्रामल तच्च तत् सुरभि
सुगन्धि च, सञ्जकुञ्जवद्विशेषणसमास । प्रेयसो नलस्य दूत सन्देशहरो य
पतङ्ग पुङ्गव इव पतङ्गपुङ्गवो हसथेष्ट पुमान् गो पुङ्गव । 'गोरतद्धितलुकी ति
टच्, तस्य गौर्वाक् तद्गवी पूर्ववत् टचि 'टिट्ढाणजि'त्यादिना ङीप् । सैव हैयग-
वीन ह्योगोदोहोद्भव घृतमिति रूपवम् । 'हैयङ्गवीन सज्ञायामि'ति निपात ।
तद्गवी तद्धेनु तस्या इति च गम्यते रसाद्रागात् स्वाद स्वाद पुनरास्वाद्य
आभीक्ष्ये णमुल्प्रत्यय । पौन पुन्यमाभीक्ष्यन् 'आभीक्ष्ये द्वे भवत' इति
उपसत्यानात् द्विरुक्ति । तृप्ति प्राप्तापि अपिर्विरोधे अत नितान्त ताप न
प्राप अतुला मूर्च्छामपि नानच्छं न प्राप, 'ऋच्छत्युतामि'ति गुण । 'अत
आदेरि'त्यभ्यासाकारस्य दीर्घ । तस्मान्नुद् द्विहल' इति नुट् । मधुमिश्र-
घृतस्य विपत्वात्तत्पाने तापाभावादिति विरोध । स च पूर्वोक्तपतङ्गपुगवगवी-
हैयङ्गवीन इति रूपकोत्थापित इति सङ्कर । 'मधुनो विपरूपत्व तुन्मासे
मधुमर्षिणी' इति वाग्मट ॥ १३० ॥

अन्वय—सा चेतोजन्म शरप्रसूनमधुमि ध्यामिश्रिताम् आश्रयत् असीममृष्ट-
सुरभि प्रेयोदूतपतङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन रसात् स्वाद स्वाद तृप्ति प्राप्ता नितान्तम्
अन्त तापम् अपि न प्राप अतुला मूर्च्छाम् अपि न आनच्छं । अथवा—'सा
स्वाद स्वादम् अपि तृप्ति न प्राप्ता, नितान्तम् अत ताप प्राप, अतुला
मूर्च्छाम् अपि आनच्छं ।'

हिन्दी—वह (दमयन्ती) मनोज (काम) के पुष्परसों के मधु (शहद)
से मिश्रित, असीम स्वादिष्ट और सुगन्धि शिथ (नल) के दूत पक्षिराज (हंस)

की बाणी रूप मानन का सम्पूर्वक निम्नतर आस्वादन करके गृह हो न तो मृग मन सत्ताप को ही प्राप्त हुई और न बनीन मूर्च्छा को । अथवा अन्वयातर में भी गृह न हो, मृग मन सत्ताप और अस्तीम मूर्च्छा को प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—'हैयगवीन' में मानन अर्थ ही नहीं, घृण भी गृहीत है । अह-धी यदि सममिश्रित सा लिय जायें तो मारक विष बन जाते हैं । इस प्रकार अह का व्यामिश्रण खाने से भी दमयन्ती का सत्ताप और मूर्च्छित न होना विराध ह, 'पठङ्गपुङ्गवगवीहैयङ्गवीन' में रूपक है, जत मन्त्रिनाथ के अनु-सार यहाँ सकर है । विद्यापर के अनुसार भेदाभेदरूपा अतिशयोक्ति, वैश्व-शास्त्र-व्यवहार के समारोपण से समासोक्ति तथा विषमालंकार का सञ्चर ह । शाङ्खलविज्ञातिष्ठ छन्द ॥ १३० ॥

तस्या दृशो विप्रति बन्धुमनुब्रजन्त्यान्तद्वाप्यवारि न चिरादवधिर्वभूव ।
पार्श्वेऽपि विप्रचकृपे तदनेन दृष्टेगारादपि व्यवदधे न नु चित्तवृत्त ॥ १३१ ॥

जीवातु—तस्या इति । विपत्याकाशे बन्धुमनुब्रजन्त्यान्तस्या दृशो भौ-दृष्टे तद्वाप्यवारि बन्धुजनविप्रयाजय तद्दृग्जल न चिरादचिरादवधिर्वभूव, 'ओदकात् प्रिय पान्यमनुब्रजेदि'ति शास्त्रात्तद्दृक् सीमाभूदित्यर्थ । तत्र तस्माद् वाप्योपगमादेव हेतोरनेन ह्यनेन दृष्टे पार्श्वे समीप विप्रचकृपे विप्र-कृष्टेनानावि । वाप्यावरणात् समीपम्वोऽपि नालम्बतेत्यर्थ । चित्तवृत्तेस्तु आराद् दूरेऽपि न व्यवदधे व्यवहितेन नानावि, स्नेहबन्धान्मनसो नापत् इत्यर्थ । उभयत्रापि नात्रे लिट् । समीपस्यस्य विप्रकृष्टत्व दूरस्यस्य सन्नि-कृष्टत्व चेति विरोधानात् ॥ १३१ ॥

अन्वय—विपति बन्धुम् अनुब्रजत्या तस्या दृश तद् वाप्यवारि न चिरात् अवधि बभूव, तत्र क्नेन दृष्ट पार्श्वे अपि विप्रचकृपे, चित्तवृत्ते तु आरात् अपि न व्यवदधे ।

हिन्दी—आकाश में सखा (दृश) अनुगमन करती उस (दमयन्ती) की आँसों के वे अधुजल बहूत शीघ्र मर्यादा बन गये । वह (दृश) इस (अधुजल) के कारण दृष्टि के निकट रहते हुए भी (यद्यपि) दूर हो गया (तथापि) दूर होने पर भी मनोजगत् से दूर न हुआ ।

टिप्पणी—परम्परा के अनुसार जलाशय तक जाकर वधुजन को विदा करते हैं, इस प्रकार दमयती की दृष्टि ने अधुजलाशय तक पहुँचाकर विदा दे दी। भाव यह कि उड़ा जाता हस आँसू आ जाने के कारण चीघ्र ही आँसू से ओझल हो गया। हस आँसू से दूर तो हो गया, पर प्रिय सदेश बाहक होने के कारण मन से दूर न हुआ, उसका स्मरण होता रहा। निकट स्थित हस के दूर हो जाने और दूरस्थ के निकट रहने का वर्णन होने के कारण मल्लिनाथ ने यहाँ विरोधाभास माना है, विद्याधर ने अतिशयोक्ति और विरोध का निर्देश किया है। वसततिलका छंद ॥ १३१ ॥

अस्तित्व कार्यसिद्धे स्फुटमथ कथयन् पक्षयोः कम्पभेदे-

राख्यातु वृत्तमेतन्निपधनरपती सर्वमेक प्रतस्थे ।

कान्तारे निर्गतासि प्रियसखि ! पदवी विस्मृता किन्नु मुग्धे ?

मा रोदीरेद्दि यामेत्युपहृतवचसो निन्युरन्या वयस्या ॥ १३२ ॥

जीवातु—अस्तित्वमिति । अथ एक अनयोरेकतरो हस पक्षयो कम्प-भेदश्रेष्ठाविरोधं कार्यसिद्धेरस्तित्व सत्ताम् 'अस्ती'त्यव्यय विद्यमानपर्याय-स्तस्मात्त्वप्रत्यय । स्फुट कथयन् वृत्त निष्पन्नमेतत्सर्वं निपधनरपती नले विषये आख्यातु तस्मै निवेदयिष्यन्नित्यर्थं, प्रतस्थे । अन्या दमयती वयसा तुन्या वयस्या सत्य 'नौवयो' इति यत्प्रत्यय । 'हे प्रियसखि ! मुग्धे ! कान्तारे विषमे निगतासि सङ्कट प्रविष्टासि, पदवी विस्मृता किन्नु ? मा रोदी, एहि, याम गच्छाम' इत्युपहृतवचसो दत्तवचना सत्य एना निन्यु ॥

अन्वय —अथ एक पक्षयो कम्पभेदः कार्यसिद्धेः अस्तित्व स्फुट कथयन् एतत् सर्वं वृत्त निपधनरपती आख्यातु प्रतस्थे, अन्या वयस्या प्रियसखि, कान्तारे निर्गता असि, मुग्धे, किन्नु पदवी विस्मृता ? मा रोदी, एहि याम—इति उपहृतवचस निन्यु ।

हिन्दी—इसके अनंतर (दमयती हस से से) एक (हस) पक्षो को विशेष प्रकार से हिलाने के द्वारा काय सिद्धि के हो जाने को स्पष्टत कहता हुआ यह सब समाचार निपधनरपती को बताने के लिए चला गया, दूसरी (दमयती) को सखियाँ—'हे प्यारी सखी, जगल में निबल आयी हा, अरी

भोली-भाली, क्या राह भूँड़ गयी ? मत रोओ, आजो चले —इस प्रकार के वचन कहती हुई (राजमहल) ले गयी ।

टिप्पणी—हस तो जैसे सफलता का वृत्तांत सुनाने के लिए पक्षों को विद्वेष प्रकार हिलाता हुआ नियमदेश की ओर उड़ गया । सनागत सखियों ने आँसों में आँसू भरती दमयन्ती को समझा कि भोली सखी मार्ग में भटक जाने पर सहमी है, और वे उसे सान्त्वना देती हुई राजप्रासाद की ओर ले चली । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार । सधरा छंद ॥ १३२ ॥

सरसि नृपमपदवद् यत्र तत्तीरभाजः

स्मरतरलमशोकानोकहृत्स्योपमूलम् ।

किसलयदलतल्पग्लापिन प्राप त स

ज्वलदसमशरेपुस्पधिपुष्पधिमौले । ॥ १३३ ॥

जीव्रातु—सरसीति । ह्यो यत्र सरसि नृपमपदवत् दृष्टवान् तस्य सरस-
स्तीरभाजन्तदहृत्स्य ज्वलद्भिरसमशरस्य पञ्चैपोरिपुनि स्पष्टं इति तत्-
स्पधिनी तत्तन्वशी । पुष्पधिं पुष्पसमृद्धि मीतिं शिखर यस्य तस्याशोक-
नोकहृत्स्य अशोकवृक्षस्य उपमूल मूले विनक्त्यर्थे अव्ययीभाव । स्मरेण तरल
चञ्चल किसलयदलतल्प पल्लवपत्रशयन ग्लापयति स्वाङ्गदाहेन म्लापयतीति
तयोक्त त नृप प्राप ॥ १३३ ॥

अन्वय —स यत्र सरसि नृपम् अपश्यत् तत्तीरभाजं ज्वलदसमशरेपुस्पधि-
पुष्पधिमौले अशोकानोकहृत्स्य उपमूल स्मरतरल किसलयदलतल्पग्लापिन
त प्राप ।

हिन्दी—उस हस ने जिस सर के निकट राजा को देखा था, उसी के तट
पर स्थित, देदीप्यमान विपम बाग (काम) के बागों से स्पर्धा करते फूलों की
समृद्धि में दृक्त चोटी वाले अशोक वृक्ष की जड़ के निकट कामपीठा से चबल
नव-पल्लवों की शय्या को म्लान करते उस (नल) को पाया ।

टिप्पणी—जिस झींझा सरोवर के तीर पर राजा नल और हस भी प्रथम
मेट हुई थी, उसी के तट पर फूलों से लदे अशोक वृक्ष के नीचे कामपीठित

राजा को किसलयशय्या पर लटे दमयन्ती के समाप से, लोट हस ने पाया ।
विद्याधर के अनुसार उपमा । मालिनी छंद ॥ १३३ ॥

परवति । दमयन्ति । त्वा न किञ्चिद्ददामि

द्रुतमुपनम किं मामाह सा शस हस । ।

इति वदति नलेऽसौ तच्छशसापनम्रः

प्रियमनु सुकृता हि स्वस्पृहाया विलम्बः ॥ १३४ ॥

जीवातु—परवतीति । परवति । पराधीने दमयन्ति । त्वा न किञ्चिद्द-
दामि नोपालभे किंतु हे हस । द्रुत शीघ्रमुपनम आगच्छ, सा दमयन्ती मा
किमाह, शस कथयेति नले वदति भ्रान्त्या पुरोवर्तिनमिव सम्बोध्य आलपति
सति । असौ हस उपनम पुरोगत सन् कार्यज्ञ तत् वृत्त शशस कथयामास ।
तथाहि-सुकृता साधुकारिणा 'सुकर्मपापपुण्येषु कृत्वा' इति त्रिवृत् । प्रियमनु
इष्टार्थं प्रति स्वस्पृहाया स्वेच्छाया एव विलम्बः । न त्विच्छानन्तर तत्सिद्धे-
विलम्ब इति भावः । सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरयासः ॥ १३४ ॥

अन्वय — परवति दमयन्ति, त्वां किञ्चित् न ददामि, हस, द्रुतम् उपनम,
शस—सा मा किम् आह?—इति वदति नले उपनम्र असौ तन् शशस, हि
सुकृता प्रियम् अनु स्वस्पृहाया विलम्बः ।

हिन्दी—हे पराधीन दमयन्ती, तुमसे मैं कुछ नहीं कहता, हस शीघ्र
। निरुत् आओ, कहो—उसने मेरे प्रति क्या कहा?—ऐसा कहते नल के निरुत्
आये उस (हस) ने वह (समाचार) कहा, क्योंकि पुण्यशील जनो का अपने
लक्ष्य के प्रति स्वेच्छामात्र का विलंब होता है ।

टिप्पणी—उतावले राजा नल को तुरन्त पास जाकर हस ने सब सफलता
का इतिवृत्त बता दिया, कुछ भी विलम्ब नहीं लगाया । वास्तविकता यह है
कि नल सहस्र पुण्यश्लोक व्यक्तियों को दृष्टा करते ही अभीष्ट की प्राप्ति हो
ही जाती है, जो विलंब होता है वह केवल उनके इच्छा करने में होता है,
अभीष्ट प्राप्ति में विलम्ब का अर्थ कारण नहीं होता । अर्थात्-तरग्यास अलकार,
मालिनी छंद ॥ १३४ ॥

कथिनमपि नरेन्द्रशसयानाम हन

किमिति किमिति पृच्छन् भाषित स प्रियाया ;

अधिगतमनिश्रानन्दमाद्वीकमत

स्वयमपि

शतकृत्वस्नत्तयाज्वाचचक्षे ॥ १३५ ॥

जोशानु—कथितमिति । स नरेन्द्र नल कथितमपि प्रियाया दमयन्त्या
भाषित वचन किमिति किमिति पृच्छन् हन शसयानाम, पुनराख्यापयामास,
किं च अतिवेत् अविनाशो च आनन्द स एव माद्वीक मृद्रीकाविकारो शशा-
मय 'मृद्रीका गोस्तनी श्राक्षे'त्यनरः । तेन मत सन् जपिगत्र सम्यक् गृहीत
तद्वृत्त स्वयमपि शतकृत्व शतवार 'सख्याया श्रियाम्यावृत्तिगणे कृत्वन्नुव्' ।
तथा तदुक्तप्रकारेण ज्वाचचक्षे ज्जुशितवान् । मनोऽभ्युत्तनेच पुन पुनर्वंस्तीति
भाव ॥ १३५ ॥

अन्वय —स' नरेन्द्र कथितम् अपि प्रियाया भाषित किम् किम् इति
पृच्छन् हस शसयामास, अतिवेत्तानन्दमाद्वीकमत अधिगत तत् स्वयम् अपि
शतकृत्व तथा अन्वाचचक्षे ।

हिन्दी—उस नरराव (नल) ने हस द्वारा बजा दिये गये नी प्रिया के
कथन को 'कदा-कदा'—यह पृच्छा करते हुए हस से (बारबार) कहाया
और निःसीम आनन्द रूप शशामय से मतवाला होकर नली नाति मुने-समर्थ
उस सब को स्वयम् भी सी (अनेक) बार वसी प्रकार पुन पुन कहा ।

टिप्पणी—हस से सब समाचार बारबार रावा ने मुना और आन दोमत
होकर जैसे स्वय भी बारबार कहा । आनन्दातिशय और उन्माहातिरेक
बोधन । विद्यापर के अनुसार जाति अलंकार, मालिनी छंद ॥ १३५ ॥

श्रोतुं कविराजराजमुकुटालङ्कारहीरम्भुन

श्रीहीरम्भुने जिनेन्द्रियत्रय मामल्लदेवी च यम् ।

तार्त्तियीजनना मिनोऽज्यमगमत्तस्य प्रवन्धे महा-

काव्ये चादपि नैपथीयचरिते सर्गो निसर्गोऽञ्जलः ॥ १३६ ॥

जीवातु—श्रीहृषमित्यादि । तृतीय एव, तार्तीयिक । 'द्वितीयतृतीयाभ्यामीकक् स्वार्थे षबतथ्य' तस्य भावस्तत्ता तथा मितस्तृतीय इत्यर्थः । षोष सुगमम् ॥ १३६ ॥

इति मल्लिनाथ-सूरिविरचिताया 'जीवातु' समाख्याया 'नैपघ'-
टीकाया तृतीय सर्गं ॥ ३ ॥

अन्वय — तृतीय चरण में 'द्वितीयोक्तया' के स्थान में 'तार्तीयोक्तया', षोष द्वितीय सर्ग के अन्तिम श्लोक के तुल्य ।

'तार्तीयोक्तया'—तृतीय रूप से ॥ १३६ ॥

॥ नैपघीयचरित का तृतीय सर्ग समाप्त ॥

॥ श्री ॥

नैषधीयचरितम्

मल्लिनाथकृत 'जोवातु' टीकासहित-

सान्धय-सटिप्पण 'चन्द्रिका' हिन्दीव्याख्योपेतम्

चतुर्थः सर्गः

अथ नल्स्य गुण गुणमात्मभू सुरभि तस्य यज्ञकुमुम धनुः ।

श्रुतिप्रयोपगतं सुमनस्तया तमिपुमाशु विधाय जिगाय ताम् ॥ १ ॥

जोवातु—अथ राज्ञः स्वयंवर प्रत्युपोद्घातत्वेनास्मिन्सर्गे भूम्या मदनावस्या वांसितुमारमते—अपेत्यादि । अथ भूम्या प्रियसन्देशश्रवणानन्तर आत्मभू काम , नल्स्य गुण आत्मोत्कर्षहेतुशीघ्रसौन्दर्यादिको धर्मः, तमेव गुणमाँर्वा, विधाय । सुरभि सुगन्धि, मनोज्ञश्च । 'सुगन्धो च मनोर्णे च वाच्यवत् सुरभिः स्मृत' इति विश्व । तस्य नल्स्य, यज्ञश्च, तदेव कुमुम धनुर्विधाय । तथा सुमनस्तया सुमनस्त्वेन पुष्पत्वेन च, श्रुतिप्रयोपगत कर्णपथ गत, पुन पुन नैम्या श्रुतमित्यर्थं । आकर्षणमाहृष्ट्य, त नल्मेव, इषु विधाय । ताम् नैमो जिगाय । तदेकादशतवित्ता चकारेत्यर्थं । 'सल्लिटोर्वे' इति कुत्वम् । रूपकालङ्कार । अस्मिन्सर्गे द्रुतविलम्बित द्रुतम् । 'द्रुतविलम्बितमाह नमो मरौ' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ आत्मभू नल्स्य गुण गुण तस्य सुरभि यज्ञ कुमुम धनुः सुमन्तया श्रुतिप्रयोपगत तम् इषु विधाय ताम् आशु जिगाय ।

हिन्दी—उदनन्तर (हस के चले जाने के पश्चात्) आत्मजन्मा काम ने नल् के (वीरता, सौन्दर्य आदि) गुण को गुण (प्रत्यक्षा), उसके सुरभि

(सुगधि) पुष्प सहस्र सुरभि (प्रसिद्ध) यश को घनूप और सुमनस्ता (सुमनस्क-मनीषी होन तथा पुत्रमाव) के कारण बारबार श्रुत (सुने गये) उस (नल) को वान तक खीचा गया बाण बनाकर उस (दमयती) को शीघ्र ही जीत लिया ।

टिप्पणी—हस से नल वार्ता जान कर उसके चले जाने के पश्चात् नल के वियोग में दमयन्ती वामन्यथा से व्याक्रान्त रहने लगी । एक मात्र नल का ही विचार उसके मन पर छा गया । इस समय सग मे दमयती के नल सबद्ध अनुराग की पुष्टि दिखाने के लिए श्रीहर्ष ने विप्रलम्भ-शृंगार को प्रधानता दी है । बताया भी गया है कि विप्रलम्भ के बिना सयोग की पुष्टि भी नहीं होती—'न विना विप्रलम्भेन सयोग पुष्टिमश्नुते ।' विप्रलम्भ के निर्वेद आदि व्यभिचारिभाव तथा आलस्यादि विभावो का यत्र-तत्र इस सर्ग मे विशद वर्णन है । मन्त्रिनाथ के अनुसार इस श्लोक में रूपक अलङ्कार प्रधान है, विद्याधर ने रूपक-दीपक-श्लेष का रूकर माना है । इस सर्ग में १ से ११५ सूक्त्या के श्लोक तत्र द्रुतविलम्बित छंद है, जिसके प्रत्येक चरण मे बारह वर्ण—एक नगण (॥३), दो भगण (॥३, ॥३), एक रगण (॥३) क्रम से होते हैं—'द्रुतविलम्बितमाह नमो भरो' ॥ १ ॥

यदतनुज्वरभाक्तनुते स्म सा प्रियकथासरसीरसमज्जनम् ।

सपदि तस्य चिरान्तरतापिनी परिणतिविपमा समपद्यत ॥ २ ॥

जीवातु—यदिति । सा भैमी, अतनुज्वरमनङ्गज्वरम्, अधिक्ज्वरञ्च, भजतीति तद्भ्राक् सती । भजो ण्वि । प्रियकथैव सरसी मर तस्या रगो राग, जलञ्च तत्र मज्जनमासक्तिमवगात्ञ्च, तनुते स्म चकारेति यत् । 'लट् स्मे' इति भूते लट् । तस्य मज्जनस्य, सपदि चिर दीर्घकाल, अन्तरमभ्यन्तर, तापयतीति तत्तापिनी, विपमा उद्दीपनात्मिका, परिणतिः, परिपाक, समपद्यत सञ्जाता । अत एव ज्वरधान्त्यर्थाद्रिसमज्जनात्तदुद्वेकस्त्वानर्थोत्पत्तेर्विपमा-लङ्कारभेद । 'विद्वद्वायंस्योत्पत्तिर्यन्त्रानर्थस्य वा भवेत् । विरूपघटना वा स्याद्विपमाङ्कृतिस्त्रिणा ॥' इति लक्षणात् । एतेन द्वादशावस्थापक्षे नमो सज्वरावस्थावता । तदुचन—'चक्षु शीनिर्मन सङ्ग गङ्गापुञ्ज प्रलापिता ।

जागर वास्यंभरतिलंज्यागोऽय सञ्चर । उन्मादो मूर्छन चैव मरणञ्चरम
विदु' ॥ २ ॥

अन्वय —अनुज्वरणाक् सा यत् त्रिकदासरसीरसमञ्जन तनुते स्म तस्य
वपदि चिरातरताग्निो विषमा परिणति समपद्यत ।

हिन्दी—कामञ्चर से पीडिता उस दमपन्ती ने जो प्रिय (नल) कया
न्विनी सरसी के रस रूप रस (जड) में स्नान किया, उसका तुम्हें दीर्घ-
काल तक अतम् को धरानेवाला विषम परिणाम हुआ ।

टिप्पणी—ञ्चर में तल व्यक्ति स्नान करने से विषमञ्चर मे प डित हो
जाता है, उसी प्रकार कामञ्चराक्राता दमपती ने जो सरोवरस्नान-मद्ग प्रिय-
कया रस-स्नान किया, उसने उसकी पीडा और भी विषम हो गयी । नाव
यह कि नल-वर्षा सुनने से पीडा बढ गयी, पत्र विषम-विपरीत हुआ । मन्त्रि-
नाथ ने यहाँ विषम जटकार माना है, क्योंकि ज्वरशक्ति के निमित्त किया
सरसी-स्नान शमन के स्थान में ताप बढाने वाला ही हुआ और इस प्रकार
ज्यं के स्थान में अनयं सघटित हो गया । विद्याधर ने यहाँ रूपक मानते हुए
कहा है कि यहाँ ज्यंनर की प्रतापि रूपक-द्वारा ही होती है, अत ममामाक्ति
की समावना नहीं है । काम की चारह दशाएँ बतायी गयी हैं—(१) नेत्रानु-
राग, (२) मन सग, (३) सकल, (४) प्रलाप, (५) जागरण (६) कृपता,
(७) अरति (विराग), (८) लज्जाभ्याग, (९) प्रमूतञ्चर, (१०) उन्माद,
(११) मूर्च्छा और (१२) मरण । यहाँ नवमी दशा 'मञ्चर' (प्रमूतञ्चर)
का चित्रण है ॥ २ ॥

ध्रुवमधोतत्रनीयमनीरता दधितद्वनपनद्गतिवेगनः ।

स्थितिविरोधकगी द्वेषुकोदरी तद्दुदिन म हि यो यदनन्तर ॥ ३ ॥

जीवातु—ध्रुवनिधि । द्वेषुकोदरी मूष्ममध्या, इय दमपती, स्थिति-
मंयांश गतिनिवृत्तिश्च, तद्विरोधकरी, तद्विरोधहतुनिष्पद्यं । गरुडुपतेन्त-
त्प्रागनावविरोधित्वादिनि नाव । 'वृजो हेतु' इत्यादिना हृत्स्ये टन्त्यये
डोन् । अनीरता चपलताम्, एकत्रानवस्थान-जगतां, दधितद्वतो य पतन्
पतत्रो ह्य । 'पतत्तत्ररपाट्टजा' इत्यमर । तस्य गतिवेगत्र समनवेगाद-

धीतवती, गृहीतवती, प्राप्तवतीत्ययं । ऐतेन चापलास्य सञ्चारी भाव उक्तः ।
 'चापल त्वनवस्थान रागद्वेषादिसम्भवम्' इति लक्षणात् । तस्य हसपक्षवेग-
 जयत्वमुत्प्रेक्षते—घ्रुवमिति । ननु कथमन्यवेगादन्यत्र क्रियोत्पत्तिरित्याशङ्क्य
 यदनन्तरयायेन समर्थयति । योऽर्थो यस्यानन्तरस्सन्निहित स तस्मादुदित
 उत्पन्न इत्युत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्कर ॥ ३ ॥

अन्वय — द्रघणुकोदरी इय स्थितिविरोधकरीम् अधीरता घ्रुव दयितद्रुत-
 पतद्गतिवेगत अधीतवती, हि य यदनन्तर स तदुदित ।

हिन्दो— द्रघणुक जैसे उदरेवाली (अत्यन्त कृश उदरवती) इस (दमयती)
 ने स्त्रीजनोचित मर्यादा के विरुद्ध अधीरता (चञ्चलता) का पाठ निश्चयतः
 प्रिय के द्रुत, पक्षी हस की गति के वेग से पडा, कारण कि जो जिसके निकट
 रहता है, वह उसी से उत्पन्न रहता है ।

टिप्पणी—कामपीडिता दमयन्ती का धर्म जाता रहा, वह चञ्चल रहने लगी ।
 अचञ्चलता स्त्रीजनोचित मर्यादा है, दमयती ने चञ्चलता प्राप्त की, वह नारी
 विरुद्ध भाव है । गौतम के अनुसार जिसके तुरन्त बाद जो दीखता है, वह
 पूर्ववर्ती उत्तरभूत का कारण होता है—'यदनन्तरमेव यद्दृश्यते ततस्य
 कारणम् ।' सो धर्मशीला दमयती ने यह 'स्थितिविरोधकरी अधीरता' नलद्रुत
 हस से भेट हाने के अनन्तर ही दीखी, अत पूर्वोक्त न्याय के अनुसार इस
 अधीरता का कारण उस हस का गति वेग ही प्रतीत होता है । उसी के साहचर्य
 से दमयन्ती ने यह अस्थिरता आधी है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उदरेदा
 अर्थान्तरन्यास का अगाधिभाव सकर है, चारित्रवर्द्धन की 'तिलक' टीका और
 विद्याधर की 'साहित्यविद्याधरी' के अनुसार उत्प्रेक्षा और हेतु अलकार है ॥ ३ ॥

अतितमा समपादि जडाशय स्मितलयस्मरणेऽपि तदाननम् ।

अजनि पङ्गरपाङ्गनिजाङ्गणभ्रमिकणेऽपि तदीक्षणखञ्जन ॥ ४ ॥

जीवातु—अतितमामिति । तस्या भ्रम्या आनन, स्मितलयस्य हासलेहास्य
 स्मरणेऽपि किमुत करण इति भाव । अतितमामतिमात्रम् । 'किमेतिह' इत्या-
 दिना अध्यायादाम्प्रत्यय । जडादाय मूढचित्त, समपादि सम्पन्न, तदज्ञ जात-
 मित्यर्थ । 'चिण्ण पद' इति कर्तरि चिण् । तस्या ईक्षणमेव नयनभव,

सञ्चन सञ्चरोट, जनाङ्ग एव निजाङ्गन, तत्र प्रनिर्भन्ता तस्या को
लेयेजनि पङ्गुरसन्धयं, बजनि जात । 'दीनञ्चन इत्यादिना बने क्वरि
चिन् । ज्वरवेगाद् म्निववीक्षणे लुको इति नाक् ॥ ४ ॥

अन्वयः—नदानत म्निवववन्धरणे जनि कठितना बडानय सननादि,
तदोसाखडन अनाङ्गनिजाङ्गनप्रनिकणे अरि पङ्गु बजनि ।

हिन्दी—उठ (दमयन्ती) का नुब मुक्कान के लठ (अन्नाश) का
स्मरण करने में भी अत्यन्त विनूहचिन् हो गया, उसका शयनस्थ सञ्चन पक्षी
नेत्रप्राय स्व अपने आन में घुदकने में भी पट्टु (लँदडा) हो गया ।

टिप्पणी—विरप्रनन् रहने वाली हर्षितानना दमयन्ती के मुक्क प नठ
के विरोध में छोटी सी नुपकान भी न आ पाती, उसके चचल नयन इतने स्थिर
हो गये कि चिन्ता की मात्रा भी उनमें न दौलती । वे चचल सञ्चरि से
अब एक टुट्टी टांग बाले पक्षी जैसे बन गये । कामन्दर ने दमयन्ती की
मुक्क न छीन ली, ननों की लँका का विरोधित कर डाला । 'दिल्ल' टीका
के अनुसार वहाँ अतिशयोक्ति और रूपक है, 'साहित्यविद्यापी' क अनुसार
विशेषोक्ति और रूपक ॥ ४ ॥

किमु तदन्तरमौ भियजौ दिव स्मरनलौ विगतः स्त विगाहितुम् ।

तदधिकेन चिकित्सिनुमानु ता मत्तमुजामधिनेन नियोजितौ ॥ ५ ॥

जीवातु—जयाम्या स्मरन-जोनिरन्तरान्त प्रवेशनाच्छोर्त्तस्वने—
किम्बिति । तदधिकेन भैमोकांमुकेन, 'अनुकामिकानीक कनिता' इति विना-
तित । मत्तमुजामधिनेन देवेन्द्रेण, ता भैमोनाशु चिकित्सिनुनादीकृतौ,
नियोजितौ प्रपितौ उमौ शिवो न्यजो स्वर्वावस्थितौ, स्मरनलौ सन्तौ,
विगाहितु रोगनिदान निश्चेतुम्, तस्या दमयन्त्या, जन्तुत्वस्यरीर प्रविशत
स्त किमु । प्रविश्य म्पितावस्थिनावेव तौ किन्दिदुप्रेया । तेनास्त मदना-
स्थिनानसोन्दर्यं व्यग्ने । जत्र चिन्तास्य मञ्जारी भाव मुचित । 'ध्यान-
स्थितेऽपिज्ञानाति शून्यतास्वास्तवावृष्ट' इति लजगाद् ॥ ५ ॥

अन्वयः—तदधिकेन मत्तमुजाम् अधिनेन ताम् आशु चिकित्सितु नियोजितौ
उमौ दिव भियजौ स्मरनलौ विगाहितु तदन्त विगत स्त किमु ?

हिन्दी—उस (दमयन्ती) की कामना करने वाले यज्ञभोजी देवी के राजा इंद्र द्वारा उस (दमयन्ती) की शीघ्र चिकित्सा करने को नियुक्त दोनों स्वर्द्ध अश्विनीकुमार काम और नल वनशर विगाहन (रोग-निदान) करने के निमित्त क्या उसके अतस् में प्रविष्ट हो गये थे ?

टिप्पणी—उस समय दमयन्ती के अत करण में दो का ही वास था—नल का और तद्विषयक काम (अभिलाष) का, जैसे उनके रूप में दमयन्ती कामी इंद्र के भेजे स्वर्ग वैद्य रोग-परीक्षा के लिए अत प्रविष्ट हो । तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार उत्प्रेक्षा अलकार । चिंता नामक सचारी भाव ॥५॥

कुसुमचापजतापसमाकुल कमलकोमलमैक्ष्यत तन्मुखम् ।

अहरह्वंहृदभ्यधिकाधिका रविरुचिग्लपितस्य विधोर्विधाम् ॥६॥

जीवातु—अथ चिन्तानुभाव सन्ताप वर्णयति—कुसुमेत्यादि । कुसुमचापजेन स्मरसमुत्थेन, तापेन समाकुल विह्वलम्, अत एवाहरह अहन्यहनि । अत्यन्त-सयोगे वीप्साया द्विर्वचनम् । 'रो सुपि' इत्यहो नकारस्य रेफादेश । अभ्यधिकाधिकामत्यन्ताधिका । आभीक्ष्ये द्विर्भाव । रविरुचिग्लपितस्य अर्काशुद्ध-तस्य, विधोरिन्दोः, विधा प्रकार, तादृशीमवस्थामित्यथ । अत एव सादृश्या-क्षेपादसम्भवस्तुसम्बन्धान्निदर्शनालङ्कार । वहत् प्राप्नुवत्, कमलकोमल तन्मुखमैक्ष्यत इष्ट सखीजनेनेति शेष । सकरुणमिति भाव ॥ ६ ॥

अन्वय —कुसुमचापजतापसमाकुलम् अह अह अभ्यधिकाधिका रवि-रुचिग्लपितस्य विधो विधा बहत् कमलकोमल तन्मुखम् ऐक्ष्यत ।

हिन्दी—पुष्पघन्वा (काम) के कारण उत्पन्न ताप से व्याकुल, कमल सदृश कोमल उस (दमयन्ती) का मुख प्रतिदिन उत्तरोत्तर सूर्यकिरणों से म्लान चन्द्र की दशा की धारण करता प्रतीत होता था ।

टिप्पणी—नल-विद्योग में व्यथिता दमयन्ती के मुख की शोभा प्रतिदिन उत्तरोत्तर—पहिले दिन से दूसरे दिन अधिक—नीकी पड़ती जा रही थी । उसे सूर्यकिरणों के तापकारी प्रकाश में चन्द्रमा शोभाहीन दिखायी देता है, वसी ही दमयन्ती के कमल मुख की स्थित थी । सूर्य से कमल का विकास शान्त है, परन्तु यहाँ सूर्यरश्मि से कमल मुख को म्लान कहा गया है । कमल के समान

मुकुन्दार दनन्ती का मुख दिन-दिन नामव्रतता से श्रीहीन होता जा रहा था, यह कवि का आशय है। यहाँ सादृश्य के आशय से असुन्दर वस्तुसदृश के कारण निन्दना क्लृप्त है, यह जीवानुकार का मत है। तिलक और साहित्य-विद्याधरी के अनुसार भी इस पद्य में निन्दना है। चन्द्रमहाकार 'कमल-कोमल' में उपमा और 'चन्द्रविद्या' को मुख द्वारा प्राप्ति रूप असुन्दरवस्तु-सदृशविधान का निन्दित होने से निन्दना—अत्रैव उचना-निन्दना का अगा-गिभाव कर मानते हैं। श्लोक मत्पा ६ से १० तक पाँच श्लोकों में 'ताप' का वर्णन है। ताप चिन्ता का अनुभाव है ॥ ६ ॥

तरुतातपनद्युतिनिर्मितद्रुतिम् तन्वृचक्रुम्ममृता तथा ।

अनलसङ्गतिनापमुपैतु नो कुमुदचापकुलालविलासजम् ॥ ७ ॥

जीवानु-तरुतेति । तस्या कृचावेव कुम्भी तपोर्षा (कर्तृ), तद्यता तादृशमेव, तपनद्युतिरातपस्त्रया निमित्तं कृता द्रुतिमा वाडित्य यत्न ततया, कुमुदचाप एव कुलाल कुम्भकारन्तस्य विलासेन व्यापारेण जात तज्जम्, अनलसङ्गतिः नलसङ्गत्यावः । क्वचित् प्रत्ययप्रतिषेधे नन्तनात् इत्यते । अर्थानावेऽप्यपीभावे वा न्युक्तवन् । संबानलसङ्गतिरनिसपोय इति रिणष्ट-रूपकम्, तथा तापमुपैतु नो क्वचु, उपेयादेवेत्यं प्राप्तकाले लोट् । तथा हि—आनो घट कुलालेन दाटर्षाय प्रयत्नमातपेन पक्त्वा पश्चादग्निना पच्यते । रूपकालङ्कारः ॥ ७ ॥

अन्वय—तरुतातपनद्युतिनिर्मितद्रुतिम् कुमुदचापकुलालविलासज तन्वृच-
कृम्ममृताम् अनलसङ्गतिताप ना उपैतु ? (उपैत्येव) ।

हिन्दी—तरुतार्द्ररुगी घाम (धूप) से जिनसे कठोरता (कडाई) प्राप्त कर ली है और पुष्पधन्वा (काम) रसों कुम्भकार की विलास लीला के कारण त्रिसद्वी सुवर्णा हुई है, ऐसा उल (दनन्ती) का कृचरूप घटयुक्त अनलवाति (नल विमोह) रूप अग्नि में पकाये जाने के टाप (कामध्वर, घटपत्र से तपाया जाय) को क्या न प्राप्त करे ? करेगा ही ।

टिप्पणी—कामविलासक्रीडा के निमित्त नजात और तादृश के कारण

कठोर बना दमयन्ती का कुचयुग्म नल की सगति न होने से उसी प्रकार सतप्त हो रहा है, जैसे किसी कुम्भकार के द्वारा निर्मित घड़े घूप में सूख कर आग में तपाये जाते हैं। कुचयुग्म दो घड़े हैं, काम उनका सर्जनहार कुम्हार है, तरुणार्द्र घूप है, जिसमें वे कठार हुए हैं या मूछे हैं, 'अनल' (नलामाव) आग है, जिसमें वे तप रहे हैं। दृढ कुचकलशयुग यौवन की सपूर्णता के चिह्न हैं। पूर्ण-यौवना प्रिय-वियोग में सतप्त होनी ही है। कुम्हार जैसे घड़ों को बनाकर उनके सूख जाने पर उन्हें आग में तपाता है, वैसे ही काम नलामाव में दमयती के अगविद्ये को व्ययित कर रहा है। प्रकाशटीकाकार ने 'कुमुमचापकुलाल-विलासजम्' का 'जनलसङ्गतितापम्' का विशेषण मान कर अर्थ का संकेत दिया है कि 'तरुणार्द्र' रूप तपनच्युति से द्रुडिमा को प्राप्त उसका कुचकुम्भयुग काम कुम्भकार के विलास (क्रीडा, कृत्य) से अनलसगति (नलामाव, अग्नि-नयोग) से अनित ताप को क्यों न प्राप्त करे ?' यह अधिक उचित प्रतीत होता है, क्योंकि कुचकलश का सर्जक काम-कुम्भकार नहीं है, हाँ, वह उन्हें ताप देने वाला अवश्य है। मल्लिनाथ न यहाँ 'अनलसङ्गति' में श्लिष्ट रूपक और षाकु वक्रोक्ति का उल्लेख किया है, वैसे प्रधानतया वे रूपक ही मानते हैं। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास, श्लेष और रूपक हैं ॥ ७ ॥

अधून यद्विरहोष्मणि मञ्जित मनसिजेन तद्रूपयुग तदा ।

स्पृशति तत्कदन कदलीतरुं यदि मरुज्वलद्रूपरदूपित, ॥ ८ ॥

जीवातु—अधूनति । तदा यत्तस्या ऊरुयुग मनसिजेन विरहोष्मणि विरह-दाह मञ्जितम्, अधूत अवस्थितम् । घूडवस्थान इति घातोलुङि तञ् । ह्रस्वा-दङ्गात्' इति मलाप । कदलीतरु, मरी मण्डेशे ज्वलता तप्यमानेन उपरेणो-परक्षेत्रेण, दूषितो यदि दूषितश्चेत् । तत्कदन, तेनोरयुग्मेन कदन कलह साम्य-मित्यर्थे । स्पृशति । अत्रोपमानस्य कदलीतरोरुहमेयत्वकल्पनात् प्रतीपा-लङ्कारभेद । 'उपमानस्याक्षेप उपमेयत्वकल्पन प्रतीपम' इति लक्षणात् । उपरप्रकृतकदलीकाण्डकृत्य तदासीदित्यर्थ ॥ ८ ॥

अन्वय — तदा यत् तद्रूपयुग मनसिजेन विरहोष्मणि मञ्जितम् अधूत, यदि कदलीतरु मरुज्वलद्रूपरदूपित (स्यात्) तत्कदन स्पृशति ।

हिन्दी—उन मम जो उस (दमयन्ती) का जघायुगल मनोमव (काम) ने वियोग की अग्नि में निमज्जित कर रखा था, यदि केले का वृक्ष महमूमि की जल्ती ऊसर में पड़ दूषित हो जाय, तब उस (ऊदयुग) की समानता का स्पष्ट कर सकता है ।

टिप्पणी—नाब यह है कि दमयन्ती का ऊदयुग अत्यन्त मजान पा रहा था, महमूमि की आग में घषकती ऊसर में पड़े कदली वृक्ष के तुल्य । कहीं स्निग्ध, चिक्चण, कोमल कदलीतण, कहीं ऊसर की आग ? यहाँ उपमान कदली-तण के लगभग रूप में कल्पित होने के कारण मल्लिनाथ 'प्रतीप' मानते हैं, तिलक और साहित्यविद्यावरी के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ॥ ८ ॥

स्मरसाराहतिनिमित्तमज्वर करयुगं सहति स्म दमम्बुम् ।

अनपिधानवत्तपनातप तपनिपीतसरस्मरसीरुहम् ॥ ९ ॥

जीवानु—मरेति । स्मरसाराहत्या निमित्तमज्वर अनितनाप, दमस्वमु करयुग (कर्तृ) अनपिधानादनावरणात् (हेतो), पत्रम् प्रविशान, तपनातप म्र्यातप, यस्मिन् तत्तया, तपेन ग्रीष्मेण निपीते घोषिते मरसि मसरसीरुह पत्र, तद्धमति स्म तस्मद्दामनूदित्यर्थ । 'हस्ततीर्ष्यन्त्यमूयती'ति दण्डिना महत्त-पयसि पठितत्वात् । अत एवोपमालङ्कार ॥ ९ ॥

अन्वय—स्मरसाराहतिनिमित्तज्वर दमस्वसु करयुगम् अनपिधानवत्त-पनातप तपनिपीतसरस्मरसीरुह हसति स्म ।

हिन्दी—काम बाणों के आघात से उत्पन्न ज्वरदाह से युक्त दममयिनी (दमयन्ती) का करयुगल जिस पर मूरज की घूप प्रतिवधरहित पड़ रही हो, ऐसे ग्रीष्म ऋतु ने जिसे पी डाला है (गर्मी में मूछे), उस सरोवर में म्रियत कमल का उपहास कर रहा था ।

टिप्पणी—गर्मी से मूछे तालाब में पड़े कमलों की जो दुरवस्था होती है, कामजनित दाह से दमयन्ती के हस्त युग की लशा उससे भी चितनीय थी । मूछे तालाब में सीपी पड़ती घूप से झुलसते कमलसम कोमल करयुगल अत्यन्त सताप का अनुभव कर रहे थे । काव्यादर्शरचयिता दंडी ने 'हसति, दीर्घ्यति, अमूयति' आदि को भी समानतावाचक माना है, इस आधार पर मल्लिनाथ

यहाँ उपमा का विधान करते हैं । तिलक और साहित्यविद्याधरी में भी उपमालकार का ही निर्देश किया गया है ॥ ९ ॥

मदनतापमरेण विदीर्यं नो यदुदपाति हृदा दमनस्वसु* ।

निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा तमपराधमघात्प्रतिबध्नती ॥ १० ॥

जीवातु—मदनेति । दमनस्वसु, हृदा हृदयेन कर्त्रा मदनतापस्य मरेण औत्कटघेन (हेतुना) विदीर्यं, नो उदपाति नात्पतितमिति यत्, भावे लुङ् । तमनुरपतनरूपमपराध प्रतिबध्नती निरुधती, निबिडपीनकुचद्वयेन यन्त्रणा बन्ध (कर्त्रा), अघात् । हृदयकृतापराध स्वयमुवाहेत्यर्थः । अत्रातिदाहेऽप्यस्फुटन हृदयस्यायु शेषनिबधन तस्य कुचयन्त्रणानिमित्तत्वंमुत्प्रेक्ष्यते । सा च व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या ॥ १० ॥

अन्वय — दमस्वसु हृदा मदनतापमरेण विदीर्यं यत् नो उदपादि, तम् अपराध निबिडपीनकुचद्वययन्त्रणा प्रतिबध्नती अघात् ।

हिन्दी - दमभगिनी (दमयन्ती) का हृदय काम-सताप को प्रचुरता से विदीर्यं होकर जो उत्पतित नहीं हुआ, उस अपराध को घने पीन स्तनदुग्ध के बधन ने रोककर धारण किया ।

टिप्पणी—आशय यह है कि काम व्यथा इतनी प्रबल थी कि उसके कारण हृदय फट कर गिर जाता । वह उत्पतित नहीं हुआ, यह जैसे उस हृदय का अपराध था । वस्तुतः यह अपराध हृदय का नहीं था, उन घनकुचदुग्ध का था, जिनके बधन में पकड़कर हृदय बाहर नहीं जा सका । मल्लिनाथ ने दाह के कारण स्फुटित हो जाने योग्य हृदय के कुचनियन्त्रणा से अस्फुटित रह जाने के कारण गम्या उत्प्रेक्षा मानी है, क्योंकि व्यञ्जक का प्रयोग नहीं है । तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ॥ १० ॥

निविशते यदि शूकशिखा पदे सृजति सा कियतीमिव न व्यथाम् ।

मृदुतनोर्विननोतु कथं न तामवनिभूतु निविश्य हृदि स्थित ॥ ११ ॥

जीवातु—निविशत इति । शूकशिखा कण्टकाग्र, पदे चरणे निविशते प्रविशति यदि, 'निविश' इत्यात्मनेपदम् । सा प्रविष्टा शूकशिखा । कियतीमिव व्यथा पीठाम्, इवशब्दो वाक्यालङ्कारे । कौशली व्यथामित्यर्थः । न सृजति

नोन्मादयति, महतीमेव मृजतीत्यर्थं । अदनिमृद्राजा नल, पर्वतरश्च । न तु, हृदि निविश्य स्थित सन्, मृदुतनो कोमलाग्या, ता तथाविधा, व्यया कथं न विदुतनो तु तनोत्वेत्यर्थं । सम्भावनया लाट् । अत्र पदे सूक्ष्मकण्ठकप्रवेशे दुस्महा व्यया । किमुत मृद्वग्या हृदि महत्प्रवेशेनेति कँमुत्ययायेनार्यापत्तेरर्यापत्तिरलङ्कार ॥ ११ ॥

अन्वय — यदि शूकशिक्षा पदे निविशते सा क्रियतीम् इव व्यया न सृजति ? मृदुतनो हृदि निविश्य स्थित अवनिमृत् तु ता कथं न विदुतनो ?

हिंदी—यदि (अन्न के पीसने के अवशिष्ट निम्न भाग) डठल की नोक पैर में घुस जाती है, तो कितनी अधिक पीडा नहीं उपजाती ? (अत्यधिक पीडा उपजाती है ।) कोमल तन दमयन्ती हृदय में स्थित अवनिमृत् (पर्वत अर्थात् नल राजा) मन्ना उस (अत्यधिक व्यया) का विस्तार क्यों न करे ? (क'ना ही उचित है) ।

टिप्पणी—'अवनिमृत्' द्वयबोधक शब्द है—(१) पर्वत, (२) राजा । इसी शब्द के प्रयोग से यहाँ चमत्कारबारुदा आयी है । हृदय की अपेक्षा पैर अधिक कठोर होता है । तो कठोर पैर में चुभी डठल की छोटी नोक भी जब पीडा उत्पन्न कर देती है, फिर कोमलतर दमयन्ती के हृदय में घँसा पहाड़ (पश्चान्तर में राजा नल) और भी अधिक पीडा का कारण होगा ही । कोमल हृदय में घँसा 'अवनिमृत्' तो पीडा दे ही रहा है, पीडा का यह एक और कारण है कि अवनिमृत् नल हृदय में स्थित होकर भी प्रास नहीं होता । इतना निकट और इतना अप्राप्य ! कँसी विडम्बना है ! पैर में दना छोटा सा कटक भी व्यया देता है, कोमलागी के कोमलतन हृदय में यदि इतना बड़ा अवनिमृत् घँसा जाय तो फिर कहना ही क्या ? इस आधार पर कँमुत्यन्याय ने अर्थापत्ति होने के कारण मल्लिनाथ ने यहाँ अर्थापत्ति अलंकार माना है । तिलकवार के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति तथा द्रव्य क्रिया विराज अलंकार । सवारीभाव बिन्दा का चित्रण ॥ ११ ॥

मननि मन्तमिव प्रियमोक्षितु नयनयो स्पृहयान्तरूपेणयो ।

ग्रहणशक्तिरभूदिदमोययोरपि न सम्मुखवास्तुनि वस्तुनि ॥ १२ ॥

जीवातु—मनसीति । मनसि सन्त हृदि वर्तमान प्रियमीक्षितु स्पृहया अन्तरेपेतयोरन्त प्रविष्टप्रोरिव, इदमीययोरस्या सम्बन्धिनो । इदशब्दात्प्रदादे 'वृद्धाच्च' । नयनयो सम्मुख पुरोदेश. वास्तु स्थान यस्य तस्मिन्नपि पुरोवति न्यपि वस्तुनि, ग्रहणशक्ति साक्षात्करणसामर्थ्यं नाभूत् । नलव्यासङ्गात् किञ्चिद्व्यद्वाशीदित्यथ । तद्व्यासङ्गनिमित्तस्य बाह्यादशनस्य चक्षुषोरन्त-प्रवेशननिमित्तत्वमुत्प्रेक्षते । चिन्तैव सञ्चारी भाव ॥ १२ ॥

अन्वय —मनसि सन्त प्रियम् ईक्षितु स्पृहया अन्त उपेतयो इव इदमीययो नयनयो सम्मुखवास्तुनि अपि वस्तुनि ग्रहणशक्तिः न अभूत् ।

हिन्दो—मन मे स्थित प्रिय (नल) को देखने की आकाशा से मानो अन्तस् मे प्रविष्ट जैसे इस (दमयती) के दोनो नेत्रों मे सम्मुख स्थित भी वस्तु को ग्रहण करने की शक्ति (देख लेने की क्षमता) नहीं थी ।

टिप्पणी—विरह से क्लान्त दमयती की आँखें घँस-सी गयी थी, इसी पर कवि की उत्प्रेक्षा है कि वे अविद्यमान प्रिय की दर्शनाकाशा से भीतर घँसी जा रही थी । फिर भी निकटस्थित प्रिय को न देख सकने के कारण व्यथा और अधिक हो जा रही थी । लगता है, विरह के कारण दमयती के नयन इतने सामर्थ्यहीन हो गये थे कि निकटस्थित प्रिय-दर्शन भी न कर पा रहे थे । संचारी भाव चिन्ता का वर्णन । तिलक, जीवातु, साहित्यविद्याधरी के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ १२ ॥

हृदि दमस्वमुरश्रुक्षरप्लुते प्रतिफलद्विरहात्तमुखानते ।

हृदयभाजमराजत चुम्बितु नलमुपेत्य किलागमित मुखम् ॥ १३ ॥

जीवातु—हृदीति । विरहेणात्ता प्राप्ता मुखानतिर्यया सा तस्या नम्र-मुखाया दमस्वसु मुखम् । अश्रुक्षरेणाश्रुप्रवाहेण, प्लुते सिक्ते, हृदि हृदये प्रतिफलम् प्रतिविम्बित सत्, हृदयभाज हृदि स्थित, नल चुम्बितुमुपेत्य गत्वा, आगमित सञ्जातागमन किल, प्रत्यागतमित्युत्प्रेक्षा । तारकादित्वादितच् । किलेति सम्भावनायाम् । 'वार्तासम्भाव्ययो किल' इत्यमरः । अराजत रराज । सम्भावनायामुत्प्रेक्षा ॥ १३ ॥

अन्वय —विरहात्तमुखानते दमस्वसु मुखम् अश्रुक्षरप्लुते हृदि प्रतिफलम् हृदयभाज नल चुम्बितुम् उपेत्य किल आगमितम् अराजत ।

हिन्दी—दियोग के कारण जिसका मुख झुक गया है, ऐसी दम-भगिनी (दमयती) का मुख अश्रु-प्रवाह से सिधे हृदय पर प्रतिबिम्बित होता हृदय में स्थित नल के चम्बन को जाकर लौट आया जैसा सुरोमित हो रहा था ।

टिप्पणी—सम्भावनायक 'किल' के प्रयोग के आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ उपप्रेक्षा का निर्देश किया है, तिलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार यहाँ उपप्रेक्षा और अतिशयोक्ति है । चिंता के अनुभाव रोदन का चित्रण । १३।

सुहृदमग्निमुदञ्चयितु स्मरं मनसि गन्धवहेन मृगीदृश ।

अकलि निश्चसितेन विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेचनमायिता ॥ १४ ॥

जीवातु—सुहृदमिति । गन्धवहेन बाह्यवायुना, सुहृद सखायम् । 'रोहिताश्वो वायुसख' इत्यग्नेर्वायुसखत्वानिर्गानात् । मृगीदृश भैम्या, मनसि, स्मर-मेवाग्निमुदञ्चयितुमुदीपयितु, निश्चसितेन निश्चासदातव्यायेन, विनिर्गमेण बहिर्निस्मारणेन, अनुमित निह्नुत, प्राज्ञात, यद्वेशनमन्त प्रवेशस्तत्र मायिता मायाबिन्धम् । तत्कल्पनापाटव बीह्यादित्वादिनि अकलि कलित प्राप्तम्, नूनमिति शेष । अग्निदो हि गूढ प्रविश्य प्रकाश निर्गच्छति, तद्गद्वायुरपि याद्गन्निश्चासव्यायेन तथा कृत्वा निर्गत इत्युपप्रेक्षा ॥ १४ ॥

अन्वय — मृगीदृश मनसि सुहृद स्मरम् अग्निम् उदञ्चयितु निश्चसितेन गन्धवहेन विनिर्गमानुमितनिह्नुतवेचनमायिता अकलि ।

हिन्दी—मृगनयना (दमयती) के मन में स्थित मित्र कामदेव रूप अग्नि को उद्दोष करने के निमित्त निश्वास रूप वायु ने बाहर निकलने से जिसके गुप्त प्रवेश का अनुमान हो, वह माया स्त्रीकारी ।

टिप्पणी—विरहगीडिता, कामसतता दमयती लम्बी-लम्बी सासों लेती । कवि ने इस पर कल्पना की दमयती के हृदय में जो काम रूप अग्नि है, उसे उत्तेजित करने या हृदय-कारागार से मुक्ति दिलाने के लिए अग्नि का मित्र वायु पहिले निश्वास रूप में अउत्स में प्रविष्ट हुआ और उठी कपट वेध में बाहर निकला । मित्र की सहायता मित्र करता ही है । कपट रूप इसलिए प्रतीत हुआ कि जब कामाग्नि का मित्र वायु निश्वास वेध में बाहर निकल रहा है तो उच्छ्वास वेध में अन्त प्रविष्ट भी हुआ होगा । मल्लिनाथ के अनुसार

उप्रेक्षा अलकार । विद्याधर ने समासोक्ति और रूपक का निर्देश किया है ।
निश्वास भी चिन्ता का अनुभाव है ॥ १४ ॥

विरहपाण्डिमरागतमोमपीशितिमतन्निजपीतिमवर्णकैः ।

दश दिशः खलु तद्दृग्कल्पयल्लिपिकरी नलरूपकचित्रिताः ॥ १५ ॥

जीवातु—विरहेति । तस्या दमयन्त्या, इन्द्रिरेव, लिपिकरी चित्रकरी,
विरहेण पाण्डिमा शरीरस्वैत्य, रागोऽनुराग स एव रागो रक्तिमा । श्लिष्ट-
रूपकम् । तमो मोहस्तदेव मपी तस्या शितिमा नीलिमा । तस्या मम्या
निजो नैसर्गिक पीतिमा कनकवर्णं, चतुर्णां द्वन्द्वं, तैरेव वर्णकं चित्र-
साधनं, दश दिशस्ता एव भित्तीरिति शेष । नलस्य रूपकं प्रतिकृतिभि-
चित्रिता सञ्जातचिन्ता, तारकादित्वादितच् । अकल्पयदमृजत्सन्तु । निरन्तर-
चिन्ताजनितया भ्रान्त्या प्रतिदिश मिथ्यानलानद्वाक्षीदित्यर्थं ॥ १५ ॥

अन्वयः—तद्दृक् लिपिकारी विरहपाण्डिमरागतमोमपीशितिमतन्निजपीतिम-
वर्णकैः दश दिशः नलरूपकचित्रिता अकल्पयत् खलु ।

हिन्दी—उस (दमयती) की दृष्टि रूपिणी चित्तेरी ने विरह में सजात
पाडुरता रूप भूरे, अनुराग रूप छाल, मूर्च्छा रूप मसी (स्याही) के बाने
और अपने काञ्चन (देह रूप) पीत वर्णों (रंगों) से दसो दिशाओं में नल
के रूपक (चित्र) बना दिये ।

टिप्पणी—वियोग पीडिता दमयती वियोग में पाडुर हो गयी, अनुराग
की तीव्रता में मूर्च्छित हो जाती, उसका देहरूप काचनपीत था ही । सब ओर
वियोग में उसे नल-ही नल दीखता । इसी पर यह कवि कल्पना है कि पाडुरता-
राग-मूर्च्छा-काञ्चनपीतदेह के भूरे, लाल, बाले, पीले रंगों की सहायता से
चित्तेरी दमयती दृष्टि ने दश दिशा रूप भित्तिर्या नल के विविध चित्रों से परि-
पूर्ण कर दी । मल्लिनाथ ने यहाँ चिन्ताजनित भ्रांति मानी है । इसे ही नारायण
ने उन्माद दशा माना है । उनके अनुसार दृष्टि की लिपिकरी रूप में उप्रेक्षा
की गयी है । विद्याधर रूपक और विशेष अलकार मानते हैं ॥ १५ ॥

स्मरकृति हृदयस्य मुहुर्दग्ना बहु वदन्निव निश्वासितानि ॥

व्यधित वासमि कम्पमद श्रिते श्रमति क्व सति नाश्रयवाधने ॥ १६ ॥

लौवानु—स्मरवृत्तिमिति । निःश्वसितानिल, स्मरवृत्तिमदनकर्तृकवृष्टि-
रूपा, हृदयस्य हृत्पिण्डस्य, दशानवस्थां बहू बहुवार (क्रियाविशेषणम्),
वदन्तिव एव कम्पत इति व्ययतिवेत्पुत्रेणा । अतो हृदय, यित्ते वासति,
कम्पच्छन्न, तन्कारण आसन्न, मुहु व्ययित विहितवान् । दधातेर्लुङ्ङितङ् ।
'स्याध्वोरिच्च' इतीकार । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति निचो लोप । तथा हि-
आश्रयवाग्ने सति, को नाम न वसति । सर्वोऽपि वसन्वेत्यर्थ । तद्वाघे
तदाश्रित्यन्व स्वस्यापि वाग्नादिति भाव । अर्दान्तरन्यासोऽङ्कार ॥ १६ ॥

अन्वय—निःश्वसितानिल स्मरवृत्ति हृदयस्य दशा बहु वदन् इव अदः
यित्ते वामसि कम्प मुहु व्ययित, आश्रयवाग्ने सति क न वसति ?

हिन्दी—नि श्वास वायु ने कम्पविहित (दमयती के) हृदय की अवस्था
को अनेक बार मानो कहते हुए, उस (हृदय-वस्त्र) पर स्थित वस्त्रों को
कपन देते हुए बारबार पीडा दी, आश्रयन्यत्री के वाधित (वाग्ना-ध्या युक्त)
होने पर कौन नहीं डरता ? मुनी डरते हैं ।

टिप्पणी—दीर्घ नि श्वास के कारण दमयती के हृदय-वस्त्र स्थल पर पड़े
वस्त्र बार-बार हिल डटते हैं । हृदय पर स्थित होने के कारण हृदय वस्त्रों का
आश्रयनूत जाश्रय हुआ, सो आश्रय स्थल पर विपत्ति आने पर आश्रित वस्त्र
भी विपत्तस्त हो वस्त हुए । आश्रय कपित होमा सो आश्रित भी कपित
हागा । आश्रय यह कि विरहनि-श्वास के कारण हिलते वस्त्र दमयती की
प्रबल ध्या की सूचना दे रहे थे । मन्त्रिनाप के अनुसार अर्दान्तरन्यास
अलकार, निलक और साहित्यविद्याधरी के अनुसार अर्दान्तरन्यास और
उत्प्रेक्षा ॥ १६ ॥

करपदाननञ्जोचननाममि मनदलः मुत्तनोत्रिरहृज्वरे ।

गविमहो बहु पीतचरं चिरादनिशनापमियादुदमूज्वन ॥ १७ ॥

जीवानु—वरेति । करो पदे आनन लोचने इति नामानि देया तं,
सदाकारपरिपामात्तन्नामगारिभि यत्तदं कुशेषै (कर्तृनि) विद्यत्
चिरत्प्रभृति, पीतचर रमवशात् पूर्वपीत, नूतपूर्व चरत्प्रत्यय । बहु मूरि,
रदिनह नूरनेत्र, मुत्तनो दमयन्त्या, विरहज्वरे ज्वरावस्थाना, अनिश-

तापमिपात्रिरन्तरोष्णव्याजात्, उदसृज्यत उत्सृष्टम् । नूनमिति शेष । अत्र पद्याना भैमीकरचरणादिभ्यो नाममात्रभेदः । न रूपभेद इत्यभेदोक्तेरतिशयोक्तिः । तन्मूला चैव पूर्वपीततेजोवमनोत्प्रेक्षा । सा च तापव्याजादित्यपह्लवानुप्राणितेति सङ्कर ॥ १७ ॥

अन्वय — करपदाननलोचननामभिः घनदलै चिरात् पीतचर बहु रविमहसुतनी विरहज्वरे अनिघतापमिपाद् उदसृज्यत ।

हिन्दी—हस्त, चरण, मुख और नेत्र नामधारी कमलों द्वारा बहुत काल से पहिले पी लिया गया प्रचुर सूर्य तेज सुन्दरी (दमयन्ती) वियोग ज्वर में निरन्तर ताप के व्याज से (जैसे) उत्सृष्ट किया जा रहा था ।

टिप्पणी—वियोग ज्वर में दमयन्ती के कमल-तुल्य हाथ, पैर, मुँह, आँखें-सभी तप रहे थे । कवि ने कल्पना की है कि कर-पदादि रूप वाले कमलो ने विकसित होने के लिए पहिले सूर्य तेज अत्यधिकमात्रा में पीडाला, जो उन्हें सह्य न हुआ । इसी कारण ज्वर ताप के रूप में बार-बार उसे भीतर से बाहर निकाल रहे हैं—अधिकमात्रा में पी लिये गये को वमन करके निकाल रहे हैं । भाव यह है कि विरह व्यथिता दमयन्ती का प्रत्येक काम ज्वर से अत्यधिक सतप था । इस पद्य में दमयन्ती के कर-पदादि नामत ही कमल से भिन्न बहे गये हैं, रूपत नहीं, अर्थात् करादि जगो में पूर्णतया कमल रूप सादृश्य है, भेद नाममात्र का है । इन कारण अभेदकथन होने से जीवातु टीका में यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया गया है और बनाया गया है कि 'पूर्वपीततेजोवमन' की उत्प्रेक्षा तन्मूलक ही है, और वह 'ताप-व्याजात्' कथन होने से अपह्लव से अनुप्राणित है । इस प्रकार संकर है । तिलक और साहित्यविद्याधरो में अतिशयोक्ति, समासोक्ति और अपह्लति का निर्देश किया गया है ॥ १७ ॥

उदयति स्म तदद्भुतमालिभिर्घरणभृद्भुवि तत्र विमृश्य यत् ।

अनुमितोऽपि च वाप्यनिरीक्षणाद्व्यभिचचार न तापकरो नलः ॥ १८ ॥

जीवातु—उदयतीति । आलिभि मल्लीभि, तत्र तस्यां, घरणभृतो भीमभूपाद्भवतीति तद्भू भैमी तस्या पर्वतभूमौ च विमृश्य व्याप्तिमनुसन्धाय, वाप्यनिरीक्षणादभुलिद्गदर्शनात् । अ यत्र, घूमदर्शनात् । 'वाप्योऽभ्रुष्यः' बुधुमे च'

च' इति वैश्वन्ती । जनुनिव जम्बूहित, जन्वय लिङ्गनावाविराजि
 तानक सत्ताजवनक, न । नैपय, जन्वय अवलोकनि न ध्वनिवचार
 नाचया वन्दुवेदि बतु तद्वन्दुवमुदयनि म्म उल्लसन्निन्दय । 'जय गती' इति
 घातान्त लट् । नन्विताजन्मोऽय सतान इत्यधुदयनासुवीन्निहितनहो
 इति पन्माय । वन्दवानलिङ्गमनादवक्रजानम् । तच्चान्यनिचारांति स्फुरती
 विरोधन्यात्रुलिङ्गासन्तानकरो दजे निश्चित इत्यनासौकराद्विरोधानात् ।
 स च श्लेषानुप्राणित । सतानकरो नञ् इति सन्दर्भेय । अन्यनादश्लेष ।
 बनि विरोधे ॥ १८ ॥

अन्वय — श्राजिनि तय धरणिन्दुवुदि विन्दुद वायवनिगीसगाद् जनुमिद
 अति तापक नञ् (अन्व) यत् न ध्वनिवचार, एत् अद्भुतम् उदयनि स्म ।

हिन्दो—(१) मन्विता द्वारा उच्यते गत्र, की अन्वया (दन्वनी) ने
 विचार पूर्वक आनुसौ को दमन म नी विरह्ताय देने वाले नञ् का अनुनास जी
 ठीक कर लिया, वह आश्चय ही हुआ ।

(२) मन्विता द्वारा उच्यते पर्वतमूर्ति ने विचार पूर्वक नाच निकलनी देख
 कर नी जा ताप देने वाले जनि (जन्व) का अनुनास ठीक स क लिया
 यह आश्चय को वस्तु ही है ।

टिप्पणी—यहाँ नाद-धुना होता है, क्या जान होगी है—'यत्र यत्र धुन-
 स्तत्र तत्र वह्नि', यह अनुमान-सिद्ध है । धुना—नाच देखकर या का अनुनास
 लगा लिया जाता है, जो आश्चर्यजनक है । 'धरणिन्दु-म्' पर्वत के तुल्य
 धरणिन्दु-राजा की बेटी दन्वनी के वायव-नाच तुल्य ज्यु उदय या
 जन्म ही नञ् का ठीक अनुनास कर लिया, यह अनुनास ही प्राली के
 समान ही आश्चर्यजनक है । जिता वज्रने ही सुखिनी ने समन्ती का नला-
 नुराग जान लिया, यह जन्व ही राजा । मन्विता ने बताया है कि वाय-
 निरीक्षण से जन्म का ज्ञान होता है, वह अन्यनिचारी है । इस स्फुरित विरो-
 ध का धुन म्म लि ने सत्ताकर नञ् का निषेध किया गया इस प्रकार का
 जाना देने के कारण यहाँ विगमनाय न जीव वह श्लेषानुप्राणित है ।
 'सतानकरो नञ्'—यह उल्लसन्निन्द है, जन्वय जयसन्द । 'जनि' विरोध-

वाचक है। तिलक और साहित्यविद्यापरी के अनुसार श्लेष-भ्यतिरेक बलकार है ॥ १८ ॥

हृदि विदभंभुव प्रहरन् शरे रतिपतिनिपघाधिपते कृते ।

वृन्ततदन्तरगस्वदृढव्यथ फरुदनीतिरमूर्च्छदल खलु ॥ १९ ॥

जीवातु—हृदीति । निपघाधिपते कृते नलस्यार्थं, तत्प्रहारार्थमित्यर्थ । 'अर्थे कृते च शब्दो द्वौ नादर्थ्येऽत्रयसञ्ज्ञितौ' इति वचनात् । विदभंभुव दमयन्तीं, शरंहृदि प्रहरन्, नलस्य सदा तद्गतत्वादिति भाव । रतिपति काम, कृता तदन्तरगस्य नैमीहृद्गतस्य स्वस्य दृढव्यथा येन स, स्वयमपि तद्गतत्वात् प्रहृत सन्नित्यथ । फरुती अनीतिर्दुर्नीतिर्यस्य सोऽलमत्यन्तममूर्च्छदवर्धत खलु । अमुह्यादिति च गम्यते । 'मूर्च्छामाहसमूर्च्छाययो' इत्युशासनात्, तदभेदेन मूर्च्छालक्षणकार्यदर्शनाद्रतिपते स्मरस्यापि प्रहार उत्प्रेक्ष्यते व्यञ्जकाप्रयोगाद्गम्या । सा च श्लेषमूलातिशयोक्त्युत्थापितेति शङ्कर । परप्रहारोद्यतस्य स्वप्रहाररूपानघोत्पत्तविषमभेदञ्च व्यज्यते ॥ १९ ॥

अन्वय — निपघाधिपते कृते विदभंभुव हृदि शरं प्रहरन् रतिपति कृत-तदन्तरगस्वदृढव्यथ फलदनीति अलम् अमूर्च्छत् खलु ।

हिन्दो—निपघराज (नल) के निमित्त विदभंतनया (दमयन्ती) के हृदय पर प्रहार करता रति का स्वामी (काम) उस (दमयन्ती) के हृदय में स्थित स्वयं को प्रभूत पीडा देकर दुर्नीति के फल को प्राप्त हुआ (स्वयम् नो) लगता है, गहरी मूर्च्छा को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयन्ती के हृदय में काम अति-प्रचुर हो गया । 'अमूर्च्छत्' का एक अर्थ 'वृद्धि को प्राप्त होना' भी है, जिससे 'काम-प्रचुरता' भाव व्यक्त होता है । इस स्थिति में यह कल्पना करनी होगी—सौन्दर्य में नल काम का प्रतिद्वन्द्वी है, नलानुरक्ता दमयन्ती भी इस कारण काम की शत्रु है, क्योंकि शत्रु का मित्र शत्रु हाता है । अतः दमयन्ती के हृदय पर प्रहार करने से शत्रु को व्याधा देता काम 'अलम् अमूर्च्छत्' अर्थात् बड़ गया अर्थात् उन्नति का प्राप्त हुआ और शत्रु के मित्र पर प्रहार वाली उसकी नीति फलवती (फरुदा-नीति) हो गयी ।

'अमूर्च्छं' के 'मूर्च्छित हो गया' अर्थ में इस प्रकार विचारना होगा, नल का स्थान दमयन्ती का हृदय था, उन दिना वियोगिनी दमयन्ती के हृदय में काम नो विराजमान था। उस 'हृदय' पर प्रहार करके काम ने फलाफल पर विचार नहीं किया, सो प्रहार उस पर नो हो गया। वह गहने मूर्च्छा को प्राप्त हो गया और इस प्रकार अनोति फल गयो (फलत् - अनोति)। अथवा शत्रु तो नल था और प्रहार दमयन्ती के हृदय पर किया, वहाँ उन दिना काम स्वयं स्थित था, इस प्रकार अपनी अनोति का फल काम को स्वयं भोगना पडा। अथवा नल दमयन्ती के हृदय-दुःख में छिना था, काम का उचित था कि वह छिन दुःख-स्थित शत्रु पर प्रहार करते समय यह विचार लेता कि स्वयम् उसकी रक्षा का उचित प्रवन् है अथवा नही? बिना विचारे किये प्रहार का वह स्वयं लक्ष्य बना और अनोति का—अविचार का फल पा गया।

केन्द्रीय भाव यही है कि दमयन्ती की कामपीडा बढ गयो। मूर्च्छा से वृद्धि को प्राप्त काम दमयन्ती को बही पीडा दे रहा था।

मल्लिनाथ ने इस श्लोक में स्तम्भनूला अतिशयोक्ति द्वारा उपासित गम्या उपदेश का निर्देश करके मुकर अलंकार माना है। तिलक और साहित्य-विद्याधरी में उपदेश-श्लेष का निर्देश किया गया है ॥ १९ ॥

विपुरमानि तथा यदि भानुमान् कथमहो स तु तद्घृदय श्रवा ।

अपि वियोगभरास्फुटनस्फुटीकृतदृषत्वमजिज्वलदंशुभिः ॥ २० ॥

शंभानु—विपुरिति। तथा दमयन्त्या, विघृञ्चन्द्र, भानुमान् मूर्यं, जमानि मने यदि विरहिणान्तन्न वित्रम्। किन्तु, स मूर्यन्वानिनतो विपुः, विपोग एव भरो भारस्तेनापि मदस्फुटनविधरण, तेन स्फुटीकृत दृषत्व मूर्योन्त्य मन्व तत्। अन्वयातिनारास्योष्टादिविद्विगीयेति भावः। तद्-घृदयमपि मैमीहृदयस्य मूर्यकान्तमपीत्यय। कथ तथा मूर्यवत् अशुभि स्व-तेजोभि, अजिज्वलत् ज्वलयति स्म। ज्वलतेगौ चङ्। अहो विषुविरहिना-मूहोपवत्वात्-मूर्यवत्तनु नाम। तद्बदकौज्वलपितृन्व तु वित्रनिस्पद्यं ॥२०॥

अन्वय—तथा यदि विपुः भानुमान् जमानि, स तु वियोगभरास्फुटनस्फुटी-कृतदृषत्व तद्घृदयम् अपि कथ तथा अशुभिः अजिज्वलत्, अहो।

हिन्दी—उस (दमयंती) ने यदि चन्द्र को सूर्य मान लिया, (परन्तु) वह (सूर्य मान लिया गया चन्द्र) तो वियोग के भार से भी विदीर्ण न होकर जिसने अपना पापाण (सूर्यकातमणि) होना प्रकट कर दिया है, ऐसे उसके हृदय को भी कैसे उस प्रकार जला रहा था ? यह आश्चर्यजनक है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि विरहिणी दमयन्ती का चन्द्रमा ऐसा ताप दे रहा था कि वह उसे सूर्य मान रही थी । हमने आश्चर्य—विषय यह है कि चन्द्र हृदय को सनस कैसे कर रहा था ? दमयंती के हृदय ने तो अपने को एक पत्थर (सूर्यकातमणि) प्रमाणित कर दिया था, क्योंकि यदि वह पत्थर न होता तो वियोग के भार से फट जाता, तो चन्द्रा पत्थर को तपा कैन रहा था ? इसके अतिरिक्त पत्थर—सूर्यकातमणि रूप में प्रमाणित हृदय को तो सूर्य ही ज्वलित कर सकता है, चन्द्र नहीं । तो चन्द्र उसे कैसे जला रहा था ? इससे ऐसा लगता है कि या तो यह सूर्य रूप प्रमाणित चन्द्र अतीव आश्चर्य का विषय है या फिर यह चन्द्र है ही नहीं, सूर्य ही है । चन्द्र में आरोपित सूर्य की भावना नहीं है, वास्तविक सूर्य है । तिलक और साहित्य विद्याधरी के अनुसार यहाँ विरोधालंकार है । 'सका' व्यभिचारो भाव का वर्णन ॥ २० ॥

हृदयदत्तसरोरुह्या तथा क्व सद्गस्तु वियोगनिमग्ना ।

प्रियधनु परिरम्य हृदा रतिः किमनुमतुंमयेत चित्ताचिपि ॥ २१ ॥

जीवातु—हृदयेति । वियोगनिमग्ना विरहान्निमग्ना, अत एव हृदयदत्तसरोरुह्या सन्तापशान्तये वचोनिक्षिप्तपद्मया, तथा समाना दृश्यत इति सद्गु सद्गती स्त्री 'समाना ययोश्च' इत्युपसङ्गानात्समानोपपदाद्दसो निबन्प्रत्यय । 'दृश्यावतुषु' इति समानशब्दस्य सभाव । क्वास्तु न क्वापीत्ययं । रति कामपत्नी, हृदा वक्षसा प्रियस्य स्वमर्तुं, धनुषोष्पमित्ययं परिरम्य, अनुमतुम् अनुगमन क्तुं, चित्ताचिपि, अनेन शयिता किम् । प्रियमनुमतुं चित्ताचिपि शयाना साक्षात्तिरेवेयमित्युत्प्रेक्षा । तज्ज्वरान्निस्तथा प्रज्वलतीति भाव ॥ २१ ॥

अन्वय — वियोगनिमग्ना हृदयदत्तसरोरुह्या तथा सद्गु क्व अस्तु ? हृदा प्रियधनु परिरम्य अनुमतु चित्ताचिपि रतिः अयेत किम् ?

हिन्दो—विरह में निमग्न (अतएव) हृदय पर कमल ज़रौरिष्ठ किसे उस (दमयन्ती) के सङ्ग कहीं होंगी ? हृदय से प्रिय (कामदेव) का पुष्प-धनुष लगावे अनुमरण (मृत पति के साथ मग्न) के लिए चिता की लज्जों में रति सोयी थी क्या ?

टिप्पणी—इस तथा अगले (दाइसवें) श्लोक में कामदेवामरण का सूचन है । कवि यह कहना चाहता है कि विरह से प्रचुर पीडिता, क्याता होने पर दमयन्ती अनुमम सुन्दरी थी, विश्व में वैसे कोई दीवनी ही नहीं थी । अन्ध्र से अधिक कमल-पुष्प रूप धनुष को वज्र से लगावे मृतपति काम के साथ जल मरने को उद्यत रति से उसकी समता के विषय में विचार किया जा सकता है, किन्तु विचारमात्र, वास्तविकता ऐसी नहीं है । कारण कि रति तो पति के भस्मावशेष हो जाने पर जल जाने को चिता पर लैठी थी, दमयन्ती तो प्रिय-विभोग में ही कमल रूप धनुष को हृदय में लगावे, प्रिय-प्रतीक को हृदय पर धर कर क्षत्राणी को नर्याश के अक्षल जावरण करती (विभोगाग्नि में) जग में जली जा रही है । सो इस 'य'-बीती स्थिति में भी विश्व की अद्वितीय सुन्दरी रति में भी दमयन्ती की समानता समभव नहीं । जीवातु-विलक-नाहि-भविद्याधरी के अनुसार उम्प्रेक्षा जलकार ॥ २१ ॥

अनलभावमिय स्वनिवासिनो न विरहस्य रहस्यमबुद्धयत ।

प्रथमनाय विधाय नृगान्यनूत्र ज्वलति तत्र यदुज्जितुमैहत् ॥ २२ ॥

जीवानु—अनलभावमिति । इय दमयन्ती, स्वनिवासिन स्वनिष्टस्य, विरहस्य नलविणोस्य, रहस्य शमीवह्निवन्निगूटम्, अनलभावमग्नित्व, नल-रहितत्वश्च गम्यते । नाबुद्धयत नाजानादित्यर्थ । कुत्र, यद्यस्मात्, तत्र तस्मिन्-न्विरहे, ज्वलति इति, प्रथमनाय प्रज्वलनप्रतीकारार्थम्, जमून्, तृणानि विधाय तृणप्रधानम् कृत्वा तृणानकानिति । उज्जितु तदन्तु प्रक्षेप्तुश्च । ऐहत् ऐच्छत् । अग्नित्वज्ञाने कथं तच्छान्तये तत्र तृणप्रक्षेप इत्ययम् । विरह-दुःशान्तुमैच्छदिति तात्पर्यायं ॥ २२ ॥

अन्वय — इय स्वनिवासिन विरहस्य रहस्यम् अनलभाव न अबुध्यत, यत् तत्र ज्वलति प्रथमनाय जमून् तृणानि विधाय उज्जितुम ऐहत् ।

हिन्दी—यह (दमयन्ती) अपने मे वास करते विरह को रहस्य अनलभाव (अग्नि की सत्ता, पक्षान्तर में अ+नल भाव अर्थात् नल का अभाव) न समझी, जो कि उस वियोगाग्नि के जलते रहने पर उसके बुझाने के लिए प्राणों को तृण बना कर छोड़ना (डालना) चाह रही थी ।

टिप्पणी—दमयन्ती यदि विरह को अग्नि रूप में समझती तो क्या उस अग्नि के प्रशमन (बुझाने) के लिए प्राण रूप तृण उसमें डालती ? तृण पड़ने से आग बुझती नहीं, जलती ही है । सो दमयन्ती ने विरहाग्नि भाव को ठीक ठीक नहीं समझा । 'प्रशमन' का अर्थ यम भी है, 'अनलभाव' का अन्य अर्थ नल की अप्राप्ति भी हुआ—अ+नल+भाव, नलभाव का निषेध । इस स्थिति में 'काकु' के आधार पर अर्थ हुआ कि दमयन्ती ने यह समझ लिया कि नल की प्राप्ति असंभव है, अतः तृणसमान प्राणों में 'प्रशमन' (यम) को दे देना ही उचित है । 'अनलभाव न अबुध्यत ? अपि तु अबुध्यत एव । भाव यह कि नल की प्राप्ति असंभव मान कर दमयन्ती प्राण देना चाह रही थी । विरह अग्नि के समान दुःसह हो रहा था । तिलक टीका के अनुसार यहाँ अनुमान—अतिशयोक्ति—विरोध का संकर है, साहित्यविद्यापरी के अनुसार अनुमान और अतिशयोक्ति ॥ २२ ॥

प्रकृतिरेतु गुणस्स न योपिता कयमिमा हृदय मृदु नाम यत् ।

तदिपुभि कुसुमैरपि घुन्वता सुविवृत विवुधेन मनोभुवा ॥ २३ ॥

जीवातु—प्रकृतिरिति । योपिता हृदय मृदु नामेति यत् । नामेति प्रसिद्धौ । स इति विधेयप्राधान्यात् पुल्लिङ्गता । प्रकृति प्रकृतिसिद्ध, गुणो मादवगुण, इमां दमयन्ती कथं नैतु प्राप्नोत्वैवेत्यर्थं । कुत ? तन्मृदुत्व कुसु-मैरपि इपुभि, घुन्वता विवुधेन देवेन विदुषा च मनोभुवा, सुविवृत सम्य-ख्याख्यातम्, विद्वदधिकारत्वात्सन्दिग्धार्थनिर्णयस्येत्यर्थं । कुसुमादपि सुकु-मारमस्या हृदयमित्यर्थं ॥ २३ ॥

अन्वय — योपितां हृदय मृदु नाम, यत् स प्रकृति गुण इमां कथं न एतु ? तत् कुसुमै अपि घुन्वता विवुधेन मनोभुवा सुविवृतम् ।

हिन्दी—नारियों का हृदय कोमल प्रसिद्ध है, सो वह स्वामाविक गुण इस (दमयन्ती) में क्यों न आता ? उसे पुष्प वाणों में भी कपित (पीड़ित) करते विद्वान् मनोभव (काम) ने मन्त्रो भाँति स्पष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—नारी—हृदय कुमुम कोमल होता है, यह मान्य है ही । काम-देव ने दमयन्ती को फूलों के ही वाणों से प्रहार करके पीड़ित कर डाला, इससे यह सिद्ध हो गया कि नारीजनोचिन प्राकृतिक गुण कोमलता दमयती में भी है । यदि वह कोमल न होती तो क्या फूलों से पीड़ित होती ? मदनवाणों से दमयन्ती पीड़ित थी, यह आशय है । तिलक टीका के अनुसार अनुमानालकार, साहित्यविद्याधरी के अनुसार अनुमान-रूपेण । 'नारी-प्रकृति' 'गुण' व्यर्थ 'डोरी' है, जिसको आधार बना नाम पुष्प-वाण छोड़ रहा है ॥२३॥

रिपुतरा भवनादविनियंती विधुरचिगृहजालविलैनुंताम् ।

इतरथात्मनिवारणशङ्कया ज्वलयितु विसवेपथगविशत् ॥ २४ ॥

जीवातु—रिपुतरेति । रिपुतराऽल्लिङ्गेपिणी, विधुरचिञ्चन्द्रप्रभा, भवनादविनियंतीमनिर्गच्छन्ती, इणश्चतरि डीप् । ता मैमी ज्वलयितु, मन्तापयितु, इतरथा निजरूपेण प्रवेशे आत्मनिवारणशङ्कया । स्वप्रवेशप्रतिषेधमिया, विसवेपस्य घरा सती, गृहस्य जालविलैगंवाक्षरन्घ्रं अविशानु प्रविष्टा किम् । शिशिरोपचारविसाङ्कुरा निरन्तरान्त स्थितभैमीवाघनाय प्रच्छन्नप्रविष्टेन्दुकरा इव प्रविभाति स्मेत्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

अन्वय—रिपुतरा विधुरचिः भवनात् अविनियंती ता ज्वलयितुम् इतरथा आत्मनिवारणशङ्कया विसवेपथरा गृहजालविलै अविशत् नु ।

हिन्दी—महावैरिन चाँदनी भवन से बाहर निकलती उस (दमयन्ती) को सताप देने के लिए चाँदनी के रूप में प्रवेश करने पर अपने रोक दिये जाने की आशंका से कमलनाथ का वेप धारण करके भवन के झरोखों के छिद्रों से जैसे प्रविष्ट हो गयी ।

टिप्पणी—दमयन्ती को कामसताप के उपचाराय प्रयोग में लाये जाने वाले मृगाल भी सताप देते थे । इसी पर कवि ने समावना की है कि लगता है वे 'बिस' नहीं थे, अपितु विसवेपधारिणी महावैरिन चाँदनी थी, जो रूप

बदल कर चुपचाप ज्ञानामाय गवाक्ष माग से भीमादिनी की हत्या के लिए धुम आयी थी। वेप इसलिए बदला कि स्वरूप में वैरिन चादिनी को द्वार पर ही रोक दिया जाता—कौन धुसने देता महावैरिणी को ? गवाक्षमाग इसलिए अपनाया कि हृप बदलने पर भी कदाचिन् मुख्य द्वार पर पहिचान ली जाय, प्रमुख्य मार्ग ही चुपचाप प्रवेश के त्रिए जधिक उपयुक्त होता है। हत्यारे हत्या के लिए यही रीति अपनाया करते हैं। 'मदन से बाहर न निकलना' निर्वेद मचारी का छन्दुभाव है। दर स निरन्तर भीतर रहती दमयती की हत्या के निमित्त चन्द्रप्रभा जैसे लगते थे—इस मभावना के आधार पर इस श्लोक में महिदनाथ ने उत्प्रेक्षालकार का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ सद्भावोत्प्रेक्षा और ममामोत्ति है ॥ २४ ॥

हृदि विदभंभुवोऽश्रुभृति स्फुट विनमदास्यतया प्रतिविम्बितम् ।

मुखद्गोष्ठमरापि मनोभुवा तदुपमाकुसुमान्यखिला शरा ॥२५॥

जीवानु—हृदीति । विदभभुवो वंदन्यां, विनमदास्यस्तया नम्राननत्वेन (हेतुना) अश्रुणि विभर्तीत्यश्रुभृत्, शिवप् । तस्मिन्नश्रुमिक्त इत्यर्थ । हृदि वक्षसि, वमल्यात् स्फुट यथा तथा प्रतिविम्बित, मूल च शरी च ओष्ठश्च मुखद्गोष्ठम् । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भाव । मनोभुवा कामेन, तस्य मुखादे उपमाकुसुमानि पद्मम उत्पले वग्धूके च पञ्चधा स्थितान्युपमानपुष्पाणि तान्येव अखिला पञ्चापि शरा सदरोपि रोपितम् । तस्यास्तथाविधे वक्षसि प्रतिफलित मुखाद्यवयवपञ्चक पञ्चशरनिखातम्, तदुपमानकुसुमशरपचकमिवा-लदयतेत्युत्प्रेक्षाय ॥ २५ ॥

अन्वय —विदभंभुव विनमदास्यतया अश्रुभृति हृदि स्फुट प्रतिविम्बित मुखद्गोष्ठ मनोभुवा तदुपमाकुसुमानि अखिला शरा अरोपि ।

हिन्दी—विदभताया (दमयती) के मुख नीचे लुके होने का कारण आँसुओं से भरे हृदय में स्पष्ट प्रतिविम्बित होते (झलकते) मुख, दोनों नेत्र और दोनों अघरोष्ठों के रूप में जैसे मनोभव (कामदेव) ने उनके उपमान-भूत अपने समस्त (पाँचों) पाण आरोपित कर दिये ।

टिप्पणी—विग्रही, व्यदिता दमयन्ती मूह नीचा चिदे जाँवू गिराधी रहती थी । ऐसा लगत ना कि जैसे काम न एक साथ पाँचों बाग उनके हृदय में उँजा दिव है । पाच बाग दमयन्ती का मुख नयनमल गौर दोनों रोठ हैं, जो ज्येष्ठ धुनी उनकी छाती पर स्पष्टन प्रतिबिम्बित हो रहे हैं । मुख व्य है दो नेत्र, दो नील कमल हैं और दोनों अग्रगोष्ठ दो बध्क-पुण्ड (दासहरिया के पुण्ड) हैं । कमलादि मुखादि के उन्नत माने गये हैं, उन्हीं के रूप में काम ने अपने पाँचों बाग दमयन्ती के हृदय में आरोपित कर दिये । मस्तिनाय के अनुसार यहाँ उपेक्षा है विद्याधर ने समाप्ति मानी है । प्रकाशकार ने 'मुखदुपोष्ठम्' में व्यम्बरक का निर्देश किया है ॥ २५ ॥

विरहपाण्डुकपोत्तले विद्युर्ध्वजित भीमभुव प्रतिबिम्बित ।

अनुपलभ्यनिताशुनया मुख निजसख सुखमङ्कमृगार्पणात् ॥ २६ ॥

जीवानु—विरहेति । विद्यु भीमभुव भँम्या, विरहेत पाण्डुनि कपोल-तले गण्डम्यले, प्रतिबिम्बित सन्, अनुपलभ्यनिताशुनया नादार्थात् दुर्लभ्य-मुन्नकिरणया, सुखमनामानेन अङ्कमृगार्पणादसितकङ्कनृगार्पणात्, मुख भँमीमुख निजसख स्वसख, व्यजित विहितवान् । दोषिणो हि स्वरोप नि-दोषिणो स्वसखिणि सङ्कमव्य नमीकुर्वन्तीति भाव । केचिन्निवहानेनानि-नित्र कुर्वन्तीति भाव वाग्यन्ति । जत्र चरन्त्य कपोलतावन्त्येन तदेकवक्य-नात् सामान्यालङ्कारः । 'सामान्य गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरंजता' इति लक्षणात् ॥ २६ ॥

अन्वय —भीमभुव। विरहपाण्डुकपोलतले प्रतिबिम्बित विद्यु अनुपलभ्य-सिताशुनया मुखम् अङ्कमृगार्पणात् मुख निजसख व्यजित ।

हिन्दी—भीमभुव का के विषय में पाण्डु कपोल-स्थल में प्रतिबिम्बित होते चन्द्र ने न लभित हो पायी मुन्न किरणों (अथवा अलक्षित श्वेताय) के कारण सरलतापूर्वक गोद में स्थित मृग (काले मृग विह्व) को सर्पित करके (दम-यन्ती के) मुख को अपना सखा (स्वसख) बना लिया ।

टिप्पणी—भाव यह है कि सामान्यादम्या में दमयन्ती का कपोलतल चन्द्र

से कही अधिक शोभाशाली था, अतः चन्द्र उसकी सदृशता में नगण्य था । अब पीडावस्था में दमयन्ती का कपोलतल कृश और पादुर हो गया है सो अब चन्द्र का जो श्वेताश है, वह दमयन्ती के कपोलतल में प्रतिबिम्बित नहीं होता, क्योंकि उसके और कपोलतल के वर्ण में कोई अन्तर नहीं रह गया है, जो दमयन्ती की स्वस्थ अवस्थायें थी और जिसमें वर्ण अमाम्य के कारण चन्द्र प्रतिबिम्बित हो जाता था । अब चन्द्र शलकता नहीं, केवल इसका कलक शलकता है, जो अब दमयन्ती का कपोलतलाश ही लगता है—डिठोना । कवि ने कल्पना की है, इस स्थिति में अपना मृगाक उपहार स्वरूप देकर चन्द्र ने दमयन्ती के मुख को अपना मित्र (स्वसदृश) बना लिया है । मंत्री समा व्यक्तियों में ही होती है और मंत्री करते समय उपहार दिया ही जाता है । इस प्रकार व्याप्राप्ता दमयन्ती अल्प शोभनीय पादुर कपोलतल की स्वसम पा चन्द्र ने अक-भृग भेंट दे मंत्री स्थापित कर ली । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में कपोल सावर्ण्य के कारण चन्द्र और कपोलतल में अभेद वर्णित होने से सामान्यालंकार है, विद्याधर के अनुसार उपमा । निलक व्याख्या के अनुसार यहाँ तद्गुणालंकार है, रुद्रट के अनुसार जिसका लक्षण है—'यस्मिन्नेक-गुणानामर्थानां योगलक्षणरूपानाम ससर्गे नानात्व न लक्ष्यते तद्गुण स ।' २६ ।

विरहतापिनि चन्दनपासुभिर्वपुषि सार्पितपाण्डिममण्डना ।

विपधराभक्षिसाभरणा दधे रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिकाम् ॥ २७ ॥

जोवातु—विरहेति । सा दमयन्ती, विरहतापिनि वपुषि, चन्दनपासुभिः, मस्मधवलैरिति नाव, अपित सम्पादित, पाण्डिमैव मण्डन यस्या सा, विपधराभ क्षेपाट्कल्प, विसमेवाभरण यस्या सा सती, रतिपति स्मर, प्रति शम्भुरेवेयमिति विभीषिका विशेषेण भयोत्पादन, भीषयतेर्थात्वर्थनिर्देशे षुल् । 'सुप्सुपा' इति समास । न तु शम्भोविभीषिकेति कर्तरि षष्ठीसमास 'तृज-काम्या कर्तरि' इति नियेष्वात् । दधे दधार, नूनमिति क्षेप । गम्योत्प्रेक्षा ॥

अन्वय—विरहतापिनि वपुषि चन्दनपासुभिः अपितपाण्डिममण्डना विपधराभक्षिसाभरणा सा रतिपतिं प्रति शम्भुविभीषिका दधे ।

हिन्दी—विरह से सतस घरीर पर चन्दन-धूणं लगा होने से पादुरिमा-

रूप प्रसाधन से समृद्ध, सर्पों के तुल्य दिनों (कमलनाला) के आभरण धारती वह (दमयन्ती) रति के पति (काम) के प्रति जिव जैसी नयानकता को धारण कर रही थी ।

टिप्पणी—विरह-ज्वर से नवसा दमयन्ती के देह पर लगा चन्दन लेप तान के कारण सूख कर चन्दन-धूल बन गया था और उसका समग्र शरीर पाटु-मन्म से आच्छादित प्रतीत हो रहा था । लम्बे मृपाल सर्प तुल्य वीज रहे थे । इस प्रकार दमयन्ती जिव जैसी प्रतीत हो रही थी और कामदेव के मय का कारण बन रही थी । ऐसा प्रतीत हो रहा था कि दमयन्ती ने चन्दन-चूर्ण और कमलनाल इसीलिए धारण किये थे कि उसमें शम्भु-भ्राति से आज्ञात काम कर जाय । वियोगतापाधिक्य का वर्णन । मल्लिनाथ के अनुसार उन्मेषा और विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ २७ ॥

विनिहित परितापिनि चन्दन हृदि तथा मृतबुद्बुदमावनी ।

उपनमन् मुहद हृदयेष्य विधुरिवाङ्गतोडुपरिग्रह ॥ २८ ॥

जावानु—विनिहितमिति । तथा भैरवा, परितापिनि हृदये वसति, विनिहित मृतबुद्बुदम् अतिक्वामलसीटक, चन्दन मुहद सञ्जाय, हृदये शेत इति (त) हृदयेष्य मन्मयम् 'अधिररणे शेत' इत्यत्रयय । 'स्यवाच-दानिष्वकालात् इत्यनुक् । उपनमन्नुपसर्जन, अङ्गतोडुपरिग्रह अन्तिवत्य-तारकापरिकर, विधुरिवाचमावित्युपेक्षा ॥ २८ ॥

अन्वयः—परितापिनि हृदये तथा विनिहित मृतबुद्बुद चन्दन हृदयेष्य मुहद उपनमन् अङ्गतोडुपरिग्रह विधुः इव आवनी ।

हिन्दी—सतस-हृदय पर उसके हात लगाया गया (शीलजाने के कारण) बुल बुल से मुक्त चन्दन हृदय में स्थित मित्र कामदेव के निकट जाते, समीपस्थ तारिका मनुह रूप परिग्रह से मुक्त चन्द्र के समान सुगोमित हुआ ।

टिप्पणी—दमयन्ती के विरहज्वर वज स्थल पर लगा शीला चन्दनलेप ताप से शीलने लगा, जिससे बुद्बुद उठने लगे । ऐसा प्रतीत हुआ कि बुलबुलों ने पूर्ण चन्दन रूप में अपने तारिकादार परिवार के साथ चन्द्र हृदयस्थित मित्र कामदेव के पास जा रहा है । सुन्न चन्दन चन्द्र है, उसमें उठता बुद्बुदमनुह

सारिकावर्गं है, चन्द्र का प्रिय-परिवार । मल्लिनाथ और विद्यापर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ २८ ॥

स्मरहृताशनदीपितया तथा बहु मुहु सरस सरसीरुहम् ।

श्रयितुमर्धपथे कृतमन्तरा श्वसितनिर्मितममरमुज्जितम् ॥ २९ ॥

जीवातु—स्मरेति । स्मरहृताशनदीपितया कामाग्नितप्तया तथा बहु भूरि, सरस मर्द्धं सरसीरुह सरोज, मुहु श्रयितु शैत्याय सेवितुम्, अर्धे पथि अर्ध-पथे कृत, तत्पर्यन्तमानीत मत्, अन्तरा मध्ये, श्वसितेन भैमीनि श्वासेन, निर्मित स्मर सद्य शोपात् कृतममरमब्द सत्, उज्जित बरस्यात्यक्तम् तथो-प्यस्तन्नि श्वास इति भाव । 'अथ मर्मर । स्वनिते ब्रह्मणानाम्' इत्यमर । ईदृशमानमन्वन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिसयोक्तिभेदोऽलङ्कार ॥ २९ ॥

अन्वयः—स्मरहृताशनदीपितया तथा बहु सरस सरसीरुह श्रयितु मुहु अर्धपथे कृतम् अन्तरा श्वसितनिर्मितममरम् उज्जितम् ।

हिन्दी—कामाग्नि से तप्त उस (दमयती) के द्वारा शीतोपचार के लिए लाया जाता पर्याप्त गीला कमल बारबार आधे मार्ग में—बीच में ही नि श्वास थायु द्वारा मूखे पत्ते में होनेवाली ममर ध्वनि से युक्त करके छोड़ दिया गया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में सतापाधिक्य का वर्णन है । दमयती के शीतोप-चार के निमित्त बारबार कमल भली भाँति भिगोकर लाया जाता, पर आधे रास्ते में ही वह गीला, पानी टपकाता सरसीरुह दमयती के गरम गरम नि श्वासा से मूखकर मूखे पत्ते की भाँति खडखडाने लगता, अत व्यर्थ ही जाने में फेंक दिया जाता । मल्लिनाथ के अनुसार असवध में सवधकथन के कारण अतिसयोक्ति ॥ २९ ॥

प्रियकरग्रहमेवमवाप्यति स्तनयुग तव ताम्भनि किं न्विति ।

जगदतुर्निहिते हृदि नीरजे दवशुक्रुड्मलनेन पृथुस्मनीम् ॥ ३० ॥

जीवातु—प्रियेति । हृदि ब्रह्मसि, निहिते न्यस्ते, नीरजे पद्मे, दवधु परिताप, दूड 'टित्त्वादधुच्छ्रयय । तेन यत्कुड्मलन मुकुटन निपीडय ग्रहण-मिति यावत् । तेन पृथुस्तनी दमयती, तव स्तनयुग (वत्) एवमनेन प्रका-

रेप, प्रियकरेण प्रहृ निपीडय प्रहृणन् अवाप्स्यति । किं नु त्तिनर्यं, तान्मतीति
वाचमु उच्यते । नूनमिति शेषः ॥ ३० ॥

अन्वय—हृदि निहिते नीरजे ददधुक्कुङ्कुमं पृथुगनीम इति वाचमु —
किं नु तव स्तनयुग्मम् एव प्रियकरग्रहम् उवाप्स्यति ?

हिन्दी—(दमपती के) हृदय पर रखे गये कमण्डुल परितान से
सङ्कुचित हो (उसी सङ्कोच को संकेतित कर) विद्याल कुचों वार्त्त, दन्तनी)
से जैसे यह कहते थे—क्या तेरा स्तनयुग्म इसी प्रकार प्रिय के हाथों का
सङ्कं प्राप्त करेगा और सङ्कुचित होगा ?

टिप्पणी—तानाधिक्य के कारण कमल-सङ्कोच । प्रिय-स्तन की कामना
नी, 'प्रियकरग्रहम् का अर्थ 'प्रिय-दाग्निग्रहण' भी हुआ । 'प्रियकरग्रहम्
एवम् अवाप्स्यति किं नु ताम्प्यति ?' स्तनयुग्मं त्रिन पाग्निग्रहण को ऐसे ही
प्राप्त करेगा, क्या मलिन होती हो ? विद्याधर के अनुभार उभ्रंज्ञा ॥३०॥

त्वदिनगे न हृदापि मया धनं पतिरितोव नरं हृदयेनयम् ।

स्मरहृविर्भुञ्जि बोधयति स्म सा विरहपाण्डुरया निजगुह्यताम् ॥३१॥

वोवानु—त्वदिति । सा मनी, हृदयेण्य हृदि स्थित नर त्वदिनर-
स्वतोऽप्यं, नमानो वाऽन्यो वा पति, मया हृदयनि न घृत मनसाग्नि न
चिन्तित, इति निजगुह्यताम् कामनिर्दोषता, पाण्डुत्वञ्च । विरहपाण्डुरया
तद्दृष्टाजेनेत्यय स्मरहृविर्भुञ्जि बोधयति स्मेव मदनान्तिमना सा कनिदिष्येन
स्वशुद्धि सीता रामनिव नर बोधयानासेवेत्युभ्रंज्ञा । 'गतिबुद्धि' दन्धादिना
अतिकर्तुंनत्स्य पी कर्मत्वम् ॥ ३१ ॥

अन्वय—त्वदितरु पति मया हृदा जनि न घृत —इति इव सा हृदये-
ण्य नर निजगुह्यता विरहपाण्डुरया स्मरहृविर्भुञ्जि बोधयति स्म ।

हिन्दी—तेरे जतिरितु पति मने हृदय मे भी नहीं घरा,—मानों ऐना
बह (दमपती) हृदयस्थित नर को जरनी शुद्धता का विरह-पाण्डुरिता के
व्याज मे कामाग्नि मे दग्ध होती हुई बोध करा रही थी ।

टिप्पणी—रुका से लौठी सीता न राम से धरनी शुद्धि के प्रभा में

ब्रह्मा था—'कर्मणा मनसा वाचा यथा नातिचराम्यहम् । राघव सर्वधर्मत
तथा मा पातु पावक ।' (वाल्मीकिरामायण, मुद्रकाड--११६।२७) ।
दमयती भी मानो कामाग्नि में दग्ध हो ऐसे ही सीता की भाँति प्रिय को
अपनी शुद्धता का प्रमाण दे रही थी । मल्लिनाथ-विद्याधर के अनुसार
उत्प्रेक्षालकार । चन्द्रप्रमाकर ने उत्प्रेक्षा रूपक की समृष्टि मानी है ॥३१॥

विरहतसतदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिपद्ममुष्टिभिः ।

किमपनेतुमचेष्टत किं परामवितुमैहत तद्द्वयं पृथुम् ॥ ३२ ॥

जीवातु—विरहेति । विरहतप्ते तदङ्गं भैमीशरीरे, निवेशिता निहिता,
कमलिनी पद्मलता, निमिपद्मिरानमद्भिर्दले पत्रैरेव मुष्टिभि मुष्टिवर्ध
(करणं) पृथु तद्द्वयं तस्यास्तापम्, अपनेतुमपच्छेतुमचेष्टत व्याप्रियत
किम् । परामवितु तिरस्कर्तुमहत् किम् । अचेष्टत किमित्युत्प्रेक्षा । वस्तुतस्तु,
न किञ्चित्कर्तुं शशाक । प्रत्युत स्वयमेव दग्धेत्यर्थं । सोऽयं भीषकस्य भय
प्रवेश इति भाव । अत एवानर्थात्पत्तिलक्षणो विपमालङ्कार । तदुत्थापिता
चेयमुत्प्रेक्षेति सङ्करः ॥ ३२ ॥

अन्वय — विरहतसतदङ्गनिवेशिता कमलिनी निमिपद्ममुष्टिभि पृथु
तद्द्वयं अपनेतुम् अचेष्टत किम्, परामवितुम् ऐहत किम् ?

हिन्दी—विरह में तपते उस (दमयती) के अगो पर रखी कमलिनी
सकुचित होते दल रूपी मुट्टीयों से क्या उसके ताप को दूर हटाने की चेष्टा
कर रही थी, क्या उसे परामव देना चाह रही थी ?

टिप्पणी—ताप से सकुचित होती कमलिनी के माध्यम से कवि ने उसके
शत्रु को परामव देने की इच्छा करने वाली के रूप में चित्रित किया है,
जो मुँदते पत्ते रूप मुट्टी से ताप को धमका रही है । परन्तु कुछ कर न
पायी, स्वयं ही दग्ध हो गयी । मल्लिनाथ के अनुसार विपम और उत्प्रेक्षा
का सवर, विद्याधर ने अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ३२ ॥

इयमनङ्गशरावलिपद्मगक्षतविसारिविमोगविपावशा ।

शशिकलेव सराशुकरादिता करुणनोरनिधौ निदधौ न कम् ॥ ३३ ॥

जीवानु—इयमिति । इय मनी, धनङ्गुणवत्किरेव पत्राग तं इव शक्ति, ननुसके भावे च । तेन विचारिणा व्यापिता, वियोपेनैव विभो जवता सती, नरुगोन्मिनायो करैरदिता पीडिता, शक्तिरेव क वन कदा-नोरनिनी जोर सान्धी । 'कदास्तु रसे दृक्षे कृपाया कदाग मता' इति विन्व । न निदयो निदनावेद, निमग्दयानासैवेत्यर्थं । अत्र स्वकोपमपोरङ्गाङ्गि-नावेन सङ्घर्ष ॥ ३३ ॥

अन्वय—अनङ्गुणवत्किरेव जतविचारिदिनोविधावसा इयम् उरा-शुकरादिता शक्तिवत्ता इव कं कदानोरविधो न निदयो ?

हिन्दी—जान-बाणावलि ह्य सर्पों के डसने से फैलते विषोंन ह्य विष से वेवस यह (दनपती) प्रखरकिरण (सूर्य) की शिरणों से पीडित (नर, ज्योतिहीन) चद्र-कला की नाति किन्को कदाग के सागर में नहीं डाल रही थी ? सभी दनपती की व्यथा को देखकर कदागविगति हो जाते थे ।

टिप्पणी—इस श्लोक में दनपती की विदग्धता सूचित की गयी है । चद्रकला के उन्मान द्वारा दनपती की कृपाता संकेतित है । नाग से काटे व्यक्ति का जल प्रवाह किया जाता है, यहाँ जादुचर्य यह है कि कान-बाण-संपदष्टा दनपती अन्य व्यक्तियों को कदाग जलाशय में निमग्न कर रही है । मलिनता के अनुसार यहाँ ह्यक-उन्मा का अतिनिमग्न सुकर है, विद्याधर नी ह्यक-उन्मा का निर्देश करते हैं ॥ ३३ ॥

ज्वलति मन्मथवेदनया निजे हृदि तपाद्रंभुनाल्लतापिता ।

स्वजयिनोन्वयया मविधन्वयोर्मलिनानामजद् भुजयोर्नृशम् ॥ ३४ ॥

जादानु—उवदिति । तया मीम्या, मन्मथवेदनया मदनज्वरदुखेन, ज्वलिते प्रज्वलिते निजे हृदि वसन्ति, अरिता आद्रां सरसा, मृनाल्लता विच-वन्ती, स्वजयिनो स्वीर्बन्धो, 'द्विदक्षि' इत्यादिना इतिदत्तयन । भुजयो-स्तदीपयोरेव, मविधन्वयो सनीधन्वयो सती, प्रथमा प्रपेवेत्यर्थं । गम्योत्प्रेक्षा । मृग मलिनता वैधन्वननवन् । त्रिती वेतुरसे लज्जया वैधन्व-मजतीति भाव ॥ ३४ ॥

अन्वय—तया मन्मथवेदनया ज्वलति निजे हृदि अरिता आद्रंभुनाल्लता

स्वजयिनो सविधस्थयो भुजयो त्रपया भृश मलिनताम् अभजत् ।

हिन्दी—उस (दमयती) के द्वारा काम-वेदना से जलते अपने हृदय पर रखी गयी गीली कमलनाल की बेल अपने को जीतने वाले (हृदय के) समीपस्थ बाहुआ से लज्जित हो अत्यन्त मलिनता को प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—अपने से अधिक रूप-गुणशाली के समुख प्राय सभी लज्जित हो जाते हैं । दमयती की भुजाएँ कमल-नाल की अपेक्षा अधिक कमनीय थी, अतः उनको निकट पा कमल-नाल बरली मलिन हो गयी । विजयी के समीप सभी को लज्जित होना पडता है । विद्याधर और प्रसाशकार नारायण के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा ॥ ३४ ॥

पिकरुतश्रुतिकम्पनि शैबल हृदि तया निहित विचलद्बभौ ।

सतततद्गतहृच्छप्रकेतुना हृतमिव स्वतनूधनघर्षिणा ॥ ३५ ॥

जोवातु—पिकेति । तया भैम्या, पिकरुतश्रुत्या कोकिलकूजितश्रवणेन कम्पनि वेपमाने, हृदि वक्षसि, निहित शैत्यार्थं न्यस्त विचलत् आधारचलनादिति भाव । शैबल, स्वतन्वा शैबलशरीर्य सट्ट, घनघर्षिणा, भृशतद्धर्षिणा, द्वयोरपि जलचरत्वादिति भाव । सतत तद्गतस्य भैमीहृद्गतस्य हृच्छयस्य कामस्य, केतुना चिह्नेन, मत्स्येन हत ताडितमिव, बभावित्युत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

अन्वय —तया पिकरुतश्रुतिकम्पनि हृदि निहित विचलत् शैबल स्वतनूधनघर्षिणा सतततद्गतहृच्छयकेतुना हतम् इव बभौ ।

हिन्दी—उस (दमयती) के द्वारा कोकिल-शब्द के श्रवण में कपित हृदय पर रखी गयी (हृत्कपन के कारण) विचलती शैबल अपने देह को प्रचुर रूप से घर्षित करने वाले निरन्तर उन (दमयती) के हृदयस्थित (काम) के ध्वजचिह्न (मत्स्य) से ताडित होती जैसी मुशोभित हुई ।

टिप्पणी—सनाप शमन के लिए दमयन्ती के हृदय-स्थल पर सिवार घाम रखी गयी थी, वह हृदय कोकिल-रव सुनकर कपित होने लगा और अपने आधार वक्षस्थल के हिलन-कापने के कारण सिवार भी विचलित हो गयी । कवि ने कल्पना की है, कि मानो सिवार के कपन का कारण दमयन्ती के हृदय में निरन्तर वास करते काम के ध्वज चिह्न मत्स्य के द्वारा

आघात है, जिसके शरीर का निविड घर्षण सिवार के साथ हो रहा है। सवाल रखी होने पर भी कोकिल रति दमयती के हृदय में कपन कर देती थी। घर्षण का घनत्व कपन के आधिक्य की सूचना के लिए है। उत्प्रेक्षा बलकार ॥ ३५ ॥

न खलु मोहवशेन तदानन नलननः शशिकान्तमवोधि तत् ।

इतरथाऽभ्युदये शशिनस्ततः कथममुस्रवदश्रुमय पय ॥ ३६ ॥

जीवातु—नैति । नलनन (वरुं), मोहवशेन विरहप्रमुक्ता ज्ञानवशेन, तदानन भर्मासृष्ट (कर्म), शशिकान्तमिन्दुमुन्दरम् इन्द्रपमञ्च, नावोधि खलु नावुद्ध विमिति काकु । अत्रुच्यत एवेत्यर्थं । तच्च सत्यमिति भाव । 'दीपजन' इत्यादिना कर्त्तरि चिन् । इतस्या, तदसन्देहे शशिनोऽभ्युदये ततो भर्मासृष्टादश्रुमयमयुक्त, पय कथं अमुस्रवत् सूत चन्द्रोदये पयस्त्रावाच्चन्द्रकान्तत्व सत्यमित्यर्थं । चन्द्रोदये दाहोद्रेकाद्रुरोदेति भाव । द्रवतेर्लुङ्गित्रीत्यादिना च्छेदचिदिघातोऽवहादेशः ॥ ३६ ॥

अन्वय — नलनन मोहवशेन तदानन शशिकान्त न अवोधि खलु, (अपितु तत्त्वत एव अवोधि) इतरथा शशिन अभ्युदये तत अश्रुमय पय कथम् अमुस्रवत् ?

हिन्दी—नल के मन ने मोहवश उच (दमयती) के मुख को चन्द्रकात (चन्द्रकात मणि अथवा चन्द्रवत् कात) नहीं समझा, (अपितु तत्त्वत समझा), अन्यथा चन्द्रोदय होने पर उच (मुख) से जासू-रूप जल कैसे स्रवित हुआ ?

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयती का मुख सत्य ही 'शशिकान्त' (चन्द्रकात मणि समान अथवा चन्द्र के समान मनोहर) था। नल का मन यद्यपि दमयती-मुख पर मूग्य था, पर उच मुख को चन्द्रकात समझना मोह के कारण नहीं था, वह वस्तुतः चन्द्रकात था ही, यदि वह चन्द्रकात मणि नहीं होता तो चन्द्रोदय होने पर उससे आसू-जल कैसे टपकता ? यह अश्रु-रूवण मुख के चन्द्रकातमणि होने का प्रमाण है, क्योंकि चन्द्रोदय पर ही चन्द्रकात मणि द्रवित होती है। चन्द्रवत् कात पस में यह तर्क है कि

मुख चन्द्र समान कात होने से चन्द्र का प्रतिपक्षी अमित्र है, अतः शत्रु चद्र का उदय देख कर जलन से दुःख के आँसू टपका रहा है, अथवा चद्र के समान कात होने के कारण 'समानसख्य' के न्याय से मुख चद्र का मित्र है, अतः मित्र का उदय—उन्नति देखकर वह आनन्द के अश्रु बहा रहा है। इस श्लोक में चद्रोदय देख विरहिणी दमयती के वाष्पातिरेक का वर्णन किया गया है। विद्याधर के अनुसार अनुमान थलवार ॥ ३६ ॥

रतिपतेर्विजयास्त्रमिपुयंथा जयति भीमसुतापि तथैव सा ।

स्वविशिखानिव पञ्चतया ततो नियतमैहृत योजयितु स ताम् ॥३७॥

जीवातु—रतिपतेरिति । रतिपते कामस्य यथेपु विजयस्यास्त्र विजयास्त्र विजयसाधनमायुध जयति । तथैव सा भीमसुतापि विजयास्त्र सती जयति । ततस्तस्मात् (हतोः) स काम , स्वस्य विशिखानिपूनिव, तां भूमी, पञ्चतया पञ्चसङ्ख्याकत्वेन, भरणेन च । 'पञ्चता पञ्चभावे स्यात् पञ्चता भरणेऽपि च' इति विश्व । योजयितुमैहृत । स्वेपुवर्मविजयास्त्रवेनैव पञ्चत्वेनापि योजयितुमैहृत । नियत सत्यमित्युत्प्रेक्षार्थं । अन्यथा, किमर्थमेनामित्य षोडशैदिति भाव । उपमानोत्प्रेक्षयो सङ्कर ॥ ३७ ॥

अन्वय—रतिपते इपु यथा विजयास्त्र जयति तथा एव सा भीमसुता अपि तन स्वविशिखान् इव तां पञ्चतया नियत योजयितुम् ऐहृत ।

हिन्दी—रति के स्वामी (काम) का वाण जिम प्रकार विजयास्त्र होता हुआ सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त है, उसी प्रकार वह भीमतनया भी (काम का विजयास्त्र हो सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त) है, उस कारण ही उस (काम) ने उस (भूमी) को 'पञ्चतया'—पाँच वाणों के समान निश्चयत प्रयोग में लाने की इच्छा की अथवा क्या काम उसकी 'पञ्चतया योजना की इच्छा' अर्थात् पञ्चतव (मृत्यु) योजना की इच्छा करता ?

टिप्पणी—भरणदशा का वर्णन । वस्तुतः काम की इच्छा तो यह थी कि वह विश्वसुदरी दमयती का प्रयोग अपने पाँचों वाणों के तुल्य विश्व विजयाय करता, इसी से उसने उसे पञ्चता अर्थात् 'पाँच वाणों का भाव' दिया, जो दमयती की पचता (पचत्व-मृत्यु) योजना समझी गयी । आशय

यह है कि वियोगजन्य कामञ्जया के कारण दमयन्ती मरणासन्न हो रही थी। मन्त्रिनाथ ने यहाँ उपना-उत्प्रेक्षा का मुक्कुर माना है, विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति है ॥ ३७ ॥

शशिमय दहनास्रमुदित्वर मनसिजस्य विमृश्य वियोगिनी ।

झटिति वारुणमश्रुमिपादसौ तद्बुचित प्रतिशस्त्रमुपाददे ॥ ३८ ॥

जीवातु—शशिमयमिति । वियोगिनीसौ नैमी, उदेतीत्युदित्वरमुद्यत्, 'इन्नसजिसतिन्म क्वरस्' शशिमय शशित्व, मनसिजस्य दहनास्रम् आग्नेयास्त्र विनूरपालोच्च, झटिति द्राक् । जश्रुमिपाद्वासा वहादेवताक्, 'सास्व देवता' इत्याप्रत्यय । तन्वाग्नेयस्योचित प्रतीकारक्षम, प्रतिशस्त्रमुपाददे प्रयुक्तवतीत्यर्थं । चन्द्रतापसहिंशुरशरणा केवलभरोदीत्यर्थं । सापह्लवोत्प्रेक्षा ।

अन्वय—वियोगिनी अग्री मूनसिजस्य शशिमय दहनास्रम् उदित्वर विमृश्य झटिति अश्रुमिपात् तद्बुचित वारा प्रतिशस्त्रम् उपाददे ।

हिन्दी—विरहिणी उस (दमयन्ती) ने काम के चन्द्रस्य आग्नेयास्र को उद्गमनशोल विचार कर झट से जामुओं के बहाने उसके उपयुक्त वारा प्रतिशस्त्र (प्रतिरोधी शस्त्र) ग्रहण कर लिया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में चन्द्रोदय को देख उत्पन्न हुए दमयन्ती के जश्रु-प्रवाह का वर्णन है, चन्द्र को देख कष्ट से वियोगिनी रोती ही है। कवि ने चन्द्र की काम के आग्नेयास्र रूप में कल्पना की है। और उस 'दहनास्र' के घमनायं दमयन्ती के आँसुओं को वरुणास्र के रूप में, जिससे काम के दहनास्र का प्रतिरोध हो सके। भाव यही है कि चन्द्रोदय असह्य होने के कारण विरहिणी रो पड़ी। मन्त्रिनाथ के अनुसार सापह्लवोत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-अपह्नुति ॥ ३८ ॥

अतनुना नवमम्बुदमाम्बुद सुननुरम्बुदमुदस्तमवेक्ष्य सा ।

उचितमायननिश्व सनच्छलाच्छवसनमन्त्रममुञ्चदमु प्रति ॥ ३९ ॥

जीवानु—अतनुनेति । सा मुतनुर्भेमी, नव नूतनम्, अम्बुद षिषमेव, अतनुना अतङ्गेन, उदस्तम् उदित्पत्न, जाम्बुदसम्बन्धस्त्र पर्वयास्त्रम् अवेक्ष्य आयननिश्चितच्छलाहोर्धनिश्चासमिपादमुमम्बुद प्रति, उचित प्रतीकारक्षम

श्वसन श्वसनात्मकमस्य वायव्यास्त्रममुञ्चत् प्रायुञ्क्त । मेघदशनात् दीप्तमदन-
ज्वरा दीर्घमुष्ण च निशश्वाहेत्यर्थं । अत्रापि सापह्णवोत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

अन्वय —सा सुतनु अम्बुदम् अतनुना उदस्तम् आम्बुदम् अक्षम् अवैद्य
आयतनिश्वसच्छ्रद्वात् अमु प्रति उचित श्वसनम् अक्षम् अमुञ्चत् ।

हिन्दी—उस सुन्दरी (दमयन्ती) ने बादल को अतनु (काम) के
द्वारा चलाया गया पर्जन्याक्ष मान कर लवे नि श्वास के व्याज से उस
(मेघाक्ष) के प्रतिरोधार्थं उपयुक्त श्वसनाक्ष (वायव्याक्ष) छोड़ा ।

टिप्पणी—दमयन्ती की विरहव्यथा का ध्वनन करते कवि ने ३७ वें
श्लोक से ४२ वें श्लोक तक युद्ध के आघात-प्रत्याघात का चित्र उपस्थित
किया है । पूर्व श्लोक में बताया गया कि काम ने चन्द्र रूप में दमयन्ती पर
आग्नेयाक्ष का प्रहार किया, प्रत्युत्तर में दमयन्तीने अश्रुरूप में उसके प्रति-
रोधाक्ष वारुणाक्ष का प्रयोग किया । इस श्लोक में पुन काम के पूर्वप्रहार
का ध्वनन है और दमयन्ती द्वारा उसके निवारण का । वारुणाक्ष के उत्तर
में काम ने उसका शयन करने वाला पर्जन्याक्ष चलाया आकाश में छाये
मघ के रूप में, दमयन्ती ने उसे देखा और उसके निवारणार्थं दीर्घ नि श्वास
रूप में वायव्याक्ष छोड़ दिया । आकाश में छाये वर्षा के बादलों को देख
वियोगिनी दमयन्ती लवे-लवे दु खमरी संधि लेने लगी—यह आशय है ।
'अतनु' (काम के अर्थ में) और 'सुतनु' (दमयन्ती के विशेषण रूप में)
का चामत्कारिक का प्रयोग दर्शनीय है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ भी
सापह्णवोत्प्रेक्षा है और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-अपह्नुति ॥ ३९ ॥

रतिपतिप्रहिनानिलहेतिता प्रतिपती मुदती मलयानिले ।

तदुस्तापभयात्तमृणालिकामयमिय भुजगास्त्रमिवादित ॥ ४० ॥

जीवानु—रतिपतीति । मुदतीय भंभी मलयानिले विषये रतिपतिप्रहिता-
निरुहेतिता कामप्रयुक्तवासव्यास्त्रताम् । 'हेति शस्त्र प्रहरण ह्यायुधश्चास्त्रमेव
च' इति ह्लाद्युय । प्रतिपती जानती । इण शतरि ङीप् । तेनास्त्रेण य
उरस्ताप ततो भयाद्, आत्ता अङ्गीकृता या मृणालिका तन्मय विसरूप,

भुजगाम्ब्रम् अदितेव जातवती विनित्युत्प्रेक्षा । भुजगाना वाताहारत्वादिति भावः । 'स्याध्वोरिच्च' इतीकारः । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति मलोपः ॥ ४० ॥

अन्वयः—सुदती इय मलयानिले रतिरतिप्रहितानिलहेतिता प्रतिवती तदुत्सनापनयात्तमृणालिकामय भुजगाखम् इव आशदे ।

हिन्दी—सुन्दर दाँतो वाली वह दमयन्ती) मलयपवन की रति के स्वामी (काम) द्वारा प्रयुक्त वायव्याख मलय पर जैसे उसके प्रति कष्ट को जासका करते हुए मृणाल रूप भुजगाख से सज्जित हो गयी ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में वर्णित दमयन्ती द्वारा प्रयुक्त वायव्याख के उत्तर में कामदेव ने भी मलयपवन के व्याज से वायव्याख छोड़ा, दमयन्ती ने उसके प्रतिरोध के लिए भयानक कष्ट को आसका से मृणालरूप भुजगाख धारण कर लिया । सपें वायु को पी जाता है । वासती मलयपवन चलने पर दमयन्ती ने पीडा-निवृत्त्यर्थं मृणाल-धारण किये । आकारनाम्ब । विद्यानर के अनुमार इस श्लोक ने सापह्वोत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥

न्यधिन तद्घृदि शल्पमिव द्वय विरहिता च तयापि च जीविनम् ।

किमय तत्र निहत्य निखानवान् रतिपति स्तनत्रित्वयुगेन तत् ॥४१॥

जीवानु—न्यधितेति । रतिरतिलनद्गृदि नैमीहृदये, विरहिता विरहित्व च तयापि विरहित्वेऽपि, जीवित चेति द्वय, शल्प शङ्कुमिव, न्यधित निखात-वानित्यर्थः । जीवतो विरहः विरहिणो जीवन च द्वे अपि शल्पप्राये इत्यर्थः । दधातुर्लुङि तद् । 'स्याध्वोरिच्च' इतीकारः । 'ह्रस्वादङ्गात्' इति मलोपः । अय निखननान्तर, तच्छल्पद्वय स्तनावेव त्रिव्ये परिणतत्रिव्यफले, तयोर्गुणेन तत्र हृदि निहत्य आहत्य, निखातवान् किम् । यथा लोके निखात शङ्कु दाट्पाय पापाणेन ध्नन्ति तद्वदिति भावः । पूर्वार्धे शल्पनिखननोत्प्रेक्षा । उत्तरार्धे निहत्य नितननोत्प्रेक्षा । निखातवानित्यनुवादः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—रतिपतिः तद्गृदि विरहिता तथा अपि जीवित च द्वय शल्पम् इव न्यधित अय तत् स्तनत्रित्वयुगेन तत्र निहत्य निखातवान् किम् ?

हिन्दी—रतिस्वामी (काम) ने उस (दमयन्ती) के हृदय में वियोग-भाव और जीवित रहना—जैसे ये दो शल्प गाड दिये थे और तदनन्तर बना उस पर स्तन रूप दो त्रिव्यफल बच्ची प्रकार ठोंक कर गाड दिये थे ?

टिप्पणी—एक विरह और दूसरे उसके साथ जीवित रहना—ये दो कष्ट दमयन्ती को भोगने पड़ रहे थे। विरही जीवन अतिपीडादायक था। कवि ने कल्पना की है कि कामदेव ने ये दो कांटे विरह और जीवित रहना—दमयन्ती के हृदय में गाड़ दिये और वे ढीले रहकर वही निकल न जायें, इस धाशका से दो पत्थर जैसे बेल (स्तन युगल) ठोक दिये। पूर्ण जीवन में दमयन्ती को विमोग कष्ट सहकर जीना पड़ रहा था, सो यह द्विगुणित दुःख था। मल्लिनाथ के अनुसार पूर्वार्द्ध में धत्यनिखनन उत्प्रेक्षित और उत्तरार्द्ध में निहनन। इस प्रकार दो उत्प्रेक्षाएँ हैं। विधाघर उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार मानते हैं ॥ ४१ ॥

अतिशरव्ययता मदनेन ता निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् ।

स्फुटमकारि फलान्यपि मुञ्चता तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा ॥ ४२ ॥

जीवातु—अतीति। ता दमयन्तीम् अतितरा, शरव्ययता शरव्य लक्ष्य कुर्वता, शरव्यशब्दात् 'तत्करोति' इति ध्यन्ताल्लट शतृप्रत्यय। अत एव निखिला ये पुष्पमया स्वशरास्तेषा क्षयात् व्ययात् फलान्यपि मुञ्चता क्षिपता मदनेन तदुरसि भैमीवक्षसि, स्तनावेव ताले तालफले, तयोयुगस्वार्पणाक्षेप, अकारि। स्फुटमित्युत्प्रेक्षा। शरक्षये पापाणादिनापि प्रहरन्तीति भावः ॥४२॥

अन्वयः—ताम् अतिशरव्ययता निखिलपुष्पमयस्वशरव्ययात् फलानि अपि मुञ्चता मदनेन तदुरसि स्तनतालयुगार्पणा अकारि स्फुटम् ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) को बारबार बाणों का लक्ष्य बनाते हुए अपने 'संपूर्ण' पुष्प बाणों का व्यय कर देने के कारण फल भी छोड़ते काम ने उस (दमयन्ती) के उर स्थल में मानो दो स्तन रूप दो तालफलों से भी प्रहार कर दिया था।

टिप्पणी—प्रहरणशील काम दमयन्ती को व्यथित करने के लिए एक के बाद एक प्रहार कर रहा था। उसने इसी क्रम में अपने पाँचों पुष्प बाण दमयन्ती को लक्ष्य बनाकर उस पर छोड़ दिये। जब पुष्प समाप्त हो गये, सब फलों से प्रहार किया और स्तन रूप दो तालफलों से भी प्रहार कर दिया। ये कठोर स्तन रूप ताल-फल क्या थे, जैसे कठोर पापाण थे। जब प्रहारकर्ता काम के फूल, फल भी समाप्त हो गये, तो पत्थर न फेंकता ?

मन्दिताय के अनुभार उन्नेसा, विद्याधर के अनुभार रूपक और उन्नेसा, विन्की चन्द्रनाकार ने सृष्टि मानी है ॥ ४० ॥

अथ मूह्वं हृदि निन्दितचन्द्रया स्तुतिविष्णुदया च तथा बहू ।

पनित्रया स्मरतापमये गदे निजगदेऽश्रुविमिश्रमुखी सखी ॥ ४१ ॥

जीवानु—अनेति । अथानन्तर स्मरतापमये कामज्वरहे, गदे रोगे 'रोग-
व्याध्याशमया' इत्यनर । पठितया मन्त्रया । अथ एव, मूह्वं बहू बहुधा
निन्दितचन्द्रया, तस्योद्दीपकत्वादिति भाव । मूह्वं स्तुतीं विष्णु तुवतीति
विष्णुनुदो राहूपया तथा, विष्णुनुदत्वादेवेति भाव । 'तन्स्तु राहू स्वर्मानु
सैहिकेपो विष्णुनुद' इत्यमर । 'दिव्यरुनोस्तुद' इति खच्प्रत्यय 'अर्द्धिपद-
जन्तस्य मुम्' इति मुनाम् । तत्रा दनयन्त्वा, अश्रुविमिश्र मुख यस्यां सा
अनिष्टाच्छ्रया ददती सखी, निजगदे निगदिता । विप्रहृतो ह्यनकर्तार निन्दति
तदपकर्तारश्च स्तौतीति भाव ॥ ४१ ॥

अन्वय —अथ स्मरतापमये गदे पठितया मूह्वं बहूनिन्दितचन्द्रया बहू च
स्तुतिविष्णुदया तथा अश्रुविमिश्रमुखी सखी निजगदे ।

हिन्दी—तदनन्तर कामतापरूप रोग में ग्रस्त, बारबार अनेकधा चन्द्र की
निन्दा करती और अनेक बार चन्द्र-मीठक राहू की स्तुति करती बहू (दन
यन्ती), आंशुजा से जिसका मुँह आच्छन्न था, ऐसी सखी ने कहने लगी ।

टिप्पणी—अन्त में काम से पराजित, कामतापरोगग्रस्ता दमयन्ती
चन्द्र को कोसती हुई तथा चन्द्रानु राहू की स्तुति करती हुई अपनी सहानुभूति
से पूरा सखी से कहने लगी जो कदम इस सर्ग के ९९ वें श्लोक तक है । ७३ वें
तक चन्द्रोपालन है, मानो कामोत्तलन । अपनी ध्यानिनी के दुःख का अनुभव
करती अन्ति की आशंका से उसकी सखी भी रो गयी थी । विद्याधर के
अनुभार उल्लेखनीय बलकार छेफानुगत ॥ ४३ ॥

नग्मुग्धनभ्रुवामिव यावता भवति मय्य युग यदनेहन्ता ।

विग्हीणामपि तद्रतवद्बुद्धामित न कथं गणितागमे ॥ ४४ ॥

जीवानु—नरेति । नरनुराब्जभ्रुवा मनुष्यदेवब्रह्माणामिव, यावता अनेहन्ता

कालेन, यस्य जन्तोर्दद्युग भवति, गणितागमे ज्योतिरशास्त्रे तत्तत्त्वं वक्तव्य-
मेवेति शेष । यथा ब्रह्मणो दिन देवादीना युगादिकमित्युक्तम्, तद्वदन्वस्यापि
गणितशास्त्रे वक्तव्यमिति भाव ।

तत विमित्याद्यद्ब्रुच आह । विरहिणा तद्युग कथ किमिति रतवताम-
विद्युक्ताना यूना क्षणेन मित गणित न । अबियुक्ताना क्षणो विद्युक्ताना युज-
मिति किमिति नोक्तमित्यर्थ । तथा तस्या एकैकक्षण एकैकयुगवत्पोभूदित्यर्थ ।

अन्वय — नरसुराब्जमुषाम् इव भावता अनेहसा यस्य यत् युग भवति
गणितागमे विरहिणा तत् कथ रतवद्युवपममित न ?

हिन्दी—मनुष्य, देव और ब्रह्मा के तुल्य जितने काल परिमाण से जिसका
जो युग होना है ज्योति शास्त्र मे (वह तो गिन लिया गया, परन्तु) वियो-
गियों का वह (युग) वियोगी तरुणों के क्षण के परिमाण का कयो नहीं
गिना गया ?

, टिप्पणी—४४, ४५, ४६ श्लोकों मे विरह की दु सहता का वर्णन किया गया
है । गणितागम—ज्योति शास्त्र मे नरो, देवों और ब्रह्मा के युगों मे जिसका
वित्त काल परिमाण होता है, इसकी गणना की गयी है, जैसे ३६० दिन
में मानव का एक वर्ष होता है, वह देवों का एक दिन रात होता है । देवों के
बारह सहस्र वर्षों का चतुयुग होता है । ऐसे ही एक सहस्र चतुयुग का ब्रह्मा का
एक दिन होता है और उतने मे ही एक रात । ऐसे पाँच सौ वर्षों का एक
पराद्ध होता है और दो पराद्धों की परमायु होती है । यदि की उद्भावना है
कि इस रीति मे मनुष्यादि के युगादि की गणना ता ज्योति शास्त्र मे की गयी,
परन्तु वियोगी और सयोगी तरुणों का जितने परिमाण का कितना युग होता
है, इसकी गणना नहीं की गयी । यह उचित नहीं है । यदि गणना करने तो
जात होता कि सयोगी (रतवत) तरुणों का जो क्षण होना है, वह वियोगि-
जनों का एक युग होता है । गणितागम मे इसका उल्लेख होना चाहिए । यह
दमयन्ती का कथन है, जो यह कहना चाहती है कि उन वियोग का एक-एक
क्षण एक-एक युग के समान प्रतीत हो रहा है, जो वाटे नहीं बटना । रतवत

तदर्थों के क्षण का चतुर्थांश भी वियोगियों के लिए एक यूग है। विद्याधर के अनुसार उपमा धीर जडिश्योक्ति ॥ ४४ ॥

जनुग्धत्त मनी स्मरतापिता हिमवतो न तु नन्महिमादृता ।

ज्वलति भालतले लिखित नतीविरह एव हरस्य न लोचनम् ॥ ४५ ॥

जीवानु—जनु रिति । नती मन्वपूर्वपत्नी दक्षकन्या, स्मरतापिता विरहाग्निवता मनी, हिमवतो जनुर्जन्माघत्त । तस्य हिमवतो महिमा जाद्वतो यथा सा तमहिमास्ता, बाह्यतन्महिमा सती तु न । आहिताग्नादिस्वान्निष्ठामा परनिभात । विरहतापशान्त्यर्थं हिमाद्रेर्जाता । न तु तत्तु परस्मान्प्यानु-रोपादित्पुत्रेशा । हरस्य भालतले लिखितो ब्रह्मणा लिखित सतीविरह एव ज्वलति, लोचन नेत्यारोप्यापह्लवालङ्कार ॥ ४५ ॥

अन्वय—स्मरतापिता मनी हिमवत जनु अघत तन्महिमादृता तु न, हरस्य भालतले लिखित सतीविरह एव ज्वलति, लोचन न ।

हिन्दी—काम से संतापित हो सती (दक्षपुत्री) ने हिमालय से जम धारण किया था, उस (हिमालय) के प्रति आदर भाव के कारण तो नहीं, शिव के मस्तक पर स्थित सती का वियोग ही दोष है, (शिव का) नेत्र नहीं ।

टिप्पणी—सचमुच विरह असह्य होता है। वियोग सतस्य सती जल मरी और उन्होंने उसी जलन को मिटाने के लिए हिमालय (हिम के आलय) ने जन्म लिया। शिव जी के मस्तक पर तीसरा नेत्र नहीं है, वस्तुतः मती की वियोगाग्नि दोष है। तो जगत् के माता-पिता सती-शिव भी जब विरह से इतने व्यथित हैं तो सामान्य मानुषी दमयन्ती की तो गजना ही क्या? वह तो और भी व्यथित होगी। मन्त्रिनाथ के अनुसार पूर्वार्द्ध में उपदेश और उत्तरार्द्ध में अपह्नुति अलंकार, विद्याधर ने केवल अपह्नुति को उल्लेख माना है ॥४५॥

दहनजा न पृथुर्दवयुञ्जया विरहजेव पृथुर्दंदि नेदृशम् ।

दहनमासु विशन्ति कय स्त्रियः प्रियमपानुमुपानितुनुदधुरा ॥ ४६ ॥

जीवानु—दहनेति । दहनजा अग्निदाहजया, दवयुञ्जया तापदुःख, पृथु अयिका न । किन्तु विरहजेव पृथु । ईश न यदि इदमित्य न चेत् ।

स्त्रिय, अपानुमपगतप्राण मृत, प्रियम्, उपासितुं प्राप्तम्, उत्कृष्टा धूर्तारो
यासा ता उद्घुरा अनर्गला सत्य इत्यर्थं । 'श्रृक्पू' इत्यादिना समासातो-
ऽकार । कथमाशु दहन विशति । अग्निदाहाद्विरहदाह एवाधिव इत्यर्थं ।
तस्य नत्परिहारार्थेन स्त्रीणामग्निप्रवेशकार्येण समर्थनात् कार्येण कारण-
समर्थनरूपोऽर्थांतरन्यास ॥ ४६ ॥

अन्वय — दहनजा दवयुष्यया पृथु न विरहजा एव पृथु, यदि ईदृश न
अपासुम् प्रियम् उपासितुम् उद्घुरा स्त्रिय आशु दहन कथ विशति ?

हिन्दी—अग्नि से उत्पन्न ताप की पीडा बड़ी नहीं होती, वियोगजन्य
(पीडा) ही बड़ी होती है यदि ऐसा नहीं है तो गतप्राण (मृत) प्रिय को
सेवा को उत्सुक नारियाँ झटपट आग में क्यों प्रविष्ट हो जाती हैं ?

टिप्पणी—मृतप्रिय के सहमरण को नारियाँ इसीलिए उद्यत हो जाती हैं
कि वियोगाग्नि का ताप चिताताप की अपेक्षा कहीं दु गह है । उनका चिता-
प्रवेश इसके पक्ष में अकाट्य तक है । मल्लिनाथ के अनुसार कार्य से कारण-
समर्थनरूप, अर्थांतरन्यास अलकार, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ४६ ॥

हृदि लुठन्ति कला नितराममूर्खिरहिणीवधपङ्ककलङ्किता ।

कुमुदसख्यकृतस्तु वहिष्कृता सखि ! विलोक्य दुर्विनय विधो ॥ ४७ ॥

जीवातु—हृदीति । विरहिणीवधाच्च पङ्क पाप्मा । 'अस्त्री पङ्क पुमान्
पाप्मा' इत्यमर । तेन कलङ्किता सञ्जातकलङ्का, यमू कला, हृदि
अभ्यन्तरे नितरा लुठन्ति वर्तन्ते । कुमुदे सख्य ध्रुवन्तीति तत्कृत, विशुद्धा
इत्यर्थं । तास्तु कला वहिष्कृता । हे सखि, विधोदुर्विनय, दोजन्य, विलो-
क्य । दुजना पापिष्ठानस्य कुर्वन्ति विशुद्धान् वहिष्कृवन्तीति भाव ॥ ४७ ॥

अन्वय—सखि, विधो दुर्विनय विलोक्य—अमू विरहिणीवधपङ्क-
कलङ्किता कलाः हृदि नितरा लुठन्ति कुमुदसख्यकृतस्तु वहिष्कृता ।

हिन्दी—हे सखि, चद्र की अतिनीति तो देख—य वियोगिनियों के वध
रूप कीचड़ से कलङ्कित कलाएँ तो हृदय पर सुतरा लोट रही हैं, कुमुदों से
(उम्ह विकसित कर) मित्रता करने वाली (कलाएँ) वहिष्कृत हैं ।

टिप्पणी—चद्रकला से अगह्य व्यथित हो दमयन्ती बह रही है कि चद्र

बड़ा दुष्ट है, वह पारियों—कलकितों का तो हृदय में बसाता है—आदर देता है, और उपकारियों को दूर भगाता है। उदाहरणार्थ—चंद्र के पास दो प्रकार की कलाएँ हैं। एक तो वे हैं, जिनकी असह्यता के कारण वियोगि-निर्वा मर जाती हैं, उन हत्यारी-हत्या-कलक से युक्त कलाओं को चंद्र अपने भीतर रख लेता है कृष्ण पक्ष में, और जो कुमुद-विकासकारिणी, अतएव परों-कारिणी कलाएँ हैं, शुक्लपक्ष में उन्हें दूर भगा देता है। यह दुःखों का स्वभाव है सज्जन तो उपकारी को आदर देते हैं, अनकारी को दूर रखते हैं। चंद्र इसके विपरीत आचरण कर रहा है, अत दुर्विनयी है। अथवा—चंद्र दुष्ट और अविनीत है, उसने हत्यारी कलाओं को तो दमयन्ती के हृदय पर लोटने—माने उसकी हत्या करने—भेज दिया है, उन उपकारिणी कलाओं को दूर भेज दिया है, जो कुमुदविकास का कारण हैं। दमयन्ती को ताप हो रहा है, अत उसकी प्रतीति है कि चंद्र की कलाएँ दो प्रकार की हैं, जो सताप कारिणी हैं, वे मूर्त हैं, विद्यमान हैं, जो उपकारिणी हैं, वे अमूर्त हैं। यही चंद्र का दुर्विनय है जो उसने आनन्ददायिनी कलाओं को दमयन्ती-सकं में नहीं आने दिया, उन वियोगिनी-वध-कलकितानों को भेज दिया कि जाकर दमयन्ती का भी वध करो। उस दुष्ट पर अब ये कलकितानों कलाएँ रह गयी हैं, उनकारिणी कलाएँ तो बहिष्कृत हैं। विद्याधर के अनुसार समासोक्ति बलकार ॥ ४७ ॥

अयि विष्णु परिपृच्छ गुरोः कुतः स्फुटमशिक्ष्यत दाहवदान्यता ।

ग्लपितशम्भुगलाद्गरलात्त्वया विमुदधी जड ! वा बडवानलात् ॥४८॥

जीवातु—अयि विष्णु ! अयि सखि ! विष्णु परिपृच्छ । हे जड मूढ़ ! त्वया दाहवदान्यता दाहदातृत्वा दाहकत्वमित्यर्थ । किं ग्लपितशम्भुगलाच्छोपित-शम्भुकृष्णात् गरलात् कालकृष्णात्, उदधी बडवानलाद्वा कृतः कस्माद् गुरोः-स्फुटमशिक्ष्यत शिक्षिता, अन्वस्तेत्यर्थ ॥ ४८ ॥

अन्वय—अयि, विष्णु स्फुट परिपृच्छ—जड, त्वया दाहवदान्यता कुतः गुरो अशिक्ष्यत, किं ग्लपितशम्भुगलात् गरलात् वा उदधी बडवानलात् ?

हिन्दी—हे सखि, चंद्र से स्पष्टतया पूछ—हे दुमित्रे, तू ने जग आनन्द

जिस गुरु से सीखा, क्या शिवजी के गले को जलाने वाले विष कालकूट (वधु) से अथवा समुद्र-स्थित बडवाणल से ?

टिप्पणी—वियोगिनी दमयन्ती को चद्रमा कालकूट विष और बडवाग्नि के समान अथवा उनसे अधिक दाह दे रहा है, अतः दमयन्ती जानना चाहती है कि दाहनकला की शिक्षा उसे किससे मिली है ? चद्र, कालकूट और बडवानल सभी का समुद्र से संबंध है, सो ऐसा लगता है कि यह शिक्षा चद्र को कालकूट से मिली है, जिसने शंकर-शिव का भी गला जला डाला या फिर बडवाग्नि से, जिसने जलनिधि को भी दहन हुआ दिया ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छैकानुप्रास ॥ ४८ ॥

अयमयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिमवाप्य दिवः खलु पात्यते ।

शित्तिनिशादृपदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाधिकतारकिताम्बरः ॥ ४९ ॥

जीवातु—अयमिति । अयं विधु, अयोगिवधूवधपातकैर्वियोगिस्त्री-हिंसापापैः, करण, भ्रमि भ्रमणम्, अवाप्य प्रापय्य आप्नोतेर्ष्यन्तात् वत्वो ल्यवादेशः । 'विभाषाऽऽप' इति विकल्पादयादेशाभावः । शित्तिनिशा कृष्ण-पक्षरात्रिस्तस्यामेव यदि शिलार्या स्फुटन्त पातवेगाद्विदल्यत तत उत्पतन्तश्च ये कणा खण्डा, तेषां गणैरधिक तारकिताम्बर भूम्ना तारकत्ववृताकाश सन । अत एव कृष्णपक्षे तारकवाहुल्यमिति भावः । तारकवच्छब्दात् 'तत्करोति' इति ष्यन्तात् कमणि क्त । 'विन्मतोर्लुक्' मतुपो लुक् द्विवोऽन्तरिक्षा-न्निपात्यते खलु । उत्कटपापकारिण पुरे परिभ्राम्य शिलाया निपात्य ह्यन्त इति भावः ॥ ४९ ॥

अन्वय—अयम् अयोगिवधूवधपातकैर्भ्रमिम् अवाप्य शित्तिनिशादृपदि स्फुटदुत्पतत्कणगणाधिकतारकिताम्बर दिव पात्यते खलु ।

हिन्दी—यह (चद्र) वियोगिनी नारियो के वध रूप पाप के कारण भ्रमि (चक्कर) को प्राप्त हो (घुमाया जाकर) बाली रात रूपी पत्थर पर (पटके जाते समय) टूटकर उछलते कणों से बहुत से तारकों से आकाश को आच्छादित करता थाक्या अथवा स्वर्ग से नीचे पटक दिया जाता है ।

टिप्पणी—शायियोंको स्वर्ग से गिराया ही जाता है और घुमा कर पत्थर

पर जोर से पटक कर दह नी दिया जाता है, विपत्ते के चूर-चूर हो बिखर जाते हैं। कृष्णपक्ष में चंद्र तो प्रायः मंद रहता है, तारे अतिक्रम प्रकाशित दीखते हैं। इसी पर यह कल्पना है—शुक्लपक्ष में उदित हो चंद्र ने वियो-गिनिनों को बलाकर मार डाला, उनकी हत्या का पाप किया। इसका दह उसे मिला कृष्णपक्ष में। उठाकर काली रात हन काले पादर पर घुनाकर उसे पटक दिया गया और वह खड़-खड़ हो तारों के रूप में बिखर गया। विद्याधर के अनुसार यहाँ रुक और अनुमान हैं ॥ ४९ ॥

त्वमभिषेहि विष्णुं सखि । मद्गिरा किमिदमीदृग्धिक्षियते त्वया ।

न गगिन यदि जन्म पयोनिधौ हरशिरःस्वित्निभूरपि विन्मृता ॥ ५० ॥

जीवानु—त्वमिति । हे सखि । त्व मद्गिरा विष्णुनभिषेहि उपाठनस्व । तत्प्रकारमेवाह—व्या महात्मनेति भाव । किं किमयंनिदमीदृक् स्त्रीवधामरु-
(वनं), अधिक्षियते आचर्यते ? पयोनिधौ जन्म न गणित यदि मास्तु ।
हरशिर एव स्थितिभूनिवानमूमि सापि विस्मृता । महाकुलप्रभूतस्य शम्भु-
शिरोभूतस्य तवेदननुचितमित्यर्थं ॥ ५० ॥

अन्वय—सखि, त्व मद्गिरा विष्णुम् अभिषेहि—त्वया ईदृक् इव किम् अधिक्षियते, यदि पयोनिधौ जन्म न गणितम् हरशिरःस्थितिभू अपि विस्मृता ?

हिन्दी—हे सखि, मेरी बात चंद्र से कह कि तू ऐसा यह (दुष्टत्व) क्यों कर रहा है ? यदि तू ने (अपने) समुद्र में जन्म को नहीं गिना तो क्या शिव शिर पर स्थित रहना भी मुझा दिया ?

टिप्पणी—किसी दुष्टत्वकर्ता को उसके गौरव का स्मरण कराया जाता है कि वह अच्छे कुल में जन्मा है, सज्जनसंगति मिली है, उच्च पद मिला है, उसे बुरा कार्य नहीं करना चाहिए, अन्यथा गौरव समाप्त हो जायेगा। यहाँ चंद्र को भी उसके माधवसंग में जन्म, उच्च संगति और उच्च पद का स्मरण करा कर दुष्टत्व न करने की शिक्षा दी जा रही है। दुष्टत्व का अनौचित्य बताना जा रहा है। पानी से सौरे बाज नहीं की जाती, सो दमपन्दी भी सखी के माध्यम से चंद्र को उपालान दे रही ॥ ५० ॥

निपततापि न मन्दरभूनृता त्वमुद्रधौ शशालाञ्जन । चूणिनः ।

अपि भुनेजंठराचिपि जाणता वत गतोर्जसि न पीतपयोनिधि ॥ ५१ ॥

जीवातु—निपततेति । हे शशलाञ्छन सकलङ्केत्यर्थं । त्वमुदघौ निप-
तता मथनसमय इति शेष । मन्दरभूमृता मन्दराद्रिणापि न चूर्णित, पीत-
पयोनिधे आचमितसमुद्रस्य मुदे अगस्त्यस्य, जठराचिपि जठरानलेऽपि जीणता
न गतोऽस्ति । वातापिवदिति भाव । वतेति खेदे । मद्भाग्यविपर्यय एवाय-
मिति भाव ॥ ५१ ॥

अन्वय — शशलाञ्छन वत त्वम् उदघौ निपतता मन्दरभूमृता अपि न
चूर्णित पीतपयोनिधे मुने जठराचिपि अपि जीणता न गत अस्ति ।

हिन्दी—हे शश के कलक से युक्त (कलकी), खेद है कि तू समुद्र में
(मथन के निमित्त) गिरते मदराचल से भी (पिसकर) चूर्णं चूर्णं नहीं हुआ,
समुद्र पौ जाने वाले मुनि (अगस्त्य) के जठर (उदर) की जाग में (पब-
कार) भी नष्ट नहीं हुआ ।

टिप्पणी—दमयंती का चंद्र पर आक्रोश—ऐसे पापी को दो-दो बार भी मौत
न आयी, मथन के समय न तो मदराचल के नीचे पिसा थीर न अगस्त्य
मुनि के पेट में समुद्रपान के समय भीतर पहुँच कर घातापी राक्षस के समान
पचा गया । कलकियों को मौत भी तो नहीं ध्याती ! कौंया दुर्भाग्य है बेचारी
दमयंती का ? विद्याघर के अनुसार विभावना धलकार ॥ ५१ ॥

किमसुभिर्गलितैर्जड । मन्यसे मयि निमज्जतु भीमसुतामन ।

मम किल श्रुतिमाह तदर्थिका नलमुखेन्दुपरा विदुघस्मरः ॥ ५२ ॥

जीवातु—किमिति । हे जड मूट ! गलितैर्निष्क्रमितै, असुभि, प्राणै
स्वमारणेनेत्यर्थं । भीमसुतामनो मयि चन्द्रे निमज्जतु निमज्जेत् । सम्भा-
वनाया लोट् । इति मन्यसे किम् ? 'यत्रास्य पुरुषस्याग्नि वागस्येति वात
प्राणश्चभुरादित्य मनश्चन्द्र दिश श्रोत्र पृथिवी शरीरमाकाशमात्मौषधीर्लो-
मानि वनस्पतीन् केशा अप्सु रोहित च रेतश्च निधीयत' इति श्रुतिप्रामाण्या-
दिति भाव । श्लोऽपि वृथामिमान इत्याह—स मृतमनश्चन्द्रमेतीत्येव रूपोऽर्थोऽ-
भिधेयो यस्यास्ता तदर्थिना, 'शेषाद्विभाषा' इति कप्समासान्त । 'प्रत्ययस्या-
त्कात्पूर्वं स्मात् इदाप्यसुप' इतीकार, श्रुति पूर्वोन्तवेदवाक्यम् । विदुघो देवो
विद्वान्श्च, स्मर नलस्य मुखेन्दु, मुखचन्द्र, परो मुख्यार्थो यस्यास्ता-
न्त्पराम् । 'पर इरान्यमस्येषु' इति वैजयन्ती । मम आह किल मूते

मनु । विद्वद्भुक्त एवाप्यो ग्राह्य इत्यर्थं । परतोऽग्नि मे नर्ता नल एव नान्य
इति नाव ॥ ५२ ॥

अन्वय—उह, गलितं प्रमुनि मीनतुतामनः मयि निमग्ननु—इति
मन्त्रे किम् ? विद्वद्भुक्तः तददिना धृति नलभुखेन्दुरा मम बाह किल ।

हिन्दी—अरे मूर्ख (चद्र), प्राग चलै जाने पर मोनगन की बेटी का
मन मुझ में निमग्न हो जायेगा—वरा तू यह माने बैठा है ? निश्चयपूर्वक
विद्वान् देव काम ने मुझे उलझे नददह वेदवाक्य का प्रमुक्त व्यं नल-मुक्त चद्र
वताया है ।

टिप्पणी—धृति-प्रमा है कि मृत व्यक्ति को वागी अग्नि में फिड़ जाती
है, प्राग वायु में, नेत्र आदिस्य में, मन चद्र में, कान दिशाओं में, शरीर पृथ्वी
में, आना आकाश में, लोन ज्योषिषों में, केश दनन्तियो में और रक्त-वीर्य
जल में । दमरती 'मनश्चन्द्रम्' के आधार पर चद्र को उचालन देती है कि
तू इसलिए कदाचित् मेरी मृत्यु चाहता है कि मर कर मेरा मन तुझ में निमग्न
हो जायेगा, जो मेरे जीते जी तो तेरी धीर आहृष्ट भी नहीं होता । पर तू
मूर्ख है, धृतिवाक्य का जयं तूने समझा ही नहीं, इसे ठीक-ठीक समझा
विद्वान् देव स्मरणशील (स्मरतीति स्मर) काम ने । उलझे मुझे बताया है
कि 'मनश्चन्द्रम्' धृतिवाक्य में 'चद्र' का प्रमुख विशिष्ट व्यं 'नलमुक्त' है, सामा-
न्यार्थ 'चद्र' नहीं, प्रमुक्त 'मुखचद्र' । तू मूर्ख देव है, यदि विद्वान् देव होता
तो विशिष्ट जयं समझ पाता । मूर्ख सामान्य व्यं ही समझ पाते हैं । भाव
यह है कि मैं मरने पर भी नलानुरागिणी ही रहूँगी, अन्व किशो के प्रति मेरा
अनुराग मन्व नहीं । विद्याधर के अनुसार लक और अतिउपलब्धि ॥ ५२ ॥

मुत्तरयन्व दगोनवडिण्डिम जलनिष कुन्मुज्ज्वलाशुना ।

अपि गृहाण वधूवधरोरुह हरिणलान्छन । मुख कदर्थनान् ॥ ५३ ॥

जीवानु—मुत्तरयन्वेति । हे हरिणलान्छन गृहाण । यद्य नवडिण्डिम

कीतिप्रकाशक नृतादायविशेष मुत्तरयन्व मुत्तर, रवा कुरु, अशुना जल-
निघंस्वज्वनकम्प कुन्मुज्ज्वलय प्रकाशय, वधूवधरोरुहमति स्त्रीवधशीर्यञ्च,
गृहाण स्वांकुरु । किनु, कुन्मितोऽयं कदर्थं पीडाकर 'को कतपुस्येऽवि'
इति कुन्मन्व्य कदादेश । कदर्थीकरण कदर्थना कदर्थनशब्दात् । 'तत्करोति'

इति ष्यन्ताद्युच । ता मुञ्च शीघ्र भारय । न तु पीडयेत्यर्थ । अत्र वधू-
वधस्यानिष्टत्वेनाविधेयस्य विधानात् । 'विप भुङ्क्ष्व' इतिवन्निपेयपरो
विध्याभास अनिष्टनिपेधाभासपराक्षेपालङ्कारभेद । तथा चालङ्कारसूत्रम्—
'अनिष्ट विध्याभासश्चे'ति ॥ ५३ ॥

अन्वय —हरिणलाञ्छन, यशोनवडिण्डिम मुखरयस्व, अधुना जलनिधे
कुलम् उज्ज्वलय, वधूवधपोरूपम् अपि गृहाण, कदर्यना मुञ्च ।

हिन्दी—अरे मृग-कलक धारने वाले (कलकी), कीर्ति का नवीन
डिण्डिम घोष कर (डिढोरा डुगी पिटवादे), अब तो समुद्र का कुल उज्ज्वल
कर ले, स्त्री-वध की वीरता भी अर्जित कर, (पर) यह पीडा देना छोड दे ।

टिप्पणी—यह स्तुति रूप मे निन्दा है । स्त्री वध मे कोई पोष्य तो है
ही नहीं, न इसमे कीर्ति मिलती है और न कुल का सुनाम ही होता है ।
इसके विपरीत नारी-हत्या, कायरता और निन्दा के कारण कुल मर्यादा-
विधातक ही होती है । दमयन्ती को पीडा दे देकर मारने से यही सब 'कलक'
चन्द्र को मिलेगा, और वह कलकी तो ह ही । दमयन्ती का कथन है कि
मले ही 'सदाकलकी' चन्द्र को कलक भय न हो, पर इतना तो उसे मान ही
लेना चाहिए कि निरपराधिनी दमयन्ती को इतनी पीडा न दे । अच्छा हो कि
क्षटपट प्राण ले ले, यह पीडा असह्य है । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक
मे अनिष्ट, अत एव अविधेय, 'वधू-वध' के विधान के कारण निपेयपरक
विधि का आभास है—'विप भुङ्क्ष्व' के समान । इस प्रकार अनिष्टनिपेधा-
भासपरक आक्षेपालकार है । ['विप भुङ्क्ष्व मा चास्य गृहे भुङ्क्ष्या'—विप
सा, इसके घर मत खा—इसमे विधिवाचक—'विप खा'—कथन से निपेयार्थ
ही मान्य होता है । यहाँ विप खाने की अनुज्ञा नहीं है, इसका पूरा तात्पर्य
दूसरे वाक्य से सबद्ध है—किसी विशिष्ट घर में भोजन करने से अच्छा है,
विप खाना, अर्थात् इस घर मे भोजन करना विप भोजन से भी अधिक
मयावह है । ध्यजता के प्रसंग मे विवेचक आचार्यों ने इस वाक्य पर विचार
किया है । (दर्शनीय 'काव्य प्रकाश' पचम उल्लास, 'दशरूप' चतुर्थ प्रकाश ।)
'वधूवधपोरूप गृहाण' में भी ऐसी ही निपेयपरक विधि का निर्देश है ।]
विद्याधर के अनुसार यहाँ स्तुतिनिन्दा है । 'मुखरय + सु + अयस' विच्छेद

करके 'व्यज की हुनोपीट' तथा 'उज्ज्वलय' का अन्वय 'अपिकजल' भी किया गया है ॥ ५३ ॥

निशि शशिन् । भञ्ज कैतवभानुतामस्रति नास्वति तापय पाप माम् ।
अहमहन्धवलोकयिताम्भि ते पुनरहर्षतिनिद्युतदर्पताम् ॥ ५४ ॥

जीवानु—निशीति । हे शशिन् । पाप । क्रूर । 'नृपसो घातुक क्रूर पापः' इत्यमरः । निशि नास्वत्यसति । कैतवभानुता वपटनूर्यत्व भञ्ज । मा तापय, किं त्वहश्चाहनि, अहर्षतिना मूर्येण, 'अहरादीना पत्यादियु' इति रेफादेशः । ते तव, निद्युतदर्पता निरहङ्गारताम् अवलोकयिताम्भि द्रव्या भीत्यर्थं । लुटि निशि तासिप्रत्ययः । पापिष्ठा स्वनाशमात्स्न्यपश्यन्त परान् हिन्वीति नावः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—शशिन्, निशि नास्वति असति कैतवभानुता भञ्ज, पाप, मा तापय, अहम् पुनः अहनि ते अहर्षतिनिद्युतदर्पताम् अवलोकयिताम्भि ।

हिन्दी—अरे चन्द्र, रात में नास्वत् (मूर्यं) के न रहने पर कपट मूर्यं बन ले, पापी क्रूर, सतस कर ले मुझे, मैं भी दिन में दिनेश (मूर्यं) के द्वारा तेरे दर्प को दलित होगा देखूंगी ।

टिप्पणी—रात में दमश्चै पीडाकर चन्द्र को दिन में अपने इस पातकनं का दंड मूर्यं के समुच्च भुगतना पड़ेगा, रात में वह पापी दमरन्ती को चाहे शिना सताले । विद्यापार के अनुसार अतिशयोक्ति शब्दकार ॥ ५४ ॥

शलकलङ्क ! नयङ्कुर ! मादृशा ज्वलसि यन्निसि भूतपति श्रितः ।

तदमृतस्य तवेदृशभूतनाऽद्भुतकरो परमूर्धविद्युननी ॥ ५५ ॥

जीवानु—शलकलङ्कवेति । हे शलकलङ्क यथाऽत् । मादृशा वियो-
गिनामित्यर्थं । नय करोतीति नयकर उद्वेजक ! 'मेषतिभदेषु हृत्र' इति खद्यत्ययः । 'अहर्षिपत्' इत्यादिना मुनागमः । यद्यस्मात्, भूतपति शिव निशाचरतिष्ठ, धित सन् निशि ज्वलसि प्रदीप्यसे । तस्मात्तदमृतस्यामृत-
मयस्य मृतेतरस्य च, तव परेषा द्रष्टृणा स्वादिष्टाना च, मूर्धविद्युननी एकत्र विस्मयादन्वनावेद्याच्च शिरकम्पकरी, ईदृशभूतता इत्यभूतत्वम् ईदृशनिशाच-
त्वञ्च, अद्भुतकरी विस्मयकरी । हरशिरोमणोरमृतस्य इव इय प्रज्वलना-

स्मृत्वमद्भुतमिति वाक्यार्थं । जीवत ईदृगलातपिशाचत्वमद्भुतमिति व्यङ्ग्यार्थं ॥ ५५ ॥

अन्वय — राक्षसकलङ्क, मादृशा भयङ्कर, यत् भूतपति त्रितः निशि ज्वलसि यत् अमृतमयस्य तव परमूर्धविघ्ननी ईदृशभूतता अद्भुतकरी ।

हिन्दी—अरे राक्ष का बलक धारनहारे, मुझ जैसी (विरहिणी) तारियों के लिए मयकारक (चंद्र), जो सब प्राणियों के स्वामी (शिव) का आश्रित होकर भी तू जलाना है, वह अमृत से पूर्ण तेरा अन्य के शिर को कपित कर देने वाला स्वभाव आश्चर्यजनक है ।

टिप्पणी—चन्द्रमा 'मुषाशु' (अमृत किरण) कहा जाता है, इसके अतिरिक्त वह सब भूतो प्राणियो अथवा गणो के स्वामी शिव अथवा 'भूताना पतिम्'—आकाश मे स्थित है । ऐसी स्थिति मे अन्य को पीटा देने का—पीटा से सिर हिला हिला डालने का स्वभाव चन्द्र को कहाँ से मिला ? यह आश्चर्य ही है । अमृतमय भी जला रहा है, प्राणियों के स्वामी का आश्रित होकर भी कष्ट दे रहा है । घोर आश्चर्य । यह ठीक नहीं है । अथवा महादेव का आश्रय पाकर भी और अमृत निकट रहने हुए जो रात मे ऐसा आग का गोला बनकर जीवित रहते पिशाच का कार्य कर रहे हो, यह आश्चर्य है, क्योंकि भूत-पिशाच तो मर कर हुआ जाता है, मरा ही भूत बन कर सिर पर आया करता है और लोगो के सिर कँपाया करता है । चन्द्र तो जीता पिशाच बन गया है । अथवा अमृतमय अर्थात् जलपूर्ण होकर भी चन्द्र का जलाना आश्चर्य कारण है । जलती तो आग है, जल नहीं । भाव यह है कि बलकी चंद्र जीवितपिशाच 'जिदाभूत' है । विद्याधर के अनुसार श्लेषालवार ॥ ५५ ॥

श्रवणपूरतमालदलाङ्कुर शशिकुरङ्गमुले सति । निक्षिप ।

किमपि तुन्दिलत स्थगयत्वमु सपदि तन तदुच्छवसिमि क्षणम् ॥५६॥

जीवातु—श्रवणति । ह सखि । श्रवणपूर कर्णावतस, यस्तमालदला-

ङ्कुरस्तमालपलवरत, शशिकुरङ्गस्य मुखे वनत्रे, निक्षिप । तेन दलाङ्कुरेण, सपदि, किमपि कियदपि, तुन्दिलतस्तुन्दिलीकृत, स्थूलोत्तसप्त, अमु सखिन, स्थगयतु छादयतु । तत्तस्माद्धेतो, क्षणमुच्छ्वसिमि प्राणिमि, 'हृदा-

दिम्ब सावंधातुक' इतीडागम ॥ ५६ ॥

अन्वय —सखि, अक्षयपुरतमालदलाङ्कुर गणिकुरङ्गमुखे मरदि निक्षिप, तेन क्षिपि तुन्दिलिन अमु स्यात्तु तद् क्षणम् उच्छ्वसिभि ।

हिन्दी—अरी सखी, जान में रहे नमाल पत्र के अक्षुर को चत्र के (वाहन) डिरन के मुख में (खाने को) झटपट डाल, उसने कुछ पट मर कर (तोंद बडाकर) वह इने (चन्द्र को) डकले कि मैं क्षण भर माँस ले सकूँ ।

टिप्पणी—वाहन कुरंग का खाकर पेट बड जायेगा, जिमने चन्दा टक जायेगा और दमयन्ती के उसके मध्य जन्तराल हो जायेगा । खया घटेगी और दमयन्ती को कुछ बियाग मिलेगा । अभी तो चन्द्रा माँस मो नहीं लेने देता । बियाधर के अनुसार 'हेतु' अडकार ॥ ५६ ॥

जसमये मतिरग्निपति ध्रुव करगर्नैव गता यदिय कुहू ।

पुनरुपैति निरुध्य निवास्यते सखि । मुख न विधो पुनरीक्ष्यते ॥५७॥

जीवानु—असमय इति । हे सखि ! असमये मति कायंधी, उग्निपति उदेति, ध्रुवम् । न तु योग्यकाल इत्ययं । कुत, यद्यम्मादिय कुहू नष्टचन्द्रा-मावास्या करगता स्वापत्तैव, ह्मन्तनक्षत्रगता च गता । तदास्ता, पुनरुपैति पुनरागच्छति चेदित्ययं । निरुध्य निवास्यते स्याप्यते । तस्म फत्रमाह— विधोर्मुख पुनरेक्ष्यते । तस्यातन्नाशकत्वादिति भावः । पापिष्ठस्य तस्यादर्शन-मेव फलमित्ययं ॥ ५७ ॥

अन्वय —सखि ध्रुवम् असमये मति उग्निपति, यत् इय करगता एव कुहू गता, पुनः उरैति चेत् निरुध्य निवास्यते, विधो मुख पुनः न ईदपते ।

हिन्दी—हे सखी, निरुध्य ही घूरा समय आने पर बुद्धि स्फुटि होती है । जो यह 'करगता'—हाथ में आयो (अथवा कर अर्थात् हस्त) नक्षत्रगता आश्विनमास की) भी अमावस्या निकल गयी, यदि फिर आयेगी तो रोक कर रख ली जायेगी, चन्द्रमा का मुख फिर न देखेगा ।

टिप्पणी—वद्र-दशन के कारण जो दुर्भाग्य—घूरा समय आया है, उसमें ही दमयन्ती को यह बुद्धि आयी कि अब जब अमावस आये तो उसे रोक लिया जाय, जिससे फिर इन पापी चन्दा का मुख न देखना पडे । कोई सद्-

व्यक्ति पापी का मुख देखना नहीं चाहता । विद्याधर ने यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार माना है ॥ ५७ ॥

अयि ! ममैव चकोरशिशुर्मुनेर्व्रजति सिन्धुपिबस्य न शिष्यताम् ।

- अशितुमब्धिमधीतवतोऽस्य वा शशिकरा पिबत कति शीकरा ॥५८॥

जीवातु—अयीति । अयि सखि ! एष मम चकोरशिशुर्विषपरोक्षार्थं गृहसर्वाधिको बालचकोर । यथाह कामन्दक —‘चकोरस्य विरज्येते नयने विषदर्शनात्’ इति । पिबतीति पिब , ‘पाघ्राध्मा’ इत्यादिना शतृप्रत्यये पिबादेश । सिन्धो पिबस्य समुद्रपायिनो मुनेरगस्त्यस्य शिष्यता, न व्रजतीति काठु । व्रजतीत्यर्थः । तथा च अयं चकोरश्चन्द्र निश्चये पास्यतीत्याशयः, न चैतदशक्यमित्याह—अब्धिमशितुं पातुमधीतवत अभ्यस्तवत अत एव, पिबत अब्धिपानप्रवृत्तस्यास्य चकोरस्य, शशिकरा कति वा शीकरा कतिचित्कणा इत्यर्थः । अत्र समुद्रपायिनो दण्डापूपिकया शशिकरणपानसिद्धेरर्थापत्तिरलङ्कारः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—अयि एष मम चकोरशिशुः सिन्धुपिबस्य मुनेः शिष्यता न व्रजति ? अब्धिमं अशितुम् अधीतवत पिबत अस्य शशिकरा कति वा शीकरा ?

हिन्दी—अरी, यह मेरा चकोर का बच्चा क्या सागरपायी मुनि (अगस्त्य) के शिष्यत्व को नहीं चला जायेगा ? समुद्र-पीना सीधे इसको पान करते हुए चन्द्र की किरणें कितनी बूँदें होंगी ?

टिप्पणी—चन्द्र न दीखे—इसका दूसरा उपाय । यदि हमयती का पाला चकोर विहगबाल मुनि अगस्त्य का शिष्य बन उनसे सागर-पान की शिक्षा प्राप्त कर ले तो फिर इस छोटे से चन्द्रा को तो वह कुछ बूँदों के समान पी जायेगा । ‘दण्डापूपिकान्याय’ (जो दण्ड खायेगा, वह अपूप भी खा लेगा) से समुद्रपायी का चन्द्रकिरणपान सिद्ध है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार अर्थापत्ति अलंकार, विद्याधर के अनुसार विरोध ॥ ५८ ॥

कुरु करे गुरुमेकमयोधन वहिरितो मुकुरश्च कुरुष्व मे ।

विशति यत्र यदेव विघ्नस्तदा सखि ! सुखादहितं यदि त द्रुतम् ॥५९॥

जीवातु—कुविति । हे सखि ! एक गुरु महान्तम् अयोधनं तप्तम पिण्ड-पट्टनमयोमुद्गरं करे कुरु विघ्नहीत्यर्थः । इतोऽस्मत्साधनाद्बहिः, मे मम मुकुर

दर्पण च कुरुष्व विद्येहि । तत्र मुकुरे यदा दिशु दिशनि प्रनिवृत्ति, तदैव, मुक्ताद-
नायासात्, अहित शत्रु, त विष्णु, द्रुत जहि मारुच । हृत्तेजोति निनि हिरादेश ।
'हृत्तेजं' इति जादेशस्य 'अनिद्ववदत्रानात्' इत्यनिद्वत्वाच्च हेर्लुक् । अत्र
च द्रवहागदिप्रलापा मेनमन्देशादिवन्मदनादविकारा इत्यनुसन्देयम् ॥१९॥

अन्वय—सखि, करे एक गुहम् प्रयोषन कुह मे मुकुर च इत् वहि
कुरुष्व तत्र यदा विशु विद्यति अहित त मुख्यात् द्रुत जहि ।

हिन्दी— हे सखी, हाथ में एक मारी लोहे का घन ले और मेरे दर्पण को
इधर से बाहर की ओर कर दे, उनमें जैसे ही चन्द्र प्रवेश करे, उस बँगी को
अनायास झट से (घन से) मारे दे ।

टिप्पणी—भाव यह कि शीशे में जब चन्द्रा की परछाही पड़े तभी जट
से उम पर लोहे का घन पटक दिया जाय, जिससे शीशे में चन्द्रा चन्द्रमा भी
चूर-चूर हो जाये । मञ्जिनाय ने इसमें प्रताप मानते हुए उमाद-विकार का
संकेत किया है । मेघ सदेश की नांति चन्द्रप्रहारादि भी प्रलाप ही है—कामार्त
का चेतनाचेतनाविवेक । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास १५९।

उदर एव घृत. किमुदन्वता न विषयो बडवानलवद्विष्णु ।

विषवद्विष्णुजितमप्यमुना न म स्मरहर' किममु वुमुजे विष्णु ॥६०॥

जीवानु—उदर इति । विषम क्रूरकर्मा, विष्णु, उदन्वता उदधिना,
'उदन्वानुदधी च' इति निपात । बडवानलवद्वद्विष्णुना तुल्य, 'तेन तुल्य क्रिया
चेद्वति' उदरे कृष्णावेव कि न घृत । अथवा, अमुना उदन्वता उज्जितमप्यमु
विष्णु विष्णु समर्थ स्मरहर', विषवद्विष्णु काल्कूटेन तुल्य, पूर्ववद्वति । कि न
वुमुजे न प्रसतेस्म । उभययापि स्वय जीवेम इति भाव ॥ ६० ॥

अन्वय—विषम विष्णुः उदन्वता बडवानलवत् उदरे एव कि न घृत ?
अमुना उज्जितम् अपि अमु सा विष्णु स्मरहरा विषवत् कि न वुमुजे ?

हिन्दी—दु सह चत्र को समुद्र ने बडवान्नि के समान पेट में ही क्या नहीं
रखा ? (और फिर) इस (समुद्र) के द्वारा छोड़े हुए भी इस (चत्र) को
उस समर्थ काम-विनाशक (शिव) ने विष के समान क्यों न छा डाला ?

टिप्पणी—'न बांस रहना, न बाँसुरी बनती' । यदि समुद्र ने चत्र को
पेट में ही रहने दिया होता आर (इसके अतिरिक्त) शिव ने ही यदि इसे

खा बाला होता, कितना अच्छा होता ! न चद्र रहता, न उगता, न वियोगिनी पीडित होती। समुद्र और शिव के लिए यह कोई नया कृत्य नहीं है। समुद्र बडवाग्नि को तो उदर में रखता ही है, शिव बिप पान कर ही चुके हैं। एक दुःसह चद्र और सही। ऐसा प्रतीत हाता है कि चद्रमा बडवाग्नि और कालकूट भी अधिक असह्य है, इसी से समुद्र और शिव यदेच्छ न कर सके। विद्याधर के अनुसार सदेह अलकार ॥ ६० ॥

असितमेकसुराशितमप्यभून्न पुनरेप पुनर्विशद विपम् ।

अपि निपीय सुरर्जनितक्षय स्वयमुदेति पुनर्नवमाण्वम् ॥ ६१ ॥

जीवातु—असितमिति । आण्वमणवे जात, 'तत्र जात' इत्यणप्रत्यय । अशित मेचक विप कालकूटाख्यमेकेनैव सुरेण महादेवेन, अशित मिलितमपि, पुनर्नाभून्नाजनि । एष चन्द्रो नामाण्व विशद विप पुन सितविप तु सुरैर्वदुभिर्देवै 'प्रथमा पिबते वह्नि' रित्याद्युक्तक्रमेण, निपीय जनितक्षय कृतनाशमपि, स्वय नव तद्रूपेणैव, पुनरुदेत्यागच्छतीति व्यतिरेक ॥ ६१ ॥

अन्वय —असितम् आण्वं विपम् एकसुराशितम् अपि पुन न वभूव, एष-विशद सुरैः निपीय जनितक्षयम् अपि स्वय पुन नवम् उदेति ।

हिन्दी—काला समुद्रजात विप (कालकूट) एक देव (महादेव) द्वारा खा लिया जाने पर ही फिर न उत्पन्न हुआ, यह शुभ्र (विप चन्द्र) अनेक देवों द्वारा पिया जाकर नाश को प्राप्त होने पर भी अपने आप फिर नया उत्पन्न हो जाता है ।

टिप्पणी—समुद्र से एक नहीं दो प्रकार के विप जन्मे, एक काला कालकूट, दूसरा शुभ्र चन्द्रमा । कालकूट को गबेले शिव ने ही पिया था, फिर भी वह नष्ट हो गया । यह मफेद विप काले विप से अधिक प्रचंड निकला । अनेक अग्नि आदि देवता प्रतिमास (कृष्णपक्ष में) मिल कर इसका पान करते हैं और इसे पूजतया नष्ट कर देते हैं, परन्तु समूचा नष्ट होने पर भी—अश्चय है—यह फिर से नवीन होकर उत्पन्न हो जाता है । भाव यह कि चन्द्र रूप शुभ्र सामुद्र विप काले विप कालकूट से अधिक प्रबल, दृढ और विपम है । मल्लिनाथ के अनुसार व्यतिरेक, विद्याधर ने व्यतिरेक और विरोधालङ्कार का निर्देश किया है ॥ ६१ ॥

विरहिवर्गवधव्यमनाकुल कथं पापन्शोककल विभुम् ।

मुरनिगननुवाचमपापक ग्रहविदो विपरीतकथा कथम् ॥ ६२ ॥

जीवानु—विरहीनि । हे मन्त्रि ! विरहवर्गवधे व्यमनेनामकथा, जाकुल सङ्कुल, सगन्दम् अक्षयकल पूर्णकल, विभु पाप कथ्य क्रूर विद्धि मुरनिगीता मुधा मन्त्रे त क्षीणमित्यर्थे । क्षीण कथ्यमामान्त्र । अपोऽन्वयरस्याम् इति विकल्पाद् ह्रस्वभाव । अनाप एवापापकन्त मोम्य कलम् । तथा कार्यदर्शना दिति भाव । किन्तु ग्रहविदो देवज्ञास्तु कथं विपरीतकथा 'क्षीणे दृक्कांकिमूपुया पापान्त्यमुतो बुध । पूर्वचन्द्रबुधाचार्यशुक्रास्ते स्युः शुभग्रहा ॥' इत्येव विरह-वाच । अनुभवविरोधादग्राह्य तद्भावरमिति भाव ॥ ६२ ॥

अन्वय —विरहिवर्गवधव्यसनाकुलम् अक्षयकल विभु पाप कलय, मुर-निगोतमुधाकरम् अनापक, ग्रहविद कथं विपरीतकथा ?

हिन्दी—(मन्त्री,) विद्योगि-वृ द के वध की आसक्ति मे व्याकुल (अथवा विद्योगि-वध व्यसन के कारण अकुल अर्थात् नीच कुलोत्पन्न) सपूर्ण कलाबाले (पूर्णमाचन्द्र) को पापी समझ और देवा द्वारा जिसका जन्म ही लिया गया है, उस (अमा-चन्द्र) का निष्याण । ग्रहज्ञाता (न जाने) क्यों इससे विपरीत कहा करते हैं ।

टिप्पणी—ज्योतिःशास्त्रियों के कथनानुसार पूर्ण चन्द्र शुभ ग्रह होता है और क्षीण चन्द्र अशुभ । उन्होंने बतलाया है—'क्षीण चन्द्र, सूर्य, शनि, मंगल और उनसे सम्बन्धित बुध पापग्रह होते हैं और पूर्ण चन्द्र, बुध, बृहस्पति और शुक शुभ ग्रह ।' किन्तु पूर्णचन्द्र विद्योगिजनों को ब्याध देता है, अतः दमयन्ती के मतानुसार वही पापग्रह है, अमाचन्द्र नहीं । वह ज्योतिःशास्त्र के बचन को इसी कारण झूठा मानती है, क्योंकि अनुभव से ग्रहवेत्ताआ का कथन सच्चा निश्चय नहीं होता । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलङ्कार ॥ ६२ ॥

विरहिवर्गवधमानमवापि य स बहुल खलु पक्ष इहाजनि ।

तदमितिः सक्लैरपि यत्र तैर्व्यंरचि सा च तिथिः किममा कृता ॥ ६३ ॥

जीवानु—विरहिनिरिति । य पक्षो विरहिनि बहुमान सत्कारमवापि प्रापित, क्षीयमाणचन्द्रत्वादिति भाव । अवपूर्वादाप्नोतेष्यंतात् कर्म्मणि सुद्ध । 'गतिबुद्धि'—इत्यादिना अग्नि कर्तुं कर्म्मत्वम् । 'ष्यन्ते कर्तुंश्च कर्म्म' इत्य-

भिधानात् । स विरहिमिर्बहुकृत पक्षइहास्मिन् लोके बहुप्रकार लाति आदत्त इति व्युत्पत्त्या बहुल 'आतोऽनुपसर्गे क' न तु 'बहोरुलच्' इति भाव । अजनि जात । खल्वित्युत्प्रेक्षा । किञ्च तथापि, यत्र यस्या तिथौ सकलैरपि तैर्विरहिमि तदमितस्तस्य बहुमानस्यामितिरपरिमितिव्यरचि अकारि । नष्टचन्द्रत्वादिति भाव । सा च तिथि अमा अमितिर्बहुमानस्यास्यामिति व्युत्पत्त्या अमा, अमानामिका कृता किम् ? भातेर्भावायै सम्पदादिक्विपि नन्समासे मत्वर्थीये चाकारप्रत्यये 'यस्येति चे'ति लोपे 'अजाद्यतष्टाप्' । न त्वमा सह-गावोऽस्मा सूर्यचन्द्रमसोरिति व्युत्पत्त्येत्प्रेक्षा । अमेति सहार्थे अव्यय, ततो भावप्रधानान्मत्वर्थीयाकाराष्टाप् ॥ ६३ ॥

अन्वय —विरहिमि* यः पक्ष बहुमानम् अवापि स खलु इह बहुल अजनि, तै सकल अपि यत्र तदमिति व्यरचि किम् च सा तिथि अमा कृता ?

हिन्दी—वियोगियों ने जिस पक्ष (पक्षवारा) को अत्यन्त सम्मान दिया, वह यहाँ (जगत में) 'बहुल' (बहुमान प्राप्त करने वाला) काला पाख हो गया, उन सब (वियोगियों) ने ही जिस तिथि में उस (सम्मान) की अपरिमितता कही, क्या उसी तिथि को 'अमा' नाम दे दिया ?

टिप्पणी—'अमा' की सामान्यस्वीकृत व्युत्पत्ति है—'अमा सह षसतोऽस्या सूर्यचन्द्रमसोः' अर्थात् जिस तिथि में सूर्य-चन्द्र की 'अमा' अर्थात् 'सहवसति' (एक साथ वास) हो, वह अमा है । वियोगिनी दमयन्ती को चन्द्र व्यथाकारक है, अतः वह 'अमा' की दूसरी व्युत्पत्ति करती है । उसका कथन है कि चन्द्र क्षयशील कृष्ण पक्ष को 'बहुल' इसलिए कहा जाता है कि वह वियोग जन मान प्राप्त है—बहुमान लभते इति बहुल, बहु लातीति बहुल । अमावस्या को सम्मान अमित—अपरिमेय हो जाता है, अतः उस तिथि को—'अमित बहुमानस्य यस्या सा अमा' यह विग्रह करके 'अमा' कहा जाता है । 'अमा' अर्थात् अतिमानवती तिथि । 'मानि' धातु से भावार्थ में सपदादि क्विप् करके नन् समास और मत्वर्थीय अकार प्रत्यय को, 'यस्य च' (अष्टा० ६ । ४ । १४८) से लोप किया और 'अजाद्यतष्टाप्' (अष्टा० ४ । १ । ४) से 'टाप्' करके 'अमा' निष्पन्न हो गया । विद्याधर के अनुसार उपप्रेक्षा अलङ्कार ॥ ६३ ॥

स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् किमु विधुं प्रसते न विधुन्तुदः ।

निपतित वदने कथमन्यथा बलिकरम्भनिम निजमुज्जति ॥ ६४ ॥

जीवानु—स्वेति । विधुन्तुदो राहु, विधु चन्द्र, स्वरिपोविष्णोस्तीक्ष्ण निशिन यत् सुदर्शनं तदिति विभ्रमात् सादृश्यमूलभ्रमात् प्रसने किमु ? तालु-च्छेदमयादिति भाव । अन्यथा भयाभावे, वदने निपतित वक्त्रान्तर्गतम् । अत एव, निज स्वायत्त, बलिकरम्भनिमम् उपहृतदध्युपसिक्ततत्तुसदृश, स्वाधि-प्रितमिन्यर्थं । 'करम्भा दजितकतव' इत्यमर । एनमिति शेष । कथमुज्जति उद्दिगर्तोत्तुप्रेक्षा ॥ ६४ ॥

अन्वय—विधुन्तुद विधु स्वरिपुतीक्ष्णसुदर्शनविभ्रमात् न प्रसते किमु, अपया वदने निपतित बलिकरम्भनिम कथम् उज्जति ?

हिन्दी—राहु चन्द्र को अपने बैरी (विष्णु) के तीक्ष्ण सुदर्शन चक्र के भ्रम से तो कहीं नहीं प्रस पाता है, अन्यथा मुख में पड़े बलि-पूजा के निमित्त रूप करम (दही-भात) के समान (चन्द्र) को छोड़ क्यों देता ?

टिप्पणी—राहु के द्वारा बारम्बार प्रस्त होने पर भी चन्द्र वच क्यों गया ? कल्पना है कि राहु उसे अपना शिरच्छेद करनेवाले विष्णु का सुदर्शन चक्र समझ कर साते-साते डर कर छोड़ देता है । यदि उसे ऐसा भ्रम नहीं होता तो आकार-वर्ण साम्य से पूजायें उपहार में लाये करम (दही-भात या दही-सत्तु) के सदृश चन्द्र को वह खा नहीं खाता, मुह में रख कर भी छोड़ क्यों देता ? मस्तिनाय के अनुसार उप्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ६४ ॥

वदनगर्भगत न निजेच्छया शशिनमुज्जति राहुरमंशयम् ।

अशित एव गलन्ययमत्यय सखि । विना गलनालविलाध्वना ॥ ६५ ॥

जीवानु—वदनेति । हे सखि ! यदा राहु वदनगर्भगतमास्यान्तःप्रविष्ट शशिन निजेच्छया स्वेच्छया, नोज्जति । अत्यय सशयो नास्ति । अर्थाभावेऽ-व्ययीभाव । कि स्वयं शशी अशितो गलित एव अत्यय विना अहृच्छेतेत्यर्थं । 'अन्ययोऽतिरुमे कृच्छ्रे' इति वैजयन्ती । गलनालविलाध्वना कण्डालान्त कुहर-मार्गेण, गलति निस्सरति । राहो शिरोमात्रत्वेन कण्डालनिस्मृतस्याशितस्य जठराग्निसयोगविरहादस्य पापिष्ठस्येन्दो पुनश्चय इत्युप्रेषार्थं ॥ ६५ ॥

अन्वय —सखि, राहु। वदनगर्भगत शशिनम् अमशय निजेच्छया न उज्जति, अक्षित एव अयम् प्रत्यय विना गणनालबिलाध्वना गच्छति ।

हिन्दी—हे सखि, राहु मुंह के बीच पड़े चंद्र को नि सन्देह स्वेच्छा से नहीं त्यागता, खाया (निगला) हो गया यह बिना नष्ट हुए कठनाली के छेद के मार्ग से निकल जाता है ।

टिप्पणी—राहुभुवन किंतु अवशिष्ट चन्द्र विषयक दूसरी सम्भावना । राहु का उदर ही नहीं है, राहु चन्द्र को खाता है, किंतु बिना गला पचा वह कण्ठली के छिद्र से बाहर आ जाता है । राहु के उदर न होने से चन्द्र नष्ट होने से बच जाता है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने विरोधानाम माना है ॥ ६५ ॥

ऋजुदृश कथयन्ति पुराविदो मधुभिद किल राहुशिरश्छिदम् ।

विरहिमूर्धभिद निगदन्ति न क्व नु शशी यदि तज्जठरानल ॥६६॥

जीवातु—ऋजुदृश इति । ऋजुदृश तादात्विककाममात्रदशिन , न त्वागामिकार्यदशिन इत्यर्थः । पुराविद पुराणज्ञा पूर्वपुरुषा , मधुभिद विष्णु, राहु-शिरश्छिद कथयन्ति किल । किलेति वार्तायाम् । विरहिमूर्धभिद वियोगिशिरश्छिद न निगदन्तीति काकु । तथैव कथनीयमित्यर्थः । कुतस्तस्य राहोर्जठरानलो यदि अस्तीति शेष । शशी क्व नु ? न क्वापि स्यादित्यर्थः । राहुशिरश्छेदेन तदीयजठरान्निविच्छेदत्वाद्विरहिमारक शशिनमुज्जीयन्नय विष्णुविरहि-शिरश्छेदीत्येव व्यपदेश्य न राहुशिरश्छेदीत्यर्थः ॥ ६६ ॥

अन्वय —ऋजुदृशः पुराविद मधुभिद राहुशिरश्छिद कथयन्ति किल, विरहिमूर्धभिद न निगदन्ति, यदि तज्जठरानल शशी क्व नु ?

हिन्दी—सरलदृष्टि अथवा यथादृष्ट प्राची पुराणतिहास के वेता मधु के नायक (विष्णु) को 'राहु का शिरश्छेता' कहते हैं, वियोगिजनों के सिरों का काटनेवाला नहीं कहते, यदि राहु के जठरान्नि (घेठ में आग) होती, तो बरस कहीं रह पाता ।

टिप्पणी—मधुरिपु विष्णु को राहु के सिर को काटनेवाला कहा जाता है, क्योंकि यह यथार्थ है कि उन्होंने अमृत-वितरण-काल में ऐसा किया था । किंतु वियोगिनी दमयन्ती की सम्मति में विष्णु को 'वियोगियों के सिर को

काठनेकाया' कहना अधिक उचित है, क्योंकि न वे राजन का जिरण्डे करते और न बिना उबर का 'जिरण्डेन' गड़ खना और न चद्र बचनका बी न विजोती इन प्रका व्यपिष्ट हों प्रार वेते। यदि विष्णु गड़-जि-ण्डे न करते तो सम्राट् पत्तरेकाया राजन दन्द्र को खाता और वह राजन की उतरानि में लक्ष्मण जाता। विजोतीको उकरे कारण मरत-अप्य न नांती पडती। सम्राट् दोन विष्णु का है, इसका उतरानिख उरको ही निम्ना बाहि। विद्याधर के अनुसर हेतु अचङ्कार ॥ ६६ ॥

स्मरनवी रविनिः स्मरवेरिणा मखनूगस्य यया दन्ति मि।

सुखदि मरपनुमिपञ्चो दिव सति। तथा तनमोजि करोनु क् ॥६७॥

जोषीनु—स्मरखलाविदि। रविनि स्मरखली कायकान्तिनि स्मरखली

तनित्रै व, दिवो निदवी स्ववेद्री, स्मरवेरिणा हरेण, दन्ति निम्न, मख एव मृग। दन्ति वृत्तगारिणो नवलेनयं। जिरो यया सुखदि सुखनु, संयोज-यानाननु। यो यन्म नित्र स तन्म वैर निजोमरणीति युक्तम्। किनु, हे सति। मन्दनयो राहोरनि तथा शिरमन्ग्यान करातु। न कोनीययं। हरम्य नखनूगिखरडेदे पुराय प्रनातु, अशिनो पुनन्तन्तनाते 'तयो वै ती यश्म्य शिर प्रश्चत्ताम्' इति श्रुति ॥ ६७ ॥

अन्वय—सति, रविनि स्मरखली दिवो निदवी स्मरवेरिणा दन्ति मखनूगस्य रिणः यया सुखदि सुखनु तथा तनमो अपि क. करोनु ?

हिन्दी—हे सति, देह-कान्ति से काम-सुनात स्वयं के देहां (अशिनो कृमारों) ने कानारि (शिव) के द्वारा काटे मख-हरिण के शिर को जंत दृश्यप बोध दिया था, वैसे यह का शिर भी कौन जोड़े ? (कोई नहीं जोड़ता)।

टिप्पणी—शिर-खड जुड़ जाते तो राहू पुनं देह बन जाता। स्वदेह ऐसा कर सकते हैं क्योंकि उन्हेंने ऐसा किया था। श्रुति-प्रमाण है—'अब एत दोनों ने मख-नुग का शिर जोड़ दिया।' शिव ने मख-नुग का शिर काटा था अश्विनीकृमारों ने जोड़ दिया, क्योंकि वे काम-सुना हैं। कानू उनु के किने को उठठदेना उनके लिए स्वभाविक है, इस प्रकार नित्र के उनु की अचङ्कार उन्हें कर दी। यह का शिर वे कपो जोड़ेंगे, क्योंकि एते तो

शिव ने नहीं, विष्णु ने काटा है, जो काम के शत्रु नहीं हैं, प्रत्युत कृष्णावतार में 'कामतात' हैं। इस प्रकार राहु उदरविहीन ही रहेगा और उससे खाया चन्द्र सदा बचता रहेगा और विरही व्यथा पाते रहेंगे। खेद है। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ६७ ॥

नलत्रिमस्तकिनस्य रणे रिपोर्मिलति किं न कवन्धगलेन वा ।

मृतिभिया भृशमुत्पततस्तमोग्रहशिरस्त्वदसृग्दृढबन्धनम् ॥ ६८ ॥

जीवातु—नलेति । अथवा, रणे नलेन विमस्तकितस्य तथापि मृतिभिया मरणभयेन भृशमुत्पतत उद्गच्छतो रिपो, कवन्धगलेन अपमूर्धक्लेवरकण्ठेन मह तमोग्रहस्य शिर, तस्य गलस्यामृजा रक्षतेन दृढबन्धन निविडसयोग सत् किं न मिलति न सङ्गच्छते ? तथा च सज्जठराग्निना चन्द्रो जीर्णदिति भाव ॥ ६८ ॥

अन्वय—वारणे मृतिभिया भृशम् उरगत नलविमस्तकितस्य रिपो कवन्धगलेन तमोग्रहशिर तदमृग्दृढबन्धन किं न मिलति ?

हिन्दी—अथवा युद्ध में मरणभय से अत्यर्थ आकाश की ओर उछलते, नल द्वारा मस्तक रहित किये शत्रु के घड की गरदन के साथ अधकार ग्रह (राहु) का शिर उस (घड) के रक्त से दृढता के साथ जुड़ क्यों नहीं मिल जाता ?

टिप्पणी—राहु को उदरयुक्त करने का दूसरा प्रकार सकेतित है पूर्व श्लोक में बताया गया कि 'मस्रमृग' को तो देवर्षियों ने जोड़ दिया, पर राहु को जोड़ने वाला कोई नहीं है। यहाँ जोड़ने की सम्भावना इस प्रकार की गयी है कि चन्द्र है वियोगिजनों का शत्रु और राहु उसका शत्रु है। इस प्रकार राहु वियोगियों का मित्र हुआ। कोई वियोगी उसकी सहायता कर सकता है। नल वीर है, युद्ध में शत्रु वध करता है, वियोगी भी है। सग्राम में मरण—भय से आकाश की ओर उछलते शत्रु का मस्तक नल द्वारा जब कटेगा तब यह समभव है कि उसके घड के साथ बहते रक्त से राहु का शिर जोड़ दिया जाय, जिससे वह पूनांग होकर चन्द्र का खा ले और वियोगियों को चेत मित्रे। ऐसा कोई वियोगी कर क्यों नहीं देता ? कर देना उचित है। विद्याधर द्वारा निदिष्ट अलंकार उत्प्रेक्षा ॥ ६८ ॥

सखि । जरा परिपृच्छ तमगिरस्समनो दधतापि कदम्बनाम् ।

मगधराजवदुर्दल्युग्मवन् किमिति न प्रतिसीव्यति केतुना ? ॥ ६९ ॥

जीवानु—सखीति । कदम्बा, हे सखि । जरा जराव्या निशाचरो परिपृच्छ ।

असौ जरा कदम्बताम् अगिरस्सतां दधतापि केतुना न्न केतुर्गते मह तमसो राहो गिर मानराजस्य जराकम्बस्य वदुर्दलो राहोराधभायो युगद्ध युगलनिव, किमिति न प्रतिसीव्यति न कम्बते ? । शिरोनात्र राहू शरीर-मात्र केतु तयो सज्जाने पूर्ववत्तज्जठरग्निना चन्द्रो जीवेदिति भाव । जरा-कृताङ्गकम्बानो जरात्तज इति भारती क्यानुकम्बेदा ॥ ६९ ॥

अन्वय—सखि, जरा परिपृच्छ—असौ कदम्बता दधत केतुना न्न तमः गिर अनि मगधराजवदुर्दल्युग्मवन् किमिति न प्रतिसीव्यति ?

हिन्दी—हे सखी, जरा राजसी से पूछ—यह कदम्ब (कदम्ब) हल धारते केतु के साथ राहू का तिर नी मगध के राजा (जराकम्ब) के शरीर के दोनों भागों के समान क्यों नहीं चिन्न देती ?

टिप्पणी—राहू को पुनर्नय करने का एक और उपाय । जरा नाम की राजसी ने एक शरीर के दो भागों को छिन्न दिया था, जिससे जराकम्ब बना और मगध का राजा हुआ, जिसका श्रीकृष्ण ने नीमद्वारा बध कराया था । जरा राजसी है, राहू भी राजसी है । यदि जरा को सदेव भेदा जाय तो वह राहू-केतु को जोड़कर एक कर सकती है । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥६९॥

वद विद्वल्लुदमालि । मदीरितैस्त्यजसि किं द्विजराजविना रिजुम् ।

किमु दिव पुनरेति यदोदृशः पतिन एष निरेज्य हि वासुगोम् ॥ ७० ॥

जीवानु—वदेति । हे याज्ञि सखि । मदीरितैः मद्वाक्यं विद्वल्लुद राहू

वद, रिपु द्विजराजकन्द्रो द्राह्मणभेष्टश्च, तद्विना त्यजसि किम् ? तन्मानीत्याह-यदन्मादेव चन्द्रो वासुगी प्रतीची सुराश्च । 'वासुगी गण्डूदाया प्रतीचीसुर-योरनि' इति विश्व । निरेज्य मत्वा पीत्वा च । पटितं श्चुतः पातको च । ईदृशं पतितोऽपि पुनर्दिवन्वृत्ति स्वपञ्च एति यदि किमु । इयोरनि पतितयोरधोगतिरेव नोर्ध्वं गतिरिष्यते । अतः पतितस्य कृत धैष्ट्यं कुतन्तरा तद्वधे दोषश्चेति भाव ॥ ७० ॥

अन्वय — आन्ति, मदीरितं विद्युन्नुद वद—रिपु द्विजराजधिया त्यजति किम् यत् एष ईदृश पतिन हि वाहणी निपत्य दिव पुन किनु एति ?

हिन्दी—अरी सखी, मेरे बचन विद्युपीडक (राहु) से कहूँ—क्या यह शत्रु का ब्राह्मण समझ कर छाड़ रहा है ? जब कि यह ऐसा पतिउ (गिरा हुआ, नीच) है तो फिर वाहणी (मदिरा तथा वरुण की दिशा पश्चिम) का सबन कर 'द्यौ' (आकाश स्वर्ग) में पुन धाता कैसे है ?

शिष्यणी—दमयन्ती कहती है कि राहु को क्या दो वह चंद्र को ब्राह्मण समझ कर क्षमा न कर, यह तो मद्यसेवन करनेवाला ब्राह्मण है पतिउ—नीच जाने कौत स्वर्ग में पहुँच गया है ? यहाँ द्विजराज (तारो का राजा, ब्राह्मण), वाहणी (मदिरा, पश्चिम दिशा) द्यौ (आकाश, स्वर्ग) और पतिउ (नीचे गिरा, पातकी) शब्द अनेकार्थक हैं । द्विजराज (तारकपति) इतना गिरा हुआ और निलंजज है कि पश्चिम दिशा में हूब कर भी फिर फिर आकाश में आघरता है । मला आदमी अपराध करके धार-धार फिर वँसा ही करने को मुँह नहीं दिखाता । यह चंद्र ही ऐसा नीच है । चन्द्र को ब्राह्मण मान राहु छा जाने से न चूके, यह तो मदिरापायी ब्राह्मण है, इस पियक्कड़ को न जाने क्यों स्वर्ग में घुसने दिया जाता है ? चंद्र तो घस नाम का ही ब्राह्मण है, वँस पतिउ है, वाहणी मेधी । विद्याघर के अनुसार समासोक्ति अलंकार । हिन्दी के सस्कृत पंडित, आचार्य, कवि केशवदास का ऐसा ही एक दोहा द्रष्टव्य है—'जहीं वाहणी बी करी रचक रुचि द्विजराज । उही किया भगवन्त विन सपति द्यौमा साज ॥'—रामचन्द्रिका—५।१४ ॥ ७० ॥

दहति कण्ठमय खलु तेन किं गरुडवद् द्विजवामनतोज्जित ? ।

प्रकृतिरस्य विद्युन्नुद । दाहिता मयि निरागसि का वद विप्रता ? ॥७१॥

जीवातु—दहतीति । विद्युन्नुद ! अयं विद्यु द्विजवासनया द्विजत्वसामाये-
नेत्यय । पातित्मेघनि जातेरनपामादिनि भाव । गरुडवद् गरुडस्येव 'तत्र
तस्येव' इति वतिप्रत्यय । ते तव कण्ठ दहति सन्तु । विद्यु तेन दाहेनाञ्जित
किम् ? अस्य विप्रता का वद, न वानोत्ययं । तथा हि, अस्य विद्यो प्रकृति
निरागसि निरपराधाया मयि दाहिका दग्धी । अनपराधस्त्रीघातुकस्य कुतो
ब्राह्मणत्वमिषय । 'आगोऽनरागो भ'तुश्च' इत्यमर । पुरा किञ्च धुधिनेन गरुमा

नित्रादेभ्यो म्लेच्छान् नक्षपता नग्निमग्नि अष्टद्विज ऋश्वित् तद्ग्वगनेन सहस्रो-
द्वीर्षं इति पौराणिकी कथा । तथा नाथब्राह्म—'विप्र पुरा पतगराष्ट्रिक निजं-
गार' इति ॥ ७१ ॥

अन्वय — विष्णुनुद, क्या कि कठ दहति गरुडवत् द्विबदासनया उज्जित ?
अन्य प्रकृति दाहिका, निगासि मयि का विप्रा ? इद ।

हिन्दा—हे चन्द्रपीठक (राहो) यह (चन्द्र) क्या (खाने समान तेरा)
कठ जलाना है, तिमने गरुड के समान (तूने इने) बाह्य-बुद्धि से छोड़
दिया, जलना इच्छा स्वभाव है, अन्यथा निरपराधिनी मुझ पर यह कौन-सी
ज्ञानता दिख रहा है ? कह ।

टिप्पणी—पुराण-कथा है कि माता त्रिपता की दासता से मुक्ति दिलाने
के लिए उमृत जाते गरुड ने निपादाहृति ब्राह्मण को खा जाना चाहा था ।
उन्हें करुण का वशान था कि ब्राह्मणातिरिक्त सब को माँ में गरुड खा
सकते हैं । ब्राह्मण की पक्षिपत यह है कि उसे खाते ही गला जलने लगता ।
सो निपादाहृति ब्राह्मण को मूत्र में रखते ही गरुड के गले में जलन होने लगे
और उन्होंने उसे ब्राह्मण समझ कर छोड़ दिया । इस श्लोक में इसी पुराण-
कथा का आशय लिया गया है कि राहू ने—गले में दाह कर रहा है, इस
लिए चन्द्र ब्राह्मण है सो—उने गरुड के समान ही छोड़ दिया । दमदन्ती
चन्द्र के वारणोन्नेवन की ओर संकेत करके कह रही है कि चन्द्र नाथ का ही
'द्विजराज' है, कर्म में तो यह पतित गराबी है । निरपराध का सजाने वाला
भी कहां ब्राह्मण होता है ? इसकी प्रकृति ही है—पर पीडन । विप्राधर के
अनुसार अतिगोमि और उरमाकार ॥ ७१ ॥

सन्ध्या कल्पया किल दष्ट्या समवधाय यमाय विनिर्मितः ।

विरहिणीगार्ध्वपनायन निधुरतो द्विजराज इति श्रुत ॥ ७२ ॥

जीवानु—सन्धयेति । विष्णु कल्पया कथा नक्षत्राणि, कल्पानिरेव
दाष्ट्या दष्टानि, दन्तविशेषं प्रकृतिद्रव्ये । समवधाय वापेकवचनम् । यमाय
दन्तकार्यं समवधाय सम्याबहितीभूय, विरहिणीगार्ध्व चर्वासाधन किञ्चिद्ब्र-
ह्मसाधन विनिर्मित, किल ब्रह्मणेति शेष । अशोष्मादष्टाविशेषत्वाद् 'द्विज-
राज' इति श्रुत न तु विप्रविशेषत्वादिपर्यं । 'दन्तविप्रा-उजा द्विज' इत्यमरः ।

धतो नायमुपेक्ष्य इति भाव ॥ ७२ ॥

अन्वय—विष्णु सकलया कलया दष्ट्या समवधाय किं यमाय विरहिणी-
गण चर्वणसाधन विनिर्मित अत द्विजराज इति श्रुतः ?

हिन्दी—चन्द्र सपूर्ण कला रूप दष्ट्याओं से मली मांति संयोजन करके
क्या यम के लिए विरहिणियों को चवाने का साधन बनाया गया है, इसीसे
'द्विजराज' (दांतों का राजा) प्रसिद्ध है ?

टिप्पणी—चन्द्र का जो 'द्विजराज' विरह है, वह इसलिए नहीं कि वह
ब्राह्मणश्रेष्ठ है यह तो इसलिए 'द्विजराज' है कि दष्ट्याओं से इसका निर्माण हुआ
है, जिससे यमराज वियोगिनियों को चवा डालता है ? हत्या करने का यत्र है
यह—दांतों का राजा । विद्याधर ने इस लोक में अपह्लवोत्प्रेक्षा का निर्देश
किया है ॥ ७२ ॥

स्मरमुख हरनेऽद्भुताशनाज्ज्वलदिद विधिना चकृपे विष्णु ।

बहुविधेन वियोगिवधैर्नसा शशमिपादथ कालिकयाञ्छित ॥ ७३ ॥

जीवातु—स्मरमुखमिति । अथ विष्णुचन्द्रो नामेद स्मरमुख ज्वलत् प्रज्वल-
देव विधिना देवेन हरनेऽद्भुताशनाञ्चकृपे मध्ये आवृष्ट । अथवा बहुविधेन
वियोगिवधेन यदेन पाप, तेनैव कालिकया श्यामिकया, शशमिपादञ्छित ।
दाहकालिमा वा, पापकालिमा वा शशमिपाद् हस्यत इति सापह्लवोत्प्रेक्षा-
द्वयम् ॥ ७३ ॥

अन्वय—अथ विष्णु इव ज्वलत् स्मरमुख विधिना हरनेऽद्भुताशनार्
चकृपे, बहुविधेन वियोगिवधैर्नसा कालिनया शशमिपात् अञ्छित ।

हिन्दी—अथवा चन्द्ररूप हम दहकते काममुख को विधाता ने धिय के
तृतीय नेत्र की आग से बनाया है, अनेक प्रकार से वियोगि जनों के वध के
पाप की शोक कलौष खरहे के ब्याज से इस पर लगा दी गयी है ।

टिप्पणी—चन्द्र की दाहकता और पातक का घोटन । मल्लिनाथ के
अनुसार दो सापह्लवा उत्प्रेक्षाएँ, जिनका चन्द्रप्रमाकार ने दो प्रतीयमान
उत्प्रेक्षाओं और अपह्लुति के अगामिभाव सत्कर रूप में निर्देश किया है ।
विद्याधर इस लोक में ह्यक और अपह्लुति मानते हैं ॥ ७३ ॥

[द्विजपतिप्रसनाहितपातकप्रभवकुश्रमितीकृतविग्रह- ।

विरहिणीवदनेन्दुजिघित्सया स्फुरति राहुग्य न निशाकर ॥ १ ॥]

[अन्वय — विरहिणीवदनेन्दुजिघित्सया द्विजपतिप्रसनाहितपातकप्रभवकुश्र-
मितीकृतविग्रह अयं राहु स्फुरति, निशाकर न ।

चरित्रवर्षनकृततिलकम्भाख्या—द्विजपतीति ॥ मो सखि, विरहिणीना
वियोगिनीना वदनेन्दुजिघित्सया मुखचन्द्रमक्षणेच्छया राहुरेव स्फुरति न
निशाकर । कौहय — द्विजपतिश्चन्द्रो विप्रश्रेष्ठश्च तदप्रसनात्तद्ग्रहणादाहित
यत्पातक तस्मात्प्रभवमुत्पन्न यत्कुश्रं तेन मितीकृतो षवलीकृतो विग्रहः ।
शरीर यस्य स तथा ॥ श्लोकोऽयम् ॥

हिन्दी—वियोगिनियों के मुखचन्द्रों को खाने की इच्छा से द्विजराज
(चन्द्र और ब्राह्मणश्रेष्ठ) को प्रसने के पातक से उत्पन्न कोढ़ के कारण शुभ्र
शरीर वाला यह राहु ही चमक रहा है, निशाकर (चन्द्र) नहीं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि यह जो आकाश में चमक रहा है, वह वस्तुन
शुभ्रचन्द्र है ही नहीं, यह तो पापग्रह राहु है । इसने जो चन्द्र को ग्रस कर
ब्रह्म हत्या की है, उसी के पाप से इसे काढ हो गया है, जिससे शुभ्र होकर
यह चन्द्रमा का भ्रम उत्पन्न कर रहा है । इसी कारण तो यह इतना क्लेश
कारक है । जिनराज की सुखावधोष व्याख्या में इस पर टिप्पणी है—‘अनेन
ब्रह्महत्याविर्भूत फलमनुभवतोऽपि पुनः स्त्रीहत्याकरणोद्यतन्नास्य नास्ति त्रपेत्य
मिप्राय ।’ इमने एक बार ब्रह्महत्या-पातक का फल तो पालिया, पुन
स्त्रीहत्या करने को तैयार है, लाज भी नहीं आती अपहृत्तुति अलंकार ।]

इति विषोर्विषोक्तिविग्रहंण व्यवहितस्य वृथेति विमृश्य सा ।

अतितरा दधती विरहज्वर हृदयमाजमुपालभते स्मरम् ॥ ७४ ॥

जीवानु—इतीति । अतितरामतिमात्रम्, अन्ययागम्प्रत्यय । विरहज्वर
दधती सा दमयन्ती इतीत्य, व्यवहितस्य विप्रकृष्टस्य, विषोर्विषोक्तिभि-
विग्रहंण निन्दा वृथेति विमृश्य, अरण्यश्रितप्रायमिति विचार्यं, हृदयमाज सन्नि-
हित स्मरमुपालभत निनिन्द । पाञ्चिकफलमग्भावनयेति भावः ॥ ७४ ॥

अन्वय—अतितरा विरहज्वर दधती सा व्यवहितस्य विषा इति

विविधोक्तिविगर्हणं वृथा इति विमृश्य हृदयमाज स्मरम् उपात्मत ।

हिन्दी—अत्यन्त वियोग-ताप से पीडिता वह (दमयन्ती) दूरस्थित चन्द्र की इस प्रकार अनेक कथनों से निन्दा व्यर्थ है—यह विचार कर हृदयस्थित काम को उलाहना देने लगी ।

टिप्पणी—दूर आकाश में रहते चाँद को गरियाने से क्या लाभ ? भीतर बैठे काम से कहना उचित है ॥ ७४ ॥

हृदयमाश्रयसे वत मामक ज्वलयसोत्थमनङ्ग । तदेव किम् ? ।

स्वयमपि क्षणदग्धनिजेन्धनं क्व भवितासि ? हुताश । हुताशवत् । ७५ ।

जीवातु—हृदयमिति । हे अनङ्ग ! ममद मामकम् । 'तवकममावेकवचने' इत्यणि मम' कादेश । हृदयमाश्रयसे । तदेवेत्य किं ज्वलयसि दहसि ? वत । हुताश दुर्बुद्धे ! स्वयं त्वमपि, हुतमश्नातीति हुताशोऽग्नि, कर्मण्यण् । तद्वत् क्षणदग्धनिजेन्धनो दग्धाश्रय सन्नित्यर्थः । क्व भवितासि क्व भविष्यसि ? न क्वापीत्यर्थः । अनद्यतने लुट् । परहिंसाव्यसनेनात्मनाश न पश्यमीत्याशयेन हुताशोत्थामन्त्रणम् ॥ ७५ ॥

अन्वय —अनङ्ग, वत मामक हृदयम् आश्रयसे, तत् एव इत्य किं ज्वलयसि ? हुताश, स्वयं हुताशवत् क्षणदग्धनिजेन्धनं क्व भवितासि ?

हिन्दी—अरे अतनु काम, खेद है कि तू मेरे हृदय का आश्रय लिये है, उसे ही इस प्रकार क्यों जला रहा है ? अरे दुष्ट आकाशा करने वाले, स्वयम् हुत को खाने वाले अग्नि के तुल्य क्षण में अपने ईंधन को जला डालकर (तू) कहीं होगा ?

टिप्पणी—काम को उपात्मत देती हुई दमयन्ती ने कहा कि मूख काम, तू तो वह पूर्वतामरा कार्य कर रहा है कि जिस डाल पर बैठा है, उसे ही काट रहा है । मेरे हृदय में घर बनाये है, उसे ही जला रहा है । जब तेरा बसेरा ही जल जायेगा, तब तू रहेगा—बसेरा कहीं ? यह तो तू आग के समान कर रहा है कि जिस इंसान पर वह आश्रित होनी है, उसे ही जलाकर राख कर देती है और स्वयं भी नष्ट हो जाती है । ऐसे ही तेरी भी दशा होगी । विद्याधर के अनुसार यहाँ उल्लेख्य अलंकार है अनुपाम और उपमा ॥ ७५ ॥

पुरभिदा गमितस्त्वमदृश्यता त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया ।

स्मर । निरक्षयत कस्यचनापि न त्वयि किमक्षिगते नयनैस्त्रिभिः ॥ ७६ ॥

जीवातु—पुरभिदेति । हे स्मर ? त्वम् अक्षिगत इति शेष । अनक्षि-
मन्निष्कृष्टस्याक्षा दग्धुमशक्यत्वाददृश्यस्य च दाहायोगादिति भाव । पुरभिदा
हरेण, त्रिनयनत्व अक्षत्व, क्षुम्नादित्वाण्णत्वामाव । तस्य परिप्लुतिशङ्कया
तृतीयाक्षिवैयर्थ्यमयेनेत्यर्थं । अदृश्यता गमितो नाश प्रापित, 'गतिबुद्धि'—
इत्यादिना अणिक्त्वं कर्मत्वे तत्रैव वन ! 'ण्यन्ते कर्तुश्च कर्षण' इति वचनात् ।
किन्तु, कस्यचनापि यस्य कस्यचिदपि जनस्याक्षिगते हृगोचरे द्वेष्ये च । 'द्वेष्ये
त्वक्षिगतो बध्य' इत्यमर । त्वयि त्रिभिर्नयनै किं न निरक्षयत, किमिति न
निरीक्षितम् । अनोऽस्य त्रिनयनत्व व्यर्थमेवेत्यर्थं । स्वाक्षिगत इव माहशाक्षि-
गतेऽपि त्वयि तृतीयाक्षिनिरीक्षणामावादपरोपकारिणस्तस्य वैयर्थ्यं, निरीक्षणञ्च
देवस्य जिनकामत्वादन्वेषा तु कामजितत्वादुत्प्रेक्ष्यत इति । त्वयि निरक्षयते-
त्यत्र कर्मणोऽपि स्मरस्य अनेकंशक्तियुक्तस्येति न्यायेन मातरि प्रहृतमित्या-
दिवदाधारत्वविवक्षायां विवक्षितकर्मकादीशतेमांवे लकार । 'प्रसिद्धेरविवक्षात्
कर्मणोऽकर्मिका क्रिया' इति वचनात् ॥ ७६ ॥

अन्वय — स्मर, त्वम् पुरभिदा त्रिनयनत्वपरिप्लुतिशङ्कया अदृश्यता
गमित, कस्यचन अपि अक्षिगते त्वयि त्रिभि नयनैः किं न निरक्षयत ?

हिन्दी—हे काम, तुझे पुरारि (महादेव) ने (अपने) तीननेत्र होने
की अतिव्याप्ति अथवा व्यर्थता की शका से विरुद्ध कर दिया था, परतु
तुम्हारे किसी जन के भी अक्षिगत (प्रत्यक्ष और शत्रु) होने पर क्या (उसने)
तीन नेत्रों से (श्रेय युक्त हो) नहीं देखा ? अपितु देखा ही । अथवा 'किम्'
का अर्थ 'कि-तु' मानने पर तुम्हारे अक्षिगत (प्रत्यक्ष अर्थात् वाक्काव) होने
पर किसी ने भी तीन नेत्रों (श्रेय) से नहीं देखा ।

टिप्पणी—'अक्षिगत' (प्रत्यक्ष और द्वेष योग्य—'अक्षि में सटकने वाला')
और 'त्रिनयनत्व' (तीन नेत्र होना और श्रेय) अनेकाय शब्द हैं । शिव को
त्रिनेत्र माना गया है, तीसरा नेत्र ज्ञान नेत्र भी कहाता है । यहाँ कल्पना यह
की गयी है कि शिव के समुक्त जब कान शत्रुत्व में प्रत्यक्ष हुआ ता उन्होंने

उसे अनग कर दिया । यह इस लिए कि यदि वे ऐसा न करते तो उनका 'त्रिनेत्रत्व' अतिव्याप्त अतएव व्यर्थ हो जाता । काम जब अन्य व्यक्तियों को 'अक्षिगत' होता तो वे भी 'त्रिनेत्र' अर्थात् क्रोधयुक्त हो जाते हैं । जब शिव ने उसे क्षार कर अप्रत्यक्ष कर दिया तो अब कोई 'त्रिनेत्र' न होगा और शिव के त्रिनेत्रत्व की अतिव्याप्ति न होगी । केवल शिव 'त्रिनेत्र' रहेगे, अन्य कोई नहीं । इसके अतिरिक्त कामदहन से पूर्व शिव का तीसरा नेत्र व्यर्थ पड़ा था, उसका उपयोग हो गया, व्यर्थता बच गयी । त्रिनेत्रधारी शिव परमज्ञानी हैं, यदि तृतीयनेत्र—ज्ञाननेत्र रहने पर भी वे कामदहन न करते तो उनका ज्ञान-नेत्र सार्थक ही नहीं होता, व्यर्थ हो जाता ।

परन्तु शिव का यह कार्य चरिताय नहीं हुआ, जब-जब नर-नारी को काम 'अक्षिगत' (द्वेषी शत्रु) हो व्यथित करने लगता वे त्रिनेत्र (क्रोधयुक्त) होते ही थे । अथवा शिव का यह कार्य इस लिए भी सार्थक नहीं हुआ कि काम के 'अक्षिगत' (प्रत्यक्ष अर्थात् भाविभूत) होने पर कोई 'त्रिनेत्र' होता ही नहीं, सभी कामानन्दलीन हो जाते हैं । शिव की 'त्रिनेत्रता' अतिव्याप्त—परिप्लुत होती ही नहीं है । काम के 'अक्षिगत' होने पर किसी का 'त्रिनेत्रत्व' मिलता ही नहीं, क्रोध धाता ही नहीं । कहाँ सब 'त्रिनेत्र' (ज्ञानी) हो सकते हैं ? अतः शिव की यह आशङ्का व्यर्थ ही थी । भाव यह है कि 'त्रिनेत्रत्व-परिप्लुतिशका' दोनों स्थितियों में व्यर्थ हो गयी । यदि यह माना जाय कि कामाक्रांत होने पर सब 'त्रिनेत्र' (क्रोधपूर्ण) हो जाते हैं, तब भी शिव का काम को 'अक्षय' करदना साधक न हुआ, 'परिप्लुति' हो ही गयी । यदि यह माना जाय कि कामाविष्ट हो कोई 'त्रिनेत्र' (क्रोधमय अथवा ज्ञानी) नहीं होता तब आशङ्का ही व्यर्थ थी । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालकार ॥ ७६ ॥

सहचरोऽसि रतेरिति विश्रुतिस्त्वयि वमत्पि मे न रतिः कुत ? ।

अयं न सम्प्रति सङ्गनिरास्त वामनुमृता न भवन्तमिय किल ॥७७॥

जीवातु—सहचर इति । हे स्मर ! रते रतिदेव्या, सन्तुष्टेऽश्च सहचरोऽसीति विश्रुतिः प्रसिद्धिः त्वयि वमति हृदयस्वे सत्यपि मे कुतो रतिः ?

अथवा, सम्प्रति वा भुवयो नङ्गतिर्नान्ति । कुत, इय रतिर्भवत् नानुमृता
 किल । किञ्चेति वार्तायाम् । जनुनरपानावादमङ्गलिर्मुक्तेऽयं । जत्र प्रीति-
 लक्षणाया रतेरेव्या न्हाभेदाध्यवनात्तदनुनात्नन । अत्र एवातिशयोक्तिर-
 ल्हार ॥ ७७ ॥

अन्वय—रते सहचरः इति इति विधुति, तन्मि वसति अपि ये कुत
 रति न ? अथ सम्प्रति वा सङ्गति न लन्ति, इय भवन्त न अनुमृता किल ।

हिन्दी—कान तुम रति (स्नेहणी) के सहचारी हो, ऐसा विषय है,
 किन्तु तुम्हारे (मेरे हृदय में) बनने पर भी (वहाँ) रति (प्रीति, सवोप,
 प्रियसङ्ग) क्यों नहीं है ? अथवा (ऐसा स्यता है) आश्चर्य तुम दोनों
 (रति-काम) का साथ नहीं है, वह (रति) तुम्हारे दग्ध होनेपर मरी भी
 तो नहीं है ।

टिप्पणी—यह श्रुति प्रसिद्धि वेद-व्याख्य दो प्रकार से टोक नहीं है कि
 रति-काम सहचर हैं । एक तो दमयन्ती के हृदय में काम है, किन्तु रति
 (प्रियमा) नहीं, दूसरे काम के साथ रति ने मरम भी नहीं स्वीकारा । दोनों
 प्रकार से 'श्रुति' प्रमाणित नहीं होती । कामाविष्ट दमयन्ती को 'रति' भी प्राप्त
 होती और काम के साथ रति भी जल मरती तो 'श्रुति' सत्य सिद्ध होती ।
 और जब काम दग्ध हो गया, रति नहीं हुई तो वे साथ रहे ही नहीं, दमयन्ती
 के हृदय ने काम के साथ रति कैसे बाती ? मन्दिनाय के अनुसार यहाँ प्रीति-
 लक्षणा रति का कामन्ती रति के साथ जनेदाध्यवसाय होने के कारण अति-
 शयोक्ति अलंकार है, विद्यापेर के अनुसार विभावना और हेतु ॥ ७७ ॥

रतिविद्युत्कमनात्मपरज । कि स्वमपि मामिव तापितवानसि ? ।

कथमन्तापनृत्स्नव नङ्गमादिवरया हृदय मम दहते ? ॥ ७८ ॥

जोवानु—रतीति । जान्मान परश्च न जानातीत्यनात्मपरज सर्वेषातुक
 मार । मानिव रतिविद्युक्त स्वनात्मानमपि तापितवानमीत्युल्लेखा । कुत,
 इतरथा स्वाश्रन्तापने, अतापनृत्स्नवरहितस्य तव सङ्गमात् सम्पर्कमम
 हृदय कथं दहते ? तत्सम्पर्कात्तापो नाततस्पर्शादिमर्थं । सन्तापनादपि,
 स्वयमतत्वेन त्वया परसत्ताः क्रियते यथा तच्छीलंस्तसमुद्धे गिलीमुद्धैरिति
 भाव ॥ ७८ ॥

अन्वय — अनात्मपरज्ञ, त्व रतिवियुक्त स्वम् अपि माम् इव किं तापित-
वान् असि, इतरथा अतापम् तव सङ्गमात् मम हृदय वय दह्यते ?

हिन्दी—अरे अपना और पराया (लाम हानि) न समझने वाले (काम)
तू ने रति (स्वप्रिया) से विरहित अपने को भी (रति अर्थात् प्रियसग-
विहीना) मेरे समान क्या मतलब कर रहा है, अन्यथा असतलब तेरे सग से मेरा
हृदय वयो जला जाता है ?

टिप्पणी—भर्तृहरि के अनुसार कुछ व्यक्ति स्वाथ-नाश के मूल्य पर रूप-
का कार्य सिद्ध करते हैं, वे सत्पुरुष होते हैं, उत्तम जन । कुछ स्वाथ नाश न
होने देकर परीपकार करते हैं, वे मध्यम जन कहाते हैं । नीच वे होते हैं,
जो परहानि करके स्वाथ सिद्ध कर लेते हैं । एक चौथे प्रकार के व्यक्ति होते हैं—
राजपि ने कहा है कि हम नहीं जानते वे किस कोटि में आते हैं—'ते के न
जानीम हे'—ऐसे व्यक्ति स्वय को पीडित करके भी परपीडन अपना धम
समझते हैं । खुद तो हूबेंगे, मगर यार को ले हूबेंगे । इनके लिए मुख्य है—
परपीडा, भले ही स्वय भी पीडा सहनी पडे । दमयन्ती के अनुसार काम भी
इसी कोटि का है, जो स्वय ताप सह रहा है और दमयन्ती को ताप दे रहा
है । न अपनी सुध, न परायी सुध । विद्याधर ने अनुसार इस पद्य में अनुमान
और उपमालकार हैं ॥ ७८ ॥

अनुममार न मार । कथ नु सा रतिरिति प्रथितापि पतिव्रता ।

इयदनाथवधूवधपातकी दयितयापि तयासि किमुज्जित ? ॥ ७९ ॥

जीवातु—अनुममारेति । हे मार मारक ! पतिव्रतेति प्रथितापि सा रति
कथ नानुममार कथ नानुमृता ? 'मृते च्छियेत या नारी सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता'
इत्यनुस्मरणादिति भाव । अथवा, इयद्भिरेतावद्भिरमरपरित्यग्यं । अनाथ-
वधूना वियोगिस्त्रीणा, वधूः पातकी त्व तया दयितयापि विरहमसहमानयापीति
भाव । उज्जित त्यक्तोऽसि किमिष्टुःप्रेक्षा । 'आशुद्धे सप्रतीदयो हि महा-
पातकद्रूपित' इति स्मरणादिति भाव ॥ ७९ ॥

अन्वय — मार, पतिव्रता इति प्रथिता अपि सा रति कथ न अनुममार,
इयदनाथवधूवधपातकी दयितया अपि तया किम् उज्जित अति ?

हिन्दी 'अ' मारक (काम), 'निव्रता'—विद्यास भी उस रति ने क्या अनुमरण नहीं स्वीकारा ? अर, इनके अन्तर्गत (नाशरहिता प्रिय-वियुक्ता) वनूजा के वध का पाप नृने दिया है कि 'उस दन्तिता' (दनायुक्ता, प्रिय पत्नी) ने भी क्या तूने छोड़ दिया ?

टिप्पणी—निव्रता रूप में प्रसिद्ध रति ज्ञान के साथ सत्रों का शक्ति इस कारण नहीं हुई कि वह महापातकी है, अनेक वियोगिनियों की हत्या का पातक उसके सिर पर है। दयावती रति भी उस पर दया न दिखा सकी, ऐसा पापी है काम। याज्ञवल्क्यस्मृति (आचाराध्याय) के अनुसार महापातकी के मुद्द होने की प्रतीक्षा करना ही दंडित है, मृत्यु नहीं। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षाकार हैं ॥ ७९ ॥

सुगत एव विजित्य जिनेन्द्रियत्वदुस्कोटितनुं यदनामयम् ।

तत्र तनूमवशिष्टवती तत्र समिति भूतमयीमहर्द्धरः ॥ ८० ॥

जोवानु—सुगत इति । जिनेन्द्रियो वशी सुगतो बुद्ध एव विजित्य, तत्र उरु महती कीर्ति एव तनु शरीर, यद्यस्मादनामयत्वात् नाशितवान् । तत्र कारणादवशिष्टवतीमवशिष्टा भूतमयी पाञ्चभौतिकी तत्र तनु समिति मुद्धे हर शम्भुरहरत् नन्मीषकारेत्यर्थः । तथापि निलञ्ज कथमित्यन्ममाद्यानकरत्वात् व्ययमौति विस्मिता स्म इति भावः ॥ ८० ॥

अन्वय—यत् जिनेन्द्रिय सुगत एव विजित्य त्वदुस्कोटितनु अनामयम्, तत्र अवशिष्टमयी भूतमयी तत्र तनु समिति हर अहम् ।

हिन्दी—कथोकि इन्द्रियवती सुगत बुद्ध ने ही जीतकर तरे (काम के) महापशुन शरीर को नष्ट कर दिया था, उस कारण से अवशेषमय पांच-भौतिक तरे शरीर को मुद्ध में हर (महादेव) ने हरा ।

टिप्पणी—भाव यह है कि काम इतना दुष्ट है कि उसे सब बध्य मानते हैं। बुद्ध ने मारा, शिव ने मारा। बुद्ध ने पहिले उमका यग हरा, कीर्तिहीन काम-शरीर शिव ने नष्ट कर दिया। वस्तुतः यग शरीर ही तो महन्वयुग होता है, उसके न रहने पर तो जो रह जाता है, वह 'भूतमय' है, विशाख-शरीर काम को पिशाचता से शिव को मुक्ति देती ही थी। परन्तु आश्चर्य यह है

कि पूर्णत नष्ट होने पर भी काम व्यथित करता है। विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ८० ॥

फलमलभ्यत यत्कुसुमैस्त्वया विषमनेत्रमनङ्ग । निगृह्णता ।

अहह नीतिरवाप्तभया तनो न कुसुमैरपि विग्रहमिच्छति ॥ ८१ ॥

जीवातु—फलमिति । हे अनङ्ग ! विषमनेत्र न्यक्ष, कुसुमैर्निगृह्णता निरुपघता प्रहरतेत्यर्थ । त्वया यत्फल मरणरूपमलभ्यत । ततस्तस्मात् फलाडवाप्तभया-प्राप्तभया नीति, सर्वथा साधनान्तरेणापि वरनिर्यातत कार्यमित्येवरूप (कर्त्री), कुसुमैरपि विग्रह नेच्छति । अहहेत्यद्भुते । किमुत साधनान्तरे 'पुष्पैरपि न योद्धव्य किं पुननिशितं, शरैरिति नीत्या कुसुमान्यपि भोवतु विभेषीति भाव ॥ ८१ ॥

अन्वय—अनङ्ग, विषमनेत्र कुसुमैर्निगृह्णता त्वया यत् फलम् अलभ्यत अहह तत् अवाप्तभया नीति कुसुमैर् अपि विग्रह न इच्छति ।

हिन्दी—अरे अङ्गहीन (काम), असम (हीन) नेत्र वाले (शिव) पर फूलों से प्रहार करते तूने फल पाया, (अथवा ज्ञानाश्रय धरीर के न होने से अज्ञानी, तूने पुष्पवाणो से विषमनेत्र (मृत्युजय अथवा तीक्ष्ण-स्वभाव नायक—विषम नेत्र नायक—) पर प्रहार कर जो मूर्खता का फल पाया), उससे मयप्राप्त नीति फूलो से भी युद्ध करना उचित नहीं समझती ।

टिप्पणी—युद्ध के विरोध में कहा जाता है कि युद्ध तो फूलो से भी नहीं करना चाहिए तीक्ष्ण शस्त्रास्त्रो की तो बात दूर है—लगता है, यह मय की नीति मूर्ख काम ने जो शिव पर फूलों से प्रहार कर मूर्खता की, जिसके फल स्वरूप अस्म होना पडा, उसी के कारण बन गयी है । कहीं मृत्युजय, विषम योद्धा, पाशुपतधारी, त्रिनेत्र शिव, कहीं कोमल, फूलो से युद्ध करनेवाला, अनग काम ? मूर्खता तो काम करता आया ही है, वह सदा का मूर्ख और दुष्ट है । विद्याधर के अनुसार प्रतीयमानोत्प्रेक्षालंकार ॥ ८१ ॥

अपि धयन्निनरामरवत्सुधा त्रिनयात्कथमापिष ता दशाम् ? ।

भण रतेरधरस्य रसादरादमृतमात्तृष्ण खलु नापिष ? ॥ ८२ ॥

जीवातु—अपीति । हे स्मर ! इनरामरवद् देवतान्तरवत्, मुषा धयन्

पिबन्नपि, घेंट. शत्रु प्रत्यय । त्रिन्वन्नादीन्वरत्, अथ ता दशा मरणा-
वस्थाम्, आपिय प्रातोऽनू ? आप्नोतेऽदिति षलि ऋगादिनियनादिडागम ।
नप वद । जयवा, रतेदेव्या, जयरम्पोष्टस्य, नेस्वादे, आदरादास्यावगात्
आत्तघृण प्रातानूनजुगुप्ता सन् । 'घृणा जुगुप्ताहृणयो' इति वैजयन्ती । अनृतं
नापिब सन्तु । अमृतपाने कथमन्वेज्वमयेषु त्वमेको मृत इति भाव ॥ ८२ ॥

अन्वय—इतरामरवत् मुदा धयन् अपि त्रिनयनात् कथं ता दशाम् आपिय ?
नप, रते लघरस्य रसादरान् आत्तघृण अमृत न अपिब सन्तु ?

हिन्दी—अन्य देवों की नांति अनृत पीने पर भी श्रबक (शिव) से
कैसे तू दशा (मरण) को प्राप्त हो गया ? बोल, रति (प्रिया) के अघररस
के प्रति जादर के कारण घृणायुक्त हो क्या अमृत पिया नहीं था ?

टिप्पणी—अमृत तो सब देवों ने पिया था और अमर हो गये थे ।
काम ने भी अमृत पिया होगा, फिर भी वह शिव के द्वारा क्यों दुर्दशा को
प्राप्त हुआ ? लगता है कि रति का अघरामृत अमृत को अपेक्षा उसे अधिक
आनन्ददायक, आदरयोग्य लगना होगा, अतः काम ने अमृत न पिया होगा और
दग्ग हो गया । छम्पट है काम, जो उसने अघररस के आगे अमृत नग्न्य
माना । मद्गामूर्ख और अतिचारी है वह । विद्याधर के अनुसार उद्देश्या ॥८२॥

भुवनमोहनजेन किमेनसा तत्र परेत । बभूव पिशाचता ? ।

यदधुना विरहाधिमलीनसामभिभवन् भ्रमसि स्मर ! मद्दिघात् ॥ ८३ ॥

बौधानु—भुवनेति । परेत प्रेत । तत्र भुवनाना मोहनमचेतनीकरण
तज्जेनैनसा पानेन पिशाचता बभूव किम् ? कुत्र स्मर ! यदस्मादधुना विरहा-
धिना विद्योगव्ययसा मलीनसा मन्त्रिना, मद्दिघा माद्योमबलामनिनवन् पीडयन्
भ्रमसि । पापिष्ठा किं पिशाचता, गता दुर्वन्स्त्रीवालादीन् पीडयन्ति, त्वञ्च
तादृक्कोऽपि पिशाच इत्युद्देश्या ॥ ८३ ॥

अन्वय—परेत, स्मर, किं तत्र भुवनमोहनजेन एनसा पिशाचता बभूव,
यत् अधुना विरहाधिमलीनसा मद्दिघाम् अभिमवत् भ्रमसि ?

हिन्दी—अरे मृत जान, (अथवा हे मृत, स्मरण कर) क्या सत्तार को
चेतना-विहीन करने से जाति करने पाप के कारण तू पिशाच हो गया है कि

अब विरहगग से मलीन मुझ जैसी को पीड़ित करता डोल रहा है ?

टिप्पणी—निश्चय ही काम मर कर पिशाच हो गया है, कच्चा मांस खानेवाला 'पिशम् अस्तीति पिशाच' तभी तो वह दुर्बल दमयन्ती को सता रहा है। पिशाच ही स्त्री बालको आदि को सताया करते हैं। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

बत ददासि न मृत्युमपि स्मर । स्वलति ते कृपया न धनु करात् ।

अथ मृतोऽसि । मृतेन च मुच्यते न किल मुष्टिहरीकृतबन्धन ॥८४॥

जीवातु—बतेति । हे स्मर ! मृत्युमपि न ददासि । तेन दुःखान्तो भवेदिति भाव । अथवा कृपया ते कराद्धनुरपि न स्वलति न भ्रश्यति । पूर्वं बद्धाव । अथ मृतोऽसि । तथापि न स्वलतीत्याह—मृतेन च मृतेनापि, उरीकृतबन्धन अङ्गीकृतबन्धनः दृढबद्ध इत्यर्थं । 'उपङ्गप् युररीन्यश्च करोति कुरुते पर' इति भट्टमल्ल । मुष्टिनं मुच्यते खलु । बतेति खेदे । तत कृतातादपि शूरोऽस्तीति भाव ॥ ८४ ॥

अन्वय—स्मर, बत मृत्युम् अपि न ददासि, कृपया ते करात्, धनु अपि न स्वलति, अथ मृत असि, मृतेन च उरीकृतबन्धन मुष्टि न मुच्यते किल ।

हिन्दी—रे काम, खेद है कि तू मौत भी नहीं देता अथवा दया (या ते + अकृपया—दयाहीनता) से तेरे हाथ से धनुष भी नहीं गिर जाता, अथवा तू मर गया है, मरा हुआ ही बाँधकर मुठ्ठी नहीं खोल पाता ।

टिप्पणी—काम दमयन्ती को जो मार नहीं डाल रहा है, उसका कारण है उसका स्वयं मर जाना, तभी तो वह निश्चेष्ट पडा है, न धनुष उसक हाथ से गिर रहा है, न बाँधी मुठ्ठी ही खुल पा रही है । य मृतक के लक्षण हैं । अथवा महाकृपाण है काम, वह किसी को क्या देगा ? देने के लिए । उसकी मुठ्ठी खुलती ही नहीं, धनुष तक तो उसके हाथ से फिसलता नहीं कि कहीं कोई ले न ले । वह मौत भी माँगने पर नहीं देगा । काम धम मे भी अधिक बुर है, वह मौत ही दे देता है । उत्प्रेक्षा ॥ ८४ ॥

दृग्वहृदयमृत्युविरूपता शमयने परनिर्जरसेविता ।

अतिशयान्धवपु क्षतिपाण्डुना स्मर ! भवन्ति भवन्तमुपासिन ॥८५॥

जीवातु—इगिति । हे स्मर ! परनिर्जरनेविता त्वत्तोऽन्वदेवनासेवको जन तृच् । दृष्टो रूप हति. आध्यम्, अनमृत्युरकालमरण, विरूपता अङ्गवै-
वर्ष्यञ्च, शमयते निवतयति । 'गिचश्च' इत्यात्मनेपदम् । मित्वाद्घ्रस्वत्वम् ।
भवन्तमुपासितु त्वत्नेविभो जनस्य तु । ताच्छींये तृन् । 'न लोक'—इत्यादिना
पृष्ठीप्रतिषेध । अतिशयेनान्ध्य दृष्ट्युपघात, वपु क्षति' क्षरीरविपत्ति पाण्डुता
वैवर्ष्यञ्च, ता भवन्तीति देवतान्तरभक्तस्य उक्तदोषशान्ति फल, त्वद्भक्तस्य
तदुद्रेक इत्यहो भवन्वात्सल्य कामदेवस्येत्युपहास । अनानर्थोन्पत्तिलक्षणो
विषमालङ्कारभेद ॥ ८५ ॥

अन्वय —स्मर, परनिर्जरनेविता श्नुपहत्यपमृत्युविरूपता शमयते,
भवन्तम् उपासितु जतिशयान्ध्यवपु क्षतिपाण्डुता भवान्त ।

हिन्दो—अरे काम, अन्यदेवो की सेवा करने वाला दृष्टि-नाश (अघत्व),
अकालमृत्यु और विरूपता (कुष्ठ, अपगता आदि) का शमन करता है, परतु
आपकी उपासना करने वाले को अतिशय रूप से अघता, दृष्टक्षय, पीलिया
(पाङ्कुरोग) होते हैं ।

टिप्पणी—काम देवता तो है पर ऐसा है कि उसके उपासकों को अनेक
रोग हो जाने हैं जब कि अन्य सूर्यादिक देवो के उपासकों के रोगों का उपशम
होता है । धन्य है काम की भक्तवत्सलता ! भाव यह कि देव होने पर काम
प्रशस्तनीय नहीं उपहान योग्य है । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में
अनर्थोन्पत्तिरूप विषमालङ्कार भेद है विद्यावर ने व्यतिरेकालङ्कार का निर्देश
किया है ॥ ८५ ॥

स्मर ! नृशमनमस्त्वमतो विधिं सुमनसः कृतवान् भवदायुधम् ।

यदि धनुं दृष्टमागुगमायन तव सूजेत् प्रलय त्रिजगद् ब्रजेत् ॥ ८६ ॥

जीवानु—स्मरेति । स्मर ! नूनं शमति हिनस्तीति नृशमो घातुक, 'शम'
हिंसायाम्' इति घातो पचाद्यच् । त्वमतिनृशमतम अतो (हेतो) विधि
स्रष्टा, सुमनस पुष्पाणि भवत आयुश्च कृतवान् । तव दृष्ट धनुःशयतमयोमयम्
आगुग शरञ्च सूजेदिति । त्रयाणा जगता समाहारत्रिजगत् (कर्तुं), प्रलय
विनाश ब्रजेत् । तव पापिष्ठता श्प्ट्वा विदुषा परमेष्ठिना सम्मगनुष्ठितमिति
भाव ॥ ८६ ॥

अन्वय—स्मर, त्व नृशसतम अत विधि सुमनस भवदामुष कृतवाद्, यदि तव घनु दृढम् आशुग च आयस सृजेत् त्रिजगत् प्रलय व्रजेत् ।

हिन्दी—रे काम, तू अत्यन्त क्रूर है, इसलिए विधाता ने फूलों के तेरे अस्त्र बनाये, यदि तेरा घनुष् कठिन और बाण लोहे का बनाता (अथवा 'घनु' आशुग दृढम् आयस च सृजेत्'—घनुराण कठिन और लाहे का बनाता) तो त्रिलोकी में प्रलय हो जाता ।

टिप्पणी—भाव यह है कि काम इतना क्रूर और दुमंता है कि यदि विधाता फूलों के कोमल घनुर्बाण के स्थान में उसके आमुष दृढ लोहे के बना देता तो वह विश्वमर में प्रलय कर डालता, इतनी मारकता तो पुष्पामुष होने पर ही है । विद्याधर के अनुसार हेतु अलकार ॥ ८६ ॥

स्मररिपोरिव रोपशिखी पुरा दहतु ते जगतामपि मा त्रयम् ।

इति विधिस्त्वदिपून् कुसुमानि किं मधुभिरन्तरसिञ्चदनिर्वृत ॥ ८७ ॥

जीवातु—स्मरेति । स्मररिपोस्त्वदरेर्हरस्य रोपशिखी बाणाग्नि 'पत्री रोप इपुद्भयो' इत्यमर । पुरा त्रयामिव ते तव रोपशिखी जगता त्रय मा दहत्विति मत्वेति शेष । गम्यमानार्थत्वादप्रयोग । विधि स्रष्टा, अनिर्वृतस्त्वा कुसुमेषु कृत्वाप्यपरितुष्ट सन्, त्वदिपून् कुसुमानि मधुभिर्मकरन्दै, अन्तर-सिञ्चत् अग्निशान्त्यर्थमौषत् किमित्युत्प्रेक्षा । अथवा पापिष्ठस्य ते को वारयितेति भाव ॥ ८७ ॥

अन्वय—स्मररिपो रोपशिखी पुराम् इव ते जगता त्रयम् अपि मा दहतु—इति अनिर्वृत विधि त्वदिपून् कुसुमानि मधुभि किम् अन्त असिञ्चत् ?

हिन्दी—कामधनु (शिव त्रिपुरारि) के बाणाग्नि ने जैसे त्रिपुरदाह किया था, वैसे ही तेरे बाणा की आग त्रिलोकी को न जला डाले—यह विचार कर रचित विधाता ने तेरे बाणों को फूलों के मधु से अन्त सिक्त नहीं किया था ?

टिप्पणी—शिव त्रिपुरारि हैं, उन्होंने त्रिपुरदाह किया । लगता है कि काम भी मुर नहीं अपुर है । अमुररिपु शिव का धनु होने से वह त्रिपुरागमुर का मित्र हुआ । शिव त्रिलोकीनाथ कहाते हैं । कदाचित् मित्रवध का बदला लेने के लिए काम त्रिलोकी को जला डालता, यह विचार कर विधाता ने

पूगे के मधु से काम-भागो को जीव दिया कि शिव आद्र होने के कारण उनमें दाहकता न आसके । मन्त्रिनाय के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उपमा-उत्प्रेक्षा । चन्द्रप्रभाकार के अनुसार परस्परानपेक्षी उत्पना रूपक की सृष्टि ॥ ८७ ॥

विधिरनङ्गमभेद्यमवेक्ष्य ते जनमनः स्रष्टु लक्ष्यमकल्पयत् ।

अपि स वञ्चमदात्म्येन चेत्तदा त्वदिपुमिर्भ्यदल्पिदसादपि ॥ ८८ ॥

जीवानु—विधिरित । विधिर्ब्रह्मा अनङ्गमनवयवम् । 'अङ् प्रतीकोऽवयव' इत्यमरः । अत्र एवाभेद्यमवेक्ष्य, निरवयवद्वयन्त्वादविनास्य निश्चित्य, जनमनः, ते तव, लक्ष्यमकल्पयदित्युत्प्रेक्षा । सावयवदक्ष्यदानपक्षे स विधि-वञ्चमदात्म्यत् चेद्दद्याद्यदि, तदा त्वदिपुमिर्सा वञ्चोऽपि व्यदल्पिद्विधीर्षो भवेत् । अतो मुक्तकारी स्रष्टेति भावः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—विधि अनङ्गम् अभेद्यम् अवेक्ष्य जनमनः ते लक्ष्यम् अकल्पयत् स्रष्टु, स वञ्चम् अदात्म्येन चेत् तदा त्वदिपुमिर्भा असौ अपि व्यदल्पिदत् ।

हिन्दी—विधाता ने (अगुर्निर्माण हान के कारण) जाहीन—निरवयव, (अत्र) अकल्पेद्य (तोड़े न जाने योग्य) देखकर जन-मन का तग लक्ष्य (निधाना) बनाया, यदि वञ्च को (नी लक्ष्य) बनाता तो तेरे बाणों में वह भी चूर्ण हो जाता ।

टिप्पणी—काम इतना कठोर और हिंस्र है कि वञ्च को नी लक्ष्य पाने पर भेद डालता, विधाता ने जान-बूझ कर, विचार कर उसे ऐसा लक्ष्य दिया, जो अगहीन है—अगुर्निर्माण जन-मन, वह टूट ही नहीं सकता । काम से बड़ा हिंस्रिय कोई नहीं । विद्याधर के अनुसार विरोधात्मककार ॥ ८८ ॥

अपि विधिः कुमुमानि तवागुगान् स्मर । विधाय न निर्वृतिमाप्तवान् ।

अशित पञ्च हि नै स नियम्य ताम् तदपि तं वनं जज्ञरिन् जन्त् ॥ ८९ ॥

जीवानु—अपीति । हे स्मर । विधि कुमुमान्देव तवागुगतन्विधापारि, निर्वृति कृतकृत्योऽस्मीति परितोष नाप्तवानित्युत्प्रेक्षा । कुतः, हि दस्माद् सोऽनिर्वृतो विधिस्तात् कुमुनान्वागुगतारि, नियम्य इत्यन्त एवेति नियम कृत्वा । ते तव, पञ्चैवाशित दत्तवान् तदपि तपानि तं पञ्चमिरेव जन्त्

जजरित जजरीकृतम् । बतेति मेदे । विश्वनियन्ताप्येव विकल्पतन , कोऽन्योऽ-
स्ति नियन्तेति भाव ॥ ८९ ॥

अन्वय —स्मर, विधि बुभुमानि तव आशुगान् विधाय अपि निवृतिं न
आसवान्, हि स तान् नियम्य पञ्च एव ते अदित, बत, तदपि तै जगत्
जजरितम् ।

हिन्दी—काम, विधाता फूलों को ही तेरे बाण बनाकर नहीं रह गया,
उसने उन (बाणों) का नियमन करके तुझे पाँच ही दिये । पर हाय, तब
नो उन (पाँच बाणों) से (ही) ससार को जजर कर डाला ।

टिप्पणी—काम की हिस्रवृत्ति का एक ओर प्रमाण कि पाँच बाणों से
ही जग को व्याकुल कर दिया । विधाता जैसे नियत्रक को भी इच्छित सफलता
न मिली । विद्याधर के अनुसार विरोध ॥ ८९ ॥

उपहरन्ति न कस्य सुपर्वण सुमनस कति पञ्च सुरद्रुमा ? ।

तव तु हीनतया पृथगेकिका विगियतापि न तेऽङ्गविदारणम् ॥९०॥

जीवातु—उपहरतीति । स्मर । पञ्च सुरद्रुमा मन्दारादय कस्य
सुपर्वण कति सुमनस कियन्ति बुभुमानि, नोपहरति नोपायनीबुवन्ति ?
सर्वस्याप्यमितमुपहरतीत्यर्थ । 'उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा' इत्यमर ।
तव तु हीनतया नीचतया पृथक् प्रत्येकमेकिकामेकाकिनीमेकैका सुमतोव्यक्ति-
मुपहरतीत्यर्थ । अत एव पञ्चबाणत्व तवेति भाव । 'एकादाकिनिष्वासहाये'
इति तत्कारात् कन्प्रत्यये पूर्वस्येकार । इयता एतावदवमाननापि ते तवाङ्ग-
विदारण शरीरविपत्तिर्नास्ति । धिक् । अवमतस्य जीवना मरणमेव वरमिति
भाव ॥ ९० ॥

अन्वय—पञ्च सुरद्रुमा कस्य सुपर्वण कति सुमनस न उपहरति तव तु
हीनतया पृथक् एकिकाम्, इयता अति ते अङ्गविदारणम् न । धिक् !

हिन्दी—पाँच देवदूत किस देव को कितने फूल उपहार में नहीं देते ?
(अगणित फूल प्रत्येक देव को देते हैं) किन्तु तेरे हीन होने के कारण तुझे
एक ही एक ही फूल देना है, इतने पर भी तेरे अग विदीर्ण नहीं होत ?
धिक्कार है ।

टिप्पणी—काम के पाँच पुत्र जाग हैं, जो एक एक देवतह से एक एक के क्रम से उठे प्राप्त हुए हैं। इनो आभार पर काम की नीचता प्रमाणित की गयी है। पञ्च देवतह हैं—मन्दार, पारिजात, सुतानु, कल्पवृक्ष और हरिचन्दन—‘पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातक । मन्तानु कल्पवृक्षश्च पुषि वा हरिचन्दन ॥ अमरकोष । विद्याधर के अनुसार हेतु अलकार ॥ ९० ॥

कुमुदमप्यतिदुर्नयकारि ते क्रिम वित्तीयं धनुर्विधिरग्रहीत् ।

किमकृतं यदेकतदास्पदे द्वयमभूदनुनापि नलभ्रुवो ॥ ९१ ॥

जीवातु—कुमुदमिति । विधिः कुमुदमपि दुर्नयनीत्यर्थः । अतिदुर्नयकारि अनयकारक धनुस्ते तव वित्तीयं दत्त्वा, अग्रहीत् किमु पुनर्जहार किमित्युत्प्रेक्षा । पापीयसे दत्त हस्तश्चमेवेति भावः । कित्वेष विधिः, किमकृतम् अकार्यमेव कृतवानित्यर्थः । कुत, यद्यस्मादेकस्य तस्य धनुष आस्पदे स्थाने, अधुना नलभ्रुवोर्द्वयमभूदिति । तेनैव धनुषा नलभ्रुवो द्वे निमित्तवता तेन कटकमुद्धृत्य यन्वमारोपित यदेकासहिष्णोर्द्वयमसह्य सम्यादितमिति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—विधिः कुमुदम् अपि अतिदुर्नयकारि धनुं तं वित्तीयं अग्रहीत् किमु, किन्तु एष किम् अकृत, यत् एकतदास्पदे जगुना नलभ्रुवो द्वयम् अभूत् ।

हिन्दो—विधाता ने फूल छोड़े हुए भी उत्पन्न दुर्नीति कारण धनुष सुते देकर क्या बापस ले लिया, किन्तु उसने यह क्या किया कि एक उसके स्थान में अब नल की मौहों के रूप में दा हो गये ?

टिप्पणी—काम को विधाता ने फूल का धनुष दिया किन्तु उससे नीचे वह काम उत्पन्न दुष्टता करने लगा तो उससे बापस ले लिया । पर यह अब दो गुनी भूल कर दो कि उस एक धनुष से नल की दो मौहें बना दी । इससे अब काम को दो धनुष मिल गये, अन्याय दो गुना हो गया । जात का उन्कार तो न हुआ, दा गुना अन्कार हो गया । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति अलकार ॥ ९१ ॥

पङ्कजं कृपा स्वकमेकञ्च कुमुदमक्रमनन्दितनन्दना ।

ददति पद्मं भवनं कुहनं भवान् धनुरिवैकमिपूनित्र पञ्च तैः ॥ ९२ ॥

जीवातु—पडिति । अक्रमेण योगपद्येन, नन्दितनन्दना प्रकाशितसुरो-
घाना, युगपन्निककुसुमदानसमर्था इत्यर्थः-। पडृतवा वसन्तादय, कृपया, न तु
प्रीत्येति भाव । स्वक स्वसम्बन्धिनम् (चि) एककमेकैकमेव असहाय
कप्रत्यय । कुसुम ददाना इति शेष । तथा चोत्तरीत्या, प्रत्येकमेकैकदाना-
न्मिलित्वा, पद्, भवते तुम्य ददाति । तं पद्भि कुसुमैरेक घनुरिव, एकेनेति
शेष । पञ्चेपूनिव, पञ्चभिरिति शेष । भवान् कुहते । अहो ! अवमानेऽपि
निलज्जस्य ते परहिमाव्यसनमिति भाव ॥ ९२ ॥

अन्वय —अक्रमतन्दितनन्दना पद् ऋतव कृपया स्वकम् एकक कुसुम
भवते ददति, तं एक घनु इव पञ्च इपून् इव भवान् कुहते ।

हिन्दो—क्रम का उल्लघन करके इन्द्र के नन्दन उपवन को नन्दित
(विकसित) करनेवाली छ. ऋतुएँ कृपा करके अपना एक-एक फूल तुम्हें
देती हैं, उनमें एक को तुम घनुप् के तुल्य और पाँच को बाणो के तुल्य कर
लेंगे हो ।

टिप्पणी—ससार में वसन्त आदि ऋतुएँ क्रम से आती हैं, पर नन्दन
कानन में उनका कोई क्रम नहीं, वे एक साथ उसे विकसित कर देती हैं ।
उन छ ऋतुओं में भी कृपा करके—प्रीति से नहीं—केवल एक-एक फूल काम
को दिया, जिससे बेचारे ने एक घनुप् और पाँच बाण बना लिये । और करता भी
क्या वह महादरिद्र ? काम का कोई स्नेह देता ही नहीं, दरिद्र जानकर
योही-सी भाँख दे दी जाती है । फिर भी वह स्वभावत इतना हिंसाप्रिय है
कि उन फूलों का उपयोग यह किया कि आपुष बना लिये । विद्याधर क
अनुसार उपमा ॥ ९२ ॥

यदतनुस्त्वमिद जगते हित क स मुनिस्तव य सहते क्षती ।

विशिलमाश्रवण परिपूर्ण चेदविचलद्भुजमुज्झितुमीशिपे ॥ ९३ ॥

जीवातु—यदिति । हे मार ! त्वमतनुरक्षरीरीति यत्तदिदमतनुत्व जगते
हित 'हितयोगे च' इति चतुर्थो वक्ष्यत्या । तथा हि, विशिल बाणमविचल-
द्भुजमकम्पहस्त यथा तथा आश्रवण परिपूर्णाङ्गमाकृष्य उज्झितु भोक्तुमीशिपे
शक्नोति चेद्यस्तव क्षती प्रहारान् सहते, स मुनि वष, न श्वापीत्यर्थ ।

अनङ्गत्वेऽप्येव जादोऽहिमस्तव धानुष्कान्तरवत् कायध्यापार जगति जितेन्द्रिय-
कर्यवास्तमियादित्यनङ्गत्वमेव जगद्वितमित्यय ॥ ९३ ॥

अन्वयः—यत् त्वम् अतनु इदं जाते हितम्, विशिष्टम् अविचलद् भुवम्
आश्रयणं परिपूर्णं उज्जितुम् ईशियं चैव यं तव क्षतो सहते स मुनि क्व ?

हिन्दी—काम, जो तुम अशरीरी है, यह जगत् के कल्याण में है, (शरीरी होने पर) बाण को अकपित बाहु कान तक खींचकर जो तुम छोड़ने की इच्छा करते तो जो तुम्हारे आघात सहता, वह मुनि कहीं मिलता ?

टिप्पणी—अच्छा हुआ कि काम को महादेव ने भस्म कर अतनु बना दिया, शरीरधारी होने पर उसके प्रहार सह सकनेवाला कोई मुनि भी नहीं मिलता । विद्याधर के अनुसार वाङ्मयिग अलंकार ॥ ९३ ॥

सह तथा स्मर । भस्म क्षटित्यभू पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रही ।

ध्रुवमभूदधुना वितनोः शरस्त्व पिक्स्वर एव स पञ्चम ॥ ९४ ॥

जीवानु—ग्रहेति । हे स्मर । पशुपतिं प्रति यामिषुमग्रहीस्तथा सह क्षटिति सहसा भस्नाम् । अधुना वितनोरनङ्गस्य तव पिक्स्वरं कोकिलालाप एव, स दस्य पञ्चम, पञ्चसङ्ख्यापूरणं शरोऽभूत् । ध्रुवम् । अत एव, पिक्स्विति पञ्चममित्यादौ पिक्स्वरं पञ्चमसंज्ञाप्रवृत्तिरप्येति भावः । 'पञ्चमो रागभेदे स्यात् पञ्चानामपि पूरणं' इति विश्वः । शरकार्यकारित्वात् पिक्स्वरस्य शरत्वोत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

अन्वय — स्मर, पशुपतिं प्रति याम् इषुम् अग्रही तथा मह क्षटितिं भस्म अभू, अधुना वितनो तव ध्रुव पिक्स्वर एव स पञ्चम अभूत् ।

हिन्दी—कामदेव, पशुपतिं शिव को लक्ष्य बना जो बाण तुमने प्रहारा किया, उसके साथ तुरत भस्म हो गये, अब अगहीन तेरा निदबपत काकि-स्वर ही पंच बाण बन गया ।

टिप्पणी—काम तो भस्म हो अतनु हो गया, पर साथ भस्म हुए बाण अतनु न रहे, कोकिल-स्वर एक साथ पंच बाण का काम करने लगा । भद्रप के 'वृहद्देशी' और 'नारदीय सिद्धा' में बताया गया है—'कोकिल पञ्चमो वदेत् ।' कोकिल पंचम स्वर में बोलता है । यह मत्स्वर विषयक मायता है,

इसी को आधार बनाकर शब्दच्छल से इस श्लोक में कोबिल स्वर के पञ्च-
बाणत्व की कल्पना की गयी है। विरहीजनों का उद्दीपन होन से इस पर
बाणस्वारोप किया गया है। उत्प्रेक्षा ॥ ९४ ॥

स्मर । सम दुरर्तैरफलीकृतो भगवतोऽपि भवद्दहनश्रम ।

मुरहिताय हुतात्मतनु पुनर्ननु जनुदिवि तत्क्षणमापिथ ॥ ९५ ॥

जीवातु—स्मरेति । हे स्मर ! भगवतो हरस्यापि, दुरितै सम भवत्पापै
सह भगवद्दृष्टिपातस्य पापहरत्वादिति भाव । भवद्दहनश्रमोऽफलीकृतो निष्फली
कृत, मुरहिताय हुतात्मतनुर्हंरकोपानले त्यक्तस्वदेह मनु, तत्क्षण तस्मिन्नेव
क्षणे अत्यन्तमयोगे द्वितीया । दिवि शूलोके, पुनर्जनु पुनरुत्पत्तिमापिथ ननु
प्राप्नोपि खतु । मुरप्राथितात्तस्मादेवेति शेष । तच्चास्मत्पापफलमिति
भाव ॥ ९५ ॥

अन्वय—स्मर, भगवतः अवि भवद्दहनश्रम दुरितै समम् अफलीकृतः
ननु मुरहिताय हुतात्मतनु तत्क्षण दिवि पुन जनु आपिथ ।

हिन्दी—हे काम, भगवान् शकर का भी तुम्हे जला देने का श्रम पापा
के साथ साथ निष्फल हो गया, क्योंकि देवताओं के हित के लिए अपने देह
को आहुत कर देने वाले तुमने तत्क्षण स्वर्ग में पुन जन्म पा लिया ।

टिप्पणी—काम पर उसे भस्म कर देने वाली शकर की दृष्टि जत्र पड़ी
तो उसके शरीर के साथ साथ शिव दृष्टि पड़ने से उसके पाप भी अफल निष्फल
और गष्ट हो गये । वह भस्म तो हुआ परन्तु पुन स्वर्ग में जन्म पाकर उमने
अपना भस्म होना भी निष्फल कर दिया । देवताओं के हितार्थ तारकासुर
को मारने के लिए शिव सुन की आवश्यकता थी, किन्तु सती के आत्मदाह के
पश्चात् शिव उदासीन हो गये थे । वे पुन उमा से विज्ञात करें, शिव पुत्र का
जन्म हो, तारकासुर मारा जाए और देवताओं की शांति मिले । हम कार्य-
मिद्धि के लिए शिव समाधिभग में यत्नशील काम शिवकोपजमा बह्नि में जल
कर भस्मावरोप हो गया—'श्राप प्रभो महर सहरेति यावद् गिरा खे मरुत-
श्चरति । तारस्त बह्निमवनप्रजया भग्मावरोपे मदन चकार ।'—कालिदास
(कुमारसम्भव) । इस देवताय में काम भस्म हुआ । सभवतः द्रुमी पुण्य में

वह स्वर्ग में पुन जन्म वा पुन वियोगिजनों को पीड़ित करते लगा । 'प्रकार' टीका में 'स्मर म मदुरितैरफलीकृतो के म्यान में 'स्मर म मदुरितैरफलीकृतो' पाठ है । इस स्थिति में अर्थ होगा— यद्दुरितं नम पातनं' अर्थात् दमपती के पापों के कारण ही सिद्धद्वारा नम्मोन्मन हान पुनर्जन्म वा गया उचने देवकार्य का पुण्य जो किया था । विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अतिशयोक्ति बलकार है ॥ ९५ ॥

विरहितो विमूढस्य विपूढो शमनदिक्रवण न न दक्षिण ।

मुमनसो नमयन्नटना धनुस्तत्र तु बाहुरसो यदि दक्षिणः ॥ ९६ ॥

जीवानु—विरहित इति । हे शूर ! त्वामो बाहृयदि विषूढये चन्द्रोदये सहायलाभे सतीत्यर्थं मुमनसः पुण्य नाम धनु, जटती कोटी । 'कोटिरम्याट-निर्गोत्रा' इत्यमरः । नमयन् दक्षिणो विरहितेन प्रहारदक्ष म्यात्, प्रहर्तुं प्रवृत्त-इच्छेदित्यर्थः । 'सव्येतरश्च' इति ध्वनि । तथा विमूढस्य विद्वन्मुक्तस्य चन्द्रोदयपराङ्मुखस्य विरहितो वियोगिजनस्य न दक्षिणत्वेन प्रसिद्धः शमन-दिक्रवणो वास्यदिक्रवणः, दक्षिणो वासिन्भवान् सव्येतरश्च न । किन्तु सोऽपि स्वग्नहकारिन्वानिदंयप्रहर्तव्येत्यर्थः । अत्र सर्वानर्थमूक्त्वात् स्वमेव पापिपूङ्ग्व्यर्थः । प्रपङ्गुवस्य दक्षिणाऽपि वान इति ध्वनि । शमनदिक्रवणोऽपि न दक्षिण इति स्फुरत्, द्विरोधानासाऽङ्कार ॥ ९६ ॥

अन्वय — विपूढस्य मुमनस धनु, जटयन् तव असौ बाहुः, यदि दक्षिण, विनुस्य विरहितः स शमनदिक्रवण दक्षिणः न ।

हिन्दी—चन्द्रोदये होने पर फूलों को आगे झुकाने में तुम्हारा (काम का) यह बाहु यदि 'दक्षिण' (दक्ष) है तो 'विमुख' अर्थात् चन्द्रोदय की दिशा पूर्व से पराङ्मुख अर्थात् परिवर्तितानिमुख वियोगियों के लिए वह शमनकार की दिशा (दक्षिणदिशा) का पवन (मल्लानिल) 'दक्षिण' (दाहिना) नहीं होगा, अपवा 'दक्षिण' (अनुकूल) न होगा ।

टिप्पणी—वियोगियों के लिए चन्द्रोदय, काम और मल्लानिल—तीनों (अनुकूल नहीं होते,) अदक्षिण (प्रतिकूल) शत्रु हैं । इन तीनों का दु सहन प्रतिनाशन करना कवि का उद्देश्य है । चन्द्रोदय क्षण पर, काम अपनी मुखा से

प्रहारायं घनुष्कोटि आगे को, झुका लेता है, मलयपवन आश्लित होने लगता है, तोनो ही प्रतिकूल बन कष्ट देने लगते हैं। पूर्व में चन्द्रोदय होने पर विरही पश्चिम की ओर मुंह करके खड़े हो जाते हैं कि चन्द्र दर्शन न हो। उस स्थिति में मलयपवन की उद्भव दिशा उनके 'दक्षिण' (दाहिने) नहीं रह जाती, बायें पड़ जाती है, अतः 'समनेदिवपवन दक्षिण न'। इस प्रकार काम-प्रहाराय भले ही अपनी भुजा को 'दक्षिण' (दक्ष) रखे रहे, चन्द्रोदय भी 'वाम' (विमुख प्रतिकूल) है, 'दक्षिण' दिशा भी 'वाम' (बायें) पड़ जाती है—मलयानिल भी 'वाम' (बायी ओर से यह आनेवाला—अतः प्रतिकूल) है। काम की 'दक्षिणता'—दाक्षिण्य तो 'वाम' है ही। मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास अलंकार—मलयपवन 'दक्षिण' (दक्षिणदिशोद्भव) नहीं, वाम (बायें हाथ की ओर से बहनेवाला—प्रतिकूल) है प्रकाशकार ने काकु की सहायता से एक अन्य अर्थ निकाला है—जैसे फूलों की घनुष्कोटि को झुकाता काम का बाँहू दक्षिण है, वैसे ही अपने समुष्प आ पड़ते फूलों की कोटि को झुकाकर मारक धम की दिशा का पवन क्या दक्षिण नहीं है? है। भाव यहो है कि दोनों ही ठु सह हैं—चन्द्रोदय के समय काम अपनी घनुष्कोटि को झुकाता और मलयानिल फूलों की डालों को झुकाता अकञ्जोरता। विद्याधर ने यहाँ भी अतिशयोक्ति ही मानी है ॥ ९६ ॥

किमु भवन्तमुमापातिरेकक मदमुदान्धमयोगिजनान्तकम् ।

यदजयत्तन एव न गीयते स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित् ॥ ९७ ॥

जीवातु—किम्विति । हे मदन ! उमापति मदश्च मुच्च द्व द्वैक्वद्भाव ।

तेन मदमुदाम्या मदानन्दाभ्याम् अन्धयति व्यामोहयति कामिजनमित्यन्धम् अन्धकम् । 'अन्धदष्टप्रतीघाते' इति घातोश्चौरादिकात् षचाद्यच् । अयोगिजनान्तक वियोगिजनमृत्युम्, एककमेकाकिन, भवतमेव अजयदिति । तत एव स भगवान् उमापति । मदनान्धकमृत्युजित् मदनजिदन्धकजिन्मृत्युजिदिति गीयते किमु गीयत एवेत्यथ । मदनवदन्धकमृत्यु अपि त्वत्तोऽप्यौ न स्त इति भाव । अत्र मदनादीनां मिथो भेदेऽप्यभेदोवतेरतिशयोक्ति ॥ ९७ ॥

अन्वय — उमापति मदमुदान्धम् अयोगिजनान्तकम् एकक भवन्तम् एव यत् अजयत्, किमु तद्य एव स भगवान् मदनान्धकमृत्युजित् न गीयते ?

हिन्दी—उमा (पावती) के स्वामी (शिव) गवँ और प्रसन्नता से अर्घे हुए, वियोगिजनों के अतक (यनगन) अकेले तुम्ह ही जो जीता क्या उधी में वे मगवान् (शिव) मदन, अथक और मृत्यु के जयी नहीं प्रसिद्ध हैं ? अपितु है ही ।

टिप्पणी—काम 'मद' उत्पन्न करता है, अत वह 'मदन' है—मदयतीति मदन । काम में व्यक्ति अघा हो जाता है—विवेकहीन, जत काम अथक भी है—अन्धीकरोति इति अथक । काम वियोगियों को मृत्युसम कष्ट देता है, अत वह अतक भी है—अन करोति इति अन्तक । प्रतीत होता है कि शिव ने न तो अथकामुर को मारा और न मृत्यु को ही जीता, एक काम को भस्म कर जयी हुए । एक ही काम के ये तीन नाम हैं—मदन, अथक, अतक (मृत्यु) । इस प्रकार एक कामजित् उमापति के तीन विरुद्ध पद गये—मदनजित्, अथकजित् और मृत्युजय । भाव यह है कि काम ही तीन-तीन नाम धार कर कष्ट देता है । अथवा काम अथक और अन्तक दोनों से अधिक कष्ट देता है । कष्ट देने की क्षमता में उसने अथक और अतक को भी जीत लिया है, इस प्रकार अथक-अतक-जित् काम के जयी शिव मदनजित् होने में ही अन्धकजित् और अन्तकजित् भी प्रसिद्ध हो गये । मन्त्रिनाथ के अनुसार भेद होने पर भी अभेद कथन होने से इस दृष्टिक में अतिशयोक्ति है, विशाखर के अनुसार सापह्नवोत्प्रेसालकार है ॥ ९७ ॥

त्वमिव कोऽपि परापहृती कृती न ददृशे न च मन्मथ । शुश्रुवे ।

म्वमदहृद्दह्नाज्ज्वलनात्मना ज्वलयितुं परिरम्य जगन्ति य ॥९८॥

जीवानु—त्वमिति । हे मन्मथ ! त्वमिव परापहृती परापकारे कृती कुशल कोऽपि न ददृशे न दृष्ट, न शुश्रुवे न च धृत, य अपकर्ता दहनादग्नि-मयोगात्, ज्वलता प्रज्वलता आत्मना स्वाङ्गेन जगति परिरम्यदिलिप्य ज्वलयितुं दग्धु, स्वमात्मानमदहत् परिरम्य परमाश्रुपणाय स्वगात्रे पद्भुलेपवत्, परदाह्व्यसनादेवात्मदाहाङ्गीकारस्तवेत्यहो दुर्व्यमनमिति भाव ॥ ९८ ॥

अन्वय—मन्मथ, त्वम् इव परापहृती कृती क अपि न ददृशे न च शुश्रुवे य दहनात् ज्वलता आत्मना जगन्ति परिरम्य ज्वलयितुं स्वम् अदहत् ।

हिन्दी—हे मन्मथ (मनोमग्नकारी वाम), तेर जैसा पर अपनार मे प्रवीण न कोई देखा और न सुना, जिसन कि अग्नि से जलते स्वदेह से लोको का आलिंगन करके जला डालन के लिए स्वयम् को जला डाला ।

टिप्पणी—भृहृहरि के अनुसार 'ते के न जानीमहे'—कोटिवाला व्यक्ति जो स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों को कष्ट देता है । ऐसा है यह परपोडक मन्मथ । ऐसा देखने मे तो नहीं ही आता, सुनायी भी कम ही पडता है । विद्याधर के अनुसार उपमा और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९८ ॥

त्वमुचित नयनार्चिपि शम्भुना भुवनशान्तिकहोमहवि कृत ।

तव वयस्यमपास्य मधु मधु हतवता हरिणा वत कि कृतम् ? ॥ ९९ ॥

जीवातु—त्वमिति । हे वीर ! शम्भुना नयनार्चिपि नेत्राग्निशिखाया त्व भुवनानां शान्तिके शान्तिप्रयोजके । 'प्रयोजनम्' इति ठक् । होमहविराहुति उचित वध्यस्य वधादिति भाव । तव वयस्य सखाय, मधु वसन्तम् अपास्यो-पेक्ष्य मधु मध्वाग्न्य, वयस्य हतवता हरिणा कि कृतम् ? वतेति खेदे । वध्यव-धादर साधुकारी । हरिस्तदुपक्षणादसाधुकारीत्यथ । समित्र स्मरो वध्य इति भाव ॥ ९९ ॥

अन्वय — त्वम् शम्भुना नयनार्चिपि उचित भुवनशान्तिकहोमहवि कृत , वत तव वयस्य मधुम् अपास्य मधु हतवता हरिणा कि कृतम् ?

हिन्दी—तुझे 'शम्' (कल्याण) जिससे हो, ऐसे 'शम्भु' (शिव) ने नयनज्वाला में ठीक ही त्रिभुवनशान्ति के निमित्त आयोजित होमकी हवि (आहुति) कर दिया खेद है कि तेरे मित्र मधु (वसत) को छोड़कर मधु राक्षस का वध करके हरि (विष्णु) ने क्या किया ? उचित नहीं किया ।

टिप्पणी—शम्भु—शम् भवति अनेन - ने काम को नेत्राग्नि मे भस्म कर दिया, ठीक किया । त्रिभुवन मे शान्ति होती, पर विष्णु यह क्या कर बैठे कि मधु नामक राक्षस का तो मारा, किन्तु तेरे उत्पाती मित्र, राक्षस मधु से भी अधिक पीठक मधु (वसत) को छोड़ दिया । जो प्रलयकर है, उसने ही अपना 'शम्भु (शान्तिकर्ता) रूप दिखाया और जो जगत् का पालक है—स्थितिकर्ता

उस विष्णु ने अपना अनयहारक रूप 'हृग्' (अग्निदेवी वानर) दिया दिया । कितना वेद जनक है यह समस्त व्यापार । विद्याधर के अनुसार रूपानिघण्टोक्ति अलकार ॥ ११ ॥

इति क्रियद्वयमेव भृशं प्रियाधरपिपासु तदाननमासु तत् ।

अजनि पामुलमग्निप्रियाग्ज्वलन्मदनशोषणवागहतेग्नि ॥ १०० ॥

जीवातु—इतीति । प्रियस्य नल्स्याधरमोष्ठ पिपासु पातुमिच्छु मधु पिपासुप्रमृतीना गम्यादिपाठात् समाम' इति वामन । तत् प्रसिद्धम, तस्या मम्या आननम् इतीत्य, क्रियद्वयसंब, अग्निप्रियाग्निनिष्ठुरोक्तिमि, ज्वलन वृध्यतो मदनस्य य शोषणवाण तस्य हृतं प्रहारदिवेति हेतुत्प्रेक्षा । आशु भृश, पामुल पामुमद् अजनि जानम् ॥ १०० ॥

अन्वय—प्रियाधरपिपासु तत् तदाननम् इति क्रियद्वयना एव अग्निप्रियाग्ज्वलन्मदनशोषणवाणहतेः इव आसु पामुलम् अजनि ।

हिन्दो—प्रिय (नल) के अधर का प्यासा वह उम (दमयती) का मुख इस प्रकार (उपर्युक्त) कुछ बचन कहने से ही निदायुक्त कथन से (क्रोध के कारण) जल उठे काम के 'शोषण' (नामक) वाण से जैसे आहत हो शीघ्र ही मूख गया ।

टिप्पणी— विरहव्यथिता दमयन्ती का मुख बालते-ओसते थक गया, इस पर दो कल्पनाएँ की गयीं—माना मुख प्यास से सूख गया, प्यास तब बुझे जब प्रियाधरामृत-पान हो । मानो निन्दा सुनकर वृद्ध हुए काम ने शोषण नामक वाण ने घायल कर दिया, जिससे मुख मूख गया । मल्लिनाथ के अनुसार हेतुत्प्रेक्षा और लेशोक्ति ॥ १०० ॥

प्रियसखीनिवहेन सहाय सा व्यरवयद्दिगमर्धनमस्मया ।

हृदयमर्मणि मन्मथसायकं क्षततया बहु भापितुमक्षमा ॥ १०१ ॥

जीवानु—प्रियसखीति । अथ सा दमयन्ती, मन्मथसायकं हृदयमर्मणि क्षततया गाढ प्रहृता । अत एव बहु भापितु प्रपञ्च्य वक्तुमक्षमा सती, प्रिय-सखीनिवहेन सह आत्मसखीसङ्घेन साधम्, अर्द्धरूपया समस्यया सप्रहकारिकया । 'समस्या तु समासायां' इत्यमर । 'सजाया समवनिपदे'त्यत्र सपूर्वादिस्मिन्नेर्वा

हुलक वयङ् इति क्षीरस्वामी । गिर ध्यरचयत् । पूर्वार्धं सखीजनसमस्या,
तदुत्तरत्वेनोत्तरार्धं स्वयमरचयदित्यर्थं ॥ १०१ ॥

अन्वय — अथ मन्मथमायकं हृदयममणि क्षततमा बहु भःवितुम् अक्षमा
सा प्रियमखीनिवहैन सह अर्धसमस्या गिर ध्यरचयत् ।

हिन्दी — तदनंतर मन्मथ के बाणों द्वारा हृदय के मर्म में अत्यधिक विद्ध,
अधिक बोलने में असमर्थ वह (दमयन्ती) प्यारी सखियों के साथ आधी
समस्या से युक्त (जिसके अर्धभाग को पूर्ति प्रत्युत्तर से हो) बात करने लगी ।

टिप्पणी—व्यथिता, बलाता होने से दमयन्ती को अधिक बोलना कष्ट
कर होने लगा, अतः वह इस प्रकार अपनी रहस्यवित् सखियों से बातचीत
करने लगी कि आधी बात सखियाँ कहती, आधी दमयन्ती कहती, समस्यापूर्ति
के सदृश । समस्या अर्थात् सक्षेपोक्ति, जिसमें अपूर्ण होने कारण विक्षिप्त—
विस्तृत का समास—सक्षेप हो, वह समस्या । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास,
हेतु और सहोक्ति । आगे के आठ श्लोको का पूर्वार्ध सखी-कथन है, उत्तरार्ध
दमयन्ती का प्रतिवचन ॥ १०१ ॥

अकरुणादव सूनशरादसून् सहजयाऽऽपदि धोरतयाऽऽत्मन ।

असव एव ममाद्य विरोधिनः कथमरीन् सखि ! रक्षितुमात्य माम् ॥ १०२ ॥

जीवातु—अकरुणादिति । हे भैमि ! आपदि सहजया धीग्तया धैर्येण ।

'विपदि धैर्ये'ति नीतेरिति भाव । अकरुणाग्निर्दयाद् सूनशरात् कुमुमेयो,
आत्मन स्वस्यामून् प्राणान् अव रक्ष । अचेदानीमसव एव मम विरोधिन
सत्रव । तन्मूर्त्वात् दुःख सवेदनस्येति भाव । हे सखि ! मा कथमरीन्
रक्षितुमात्य त्रवीपि ? 'सुव पञ्चानाम्' इति साधु । सम्प्रति मे प्राणरक्षण-
माक्षीविपशोषण पयोभिरिति भाव ॥ १०२ ॥

अन्वय — अकरुणात् सूनशरात् सहजया धोरतया आपदि आत्मन असूत्
अव । सखि, अथ असव एव मम विरोधिन, माम् अरीन् रक्षितु कथम् आत्य ।

हिन्दी—सखियो ने कहा—निर्दम पुष्पबाण (नाम) से स्वामाविक
धैर्यपूर्वक आपत्ति में अपने प्राणों की रक्षा करो । दमयन्ती ने प्रत्युत्तर दिया—
आज प्राण ही तो मेरे विरोधी हैं गये हैं, मुझसे वैरियों की रक्षा करने की
क्यों कहती हो ?

टिप्पणी—पूर्वाह्नं सखीवचन, उन्नराहुं दमयन्ती का उत्तर । इतनी ममांतक व्यथा है दमयन्ती की प्राण ही उसे भारी और कष्ट दायी लग रहे हैं । विद्याधर के अनुसार यहाँ में लेकर आठ वाक्यों (१०२-१०९) में इत्येव-वक्रोक्ति है । द्रष्ट के अनुसार इत्येववक्रोक्ति का रक्षण है—“वक्त्रा यदन्यथोक्त व्याचष्टे वाग्यथा तदुत्तरद । वचन यन्पदमङ्गनेया सा इत्येववक्रोक्ति ” ॥१०२॥

हितगिरि न शृणोषि किमाश्रवे । प्रसन्नमप्यव जीविनमात्मनः ।

सखि ! हिता यदि मे भवमीदृशो मदगिमिच्छसि या मम जीविनम् ॥१०३॥

जीवातु—हितगिरिमिति । जाशृणोसि वाक्यमिति आश्रवा । पचाद्यप् । हे आश्रवे ! वाक्यकारिणि ! ‘वचने स्थित आश्रव’ इत्यमर । प्रसन्न बला-दप्यात्मनो जीविन प्राणमव रक्ष । ‘एति जीवतमान’शे नर वपंगतादपि’ इति न्यायादिति भावः । हितगिरिभासवाक्य किं न शृणोषि ? । हे सखि ! या त्व मदरि मम जीवितमिच्छस्पेक्षसे । इदृशीत्य शत्रुवृद्धिमीहमानापि मे हिता भवसि यदि । न तु भवसि । अतो न शृणोमीत्यर्थः ॥ १०३ ॥

अन्वय —आश्रवे, हितगिरि किं न शृणोषि ? प्रसन्नम् अपि आत्मन जीवितम् अव । सखि, यदि या मदरि मम जीवितम् इच्छसि, ईदृशी मे हिता भवसि ?

हिन्दी—सखी बोली—हे आश्रवे (कहे को सुनने वाली), हितेच्छ के वचन क्यों नहीं सुनती ? प्रसन्न करके भी अपने जीवन की रक्षा करो । दमयन्ती ने कहा—सखि, यदि जो तू मेरे शत्रु जीवन की इच्छा करती है, ऐसी मेरी हितापिणा है ? (नहीं है) ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती ने प्राणों को अपना शत्रु कहा या उसी को रक्षने का आग्रह करने वाली सखी को उसने हितेच्छक मानना उचित नहीं माना । काकु ॥ १०३ ॥

अमृतदीधितिरेष विदभंजे । भजसि तापममुष्य किमगुनि ? ।

यदि भवन्ति मृताः सखि । चन्द्रिका दशभूतं वव तदा परितप्यते ॥१०४॥

जीवातु—अमृतदीधितिरिति । हे विदभंजे दमयन्ति । एष इति पुरावर्तिनो हस्तेन निर्देशः । अमृतदीधिति मुपागु । अमुष्य मुपाशोरगुनि, किमिति ताप

भजसि ? अत्रामृतशब्दस्यार्थान्तराश्रयेणोत्तरमाह—यदीति । हे सखि ! शशमृत-
 श्रद्धिका मृता भवन्ति यदि, तदा क्व परितप्यते ? न क्वापीत्यर्थं । अस्या
 मृतदीधितित्वादेवेदं दुःखं, मृतदीधितिश्चेत् सर्वारिष्टान्ति स्यादिति भावः ।
 अत्र अमृतेति सुधाविवक्षया प्रत्युक्तस्य मृतेतराद्यन्वेन योजनाद्वक्तोक्तिरलङ्कारः ।
 'अन्ययोक्तस्य वाक्यस्य काक्त्रा श्लेषेण वा भवेत् । अथवा योजनं यत्र सा
 वक्तोक्तिर्निगद्यते ॥' इति ॥ १०४ ॥

अन्वय—विदमंजे, एष अमृतदीधितिः, किम् अमुष्य अशुमि ताप
 भजसि ? सखि, यदि शशमृत श्रद्धिका मृता भवन्ति तदा क्व परितप्यते ?

हिन्दी—सखी ने कहा—हे विदमंसुते, यह (चन्द्र) अमृत किरण है,
 क्या इसकी किरणों से सताप होता है ? दमयन्ती ने उत्तर दिया—सखी,
 यदि शश (कलक) धारी (चन्द्र) की किरणों 'मृत' (नष्ट) हो जाती
 तो किससे सताप मिलता ?

टिप्पणी - दमयन्ती ने कहा कि ताप का कारण तो चन्द्र किरणों ही है,
 ये न हो तो ताप ही न हो । 'अमृत' का प्रचलित अर्थ सुधा या पीयूष है,
 दमयन्ती ने इसका अर्थ लिया अ + मृत = न मरा, जीवित । उसने कहा कि
 चन्द्रा अ + मृत किरणों (अक्षयकिरण) वाला न होकर 'मृत'-(नष्ट)-किरण
 होता तो सताप का कारण ही न रह जाता । प्रचलित अर्थ से मिश्राय
 योजना के आधार पर मल्लिनाथ ने इस श्लोक में वक्तोक्ति अलंकार
 माना है ॥ १०४ ॥

व्रज घृति त्यज भोतिमहेतुकामयमचण्डमरीचिहृदञ्चति ।

ज्वलयति स्फुटमातपमूमुरैरनुभव वचसा सखि । लुम्पसि ॥ १०५ ॥

जीवानु—व्रजेति । (हे मुग्धे !), घृति व्रज धैर्यं भज । अहेतुका भीति
 त्यज । अयमचण्डमरीचि शीताशुहृदञ्चत्युदेति, न चण्डाशुरित्यर्थं । आतपैरेव
 मुर्मुरैस्तुपानलैः । 'मुर्मुरन्तु तुपानल' इति वैजयन्ती । स्फुटं प्रत्यक्षं यथा तथा,
 ज्वलयति दहति । हे सखि ! अनुभव प्रत्यक्ष वचसा आगमेन लुम्पसि वाघसे ।
 तदयुक्तं प्राक्प्लवनवाक्यवत् प्रत्यक्षेणैवास्य वाघादित्यर्थं । अत्राचण्डकर चण्डकर
 भ्रान्त्या भ्रातिमदलङ्कारः ॥ १०५ ॥

अन्दय—धृति द्रज, अहतुका भीति त्यज, अयम् अचण्डमरीचि उ चति ।
सखि, आत्रपमुमुंरं स्फुट ज्वलयति, अनुभव वचता लुम्पति ?

हिन्दी—सखी—धैर्य पाण करो, अकारण भय को त्यागो, यह अप्रचण्ड-
किरण (शीतकिरण चन्द्र) उदित हो रहा है । दमयती—सखी, उष्ण अगारों
से यह प्रचण्ड जन्म रहा है तू (मेरे) अनुभव को बचनो से मिटाना चाहती है ?

टिप्पणी—उदयप्राप्त करता चन्द्रा मले ही शीताशु हो, पर दमयती को
तुषानल के तुम्हें दग्ध कर रहा है । वह स्वानुभव को झूठा कैसे मान ले ? चन्द्र
को शीताशु तो केवल कहा जाता है, अनुभव में तो वह प्रचण्डाशु है । बचन को
अपेक्षा अनुभव बड़ा, अतएव स्वीकार्य होता है । यहाँ 'अचण्डकर' (चन्द्र) में
'चण्डकर' (सूर्य) के भ्रम को आधार मान कर मन्त्रिनाथ ने भ्रान्तिमान्
अलंकार का निर्देश किया है ॥ १०५ ॥

अयि । शपे हृदयाय तवैव यद्यदि विद्यान रुचेरमि गोचरः ।

रुचिफल सखि । दृश्यत एव यज्ज्वलयति त्वचमुल्ललयत्यसून् ॥ १०६ ॥

जीवानु—यदुक्तमयमचण्डमरीचिरिति तद्विश्वासयति—अपीति । अयि
(सुखे) मैमि । विश्वसिहीति शेष । विद्योश्चन्द्रस्य रुचेस्तेजसो गोचरो विषयो
नास्ति यदि, त्वदङ्गमङ्गीद तेजश्चाद्र न चेदित्यर्थं । तत्तहि तवैव हृदयाय
शपे । त्वज्जीविताय द्रुह्यामीन्यर्थं । 'श्लाघहू इ' इत्यादिना सम्प्रदानत्वान्च-
तुर्यी । तहि, सखि । रुचिफलमेव तेजोमात्रकायमेव दश्यते । न तु चन्द्रकायम् ।
मङ्गान्यत्रिपर्ययेणः भिभवनिवृत्तेरिति भाव । कुत, यद्यन्मात्वच ज्वलयति
दहति । असून् प्राणान् उल्ललयति उमूलयति । सर्वं तेज उष्णत्वाद्वाहकमेव,
अभिभवात्तु विपर्यय इति पदार्थतत्त्ववादिन ॥ १०६ ॥

अन्वय—अयि, यदि विद्योः रुचे गोचर न अस्ति तर्हि उद् एव हृदयाय
शपे । सखि, रुचिफल दृश्यते एव यन् त्वच जलपति अमून उल्ललयति ।

हिन्दी—सखी—अरी, यदि तुम चन्द्र की दमक की गोचर न होओ
(चाँदनी में न बैठो होंओ) तो मैं तुम्हारे हृदय ही की शपथ लेती हूँ ।
दमयती—सखी, रुचि (चाँदनी में होने) का परिणाम तो दीक्ष ही रहा है
कि त्वचा को जन्म रही है और प्राणों का उन्मूलन कर रही है ।

टिप्पणी—मखी सौगध खाकर चन्द्र को विद्यमानता प्रमाणित करना चाहती है, परन्तु दमयन्ती का गरीर चाँदनी में जला जा रहा है, प्राण निकले जा रहे हैं। वह कैसे माने कि यह चन्दा है और वह चाँदनी में है? उसे तो लग रहा है कि सूर्य की प्रचण्ड किरणों उसे अत्यन्त व्यथित कर रही हैं ॥१०६॥

विधुविरोधितियेरभिधायिनीमयि । न किं पुनरिच्छसि कोकिलाम् ।

सखि ! किमर्थं गवेपणया ? गिरं किरति मेयमनर्थं मयी मयि ॥१०७॥

जीवातु—विध्विति । अयि भैमि ! विधुविरोधितिये कुह्लाख्याया नष्टे दु-
'तियेरभिधायिनी, तदभिधायककुह्लाख्योच्चारिणी 'कुह कुह्लि'ति नामग्रह तदा-
ह्लायिनीमित्यर्थे । कोकिला पुन कि नेच्छसि । मा भूश्चन्द्र तद्विरोधिनीमेना
कि नेच्छसि मीत्यर्थं ? हे सखि ! अर्थगवेपणया कुह्लाख्यस्य नष्टचन्द्रा तियिरर्थं
इति विचारेण किम् ? तत्साध्य किमपि नास्तीत्यर्थं । गम्यमानमाघनक्रिया-
पेक्षयाकरणत्वात्तृतीया । कुतः, सेय कोकिला मयि विषये गवादिशब्दवदभिधे-
यवती न भवतीत्यर्थं मयी, रघपोवादिबदर्थं शूयत्वात् । किञ्च, अनर्थं मयी
अशनिघोषवदापद्रूपा च, ताम् । अनर्थंशब्दान्मयट्प्रत्यय । गिर किरति
'विक्षिपति ॥ १०७ ॥

अन्वय —अयि, विधुविरोधितिये अभिधायिनीं कोकिला पुन कि न
इच्छसि ? सखि, अर्थगवेपणया किम् ? सा इय मयि अनर्थमयी गिर किरति ।

हिंदी—सखी—अयि, (फिर) चन्द्र की शत्रुतियि (अभावस्या—'कुह्ल')
का उद्धोष करने वाली कोकिला को तुम क्यों नहीं चाहती ? दमयन्ती—
सखी, अर्थ हूँ देने में क्या लाम ? वह यह तो मेरे पक्ष में अनर्थमयी वाणी
शूक रही है ।

टिप्पणी—कोकिला 'कुह-कुह' बोलती है । 'कुह' का अर्थ अभावस्या भी
है, जिसमें चन्द्र दशन नहीं होता । इस प्रकार 'कुह' अर्थात् अभाव चन्द्र की शत्रु
हुई । शत्रु का नाम रटने वाली कोकिला को दमयन्ती मित्र रूप में आदर न
देकर उसे भी ब्यथा देनेवाली मानती है । सखी को इस पर आक्षेप है । दमयन्ती
को उचित है कि वह 'कुह कुह' बोलती कोयलिया को चाहे । इस पर दमयन्ती
का उत्तर है कि भले ही 'कुह' का अर्थ अभाव हो, उसे तो वे 'कुह' के बोल

अनर्थकारक—पीडादायक लग रहे है, वह कैसे अनर्थदािनी कोकिला को इच्छा करे ? कोकिलम्बर की विरहिनियों को पीडित करनेवाले के रूप में प्रसिद्धि है। भाव यह है कि कोकिला बोलती ही है, 'कूहू' को बुझती नहीं, बचिका है वह ॥ १०७ ॥

हृदय एव तवास्मि स वल्लभमन्त्रयि किं दमयन्ति । विषोदसि ? ।

हृदि पर न वहिः खलु वर्तते सखि ! यतस्मिन् एव विपद्यते ॥ १०८ ॥

जीवातु—हृदय इति । हे दमयन्ति ! स ते वल्लभ नल तव हृदय एवास्ति वर्तते । तदपि तथापि किं विषोदसि खिद्यते ? हे सखि ! यतो हृदि पर हृद्यैव वर्तते वहिर्न वर्तते खतु । तत एव विपद्यते खिद्यते । सदेभावे लट् । यत स्मयंत एव, न तु ख्यते, अतो मे विपाद इत्यर्थे ॥ १०८ ॥

अन्वय—दमयन्ति स वल्लभ. तव हृदये एव अस्ति तदपि किं विषो-
दसि ? सखि, हृदि पर वर्तत न खलु वहिः तत एव विपद्यते ।

हिन्दी—सखी—हे दमयन्ति, वह प्रिय (नल) तेरे हृदय में ही है, तो भी क्यों बिनाद कर रही हो ? दमयन्ती—हे सखि हृदय में ही विराजमान है, बाहर नहीं आता, इसीलिए तो खिन्न हूँ ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल मनोगोचर ही है, नयनगोचर, वहिरिन्द्रियगोचर नहीं होता, अतः प्रत्यक्षमुख न मिलने के कारण दमयन्ती, विषण्ण है ॥ १०८ ॥

स्फुटति हारमणी मदनोष्मगा हृदयमप्यनलङ्घ्यतमय ते ।

सखि ! हृवास्मि तदा यदि हृद्यपि प्रियतम स मम व्यवधापित ॥ १०९ ॥

जीवातु—स्फुटतीति । हे प्रिये ! मदनोष्मगा कामञ्जरेण, हारमणी हृदया-
लङ्काररत्नं स्फुटति विदलति सखि, अद्य ते तव हृदय वक्षोर्ग्रि अङ्कन न भवतीत्यनलङ्घ्यतम् आपरिपृष्टं जातम् । अथ हृदयमन्तरङ्गमप्यनल नलरहित कृतमित्यर्थान्तर मत्वोत्तरमाह—हे सखि ! स प्रियतम मम हृद्यपि व्यवधापितो यदि दूरीकृतश्चेत् । दधातेर्ष्वन्तात्वमंगिष्ठ । 'अतिही' इत्यादिना पुणान् । तदा हृवास्मि । वक्रोक्तिरलङ्कार । लक्षणमुक्तम् ॥ १०९ ॥

अन्वय.—मदनोष्मगा हारमणी स्फुटति अद्य ते हृदयम् अपि अनलङ्-

कृतम् । सखि, यदि स मम प्रियतम हृदि अपि व्यवधापित तदा हता अस्मि ।

हिन्दी—सखी—कामजनित वियोगाग्नि से हार की मणि टूट जाने के कारण हे दमयन्ति, आज तेरा हृदय भी 'अनलकृत' (अलकारहीन) है । दमयन्ती—हे सखी, यदि मेरा वह प्रियतम हृदय मे से दूर हो गया है, तो मैं मरी ।

टिप्पणी—हार की मणि के टूट जाने से दमयन्ती का हार उतार कर रख दिया गया फलस्वरूप उसका हृदय—वक्ष स्थल 'अनलकृत' अर्थात् भूषण-रहित हो गया । सखी ने जब इसके विषय में कहा तो दमयन्ती ने 'अनलकृत' का अर्थ लिया नल से रहित (अ + नल + कृत) और वह धवरा कर मरण-पीडा का अनुभव करती मूर्च्छित हो गयी । मल्लिनाथ ने यहाँ वशोक्ति का निर्देश किया है । जैसा कि पहिले लिखा जा चुका है—विद्याधर ने इन आठो श्लोकों में श्लेषवशोक्ति मानी है ॥ १०९ ॥

इदमुदीय तदैव मुमूर्च्छं सा मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका ।

एव महतामवलम्बलवच्छिदामनुपपत्तिमतीमपि दुःखिता ॥ ११० ॥

जीवातु—इदमिति । स भैमी, इद पूर्वोक्त 'सखि' हतास्मी'ति वाक्यम् उदीयं उच्चार्यं, तदैव मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका प्रबृद्धकामानला सती, मुमूर्च्छं नुमोह 'मूर्च्छा मोहममुच्छ्राययोरि'त्यर्थद्वयेऽपि घातो स्मरणात् । तथाहि दुःखिता सञ्ज्ञानदुःखा, दुःखिनी सा । अनुरपत्तिमतीमनकङ्कनमिति इत्येवमन्मथवर्णजन्यभ्रातिविषयत्वादनूपपन्नमतीत्यर्थं । अवलम्बलवस्य हृदयसङ्घतिमात्र-लक्षणस्य प्राणाधारलेशम्यापि छिदामुच्छेदक एव सहता, एव सहेतेत्यर्थं । दुःखोद्विग्नस्य भ्रान्तमभ्रान्त वानिष्टमवेदनमतिदुःसहमतो युवतमस्या मूर्च्छन-मिति भावः । अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः ॥ ११० ॥

अन्वय — मनसि मूर्च्छितमन्मथपावका सा इदम् उदीय तदा एव मुमूर्च्छं, दुःखिता अनुपपत्तिमतीम् अपि अवलम्बलवच्छिदा एव सहताम् ?

हिन्दी—जिसके मन में कामानल धरक रहा था, ऐसी वह (दमयन्ती) इतना (पूर्वोक्त) बहकर उमो समय मूर्च्छित हो गयी । दुःखिनी अघटित (काल्पनिक, अतथ्य) भी आधार का लेशमात्र टूट जाने को कैसे सह पाती ?

टिप्पणी—यद्यपि विरहिणी, पीडिता दमयन्ती का प्रिय उसके निकट

नहीं था, निराधार थी वह, तथापि उसके हृदय में तो वह था। ठेठ नहीं, अल्पस आधार तो था, मित्र नहीं, एकका समूह भाव तो था। 'अनन्यत' सुनकर दमयन्ती घबरा कर समझी कि नर हृदय से भी क्या छोटा सा आधार भी छिन गया। यह दुःख वह दुनिया न सह सकी और दमयन्ती मूर्च्छित हो गयी। मन्त्रिणाय के अनुसार अर्षान्तरन्यास और विद्यावर के अनुसार काव्यरिगि अलङ्कार ॥ ११० ॥

अधिन कापि मुखे सलिलं सखी प्यधिन कापि सरोजदले स्तनी ।
 व्यधित कापि हृदि व्यजनानिल न्यधिन कापि हिम मुननोस्तनम् ॥ १११ ॥

जीवानु—अपिनेति । कापि सखी मुननोर्भेद्या मुखे सलिलम् अधित आहितवतीत्यर्थं । कापि स्तनी सरोजदने प्यधित निहितवती, 'वष्टि नागुरिरल्लोपनवाप्पोहनसंघो' इत्यनेकारण्ये । कापि हृदि व्यजनानिल व्यधित विहितवती । तालवृत्तेन बीजमानामेत्यर्थं । कापि तनी शरीरे हिम चन्दनम् । 'चन्दनेऽपि हिम विदुः' इति विश्वः । व्यधित निहितवती ॥ १११ ॥

अन्वय — का अपि सखी मुननी मुखे सलिलम् अधित, का अपि सरोजदले स्तनी प्यधित, का अपि हृदि व्यजनानिल व्यधित का अपि तनी हिमम् व्यधित ।

हिन्दी—(दमयन्ती को मूर्च्छित देख) किसी सखी ने सुन्दरी (दमयन्ती) के मुख में जल डाला, किसी ने कमलपत्रों में स्तन डक दिए, किसी ने हृदय पर पञ्जा झर कर हवा की और किसी ने शरीर पर शीतल चन्दन का लेप किया ।

टिप्पणी—कामज्वर का उद्वेग । क्रियाओं का सुन्दर प्रयोग ॥ १११ ॥

उपवचन विर मृदुशीतलैर्जलजजालमृगालालादिभिः ।

प्रियमयीनिवहः स तथा क्रमादियमवचन यथा लघु चेतनम् ॥ ११२ ॥

जीवानु—उपवचारेति । स प्रियमयीनिवहः मृदुशीतलैर्जलजजालमृगालालादिभिः अन्वयार्थं उपवचनम्, मृगालं जलम् । क्रमादियमवचनानादि-साधनविशेषं क्रमादि र तथोपवचार, यथेय भेदी लघु चित्त चेतना सगमवान् ॥ ११२ ॥

अन्वय—स प्रियसखीनिवह मृदुशीतलं जलज्जालमृणालजलादिभिः क्रमात् चिरम् तथा उपचचार यथा इय लघुचेतनाम् अवाप ।

हिन्दी—प्यारी सहेलियो के समूह ने कोमल-शीतल कमलदलो, मृणालो और जल आदि से क्रमपूर्वक (यथारोति) देर तक ऐसा उपचार किया, जिससे उस (दमयन्ती) को दीर्घ चेतना प्राप्त हो गयी ।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार अनुशस और जाति अलकार ॥ ११२ ॥

अथ 'कले' कलय श्वसित स्फुट चलति पक्ष्म चले' परिभावय ।

अधरकम्पनमुन्नय मेनके । किमपि जल्पति कल्पलते । शृणु ॥ ११३ ॥

रचय चारुमते ! स्तनयोवृत्ति गणय केशिनि ! वेश्यमसयतम् ।

अवगृहाण तरङ्गिणि ! नेत्रयोजलक्षरावि'ति शुश्रुविरे गिर' ॥ ११४ ॥

जीवातु—अथ भैम्या कलादय सप्त सख्यस्तासा तद्दशापरीक्षाव्यवधाना मिय कलकल श्लोकद्वयेनाह—अथेति । अथानन्तरम्, इति गिर शुश्रुविर इति सम्बन्ध । ता एवाह—हे कले ! स्फुट ध्ववत, श्वसिति प्राणिति, कलय आकलय । हे चले ! पक्ष्मनेत्रलोम, चलति चक्षुस्त्रिमपतीत्यर्थं । परिभावय परामृश । हे मेनके ! अधरकम्पनमोष्ठचलनमुन्नय तन्मय । हे कल्पलते ! किमपि जल्पति, शृणु रचयेति । हे चारुमते । स्तनयोवृत्तिमावरण रचय । हे केशिनि ! असयत विस्रस्त कैश्य केशसमूह, 'वेशाश्वाम्या यञ्छावयतरस्याम' इति यञ्प्रत्यय । गणय चि'तय । बधानेत्यय । हे तरङ्गिणि ! नेत्रयोजलक्षरावधु-प्रवाहो, अवगृहाण बधान । इति गिर शुश्रुविरे श्रुता ॥ ११३-११४ ॥

अन्वय—अथ कले, स्फुट श्वसिति, कलय, चले, पक्ष्म चलति, परिभावय, मेनके, अधरकम्पनम् उन्नय, कल्पलते, किम् अपि जल्पति, शृणु । चारुमते, स्तनयो वृत्ति रचय केशिनि, असयत कैश्य गणय, तरङ्गिणि, नेत्रयो जलक्षरो अवगृहाण—इति गिर शुश्रुविरे ।

हिन्दी—तदनन्तर हे कले, (दमयन्ती) ठीक से साँस ले रही है ? ध्यान से देख, अरी चले, पलक हिल रह है ? विचार कर, ए मेनके, ओठों का कंपन देख, कल्पलते, क्या कुछ बोली ? सुन । अथ चारुमते, स्तनों को टक दे, केशिनि, बिसरे बाल सँवार दे और तरंगिणि, बहते बाँसु पोछ—इन प्रकार की बातें सुन पड़ने लगी ।

टिप्पणी—इन श्लोकों में विद्याधर के अनुनार अनुप्रास और जाति श्लकार है। सखी-निबट्ट के सार्यक नामों का प्रयोग जोर नाटकीय वाक्य दर्शनीय है। भर्तृदासिका के विन्दस्व ही जान पर सखी-समूह के बिन्ता, कर्मठठा खादि भावों का सुन्दर चित्रण है ॥ ११३-११४ ॥

कलकल स तदालिजनाननादुदलसद्विपुलस्त्वरितेरितः ।

यमविगम्य सुतालयमेतवान् द्रुततरः स विदमंपुरन्दरः ॥ ११५ ॥

जीवानु—कलकल इति । तदा तस्मिन् सखीजनव्याकुलकाले, आलिजनाननात् मखीमुखात्त्वरितेरितं सम्भ्रमोक्तिमि, विपुलो महान्, स कलकल उदलसदुत्थित । य कलकलमविगम्याकर्ष्यं, स विदमपुरन्दर मीमभूपति द्रुत-तरोरितत्वरित, सुतालयमेतवान् कन्या त पुर प्राप्तवान् ॥ ११५ ॥

अन्वयः—तदा आलिजनान् त्वरितेरितं स विपुल कलकल उदलत् यम् अविगम्य स विदमंपुरन्दर द्रुततर सुतालयम् एतवान् ।

हिन्दी—उब सखियों के समूह के शीघ्रता से उच्चरित सम्भ्रमवचनों के कारण एक महान् कोलाहल उठ पडा जिसे सुनकर वह विदमन्द्र (राजा मीम) अत्यन्त शीघ्रतापूर्वक पुत्री के आवास में पहुँच गया ।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और जाति श्लकार ॥ ११५ ॥

कन्यान्त पुरबोधनाय यदधीकारान्त दोषा नृप

द्वौ मन्त्रिप्रवरश्च तुल्यमगदद्वारश्च तामूचतु ।

देवाकर्णय सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन जानेऽखिल

स्यादस्या नलद विना न दलने तापस्य कोऽपि क्षमः ॥ ११६ ॥

जीवानु—कन्येति । कन्यान्त पुरस्य बोधनाय मोगक्षेमानुसन्धानाय, यदधीका-राद्ययोर्मन्त्रिवैद्ययोरधीकारान्त्रियोगात् । 'उपसर्गस्य ध्व्यमनुष्ये बहुषम्' इति दीर्घ । दोषा परपुष्ट्रवेशादयो वानादयश्च, न सन्तीति शेष । अस्तिर्भवति-परोऽप्रयुज्यमानोऽप्यस्तीति वचनात् । तौ मन्त्रिप्रवरश्च अगदमपरोय करोती-त्यगदद्वारो वैद्यश्च । 'रोगहार्यगदद्वारो मिषवैद्यश्चिकित्सक' इत्यमर । 'कर्मण्यण्' 'कारे सत्यागदस्य' इति मुमागम । द्वौ नृपं तुल्यमेकवाक्यनमूचतु । देव राजन् ! आकर्णय सुश्रुतेन सम्पकष्टुतेन, चर एव चरको गूढवार, तस्यो-

कनेन वाक्येन । अन्यत्र सुश्रुतेन चरकस्योक्तेन चरकाचार्यप्रणीतग्रन्थेन, अखिल तापनिदान जाने । अस्यास्तापस्य दलने निवर्तने, नल राजान ददातीति नलद, तत्सघटक विना । 'आतोऽनुपसर्गे क' अयत्र, नलदमुशीर विना । 'मूलेऽस्यो-
शीरमस्त्रियाम् । अभय नलद सेव्यम्' इत्यमर । कोऽपि न क्षमो न स्यात् ।
'शक्ति लिङ्' इति शक्यार्थे लिङ् अत्र द्वयोरपि नलदयो प्रकृतत्वाद् केवलप्रकृत-
श्लेषोऽलङ्कार ॥ ११६ ॥

अन्वय—कन्यान्त पुरबोधनाय यदधीकारात् 'दोषा न मन्त्रिप्रवर
अगदङ्कारश्च द्वौ नृप तुल्यम् ऊचतु—देव, आकर्ण्य, सुश्रुतस्य चरकस्य उक्तेन
अखिल जाने, अस्या तापस्य दलने नलद विना क अपि क्षम न स्यात् ।

हिन्दी—कन्या के अन्त पुर मे योगक्षेम को जानने के लिए जिस
अधिकरण से दोष (सामाजिक मर्यादा दोष और वातपित्तकफ दोष) नहीं है,
मन्त्रिप्रेष्ठ और चिकित्सक दोनों राजा से एक समान बोले—देव, सुनि।
(१) मन्त्री ने कहा—सुश्रुत (भलीभाँति सुन) और चरक (चरो) द्वारा
कहे (कथन) से मैं सब जान गया हूँ कि इस (दमयन्ती) के सताप का
शमन करने मे नलद (नल राजा) के अतिरिक्त कोई समर्थ न होगा ।
(२) चिकित्सक ने कहा—सुश्रुत और चरक नामक मान्य आयुर्वेद ग्रन्था मे
कहे गये (लक्षणो) से मैं भली-भाँति जान गया हूँ कि इसका ताप मिटाने मे
नलद (उशीर) के अतिरिक्त और कोई समर्थ नहीं है ।

टिप्पणी—कन्या के अन्त पुर मे पशुपुष्प-प्रवेश मर्यादा के विरुद्ध है, परतु
ऐसे व्यक्ति जिनसे व्यवस्था बनी रहे, पुरुष होने पर भी प्रविष्ट हो सकते हैं ।
मन्त्री और वैद्य ऐसे ही पुरुष होते हैं । मन्त्री व्यवस्था के प्रति उत्तरदायी
और अधिकारी है । किसी प्रकार का अन्यायित और निन्दनीय, वज्रित कार्य
अन्त पुर मे न हो, इसको व्यवस्था मन्त्री पर है । शरीर को रोगी बना देने
वाले वात, पित्त, कफ—त्रिदोष की व्यवस्था चिकित्सक पर है । अतः ये
दोनों दमयन्ती के अन्त पुर मे गये । 'सुश्रुत' (भलीभाँति सुना, वैद्यग्रन्थ),
'चरक' (चर और आयुर्वेद ग्रन्थ) और 'नलद' (राज नल, उशीर) अनकार्य
शब्द है, जिनके प्रयोग से मन्त्रिप्रवर और अगदङ्कार के तुल्यकथन की

योञ्जना श्री मत्री है । मन्त्रिनाथ ने इन्हे अलकार निर्देश किया है और विद्याधर ने तुल्ययोगिता और श्लेष का । शार्दूलविशोद्धित वृत्त ॥ ११६ ॥

ताभ्यामभूद्युगपदप्यभिधीयमान भेदव्ययाकृति मिय-प्रतिघानमेव ।
श्रोत्रे तु तस्य पपतुर्नृपतेर्न किञ्चिद्भ्रान्यामनिष्टशतशङ्कितयाकुलस्य ॥११७॥

जीवानु—ताभ्यामिति । ताभ्या मन्त्रिनिपगम्या, भेदव्ययो नामाभेद स एवाकृतिर्यस्य तद् भेदव्ययाकृति, अभिधाकारमेकरूप यथा तथा, युगपदेकत्रा, अभिधीयमान नलदादिवाक्यमिति शेष । मियोऽयोन्य प्रतिघातो विरोधो यस्य तन्मिय-प्रतिघात मियोभिन्नमेवामूत् । जनिघानयोगपद्यादेकशब्दाच्चा भिन्नार्थैकवाक्यवत् प्रतीयमानमपि तद् भिन्नार्थं वाक्यद्वयमेवासादित्यर्थं । राजस्तु न तत्र दृष्टिरित्याह—भंग्या विषये अनिष्टशतशङ्कितया जनिष्टानेक शब्दावस्त्वेन आकुलस्य विह्वलचित्तस्य, 'प्रेम पश्यति भयान्यपदेऽपि' इति न्यायादिति भाव । तस्य नृपते भीमस्य श्रोत्रे तु किञ्चिन् पपतु न किञ्चित्थं जगृहतु । व्याकुलान्त-करणतया तद्वाच्ये नातीव कर्षं दत्तवानित्यर्थं ॥११७॥

अन्वय —ताभ्या भेदव्ययाकृति कपि युगपद अभिधीयमान मिय-प्रति-घातम् एव अभूत्, भंग्याम् अनिष्टशङ्कितया आकुलस्य तस्य नृपते श्रोत्रे तु किञ्चिन् न पपतु ।

हिन्दी—उन (मत्री, और वैद्य) दोनों के द्वारा स्वरूपत अभिन्न भी एक साथ कहा गया परस्पर विघातक हो हुआ, (क्योंकि) भीमसूता (दमयती) के अनिष्ट की शका से व्याकुल उस राजा के कानों में तो कुछ भी न पड़ा ।

टिप्पणी—बेटी के अनिष्ट की शका से व्याकुल राजा मत्री और वैद्य-दोनों के वचनों पर ध्यान न दे सका । व्याकुल होने से उसने कुछ सुना ही नहा जैसे । भाव यह कि बेटी को हन्य वा राजा बन्धुव व्याकुल हो गया । विद्याधर के अनुसार जानि अलकार । वसततिल्का वृत्त ॥ ११७ ॥

द्रुतविगमिनविप्रयोगचिह्नमपि तनया नृपति पदप्राम्नाम् ।
अकञ्जदमशाशुगधिभग्ना झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञा ॥११८॥
जीवानु—द्रुतेति । नृपति द्रुतविगमितविप्रयोगचिह्नमिह-
द्रागणस्यारितिसिद्धि-

रोपचारचिह्नमपि, पदे प्रणम्रा पादपतिताम् 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्वम् । तनयामसमाशुगाधिमग्ना मदनव्यथामग्नाम् अकलयन्निश्चिकाय । तथाहि विज्ञा प्रवीणा 'प्रवीणे निपुणाभिज्ञविज्ञनिष्णातशिक्षिता' इत्यमर । झटित्यविलम्बेन पराशयवेदिनो हि, प्रकाशकलिङ्गमन्तरेण आकारमात्रेण परे-
ङ्गित निश्चिन्वतीत्यर्थं । कामान्धेन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥११८॥

अन्वय—नृपति द्रुतविगमितधिप्रयोगचिह्नम् अपि पदप्रणम्रा तनयाम्
समाशुगाधिमग्नाम् अकलयन्, हि विज्ञा झटिति पराशयवेदिन ।

हिन्दी—राजा ने शीघ्रतापूर्व विरह के चिह्नों के दूर कर दिये जाने पर भी चरणों में प्रणत पुत्री (दययती) को विपमवाण (काम) के रोग में मग्न समझ लिया, क्योंकि चतुर-समझदार व्यक्ति झट से दूसरे के आशय को जान लेते हैं ।

टिप्पणी—राजा के जाने का समाचार जानते ही सखियों ने विरहताप शमनाय ए' व उशीरादि शीतोपचारों (श्लोक १११ १२) को झटपट हटा दिया, किन्तु प्रवीण राजा तुरन्त समझ गया कि बेटी कामरोग-व्ययित है । चतुर जनों से भेद छिपा नहीं रहता । अर्थान्तर न्यास अलंकार । मल्लिनाथ ने चार श्लोकों (सम्ख्या ११८ १२१) में पुष्पिताग्रा छन्द माना है, जिसका लक्षण है—'अयुजि न युगरेफतो यकारो यजि च नञी जरगारच' पुष्पिताग्रा ।' पुष्पिताग्रा के प्रथम तृतीय चरणों में इस क्रम से वारह वर्ण होते हैं—२ नगण (॥३, ॥३), १ रगण (११५), - १ यगण (१५५) और द्वितीय-चतुर्थ चरण में तेरह—१ नगण (॥३), २ जगण (१५३, १५३), १ रगण (११५), और १ अंतिम वर्ण गुरु (५) । इन दृष्टि से सबद्ध श्लोक पुष्पिताग्रा है । विद्याधर ने इन्हीं श्लोकों में औपच्छन्दिक वृत्त माना है, जिसका लक्षण उन्होंने दिया है—'पर्यन्ते यो तथैव शेपमौपच्छन्दसिक्, सुधीभिरुक्तम् ।' इसके अनुसार चारों चरणों के अंत में यगण (१५५) होना चाहिए (कदाचित् - 'यो'—अर्थात् दो यगण) । इन श्लोकों के चरणांत में यगण तो है, एक यगण । सामान्यतया छन्दशास्त्र में औपच्छन्दसिक् का नाम मालभारिणी भी माना गया है, जिसके प्रथम तृतीय चरणों में ग्यारह वर्ण (११५, ११५, १५३, ५५) और द्वितीय-

चतुर्थ में बारह वर्ण (115, 311, 315, 155) होते हैं । ऐसा सबद श्लोकों में नहीं है ॥ ११८ ॥

व्यनरदथ पिताशिय सुताय ननशिरमे मुहुन्नमय्य मौलिम् ।

'दपितममिमत् स्वयवरे त्व गुणमयमाप्नुहि वासरं कियद्भि' ॥११९॥

जीवानु—व्यतरदिति । अथ पिता भीम, नतशिरसे लज्जानतमुत्तार्य सुताय दमयन्त्यै, मौलि मुखमुन्नमय्य हे बत्से । कियद्भि कतिपर्येव वासरं स्वयवरे त्व गुणमय गुणाद्यममिमत् दपितमाप्नुहीत्याशिय मुहुर्व्यंतरत् ॥११९॥

अन्वयः—अथ पिता नतशिरसे सुतायै मुहु मौलिम् उन्नमय्य आशिय व्यतरत्—स्वयवरे, त्व कियद्भि एव वासरं गुणमयम् अमिमत् दपितम् आप्नुहि । (अथवा त्व कियद्भि एव वासरं स्वयवरे गुणमयम् अमिमत् दपितम् आप्नुहि) ।

हिन्दी—उदनतर पिता (राजा भीम) ने शिर नीचा किये उपस्थित पुत्री (दमयन्ती) को—(उसका) मस्तक क्षण भर को उठाकर आशीष् दिया—हे स्वयवरण करनेवाली, तू कुछ ही दिनों में गुणवान् और मनवाहा प्रिय पति प्राप्त करे । (अथवा तू कुछ ही दिनों में स्वयवर मे गुणवान् प्राप्त करे) ।

टिप्पणी—प्रिय पुत्री को राजा ने आशीष् देते हुए आश्वासन दिया कि वह व्यथित न हो, शीघ्र ही स्वयवर में उसे अमिमपित पति प्राप्त करने का अवसर मिलेगा । राजा ने व्याधि जान ली और कहा—'स्वयवरमह क्तास्मि ।' विद्याधर के अनुसार आशीरलकार ॥ ११९ ॥

तदनु स तनुजानखीरवादोत्तुहिनऋतौ गत एव हीदृशोनाम् ।

कुमुममपि शरायते शरीरे तद्रुचिनमाचरतोपचारमस्याम् ॥१२०॥

जीवानु—तदन्विति । तदनु आशीर्वादानंतरम् 'अनुज्ञाने' इति कर्म-प्रवचनीयमज्ञा । स नृनस्तनुजासखी सुतावयस्या अज्ञादीदृशे । कि तत्तदाह—यस्मात्, तुहिनऋतौ शिशिरकाले, 'ऋत्यन्ः' इति प्रवृत्तिभाव । गते नियंत एव, वचन्ते पुत्रपरिणामात्तापस्य दुःसहत्वाच्चेति भाव । ईश्वरीना कोमला-ज्ञीना यौवनप्रविष्टाना शरीरे कुमुममपि शरायते शरवदाचरति, तदद् दुःसह

भवति । एकत्र गात्रमार्दवाद्यत्र मदनबाणत्वाच्चेति माव । तत्तस्मादस्या
कोमलाङ्गुला युवत्या च, उचित योग्यमुपचार प्रतीकारमाचरत ॥ १२० ॥

अन्वय --तदनु स तनुजासखी अवादीत्—हि तुहिनश्रुती गते एव
ईदृशीना शरीरे कुसुमम् अपि क्षरायते तत् अस्याम् उचितम् उपचारम् आचरत ।

हिन्दी—तत्पश्चात् राजा ने बंटी की सखियों को आज्ञा दी—क्योंकि
शिशिर श्रुतु व्यतीत होने पर ऐसी कोमलागियों (ताण्य प्रासाओं) के शरीर
में लगा फूल भी बाण का कार्य करता है, अतः इसका श्रुतु के अनुकूल उपचार
करो ।

टिप्पणी—दमयती की उचित देखभाल करने का आदेश देकर राजा ने
पिता के अनुकूल व्यवहार किया । 'कुसुममपि क्षरायते' में 'कुसुमशर' (काम
बाण) का संकेत । वसत में 'पुष्पबाण' व्याख्या देता है, तदुचित उत्तीरादि
उपचार आवश्यक हैं । विद्याधर के अनुसार उपमालकार ॥ १२० ॥

कतिपयदिवसैर्वयस्यया व स्वयमभिलष्य वरिष्यते वरीयान् ।

ऋशिमशमनयानया तदाप्तु हृदिहृदिताय भवद्विधाभिधाभि ॥१२१॥

जीवानु—कतिपय । किञ्च, कतिपयदिवसैः अल्पदिनैरेव, वो युष्माकं,
वयस्यया सख्या भैम्या, वरीयान् श्रेष्ठ पुमान्, स्वयमभिलष्य कामयित्वा
वरिष्यते । य कामयते त वरिष्यतीत्यर्थः । तत्तस्माद् अथेदानीम्, अनया दम-
यत्या (कन्या), भवतीना विधेव विधा यासा वासा भवद्विधाना सखीना,
सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुनर्द्वाव । अभिधाभिहृक्तिभिर्या ऋशिमशमना काश्यं-
निवर्तना, तथा उपायभूतया हृदि कान्ति प्रीतिश्च, आप्तुमुचिता आसख्या,
स्वयवरपर्यन्त भवदुपलालनावचनैः मेद विहाय प्रसन्नया सत्पुष्टया च
स्यातव्यमित्यर्थः । द्रुतेत्यादिश्लोकचतुष्टय पुष्पिताप्रावृत्तम् ॥ १२१ ॥

अन्वय --कतिपयदिवसैः व वयस्यया स्वयम् अभिलष्य वरीयान् वरिष्यते
सत् अथ अनया भवद्विधाभिधाभि ऋशिमशमनया हृदि आप्तुम् उचिता ।

हिन्दी—(राजा ने और भी आज्ञा दी)—कुछ दिनों में तुम्हारी सखी
(दमयती) द्वारा अपनी इच्छानुसार वरतर (अच्छा वर) वरा जायेगा,
अतः सप्रति इसे (दमयन्ती को) आप जैसी सखियों के समझाने से कृपता
दूर करने का वि प्रार्थना करना उचित होगा ।

टिप्पणी—राजा ने दमयन्ती की लखियों को जादुय दिया कि शीघ्र ही स्वयंवर का आयोजन होगा, जिसमें दमयन्ती का जमीष्ट वर प्राप्त करने का पूर्ण अवसर मिलेगा। लखियों को चाहिए कि दमयन्ती का साहसना देकर-समसा-बुद्धा कर व्यथानाव दूर करें, जिससे वह प्रसन्न और योगशास्त्रिणी प्रतीत होने लगे। इस प्रकार अप्रत्यक्ष-रिज्ञा ने पुत्रों को अपना अनिष्टाय पूर्ण करने का सुक्ति दिया, जिससे वह सतुष्ट हो। विद्याधर के अनुज्ञार-लक्ष्मीनीय अन्धकार छिन्नानुसस ॥ १२१ ॥

एव यद्वदता नृपेण तनया नापृच्छि लज्जापदं
यन्मोहं स्मरभूरकल्पि वसुधं पाण्डुत्वतापादिभिः ।

यन्वाशी कपटादवादि सदृशी स्यात्तत्र या सान्त्वना

तन्मत्वालिजनो मनोऽग्निमननोदानन्दमन्दाक्षयो ॥ १२२ ॥

जोवातु—एवमिति । एव वदता नृपेण, तनया दमयन्ती, लज्जापदं लज्जाहेतुं नापृच्छि न पृच्छेति यत् । राजाणे प्रश्नायोगादिति नाव । पृच्छेद्देहादिन्वाद्यप्रयाने कर्मणि लुङ् । मोहो मूर्च्छा च वसुधं पाण्डुत्वतापादि-भिर्निर्झं स्मरन् कान्तोऽग्निसि निदिधत इति यत् । तत्र तन्वा पृन्वा सद्यो अनुस्वा या सान्त्वना लान्नोक्तिः स्यात्, सा चाशी कपटाद्वयितमापृहीत्या शोर्वादिब्याजादवादीनि च यत्, तत्सर्वं मत्वा नोक्ष, आलिर्वा मन स्वचित्तम् आनन्दमन्दाक्षयो अग्निमननोत् । लज्जान-दवागरीचकारेत्ययं । स्वेष्टनिद्धरा-नन्द स्वरहस्यप्रकाशनाल्लज्जा ॥ १२२ ॥

अन्वय —एव वदता नृपेण तनया लज्जापदं यत् न अपृच्छि, यत् वसुध पाण्डुत्वतापादिभि स्मरन्. मोहं अकल्पि, यत् च तत्र सद्यो या सान्त्वना स्यात् आशी कपटात् यवादि, तत् मन्वा आलिर्वा मन आनन्दमन्दाक्षयोः अग्निम् अतनोत् ।

हिन्दी—ऐसा कहते राजा ने बेटों से लज्जा का कारण जो न पूछा, जो शरीर के पीनेन और सुताप आदि से कामबन्ध मूर्च्छां समस्त ही और जो उसने उपयुक्त सान्त्वना हो सकती थी, वह आशीप् के ब्याज से दे दी, उसे समझकर लखियों ने मन को आनन्द और मन्दतेपता (लज्जा) के समुद्र में निमग्न कर दिया ।

टिप्पणी—राजा ने जो अवमरोचित (श्लोक सं० ११९-१२१) वचन कहे, उससे दमयन्ती सहित सखियों को महाप्रसन्नता हुई साथ ही लज्जा भी लगी, क्योंकि उसका लज्जा का कारण प्रकट हो गया। इष्ट सिद्धि पर प्रसन्नता और रहस्य भेद के कारण लाज। विद्याधर के अनुसार रूपक समुच्चयभाव-शबलतालकार का सकर, शार्दूलविक्रीडित छन्द ॥ १२२ ॥

श्राहर्षकविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर* सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामल्लदेवो ध यम् ।

तुर्यं स्थैर्यविचारणप्रकरणभ्रातयेय तन्महा-

काव्येऽत्र व्यगलन्नलस्य चरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वल* ॥ १२३ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमिति । श्रीहर्षभित्यादि सुगमम् । तुर्यश्चतुर्थं । 'चतुर-
श्छयतावाचक्षरलोपश्च' इति साधु । स्थैर्यविचारण नाम स्वप्रणीतप्रकरण तद्-
भ्रातरि तत्समानकर्तृक इत्यथ ॥ १२३ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवातु'समाख्याने चतुर्थं सर्गं समाप्त ॥ ४ ॥

अन्वय.—तृतीयसर्गवत्—कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुपुत्रे ।
स्थैर्यविचारणप्रकरण भ्रातरि नलस्य चरिते अत्र तन्महाकाव्ये अयं निसर्गो-
ज्ज्वल तुर्यं सर्गं व्यगलत् ।

हिन्दी—तृतीय सर्ग के समान—कवियों के मुकुट के हीरमणि
उत्पन्न किया। 'स्थैर्यविचारण' नामक प्रकरण के सहोदर नल के चरित इस
'नैषधीयचरित' महाकाव्य में यह प्रकृत्या उज्ज्वल चतुर्थं सर्गं पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—इस श्लोक में बताया गया कि 'स्थैर्यविचारण' नामक प्रकरण
और 'नैषधीयचरितम्' सहोदर सबध है, अर्थात् दोनों के जन्म का कारण एक
ही है। इस प्रकार महाकवि श्रीहर्ष ने यह बात दिया कि उन्होंने 'स्थैर्य
विचारण' नामक प्रकरण भी रचा था ॥ १२३ ॥

नैषधीयचरिते चतुर्थं सर्गं समाप्त

नैपथीयचरितम्

कथासार

(चतुर्थ सर्ग)

इमामाङ्गा विरहाग्निना विदधती निद्रा मुघाशोज्ज्वर-
ज्वालामिर्द्रुतमुर्मुरीकृतमुमाकल्याण साप्रमुहव् ।
भोमस्तत्परिचारिकाकलकलादूतस्तथा वोक्ष्य ता
मातो व्याधिरपि स्वयम्बरमह कर्ताम्भवादीदिति ॥

—श्रीकृष्णरामकवि

उधर नलानुरागिणी दमयती के पाश्र्व से उठकर हस नल के निकट पहुँचा, इधर विदग्धदेश में दमयती नल के वियोग से संतप्त रहने लगी। जैसे उसे वियोग-ताप ज्वर रहने लगा, घँस्य आना रहा, हँसी उठ गयी, चेहरा पीला पड़ गया। कामसुतप्ता वियोगिनी विदग्धनय्या माँति माँति की कल्पनाएँ करती, न जाने क्या-क्या कहती, उसके आँसू आजाने। बार-बार वह चन्द्रमा को लक्ष्य कर अनेक विष आक्रोश प्रकट करती। चन्द्र और काम पर अरुना विषाद और आक्रोश प्रकट करते-करते दमयन्ती मूर्च्छित हो गयी। धवरायो सखियाँ माँति-माँति के उपचार में लगीं। उनका कोलाहल भोमराज तक जा पहुँचा। विक्रिस्त्रकों और सचिवों के साथ राजा ने पहुँच कर बेटी को देखा। अनुराज ने व्याधि समझी और घोषणा की कि शीघ्र ही दमयती—स्वयम्बर होगा। समक्षदार राजा लजाती बेटी से क्या पूछता ?

पदानुक्रमणिका

(चतुर्थ सर्ग)

श्लोका	श्लोकाङ्काः	श्लोका	श्लोकाङ्काः
अकरणादव	१०२	उदयति स्म	१८
अतनुना	३३	उदर एव	६०
अनितमं समपादि -	४	उपचचार	१११
अतिशरव्यता	४२	उपहरन्ति न कस्य	६०
अथ कले कलय	११३	अजुह्वश कथयन्ति	६६
अथ नलस्य	१	एव यद्वदता	१२२
अथ सुहुचंहु०	४३	कतिपय०	१२१
अधित कापि	१११	कन्यान्त पुर०	११६
अधृतयद्विरहोष्मणि	८	करपदाननलोचन०	१७
अनलभात्रमिधम्	२२	कलकल	११६
अनुममार	७६	किमसुभिर्गलितैर्जड	२२
अपि धयन्नितराभरवत्	५२	किमु तदन्तरभौ	२
अपि विधिः	५६	किमु भवन्तमुमा०	२७
अमृतदीधिद्विरेप०	१०४	कुट्ट करे	५६
अपि मसैप०	२८	कुमुमुचापजताप०	६
अपि विधु परिधिः	४६	कुमुमुमप्यति०	३१
अपि शपे हृदयाय	१०६	अन्तरधु सती	४६
असमवे	६०	ज्वलति	६४
असितमेक०	३१	तदनु	१२०
इति कियद्यच्चसैव	१०९	शरणाता०	७
इति विधोर्विधिोक्ति०	७४	ताम्यामभूद्	११७
इदमुदीर्यं तदैव	११०	खदितरोऽपि	३१
इधमनइशरावलि०	३३	रामभिचेहि	२०

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः	श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
स्वमिदं कोपि	१८	रक्षय चात्मते	११४
स्वमुचितं नयनाचिपि	१९	रतिपतिप्रहिवानिल०	१०
दहति कण्ठमयम्	२०	रतिपतेर्विजयास्त्र०	१०
उद्भवा न	२१	रतिवियुक्तमना मपरत्	११८
द्विगुपहत्यरसुत्सु०	२२	रियुतरा	२५
उन्नयिगमित०	११८	यदनारंभात्	६५
द्विजपतिप्रमनाहित०	२५	यद निधुनुदमालि	७०
ध्रुवमधीतवती	३	विधिरनङ्ग०	८८
न न्दुमोहवशेन	३८	विधुरमानि	२०
नरसुराञ्जमुवाभव	४४	विधुविरोधि०	१०७
नलविमस्तकितस्थ	६८	विनिहितम्	२८
निपततापि न	५१	विरहवतवङ्ग०	३२
निविशते यदि	११	विरहतापिनि	७७
निशि शशिन् भञ्ज	२४	विरहपागिदम०	११
न्यषित उद्घृष्टि	४१	विरहपागिदुक्पोल०	२६
निकरत्रिध्रुति०	३५	विरहिणे त्रिमुन्वस्य	१६
पुरमिदा	७६	विरहिनिर्बन्धु०	६३
प्रहृतरेतु गुणः	२३	विरहिर्गवष०	६२
प्रियकरप्रहमेव	३०	व्यतरदय	११६
प्रियन्मीनिवहेन	१०१	व्य घृति स्वय	१०५
पलमलम्पत	८१	शशाकट्ट भयकर	११
वत्त द्दामि	८१	शशिनय दहनान०	३८
सुवनमोहनजेन	८३	श्रवणपुरतमाल०	१६
मदनतापमरेण	१०	श्रीहर्ष कविराज०	१२३
मनसि सन्धमिव	१२	यदनव कृपया	१२
सुन्दरदम्ब यशोन्व०	१३	सन्नि उरा परिपृच्छ	६६
यदतनुञ्जरमाकृ	०	महदरोपति	७७

श्लोका.	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
सह तया स्मर	१४	स्मर स मदुदुरितै०	१२
सुगत एव विजित्य	४०	स्मरहुताशन०	२६
सुहृदमग्निमुदञ्चयितुम्	१४	स्वरिपुत्रीषण०	६४
रफुटति द्वारमणौ	१०६	द्वितगिर न	१०३
स्मरकृता हृदयस्य	१६	हृदय एव तवास्ति	१०८
स्मर नृर्शास०	८६	हृदयमाश्रयसे	७२
स्मरमुख हरनेत्र०	७३	हृदि दमस्वसुरभ्रु०	१३
स्मररिपोरिष	८७	हृदि छुठन्ति	३७
स्मरशराहति०	६	हृदि विदमंभुव०	१६
स्मरसखौ रुचिभि	६७	हृदि विदमंभुवोऽध्रुभृति	२६

नैषधीयचरितम्

पञ्चमः सर्गः

यावदागमयतेऽथ नरेन्द्रान् स स्वयवरमहाय महोन्द्रम् ।
तावदेव ऋषिरिन्द्रदिदृक्षुर्नारदस्त्रिदशधाम जगाम ॥ १ ॥

जीवातु—अथ दमयन्तीस्वयवराय इन्द्राद्यामन वक्रु तदुपयोगितया नारदस्वेन्द्रलोकगमनमाह—यावदिति । अथ स महोन्द्रो भीमभूपति, स्वयवर-महाय स्वयवरोत्सवाय, नरेन्द्रान्, यावदागमयते आगमनेनानयनेन विलम्बत इत्यर्थं । 'आगमे क्षमायामात्मनेपद वक्तव्यम्' । 'क्षमोपेक्षा कालहरणे'ति काशिका । तावदेव ऋषिर्नारदः, 'ऋत्यक्' इति प्रवृत्तिभावः । इन्द्र दिदृक्षु-रिन्द्रदिदृक्षु सन्, मधुमिषामुवत् गम्यादिषाठाद् द्वितीयतमासः । त्रिदशधाम स्वर्गं प्रति जगाम । सर्गेऽत्र स्वागतावृत्तम् । 'स्वागतेति रनमाद् गुरुयामम्' इति लक्षणात् ॥ १ ॥

अन्वय —अथ सः महोन्द्र स्वयवरमहाय यावत् नरेन्द्रान् आगमयते तावत् एव इन्द्रदिदृक्षु ऋषि नारद त्रिदशधाम जगाम ।

हिन्दी—पुत्री दमयती का समास्वासन कर वह धरती का इन्द्र (भीमराज) स्वयवरमहोत्सव (में सम्मिलित होने) के निमित्त जब राजाओं (को निमन्त्रण दे) की प्रतीक्षा कर रहा था, तब ही इन्द्र को देखने के इच्छुक ऋषि नारद देवलोक गये ।

टिप्पणी—लोक-परंपरा में कहा जाता है कि नारद कलहप्रिय ऋषि हैं—'नरसमूहं कलहद्वारा छतीति नारदः' । प्रस्तुत प्रसंग में भी नारद की स्वयंयात्रा सधर्म का एक कारण बनी । विद्याधर के अनुसार उत्प्लेक्ष्य अलंकार छेकानुप्रास । इस सर्ग के श्लोक संख्या १-१३३ में स्वागता छंद है, जिसके

प्रत्येक चरण मे ग्यारह वर्ण इस क्रम से होते हैं—१ रगण (S1S), १ नगण (111), १ भगण (S11), दो गुरु (SS) ॥ १ ॥

नात्र चित्रमनु त प्रययौ यत्पर्वतं स खलु तस्य सपक्ष ।

नारदस्तु जगतो गुरुश्चैविस्मयाय गमन विललङ्घे ॥ २ ॥

जीवातु—अथ षड्भिस्तद्गमनप्रकार वर्णयति—नेत्यादि । पर्वतो नारद-सखो मुनि शैलश्च । 'पर्वत शैलदेवर्षो' इति विश्व । त नारदमनु प्रययाविति यद् अत्र चित्रमाश्रयं न । कुत ; स पर्वतस्तस्य तारदस्य सपक्ष सखा खलु पक्षवारश्चेति गम्यते । उभयथाप्यनुयान युक्तमेवेति न चित्रमित्यर्थ । किंतु, जगतो लोकस्य उच्चैरन्नत , गुरुराचार्यं तस्मादलघुश्च, स नारदस्तु, विस्मयाय गमन विललघे लघयामास । तल्लघन विस्मयाय भवतीत्यर्थ । गुरुद्रव्यस्य पातनार्हस्य उत्पतन विषद्वमिति श्लेषोत्थापितो विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ २ ॥

अन्वय —यत् पर्वतं तम् अनुययौ अत्र चित्रं न, खलु स तस्य सपक्ष, जगतं गुरुं नारदं तु गमन विललङ्घे, उच्चै विस्मयाय (अथवा 'जगतं उच्चै गुरुं नारदं तु गमन विललङ्घे, विस्मयाय' । अथवा 'उच्चै गमन विललङ्घे, विस्मयाय ।') ।

हिन्दी—जो कि पर्वत ऋषि उन (नारद) के पीछे-पीछे गये, इसमें आश्चर्य नहीं है, क्योंकि वे उनके सपक्ष (अर्थात् पक्षघर मित्र) हैं, जगत् के गुरु नारद ने जो आकाश का लघन किया, यह बड़े आश्चर्य की बात है । (अथवा 'जगत् के बड़े गुरु होकर नारद जी ने बात है ।' अथवा 'ऊँचे आकाश का लघन किया, यह बात है ।') ।

टिप्पणी—इस श्लोक मे प्रयुक्त 'पर्वत' (पहाड़ और पर्वत नामक ऋषि) 'सपक्ष' (पक्ष और मित्र), 'नारद' (नार जल ददाति नारद =मेघ और देवर्षि नारद) 'गुरु' (भारी और पूज्य) अनेकार्थ शब्द हैं । इस आधार पर उक्त सामान्य अर्थ के अतिरिक्त एक अर्थ की कल्पना हो जाती है—पहाड़ (पर्वत) मेघ (नारद) के पीछे-पीछे गया, यह आश्चर्य नहीं है, क्योंकि यह पक्ष वाला है (इन्द्र द्वारा पक्ष काट देने से पूर्व पहाड़ों के भी पक्ष थे, यह पौराणिक मान्यता है ।), मेघ (नार-जलयुक्त अतएव) भारी होकर भी

वो आकाश-रूपन कर गया, यह अक्षरज है। सबल बादल की बरस जाना चाहिए। श्लेषार्थक शब्दों के आधार पर यहाँ जो विरोध आनासित हो गया है, इस आधार पर मन्त्रिनाय ने उस श्लोक में श्लेषोत्पादित विरोधानाश-लकार माना है, विद्याधर ने भी गुण और क्रिया में विरोध के कारण विरोध का निर्देश किया है। विरोध का परिहार इस प्रसंगगत अर्थ से हो जाता है कि गुरु का अर्थ भारी नहीं, पूज्य है। पूज्य होकर भी नारद जी अपनी प्रकृति के अनुसार आचरण करते स्वर्ग लोक पहुँचे। विविधलोक-भ्रमण तो नारद का स्वभाव है। पर्वत मुनि का भी इसी कारण स्वर्गमन विम्बयजनक नहीं है कि वे उनके मित्र और अनुयायी थे। वस्तुतः आश्चर्य का कारण कुछ भी नहीं है। प्रकाशकार ने 'अगत गुरु नारदस्तु विस्मयाय उच्चै गगन विल्लङ्घ्ये' उच्यते करते 'विस्मयाय' का अर्थ किया है, पक्षियों के स्मय (आश्चर्य) के लिए—'वीना पक्षिणामपि स्मयाय वेगातिशयेनाद्भुताय'—वेगातिशय से पक्षियों को भी आश्चर्य में डालते—अर्थात् पक्षियों की गति से भी तीव्र गति से अगतगुरु नारद ऊँचे गगन को पार कर गये ॥ २ ॥

गच्छन्ना पथि विनैव विमान व्योम तेन मुनिना विजग्राहे ।

साधने हि नियमोज्ज्वलनाना योगिना तु तपसाऽखिलमिद्धिः ॥ ३ ॥

जीवातु—गच्छतेति । पथि विमान व्योमवान विनैव गच्छता तेन मुनिना, व्योम विजग्राहे प्रविष्टम् । तथा हि, साधने उपाये नियमोज्ज्वलनात् क्रियामिद्धौ नियमेन साधनान्तरापेक्षेत्पर्य । अज्वलनानामस्मदादीना, योगिना तु तपसा योगधर्मपीत्रान्विमिद्धिः सर्वकार्यमिद्धिहि । तस्मान्हा-योगिनोऽप्य किं विमानेनेति नात्र । सामान्येन विशेषममर्षनम्पोऽर्षान्तर-न्यासः ॥ ३ ॥

अन्वय —विमान विना एव पथि गच्छता तेन मुनिना व्योम विजग्राहे, हि साधने अज्वलनाना नियम योगिना तु तपसा अखिलमिद्धिः ।

हिन्दी—विमान अर्थात् साधोचित वाहन के बिना ही मार्ग में यात्रा करते वन मुनि (नारद) ने आकाश जालोचन कर डाला (आकाशयात्रा कर डाली), यद्यपि साधन (वाहन, सवारी) तो सामान्य जनों को आवश्यक है, योगियों की ता तप से ही सब सिद्धि हो जाती है ।

टिप्पणी—'विमान' को 'व्योम' का विशेषण मानकर और 'विना एव' का अर्थ 'पक्षितुल्य' मान कर यह अर्थ भी किया जाता है कि पक्षि के समान जाते मुनि ने 'विमान' अर्थात् परिमाणातीत, अतिविस्तीर्ण आकाश पार कर लिया। वस्तुतः बाह्यो से सामान्य जन यात्रा करते हैं, तपस्वी योगिजनों को बाह्यादि साधन अपेक्षित नहीं, वे तो तपोबल से समस्त काय कर डालते हैं। मल्लिनाथ के अनुसार सामान्य से विशेष का समर्थनपरक अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुसार विशेषोक्ति और काव्यालिंग अलंकार ॥ ३ ॥

खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान्लङ्घते स्म मुनिरेष विमानान् ।

अथितोऽप्यतिथितामनुमेने नैव तत्पतिभिरद्भिविभ्रै ॥ ४ ॥

जोवातु—खण्डितेति । एष मुनि, खण्डितो निरस्त इन्द्रभवनादीनामभिमानोऽहङ्कारो यंस्ताव, ततोऽपि समुद्धानित्यर्थं । विमानान् देवगृहान्, लङ्घते स्म अतिचक्राम । किं बहुना, अद्भिविभ्रै पादपतितं, तत्पतिभिर्विमानाध्युपितैर्देवै अथित प्रार्थितोऽपि, अतिथितामातिथ्य, नैवानुमेने । एतन्मात्रविलम्ब च नासहिष्ठेत्यर्थं ॥ ४ ॥

अन्वय—एष मुनि खण्डितेन्द्रभवनाद्यभिमानान् विमानान् लङ्घते स्म, अद्भिविभ्रै तत्पतिभि अथित अपि अतिथिता न एव अनुमेने ।

हिन्दी—ये मुनि (नारद) इन्द्र आदि के आवासों के अभिमान को भी खण्डित करते विमान (देवगृहों) को लंगते जा रहे थे, चरणों में प्रणत उनके स्वामियों द्वारा प्रार्थना की जाने पर भी (उनका) आतिथ्य (नारद ने) नहीं स्वीकारा ।

टिप्पणी—'विमान' का अर्थ 'सतखटा घर' (सतमजिला मकान) भी होता है, अर्थात् इतने ऊँचे ऊँचे थे कि बड़े-बड़े देवगृह भी उनके समुल्ल मगण्य थे । ऐश्वर्य से परिपूर्ण ऊँचे-ऊँचे आवास । जाते हुए नारद जी को प्रणाम करते उन घरों के स्वामी उनसे आतिथ्य ग्रहण की प्रणत प्रार्थना करने पर नारद जी ने विलंब हो जाने व कारण प्रार्थना स्वीकारी नहीं । विद्याधर के अनुसार उपमा और विभावना ॥ ४ ॥

तस्य तापनभिया तपन स्व तावदेव समकोचयदधिः ।

यावदेव दिवसेन शशिव द्रागनप्यत न तन्महमेव ॥ ५ ॥

जीवानु—तस्येति । तपनोऽङ्क, तस्य मुने (कर्मण), तापनाद्भिया, सन्तापोऽस्य भविष्यतीति मनेन स्वभात्मीयमचित्तेजस्तावदेव प्रागेव, समकोच-
यत् सङ्कोचिनवान् । यावदेव तपनो दिवसेन दिवा, आतपेन स्वीजना, शशीव,
तन्महत्ता तस्य तेजसेव, द्राक् मपदि, स्वयमेव नातायन, मुनितापनादात्महा
नेवैरभात्मनङ्कोच इति मत्वा मन्द्रप्रकाश म्यिन इत्ययं । मया च सूर्याऽपि
तेजिष्ठो मुनिरिति भाव ॥ ५ ॥

अन्वय — तस्य तापनभिया तपन स्वमू अचि तावत् एव समकोचयत्
यावत् एषः तन्महता दिवसेन शशी इव द्राक् न अतप्यत ।

हिन्दी—उनके द्वारा प्राप्त होने वाले सताप को आशका से अथवा उनको
ताप न हो, इस मय से सूर्य ने अपने तेज को पहिले ही उतना सङ्कोचिन कर
लिया, जितना कि यह उन (नारद) के तेज से दिन के द्वारा चन्द्र के समान
शीघ्र तप्त न हो ।

टिप्पणी—सूर्य ने एक विशिष्ट मात्रा में—एक नियत परिमाण में अपने
तेज अर्थात् तापनक्षमता को क्षीण कर लिया । सूर्य को दो प्रकार की जायकार्य
थी,—एक तो यह कि मुनि यदि तपन से तप्त होंगे तो क्रुद्ध हा सूर्य को शाप दे
सकते हैं, दूसरे यह कि यदि तेज अधिक क्षीण हो जायेगा तो जैसे दिन में चन्द्र
की अवमानना होती है, वैसे ही तेजोहीन होने से सूर्य की अवमानना होगी ।
अतः सूर्य ने अपने तेज को उतनी ही मात्रा में क्षीण किया जितने में देवर्षि
को ताप न ध्याये और स्वयं सूर्य भी तेजोहीन न हो जाय । भाव यह कि
नारद जो सूर्य के समान ही अथवा उससे भी अधिक तेजस्वी थे । उनके समुष
सूर्य का तेज भी क्षीण हो गया । माघकवि ने 'शिशुपालवध' (प्रथम सर्गारम्)
में नारद के तेज की सूर्य जीर अग्नि के तेज से समता की है—'गन तिरश्चीन-
मनूकनाग्ये प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलन हविर्मुञ्जः'—इत्यादि । विशाधर के अनुसार
अनिर्गोक्ति और उपमा अलंकार ॥ ५ ॥

अनूहिनमणिद्विजराज यत्करैरह तेन मदा तम् ।

पत्रभूत् खलु करैद्विजराजः कर्म कः स्वकृतमत्र न भुङ्क्ते ? ॥ ६ ॥

जीवानु—पयंभूदिति । दिनमणि सूर्य, द्विजराज चन्द्र ब्राह्मणोत्तमख,
करैरशुनि हस्त्रैश्च, पयंभूत् परिभूतवानिति यत् । तेन परिभवेन (हेतुना)

तदा नारदागमनकाले, त दिनमणि, द्विजराजो ब्राह्मणोत्तमश्च द्रश्च, करैरसु-
भिर्हंस्तैश्च, पर्यभूत् । अहह अदभुतम् । 'अहहेत्यदभुते खेदे' इत्यमरः ।
स्वकृतद्विजराजपरिभवदोषात् स्वयमद्य तेन परिभूत इत्यर्थः । तथा हि, अत्र
जीवलोके क स्वकृते (कर्म) न भुङ्क्ते । सर्वेषामपि स्वकर्मफलमनुभाव्यमेवे-
त्यर्थान्तरन्यासः ॥ ६ ॥

अन्वय — अहह यत् दिनमणि द्विजराज करं पर्यभूत् तेन खलु तदा त
द्विजराज करं पर्यभूत्, अत्र क स्वकृत कर्म न भुङ्क्ते ।

हिन्दी—अहह, जो दिनमणि (सूर्य) ने द्विजराज (ब्राह्मणराज, चन्द्र)
को अपने करो (किरणरूप हाथों) से परिभव दिया, उससे ही उस काल
उस (सूर्य) को द्विजराज (ब्राह्मणराज नारद अथवा उनके ही रूपमें चन्द्र)
ने अपने हाथों परिभव दिया । (यहाँ सप्तर मे) कौन अपने किये कर्म को
नहीं भोगता ? (सभी को कर्मफल भोगना पडता है) ।

टिप्पणी—सूर्य ने एक ब्राह्मण (चन्द्र) को अपने हाथों अपमानित
किया, दूसरे ब्राह्मण नारद अथवा उनके ही रूप में चन्द्र के हाथों सूर्य को
अपमानित हो अपने किये को भोगना पडा । कर्मफल भोगना ही पडता है ।
नारद के सूर्याधिक तेजस्वी होने के विषय में प्रकारांतर से उक्ति । मल्लिनाथ
के अनुमार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर के अनुमार उत्प्रेक्षा और अर्थान्तर-
न्यास ॥ ६ ॥

विष्टर तटकुशालिभिरद्भिः पाद्यमध्यमथ कच्छरुहाभिः ।

पद्मवृन्दमधुभिर्मधुपर्कं स्वर्गसिन्धुरदितातिथयेऽस्मै ॥ ७ ॥

जीवातु—विष्टरमिति । अथ स्वर्गसिन्धुमन्दाकिनी, अतिथये अस्मै नारदाय,
तटकुशानामालिभिरावलिभिर्विष्टरमासन, 'वृक्षासनयोविष्टर' इति पद-
निपात, अद्भिः पाद्य पादार्थं जल, कच्छरुहाभिजलप्रायभूम्युत्पन्नाभिर्हंताभिः
अध्यम् अर्घ्यं पुष्पफलादि, 'पादार्याम्याञ्च' इति तादर्थ्ये यत्प्रत्यय । पद्म-
वृन्दाना मधुभिर्मकरन्दं, मधुपर्कञ्च अदित दत्तवती । ददातेर्लङि तद् ॥ ७ ॥

अन्वय — अथ स्वर्गसिन्धु अतिथये अस्मै तटकुशालिभि विष्टरम् अद्भिः-
पाद्यम् कच्छरुहाभि अध्यं पद्मवृन्दमधुभि च मधुपर्कम् अदित ।

हिन्दी—नन्द्यन्तरे स्वर्नदी मन्दाकिनी ने अतिथि नारदजी को तटवर्ती कुटो का जासन, जल का पाद्य (चरण धोने के लिए), जलप्लात्रों से (फूल फल आदि) अर्घ्य और कमल-मधु से मधुपर्क समर्पित किया ।

टिप्पणी—अतिथि-सत्कार का कार्य देवन्दी मन्दाकिनी द्वारा सप्लन । आसन, चरण प्रक्षालन, अर्घ्य और मधुपर्क के समर्पण से यह कार्य हुआ । विद्याधर के अनुसार दीपक अलङ्कार ॥ ७ ॥

स व्यतीत्य वियदन्तरगाध नाकनायकनिकेतनमाप ।

सम्प्रतीयं भवसिन्धुमनादि ब्रह्म शर्मभरचारु यतीव ॥ ८ ॥

जीवातु—स इति । मुनि , अगाध, वियदन्तनेमोऽभ्यन्तर व्यतीत्य, नाक नायकनिकेतनम् इन्द्रभवन, यती योगी, अनादि, भवसिन्धु सत्साराग्निम्, सम्प्रतीयं शर्मभरचारु परमानन्दसुन्दर ब्रह्म परमात्मानमिव आप ॥ ८ ॥

अन्वय —अनादि भवसिन्धु सम्प्रतीयं शर्मभरचारु ब्रह्म यती इव स अत अगाध त्रियत् व्यतीत्य नाकनायकनिकेतनम् आप ।

हिन्दी—जैसे आदिरहित (नित्य प्रवहणशील) सत्सारागर को भली भाँति तर कर परमानन्द सुन्दर ब्रह्म को योगी प्राप्त करता है, वैसे ही व (नारद जी) मध्यवर्ती अगाध (विस्तीर्ण) आकाश को पार कर स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) के आवास पर पहुँचे ।

हिन्दी—इन्द्र का निकेतन भी 'शर्मभरचारु' है, अतः ब्रह्म से उसकी तुलना की गयी । स्वर्गप्राप्ति भी पुण्य से ही सम्भव है । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार अनुप्रास और उपमा ॥ ८ ॥

अर्चनाभिरुचितोच्चतरामिथ्यात् त सदकृतातिथिमिन्द्रः ।

यावदहंकरण किल साधो प्रत्यवायधुनये न गुणाय ॥ ९ ॥

जीवातु—अर्चनाभिरिति । इन्द्र , तमतिथि मुनिम्, उचितादिहितात्, उच्चतरामिरयिक्ताभि, अर्चनाभि पूजानि , चारु यथा तथा सदकृत सत्कृतवान्, आश्रवानित्यर्थ । 'आदरानादरयो सदमनी' इति निपातनात् प्राक् प्रयोग । अधिकाचरणे हेतुमाह यावदहं यावदुक्तम् 'यावदवधारणे' इत्यव्ययीभाव । 'यावदहंस्य करणम्' इति षष्ठीतत्पुरुष । साधो शब्दालो प्रत्यवायधुनये

अकरणदोषनिवारणाय, गुणायोत्कर्षाय न विल सलु । मामान्येन विशेषमम-
र्थंनरूपोऽर्थान्तरन्यास ॥ ९ ॥

अन्वयः—इन्द्र तम् अतिथिम् उचितोच्चतरामि अर्चनामि चारु सदकृतं,
साधो यावदहंकरण प्रत्यवायघृतये किल, गुणाय न ।

हिन्दी—इन्द्र ने उन अतिथि (नारद) को उचित से भी उच्चतर
पूजाविधान द्वारा मलो-भाति सत्कारा, साधु का यथोचित सत्करण—आदर-
पूजादि अकरणजन्य दोष की घृति (निवारण) के लिए ही होता है, तदतिरिक्त
(लाम) के लिए नहीं ।

टिप्पणी—नारद जी के इन्द्रावास पहुँचने पर इन्द्र ने यथानियम विधि-
विधान से उनका सत्कार किया । ऐसा न करने से अर्थात् पूजनीय की पूजा
न करने से दोष होता है, अतः इस दोष से बचने के लिए पूज्यपूजा नितांत
आवश्यक है । यह तो मामा-य विधान है, कोई अतिरिक्त उपलब्धि इससे नहीं
होती । कालिदाम ने बताया है—‘प्रतिवचनाति हि श्रेय पूज्यपूजाव्यतिक्रम ।’
(रघुवश-प्रथमसर्ग) । अर्थान्तरन्यास अलंकार ॥ ९ ॥

नामधेयसमतासखमद्रेरद्रिभिन्मुनिमथाद्रियत द्राक् ।

पर्वतोऽपि लभता कथमर्चा न द्विज स विबुधाधिपलम्भी ? ॥ १० ॥

जीवातु—नामधेयेति । अथ नारदसत्कारानन्तरम्, अद्रिभिदिन्द्र, अद्रे
पवतस्य, नामधेयसमतया नामसामान्येन सखाय तत्सख मुनिं पर्वताख्य, द्राक्
द्रुतमाद्रियत सत्कृतवान् । पर्वत पर्वतारे कथं सत्कारमलभतेत्यत्राह—
पर्वतोऽपि न द्विजो विबुधाधिप देवेन्द्र पण्डितोत्तम च, लभते प्राप्नोतीति
तल्लम्भी । ‘विबुध पण्डिते देवे’ इति विश्व । स मुनि, कथमर्चा पूजा, न
लभताम् ? लभतामेवेत्यर्थः । द्विजोऽभ्यागतो महत् प्रतिपक्षादपि विवेकिन
पूजा लभत इति भावः ॥ १० ॥

अन्वयः—अथ अद्रिमित् अद्रे नामधेयसमतासख मुनि द्राक् आद्रियत
विबुधाधिपलम्भी स द्विज पवत अपि कथम् अर्चा न लभताम् ?

हिन्दी—तत्पश्चात् पर्वतों के भेता (इन्द्र) ने ‘पर्वत’ नाम के साम्य से
पवत की समता रखने वाले मुनि (पर्वत) का तुरन्त आदर सम्मान किया ।

विबुधों के स्वामी को प्राप्त वह ब्राह्मण पर्वत (होने पर) क्यों न पूजा प्राप्त करता ?

टिप्पणी—इन्द्र ने पर्वतों के पक्ष काट दिये थे, वे थे पर्वतारि । इस स्थिति में कारव्यंजनक है कि उन्होंने पर्वत का स्वागत किया । पर इन्द्र ने मुनि को पूजा इसलिए की कि वे तो नाममात्र के पर्वत थे, कोई वास्तविक पहाड़ नहीं, जो उठकर जा गिरते पत्थरों को चीपट कर दिया करते थे, जिससे इन्द्र ने उनकी उठने की क्षमता समाप्त कर दी । पर्वतमुनि थे, शात्रु, सौम्य, साधु, परपोटक नहीं । एक और कारण भी है—वे पर्वत नामधारी मुनि 'विबुधादिपत्न्यमी' ये अर्थात् पंडितों के राजा—विद्वच्छ्रेष्ठ नारद के साथ जाये थे, मन्त्रे ही वे मुनि जडबुद्धि हों पहाड़ पथर के समान । अथवा पर्वत नाम होने पर भी उन्होंने श्रेष्ठ विद्वानों का मंगलाम करके विद्या अर्जित कर ली थी, अतः वे पूजाहर्षे थे । अथवा 'पर्वत' विबुधादिपत्य अर्थात् देवराज को प्राप्त कर क्यों न पूजा प्राप्त करते ? मज्जन तो घर जाये शत्रु का भी सम्मान करते हैं । नाव यह है कि 'पर्वत' मुनि नाम से ही पर्वत थे, वास्तविक पहाड़ नहीं, वे पहिलवर ये अथवा पहिलदराज नारद के साथ जायें थे, वे देवराज इन्द्र जैसे महान् व्यक्ति के निकट पहुँचे थे अथवा 'पर्वत' (पहाड़) पर्वतारि के कारण आ गया था । अथवा 'पर्वतोऽपि द्विज' पूजा कथं न स्मृतम् ?' पहाड़-पथर-सा जडमूर्ख होने पर भी ब्राह्मण को पूजा मिलती ही है । विद्याधर के अनुसार 'भोज गुण और काव्य-निग्न अलंकार ॥ १० ॥

तद्भूजादनिविनोपमपयाद् द्योद्रुमानपि विवेद मुनीन्द्र ।

न्व महन्वितिशुगिक्षितया तान् दानपारमितयैव वदान्यान् ॥ ११ ॥

जीवानु-सदिति । मुनीन्द्रो नारदन्तान्, प्रसिद्धान् द्योद्रुमान् कल्पवृक्षानपि अतिवित्तीर्णपयादितिमात्रदत्तपूजात् तन्म्येन्द्रस्य, भूजादन्तादेव, गुरो स्व स्वर्गे, महत्स्यत्या सहवासेन, मुचिक्षितया स्वम्यन्तया, दानपारमिता नाम दानकर्तव्यताप्रतिपादको ग्रन्थविशेष, तयैव कारणेन वदान्यान् विवेद । इन्द्रहस्तः कल्पवृक्षानामपि दानविद्योनेष्टे त्पुत्रैक्षितवानि नर्थ । कल्पवृक्षातिपाद्योशय-नस्येति नव ॥ ११ ॥

अन्वयः—मूनीन्द्र अतिवितीणसपर्यात् तदभुजात् स्व सदृश्यतिसुशिक्षितया दानपारमितया एव तान् द्योद्गमान् अपि वदान्यान् विवेद ।

हिन्दी—मुनिराज नारद ने अतिशय पूजा सत्कार करने वाले उस (इन्द्र के) बाहु (रूप गुरु) से अपने साथ रहने के कारण मली भाति सीख ली गयी दान की पारमितता (अतिशय दानशीलता) द्वारा उन (प्रसिद्ध) स्वर्ग के वृक्षो (कल्पवृक्ष आदि) को भी दानी (उदार) समझा ।

टिप्पणी—विश्व में प्रसिद्ध है कि कल्पवृक्ष इच्छित वस्तु देता है—ऐसा दानी है । नारद जी ने पाया कि इन्द्र ने जो उनकी इतनी पूजा अर्चना की, उसी 'वदान्य' अर्थात् उदार इन्द्र के दानशीलता में प्रवण हाथ की सगति में रहकर कल्पवृक्ष आदि ने 'वदान्यता'—उदारता सीख ली है । यह उदारता कल्पवृक्षादि का सहज गुण नहीं है, ससर्गज गुण है—'ससर्गजा दोषगुणा भवन्ति ।' 'दानपारमिता' एक ग्रन्थ का नाम भी है, जिसमें दान-कृतव्यता का प्रतिपादन हुआ है । यहाँ यह आशय भी लिया गया है कि इन्द्र के भुजारूप गुरु से कल्पवृक्षादि ने उक्त ग्रन्थ का अध्ययन किया है । 'प्रकाश'-कार ने इसे क्लिष्ट, अतएव उपेक्ष्य व्याख्या माना है । भाव यह है कि इन्द्र ने इतनी अधिक उदारता से नारद का पूजा सम्मान किया कि उसकी 'वदान्यता' के आगे कल्पवृक्ष भी नगण्य बन गया । विद्याधर के अनुसार अतियोजित अलकार ॥

मुद्रिनान्यजनसकथनः सन्नारद बलरिपु समवादीत् ।

आकर स्वपरभूरिकथाना प्रायशो हि सुहृदा सहवास ॥ १२ ॥

जीवातु—मुद्रितेति । बलरिपुरिन्द्र, मुद्रितान्यजनसकथनो निवारितेतर-
पनालाप सद्र, नारद समवादीत्, तेन सह सल्लापमकार्षीदित्यर्थं । किं सवाद्य
तदाह—प्रायश सुहृदोमित्रयो सहवास सङ्गम, स्वे आत्मीया परे च
स्वपरे तेषा य भूरय कथा प्रसङ्गास्तासाम् आकर खनिहि । इष्टालापाना-
मित्तान्नावात् सवादसिद्धिरित्यर्थात्तरन्यामामिप्रायः । 'क्षनि स्त्रियामाकरः
स्यात्' इत्यमर ॥ १२ ॥

अन्वयः—मुद्रितान्यजनसकथनं गन् बलरिपु नारद समवादीत्, हि सुहृदोः सहवास प्रायशः स्वपरभूरिकथानाम् आकर ।

हिन्दी—अन्य व्यक्तियों के साथ वातांताप रोक्ते हुए बलदेव का शत्रु (इन्द्र) नारद से सादर वातांताप करने लगा, कारण कि दो मित्रों की एकत्र स्थिति प्रायः अपनी-परायी अनेक कथाओं का आकर होती है ।

टिप्पणी—अन्य व्यक्तियों से वातांताप बंद कर इन्द्र का नारद से सहाय, एक तो उन दोनों की घनिष्टता का धोतन करता है, दूसरे अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा इन्द्र की दृष्टि में नारद को अधिक आदरणीय भी प्रनामित करता है । मन्त्रिणाप के अनुसार अर्थांतरदास, विद्याधर ने अर्थांतरन्यास और जाति का निर्देश किया है १२ ॥

तं कथानुकथनप्रमृताया दूरमालपनकौतुकितायाम् ।

भूनुना विग्मनागमहेतु ज्ञानुमिच्छुरवदच्छनमन्यु ॥ १३ ॥

जीवानु-उमिति । शत्रुमन्यु शत्रुः । 'मन्युर्दग्धे कर्ता कृषि' इत्यमरः ।

आन्धनकौतुकितायामाभापणोक्त्याया, दूर कथानुकथनप्रमृतायाम् उत्तर-प्रस्तुतराम्ना दूर गताया मन्था, प्रसक्तानुप्रसक्त्या सङ्गन्धेभ्यः । चिर विरा-त्प्रमृति मूढता राज्ञाम्, जनागमहेतु ज्ञानुमिच्छु शत्रु । त नारदम्, जवदद-पृच्छदित्यर्थे ॥ १३ ॥

अन्वय — शत्रुमन्यु आलपनकौतुकितया दूर कथानुकथनप्रमृताया विर मूढताया अनागमनहेतुं ज्ञानुम् इच्छुः शत्रुम् अवदत् ।

हिन्दी—दो मित्रों के कर्ता शत्रुः (इन्द्र) ने आभाषण कौतुक के कथन और अनुकथन में अत्यधिक हो जाने पर (पर्याप्त वातांताप के अनन्तर) विरकाण से राजाओं के (स्वर्ग) में न जाने का कारण जानने का इच्छुक होते हुए उन (नारद) से कहा ।

टिप्पणी—आभाषण शिष्टाचार-परक वातांताप के परवान् जब अन्तरा वातांता होने लगे तो शत्रुमन्युकर्ता होने से इन्द्रद प्राप्तकर्ता देवराज ने नारद को से जानना आहा कि पहिले तो युद्ध में समुत्त लड और गति प्राप्त करने वाले अनेक मूर्खों स्वर्ग जाया करते थे, अब विरकाण से ऐसा नहीं हो रहा है, इनका क्या कारण है ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अन्वय अनास ॥ १३ ॥

प्रागिव प्रसुवते नृपवंशा किन्तु सम्प्रति न वीरकरोरान् ? ।

ये परप्रहरणं परिणामे विक्षता क्षितितले निपतन्ति ॥ १४ ॥

जीवातु—प्रागिति । नृपवशा राजकुलानि, नृप एव वशा वेणवश्च ।
‘वशी वेणो कुले वगै’ इति विश्व पूर्वमिव, सम्प्रति, वीरस्त्वेन करीरानङ्कुरान् ।
‘वशाङ्कुरे करीरोऽस्त्री’ इत्यमर । न प्रसुवते न जनयन्ति । किं तु ? किं
तैरत आह—य इति ये वीरकरोरा, परिणामे परिपक्वावस्थाया, परेषामरीणाम्
अप्येषा च । ‘पर दूनान्यमुख्येषु परोऽरिपरमात्मनो’ इति वैजयन्ती ।
प्रहरणं रायुधं दात्रादिभिश्च, विक्षताः सन्त क्षितितले निपतन्ति ॥ १४ ॥

अन्वय —नृपवशा प्राक् इव सम्प्रति किं वीरकरोरान् न प्रसुवते तु, ये
परिणामे परप्रहरणं विक्षत क्षितितले निपतन्ति ?

हिन्दी—राजकुल रूपी बाँस पहिले की भाँति आजकल क्या वीर रूप
अकुरो को जन्म नहीं देते जो कि परिणाम (अन्त समय) में (अथवा पूर्णता-
रूप में) शत्रुओं के प्रहारों से घायल हो (आघात) भूतल में गिरते हैं ?

टिप्पणी—इन्द्र का प्रश्न है कि जैसे बाँसों के ‘करीर’ (अकुर) परिणत
हो जाने पर (पक जाने पर) कुठारादि से आघात पा धरती पर आ गिरता
है, वैसे ही ‘वीर करीर’ (करीरान् हस्तिपातनसमर्थात्)—हाथिया को
गिरानेवाले वीर अब क्या जन्म नहीं लेते, जो युद्ध में समुल्ल धाव खाकर धरती
पर गिरें ? अर्थात् अब ऐसे रणवीर राजा उत्पन्न नहीं होते, जो युद्ध में प्राण दें,
रोगादि से जजर हो मृत्यु न पाते हों ? विद्याधर के अनुसार उपमा रूपक इलेप
का सकर ॥ १४ ॥

पाथिव हि निजमाजिषु वीरा दूरमूर्ध्वगमनस्य विरोधि ।

गौरवाद्गपुरपास्य भजन्ते मत्कृतामतिधिगौरवश्रद्धिम् ॥ १५ ॥

जीवातु—तत किमत आह—पाथिवमिति । वीरा पूर्वोक्ता रणपातिन,
पाथिव पृथिवीविकारम् अत एव गौरवान् गुरुत्वगुणयोगित्वाद्, उर्ध्वगमनस्यो-
स्पतनकर्मण, पाथिवत्वाद्भ्रूलोकप्राप्तेश्च, दूरमायन्त विरोधि निज वपु,
आजिषु युद्धेषु अपास्य मत्कृतामतियिसत्कारस्तस्य श्रद्धिम्, ‘श्रद्धयक’ इति
प्रवृत्तिभाव । नज ते हि । तादृशीरालाभे स्वस्यातिविलाभो न स्यादिति भाव ।

अन्वय—हि वीरा. पापिव गौरवात् ऊर्ध्वगमनस्य दूर विरोधि निज वपु आजिपु अपास्य मत्तृताम् अतिधिगौरवञ्चिद्वि नञन्ते ।

हिन्दी—क्योंकि वीरगम पृथ्वी (मिट्टा) से उत्पन्न अतएव गहर (मारी, पतनशील , ऊँचे (अथवा स्वर्ग) जाने के अतिशय विरोधी अपने शरीर को सन्नाह में त्याग कर मेरे द्वारा किये गये अतिधि-समान के गौरव-ऐश्वर्य को प्राप्त कर पाते हैं ।

टिप्पणी—जैसे मिट्टी धूल से बनी मारी वस्तु ऊँचे ऊपर न जाकर नीचे ही जा गिरती है, वैसे ही यह पापिव शरीर भी उच्च स्वर्ग-लोक नहीं जा सकता । वीर व्यक्ति मुझ में इस पापिव शरीर को छोड़ कर ही स्वर्ग में इन्द्र द्वारा सत्कार पा सकते हैं । माटी का शरीर क्षितिजल में पड़ा रह जाता है, शूद्र शरीर स्वर्गभागी होता है । योगाम्यासी और रण में समुच्च वीरगति पानेवाले व्यक्ति ही स्वर्ग प्राप्त करते हैं—'द्वाविमौ पुरुषौ लोके सुयमंभल-भेदिनौ । परिब्राह्म योगयुक्त्वश्च रणे चानिमुञ्चो हव ' ॥ १५ ॥

सामिशापमिव नातिययस्ते मा यदद्य भगवन्नुपयान्ति ।

तेन न श्रियमिमा बहु मन्ये स्वोदरैकमृतिकार्यैकदर्याम् ॥ १६ ॥

जीवातु—ननु तदलाभे तेषामेव सत्कारहानिस्तव तु न काचित् क्षति-रित्यत आह—सामिशापमिति । हे भगवन् मुने । ते वीरा अतिपय, अमि-शापेन सह वर्तव इति सामिशाप मिय्यामिशन्तनिव । 'अय मिय्यामिशन्नम् । अमिशाप ' इत्यमर' । मामद्य नोनयान्तीति यत् । तेन हेतुना । स्वोदरस्यै-कस्यैव, मृतिकार्येण, पोषणकृत्वेन, कदर्या कृपणाम् । 'कदर्ये कृपण क्षुद्र' इत्य-मर' । 'आत्मान धर्मकृत्य च पुत्रशारादय पीडयेत् । लोनाद्य नितरी आतुन् स कदर्ये इति स्मृत' ॥' इति च । इमा श्रिय न बहु मन्ये । अतिधिसत्कार-सूयस्य श्रीवैफल्यमेव क्षतिरिति भाव' ॥ १६ ॥

अन्वय—भगवन्, ते अतिपय सामिशापम् इव माम् यत् अद्य न उपपाति तेन स्वोदरैकमृतिकार्यैकदर्याम् इमा श्रिय बहु न मन्ये ।

हिन्दी—हे भगवन्, वे अतिधि अमिशस सह्य मेरे निकट जो आज नहीं आते हैं, उसमें निज उदरसाध नरने के कार्य में कुण्ठित इस स्थलश्री को मैं अधिक आदर नहीं देता ।

टिप्पणी—वीर स्वर्ग में आते नहीं, इन्द्र को यह मला प्रतीत नहीं होता ।
ऐसा प्रतीत होता है कि पुण्यात्मा राजा अब नहीं होते भूलोक में ॥ १६ ॥

पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धा सम्पदो विपद एव विमृष्टा ।

पात्रपाणिकमलापणमासा तासु शान्तिकविधिर्विधिदृष्ट ॥ १७ ॥

जीवातु—पूर्वेति । पूर्वपुण्यविभवस्य व्ययेन लब्धा सम्पदो विमृष्टा
विचारित विपद एव । सद्यः स्वोदयेन पुराकृतसुकृतनाशकत्वादिति भाव ।
'तासु विपत्सु सम्पद्रूपाम्वापत्सु । आसा सम्पदा, पात्राणा विद्याजातितपोवृत्त-
सम्पन्नाना पाणिकमलेष्वपण दानमेव विधिदृष्ट शास्त्रदृष्ट, शान्तिकविधि
शान्तिकर्मानुष्ठानम्, नष्टसुकृतादपि अत्युत्कृष्टसुकृतोत्पादनादिति भाव ।
अनेन बीजाङ्कुरन्याय उक्त ॥ १७ ॥

अन्वय—पूर्वपुण्यविभवव्ययलब्धा सम्पद विमृष्टा विपद एव, तासु
आसा पात्रपाणिकमलापण विधिदृष्ट शान्तिकविधिः ।

हिन्दी—पुराकृत पुण्यो के माहात्म्य के विनियोग से प्राप्त सपदाएँ विचार
करने पर विपदाएँ ही हैं, उन (सपद् रूप विपत्तियों) के रहने पर उनका
योग्य व्यक्तियों के करकर्मों में दान (ही) शास्त्र समत (अथवा विघाता
द्वारा निर्दिष्ट) शान्ति कर्म विधान है ।

टिप्पणी—यद्यपि धन लक्ष्मी आदि वैभव पूर्वपुण्य से मिलता है तथापि
विचार करने पर ज्ञात होता है कि उनका यदि उचित उपयोग न हो तो
सपत्ति विपत्ति बन जाती है । सपत्ति का उचित उपयोग यही है कि आवश्यक-
कतानुसार विद्या वय सपन्न उपयुक्त व्यक्तियों को दान कर जन-उपकार में
लगाया जाय । उचित उपयोग बिना सपत्ति मार ही है । पात्रता के विषय
याज्ञवल्क्य ने कहा है कि पात्रता न केवल विद्या से आती है, न केवल तप से,
विद्या तप—दोनों जिसमें हो, वह व्यक्ति पात्र होता है—'न विद्यया केवलया तपसा
वाऽपि पात्रता । यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्र प्रवीतितम् ॥' (याज्ञ० आचारा-
ध्याय) । सपत्ति मिलती है पुण्य से, पर यह है पाप, जिसके निवारण की—
शान्ति समन की—विधि उसका मत्पात्र का दान है । यही शास्त्र-विहित है ।
विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुपास रूपक अतिशयोक्ति का सवर है ॥

तद्विमृज्य मम सशयशिल्पि स्फोटमत्र विषये सहसाधम् ।

भूयता भगवतः श्रुतिमारैरद्य वाग्भिरघमर्षणश्चग्नि ॥ १८ ॥

जीवानु—तदिति । तत्तस्मात्, तत्र विषये जस्मिन्नर्थे, मम, सशयस्य शिल्पि तज्जनक, स्फोट, प्रभूतम्, अधमेन, तन्मूर्च्छत्वान्निष्याज्ज्ञानस्येति भाव । यद्वा, सशय शिल्पी जनको यस्य तदध दु ख, दु सहेतुत्वात्सशयस्येति भाव । 'दु सैनोऽयमनेष्वधम्' इति वैजयती । महिमा विमृज्य निवर्त्ये, भगवतो वाग्भिरद्य श्रुतिमारैर्वेदसारैः कर्णामृतैश्च । अधमर्षणश्चग्नि अधमर्षणीमि च्छग्नि- 'छिया. पुत्रत्' इत्यादिना पुत्रद्वारा । 'ऋत्यक' इति प्रकृतिभाव । भूयताम् । भावे लोट् । राशामनामनकारणमसदिग्ध ब्रूहोत्यर्थे । अत्र मुनिवाक्येष्वारोप्यमाणस्य अधमर्षणत्वस्य प्रकृताधरणोपयोगात् परिणामालङ्कार । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इति ऋज्जनात् ॥१८॥

अन्वयः—तत् अत्र विषये मम सशयशिल्पि स्फोटम् अध सहसा विमृज्य भगवत वाग्भि श्रुतिमारै अधमर्षणश्चग्नि भूयताम् ।

हिन्दी—सो इस विषय में मेरे शशय के जनक, वृद्धि को प्राप्त पाप को शीघ्र दूर करके आपके वचन वेद का सार अथवा कानों को अमृतसम लगनेवाली अधमर्षण ऋचाएँ (पापनाशक मंत्र) बनें ।

टिप्पणी—इन्द्र के मन में मूलोक के राजाओं के विषय में जो सदेह हो गया था, वह सद्य उसे पाप-सम कष्ट प्रदायक लग रहा था । नारद से उसने निवेदन किया कि वे इस विषय में दृढ़ सूचनाएँ देकर उसके सदेह को दूर करें । सदेह पाप है और नारद की शानी पापनाशक ऋचाएँ । मल्लिनाथ के अनुसार इस श्लोक में परिणाम अलङ्कार है, क्योंकि मुनिवाक्यों में आरोप्यमाण अधमर्षणता का प्रकृत अधहरण में उपयोग है । विद्याधर के अनुसार अति गयोक्ति और श्लेष है । अधमर्षण ऋचा—'ऋत च सत्य वामीडा इत्यादि (ऋक्० ८।८।४८) ॥ १८ ॥

इत्युदीर्यं मधवा विन्यस्यि वर्ययन्नवहित्वभरेण ।

चक्षुषा दशशतीमनिमेया तस्मिन्वान्मुनिमुखे प्रणिशाय ॥ १९ ॥

जीवानु—इतीति । मधवा इन्द्र, इत्युदीर्यं, ज्वहित्वन्नरण एवाश्रया-

तिशयेन, विनयाधि विनयातिशय, वर्धयन्निमेषा चक्षुषा दशशती दशाना
शताना समाहारः दशशती सहस्र, 'तद्वितायं-' इत्यादिना समाहारे द्विगाव-
कारान्तोत्तरपदत्वात् स्त्रिया 'द्विगो' इति डीप् । एतेन शतमन्त्री व्याख्याता ।
मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान् तस्थौ । लिट्. ऋसुरादेश ॥ १९ ॥

अन्वय — मधवा इति उदीयं अवहितरत्वभरेण विनयाधि वर्द्धयत् अनिमेषा
चक्षुषा दशशती मुनिमुखे प्रणिधाय तस्थिवान् ।

हिन्दा—इन्द्र इतना कह कर एकाग्रता की अतिशयता से विनीतभाव की
समृद्धि को बढ़ाता हुआ एक सहस्र अपलक नेत्र मुनि के मुख की ओर स्थिर
करके बैठ गया ।

टिप्पणी—यद्यपि देवराज होने के कारण इन्द्र के पलक-क्षपते ही नहीं थे,
तथापि यहाँ 'अनिमेष' का प्रयोग उत्सुकता और एकाग्रता की अभिव्यक्ति के
लिए है । भाव यह है कि अपना वक्तव्य समाप्त करके मुनि-वचन सुनने के
लिए उत्सुक इन्द्र एकाग्रचित्त हो गया । विद्याधर क अनुमार जाति
अलकार ॥ १९ ॥

वीक्ष्य तस्य विनये परिपाक पाकशासनपद स्पृशतोऽपि ।

नारद प्रमदगद्गदयोक्त्या विस्मितः स्मितपुरस्सरमाह्वयत् ॥ २० ॥

जीवातु—वीक्ष्येति । नारद नात्र्यातनपद स्पृशतोऽपीन्द्रत्वे तिष्ठतोऽपि ।
तस्येन्द्रस्य, विनये परिपाक प्रकर्षं वीक्ष्य विस्मित सन् सविस्मय सन्, कतरि
क्त । प्रमदगद्गदयोक्त्या हर्षविस्वरया वाचा स्मितपुरस्सर स्मितपूर्वमाह्वया-
दाध्वक्षे । 'अस्म्यति वक्तिरयातिभ्योऽङ्' इत्यङ्प्रत्यय ॥ २० ॥

अन्वय—पाकशासनपद स्पृशत अपि तस्य विनय परिपाक वीक्ष्य
विस्मित नारदा प्रमदगद्गदया उक्त्या स्मितपुरस्सरम् आह्वयत् ।

हिन्दी—इन्द्र-पद पर अधिष्ठित मी उसके विनय प्रकष को देख आश्चर्या-
वश नारद-हर्षगद्गदवाणी में मुसुराते हुए कहने लगे ।

टिप्पणी—अन-जीवन, किसी को अविनयी देखकर कहा जाता है—
'तो इद्रेपद पर बैठे हैं' इस प्रकार इन्द्रपद लोकमानस में अविनय का
घोषण है । इसी कारण इन्द्र को इतना विनयी पाकर नारद को आश्चर्य और

हयें हुआ, जो उनकी मद्गद वाणी और म्मित से प्रकट हुआ। विद्याधर की दृष्टि में तन्मन्त्र अन्कार छेदानुशास ॥ २० ॥

भिक्षिता घटनन्वी सुकृत यत्तत्परिधनविदः स्वविभूती ।

तच्छले तव परं यदि हेला क्लेशलक्ष्मणत्रिकादरद तु ॥ २१ ॥

श्रीशानु—निमित्ति । घटाना मखाना क्लेशहारः घटमखी (दात्री), परं सुकृत भिक्षिता माषिता । निजेहुँहादित्वादप्रधाने कर्मणि क्तः । तच्छले तन्म सुकृतम् फले स्वविभूती निरैश्वर्ये हेला जवला बनास्या यदि, 'हेला-वजा' इति वैजयन्ती । तत्परिधनविदो यात्त्रावलेमानिक्तस्य तव परं केवल तवैव । नात्स्येभ्यः । 'परं म्यादुक्तमानासर्वैरिद्रेषु केवले' इति विश्वः । माचक एव माचकदुष्ट जानानीति भावः । ननु धनिना दातृत्व किं चित्र तत्राह—केवेति । सत्य क्लेशलक्ष्मण तु अधिकारदरदम् अतिलोमकारि दुन्तवम् । त्वं तु मन्वद्युक्तकेशलक्ष्मणमन्त्रैश्वर्येनपिग्राह्येयीति कथं न चित्रमित्यर्थः । जय क्लेशवाक्येन हेलात्वघनयनाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यनिङ्गनल्लुहारः । 'हेतोर्वाक्य-पदार्थत्वं काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लक्षणात् ॥ २१ ॥

जन्वय—घटनखी, परं सुकृत भिक्षिता तच्छले स्वविभूती यदि हेला तत्परिधनविदः तव परम्, क्लेशलक्ष्मण तु अधिकारदरद तु ।

हिन्दी—(नारद ने कहा)—श्री यज्ञ करके वो पुष्पाजंन आपने किया है, उसके फल अपने ऐश्वर्य (इन्द्रपद) में यदि आपकी अवज्ञा है तो उस (घटनख करके पुष्पाजंन) के धन को समझनेवाले आपकी ही है, (आप किसी की नहीं), जो बन्धु कह दटाकर प्राण होती है, उसके प्रति तो अधिक आदर होता है ।

टिप्पणी—श्री यज्ञ करना बड़ा कठिन कार्य है। उसके पुण्य से ही इन्द्रपद मिलता है। सामान्य जन्मो इतने बड़े से प्राप्त दुर्लभ पद पर बड़ा मोह और मनता होती है, आदर होता है। बड़ा पद पाने से तब लोग कविनय भी आ जाता है। इन्द्र में यह सब नहीं है। उसे न क्लेशलक्ष्मण इन्द्रपद पर मोह है, न अमिमान, उसमें अविनय भी नहीं है, अतिभिन्तत्कार के प्रति तो वह विशेष आदरान है। नारद जी ने यही भावना व्यक्त की। इस श्लोक में

बलेय वाक्य द्वारा हेलाभाव का समर्थन होने से वाक्यार्थ हेतुक कार्यालिंग अलंकार है । मल्लिनाथ और विद्याधर-दोनों की यही मान्यता है ॥ २१ ॥

सम्पादस्तव गिरामपि दूरा यन्न नाम विनय विनयन्ते ।

श्रद्धघाति क इवेह न साक्षादाह चेदनुभव परमाप्त ॥ २२ ॥

जीवातु—सम्पद इति । किं बहुना, तव सम्पदो गिरामपि दूरा अगोचरा, कुत, यद्यस्माद्विनय न विनयते नाम न लुम्पन्ति खलु । नयतेर्लट् 'स्वरित-'
इत्यादिना आत्मनेपदम्, 'कर्तृस्ये चाक्षरीरे कर्मणि' इत्यस्मादिति केचित् ।
तदसत् । सम्पदा कर्तृणाम् अचेतनत्वेन कर्मणो विनयस्येन्द्रियनिष्ठत्वेन चाकर्तृ-
स्यत्वादिति । अतः स्तोतुमशक्या इत्यर्थं । किं त्विह विनयोत्तरत्वे परमाप्त
प्रमाणभूत साक्षादनुभव, प्रत्यक्षानुभवसिद्ध नहि चेत्क इव को वा, श्रद्धघाति
विश्वसिति, न कञ्चिदित्यर्थं । त्वत्सम्पदा विनयोत्तरत्वे साक्षादनुभवता
माह्वसाभेव श्रद्धा जायते नान्येषा, प्रायेणान्यत्र सम्पदा विनयहारित्वात् । किं
बहुना, वयमपि न श्रद्धम इति भाव । अत्र सम्पदा वागोचरत्वेऽपि तदगोचर
त्वोक्त्या असम्बन्धरूपातिशयोक्ति ॥२२॥

अन्वय—तव सम्पद गिराम् अपि दूरा मत् विनय नाम न विनयन्ते,
इह परम् आस साक्षात् अनुभव न आह चेत् क इव श्रद्धघाति ?

हिन्दी—तुम्हारी सपदा बाणी से भी अगोचर है, जिसने नम्रता को
नामता भी दूर नहीं किया है । इस विषय में परम विश्वसनीय प्रत्यक्ष अनुभव
यदि वक्ता न होता तो कौन (इस पर) विश्वास करता ? (कोई न करता) ।

टिप्पणी—सपत्ति प्राय मनुष्य को अविनयी बना देती है, जो धन
ऐश्वर्य ऐसा फल न दे, वह विशिष्ट है, अनिर्वचनीय है । स्वर्ग के अधिपति
इन्द्र को इतना विनयी देखकर नारद ने व्यक्त किया कि उसकी सपदा का
वर्णन बाणी का विषय नहीं है । स्वर्ग का राजा इतना शिष्ट और विनयी होगा,
इसका विश्वास वही कर सकता है, जिसने प्रत्यक्ष अनुभव किया हो, जैसा
नारद ने किया । अनुमानादि ज्ञान के साधनों से उस पर श्रद्धा समभव नहीं
है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पर सपदाओं की वागोचर होने पर भा जो
अगोचर कहा गया, इस कारण असंबन्धरूपीतिशयोक्ति है, विद्याधर का भी यही
निर्देश है ॥ २२ ॥

श्रीभरानतिथिसात्करवाणि स्वोपभोगपरता न हिनेति ।

पश्यतो बहिरिबान्तरपीय दृष्टिसृष्टिरधिका तव कापि ॥ २३ ॥

जीवातु—श्रीभरानिति । श्रीभरान् सम्पदुच्छ्रयान्, अतिथिसात् दाने-
नातिथ्यधीन, 'द्वेषेना च' इति चकारात् सातिप्रत्यय । करवाणि कुर्याम् ।
विध्यर्थे लोट् । 'आहुत्तमस्य पिच्च' इति मेनि । स्वोपभोगपरता आत्मम्भरित्व,
न हिता न श्रेयस्करीति पश्यतो जानत प्रेक्षमाणस्य च तव बहिरिव देह इव
अन्तरात्मयपि कापीय दृष्टिसृष्टि ज्ञानसृष्टिरशिसृष्टिश्च । 'दृष्टिज्ञानेऽशिसदसने'
इत्यमर. अधिका असाधारणी, द्वयोरपि दृष्टयो रिल्लक्ष्यद्वयोपात्तयोरभेदाध्य-
वसायेन बहिरिवेयुपमा ॥ २३ ॥

अन्वय—श्रीभरान् अतिथिसात्करवाणि, स्वोपभोगपरता हिता न—
इति पश्यत तव बहि इव अन्त अत्रि कापि इयम् अधिका दृष्टिसृष्टि ।

हिन्दी—लक्ष्मी के मार (ऐश्वर्य) को अतिथियों को दे डालूँ, (उनको)
अपने उपभोग में लगाना कल्याणकारक नहीं है—यह देखने वाले तुम्हारे
बाहर (शरीर) की भाँति अतस में भी कोई यह विद्यित दृष्टि सरचना है ।

टिप्पणी—आद्यय यह है कि इन्द्र की विचार-पद्धति श्रेष्ठ है, ऐसी वैचारिक
दृष्टि सामान्य नहीं होती कि सपत्ति को क्वच स्वोपभोग में न लगाये, उसके
द्वारा अधिक लाभ अतिथियों को हो । अतिद्यय मुविचारी है इन्द्र । एक सहस्र
नेत्रों से देखने की क्षमता रखनेवाला इन्द्र बाह्यत भी असाधारण है, साधारण
जन तो दो नेत्रों से देखते हैं । इस प्रकार सहस्रनयन इन्द्र की जैसी असाध्याय
बाहरी दृष्टि है, वैसी ही उसकी अन्तर्दृष्टि भी असाध्याय है । इन्द्र जैसे विचार
सामान्य जन में नहीं होते । जैसे सहस्र नेत्रों से इन्द्र विश्व को देखता है, वैसे
ही ज्ञान-दृष्टि से सब करणीय का विवेक भी उसमें है । मल्लिनाथ के अनुसार
यहाँ रिल्लक्ष्य शब्दों से दोनों प्रकार की दृष्टियों का कथन होने से अनेदा-
ध्यवसाय द्वारा 'बहिरिव'—यह उपमा है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-
व्यतिरेक-सदेह-उपमा का सकर है ॥ २३ ॥

आः स्वभावमधुरैरनुभावेन्तावकैरतितया सरलाः स्मः ।

द्या प्रसाधि गलिनावधिकाल साधु साधु विजयम्ब विडौज । ॥ २४ ॥

जीवातु—आ इति । विड भेदवम् । विड भेदने । इयुपधलक्षण च,

तदोजो यस्य तस्य सम्बुद्धि हे विडोज !, स्वभावमधुरं। निसर्गरमणीयं,
तवेमे तावका 'तववभमकावेववचने' इत्यणि तावकादेश । तैरनुभवंरंश्वरैरति-
तरामत्यन्तम्, अव्ययादामुप्रत्यय । तरला लोला आनन्दलहरीमग्ना स्म
इत्यर्थः । आ इत्यानन्दास्वादानुकार । गलितावधिकालमनन्तकालम् । अत्यन्त
सयोगे द्वितीया । द्या स्वर्गं साधु प्रशाधि पालय । साधु, विजयस्व सर्वोत्कृष्टो
भव । 'विपराभ्या जे ' इत्यात्मनेपदम् ॥ २४ ॥

अन्वय—विडोज, स्वभावमधुरं तावकं अनुभावः अतितरा तरला स्म,
आ , गलितावधिकाल द्या साधु प्रशाधि, साधु विजयस्व ।

हिन्दी—हे विशिष्ट ओजोमय इन्द्र, निसर्गरमणीय तुम्हारे भावा के
प्रकाशन अथवा ऐश्वर्य-तेज से हम अत्यन्त आनन्दित हैं, अरे, अन्तकाल तक
तुम स्वर्ग का सम्यक् रूपेण शासन करो और मली भाँति विजय प्राप्त
करते रहो ।

टिप्पणी—इन्द्र के व्यवहार से विशेष प्रसन और आनन्दमग्न हो देवर्षि
नारद ने उसे आशीस् दिया । विद्याधर के अनुसार 'आशी' अलकार ॥ २४ ॥

सहृद्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताखिलनिजाधलधूनाम् ।

यत्स्विहानुपगमं शृणु राजा तज्जगद्युवमुद तमुदन्तम् ॥ २५ ॥

जीवातु—एवमिन्द्रमभिनन्द्य तत्प्रश्नोत्तरमाह—सहृद्येति । सहृद्ये समरे,
विक्षताभ्य प्रहृताभ्य तनुभ्यो गात्रेभ्य, यवद्भिरस्रैरसृग्भि क्षालितानि
निष्कृतानि अखिलानि निजाग्यघानि येषा तेषामत एव लधूनां निर्भारणा
राज्ञा यद्यस्मात् कारणादिह स्वर्गोऽनुपगमो नागम तत्वारणभूत जगत्सु ये
शुवान तेषा मुदमानन्दकारणम् असाधारणार्थम्, अभेदेन व्यपदेश । त
प्रसिद्धम् उदत्त वार्ताम् । 'वार्ता प्रवृत्तिवृत्तात् उदत्त' इत्यमर । शृणु । अत्र
क्षालिताधपदार्थस्य विशेषणस्या लघुत्वहेतुत्वात् पदार्थहेतुक् वाक्यलिङ्गम-
लङ्कार ॥ २५ ॥

अन्वय—सहृद्यविक्षततनुस्रवदस्रक्षालिताखिलनिजाधलधूनां राजा यद्
इह अनुपगम तत् जगद्युवमुद तम् उदन्तम् शृणु ।

हिन्दी—समर में घामल क्षरीर से टपकते क्षीर से अपने सब पाप
प्रदालित हो जाने के कारण लघु (हल्के) बने राजाओं का जो यहाँ (स्वर्ग

में) आगमन नहीं हो रहा है, ससार के तरंगों को सतीष का आनन्द देने वाले उस प्रसिद्ध वृत्तांत को सुनो ।

टिप्पणी—भूलोक में युद्ध में वीरगति पाकर स्वर्ग में जानेवाले राजाओं की कोई न्यूनता नहीं है, वे रणभूमि में अपने बहे रक्त से अपने सब कल्प्य षोकर आज भी स्वर्गाधिकारी हैं, किन्तु उनके न जाने का कारण दूसरा ही है । उन्हें भूलोक में ही आनन्द और सतीष मिल रहा है । इस कथा को आगे नारद मुनि कहेंगे । इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार पदार्थहेतुक काव्यलिपि अलंकार है, क्योंकि शालिताद्वयद्वय की विशेषणगति द्वारा लघुत्वहेतुता का कथन हुआ है, विद्याधर के अनुसार अनुपास और अतिशयोक्ति है ॥ २५ ॥

सा भुवः किमपि रत्नमनर्घं भूषणं जयति तत्र कुमारी ।

भीमभूपतनया दमयन्ती नाम या मदनशस्त्रममाधम् ॥ २६ ॥

जीवानु—नेति । भुवो भूषणं किमप्यनर्घममूल्यं रत्नम् । असाधारण स्त्री-रत्नमित्यर्थः । कुमारी कथा, अनुदेव्यर्थः । सा दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र भुवि जयति । सर्वोत्तमैर्जागति, या अमोघ मदनशस्त्रम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—भुवः भूषणं किमपि अनर्घं रत्नं सा कुमारी दमयन्ती नाम भीमभूपतनया तत्र जयति, या अमोघ मदनशस्त्रम् ।

हिन्दी—पृथ्वी का आभूषण, एक अनिर्वचनीय अमूल्यरत्न वह कुमारिका दमयन्ती नाम की भीमराजपुत्री (भूलोक में) सपूर्ण उत्कृष्टता के साथ विद्यमान है, जो कामदेव का अचूक शस्त्र है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयन्ती के नाम, कुल, सौंदर्य, सौभाग्य का वर्णन कर दिया गया है अर्थात् विश्व की अनुपम सुन्दरी दमयन्ती उच्चवयसा और परम सौभाग्यशालिनी है, साथ ही उसका वय भी विवाहयोग्य है । जो उसे देख लेता है, उस पर मद चढ़ जाता है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ २६ ॥

सम्प्रति प्रतिमूहृतंमपूर्वा कापि यौवनजवेन भवन्ती ।

आशिष्य मकृतसारभूते सा क्वापि यूनि भजते किल भावम् ॥ २७ ॥

जीवानु—अपेद्रस्य मात्सर्वोत्पादनाय तस्याः पुरुषान्तरासन्नित्तञ्च वन्नित्त-

सम्प्रतीति । सम्प्रतीदानो, सा दमयन्ती, यौवनस्य जवेनोद्भववेगेन, प्रतिभूहर्तृ
काप्यपूर्वा लावण्यमयावयवपौषविशेषेणान्येव भवन्ती । आशिस शिक्षापयन्तम्,
अभिविधावव्ययीभाव । सुकृतसारभृते उत्कृष्टपुण्यभृते ईदम्भाग्यसम्पन्न इत्यर्थं ।
क्वापि कस्मिन्नपि यूनि भावमनुराग भजते । किलेत्यतिह्ये ॥ २७ ॥

अन्वय—सम्प्रति सा यौवनजवेन प्रतिभूहर्तृ कापि अपूर्वा भवन्ती आशिस
सुकृतसारभृते क्व अपि यूनि भाव भजते किल ।

हिन्दी—सुना जाता है कि इस काल वह यौवन के वेग से प्रतिपल
अनिर्वचनीय रूप से अपूर्व सौंदर्यशालिनी होती हुई नख से चिखा तक पुण्य की
उत्कृष्टता से परिपूर्ण किसी तरुण में अनुराग रखती है ।

टिप्पणी—क्षण-क्षण नूतन छवि धारण कर रमणीयता की सीमा बनती वह
तरुणी भीमराजकुमारी एक समग्रसुन्दर तरुण (नल) की अनुरागिणी है—
यह सूचित कर अहल्यादि-कथा से सुन्दरियो में आसक्ति रखने वाले के रूप में
प्रसिद्ध इन्द्र के मात्सर्य को भी जगाने का कार्य देवपि ने कर दिया । वे कलहप्रिय
जो कहे जाते हैं ! 'किल' (श्रूयते—सुना जाता है) से कुछ अनिश्चयता का भी
सकेत दे दिया । अर्थात् यह सुना ही जाता है, पूर्ण निश्चय नहीं है, सो इन्द्र
भी माम्य आजमा सकता है । नल नाम न लेकर कहा—'क्वापि'—'किसी में ।
यह इन्द्र की उत्कठा जगाने के लिए है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और
अतिशयोक्ति ॥ २७ ॥

कथ्यते न कतमः स इति त्व मा विवक्षुरसि किं चलदोष्टम् ? ।

अर्धवर्त्मनि रुणत्सि न पृच्छा निर्गमेण न परिश्रमयैनाम् ॥ २८ ॥

जीवातु—कथ्यते इति । किञ्च, चलदोष्टस्त्व स युवा कतम इति मां विव
क्षुर्ववतुमिच्छुरसि किम् । तर्हि अर्धवर्त्म-यर्षोक्ते पृच्छा प्रश्नम् । मिदादित्वाद्ङ् ।
न रुणत्सीति कावु । एनां पृच्छा निर्गमेणोच्चारणेन न परिश्रमय मा खेदय ।
क्षुत न कथ्यते । यत् पृष्टोऽपि न कथयामि, अतो न प्रष्टव्यमेवेत्यर्थं ॥ २८ ॥

अन्वय — चलदोष्ट त्व स कतम इति मां विवक्षु असि किम् ? । अर्ध-
वर्त्मनि पृच्छा न रुणत्सि ? एनां निर्गमेण न परिश्रमय ।

हिन्दी—तुम्हारे ओठ हिलने लगे, वह (मागवान् तरुण) कौन है, क्या
यह तुम मुझ से कहलाना चाहते हो ? क्या आपके माग (नीच) में ही तुम

प्रश्न को नहीं रोक रहे हों ? (परतु) निर्गमन (मुख से बाहर निकाल कर, कहकर) से इस (पृच्छा) को धम न कराओ ।

टिप्पणी—स्वाभाविक या कि इन्द्र के मनमें दमयन्ती के अनुराग के पात्र व्यक्ति का परिचय जानने की बात आती । नारद ने इन्द्र के ओठ हिलते देख यह समझा, किन्तु यह भी सूचित कर दिया कि इस पृच्छा का उत्तर वे न दे सकेंगे, अतः पूछना व्यर्थ है ॥ २८ ॥

यत्पद्यावधिरणु परम सा योगिधीरपि न पश्यति यस्मात् ।

बालया निजमनपरमाणौ ह्यीदरीशयहरीकृतमेतम् ॥ २९ ॥

जीवातु—कि कपटादकथन, नेत्याह—यत्पद्येति । परमो अणुर्यस्या योगिधिः पन्था, यत्पद्यस्तस्यावधि सीमा, सा योगिधीरपि । बालया निजमन एव परमाणु । 'अणुपरिमाण मन' इति सूत्रणात् । तस्मिन् ह्यीरेव दरी गुहा तच्छयहरीकृत तद्गतसिहीकृतम् एन युवान, यस्मान् पश्यति तस्मान् कथ्यत इति पूर्वोपान्वय । योगिबुद्धेरपि परमाणुस्वरूपग्राहित्वेन नान्तप्रवेद्ये शक्तिरित्यज्ञानादकथन, न कपटात् । सा तु मन्दाक्षमन्परतया न कथयतीत्यर्थं ॥ २९ ॥

अन्वय—परम अणुः यत्पद्यावधि सा योगिधीः अपि बालया निजमना-परमाणौ ह्यीदरीशयहरीकृतम् एनं यस्मात् न पश्यति ।

हिन्दी—परमाणु जिसके पद की सीमा है, वह योगिबुद्धि भी बाला (दमयन्ती) द्वारा अपने मन रूप परमाणु में स्थित लज्जारूपिणी गुहा में सिंह (के समान बंद) किये गये इस (नल) को जिस कारण नहीं देखपाती है, (इस कारण मैं भी नहीं कह सकता) ।

टिप्पणी—नारद ने प्रश्न का उत्तर न दे सकने में कारण बताया कि दमयन्ती ने अपने अनुराग को और अपने अनुरागपात्र को लज्जा के कारण अपने मन में ऐसा छिपाया है कि परमाणु तक की बात जान लेने वाले योगियो की बुद्धि भी उसे नहीं जान सकती । दमयन्ती के मन में लज्जा है, जो उस गुहा के समान है, जिसमें नल का नाम सिंह के समान छिपा है । कौन जान सकता है उसे ? मन है अणुपरिमाण । योगिधी परमाणु तक की बात तो जान

छेती है, उसके आगे की नहीं। परमाणुरूप मन में लज्जा है, मन तक की बात योगी जान सकते हैं, पर मन में बैठी लज्जा के भीतर क्या है, यह योगी नहीं जान सकते। उनके ज्ञान की सीमा तो परमाणु परिमाण मन तक ही है, आगे नहीं। दमयन्ती का प्रणयपात्र छो और भीतर छिपा है। अतः नारद भी उसको कैसे जानें? उनकी योग-साधना से भी वह अगम्य है। नारी के हृदय को कौन समझ सका है? विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और रूपक ॥ २९ ॥

सा शरस्य कुसुमस्य शरव्य सूचिता विरहवाचिभिरङ्ग ।

तातचित्तमपि घातुरघत्त स्वस्वयवरमहाय सहायम् ॥ ३० ॥

जोवातु—तर्हि कामुकीत्यमात्र वा कथमस्या प्रतीतमत् आह—सेति । सा भैमी, विरहवाचिभि विरहव्यञ्जकरङ्गैः काश्यपाण्डिमादिपरिकल्पितैरिति भावः । कुसुमशरस्य कामवाणस्य शरव्य लक्ष्य, सूचिता । कुत्रचिदूर्नि वद्धमावेत्येतावन्मात्रमवगतैत्यर्थः । तर्हि तत्पित्रा वा वरविशेषज्ञान विवाहोपायं कथं चिन्तितस्तत्राह—तातचित्तमपि (कर्म), स्वस्वयवरमहाय घातु सहायमघत्त अकरोत् । सहकारीचकारैत्यर्थः । तत्पित्रापि घातुप्रेरणया स्वयवर एवोपाय-श्चिन्तित इति भावः ॥ ३० ॥

अन्वय —सा विरहवाचिभि अङ्गैः कुसुमस्य शरस्य शरव्य सूचिता तात-चित्तम् अपि स्वस्वयवरमहाय घातु सहायम् अघत्त ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) ने (दुर्बलता, पादुरता आदि से युक्त) वियोग-कहने वाले (प्रकट करने वाले) अर्गों द्वारा फूल के वाण का लक्ष्य होना शापित कर अपने पिता के चित्त को भी अपने स्वयवर महोत्सव के निमित्त विधाता का सहायक बना दिया है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के जनक भीमराज भी बेटे के दुर्बल, पीले अर्गों को देखकर मही जान पाये कि वह ताश्च्यसुलभ व्याधि से पीड़ित है, कौन उसके अनुराग का पात्र है, यह नहीं । उन्होंने स्वयवर की घोषणा कर दी और इस प्रकार विधि जो लीला रचना चाहते हैं, उसमें सहायक बन बैठे । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और सहोक्ति अलंकार ॥ ३० ॥

मन्मथाय यदयादित राज्ञा हूतिदूत्यविषये विधिराज्ञाम् ।

तेन तत्परवशा पृथिवीशाः सङ्गर गरमिवाकलयन्ति ॥ ३१ ॥

जीवानु—अस्तु राज्ञामनागमे कि कारणमुक्त तत्राह—मन्मथायेति । अथ विधिविधाता, राजा हूति स्वयवराह्वान, तदेव दूत्य दूतकर्म । 'दूतस्य भाग-कर्मणि' इति यत्प्रत्यय । तस्य विषये करणाय मन्मथायाज्ञाभादेशानदित दत्त-वानिति यत् । तेनाज्ञादानेन तत्परवशा मन्मथपरतन्त्रा । शिवभागवतवल्गमात् । पृथिवीशा सङ्गर गरमिवाकलयन्ति विपमित्र मन्यन्ते । 'विप स्वाद्गरल् गर' इति हलायुष ॥ ३१ ॥

अन्वय —अथ विधि राजा हूतिदूत्यविषये मन्मथाय यत् आज्ञाम् अदित तेन तत्परवशा पृथिवीशा सङ्गर गरम् इव आकलयन्ति ।

हिन्दी—उदनन्तर विधाता ने राजाओं को बुलाने के लिए दूतत्व करने की मन्मथ (काम) को जो आज्ञा दी, उससे उस (मन्मथ) की आज्ञा के पराधीन के पृथिवी के स्वामी (राजगण) सत्राम को गरल् के समान मानने लगे हैं ।

टिप्पणी—आशय यह है कि भीमनृता के रूप-भुग पर विनृग्ध राजगण अब कामाधीन हैं, वे युद्ध को विप मान कर उससे दूर रहते हैं और दमयन्ती-स्वयवर में समिलित होने जा रहे हैं । यही कारण है कि मूतल के नृगण युद्ध में वीरगति या आक्रकल स्वर्ग में नहीं आ रहे हैं । 'गर' तो गरल् है ही, जो पीता है मर जाता है, परन्तु 'सगर' तो 'सम्यक् गर' है, वह सब का नाश कर देता है । विद्याधर के अनुसार छैकानुशास उपमा ॥३१॥

येषु येषु सरसा दमयन्ती भूपणेषु यदि वापि गुणेषु ।

तत्र तत्र कल्यापि विशेषो य स हि क्षितिमृता पुरुषार्यः ॥ ३२ ॥

जीवानु—येष्विति । किञ्च, दमयन्ती, भूपणेषु हारादिषु, यदि वा, गुणेषु दयादाक्षिप्यादिषु वा, येषु येषु सरसा साभिलाषा, तत्र तत्र तेषु तेषु भूपणेषु गुणेषु च कल्या मानवापि यो विशेष क्षितिमृता स हि स एव । 'हि हेताव-वधारणे' इत्यमर । पुरुषार्यं प्रयोजनम्, यथाकथञ्चिद्भीमनोरजनमेव पुरुषार्यो न तु सात्रधर्मं सङ्गर इत्यर्थं ॥ ३२ ॥

अन्वय — दमयन्ती येषु येषु भूषणेषु यदि वा गुणेषु अपि सरसा तत्र तत्र कलया अपि य विशेष स हि क्षितिभृता पुरुषार्थ ।

हिन्दी—दमयती की जिन-जिन आभूषणों में अथवा गुणों में भी रुचि है, उन उन (भूषणों-गुणों) में जो थोड़ी सी भी विशेषता है, वही भूमिपतियों का पुरुषार्थ रह गया है ।

टिप्पणी—नारद ने इंद्र को बताया कि अब उन भूमिपतियों का पौष्य युद्ध में प्रकट नहीं होता, अब तो वे इसमें अपने पौष्य को चण्डितार्थ करते हैं कि जिन जिन हारादि आभूषणों में दमयन्ती की रुचि है अथवा कौन से उदार तादि गुण दमयन्ती को आकृष्ट करते हैं, उनमें विशिष्टता लायी जाय । परस्पर होड़ लगी है दमयन्ती के रुचि के अनुकूल अपने को ढालने की राजाओं में । धर्म-अर्थ-मोक्ष को छोड़ केवल तृतीय पुरुषार्थ — काम की सिद्धि में ही वे व्यस्त हैं आजकल, कैसा युद्ध, कैसा क्षात्रधर्म ? विद्याधर के अनुसार अविशयोक्ति ॥

शैशवव्ययदिनावधि तस्या यौवनोदयिनि राजसमाजे ।

आदरादहरह कुसुमेपोल्ललास मृगयाभिनिवेश ॥ ३३ ॥

जीवातु—शैशवेति । कुसुमेपो कामस्य, यौवनोदयिनि यौवनप्रादुर्भाववति, राजसमाजे राजसमूहे विषये, तस्या भैरव्या, शैशवव्ययदिन बाल्यापगमदिनम्, अवधि सीमा यस्मिस्तत्तया, तद्दिनमारम्भेत्यर्थ । अहरह प्रत्यहम् । वीप्साया द्विर्भाव । अत्यन्तस्योमे द्वितीया । आदरात् मृगयायामभिनिवेश आग्रह । उल्ललास बबूधे । सर्वेषामपि यूना भैमीयौवनोद्भेदात् प्रभृति स्मरव्यसनमेव वर्तते, न समरव्यसनमित्यर्थ ॥ ३३ ॥

अन्वय — कुसुमेपोः यौवनोदयिनि राजसमाजे तस्या शैशवव्ययदिनावधि अहरह आदरात् मृगयाभिनिवेश उल्ललास ।

हिन्दी—कुसुमबाण (काम) का तरुणाई से पूर्ण राजाओं के विषय में उस (दमयन्ती) के शैशव को समाप्ति के दिन से आरम्भ करके प्रतिदिन आदर के साथ आघेट का आग्रह उल्लसित हो गया है ।

अथवा

अन्वय — तस्या शैशवव्ययदिनावधि यौवनोदयिनि राजसमाजे कुसुमेपो मृगयाभिनिवेश अहरह आदरात् उल्ललास ।

हिन्दी—उस (दमयन्ती) को विद्युतासमास के दिन से तट्टणाई से परिपूर्ण राज-समूह में पुनर्वाण के आघेट में आग्रह दिन दिन अल्पन्त उछाह पाने लगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती का बचपन समाप्त होकर जिस दिन यौवन आया, उसी दिन से राजागण कामवाण के आघेट बनने लगे, उसी दिन से तट्टण राजाओं में लीहयों के स्थान में फूलों के बाणों से मृगया खेलने का उन्साह उल्लसित हो गया । अब उनका पौरुष दमयन्ती-प्राप्ति में ही हो गया । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ३३ ॥

इत्यमी वसुमतीकमितार सादरास्त्वदतिथिर्भवितु न ।

भीमभूसुरभुवोरभिलापे दूरमन्तरमहो नृपतीनाम् ॥ ३४ ॥

जीवानु—इतीति । इतीत्यममी नृणा वसुमत्या कमितार कामपितारा सन्त तृष् । वसुमती वा कमितार । ताच्छीत्ये तृन् । 'न लोक-इत्यादिना पृष्ठीप्रतिपेघ' । 'आयादय आघंघातुके वा' इति विकल्पादुभयत्रापि पिजनाव । त्वदतिथिर्भवितु सादरा सादाङ्गता न । तथा हि, नृपतीना भीमभू भमी सुरभूः द्यौस्तयोरभिलापे तद्विषयानुरागे दूरमन्तर महत्तारत्तम्यम्, अहो, स्वर्गेष्वप्यत्तिरित्याश्रयम् । एतेन सुराङ्गनातिशयिसौन्दर्यं दमयन्त्या इति व्यज्यते । भीमदेशसुरदेशयो महान् विप्रकर्ष इत्यर्थान्तरप्रतीति । अत्रोत्तरवाक्यापेन स्वर्गाश्च्या पूर्ववाक्यार्थातिष्यानादरस्य समर्पनाद्वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ३४ ॥

अन्वय.—इति अमी वसुमतीकमितार त्वदतिथिर्भवितु सादरा न, अहो नृपतीना भीमभूसुरभुवोः अभिलापे दूरम् अन्तरम् ।

हिन्दी—इस प्रकार ये (दमयन्तीकामी राजगण) वसुमती (पृथ्वी पर रहने) की कामना करने लगे हैं, तुम्हारे अतिथि बनने के इच्छुक नहीं हैं । अरे, भीमपुत्री और देवभूमि (स्वर्ग) की आकांक्षा में (राजाओं में) बड़ा अंतर है ।

टिप्पणी—आशय यह है कि दमयती की कामना से राजा अब धरती पर ही रहना चाहते हैं, स्वर्ग नहीं आना चाहते । उनके लिए भीममुता स्वर्ग की

अपेक्षा अधिक काम्य है। उनमें स्वर्ग के प्रति कोई रुचि नहीं रह गयी है। 'भीमभूसुरभुवो' का अर्थ यह भी है कि भीमभू (कुण्डिननगरी) और सुरभू (स्वर्गनगरी अमरावती) में बड़ी दूरी है, और राजा हैं घरती के वासी, वे निकट की नगरी कुण्डिनपुरी में ही पहुँचना चाहते हैं, दूरस्थित अमरावती में नहीं। इसके अतिरिक्त भीमभू (भीमसुता दमयती) और सुरभू (देवसुता देवागना) में भी बड़ा अंतर है, देवागना की अपेक्षा घरती की बेटी दमयती कहीं अधिक कमनीय है। सो सुरसुन्दरी से कहीं रमणीय निकट कुण्डिनपुरी में प्राप्य दमयती को छोड़ किसकी इच्छा होगी कि इतनी दूर स्वर्ग जाने के लिए वीर गति प्राप्त करे ? यज्ञयागादि से प्राप्य स्वर्ग की अपेक्षा अब राजाओं में दमयती की आकांक्षा प्रबल है। मल्लिनाथ के अनुसार इस लोक में वाक्यार्थ हेतुक काव्यात्म अलंकार है, क्योंकि उत्तर वाक्याप्य से स्वर्ग में अर्धचि प्रतिपादित होने के कारण पूर्ववाक्यार्थ में कथित आतिथ्य के अनादर का समर्थन होता है। विचार के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ३४ ॥

१ तेन जाग्रदधृतिर्दिवमागा सत्यसौर्यमनुकर्तुमनु त्वाम् ।

१० येन्मृध क्षितिभृता न विलोके तन्निमग्नमनसा भुवि लोके ॥ ३५ ॥

↓ जीवातु—एव राजा स्वर्गनागमने हेतुमुक्त्वाय स्वस्यागमने हेतुमाह—तेनेति । यद्यस्माद्भुवि लोके भूलोके तस्या दमयत्यां, निमग्नमनसाम् आसवत्-चेतसा क्षितिभृता मृध युद्ध न विलोके न पश्यामि । तेन युद्धालाभेन जाग्रदधृति समूच्छंदसन्तोष असन्तुष्ट सन्, सङ्घसौख्य युद्धसुखम् । 'भृथमास्कन्दन्तं सङ्घम्' इत्यमरः । अनुकर्तुमनुभवितु, त्वामनु त्वामुद्दिश्य, दिव स्वर्गमागाम् ॥

धन्वय — मर् भुवि लोके तन्निमग्नमनसा क्षितिभृता मृध न विलोके तेन जाग्रदधृति त्वाम् अनु सङ्घसौख्यम् अनुसत्तुं दिवम् आगाम् ।

हिन्दी—क्योंकि भूलोक में उस (दमयती) में मन निमग्न किये हुए भूपतियो का युद्ध नहीं देखपाता, उससे अधीर होकर तुम्हारे निवृत्त युद्ध के सुख का अनुभव करने के निमित्त स्वर्ग आया है ।

टिप्पणी—नारद ने इन्द्र से अपने स्वर्गगमन का कारण बताया 'सङ्घसौख्य' का 'अनुसरण', इससे उनकी कलहप्रियता प्रतीत होती है। अब इन्द्र

को उचित है कि वह कोई ऐसा कार्य करे कि मुझ-झीटा हा। विद्याधर के अनुसार अल्पेभ्य अलकार छेकानुप्रास ॥ ३५ ॥

वेद यद्यपि न कोऽपि भवन्त हन् हन्त्रकृष्ण विरुणद्धि ।

पृच्छयसे तदपि येन विवेकप्रोञ्चनाय विषये रससेक ॥ ३६ ॥

जीवातु—वेदेति । हन्तृष्वकृष्ण समूलधातु हन्तार भवन्त कोपि न विरुणद्धि न विरुह्णाति । हन्तेति ह्ये । वेद यद्यपि एतावद्देवमेव । 'विदो लटो वा' इति विदो पलादेशः । यद्यशीत्यवधारणे, तदपि तथापि पृच्छयसे । अज्ञः पृच्छति न विद्वानन वाह—येन कारणेन विषये भाग्ने रससेको रागानुबन्धो बलसेकश्च विवेकस्य विशेषज्ञानस्य चित्राद्यसाङ्कर्यस्य प्रोञ्चनाय प्रमाज्जनाय, विषय-तृणानुभवविवेकः पृच्छामीत्यर्थ ॥ ३६ ॥

अन्वय—हन्त, व जपि हन्त्रकृष्ण भवन्त न विरुणद्धि—यद्यपि वेद तदपि पृच्छयसे, येन विषये रससेक विवेकप्रोञ्चनाय ।

हिन्दी—प्रसन्नता है कि प्रहारकर्ता के प्रति निष्कृष्ण तुम्हारा कोई विरोध नहीं करता है—यद्यपि यह मैं जानता हूँ, तथापि तुमसे पूछता हूँ (कि मुझ होगा क्या नहीं) क्योंकि अभीष्ट वस्तु अनुराग की अधिकता (वैशेष्य ही) विवेक की समाप्त करने के लिए होती है (जैसे कि) 'रस' (जल) का 'सेक' (प्रक्षालन) चित्र आदि को धो देता है ।

टिप्पणी—ज्ञानी नारद का प्रश्न उनके अज्ञानी होने का संकेत देता है, अतः वे अपनी उरकटा को इसका कारण बताते हैं । अधिक अनुराग से अविवेक हो ही जाता है । इन्द्र शत्रुओं के साथ कठोर व्यवहार करता है, अतः उससे सब डरते हैं । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास अलकार ॥ ३६ ॥

एवमुक्तवति देवऋषीन्द्रे द्रागभेदि मघवाननमुद्रा ।

उत्तरोत्तरशुभो हि विभूना कोऽपि मञ्जुलतमं क्रमवादा ॥ ३७ ॥

जीवातु—एवमिति । देवऋषीन्द्रे नारदे । 'ऋत्यक' इति प्रवृत्तिभाव । एवमुक्तवति सति, मघोन आननमुद्रा मौन मघवाननमुद्रा । 'मघवा बहुलम्' इति विद्वान्गन्तुवादेशाभावात् । द्राक् क्षत्रित्यभेदि स्वयमेव निबधते स्म । 'कर्म-बन्धमंगा तुर्प्यक्रिय' इति कर्तुं कर्मवद्भावात् 'कर्मकर्तारि लुङ्' । तडादिनायं

‘यगात्मनेपदचिष्चिष्वद्भावा प्रयोजनम्’ इति वचनात् । ‘क्रियमाण तु एत्वम् स्वयमेव प्रसिध्यति । सुकरं स्वगुणैर्यस्माद् कर्मकर्तेति त विदुः ॥’ इति ॥ तथाहि, विभूना प्रभूणा, कोऽपि मञ्जुलतमोऽतिहृद्य क्रमवाद प्रश्नोत्तरक्रमेणोक्ति । उत्तरोत्तरशुभ उपर्युपरि सुमयो हि । अर्थान्तरन्यास ॥ ३७ ॥

अन्वय — देवऋषीन्द्रे एवम् उक्तवति मधवाननमुद्रा द्राक् अभेदि, हि विभूना मञ्जुलतम क. अपि क्रमवाद उत्तरोत्तरशुभ ।

हिन्दी—देवपित्रेष्ट (नारद) के ऐसा कहने पर इन्द्र के मुख की मुद्रा (मौन) झट छिन्न हो गयी, क्योंकि सामर्थ्यशील व्यक्तियों का रम्यतम लोकोत्तर क्रमिक वचन उत्तरोत्तर (अथवा उत्तर-प्रत्युत्तर) शुभ होता है ।

टिप्पणी—इन्द्र एक सभ्य व्यक्ति के समान नारद जी का कथन चुपचाप बिना बीच में बोले सुनता रहा, जैसे ही देवधिराज ने अपनी बात समाप्त की उसने तुरत उत्तर दिया । यही शिष्टाचार है, जो कल्याणप्रद और उचित होता है । अर्थान्तरन्यास ॥ ३७ ॥

कानुजे मम निजे दनुजारो जाग्रति स्वशरणे रणचर्चा ।

यद्भुजाङ्गमुपधाय जयाङ्क शर्मणा स्वपिमि वीतविशङ्कः ॥ ३८ ॥

जीवातु—कानुज इति । निजे स्वीये अनुजे दनुजारो उपेन्द्रे स्वशरणे स्वरक्षके स्वगृहे वा ‘शरण गृहरक्षितो’ इत्यमर । जाग्रति जागरूके सति । मम रणचर्चा रणचिन्ता का ? न कापीत्यर्थ । जयोऽङ्कश्चिह्न यस्य त तद्भुजाङ्क, यस्यानुजस्य भुजोत्सङ्गमुपधायोपधानीकृत्य वीतविशङ्को निरातङ्क सन् शर्मणा मुखेन स्वपिमि शये । यथा रक्षिजने जाग्रति राजा शय्यागारे मुखेन भुजमुपधाय स्वपिति तद्वदिति भाव । इह निरातङ्कवृत्तिस्मृति अस्वप्नत्वा दमरणाम् ॥ ३८ ॥

अन्वय — स्वशरणे निजे अनुजे दनुजारो जाग्रति मम रणचर्चा का, जयाङ्क यद्भुजाङ्गम् उपधाय वीतविशङ्क शर्मणा स्वपिमि ।

हिन्दी—स्व शरण में (अपने आवास में रहते अथवा अपने शरणदाता) अपने अनुज दनुजरिपु (उपेन्द्र विष्णु) के जागरूक रहते हुए मेरे (लिए) मुँह को

क्या विचारणा, जिसके विजयी (अथवा जय-चिह्न से युक्त, अथवा जय के चिह्न) दक्षिण मुख का उपधान (तकिया) बना मैं सुख-पूर्वक सोता हूँ ।

टिप्पणी—देवायि ने पूछा था कि युद्ध समभव है या नहीं ? इन्द्र ने उत्तर दिया कि जहाँ तक उसका सबब है, रण की कोई समावना ही नहीं है । सदा जयी उपेन्द्र विष्णु उसके रक्षक हैं, वे दनुज-दैत्यों के घनु और सहारक हैं । विष्णु के रक्षण में इन्द्र निश्चित हो सुख चैन से दिनु-रात व्यतीत कर रहा है, वह युद्ध के विषय में विचारता ही नहीं । अतः स्वर्ग में तो नारद को 'सह्यय-सोह्य' मिलेगा नहीं । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार अनुप्रास ॥ ३८ ॥

विश्वरूपकलनामुपपन्न तस्य जैमिनिमुनित्वमुदीये ।

विग्रह मल्लमुजामसहिष्णुव्यर्थता मदर्शनि न निनाय ॥ ३९ ॥

जीवातु-विश्वेति । तस्योपेन्द्रस्य विश्वरूपकलनात् सर्वार्थसाक्षात्करणत्, यद्वा एकत्र मस्ज्ज्कूर्माद्यन्तरूपधारणादन्यत्र विश्वारूपेणात्, विश्वरूपाणि सूत्राणि तत्प्रणयनात् (हितो), जैमिनिमुनित्वमुदीये उत्पन्नम् । इण् गतौ कर्त्तरि लिट् । उपपन्न तच्च युक्तमित्यर्थं । कुत, स उपेन्द्र, मल्लमुजा विग्रह विरोध-मन्वत्र शरीरम्, असहिष्णुर्मददर्शनि मम वज्रायुधम्, नन्वत्र 'वज्रहस्त पुरन्दर' इत्यादिवाक्यजात, व्यर्थता स्वायुधेनैव तत्कार्यकरणान्निष्प्रयोजनत्वम्, अन्वत्र विग्रहवद्देवतानिरासेन अर्थवाद्दत्वान्निरभिधेयत्व च निनाय । अतो जैमिनि-मुनित्व युक्तमित्यर्थं । प्रवृत्ताप्रवृत्तस्लेप ॥ ३९ ॥

अन्वय — तस्य विश्वरूपकलनात् उपपन्न जैमिनिमुनित्वम् उदीये, सा मल्लमुजा विग्रहम् असहिष्णु मदर्शनि व्यर्थता निनाय ।

हिन्दो—उस (विष्णु) के विश्वरूप स्वीकृत होने के कारण घटित जैमिनिमुनि-भाव उत्पन्न हो गया, उसने यज्ञ भोक्ता (देवों) के साथ युद्ध होना न सटकर मेरे वज्र को व्यर्थ कर दिया है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि विष्णु ने दनुज दैत्यों को इतना आतंकित कर दिया है कि उससे प्रस्त हुए वे कुछ भी उपद्रव नहीं करते और यज्ञभोगी देवगण सानन्द यज्ञभोग करते हैं, इन्द्र का वज्र युद्धभाव करके विष्णु ने व्यर्थ बना दिया है ।

‘जैमिनिमुनित्वम्’ से कई आशय निकलते हैं। (१) विष्णु को विश्व-रूप कहा जाता है—‘सर्वं विष्णुमयं जगत्’। जैमिनि भी विश्व में ही हैं, अतः वे भी विष्णुमय हैं। इस प्रकार जैमिनि भी विष्णु का रूप हैं—यह सिद्ध है। उन जैमिनि रूप विष्णु को यज्ञभोगी देवों का मुद्ग में लिस रहना भला प्रतीत नहीं हुआ, अतः उन्होंने चक्र में शत्रुओं का नाश कर दिया और इस प्रकार वज्र का कोई इतिकर्तव्य ही नहीं रह गया। (२) किसी समय जैमिनि ने भी सवज्र इन्द्रबाहु को स्तम्भित कर दिया था, इस प्रकार वज्र को व्यथ करके जैमिनि विष्णुरूप हुए—‘जैमिनिश्च सुमन्तुश्च वैशम्पायन एव च । पुलस्ति पुलहो विष्णु पडेते वज्रवारणा ॥’ (३) जैमिनि ने ‘विश्वरूप’ नामक सूत्रग्रन्थ रचा है, इस प्रकार ‘विश्वरूपकलन’ से जैमिनि मुनित्व उदय हुआ। (४) विष्णु ‘मखभुजा विग्रह’ (देवों का युद्धलग्न रहना) नहीं सहते, जैमिनि भी ‘मखभुजा विग्रहमसहिष्णु’ (देवों का शरीर अस्वीकारने वाले) हैं। जैमिनि ने देवताओं की सब कर्मों में स्थिति शरीररूप में नहीं मानी, क्योंकि एक समय में शरीर अनेक स्थलों पर नहीं रह सकता, तब सविग्रह देव अनेक स्थलों पर आहूत होने पर कैसे सबत्र पहुँच सकते हैं ? जैमिनि का कथन है कि देवता ‘मन्त्रमय’ हैं, मन्त्र ही उनका विग्रह है, इसीसे जहाँ मन्त्र है, वही देव है—‘मन्त्रमयी देवतेति सर्वकर्मसु देवताना सरवम् ।’ जैमिनि वज्र आशुष भी नहीं मानते, वज्र केवल अर्थवाद है। इस प्रकार घटमान जैमिनिमुनित्व उपपन्न है। मल्लिनाथ ने यहाँ प्रकृताप्रकृत श्लेष माना है, बिद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति है ॥ ३९ ॥

ईदृशानि मुनये विनयान्धिस्तस्थिवान् स वचनान्युपहृत्य ।

प्राशुनिश्वसितपृष्ठचरी वाङ् नारदस्य निरियाय निरोजा ॥ ४० ॥

जीवातु—ईदृशानीति । विनयान्धि स इन्द्रो मुनये ईदृशानि युद्धनिराशानि वचनानि उपहृत्य समर्प्य, तस्थिवान् तूष्णीं स्थित । अथ नारदस्य प्राशुनिश्वसितस्य पृष्ठे चरतीति पृष्ठचरी पञ्चाङ्गामिनी दीर्घनिश्वासापूविकेत्यर्थः । निरोजा दीना वाक् निरियाय निर्जगाम ॥ ४० ॥

अथय —विनयान्धि मुनये ईदृशानि वचनानि उपहृत्य तस्थिवान्, नारदस्य प्राशुनिश्वसितपृष्ठचरी निरोजा वाक् निरियाय ।

हिन्दी—विनय का समुद्र (इन्द्र) मुनि से ऐसे (उपर्युक्त) वचन कह कर चुप हो गया । (तब) नारद की दीर्घ निश्वास के पश्चात् सचरपशील दीनवाणी निकली ।

टिप्पणी—इन्द्र मुद्र की अस्मावना अत्यन्त विनय पूर्वक बताने पर नारद को अच्छा न लगा और वे लंबी सांस लेकर दीन वाणी में बोले । अमीष्ट की वृत्ति न होने से नारद को कष्ट हुआ । विद्याधर के अनुसार रुक और जाति अलंकार है ॥ ४० ॥

स्वरासातलमवाहवशङ्की निर्वृणोमि न वसन् वसुमत्याम् ।

द्या गतस्य हृदि मे दुरदर्कं क्ष्मातलद्वयमटाजिवितर्कं ॥ ४१ ॥

जीवातु—स्वरिति । वसुमत्या भूलोके वसन् स्वञ्च रसातल च स्वारासातले स्वर्गपाताले 'रो रि, इति रेफलोपे दीर्घं । तयोर्भवमाहव शङ्कत इति तच्छङ्की सन् । न निर्वृणोमि न सन्तुष्यामि । द्या स्वां गतस्य मे हृदि क्ष्मातले भूपाताले । 'अयं स्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमर । तयोर्द्वये भटानामाजिवितर्को युद्धशङ्का दुरदर्को दुस्तरः । 'उदर्कं फल्गुत्तरम्' इत्यमरः । एव पातालगतस्य इतरलोकाजिवितर्कं इति शेष ॥ ४१ ॥

अन्वयः—वसुमत्या वसन् स्वारासातलमवाहवशङ्की न निर्वृणोमि, द्या गतस्य मे हृदि क्ष्मातलद्वयमटाजिवितर्कं दुरदर्कं ।

हिन्दी—वसुमती (भू) पर निवास करता मैं स्वर्ग और, पाताल में समव युद्ध की आशंका करता हुआ मुझी नहीं रह पाता, स्वर्ग में पहुँचि मेरे हृदय में भूतल और पाताल के योद्धाओं में युद्ध की संभावना निष्फल है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में वर्णनचानुयं से नारद के सवध में दो प्रकार की बातें कह दी गयीं—(१) उन्हें युद्ध प्रिय नहीं है, जब वे भूलोक में रहते हैं तो उन्हें स्वर्ग-पाताल में समव युद्ध की आशंका से कष्ट होना है, ओर अब वे स्वर्ग में रहते हैं तो उन्हें डर रहना है कि जहाँ पाताल और धरती के वासी परस्पर युद्ध न कर डालें । दोनों स्थितियों में नारद आशंकित और दुःखी रहते हैं । (२) उन्हें कष्ट है कि उन्हें युद्धश्रीला का सुख नहीं मिल पाता । धरती पर रहे उन्हें लाता है कि स्वर्ग और पातालवासी युद्ध कर रहे हों,

वे उसे देख नहीं पा रहे, और स्वर्ग में रहते उन्हें लगता है कि कहीं घरती और पाताल के लोगों में युद्ध न हो रहा हो, और वे अनुपस्थित हो और उस युद्ध-सौख्य का अनुभव न कर पाये। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में काव्यलिंग अलंकार है ॥ ४१ ॥

वीक्षितस्त्वमसि मामथ गन्तु तन्मनुष्यजगतेऽनुमनुष्व ।

किं भुव परिवृढा न विवोढु यत्र तामुपगता विवदन्ते ॥ ४२ ॥

जीवातु—वीक्षित इति । त्व वीक्षितोऽसि । एतदेवागमनफलमित्यर्थं ।

तत्तस्मात्कान्तराभावात् अयानन्तर मा मनुष्यजगते गन्तु मर्त्यलोक गन्तु-मित्यर्थं । 'गत्यर्थं कर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यो चेष्टायामनध्वनि' इति चतुर्थी । अनुमनुष्व अनुजानीहि । तत्र मर्त्यलोके, ता दमयती, विवोढु परिणेतुम् उपगता भुव परिवृढा, प्रभवो भूपतय 'प्रभो परिवृढ' इति निपात । न विवदन्ते न फलहायिष्यन्ते किम् ? अपि तु मर्त्यं एव विवाद करिष्यन्तीति भाव । सामीप्ये । लट् । भावनादिसूत्रेण वदेरकर्मकत्वात् विमतावात्मनेपदम् । भैमी परिणेतुमागताना राज्ञा तत्सौन्दर्यं मुग्धानामहमेवास्या अनुरूप इत्यादि विवादो भविष्यतीति भाव ॥ ४२ ॥

अन्वय—त्व वीक्षित असि, अथ तत् मनुष्यजगते गन्तु माम् अनुमनुष्व, तत्र ता विवोढुम् उपगता किं भुव परिवृढा न विवदन्ते ?

हिन्दी—तुम्हे देख लिया, अब फिर मनुष्यलोक में जाने की मुझे अनुमति दो, वहाँ उस (दमयती) से विवाह करने को एकत्र कहीं घरती के राजा कलह तो नहीं कर रहे ?

टिप्पणी—इस श्लोक में भी वैसी ही चातुरी है । (१) इद्र को देख लिया, सतोप हुआ कि यहाँ युद्ध की थोड़ी भी आशका नहीं है, पर देखें, वही दमयती के लिए भूतल पर तो राजा नहीं लड़ रहे हैं । उनका कलह-निवारण करने के लिए शीघ्र वहाँ पहुँचना है । (२) स्वर्ग में तो युद्ध-समावना है नहीं, दमयती विवाह प्रसंग में विवाहार्थी राजाओं में युद्ध की अच्छी समावना है, उस युद्ध को देखने का अवसर न निकल जाय तो शीघ्र भूलोक पहुँचना चाहिए । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार ऐरानुप्रास ॥ ४२ ॥

इत्थुदीप स ययौ मुनिर्द्वौ स्वपंति प्रतिनिवत्यं जवेन ।

वारितोऽप्यनुजगाम नः यन्त तं कियन्त्यपि पदान्यपराणि ॥ ४३ ॥

जीवानु—इतीति । स मुनिरित्युदीपं स्वपंतिमिन्द्रम् 'अहरादीना पत्या-
दिपु' इति वैकल्पिको रेफादेश । प्रतिनिवत्यं जवेनोर्वी' ययौ । स इन्द्रो वारितो
निवर्तितोऽपि यन्त गच्छन्तम् । इपो लट् घनादेश । त मुनिमपराण्यपि
कियन्ति कतिचन पदानि । आसीममित्यर्थं । अन्तस्तयो द्वितीया ।
अनुजगाम ॥ ४३ ॥

अन्वयः—स. मुनि इति उदीपं स्वपंति प्रतिनिवत्यं जवेन उर्वी ययौ,
वारित अपि स यान्त तम् अपि अपराणि कियन्ति पदानि अनुजगाम ।

हिन्दी—उे मुनि (नारद) इतना कह कर स्वर्ग के स्वामी (इन्द्र) से
लौटने को कहते हुए धरती की ओर चल दिये, रोके जाने पर भी वह
(जयदा वारि-जलाशय-तक भी वह इन्द्र) जाते उन (मुनि) के पीछे भी कुछ
पग चला ।

टिप्पणी—नारद जी शीघ्रतया भूमण्डल की ओर चले, विशाचार बध
उन्होंने अनुगामी इन्द्र को वापस जाने को कहा, पर इन्द्र कुछ दूर—जलाशय
तक उनके पीछे-पीछे गया । 'वारितोऽप्यनुजगाम' के दो अर्थ हैं—वारित
निवारित अपि अनुजगाम, वारित वारिपर्यन्तम् जलाशय यावत् अनुजगाम ।
विद्याधर के अनुसार अनिशयोक्ति ॥ ४३ ॥

पर्वतेन परिपीय गभीर नारदीयमुदित प्रतिनेदे ।

स्वन्य कश्चिदपि पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वयमर्दसि न पक्ष ॥ ४४ ॥

जीवानु—पर्वतेनेति । पर्वतेन मुनिना गिरिणा च गभीर, नारदीय-
मुदित नारदवाक्य, परिपीय प्रतिदध्वने तदेचानुवृत्तमित्यर्थं । पर्वते । सत्रि-
कृष्ट प्रनिनाशे युक्त इति भाव । नदेन्ट् । 'अथ एकहृन्मध्येऽग्नादेशादेन्टि'
इत्येत्वाभ्यामलोपी । स्वय तु न किञ्चिन्निवेदिततानित्याह—पर्वतपक्षच्छेदि-
नीदे स्वन्य कश्चिदपि पक्ष साध्य प्रयोजनं गच्छेत् । पक्ष पाश्वर्गाभ्यामभ्य-
नहायवन्निस्सिपु' इति वैकल्पन्ती । स्वय मार्दांग न दक्षिण । उत्साहयनात्र-
लोनाशयन् स्वस्य पृथक्साभ्यानावात्तदुक्तमेवानुवृत्तम् । न तु पृथक्किञ्चिन्नि-

वेदितमित्यर्थं । पवतपक्षच्छेदित्वादिन्द्रस्याग्रे पर्वतेन स्वपक्षो न प्रकाशित इति ध्वनि ॥ ४४ ॥

अन्वय*—पर्वतेन गभीर नारदीयम् उदित परिपीय प्रतिनेदे, पर्वतपक्षच्छेदिनि स्वस्य कश्चित् अपि पक्षः स्वयं न अदर्शितः ।

हिन्दी—(१) पर्वत (मुनि) ने गभीर नारद का कथन सादर सुनकर उसका अभिनन्दन किया, पहाड़ों के पक्ष काटनेवाले (इन्द्र) के प्रति अपना कोई भी मत स्वयं नहीं प्रकट किया ।

(२) पर्वत (पहाड़) ने उच्च मेघ-गर्जन सुन प्रतिध्वनि की, पहाड़ों के पक्ष काटनेवाले इन्द्र को कोई अपना पक्ष स्वयं नहीं दिखाया ।

टिप्पणी—इस श्लोक में 'पर्वत' (मुनि-पहाड़), 'नारद' (देवर्षि तथा 'नारम् उदक ददाति इति नारद' व्युत्पत्त्या मेघ) और 'पक्ष' (मत-पक्ष) अनेकार्थवाची शब्द हैं, जिनके आधार पर श्लेषचमत्कार आ गया है । जिस प्रकार मेघ गर्जन को पहाड़ प्रतिध्वनित कर देता है, पर्वतों के पक्षच्छेदक इन्द्र के गरजते वज्र के समूह अपना पक्ष स्वयं नहीं दिखाता, उसी प्रकार पवत मुनि ने अर्धगभीरता से पूर्ण नारद के कथन का अनुमोदनमात्र कर दिया, इन्द्र के प्रति स्वयं निजी मत प्रकट नहीं किया । मल्लिनाथ के अनुसार पर्वतपक्षच्छेदी इन्द्र के समूह पर्वत ने स्वपक्ष प्रकाशन नहीं किया—यह ध्वनि है । विद्याधर के अनुसार श्लेष है ॥ ४४ ॥

पाणये बलरिपोरथ भैमीशीलकोमलकरग्रहणार्हम् ।

भेपज चिरचिताशनिवासव्यापदामुपदिदेश रतीश ॥ ४५ ॥

जोवातु—इ द्रस्तु भैम्यामनुरक्तोऽभूदित्याह—पाणय इति । अथ नारद-निर्गमनान्तर, रतीश कामो बलरिपोरिन्द्रस्य पाणये चिरचित्ताना चिरसञ्चितानाम्, अशनिवासेन वज्राग्निसम्पर्केण या व्यापदो विदाहा तासां भैमी-शीतकोमलकरस्य ग्रह ग्रहणमेवाहं योग्य, भेपजमौपथमुपदिदेश । वीरामिभवेन शृङ्गार प्रवृद्ध इति भावः । अत्र कामनिबन्धस्य भैमीपाणिग्रहणस्याशनिवा-सासतापशमनार्थत्वोत्प्रेक्षा व्यञ्जकप्रयोगाद् गम्यम् ॥ ४५ ॥

अन्वय —अथ रतीश बलरिपो पाणय चिरचिताशनिवासव्यापदा भैमी-शीतकोमलकरग्रहणार्हं भेपजम् उपदिदेश ।

हिन्दी—नारद के चले जाने के पश्चात् रति के स्वामी (काम) ने बल के शत्रु (इन्द्र) के हाथ के लिए चिरकाल में बल के निगम (हाथ में रहने) के कारण उत्पन्न दाह के उपशमनार्थ नीममुत्रा के शीतल और कोमल हाथ का ग्रहण (पाणिग्रहण-विवाह)—यह उचित औषध की व्यवस्था थी ।

टिप्पणी—बल हाथ में रहने से इन्द्र का हाथ दाह से पीड़ित रहता था, उसका उपशमन किसी ठडी, मुलायम बस्तु से नभव था । तदर्थ उपयुक्त औषध दमयती का शीतल-कोमल हाथ ही था । कामदेव रूप वैद्य ने उसी का निर्देश किया, अर्थात् दमयती को पारिग्रहण करके पाने का काम इन्द्र के मन में जागा । मन्थिनाथ के अनुसार यहाँ कामनिवर्धक भैमीपाणिग्रहण की ब्रह्मनपर्कजन्यतापशमन के निमित्त उत्प्रेक्षा की गयी है । व्यञ्जक का प्रयोग न होने से यह गम्या उत्प्रेक्षा है । दिवाघर के अनुसार छैकानुप्रास और रूपक है ॥ ४५ ॥

नाकलोकमिपजो मुपमा या पुष्पचापमपि चुम्बनि मव ।

वदि तादृगमिपज्यदमो तद्द्वारमक्रमिनवेद्यकविद्य ॥ ४६ ॥

जीवानु—ननु कामस्य कृतो वैद्यविद्येत्यत आह—नाकेति । नाकलोकमिप-
जोरदिवनोर्गो मुपमा सौन्दर्यं सैव पुष्पचाप काममपि चुम्बति स्पृशति, तन्नादपि ।
तावेव मुपमानन्नाविति भाव । अत्रो काम मा मुपमैव द्वार तेन सद्गमिता
वैद्यक वैद्यस्य नैपज्यम् । 'योपनाद् गुरुभोतनाद् वुर्' । तदेव विद्या यस्मिन्
स । अतएव तादृक् स्ववैद्यगृह्ये मन् अमिपज्यत् चिकित्सितवान् । मिपज्यने
वाट्वादियगन्तान्ल्ड् । वेद्मीत्युत्प्रेक्षायाम् । वाक्यार्थं कर्म ॥ ४६ ॥

अन्वय—नाकलोकमिपजो या मुपमा सा एव पुष्पचापम् अपि चुम्बति-
वेदि, तद्द्वारमक्रमिनवेद्यकविद्य अत्रो तादृक् अमिपज्यत् ।

हिन्दी—समझा जाता है कि स्वर्गलोक के वैद्ययुगल (अश्विनीकुमारों) का जो सौन्दर्य है, वही पुष्पधन्वा (काम) का भी स्पर्श करता है, क्योंकि उसी सौन्दर्य के द्वार से सङ्गमित वैद्यक विद्या के वेत्ता इस (काम) ने उन्हीं के समान चिकित्सा की ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में काम को औषध-व्यवस्थापक बताया गया,

कितु काम तो चिकित्सक नहीं है। इस श्लोक में सभावता की गयी है कि काम भी तो स्वर्वैद्यो के समान ही धीमाशाली देव है। कदाचिद् इसी समानता के आधार पर काम भी आयुर्वेद शास्त्र का वेत्ता हो गया हो, सभी तो उसने उन्ही के सदृश चिकित्सा व्यवस्था की। अश्विनोक्तुमार भी ऐसी ही व्यवस्था देते। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ४६ ॥

मानुषीमनुसरत्यथ पत्यौ खर्वभावमवलम्ब्य मघोनी ।

खण्डित निजमसूचयदुर्च्चैर्मानमाननसरोरहनत्या ॥ ४७ ॥

जीवातु—अथेन्द्राण्या ईर्ष्यानुभावमाह—मानुषीमिति । अथेन्द्रस्य भ्रंभीरागानन्तर मघोने स्त्री मघोनी शची । 'पुमोगादाख्यायाम्' इति ङीप् । 'श्वयुवमघोनामतद्धित' इति सम्प्रसारणे गुण । पत्यौ खर्वभाव नीचत्वमवलम्ब्य मानुषी मानुषस्त्री, 'जातेरस्त्री' इत्यादिना ङीप् । अनुसरत्यनुवर्तमाने सति आननसरोरहनत्या शिरोमनेन, उर्च्चैरघ्नत निज मान सर्वोत्तरत्वाहकार खण्डित मानमसूचयत् । आकरेणैव निजनिर्वेदमवेदयत् । न तु वाचा किञ्चिद्बुधे । गम्भीरनायिकात्वादिति भाव ॥ ४७ ॥

अन्वय —अथ पत्यौ खर्वभावम्, अवलम्ब्य मानुषीम् अनुसरति मघोनी आननसरोरहनत्या उर्च्चं निज मानम् खण्डितम् असूचयत् ।

हिन्दी—उदनन्तर पति (इन्द्र) के नीच भाव का अवलंबन कर मानुषी (दमयती) का अनुसरण (आकाशा) करने पर इन्द्रपत्नी (शची) ने मुखकमल को झुकाकर अपने ऊँचे गर्व को खण्डित प्रकट किया ।

टिप्पणी—(१) 'मघोनी मानुषीम् अनुसरति पत्यौ खर्वभावम् अवलम्ब्य'—इस प्रकार अन्वय करके यह अर्थ भी किया गया है—'इन्द्राणी ने दमयती का अनुसरण करते पति के प्रति निम्नभाव धारण कर प्रकट किया ।' (२) 'आननसरोरहनत्या खर्वभावम् अवलम्ब्य मानुषीम् अनुसरति पत्यौ मघोनी उर्च्चं असूचयत्'—ऐसा अन्वय करके यह अर्थ भी होता है—'मुखकमल झुकाकर नीच भाव अवलंबनकर मानुषी की इच्छा करते पति के प्रति इन्द्राणी ने अपने प्रकट किया ।' आशय यह है कि स्वर्गाराज इन्द्र का देवांगनाओं को छोड़ एक भूलोक की मानुषी के पीछे जाना ऊँचे स्वर्ग से

नीचे घग्गी पर आना ही नहीं है, मानसिक और व्यावहारिक नीचता का भी सूचक है, जिस पर इन्द्राणी ने अप्रसन्नता प्रकट की। जिस देवायता का प्रति उसके रहते मानुषी कामना करे, उसे अपना मान-समान, प्रति स्नेह आदर सहित दृष्टा समजना स्वभाविक ही है। अप्रसन्नता को दौड़ते इन्द्राणी ने केवल मुख नोचा करके किया वह उसके गभीर नायिका भाव को सूचित करता है। विद्यावर के अनुसार इस श्लोक में निर्वेदव्यभिचारिभाव का उदय और अहंभूति अलंकार है ॥ ४७ ॥

यो मघोनि दिवमुच्चरमाणे रम्भया मल्लिनिमालमलम्भि ।

वर्ण एव न मल्लुज्ज्वलनस्या शान्तमन्तरमनापत भङ्ग्या ॥ ४८ ॥

जोवानु—अयान्यापानपि कात्राचिदप्सरसामीप्यानुनावानाह—य इत्यादि। मघोनीं च 'श्वयुवनयोनाम' इत्यादिना सम्प्रसारणे गुण । दिवमाकाशम्, उच्चरमाणे उच्यते इति, 'उदञ्चर मन्मेकात् इत्यात्मनेपदम् । रम्भया यो मल्लिनिमा मालियम्, जलमत्यन्तम्, अलम्भि अलानि । 'विनाया चिन्तामुलो' इति वा नुमागम । स वर्णो मल्लिनिर्भव, अस्या रम्भायाः, अतरन्तरङ्गम्, उज्ज्वल रोषाद् उज्ज्वल प्रज्वलित सत् भङ्ग्या कयाविद्रीत्या नवितभ्यताया बन्धनियेत्यर्थ । शान्त शमित निर्वृत्तमित्यर्थ । 'वा दान्त' इत्यादिना निपात । अनापत सलु । निर्वाणालातमल्लिनित्याह्वयित्यर्थ । अन्त करणवै-वर्ण्यमूलत्वाद्वातवैवर्ण्येति भाव ॥ ४८ ॥

अन्वयः—मघोनि दिवम् उच्चरमाणे रम्भया य मल्लिनिना अलम् अलम्भि स वर्ण एव अस्या उज्ज्वलम् अन्तरम् भङ्ग्या शातम् अनापत सलु ।

हिन्दी—इन्द्र के स्वर्ग को छोड़कर जाने पर रना अप्सरा ने जो अत्यर्थ मलिनता प्राप्त की, निरचयत उसके रस ने ही उस (रक्षा) के उज्ज्वल हृदय को आकार-विशेष से दुहित प्रकट किया ।

टिप्पणी—इन्द्र के चले जाने पर रक्षा उदास हो गयी, उदासी की मलिनता ने उसके हृदय के दुःख को प्रकट कर दिया । उसके उज्ज्वल अर्थात् शृंगार रस से पूर्ण हृदय में शांत रस का वैराग्यभाव उत्पन्न हो गया अथवा 'शातम् आतरम् भङ्ग्या उज्ज्वलम् अनापत'—शांत हृदय मणिमाविशेष से उज्ज्वल-दीप्त-श्रोत्रयुक्त प्रतीति देने लगा । भाव यह कि रना उदास, मलीन

और क्रुद्ध हुई। खिन्नता का श्याम रंग उसके मुख पर छा गया। यह अर्थ भी किया जाता है कि रमा का वर्ण ऊपर ऊपर से ही उजला दीखता था, वस्तुतः वह अतस् की काली थी, जो इन्द्र के मानुषी का अनुसरण करने पर प्रकट हो गयी। जैसे दीपक नभक कर उज्ज्वल—दीप्त होता हुआ बुझकर श्याम हो जाता है, वैसे ही 'अस्या अन्तरम् उज्वल सन् शान्तम् अभाषत'—रमा का हृदय नभककर शांत हो गया अर्थात् बुझ गया और मलिनता का श्याम वर्ण प्रकट हो गया। विद्याधर के अनुसार भावोदय अनुप्रास-उत्प्रेक्षा की ससृष्टि ॥

जीवितेन कृतमप्सरसा त्प्रप्राणमुक्तिरिह युक्तमती नै ।

इत्यनक्षरमवाचि घृताच्या दीर्घनि श्रमितनिर्गमनेन ॥ १९ ॥

जीवातु—जीवितेनेति। अप्सरसा नोऽस्माक जीवितेन कृत, कष्टत्वादिति भावः। तत्तस्मादिहास्मिन्समये प्राणमुक्ति प्राणत्याग, एव युक्तमती युक्नेति घृताच्या नाम देव्या दीर्घनि श्रमितस्य निर्गमनेन निष्क्रमणमुखेन, अनक्षरमशब्दप्रयोग, यथा तथा अवाचि। वचेर्ज्ञो वा कर्मणि लुङ्। उक्तमिवेत्यर्थः। अत एव व्यञ्जकाप्रयोगाद् गम्यात्प्रेक्षा ॥ ४९ ॥

अन्वय—घृताच्या दीर्घनि श्रमितनिर्गमनेन इति अनक्षरम् अवाचि—
'न अप्सरसा जीवितेन कृत तत् इह प्राणमुक्ति युक्तमती ।'

हिन्दी—घृताची ने लबी सांस लेकर यह बिना बोले ही कह दिया (अथवा 'अनक्षर'—अशब्द कहा)—'हम अप्सराओं के जीते रहने से क्या लाभ, सो अब प्राणों का त्याग ही युक्ति-युक्त है ।'

टिप्पणी—स्वर्ग की अप्सरियों के रहते भी इन्द्र मानुषी के पीछे दीबता है, यह स्वर्गांगनाओं की घोर अवज्ञा है, अतः उनका प्राण त्याग ही उचित है—घृताची ने यह भाव प्रकट किया और, अपनी खिन्नता व्यक्त की। 'दीर्घनि श्रमितनिर्गमन' 'प्राणमुक्ति' का प्रतीक है, प्राण निश्वासरूप ठी होते ही हैं। मल्लिनाथ के अनुसार गङ्गोत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास, अपह्नुति, स्लैष और अतिशयोक्ति ॥ ४९ ॥

साधु नः पतनमेवमित स्यादित्यभष्यत तिलोत्तमयापि ।

चामरम्य पतनेन कराब्जात्तद्विलोलनवलद्भुजनालात् ॥ ५० ॥

जीवानु—साध्विति । तिलोत्तमयापि देव्या तस्य चामरस्य तिलोलनेन
 आन्द्रोत्तनेन वल्गु वल्गुनातो मुञ्जो बाहुदेव गालो यस्य तस्मात्, 'वल्गु-
 लनेपदमन्वयं ज्ञापयन्' इत्यादि वल्गु । चञ्चिडो द्विचरान् ज्ञानकम् ।
 कराध्वात् पाणिचनञ्चान्त्वान्म्य पञ्चनेन, जवदवत्तारवन्धादिति नद ।
 एवञ्चामरवदत्र नोऽस्माच्चनपि इत स्वर्गं पतननेव साधु स्यादित्यनन्वय ।
 मणितनिवेति पूर्ववदुद्वेशा मुञ्जनात् कराध्वादिति जवदवत्तारकेन
 नमृष्टा ॥ ५० ॥

अन्वय—तिलोत्तमया अपि तद्विलोत्तनवल्गुजनात् कराध्वात् चामरस्य
 पतनेन इति अनन्वय—'एव न इव पतन साधु स्यात् ।'

हिन्दो—तिलोत्तमा के भी चामर हुलाने से चक्क बाहु रूप मृगालदह
 मूक कर-कमल से चामर के गिर जाने द्वारा यह कहा—'इसी प्रकार हमारा
 यहाँ से पतन अच्छा होगा ।'

टिप्पणी—अवमानिता और विन्ना अप्सरा तिलोत्तमा के हाथ से चमर
 गिर गया । इस प्रकार मानों हमने अपनी विन्नता प्रकट की कि चमर के
 गिरजाने के समान अब हम अप्सराओं का भी स्वर्ग से पतित हो जाना
 ठीक होगा, त्रिनके रहते देवराज एक मानुषी के आकाशी हो गये । मन्त्रिणाप
 के अनुसार सुविधवरूपक से सृष्टा उपदेश । विद्याधर के अनुसार प्रतीप-
 मानोत्प्रेसा रूपक-अपह्नुति की सृष्टि ॥ १० ॥

मेनका मनसि नापमुदीत यद्विधिन्नुत्तरोदवहिन्याम् ।

तन्पुटं निजहृदं पुटपाके पङ्कलिस्तिमनृजद् बहिरन्त्याम् ॥ ५१ ॥

जीवानु—मेनकेति । मेनका नाम साध्वि देवी मनन्मुदीतमुत्तम,
 तदमायि, विधिन्नु' पियानुनिष्टु सती, जवहियानाकारतृप्तिनकरोदिति यत्,
 तदाकारोपनमेव, निजहृदं स्वमनसं, पुटपाके पुटपाके, बहिर्हृदामुपिना,
 बाह्यानिर्दयं । 'जातश्रोतरो' इति चरंरि कल्पयम् । पङ्कलिस्ति पङ्कल्ये,
 स्फुटमनृजत् । पुटपाके बाह्य पङ्कलेरोत्त पञ्चनानदन्मन्त्रेवाकारोपनमेव
 वात् किन्नाप गोप्यन्वान्तापस्य व्यञ्जकमनूदिपर्यं ॥ ५१ ॥

अन्वय—मेनका मनसि उदीत नाप विधिन्नु यत् बहिरह्याम् अकरोद्
 चत् निजहृदं पुटके बहिर् हृदया पङ्कलिस्ति स्फुटम् अनुजत् ।

हिन्दी—अप्सरा मेनका ने मन में उत्पन्न ताप (दुःख) को छिपाने की इच्छा से जो आकारगोपन किया, वह मानो अपने हृदय के मध्य में हुए पाक-पुटपाक में बाहर पक का स्पष्ट लेप कर दिया ।

टिप्पणी—‘पुटपाक’ करते समय पात्र को बाहर से गीली मिट्टी लगा कर बंद कर दिया जाता है, जिससे पाक-क्रिया भीतर ही भीतर चलती रहती है और पदार्थ बाहर नहीं आता । मेनका ने भी अपने प्रचुर दुःख को मन ही मन छिपा रखा, किन्तु उसमें जो ‘अवहित्वा’ अर्थात् आकार गोपन करना पड़ा, वह जैसे मन रूगी पात्र पर पकलिति कर दी । मेनका का हृदय भीतर-ही भीतर ताप से पीड़ित होने लगा, उससे उसके मुख पर आकार गुप्ति के चिह्न स्पष्ट हो गये । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ५१ ॥

उर्वशी गुणवशीकृतविश्वा तत्क्षणस्तिमितभावनिभेन ।

शक्रसौहृदसमापनसोमिन् स्तम्भकार्यमपुपट्पुपैव ॥ ५२ ॥

जीवातु—उर्वशीति । गुणं सौन्दर्यादिभिर्वशीकृतविश्वा रञ्जिताखिलप्रपञ्चा, उर्वशी नाम काचिद्देवी, तत्क्षणे तत्समये, य स्तिमितभाव स्तिमित्य निष्क्रियाङ्गत्वलक्षण स्तम्भो नाम सात्त्विकस्तस्य निभेन मियेण । ‘मिप निमञ्च निदिष्टम्’ इति हलामुष । अपुपैव सुहृदवशब्दाद्युवादित्वादर्प्रत्यये ह्रस्वावाप्तो-मयपदवृद्धिः । अत एव ‘सौहृददौहृदशब्दावणि ह्रस्वावो’ इति वामन । शक्रसौहृदस्य समापनसोमिन् समाप्तिस्थाने, स्तम्भकार्यं जाड्यकृत्य, स्थूणा-कृत्यञ्च, अपुपत् । ‘स्तम्भ स्थूणाजडत्वयो’ इति विश्व । स्तम्भोत्थानावधिकं मे शक्रसौहृदमिति निर्णयमकरोदित्यर्थं । ‘पुपादि’ इत्यादिना च्छेरडादेशः ॥

अन्वय — गुणवशीकृतविश्वा उर्वशी तत्क्षणास्तिमितभावनिभेन वपुषा एव शक्रसौहृदसमापनसोमिन् स्तम्भकार्यम् अपुपत् ।

हिन्दी—सौन्दर्यादि गुणा से अखिल विश्व को वश में करनेवाली उर्वशी ने उस क्षण निश्चलता के व्याज से शरीर द्वारा ही इन्द्र के स्नेह की समाप्ति की सीमा पर सभे का कार्यं ज्ञापित कर दिया ।

टिप्पणी—किसी प्रदेश की सीमा पर समाप्ति-सूचक समा गाड़ दिया जाता है । इन्द्र अब मानुषी के अनुसरण में चल दिये, तभी उर्वशी का शरीर

अवसान और दुःख से बहस्यस्व हो गया। इस प्रकार उसने अपने स्तनोद्भूत देह से मानों मूत्र प्रकट कर दिया कि अब इन्द्र के अनुराग की सीमा ला गयी—
आगे इन्द्र का अनुराग समाप्त समझना चाहिए। कुछ ही श्लोक अन्ति खिलना
का सूचन। जिस उर्वशी ने शिव की वीथ रखा है, उसकी ऐसी घोर
अवमानना। विद्याधर के अनुसार अर्धश्रुति और हेकानुशास ॥५०॥

कापि कामपि वनाग बुभुक्षु शृण्वति त्रिदशमूर्धैरि किञ्चिन् ।

एव कश्यपमुत्तामभिमन्ता पश्य कश्यपमुतः शतपत्न ॥५१॥

जीवानु—अथ काशाञ्चिदन्तरसा वायारम्भानाह—कानीत्यादि। कापि
देवो, बुभुक्षुनिन्द्र विमिषिन देव विज्ञानमाना वान्नि देवो त्रिदशमूर्धैरि
इन्द्रे शृण्वति मत्पत्रे । तच्छ्रवणार्थमेवेत्यर्थः । किञ्चिद्वनाग । कि उवाह—
कश्यपमुत्तामभिमन्ता कश्यपस्य कश्यपस्य, त्रिदशमूर्धैरि त्रिदशमूर्धैरि
अभिगमिष्यति । गनेशुं । पश्य । दिव विहाय नुव गच्छतीत्याश्रयं परमेत्यर्थः ।
स्वय कश्यपमुत्तन्तुत्ता भगिनीनिव गच्छतीत्याश्रयं व्यन्यते ॥ ५२ ॥

अन्वय—का अपि बुभुक्षु काम् अपि त्रिदशमूर्धैरि शृण्वति किञ्चित्
वनाग—'पश्य, एवः शतपत्न कश्यपमुत्ता कश्यपमुत्ताम् अभिमन्ता ।'

हिन्दी—कौन देवाना विज्ञानु किनी देवाना से मूर्ध के स्वामी इन्द्र के
मुनते हुए कुछ ऐसा बोली—'देवो, यह शतपत्नकर्ता कश्यपमुनि का पुत्र
(इन्द्र) कश्यप की बेटी (धरती) पर अभिमन्त करने जा रहा है ।'

टिप्पणी—इस श्लोक में इन्द्र को निन्दनीय कार्य के लिए उद्यत संकेतित
कर उसका उपहास किया गया है। इन्द्र स्वर्गासत्र है, उसने भी मत्त किये हैं,
तैजोस्य कश्यप महामुनि का वह बेटा है, और वह ऐसा अधन्य कृत्य कर रहा
है कि कश्यप की बेटी अर्थात् अपनी बहिन का अभिमन्त कर रहा है। अथवा
इतना उच्च वर्तित होकर भी इन्द्र 'कश्यप मत्त विदधाति कश्यप मद्यप उभ्य
सुताम्' अर्थात् मद्यप की बेटी का अभिमन्त कर रहा है। यह कार्य तो
निम्नतर व्यक्ति के लिए भी निन्दा का कारण है, इन्द्र तो शतपत्न और कश्यप
मुनि है। अथवा इन्द्र ही निन्दनीय, वह 'शतपत्न' अर्थात् सी श्लेष करने
वाला—अविवेकी है ही, कश्यप अर्थात् मद्यप का बेटा है, अब ऐसा अधन्य

कृत्य कर रहा है। इसमें आश्चर्य ही क्या है? भाव यही है कि इन्द्र स्वभावतः जघन्य है। मद्यप का बेटा मद्यप की बेटा का अभिगमन करे—इसमें वैचित्र्य नहीं है। विद्याधर के अनुसार इस श्लोक में अनुप्रास और विरोधाभास हैं ॥

आलिमात्मसुभगत्वमगर्वा कापि शृण्वति भघोनि वभापे ।

वीक्षणेऽपि सघृणासि नृणां किं यासि न त्वमपि सार्यगुणेन ॥ ५४ ॥

जीवातु—आलिमिति ! आत्मनः सुभगत्वेन सगर्वा सुभगमानिनीत्ययं । कापि, भघोनि शक्ने शृण्वति मरत्येव, आलि सखी वभापे । तदेवाह—नृणां मनुष्याणां वीक्षणेऽपि । किमुत सद्गतावित्यर्थः । सघृणा सजुगुप्सासि । सा त्वमपि सार्यगुणेन शङ्खधर्मेण, गतानुगतिकत्वरूपेणाविवेकित्वेनेति यावत् । न यासि किम् ? विवेकेन चेन्न यारयेवेत्यर्थः ॥ ५४ ॥

अन्वयः—‘आत्मसुभगत्वसगर्वा का अपि भघोनि शृण्वति आलि वभापे—
‘त्वम् सार्यगुणेन अपि न यासि किं नृणां वीक्षणे अपि सघृणा असि ?’

हिन्दी—अपने सौंदर्य पर अभिमान करने वाली किसी सुरसुन्दरी ने इन्द्र के सुनते हुए सखी से कहा—‘तू सग साय के अनुरोध से भी नहीं जा रही, क्या मनुष्यों को देखने से भी घृणा करती है ?’

टिप्पणी—इस श्लोक में भी अकारांतर में इन्द्र को सुनाते हुए उसका उपहास किया गया है। सुरसुन्दरी अपनी सखी से कहती है कि जब इन्द्र धरती पर मानुषी की आकांक्षा से जा रहा है तो उसकी सखी भी गतानुगतिकतया अथवा ‘सार्यगुणा’ अर्थात् साथी इन्द्र के गुण—प्रेमरज्जु से बध पृथ्वी पर क्यों नहीं चली जाती? लगता है कि सखी मनुष्य को देखने से भी घृणा करती है। जिस कार्य के करने में एक सामान्य देवी को भी लज्जा अथवा घृणा लगती है, अविवेकी इन्द्र उसे भी करने जा रहा है। कंसा अविवेकी और निष्ठ है इन्द्र! इन्द्र से समझदार तो देवागना ही हैं जो गतानुगतिकता में विवेक नहीं त्यागती। विद्याधर के अनुसार वक्रोक्ति और अनुप्रास हैं ॥ ५४ ॥

अन्वयुद्युत्तिपय पितृनाथास्त मुदाय हरिता कमितार ।

वर्त्म कर्षंतु पुर परमेकस्तद्गतानुगतिको न महार्घ ॥ ५५ ॥

जीवातु—अवगुरिति ; अयेन्द्रप्रयाणानन्तर, हस्ता कमितारो दिशा

कामनितारो दिक्मतम्, इन्द्रानुपानाहो इत्ययं । व्याख्यातनेतत् । द्युतिमयपितृपा
नाया वह्निवरागमाम्, तमिन्द्र, मुदा आँलुङ्गन, अन्वेनुरनुपात् । 'लङ्ः
शाकटासनत्संब' इति श्लेषादेशः । तथा हि, एकं वरुणेक एव पुरः, वरुणं
कथं तु मार्गं करोतु । तस्य मार्गं कर्तुं तमनुातिर्यम्य स महाधो महामूढः दुर्लभ
इति यावत् । न भवति । पुरोग एव दुर्लभस्तत्पृष्ठानुपाधिस्तु सर्वत्र सुभ्रा
एवेति न किञ्चिदत्र चित्रमित्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वयः—अथ हरिता कामितारं द्युतिमयं पितृनाया, त मुदा अबसु,
एक पर पुर वरुणं कथं तु तद्गजानुगतिकं महार्थं न ।

हिन्दी—इन्द्र के प्रदान के अनन्तर दिशाओं के कामुक अग्नि, वरुण और
यम (दिक्पाल) ने भी उस (इन्द्र) का प्रसन्नतापूर्वक अनुगमन किया ।
केवल एक मार्ग-प्रदर्शन कर दे, उसके गमन का अनुगमन करने वाला दुर्लभ
नहीं होता ।

टिप्पणी—अब स्वर्गराज कामुक और नीच तो अन्य दिशाओं के कामुक
दिक्पाल क्यों पीछे रहें ? अग्नि, वरुण, यम न भी इन्द्र की रीति अपनायी ।
गतानुगतिकता तो लोक में सामान्य है । एक कोई नया काम कर डाले,
अनुकर्ताओं की कमी नहीं रहती । विद्याधर के अनुसार अर्षान्तरन्यास ॥५५॥

प्रेषिता पृथग्धो दमयन्त्य चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्या ।

तद्गुरु प्रति च तैरुपहारा सख्यसौख्यकपटेन निगूढाः ॥ ५६ ॥

जोधातु-प्रेषिता इति । अयो अनन्तर, तैरिन्द्रादिभिः, चित्तचौर्यं दमय-
न्त्याश्चित्ताकर्षणे, चतुरा निजदूत्या दमयन्त्यं पृथक् प्रेषिता । तद्गुरु तत्पि-
तर नीमच्च प्रति, सख्यसौख्यकपटेन मैत्रीमुखव्याजेन, निगूढः गुप्ता, उपहारा
उपायनानि प्रेषिता ॥ ५६ ॥

अन्वयः—अथ तै चित्तचौर्यचतुरा निजदूत्या दमयन्त्यं पृथक् प्रेषिता,
तद्गुरु प्रति च सख्यसौख्यकपटेन निगूढा उपहारा ।

हिन्दी—उदन्तर उन सब (इन्द्रादि) ने चित्त को चुराने में चतुर
अपनी-अपनी दूतियों दमयती के पास पृथक्-पृथक् भेजों और उसके पिता के
पास मैत्रीमुख के व्याज से गुप्त उपहार भेजे ।

टिप्पणी—प्रत्येक दिक्पाल अपने उद्योग को दूसरे से छिपाना चाहता था, सो चुपचाप छिपा कर ही उन्होंने मन बघ करनेवाली दूतियाँ दमयती के पास भेजी थीं और मित्रता के बहाने चुपचाप बहुमूल्य गुप्त रूप से उपहार भीमराज के निकट । 'सख्यसौख्यकपटेन' पाठ भी है, उस स्थिति में अर्थ हुआ कि भीमराज के निकट उपहार इस व्याज से भेजे कि उसे सख्य अर्थात् युद्ध में सौख्य अर्थात् विजय का सुख प्राप्त हुआ है, सो विजयी के प्रति आदर और उत्साह-वर्द्धन के निमित्त अमूल्य उपहार भेजे जा रहे हैं । वास्तविक इच्छा तो यही थी कि भीमराज अमूल्य उपहारों से चमत्कृत और प्रभावित हो मंडदाता के साथ अपनी बेटी ब्याह दें । विद्याधर के अनुसार छेशानुप्रास और अपह्नुति अलंकार ॥ ५६ ॥

चित्रमत्र विबुधैरपि यत्ते स्वाविहाय वत भूरनुसम्भे ।

द्यौर्न काचिदथवास्ति निरुद्धा सेव सा चरति यत्र हि चित्तम् ॥५७॥

जीवातु—चित्रमिति । विबुधैर्देवै विद्वद्भिश्च, तैरिन्द्रादिभिः, स्व स्वर्गं, विहाय, वत हत, भूरनुसम्भे अनुमृतेति यत् । अत्र चित्रं वातु, न चित्रमित्यथ । कुत, अथवा द्यौ स्वर्गश्च, काचिदपि निरुद्धा प्रसिद्धा नास्ति । किन्तु यत्र चित्तं चरति रमते सैव सा द्यौहि ॥ ५७ ॥

अन्वय—तं विबुधै अपि स्व विहाय यत् भू अनुसम्भे, वत अत्र चित्रम्, अथवा द्यौ काचित् निरुद्धा न, हि यत्र चित्तं चरति सा एव सा ।

हिन्दी—उन्होंने विबुध (विद्वान्, देव) होकर भी स्वर्ग छोड़कर जो पृथ्वी पर अनुसरण किया, खेद है कि यह विचित्र है, अथवा (विचित्र नहीं है), स्वर्ग कोई विशिष्ट स्थान विरोध नहीं है, क्योंकि जहाँ चित्त रमता है, वही वह (स्वर्ग) है ।

टिप्पणी—कोई विद्वान् जब अनुचित कार्य करता है तो अचरज होता है । स्वर्ग तो अनेक पुण्यकाय करने से प्राप्त होता है । इन्द्रत्व तो शतमन्वों को प्राप्त होता है, उन छोड़कर विवेकी देव अविबक का कार्य करने लगे, धरती पर जाने लगे ता आरक्ष्य की बात है ही । जकारांतर से यह विचारने पर यही लगता है कि स्वर्ग कोई विशिष्ट स्थान नहीं होता, यह तो मन की बात

है। जहाँ मन रहे, वही स्वर्ग है। देवों का मन धरती पर आन्दन माने घना, तो धरती ही स्वर्ग है। विद्याधर के अनुसार लम्प्रेक्षा ॥ ५७ ॥

शीघ्रलघितपथैरथ बाहैर्लम्बिता भूवमसी सुरसारा ।

वक्रितोन्ममितकन्धरदन्वा शुश्रुदुध्वनिगतध्वनि दूरम् ॥ ५८ ॥

जीवानु—शीघ्रंति । शीघ्र लघितपथैरतिशान्ताध्वनि रथवाहै रथान्वै-
र्भुव लम्बिता प्रापिता, असी सुरसारा सुरश्रेष्ठा, वक्रिताश्चन्तिता, उन्नमि-
ताश्च कथयतीति, यस्मिन् स दन्वा कायसस्यानविशेषो यथा ते सन्तः,
अध्वनि दूर ध्वनि शुश्रुदु ॥ ५८ ॥

अन्वय—अथ शीघ्रलघितपथैर्वाहै नुव लम्बिता असी सुरसारा
वक्रितोन्ममितकन्धरदन्वा अध्वनि दूर ध्वनि शुश्रुदु ।

हिन्दी—उन्नततर शीघ्रतया मार्ग पार करने वाले यानों (अथवा
'रथवाहै' रथों और घाहों) द्वारा धरती पर लगे गये इस देव श्रेष्ठों ने ग्रीवा
को टेढ़ी और लंबी उठाकर मार्ग में दूर ध्वनि को सुना ।

टिप्पणी—अपने तीव्रगामी बाहनों से इन्द्र, अग्नि, वरुण और दम धरती
पर शीघ्र पहुँचे तो उन्हें दूर एक शब्द सुनायी दिया । विद्याधर के अनुसार,
छेजानुप्रास ॥ ५८ ॥

कि धनस्य जग्धेरथैर्वै नैव नस्यितुनप्लमन्त ।

स्वन्दन परमदूरमपश्यन्निस्वनश्रुतिसहोपनत ते ॥ ५९ ॥

जीवानु—किमिति । ते देवा, कि धनस्य ध्वनितम्, मेघस्तनितम्, अथवा
जग्धे ध्वनितम्, एव सद्यपितुनपि नालमन्तैव । एतावन्नात्रविन्दोऽपि
नास्तीत्यर्थः । 'शश्रुध्व' इत्यादिना तृमुन्प्रत्यय । किन्तु, निस्वनस्य पूर्वोक्तध्व-
नितस्य, श्रुत्या श्रवणेन, सहोपनत प्राप्तम्, जड्प्रमादग्ने स्वन्दन पर रथमेवा-
पश्यन्निति । रथवेगात्कि । अत्र सन्देहहोक्तयो मृष्टिः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—ते कि धनस्य अथवा जग्धे एव सद्यपितुम् अपि न एव
अलन्त, पर निस्वनश्रुतिसहोपनतम् अदूर स्पन्दनम् अपश्यन् ।

हिन्दी—यह व देव मेघ-गर्जन है अथवा गगार जो गर्जना—इस प्रकार
का संदेह करने का भी उन्नत न पा सके कि उस ध्वनित के सुनने के साथ
ही प्राप्त निश्चय ही एक रथ को देखा ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक मे वर्णित ध्वनित गर्जन ऐसा प्रबल था कि लगता था वादल गरज रहा है अथवा समुद्र का कोलाहल है। देव इम पर विचार भी न पाये थे कि उस ध्वनित का स्रोत एक रथ निकट ही आया दीखा। रथ को ध्वनि-गभीरता का सकेत। मल्लिनाथ के अनुसार सदेहसहोक्ति की सृष्टि, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ५९ ॥

सूतविश्रमदकौतुकिभाव भावबोधचतुर । तुरगाणाम् ।

तत्र नेत्रजनुप फलमेते नैपथ्य बुबुधिरे विबुधेन्द्रा ॥ ६० ॥

जीवातु—सूतेति । एते विबुधेन्द्रास्तत्र रथे सूतस्य सारथे, विश्रमदो विश्रान्तिप्रद, कौतुकिभावो विनोदित्व यस्य त, विनोदार्थं स्वय प्रतिपन्न-सारथ्यमित्यर्थं । अत्र हेतु तुरगाणा भावबोधचतुरम् जश्वहृदयवेदिन, नेत्रज-नुपो नेत्रदत्ताया फल, लोचनासेचनकमित्यर्थं । नैपथ्य निपथाना राजान नलम् । जनपदशब्दात् क्षत्रियादण् । बुबुधिरे ज्ञातवन्त ॥ ६० ॥

अन्वय — एते विबुधेन्द्रा तत्र सूतविश्रमदकौतुकिभाव तुरगाणा भाव-बोधचतुर नेत्रजनुप फल नैपथ्य बुबुधिरे ।

हिन्दी—इन देवराजो ने उस (रथ) में रथचालक (सारथि) के विश्रान्ति दायक विनोदभाव सपन्न और अश्वो के हृदय का आशय समझने में चतुर नयनो के जन्म लेने के सुफल (सुन्दर) निपथराज (नल) को जाना (देखा) ।

टिप्पणी—गभीरध्वनि रथ में देवो ने देखा कि निपथराजनल बैठे हैं। नल सारथि को विश्राम देकर स्वय कुशलतापूर्वक रथ-संचालन कर रहे थे। नल शालिहोत्र विद्या के पूर्ण ज्ञाता थे और वे इतने मनोहर थे कि देवो को भी यह प्रतीति हुई कि नल को देखकर उनके नेत्रो का अस्तित्व सार्थक हुआ। विद्याधर के अनुसार यहाँ छैकानुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ ६० ॥

वीक्ष्य तस्य बहणस्तरुणत्व यद्वभार निविड जडभूयम् ।

नौचिती जडपते किमु सास्य प्राज्यविस्मयरसस्तिमितस्य ॥ ६१ ॥

जीवातु—वीक्ष्येति । बहणस्तस्य चलस्य, तरुणत्व तादृष्य, तादृष्यभूपितरूप-

मित्यर्थे । वीक्ष्य यन्निबिड जडभूय जडत्व स्मम्भात् नात्विजन्मित्यर्थे । 'भुवो भावे' इति क्यप् । बनार । प्राग्जेन प्रनृतेन, विस्मयरतेनाद्भुतरमेन, जलेन च । स्तिमितम्य निरघलस्य, जल्पने स्तम्भपतेरचेति डलयोरभेदात् सा जडभूय, विवेकप्राधान्यात् स्त्रीलिङ्गता । औचित्यौ उचितकर्त्ता, न किम् ? भवत्येवेत्यर्थे । विस्मयरसाविष्टम्य स्तम्भसत्त्वादिति भावः । जलसिक्तस्य स्वयं जडभावस्य जाड्यनूचितमिति व्यज्यते ॥ ६१ ॥

अन्वयः—वहना तस्य तरुणत्व वीक्ष्य यत् निबिड जडभूय बनार प्राग्य-विस्मयरसस्तिमितस्य अन्य जडपने ना किम् औचित्यं न ?

हिन्दी—वहना ने उस (नल) की तरुणता देखकर जो प्रचुर जडता धारण करली, प्रभूत जडभूत रस से स्तम्भ इस जल के जड स्वामी का वह (जडभाव) उचित कार्य नहीं था क्या ? (उचित ही था) ।

टिप्पणी—नेत्रजन्म के फल अर्थात् सौन्दर्यातिरेक से दर्शनीय निपघराज को देखकर देवों पर जो प्रभाव पडा, विरक्त प्रकार के चक्षुषका गये, यह एक-एक श्लोक में क्रमशः निर्दिष्ट है । इस श्लोक में वरुण का जाश्चर्यान्वित हो जडीभूत रह जाना कहा गया है । कवि के अनुसार वह तो जडपति ही है, जडीभूत रह जाने वाले प्राणियों का स्वामी, जड उसका चकित रह जाना स्वाभाविक ही था, कोई नयी बात नहीं थी । वरुण जल का स्वामी है—जलपति । 'उ' और 'ल' में अभेद माना जाता है, इसी 'डलयोरभेद' के आधार पर यहाँ 'जलपति' वरुण में 'जडपति'—भाव का आरोप कर लिया गया है । वरुण जलों का ही नहीं, 'जडों' का भी स्वामी है । सो जड हो जाना तो उसकी प्रकृति है । भाव यही है कि वरुण नल से अभिभूत हो स्तम्भ रह गया । स्तम्भता विस्मय से उत्पन्न होती ही है, और जलसिक्त भी जड हो ही जाया करता है । विद्याधर के अनुसार द्वैतानुग्राम और श्लेष बलकार ॥ ६१ ॥

रूपमस्य विनिरूप्य तथानिम्लानिमान रविवशावशत् ।

कोयंते मदघुनापि स देवः काल एव सकलेन जनेन ॥ ६२ ॥

जोवानु—रूपमिति । रविवशावनमो दम, अस्य नल्पस्य, रूप सौन्दर्यं, विनिरूप्य विभाव्य । तथा नेन प्रकारेण, अनिम्लानिगतिर्वैदध्यम्, अतिवालि-

मानमित्यर्थं । आप । यद्यथा, अधुनापि स देवो यम , सकलेन जनेन, काल एव काठ इत्येव, कीर्त्यते । तथा म्लानिमापेति पूर्वोणान्वय । तलेप्यानुनास-कालिमयोगादय कालो न तु प्राप्यायु कलनादिति भाव । अत्र यच्छब्दस्य कारणपरत्वेन व्याख्याने त्वनपेक्षितार्थाभिधानमनन्वयश्च स्यात् । प्रकारार्थत्वे तु न कश्चिद्विरोध । प्रकारार्थत्वश्च निपातानामनेकावत्वादविरुद्धमित्यर्थं ॥

अन्वय —रविवशवत्तन अस्य रूप विनिरूप्य तयः अतिम्लानिम् आप यत् स देव अधुना अपि सकलेन जनेन काल एव कीर्त्यते ।

हिन्दी—सूर्यवश का भूषण (मृयसुत यम) इस (नल) का रूप सौंदर्य सादर देखकर उस प्रकार अतीव म्लानि—कालिमा को प्राप्त हो गया कि वह देव आज भी समस्त जनो द्वारा 'काल' (काला, अतक) ही कहा जाता है ।

टिप्पणी—यहाँ सूर्यपुत्र, मृत्यु के स्वामी यम पर पडे प्रभाव का वर्णन है । मृत्यु का स्वामी होने से यम को 'काल' कहा जाता है । काल का अर्थ कृष्णवर्ण—काला भी है । इस पर उद्भावना की गयी है कि यम को 'काल' सजा इस कारण मिली है कि वह नल के रूपसौंदर्य को देख इतना म्लानि-युक्त और निराश हुआ कि काला पड गया और सदा के लिए लोक-जीवन में 'काल' कहा जाने लगा । उज्ज्वल रविवशका अवतस होने पर भी सचित यम काला पड गया, कितना अजरज है ! विशाधर के अनुसार छेकानुप्राण और अनिशयोक्ति ॥ ६२ ॥

यद् बभार दहन खलु ताप रूपधेयभरमस्य विमृश्य ।

तत्र भूदनलता जनिकर्त्री मा तदप्पनलतेव तु हेतु ॥ ६३ ॥

जीवानु—यदिति । दहनोऽग्निरस्य नत्स्य, रूपमेव रूपधेय सौंदर्यम् । 'नामरूपभागेभ्य स्वार्थे धेयो वक्तव्य' इति स्वार्थे धेयप्रत्यय । तस्य भर समृद्धि, विमृश्य विचार्य ताप बभार खल्विति यत् । तत्र तापभरणे, अनलता अग्निरव जनिकर्त्री जन्मकरी, उत्पादिका मा भूत् । नलरूपदर्शनज-यतापे तस्या अप्रयोजक-वादिति भाव । किन्तु तदपि तथापि चित्रमनलतैवाग्निरवमेव हेतुरिति विरोध । नञ् सभावहेतुरिति परिहार । अतएव विरोधाभासोऽलङ्कार ॥ ६३ ॥

जन्वन्—इहो अयं रूपेणनर विवृण्व यत् ताव वनार खलु तत्र अनन्ता जनिवर्गो ना भूत् तु तदपि अनन्ता एव हेतु ।

हिन्दी—अग्नि ने इन (नर) के सौन्दर्य-दाहक का विचार करते जो 'तान' (दुःखादि) का धारण किया, उसमें जग्नि होना उत्पत्ति का कारण नहीं है, जग्नि (अग्नि का) 'न'-न-होना ही कारण है ।

टिप्पणी—अग्नि ने निपयराज को देखा और उसके सौन्दर्याविशय से जग्निभूत हो विचार किया कि यदि जग्नि न-होना तो दमयन्ती उन्नी ही हो जाती, पर वह तो अनन्त है—नातिरिक्त । अग्नि को इसन जग्नि जग्नि 'अनन्ता' (नन्मिलना) के कारण ही यह कष्ट-कलेश हुआ, यह 'तान' इन कारण नहीं कि वह दाहक अग्नि है । 'जन्वन्ता' शब्द के आधार पर इस श्लोक में मन्त्रिनाथ और विद्याधर ने विरोधमान जलकार का निर्देश किया है । अग्नि के दाहकत्व का कारण 'अनन्ता' (अग्निनाथ) कारण नहीं है, यह विरोध हुआ, 'अनन्ता' का अर्थ 'नन्मिलना' अर्थ करते परिहार हो गया ॥ ६३ ॥

कामनीयकमय कृतकाम काममक्षिभिरवेक्ष्य तदीयम् ।

कौशिक स्वमन्त्रिण परिपश्यन् मन्यते स्म खलु कौशिकमेव ॥ ६४ ॥

जीवानु—कामनीयकमिति । कौशिक इन्द्र, जन्वितकाम तिरन्वृत्तनवन, तदीय नलीय, कामनीयक कामनीयत्व सौन्दर्यम् । 'योषाद् गुह्योत्तमाद् वुर्' । काम प्रकाममक्षिभि । सहस्रेषेति भाव । जवेक्ष्य, अथ स्वभात्मानमक्षि यथा तथा जाकन्वेनेत्यर्थ । परिपश्यन् कौशिकमुन्वमेव । 'महेन्द्रगुगुलूकान्माल-प्राहिणु कौशिक' इत्यमर । मन्यते स्म खलु । नत्स्यात्मनस्वैतावदन्तरनिज-मस्तेज्यं । तथा चान्य मनीनिराश मनो बभूवेति भाव ॥ ६४ ॥

अन्वयः—कौशिक जन्वितकाम तदीय कामनीयकम जक्षिभि कामम् जवेक्ष्य स्वम् अक्षिण परिपश्यन् खलु कौशिकम् एव मन्यते स्म ।

हिन्दी—कौशिक (इन्द्र) ने कामदेव को जन्वमानित करनेवाले उस (नर) के 'कामनि' (कामनीय के भाव—सौन्दर्य) को अपने (महत्) नेत्रों से मनीमानीति निहार कर अरुण को प्रांसुर से देखने हुए निरक्षर (अपने को) कौशिक (खलु) ही माना ।

टिप्पणी—कौशिक को कौशिक तो होना ही चाहिए, वह कौशिका-तिरिक्त हा ही कैसे सकता है? पर नल के कामावमानी सौंदर्य का जब उसने अपने सहस्र नेत्रों से निहारा तो वह अपने को अत्यन्त हीन समझने लगा—एक अघरे में रहनेवाले, निष्कृष्ट, कुरूप पक्षी उल्लू के समान। भाव यह है कि नल को देखकर इन्द्र दमयन्ती-प्राप्ति के विषय में पूर्णतः निराश हो गया। विद्याधर के अनुसार ऐकानुप्रास और उत्प्रेक्षा लकार ॥ ६४ ॥

रामणीयकगुणाद्वयवाद मूर्तमुत्थितममु परिभाव्य ।

विस्मयाय हृदयानि वितेरुस्तेन तेषु न सुरा प्रवभूवुः ॥ ६५ ॥

जीवातु—रामणीयकेति। सुरा इन्द्रादयः, अमु नल, मूत मूर्तिमन्तम्, उत्थितमुत्पन्नं रामणीयक सौन्दर्यं, कामनीयकवृत्तिस्तद् तदेव गुणस्तस्याद्वयमेकमेवेति वाद प्रवाद, परिभाव्य त्रिजगदेकसुन्दर मत्वेत्यर्थः। हृदयानि चित्तानि, विस्मयायाद्भूवरसाय, वितेरुदु। तेन दानेन, तेषु हृदयेषु विषये न प्रवभूवु तेषा नेशिरः। दत्तद्रव्ये स्वत्वनिवृत्तेरिति भावः। विस्मयाद्दृष्टचित्तवभूवुरिति परमाथ ॥ ६५ ॥

अन्वय—सुरा अमु मूतम् उत्थित रामणीयकगुणाद्वयवाद परिभाव्य हृदयानि विस्मयाय वितेरु तेन तेषु न प्रवभूवु ।

हिन्दी—(इन्द्रादि) देवा ने इस (नल) को मूर्तिमान् उदित सौंदर्य गुण का अद्वैतवाद (अद्वितीय सौंदर्यशाली) विचार कर (अपने) हृदयों को आश्चर्य को दे दिया, उसी से उन (देवों) का उन (हृदयों) पर अधिकार न रह गया ।

टिप्पणी—जो वस्तु अय को दे दी जाती है, उस पर दाता का अधिकार नहीं रह जाता, प्राप्तकर्ता का हो जाता है। नल को जब इन्द्रादि ने देखा तो चकपका कर अपने चित्तों को विस्मय को दें डाला, फल स्वरूप उनके चित्त अन् उनके अधीन न रह गये। देवों को लगा कि नल जैसा सुन्दर और कोई नहीं है विश्व में—रामणीयता अद्वैत भाव से निपघराज में आ बसी है। विस्मय में पड़े देव उस समय किकर्तव्य विमूढ हो गये, परवश चित्तों में विचारक्षमता रह ही नहीं गयी। विद्याधर के अनुसार अतिशयाक्ति और समास ॥ ६५ ॥

प्रेमरूपकविशेषनिवेशी. नवदङ्गिमगा श्रुतपूर्व ।

एष एव नल किमिति मन्दमन्दमिन्दरेतरम्बु ॥ ६६ ॥

जीवानु—प्रेमरूपकमिति । अनरा उदादय श्रुतपूर्व पूर्व श्रुत, 'सुप्सुपा' इति नमास । मन्त्रनि, नवदङ्गि प्रपञ्चमवाद व्रजङ्गि, प्रियरूपस्य भाव प्रियरूपक सौन्दर्यम् । मत्तोज्ञाशब्दाद् वृत् । तस्य विशेषेण तत्तदवयवेषु । 'विशेषांश्वयवे व्यक्त' इत्युत्पलनाशब्दानाम् । निवेशैस्तस्यानैर्ङ्गि = श्रुतपूर्वो नल एष एव किमिति ह्यन्निदेश । इतीदं वाक्ये मन्दमन्द नन्दप्रकार, 'प्रकारे म्वावचनस्य' इति द्विर्भाव । इतररेतरम्बु ॥ ६६ ॥

अन्वय—अनरा श्रुतपूर्व नवदङ्गि प्रियरूपकविशेषनिवेशी म नल एष एव किम्—इति इदम् इतरेतर मन्दमदम् उच्यु ।

हिन्दी—देवाण पल्लि मुने, (जब) प्रत्यक्ष बोले हुए प्रियरूप के भाव (सौंदर्य) की अतिशयता के किन्त्यानों के कारण 'बहु न मही है नरा'—उन प्रकार के वाक्य परन्तर धीरे-धीरे बोले ।

टिप्पणी—नल लोक विधुन या, उनके रूपानिष्ठ के कारण त्रिलोकी की मुन्दरियों में 'मन्मयविभ्रम' हो जाता या (नैपदीव १।२६) विश्व की रमणीय कामिनी उत्तकी वाचना करती थी (१।२७-३०) । देवा ने भी पहिले नल के सौंदर्य विशेष की चर्चा सुनी थी । अब, जब नल प्रत्यक्ष हुआ, तो वे पूर्वश्रुत के आधार पर भीमाना करने लगे कि यही वह नल है, जिसके विषय में इतना कुछ सुना था । जैसा सुना था, वैसा ही देखा-याया । विद्याधर के अनुसार जाति अलकार ॥ ६६ ॥

तेषु तद्विषयपूर्वणहं भूषण स समयः म रयाध्वा ।

तस्य कुण्डिनपुर प्रतिनर्पन् भूषणैर्व्यवसितानि शशम् ॥ ६७ ॥

जीवानु—तद्विषयः । तस्य भूषणैर्व्यवसितानि, ना प्रसिद्धा विद्या प्रकारः सौन्दर्योद्योगाधारणप्रमो यस्यान्मस्या वध्वा वरणे अहंमुचित भूषण, स समय स्वयवराजाल, कुण्डिनपुर प्रतिनर्पन्, तदनिमुक्त म रयाध्वा च व्यवसितानि नलोद्योगान् तेषु तानविदुष्य शशम् तेभ्यः सगमुरित्यर्थः । आधारत्वविशेषाया सप्तमी । एतन्निर्णयैत्यस्य स्वरवरयाश्रेयमिति निश्चित्युरित्यर्थः ॥ ६७ ॥

अन्वय.—तस्य तद्विधवधूवरणाहं भूषणम्, स समय, कुण्डिनपुर प्रति-
सपन् स रथाध्वा भूपते व्यवसितानि तेषु शशसु ।

हिन्दी—उन (नल) का उस (दमयन्ती) जैसी दधू के वरण योग्य
अलकृत सौंदर्य, वह समय (स्वयवर-काल) और कुण्डिनपुर की ओर जाता
उसके रथ का मार्ग—इन सबने भूपति (राजा नल) के उद्योगों को
देवताओं के सम्मुख स्पष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—अद्वितीय राजा नल का मंडित वेप, स्वयवर की घोषणा
और कुण्डिन नगरी की ओर यात्रा करता नल का रथ—इन सबको देखकर
चारों देव स्पष्टतः समझ गये कि नल दमयन्ती को पाने के लिए स्वयवर-
समारोह में सम्मिलित होने जा रहा है । ये सभी विद्वान् नल की स्वयवर-
यात्रा को स्पष्ट कर रहे थे, फलस्वरूप देवों ने तथ्य अवगत कर लिया
विद्याधर के अनुसार समुच्चय अलंकार ॥ ६७ ॥

धर्मराजसलिलेशहृताशै प्राणता श्रितममु जगतस्तै ।

प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापेश्चेतसा निभृतमेनदचिन्ति ॥ ६८ ॥

जीवातु—धर्मैति । जगत प्राणता प्राणत्व जगज्जीवनत्व, तत्प्रियता
वा । श्रितममु नल, प्राप्यासाद्य, हृष्टा जगत्प्राणभूतपुरुषदर्शनात्सत्तुष्टा,
चलास्तल्लावण्यदर्शनाद्भ्रम्या इलथानुरागा, विस्तृततापा रागशैथिल्यादेव
विस्तृतविरहतापाश्च तैस्तथोक्तैस्तै प्रकृतधर्मराजसलिलेशहृताशै चेतसा, निभृत
निगूढम् । एतदनन्तरश्लोकत्रये वक्ष्यमाणचिन्ति चिन्तितम् । अत्र 'यमा हृष्टो
वक्ष्यमाणश्चो बहिर्विस्तृतताप क्रमात्प्रतिपादनपरश्चोत्तरश्लोकत्रयमिति कैश्चिद्'
व्याख्यातम् । तदयुक्तम् । न ह्येतामेते धर्मा प्रतिनियता । किन्तु, त्रयाणा-
मेकाभिप्रायेणाप्येते धर्मास्साधारणा, अत एवोत्तरश्लोकत्रयमपि सवविषयम् ।
अत एवात्तरश्लोके 'न' इति दहवचनोपादानम् । यद्यपि तदनन्तरश्लोकद्वये
एकवचनोपादानम्, तदपि प्रत्येकाभिप्रायादविषयम् । किञ्च, इत्येवमन-
सेत्याद्युपसंहारश्लोके परस्परमुखदर्शनोक्त्या त्रयाणामेकाभिप्रायावगमाच्च
अस्मदुक्तमेव युक्तमुत्तरायाम ॥ ६८ ॥

अन्वय—जगत प्राणता श्रितम् अमु प्राप्य हृष्टचलविस्तृततापै तैः
धर्मराजसलिलेशहृताशै चेतसा निभृतम् एतत् अचिन्ति ।

हिन्दी—जगत् प्राणभूत इम (नल) को पाकर प्रसन्न, चचल और अत्यधिक नम्र उन धर्मराज (यम), ज- के स्वामी (वरुण) और दृढ के नोनी (अग्नि) ने मन में चुपचाप यह (६९, ७०, ७१ श्लोक में वर्णित) विचार किया ।

टिप्पणी—विश्वप्रिय नल के सौंदर्य को देखकर ये देव स्वामाधिक रूप में पहिले प्रसन्न हुए, फिर यह सोच कर कि इसके ममूख दमयंती उन्हें नहीं वरेगी, चचल हो गये और उनका मनोदाह बट गया । अथवा—टीकाकार नारायण के अनुसार—नल था जगत् का प्राणभूत, क्योंकि वह मलीमाति लोकपालन करता था, तो नल हुआ जगत् प्राणवायु, उसे देखकर यम प्रसन्न हुआ कि उसे उसका आखेट मित्र (यम प्राणापहारक है) । वायु से जल चचल अर्थात् तरगाकुल हो जाता है, अतः जलेश वरुण चचल हो गया । अग्नि वायु द्वारा और दीप्त हो जाती है, अतः जनि में और दाह उत्पन्न हो गया । 'प्रकाश'कार की इस व्याख्या से मन्त्रिनाथ सहमत नहीं है । उसके अनुसार प्राणापहरण आदि सबद देवा के निमत धर्म नहीं है, ये तीनों में होने वाले साधारण धर्म हैं । तीना ही हृष्ट, चल, सतत हुए, यही अर्थ मन्त्रिनाथ को मान्य है । उनका यह तर्क भी है कि ६९ वें श्लोक में 'न' (बहुवचन) का प्रयोग सामूहिकता का द्योतन करता है ॥ ६८ ॥

नव नः प्रियतमोभयथानो यद्यमु न वृणुते वृणुते वा ।

एकतो हि धिगमुमगुणज्ञामन्यत कथमद प्रातलम्भ ॥ ६९ ॥

जीवातु—चिन्ताप्रकारमेवाह—नैवेत्यादिना श्लोकत्रयेण । असी दमयंती, अमु नल यदि न वृणुते, वृणुते वा । उभयथापि पक्षद्वयेऽपि मोऽम्माक प्रियतमान न भवन्वेव । कुत हि यस्मादेकत प्रयमपक्षे अगुणज्ञाममु धिक् । तत्सङ्गतेर सुवावहत्वादिति भावः । अयतो नलवरणपक्षे कथमद प्रतिलम्भ जमुप्या परिग्रह । परदारत्वादिति भावः ॥ ६९ ॥

अन्वय —अमी यदि अमु न वृणुते, वृणुते वा—उनदथा न प्रियतमान, हि एकत अगुणज्ञाम् अमु धिक्, अयत कथम् अद प्रतिलम्भ ?

हिन्दी—(यम ने अथवा न' प्रयोग के कारण सब ने सोचा)—यह (दमयंती) यदि इस (नल) को नहीं वरती है, अथवा वरती है—दोनों

स्थितियों में हमारी प्रियतमा न हो नकगी, क्योंकि प्रथम (अवरण की) स्थिति में इस गुणों के न पहिचानने वाली को धिक्कारना होगा, और द्वितीय (वरण की स्थिति) में इस (दमयन्ती) की प्राप्ति कैसे होगी ?

टिप्पणी—दमयन्ती यदि नल जैसे सबगुण सपन्न नरश्रेष्ठ का वरण नहीं करती है, तो वह मूर्ख है—गुणों का मूल्य न जानने वाली । ऐसी मूर्खों को कौन प्रियतमा बनाना चाहेगा ? और यदि नल को दमयन्ती ने वर लिया, तो फिर कठानी ही समाप्त । देवों की कामना पूर्ण नहीं होगी । दोना ही स्थितियाँ भली नहीं । विद्याघर के अनुमार काव्यालय अलंकार ॥६९॥

मामुर्ष्यति तदा यदि मत्तो वेद नेयमियदस्य महत्त्वम् ।

ईदृशी न कथमाकलयित्री मद्विशेषमपरान्नृपपुत्री ॥ ७० ॥

जीवातु—मामिति । इय दमयन्ती, इयदेतावदस्य नलस्य, मत्तो मत्त काशान्महत्त्वमाधिक्य, न वेद यदि, तदा मामुर्ष्यति । तहि त्वद्गतदेवत्वा-द्युत्कर्षज्ञानात्त्वामेव धरिष्यतीत्यत आह—ईदृशीति । ईदृशी सर्वापरोक्षनलगत-विशेषानभिज्ञा नृपपुत्री अपरादपरस्माद्बलादित्यर्थ । 'पूर्वादिभ्यो नवम्यो वा' इति विकल्मान्न स्मरदेश । मद्विशेष मदीयोत्कर्षं च कथमाकलयित्री ज्ञात्री । वृत्ततादीकार । 'न लोक-' इत्यादिना पट्टीप्रतिषेध ॥ ७० ॥

अन्वय —इयम् इयत् अस्य मत्त महत्त्व यदि न वेद तदा माम् उर्ष्यति, ईदृशी नृपपुत्री अपरात् मद्विशेष च कथम् आकलयित्री ?

हिन्दी—मह (दमयन्ती) इतना इम (नल) का मुझसे महत्त्व यदि न जानेगी तो मुझे वर लेगी, (परतु) ऐसी (नल-विषयक अभिज्ञान न रखने वाली) राजपुत्री अथ (नल अथवा जन्मनृपो) से मेरा वैशिष्ट्य किस प्रकार जान पायेगी ? (न जानेगी) ।

टिप्पणी—देवों ('प्रवाश'-कार के अनुसार वरुण) ने विचार किया कि नलराज मुझ से अधिक महिमावान् है, यदि दमयन्ती को इसका ज्ञान न हो तभी वह देव-वरण करेगी, अन्यथा नहीं । पर नलानुरागिणी और नल के महिमान को दमयन्ती न जाने, यह समझ नहीं है । वह नल का देवा से वैशिष्ट्य न जाने, तभी देववरण कर सकती है, परतु यदि दमयन्ती ऐसी अजानी है कि नल का वैशिष्ट्य और महिमान नहीं जानती, तो फिर वह

वन्य प्रत्याशियों की अपेक्षा देवों का महत्त्व भी नहीं जान सकेगी। भाव यह कि यदि दमयन्ती अनिना है, तो नल को वरेगी और यदि अनिना है तो किमी को भी वर नकती है, वह देवा का महत्त्व भी न जान सकेगी, और किमी सदावीष मन्त्रंगण को ही वर लेगी। दोनों न्यदियों में निराशा ही हाथ लगती है। विद्याधर के अनुसार हेतु जलकार ॥ ७० ॥

नैपथे वन वृते दमयन्त्या व्रीडिनो हि न वहिर्नंबितास्मि ।

म्वा गृहेऽपि वनिता कथमाम्यं ह्रीनिमीलि खलु दर्शयिताहे ॥ ७१ ॥

जीवानु—नैपथ इति । किंच दमयन्त्या नैपथे नले, वृते ऋति, व्रीडित सन् वलिस्तावन्त नंबितास्मि हि । वहि क्वापि जनसमक्ष स्थानु न शक्यामी-
त्यर्थं । नवनेलूट् । वतेति वेदे । गृहेऽपि, स्वा वनिता माया, ह्लिया निमीनि सकुचतीति ह्रीनिमीति । निनिप्रत्यय । आस्य कथ खलु दर्शयिताहे दर्शयि-
प्यामि । श्येष्वन्ताङ्कारि लुट् । 'अनिवादिशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्'
इत्यपि च्च्रां वनिताया वैकल्पिक कर्मत्वम् । अत्र पेरपादिभूषस्ययद्रहा-
नामर्थ्यन्वाश्रयमाणकर्मत्वानावेन तद्विषयत्वात् 'गिचञ्च' इत्यात्मनेपदमिति
केचित् । अगिकर्तृकर्मश्रवणेऽपि तदतिरिक्तकर्माश्रवात्तदश्रयणापरकर्मत्वमन्वेवेति
पेरपादिभूषविषयत्वमेवेति भाष्यकार । तदेतन्मयिद्वेचिनमस्मानि
किराताङ्गीनीयव्याख्याने घटापथे 'स सन्तन दर्शयने गतत्मय' इत्यत्र ॥७१॥

अन्वय—दमयन्त्या नैपथे वृते वहि हि व्रीडित न नंबितास्मि, वत गृहे अनि स्वा वनिता ह्रीनिमीलि आस्य कथ खलु दर्शयिताहे ।

हिन्दी—दमयन्ती द्वारा निपटराज के वरे जाने पर बाहर ही लज्जित न होऊँगा, वेद है कि घर में भी अपनी पत्नी को लज्जा सकुचित्त मुख कैसे दिला पऊँगा ।

टिप्पणी—दोनों ओर अपमान की स्थिति, बाहर भी, घर भी । यही नताप और कष्ट का कारण है । 'प्रकाश'कार के अनुसार यह वहि की चिन्ता है । विद्याधर के अनुसार हेतु जलकार ॥ ७१ ॥

इत्यवेन्य मनसा मविधेय विश्वेन त्रिविबुधो वृद्धे न ।

नागनायकमपास्य तमेक सा स्म पश्यति परस्परमान्वम् ॥ ७२ ॥

जीवातु—इतीति । त्रयाणां विबुधानां समाहारस्त्रिविबुधी यमादिदेव-
त्रयम्, इति पूर्वश्लोकत्रयोक्तप्रकारेण । मनसाऽवेत्यालोक्य, किञ्च नात्मविशेष
स्वकर्तव्यं न बुबुधे न विवेद । किञ्च, सा त्रिविबुधी, तमेव नाकनायकमिन्द्रम
पास्य अपवाय परस्परमास्य पश्यति स्म । इतिकृतव्यतामूढास्त्रयोऽपि केदल-
म'योग्यमुस्तान्यपश्यन्नित्यर्थं ॥ ७२ ॥

अन्वय—सा त्रिविबुधी इति मनसा अवेत्य किञ्च न आत्मविधेयं न
बुबुधे, तम् एक नाकनायकम् अपास्य परस्परम् आस्य पश्यति स्म ।

हिन्दो—यह देवत्री इस प्रकार मन मे समझ कर किंचित् भी स्वर्क
कर्तव्यता न समझ पायी । वे उस एक स्वर्गपति (इन्द्र) को छोडकर एक
दूसरे का मुंह देखने लगे ।

टिप्पणी—६९-७१ श्लोको मे पृथक् पृथक् अथवा सामूहिक रूप में यम,
वरुण और अग्नि की चिन्ता का वर्णन हुआ । इन्द्र की स्थिति इन से भिन्न
है । यह देवत्री पूर्णतया किकतव्यविमूढ हो गयी । विद्याघर के अनुसार
छेकानुप्रास और भावोदय ॥ ७२ ॥

किं विधेयमधुनेति विमुग्ध स्वानुगाननमवेक्ष्य ऋभुक्षा ।

शसति स्म कपटे पटुश्चैर्वञ्चन समभिलष्य नलस्य ॥ ७३ ॥

जीवातु—किमिति । कपट परवञ्चने, पटु, ऋभुक्षा इन्द्र । अधुना कि
विधेयमिति विमुग्धमतिकर्तव्यतामूढम् । स्वस्यानुगानामनुयायिनां यमा-
दीनामाननमवेक्ष्य तेषां दैन्यं दृष्ट्वेत्यर्थं नलस्य वञ्चन समभिलष्य अभिसन्धाय,
उच्चैः शसति स्म जगाद ॥ ७३ ॥

अन्वय—उच्चैः कपटे पटु ऋभुक्षा अधुना किं विधेयम् इति विमुग्ध
स्वानुगाननम् अवेक्ष्य नलस्य वञ्चन समभिलष्य शसति स्म ।

हिन्दो—कपट व्यवहार मे अत्यंत कुशल इन्द्र 'अब क्या करना चाहिए'-
इस विषय मे विमूढ अपने अनुयायियों का मुख देखकर नल को घोखा देने
की इच्छा करके बोला ।

टिप्पणी—इन्द्र कपटाचारियों में प्रमुख है, अतः वह अपने साधियों के
समान किकर्तव्यविमूढ न हो नञ् के साथ कपटाचार कर उसे घोखा देने की
योजना बनाने लगा और नल से बोला ॥ ७३ ॥

सर्वान्ः नृणामागन्ति कच्चिद्वत्स नैपय इति प्रतिभा न ।

स्वामनाघंमुहृदस्मद रेखा वीरसेननृपतेरिव विद्य ॥ ७४ ॥

जीवानु—कवेति इति । नवेन सतस्वङ्गेषु, कुशलमागन्ति कच्चिद् ।
'कच्चिद् कामप्रवेशने' इत्यमर । न च त्वा न वेदीत्याह—त्व न प्रच्छिदो
नैपय न च इति नोन्माक, प्रतिभा प्रतीति । कुतस्तद रेखाभाकृति स्वा-
सनाघंमुहृदो नमानाजनभाजो, वीरसेननृपतेरिव तत्तदृशी विद्य तत्सादृशात्-
सुत्रो नत्स्वमिति प्रतीति इत्यर्थ ॥ ७४ ॥

अन्वय—नवेन कुशलमाक् जसि कच्चिद् ? (त्व) स नैपय
इति न प्रतिभा, तव रेखा स्वामनाघंमुहृद वीरसेननृपते इव विद्यन ।

हिन्दी—तुम सब प्रकार से (सत राग्याङ्गादि के सहित) सङ्गुण
हो न ? हमें ऐसा प्रतिभास होता है कि तुम निपधराज हो, हमें जान पड़
रहा है कि तुम्हारी स्वर रेखा हमारे आसन के जाने भाग पर बैठने वाले
मित्र राजा वीरसेन के सदा है ।

टिप्पणी—कपटाधार की भूमिका । जातनीयता का प्रदर्शन । पिता के
साथ अपनी भाड़ी नैत्री का संकेत दिया । पिता से पुत्र की स्वर रेखा प्राप्त
मिला करती है । जालकारिकों के अनुसार उपमानों की भी उपमान, भूपणों
की भूपण जगो की, नेत्रों को अमृत कर्णों के सदा आनन्ददायिनी सोभा
'रेखा' होती है—'उपमानोपमान या भूपणस्यापि भूपणम् । आङ्गुली
कथ्यते रेखा चभ्रुषीयूपर्वापिणी ॥' विद्याधर के अनुसार हेतु और उपमा
अलंकार ॥ ७४ ॥

कत्र प्रयाम्प्रसि नलेच्यलमुक्त्वा यात्रयात्र शुभयाजनि दन्त ।

तत्तयैव फलमत्वरया त्व नाद्यनोर्धामिदमागमिन. किम् ॥ ७५ ॥

जीवानु—कवेति । हे नल, नव प्रयाम्प्रसि त्पुत्रत्वा पृष्ट्वा अल, न प्रष्टव-
मिन्त्यर्थ । 'अलक्ष्यो' इत्यादिना क्त्वाप्रत्ययः । कुत, यद्यस्मान्प्रोन्माकमत्र
यात्रया इहागमनेन, शुभया त्वदृशनेन नकल्पया, अत्र यमावि । नावे तुहु ।
तत्तस्मात्, फलेन सत्वरया फादिन्या तथा, यात्रयैव कर्त्तव्यं, त्वनिदमध्वनो-
धमर्षमार्गमागतो न किम् ? अस्मदर्थमेवेद तवागमनमित्यर्थ ॥ ७५ ॥

अन्वय—नल, कत्र प्रयाम्प्रसि—इति उक्त्वा अलम्, यत् न अत्र

यात्रया शुभया अजनि, तत् फलसत्त्वरया तथा एव त्वम् इदम् अञ्जन अथ न आगमित १ किम् ?

हिन्दी—हे नल, तुम कहीं जा रहे हो—ऐसा कहना उचित प्रश्न नहीं है, क्योंकि हमारी यज्ञ (घरती पर) यात्रा शुभ हुई, तो शीघ्र फलीभूत होने वाली उसी (यात्रा) के कारण ही तुम कहीं इस आधे मास में (हमें) नहीं प्राप्त हो गये हा ?

टिप्पणी—कपटव्यवहार का दूसरा विशिष्ट आयोजन । किसी से उनकी यात्रा जा उद्देश्य म्यान पूछना अनुभूत माना जाता है । इस लोकाचार की आड में यह कपट कि नल अपना दमयन्ती स्वयंवर-विषयक अभिलाष कह ही न पाये और वह इंद्र के काय में सहायता के लिए बचनबद्ध हो जाय । इसीसे व्यक्त किया गया कि नल की इस यात्रा का कोई निज प्रयोजन नहीं है, वह देवकार्य में सहायक होने के लिए भाग्यवश आधे रास्ते में इंद्र को मिल गया है । नल इंद्र के कार्य में सहायक होगा ही, क्योंकि उसके पिता इंद्र के मित्र थे । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग अलंकार ॥ ७५ ॥

एव नैपथ । स दण्डभृदेष ज्वालजालजटिल स हुताश ।

यादमा स पतिरेप च शेष शसितारमवगच्छ सुराणाम् ॥ ७६ ॥

जीवातु—के मृगमत आह—एव इति । हे नैपथ । नल । एव इति पुरोवर्तितो हस्तेन निर्देश । स प्रसिद्धो दण्डभृत्सम, एव ज्वालजालजटिलो जटावान् । ज्वालामालाबुलीत्यर्थ । 'बह्ले द्वंयोर्ज्वालकीली' इत्यमर । पिच्छा-दित्वादिबुद्धि । स हुताशोऽग्नि, एव च न यादसा पतिर्वरण, शेष शिष्ट स्वमित्यर्थ । सुराणां शासितारम् अवगच्छ देवेन्द्र विद्धि ॥ ७६ ॥

अन्वय—नैपथ, एव स दण्डभृत् एव ज्वालजालजटिल स हुताश, एव स यादसा पति, शेष सुराणां शासितारम् अवगच्छ ।

हिन्दी—हे निपथराज, यह वह दण्डधारी (यम) है, यह ज्वालाओं की जटाओं की धारण करता वह हुतभृत् (अग्नि) है, यह जलज-तुल्य का स्वामी वह वरण है, शेष रहे मुझे तुम देवों का शासक (देवेन्द्र) समझ लो ।

टिप्पणी—नल को आतंकित करने के लिए विशेष आदरपूर्ण विशेषणों के माध्यम से देवा का परिचय कराया गया । दण्डधारी यम, जो यम की

काङ्कवन्ति कर देने है । मव जल टालने की क्षमता रखने वाले अग्नि है, जल पर भी शासन करने वाले वरुण है, और इन्द्र ? वह मनुष्यों पर क्या देवों पर भी शासन करता है । इतनी महाशक्तिया का आदेश अनुल्लघनीय है—मानना ही श्रेया न को । न मानने पर कष्ट भोगने का मकेत । विद्याधर के अनुभार परिकरालकार ॥ ७६ ॥

अयिनो वयमभी समुपैमन्त्रा किलेति फलितार्थमवेहि ।

अध्वन क्षणमपान्य च खेद कुर्महे भवति कार्यनिवेदम् ॥ ७७ ॥

जीवानु—अयिन इति । हे नल ! अभी वयमयिन न तस्त्वा समुपैम-
क्ति प्राप्नुमः खलु । समुपपूर्वादिणो लटि मस् । इति फलितार्थमवेहि विद्धि ।
क्षणमध्वन खेदमपान्य जख्यम नीत्वा भवति त्वयि कार्यनिवेद कार्यविशेष-
निवेदनम् विदेष्येन्तादन्प्रत्यय । कुर्महे ॥ ७७ ॥

अन्वय—अभी वयम् अयिन त्वा समुपैम किल—इति फलितार्थम्
अवेहि, क्षण च अध्वन खेदम् अपान्य भवति कार्यनिवेद कुर्महे ।

हिन्दी—ये हम याचक बने तुम्हारे समुक्ष आये है—यह तात्पर्य समझ-
लो, क्षण भर माँग की खिन्नता को मिटाकर आपन काय निवेदन करत है ।

टिप्पणी—इन्द्र अपना कपट-आल एक के पदचात् एक बात कहते हुए
बिठाता जा रहा है । नल मित्र-भुत्र है, वह देव काय-साधन के निमित्त ही
मानो उन्हें मार्ग में मिल गया है । सामर्थ्यशील देव उसके समुक्ष याचक है,
अत नल को देवकार्य-निरत होना ही पडेगा । कोई अवसर नहीं दिया
इन्द्र ने नल को कुछ कह सकने का ॥ ७७ ॥

ईदृगी गिरमुदीर्यं विडौजा जोपमाप न विशिष्य वभापे ।

नात्र चित्रमभिघाकुशलत्वे शौनदावाधि गुरुर्गुस्त्वस्य ॥ ७८ ॥

जीवानु—ईदृशीमिति । विडौजा इन्द्र, ईदृशी सामान्यनिद्रिष्टा, गिर-
मुदीर्यं जोप मौनमाप । 'तूष्णीं जोप भवेमौनम' इति ह्यण्युष । विशिष्य
विविच्य, न वभापे विशेष नाचष्टत्यर्थं, अत्रास्मिन्नभिघाकुशलत्वे उक्तिचातुषे,
चित्र विस्मयो न । कुत, अस्येद्रस्य शैशवनववियस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा
तदारम्भेत्यर्थं । गुरुराचार्यो गुरुर्बृहस्पति । वाचस्पतिशिष्यस्य वाग्मित्व कि-
चित्रमिन्यर्थं । 'गुरुर्गोष्पतिपित्रादी' इति वैजयन्तः ॥ ७८ ॥

जन्वय — विडौजा ईश्री गिरम् उदीर्यं जोषम् आप विनिष्य न ब्रमापे,
अत्र अभिघाकुशलत्वे चित्र न, शैशवावधि गुरु अस्य गुरु ।

हिन्दी—इन्द्र इस प्रकार के वचन उच्चारण कर चुप हो गया, विशेष
करके कुछ न कह, इस प्रकार की वचनघातुरी में विचित्रता नहीं है
वचन में लेकर ही बृहस्पति उसके गुरु है ।

टिप्पणी—मार्ग की निरता दूर करने के व्याज से इन्द्र न केवल
उपयुक्त वचन ही कहे, दमयन्ती विषयक चर्चा नहीं की कि कही नल
अस्वीकार न कर दे । बातें बनाने में इन्द्र परम चतुर ठहरा ही, बृहस्पति जैसे
वाणीश्वर गुरु का शिष्य है न । वाचस्पति का शिष्य वचनचतुर हागा ही ।
विद्यापर के अनुसार श्लोक में छेकानुप्रास, काव्यालिन और उत्प्रेक्षा
अलङ्कार हैं ॥ ७८ ॥

अथिनामहृपिताखिललोमा स्व नृप स्फुटकदम्बकदम्बम् ।

अर्चनार्थमिव तच्चरणाना स प्रणामकरणादुपनिष्ये ॥ ७९ ॥

जीवातु—अर्थात् । अथिनाम्ना अथिनामथवणेन, हृपिताखिललोमा
रोमाञ्चिततनु, 'हृपेलोमसु' इति वैकल्पिक इडागम । नृप, स्वमात्मान,
तच्चरणानामर्चना स्फुटकदम्बकदम्ब विकसितनीपकुसुमवृन्दनिवत्युत्प्रेक्षा ।
प्रणामकरणात्तद्व्याजादुपनिष्ये समपमामास ॥ ७९ ॥

जन्वय — अथिनामहृपिताखिललोमा स नृप प्रणामकरणात् तच्चरणा-
नाम् अर्चनार्थं स्व स्फुटकदम्बकदम्बम् उपनिष्ये ।

हिन्दी—'याचक' नाम (अथवा याचका के इन्द्रादि नाम) से जिसके
समस्त रोम हर्ष से पूण हो गये थे, ऐसे उस राजा (नल) ने प्रणाम क्रिया से
उत्तरे चरणा की बन्दना के निमित्त मानो अपने को विकसित कदव-पुष्पो
के सरस समर्पित कर दिया ।

टिप्पणी—नैपथीय० (१।१५-१६) में नल की वदान्यता बतायी गयी है
कि वह 'अल्पितकपपादप' था और उसने दारिद्र्य को भी दारिद्र्य बना
दिया था, वह चाहता था कि इतना दान कर कि सुमेरु समाप्त हो जाय
और दान-जल में व्यय होते-होते समुद्र सूख जाय । ऐसे दानशील नल ने जब
याचका को समुक्त पाया तो उसका रोम-रोम मिल उठना म्नामाविव

ही था। उस पर देवराज जोर नहाद्यान्व्यंजीव विदेवो को याचक रूप में पाकर तो उसे हर्ष द्विमुपित हो जाना ही था। उसने मन्त्रिपूर्वक देवचरणों में प्रणाम पुरम्भ करने रोमाचित शरीर का समर्पण बना किया, मानो 'म्फुट्कदवन्दव'—जैसे शरीर के रूप में कदव के फूल समर्पित कर दिये। रोमाचित देह को दुःखना खिले कदवपुष्पों से की गयी है। मन्त्रिनाथ के अनुसार उपदेश, विद्याधर के अनुसार रत्नक, उद्येज्ञा और अन्हनुति ॥७९॥

दुर्लभ द्विधिपैः किममीन्मिस्तादृश म्यमहो मदधीनम् ।

इदंश मननिवृत्त्य विरोध नैपथेन ममगायि विराय ॥ ८० ॥

जीवानु—दुर्लभमिति । दिग्द्विपरमीनिरिन्द्रादिभिः, दुर्लभ कि तादृश दुर्लभ वस्तु कथ मदधीन मदायनम् ब्रह्म, ईहा विरोध मननिवृत्त्य निवाय । 'अन्त्याथात्तरनिननसी' इति गतिनपारणे 'हुतिप्रदाय' इति मनासे कन्धो स्ववादेश । नैपथेन नलेन, चित्तय विर ममगायि मरुपितम् । विचारित्-निन्दयं । नावे सुद्ध ॥ ८० ॥

अन्वयः—ब्रह्म, अनोनि दिग्द्विपरं दुर्लभं किम्, तादृश मदधीन म्यम् ? ईहा विरोध मननिवृत्त्य नैपथेन विराय ममगायि ।

हिन्दी—बरे इन (तान्मर्षशील) दिक्कालों के लिए दुर्लभ क्या है, जोर बैसा (दुर्लभ काम्य) केरे अर्थात् किन् प्रकार है ? इस प्रकार का विरोध विचारते हुए निन्दरात्र चित्काल तक समय में पड़ा रहा ।

टिप्पणी—नल समस्त विद्या-विद्यारत था, मोक्षित, नुविचारी । उसे संदेह तो हो ही गया कि कहीं कपट है, बचना है । य देव तो सब कुछ करने में स्वयं समर्थ है । ऐसा क्या है, जो ये नहीं कर सकते जोर में कर सकता हूँ ? द्विविधा बोर संदेह में प्रसन्न नल कृष्ण क्षण तक चुपचाप विचारता रहा ॥८०॥

जीवित्तावधि वनीपदभात्रैर्याच्यमानमद्विलसः मृग्यन् यत् ।

अर्थिने परिवृत्ताय मुरागा कि द्वितीयं परितुष्यन्नु चेत् ॥ ८१ ॥

जीवानु—विचारप्रकारमेवाह द्वादशरत्नेक्या—जीवित्तेयादि । पदस्माद्-खिलेवंतोपकनात्रैर्भैरिचिदाचर्कं । 'वनीपको याचनको मार्गनो याचकादितो' इत्यनर । जीवित्तावधि प्राणनर्पण, याच्यमान वस्तु मृग्यन्म् । मुच्यता परिवृत्ताय प्रनदे अर्थिने कि वस्तु द्वितीयं दत्त्वा, चेत् परितुष्यन्नु मन्तुष्येत् ।

प्राणात् वस्तु सर्वाथिसाधारण ततोऽधिकमन्त्राय देय किमस्तीति विचारित
मित्यर्थं । वितरणे चेतस कृतृत्वविवक्षया वितरणपरितोषयो समानकर्तृत्व
सिद्धि ॥ ८१ ॥

अन्वय.—यत् अखिलै बनीपकमात्रे जीवितावधि याच्यमान सुखम
सुराणा परिवृढाय अर्थिने किं वितीर्यं चैत्र परितुष्यतु ?

हिन्दी—जो किं समस्त (सामान्य) याचकमात्र को प्राणपर्यन्त मगि जाने
पर सुखम है, देवों के प्रभु के याचक होने पर क्या वितरण करके मेरा चित्त
संतुष्ट होगा ?

टिप्पणी—नल ने विचार किया कि वह सामान्य पात्र-कुपात्र याचक को
मांग जाने पर प्राण तक सरलता से दे सकता है, विशिष्ट इन्द्रादि याचका को
कौन-सी ऐसी प्राणाधिक वस्तु दे, जिससे उन्हें मनस्त्रोप हो । देव-याचको को
प्राण से भी अधिक प्रिय पदार्थ देना उचित होगा ॥ ८१ ॥

भीमजा च हृदि मे परमास्ते जीवितादपि घनादपि गुर्वी ।

न स्वमेव मम साहृति यस्या षोडशीमपि कला किल नोर्वी ॥ ८२ ॥

जीवात्—नन्वस्ति लोकोत्तर वस्तु भंभी, सा दीयतामित्यत आह—
भीमजेति । उर्वी भूयस्या भंभ्या षोडशीमपि कला नाहृति षोडशाष्टसाम्यमपि
न प्राप्नातीत्यर्थं । अत एव घनादपि । किं बहुना, जीवितादपि गुर्वी अधिक
सा भीमजा दमयन्ती च । मे हृदि हृदये, पर सम्यगास्ते । किंतु मम स्वमेव
न भवति । अद्याप्यस्वकरणादस्वस्यादेयत्वात् । स्वत्वेऽपि 'देय दारसुताश्ने'
इति दाराणा दाननिषेधाच्च विचारस्तदवस्थ एवेति भाव ॥ ८२ ॥

अन्वय —यस्या षोडशीम् अपि कलाम् उर्वी न अहृति जीवितात् अपि
घनात् अपि गुर्वी भीमजा मे हृदि परम् आस्ते, सा मम स्वयम् एव न ।

हिन्दी—जिसके मोलहूँ अश के तुल्य भी पृथ्वी नहीं है, जीवन से भी
और घन से भी महनीय वह भीम मुता (दमयन्ती) मेरे हृदय में सम्यक्
विराजमान है, पर वह तो अग्नी मेरी सपदा (स्वत्व) नहीं है ।

टिप्पणी—विचार करते नल को प्रतीति हुई कि प्राणा से, राज्य से
घरती से भी अधिक प्रिय और महत्वपूर्ण एक वस्तु है—दमयन्ती । उसे दान
करने से चित्त संतुष्ट हो सकता है, पर इसमें कठिनता यह है कि भले ही

दमयन्ती को नल ने मन्त्रीमार्ति हृदयासन पर विराजित कर लिया हो, उस पर नल का कोई अधिकार तो नहीं है, अतः दमयन्ती का दान कैसे समझ है ? तृतीय चतुर्थ चरण का 'दस्या षोडशी कला मम स्वम् एव स्वरूपमेव नार्हति किं पुन ममया उर्वी' ऐसा भाव भी 'प्रकाश'-कार ने लिया है—त्रिम दमयन्ती का सोलहवां भाग मुक्त (नल) का स्वरूप भी नहीं है, धरती की तो दान क्या ? यद्यपि नल का उन काल दमयन्ती पर अधिकार नहीं था, फिर भी माना जाता है कि पत्नी पुत्र को छोड़कर शेष सब दिया जा सकता है—'देय दारमुत्तरे' । इस प्रकार स्वत्व होने पर नो—पत्नीत्व प्राप्त होने पर भी दमयन्ती का दान नीति-युक्त नहीं है । नाट्यशास्त्रियों के अनुसार प्रस्तुत कथा के भावी वृत्तांत का अयोक्तिमूचक वचन 'पञ्जाकाम्यानक' कहा जाता है । (दृश्यरूप १।१४) यहाँ ऐसी ही स्थिति है नाटकीय 'पञ्जाकाम्यानक' की योजना । विद्याकर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ८२ ॥

मीयता कथमभीप्सितमेपा दीयता द्रुतमयाचितमेव ।

त धिगन्तु कल्पन्नपि वाञ्छामधिवागवसर महते य ॥ ८३ ॥

जीवानु—पुनर्विचारमेवाह—मीयतामिति । एषामभीप्सित वस्तु कथं मीयता ज्ञायेत । ज्ञानस्योपयोगमाह—जयाचितु यथा तथा द्रुत कथं दीयताम्, दातव्यमित्यर्थं । तर्हि, अधिवाचैव विज्ञाय दीयतानित्यत आह—यो दाता वाञ्छामध्यांकाशा कल्पन् जानन्नपि । अधिवागवसर महते माच्छ्राकाल प्रतीक्षते, त दातार धिगन्तु । स महत् इत्यर्थं ॥ ८३ ॥

अन्वय — एषाम् अभीप्सित कथं मीयताम् ? अयाचितम् एव द्रुत दीयताम्, य वाञ्छा कलयन् अपि अधिवागवसर महते त धिक् अन्तु ।

हिन्दी—इनका अभीष्ट कैसे जाना जाय ? वितर्माणा ही शीघ्र देना उचित है, जो (दाता याचक की) इच्छा को समझता हुआ भी याचकों को करने का अवसर देता है, उसे धिक्कार है ।

टिप्पणी—श्रेष्ठ दान बही होता है, जो वितर्माणि किया जाय । याचित दान तो आधा फल देता है किन्तु याचक को बुलाकर देना महत्सगुण फल-दायक है—'गत्वा यद् दीयते दानं तदनन्तरं स्मृतम् । महत्सगुणमाहूय

याचिते तु तदर्थकम् ।' सो नल ने विचारा कि अजाने ही प्राणाधिक महत्व शाली कुठ देवराज को दिया जाय । विद्याघर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥८३॥

प्रापितेन चटुकाकुविडम्ब लम्भितेन बहुयाचनलज्जाम् ।

अर्थिना यदधमर्जति दाता तन्न लुम्पति विलम्ब्य ददान् ॥ ८४ ॥

जोवातु—शीघ्राप्रदाने दोषमाह—प्रापितेनेति । चटुकाकुम्या चटुक्ति काकुयोगम्या करणाम्या, विडम्ब विडम्बना हास्यत्व, प्रापितेन, दात्रेति शेष । बह्वधिक, यथा तथा याचनेन देहीति वादेन, लज्जा लम्भितेन प्रापितेन अत्रापि दात्रेति शेष । अर्थिना करणभूतेन, उच्यतेरुपेणाधिपीडनेनेत्यर्थं । यदध पापमर्जति मग्नादयति, विलम्ब्य ददानो दाता, तदध न लुम्पति न विहति । तस्य पापस्य प्रायश्चित्तमपि नास्तीत्यर्थ ॥ ८४ ॥

अन्वय — चटुकाकुविडम्ब प्रापितेन बहुयाचनलज्जा लम्भितेन अर्था दाता यत् अधम् अर्जति तत् विलम्ब्य ददान न लुम्पति ।

हिन्दी—चाटुकारी (खुशामद) और दीनतापूर्ण वाक्यो (के कथन) से विडम्बना (उपहास) को प्राप्त और बहुत बार याचना करने से लज्जा को प्राप्त याचक (को देने) से दाता जिस पाप का अर्जन करता है, विलंब करके देने वाला उस (पाप) का परिमार्जन नहीं कर सकता ।

टिप्पणी—वस्तुतः चाटुकारी और दीन वाक्यो के उच्चारण से याचक तो विडम्बना और लज्जा को प्राप्त होता ही है, सज्जन दाता को भी ऐसी स्थिति लज्जाजनक प्रतीत होती है । सच्चे दाता तो अयाचित ही दान करते हैं । नल जैसे वदान्य पुरुष की दृष्टि में तो 'चटुकाकुवाक्य' सुन कर देना और विलंब से देना दोनों ही 'पाप' है । 'चटुकाकुवाक्यो' से विडम्बित और लज्जित याचको की याचना दाता को पापार्जन कराती है, जिसका मार्जन देर से देकर सम्भव नहीं है । दान अयाचित और अविलंब हो उचित है ॥ ८४ ॥

यत्प्रदेयमुपनीय वदान्यैर्दीयते सलिलमयिजनाय ।

याचनोक्तिविफलत्वविशङ्काश्राममूर्च्छनचिकित्सितमेतत् ॥ ८५ ॥

जोवातु—मदिति । वदान्यैर्दीयति, प्रदेय देयद्रव्यमुपनीयायिजनाय सलिल दीयत इति यत् । एतत्सलिलदान याचनोक्तिविफलत्वविशङ्कया देहीति वादवैफल्यशङ्कया त्रासो नय तेन यमूर्च्छन तस्य चिकित्सितमित्युपदेशा । अथवा विमर्षं तत्सलिलदानमिति भाव ॥ ८५ ॥

अन्वय—वदान्यं प्रदंयम् उपनीय अधिजनाय मत् सलिल दीयते एतत् याचनोक्तिविफलत्वविशङ्काप्राप्तमूच्छंनचिकित्सितम् ।

हिन्दो—उत्तर दाताओं के द्वारा दातव्य वस्तु को समीप स्थानित कर याचकों को जो सकलजल दिया जाता है, वह याचना वचनों की निष्फलता की आशंका से जात भय से मूच्छा की चिकित्सा है ।

टिप्पणी— दान करते समय दाता दातव्य पदार्थ को निकट रख कर याचक के हाथ में सकल-जल छोड़ता है । दान की यह प्रणाली है । जल का विचार है कि वस्तुन यह याचका की उस मूच्छा या अकालमृत्यु की चिकित्सा है जो याचना के निष्फल हो जाने की आशंका में उत्पन्न डर से समझ है । 'मार्तन मरपसमान' होता है, कहा भी गया है—'मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके ।' तो जिस प्रकार मूच्छा दूर करने के लिए सलिल-प्रसेन किया जाता है और मूच्छा दूर हो जाती है, उसी प्रकार सकलसलिल याचकों के मन में उठी याचना निष्फलता की आशंका से समझ मूच्छा को दूर कर देता है । उन्हें विश्वास हो जाता है कि अब उनकी याचना व्यर्थ न होगी । उचित तो यह है कि याचकों के दीखते ही सकल-जल लाने में भी विलंब न हो । मन्त्रिणाय के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ८५ ॥

अधिने न तृगवद्धनमात्र किन्तु जीवनमपि प्रतिपाद्यम् ।

एवमाह कुशवज्जलदायी द्रव्यदानविधिरुक्तिविदग्ध ॥ ८६ ॥

जीवातु—जीवन इति । कुशवतो जलस्य दायो दानम् । ददातेधन् । युगागमः । स प्रतिपाद्यतया अस्मिन्निघावस्तोति कुशवज्जलदायी मकुशजल-दानप्रतिपादक इत्यर्थं । अत एवोक्तिविदग्ध । अनिघाव्यापारमन्तरेणायां-देवार्थान्तरप्रतिपादनचतुर इत्यर्थे । द्रव्यदानविरिषंनदायकशास्त्रमेवमाह । किमिति अधिने धनमात्र धनमेव । 'मात्र काल्पन्यैऽवधारणं' इत्यमर । तृगवत्तृणमिव न प्रतिपाद्य देयम् । किन्तु जीवनमपि जीवितमपि तथा देयमिति । सतृगु अथ देयमिति च गम्यते । अर्थान्तरपेक्षितकुशजलदान विदग्धो द्रव्यदानविधेरय-मेवानिप्राय इति मात्र ॥ ८६ ॥

अन्वय —अधिने घनमात्र तृणवत् न प्रतिपाद्य कितु जीवनम् अरि—
कुशवज्जलदायी उक्तिविदग्ध द्रव्यदानविधि। एवम् आह ।

हिन्दी—‘याचक को घन ही तिनके के समान न देना चाहिए, अपितु जीवन (प्राण और सकल्पजल) भी तृणसमान दे देना चाहिए’—कुश के साथ सकल्प-सलिल प्रदायिनी, श्लेषोक्ति-पाण्डित्य से पूर्ण घनदान की शास्त्र-पद्धति ने भी ऐसा कहा है ।

टिप्पणी—शास्त्रीय विधान है कि कुशयुक्तसलिल के साथ सकल्प करके दान करना चाहिए—‘कुशवत्सलिलोपेत दान सकल्पपूर्वकम् ।’ दातव्य वस्तु के साथ याचक के हाथ में सकल्पोदक प्रक्षेप भी किया जाता है—यही विधि है । ‘जीवन’ शब्द अनेकार्थ है—जीवन अर्थात् प्राण और जल । शास्त्र विधान के अनुसार दान करते समय तीन वस्तुएँ याचक को दी जाती हैं—(१) वस्तु, (२) जल, (३) जल के साथ कुश-तृण । कवि के अनुसार (नल की दृष्टि में) यह शास्त्रविधि का संकेत है कि तृण के समान दातव्य वस्तु ही नहीं, जीवन भी दिया जाता है । ‘जीवन’ क श्लेषार्थ से यह संकेत समभव है । इसी कारण ‘शास्त्रविधि’ का ‘उक्तिविदग्ध’ विशेषण दिया गया । भाव यह है कि याचक को यदि प्राण भी अपेक्षित हो तो नासकोच देने में विलंब न करना चाहिए । विद्याधर के अनुसार यहाँ प्रतीयमानोत्प्रेक्षा अथवा समासोक्ति है ॥

पङ्कमङ्कुरविगर्हितमहं न श्रिय कमलमाश्रयणाय ।

अधिपाणिकमल विमल तद्वासवेश्म विदधीत सुधीस्तु ॥ ८७ ॥

जीवातु—पङ्केति । पङ्कः पाप वर्दमश्च । ‘पङ्कोऽस्त्री कर्दमैतसो’ इति वैजयन्ती । तत्सङ्कुरेण विगर्हित, कमल श्रिय आश्रयणाय नार्हम् । तत्तस्मात्सुधीविमल निष्पङ्कमधिपाणिकमल तद्वासवेश्म लक्ष्मीनिवासस्थान, विदधीत । सवथा घन पात्रपाणिष्वेव निक्षेप्तव्यम् । न तु भूमाविति भाव ॥ ८७ ॥

अन्वय—पङ्कसङ्कुरविगर्हितम् कमल श्रिय, आश्रयणाय न अहम्, तत् सुधी तद्वासवेश्म विमलम् अधिपाणिकमल विदधीत ।

हिन्दी—कीचड (और पाप) के ससग के कारण निर्दित कमल लक्ष्मी के आवास योग्य नहीं है, अतः विमलबुद्धिवाली जन को उचित है कि उस (श्री) के आवास का स्थान स्वच्छ (निष्कलक) याचक के करकमल को बनाये ।

टिप्पणी—लक्ष्मी संपत्ति की अधिष्ठात्री है, उसका आवास कमल माना जाता है, किन्तु कवि वा कथन है कि वास्तविक कमल बह नहीं है, जो कीचड़ में उगा रहता है। लक्ष्मी कीचड़ में नहीं रह सकती, उसके लिए तो स्वच्छ आवास ही अपेक्षित है और वह है योग्य याचक का करकमल, जो सकल्प-सलिल में प्रक्षालित हो स्वच्छ हो जाता है। भाव यह है कि श्री-संपत्ति पाप-यक से कष्टपित्त जन के पास नहीं रहती, वह रहती है निष्पाप, योग्य व्यक्ति के पास। अतः समझदार व्यक्ति को चाहिए कि वह संपत्ति का दान याचक को करे। यह भी संकेत है कि मपदा और श्रीशोभा दानी के कर-कमल में ही वास करती है, जो सकल्पसलिलप्रसेन करते-करते पवित्र और स्वच्छ हो गया है—निष्पाप। पापी, कृपण तो श्री-संपत्तिहीन हो जाता है। विद्यापार के अनुसार अतिशयोक्ति-रूढ़ और छेदानुशास ॥ ८७ ॥

याचमानजनमानसवृत्ते पूरणाय न जन्म न यम्य ।

तेन भूमिरतिभारवती न द्रुमैर्न गिरिभिर्न समुद्रै ॥ ८८ ॥

चौपातु—याचमानेति । यम्य घनिनो जन्म याचमानजनमानसवृत्तैरयि-जनमनोरथस्य पूरणाय न भवति । बवेति छेदे । तर्नैकैव पापीयमा । इय भूमि-तिभारवती । न द्रुमादिनिबंहुभिरपीरथयं । तेन्य प्रनाता बहूपकार-लानादिति भाव ॥ ८८ ॥

जन्वय—यस्य जन्म याचमानजनमानसवृत्ते पूरणाय न, अतः तेन इय भूमि अतिभारवती, न द्रुमैः, न गिरिभिः, न समुद्रैः ।

हिन्दी—जिस (व्यक्ति) का जन्म याचक जनों के मानसव्यापार (इच्छा) की पूर्ति के लिए नहीं हुआ, उस (व्यक्ति) से यह धरती अन्यत शोषित है, न वृक्षों से है, न पर्वतों से और न समुद्रों से ।

टिप्पणी—वस्तुतः याचकों की आकांक्षा जो पूर नहीं पाते, वे व्यक्ति व्यय हो नहीं, इस धरती के भारी बोध हैं। प्रत्यक्षत बोझ प्रतीत होने वाले वृक्ष, पर्वत, समुद्र भार नहीं है, क्योंकि उनसे तो पृथ्वी के प्राणियों के अनेक कार्य नघते हैं, वे तो जनोपकारी हैं। ठी धरती की छाती पर पड़े एक भारवान् पापाप के तुल्य व्यक्ति की भी लोकोपकारक होना चाहिए। वृक्ष फूल फलों से, पर्वत समुद्र शोषण रत्नों से लोकोपकार करते हैं। याचकों की

दकर मनुष्य को अपना अस्तिस्त्व सफल बनाना चाहिए । विद्याधर के अनुसार असबध मे सबध कथन रूप अतिशयोक्ति ॥ ८८ ॥

मा धनानि कृपण खलु जीवन् तृष्णयार्पयतु जातु परस्मै ।

तत्र नैष कुरुते मम चित्र यत्तु नार्पयति तानि मृतोऽपि ॥ ८९ ॥

जीवातु—मेति । कृपण कष्टलुब्धो, जीवन् प्राणन्, तृष्णया अतिगघन, जातु कदापि, परस्मै याचमानाय घनानि, ना (मा) र्पयतु न प्रयच्छतु । एष कृपणस्तत्र जीवनक्षणानर्पणे, मम चित्र विस्मय न कुरुते । किंतु, मृतोऽपि तानि घनानि, नार्पयति प्रयच्छतीति यत्तत्र चित्र कुरुते विरोधात् । नार्पाणि नृपसम्बन्धीनि कुरुत इति तदाभासीकरणाद्विरोधाभासोऽलङ्कारः ॥ ८९ ॥

अन्वय — कृपण जीवन् तृष्णया जातु परस्मै घनानि मा अर्पयतु, तत्र मम चित्र न कुरुते, यत् एषा तु मृत अपि तानि न अर्पयति ।

हिन्दी—कजूस जीवित रहते कभी अन्य को घनार्पण न करे, इस विषय मे मुझे विचित्र नही लगता, क्योंकि यह तो मर जाने पर भी घन दान नही करता ।

टिप्पणी—जो काय मनुष्य मरने पर भी, मृत्यु मय उपस्थित होने पर भी नही करता, वह जीते जी तो करगा ही नही । इस दृष्टि से कृपण का जीवित रहते घन न देना नल को विचित्र नही लगता, क्योंकि वह मर जान पर भी घन दान नही करता । उसका घन तो राज्याधीन हो जाता है अथवा अन्य जन खाते — उछाते हैं । इसमें अतिरिक्त कृपण जीते जी दान न करे, इसमें आश्चर्य नही, क्योंकि उसका कुछ न कुछ उपयोग तो वह करता ही है, आश्चर्य तो यह है कि मरते मरते भी वह दान नही करता, जब कि वह घन का कोई उपयोग नही कर सकता । यही आश्चर्य जनक है । आश्चर्य यह भी है कि जिसन जीते-जी किसी को नही दिया, मर पर राजा को दे दिया । मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास, विद्याधर यहाँ श्लेष मानते हैं ॥ ८९ ॥

माममीभिरह याचिनवद्भिर्दातुजातमवमत्य जगत्याम् ।

यद्यशो मयि निवेशितमेतन्निक्रयोऽस्तु कतमस्तु तदीय ॥ ९० ॥

जीवातु—मामिति । जगत्या भुवि भुवने वा । 'जगती भुवने भूम्नाम्' इति विश्व । दातृजातमवमत्यावधीय, मा याचिनवद्भि रमीभिर्देव्यद्यशो मयि

निवेष्टितं स्यान्नित्यम्, एतन्निष्कं एतन्म्य यद्यतो निष्क्य प्रतिनिधिभूत ।
कतमन्तु पदार्थस्तदीयोऽन्तु इन्द्रादिसम्बन्धिः स्यात् । किं वितीरं अनृतो
भविष्यामीत्यर्थं ॥ ९० ॥

अन्वयः—जगत्पदा दातृवाच्यम् अवमन्थ मा दाचित्तवद्भिः अमीनि यत्
यद्य नपि निवेष्टितम्, एतन्निष्कं तु कतम अन्तु ?

हिन्दी—दाता के दाताओं (कल्पवृक्षादि) की अवमानना करके मुत्तसे
याचना करते इन देवों ने जो यद्य मुझ में प्रतिष्ठित किया है, उसका मोल
क्या हो ?

टिप्पणी—मसार में कल्पवृक्ष आदि महाशानी है जो अभीष्ट देवे हैं ।
उनके रहते जो इन्द्रादि देव नल से याचना करने आये, स्वाभाविक रूप से
यह नल की यद्य प्रतिष्ठा का कारण था, अतः नल विचारने लगा कि यह
क्या है जिसे देकर इन यद्य प्रतिष्ठा का मूल्य दिया जाय ? बहुत बड़ा है
देवों का यह श्रद्धा । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेदानुशास ॥९०॥

लोक एष परलोकमुपेता हा विहाय निघने घनमेक ।

इत्यन्तु खलु यदन्त्य निनीपत्ययिन्नन्वुन्दरद्वयचित्तः ॥ ९१ ॥

जीवानु - लोक इति । एष लोको जन , हा कष्ट, निघने अत्यकाले
घन विहाय, एक एकाकी, परलोकमुपेता उपैष्यति । इषो लुट । इति हेतोः-
यद्यद्वयमुद्यत्पश्चित्त यस्य सोऽप्येव, अन्तुरत्य लोकन्त्य, तदनन्तु अनु परलोक
निनीपति नेतुमिच्छति खलु । अन्ये तु अन्त्य स्वयमेव सर्वस्व दृष्टन्ति । नैव
प्रापयन्तीत्यमेवापद्रुष्टा मङ्गलाद्य इति भावः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—हा, एष लोक निघने घन विहाय एक परलोकम् उपेता,—
इति उद्यद्वयचित्त अपिबन्धु अन्य तत् अन्तु निनीपति खलु ।

हिन्दी—हा खेद, यह मनुष्य अन्त्य समय में घन छोड़कर अकेला परलोक
पहुँचेगा, इस कारण उद्यद्वयचित्त याचक-वधु इम (दाता) के उच (घन)
को वहाँ (परलोक में) निश्चय से जाना चाहता है ।

टिप्पणी—मृत्यु होने पर सब की घन-घात-पुत्र-मयशा महीं छोड़कर
जाना पड़ता है, इसलिए उचित है कि दान-पुत्रादि में व्यय कर घन-मुपति का
सङ्कल्प करे । कहा जाता है कि जो इस लोक में दिया जाता है, परलोक में

निमज्जनमुपैति खलु सुधामज्जनसुखमनुभवतीत्यर्थं । जनदेहानामन्तजत्वे तद्वदेव युष्मद्देहानामपि तथात्वे बन्धमेतत्सुधाकार्यकारित्वं न स्यादित्यर्थं । युष्मद्दशनादेव तावत्कृतार्थोऽस्मीति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वय — जन्यजनकभ्यतिभेद न अस्ति, जनदेह अनजनित, सत्यम्, अमृतादा व तनू वीक्ष्य दृक् खलु सुधामा निमज्जन उपैति ।

हिन्दी—उत्पत्ति (कार्यं , और उत्पादक (कारण) में विशेष भेद नहीं है, व्यक्ति का देह अन्न से उत्पन्न है—(ये दोनों) सत्य हैं, अमृतमन्त्री आप (देवो) का शरीर देखकर दृष्टि निश्चयतः अमृत में निमग्न हो रही है ।

टिप्पणी—नल के शिष्टाचारपूर्ण वचन । अमृतमन्त्री देवो को देखकर नल के नेत्रों को अमृत सरोवर में मग्न होने का सुख मिला, क्योंकि 'कारणयोरभेद' न्याय से जैसा भक्ष्य, वैसा ही तज्जनित देह । देव अमृतमन्त्री हैं, अतः उनका देह भी अमृत, जैसे कि सुवर्ण निर्मित कुण्डल भी सुवर्ण ही होते हैं । विद्याधर के अनुसार अर्थातरन्यास ॥ ९४ ॥

मत्तप वव नु तनु वव फल वा यूयमीक्षणपथं व्रजयेति ।

ईदृशान्यपि दधन्ति पुनर्न पूर्वपुरुषतपांसि जयन्ति ॥ ९५ ॥

जीवातु—मदिति । तनु स्वल्प मत्तप वव ? । यूयमीक्षणपथं व्रजयेति फल युष्मद्दर्शनरूप महाफल वा वव ? वरूप्यादिति भावः । अत एव विरूप घटनारूपो विषमालङ्कारः । अथवा ईदृशानि ईदृशमहाफलाऽपि दधन्ति पुष्पन्ति । 'वा नपुंसकस्य' इति नुमागमः । पुन शब्दो वाक्यालङ्कारः । नोऽस्माकं पूर्वपुरुषतपांसि जयन्ति तानीदानीं फलतीत्यर्थं ॥ ९५ ॥

अन्वय — तनु मत्तप वव, यूयम् ईक्षणपथं व्रजयेति इति फल वा वव ? ईदृशानि अपि दधन्ति न पूर्वपुरुषतपांसि पुन जयन्ति ।

हिन्दी—घोड़ी सी मेरी तपस्या वहाँ, और आप नेत्रों के पथ पर यात्रा करें—ऐसा (महान्) फल वहाँ ? ऐसा भी विधान करते हमारे पूर्वपुरुषों ने तप ही फल रहे (प्रतीत होते) हैं ।

टिप्पणी—नल ने देवो से कहा कि आप देवों के दर्शन तो बड़े तप के फल स्वरूप प्राप्त पुण्यो से होते हैं, मैं तो सामान्य नियमाचरण से जीवन-यापन करने वाला व्यक्ति हूँ—घोड़ी-सी तपस्या । आपके दर्शनो के कारण

हमारे पुरस्कारों के रूप ही प्रतीत होते हैं। मल्लिनाथ ने प्रथम द्वितीयचरण-वाक्य में विहनघटनारूप विषम बलकार का निदेश किया है, विद्याधर के अनुसार विषम और अतिशयोक्ति है ॥ ९५ ॥

प्रत्यतिष्ठिपदिला खलु देवो कर्म सर्वंसहनद्रतजन्म ।

यूयमप्यहह पूजनमस्या यन्निजै सूत्रय पादपयोजै ॥ ९६ ॥

जीवातु—प्रतीति। इला देवी भूदेवता, सर्वंसहन विश्वावमानसहनमेव अथ येन सा सर्वंसहेति ख्यायने। तन्माजन्म यस्य तत्तज्जन्ममिदं च। कियत इति कर्म मुहुत (कर्वुं) प्रत्यतिष्ठिपत् प्रतिष्ठापयामास खलु। 'तिष्ठतेरि' इति णो चङ्नुपधाया इकार। यद्यन्माद्युयमपि निजै पादरेव पयोर्जैरिति रूपकम्। अस्या इलाया पूजन पूजा सूत्रय कुद्वमित्यर्थं। अहहेत्यद्भुते ॥ ९६ ॥

जन्म — सर्वंसहनद्रतजन्म कर्म इला देवी प्रत्यतिष्ठिपत् खलु, अहह, यत् यूयम् अपि निजै पादपयोजै अस्या पूजन सूत्रय।

हिन्दी—सब कुछ सहने के द्रत से उद्भूत कर्म (मुहुत-शुष्य) ने चण्डी देवी को निश्चयत प्रतिष्ठापना दी है, अहा, कि आप (देव) नी अपने चरण रूपी कमलों से इस (पृथ्वी देवता) की पूजा कर रहे हैं।

टिप्पणी—निश्चय ही यह धरती पूजनीया देवी है, क्योंकि देवगण भी उसकी कमला (चरण कमला) में पूजा कर रहे हैं। देवों की प्रसन्नता ही बड़ी कठिनता से प्राप्त होती है, परंतु यहाँ तो देवगण पृथ्वी को पूजा कर रहे हैं। दशसे प्रमाणित है कि धरती ने जो सब कुछ सहने की वृत्ति ले रखी है, उन्ही मुहुत का यह परिणाम है। नल ने शिष्टाचार प्रदर्शन पूर्वक देवों से उनके मृत्युशोक में पधारने का कारण पूछा। देवा का सशरीर पृथ्वी पर आना आश्चर्यजनक है ही। विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा रूपक ॥ ९६ ॥

जीवितावधि किमप्यधिक यन्मनीपितमिनो नरडिम्भात् ।

तेन वध्चरणमर्चंतु मोक्ष्य भून वस्तु पुनरस्तु किमीदृक् ॥ ९७ ॥

जीवानु—जीवितेति। इतो नरडिम्भामानुषसिंहो जीवितावधि प्राणान्तरतोर्षिक वा किमपि मनीपितमोपिन यद्भस्तु सोऽथ नरडिम्भ, तेन वस्तुना, वधचरणमर्चंतु पूजयतु। ईदृगलन्य वस्तु पुन किमस्तु कि स्याद्, भूत ॥ ९७ ॥

अन्वय —अधिक्षिति क्षत भूपा आसने, तीयराधि अस्ति, ते सन्नुदुग्, दिवि ते ते ग्रहा न जाग्रति, भास्वत तु तुलया कतम आस्ते ?

हिन्दी—पृथ्वीमण्डल पर सैकड़ों पृथ्वीपाल हैं, तू जलनिधि (सागर) है और वे निश्चयत कूब। जानाश मे वे वे (प्रसिद्ध चन्द्रादि) ग्रह क्या नहीं हैं किंतु सूर्य की तुलना मे कौन ठंडरता है ?

टिप्पणी—चाटुवारी। अयं पृथ्वीपतियो की तुलना में नल बँसा हो है, जैसा कि कूपों की तुलना में जलनिधि समुद्र अथवा चन्द्रादि ग्रहों की तुलना में सूर्य। भाव यह है कि नल से बडा न तो कोई धरती पर है, न आकाश में, न मृत्युलोक मे, न स्वर्ग मे। मल्लिनाथ के अनुसार दृष्टात अलकार, विद्याधर के अनुसार रूपक और श्वात ॥ १०० ॥

विश्वदृश्वनयना वयमेते त्वद्गुणाम्बुधिमगाधमवेम ।

त्वामिहैव विनिवेश्य रहस्ये निवृत्तिं न हि लभेमहि सर्वे ? ॥ १०१ ॥

जीवातु—विश्वेति। विश्व पश्यतीति विश्वदृश्वानि, सर्वदर्शनि। दशेर्ष्यन्तात् क्वनिप्। तानि नयनानि येषां ते वयमवागाध गम्भीरम्, त्वं गुणा दयादाक्षिण्यवशित्वसत्यमघत्वादय, तानेवाम्बुधिमवेम अवगच्छाम। इणो लटो मम्। हि यत्मात्, इहास्मिन्, रहस्ये रहस्यदृत्त्ये, त्वामेव विनिवेश्य नियोज्य, सर्वे वयं निवृत्तिं मुख न लभेमहीति काकु। लभेमस्येव, प्रागुक्तं गुणादघत्वादिति भाव ॥ १०१ ॥

अन्वय —विश्वदृश्वनयना एते वयम् अगाध त्वद्गुणाम्बुधिमम् अवेम, हि इह रहस्ये त्वाम् एव विनिवेश्य सर्वे निवृत्तिं न लभेमहि ?

हिन्दी—अलिल विश्व को देखने मे समर्थ नेशों वाले ये हम (देव) तुम्हारे अथाह गुणा के समुद्र से परिचित है, जिससे कि इस गोपनीय वाय में तुम्ह ही नियुक्त कर हम सब क्या परममुख नहीं पा रहे हैं ? (पा ही रहे हैं)।

टिप्पणी—तृतीय चरण मे पाठांतर है—'त्वामिहैवमनिवेश्य' (त्वाम् + इह + एवम् + अनिवेश्य) —अर्थ होगा कि इस रहस्य मे तुम्ह नियुक्त न करण मुख भरासा नहीं पा रहे है। भाव यह है कि देवा वा वाय इतना गोपनीय और महत्त्वपूर्ण है कि नलानिरिक्त ध्यरित नहीं कर करता। ता

केले ही भयं नल देवकार्यं न करेगा तो वह न हो सकेगा और नल पराधी होने से घाप नागी बनेगा । 'सर्वे' के प्रयोग द्वारा पूर्वलोक में ही गई सहवरवचना का गोपन । मल्लिनाथ ने 'वाकु' का उल्लेख किया है, विद्याधर ने छेकानुप्रास और रूपक का ॥ १०१ ॥

शुद्धवशजितोऽपि गुणम्य स्यान्नामनुभवन्नपि शक्र ।

क्षिप्नुरेरनमृजुमागु सपक्ष सायक धनुरिवाजनि वक्र ॥ १०२ ॥

जीवानु—शुद्धेति । शुद्धे अत्रणे, वसे कुले, वेणी च । जनितोऽपि । 'वशो वेणी कुले वशे, इति विश्व । गुणस्य शौर्यादे' भौव्यदिच । 'सत्त्वादी हपादी शौर्यादी ऋतुपु प्रयोगज्ञा । गुणशब्द शिल्जियाम्' इति हशयुय । स्यान्ना-
तामाश्रयत्वमनुभवन्नपि शक्र ऋजुमकुटिलबुद्धिम्, अवक्रश्च । सपक्ष सुहृद सपत्र च, एन नल, सायक धनुरचाप इव । 'अयास्त्रियौ धनुश्चापी—' इत्यमरसिंहामिधानात्पूर्वलिङ्गप्रयोग । अथवायशब्द उकारान्तीति उपाशौ भ्रमशक्यादिमूर्त्रेण घनघातो सौत्रे उपन्ययविधानात् । आगु । क्षिप्नु क्षेप्ता सन्, क्षिपे वनु । 'न लोक—' इत्यादिना पृष्ठीप्रतिषेधाद् द्वितीयत्र । वक्रो जिह्योऽजनि । दिष्टविशेषणैयमुपमेति केचित् । प्रकृताप्रकृतस्लेप इत्यथे ॥ १०२ ॥

अन्वय — शुद्धवशजनित अपि गुणस्य स्यान्नाम अनुभवत् अपि ऋजु सपक्षम् सायकम् इव एनम् आगु क्षिप्नु शक्र धनु इव वक्र अजनि ।

हिन्दी—शुद्ध कुल (विशिष्ट करण कुल) में उत्पन्न होकर भी जोर विवेकादि गुणों का आश्रय होते हुए भी सीधे, पक्षयुक्त बाण के सदृश सरल शुद्ध जोर मित्र इष्ट (नष्ट) का शीघ्र क्षेपण (बाण छोडना और प्रेरण) करने का इच्छुक इन्द्र रथ बांस से बने भी, प्रत्यक्षा चढे धनुष् के समान वक्र (कूट-कुटिल और टेढा) हो गया ।

टिप्पणी—जैसे बाण त्यागने को प्रस्तुत धनुष् कशोर बांस से बना होने पर टेढा हो जाता है, इसी प्रकार नल को दूतकार्य में तुरत नियुक्त करने के आकांक्षी इन्द्र ने कुटिलतापूर्वक अपने सरल मित्र नल की बचना की । मल्लिनाथ ने कहा है कि प्रस्तुत श्लोक में कुठ विद्वान् दिष्ट उपमा का विधान करते हैं और कुठ प्रकृताप्रकृत स्लेप का, विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ १०२ ॥

तेन तेन वचसैव मघोन स स्म वेद कपट पटुरुच्चै ।

आचरत्तदुचितामथ वाणीमार्जव हि कुटिलेषु न नीति ॥ १०३ ॥

जीवातु—तेनेति । उच्चं पटूरतिकुशल, स नल, तेन तेन वचसैव मघोन इद्रस्य कपट वेद स्म विवेद । अथ वेदानन्तर, तदुचिता तस्य कपटस्योचिता मनुस्पा वाणीमाचरत् । स्वयमपि कपटोक्तिमेवाकरोदित्यर्थं । तथा हि—कुटिलेषु, विपये, आर्जवमकौटिल्य नीतिर्न हि । तत कुटिलेनैव भवितव्यम् । अन्यथा महान्तमनयमृच्छेदिति भाव ॥ १०३ ॥

अन्वय — उच्चै पटु स तेन तेन वचसा एव मघोन कपट वेद स्म, अथ तदुचिता वाणीम् आचरत्, हि कुटिलेषु आर्जव नीति न ।

हिन्दी—अत्यन्त कुशल उस (नल) ने उन उन (९९ १०१ श्लोक) वचनो से ही इद्र का कपट जान लिया और तदनन्तर तदुपयुक्त (कपट योग्य) वाणी का व्यवहार किया, कारण कि कुटिल जनो के प्रति सरलता नीति नहीं होती ।

टिप्पणी—नल तो परम कुशल था, विद्या जिसकी 'रचनाग्रन्तकी' थी, सो उसने इद्र का सपूर्ण कपटाचार जान लिया और वैसे ही छल-वाक्यों में उत्तर देने को उद्यत हुआ । वस्तुतः उसका यह व्यवहार उचित ही था, 'शठे शठस्य समाचरेत्' । भारवि (किरातार्जुनीय प्रथमसर्ग) ने कहा भी है—'व्रजति ते मूढधिय पराभव भवति मायाविपु येन मायिन ।' विद्याघर के अनुसार अर्थान्तर-यास ॥ ४०३ ॥

सेयमुच्चतरता दुरितानामन्यजन्मनि मयैव कृतानाम् ।

युष्मदीयमपि या महिमान जेतुमिच्छति कथापथवारम् ॥ १०४ ॥

जीवातु—सेयमिति । सेयमन्यजन्मनि जन्मान्तरे, मयैव कृतानां दुरितानामुच्चतरता महत्ता । तथा किमपराद्ध, तदाह—या पापमहत्ता कथापथस्य वाग्वृत्ते, पार दूरमवाच्यमित्यर्थं । युष्मदीयमपि महिमान प्रभावमात्ररूप जेतुमुत्सङ्घितुमिच्छति । पापातिरेकायुष्मदाशौल्लङ्घनेच्छा मे जायते इति विनयोक्ति । सर्वथा युष्मन्नियोगो न क्रियत इति परमाथ ॥ १०४ ॥

अन्वय — सा इयम् अन्यजन्मनि मया एव कृतानां दुरितानाम् उच्चतरता या कथापथवार युष्मदीयम् अपि महिमान जेतुम् इच्छति ।

हिन्दी—(नल ने कहा)—यह दूसरे (पूर्व) जन्म मे मेरे द्वारा ही किये गये पापों की अतिशयता है, जो कि कथन-भाषा के पार (अवर्षनीय, वागमोचर) तुम्हारे भी माहात्म्य को जीतने की इच्छा कर रही है ।

टिप्पणी—देव तो अत्यन्त प्रतिष्ठित हैं, उनकी आज्ञा का पालन पुत्र्य कर्म है । यदि कोई व्यक्ति विपद् कार्य करता है तो उसका वह दुर्भाग्य ही है । न० इन्द्रादि का अनीष्ट पालन करने में जो जस्यंता दिखता रहा है, वह उनके जन्मांतर के दुष्टों का परिणाम ही माना जा सकता है । न० ने कहा कि आपकी आज्ञा का पालन मुझों से ही सभव है, वह वंसा पुत्र्य-भाजन नहीं है । नल ने भी छत्रगिरा का आश्रम लेते हुए एक ओर तो विनयपूर्वक अपनी अउमर्षता प्रकट की दूसरी ओर यह भी स्पष्ट कर दिया कि नीमनदिनी को प्राप्त करने का जो आपको अभिमान है, मैं उसका मदन करने में समर्थ हूँ—'मही उत्सववान् य स चासौ मान अट्टारस्व त महिमान नैमीप्राप्त्यहङ्कार पराभक्ति मा वाञ्छति संय मनेव सामर्थ्या-विश्रयता ।' अच्छा हो कि देवगण नीमनन्दिनी की इच्छा न करें १०४ ॥

वित्त चित्तमखिलम्य न कुर्या धुयंकार्यपरिपन्थि तु मौनम् ।

ह्रीगिरान्तु वरमस्तु पुनर्मा स्वाकृतेव परवागपरास्ता ॥ १०५ ॥

जोवानु—ननु कुटिलोक्तेर्वर मौनमत आह—वित्तेति । हे देवा, अखिलस्य धनम्य, चित्त वित्त विदित्वा वृतेभ्यं । तर्हि, कीदृक् चित्त तदाह—धुयंति । धुयंस्य इष्टजायनसमर्थस्य, कार्यस्पोषायप्रयोगस्य, परिपन्थि विरोधि, मौन तु कुर्याम् । किंतु गिरापरिहारोक्त्वा ह्रीरस्तु । वरम्, कार्यविरोधिना मौनाल्लज्जावहमपि परिहारवचनमेव साध्वित्यर्थं । तर्हि मौनादेव परिहारे कि प्रतिषेधरीश्वेण तत्राह—परेति । परस्य वाक् प्रार्थनोक्तिरपरास्ता अप्रतिपिद्धा सती, स्वीकृतेव पुन । अप्रतिपिद्धमनुमतमिति न्यानादङ्गीकृतेव तु मास्तु ॥ १०५ ॥

अन्वयः—अखिलस्य वित्त वित्त, धुयंकार्यपरिपन्थि मौन तु न कुर्याम्, गिरा ह्री अस्तु वरम्, अपरास्ता परवाक् स्वीकृता एव पुन मा अस्तु ।

हिन्दी—(तुम देवगण) सबके चित्त को जानते हो, (अत) श्रेष्ठ जनों के कार्य के प्रतिभूत मौन धारण तो नहीं करेंगे । वचनों से लम्बित

होना अच्छा, वि-तु निषेध न किये जाने के कारण (कही ऐसा न हो कि) दूसरी (तुम सबका) का वचन स्वीकृत (मान्य) समझ लिया जाय ।

टिप्पणी—देवेन्द्र ने देवों को 'विश्वदृश्यनयना' कहा था, अतएव नल ने चुप रहना इस कारण उचित न समझा कि देव सबके मनोभाव जानते हैं । दूसरे नल उनका प्रस्ताव मानना नहीं चाहता था, और मौन रहने पर यह माना जायेगा कि नल देव प्रस्ताव से सहमत है—'मौन स्वीकारलक्षणम्' । नल का बयन है कि यह अधिक उचित है कि मनुष्य कार्य न करने की बात स्पष्ट कह दे, मले ही ऐसा कहने में लज्जित होना पड़े, पर यह अन्यत अनुचित है कि चुप रहने से अस्वीकृति स्वीकृति मान ली जाय । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार ॥ १०५ ॥

यन्मती विमलदर्पणिकाया सम्मुखस्थमखिल खलु तत्त्वम् ।

तेऽपि किं वितरथेदृशमाज्ञा या न यस्य सदृशी वितरीनुम् ॥ १०६ ॥

जीवानु—तत्र तावत्तानुपालभते—यदिति । येषां वो भतावेव विमल-दर्पणिकाया निमग्नदर्शे, अखिल तत्त्व वस्तु सम्मुखस्थ प्रत्यक्ष खलु । ते सबज्ञा अपि यूयमीदृशमुक्तप्रकाराम् । 'त्यदादिपु—' इत्यादिना इदं कञ्प्रत्ययम् । आज्ञा किं वितरथ दत्त । कीदृश्यत आह—येति । या यस्य मे वितरीतु, दातु, सदृशी योग्या न । तस्माद्युय ममोपालम्भ्या इत्यर्थं ॥ १०६ ॥

अन्वयम्—विमलदर्पणिकाया यन्मती अखिल तत्त्व सम्मुखस्थ खलु ते अपि ईदृशम् आज्ञा किं वितरथ, या यस्य वितरीतु सदृशी न ।

हिन्दी—स्वच्छ दर्पण जैसी जिनकी बुद्धि में संपूर्ण तत्त्व निश्चयत समुच्च स्थित रहता है, वे (आप) भी ऐसा आदेश क्यों दे रहे हैं, जिसका देना (पूर्ण करना) जिस (नल) के उपयुक्त नहीं है ।

टिप्पणी—देव जब सबके मनोभाव के ज्ञाता हैं तो वे नल के भाव भी जानते ही हैं । इस स्थिति में उनके दमपत्नी-अनुराग से देव अनभिज्ञ हा, यह समझ में आने की बात नहीं है । दमपत्नी की कामना करने वाले नल से देवों का दोषसबधी प्रस्ताव ऐसी दशा में अत्यन्त अनुचित है । विद्याधर के अनुसार ॥ १०६ ॥

यामि यामिह वरीतुमहो तद्द्रुतता तु करवाणि कथं व. ।

ईदृशा न महता वन जाना वञ्चने मम तूणम्य घृणादि ॥ १०७ ॥

जीवानु—अयाष्टनिरयोग्यतामेवाह—यामीत्यादि । इहास्मिन् समय, या नैनीं करीतुम् । 'वृतो वा' इति दीर्घं । यामि गच्छामि । तद्भूतता तु तस्या-
मेव विषये इत्य तु कथं वा करवाणि । अहो ईदृशा महता व तृणस्य । तृण-
कल्पस्य, मम, वञ्चने प्रतारणे, घृणा कृपा जुगुप्सा वापि, न जाता । वनेति
शेदे ॥ १०७ ॥

अन्वय—अहो, इह या करीतु यामि व तद्भूतता कथं करवाणि ?
यत, ईदृशा महता तृणस्य मम वञ्चने घृणा अपि न जाता ।

हिन्दी—अरे, मैं इस समय जिन (दमयन्ती) को बरने जा रहा हूँ,
उनके लिए तुम्हारा दूतकार्य कैसे करूँ ? शेद है कि इनने मरान देवों को
तृण-कल्प तुच्छ मेरी वचना में घृणा भी नहीं उत्पन्न हुई ।

टिप्पणी—नल ने इस कथन से देवा के इस प्रतारणकार्य का घृणास्वद
तां बताया ही, साथ ही अपनी घृणा भी स्पष्ट कर दी । अन्वयात्—
'ईदृशा महता वञ्चने तृणस्य मम घृणापि न जाता'—मे जय हुआ कि आप
जैसे प्रतारका को घोला देने में मुझे कोई घृणा नहीं है । अथवा 'अञ्चने
मम घृणापि न जाता, अपि जाता एव'—प्रतारकों के पूजन में मुझे क्या घृणा
भी नहीं जाती है, आती ही है । अथवा—'ईदृशा नमहताम् (जमहताम्)
तृणस्यापि अञ्चने मम घृणा जाता'—ऐसे क्षुद्र, निम्नजातीय आपकी तृण
जैसा के बीच भी पूजन में मुझे घृणा होती है । आप नीचातिनीच हैं—यह
भाव । विद्याधर के अनुसार क्षेप्तानुप्रास-विरोध रूपक का मकर ॥ १०७ ॥

उद्भ्रमामि विरहान्मुहुरम्या मोहमेमि च मुहूतमहं य ।

वृत वः प्रभवितास्मि रहस्य रक्षितु म कथमीदृग्वन्म्यः ॥ १०८ ॥

जीवानु—उद्भ्रमामीति । किञ्च, योऽहमस्या भैम्या विरहान्मुहुरह-
न्नमामि उमाद्यामि मुहूर्त्तमापन्काल, मोह मूच्छां च एमि प्राप्नोमि । ईदृशस्य
सोऽहं वो युष्माक, रहस्य रक्षितु गोप्तु, कथं प्रभवितास्मि प्रभवितामि न
शक्यामीत्यर्थं । वृत । वृवो लोट् ॥ १०८ ॥

अन्वय—य अहम् जम्पा विरहात् मुहु उद्भ्रमामि मुहूर्त्तं च मोहम्
एमि इहावन्थ न वृत, कथं व रहस्य रक्षितु प्रभविता अस्मि ?

हिन्दी—जा मैं (नल) इस (दमयन्ती) के विरह के कारण बारबार

उत्त हो जाता हूँ और क्षण-क्षण मूर्च्छित हो जाता हूँ, ऐसी दशा में वह (मैं) बोलो, कैसे आपके रहस्य को छिपाने में समर्थ हो सकेगा।

टिप्पणी—दमयन्ती के त्रिरह में नल की स्वयं बुरी अवस्था है। तो जिस दमयन्ती की उसे इतनी व्याकुल आकांक्षा है, वह देवों का गुप्त दूत कार्य भला कैसे कर सकता है? कोई उन्मत्त और बेसुध रहने वाला व्यक्ति किसी के गुप्त भेद को छिपा ही नहीं सकता। नल भी ऐसी अवस्था में है। देवों के कार्य सपादनाय वह सर्वथा अयोग्य है। विद्याधर के अनुसार काव्यालिंग श्लोकार ॥ १०८ ॥

या मनोरथमयी हृदि कृत्वा य. श्वसिन्मय कथं स तदग्र ।

भावगुप्तिमवलम्बितुमीशे दुर्जया हि विषया विदुषापि ॥ १०९ ॥

जीवातु—यामिति । योऽह मनोरथमयी सकल्परूपा, या मैत्री, हृदि कृत्वा श्वसिनि पाणिनि । अथ सोऽह तदग्रे तस्या भूम्या पुरः, भावगुप्ति कामविकारगोपनमवलम्बितु, कथमीशे शक्नोमि । तथा हि, विदुषा विवेकि नापि विषया शब्दादयो दुर्जया इत्यर्था तरन्यास ॥ १०९ ॥

अन्वय—अथ य मनोरथमयी या हृदि कृत्वा श्वसिनि, स तदग्रे कथं भावगुप्तिम् अवलम्बितुम् ईशे ? हि विषया विदुषा अपि दुर्जया ।

हिन्दा—उसके अतिरिक्त जो (नल) सकल्परूपा जिस (दमयन्ती) को हृदय में बसा कर श्वास लेता है (जो रहा हूँ), वह (मैं नल) उसके आगे किस प्रकार (अपने) भावों को संभालने में समर्थ हो सकेगा, कारण कि विषयों को विद्वान् भी कठिनता से जीत पाते हैं ।

टिप्पणी—दमयन्ती नल की श्वास श्वास में, रोम रोम में, मन के प्रत्येक कान में बसी थी, वही उसका जीवन प्राण थी। तो जो मन में इस प्रकार रभी थी, उससे नल रोमांच, स्वेद आदि काम विकार कैसे छिपा सकेगा ! बड़े-बड़े समर्थ विद्वज्जन भी विषय विकारों को कठिनता से जीत पाते हैं इस प्रकार नल उक्त कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है। 'अहम्' का पूर्वश्लोक से अन्वय किया गया है। अर्थात्तरन्यास ॥ १०९ ॥

यामिकाननुपमृत् च मादृक् ता निरोक्षितुमपि शक्यते क ।

रक्षिलक्षजयचण्डचरित्रे पुंसि विश्वसिति कुत्र कुमारी ॥ ११० ॥

जीवानु—यानिकानिति । शिष्येति चार्यं । माहन् नद्विम, सन्निव
 इत्यर्थं । क यानान् रक्षन्तीति यानिका प्रहररमका 'रक्षती'ति टक् ।
 'ताननुमृद्य जहत्वा । ता भैनी, निरोज्जितुमि क्षमते । कि पुनरानाधितुमिति
 भावः । तयैव श्रियता तत्राह—रक्षीनि । रक्षिणा भ्राणि तेषा अनेन मदानेन
 चइचरित्रे क्रूरकर्मणि, पुत्रि कुमारी बन्धा, कुत्र विरदमिति, न कुत्रापी-
 त्यर्थं । क्वोद्वाहप्रचङ्ग । क्व चान्तिपुरनर्दनमिति भावः ॥ ११० ॥

अन्वय—माहन् कः च यानिकान् अनुमृद्य ता निरोज्जितुम् अनि
 क्षमते रक्षिभ्रान्चरित्रे पुत्रि कुमारी कुत्र विरदमिति ?

हिन्दो—बौर मेरे मह्य भौन व्यक्ति पहरेदारों को बिना नरति क्रिये
 (बिना मारे) बने (दनपत्नी को) देख नी सकता है ? और जहाँ रतवालों
 के बप का क्रूर कर्म करनेवाले पुत्र का कुमारी कहाँ विश्वास करती है ?

टिप्पणी—दनपत्नी के जन्तुपुर की लक्षों पहरेदार रक्षवाली करते
 हैं । कोई व्यक्ति बिना रतवानों को मारे उने देख भी नहीं सकता । और
 जो मनुष्य ऐसा करके क्रूर प्रनाशित होगा, उन्का विश्वास कौन कुमारी
 बन्धा क मनेगी ? वह शक्ति दो उसमे इर भाव आयेगी या बेमुन ही
 आयेगी । विवाह की बात तो दूर, सामान्य शिष्टाचार भी न विवाह सकेगी ।
 समझ है कि ऐसा क्रूर कर्म देखकर दनपत्नी का पुन्यमात्र से विश्वास हट
 जाय । विद्याधर के अनुमार काव्यलि ॥ ११० ॥

आदधोचि किञ्च दानकृतार्थं प्रापमात्रपणमोन यज्ञो यन् ।

आददे क्यमहं प्रियया तन् प्राणतः शनगुणेन पणैः ॥ १११ ॥

जीवानु—आदधीचीति । प्राणमात्र जीवितमेव, पणोना मन्धावधिर्-
 स्तिन् कर्मणि तदया तथा । 'पणो मूढ्ये सहे माने' इति वैदपत्नी । आदधीचि
 दधीचिनारम्य अनिश्चिदावध्ययोमायः । किञ्चेति प्रसिद्धौ । शानुनिर्वदन्त्यै
 कृतार्थं निश्चितं मूढ्यम् । 'मूढ्ये पुडाविशवर्ष' इत्यमरः । पद्यस्य तद्यथाः
 प्राणतो जीवाच्छतगुणैः प्रिययैव, पणैः मूढ्येन, अह क्यमाददे स्वीकरिष्यामि ।
 हीनकर्मस्य परावर्णन्वादिति भावः । अत्र परिवृत्तिरङ्कारः । 'उमन्पू-
 नाधिचामान्त्व यथा विदिमयो मवेत् । साक ननाधिकमूनः परिवृत्तिरसौ
 मता ॥' इति लक्षणात् । तत्र प्राणैर्यस्यो मूनपरिवृत्तिः, हीनमूढ्यत्वात् ।
 प्रियया पद्यस्योऽनिकपरिवृत्तिरधिकमूढ्यत्वादिति भावः ॥ १११ ॥

जीवातु—कुण्डिनेति । कुण्डिनेन्द्रमुनया दमयन्त्या । 'न लोक-' इत्यादिना निष्ठायोगे पृष्ठीप्रतिपेक्षात् कर्त्तुं नृतीया । पूर्वमेव मा वरीतुमुररीकृतमङ्गी कृतमास्ते । तथा मङ्गरणमङ्गीकृत किलेत्यर्थः । किलेति वार्तायाम् । कर्मणि क् । अङ्गीकारस्य कथञ्चिद्विच्छानत्वमङ्गीकृत्य, 'समानकर्तृकेषु तुमुन्' इति तुमुप्रत्ययः । ततो मयि दृष्टे पर व्रीहमेप्यनि । एव च सा युष्मान् स्वीकरीष्यति खलु ॥ ११४ ॥

अन्वय — कुण्डिनेन्द्रमुनया पूर्वं किल मा वरीतुम् उररीकृतम् आस्ते, सा मयि दृष्टे पर व्रीहम् एप्यनि युष्मान् खलु न स्वीकरीष्यति ।

हिन्दी—कुण्डिनपुरी के राजा की पुत्री (दमयन्ती) ने पहिले ही मुझे वरना स्वीकार रखा है, वह मुझे देखकर अत्यन्त लज्जा को प्राप्त होगी, तुम्हें निश्चयपूर्वक न स्वीकारेगी ।

टिप्पणी—नल ने अपने सभाजित दूत कर्म की व्यर्थता का भी मके कर दिया । जब वह दमयन्ती पहिले से हा नल को वरना निश्चित कर चुकी है तो फिर अन्य को वरने का प्रश्न ही नहीं है, अब वहाँ दूत बनकर जाना व्यर्थ है । विद्याधर के अनुमार काव्यांगि जलकार । मामान्यत 'व्रीह' शब्द का प्रयोग नहीं मिलता, रज्जायक 'व्रीडा' का प्रयोग दीखता है । वामनाचार्य के अनुमार घञ् प्रत्ययात् पुंल्लिङ्ग 'व्रीह' भी निष्पन्न होता है । कालिदास ने 'व्रीहमावहति' (रघुवच) तथा माघ ने भी 'व्रीडा दिवान्यागतं' (शिशुपालवध) में ऐसा प्रयोग किया है ॥ ११४ ॥

तत्प्रमोदत विधत्त न खेद दूत्यमत्यमदृश हि ममेदम् ।

हास्यतेव मुग्धा न तु साध्य तद्विधित्मुभिरनौपयिकेन ॥ ११५ ॥

जीवातु—तदिति । तत्प्रमोदात्, प्रसीदत प्रसन्ना इय, खेद वदेष, न विधत्त न कुरुत । ममेद दूत्यमत्यसदृशमत्यन्तायोग्य हि । कुत ? अनौपयिकेन, अनुपायेन, उपाय विनेत्यर्थः । 'उपायादध्रस्वत्वञ्च' इति स्वार्थे ङक् ह्रस्वत्व च । तद् दूत्य विधित्मुभिश्चित्रीपुंभिर्ज्ञस्यनैव मुग्धा, साध्य प्रयोजनन्तु न सुलभम् । अनुचितकर्मारम्भोऽनर्थाय भवेन्न फलायेत्यर्थः ॥ ११५ ॥

अन्वयः—तत् प्रसीदत, खेद न विधत्त । मम इद दूत्यम् अप्यसत्सम्, हि अनौपयिकेन तत् विधित्मुनि हास्यना एव मुग्धा, साध्य तु न ।

हिन्दी—अतः (हे देवान) आप प्रसन्न हों, किन्तु न हों। मेरा यह दूतकर्म अत्यंत अनुचित है, क्योंकि जो उपाय नहीं है, उस (अनुचित माधन) से उन (दूतकर्म) को करने के इच्छुकों को उपहान ही सरलता से प्राप्य है, माध्य (उद्देश्य) तो मुलम नहीं है।

टिप्पणी—उद्देश्य प्राप्ति के लिए ठीक उपाय ही करना चाहिए, तभी सिद्धि मिलती है। यदि माधन उपयुक्त न हो तो लक्ष्य प्राप्त न होगा, प्रत्युत हेमी ही होगी, अतः नल जो दूत बनाने से उद्देश्य निम्न न होगा। अनुचित कर्म का आरम्भ अनर्थजनक ही होता है, मुक्त नही होता। विद्याधर के अनुसार हेतु अलकार ॥ ११५ ॥

ईदृगानि गदितानि तदानीमाकलय्य स नरस्य बलारि ।

शसति स्म किमपि स्मयमानः स्वानुगाननविलोकनलोल ॥ ११६ ॥

जीवानु—ईश्यानीति । न बलारि इन्द्र, तदानी नलस्येस्यानि गदितानि दावयानि, आकलय्य आकार्य । स्मयमानो मद हसन् । स्वानुगाना यमादीनाम्, आननविलोकने ङोत्रो गोलुपस्सन् । स्वदाक्षानुमोदनार्थमिति भावः । किमपि किञ्चिद्वाक्य शसति स्म शसत ॥ ११६ ॥

अन्वय—म बलारि तदानी नलस्य ईदृगानि गदितानि आकलय्य स्मयमानः स्वानुगाननविलोकनलोल किम् अपि शसति स्म ।

हिन्दी—वह बल का शत्रु (इन्द्र) उस समय नल के ऐसे वचन सुनकर मन्द मन्द हँसता हुआ अपने अनुगामियों (यमादि) के मुखों को चंचलता से निहारता हुआ कुछ वाक्य कहने लगा ।

टिप्पणी—नल ने कहा था कि वह प्राणाधिक वस्तु देकर भी देव-याचकों को अर्चना करेगा (श्लोक स० ९७), अब उर्युक्त नल-वचन उसके विरुद्ध जा रहा है। वचन पालन में आनाकानी करने के कारण इन्द्र उसका उपहान करने के लिए अनुमोदनार्थ यमादि की ओर देखना हुआ आगे दिए गये वचन कहने लगा। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार अनुप्रास ॥ ११६ ॥

नाभ्ययायि नृने । भवत्तेद रोहिणोरुणवशमयेन ।

लज्जने न रसना तत्र वाक्यादपिपु स्वयमुरीकृतकाम्या ॥ ११७ ॥

जीवातु—नेति । हे नृपते ? भवता इदम् । सेयमुच्चतरेत्यादि प्रतिषेध-
वाक्यम् । रोहिणीरमणवशभवेन सोमवश्येनेव नाम्यघायि । किं स्वभोमवश्ये-
नेवाभिहितमित्यथ । प्रतिश्रुतपरित्यागादिति भावः । कुतः, अद्यपि विषये
स्वयमुरीकृतकाम्या अङ्गीकृतमनोरथपूरणा तव रसना, वाक्यात् प्रातिकूल्याप्र-
लज्जते । ततो न सोमवश्य इव प्रतिभासीत्यर्थं ॥ ११७ ॥

अन्वयः—नृपते, रोहिणीरमणवशभवेन भवता इदं न अभ्यघायि ?
अद्यपि स्वयम् उररीकृतकाम्या तव रसना वाक्यात् न लज्जते ?

हिन्दी—हे नरेन्द्र (नल), रोहिणी मे रमनेवाले (चन्द्र) के वश मे
उत्पन्न आपके द्वारा क्या यह (श्लोक सं० १०४-११४) नहीं कहा गया ?
अपने आप याचको का अभिलषित देना स्वीकारने वाली तुम्हारी जीन
(अब) प्रतिकूल कहने से लज्जित नहीं होती ?

टिप्पणी—इन्द्र ने नल के पूर्व वचनों (९७, १०४-११४) का उल्लेख
करते हुए नल का उपहास किया और मर्त्सना की कि तब तो इतना बड़-
बड़ कर बोलते थे, अब कथन को क्रिया मे परिणत करने से क्यों पीछे हट
रहे हो ? तुम रोहिणी अर्थात् गी के रमण अर्थात् बँल के वशज अर्थात्
बँल—एक पशु हो । जैसा बँल मूर्ख पशु होता है, वैसे ही तुम हो । जैसे
बँल खाये घाम-तिनको को वमन कर देने मे कोई एज्जा प्राप्त नहीं करता,
वैसे ही तुम भी 'वाक्य' (प्रतिकूल कथन अथवा वमन—'वमिरेव वाक्य'
तस्मात् वाक्यात्—') मे लज्जित नहीं होते । तुम सोमवशी नहीं,
बलीवशज हो । विद्याधर के अनुसार उपमा और हेतु, अलकार ॥११७॥

भङ्गुर च वितथ न कथं वा जीवलोकमवलोक्यमीमम् ।

येन धर्मयशसी परिहातु धीरहो चलति धीरः । तत्रापि ॥ ११८ ॥

जीवातु—भङ्गुरमिति । हे धीर विद्वन् ! इमं जीवलोकं प्राणिजातम् ।
भङ्गुरं विनश्वर, 'भङ्गुभासमिदो घुरच्' । वितथं दुःखमयत्वादिफलञ्च ।
कथं व नावलोकयसि न पश्यसि, न जानासीत्यर्थं । येनाज्ञानेन तत्रापि
धीर्मयशसी । अभङ्गुरावितथे अपीति भावः । परिहातुं चलति । अहो अस्थिर-
विषयलोस्यात् स्थिरसुकृतपरित्यागो भवात्शामनुचित इत्यर्थं ॥ ११८ ॥

अन्वयः—अहो, धीर, इमं जीवलोकं भङ्गुरं वितथं च कथं वा न
अवलोकयसि येन तव अपि धीः धर्मयशसी परिहातुं चलति ?

हिन्दी—आश्चर्य है कि हे घोर (विद्वांसु नल), इस प्रायश्चित्त को विनाशशील (नश्वर) और बलहीन (सूटा) क्यों नहीं समझते, जिनके कारण तुम्हारी भी बुद्धि धर्म और यश को त्याग देने को चल रही है ?

टिप्पणी—इन्द्र ने समझाने की दृष्टि में नल की बताया कि यह जीवन क्षणमगुर और सूटा है, घोर, समझदार व्यक्ति इस सुदुर जीवन को रक्षा अथवा सामान्य सुख के लिए धर्माचरण नहीं छोड़ने और यशवन्धित नहीं होने देने । आश्चर्य तो यही है कि सुविचारी होकर भी नल एक नारी के लिए धर्म-यश छोड़ने को तैयार है यह उचित नहीं है । विद्यापद के अनुसार देवानुप्रास और हेतु ॥ ११८ ॥

क कुलेऽजनि जगन्मुकुटे व प्राथकेऽपि न पूरि न येन ।

इन्दुराजिनिष्ट कलङ्को कष्टमत्र भवान्नि मा नूत् ॥ ११९ ॥

जो, नू—क इति । जगन्मुकुटे जादुम्पणे व कुले प्राथकेऽपि न पूरि-मनोरथ येन नापूरि न पूरितम् । कोऽजनि जात, न कोऽपीत्यर्थम् । 'दोष-जन—' इत्यादिना कतरि बुद्धि विन् । आदिर्मुष्पाक कूटम्य इन्दु कलङ्को अजनिष्ट जात । कष्ट । अत्र लोके भवानिति सकलङ्को मा नूत् । अपकीर्ति मा कुरावेत्यर्थम् ॥ ११९ ॥

अन्वय —जगन्मुकुटे व कुले का अजनि येन अपिनेऽपि न अपूरि ? कष्टम् आदि इन्दु कलङ्को अजनिष्ट अत्र भवान् अनि म मा नूत् ।

हिन्दी—जगत के मुकुट (सप्तार के सिरमौर) तुम्हारे कुल में कौन ऐसा उत्पन्न हुआ, जिसने सोचने वाले का अनीष्ट पूर्ण नहीं किया ? (अर्थात् कोई नहीं) । खेद की बात है कि (तुम्हारा) आदि (पुरुष) चन्द्र कर्क की जन्मा, इस लोक में तुम भी ऐसे न हो जाओ ।

टिप्पणी—नल के यशस्वी दश और पूर्वपुरुषों का स्मरण कराने हुए इन्द्र ने नल का भी दृष्टी के समान प्रायश्चित्तों का अनिलपित देने वाला बने रहने की सलाह दी । उनके पूर्वपुरुष ऐसे ही थे । उपहास करते हुए इन्द्र ने चन्द्रवरा के मूल चन्द्र के कलङ्कित का स्मरण कराया और व्यंग किया कि नल धैर्य न बने । वही कारण गुण तो कार्य में नहीं आ रहा है ? नल ऐसा व्यवहार न करे, जिससे कुल कलङ्कित हो ॥ ११९ ॥

यापदृष्टिरपि या मृत्वमुद्रा याचमानमनु या च न तुष्टि ।

त्वादृशस्य सकल स कलङ्क शीतभासि शशक परमङ्क ॥ १२० ॥

जीवानु—अथ विचार्यमाणे त्वमेव कलङ्की न शशाङ्क इत्याह—येति ।
त्वादृशस्य याचमानमनु अग्नि प्रति, याभ्यपरीष्टिविद्वृतदशन, या च मुखमुद्रा
मौन, या न तुष्टिरसन्नोपश्र, स सन्नो विकार कलङ्क । शीतभासि चन्द्रे,
शशक पर केवत्मङ्कधीवत्सादिवत् चिह्न, न तु कलङ्क इत्यर्थं ॥ १२० ॥

अन्वय—याचमानम् अनु या अपदृष्टि या च मुखमुद्रा, या च न
तुष्टि स सकल त्वादृशस्य कलङ्क, शीतभासि शशक परम् अङ्क ।

हिन्दी—याचक को लक्षकरके जो अनादर की दृष्टि और जो मुख की
मुद्रा (मुंह-विगाडना अथवा मौन) और जो असतोप है—वह सब तुम्हारे
जैसे (धीर) व्यक्ति के लिए कलक है, शीतप्रम (चन्द्र) में तो खरहा
केवल एक चिह्न है ।

टिप्पणी—और समझाता इन्द्र कहने लगा कि नल के आदि पुरुष चन्द्र
का कलक वस्तुतः निदास्पद कलक नहीं है, वह तो शश का एक चिह्न ही
है, परन्तु याचको के प्रति अनादर, मौन मुखमुद्रा, असतोप प्रदर्शन—
यह नल जैसे व्यक्तियों के एकाधिक कलक हैं । विद्याधर के अनुसार
अनुप्रास व्यतिरेक समुच्चय का सकार ॥ १२० ॥

नाक्षराणि पठता किमपाठि प्रस्मृत क्रिमथ वा पठितोऽपि ।

श्न्यमर्थिजनमशयदोलाखेलन खलु चकार नकार ॥ १२१ ॥

जीवानु—किञ्चेदमधिपु ते नास्ति वाद इत्याह—नेति । अक्षराणि
पठता शीघ्रे मातृकाक्षराण्यभ्यस्यता भवता, नकारो विषेधवाची नशब्दो
नापाठि किम् । अथवा, पठितोऽपि प्रस्मृतो विस्मृत इत्यमर्थिजनस्य सशय
एव दोला तथा खेदन त्रीडाम् । नकारश्चकार । अत्राक्षिनामीदृक्संशया-
सम्बन्धेऽपि तत्तन्मन्त्रघोषनेरतिगयोक्तिभेदः । स चोत्तसशमोस्थापित इति
सङ्कर ॥ १२१ ॥

अन्वय—अक्षराणि पठता न अपाठि किम् अथवा पठित अपि विस्मृत
किम्, इत्य मनु नकार अर्थिजनसशयदोलाखेदन चकार ?

हिन्दी—(हे नल, तूने शंभु मे) वर्णनाला संखते हुए बना 'न' अक्षर नहीं पटा क्यो पट कर नी भूला दिया कि निश्चयत इस प्रकार 'नकार' ने याचकवृन्द के संदेह रूप झूले मे खेल किया (भूला झूला) ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल ने अब तक किसी याचक को देने में 'न' नहीं कहा था, सो वे समजते थे कि बचपन मे वर्णमाला सीखते नल ने या तो 'न' वर्ण सीखा ही नहीं या फिर सीखा तो भूला दिया । यही याचको का संशय झूले की वे दो कौटियाँ-छोर थी, जिनमे 'न' झूला करता था । याचक यह निश्चय ही न कर पाते थे कि इन दोनों स्थितियों मे कौन-सी स्थिति वास्तविक है, नल ने 'न' नहीं सीखा या सीख कर भूला दिया ? आशय यह कि जब नल ने अभी तक किसी की याचना को अस्वीकार नहीं, तो अब बंसा क्यो करना चाहता है ? मन्त्रिणाथ ने असबब में सबब-कथन होने के कारण अतिशयोक्ति का निर्देश किया है, विद्याधर ने संदेह और रूपक अलंकार का ॥ १२१ ॥

अन्नदीप्तमन्त्र क नन्देद लब्धमुज्जसि यश शशिकल्पम् ।

कल्पवृक्षपतिमथिनमेनं नाप कोऽपि शतमन्युमिहान्य ॥ १२२ ॥

जीवातु—अन्नदीप्ति । यजानलोऽग्निस्त नलमन्नवीत् । हे नल ! इद वक्ष्यमाण, लब्ध हस्तप्राप्त शशिकल्प चन्द्रप्रतिम, यश, क्वोऽग्निस्त कुत्र त्यजसि । कि तद्यशस्तदाह इह लोके, अन्यस्तद्व्यतिरिक्त, कोऽपि कल्पवृक्षपतिमनन्यापिनमित्यर्थं । एन शतमन्युमिन्द्र, अथिन नाप । तदेतद्व्यस्तगत-मिन्द्रवाञ्छत्वयशां वृथा मा विनाशयेत्यर्थं ॥ १२२ ॥

अन्वय—जनल तम् अन्नवीत्—नल ! इद लब्ध शशिकल्प यश क्व उज्जसि, इह अथ क्व अपि एन कल्पवृक्षपति शतमन्युम् अथिन न नाप ?

हिन्दी—अग्नि उस (नल) से बोला—नल, इस सप्राप्त चन्द्र सम (उज्ज्वल) यश को किस कारण त्याग रहे हो, इस लोक में अथ किसी ने इस कल्पवृक्ष के स्वामी शतक्रु (इन्द्र) को याचक (रूप में) नहीं पाया ?

टिप्पणी—अग्नि ने नल को सलाह दी कि उसे ऐसा अवसर मिल रहा है, जो अदावधि किसी को नहीं मिला । जिसने सो यज्ञ करने का पुण्य

करके इन्द्रत्व पाया है, जो सब अभीष्ट फला के दाता कल्पवृक्ष का स्वामी है—
अर्थात् सबकी इच्छा पूर्ण कर सकना है, वह इन्द्र आज नल के सम्मुख याचक
रूप में खड़ा है। ऐसे याचक को अभीष्ट देने से जा उज्ज्वल कीर्ति प्राप्त होगी,
उसे छोटना किसी प्रकार उचित नहीं है, जत नल को इन्द्र का—देवो का
दूत कार्य करना ही उचितयुक्त है। विद्याधर के अनुसार छेदानुप्राप्त-उपमा-
वाच्यलिंग बलकार ह ॥ १२० ॥

न व्यहन्यन कदापि मुद य स्व मदामुपनयन्नभिलाप ।

तत्पदे त्वदभियेककृता न. स त्यजत्वसमतामदमद्य ॥ १२१ ॥

जांवातु—नेति । स्वमद स्वर्वासिन । 'सत्सूद्रिप—' इत्यादिना विप् ।

तेषां न सम्बन्धी योऽभिलापो मनोरथो मुदमुपनयन् स्वसिद्धया सन्तोषमा-
वहन्, कदापि न व्यहन्यत न विहत । अद्य, तत्पदे तदव्यवसिते, तत्सम्पादका-
धिकार इत्यर्थ । 'पद व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माघ्रिवस्तुपु' इत्यमर । त्वद
भियेककृता त्वा स्थापयता, न सम्बन्धी सोऽभिलाप । असमता असाधारण्य,
स्वसिद्धावनन्यापेक्षत्वमिति यावत् । तमद त्यजतु । अद्य प्रभृति स्वार्थसाधने
स्वयमेव समर्था मुरा इत्यहट्कार मुञ्चाम इत्यर्थ ॥ १२३ ॥

अ-वय —न स्व सदा य अभिलाप मुदम् 'उपनयन् कदापि न व्यहन्यत
अद्य तत्पदे त्वदभियेककृता न असमतामद त्यजतु ।

त्रिन्दो—हम स्वा के वासियो का जो अभिवाप (अभीष्ट) मोद को
धारण करता कदापि 'हत्' (अपूर्ण) नहीं हुआ, आज उम (अभिलाप)
के म्यान में तुम्हारा अनिश्चय करने (हम देवों का) वह (अभिवाप)
अपने अनुपम होने का अभिमान त्याग दे ।

टिप्पणी—देवों के अभिवाप को जहकार या कि उनके ममान कोई
नहीं है, क्या कि वह आप किसी के द्वारा नहीं, स्वनामधेय से ही पूर्ण हो
जाता था। देवा का अभिवाप तो स्वय ही पूरा होता है। आज उस
अभिवाप को पूर्ण करने की याचना देव नल से कर रहे हैं। इस प्रकार
नल के द्वारा पूर्णता का आकांक्षी अभिलाप आज अनुपम नहीं रह गया,
उसका अहंकार समाप्त हो रहा है। भाव यह कि सर्वसामर्थ्यशील देवों की
इच्छा पूर्ण करने में आज नल ही समर्थ है। उसे यह गौरव लेना ही

चाहिए । देवों का अनिनाम सनाम हो गया । विद्याधर के अनुसार व्यक्ति-
क और वाक्यलि ॥ १२३ ॥

अन्नवादय यममन्महृष्ट वीरसेनकुलदीप । तमस्त्वान् ।

यत्किमप्यभिवुभूपति तन्कि चन्द्रवशवसते. सदृशं ते ॥ १२४ ॥

जीवात्—अन्नवादिति । यम यम महृष्टमन्मुष्ट, त नल्मन्नवात् । हे
वीरसेनकु-दीप । किमपि यत्तमो मोहोऽन्नकारश्च त्वामभिवुभूपति अनिभविभु-
निच्छति । तच्चन्द्रवशे वसति स्थितिर्यस्य तस्य ते सदृशं किम् । न हि चान्द्रस्य
तेजसस्तनमानिनवो युक्त इत्यर्थं ॥ १२४ ॥

अन्वय—जय यम महृष्ट तम् अन्नवात्—वीरसेनकु-दीप । यत् किम्
अपि तम त्वाम् अनिवुभूपति यत् कि चन्द्रवशवसते ते सदृशम् ?

हिन्दी—तदनन्तर (अग्नि कथन के पश्चात्) यम दु खी नल से बोला—
हे वीरसेन के कु-दीपक, जो कुछ भी तम (दमयन्ती का मोह ह्व जघकार)
तुम्हें पराजित करने को इच्छुक है, वह क्या चन्द्रकुल से सम्बद्ध तुम्हारे
जनुष्य है ?

टिप्पणी—दमयन्ती को प्राणों के तुल्य समझने वाला नल इस प्रसंग
से दुखी था, किन्तु यम तो दुखियों को और दुख देने में विख्यात ही है,
उसने दुखी नल को और दुख देने हुए कहा कि नल को जो यह दमयन्ती
का मोह मठा है, उसे जाबूट कर रहा है, यह उचित नहीं है । वह है
यशस्वी राजा वीरसेन के कुल का दीपक और चन्द्र से उसके कुल का संबध
है । दीपक को अक्षर का नाशक है और चन्द्र भी । फिर क्या यह
जनुषित नहीं है कि वह अक्षर (मोह) से ग्रन्त हो रहा है ? दीपक
और चन्द्र जब तमोभिजयी है तब नल को भी तमोभिजयी रहना चाहिए ।
चारित्रवर्धन की तिक्कन्यास्या और दिनराज की सुत्तावदीन टीका के
अनुसार इस श्लोक में मोह ने पडे नल का यम द्वारा उपहास है । तम
अर्थात् राहु जो नल के अनिभव का इच्छुक हो रहा है, वह क्या चन्द्रवश-
वसति नल के अनुष्य है—'तम राहुस्त्वा यदभिवुभूपति तच्चन्द्रवशवसतेस्ते
कि युक्त सदृशम् ? कि प्रश्ने । राहुणा चन्द्रस्यानिभवन सदृशमेवेत्युपहास ।'
विद्याधर के अनुसार यही स्पष्ट है ॥ १२४ ॥

रोहण किमपि य कठिनाना कामधेनुरपि या पशुरेव ।

नैनयोरपि वृथा भवदर्थो हा विधित्सुरसि वत्स ! किमेतत् ॥ १२५ ॥

जीवातु—रोहण इति । यो रोहणो मणीनामाकरोऽद्रि , सोऽपि कठिनाना मध्ये किमपि कठिन । या कामधेनु सापि पशुरेव । एनयो पशुपापाणयोरपि सम्बन्धी । 'द्वितीयाटोस्वेन' इतीदशब्दस्य एतच्छब्दस्य वा अन्वादेशविषये इनादेश । अर्थो वृथा विफली नामवत् । हे वत्स, किमेतद्विधित्सुविधातु-मिच्छुरसि । हेति विधादे । हा कष्ट पशुपापाणान्यामपि तुच्छवृत्तिरसीत्यर्थ ॥

अन्वय—य कठिनाना किमपि रोहण, या कामधेनु अपि पशु एव, एनयो अपि अर्थो वृथा न भववत्, हा वत्स, एतत् किम् विधित्सु असि ?

हिन्दी—जो निष्ठुर कठारो मे भी कठोर गिना जाता है, वह सुमेरु पर्वत है, जो कामधेनु है, वह भी पशु ही है, इनके याचक भी अकृतकाम नहीं रहे, हाय बेटे, (तुम) यह क्या करने जा रहे हो ?

टिप्पणी—संसार में जो कठोर-से भी-कठोर पर्वत सुमेरु है, वह भी याचको की इच्छा पूर्ण करता है, आ सुरगो कामधेनु है, वह एक पशु है, फिर भी याचका को अभीष्ट देती है । पत्थर और पशु होकर भी सुमेरु और कामधेनु तो याचका की इच्छा पूर्ण कर देते हैं, मनुष्य होकर भी नल याचक देवा को निराश कर रहा है । यह परम दुःख की बात है । नल तो कठोर भी नहीं है, मृदुचित्त विस्वात है, वह पशु नहीं, बुद्धिमान् पुरुष है । उसका यह व्यवहार अत्यन्त रोद जनक और निन्दनीय गिना जायेगा । नल तो पत्थर और पशु से भी निम्न प्रमाणित हो रहा है । वह कदाचित् अभी समझ नहीं पा रहा है, बच्चा है न—'वत्स' । विधाघर के अनुसार विरोध अलंकार ॥ १२५ ॥

याचितश्चिरयति क्व नु धीर* प्राणने क्षणमपि प्रतिभू कः ।

शर्सात द्विनयनी दृढनिद्रा द्राह्निमेपमिपपूर्णनपूर्णा ॥ १२६ ॥

जीवातु—याचित इति । क्व नु कुत्र, धीर सुधीर्याचित सन् चिरयति विलम्बते । न कुत्रापि विलम्बत इत्यर्थ । घृत, क्षणमपि प्राणने जीवने, प्रतिभूल्लंघक क, न कोऽपीत्यर्थ । द्राह्निमेपमिपेण शीघ्रपदमपातध्याजेन, पूर्णनेन कतीनिकाभ्रमणेन पूर्णा द्विनयनी नयनद्वन्द्वमेव, दृढनिद्रा मरण क्षति । नयनपूर्णनवत्वक्षणक जीवनमित्यर्थ ॥ १२६ ॥

अन्वय—याचित धीर क्व नु चिरयति ? क्षाम् अपि प्राणने प्रनिनू-
क्व ? द्वाङ्निमेषमिषधूर्णपूर्णा द्विनयनी दृनिद्रा शसति ।

हिन्दी—याचित धीर (विद्वान् पुण्य) कहीं विलम्ब करता है ? क्षा-
मर भी साँस लेने में कौन मध्यस्थ (जागिन) होता है ? झटपट कठक-
जंगाने के मिम तद्रा से पूर्ण दोनों नेत्र मृत्यु का कपन करते हैं ।

टिप्पणी—जो समसदार व्यक्ति है, वे दान शार्धना होन पर देने में
योढी-मी भी देर नहीं लगाया करते, क्योंकि जीवन का उत्तरदायित्व लेने
में कोई म्मयं नहीं होता । ये साँसें आती जाती क्व ह्व जायें, कौन कह
सकता है, कौन इनके आने-जाने का उत्तरदायित्व ले सकता है ? कोई नहीं ।
ये जो निरन्तर पलक क्षपा करते हैं, उनके माध्यम से जैसे ये दोनों आँखें
निरन्तर मृत्यु की सूचना देती रहती हैं । निमिष निमिष मृत्यु मुँह फाड़े
चली आ रही है, गुन कार्य में विलम्ब अच्छा नहीं । जीवन परु मर का
है—क्षामपुर । वित्राधर के अनुमार हेतु और अपह्नुति अलकार ॥१२६॥

अभ्रपुष्पमपि दिशति शीत मार्गिना विमुक्ता यदनाजि ।

म्लोककस्य स्रुचु पुटेन ग्लानिर्ग्लानि तदधनसङ्घे ॥ २७ ॥

जीवातु—अभ्रपुष्पमिति । शीत शीतलमभ्रपुष्पमूदकम् । 'मेषपुष्प धनरम'
इत्यमर । तद् धनपुष्प, तद्दुर्गम वस्तिवति च गम्यते । दिशति दातुमिच्छ-
त्यपि । न तु परिजिहीर्षतीत्यर्थं, धनसङ्घे मेषवृन्दे, अथिना माचकेन, स्त्रोक-
कस्य चातकस्य । 'अथ सारङ्ग स्त्रोककश्चातक समौ' इत्यमर च-चुपुटेन सा
प्रसिद्धा विमुक्ता । पक्षिमुह्यत्वं पराङ्मुह्यत्वं च । अनाजिती यत् । तत्त-
स्माद्गम्यमजनात् । ग्लानिर्ग्लानरमन्वरत्वं वैवर्ष्यं चोन्मति स्फुरति ।
अथार्थिन एव वैमुह्ये दातुरित्य ग्लानि किमुत दातृवैमुह्ये । तस्मात्तादास्य
तवेदमर्थिवैमह्यमनुचितमिति भाव ॥ १२७ ॥

अन्वय—शीतम् अभ्रपुष्पम् दिशते अपि धनसङ्घे जयिना म्लोककस्य
च-चुपुटेन यत् सा विमुक्ता अमाञ्जि तत् ग्लानिः उन्मति स्रुत् ।

हिन्दी—छात्र देने को इच्छु मी वाशो में याचक चातक के
चचुपुट ने आ पाङ्मुक्ता का आश्रय लिया, उसकी ही मन्विता प्रसृष्टि
होता है ।

टिप्पणी—याचक ने मेघो से जल की याचना की, मेघ जल देना तो चाहते थे किंतु उसमें कुछ विलम्ब हुआ, उससे चातक कुछ पराङ्मुख हुआ। इसी कारण मेघवृन्द अयश का भागी हो गया। ऐसा लगता है कि वही अयश मेघवृन्द में श्यामलता के रूप में प्रकट है। ऐसी ही दशा उस दाता की होती है, जो आकाश पुष्प जैसी दुर्लभ वस्तु को देने की इच्छा तो करता है, किन्तु उसमें विलंब कर देता है। जब 'स्तोकक' अर्थात् अतिनिकृष्ट याचक को विलंब से दान में भी अकीर्ति और तिन्दा प्राप्त होती है तो इन्द्रादि जैसे महान् याचको को अभीष्ट देने में विलंब करने से तो और भी अयश मिलेगा। पत्नी को भी विलंब से देने के कारण बादलों को अयश और ग्लानि का माजन होना पड़ता है तो इन्द्रादि को न देन से नल को कितनी ग्लानि का माजन होना पड़ेगा, यह अकल्पनीय है, अन दान अविलम्ब ही उचित है। विद्याधर के अनृणार उत्प्रेक्षा और श्लेष ॥ १२७ ॥

ऊचिवानुचितमक्षरमेन पाशपाणिरपि पाणिमुदस्य ।

कीर्तिरेव भवता प्रियदारा दाननीरक्षरमौक्तिकहारा ॥ १२८ ॥

जीवातु—ऊचिवानिति । पाशपाणिवर्णोऽपि, पाणिमुदस्य, उद्यम्य, एन नलम् उचित युक्तम्, अक्षर वाक्यम्, ऊचिवान् उक्तवान् । ध्रुवत्, तदाह— कीतिरिति, । दाननीराणा क्षर दानजलप्रवाह, स एव मौक्तिकहारा यस्मास्तथोक्ता कीतिरेव भवता युष्माक प्रियदाराः प्रियकलत्रम् । 'पृ भूमि दाया' इत्यमर । एतेन भार्याया अपि कीर्ति प्रियतमेति भाव । अतो दमयतीलोमान कीर्ति जहीत्यर्थ । अत्र रूपकालङ्कार ॥ १२८ ॥

अन्वय—पाशपाणि अपि पाणिम् उदस्य एनम् उचितम् अक्षरम् ऊचिवान्—दाननीरक्षरमौक्तिकहारा कीर्ति एव भवता प्रियदारा ।

हिन्दी—हाथ में पाशधारण करनेवाला (वरुण) भी (अपना) हाथ उठाकर इस (नल) से उपयुक्त शब्द बोला—दान के जल प्रवाहका मोतियों की माला धारण करने वाली कीर्ति ही आपकी अभीष्ट पत्नी है (दमयन्ती नहीं) ।

टिप्पणी—अग्नि और यम के वचनों का समर्थन करते हुए याचक की भाँति हाथ फैलाकर वरुणदेव ने भी नल को यही समझि दी कि कीर्ति और

दमयन्ती के मन्व्य ठसे कीर्ति का ही ध्यान अधिक रखना चाहिए, मुक्तामाल-
धारिणी दमयन्ती वस्तुतः उसकी प्रिया नहीं है, उसकी जमीष्ट प्रिया तो
कीर्ति ही है, जो दानजलरूपमुक्ताशामसीभिश्च है, जिसकी प्राप्ति दान में ही
सम्भव है। कीर्ति राक्षसियों के समूह से भी महत्त्वपूर्ण है इसी के लिए दत्त
उचित है। 'पाशपाणि' का पाशधारी हाथ उठाना नल को आतंकित करने का
भी मन्त्र देता है, यों हाथ उठाना—काना मन्त्र की प्रकृति भी होती है।
विद्याधर के अनुसार छेकानुप्राप्त और नृक अन्कार ॥ १०८ ॥

चर्म वर्मं किञ्च दन्त्र नभेद्य यस्य वज्रमयमस्त्रि च नो चेत् ।

स्यापिनाविह न कर्णदधीची नन्त धममदधीरय धार । ॥ १२९ ॥

जीवानु—चर्मोक्ति । यस्य कर्णस्थ चर्मं त्वक् नभेद्यमनेद्यम् । नृपस्य न-
रव्यस्य 'मुष्मसा' इति समासः । वर्मं कवचं किञ्च । यस्य दधीचेरस्थि च
वज्रमयं किञ्च । किलेति प्रसिद्धौ । तौ महानन्वशातिनी कर्णदधीची ।
इह जगति, स्यापिनी न चेत् । तद्दि, हे धीर धीमन् ! धर्मं नावधीरय
नादमन्मन्व । कर्णादीनामस्त्रि-त्वम तद्धर्मस्य च स्वयं इहा त्वमपि तथैवा-
चरेत्पर्यं ॥ १२९ ॥

अन्वय—यस्य चर्मं न भेद्य वर्मं किञ्च, यस्य अस्थि च वज्रमयम्, तौ
कर्णदधीची इह स्यापिनी न चेत् तत्, धीर, धर्मं न अवधीरय ।

हिन्दी विन (कर्ण) की त्वचा अनेक कवच मुनी जाती है और त्रिम
दधीचि की हठी वज्रमय मुनी जाती है, वे कर्ण (कुन्नी-मुष राषेय) और
दधीचि (श्रुति, दिनकी अस्थियों से वज्र बनाया) यदि इस सगर में
स्पादी नही रहे, ही हे धीर (नल), तू धर्म की उदघानना न कर ।

टिप्पणी—इतने दृष्ट व्यक्ति (जन्म से ही कवचधारी कर्ण और वज्र-
निर्माण करने वाली इन्द्रियों के देहवाले दधीचि) भी अब नाशवान् ही
प्रमाणित हुए तो नल जैसे मनुष्य को स्थिरता की बात माचना भी उचित
नहीं है । नाशवान् जीवन के नद्वर मुख के लिए धर्मभ्रुत होना ठीक नहीं ।
समस्त-नल की धर्म की उदघानना नहीं करनी चाहिए । धर्म ही स्थिर
रहता है, जीवन तो अस्थायी है । कर्ण-दधीचि के देह तो नष्ट हो -वे,

यश-शरीर ही मात्र जीवन है। विद्याधर के अनुसार विरोध और हेतु अलङ्कार ॥ १२९ ॥

अद्य यावदपि येन निबद्धो न प्रभू विचलितु वलिविन्ध्यो ।

आश्रुतावितयतागुणपाशस्त्वादृशेन विदुषा दुरपासः ॥ १३० ॥

जीवातु—अद्येति । येन सत्यसत्त्वपाशेन, निबद्धो बलिर्वैरोचनि स च विन्ध्यस्य तौ । अद्य यावदेतद्दिनपर्यन्त, विचलितुमपि प्रभू समथो न स्त । आश्रुतस्य प्रतिज्ञातार्थस्य अवितण्णता सत्यता, सर्व गुण, उत्कृष्टधर्म स एव पाशो बध, त्वादृशेन विदुषा स दुरपास दुरुद्धेद । बलिविन्ध्यादिदृष्टान्तेन यावज्जीवनिर्बंधनापि प्रतिज्ञातार्थनिर्वाहं कार्यं इत्यर्थं ॥ १३० ॥

अन्वयः—येन निबद्धो बलिविन्ध्यो अद्य यावत् विचलितुम् अपि ननु न, स आश्रुतावितयतागुणपाश त्वादृशेन विदुषा दुरपास ।

हिन्दी—जिस (सत्यप्रतिज्ञा रूप पाश) से बद्ध बलि (विरोचन-पुत्र पातालराज) और विन्ध्याचल आज तक विचल होने में समर्थ नहीं हुए उस प्रतिज्ञात निर्वाह-रूप पाश को तेरे सह्य विद्वान् द्वारा उच्छिन्न करना कठिन है ।

टिप्पणी—प्रतिज्ञा करके बलिराम ने अपना सर्वस्व और देह भी दे डाला, अगस्त्यमुनि को अपने झुके रहने का वचन देकर विन्ध्याचल आबतक झुका ही हुआ है । इनमें बलि उच्छृंखल देत्य या और विन्ध्याचल उड है । ये दोनों भी आजतक वचन निर्वाह कर रहे हैं, ऐसी स्थिति में विद्वान् और सत्यप्रतिज्ञ, पुष्परलोक नल को प्रतिज्ञा का पालन करना ही होगा । उसके लिए तो प्रतिज्ञा का अपरिपात्रन नितात अनुचित है । विद्याधर के अनुसार रूपक अलङ्कार ॥ १३० ॥

प्रेयसी जिनमुधाशुमुखश्रीर्मा न मुञ्चति दिगन्तगतापि ।

भङ्गिसङ्गमकुरङ्गदृग्घो क कदर्यंयति तामपि कीर्तिन् ॥ १३१ ॥

जीवातु—प्रेयसीति । प्रेयसी प्रियतमा, जिता मुधागुमुक्षानां चन्द्रादीनां शीयंया सा । अत्र, जितमुधाशुमुखश्रीयंस्या सा तयोक्ता । या कीर्तिदिगन्त-गतापि देशान्तरगतापि, न मुञ्चति । तामपि कीर्ति भङ्गिसङ्गम मुरमङ्ग-तिर्यंस्यास्तस्यां कुरङ्गदृग्घो तदर्थम् । तादर्थ्येऽप्ययीभाव । कुटिमतेऽर्थं कदर्यं । 'को कतत्पुस्येऽवि' इति कुसुमस्य चन्द्रादेः, स करोति कदर्यंयति अर्थयतीत्यर्थं । को नामास्तिरायं स्थिर अह्लादिदि भाव ॥ १३१ ॥

अन्वय — विनसुषानुसुषयी का प्रेममी विनसुषा यदि न मुञ्चति ता कीर्तिम् मन्दिपद्ममञ्जरिद्वये अनि क कश्यपति ?

हिन्दी—जो चद्रमुख-शोभावधितो विनसुषा (इन्द्रजल कीर्ति । देवगण में पट्टुवने पर भी नहीं छोड़ती, उस (विनसुषा) कीर्ति को नरका सगतिमृग नयना के निमित्त (अथवा कुम्भित रचनागोल नेत्रों वाली के लिए) कौन पोहित करता है ? (कोई नहीं) ।

टिप्पणी—चद्रमुख को अपनी शोभा में जीउनेवाली विनसुषा जब प्रवासिनी हो जाती है, तो स्वभाविक पुण्य की छोड़ ही देती है, पर 'विनसुषानुसुषयी' कीर्ति ऐसी विनसुषा है जो विदितान्त में ध्यान हो जाने पर भी नहीं त्यागती । ऐसी विदित विनसुषा को विनसुषा होने पर छोड़ देने वाली, नरकासगति, कुम्भित नयनों वाली विनसुषा के लिए बुद्धिमान् का तो कहना ही क्या सामान्य नर भी नहीं छोड़ना न पीछा देता है । तो नल तो थोर विद्वान् है वह दमयन्ती—एक सामान्य नारी के लिए नरका-सा अज्ञकीर्ति विनसुषा को छोड़ने की सूचना करे, यह निताउ अनुचित है । अतः नल को दमयन्ती का ध्यान छोड़ उज्ज्वल कीर्ति का बरण करना चाहिए । कीर्ति तो निरप है, दमयन्ती अनिष्ट । नाचणग पंडित ने 'कुरङ्गद्वय' का 'कुम्भितो रङ्गो रचना मया एव विषा द्वा मया तत्त्वै क कश्यपति पोहयति' अर्थ किया है । विद्याधर के अनुसार अत्रिरेक-मुनासोक्ति उन्मा-विशेष का संकर है ॥ १३१ ॥

यान् वर प्रति परेऽनपिनार-

स्नेहिय वदमहो न पुनम्बाम् ।

नैव न खडु मनोरयमात्र

शूर । पूरय दिगोऽपि मगोभि ॥ १३२ ॥

जादानु-शान्ति । परे अन्ये जना, वर प्रति दृष्टान्तमुद्दिश्य, मानसमा-नर्थविचारः । ताच्छीये वृत्त । 'न लोक'-इत्यादिना वशीप्रतिषेधाद् द्वितीया । ते वनमपि म त्वामर्थविचार स्म । अहो, म त्वं पुनोऽम्बाम्, मनो-दमात्र मनो-दमेव नैव पूरय । किन्तु, हे शूर ! मगोभिदिशोऽपि पूरय खटु । तस्मा-दस्म-मनोरथपूरणेन ते दिगन्तविषयात्ता कीर्तिर्भविष्यति । अथवा, अपकीर्तिरपि ताच्छी नविष्यतीति भावः ॥ १३२ ॥

अन्वय —अज्ञे, परे वर प्रति माय् अर्थभितार ते वयम् अपि पुन स्वाम्, धार, स न मनोरथमात्र खलु न, यशोभि. दिस अपि पूरय ।

हिन्दो—अरे, अन्य (जन) वर पाने के लिए जिन (हम देवों) की अर्थना (याचना) करते हैं, वे हम भी उलटे तुम्हारी याचना कर रहे हैं। हे धीर, वह तुम हमारी इच्छामात्र की पूति न करो, अथितु प्रभूत यश से दिग् दिगन्त को पूर्ण कर दा ।

टिप्पणी—सामान्यत मनुष्य वर प्राप्ति के निमित्त देवों से याचना करता है, क्योंकि देवों में ऐसी क्षमता है, ऐसे समय देव नल के समुख याचक हुए हैं ऐसा अलभ्य अवसर कहाँ प्राप्त होना है । नल को इस अवसर पर बुरना उचित न होगा। यह देवों को याचित देकर अनन्त यश का भागी होगा। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार छेकानुपास ॥ १३२ ॥

अथिता त्वयि गीपु सुरेषु म्लानदानजनिजोद्यस श्री- ।

अथ पाण्डु गगनं सुरशाखी केवलेन कुसुमेन विधत्ताम् ॥ १३३ ॥

जीवातु—अथितामिति । अथ गुरदाखी कल्पवृक्ष सुरेष्वस्मासु त्वयि त्रिपथे, अथिता गतेषु सत्सु म्लाना अर्घ्यभावक्षीणा, दानजा दानजया, निजा उत्तमं हती यश श्री कीतिसम्पद्यस्य स, तथा सन्, केवलेन कुसुमेन गगन पाण्डु शुभ्र, विधत्ताम् । नतु वितरणेन यशसा । स्वाधिनाम-साधित्वेन तन्निदान-दानकथास्तमियादिति भाव ॥ १३३ ॥

अन्वय — अथ सुरेषु त्वयि अथिता गतेषु म्लानदानजनिजोद्यस श्री गुरदाखी केवलेन कुसुमेन गगन पाण्डु विधत्ताम् ।

हि दी—आज्ञ देवों के तुम्हारे (नल के) प्रति याचक बन जाने पर जिनकी दान करने से प्राप्त स्वोया महती यश गोमा मलिन हो गयी है, ऐसा देववृक्ष (कल्पवृक्ष) केवल (कीर्ति रहित) पुण्य से आकाश को चेत बनाये ।

टिप्पणी—देवों को अभीष्ट देने के कारण नल जिस अद्वितीय यश श्री का अधिकारी हो जायेगा, उसके समुख देवतए कल्पवृक्ष भी यनालक्ष्मी मलिन हो जायेगी। जा कल्पवृक्ष अपने शुभ्र यश और निमल कुसुमा से आकाश में पृथ्वी का प्रसार करता रहा है, यश मलिन हो जाने से अब केवल पूरा से

ही आकाश को घुन्न बना सकेगा । भाव यह कि देवों को दान करके नल को जो यश मिलेगा, कल्पवृक्ष का यश भी उसके आगे मर रह जायेगा, अतः नल को यही समुचित है कि देव-मनोरथ पूर्ण करें ॥ १३३ ॥

प्रवसने भरताजुंनवैन्दवत्
स्मृतिघृनोऽपि नलः । त्वममीष्टदः ।
स्वगमनाफलता यदि गच्छुमे

तदफलं निखिलं सखु मङ्गलम् ॥ १३४ ॥

जीवानु—अत्र यात्रावैश्यायशङ्कया ते सङ्कोचस्तावदनाद्यङ्कुनीय एवेत्याह—
प्रवसन् इति । हे नल ! प्रवसने प्रयाग कुर्वने भरत शाकुन्तलेय, अर्जुनो
हैहय, वैन्द्य पृथु, तंभुय सङ्ग । 'तेन तुय क्रिया चेद्वति' । स्मृया घृत-
स्मृतिघृन, स्मर्यमाणोऽयमीष्टद इष्टार्यप्रदम्ब्र स्वगमनस्य स्वयात्राया
जफलता वैफल्यशङ्कये यदि, तत्तदि, लोके निखिलं सर्वमपि यङ्गल यात्रा-
बालिक त्वस्मरणलक्षणं मङ्गलचरणनरुल सखु । यथा च—'वैन्द्य पृथु है-
श्यनर्जुनश्च शाकुन्तलेय भूत नल च । एतानृणाय स्मरति प्रयागे तन्म्यार्य-
निदि पुनरागमश्च ॥' इति शास्त्रनप्रमाणं स्वादित्ययं । तथा च मत्स्मरणा-
दन्वेषानर्यनिदिस्तस्य तथाऽर्यमिदौ कं मदेह इति भावः ॥ १३४ ॥

अन्वेष—नल, भरताजुंनवैन्दवत् प्रवसने अमीष्टदा स्मृतिघृन अपि त्वं
यदि स्वगमनाफलता शङ्कसे तत् निखिलं मङ्गलम् अफलं सखु ।

हिन्दी—हे नलराज, (शाकुन्तला-दुष्यन्तपुत्र) भरत, (कार्तवीर्य) सहस्राजुंन
और वेणुपुत्र (पृथुराज) के तुल्य प्रवास जाने को तत्पर व्यक्ति को इच्छित
प्रदान करनेवाले के रूप में स्मरणगोचर भी तुम यदि अपनी यात्रा के निष्फल
होने की शका करते हो तो सपूर्ण मंगल ही निश्चयन निष्फल हो जायेगा ।

टिप्पणी—नल ने कहा था—'स्वीकृष्यति न सा सखु युष्मात्' (श्लो०
११४), और 'हास्यतैत्र मुलमा न तु साव्यम्—अर्यात् नल का दूतकार्य
निष्फल होगा । इस पर नल की चटुकारिता करते हुए वहन ने बताया कि
नल का स्मरण तो प्रवास करने समय अमीष्टनिदि के निमित्त लोग किया
करते हैं, कहा जाता है कि गता पृथु, हैहय महानर्जुन, शकुन्तलपुत्र भरत
और राजा नल का प्रयाग काल में स्मरण करने से अमीष्टनिदि होती है

और यात्री सकुशल वापस घर आता है। ऐसी स्थिति में अमोघदाताओं में स्मृत होने वाला नल ही जब यात्रा के निष्फल रहने की बात सोचेगा तो उसी में सब मंगलकृत्य ही निष्फल हो जायेंगे, अतः शक्य न करके नल को देवों का दूतकार्य अविलम्ब करना चाहिए। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास। द्रुतविलम्बित वृत्त ॥ १३४ ॥

इष्ट नः प्रति ते प्रतिश्रुतिरभूद्याद्य स्वराह्लादिनी

धर्मार्था मृज ता श्रुतिप्रतिभटीकृत्यान्विताख्यापदाम् ।

त्वत्कीर्तिं पुनती पुनस्त्रिभुवन शुभ्राद्वयादेशनाद्

द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामान्वय लुम्पतु ॥१३५॥

जीवातु—इष्टमिति। अद्य नोऽस्माकम्, इष्टमिच्छा, यागञ्च प्रति। 'इष्टियमिच्छयो' इत्यमरपक्षे यजेरियेञ्च स्त्रिया क्तम्। 'वचि स्वपि—' इत्यादिना यजे सम्प्रसारणम्। 'ब्रह्म—' इत्यादिना पत्वम्। इये विबन्प्रत्य-यापवाद इति वाशिकायाम्। तथा प्रयोगप्राबल्यात् साधुत्व द्रष्टव्यम्। स्व-स्वर्गम्, अथत्र स्वरैरुदात्तादिमिराह्लादिनी धर्मोऽर्थ प्रयोजनमभिधेय च यस्या सा धर्मार्था या प्रतिश्रुति। 'जीवितावधि विमप्यधिक वे'ति श्लोको-क्तास्मन्मनोरथपूरणप्रतिज्ञा अभूत्, ता प्रतिश्रुति श्रुतिप्रतिभटीकृत्य वेदप्रति-निधीकृत्य, सत्यापयित्वेत्यर्थः। अन्विताख्यापदा मृज। सत्यत्वेन श्रुतिप्रति-निधीकृत्य प्रतिश्रुतिरित्यन्वर्धनामाधरा कुरु। सत्यप्रतिज्ञो भवेत्यर्थः। अस्य फलभासीमुखेनाह—त्वत्कीर्तिरिति। त्वत्कीर्तिं पुनस्त्वद्यशस्तु, त्रिभुवन भुवन-त्रय, समाहारे द्विगुरेकवचनम्, पात्रादित्वात्प्रपुंसवत्वम्। पुनती पावयन्ती। पुनते घटति डीप्। द्रव्याणां नीलरीतादिद्रव्याणां, शुभ्र शुक्लगुणः। 'गुणे शुक्लादय पुंसि' इत्यमरः। तेनाद्वयादेशनादभेदापादाच्छितिपीतादि-नामभिर्वाचकपदैरवयवाच्च्यत्वलक्षण सम्बन्ध, लुम्पतु निवर्तयतु। अर्थिमनो-रथपूर्त्या कीर्तिं सम्पादयेत्यर्थः। अत्र नीलादीनां वस्तूनां स्वगुणत्यागेन कौनि-गुणग्रहणात्तद्गुणालङ्कारः। 'तद्गुण स्वगुणत्यागादमोत्कृष्टगुणाहति' इति लक्षणात् ॥ १३५ ॥

अन्वय—अद्य न इष्ट प्रति स्वराह्लादिनी या ते धर्मार्थां प्रतिश्रुति अभूत् ता श्रुतिप्रतिभटीकृत्य अन्विताख्यापदां मृज पुन त्वत्कीर्तिं शुभ्राद्वया-देशनात् त्रिभुवन पुनती द्रव्याणां शितिपीतलोहितहरिन्नामा-वय लुम्पतु।

हिन्दो—(हे गजा), आज हमारे इष्टरूप इष्टि (मनोरथ रूप यज्ञ) के प्रति स्वर्ग अर्थात् स्वर्लोकवासी देवों को आह्लादित करनेवाली-मह्य उदात्त, अनुदात्त स्वर्गिण स्वर्गों से आह्लादित जो तुम्हारी धर्मप्रयोजनवर्ती प्रतिज्ञा हुई है, उस (प्रतिधृति) को श्रुति अर्थात् वेद की प्रतिमयी (तुल्य) करके (तुल्य करके) सार्यकनामपदवती (सत्य, सार्यक) करो । और फिर तुम्हारी कृति शुभ्र वर्णों को अद्वैतता का निर्देशन करके (शुभ्रता का प्रसार कर) तीनों शुभ्रों को शुभ्र-पवित्र बनाती पदार्थों के काले, पीले, लाल, हरे नाम के अन्वय (वाचकत्व) का लोप कर दे ।

टिप्पणी—याना सफल होने की शुभाशंसा । नञ् ने प्रारम्भ में जो दान करने की प्रतिज्ञा की थी, उसे धर्म साधन (देवमनोरथ) के निमित्त त्रिस्वर में पञ्चि, यज्ञ की ऋचाओं के सद्य माना गया है और नञ् से कहा गया है वह इष्ट-साधन रूप इष्टि (यज्ञ) को त्रिस्वर ऋचाओं से परिपूर्ण कर देवों को आनन्दित करे । देवों को यज्ञ से आनन्द मिला ही है । इससे नञ् को ऐसा यज्ञ प्राप्त होगा कि उसके यज्ञ की शुभ्रता त्रिभुवन को आह्लादित कर लेंगी और पदार्थों के जो काले पीले आदि निम्न निम्न वर्ण हैं, वे आह्लादित हो जायेंगे और केवल यज्ञ की शुभ्रता इष्टिगोचर होगी । अतः नञ् को अविलम्ब देव मनोरथ-पूरण में मन्गल हो जाना उचित है ।

प्रकाश कार (नारायण) ने 'स्वस्कीर्ति' का भाव 'ब्रह्मप्रतिभक्तिः श्रुति' अथवा 'विदात्तश्रुति' बताया है । यह श्रुति सत्त्व, रज, तम—त्रिगुण से उत्पन्न (त्रिम्यो भूस्त्वतिर्यस्येति त्रिमु तन्व यद् वन चात्रिमहन सञ्जाराव्यम्) सत्त्वर को शुभ्र अर्थात् निर्मल अद्वय ब्रह्म के आदेशन—उपदेश द्वारा अक्षय-मननादि से पवित्र करती हुई, एक मात्र श्रेयता—अद्वैतमयता का प्रसार करती हुई, जगत् की द्वैतता का लोप करती हुई 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म का सद्बोध करे ।

भाव यही है कि नञ् ने जो देवों को प्रतिधृति दी है, उसे अत्यन्त पुनीत कार्य मानकर त्रिगुण में परिवर्तित करे । नीलादि पदार्थों के स्वर्गुण त्याग कर कौत्रिगुण ग्रहण करने के आधार पर मन्त्रिनाथ ने यहाँ तद्गुण अलंकार का निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार यहाँ श्लेषातिशयोक्ति है ॥ १३५ ॥

य प्रासून महस्रपादुदभवत्पादेन खञ्ज कथ

म छायातनय सुत किल पितु सादृश्यमन्विष्यति ।

एतस्योत्तरमद्य न समजनि त्वत्तेजसा लङ्घने

साहस्रैरपि पद्गुध्रिभिरभिव्यक्तीभवन्भानुमान् ॥ १३६ ॥

जीवातु—यमिति । य शर्नेश्वर, सहस्र पादा रश्मयोऽङ्घ्रयश्च यस्य न,

सहस्रपात् सूर्ये । 'पादा रश्मिङ्घ्रितुर्मासा' इत्यमर । 'सङ्घायासुपुवस्व' इति

समासान्तलोप । प्रासूत प्रभूतवान्, स छायातनय शर्नेश्वर । 'मन्दरग्राया-

सुत सनिः' इत्यमरशेष । कथ पादेन खञ्जो विक्रञ्ज सन् । 'येनाङ्गविकार'

इति तृतीया । उदभवदुत्पन्न सुत पितु सादृश्यमन्विष्यति किल प्राप्नोति खनु

एतस्य प्रश्नस्याद्य त्वत्तेजसा लङ्घने साहस्रै सहस्रसङ्ख्यैरपि । 'अणु च' इति

मत्वर्थीयोजप्रत्यय । अङ्घ्रिभि पद्गु खञ्ज, पूर्ववत्तृतीया । अभिव्यक्तीभवन्

भानुमान् सूर्ये नोऽस्माकमुत्तर समजनि सञ्जात । जने वर्तुरि लुङ् । 'दीप-

जन—' इत्यादिना जनेदिचण् । चिणो लुक् । अप्राकंस्थापञ्जो पद्गुत्त्वोवने-

रतिगयोक्तिभेद' । तद्धेतुत्वञ्च शर्नेश्वरपद्गुत्वस्येत्युत्प्रेक्षा इति तयो

सङ्कर ॥ १३६ ॥

अन्वय —सहस्रपात् य प्रासून स छायातनय कथ पादेन खञ्ज उद्भवत्

सुत किल पितु सादृश्यम् अन्विष्यति ? अद्य न एतस्य त्वत्तेजसा लङ्घने साहस्रै

अपि सङ्घ्रिभि पद्गु अभिव्यक्तीभवन् भानुमान् उत्तर समजनि ।

हिन्दी—सहस्रचरणां वाले (सहस्ररश्मि मूय) ने जिस जन्म दिया, वह

छाया (सूर्यपत्नी) का पुत्र (शर्नेश्वर) किम प्रकार चरण-विक्रञ्ज (लंगडा)

जन्मा, पुत्र तो पिता पर जाना है ? आज हमारे इस प्रश्न का तुम्हारी (नल

को) ने जो राशि का लघन सहस्र चरणा से भी करने में लगडा (असमर्थ)

प्रकट होता हुआ सूर्य उत्तर हा गया ।

टिप्पणी—नल को देखकर सम्पादन में इतना ध्यान मिलेगा कि उसने

तेज के समुल्ल मूय का तेज भी फीका पट जायगा । शर्नेश्वर लगडा है, ऐसी

मायता है । मामा-पत पिता के गुण पुत्र में आते हैं, पर सूर्यपुत्र शर्नेश्वर

के प्रसंग में ऐसा क्यों नहीं हुआ ? सहस्रचरणां वाले सूर्य का बेटा लगडा ?

यह एक अनुत्तरित प्रश्न था । देवा पर भी इस प्रश्न का उत्तर नहीं था ।

पर आज उत्तर मिल गया। तेजस्वी नल की तेजोरसि का अनिर्कण करने में सूर्य भी पगु है, भले ही वह 'सहस्रपाद्' हो। तो लंगडा बार सूर्य, उमका बेठा अनंश्वर भी लंगडा। १२५ वें तथा इस श्लोक का छत्र शार्दूलविभीषित। मस्तिनाथ के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा का संकर है, अपगु सूर्य की पगुता का कथन अतिशयोक्ति है और अनंश्वर के पगुत्व में उसके कारण होने की उत्प्रेक्षा की गयी है ॥ १२६ ॥

इत्याकर्ष्यं क्षितीशखिदशपरिपदस्ता गिरश्चाटुगर्भा

वैदमोकाभुकोजपि प्रसभविनिहित दूत्यभार वमार।

अङ्गीकार गतेऽम्मिन्नमरपरिवृद्धः संभृतानन्दमूचे

भूयादन्तर्धिसिद्धेरनुविहितमवच्चित्तना यत्र तत्र ॥१२७॥

जीवानु-श्रीति। क्षितीशो नल, त्रिदशपरिपद सुरसदृशस्य इत्येवस्या-
श्चाटुगर्भाः त्रियन्नामास्ता गिर आकर्ष्यं वैदमोकाभुको सत्रपि 'लपपत-' इत्या-
दिना कमेहकप्रत्यय। अत एव 'न लोक-' इत्यादिना पृष्ठीप्रतिषेधात् मधु-
निभानुवद् द्वितीयासनास। प्रसभविनिहित बलादारोपित दूत्यमेव भार वमार।
अस्मिन्नले, अङ्गीकार गते मत्यमरपरिवृद्धो देवेन्द्रः। हे नरेन्द्र! यत्र कुत्रापि,
अन्तर्धिसिद्धे अन्तर्धानसक्तेरनुविहितमवच्चित्तना, अनुवृत्त्वन्मनस्कता, भूयाद्
मवच्चित्तानुमारेण सर्वत्र तवातनावशवितरस्तु इति सम्भृतानन्द सहर्षमूचे।
विरस्वरिणीविद्या प्रादादित्यर्थः ॥ १२७ ॥

अन्वय-—त्रिदशपरिपद इति चाटुगर्भा ता गिरः आकर्ष्यं वैदमोकाभुकोः
अपि क्षितीश प्रसभविनिहित दूत्यभार वमार, अस्मिन् अङ्गीकार गते अमर-
परिवृद्ध इति संभृतानन्दम् उचे-—यत्र तत्र अन्तर्धिसिद्धेः अनुविहितमवचित्तना
भूयात् ।

हिन्दी-—सुरसमूह की ऐसी चाटुगर्भा-पूरा उन वाक्यावलिओं को मुन्कर
विदमंभुमी (दमयन्ती) की कामता करनेवाले भी पृष्ठीपति (नल) ने
बलादारोपित (लादे गये) दूत्य के भार को धारण कर लिया। उसकी
स्वीकृति हो जाने पर देवराज (इन्द्र) ने यह सहर्ष कहा-—'सर्वत्र अतर्धान
होने की शक्ति तुम्हारी इच्छा की अनुगामिनी हो।'

टिप्पणी—राजा नल सिति का ईश या—सबका स्वामी । अन्ततोगत्वा उसन बलपूर्वक आरोपित देवा का द्रुत बनना स्वीकार कर लिया और दमयती की इच्छा का दमन कर लिया । इस पर प्रसन्न हुए इंद्र ने नल को घर दिया कि वह इच्छानुसार जब चाहे अदृश्य हो सकता है और जब चाहे प्रकट हो सकता है । अदृश्य होने की शक्ति उसकी इच्छा के अधीन रहेगी । इस प्रकार देवेन्द्र के वर से नल को तिरस्कारिणी विद्या प्राप्त हो गयी । सायरा छन्द ॥ १३७ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहोर सुत

श्रीहोर सुपुत्रे जितेन्द्रियचय मामन्लदेवी च यम् ।

तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महा-

काव्ये चारुणि नैपथीयचरिते सर्गोऽगमत्पञ्चम ॥१३८॥

जीवानु—श्रीहर्षमित्यादि । सुगमम् । श्रीमत्या विजयप्रशस्ते ग्रन्थविशेष-
स्य रचनातातस्य निर्माणकर्तुरित्यर्थं ॥ १३८ ॥

इति मल्लिनाथविरचिते 'जीवानु'सामान्याने पञ्चम सर्गं समाप्त ॥५॥

—०—

अन्वय—पूर्वद्वयपदस्य पूर्ववदन्वय । तस्य श्रीविजयप्रशस्तिरचनातातस्य भव्ये महाकाव्ये चारुणि नैपथीयचरिते पञ्चम सर्गं अगमत् ।

हिन्दी—पहिले दो पदों का अर्थ पूर्ववत् । उस 'श्रीविजयप्रशस्ति' के रचनेवाले (श्रीहर्ष) के भव्य (प्रशंसनीय) महाकाव्य, चाहे 'नैपथीयचरित' में पंचम सर्ग समाप्ति को प्राप्त हुआ ।

टिप्पणी—सर्गांत में यह संकेत कि श्रीहर्ष ने 'श्रीविजयप्रशस्ति' ग्रन्थ का रचना भी की थी । सायरा वृत्त ॥ १३८ ॥

नैपथीयचरित पञ्चम सर्ग

—०—

नैपथीयचरितम्

कथासार

(पञ्चम सर्ग)

जात्वा नारदतः स्वयवरविधिं मन्या स्पृहालुर्हरि
मार्धं दिक्पतिभिः पफाण पृथिवी शब्दाः शुचा वीक्षित ।
बन्धद्दौत्यमुपेत्य याहि नृप मो नैमोमदुष्टी भटै-
स्तामस्मास्वनुकूलपादिवति नलं सोऽमुड्वत दौत्ये छली ॥

—श्रीकृष्णरामकवि—

विदमरराज ने देटी दमयती के स्वयवर का आयोजन किया और नारद मुनि ने उसकी सूचना इन्द्रलोक पहुँचायी । दमयती के रूप की चर्चा से इन्द्र भी उसकी स्पृहा करने लगा और शची तथा रमा—उर्वशी आदि स्वर्गसुदारियों के अमतीय पर भी कुछ ध्यान न दे उसने विदम की ओर प्रस्थान कर दिया । उसके पीछे अग्नि, यम और वरुण भी चले । इन सबने एक-दूसरे से छिपा कर अपनी-अपनी दूतियों को दमयती के पास भेजा, जो अनेक बहुमूल्य उपहार लेकर विदमरराज की भेजा में पहुँची । मार्ग में देवों की मेंट नल से हुई, जो स्वयं भी स्वयवर में सम्मिलित होने जा रहा था । नल को देखकर वे हुनने प्रभावित हुए कि उन्होंने दमयती को पाने की आशा छोड़ दो और खिन हो गये । परन्तु इन्द्र तो कपट करने में प्रवीण है, उन्होंने नल को वचनबद्ध कर डम पर सन्नद्ध कर लिया कि वह दमयती के पास देवदूत बन कर जाय और ऐसा प्रयत्न करे कि दमयती देवों में किसी का वरण कर ले । प्रतिज्ञाबद्ध नल ने उनका दौत्य कर्म स्वीकारा और इन्द्र ने नल को क्षमता दी कि वह इच्छा-नुसार अन्तर्धान हो सके ।

पद्यानुक्रमणिका
(पञ्चम सर्ग)

श्लोका	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
अद्ययावदपि येन	१३०	इंद्रशानि मुनये	४०
अन्वयुर्धंतिपव०	२१	इंद्रशी गिरमुदीर्य	७८
अद्यवीत्तमनल०	१३२	उद्भ्रमामि	१०८
अद्यवीदथ यम	१२४	उर्वशी	१२
अभ्रपुष्पमपि	१२७	ऊचिवानुचित०	१२८
अर्चंनामिरुचि०	६	एवमादि	६३
अर्धंता मयि	११२	एवमादि	६३
अर्धिता स्वयि	१३३	एवमुक्तवति देवञ्चपीन्द्रे	३७
अर्धिता	११३	एवमुक्तवति मुक्त०	६८
अर्धिताम०	७६	एप नैपथ	७६
अर्धिने न०	८६	क कुलेऽजनि	११६
अर्धिनो वयममी	७७	कथ्यते न कतम	२८
आ स्वभाव०	२४	कानुजे मम निजे	३८
आदधीचि किल	१११	कापि कामपि	२३
आलिमात्मसुभगाव०	२४	कामनीयकमथ कृतकामम्	६४
आसने	१००	कि घनस्य	२६
इ यमी	३४	किं विधेयमधुनेति	७३
इत्यवेग्य	७२	कुण्डनेन्द्रसुतया	११४
इत्याकण्यं	११७	क्व प्रयास्यासि	७२
इत्युदीर्य भवता	१६	स्तग्दितेन्द्र०	४
इत्युदीर्य स धयी	४३	गच्छता पथि	३
इष्टि न० प्रति	१३५	चर्म वर्म किल	१२६
इंद्रशानि गदितानि	११६	चित्रमय	२७

श्लोकाः	श्लोकाङ्काः	श्लोकाः	श्लोकाङ्काः
जीवितावधि किम्०	६०	पुर्मनेन परिधीय	४४
जीवितावधि समीपक०	६१	प्राग्मे	४५
जीवितेन	४६	प्राग्मिधीयममदम्	६६
तं कथामुक्तवत्०	१३	प्राग्मिधीयं हि	१५
सम्प्रदीयत	१३६	पुर्मपुत्रविविध०	१०
सद्भुजाद्विनिर्दिशन्०	११	प्राग्मिधीयविविधम्	६६
सद्विभुजय मम	१८	प्राग्मने	१३४
सहय सावजमिवा	६	प्राग्मिध प्राग्पने	१४
तेन जाम्प्रुधनिर्दिश०	३६	प्राग्मितेन	८४
तेन तेन यद्यदिव	१०३	प्राग्मी	१३
तेषु सद्भिः यभू०	६०	प्राग्मिवा यूपमयो	६४
दागताप्रमथमन०	६२	प्राग्मिवायद्विधीय०	६६
दुर्मन्त्रं दिशन्निधिः	६०	प्राग्मि म	१३८
प्राग्मिवायद्विधीय०	६८	प्राग्मिवायद्विधीय०	६६
न यद्यद्यन कदापि	१३३	प्राग्मिवाय न हदि	८५
माकलोद्विषयतोः	४६	प्राग्मिवाय न हदि	६६
मायसाभि यदगा	१३१	प्राग्मिवाय	३१
मात्र निप्रमम्	६	प्राग्मिवाय	३१
मायसाभि यदगे	११०	प्राग्मिवाय	३१
मायसायसायसा०	१०	प्राग्मिवाय	३१
न रिग जम्प्रजमक०	६४	प्राग्मिवाय	३१
मीव माः प्रियमयो०	६६	प्राग्मिवाय	३१
प्राग्मे यन यने	७१	प्राग्मिवाय	३१
प्राग्मे यन यने	८०	प्राग्मिवाय	३१
प्राग्मे यन यने	६	प्राग्मिवाय	३१

श्लोका	श्लोकाङ्का	श्लोका	श्लोकाङ्का
यन्पथावरिणु	२६	धीचितस्त्रमसि	२०
यत्प्रदेयमुपनीय	८५	धीष्य तस्य वरुणस्य	६१
यन्मती	१०६	धीष्य तस्य विनये	६१
या मनोरथमयीम्	१०१	वेद् यद्यपि	३६
याचमानजनमानम्०	८८	शीघ्रं हृदित०	६८
याचितश्चिरयति	१२६	शुद्धवशाजनितोऽपि	१०२
यान्तर प्रति	१३०	शैशवश्यम्०	३
यापट्टिपरि	१२०	श्रीभरानविधिसात्	३
यामिकाननुपसृष्ट	११०	श्रीहर्षं कविराज०	८
यामि यामिह	१०७	मन्यत्रिचत०	६
यावदागमतेऽथ	१	मपद्रस्तव	२
येषु येषु सरसा	३२	सप्रति	७
यो मघोनि	४८	सर्वत	४
रामणीयकगुणाद्भय०	६६	स व्यतीत्य	८
रूपमस्य विनिह्य	६२	सागुन	२०
रोहण किमपि	१२६	सामिशापमिव	१६
लोक एष परलोकमु०	६१	सा भुव किमपि	२६
वित्त चित्तमखिलस्य	१०५	सा शरस्य कुमुमस्य	३०
विश्वदृश्य०	१०१	सूतविश्रमद्०	६०
विश्वरूप	३६	सेयमुच्चतरता	१०४
विष्टर तट०	७	स्वारसातलमवाह्य०	४१

नैषधीयचरितम्

पष्ठः सर्गः

दूत्याय दैत्यारिपतेः प्रवृत्तो द्विषा निषेद्धा निषधप्रधानः ।

स भीमभूमोपतिराजधानीं लक्ष्मीचक्रागय रथस्यदस्य ॥ १ ॥

जीमातु—दूत्यायेति । अथ दूत्याङ्गीकारानन्तर, द्विषा निषेद्धा निवारयिता, निषधाना जनपदाना, प्रधान मुह्यधिपनिरित्यर्थं । स नल दैत्यारिपते देवेन्द्रस्य, दूतकर्मणे । 'दूतस्य भावकर्मणी' इति यत्प्रत्यय । प्रवृत्त उच्यते सन्, स रथस्यदस्य रथवेगस्य भीमभूमोपतिराजधानीं कुण्डिननगरी, लक्ष्मीचकार लक्ष्यमकरोत् । गमन चकारेत्यर्थं ॥ १ ॥

अन्वय—अथ दैत्यारिपते दूत्याय प्रवृत्त द्विषा निषेद्धा स निषधप्रधान (निषधप्रधानम्) भीमभूमोपतिराजधानीं रथस्यदस्य लक्ष्मीचकार ।

हिन्दी—तदनन्तर दैत्यों के शत्रु देवों के स्वामी (इन्द्र) के दूतकर्म में प्रवृत्त शत्रुओं के निवारक उस निषधदेश के अधिपति (नल) ने भीमराज की राजधानी (कुण्डिनपुरी) को रथ के वेग का लक्ष्य बनाया ।

टिप्पणी—जैसा कि देवों का आकाशित था, निषधराज नल इन्द्रादि के दूतकर्मसम्पादनायं तीव्रपति से कुण्डिनपुरी की ओर चल पड़ा । प्रकाशकार ने द्वितीयचरणगत में 'निषधप्रधान' के स्थान में 'निषधप्रधानम्' पाठांतर को समीचीन माना है, क्योंकि 'प्रधान' शब्द नपुंसकलिङ्ग में परिगणित है—'प्रधानशब्दा बलीबे ।' कुछ अन्य टीकाकार भी इसी से सहमत हैं । यद्यपि कुण्डिननगरी भीम अर्थात् भयकर 'भूमोपति' अथवा भीम अर्थात् दुर्गम भूमि के स्वामी की नगरी थी, तथापि नल को इससे न तो कोई भय लगा और न किसी अवरोध-प्रतिरोध की ही उस बिता व्यापी, क्योंकि वह निषधराज्य का प्रथम पुरुष था और साथ ही 'द्विषा निषेद्धा'—शत्रुओं का निवारक

था । भयकर राजा की दुर्गम भूमि में उसका गमन अप्रतिपिद्ध या विद्याघर के अनुसार छेकानुप्रास अलंकार उल्लेख्य है । इस सर्ग में (श्लोक १-१११) इन्द्रवच्चा-उपेन्द्रवच्चा के मिश्रण से सरचित उपजाति छन्द है ॥ १ ॥

भैम्या सम नाजगणद्वियोग स दूतधर्म स्थिरधीरधीश ।
पयोधिपाने मुनिरन्तराय दुर्वारमप्यौवमिवोर्वशेय ॥ २ ॥

जोवातु—भैम्येति । अधीशो मनोनियमनसमर्थ । अत एव, दूतधर्मं दूतद्वयत्वे, स्थिरधीरचलबुद्धि, स नञ्, भैम्या सम सह । - 'साक सत्रा सम सह' इत्यमर । वियोगम्, औवशेय उर्वशीपुत्रो मुनिरगस्त्य 'औवशेय कुम्भयोनिरगस्त्यो विन्ध्यकुट्टन' इति हलायुष । पयोधिपाने दुर्वारम्, उर्व्या अपत्यमौर्वो वरुणभयान्मातृगुप्त इति स्वामी । समीवं वडवानटमिव अन्तराय नाजगणदन्तरायत्वेन नामन्यत । भैमीवियोगमपि विसृज्य प्रतिज्ञामङ्गमयात् दूत्यमेव दृष्टतरमवलम्बितवानित्यथ । अन्तरायविशेषणमुभयत्रापि योजनीयम् ॥ २ ॥

अन्वय — अधीश दूतधर्म स्थिरधी स भैम्या सम वियोग पयोधिपाने दुर्वारम् अपि और्वम् अन्तरायम् और्वशेय मुनि इव न अजगणत् ।

हिन्दी—मनोनिग्रह में समर्थ दूत के घम में दृढमतिशाली उस (नल) ने भीमनुता (दमयती) के वियोग को जल-राशि (समुद्र) को पीते समय कठिनाता से निवारित किये जाने वाले वडवाग्नि के विघ्न को उवशी की सतान (धगस्त्य) मुनि के समान नहीं गिना ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल के पक्ष में दमयती का वियोग उतना ही दुर्निवार था, जैसे कि समुद्र की आग वडवाग्नि उन मुनि अगस्त्य के लिए दुर्निवार थी, जो समुद्र पीते समय उनके कार्य में विघ्न स्वरूप उपस्थित थी । किंतु जिन प्रकार अगस्त्य ने दुर्निवार वडवाग्नि-रूप विघ्न की गणना नहीं की, बिना उसकी चिंता किये वे समुद्र की अगाध जलराशि पी गये, उसी प्रकार नल भी दु सह, दुर्निवार दमयती-वियोग रूप विघ्न की गणना न करना हुआ देव-दूत-कार्य संपादन में प्रवृत्त रहा । विचार का कारण रहते हुए भी धीर नायक नल की उदात्तता में कोई अंतर न आया, क्योंकि धीर जन तो ऐसे

होते ही हैं—'विद्याहेतवनि विद्मन्ते मेधा न चेतासि त एव धीरा ।' 'और्व' (वज्रनि) का 'दुर्वार' (अतिवृत्ता से निवारण-योग्य) विशेषण है, इसका 'दृष्ट वा वाग्नि येन दुर्वा तम्' यह विग्रह करके 'जल को क्षुब्ध करनेवाला' वहवाग्नि भी अर्थ 'प्रकाश'—कार ने किया है। आत्म्य उर्वशीतुत्र तो ये ही—'प्रकाश'—कार ने 'उष बहु व्यस्ताति उर्वशी, तन्मुत्र और्वशेष'—विग्रह करके अग्नि खाने वाली का बेटा अर्थ कर उनके 'पयोधिनान' के सामर्थ्य का द्योतन किया है। विद्याधर के अनुसार श्लोक में ऐकानुदास-उपना-हेतु ऋकारों का नकार है ॥ २ ॥

नन्प्रगातीनिन्दम्बुजाशीमवादपीनूपपिनासवस्ते ।

तदध्ववीक्षार्यनिनिमेया देगम्य तस्यामरगीबनूवु ॥ ३ ॥

वीवानु—नलेति । तं इन्द्रादयो देवा, नल एव प्रगान्ती जन्निर्मानां, तथा निन्द प्रवहवु, अम्बुजाशीसवादपीनूप दनयन्तीसवादानृड, निनासव पातुनिच्छव सन्तः । मयुग्निनामुवत् द्वितीयासनाम् । तदध्ववीक्षार्य नलनांप्रतीक्षार्यनिनि देगम्य सन्त इत्युद्देशः । तस्य देगम्य नलनिर्मान-प्रदेगस्यामरगीबनूवु । तदात्मनपर्यन्त तत्रैव तस्मुत्पत्त्यं ॥ ३ ॥

अन्वय—तदध्ववीक्षार्यम् इव अनिमेयां ते नन्प्रगातीनिन्दम्बुजाशी-सवादपीनूपपिनासव तस्य देगम्य आमरगीबनूवु ॥

हिन्दो—मानो उम (नल) के माँ के अदभ्युक्तार्यं अलक वे (देव) नलन नास्त्रिका (नाली) ने बहकर आते कमलनता (दमयन्ती) के सवाद रूप अनृत-सन्धि के प्यामे बने उम (पूर्व सदमं में कथित) स्थान के आमुयन बन (प्रतीक्षा करते) रहे ।

टिप्पणी—भाव यह कि देवान, वहाँ नल के माय उनका वाताचार हुआ या उम स्थान पर दमयन्ती का उत्तर लेकर नल के नौटने की प्रतीक्षा करते दृष्ट रहे । नल उम नल-प्रगाली (पाइल साइन) के समान है, जिसके माध्यम में प्रवाहित होता सवाद रूप बल आपात । अलक-प्रतीक्षा करना देवों की उत्सुकता का द्योतन करता है । अल्पनाय के अनुसार उद्देशः है और विद्याधर के अनुसार एक-उद्देशः का कर ॥ ३ ॥

ता कुण्डिनाख्यापदमात्रगुप्तामिन्द्रस्य भूमेरमरावती स ।

मनोरथ सिद्धमिव क्षणेन रथस्तदीय-पुरमाससाद ॥ ४ ॥

जीवातु—तामिति । तस्याय तदीय, नलीय, स रथ, ता कुण्डिनमिति यदाख्यापद नामपद, तन्मात्रेण गुप्ता छन्ताम्, अमरावतीमिन्द्रराजधानीम्, तत्कल्पादित्यर्थं । भूमेरिन्द्रस्य भीमभूपते, पुर, मनोरथ सिद्धमिव क्षणेन आससाद प्राप ॥ ४ ॥

अन्वय—तदीय स रथ मनोरथस्य सिद्धिम् इव ता कुण्डिनाख्यपदमात्र-गुप्ताम् भूमे इन्द्रस्य अमरावती पुर क्षणेन आससाद ।

हिन्दी—उस (नल) का वह रथ, जैसे अभिलाष सिद्धि को प्राप्त कर-लेता है, वैसे ही उस कुण्डिन नामक शब्द मात्र से गुप्त धरती के इन्द्र (भीम नरेश) की अमरावती पुरी (कुण्डिनपुरी) में क्षण में पहुँच गया ।

टिप्पणी—नल जैसे तैप पूत जनों की इच्छा तुरत पूर्ण हो जाती है, वैसे ही 'मनोरथ'—सम वेगवान् रथ से क्षणमात्र में (अतिशीघ्र) भीमराज की राजधानी कुण्डिनपुरी पहुँच गया । कुण्डिनपुरी बस नामत ही इन्द्र की राजधानी अमरावती स भिन्न थी, वस्तुतः वह किसी दृष्टि से स्वर्ग की राजधानी स न्यून समभवती नहीं थी, उसका अधिपति तो धरती का इन्द्र ही था । विद्याधर के अनुसार व्यतिरेक-रूपक अलंकार ॥ ४ ॥

भैमीपदस्पर्शकृताथरथ्या सेय पुरीत्युत्कलिकाकुलस्ताम् ।

नृपो निपीय क्षणमीक्षणाभ्या भृश निशश्वास सुरै क्षताश ॥ ५ ॥

जीवातु—भैमीति । नृपो नल, इय भैमीपदस्पर्शेन कृताथरथ्या सफल-मार्गा, सा श्रूयमाणा पुरी कुण्डिनपुरीत्युत्कलिकया उत्कण्ठया, आकुल क्षुभित सन् । क्षणमीक्षणाभ्या, सा पुरी, निपीय सतृष्ण दृष्ट्वा, सुरै क्षताश भिन्नाश सन् भृश निशश्वास ॥ ५ ॥

अन्वय—इय भैमीपदस्पर्शकृताथरथ्या सा पुरी—इति उत्कलिकाकुल नृप क्षणम् ईक्षणाभ्या सा पुरी निपीय सुरै क्षताश भृश निशश्वास ।

हिन्दी—'वह भीमपुत्री (दमयन्ती) के चरण स्पर्श से कृताथ गलियौ वाली वह (विख्यात) नगरी है'—इस उत्कण्ठा से व्याकुल वह राजा (नल) क्षण भर उस पुरी को नेत्रों से पीकर (मली भाँति देखकर) देवा द्वारा मग्नाश किय जान के कारण लम्बी साँसे भरने लगा ।

टिप्पणी—जिस नगरी में दमयन्ती ने जन्म लिया, जोड़ा विनोद किये, वही हुई, वह नगरी कैसी होगी? कैसी होगी वे गलियाँ—वे रास्ते, जिन पर नल की प्रिया के चरण पड़े हों? एक मातृक सच्चे प्रेमी के सुदृश दमयन्ती-कामी नल उस कुण्डिननगरी के अवलोकनार्थ बड़ा उन्मुक्त था। वह विचारता था कि दमयन्ती को पाकर दम महिमामयी नगरी के वैभव को भोगने का मौमान्य उने कमी प्राप्त होगा। पर हाथ रे व्रतमाध्य, उसे देवगण मिल गये। उसे छल से ऐसे कार्य में प्रवृत्त कर दिया कि नव स्वान नग हो गये। आशा निराशा में बदल गयी। कष्ट और दुःख में लक्ष्मी नाम लेने के अतिरिक्त वह करता ही क्या? विद्याधर के अनुसार ऐकानुग्राम-काव्यलिङ्ग भावशब्दाञ्जलकारों का सङ्कर ॥ ५ ॥

स्विद्यत्प्रमोदाश्रुलवेन वाम रोमाञ्चमृतपश्मनिरम्य चक्षुः।

अन्यन्तुन कप्रमपि स्फुरन्त तस्याः पुर प्राप नवोपभोगम् ॥ ६ ॥

जीवानु—अथैव विद्यमानस्य तस्येष्टनिदिनूचक दक्षिणाक्षिस्पन्दन जात-निश्वाह—स्विद्यदिनि। अन्य नलस्य, वाम चक्षुः, प्रमोदाश्रुलवेन आनन्द-बाष्पस्नेह, स्विद्यत् स्विन्न सत्, पश्मनि उमिगद्गिरिति शेष। रोमाञ्च-दृशोमाञ्चिन सत्, तस्या पुर नगर्या, स्फुरन्त प्रकाशमान, नवोपभोग अपूर्वदर्शनमाश्रयज्ञमञ्च प्राप। जग्यत् पुनर्दक्षिण तु कम्प्रनपि कम्प्रञ्च सत् त प्राप। वामाक्ष्य स्वेदरोमाञ्चावेव। दक्षिणस्य तु वैपमुत्पत्तिज सात्त्विक-मवृत्त इत्यर्थ। प्रथमनङ्गमे कम्प्रस्वेदरोमाञ्चादयो जायते। पुह्यस्य दक्षिणा-क्षिस्पन्दन शुभाय भवतीति निमित्तवेदिन। अत्रान-दाश्रुपश्मोन्धेपाक्षिस्पन्देपु स्वेशदिमात्त्विकरूपणाश्रुपकम्। तदुन्लानितनवोपभोग-द्वहारभमारोपात् पुरीचक्षुषो श्चीपुनत्वप्रतीने रूपकसङ्कीर्णा समासोक्तिरलङ्कार ॥ ६ ॥

अन्वय—अस्य प्रमोदाश्रुलवेन स्विद्यत् पश्मनि रोमाञ्चमृत वाम चक्षुः तस्या पुरः स्फुरन्त नवोपभोग प्राप कम्प्र तु अन्यत् प्राप।

हिन्दी—उस (नल) के हृष्यजनित अश्रुकण से स्वेदमुक्त जोर बरीनियों से रोमाञ्चिन बायें नयन ने उस (नगरी) के ममुष प्रकाशमान नये उपभोग (प्रथम दर्शन) को प्राप्त किया और कपनशील हाते वामातिरिक्त (दक्षिण नयन) ने प्राप्त किया।

टिप्पणी—इस श्लोक में नल के नेत्रों की एक ऐसे नायक के रूप में उद्भावना की गयी है, जो नायिका के प्रथम सपकं में आया है। कुडिनपुरी को दोनों नेत्रों से निहार कर नल को प्रसन्नता हुई और आनन्दाश्रु से उसका वामनेत्र पूर्ण हो गया और बरौनियाँ जैसे अचित्त हो गयीं तथा दाहिना नेत्र (ध्रुम शकुन स्वरूप) फटकने लगा। नल के नेत्रों की नायिका के रूप में कुडिनपुरी की उद्भावना है, जिसके 'नवोपमोग' अर्थात् प्रथमदर्शन अथवा नूतनकामकेलिका का सुख प्राप्त करते दोनों नयनों में जात अश्रु आदि नायक के भाव हैं। आनन्दाश्रु 'स्वेद' है और 'रोमाञ्च' तथा कप्र (कपन) 'कर' नामक सात्त्विक भाव हैं। नयनों की वह स्थिति यद्यपि प्रकृतिषिद्ध है तथापि वह यहाँ प्रिया-प्राप्ति की सूचना भी देती है। नवोपमोग के समय कामिजन की भी ऐसी स्थिति हो जाया करती है। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ रूपरुमकीर्णा समाशोक्त है, क्योंकि आनन्दाश्रु आदि में स्वेदादि सात्त्विकों का रूपण है और नवोपमोग व्यवहार के समारोप के आधार पर नयन और कुडिनपुरी में नायक-नायिका की प्रतीति होती है। विद्याधर ने केवल समाशोक्ति का निर्देश किया है ॥ ६ ॥

रथादसौ सारथिना सनाथाद्राजावतीर्याशु पुर विवेश ।

निर्गत्य विम्बादिव भानवोयात्सौघाकर मण्डलमशुमङ्ग ॥ ७ ॥

जोवातु—रथादिति । असौ राजा नल सारथिना सनाथात् सहितात् रथादवतीर्य अशुमङ्ग अर्वाशुमङ्ग, भानवोयात् विम्बाभ्रिगत्य सौघाकार चान्द्र मण्डलमिव आशु पुर कुण्डिन विवेश । 'सल्लिमये शशिति रवेर्दोषितयो मृच्छितास्तमो नैधम् । अपयन्ति दर्पणोदरनिहिता इव मन्दिरस्यात् ॥' इति शास्त्रादियमुपमा ॥ ७ ॥

अन्वय—असौ राजा सारथिना सनाथात् रथात् अवतीर्य भानवोयात् विम्बात् निर्गत्य सौघाकर मण्डलम् अशुमङ्ग इव आशु पुर विवेश ।

हिन्दी—सारथि—युवक रथ से उतरकर यह राजा (नल) जैसे सूर्य के विम्ब से निकल चन्द्र के मण्डल में किरण समूह प्रविष्ट होता है, वैसे ही सौघतापूबक नगर में प्रविष्ट हो गया ।

टिप्पणी—रत्न श्लोक में उपमालङ्कार है । इसका आधार है ज्योति-
दास्य । मल्लिमय चद्र में मूर्त्य किरणें प्रविष्ट होकर रात्रि के अंधकार का
विनाश उसी प्रकार करती है जिस प्रकार कि दर्पण में विद्यमान प्रकाश-
किरणों मंदिर के अंधकार का । मात्र यह कि रत्न में सारथि को छोड़कर
नगर में एकाकी प्रवेश करता नल चद्र के समान मुशोभित हुआ ॥ ७ ॥

चित्र तदा कुण्डिनवेशिनन्मा नलम्य मूर्तिववृते नदृश्या ।

वनव तच्चित्रतर तथापि विश्वैकदृश्यैव यदस्य मूर्ति ॥ ८ ॥

श्रीवाङ्मू—चित्रमिति । तदा तस्मिन्समये, कुण्डिनवेशिन कुण्डिन-
प्रविष्टस्य नलस्य सा तथा दर्शनीया मूर्तिर्नदृश्या जदर्शनीया । ननर्थस्य
नद्यन्स्य 'मुष्मुना' इति समास । ववृते जाता, चित्र विरोधादिति भाव ।
इन्द्रवराददृश्यत्व गतेष्वविरोध । तथाभ्यदृश्यानि अस्य मूर्तिविश्वैकदृश्यैति
यत्तच्चित्रतर वनव, दृश्यत्वादृश्यत्वयोर्विरोधादिति भाव । विश्वस्यैकस्मैव
दृश्या दृष्टिप्रियैवेत्यविरोध । अत्र विरोधानासद्यो समृष्टि ॥ ८ ॥

अन्वय—तदा कुण्डिनवेशिन नलम्य मूर्ति नदृश्या ववृषे, चित्रम्,
तथापि यत् अस्य मूर्ति विश्वैकदृश्या तत् चित्रतर वनव ।

हिन्दी—उस काल कुण्डिनगरी में प्रविष्ट होते नल की मूर्ति अदर्शनीय
थी, यह आश्चर्य है, तथापि जो उसकी मूर्ति 'विश्वैकदृश्या' अर्थात् सकल-
जगत् के देखे जाने योग्य (परिहारार्थ में सबको सुन्दर लगी) रही, वह
और अधिक आश्चर्य हो गया ।

टिप्पणी—देव-वर के कारण नल अदृश्य था और वह दर्शनीय तो था
ही । 'न दृश्या' का एक अर्थ अदृश्य है, दूसरा अर्थ है जैसी सामान्यतः देखी न
जाती हो, अर्थात् अनुत्तम (परिहारार्थ) । ऐसे ही 'विश्वैकदृश्या' के दो अर्थ
(विश्वमात्र का दृश्य और सबको सुन्दर लगने वाला) करने विरोध और
परिहार दिखाकर चमत्कार लाया गया है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ
दृश्यत्व और अदृश्यत्व में तथा 'विश्वैकदृश्या' की दृष्टिप्रियता में विरोध है,
अतः विरोधानासो की समृष्टि है, विद्याधर भी विरोधानास मानते हैं ॥ ८ ॥

जनैर्विदग्धैर्भवर्जंश्च मुग्धे पदे पदे वित्मयकल्पवल्लीम् ।

विगाहमाना पुरमस्य दृष्टिरथाददे राजकुलातिवित्त्वम् ॥ ९ ॥

जीवातु—जनैरिति । अथास्य नलस्य, दृष्टिविदग्धैरभिज्ञं जनं मुग्धं मुन्दरं भवनैश्च पदे पदे विस्मयकल्पवल्ली आश्चर्यावहामित्यर्थं । पुर विगाहमाना विभावयन्ती । राजकुलातिथित्वमादरं । क्रमादसौ राजभवन ददर्शत्यर्थं ।

अन्वय —अथ अस्य दृष्टि विदग्धं जनं मुग्धं भवनै च पदे पदे विस्मय कल्पवल्ली पुर विगाहमाना राजकुलातिथित्वम् आदरे ।

हिन्दी—तदनन्तर उस (नल) की दृष्टि चतुर पुरुषों और मनोहर भवनों द्वारा पग-पग पर आश्चर्य की कल्पलता पुरी का विगाहन (भली भाँति अवलोकन) करती राजभवन के अतिपिभाव को प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—कुडिनपुरी में प्रविष्ट होने पर नल को स्थान-स्थान पर अनेक चतुर श्यक्ति मिले और अनेक भव्य भवन दीखे, जिससे उसे आश्चर्य हुआ । इसी प्रकार नगरी का भली भाँति अवलोकन करता नल धीरे-धीरे राजभवन तक जा पहुँचा । विदग्धं मुग्धं च जनै भवनै च' अन्वय करने पर विदग्ध (विद्वान्) और मुग्ध (मूर्ख) जनो मे विरोध हुआ और विदग्ध (जले) और मुग्ध (मुन्दर) भवनो मे असंगति हुई, अत विरोध हुआ । यही आश्चर्य है । इसका परिहार होगा— विदग्ध अर्थात् विद्वान् होकर मुग्ध अर्थात् मुन्दरजन । इसी प्रकार भवन-पग में विदग्ध का अर्थ लक्षणा शक्ति के आधार पर होगा 'विदग्ध जनो से पूर्ण' अथवा 'चतुर जनो द्वारा निमित्त' (स्थापत्य की दृष्टि से पूर्ण) और 'मुग्ध' अर्थात् भव्य । विद्याघर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार रूपक ॥ ९ ॥

लीनश्चरामीति हृदा ललज्जे हेला दधौ रक्षिजनेऽस्त्रसज्जे ।

द्रक्ष्यामि भैमोमिति सतुतोप द्रव्य विचिन्त्य स्वमसौ सुशोच ॥ १० ॥

जीवातु—लीन इति । असौ नल, अस्त्रं सज्जे सभ्रजे । 'स नद्धो धर्मित-स्तज्जे' इत्यमर । रक्षिजने राजकुलरक्षावीरवर्ग, हेलामवज्ञा दधाविति गर्वोक्ति । लीन (बन्धू शूराऽपि) गृहश्चरामीति हेतोर्हंदा ललज्जे । भैमी द्रक्ष्यामीति सतुतोप । स्व स्वकीय, द्रव्य विचिन्त्य सुशोचेति निर्वोदोक्ति । अत्र गर्वल्लज्जाहर्षनिर्वेदाना बहूना भाषाना परस्पररोपमर्सेन समावेशाद्भावसा-बलतोक्ता ॥ १० ॥

अन्वय.—असौ लीन चरामि—इति हृदा लज्जये, अस्त्रसज्जे रक्षिजने
हेला द्यौं भैमी द्रक्ष्यामि—इति मनुतोष, स्व दूष्य विचित्र्य युशोच ।

हिन्दी—यह (नल) '(बीर होकर भी) अदृष्ट हुआ विचरन कर
रहा है'—यह विचार कर मन ही मन लज्जित हुआ । उसने अस्त्रकारी
रक्षवालों के प्रति अचना—अनादर का भाव धारण किया भीमपुत्रों को
देखूगा—इससे वह प्रसन्न हुआ अपने दूनभाव का विचार कर दुःखी हुआ ।

टिप्पणी—दूरी में भ्रमन करते नल की भावसकुलता का यहाँ चित्रण है ।
लज्जा, हेला (अनादर), तोष और शोक इनका नल के हृदय में उदय
हुए । बीर डिङ्कर प्रविष्ट हो, यह उसके लिए लज्जास्पद है । अस्त्र सज्जित
पहरेदार बीर के लिए नगण्य, उपेक्षायोग्य होते ही हैं, सो हेला । दमयन्ती
को देख सकने की स्थिति पर सतोष हुआ, जो तुरन्त इस सोच से दब गया
कि नल इस समय उसके प्रिय रूप में नहीं, पराये दूत के रूप में उपस्थित
होने जा रहा है । विद्याधर के अनुसार भावसकुलता अञ्जुवार ॥ १० ॥

अयोपकार्यानिमरेन्द्रकार्यात्कस्यानु रक्षाधिकृतैरदृष्ट ।

भैमी दिदृक्षुर्बहु दिक्षु चक्षुर्दिशन्नसौ तामविशद्विषाद् ॥ ११ ॥

जोवानु—अयेति अपानतर, अनी नल, कस्यानु गृहप्रकोठेषु । 'कस्या
प्रकोष्ठे हर्म्यादि' इत्यमर । रणायामपि कृतं, रक्षिजनं, अदृष्टम्भन् भैमी,
दिदृक्षुर्द्रष्टुमिच्छु । अतएव दिक्षु चक्षुर्बहु भूयिष्ठ, दिशन् विशद्विषन्, ता
पूर्वनिदिष्ट, उपकार्या राजनशनम् । 'उपकार्या राजसञ्चनि' इति विश्व ।
अमरेन्द्राणां कार्यात् प्रयोजनात् हनोरविशत् ॥ ११ ॥

अन्वय.—अप कस्यानु रक्षाधिकृतं अदृष्ट भैमी दिदृक्षु दिक्षु चक्षु
बहु दिशन् विशद्वि असी अमरेन्द्रकार्यात् ताम् उपकार्याम् अविच्छत् ।

हिन्दी—तदनन्तर मदन के प्रकोष्ठों में रक्षा-अधिकारियों (प्रहरियों)
को न दीवता, भीममुत्ता (दमयन्ती) को देखने के निमित्त चारों ओर बार-
बार दृष्टि डालना सहाहीन यह (नल) देवराज (इन्द्र) के कार्य से उस
राजगृह में प्रविष्ट हुआ ।

टिप्पणी—देवराज से मिले घर के कारण नल प्रहरियों को न दीव
पटता था, अतएव वह निःशक होकर दमयन्ती को डूँढ रहा था । चोरी से

किसी के घर में जा धुमना विसो सूर-वीर, सज्जन ध्यवित्त का काम नहीं होना, किन्तु नल देवेन्द्र की कार्यसिद्धि के लिए दूतोचित कार्य कर रहा था। रामकथा के हनुमान् भी ऐसे ही लघुलघु धारण करके लका में प्रविष्ट हुए थे। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलङ्कार छैकानुप्रास ॥ ११ ॥

अथ क इत्यन्यनिवारकाणा गिरा विभुर्द्वारि विभुज्य कण्ठम् ।

दृश दधौ विस्मयनिस्तरङ्गा विलङ्घितायामपि राजसिंह ॥ १२ ॥

जोवानु—अयमिति । विभु समर्थ, राजा सिंह इव राजसिंह राजश्रेष्ठ, उपमितसमास । स नल, अथ क इत्यन्यस्य स्वर्घ्यतिरिक्तजनस्य, निवारकाणा, रक्षिणा गिरा वाक्येन (हेतुना) कण्ठ विभुज्य किं दृष्टोऽस्मीति शङ्कया ग्रीवा विवलय्य बक्रीकृत्येत्यर्थ । विलङ्घितायामतिक्रान्तायामपि द्वारि । विस्मयेन कथमेते मामद्राक्षुरित्वाध्वर्येण । निस्तरङ्गा निश्चिन्ना, दृश दधौ । मिहस्य ग्रीवामङ्गेन लङ्घिताध्वदर्शनं युक्तमिति भावः ॥ १२ ॥

अन्वय—विभु राजसिंह—अथ क—इति अन्यनिवारकाणा गिरा कण्ठ विभुज्य विलङ्घितायामपि द्वारि विस्मयनिस्तरङ्गा दृश दधौ ।

हिन्दी—सामर्थ्यशाल बड़ा राजसिंह (राजश्रेष्ठ) 'यह कौन है'—ऐसे किसी और का निवारण करते पहरेदारों के बचनों के कारण गरदन पीछे मोड़कर द्वार को लौंघजाने पर भी आश्चर्य से निश्चल दृष्टि से देखने लगा ।

टिप्पणी—उदय रहकर राजमन्दिर में घूमते सिंह सम पराक्रमी नल ने पहरेदारों की वाणी सुनी—'यह कौन है' ? नल को इस पर आश्चर्य हुआ कि अदृश्य रहते भी उसे पहरेदारा ने कैसे देख लिया ? वस्तुतः प्रहरीया ने किसी अन्य प्रविष्ट होते ध्यवित्त को टोका था, जिसे नल ने अपने प्रति समझ लिया । फिर भी राजसिंह नल डरा नहीं, 'सिंहावलोकन' करते उसने द्वार पार करते हुए पीछे देखा, फिर आश्वस्त हो आगे बढ़ा । विद्याधर के अनुसार जाति और श्लेष का सङ्कर ॥ १२ ॥

अन्त पुरान्तस्म विलोक्य बाला काञ्चित्समालम्बुमसवृतोरुम् ।

निमीलिताक्षः परया भ्रमन्त्या सङ्घट्टमासाद्य चमन्चकार ॥ १३ ॥

जोवानु—अन्तरिति । स नल, अन्त पुरस्यान्तरम्यन्तरे, अव्यमेतत् ॥

सनाल्लुप्तुननुम् । असवृतादननाच्छादितोरेषा, काञ्चिद्बाला स्त्रिय-
विश्लोक्य, निमीलिताशम्भुन् पराङ्गनादर्शनपापनीत्येति भाव । अन्तत्या
तत्र मन्त्ररत्न्या परया स्त्र्यतरेण सङ्घट्टमभिधात आनाद्य, द्वयोरपि दृष्टि-
प्रतिबन्धादिति भाव । धनञ्चकार उन्ञति स्म । चमदित्यनुकारिसद्व ॥

अन्वय—अन्त पुरान्त समालोभुम् असवृताह काञ्चिद् बाला विश्लोक्य
निमीलिताश्च स अमन्त्रा परया सघट्टम् आनाद्य चमञ्चकार ।

हिन्दी—रनिवास के मध्य उदकतन (उदकन, मालिश) के निमित्त आंध
खोले किसी बाला को देखकर आँसु बग्ने लगे वह (नर) घूमती अन्य स्त्री से
टकर साकर चकित हो गया ।

टिप्पणी—नर के अदृश्य रहने के कारण रनिवास की कोई स्त्री वहाँ
पुष्ट्य का होना सोच ही नहीं सकती थी, अतः वे स्वच्छन्दता पूर्वक अपने-अपने
कार्य कर रही थीं । एक स्त्री काथ पर मालिश करा रही थी उसकी धूलो
आँसु को देखना उचित न समझते हुए नर न आँसु मीचली, फल यह हुआ
कि उपर आती एक अन्य स्त्री से टकरा गये, क्योंकि वह स्त्री भी उन्हीं देख
न पायी थी । पर नर को अचरज लगा कि क्यों यह स्त्री मुझसे टकगयी ?
विद्याधर के अनुसार जानि अलकार ॥ १३ ॥

अनादिनगंक्षत्रि वानुभूता चित्रेषु वा भीममुता नलेन ।

जातेव यदा जितशम्बरस्य सा शाम्बरोसिन्यनलक्षि दिक्षु ॥ १४ ॥

जीवानु—जनादीति । जनादी मर्गक्षत्रि मृष्टिपरम्पराया वा, क्वचि-
ज्जानान्तर इत्यर्थ । चित्रेषु आलेख्येषु, अनुभूता । अल्पज्ञानानुभूतेषु अना-
सम्भवादिति भाव । यदा, मास्त्वनुभव इति शेष । किन्तु, जितशम्बरस्य
मादिनोऽपि मायिन, वानस्य शाम्बरोसिन्य मायामृष्टि । 'स्यान्नाया
शाम्बरो' इत्यनर । जातेव, सा भीममुता नलेन दिक्षु अक्षि प्रतिदिश-
मन्श्यत । लक्षे कर्मणि लुङ् । अत्रालीकर्मनीसाक्षात्कारो जन्मातरानुभववादात्
केवलमदनमायाबलादिति हेतु प्रेक्षा ॥ १४ ॥

अन्वय—अनादिसगंक्षत्रि वा चित्रेषु अनुभूता यदा जितशम्बरस्य
शाम्बरोसिन्य वाता एव सा भीममुता नलेन दिक्षु अक्षि ।

हिन्दी—जैसे आदि-हीन सृष्टि की परम्परा में देखो हो, अथवा चित्रो में उसका अनुभव हो, अथवा शबरजयी (काम) की शबर शिल्प (माया) ही हो, ऐसी भीमसुता (दमयती) को नल ने प्रत्येक दिशा में देखा ।

टिप्पणी—राजभवन में चारों ओर दमयती ही दीख रही थी, यद्यपि वह वहाँ थी नहीं । अविद्यमान् दमयती की देखो प्रत्यक्ष करने की तीन सम्भावनाएँ हैं—(१) कभी अनादि सृष्टि परम्पराओं में—जन्मांतर में उसे देखा हो, परन्तु इसका कोई प्रमाण नहीं है, और पूर्व जन्म का स्मरण भी प्रायः नहीं रहता । (२) चित्रगत होने में प्रत्यक्ष हो, पर चित्र के जड़ होने के कारण वह क्रियाहीन होगी । ऐसी दमयती की कल्पना भी उचित नहीं है । (३) मायावी शबरासुरजयी काम की माया का ही वह चमत्कार हो । कदाचित् यह तीसरी स्थिति ही उपयुक्त है । दमयती काम का माया शिल्प ही थी, इसी कारण इतनी मनोहर थी । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेषप्रतीति है, कारण कि अतथ्य दमयती के साक्षात्कार के तीन हेतु समाहित हैं । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास रूपक-विशेष अलंकारों का संकर है ॥१४॥

अलीकभैमीमहददर्शनान्त तस्यान्यकन्याप्सरसो रसाय ।

भैमीभ्रमस्यैव तत प्रसादाद्भैमीभ्रमस्तेन न तास्वलम्बि ॥ १५ ॥

जीवातु—जलीकेति । अन्या कन्या अप्सरस इव । उपमितसमास ।

अप्सर कल्पा अपि कन्या तथत्या स्त्रिय, अलीकभैम्या महददर्शनात्तो तस्य नलस्य रसाय रागाय, नाभवन । ततोऽपि तासामपकृष्टवादिति भाव । तर्हि, कि सारूप्यात्तास्वदपि भैमीभ्रमो नाभूदत आह—भैमीति । तत इति सावविम-क्तिवस्तति । तत तस्य भैमीभ्रमस्यैव प्रसादात्तेन नलेन तास्वतपुरस्त्रीषु भैमीभ्रमो नालम्बि न प्राप्त । अत्यन्तासादृश्यादिति भाव ॥ १५ ॥

अन्वय —अलीकभैमीमहददर्शनात् अन्यकन्याप्सरस तस्य रसाय न, तेन सह भैमीभ्रमस्य एव प्रसादात् तामु भैमीभ्रम न अलम्बि ।

हिन्दी—अतथ्य भीमसुता के साथ देखने से दूसरी कुमारी रूप अप्सरियाँ उस (नल) के राग आनन्द का कारण न बननीं, उस (नल) को उस श्रीमपुत्री के भ्रम के प्रसाद के कारण ही उनमें भीमपुत्री (दमयन्ती) का भ्रम न हो पाया ।

टिप्पणी—राजनवन में अप्सरियों की रमणीय अन्य अनेक कुमारियाँ थीं, परन्तु नल को उनमें अनुराग उत्पन्न नहीं हुआ। यद्यपि दमयन्ती वहाँ दम्पुतः नहीं थी, तथापि अलीक दमयन्ती तो थी, दमयन्ती न रही, दमयन्ती की भ्राति तो थी। इसी अलीक दमयन्ती के साथ भी तुलना करने से अन्य सुन्दरियाँ नल को मनोरम नहीं प्रतीत होती थी और उसका रजन न हो जाता था। विद्याधर के अनुसार रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ १५ ॥

भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्ताद्विरहाद्विहन्त ।

स तामलोकामवलोक्य तत्र क्षणादपश्यन्व्यपदद्विवुद्धः ॥ १६ ॥

जीवानु—भैमीति । भैम्या निराशे सुरैः क्षताशे, हृदि, मन्मथेन दत्तस्व-हस्ताहृतावलम्बाञ्जनित्वादित्यर्थः । विरहाद्विहन्तो विह्वलः, न मन्मथेन अलीका ता भैमीमवलोक्य, क्षणात् विबुद्धं निवृत्तभ्रमः, तत्र तामपर्यन्तं व्यपदत् विद्यगोऽभूत् । अदेसुंङ् । लृटित्वाच्छेरङ्गादेशः । 'सदिरप्रते' इत्यङ्ब्यत्रादेशपि पत्वम् । भैमीसून्यविवोधात्तद्वान् भ्रम एव तस्याशान्त्योऽभवदिति भावः ॥ १६ ॥

अन्वय — भैमीनिराशे हृदि मन्मथेन दत्तस्वहस्तात् विरहात् विहन्त अलीका ताम् अवलोक्य क्षणात् विबुद्धः स तत्र अपश्यन् व्यपदत् ।

हिन्दी—भौमपुत्री (दमयन्ती) से निराश हृदय में काम द्वारा सहारा पाने वियोग से देहाय (विकल), अतथ्य उस (दमयन्ती) को देखकर क्षण बीटते सजग हुआ वह (नल) वहाँ (उस दमयन्ती) को न देखकर व्यथा पाने लगा ।

टिप्पणी—देवों का दूत होकर नल दमयन्ती के प्रति निराश हो गया था, किंतु काम ने अपने हाथों सहारा दे वियोग को उसके हृदय में फिर जगा दिया, इससे नल की व्याकुलता बढ़ गयी। जब उसने अलीक दमयन्ती को देखा तो कुछ चैन मिला, पर जब वह भ्रम हटा तो वह पुनः द्विगुणित कष्ट पाने लगा। काम से 'हाथ पाने' विरह से नल का 'देहाय' हो जाना अमंगल लगता है, यह आश्चर्य है कि 'हाथ पाना' देहाय हो, हाथ दान करने पर तो काम को 'विहस्त' होना चाहिए। इसका परिहार हो जाता है 'हस्त' का 'सहारा—अवलम्ब' और 'विहस्त' का 'व्याकुल' अर्थ करने पर। इस प्रकार विरोधाभास अलंकार। विद्याधर के अनुसार भावोदय अलंकार ॥ १६ ॥

प्रिया विकल्पोपहृता म यावद्दिगीशसन्देशमजल्पदल्पम् ।

अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभवो रवस्तावदचेतयत्तम् ॥ १७ ॥

जीवातु—प्रियामिति । स नल, विकल्पोपहृता विभ्रमोपनीता, प्रिया दमयन्ती, यावद्दिगीशसन्देश इन्द्रादिवाचिक, अल्पमजल्पदल्पयत् । तावददृश्यया अलक्ष्यकर्तृकया, वाचा हेतुकर्म्या, भीषिता विनासिता । 'भियो हेतुभये पुक्' । ताश्च ता भूरयोऽनेका भीरवो भयशीला स्त्रिय ताभ्यो भवतीति तद्भवो रव कलकल, त नलमचेतयदवोधयत् । चेततेर्भौवादिवात् णिच् ॥ १७ ॥

अन्वय—स विकल्पोपहृता प्रिया यावन् दिगीशस-देशम् अल्पम् अजल्पत् सावत् अदृश्यवाग्भीषितभूरिभीरुभव रव तम् अचेतयत् ।

हिन्दी—वह (अदृश्य रहता नल) भ्रम के कारण कल्पित प्रिया (दमयती) से जब दिग्पालो का सदेश घोडा सा बोला तब ही न दीखती वाणी से डरी अनेक डरपोक स्त्रियो द्वारा मचाये कोलाहल ने उसे सावधान कर दिया ।

टिप्पणी—देव-वर से अपनी काया अदृश्य किये भ्रमकल्पित अलोक दमयन्ती से नल ने दिग्पालो के सदेश के कुछ घब्द कहे ही थे कि नारी मण्डली मे भीषण कोलाहल मच गया । अदृष्ट व्यक्ति के वचन सुनकर वे भीष नारियाँ समझी कि कोई भूत-प्रेत-बाधा आ पड़ी है, जो दून्य मे से स्वर सुन पड रहा है और वे डर कर बिल्ला पडी । इससे नल ने अपनी भूल समझी कि वह यह क्या कर रहा है कि अदृश्य रह कर बोल रहा है ? तब नल सावधान हुआ और चुर हो गया । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और कान्ति भावोद्भय अलंकार का सकर ॥ १७ ॥

पश्यन् स तस्मिन्मरुतापि तन्त्रया स्तनो परिस्पष्टुमिवास्तप्रस्त्री ।

अशान्तपक्षान्मृगाङ्कमास्य दधार तिर्यंग्वलित विलक्ष' ॥१८॥

जीवातु—पश्यन्निति । स नल तस्मिन्मरुतपुरे मरुतापि अचेतनेनापीति भाव । परिस्पष्टु सस्पष्टुमिव । अस्तवस्त्री अपनीताशुको तस्या स्तनो पश्यन् विलक्षो विलज्जितस्मन्, अशान्तपक्षा तमृगाङ्क, अशान्त असौड पक्षात् पौर्णमास्या मृगाङ्क चन्द्रो येन तदास्य, तिर्यंग्वलित साचीवृत्तम् । दधार पृतवान् । यत्राचेतनस्य वायोरपि चपलता तत्राय निविकार एवेत्यहो जितेन्द्रियत्वमस्येति भाव ॥ १८ ॥

अन्वय—अग्निं मरुता अग्निं पश्चिद्भृशं देव उन्व्याः अन्वयन्त्री स्तनीं पश्यन् विदुषः स अजान्तरिक्षान्तनृगाङ्गुलं आन्वयं निषङ्क्ं बलिष्ठं दधार ।

हिन्दी—वहाँ (अन्तपुर में) वायु (देव) द्वारा भी परिस्वयं के निमित्त जैसे कोमलापी (सुन्दरी) के बन्ध उठा दिये जाने से उघड़ गये स्तनों को देख दुश्चिने (विनय) उम (नल) न पञ्जात (पूर्णिमा) के चद्र को बसहून करते मुख को तिरछा कर लिया ।

टिप्पणी—अन्तपुर में किसी स्त्री का बाँधल वायु से उठ गया और उमके स्तन उघड़ गये । इस पर कवि-कल्पना है कि जवेनन पवन नहीं, मरुत देव सुन्दरी पर आकृष्ट हो उसका कुचमर्दन करना चाहते थे । नल उज्वन था—उत्तम नायक । वह मला किसी नगी स्त्री को कैसे देखता, फलस्वल्प उमने अपने पूर्णिमा के चद्र को लज्जित करने वाला अपना मुख मोट लिया । प्रकाशकार के अनुसार प्रच्छन्न कामुक-समाय-काल में चद्र 'तिरोधान' उचित है, यह ध्वनित होता है । नल का चद्रमुख दृष्टी कारण 'तिर्यन्वलि' हुआ । अन्विलनाप ने दसने नल की त्रितेन्द्रियता का मकेत किया है । त्रिच सुन्दरी-कुचमर्दन ने अचेतन वायु को भी आकृष्ट कर लिया (अथवा मरुतदेव को भी चलचिन कर दिया), उस पर भी नल के मन में जाकर्षण नहीं उत्पन्न हुआ । अद्भुत त्रितेन्द्रिय था नल ! विद्याधर के अनुसार यहाँ उद्रेक्षा-उपमा-भावोदय अलंकारों का सङ्कर है ॥ १८ ॥

अन्तपुरे विम्बुनवागुरोर्जिष वागवलीना बलिनैर्गुणोषः ।

न कालमार हरिण तदक्षिद्वन्द्वं प्रभुर्दन्तुमभून्मनोन् ॥ १९ ॥

जीवानु—जन्तरिति । अन्तपुरे बालावलीना श्रीसमूहाना, वदयोरभेदाद्रो-मत्रनूहाना च, बलिनै पुन पुन प्रवृत्तं वावतिर्जिष गुणाना कटाक्षविधेगादीना नूनाणा चौर्धं विस्तृतवागुर प्रमारितनृवावयनीकोर्जिष । 'वागुरा मृगवयनी' इत्यमरः । मनोन् न एव मानुरिति शेषः । तस्य नलस्यापिद्वन्द्वमेव काल-मारम्, कृष्णानारम्, जसिद्वयन्तु कालेन कनीनिकाकाप्येन सार श्रेष्ठ, हरिणश्च बन्धुमाकृष्टु मयन्तु च प्रभु शक्तो नानूत् । त्रितेन्द्रियवाइत्यति नावः । अत्राश्यादिषु हरिणत्वादिरूपानाननोनुवां मृगसुत्वं गम्यत इत्येकदेश-वतिरूपम् ॥ १९ ॥

अन्वय—अन्तपुरे बालावलीना (बालावलीना) वलितं गुणीषं विस्तृतवागुर अपि मनोभू तदसिद्धन्द कालसार हरिण बन्धु प्रभु न भ्रमत् ।

हिन्दी—अन्तपुर में बालाओं के बारम्बार किये जाते सविलास गुण-समूहों (नृत्य, गीत, अगड़ाई आदि के सौन्दर्य) रूप 'बाल' समूहों की बटी (गुण समूह) रस्सियों का जाल बिछाय कामदेव (आखेटक) उस (नल) के सुन्दर पुतलियों से युक्त नयनयुगलरूप कृष्णसार हिरन को फाँसने में समर्थ न हो पाया ।

टिप्पणी—यहाँ काम को आखेटक, नल के नेत्रयुगल को आखेट हरिण और 'बबयोरभेद' के आधार पर बालावली के गुणसमूह (सौन्दर्यादि) को बालों से बटी रस्सी बताया गया है, जिसकी 'वागुरा' (जाल) में कामरूपी आखेटक नल नयनयुगल हरिण को फाँसना चाहता है, पर यह हो न सका । कारण कि नल जितेन्द्रिय था, एक दमयन्ती का अनुरागी था । उसके नेत्र अथ रमणी-सौन्दर्य पर आकृष्ट हो ही नहीं सकते थे । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ एक-देशविधिति रूपक है, क्योंकि अक्षि आदि में हरिणत्व आदि के रूपण द्वारा काम का आखेटकत्व गम्य बना है । विद्याधर के अनुसार यहाँ विद्येपोक्ति-रूपक की मसृष्टि है ॥ १९ ॥

दोर्मलमालात्रय कंच दृष्टमोस्तत कुचो तावनुलेपयन्त्या ।

नाभीमथैप दलयवाससोऽनुमिमौल दिक्षु भ्रमकृष्टचक्षु ॥ २० ॥

जावानु—दोरिति । एष नर , कंच केशपास, दृष्टसो' रोद्धु बन्धुमिच्छो', कस्याश्चिद्दोर्मल बाहुमूलमालोक्य । ततोऽनन्तर, कुचावनुलेपयन्त्या तौ कुचावा-लोक्य, अथ दलयवासस सस्ताशुकाया, नाभीमालोक्य, अनन्तर, दिक्षु पुर पास्वभागेषु क्रमेण कृष्टचक्षु प्रत्याहृतदृष्टि सन्, मिमील निमीलितासोऽ-भूत् । तत्र तथा यद्येष्टचेष्टे स्त्रीमण्डले तस्य पापभीरोन्नेत्रनिमीलनमेव प्राप्त मित्यय ॥ २० ॥

अन्वय—कंच दृष्टसो दोर्मलम्, तत, कुचो अनुलेपयन्त्या तौ, अथ दलयवासस नाभीम् आलोक्य दिक्षु भ्रमकृष्टचक्षु एष अनुमिमीत् ।

हिन्दी—केश बांधन की दृष्टक (किसी सुन्दरी) के भुजमूल, तदनन्तर स्वना पर श्लेष करती वे (स्तन), तत्पश्चात् ढीले बस्त्र किये (सुन्दरी)

को नाभि देखकर चारों ओर कनक दृष्टिपात्र करते उस (नर) ने तदनन्तर नेत्र नीच लिये ।

टिप्पणी—बलरूप नर को अन्तपुर में विभिन्न सुन्दरियों नांति-नांति के ऐसे व्यवहार करती दिखायी दी, जिन्हें वे न करतीं, यदि वे जानतीं कि किसी पुरुष की आँखें उन्हें देख रही हैं । विवेन्द्रिय और उत्तम नायक नर को विवशतः ऐसे दृश्य गोचर हो रहे थे, फल स्वरूप उसने वे दृश्य न देखने के लिए अपने नेत्र बन्द कर लिये । नर को लगा कि यह पाप है और अतएव अनुचित है । विद्याधर के अनुसार दीनक और नाशोदय अलंकार का सङ्कर ॥ २० ॥

मोलक्ष शैकेर्मिमुखागतान्या धर्तुं निपीड्य स्तनशान्तराम्यान् ।

स्वाङ्गान्पेनो विजगौ स पश्चात्पुनङ्गसङ्गोभुक्के पुनन्ते ॥२१॥

जीवानु—मोलनिवृत्ति । मोचनिमोलिनाश, स नर, अमिमुखमन्वोन्पा-
निमुखनागतान्या तयानि स्तनान्या निमित्तेन शान्तराम्या सन्वयधानान्या
कान्याचित् स्त्रीन्मा निपीडय मध्ये निदम्य धर्तुं प्रहीनु, न शैके उक्तो नाम्नुत् ।
स नरः, पश्चादपेनोऽपनृत् स्वाङ्गानि विजगौ, परस्त्रीस्तनशंशोपाद्विवन्हे,
निनिन्द । ते स्त्रियो पुन, पुनोऽङ्गसङ्गेन उभुक्के सदात्तरोनाञ्चे जाते ।२१।

अन्वय—मोलन् स अमिमुखागतान्या स्तनशान्तराम्या निपीड्य धर्तुं
न शैके, पश्चात् अनेन स्वाङ्गानि विजगौ, पुन ते पुनङ्गसङ्गोभुक्के ।

हिन्दी—आँखें बंद किये यह (नर) सम्मुख आतीं, (उच्च) स्तनों के
कारण व्यवधान रखतीं, दो (सुन्दरियों) के द्वारा (अपने मध्य में) न
दबाया जा सका, उनके मध्य से निकल कर अपने अंगों की विशेषतया निदा
करने लगा, (कृत्य) उन (दोनों सुन्दरियों) के आ पुरसाणों से टकरा
जाने के कारण पुलकित हो गये ।

टिप्पणी—आँखें बंद करते नर को कुछ दीखता नहीं था, अतएव नर
को सुन्दरियों भी न देख पाती थीं । परिमाण हुआ कि दो विस्द दिशाओं
से आती सुन्दरियों के बीच फँस कर वह उनके अंगों से टकरा गया । परन्तु
दो के बीच फँसा भी नर दबकर पीड़ित नहीं हुआ, क्योंकि उन दोनों के
स्तन इतने सन्नत थे कि नर उनके स्तनों की नोकों के बीच ही आ पाया और

निकल गया, क्योंकि सुन्दरियों के वक्षस्थल परस्पर न मिल पाये थे। पर नल की आशंकावादा के यह प्रतिकूल था कि वह पर स्त्रियों का (अनजाने ही सही) कुचस्पर्श करे, फलन उसने अपने उन अंगों को गर्हणास्पद माना, जो परस्त्री कुच-सस्पर्श के दोषी हो गये थे। उन दोनों के स्तन धूँक पुष्प के अंगों से छू गये थे, अतः वे रोमांचित हो उठी। विद्यापार के अनुसार हेतु और भावोदय अलंकार है ॥ २१ ॥

निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्या कदधितस्ता कलयन् कटाक्षै ।

म रागदर्शीव भृश ललज्जे स्वत सता ह्यो परतोऽपि गुर्वी ॥ २२ ॥

जीवातु—निमीलनेति । निमीलन च स्पष्टविलोकनञ्च तान्या कदधित निपिद्वस्पर्शनदोषोद्धेजित । स नल , ता स्त्रिया , कटाक्षै . कलयन् निविकल्पेन गृह्णन् । रागेण पश्यतीति रागदर्शी, स इव भृश ललज्जे । कष्ट कामुकदृष्ट्या पश्यामीति भृश परितप्तोऽभूदित्यर्थ । नन्वप्रकाशेऽर्थे का लज्जा तत्राह—सता मत्पुरुषाणा परतोऽपि स्वत एव ह्योगुर्वी, अकामादप्यकार्यकरणे परस्मादपि स्वस्मादेव लज्जते सज्जन इत्यर्थान्तरन्यास ॥ २२ ॥

अन्वय—निमीलनस्पष्टविलोकनाभ्या कदधित। ता कटाक्षै कलयन् स। रागदर्शी इव भृश ललज्जे, सता परतः अपि स्वत ह्यो गुर्वी ।

हिन्दी—आँखें मूदना और खोलकर देखना—दोनों से पीड़ित उन (सुन्दरियों) को कटाक्षा (अर्द्ध निमीलित नेत्रों) से देखता वह (नल) अनुराग सहित देखते पुरुष की भाँति अत्यधिक लज्जित हुआ। सज्जना को अन्यजनों की अपेक्षा अपने से ही लज्जा अधिक होती है ।

टिप्पणी—लज्जाहीन व्यापार करती सुन्दरिया के दृष्टिगोचर हो जाने से नल को अनुचित लगता तो वे आँखें-मूदकर चलने लगते । इससे उनके चरीर से आती जाती सुन्दरियाँ टकरा जाती । यह और भी अनुचित लगता । दोनों स्थितियों में अचरार्थ बोध से पीड़ित नल ने यह उचित ममता कि कुछ आँखें खोलकर अथवा एक क्षण बंदकर दूसरे क्षण आँखें खोलकर चला जाय । इस पर नल की प्रतीत हुआ कि यह अर्द्धनिमीलित नेत्रों से देखना तो अनुराग-व्यापार-बोधक कटाक्ष है, यह तो और भी लज्जास्पद है । एक स्वरूप वे अत्यधिक लजाये । प्रश्न हो सकता है कि उनकी ऐसी स्थिति को जब कोई

देव ही नहीं रहा था, तो उनको लज्जा क्यों व्यापी ? इसी के उत्तर में यह मित्रात बचन कहा गया—‘स्वतः सत्ता ह्यी। परतोऽपि गुर्वी,’—सज्जनो को स्वतः ही अनौचित्य पर लज्जा लाती है, अन्य की अपेक्षा उन्हें नहीं होती । मन्त्रिणाथ के अनुसार अयान्तरवास, विद्याधर ने काव्यलिङ्ग-उपमा-अयान्तर व्यास के सत्कर का निर्देश किया है ॥ २२ ॥

रोमाञ्चिताङ्गो मनु तत्कटाक्षैर्भ्रान्तेन कान्तेन रतेऽनिमृष्टः ।

मोघं शरीषं कुमुमानि नानृतद्वैर्षपूजा प्रति पर्यवस्यन् ॥ २३ ॥

जीवातु— रोमाञ्चतेति । रोमाञ्चिताङ्गो मनु पुनङ्गसङ्गात् पृङ्कित-गात्रीमुद्दिश्य, तस्य नन्व, कटाक्षं कटाक्षवीर्यं, भ्रातेन अयमस्यामनुरक्त इति मन्त्रानेन, रते वातेन कामेन, निमृष्टं प्रयुक्तं कुमुमान्येव शरीषं तस्य नन्व, धैर्यस्य निर्विकारचित्तत्वस्य पूजा प्रति पूजाया पर्यवस्यन् पूजात्वेन परिणमन् । मोघो व्यर्थो नानृतः । शरीरपि गुणः पूज्यो भवेदिति भावः । अत्र नन्वधैर्येनङ्गार्यं प्रयुक्तस्य कुमुमजालस्य, न केवलं तदमन्वञ्चन्व प्रयुक्तं तत्पूज-कन्वमापन्नमि यनयोत्पत्तिलक्षणो विपमालङ्कारः ॥ २३ ॥

अन्वय — रोमाञ्चिताङ्गो मनु तत्कटाक्षैर्भ्रान्तेन रते कान्तेन निमृष्टं कुमुमानि शरीषं तद्वैर्षपूजा प्रति पर्यवस्यन् मोघं न अनृतः ।

हिन्दी—(‘पुनङ्गसङ्गो मनु’—गुरुय अर्गों के समग से) रोमाञ्चित सुन्दरी की ओर उसके अर्ध-निमीलित दृष्टि डालने (कटाक्ष) के कारण भ्रम में पड़े रति-प्रिय (काम) द्वारा प्रयुक्त पुष्प रूप धान-समूह उस (नन्) के धैर्य की पूजा में परिणत होता व्यर्थ न हुआ ।

टिप्पणी—जैसा कि पूर्व श्लोक में निर्दिष्ट है कि नल ‘निमीलितस्य दृष्टि-विशेष’—दोनों से ‘कर्दपट’ हो अर्ध निमीलित नेत्र करके संचरण करने लगे । जैसा नल ने स्वयं विचारा था, काम को भी भ्रम हुआ गया कि नल उस ‘रोमाञ्चिताङ्गा’ के प्रति अनुरक्त हो गया है (रति (अनुरक्ति) का पति जो ठहरा काम !), अतः उसने नल पर अपने पुष्प-बाण छोड़ दिये । त्रितेन्द्रिय, कामत्रयो नल पर वे व्यर्थ ही जाते, पर हुए नहीं । अपना वास्तु-विक्रम कार्य तो वे कर न सके, नल के अनुपम धैर्य की पूजा निमित्त अर्पित पुष्पों के काम टहलाने अपनी सायंकता पा ली । पराजित काम ने अपने अस्त्रों

को जयी नल को समर्पित कर उसकी श्रेष्ठता स्वीकार ली। मल्लिनाथ ने इस श्लोक में विषय अलंकार माना है, क्योंकि नल के धर्म भग के हेतु प्रयुक्त 'शरीर' न केवल धर्म के अमजक प्रमाणित हुए, उल्टे उसकी पूजा के उपयुक्त सिद्ध हो गये, यह अनर्थ (अनचाहा, उलटा) हुआ। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार। 'चद्रक्लाख्या'—कार ने मल्लिनाथ के अनुसार विपमालंकार का निर्देश करते हुए 'कृसुमानि शरीर' में व्यस्त रूपक माना है और विषम रूपक के अगाधिभाव सकार का निर्देश किया है ॥ २३ ॥

हित्वैव वत्सकमिह भ्रमन्त्या स्पर्शं स्त्रिया सुत्यज इत्यवेत्य ।

चतुष्पथस्याभरणं बभूव लोकावलोक्य सता स दीपः ॥२४॥

जीवातु—हित्वेति । सता स दीपं मुजनश्रेष्ठ, सता भावना प्रकाशक प्रदीपश्च स नल । इह अन्तःपुरे भ्रमन्त्यास्सञ्चरन्त्या स्त्रिया स्पर्शं एकमभिध्र वत्सं हित्वैव सुत्यज इत्यवेत्य निश्चित्य लोकावलोक्य सञ्चारिजनदशनाय । अन्यत्र, लोकानां जनानां व्यवहाराय । चतुर्णां पथा समाहारं चतुष्पथ, 'तद्धिताय' इत्यादिना समाहारे द्विगु 'शृङ्गपूरुषु—' इत्यादिना समासान्तः । 'पथ-स्सख्याव्ययादे' इति नपुंसकत्वम् । तस्य आभरणं बभूव । अत्र स्थित इत्यर्थः । विलम्बमागे स्त्रीसवाधाद्विलम्बे चतुष्पथे स्थित्वा समन्तादवलोकितवन्-नित्यर्थः । चतुष्पथस्यां दीपा लोकावलोक्य कल्पत इति ध्वनिः ॥ २४ ॥

अन्वयः—इह भ्रमन्त्या स्त्रिया स्पर्शः एक वत्सं हित्वा एव सुत्यज—इति अवेत्य सता दीपः स लोकावलोक्य चतुष्पथस्य आभरणं बभूव ।

हिन्दी—यहाँ (अन्तःपुर में) विचरण करती स्त्री का स्पर्श 'एकपदी' (गली का सकीर्ण मार्ग) छोड़कर ही बचाया जा सकता है—यह समझ कर सज्जनो का दीपक (श्रेष्ठ) बहू (नल) लोकरजनों के देखने के निमित्त चौराहे का आभूषण बन गया ।

टिप्पणी—नल ने परस्त्री-स्पर्श दाप बचाने के लिए अन्तःपुर का सकीर्ण मार्ग छोड़कर बड़ा चौराहे का मार्ग अपनाया ठीक समझा और वे सकीर्ण मार्ग छोड़ चौराहे पर आ गये । कवि ने नल को यहाँ 'सता दीप' विशेषण देकर केवल सज्जन-श्रेष्ठ ही कहा, प्रत्युत उह लोक मार्ग-दशक (कृतव्याकर्तव्य-निर्देशक) भी बताया । जैसे चौराहे पर रखा दीपक सबको मार्ग दिखाता है, वैसे ही नल ने भी लोक के सम्मुख आवरण का आदेश उपस्थित किया । वे

‘चतुष्पद’ के ‘आभरण’ बने, चौराहे जहाँ चारों दिशाओं को बलकृत बनाने वाले—सब के कर्तव्य प्रेरक बने। मन्त्रिणाथ के अनुसार यहाँ यह ध्वनि है कि चौराहे पर दीनक लोकादलोकर के लिए रखा जाता है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिपि अलंकार ॥ २४ ॥

उद्धृतंयन्त्या हृदये निपत्य नृपस्य दृष्टिर्न्यवृन्दद् द्रुतेव ।

विद्योगिवंरात् कुचयोर्नखाङ्कुरैरधेन्दुलीलैर्गल्हन्तितेव ॥ २५ ॥

जीवानु—उद्धृतंयन्त्या इति । नृपस्य दृष्टिर्हृदयंयन्त्या तात्रनुग्माञ्जयत्या , हृदये वसति, निपत्य अधेन्दुलीलैरधेन्दुलीलैः, कुचयोर्नखाङ्कुरैः कर्तुमि, विद्योगिषु वंरादिन्दुप्रमुखाविरोधात् । गले हस्तो गल्हन्ति तद्वती कृता गल्हन्तिना हस्तेन गले गृहीत्वा मुनेवेत्सुभ्रैश्चापं । मन्त्रिणात् करोतीति निषि पाविष्टवद्भावे विमत्तोलङ् । तत कर्मणि क्त । ‘अधेन्दुस्त्रयकले गल्हस्तनखाङ्कुरो’ इति विश्वः । इत् त्वरितेव न्यवृत्त् न्यवृत्ति । पाप-भयादिति भाव ॥ २५ ॥

यन्त्रय — नृपस्य दृष्टि उद्धृतंयन्त्या हृदये निपत्य अधेन्दुलीलैः कुचयोर्नखाङ्कुरैः विद्योगिवंरात् गल्हन्तिना एव द्रुता एव न्यवृत्तत् ।

हिन्दी—राजा नन्) की दृष्टि गात्रोन्माञ्जन (उबटन) करती (सूदरी) के वस पर पहकर अधेन्द्र (बाया चद्रमा—गरदनिया देना) की लीला (समानता) करते (अर्द्धचन्द्राकार) नख-बिहूँ द्वारा मानो विरहिजनी से वर के कारण गरदनिया (नन् पहकर निकाल देना) दी गयी सद्यः सतिति ही वापस हो गयी ।

दिष्पणी—कोई स्त्री नम हो अपने शरीर पर उबटन कर रही थी, नन् की दृष्टि उसके वस स्थल पर जा पड़ी, जहाँ कुचयुग्म पर प्रानी के नख-बिहूँ बने हुए थे । नन् ने उस अदर्शनीय दृश्य में सट अपनी दृष्टि हटा ली । नख-बिहूँ अर्द्धचन्द्राकार थे, जिन पर पड़ी दृष्टि सट हटा ली गयी थी । ‘अर्द्धचन्द्र’ गरदन पकड़ कर बाहर कर देने की क्रिया ‘गरदनिया’ को भी कहते हैं । इस पर कवि ने कल्पना की कि प्रतिबद्ध स्थान पर पहुँची दृष्टि का मानो गरदनिया देकर तुरन्त बाहर कर दिया गया । यहाँ कारण बताया गया है ‘विद्योगि-वंर’ । स्त्रियों पर मूर्त-नख बिहूँ विरहोद्दीपक होने से

विरही के वैरी हुए, सो विरहिणी नल-दृष्टि को तुरन्त गरदन पकड़ बाहर कर दिया गया उत्प्रेक्षा अलंकार ॥ २५ ॥

तन्वीमुख द्रागधिगत्य चन्द्र वियोगिनस्तस्य निमीलिताभ्याम् ।

द्वय द्रढीय कृतमीक्षणाभ्या तदिन्दुता च स्वसरोजता च ॥२६॥

जीवातु—तवीति । तन्वीमुखमेव चन्द्र व्यस्तरूपकम् । द्रागधिगत्य हठाद् दृष्ट्वा निमीलिताभ्यामिति भाव । वियोगिनस्तस्येक्षणाभ्या तस्य तवीमुख स्येदुता च स्वयो सरोजता चेति द्वय द्रढीयो दृढतर कृतमित्युत्प्रेक्षा । अथवा कथ तत्प्रतिघो तयोर्निमीलनमिति भाव ॥ २६ ॥

अन्वय —तन्वीमुख चन्द्रं द्राक् अधिकृत्य वियोगिन तस्य निमीलिताभ्याम् ईक्षणाभ्या तदिन्दुता स्वसरोजता च—द्वय द्रढीय कृतम् ।

हिन्दी—कृशागी (सुदरी) के मुख रूप चद्र को सहसा देखकर वियोगी उस (नल) के मुँदे नेत्रो ने उस (तन्वी) के मुख का चद्र होना और अपना (नेत्रो का) सरोज (कमल) होना—दोनों को दृढतर कर दिया ।

टिप्पणी—किमी सुदरी का चद्रमुख देख कर नल ने क्षट नेत्र बंद कर लिये, उसी प्रकार कि जैसे, चद्र को देखकर कमल मुद जाते हैं । इस क्रिया से उत्प्रेक्षित हो गया कि यह कथन सत्य है कि चद्र दर्शन से कमल मुंद जाते हैं, केवल तथा कथित 'कविसमय' ही नहीं है, अथवा कृशाङ्गी चद्र मुखावलोकन से नल के 'सरोजेषण' बयो निमीलित हो जाते ? महिलाप के अनुसार 'तन्वीमुखम् चन्द्रम्' मे व्यस्तरूपक है और 'इन्दुता' तथा 'सरोजता' का 'दृक् करना' मे उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार यही रूपक हेतु अनुमान-अतिशयोक्ति का सकर है ॥ २६ ॥

चतुष्पथे त विनिमीलिताश्च चतुर्दिगेता सुखमग्रहीष्यन् ।

सपथ्य तस्मिन् भूशभीनिवृत्तास्ता एव तद्वर्त्म न चेददास्मन् । २७॥

जीवातु—नन्वङ्गसषट्पदानन्तर तास्त किमिति न दृष्ट्वा तीक्ष्ण आह—चतुष्पथ इति । चतुष्पथे, विनिमीलिताश्च त नत्म् । चतुर्मुखो दिग्म् । एता आगता । आङ्गुष्ठादिण कतरि का, उत्तरपदमभास । तास्मुत्तमकलशेन अग्रहीष्यन् दृष्ट्वा तस्मिन् सपथ्य अभिहत्य । आधारत्वविवक्षाया सप्तमी ।

मृगया गाटया मिया निवृत्तास्ता एव तत्स्य नलम्प्य वस्मं नादास्यन् न ददु-
श्चेत् । त्रितु, स्वयमेव अस्य नूतगङ्कया मार्गं दत्त्वा नपात् पलायिताता ताता,
कुतस्तद्ग्रहणघाष्टपमित्यर्थं । नियानिपत्तो लङ् ॥ २७ ॥

अन्वय — चतुष्पये विनिमीलिताः त चतुर्दिता ता तस्मिन् सघट्टय
मृगभीनिवृत्ता एव तद्वर्षं न अदास्यन् चेत् सुस्तम् अप्रहीष्यन् ।

हिन्दी—चौराहे पर नेत्र दब कर छडे उस (नल) को चारों ओर से
आती वे (मुन्दरियाँ) उसने टकराकर अघात रूप में ही अलग हो जाती
यदि उस (नल) को मार्ग न देती तो उसे सरलता से पकड़ लेतीं ।

टिप्पणी—अदृश्य नल चौराहे पर आखें मूढ़ छडे ये । इधर-उधर आती-
जातीं स्त्रियाँ उनसे टकराती और डरकर भाग जाती । यदि वे ऐसा न करती
तो नल का सरलता से ही पकड़ लेनी । पर वे डर गयी और भाग चलीं,
नल को न पकड़ सकी । विद्याधर के अनुसार कान्यलिङ्ग और नावोदय
बलञ्जर का सकर है ॥ २७ ॥

सघट्टयन्त्यास्तरसात्मभूपाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी ।

दिशा नितम्ब परिधाप्य तन्व्यास्तत्पापमन्नापमवाप भूप ॥ २८ ॥

जीवातु—सघट्टयन्त्या इति । तरसा सघट्टयन्त्या अनिघ्नन्त्यास्तव्या,
आत्मनो भूपाहीराणा भूपणवज्याणा, अङ्कुरेषु कोटिषु प्रोत सक्न दुकूल
हरतीति तद्वारी भूप, नितम्ब तस्या कटि दिशा परिधाप्य सबस्य दिग्म्बर
कृत्वा । तत्पापेन वस्त्रापहरणपापेन सत्पापमवाप ॥ २८ ॥

अन्वय — तरसा सघट्टयन्त्या तन्व्याः आत्मभूपाहीराङ्कुरप्रोतदुकूलहारी
भूपः नितम्ब दिशा परिधाप्य तत्पापसत्पापम् अवाप ।

हिन्दी—वेग से टकरा जाने वाली वृषागो (मुन्दरी) के दुपट्टे का
अपन (नल के) आभूषण में जडे हीरे की नोक में अपहरण करते हुए
(मुन्दरी के) निम्ब को दिग्मात्र से टरकर (उघाड कर) राजा ने उस
पाप के मत्प को प्राप्त किया ।

टिप्पणी—राजा नल अदृष्ट हो ये, पर हीरक जटिल आभूषण पहिने
ये । कोई मुन्दरी वेग से उनसे टकरापी, उसका दुकूल उनके आभूषण में
जडे हीरे की नोक में उलझ कर रह गया और उसका निम्ब दिग्बर (नल)

हो गया । राजा को लगा कि यह पाप हुआ और वह दुःखी होकर विचारने लगा कि अच्छा होता कि मैं आमूषण न पहिने होता ऐसा पाप तो न होता । चीरहरण हो गया उससे ! विद्याधर के अनुसार छैकानुप्रास-काव्यलिङ्ग-भावोदय का सङ्कर ॥ २८ ॥

हृतं कयाचित्पथि कन्दुकेन सघट्यभिन्नं करजैः कयापि ।

कयाचनात् कुचकुङ्कुमेन सभुक्तकल्पं स वभूव ताभि ॥ २९ ॥

जीवातु—हृत इति । स नल, पथि कयाचित्कन्दुकेन हृत । कयापि सघटप अभिहरणं करजनैर्हृमिन्न । कयाचन, कुचकुङ्कुमेन अक्तो लिप्त । एव ताभि सम्भुक्तप्रायो वभूव ॥ २९ ॥

अन्वय—कयाचित् पथि कन्दुकेन हृत कया अपि सघटप करजं मिन्न कयाचन कुचकुङ्कुमेन अक्त स ताभि समुक्तकल्प वभूव ।

हिन्दी—किसी ने मार्ग में गंद से मार दिया, किसी ने टकराकर नखों से विदीर्ण किया और किसी ने कुच कुङ्कुम से लिप्त कर दिया । (इस प्रकार) वह (नल) उन (सुन्दरियों) द्वारा भोगा गया जैसा हो गया ।

टिप्पणी—जो कुछ किया सुन्दरियों ने किया, नल ने नहीं । उसका अपराधी वह नहीं, क्योंकि वह तो अकर्ता है । कर्तृत्व सुन्दरियों में है । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ २९ ॥

छायामय प्रैक्षि कयापि हारे निजे स गच्छन्नथ नेक्ष्यमाण ।

तच्चित्तयान्तनिरचायि चारु स्वस्यैव तन्व्या हृदय प्रविष्ट ॥ ३० ॥

जीवातु—छायामय इति । कयापि स्त्रिया निजे हारे छायामय प्रतिविम्बरूप, स नल, प्रैक्षि प्रैक्षित । ईक्षते वमणि लुङ् । अथ गच्छन् अपसरन्, अत एव नेक्ष्यमाण अनिरीक्ष्यमाण मत् । स चित्ते यस्यास्तया तद्गमिन्तचित्तया तन्व्या, स्वस्यैव हृदय प्रविष्ट इति अतएव चरणं चारु साधु निरचायि निदिशत । स छायानल, तद्देशातिक्रमात्तस्या हारादेवापेतो न चित्तादिति सौन्दर्यानिशयोक्ति ॥ ३० ॥

अन्वय—स कया अपि निजे हारे छायामय प्रैक्षि अथ गच्छन् न ईक्ष्यमाण तच्चिन्तया तन्व्या स्वस्यैव हृदय प्रविष्ट इति चारु अत निरचायि ।

हिन्दी—उस (नल) को किसी (स्त्री) ने अपने हार में प्रतिच्छादित

(प्रतिबिम्बित) देखा, तदनन्तर अन्यत्र चले जाने से न दीखने पर तराजु-विता कृपायी द्वारा 'अग्ने ही हृदय में प्रविष्ट हो गया — ऐंता मन में सुन्दर निर्गम किया ।

टिप्पणी—हार में नञ का प्रतिबिम्ब देखकर ही कोई तबगी उस पर मुग्ध हो गयी और वह उनके हृदय में समा गया और तबगी विरह-पीडिता हो गयी । मञ्जिनाय के अनुसार सौन्दर्यातिशयोक्ति और विद्याधर के अनुसार भावोदय अलंकार ॥ ३० ॥

तच्छायमौन्दर्यानिपीतशैवीः प्रपेकमालिङ्गदनु रतीशः ।

रतिप्रतिद्वन्द्वतमानु नून नानूपु निर्गोतरतिः कथञ्चित् ॥ ३१ ॥

जोवातु-तच्छायेति । रतीशः काम तस्य नग्न्य छाया तच्छाय, मयि-कुट्टिनादिगत तलप्रतिबिम्बम् । 'विनाया सेतानुपच्छायागागानिशानानु' ननु मरत्वम् । तस्य सौन्दर्येण निपीतशैवीं अनु स्वोः प्रपेकनेकैकानेवालिङ्गत् । अशोभ्रेऽपते-रते देव्या प्रतिद्वन्द्वतमानु रतिनदृशीःष्वनुपु मये च रतीशः, कथञ्चिदपि निर्गोतरतिनिर्दिष्टनिवन्शीको नानूपु । नूनम् अल्पया कथ प्रपेकमालिङ्गित्वम् । सुशोभयति मन्मथविकार प्रादुर्भूत दम्भम् ॥ ३१ ॥

अन्वयः—रतीशः तच्छायमौन्दर्यानिपीतशैवीः अनु प्रपेकम् आलिङ्गत्, रतिप्रतिद्वन्द्वतमानु अनूपु नून कथञ्चित् निर्गोतरति न अनूपु ।

हिन्दी—रतिरति (काम) ने उस (नल) के प्रतिबिम्बित सौन्दर्य से धैर्य नष्टा बन सुन्दरियों का एक-एक करके आश्रित किया, कारण कि उन रति की प्रतिद्वन्द्विता करनेवाली सुन्दरियों के मध्य निश्चयपूर्वक रति का निर्गम न कर पाया ।

टिप्पणी—बनकरनी शीशारों में नञ का प्रतिबिम्ब पड रहा था, उसे ही देख अन्त-पुर की सुन्दरियों परनमुग्ध हो वह छाप-नञ का अर्थ में पूर्णक आश्रित करने लगीं । इस पर यहाँ उल्लेखित है कि उन रति के समान सुन्दरियों के समूह में काम एक-एक करके उन सबका इस कठम आश्रित कर रहा था कि उसे पता ही नहीं चल रहा था कि इनमें उसको प्रिय रति कौन-सी है ? मात्र यह है कि रति के समान मनोहारिणी रमणियाँ काम-मम नञ के प्रतिबिम्ब पर मुग्ध हो उल्लास हो उठावनी होकर आश्रित कर रही थीं ।

मल्लिनाथ ने यहाँ उत्प्रेक्षा माना है—'अत्रोत्प्रेक्ष्यते ।' विद्याधर के अनुसार भाव शान्ति और उत्प्रेक्षा ॥ ३१ ॥

तस्माददृश्यादपि नातिविभ्युस्तच्छायरूपाहितमोहलोला ।

मन्यन्त एवादृतमन्मथाज्ञा प्राणानपि स्वान् सुदृशस्तृणानि ॥ ३२ ॥

जीवातु—तस्मादिति । सुदृश स्त्रिय तच्छायारूपेण तत्प्रतिबिम्बसौन्दर्येणाहित उत्पादित मोह चित्तभ्रमो यासा ता अत एव लोला आसक्ता सत्य । अदृश्यादपीति भयहेतूक्ति । तस्मान्नलान्नातिविभ्यु । शृङ्गारेण मयानकस्तिरस्कृत इत्यर्थ । तथाहि आदृतमन्मथाज्ञा मन्मथपरतन्त्रा सत्य, स्वान् स्वकीयान्, प्राणानपि तृणानि मन्यन्त एव । मन्मथमण्यनादरे चतुर्थ्या वैभाषिकत्वाद् द्वितीया । प्राणानपि तृणीकृत्य तदा तत्सङ्गमत्कालसाना तासा तस्माद्भ्य कुत इति भाव ॥ ३२ ॥

अन्वय—तच्छायरूपाहितमोहलोला सुदृश अदृश्यात् अपि तस्मात् न अतिविभ्यु, आदृतमन्मथाज्ञा स्वान् प्राणान् अपि तृणानि एव मन्यन्त ।

हिन्दी—प्रतिबिम्बित उस (नल) के रूप जात मोह (भ्रम, ममता) से चंचल वे हुनयनाएँ अदृश्य भी उस (नल) से अधिक नहीं डरी, कारण कि काम का आदेश माय करती वे अपने प्राणों को भी तृण समान मान रही थी ।

टिप्पणी—नल को छाया तो पड रही थी, पर दीखता नहीं था । सामान्य विश्वास यह है कि भूत जब प्रत्यक्ष होता है, तब भी उसकी छाया नहीं पडती । तो इस प्रकार नल उस भूत से भिन्न हुआ, क्योंकि यह अदृश्य था और उसकी छाया पड रही थी । इस विचित्र भूत से सहजमीर सुन्दरियों को बहुत डर लगना स्वाभाविक था, पर वे तो बिलकुल नहीं डरी । वस्तुतः नल के कामजयी रूप पर वे इतनी आसक्त हो गयी थी कि कामांध होने से कामाधीना उन सुन्दरियों को प्राण जाने का भी मय नहीं रह गया था । जब वे प्राणों को ही नगण्य मान बैठी थी, फिर डर किसका ? ॥ ३२ ॥

जागति तच्छायदृशा पुरा य स्पृष्टे च तस्मिन्विसर्प कम्प ।

दृत गते तत्पदशब्दभोरया स्वहस्तितश्चारुदृशा पर स ॥ ३३ ॥

जीवातु—जागतीति । पुरा पूर्वं, तच्छायदृशा तत्प्रतिबिम्बदर्शनीनां

चाहृशा, विद् । स कर्मो जागति मृरति । तलन्तन्मिन् मृष्टे च सति
 विवृष्यं प्रनसार । स कर्म द्रुत शीघ्र गते अनाते मति तस्य पदमन्दाद्गीचा
 कर्त्ता पर स्वहस्तवान इत दत्तम्बहस्त, प्रबलीकृत दत्तयं, स्वहस्तद्व्या-
 न्तद्विदात् 'तत्करोति' इति तिचि पाविष्टवद्भावे विप्लवोचुंक् । ततः
 कर्मणि क्त ॥ ३३ ॥

अन्वय—पुनः तच्छायशा चाहृशा स कर्म जागति, तन्मिन् मृष्टे
 विवृष्यं, पर द्रुत गते तन्पदमन्दादीत्या स स्वहस्तित्त ।

हिन्दी—पहिले उस (नल) की प्रतिच्छाया का अवलोकन करते ही
 सुनपनाओं में जो कंप जागा, उस (नल) का स्पर्श करने पर (उसका)
 और प्रसार हो गया (बड़ गया), किन्तु (उसके) शीघ्रतापूर्वक हट जाने
 पर उस (नल) के पैरों से उत्पन्न आहट से डर कर वह (कर्) उनके आने
 हाथ का आशय पा गया ।

टिप्पणी—नन्-मुग्धा उन मुन्दरियों में 'कप' की मात्रा बटती ही
 बनी गयी । छाया देखने मात्र से सामान्य 'कर हुआ, अत्यन्त नल के
 स्पर्श से वह बड़ा और अदशन की स्थिति आने पर जैस सहास पाकर और
 भी बड़ गया । नाब यह कि दर्शन-स्पर्श-अप 'शृगार' का अनुभाव बाद में
 (प्रदर्शन) 'नयानक' का अनुभाव होता बड़ता चला गया । पहिले शृगार में
 रवी मुन्दरियां बाद में नय से काँपने लगीं ॥ ३३ ॥

तल्लान्यता स्पृष्टनलाङ्गनङ्ग तासा नलच्छायपिधार्षि दृष्टिः ।

अश्मैव रत्यास्तदनति पया छेदेऽप्यबोध यदर्हापि लोम ॥३४॥

जीवानु—उल्लास्येति । रत्या पत्याः कामेन स्पृष्ट नलाङ्ग येन तना-
 सामङ्गमुल्लास्यतामुल्लास प्राप्यताम् । उल्लासयते कर्मणि लोट् । नलच्छायस्य
 नलप्रतिबिम्बस्य पिवा, तद्दर्शिनोऽप्ययं । 'पाप्मा' इत्यादिना शप्रत्यय,
 पिवादेशश्च । तासा इष्टिरपि उल्लास्यताम्, तनोश्चेतनत्वादिति भाव । छेदे
 कर्त्तव्यबोध बोधरहितम्, अचेतन लोम, यदर्हापि हृषितनिति मत् । हृषेऽन्ता-
 स्कर्म्मणि लुङ् । तदश्मैव पाषाण एव अनति अश्मनतन्प्राय रोमहृषण कुर्वाणस्य
 कामस्य दिनसाध्यनिति भाव । अत्र रोमहृषणामनतन्प्रायवाक्यार्थोपार्थोत्पत्तेश्चा-

वगतसामानाधिकरण्यानुपपत्त्या सादृश्यक्षेपाद्वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शनालङ्कार ।
लक्षण तूक्तम् ॥ ३४ ॥

अन्वय — रत्या पत्या तासा स्पृष्टनलङ्गम् अङ्गम् नलच्छायपिवा दृष्टि
अपि उल्लास्यताम्, छेदे अपि यत् अबोध लोम अहृषि अश्मा एव तत् अनति ।

हिन्दी—रति के पति (काम) द्वारा उन (सुन्दरियो) का नल के
अगो से हुआ अग और उस (नल) के प्रतिबिम्ब का पान करती दृष्टि भी
उल्लासित कर दी गयी, (किन्तु) काटे जाते (समय) भी जो अचेतन रहता
है, वह रोम जो हर्ष को प्राप्त हो गया, वह तो जैसे पत्थर ही नचा दिया ।

टिप्पणी—नल का स्पर्श पाकर कामाधीना सुन्दरियो के अङ्ग हृष्ट हुए,
प्रतिबिम्ब को भरपूर निहार कर नेत्र भी हर्षोत्फुल्ल हुए,—इसमे आश्चर्य की
कोई बात नहीं है, क्योंकि अग और दृष्टि तो चेतन हैं, और चेतन प्रभावित
होते ही हैं । आश्चर्य तो यह है कि वे रोम, जो इतने जड़ हैं कि काटे जाने
पर भी कुछ अनुभव नहीं कर पाते, वे जड़ रोम भी हृष्ट हो गये । यह तो
उतना ही आश्चर्य-जनक हुआ, जितना कि पत्थर का नाचना । यह रोम हर्ष
तो अत्याश्चर्य है । सात्त्विक रोम हर्ष का वर्णन । इस श्लोक में मल्लिनाथ ने
रोमहर्ष और अश्मनर्तन वाक्यार्थों के 'यत् तत्' शब्दों द्वारा अवगत सामानाधि-
करण्य को अनुपपत्ति के कारण सादृश्य के आशेष में वाक्यार्थवृत्तिनिदर्शना-
लङ्कार माना है, विद्यापर के अनुसार काव्यालिंग, क्रियाविरोध और भावोदय
अलङ्कार हैं ॥ ३४ ॥

यस्मिन्नलस्पृष्टकमेत्य हृष्टा भूयोऽपि त देशमगान्मृगाक्षी ।

निपत्य तत्रास्य धरारजस्ये पादे प्रसीदेति शनैरवादीत् ॥ ३५ ॥

जीवातु—यस्मिन्निति । मृगाक्षी यस्मिन् देशे नलस्य स्पृष्टक आलिङ्गन-
विशेषम् । 'यद्योपितस्सम्मुखमागताया अन्यापदेशात् व्रजतो नरस्य । गात्रेण
गात्र घटते तदेतदालिङ्गन स्पृष्टकमाहुरार्या ॥' इति रतिरहस्येऽभिधानात् ।
एत्य प्राप्य, हृष्टा त देश भूयोऽप्यगात् । पुन स्पृष्टलोमादिति भाव । किन्तु
तत्र दशे धरारजस्ये भूपरागनिष्ठे अस्य नलस्य पादे पादप्रतिवृत्तौ निपत्य,
प्रसीद मा पुन स्पर्शानुगृह्णाणेति शनैरवादीत् । न तु स्पर्श लेभे । तस्यापगमा-
दिति भाव ॥ ३५ ॥

अन्वय — मृगशी यस्मिन् नलसृष्टकम् एष्य हृष्टं त देव नून वनि
 वपात्, तत्र अन्व घरात्स्ये पादे निपत्य—‘प्रनीद’—इति शनं अवादीत् ।

हिन्दी—मृगतपना जिस स्थान पर नल का ‘सृष्टक’ (विद्येय प्रकाश का
 आलिंगन) पाकर हृष्यं को प्राप्त हुई थी, उस स्थान पर पुन गयो । वहाँ
 इस (नल) के घरती की घुल पर टनरे चण्ड (के चिह्न) पर गिर कर
 ‘दया करो’—ऐसा धीरे-से बोली ।

टिप्पणी—मन्दरी नल का आलिंगन-विद्ये पाकर ऐसी हृष्यं विनोर हुई
 कि घुल बने नल चरण-चिह्न पर प्रणिनात करके धीरे-धीरे मनावन और
 प्रायंता करते लगी । धीरे-से इसलिए कि उसके भाव प्रकट न हो जायें ।
 ‘रतिरहस्य’ के अनुसार सृष्टक उस आलिंगन को कहते हैं, जिसमें अन्यापदेश
 से जाते पुरुष के शरीर की समुख आती श्री से टकर हो जाय । विद्यावर के
 अनुसार हृष्यभावोदय अलंकार ॥ ३५ ॥

अनन्नुप्यामुन्कारिकायामान्य नैनीविरहान्क्रीमान् ।

असौ मुद्गु मौघपरम्पराणा व्यधत् विश्रान्तिमुनत्वकाम् ॥ ३६ ॥

बोधानु—अनन्निवि । नैनीविरहात् क्रीमान् अतिहृद्योऽसौ नल ।
 अनुप्यामुन्कारिकाया रावसप्ततीत्यर्थं । अनन् सञ्चरन्, आयास्य परित्यज्य
 मुद्गु मौघपरम्पराणाम्, उपपकाम्बासन्नभूमिषु । अत मौघाना पवंतसाधर्म्यात्
 मौघोऽय प्रयोगः । ‘उपपकाम्बा त्वक्लासन्नाहृतयो’ इति त्वकन्प्रत्ययस्य
 पवंतान्नभूमिसन्नात्वेन विधानात् । ‘उपपकाट्रेरासन्ना भूमि’ रित्यनिवा-
 नात्तयैव प्रयोगाच्च । सज्ञात्वादेव कानूवंत्येकारानाव । विश्रान्ति व्यसन
 विश्रान्तोऽभूदित्यर्थं ॥ ३६ ॥

अन्वय — नैनीविरहात् क्रीमान् असौ जमुप्याम् उपकारिकाया अनन्
 आयास्य मुद्गु मौघपरम्पराणाम् उपपकाम् विश्रान्ति व्यधत् ।

हिन्दी—नीननुत्री (दमपती) के विरह से अत्यन्त दुर्बल यह (नल)
 उस ‘उपकारिका’ (रात्रमवन) में विचरता हुआ दककर बारबार सटसटे
 महलों की उपपकाओं (सन्निकट भूमि, तलहटी) में विश्रान्त कर लेता था ।

टिप्पणी—रात्रमवन के विमृष्ट होने का संकेत, जिसके कारण नल को
 साव-क्षण विश्रान्त करना पड़ता था । ‘उपपका’ सामान्यतः पवंत की तलहटी

के अर्थ में प्रयुक्त होता है, यहाँ सौधपरम्पराओं की पर्वत-सदृश उच्चता के स्रोतनाथ 'सौधपरम्पराणाम् उपत्यकासु' कहा गया है। 'प्रकाश'-कार ने 'उपत्यकासु' के स्थान में 'अधित्यकासु' पाठांतर दिया है, यद्यपि उर्दू में 'उपत्यकासु' पाठ ही उचित माना है, क्योंकि उपत्यका विश्राम-योग्य होती है—'उपत्यकासु' इति पाठ साधीयान्। उपत्यकाना विश्रान्तियोग्यत्वात्।' अधित्यका का अर्थ है, ऊपरी भूमि—ऊर्ध्वभूमि। विद्याधर के अनुसार चान्यत्रिग अलकार ॥ ३६ ॥

उल्लिख्य हसेन दले नलिन्यास्तस्मै प्रथादशितयेव भेमी ।

तेनाभिलिख्योपहृतस्वहारा कस्या न दृष्टाजनि विस्मयाय ॥ ३७ ॥

जीवातु—किं चात्र विश्रान्तो विनोदाय भेमीप्रतिकृतिमालिन्याद्राक्षी
दित्याह श्लोकद्वयेन—उल्लिख्येति । नन्वदृष्टपूर्वां ता कथमल्लिखदिति शङ्का
निरस्थानाह—पूर्वं हसेन नलिन्या दले भेमी यथा येन प्रकारेण उल्लिख्य तस्मै
नलायादशित दशिता । तथैव तेन नलेन अभिलिख्य उपहृतस्वहारा कण्ठापित
निजमुक्ताहारा तदा विलिखतेत्यर्थं । दृष्टा सती कस्या विस्मयाय नाजनि न
जाता, सवस्या अपि जातेत्यर्थं ॥ ३७ ॥

अन्वय —हमेन नलिन्या दले यथा उल्लिख्य भेमी तस्मै अशित तेन
तथा एव अभिलिख्य उपहृतस्वहारा दृष्टा कस्या विस्मयाय न अजनि ?

हिन्दी—स्वर्ण हंस ने कमलिनी के पत्र पर जैसी आँकड़ मीमसुना उसे
(नल को) दिखायी थी, उस (नल) के द्वारा वैसी ही चित्रित कर अपना
(नल का) कठहार पहिना दी गयी दीक्षती किस (अन्त पुर की सुन्दरी) के
आश्चर्य की कारण न हुई ?

टिप्पणी—नल न कमी दमयन्ती को प्रत्यक्ष तो किया नहीं था, केवल
स्वर्णहंस ने कमलपत्र पर उसका एक चित्र बनाकर दिखा दिया था, किन्तु
कुशल विनोद नल ने मनोविनोदनार्थं उसी के आपार पर एक वैसा ही दमयन्ती
का चित्र बना दिया और उपहारस्वरूप अपना कठहार उसे पहिना दिया ।
नल तो अहंस्य था, कलशवर्ष्य राजनवन में सहस्र कठहार पारिणी दमयन्ती
का चित्र देख बड़ी आती जाती स्त्रियों को क्या आश्चर्य हुआ कि किमने यह
प्रमिलेख यहाँ उपस्थित कर दिया ? तात्पर्य यह है कि नल न विश्राम के क्षणों

में जो दमयन्ती का चित्र बनाया, उसे देखकर उसके मन में उठा कि नयन-
गोचर प्रिया को प्रथम नैट में कृच्छ देना चाहिए, सो कठहार पहिना दिया ।
कठहार पहिने दमयन्ती के चित्र को जो स्त्री इस प्रकार देवती आश्चर्य में
पड जाती ॥ ३७ ॥

कौमारगन्धीनि निवारयन्ना वृत्तानि रोमावल्त्रिविह्ला ।

सालिह्य तेनैश्यत यौवनीपद्मास्यामवम्या परिचेतुकामा ॥ ३८ ॥

जीवानु—कौमारंति । तं नलं यौवनमप्य यौवनीया । वृद्धाच्छ ।
तस्या द्वारि द्वारे, प्रमुषे च तिष्ठतीति यौवनीपद्मा स्या । 'खरवसानयोर्विसर्ज-
नीय' इति रेणस्य विसर्जनीये तस्य वा सत्वम् । तानवस्या दौवारिकदशा
यौवनप्रवेशदशा च, परिचेतुकामा अन्वदितुकामा । अत एव रोमावल्त्रिव
वेत्र दण्ड तच्चिह्नं यस्या सा । कौमारगन्ध्या एषामस्तीति कौमारगन्धीनि
शैशवस्यस्योनि, वृत्तानि चारणानि, निवारयती सा दमयन्ती आलिह्य
ऐश्यत । ईक्षते कर्मणि लङ् । वयसन्धौ वर्तमानान्तामालिह्य अत्राक्षीदित्यर्थं ।
रत्नकालङ्कारः ॥ ३८ ॥

अन्वय - तेन यौवनीपद्मास्याम् अवस्या परिचेतुकामा रोमावल्त्रिविह्ला
कौमारगन्धीनि वृत्तानि निवारयन्ती सा आलिह्य ऐश्यत ।

हिन्दो—उस (नल) ने यौवन के द्वार पर स्थित अवम्या से परिचय
प्राप्त करने की कामना से रोमावन्ती रूप वेत्रदण्ड-चिह्नो से मुक्त बचनने की गद्य
देने वाले चपलतादि व्यापारों का निवारण करती उस (दमयन्ती) का आलेख
बनाकर निहारा ।

टिप्पणी—हस के आलेख में जो दमयन्ती नल ने देती थी, वह 'वय-
स्य' की अवस्था में थी, जिसमें बचपन जा रहा था और तस्माई आने
रही थी । रोमावली उम आयी थी और बालोचित चपलता जा जा रही थी ।
ऐसी ही दमयन्ती को आलेख में बनाकर नल देखता रहा । बच्चों को शिक्षा
देने के लिए बेंत की छड़ी का उपयोग किया जाता है । दमयन्ती यौवना-
वस्था का अन्वय कर रही है, रोमावन्ती बेंत की छड़ी है, जिसका उपयोग
शिक्षा प्राप्त करते समय बचपन के खेल-कूद, चपलता आदि के निवारण के
लिए किया जाता रहा है और किया जा रहा है । अथवा रोमावली बेंत की

छडी के वे चिह्न (निशान) हैं, 'कौमारगन्धि वृत्तो' के निवारणार्थं जिसका उपयोग किया गया है। निवारणार्थं-प्रवेश-निषेध के लिए द्वार पर वेत्रघारिणी को नियुक्त किया ही जाता है। रूपक ॥ ३८ ॥

पश्या पुरन्ध्रोः प्रति सान्द्रचन्द्ररज कृतक्रीडकुमारचक्रे ।

चित्राणि चक्रेऽध्वनि चक्रवर्तिचिह्न तदङ्घ्रिप्रतिमासु चक्रम् ॥ ३९ ॥

जीवातु-पश्या इति । सान्द्राणि चन्द्ररजामि कर्पूरपाशव । 'अथ कर्पूर-मस्त्रियाम् घनसारश्चन्द्रसज्ञ' इत्यमर । तं कृतक्रीड कुमारचक्र, बालसङ्घो यस्मिन् तस्मिन् अध्वनि चक्रवर्तिचिह्न सार्वभौमलक्षण, तस्य नलस्य, अङ्घ्रि प्रतिमासु पादन्यासेषु । चक्र चक्रेखा पश्यन्तीति पश्या पश्यन्ती, 'पाद्मा' इत्यादिना शप्रत्यय पश्यादेशश्च । पुरन्ध्री प्रति स्त्रिय उद्दिश्य चित्राणि चक्रे । तासामाश्चर्याणि जनयामासेत्यर्थं ॥ ३९ ॥

अन्वय.—सान्द्रचन्द्ररज कृतक्रीडकुमारचक्रे अध्वनि तदङ्घ्रिप्रतिमासु चक्रवर्तिचिह्न चक्र पश्या पुरन्ध्रीः प्रति चित्राणि चक्रे ।

हिन्दी—जिसमें घनी कर्पूर घूल उछाल-उछाल कर बालकों ने खेल किया है, ऐसे मार्ग में उस (नल) के पैरों की छापों में बना चक्रवर्ती का चिह्न चक्र देखनेवाली नागरिकाओं को आश्चर्यों में डालने लगा ।

टिप्पणी—मार्ग में घदन घूल उठा उठाकर राज मवन के बालकान क्रीडा की थी, वह घदन-चूरा वहाँ जमा था । जाते नल के चरण चिह्न उसमें उभर गये । उभर से आती जाती स्त्रियों ने उन चिह्नों में 'चक्र' का चिह्न बना देखा, जो चक्रवर्ती के चरणों में होता है । उन्हें घोर आश्चय हुआ कि कौन चक्रवर्ती इधर से गया है ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलवार छैवानुप्रास ॥ ३९ ॥

तादृष्यपुण्यामवलोकयन्त्योऽन्योन्यमेणेक्षणयोरभिख्याम् ।

मध्ये भूहृतं स बभूव गच्छन्नावस्मिकाच्छादनेविस्मयाय ॥ ४० ॥

जीवातु—तादृष्येति । तादृष्यपुण्या यौवनमनोज्ञाम् । 'पुण्य मनोज्ञ' इति विश्वः । अन्योन्यमभिख्या सोमामवलोकयन्त्योरेणेक्षणयो मृगाद्योमध्ये गच्छन् भूहृतंम्, ईपत्कालम्, आकस्मिकाच्छादनेन निहंतुकव्यवधानेन विस्मयाय

बभूव । अत्र व्यवधानकारणं विना व्यवधानोक्तेरकारणे कार्यान्वितिलक्षणो विभावनालङ्कारः ॥ ४० ॥

अन्वय—शास्त्रमुप्याम् अन्योपम् अनिष्टाम् बदलोरुपत्यो एणे-
क्षणयो मध्य गच्छन् स मुहुत्तम् आकस्मिकाच्छादनविस्मयाय बभूव ।

हिन्दी—तहाँ के पुत्र से पूर्ण (यौवन से चोनित्र) परस्पर शोभा को निरखती दो मृगाक्षियों के मध्य में जाता वह (नर) क्षण भर को अज्ञात रूप से के कारण विस्मय का निमित्त हो गया ।

टिप्पणी—दो तक्षिणों परस्पर वार्तालाप कर रही थीं, नर जब उनके मध्य से (अदृश्य रूप में) निकला तो क्षणभर को उसके द्वारा उपस्थित अन्तःकरण के कारण वे परस्पर आच्छादित हो गयीं । इस पर उन्हें आश्चर्य हुआ कि यह हुआ क्या ? विद्याधर के अनुसार यहाँ उल्लेख्य जलकार केवल छेदानुप्रास है, जब कि मन्त्रिणाप के अनुसार यहाँ व्यवधान-कारण के विना व्यवधान के कथन से अकारण में कार्यान्वित रूप विभावना अलङ्कार है । कदाचित् मन्त्रिणाप का यह विचार है कि अदृश्य नर का शरीर आच्छादन नहीं कर सकता अपवा मुन्दरियों को आच्छादन का कारण न प्रतीत होना किन्तु, आच्छादन-कार्य हो जाना अकारण में कार्य प्रतीति है । नारायण पंडित के अनुसार अदृश्य शरीर का स्वयं, उसमें आच्छादन—दोनों सगत कारण है ॥ ४० ॥

पुर स्थितस्य क्वचिदस्य भूपारत्नेषु नायः प्रतिविम्बितानि ।

व्योमन्यदृश्येषु निजान्यपश्यन् विस्मित्य विस्मित्य महत्प्रकृत्वः ॥ ४१ ॥

जीवानु—पुर इति । क्वचिद्देशे नायं पुरस्थितस्य मनस्य अदृश्येषु भूपारत्नेषु निजानि प्रतिविम्बितानि प्रतिविम्बितानि, व्योमनि शून्ये विस्मित्य विस्मित्य पुनः पुनः विस्मिता भूत्वा । सहस्रहृत्वं सहस्रवारमपश्यन् । अत्रापि निराश्र्वनप्रतिविम्बदानीं नोक्तेरकारणे कार्यान्वितिलक्षणो विभावनालङ्कारः ॥

अन्वय.—क्वचित् नायं पुरस्थितस्य अस्य जस्येषु भूपारत्नेषु निजानि प्रतिविम्बितानि व्योमनि विस्मित्य विस्मित्य सहस्रहृत्वं अपश्यन् ।

हिन्दी—कहाँ स्थियों ने समुत्त छठे इन (नर) के अदृश्य आभूषणों के

रत्नो म अपने प्रतिबिम्ब शून्य म बार-बार विम्बित हो सहस्रवार (अनेकदा) देखे ।

टिप्पणी—नल और उसके आभूषण तो दिखते थे नहीं, पर आभूषण के रत्नो में आती-जाती छियों के प्रतिबिम्ब पढ़ जाते थे । मूने में—रिक्त आकाश में पड़ती अपनी छायाएँ देख स्त्रिया को बड़ा आश्चर्य हो रहा था और वे बार-बार देखने लगती थीं । मन्दिनाय के अनुसार इस श्लोक में भी विभावना है, क्योंकि निरालम्बन प्रतिबिम्ब-दर्शन कारण बिना कार्य की उत्पत्ति है । विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ४१ ॥

तस्मिन् विपज्याधपयान्निवृत्त तदङ्गरागच्छुरितं निरीक्ष्य ।

विस्मेरतामापुरनुस्मरन्त्यः क्षिप्त मिय कन्दुकमिन्दुमुस्य ॥ ४२ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति । इन्दुमुस्य स्थिय, मिय क्षिप्तम्, अन्योय प्रति प्रेरित कित्तु । तस्मिन्नले विपज्य उम्भित्वा अर्धं पन्या अर्धपय विशेषण-ममात्मे समासात् । 'अर्धं नपुमकम्' इत्येकदेशसमाम इति केचित् । तत्र समासनिबन्ध । तस्मान्निवृत्त प्रत्यागच्छते, तस्य नञ्स्याङ्गरागेण च्छुरित रूपित, कन्दुः निरीक्ष्य अनुस्मरन्त्य पुन एतदिति पुन पुनरनुसन्दयाना विस्मेरता विस्मत्त्वमापु । 'नमिकम्पिस्मि' इत्यादिना रप्रत्यय ॥ ४२ ॥

अन्वय —इन्दुमुस्य मिय क्षिप्त तस्मिन् विपज्य अर्धपयात् निवृत्त तदङ्गरागच्छुरित कन्दुः निरीक्ष्य अनुस्मरन्त्य विस्मेरताम् आपु ।

हिन्दी—चन्द्रमुखियाँ एक-दूसरे की ओर फँके, उम (नल) से टक्कर खाकर आधे मार्ग से वापस आते, उम (मुग्) के अगराय से समुक्त कन्दुक को देन बार बार विचार करती विस्मय को प्राप्त हुई ।

टिप्पणी—कन्दुक-शीटा का वर्णन । मुदरियाँ कन्दुक-शीटा में एक दूसरे की ओर गेंद उछाल रही थीं, उधर निकलते मल के शरीर से गेंद की टक्कर हुई और वह आधे मार्ग में ही गिर पड़ा । उस पर मल के शरीर पर लगे चदनादि अगराय के चिह्न भी बन गये । वे चन्द्रमुखी नारियाँ बार-बार सोचन लगी कि यह मय कैम हो गया ? कारण ममज्ञ में न जाने से उन्हें आश्चर्य हुआ । विद्याधर के अनुसार हेतु अलवार ॥ ४२ ॥

पुनि स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते भूत्वाप्यवीक्षानियमव्रतित्यः ।

छायामु रूपं भुवि तस्य वीक्ष्य फलं दृशोगनगिरे महिष्यः ॥ ४३ ॥

जीवानु—पुनीति । महिष्यो राजदारा, स्वभर्तृव्यतिरिक्तभूते पुनि पर-
पुरुषे विषये अवीक्षानियमेन अनिरीक्षामङ्गुत्सेन, व्रतित्यः व्रतव्यो भूत्वा तस्य
नन्म्य भुवि कुट्टिमभूमौ छायामु प्रतिबिम्बेषु रूपमौन्दर्यं वीक्ष्य दृशोः फलना-
नगिरे प्रापु । 'अत आदे' इत्यन्वामदीर्घं । 'जसोतेष्व' इति नुडागमः ॥

अन्वय—स्वभर्तृव्यतिरिक्ते पुनि अवीक्षानियमव्रतित्यं भूत्वा अपि
महिष्यं भुवि छायामु तस्य रूपं वीक्ष्य दृशोः फलम् ज्ञातगिरे ।

हिन्दो—अपने स्वामी से निम्न पुरुष के दर्शन न करने का नियम
मानने वाली होंक भी रानियाँ धरती पर पड़े छायामों में उन (नल)
का रूप देखकर नेत्रों की सफलता पा रही थीं ।

टिप्पणी—अमूर्त्यप्यया राजशराजों को अपने पति से निम्न परमुन्य-
दर्शन का निषेध था । या तो अन्य राजा उतने सुन्दर नहीं थे, या फिर
राजशराएँ प्रतिदिन देवते रहने के कारण अपने पति-राजाओं के रूप के
प्रति आकर्षणहीन हो गयी थीं, त्रिनने उन्हें वे सुन्दर नहीं लगते थे तो
उन्होंने चमकदार फलों पर उमरती नल की छवियाँ देवी, तो अमितव मौंदर्य
निहार कर उनके नेत्र निहाल हो गये । नल के अनुपम मौंदर्य का संकेत
कि पतिव्रताएँ भी उन पर आकृष्ट हो गयीं । विद्याधर के अनुसार क्रिया
विरोधातिशयोक्ति क्योंकि परपुरुषदर्शन से भी पतिव्रताया का पातिव्रत-
भग नहीं हुआ ॥ ४३ ॥

विशोक्य तच्छायमतीक्ष्णानि पतिं प्रति स्व वसुधाणि धत्ते ।

यथा वयं किं मदन लयं त्रिनेत्रनेत्रानलकोलनीलम् ॥ ४४ ॥

जीवानु—विशोक्येति । तस्मिं राजमहिषीनि, तस्य नन्म्य, छायामु
अनात्मरेखा तच्छायम् । नीलमिति गेय । विशोक्य यथा वयं स्व स्वकीय,
पतिं भीम, प्रत्युदबुद्धम्, मदन दम्भम् । तथा वसुधाणि स्व पतिं भीमनेत्र प्रत्युद-
बुद्धम् । किन्तु, त्रिनेत्रम् ईश्वरस्य, नेत्रानलकीलनेत्रामिच्छात्, नील वृत्त-
वर्गम्, एत मदन धत्ते किन्त्यन्तम् उपेक्षितम् । नलच्छाये वसुधाणि तस्मि-

विरही) राजा पर पुर (शरीर) में प्रवेश करते योगी (सिद्ध, सयोगी) के समान सुशोभित हो रहा था,—आश्चर्य !

टिप्पणी—वियोगी (विरही) राजा योगी (मयोगी) जैसा लगा, यह आश्चर्य है विरोध भी, ऐसे ही योगी (योग साधक तपस्वी) का वियोगी (योगच्युत) होना भी विरोध है। परिहार होता है वियोगी या अर्थ विरही और योगी का सिद्ध तापस लेने से। नल अदृश्य था, उसके शरीर की अनेक छाया पड़ रही थी, वह परपुर में भी प्रवेश करता था। इसके आधार पर उनकी समता योगी से की गयी, जो स्वेच्छया अदृश्य रह सकता है, अनेक शरीरों का विस्तार कर सकता है और पर पुर प्रवेश (परकाया प्रवेश) कर सकता है। विषया से निवृत्त हो जाने के कारण वह 'वियोगी' भी है। विद्याधर के अनुसार यहाँ विरोधाभास और उपमा है ॥ ४६ ॥

पुमानिवास्पर्श मया भ्रमन्त्या छाया मया पुस इव व्यलोकि ।

ब्रुवन्निवातकि मयापि कश्चिदिति स्म स स्त्रैणगिर शृणोति ॥ ४७ ॥

जीवातु—पुमानिति । भ्रमन्त्या मया पुमानिवास्पर्श स्पृष्ट । मया पुस-छायेव व्यलोकि विलोकिता । मयापि कश्चिद् ब्रुवन् लपन्निव, अतर्कित तर्कित । सवत्र कमणि लुङ् । इत्येवरूपा स्त्रैणस्य स्त्रीसमूहस्य गिर । यद्वा, स्त्रीषु भवा-स्त्रैणा गिर । 'स्त्रीपुसाभ्या नञ्स्नञी भवनाद्' इति भवार्थे नञ्प्रत्यय । स नल, शृणोति स्म । 'लट् स्मे' इति भूते लट् ॥ ४७ ॥

अन्वय—भ्रमन्त्या मया पुमान् इव अस्पर्श, मया पुस छाया इव व्यलोकि, मया अपि कश्चित् ब्रुवन् इव अतर्कित—इति स स्त्रैणगिर शृणोति स्म ।

हिन्दी—भ्रमण करती मैंने पुरुष-जैसा छाया, मैंने पुरुष की छाया जैसी देखी, मुझे भी कोई बोलता-जैसा प्रतीत हुआ—इस प्रकार के वह (नल) स्त्रिया के वचन सुन रहा था ।

टिप्पणी—विद्याधर के अनुसार उपमा । अदृश्य नल के कारण उत्पन्न अतःपुर की स्त्रिया की दृशा का स्वाभाविक चित्रण ॥ ४७ ॥

अम्बा पणम्योपनता ननाङ्गी नलेन भंभी पयि योगमाप ।

स भ्रातभेमोपु न या विवेद सा त च नादृशतया ददर्श ॥ ४८ ॥

जीवानु—अम्बामिति । ननाङ्गी ध्यानतगात्री भैमी । अम्बा मातरम् । 'अम्बा सवित्री जननी माता च' इति हलायुज । प्रणम्योपनता सती, नलेन पयि यागमाप । किन्तु स नलो भ्रातर्भैमीषु अतीकभैमीषु मध्ये ता न विवेद विविच्य नाजानात्, सा च तं नलम् अदृश्यतया न ददर्श । जत्र रूपसाम्याद-भ्रातर्भैम्या नान्तर्भैमीमि सहाभेदानिग्रानात् सामान्यालङ्कार । 'सामान्य गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्तरकता' इति लक्षणात् ॥ ४८ ॥

अन्वय—अम्बा प्रणम्य उपनता ननाङ्गी भैमी पयि नलेन योगम् आप, स भ्रातर्भैमीषु ता न विवेद, सा च तम् अदृश्यतया न ददर्श ।

हिन्दी—माँ को प्रणाम करके जायी बिनत अगोवाली भीम-मुता मार्ग में नल को मिली, किंतु भ्रम से दीखती भीममुताओं के मध्य वह उसे न पहि-चान सका, और वह (दमयती) उसको अदृश्य होने के कारण न देख पायी ।

टिप्पणी—गुरुजनो के प्रति आदर भावना श्रेयस्करी होती है, परिणामतः भैमी नल का योग तो हुआ, पर भ्रान्ति के कारण प्रत्यक्षता न हो सकी । भ्रम से विवेक का नाश होता ही है । 'ननाङ्गी' से तात्पर्य है यौवनवती—यौवनभार से झुके अगोवाली । मल्लिनाथ के अनुसार सामान्यालङ्कार, क्योंकि यहाँ रूपसाम्य के कारण भ्रातर्भैमियों के मध्य अभ्रात (वास्तविक) भैमी के साथ अविधान है । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग ॥ ४८ ॥

प्रमूत्रसादाधिगता प्रसूनमाला नलस्य भ्रमवीक्षितस्य ।

क्षिप्तापि कण्ठाय तयोपवृष्टे स्थित तमालम्बत सत्यमेव ॥ ४९ ॥

जोमातु—प्रस्विति । प्रमूत्रसादाधिगता मातृप्रसादलब्धा । 'जनयित्री प्रसूनमाला जननी' इत्यमर । प्रसूनमाला पुष्पमालिका । तथा भैम्या भ्रमवी-क्षितस्य भ्रान्तिष्टम्भस्य नलस्य कण्ठाय क्षिप्ताप्युपकण्ठे समीपे स्थित सत्यमेव तथ्यमेव तं नलमालम्बत प्राप मणिप्रभाया मणिबुद्धिन्यायादिति भाव ॥४९॥

अन्वयः—प्रमूत्रसादाधिगता प्रसूनमाला तथा भ्रमवीक्षितस्य नलस्य कण्ठाय क्षिप्ता अपि उपकण्ठे स्थित तं सत्यम् एव आलम्बत ।

हिन्दी—माता के परितोष से प्राप्त फूलों की माला उस (दमयती) के द्वारा भ्रम से रह नल के कंठ के निमित्त फेंकी गयी भी निकट स्थित उस (नल) के पास चली गयी ।

टिप्पणी—नलानुरागिणी दमयती को सर्वत्र नल का आभास होता रहता था। इस समय तो (अदृश्य रूप में ही सही) नल उसके पास था, तो उसे भ्रम-सा हुआ कि उसे नल ही देख रहा है। उसने 'भ्रातिदृष्ट' नल के गले में माँ से मिथी माला डाल दी, और नल तो पास था ही, माला उसके गले में पड़ गयी। भावी-कथन-संकेत रूप नाटकीय स्थिति पताकास्थानक। विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अनुप्रासालङ्कार ॥ ४९ ॥

क्षणासनादृष्टजनप्रसाद सत्यैयमित्यद्भुतमाप भूप ।

क्षितामदृश्यत्वमिता च मालामालोक्य ता विस्मयते स्म बाला ॥५०॥

जीवातु-संगिति। भूपो नल वासनया निरन्तरभावनाया, दृष्टम्य जनस्य, बलीकभैम्या प्रसादोऽनुग्रहभूजा इय सक् सत्या सत्यभूतेति हेतोरद्भुतमाप। बाला भैमी च, क्षितामात्मना न्यस्ताम्। अथ अदृश्यत्वमिता प्राप्ता माला मालोक्य आलोच्य विस्मयते स्म विस्मिताभूत् ॥ ५० ॥

अन्वय—वासनादृष्टजनप्रसाद इय सक् सत्या—इति भूप. अद्भुतम् आप, बाला च अदृश्यत्वम् इता ता मालाम् आलाक्य विस्मयते स्म।

हिन्दी—भावना के कारण दृष्ट व्यक्ति (दमयती) का प्रसाद रूप यह माला (तो) सच्ची है—इससे राजा (नल) को आश्चर्य हुआ, और वह बाला (दमयती) अदृश्यता को प्राप्त उस माला को देख कर विस्मय में पड़ गयी।

टिप्पणी—नल और दमयती दोनों विस्मित हो गये। नल को अचरज हुआ कि भ्रम से देखी बलीक दमयती द्वारा प्रसाद रूप में दी गयी माला तो सत्य है। यह कैसे हुआ, जब भ्राति से दृष्ट जन द्वारा दी वस्तु भी भ्रम होती है, सत्य नहीं। दमयती को आश्चर्य हुआ कि माला गयी कहाँ? यहाँ तो कोई दीक्षता नहीं। माला तो नल की इच्छा से उसके गले पड़कर अदृश्य ही गयी थी ॥ ५० ॥

अन्योन्यमन्यप्रवदीक्षमाणौ परस्परैणाध्युषितेऽपि देसे ।

आलिङ्गितालीकपरस्परान्तस्तर्ध्वं मिथस्ती परिपस्वजाते ॥ ५१ ॥

जीवातु-अन्योन्यमिति। ती भैमीनन्त्री परस्परैणाध्युषिते देसे, अपि अया-य-

मिति कर्मनिर्देश । नलो भैमी सा च नलमित्यर्थ । अथत्रवद्देशान्तर इवेत-
नापी, अथत्र स्थायिनाविद परमतावित्यर्थ । आग्निङ्गितमाग्निङ्गनम्, अलीक
यस्य तदालिङ्गितालीकम्, एतदालिङ्गितं मिथ्येत्यनिमान, परस्परस्यान्तर्गत-
करण यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा । अथ्यमोत्तरपदो बहुव्रीहि । अथ्य
रेफान्न क्रियाविशेषणम् । मिथ्योऽन्योऽयं तस्य यथार्थमेव । परिपक्वजाते
दिल्प्यत 'दमयतीन्धुनोति' इत्यादिना पञ्चम् । पूर्ववाचनया परस्परचेष्टा
मिथ्येति मन्यमानावेव तथ्यमचेष्टानिर्णयः ॥ ५१ ॥

अन्वय — परस्परेण अध्युपिते देशे अपि अन्यत्रवत् दृश्यापी तौ
आलिङ्गितालीकपरस्परात् मियं तथ्य परिपक्वजाते ।

हिन्दी — दोनों (दमयती-नल) के द्वारा अधिष्ठित स्थान में भी एक
दूसरे को दूसरे स्थान पर स्थित जैसे देखने हुए उन दोनों (दमयती-नल)
ने मन में परस्पराग्नि को मिथ्या समझकर भी एक-दूसरे का मचमुच
आग्निन किया ।

टिप्पणी — नल अथ्य या और दमयती को वह पहिचानता या नहीं,
फिर भी निरंतर भावना के बन्धीरूत वे दोनों आग्निन हो गये । दोनों तो
यह समझते थे उनका प्रेमास्वयं वहाँ है नहीं, अतः उन्हें वह आग्निन केवल
कल्पनामात्र लग रहा था, पर वह घटित सत्यत ही रहा था । मिथ्या
मनझने हुए भी वे वस्तुतः आग्निन हुए । पूर्व-वाचन के कारण जसनी चेष्टा
को मिथ्या मरस मानने हुए दमयती-नल वास्तविक जाचरण हो कर रहे थे ।
विद्याधर के अनुसार कार्याग्नि जलद्वार ॥ ५१ ॥

स्पर्शं तमस्याधिगतापि भैमी भेने पुनर्भ्रान्निमदशनिन ।

नृपन्तु पश्यन्पि तामुदीतस्तम्भो न धनुं सहमा शशाक ॥ ५२ ॥

जीवातु-स्पर्शमिति । भैमी त तथ्य स्वर्गम् जनिता प्राणापि । पुनरस्य
नलस्य अदर्शनेनादृश्यत्वेन, भ्रान्ति भेने । अतो नल धनुं न शशाकेति शेष ।
नृपस्तु पश्यन्प्युदीतस्तम्भो निष्क्रियाङ्गत्वज्ञानं नात्त्विको यस्य, स धनुं ।
ता भैमी सहमा धनुं ग्रहीतु न शशाक । अथवा धरेदिति नाव । उदीतेति ईदृ-
श्याविति शेषेण 'ई' धातुना निष्पन्नम् । अथ स्वत्मपदार्थस्य विशेषात्सा
धारणाशक्तिहेतुत्वात् पदार्थहेतुत्वात् नान्यलिङ्गमलङ्कारः ॥ ५२ ॥

अन्वय*—स्पर्शम् अविगता अपि भैमी पुन अस्य अदर्शनेन त भ्रान्ति मेने, पश्यन् अपि उदितस्तम्भ नृप तु ता सहसा धत्तुं न शशाक ।

हिन्दी—(नल के) स्पर्श को प्राप्त करके भी भीमसुता ने फिर इस (नल) के न दीखने के कारण उस (स्पर्श) को भ्रम ही माना । (दमयती को) देखते हुए भी रतम (जड़ता सात्त्विक भाव) का उदय हो जाने के कारण राजा (नल) भी उस (दमयती) को सहसा पकड़ने में समर्थ न हो पाया ।

टिप्पणी—स्तम्भ पदाय के विशेषण रूप में धारण में अशक्ति का हेतु हान से इस श्लोक में मल्लिनाथ के अनुसार काव्यलिपि है, विद्याधर के अनुसार काव्यलिपि और भावोदय ॥ ५२ ॥

स्पर्शातिहर्षादृतसत्यमत्या प्रवृत्त्य मिथ्या प्रतिलब्धबोधी ।

पुनमिथस्तथ्यमपि स्पृशन्तो न श्रद्धाते पथि तो विमुग्धो ॥ ५३ ॥

जीबातु—स्पर्शाति । विमुग्धो रागाधी, तो दमयतीनली, पतिस्पर्शातिहर्षादृतमात्रानन्द, तस्माद्धेतोस्तदन्मथानुपपत्त्या, आदृत्या दृडीकृत्या सत्यमत्या सत्योऽपि स्पर्श इति बुध्या प्रवृत्त्य पुनर्व्यापृत्य मिथ्याप्रतिलब्धबाधो प्रवृत्तेऽपि स्पर्शात्प्रामिथ्येति निश्चितबोधी, मिथ्येति बुद्धवन्ताविस्पर्ष । पुनरित्यमुमयदर्शान्तर, मिथ्योऽयोन्य तथ्य यथायमपि स्पृशन्तावपि, न श्रद्धाते न विश्वसतु । दधातेलिटि तद् । श्रद्धादस्य 'श्रद्धातरोरपसङ्ख्या-नमि' त्युपसगत्वाद्धातो प्राक् प्रयोग ॥ ५३ ॥

अन्वय —स्पर्शातिहर्षादृतसत्यमत्या पुन प्रवृत्त्य मिथ्याप्रतिलब्धबोधो विमुग्धो तो पथि मिथ तथ्य स्पृशन्तो अपि न श्रद्धाते ।

हिन्दी—स्पर्श के कारण से उत्पन्न अत्यन्त हर्ष के कारण 'वह आलिंगन सत्य था'— इस बुद्धि से पुन (आलिंगन में) प्रवृत्त हो मिथ्यात्व का बोध पाकर भ्रम में पड़े वे दोनों (नल-दमयती) भाग में परस्पर सत्यत स्पर्श करते हुए भी (उस पर) विश्वास नहीं कर रहे थे ।

टिप्पणी—श्लोक सत्या ५१ में वर्णित नल-दमयती का परस्परालिंगन उन्हें भ्रम प्रतीत हुआ, किंतु आलिंगन से जो अतीव हर्ष हुआ, उससे उन्होंने माना कि आलिंगन मिथ्या नहीं था, वास्तविक था, अतः वे पुन आलिंगन में प्रवृत्त हुए, पर इस बार स्पर्श न होने से उन्होंने मान लिया कि आलिंगन

वास्तविक नहीं था। मार्ग में जब उन्होंने तीसरी बार परस्पर बन्धुन एक-दूसरे का स्पर्श पाया, तब भी वे उसकी वास्तविकता पर विश्वास न कर सके। पहिले आग्निन वास्तविक था, जिन पर वे पहिले विश्वास न कर सके। पर उत्पन्न हृष्य के कारण उन्हें लगा कि वह अनध्य नहीं था और वे पुन आग्निन करने को बड़े। इन बार स्पर्श नहीं हुआ, अत उन्होंने मान लिया कि सब अवास्तविक ही था—कल्पनामात्र, अत तृतीय बार घटित स्पर्श पर भी उन्हें विश्वास नहीं हुआ। इस श्लोक में सत्य स्पर्श में श्रद्धा के कारण होने पर भी अलीकभाव से निमित्त-प्रतिपादन है, अत विद्यानर न उक्तनिमित्त-विशेषोक्ति अलंकार का निर्देश किया है ॥ ५३ ॥

सर्वत्र मवाद्यमवाधमानो रूपश्रियातिथ्यकरं पर तो ।

न शेक्तुं केलिरमाद्विरन्मुम्लोकमालोक्य परम्पर तु ॥ ५४ ॥

जीवानु—सर्वत्रेति । तो नैमीनली, रूपश्रिया सोन्दर्यसम्पदा, सर्वत्र सर्वावयवेषु मवाद्य मियस्सवादाहं, परस्परानुरूपमिथ्यं । अत एव परममन्त-मातिथ्यकर मियः सत्कारकारि । अलीकमसत्य परस्परन्तु कर्म आलोक्य । अवाधमानो मिथ्येधनयमानो, केलिरसात् क्रीडारगाद्विरन्तु निवर्तिन्तु न शेक्तुं, किन्त्वलीकेनापि परस्परं क्रीडितुमावकाशानुगित्यर्थं ॥ ५४ ॥

अन्वय — रूपश्रिया सर्वत्र मवाद्य परम् आतिथ्यकरम् अलीक परस्पर कर्म आलोक्य अवाधमानो तो केलिरसात् विरन्तु न शेक्तुं ।

हिन्दी—रूप-संपदा के कारण सब स्थानों (सब अगों) में सवादी (एक समान वांणीय), परमप्रीतिकर मिथ्यामूत परम्पर (स्पर्शादि) क्रिया को देखकर मिथ्या न मानते हुए वे दोनों (नल-दमयती) क्रीडारस से विरत न हो पाये ।

टिप्पणी—नल-दमयती—दोनों ही समान रूप-शोभा से परिपूर्ण थे, अत उनकी रसकेलि सर्वथा रमणीय और समान आनन्द देने वाली थी । इस कारण वे दोनों मिथ्या को भी मिथ्या न मानते हुए रसकेलि से विरत न हुए । कभी उनका कम अलीक रह जाता था, कभी वास्तविक भी । अत अनेक स्थानों में वास्तविक रस-केलि के आनन्द का अनुभव करते हुए नल-दमयती केलिरत रहे । विद्याधर के अनुसार काव्याग्नि अलंकार ॥५४॥

परस्परस्पर्शसोमिसेकात्तयोः क्षणं चेतसि विप्रलम्भ ।

स्नेहातिदानादिव दीपिकाचिर्निमित्त्य किञ्चिद्द्विगुण दिदीपे ॥ ५५ ॥

जीवातु—परस्परेति । तयोर्भौमीनलयो चेतसि विप्रलम्भो विरह, परस्परस्पर्शरसस्य अन्योन्यस्पर्शसुखस्य, ऊनिभि सेकात् क्षण स्नेहस्य तत्रादेरतिदानाद्दीपिकाचिर्दीपज्वालेव किञ्चिदीपनिमित्त्य निवार्यं, द्वौ गुणावृत्तौ यस्मिन् कर्मणि तद्यथा भवति तथा द्विगुणम्, अधिक दिदीपे प्रज्ज्वाल सोष्णु-द्वीपक एवाभूदित्यर्थ ॥ ५५ ॥

अन्वय — विप्रलम्भ तमो चेतसि परस्परस्पर्शरसोमिसेकात् स्नेहातिदानात् दीपिकाचि इव क्षण किञ्चित् निमित्त्य द्विगुण दिदीपे ।

हिन्दी—वियोग उन दोनो (नल दमयन्ती) के हृदयो मे अयोग्य के स्पर्श रस की तरंगो के सिचन से स्नेह का अत्यन्त दान होने स्वरूप स्नेह (तेल) के प्रचुरमात्रा मे डाल देने से दीपक की लोके समान कुछ देर तक कुछ मद होकर द्विगुण होकर दीप्त हो गया ।

टिप्पणी—नल दमयन्ती ने उपर्युक्त वर्णन के अनुसार रसकेलि का ज्ञान-द पाया । इस मिलन सुख में जो परस्पर स्नेह का आदान प्रदान मिला उससे प्रणयीयुगल की विरहाग्नि कुछ मद पड़ी परन्तु वे पुन वियुक्त हो गये । तब जैसे तेल डाल देने से मद पड़ी दिए की ली भभक कर और तेज हो जाती है, वैसे ही प्रेम को पाकर वियुक्त प्रेमी द्विगुणित रूप से वियोग सतप्त हो गये । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ५५ ॥

वेश्माप सा धैर्यवियोगयागाद् बोधश्च मोहश्च मुहुर्दधाना ।

पुन पुनस्तत्र पुर-स पश्यत् बभ्राम ता सुभ्रुवमुद्भ्रमेण ॥ ५६ ॥

जीवातु—वेश्मेति । सा भौमी, धैर्यवियोगयागोपासक्य मुहुर्बोधश्च मोहश्च दधानेति यथामर्यालङ्कार । वेश्म निजावासमाप । नलस्तत्र ता सुभ्रुव भौमीम् उद्भ्रमेण धा त्या पुन पुरोऽग्रे पश्यन् बभ्राम । प्राप्याशयेति भाव । ऐतेन चापलाख्य सञ्चारिभाव उक्त । 'चापल त्वनवस्थानम् इति लक्षणात् ॥ ५६ ॥

अन्वय — धैर्यवियोगयागात् मुहुर्बोध मोह दधाना सा वेश्म आप, तत्र ता सुभ्रुवम उद्भ्रमेण पुन पुन पुर पश्यन् ता बभ्राम ।

हिन्दी-धीरज और विरह-दोनों के रहने में कभी ज्ञान और कभी मोह को धारण करती वह (दमयन्ती) घर गयी, और वहाँ उन मुन्दर भ्रुकुटि वाली (दमयन्ती) को उत्पन्न भ्रम के कारण बार-बार अपने समुख देखता वह (नल) मटकन लगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती धैर्यशास्त्रिणी थी, अतः वह चित्त को ममाङ्ग लेती थी, किन्तु वियोग के कारण पुनः मोह को प्राप्त हो जाती थी । इन दोनों स्थितिओं में पड़ती वह अन्ततः घर चली गयी और विरही नल 'त्रिभुवनपरि-तमप विरहे के अनुसार सर्वत्र दमयन्ती की ही समुख देखने इतर-उधर भ्रमण करने लगे । यही चलता सचारीभाव का बचन है, चलता जयादे मात्सर्यं, द्वेष, राग आदि के कारण अनवस्थिति—'मासर्पद्वेषरागादेस्त्वान्य त्वनवस्थितिः (सा० ३:१७८) । विद्यापद के अनुसार यद्यप्य और भावशक्तता अन्वय ॥ ५६ ॥

पद्म्या नृप सञ्चरमाण एष चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चिन् ।

विदमंराजप्रभवानिवासम् प्राणादमन्नङ्कूपमापमाद ॥ ५७ ॥

जोवानु—पद्म्यामिति । एष नृप पद्म्या सञ्चरमाणो गच्छन् । 'समन्वृत्तीषामुक्ताद्' इति तृतीया । चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चिद् पादचार-कण्ठेऽर्दतिहृच्छेषेण विदमंराजं प्रभवत् कारणं यस्यास्तस्या वैदम्या निवासम् । अन्नं कपतीत्यन्नकूपमत्पुत्रम् । 'सर्वकूलाभ्रकरीषेषु कथं' इति स्वप्न-रूपे मुपागमः । प्राणात् सौधमासमात् ॥ ५७ ॥

अन्वय—पद्म्या सञ्चरमाण एष नृप चिरं परिभ्रम्य कथं कथञ्चिद् विदमंराजप्रभवानिवासम् अन्नकूपं प्राणात् प्राप्तमात् ।

हिन्दी—वैदल चाटा-बच्छा यह राजा (नल) बहुत समय तक घूम-फिर कर किसी प्रकार विदमं नरेश की पत्नी (दमयन्ती) के पदतन्मयी (अद्भुत) प्राणात् में पहुँचा ।

टिप्पणी—ऊँचे प्राणात् के दुर्गम और दुःप्रवेश होने का सूचक ॥ ५७ ॥

सखीशताना सरमेविष्णुभिः स्मरावगेषघ्ननावहृत्तीम् ।

विलोक्यामाम सभा स भैम्यामन्य प्रतीनीमिषिवैदिकायाम् ॥ ५८ ॥

जीवातु-सखीति । नलस्तस्य प्रसादस्य प्रतोल्या प्राङ्गणे या मणिवेदिका तस्या सखीशताना सरसैः सानुरागैर्विलासैर्लौलाभि स्मरावरोधभ्रममावहती कायान्त पुरभ्रातिकरी भैम्या सभामास्थानी विलोकयामास ॥ ५८ ॥

अन्वय - न तस्य प्रतोलीमणिवेदिकाया सखीशताना सरसै बिलान् स्मरावरोध भ्रमम् आवहती भैम्या सभा विलोकयामास ।

हिन्दी-उस नल ने उस (प्रामाद) के आँगन में मणि जटित बेदी (चबूतरा) पर सँकड़ो (अनेक) सखियों के सरस शृंगार विलास से काम के अन्त पुर की भ्राति उत्पन्न करती भीमपुत्री की सभा को देखा ।

टिप्पणी-दमयन्ती की सखियाँ रति के समान तुन्दरी थीं और उनकी शृंगार चेष्टाएँ भी वैसी ही मोहक थी, अतः दमयन्ती की वह सभा काम की सभा जैसी प्रतीत हो रही थी । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ५८ ॥

कण्ठ किमस्या पिकवेणुवीणास्तिस्रो जिताः सूचयति त्रिरैख ।

इत्यन्तरस्तूयत कापि यत्र नलेन बाला कलमालपन्ती ॥ ५९ ॥

जीवातु-अथ कण्ठ इत्यादिभि चतुर्दशभिस्ता सभा वर्णयति-कण्ठ इति । यत्र सभाया कल मधुरमालपन्ती कापि बाला । नलेन तिष्ठो रेखा अस्य सतीति त्रिरैख अस्या कण्ठ पिकवेणुवीणास्तिस्र जिता सतीति सूचयति किमिति अन्तरत करणे अस्तूयत स्तुता । अत्र कण्ठरेखात्रयस्य विशेषणगत्या निजपिकादिष्वविजयसूक्तवोःप्रीक्षाहेतुक्त्वात्काव्यलिङ्गसङ्कीर्णैयमुत्प्रेक्षा ॥ ५९ ॥

अन्वय - यत्र कलम् आलपयन्ती बाला अस्या त्रिरैख कण्ठ पिकवेणु-वीणा तिस्र जिता - सूचयति किम्, इति नलेन अन्त अस्तूयत ।

हिन्दी-जहाँ (सभा में) मधुर आलाप करती बाला क्या यह सूचित कर रही है कि उम (बाला) के तीन रेखा पडे कण्ठ द्वारा कोकिल, वेणु और वीणा-तीना जीत ली गयी हैं ?-इस प्रकार नल ने मन ही मन प्रशंसा की ।

टिप्पणी-कोई बात सभा में राग आलाप रही थी । इतना मनोहर उसका स्वर था कि उसके समुक्त कोकिल, वशी और वीणा के स्वर नगण्य प्रतीत हो रहे थे । वह तुन्दरी 'कम्बुध्रीवा' (सखी सी धीवा बाली) थी,

त्रिम पर तीन पर रेखाएँ अंकित थीं। सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार त्रिरेख-
श्रीवा 'कम्बुप्रीवा' कहती है 'रेखात्रयाद्धिना श्रीवा कम्बुप्रीवेति कथ्यते।' ये
तीन रेखाएँ मानो निक-वेणु-शीला के जयार्ण कण्ठ ने धारण की थीं।
मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ काव्यलिंग-भङ्गीर्णा उपमा है, क्योंकि कण्ठ के
रेखात्रय को विशेषण यति से पितादि तीन का विद्वयमूचक होने से
उत्प्रेक्षा का हेतु कहा गया है। विद्याधर के अनुसार यहाँ द्वेकानुग्रह और
उत्प्रेक्षा है ॥ ५९ ॥

एत नल दमयन्ति । परम त्यजातिमित्पालिकुलप्रबोधान् ।

श्रुत्वा म नारीकरवतिशारीमुत्तान् स्दमाशङ्कन् यत्र दृष्टम् ॥ ६० ॥

जीवानु—एतमिति । स नलो यत्र समाया, नारीकरवतिशारीमुत्तात्
कान्ताकरगतशारिकामुत्तात्, हे दमयन्ति । तमेत नल पश्य । आनि पीडा
त्यज । इनेवंत्तान् आलिकुलप्रबोधान् आलिकुलस्य सखीजनस्य, प्रबोध्यते
एमिरिति प्रबोधान् आश्रामनोक्ती करणे घञ्प्रत्यय । श्रुत्वा स्वकीयान्मान
दृष्टमाशङ्कत । एत नल पश्येति निर्देशादेशानिर्देशोऽस्मीति शङ्कितवानित्यर्थः ।
शारीवाक्ये नारीवाक्यनूमादिनि भावः । अत्र एव नान्निमदलङ्कारो व्यज्यत
इति वस्तुनालकारश्चरति ॥ ६० ॥

अन्वय—यत्र नारीकरवति शारीमुत्तान्—दमयन्ति, तम् एत नलं
पश्य, अस्ति त्यज—इति आलिकुलप्रबोधान् श्रुत्वा म स्व दृष्टम् अशङ्कत ।

हिन्दी—त्रिम (समा) में नारियों के हाथ पर बनेमान शारिका
(मैना) के मुख में—दमयती, उस (प्रसिद्ध) इन नल को देख, दुस्र
छोड़—इस प्रकार सखियों द्वारा दिये आश्रामनो को मुतकर वह (नल)
जयने को देख त्रिये जाने की आशुका करने लगा ।

टिप्पणी—विरहिणी दमयती को नल के चित्रादि दिवाकर उमकी
सखियाँ जब तब आश्रामन दिया करती थी, त्रिमसे उसकी व्यथा कम हो ।
मुन-मुन कर मैना भी ऐसा ही प्रायः बोलने लगी । जब जहस्य नल समा मे
था, तब भी मैना ने ऐसा ही कहा । इससे नल डरने लगा कि कहीं उमकी
जग्य रहने की शक्ति समाप्त तो नहीं हो गयी और वह अब देख निया जा
रहा है । शारिका के वचनों में उसे नारी के वचनों का भ्रम हो गया ।

मान और क्या फिर उसकी अद्वितीयता । यहाँ तो चन्द्र ही चन्द्र है । अनन्य स्थिति तो हो ही जाती । मन्दिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार रूपक उपमा उत्प्रेक्षा का सकर ॥ ६२ ॥

दलोदरे काञ्चनकैतकस्य क्षणान्मयीभावुकवर्णं रेखम् ।

तस्यैव यत्र स्वमनङ्गलेख लिलेख भैमी नखलेखिनीभि ॥ ६३ ॥

जीवातु—दलेति । यत्र सभाया, भैमी, काञ्चनकैतकस्य स्वर्णकेतकी-कुसुमस्य, दलोदरे पत्रमध्ये, क्षणात् क्षणिति मयीभावुका श्यामीभवन्त्य वा रेखा अक्षरविद्यासा यस्मिन् तम् । तस्य नलस्यैव कृते स्व स्वकीयम्, अनङ्गलेख कामसन्देश, नखैरेव लेखिनीभि लेखनिकाभि लिलेख ॥ ६३ ॥

अन्वय — यत्र भैमी काञ्चनकैतकस्य दलोदरे क्षणात् मयीभावुकवर्णरेख तस्य एव स्वम् अनङ्गलेख नखलेखिनीभि लिलेख ।

हिन्दी—जहाँ (सभा में) भीमपुत्री ने सुवर्ण केतकी के पत्र के मध्य क्षण से मसी (स्याही) बन जाते वर्ण विन्यासशाली, जैसे वह उसका (नल निमित्त) ही हो, ऐसे, अनङ्गलेख (काम पत्र) को नखों की कनम से लिखा ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने परपरानुसार काम सन्देश स्वर्णकेतक के पत्र पर नखों से लिखा । मान्यता यह है कि स्वर्णकेतकी पर नखों के आलेख तुरन्त काले रंग के हो जाते हैं । इसी पर कल्पना है कि दमयन्ती के द्वारा केतकी का पत्र बनाये गये, काले पड़े नख चिह्न, उस काम सन्देश-पत्र के स्याही से लिखे अक्षरों के तुल्य प्रतीत होने लगे, जो उसने नल को ही लिखा । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास रूपक का सकर ॥ ६३ ॥

विलेखितु भोमभुवो लिपीषु सदस्याऽतिवख्यातिभृतापि यत्र ।

असाकि लीलाकमल न पाणिमपारि कर्णोत्पलमक्षि नैव ॥६४ ॥

जीवानु—विलेखितुमिति । यत्र सभाया लिपीषु चित्रकर्मणु । श्रुदिका-रादिकानो वा डीप्वकनव्य । अतिविख्यातिभृता अतिचतुरमापीत्यर्थे । सम्या भीमभुवो भैम्या लीलाकमल विलेखितुम् असाकि । भावे मुद् । राकेत्यादिना तुमुन्प्रत्यय । पाणि तु नासाकि । तदपक्षयोत्पृष्टत्वात् । तथा कर्णोत्पल

विलेखितुमपारि पर्याप्त, पूर्ववत्तुङ् । 'पर्याप्तवचनेध्वलमर्थेष्वि'ति तुमुन् प्रत्यय । अस्ति तु नापायैव सर्वोपमानातीतत्वात्तल्लावप्यस्येति भाव ॥६४॥

अन्वय — यत्र लिपीषु अतिवित्प्रतिभृता अपि सख्या नीमभूव लीला-
कमल विलेखितुम् अशाकि, पाणि न, कर्णोत्पलम् अपारि, अस्ति न एव ।

हिन्दी—जहां (समा में) चित्र बनाने में अत्यन्त प्रसिद्धि प्राप्त भी सखी द्वारा भीमनुता का लीलाकमल ही अक्षित किया जा सका, हाथ नहीं, चान में (जानूयण रूप) पहिला कमल (कर्णफूल) ही बन सका नेत्र नहीं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का हाथ और नेत्र कमल की जपेक्षा कशी सुन्दर थे, इतने कि कुशल से-कुशल चित्रकर्त्री उनके भौंदर्य को चित्रित नहीं कर सकती थी । सो उसकी बला की इयत्ता लीलाकमल और कर्णोत्पल को चित्रित करने में ही चुक गयी, अनुपम कर-नेत्र चित्रित करने की क्षमता रही हो नहीं । रमणीयता तो नित्य नव-नव रूपधारिणी होती है—क्षण यत्रवतामूर्षति सदैव रूप रमणीयताया, जो क्षण क्षण नया रूप ले ले, उसे कौन चित्रित कर सकता है ? विद्याधर के अनुसार प्रतीप अलंकार ॥ ६४ ॥

भैमीमुपावीणयदेव्य यत्र कलिप्रियस्य प्रियशिष्यवर्गं ।

गन्धर्ववध्व म्बरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकघुरीणवीणं ॥ ६५ ॥

जोवातु—भैमीति । यत्र समाया, गन्धर्ववध्वो गन्धर्वाङ्गना एव । कलि-
प्रियस्य प्रियकलहस्य नारदस्य । 'वा प्रियस्य' इति बहुव्रीही प्रियराब्दस्य परनिपात । प्रियशिष्यवर्गं । स्वर एव मधु क्षौद्र तेनारीणमारक्त पूर्णं मति यावत् । 'त्वादिभ्य' इति निष्ठानत्वम् । तेन तस्या भैम्या कण्ठनालेन सह एकधुर बहन्तीत्येकधुरीणा समा इत्ययम् । 'एकधुराल्लुकू च' इति स्रज्प्रत्यय । ता वीणा यस्य स सन्नेत्यागत्य भैमीमुपावीणयत् वीणया उपगायति स्म । 'सत्यापपाणे'त्यादिना णिचि लङ् । गानविद्याया गन्धर्वीणामप्युपास्या भैमीत्यर्थं ॥ ६५ ॥

अन्वय—यत्र स्वरमध्वरीणतत्कण्ठनालैकघुरीणवीण कलिप्रियस्य प्रिय-
शिष्यवर्गं गन्धर्ववध्व एव भैमीम् उपावीणयत् ।

हिन्दी—जिस (समा) में स्वर मधु से पूर्ण उस (दमयन्ती) की कंठ नली की एक धुरीण (सद्ग) वीणाधारिणी, कन्हप्रिय (नारद) की

प्रिय सिप्या गन्धर्वं वसुएँ वाकर भीमसुता के समुच्च वीणा पर गान करती थी ।

टिप्पणी—दमयती के कमल मुख का कठनाल इतने माधुर्य से पूनक कि उससे प्रवहणशील स्वर के समुच्च गधर्वरमणियों के वठस्वर और उनका बजायी वीणाके स्वर फीके थे, यद्यपि सहज गानप्रिय गधर्ववधुओं ने नारद व वीणा-वादन सीखा था, जो इम विद्या—गानविद्या के भी अद्वितीय आचम माने जाते हैं । ऐसी गधर्ववधुएँ भी गान और वादन में दमयती से कुछ सीखा ही करती थीं । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ ६५ ॥

नावा स्मर कि हरभीनिगुप्ते पयोधरे खेलति कुम्भ एव ।

इत्यर्धचन्द्रामनगाङ्गुचुम्बिकुचा सखी यत्र सखीमिरुचे ॥ ६६ ॥

जीवानु—नावेति । यत्र समाया अर्धचन्द्रामनगाङ्गुचुम्बी अर्धचन्द्रामन-नखसतभाक्कुचो मस्या ना सखी । स्मर हरभीत्या गुप्ते, गुप्त्यर्थमिदं सम्बन्धमामान्ये पट्टी । पयसा क्षीराणा नीराणाञ्च धर पयोधर कुच । 'पय स्यात् क्षीरनीरयो' इति विश्व । तस्मिन्नेव कुम्भ इति व्यस्त रुक्म् । नावा नवाङ्कुनेवेति दीप । खेलति दाह्याष्टाराम विहरति किमिति रूपकसङ्कीर्ण-मुत्प्रेक्षा इति सखीमिरुचे उक्ता ॥ ६६ ॥

अन्वय—यत्र अर्धचन्द्रामनगाङ्गुचुम्बिकुचा सखी सखीमि. इति ऊचे किम् स्मर हरभीतिगुप्ते पयोधरे एव कुम्भे नावा खेलति ?

हिन्दी—जहाँ (समा में) आधे चन्द्रमा के तुल्य नख चिह्न से चुम्बित (युक्त) कुचोवाली सखी से अन्य सतियों ने कहा—'क्या काम शिव के डर से उठने के लिए, पयोधर (कुच) पर पयोधरकुम्भ (जलभरे घड़े) पर नौका विहार कर रहा है ?

टिप्पणी—नवाङ्कन चिह्न से युक्त कुच-दर्शन कर अन्य सतियों द्वारा एक सखी की गुप्त कामक्रीडा का उपहास । काम हर-नेत्र-ज्वाग से जल गया था, अत उक्त शीतल स्थान अवगिप्त था, सा वह सखी के 'पयोधर' (जलपूर्ण होने से शीतल) पर शीतलताशयी नौकाविहार कर रहा था । दाह्याति के अतिरिक्त स्वरणा की चिन्ता भी काम का ही मन्त्री थी, सी

वह ऐसे स्थल पर जा पहुँचा जहाँ सिद्धी जो पहुँच न हो। सिद्ध परम्प्री का कुचस्पर्श नहीं करेग। एक तो मोतिराज है, दुसरे पार्वती का डर भी होना—
 'हरे' नीत्या मुझे पयोधरे' (हर से हर के द्वारा गुण्य-पराहित पयोधर में)।
 प्रकाशकार ने 'हरमोतिपुष्पे' को विदेश-वाचक म्बोधन भी माना है—
 सिद्धी के द्वारा पार्वती के डर से न हुई जा सकने वाली है मन्त्री, तरे पयोधर
 पर निनय हो काम नोका विहार कर रहा है। नायका ने इस प्रकार भी
 पदच्छेद किया है—'हरमोतिपुष्पे स्मरते पयोधरे एव कुम्भे मेवति।' हर
 का नय न्य ईति (परपद) लम्बे कारण सिद्ध (हरमोतिपुष्पे ईति
 लम्बाशानान मोरपति) काम। यह कल्पना भी है कि काम ने सोचा कि
 उल्ल मन्त्री का नखागुप्त स्तन देख कर सिद्ध भी मुग्ध हो जाये और उनका
 शोध शब्द हो जायेगा, जो निश्चित काम पयोधर-कुम्भ पर बैठा नोका-
 विहार कर रहा है। नच्छिनाप ने पयोधर-कुच में बन्ध रूपक और दाह-
 परिहार के निमित्त मेवत् को उत्प्रेक्षा मान कर, यहाँ कल्पमन्त्री का उचना
 मानी है, बिनाप के उच्यार उत्प्रेक्षा-उचना रूपक उच्यार है ॥ ६६ ॥

स्मरागुणोन्मय विदमंभुश्रुतश्री यदशोभि सन्तु प्रमूने ।

सुख मृदन्त्या मदशोधि तेषु यत्रैक्या मूचिचिस्ता निजान ॥ ६७ ॥

जावान्-स्मरेति । प्रमूने कुमुमे स्मरागुणोन्मय कामवागी मूचा विदमं-

मुश्रुतो वैदम्यां वशो हृदयनशोभि क्षोभित क्षत्विति यत् । हृत्क्षोभनवरे पर
 सनाया, तेषु प्रमूनेषु मूचिचिस्ता मूच्यध, निजाय निजुत्थ, मृद माया मृदन्त्या
 एक्या क्वाचिक्वातया, जगोषि निर्वाहितम् । हृदयच्छेदिना हृदयच्छेद एव
 प्रतीकार इति भावः ॥ ६७ ॥

जन्वय —यत्र प्रमूने स्मरागुणोन्मय विदमंभुश्रुतश्री यत् जमोभि यत्
 शनु तेषु मूचिचिस्ता निजाय सुख मृदन्त्या एक्या जगोषि ।

हिन्दी—यहाँ (उना में) फूलों ने काम-बाग होकर सुन्दर वृक्षों
 वाली वंदनी (दमन्ती) के हृदय को जो पीड़ित किया था, निरवय रूप से
 उन (फूलों) में सुई को नोक ठार कर माया मूचती एक (सती) ने
 उनका प्रतीकार किया ।

टिप्पणी—फूलों ने बाणरूप में विरहिणी दमयन्ती को व्यथा दी, उन्हीं मालाकारिणी ने उन फूलों के हृदय में सुई चुभाकर उसका उचित बरत ले लिया । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास उत्प्रेक्षा का सकर ॥ ६७ ॥

यथावदत्तामतिभीय भेमी त्यज त्यजेद सखि साहसिकवयम् ।

त्वमेव कृत्वा मदनाय दत्से बाणान् प्रसूनानि गुणेन सज्जान् ॥ ६८ ॥

जीवातु—यत्रेति । यत्र समाया, ता सृक्सृष्टी सखी, भेमी अतिभीय नत्वत् भीत्वा । भीघातो नत्वो त्यबादेश । अबदत् । किमिति, हे सखि । इमः सहसा वनंत इति साहसिक अविमृश्यकारी 'ओजस्वहोऽमसा वतत' इति ठक् । तस्य कर्म साहसिकवय ब्रह्मणादित्वात् व्यञ्जप्रत्यय । त्यज त्यज । तु त्वमेव प्रसूना यत्र बाणान् गुणेन तन्नुना जयया च । 'गुणस्त्वावृत्तिशब्दाग्निरेन्द्रियामुत्पत्तन्तुषु' इति वंजयन्ती । सज्जान् सक्तान् कृत्वा, मदनाय दत्से ददासि । सदेतेत इति एक दहतो बह्वोर्वायुना सन्धुक्षणमिति भाव ॥ ६८ ॥

अन्वय—तु भेमी अतिभीय ताम् इति अबदत्—सखि, त्यज इदं साहसिकवयं त्यज, त्वम् एकं मदनाय प्रसूनानि बाणान् गुणेन सज्जान् कृत्वा दत्से ।

वृन्दो—जिस (सभा) में भीमनदिनी अत्यन्त डर कर उस (मालाकारिणी) में यह बोली—सखी, हेतु इस अकस्मात् कृत (विना विचार किये) को ओह, तू ही काम को मन्त्रों के रूप में बाणों को प्रत्यक्षा से सज्जित करके दे रही है ।

टिप्पणी—मालाकारिणी को बाणरूप में फूलों को गुथते देख दमयन्ती बहुत डर गयी उस लगा कि अब तक तो य पुष्पबाण प्रत्यक्षा पर चढ़े नहीं थे, काम इन्हे गुण पर प्रवृत्त था, तन्निहार करता था । यह मालिन तो फूलों को गुण-डोरी में सजाकर काम को काम सरल बना रही है, पुष्पबाणों को सगुण-प्रत्यक्षा मुक्त कर रही है । अब तो काम और शीघ्र आघात कर सकेगा । दमयन्ती ने मालिन से इसीलिए माला गुथन का निषेध किया । 'त्यज-त्यज' की द्विरक्ति मय की अधिकता के चोतनाथ है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ६८ ॥

मालिरय सख्या कुचपत्रमङ्गीमध्ये सुमध्या मकरी करेण ।

यथावदत्तामियमालि यानं मन्ये त्वदेकावल्लिनाकनद्या ॥ ६९ ॥

जीवानु—जालिन्देति । यत्र सनाया, सुमध्या वापि वाग्ता सख्या कुचयो
 पत्रनर्तना पत्ररचना मन्थे मकरी वदेनाल्लिख्य ता मखीभवदत् । किमिति, हे
 जालि सखि, इय मकरी त्वदेकादलेवेव हारविद्येभ्यैव । 'एकावत्येकमष्टिका'
 इत्यमर । नाइनद्या मन्दाकिन्या इति न्यक्तम् । यान वाहन, 'मकरीवाहना
 मङ्गा' इति प्रतिष्ठि । मन्थे अवोत्प्रेक्षा । तस्याम्बोवदरूपकेष सङ्कर ॥६९॥

अन्वय—यत्र सुमध्या सख्या कुचपत्रनर्तनामन्थे मकरी वरेण जालिन्द्य
 अवदत्—जालि, इय त्वदेकादलिनाकनद्या यान मन्थे ।

हिन्दी—जहाँ (सना में) सुन्दर मध्याग (कटि) वाली (सखी)
 दूसरी सखी के कृपां पर पत्रवर्त्ता के मध्य मकरी को हाथ से चिबित कर
 कह रही थी—मखी, इन्ने तेरी मोठी की एकलठीपाला रूप देवतदी
 (मन्दाकिनी) का वाहन समझती हूँ ।

टिप्पणी—शुभ्र पत्रावली की तुलना मोठी की एकलठी तुल्य शुभ्र
 मन्दाकिनी से की गयी । माना जाता है कि मन्दाकिनी गंगा का वाहन
 मकरी है । पत्रावली पर देवतदी का आरोप किया गया है, अतः यह रूपक है
 और 'मन्थे' उत्प्रेक्षामुचक है । इस आधार पर यहाँ मन्दिनाय ने रूपक-
 उत्प्रेक्षा के उदर का निर्देश किया है । विद्याधर के अनुसार यहाँ द्वैकानुशास-
 रूपक का सङ्कर है ॥ ६९ ॥

तामेव मा यत्र जगाद भूयः पयोषियादः कुचकुम्भयोन्थे ।

सेय म्यिना तावकहृच्छयाङ्कप्रियान्तु विन्त्यारयःप्रशन्ति ॥ ७० ॥

जीवानु—तामिति । यत्र सा पूर्वोक्ता प्रसाधिका तामेव सखी भूयो
 जगाद । किमिति । पयोषियादो जगाद् सनुदसम्भव इत्यर्थ । किञ्च,
 तावकस्य हृच्छयस्य मकरध्वजस्याङ्की मकरस्य प्रिया दमिता । ते तव,
 कुचकुम्भयो स्थिता, सेय मकरी विस्तारयद्यमन्सयोरेव परोपाहकोत्ते प्रशन्ति
 स्तुतिवर्षावन्तिरस्तु ॥ ७० ॥

अन्वय—यत्र सा ताम् एव भूय जगाद—तावकहृच्छयाङ्कप्रिया
 पयोषियाद सा ते कुचकुम्भयो स्थिता सतु इय विस्तारयद्यमन्सयोरेव
 प्रशन्ति अस्तु ।

हिन्दी—जहाँ (सभा में) वह (पूर्वोक्ता सखी) उसी (पूर्वोक्ता पत्रावली शोभिता सखी) से फिर बोली—तेरे हृदय में स्थित (काम) के चिह्न (मकर) की प्रिया समुद्र का जन्तु यह (मकरी) तेरे कुचरूप पड़ों पर बैठी निश्चयपूर्वक (कुचों की) विशालता की कीर्ति की प्रशंसा बने।

टिप्पणी—जहाँ प्रिय, वही उत्तकी प्रिया। सुन्दरी के मन में अपने बाह्यसहित काम स्थित है, सो वही उत्तकी प्रिया मकरी भी होनी उचित है। कुचों की विशालता और गहनता मकरी के प्राकृतिक आवास समुद्र से भी उत्कृष्ट है, अतः वह जलजन्तु मकरी मागर का परित्याग कर सुन्दरी के कुचकुम्भों पर आ बैठी। इस प्रकार उसने कुचों का यशोगान किया कि ये पीवरता गहनता में समुद्र से भी उत्कृष्ट हैं। विद्याधर के अनुमार रूपक ७०।

शारी चरन्ती मन्त्रि मारयैनामित्यशदाये कथिते कयापि ।

यत्र स्वघातभ्रमभीरुशारीकाकृत्यसाकूतहस स जज्ञे ॥ ७१ ॥

जीवातु—शारीमिति । यत्र स नल, कयापि । कितवया इति शेष ।

हे सखि, एना चरन्ती भ्रमन्ती, शारीमक्षोपकरण दाशुविकार, शारिकास्यां शकुन्तिकामित्यर्थान्तरेण शकुन्तिकाया भयोत्पत्ति । 'शारी त्वक्षोपकरणे तथा शकुनिकान्तर' इति विश्व । मारय प्रहर । इति अशदाये अशा पाशका । 'अशास्तु देवका पाशकाश्च ते' इत्यमर । तेषां मन्त्रघो दायो दानम् । 'दायो दाये यौतकादिघने वित्ते च पैतृके' इति वैजयन्ती । तस्मिन् कथिते स्वघाते आत्ममारणे, भ्रमेण भ्रान्त्या, भीरोर्भौताया शार्या शारिकाया काक्वा विद्वृत-स्वरेण उत्थ उत्थित, साकूत भावगर्भो हसो हासो यस्य न, 'स्वनहमोर्वा' इति विकल्पादन्प्रत्यय । जज्ञे घात ॥ ७१ ॥

अन्वय —यत्र-मति, एना चरन्ती शारी मारय-इति कथा अपि अशदाये कथिते स स्वघातभ्रमभीरुशारीकाकृत्यसाकूतहस जज्ञे ।

हिन्दी—जहाँ (सभा में)—हे सखि, इस (एक घर से दूसरे घर) विचरती (जाती) शारी (घटरज की शोट) को मार-इस प्रकार किसी (गली) द्वारा गोठियों के खेल (चोपट आदि) में मर जाने पर यह (नल) अपने मारे जाने के भ्रम से भ्रान्तित शारी (मैना) के पाशु (भय से विद्वृत स्वर) से उत्पन्न भावगर्भ हास न युक्त हा गया ।

टिप्पणी—गोटियों के खेल में एक गोटी को दूसरी गोटी से पीटा जाता है, जिसे 'गोटी मारना' कहा जाता है। अनेकार्थ 'शारी' (गोटी और मैना) के प्रयोग में यहाँ चमत्कार चारुता लायी गयी है। एक सखी ने गोटी खेलती दूसरी से कहा कि अमुक गोटी को मारने से जीत हो सकती है, उन उस 'शारी' को मार। शारी (मैना) मनशी कि उसे मारने को कहा जा रहा है और वह डर कर नय मूचक बोनी बोलने लगी। इन पर नल को हनी आ गयी। विद्याधर के अनुसार भावोदय अङ्ककार ॥ ७१ ॥

भैमीसमीपे न निरीक्ष्य यत्र ताम्बूलजाम्बूनदहस्यङ्गमां ।

कृतप्रियाद्वयमहोपकारमरालमोहद्रटिमानमूहे ॥ ७२ ॥

जीवानु—भैमीति। यत्र समाया, नलो भैमीसमीपे ताम्बूलस्य जाम्बूनदहस्यो हिरण्यहनाकार करव तस्य लक्ष्मीं निरीक्ष्य, कृत प्रियाया भैम्या द्वयमेव महोपकारो येन तस्मिन् मराले हसे, मोहस्य भ्रमस्य द्रटिमान दाटधंम् 'र श्रुतो हगदेलंघो' स्तिपुकारस्य रभाव । ऊहे ऊडवान् । वहे कर्नरि लिट् । 'वचित्स्वपि' इत्यादिना सम्प्रसारणम् ॥ ७२ ॥

अन्वय —यत्र न भैमीसमीपे ताम्बूलजाम्बूनदहस्यङ्गमां निरीक्ष्य कृत-प्रियाद्वयमहोपकारमरालमोहद्रटिमानम् ऊहे ।

हिन्दी—निम (ममा) में उन (नल) को भीमपुत्री के निकट ताबूल (पान) रखने के लिए बने सोने के हय (स्वर्ण हय) को गोमा को देखकर प्रिया (दमयन्ती) के प्रति दूत बनकर जिसने महान् उपकार किया था, उस स्वर्ण हय का रट भ्रम हो गया ।

टिप्पणी—पान रखने के लिए ऐसा उट्टू स्वर्णहय के आकार का बना पात्र दमयन्ती के पान रखा था कि उसे नल ने सचमुच का स्वर्णहय समझ लिया, नल को भ्रम हीं गया कि यह वही उपकारी स्वर्णहय है, जिसने दमयन्ती को उसका प्रणय-सुदेश दिया था। विद्याधर के अनुसार भ्रान्तिमान् अलकार ॥ ७२ ॥

तस्मिन्निय सेति सखीसमाजे नलस्य सन्देहमयं व्युद्गम्यन् ।

अपृष्ट एव स्फुटमाचक्षसे न कोऽपि रूपानिगयः स्वयं ताम् ॥ ७३ ॥

जीवातु—तस्मिन्निति । अथ समालोकनात्तर तस्मिन् सखीसमाजे नलस्य सन्देह का वात्र भैमीति सशय व्युदस्यन्, स प्रसिद्ध कोऽपि श्पातिशय सौन्दर्यविशेष । स्वयमपृष्ट इव ता भैमी, सा भैमी इयमिति स्फुटमाचक्षणे । आचक्ष्यो । विश्वातिशयिसौन्दर्यसाक्षात्कारादिय दमयतीति निश्चिकायेत्यर्थः ।

अन्वय —अथ तस्मिन् सखीसमाजे नलस्य सन्देह व्युदस्यन् स क अपि रूपातिशय स्वयम् अपृष्ट एव ता स्फुटम् आचक्षते ।

हिंदी—तत्पश्चात् (समा का अवलोकन करने के अनन्तर) उन सखियों के समाज (समूह) में नल का सन्देह मिटाते उस लोकोत्तर सौंदर्य सागर ने स्वयं बिना पूछे गये ही उस (दमयन्ती) को स्पष्ट बतला दिया ।

टिप्पणी—अब तक नल दमयन्ती को पहिचानता नहीं था, किशो सुन्दरी को देखकर वह दमयन्ती के भ्रम में पड़ जाता था । अब सखियों के मध्य बैठी अनुपम सौन्दर्यशालिनी दमयन्ती अपने आप स्पष्ट हो गयी । उसके अद्वितीय सर्वजयी सौन्दर्य ने अब सखियों के मध्य दमयन्ती को स्पष्ट कर दिया और बिना पूछे ही नल का दमयन्ती विषयक भ्रम मिट गया । अथवा ताम्बूल पात्र रूप में बैठे अति सुन्दर हंस के निकट बैठे होने से नल समझ गया कि दमयन्ती वही है, जिसके निकट प्रणय दूत हंस बैठा है । विशाखर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ७३ ॥

भैमीविनोदाय मुदा सखीभिस्त्रिदाकृतीना भुवि कल्पितानाम् ।

नातर्कि मध्ये स्फुटमप्युदीत यस्यानुविम्ब मणिवेदिकायाम् ॥ ७५ ॥

जीवातु—भैमीति । भैम्या विनोदायौत्सुक्यापयोग्य मुदा कौतुकेन, सखीभिर्भुवि भूतले, कल्पिताना तस्य नलस्याकृतीना प्रतिकृतीना मध्ये मणिवेदिकाया स्फुटमुदीतमपि तस्य नलस्य अनुविम्ब नातर्कि न तर्कितम् । तत्रापि स्वल्पितकृतिसाम्यादिनि भाव । अतएव सामान्यालङ्कारे तेन न भ्रांतिमान् व्यग्यत इत्यलङ्कारेणालङ्कारध्वनि ॥ ७४ ॥

अन्वय—भैमीविनोदाय मुदा सखीभिः भुवि कल्पितानां तदाकृतीना मध्ये मणिवेदिकाया स्फुटम् उदीतम् अपि तस्य अनुविम्ब न अतर्कि ।

हिंदी—भैमिसुता के विनोदाय के निमित्त प्रसन्नता पूर्वक सखियां

द्वारा धरती (पृथ्वी) पर दनी उन्न (नल) की आकृतियों के मध्य मणिवेदी पर स्पष्ट प्रकट होते ही उन्न (न) के प्रतिबिम्ब की किसी को समावना न हुई ।

टिप्पणी—अस्य नल का प्रतिबिम्ब यद्यपि मणिवेदी में स्पष्ट हो रहा था, फिर भी उससे नल के वहाँ उपस्थित होने की समावना किसी ने नहीं की, क्योंकि वहाँ भैमी का मन बहलाने के लिए पहिले से ही पृथ्वी पर अनेक नल की आकृतियाँ दनी हुई थीं : वे इतनी अनुरूप थीं कि साक्षात् नल की प्रनिच्छामा भी उनसे भिन्न प्रतीत न हुई । अनेक आकृतियों के बीच नल की विशिष्ट आकृति के सामान्य ही प्रतीत होने से 'सामान्य' बल्कार हुआ, उससे भ्रम उत्पन्न हुआ और इस प्रकार 'सामान्य' से आतिमान् की व्यञ्जना हुई, अतः मन्त्रिणाप ने बल्कार ध्वनि का निर्देश किया है । विद्यापर के अनुसार मन्त्रिण जन्कार है ॥ ७४ ॥

हृताशनीनाशजलेशदूनीनिराकरिणोः वृत्ताकुयाच्या ।

भैम्या वचोभिः स निजा तदाशा न्यवर्तयद्दूरमपि प्रयाताम् ॥ ७५ ॥

ओवानु - हृताशेति । वृत्ता काक्वा याच्या शायंता यामिस्ता चित्त-
बालनचतुरोक्तेरित्यर्थं । हृताशनीनाशजलेशा बह्विधमवहना । 'प्रतिपतिः
पितृपतिश्च कीनाश' इति ह्यनुषुष । तेषां हृती निराकरिणो परिहरन्त्या ।
'अल वृत्' इत्यादिना इप्पुञ्प्रत्यय । 'न लोक' इत्यादिना ष्टीप्रतिषेधाद्
द्वितीया । भैम्या वचोभिः स नलो दूर प्रयाताम् इत्यादिनादेन लुप्तप्रानामपि
निजा स्वकीया तदाशा भैमीनृणां न्यवर्तयत् निवर्तित्वात् । पुनस्तत्प्रत्याशाम-
कार्योदित्यर्थं ॥ ७५ ॥

अन्वय—वृत्ताकुयाच्या हृताशनीनाशजलेशद्वी निराकरिणो भैम्या
वचोभिः स दूर प्रयाताम् अपि निजा तदाशा न्यवर्तयत् ।

हिन्दी—दीन स्वर में शायंता करती जग्नि, दम और वरुण की दून्दियों
का निराकरण करनेवाले भैमी (दमयन्ती) के वचनों के कारण उस (नल)
ने दूर चली गयी थी अपनी उस (दमयन्ती से सबद्ध) की आशा कष्ट
प्रत्यावर्तन कर लिया (लौटा लिया) ।

अन्वय*—वासव स्वा सञ्जीलम् आलिङ्गनमा उपपीडम् अनामय पृच्छति शेष त्वदाश्लेषकथाविनिर्दि तद्रोमभि भवत्य सन्दिदिशे ।

हिन्दी—इंद्र तुम्हारा सविलास गाढ आलिंगन कर स्वास्थ्य समाचार पूछते हैं, तुम्हारे आलिंगन की कथा से विकसित उनके रोमों द्वारा आपकी शेष संदेश भेजा गया है ।

टिप्पणी—शिष्टाचार मर्यादा का पालन करते इंद्र ने पहिले दम्यती का 'अनामय' (स्वास्थ्य समाचार) पूछा । मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण का कुशल पूछा जाता है और क्षत्रिय का अनामय, वैश्य का क्षेम तथा शूद्र का वारोग्य—'ब्राह्मण कुशल पृच्छेत् क्षत्र पृच्छेदनामयम् । वैश्य क्षेम ममागम्य शूद्रमारोग्यमेव च ।' आलिङ्गन की कल्पना मात्र से रोमांकित हो संदेश भेजना इंद्र के अनुराग की अभिव्यक्ति है । आलिङ्गन क शिष्टाचार के रूपमें कथनमात्र से इंद्र का रोम रोम पुञ्जित हो गया ॥ ७८ ॥

य प्रेयमाणोऽपि हृदा मघोनस्त्वदर्शनाया ह्रियमापदाग ।

स्वयवरस्थानजुपस्तमस्य वधान कण्ठ वरणस्रजैव ॥ ७९ ॥

जीवातु—य इति । हे भूमि, मघोन इंद्रस्य य कण्ठस्त्वदर्शनाया विषये हृदा प्रेयमाणोऽपि ह्रिममेवागोऽपराधमापत् । हीनस्याधिक प्रति माच्छासद्भोक्तेः अपराध एवेति भाव । स्वयवरस्थानजुप स्वयवरमागतस्य अस्येन्द्रस्य तमनराधिन कण्ठ वरणस्रजा भनृवरणमालिकया एव वधान । ईश्यापराधिनामीश्वर्य एव दण्ड इति भाव । सद्यथा लज्जा प्रविहाय प्रार्थना कुर्वन्तो महेन्द्रस्य मनोरथ-पूरण कार्येमिति तात्पर्यार्थं ॥ ७९ ॥

अन्वय —नपान म त्वदर्शनाया हृदा प्रेयमाण अपि ह्रियम् आग आपत्, स्वयवरस्थानजुप अस्य त कण्ठ वरणस्रजा एव वधान ।

हिन्दी—इंद्र का जो (कण्ठ) तुम्हारी मासना में हृदय से प्रेरित होता हुआ लज्जा-रूपी अपराध को प्राप्त हो गया, स्वयवर के स्थान में बैठे उस (इंद्र) के उस कण्ठ को तो वरण माला में ही बाँध लो ।

टिप्पणी—इंद्र का प्रणय लज्जाके कारण गद्गद् कण्ठ से बाहर ही नहीं जाना, यह लज्जाव्राप्य अपराध उससे हुआ । इस अपराध का दण्ड यही है कि दम्यती उस अपराधी कण्ठ में बधन टाक दे, किन्तु जजीरा के बधन

में नहीं, बरन-भाण के बदन में । जैसा अरराध, वैसा ही दड । नाव यही है कि इन्द्र दनयती के प्रति अनौन जनुरायी है, दनयती को उसे ही बरना उचित होगा । प्रनयापरानी को प्रनय-बधन में बाध कर दड दो । विद्यावर के अनुत्तार रूपक अलंकार ॥ ७९ ॥

नेन त्यज क्षीरघिमन्यनाद्यैरम्यानुज्जागोद्गमिनामरैः श्रीः ।

अम्मै विमन्येऽसुरनोदमन्या ध्राम्यन्तु नोत्यापप्रितु श्रियते ॥ ८० ॥

जीवानु-नेति । हे नैमि, एनमिन्द्र, न त्यज । तथा हि, यैरमरैः अम्येन्द्रस्य अनुजाय उदेद्राय । तादस्यै चतुर्थी । क्षीराणि धीयतेऽभिनििति क्षीरधिः क्षीरोदधि । 'कर्मन्वपिक्रमे च' इति क्विप्रत्ययः । तस्य मन्थनात् मयनाहुपायात्, मन्थतेनौवादिक्त्वेऽदित्वान्नुनासगम । श्री रमा उद्गमिता उत्पापिता । ते अनरा अम्मै इद्राय । पूर्ववच्चतुर्थी । इसुरस एवोदक यस्य तमिसुरनोद नानाग्निम् 'उदकस्योद' सत्रायाम्' इत्युदादेशः विनध्य मपित्वा अन्या श्रियम् उत्पापयितु न ध्राम्यन्तु न प्रनस्यन्तु । द्वितीयाया श्रिया त्वयैव उदेन्द्रवदिन्द्रत्यापि लक्ष्मोपजिन्वे तपोरवैषम्याय देवताना लक्ष्मन्तरमम्यादनप्रमासो न स्यादिति भावः । अत्रामराणां लक्ष्मन्तरोन्वादनप्रयत्नासम्बधेऽपि तत्सन्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेदः ॥ ८० ॥

अन्वयः—एन न त्यज, मैं अनरें अस्य अनुजाय क्षीरघिमन्यतात् श्री उदागमिता, ते अम्मै इसुरसोर्द विनध्य अन्या श्रियम् उत्पापयितु न ध्राम्यन्तु ।

हिन्दी—इम इन्द्र को = छोडो, जिन देवों ने इसके जनुज (विष्णु-उपेंद्र) के लिए क्षीरसमुद्र के मथन में श्री (लक्ष्मी) का निर्गमन किया, वे इन (दड) के निमित्त ईश्वर का रस-समुद्र मपकर एक जोर लक्ष्मी के निर्गमन के निमित्त धन न करें ।

विष्णुजी—छोटे भाई उपेंद्र विष्णु को लक्ष्मी जैसी पत्नी देने के लिए देवों ने क्षीरसमुद्र-मथन जैसा कठिन परिश्रम-साध्य कार्य किया, अब इन्द्र को उस लक्ष्मी से अधिक मनोह्र पत्नी मिलना आवश्यक है, क्योंकि वह उपेंद्र है—अप्रज । अद्रज को जनुज की अपेक्षा श्रेष्ठ वस्तु मिलनी ही चाहिए । दनयती लक्ष्मी से श्रेष्ठ है । यदि इन्द्र को वह बर ले, तो बेचारे

देवों को पुनः परिश्रम नहीं करना पड़ेगा, अन्यथा लक्ष्मी से अधिक मनीषा पता इन्द्र को उपलब्ध कराने के लिए देवा को फिर से इक्षु-रस समुद्र के मथन में खटना पड़ेगा। दमयन्ती को उचित है कि वह देवों से पुनः व्यर्थ परिश्रम न कराये। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ असबध मे सबध कथन रूपा अति शयोक्ति है, क्योंकि देवों का अन्मलक्ष्मी-उत्पादन प्रयत्न असबध मे सबध वा कथन है ॥ ८० ॥

लोकस्रजि शीर्दिवि चादितेया अप्यादितेयेषु महान्महेन्द्र ।

किं कर्तुमर्थो यदि सोऽपि रागाज्जागति कक्ष्या किमतं परापि ॥ ८१ ॥

जीवातु—लोकेति । लोकस्रजि स्वर्गादिलोकपत्नी शीर् स्वर्गो महती । दिवि च अदित्या अपत्यानि पुमास आदितेया देवा महान्त । कृदिकाराङ्गी यन्तात् स्त्रीभ्यो ङक् । आदितेयेष्वपि महेन्द्रो महान् । स महेन्द्रोऽपि रागात् किं कर्तुं सेवितुमर्थो इच्छुयंदि । किशब्दस्यास्य सर्वादपठितस्य निषोक्तित्वाद्वातो प्राक् प्रयोग । अर्थयतेरिच्छायत्वात् समानकर्तृकेषु तुमुन् । अतोऽस्मादिन्द्रसेव्यत्वात् परा कक्ष्यापि उत्कृष्टावस्या च जागति स्फुरति किम् ? न जागतीत्यथ । अत्र लोकादिषु पूर्वपूर्वापक्षयोत्तरोत्तरस्योत्कर्षोक्ते सारालङ्कार । उत्तरोत्तरमुत्कर्षं सार इति लक्षणात् ॥ ८१ ॥

अन्वय — लोकस्रजि शी, दिवि च आदितेया, आदितेयेषु अपि इन्द्र महान्, स अपि रागात् यदि किञ्चित् कर्तुं अर्थो, अतः परा अपि कक्ष्या जागति किम् ?

हिन्दी—लोक भालामे (सब लोको मे) स्वर्ग बड़ा है, और स्वर्ग मे अदिति की सत्तान देव बड़े हैं देवा मे भी इन्द्र बड़ा है । वह (इन्द्र) भी अनुराग से यदि तेरा किञ्च बनना चाहता है तो इससे भी अधिक उत्कृष्ट अवस्था की कामना जाग रही है क्या ?

टिप्पणी—आशय है कि लोका मे श्रेष्ठ स्वर्ग के श्रेष्ठ वासियों मे श्रेष्ठ इन्द्र दमयन्ती वा किञ्च बनना चाहता है । यह तो सबसे बड़ा सीमाव्य है । दमयन्ती को इससे अधिक क्या मिलेगा ? सो इन्द्र-वरण ही उचित है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्तरोत्तर उत्कर्ष-वचन रूप सार अलङ्कार है ॥ ८१ ॥

पद शनेनाः स्वैर्दिन्द्रमन्मं न ने दात्रन्व दुनाः ।

कुरु प्रमाद तदत् कुरुन्व स्वीकारकृद्भ्रूतदनक्रमेण ॥ ८२ ॥

जीवानु—पदमिति । इन्द्र शनेन मर्षं मघशनेन मघदमिन्द्रतदलम्भा
म्यानमान प्राप स इन्द्रस्त्वमं पदान् तत्पदस्वीकारादिन्पयं । ते तत्र माघनेन
प्रार्थनया चाट्टकारं प्रियवद । ज्ञात इति शेषः । न शब्दस्वीकारेत्यादिना ट्प्रत्य-
यविधेयात् वनंमम् । प्रशानननुग्रहं कुरु । तदत्र पद स्वीकारकृता जगोकार
व्युत्पन्नेन भ्रूतदनक्रमेण भ्रूविधेयव्यापारेण, जल कुरुन्व ॥ ८२ ॥

उन्वय—इन्द्र शनेन मर्षं पद पदम् आर, स' त्वमं ते पावनचाट्ट-
वारं, प्रमाद कुरु, एवं स्वीकारकृद्भ्रूतदनक्रमेण अल कुरुन्व ।

हिन्दी—इन्द्र ने सी मर्ष करके दिस पद (इन्द्रपद) को प्राप्त किया था
वह (इन्द्र) उस (इन्द्रपद) के निमित्त तुम्हारी माघना और चाट्टकारी
कर रहा है, तुम प्रमत्त हो जाओ और उस (इन्द्रपद) को स्वीकृति-भूचक्र
भ्रूमचाल मात्र करके सुशोभित करो ।

टिप्पणी—दूती का तर्क है कि इन्द्र ने दुष्प्राप्य इन्द्रपद की प्राप्ति के
लिए सी मर्ष करने की दुष्कर साधना की थी, अब वह पद उसे मिल पाया ।
इस समय इन्द्र उसी पद पर दमपत्ती को जाहीन कराने के लिए उसकी
चाट्टकारी कर रहा है । दमपत्ती को यही उचित है कि इन्द्र को स्वयंवर
से अनुरोध करे और उस दुष्म पद को पाने का अवसर न छोड़े । इसके
लिए उसे कुछ करना न पड़ेगा, केवल भ्रूमचालनमात्र से, मोह का संकेत
भर करके स्वामिनी की मूर्ति चाट्टकारी करते इन्द्र को वह अपनी स्वीकृति
मात्र जता दे, मुख से बोले का कष्ट करने की आवश्यकता नहीं । विद्याधर
के अनुसार हेतु अलङ्कार ॥ ८२ ॥

मन्दाकिनीनन्दनयोविहारे देवे भवेद्देवर्षि माघवे च ।

श्रेयस्त्रियया यातरि मघ सख्या तच्चेतसा भाविनि भावय त्वम् ॥ ८३ ॥

जीवानु—मन्दाकिनीति । भावयतीनि भाविनि दिवारधतुरे नैनि ।
मन्दाकिनीनन्दनयोविहारे श्रोत्रया माघवे देवे इन्द्रे देवर्षि देवरे नतुंभातरि
मति । 'स्वाग्ना स्युर्नातर. पन्था, स्वामिनां देवदेवरां' इत्यमर । 'दिवेष्ट'
इति ऋ प्रत्यय । त्रियया शीदेन्याम् । षठ इति यातरि । देवुनार्पणाम् ।

भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातार स्यु परस्परम्' इत्यमर । 'यतेवृद्धिञ्च' इति कृत् प्रत्यय । सख्या सत्याश्च मष्ट्रेमो महोत्कर्षं भवेत् । तत्त्व चेतसा विभाव्य विचारय । अयाचितोपनन महच्छ्रेयो न परिहर्तव्यमित्यर्थ । अत्र नन्दनविहार क्रियाया माघवदेवृक्त्वधीयातृक्त्वगुणयोश्च सामस्त्येन योगपद्यात् समुच्चया लङ्कारभेद । 'गुणक्रियायोगपद्ये समुच्चय उदाहृत' इति लङ्गणात् ॥ ८३ ॥

अन्वय—मन्दाकिनीनन्दनयोः विहार देवे, माघवे च देवरि, श्रियां यातारि सख्या च यत् श्रेयं भवेत् भाविति, तत् त्व चेतसा भावय ।

हिन्दी—स्वर्गज्ञा मन्दाकिनी और स्वर्गोपवन नन्दन में विहार करते समय, (पतिरूप में) देव (इन्द्र), माघव (उपेन्द्र विष्णु) देवर और लक्ष्मी देवरानी के मन्वी होने पर जो कन्याण-मगल होगा, है विचारणीय (दमयती), तुम उसको स्वचित्त में विचार लो ।

टिप्पणी—आनन्द-श्रीडा, जल उपवन-विहार यदि में वास्तविक आनन्द तभी आता है, जब स्थल उपयुक्त हो और साथी भी अच्छे हो । इन्द्र का वरण करने पर यह सब दमयती को मिल सकेगा । पति देवराज इन्द्र और उपेन्द्र विष्णु देवर और देवरानी सखी लक्ष्मी के साग्निध्य में मन्दाकिनी में जल विहार और स्वर्गोपवन में श्रीडा में जो आनन्द मगल होगा, वह विचार करने के योग्य है । दमयती चतुर है, उसे यह विचार लेना उचित है । अग्नि, वरुण, यम के साथ विवाह करो पर यह सब न मिल सकेगा, और मनुष्य को करने का प्रश्न तो विचारणीय भी नहीं है । दमयती को तो इन्द्र ही उपयुक्त रहगा । यहा नन्दनविहार-क्रिया, माघव देवर, लक्ष्मी देवरानी, गुणा का समस्तता ने साथ योगपद्य है, जन मल्लिनाथ के अनुसार समुच्चय अलकार है । विचारने के हेतुप्राप्त और रूपक अलकार का निर्देश किया है ॥ ८३ ॥

रज्यस्व राज्ये जगतामितीन्द्राद्यान्वाप्रतिष्ठा लभसे त्वमेव ।

लघूकृतस्वर्षं बलियाचनेन तत्प्राप्तये धामनमामनन्ति ॥ ८४ ॥

जीवातु—रज्यस्वेति । हे भूमि, जगतां राज्ये, शैलेश्याधिपत्ये, रज्यस्व अनुरक्ता भव । प्रापनायां लोट् । रज्ये स्वरितेत्वादारमनेपदम् । इत्येवर्णां

याच्चा प्रार्थनामेव प्रतिष्ठा गौरवमिन्द्रात्त्वेनैव लभसे । तथाहि तस्य त्रैलोक्य-
राज्यस्य प्राप्तये लानाय बलेर्बैरोचनस्य वाचनेन स्पृष्टवृत्तमन्वीकृत्य, स्वानात्मा
येन न विष्णुमसीति शेष । त वानन हृष्य लघु वामनन्ति । यदर्थं विष्णोरपि
याच्चात्तावत् प्राप्तम् । प्रार्थना विना तदेव तुभ्य दीयते देवेन्द्रेणैवते हो ते
माधेयमिन्द्रियं । व्यतिरेकेण शृण्वन्ताठङ्कार ॥ ८४ ॥

अन्वय—व्रगता रामे राज्यम्—इति इन्द्रात् याच्चाप्रतिष्ठा त्वम् एव
लभसे, तन्प्राप्तये बलिवाचनेन वामन लघुवृत्तस्त्वम् वामनन्ति ।

हिन्दी—त्रिलोकी के राज्य पर राजा—इस प्रकार का इन्द्र से प्रार्थना
का गौरव तुम्हें ही मिल रहा है, उन (बल्लोकी के राज्य) की प्राप्ति के
निमित्त (दानवराज) इति से वाचना करने के कारण वामन को जन्मे
को छोटा कर लिया गया माना जाता है ।

टिप्पणी—इन्द्रपत्नी समुक्त इन्द्र आज प्रार्थना कर रहा है कि वह त्रिलोकी
को राजा बन जाय । ऐसी प्रतिष्ठा इन्द्रपत्नी के अतिरिक्त किसी को नहीं
मिल सकती । विष्णु ने भी पातालराज बलि ने ऐसी वाचना की थी, उसके
लिए उन्होंने अपने को वामन बनाया, उन्हें भी 'वामन' जसत् छोटा कहा
जाने लगा । इन्द्रपत्नी से तो उसने विपरीत त्रिलोक्य-राज्य पर नियुक्ति होने
की प्रार्थना की जा रही है । मन्त्रिणाथ ने व्यतिरेक के द्वारा शृणु
अङ्कार का यहाँ निर्देश किया है, बिदाधर ने काव्यलिंग सनादोक्ति का ॥८४॥

यानेव देवाभ्रममि त्रिकाल न तत्कृतघ्नीकृतिरौचिनी ते ।

प्रमीद तान्प्रनृगान्विधानु पन्थिप्यतन्त्वन्वदयोस्त्रिमन्ध्यम् ॥ ८५ ॥

जीवाः—वासीति । हे भूमि, तनेव देवान्निन्द्रादीन् । त्रय काल
यस्मिन् कर्मणि तत् त्रिकाल, यथा तथा । नमसि त्रिमन्ध्य नमस्करोपीत्यर्थ ।
तेषा देवाना कृतघ्नीकृतिस्तदीयप्रत्युपकारपरिहारेण कृतघ्नकरण, ते तव,
ओचिती, ओचिय न । त्वया वा अकृतया न क्रियन्तामिति भावः । त्रिनृणा
सन्ध्याना समाहारस्त्रिमन्ध्य, सन्ध्याप्रवेशपीत्यर्थ । अन्यन्तमयो द्वितीया ।
'वा टाबन्त' इति नपु मकत्वम् । त्वत्पदयो पतिप्यत नमस्करिप्यत तान्
देवान्प्रनृगान् विधातु प्रतिप्रणामस्वीकारेण प्रनृगान् कर्तुं प्रमीद । तान्
द्वयोप्येत्यर्थ ॥ ८५ ॥

अन्वय — यान् एव देवान् त्रिकाल नमति तत्कृतघ्नीकृति ते औचित्ये न, त्रिसन्ध्य त्वत्पदयो पतिष्यत तान् अपि अनृणाम् विधातु प्रसीद ।

हिन्दी—जिन देवों की तुम तीन काल उपासना करती हो, उन्हें कृतघ्न कर देना तुम्हारे लिए उचित नहीं है, तीनों काल तुम्हारे चरणों पर गिरते उनको भी ऋणमुक्त होन का प्रसाद (प्रसन्नता) दो ।

टिप्पणी—प्रातः, मध्याह्न और संध्या का दमयती पूजा करते समय देवों के चरणों में झुकती है, अतः वे उसके ऋणी बनते जा रहे हैं, दमयती-विनमन का यह ऋण वे तभी चुका सकेंगे, जब वे देव भी दमयती के चरणों में तीन समय प्रणीपात करें। दमयन्ती जिनकी उपासिका है, उन्हें ऋण चुकाने का अवसर न देना तो उसके लिए उचित नहीं है। दमयन्ती को इस दृष्टि से भी देवा को स्वीकारना चाहिए। इद्र वरण करके दमयन्ती देवा को अपने चरणों में विनम्रता के साथ गिरता देखेगी। वह प्रणम्यो की भी प्रणम्या बन जायेगी, विद्याघर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ८५ ॥

इत्युक्तवत्या निहितादरेण भैमागृहीता मधवत्प्रसाद ।

स्रग्पारिजातस्य ऋते नलाशा वासरेभेषामपुपूरदाशाम् ॥ ८६ ॥

जोवातु—इतीति । इतीत्युक्तवत्या शश्रूत्या । आदरेण निहिता सम-
पिता । भैम्या गृहीता स्वीकृता मधवत् प्रसादोऽनुग्रहभूता । त्ववतसत्वेन
अभिमतति भावः । पारिजातस्य सृष्टमालिका नलस्याशा तृष्णा दिश च ऋते
विना । तस्यान्तस्य (नलस्य) विपरीतशङ्काकरत्वादिति भावः । 'आशा
तृष्णादिशो' इति विश्वः । यद्यपि, 'अन्मारादितरतं' इति ऋतेशन्दयोगाद्
पञ्चम्येव विहिता, तथापि मतान्तरे द्वितीयाप्यस्तीत्याह । तथा, 'फलितपुण्या
राघनमृत' इति प्रयोगश्च । अशेषामाशा दिशम् । सर्वा अरीत्यर्थं जातावेक
वचनम् । वासरेनिजवासनाभिरपुपूरत् पूरितवती 'पूरी पूरण' इति श्रीरादिकस्य
धातोर्लोपित्वाद् 'नाग्लापिशास्वदिताम्' इत्युपयाहृस्वनिषेधः । अन्म्यास-
हृस्वः । द्व्यारप्याशयोरेदेशध्वनसायादिनोक्तिनिर्वाहः ॥ ८६ ॥

अवद—इति उक्तवत्या आदरेण निहिता भैमीगृहीता मधवत्प्रसाद-
पारिजातस्य स्रग् नलाशाम् ऋते अशेषाम् आशां वास्रे अपुपूरत् ।

हिन्दी—ऐसा वहती (इद्रदूती) द्वारा आदरपूर्वक की गयी, भीमपुत्री

द्वारा स्वीकृत, इन्द्र के प्रसाद पारिजात की माला ने नल की आशा को छोड़कर समस्त दिशाओं को सुगन्ध से पूर्ण कर दिया ।

टिप्पणी—अपना निवेदन समाप्त करके इन्द्र की दूती ने इन्द्र द्वारा भेजी गयी सुगन्धित पारिजात की माला दमयन्ती को दी, शालीनतावश दमयन्ती ने भाग ग्रहण की । इनसे दूती और अश्व सक्षियों को यह प्रतीति हुई कि इन्द्र का प्रस्ताव दमयन्ती को स्वीकार है । नल को इससे निराश हुई । इस प्रकार उभय पारिजात माला ने सर्वत्र जयनी सुगन्ध का प्रसार किया पर नल को यह रचिकर नहीं लगी । दोनों आशाओं के अपेक्षाघवसाय ने यहाँ दिनोक्ति का निर्वाह है, यह मल्लिनाथ की मान्यता है, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेषारूपक अलंकार है ॥८६॥

आर्ये ! विचार्याग्निहेति कापि योग्य सति न्यादिति काचनापि ।

ओङ्कार एवोत्तरमस्तु वस्तु मङ्गल्यमत्रेति च काप्यवोचत् ॥८७॥

जीवात्—आर्य इति । आर्ये नमि, इहेन्द्रवरणे विचार्ये जल्म् । विचारो न कर्तव्य इति कापि मन्वी अवोचत् । सति नमि योग्यमिन्द्र युक्त स्यादिति काचनाप्यवोचत् अत्र ओङ्कारोऽङ्गीकार एव मङ्गल्यमुत्तरमुत्तरस्य वस्त्वस्त्विति काप्यवोचत् ॥ ८७ ॥

अन्वय — आर्ये, इह विचार्ये यल्म्—इति का अपि अवोचत् सति, योग्य स्यात्—इति काचन अपि, अत्र ओङ्कार एव मङ्गल्यम उत्तर वस्तु अस्तु—इति का जनि (अवोचत्) ।

हिन्दी—एक सखी ने (दमयन्ती से) कहा आर्ये इन विषय में और विचारना व्यर्थ है, किसी और ने कहा—हे मन्वी, यही उचित होगा, एक और (मन्वी) बोली—इस विषय में 'ओङ्कार' (स्वीकृति) ही मङ्गलप्रद उत्तर रूप वस्तु होगा ।

टिप्पणी—इन्द्र की दूती के प्रस्ताव को दमयन्ती की सब सक्षियों ने प्रत्यत उचित और कल्याणकर माना । तीन सक्षियों द्वारा प्रस्तुत अनुमोदन सर्वसमन्तना सूचित करता है । विद्याधर के अनुसार यहाँ दीपक अलंकार है ।

अनाश्रवा व किमह कदापि वक्तु विशेष परमस्ति शेष ।

इतीरिते भीमजया न दूतीमालिङ्गदालीक्ष मुशामियता ॥ ८८ ॥

जीवातु-अनाथवेति । हे सत्य , अह कदापि वो युष्माक, जनाथरा ज्ञ
चनकारिणी कि, पर किन्तु वक्तु विशेष शेषोऽस्ति । किंतु, वक्तव्यशेष एभि
दस्तीत्यर्थ । इति भीमजया भैम्या, ईरिते उक्ते मति द्नीमि-द्रशम्मलीमाली-
भैमीसखीश्च मुदामियत्ता मितिर्नालिङ्गन् प्रापत् । स्वोक्तमङ्गीकृत्य तत्र किञ्चि
द्वरदानमपेक्षत इति भ्रान्त्या महान्तमानन्दमविन्दतेत्यर्थ ॥ ८८ ॥

अन्वय —अह कदापि व अनाथवा किम् पर वक्तु विशेष अस्ति—इति
भीमजया ईरिते दूतीम् आली च मुदाम इयत्ता न आलिङ्गत् ।

हिन्दी—(दमयन्ती बोली) मैंने कभी तुम्हारे वचनों का पाठन नहीं
किया क्या, परंतु कुछ विशेष कहना है (अथवा मैंने कभी क्या, इसमें
विशेष कहना ही क्या है ?)—ऐसा भीमसुता के कहने पर दूती जीर सखियों
का प्रसन्नता की परिमितता ने आलिंगन नहीं किया—अर्थात् अपरिमित
प्रसन्नता ने आलिंगन किया ।

टिप्पणी— दमयन्ती ने सखियों का साधारण सिद्धाचारपूण उत्तर दिया
था, किंतु उसके वचन का अनुमोदन समझ कर इंद्र की दूती और दमयन्ती
की सखियां को अपार प्रसन्नता हुई ॥ ८८ ॥

भैमा च दूत्य च न किञ्चिदापमिति स्वय भावयतो नल्प्य ।

आलोकमात्राद्यदि तन्मुखेन्दोरभून्न भिन्न हृदयारविन्दम् ॥ ८९ ॥

जीवातु-भैमीमिति । भैमीश्च दूत्यश्च किञ्चित्किञ्चन नयोरेकश्च । नाप न
प्रापन् । आप्नोतेरडि मिप् । छोरत्नलामो मा भूत्, परोपकारोऽपि न सिद्ध
इत्यर्थ । इति स्वयमारमनि भावयतो भैमीवित्तवत्तन्भ्रान्त्या चिन्तयतो नल्प्य
हृदयमेवारविन्द, तन्मुखेन्दो भैमीमुखवद्द्रस्याशोकमात्रात् दर्शयमात्रात् प्रयास-
मात्राच्च । 'आलोको दशनोद्योतो' इत्यमर । भिन्न विदीर्णं विकसितश्च
नाभूद्यदि नाभूत् किम् । तन्मुखदर्शनादनया विश्वास्य हतोऽस्मीति विदीर्णहृदयोऽ-
भूदवेत्यर्थ । इन्द्रप्रकाशात् कथमरविन्दविकास इति विरोधश्च ध्वन्यते ॥८९॥

अन्वय —भैमी दूत्य च किञ्चित् न आपम्—इति स्वय भावयतो नल्प्य
हृदयारविन्द यदि भिन्न न अभूत्, तन्मुखेन्दो आलोकमात्रात् ।

हिन्दी—भीमसुत्री और दूतकर्म-कुछ भी नहीं प्राप्त हुआ—इस प्रकार
स्वय विचारते नल का हृदय कमल यदि विदीर्ण न हुआ, तो वह उस
(दमयन्ती) के मुख चन्द्र के दर्शन होने रहने के कारण ही ।

शिष्याणी—उपर्युक्त वृत्तान्त को देखने सुनने समझने नल को इतना दुःख हुआ कि उसका हृदय कमल के मनान विदीर्ण हो जाना उचित था, क्योंकि उसे माला कि न तो दमपती ही उसे मिनी और न देवदूत-भार्य का ही सफल सम्पादन हो सका, परन्तु ऐसा इसलिए न हुआ क्योंकि उसके समुख दमपती का मुख घट्ट था। चन्द्र के समुख रहने से कमल मिला बर्धन विकसित नहीं होता। यों सानान्य दमपती का मुख देखने से नल का हृदय हर्ष से विल जाना चाहिये था, परन्तु उपर्युक्त निराशा जनक स्थिति से वैसा भी नहीं हुआ। भाव यह है कि नल को उक्त प्रसंग के कारण दुःख तो बहुत हुआ, पर हृदय फट ही नहीं गया। यह कदाचिद् इसलिए नहीं हुआ कि प्रिया मुख समुख था। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ विरोध ध्वनित होता है कि इन्दु-प्रकाश से कहीं अरविद विकसित होता है? विद्याधर के अनुसार उपप्रेषा-रूपक जलकाय ॥ ८९ ॥

ईषत्स्मिन्मज्जालितमृक्किभागा दूकमज्ञया वारिततत्तदाश्लि ।

स्रजा नमन्वृष्य तथैव शक्र ता भीमभृत्तरपाचकार ॥ ९० ॥

लीवानु—ईषदिति । भीमभू भीमी, ईषत्स्मिन्नेन मन्दहासेन क्षालितौ धीतो मृक्किमी औष्ट्रान्तादेव भागो यदा मा सती । 'प्रान्तावोष्ट्रस्य मृक्किमी' इत्यमरः । एक मनुष्येव वारिता निषिद्धाम्नास्था पूर्वोक्तविद्युद्भ्रतापिन्य आलसं हस्य यदा सा च सती । तथेन्द्रद्वीदत्तमा मृजा महेव । 'बृद्धो यूना' इति सूत्रकारप्रयोगादेव ज्ञापकात् सहस्रवाप्रयोगेऽपि सहाय्यं तृतीयम् । एक नमस्तुल्य, मृज शक्रश्च नमन्वृष्येययः । न तु तामववनीहृत्य । तस्य नलस्य वैश्वानामिति भावः । तामिन्द्रद्वीतोमुत्तरपाचकार उत्तरमावष्ट । 'तत्करोति तदावष्ट' इति शिव् ॥ ९० ॥

अन्वयः—ईषत्स्मिन्मज्जालितमृक्किभागा दूकमज्ञया वारिततत्तदाश्लि भीमभू यदा स्रजा एव शक्र नमन्वृष्य ताम् उत्तरपाचकार ।

हिन्दी—मन्द मुमक्षान से मृक्किमी (औष्ट्रदेश) को प्रक्षालित करती और दृष्टि के शक्ति से उन-उन अपनी (इन्द्र-वश का अनुमोदन करने वाली) सन्धियों का निवारण करती भीमभूटा (दमपती) ने उसी माला से इन्द्र को नमस्कार करके उसे (इन्द्रद्वी को) उत्तर दिया ।

टिप्पणी—प्रमग्ना से उछलती सखियों को दमयन्ती ने नेत्र सकेत से रोजा जोर मद्-मद् मुसकाते हुए शक्र द्वारा उपहार में भेजी माला को भक्ति भाव से इन्द्र प्रणाम का साधन बना इन्द्र की उत्तर दिया। भक्तिभाव प्रदर्शित करके एक प्रकार से दमयन्ती ने दूती को निवेधात्मक सकेत कर दिया। यदि इन्द्र का वरण उसे स्वीकार होता तो माला के प्रति प्रणय व्यवहार दिखा उसे हृदय से लगाती, पर उसने ऐसा नहीं किया। प्रणाम करके इन्द्र के प्रति भक्ति प्रकट की ॥ ९० ॥

स्तुनो मघोनस्त्यज साहसिक्य वक्तु वियत्त यदि वेद वेद ।

वृद्योत्तर साक्षिणि ह्यस्तु नृणामज्ञातृविज्ञापि ममापि तस्मिन् ॥ ९१ ॥

जीवातु—स्तुताविति । हे दूति मघोन इन्द्रस्य स्तुतो विषये साहसिक्य साहसमविमृश्यकारित्व त्यज, न स्तुहीत्यर्थं । श्रुत अशक्यत्वादित्याह—त शक्र किमदल्प वक्तु वेदमतीति वेद, श्रुतिरेव वेद वेत्ति, नान्य । अत स्तुतेर्विरमति भाव । तर्हि किमस्योत्तर तत्राह—नृणा ह्यस्तु विषये साक्षिणि साक्षिभूते 'साक्षात् द्रष्टरि सजायाम्' इति इतिप्रत्यय । तस्मिन्मघोनि अज्ञातृनज्ञान् विज्ञापयति विबोधयतीति तथोक्तम् । मम सम्बन्धुत्तरमपि वृथा । अज्ञस्योत्तरा प्राक्षा न सर्वज्ञस्येति भाव ॥ ९१ ॥

अन्वय—मघोन स्तुतो साहसिक्य त्यज, त वियत् वक्तु वेद वेद, नृणा ह्यस्तु साक्षिणि तस्मिन् अज्ञातृविज्ञापि मम उत्तर वृथा ।

हिंदी—(दमयन्ती ने दूती से कहा)—इन्द्र की स्तुति करने का साहस न करो, उसके विषय में कुछ कहना वेद ही जानता है (अन्य कोई नहीं) । मनुष्यों के हृदय में साक्षीभूत उम (इन्द्र) के प्रति न जाननेवालों का सूचित करने वाला मेरा उत्तर व्यर्थ है ।

टिप्पणी—अत्यंत चतुरता के साथ दमयन्ती ने इन्द्र की दूती को उत्तर दिया । उसने प्रकट कर दिया कि इन्द्र का महिमान गान दूती व्यर्थ ही कर रही है, क्योंकि वह तो अवगनीय है, अग्निरहित । सर्व वणन राम वेद ही यदि कर सके तो कर सकता है । इसके अतिरिक्त दमयन्ती इन्द्र-सामर्थ्य से पूर्णतया परिचित है । दमयन्ती ने कहा कि इन्द्र तो सब के हृदय का मान

जानते हैं। बताया तो उसे जाता है, जो हृद्गत न समजता हो। इदं तो सब के हृदय में विराजमान हैं, उनसे कुछ छिपा नहीं है, उन्हें क्या बताना ? भाव यह है कि दमयन्ती का अनुराग किस पर है, यह इन्द्र को विदित है। उन्हें कुछ बताना व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग श्लोकार ॥११॥

वाजा तदीयामनु कन्य नाम नवारपारप्यमुपैतु जिह्वा ।

प्रह्ला तु ता मूर्ध्नि निघाय माला बालापरारध्यामि विशेषवाग्नि ॥१२॥

जीवानु—तथाप्यविनयनरिहास्य त्रिचिद्विज्ञापयानीत्याह—जायमिति ।

तदीयामन्दीमाज्ञामनु तानुदिस्य कन्य नाम जिह्वा नवारो न्द्वारपमेव पारप्यमुपैतु प्रतिपेदरोक्ष्य नत्रे । न कोऽपि तदाज्ञोन्मृष्यनसाहसिनोऽन्वीत्यर्थ । किन्तु वाजा सिधुरह प्रह्ला नम्रा ऋषी तामाज्ञायेत्र माला मूर्ध्नि निघाय, विशेषवाग्भिरत्रिवाग्भिरपराध्यामि अराध करोमि । स च बालापरारप्यत् शोभ्य इत्यर्थ ॥ १२ ॥

मन्वप—तदीयाम् आज्ञाम् अनु कस्य नाम जिह्वा नवारपारप्यम् उपैतु, बाला प्रह्ला ता माया मूर्ध्नि निघाय विशेषवाग्नि अराराध्यामि ।

हिन्दी—उस (इद्र) के आदेश के प्रति किसकी जिह्वा अस्वीकृति की कठोरता प्राप्त कर सकती है ? (किसी की नहीं) । मैं (अज्ञान) बाला विनम्रतापूर्वक उस (वाजा-ऋषिनी) माला को शिरोधार्य कर अधिक बचन कह कर अराध कर रही हूँ ।

टिप्पणी—महामहिमशाली इन्द्र का आदेश अनुल्लघनीय है। दमयन्ती जो कुछ विनम्रतापूर्वक उनकी आज्ञा के विषय में कहने की धृष्टता कर रही है, विशेष बालिका समझ कर वह क्षम्य माना जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ १२ ॥

तपफलत्वेन हरे क्षुपेयमिम तपस्येव जन नियुङ्क्ते ।

भवत्युपाय प्रति हि प्रवृत्तावुपेयभाषुयैर्नर्घैर्नजिज ॥ १३ ॥

जीवानु—तप इति । तपफलत्वेन इन्द्रोपासनफलस्य तपस्य फलत्वेनोपलभिता फलभूतैर्यथै । इय मत्परिजिघृक्षात्वा कृता हरेरिन्द्रस्य । इम जन मा तपस्येव पुनरपीन्द्रोपासनापानेन नियुङ्क्ते प्रेरयति । 'स्वरयत्तोपमृष्टादिति वतन्म' इत्यात्मनेपदम् । ननु महदेवज्ज प्राप्त किं तपसेत्याशङ्क्य, तप्यम्,

टिप्पणी—प्रसन्नता से उछलती सखियों को दमयन्ती ने नेत्र संकेत से रोका और मद-मद मुसकाते हुए शक्र द्वारा उपहार में भेजी माला को भक्ति-भाव से इन्द्र प्रणाम का साधन बना इन्द्रदूती को उत्तर दिया। भक्तिभाव प्रदर्शित करके एक प्रकार से दमयन्ती ने दूती को निषेधात्मक संकेत कर दिया। यदि इन्द्र का वरण उसे स्वीकार होता तो माला के प्रति प्रणय-व्यवहार दिखा उसे हृदय से लगाती, पर उसने ऐसा नहीं किया। प्रणाम करके इन्द्र के प्रति भक्ति प्रकट की ॥ ९० ॥

स्तुतो मघोनस्त्यज साहसिक्य वचनु क्वित्त यदि वेद वेद ।

वृथोत्तर साक्षिणि हृत्सु नृणामज्ञातृविज्ञापि ममापि तस्मिन् ॥ ९१ ॥

जीवातु—स्तुताविति । हे दूति, मघोन इन्द्रस्य स्तुतो विषये साहसिक्य साहसमविमृश्यकारित्व त्यज, न स्तुहीत्यर्थं । कुत अशक्यत्वादित्याह—त शक्र कियदल्प वक्तु वेदयतीति वेद, श्रुतिरेव वेद वेत्ति, नान्य । अत स्तुतेविरमेति भाव । तर्हि त्रिमस्योत्तर तत्राह—नृणा हृत्सु विषये साक्षिणि साक्षिभूते 'साक्षात् द्रष्टरि सज्ञायाम्' इति इतिप्रत्यय । तस्मिन्मघोनि अज्ञातृनज्ञान् विज्ञापयति विबोधयतीति तथोक्तम् । मम सम्बन्धुत्तरमपि वृथा । अज्ञस्योत्तरा-काशा न सर्वज्ञस्येति भाव ॥ ९१ ॥

अन्वय—मघोन स्तुतो साहसिक्य त्यज, त क्वित् वस्तु वेद वेद, नृणा हृत्सु साक्षिणि तस्मिन् अज्ञातृविज्ञापि मम उत्तर वृथा ।

हिन्दी—(दमयन्ती ने दूती से कहा)—इन्द्र की स्तुति करने का साहस न करो, उसके विषय में कुछ कहना वेद ही जानता है (अन्य कोई नहीं) । मनुष्यों के हृदय में साक्षीभूत उम (इन्द्र) के प्रति न जाननेवालों को सूचित करने वाला मेरा उत्तर व्यर्थ है ।

टिप्पणी—अत्यन्त क्षत्रता के साथ दमयन्ती ने इन्द्र की दूती को उत्तर दिया । उसने प्रकट कर दिया कि इन्द्र का महिमान गान दूती व्यर्थ ही कर रही है, क्योंकि वह तो अवगनीय है, अपरिमित । सर्व वर्णों शम वेद ही यदि कर सके तो कर सक्ता है । इसके अतिरिक्त दमयन्ती इन्द्र-सामर्थ्य से पूर्णतया परिचित है । दमयन्ती ने कहा कि इन्द्र तो सब के हृदय का भाव

जानते हैं। बताया तो उसे जाता है, जो हृद्गत् न समनता हो। इद्र तो सब के हृदय में विराजमान हैं, उनसे कुछ छिपा नहीं है, उन्हें क्या बताना ? नाब यह है कि दनयन्ती का अनुराग किस पर है, यह इन्द्र को विदित है। उन्हें कुछ बताना व्यर्थ है। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग कल्कार ॥९१॥

आज्ञा तदीयामनु कस्य नाम नकारपाठ्यमुपैतु जिह्वा ।

प्रह्ला तु ता मूर्ध्नि नित्राय मात्त वात्तापराध्यामि विशेषवाग्नि ॥९२॥

जीवानु—तथाप्यविनयपरिहाराय विश्विद्विज्ञापयानीत्याह—आज्ञामिति ।

तदीयामैतदीमाज्ञामनु तानुद्दिश्य कस्य नाम जिह्वा नकारो मन्त्रनवारणमेव पाठ्यमुपैतु प्रतिपेक्षरौद्रमन्त्रे । न कोऽपि तदानोन्मृषनसाहसिनोऽन्वीत्यर्थं । किन्तु वात्ता शिशुरह प्रह्ला नम्राक्षती तामाज्ञामेव मात्त मूर्ध्नि निषाय, विशेषवाग्निरनिवाग्निरपराध्यामि अपराध करोमि । स च वात्तापलात् नोटव्य इत्यर्थं ॥ ९२ ॥

अन्वय—तदीयाम् आज्ञाम् अनु कस्य नाम जिह्वा नकारपाठ्यम् उपैतु, वात्ता प्रह्ला ता मात्त मूर्ध्नि नित्राय विशेषवाग्नि अपराध्यामि ।

हिन्दी—उस (इद्र) के आदेश के प्रति जिसकी जिह्वा अस्वीकृति की कटोरता प्राप्त कर सकती है ? (किसी की नहीं) । मैं (अज्ञान) वाला विनम्रतापूर्वक उस (आज्ञा-स्त्री) मात्त को शिरोधार्य कर अधिक बचन कह कर अपराध कर रही हूँ ।

टिप्पणी—महामहिमशाली इन्द्र का आदेश अनुल्लघनीय है। दनयन्ती जो कुछ विनम्रतापूर्वक उनकी आज्ञा के विषय में कहने की घृष्टता कर रही है, अशोध वाक्ता समझ कर वह क्षम्य माना जाना चाहिए। विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ९२ ॥

तपःफलत्वेन हरे कृमेयमिम तपस्येव जन नियुङ्क्ते ।

भवत्युपाय प्रति हि प्रवृत्ताद्युपेयमाधुर्यमर्धयमग्नि ॥ ९३ ॥

जीवानु—उप इति । तपःफलत्वेन इन्द्रोपासनरूपस्य तपस्य फलत्वेनोपलक्षिता फलभूतेत्यर्थं । इय मत्परिजिघृक्षारूपा कृया हरेरिन्द्रस्य । इम जन मा तपस्यैव पुनरपीन्द्रोपासनायामेव नियुङ्क्ते प्रेरयति । 'स्वराद्यन्तोपमृष्टादिति वसतव्यम्' इत्यात्मनैवदम् । ननु महदेवत्वं प्राप्त कि तपमेत्याशय, तपम्,

तदेव स्वादु क्तुमित्याह—भवतीति । हि यस्मादुपाय प्रति प्रवृत्ती साधनगोचर-
प्रवृत्ती विपर्ये उपेयस्य साध्यस्य माघुर्यं स्वादुत्वमेव, अर्घ्यंमर्ष्यं सज्जयति
कारयतीत्यर्घ्यंसज्जि भवति । पुन साधनप्रवृत्तिचापल कारयतीत्यर्थं ।
सिद्धात्स्योपस्कार=(उपदेश) प्रवृत्तिवल्पेय प्रवृत्तिरिति भाव ॥ ९३ ॥

अन्यथ —हरे इय कृपा तप फलत्वेन इम जन तपणि एव नियुङ्क्ते,
हि उपाय प्रति प्रवृत्ती उपेयमाघुर्यम अर्घ्यंसज्जि भवति ।

हि दी—इन्द्र की यह कृपा तप का फल होने के कारण इस जन
(दमयती) को तप में ही नियुक्त कर रही है, कारण कि उपाय के प्रति
प्रवृत्ति होने में उपेय (फल) का माघुर्य (स्वाद) अर्घ्य-कारिणी होती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन का भाव है कि इन्द्र जो कृपापूर्वक उससे
विवाह करना चाहते हैं, ऐसा प्रतीत होता है कि वह उसके अब तक किये
तप का फल है । अब वह तुरन्त पुन तपत्यारत होना चाहती है, क्योंकि
उससे उसे और भी बड़ा फल प्राप्त हो सकेगा अर्थात् नल की उपलब्धि हो
सकेगी । नल की प्राप्ति रूप फल इतना माघुर है कि उसके लिए साधनारत
होने में दमयती को अब बिलम्ब असह्य है ॥ ९३ ॥

शुश्रूपिताहे तदह तमेव पति मुदेऽपि व्रतसम्पदेऽपि ।

विशेषलेशोऽयमदेवदेहमशागन तु कितिभृतयेह ॥ ९४ ॥

जीवात्तु—फलितमाह—शुश्रूपिताह इति । तत्तस्मादवित्यादह तमिन्द्रमेव पति
शुश्रूपिताह सेविये । 'शुश्रूपा ध्योतुमिच्छाया परिवर्थाविधानयो ' इति विश्व ।
'ज्ञाश्रुस्मृदशा सन ' इति शृणाते सन्नन्तात्तडि लुट् । तास सकारस्य हकार ।
किंतु मुदेऽपि सन्तोपाय च व्रतसम्पदेऽपि पातिव्रत्यसम्पत्त्यनेच शितिभृतया
राजत्वेन इह कस्मिश्चिन्नरे अघेन मात्रया आगतमवतीणम् । 'अष्टाभिश्च
सुरे द्राणा मात्रामिनिर्मितो नृप ' इति स्मरणात् । अत एव, अदेवदेह देवदेहर-
हित मानुषविग्रह सन्तम् । न तु माक्षादिति शेष (त शुश्रूपिताह इति पूर्व-
णाचय) । अथ विशेषलेशोऽपीयान् भे* । स च सोऽदृश्य अन्यथा मे व्रतलोप
स्यादिति भाव ॥ ९४ ॥

अन्यथ —तत् अह मुदे अपि व्रतसम्पदे अपि शितिभृतया इह अशागतम्
एवदेवदेह तम् एव पति शुश्रूपिताह—अथ विशेषलेश ।

हिन्दी—(दमयन्ती ने जागे कहा) सो मैं प्रमन्नता और पातिव्रत-सपदा दोनों ही के निमित्त राजा के रूप में यहाँ (पृथ्वी पर) अन्न रूप में जाये मनुष्य देहगरी उग्र (इन्द्र) की ही पति रूप में सेवा करना चाहती हूँ—यही याही सी विधिष्टता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा कि वह इन्द्र को ही बरना चाहती है, इनमें ही उसे श्रेय होमा और एकपति की ही सेवा करने का व्रत-परिपालन भी सिद्ध होगा, किन्तु थोड़ी-सी विधिपता यह होगी कि वह देव इन्द्र को नहीं, नर रूप में इस धरती पर आये द्रुपदाय राजा नल का बरेगी । राजा लोकपाल का अन्न होता है, अतः राजा नल भी इन्द्र रूप ही है । मानुषी दमयन्ती मानुष इन्द्र को बरेगी—यही उचित हागा । इन्द्र की आज्ञा का पालन तो होगा, पर धाड़े-से, अतएव क्षम्य, पशुवर्नन के साथ । विद्याधर के अनुसार हेतु अलकार ॥ १८ ॥

अश्रीपमिन्द्रादरिणी गिरन्ने सतीव्रताति प्रतिलोनतीव्रा ।

स्व प्रागह प्रादिपि नामराय कि नाम तस्मै मनसा नराय ॥ १५ ॥

श्रीवानु—कथ व्रतलोपस्तदाह—अश्रीपमिति । हे इन्द्रदूति । सतीव्रतस्य पतिव्रताधर्मस्य अतिप्रतिलोमा जन्मदप्रतिभूला । अत एव तीव्रा दुःखवाञ्छ । ते निर इन्द्रे आदरिणी आदरवती अश्रीपम्, इन्द्रो महती दंशति भयमकिन्म्यामश्रीपम् न तु, रागादिति नात्र । कथ तर्हि तमेव पति मज्जिष्यामीत्युक्तं तत्राह—प्राक् पूर्वमह स्वनाम्नान्, अमराय देवात्मने तस्मै इन्द्राय न प्रादिपि न प्रादा नाम । किन्तु नराय नररूपिणे रलयोरभेदात्तस्मात् च तस्मै मनसा प्रादिपि । ददातेर्लुटि । 'म्याध्वोरिच्छ' इतीकार । जत साशादिन्द्रमजने मम व्रतलोप स्यादेवेत्यर्थ ॥ १५ ॥

अन्वय—इन्द्रादरिणी सतीव्रतातिप्रतिलोनतीव्रा ते निर अश्रीपम्, प्राक् अह अमराय तस्मै न प्रादिपि, कि नाम मनसा नराय ।

हिन्दी—इन्द्र के प्रति जादर रखने बानी में सतीव्रत के अत्यन्त विरुद्ध (अतएव) दुःसह टंठी वाणी सुनती रही । पहिले मैंने उग्र देव (इन्द्र) को (स्वयम्) को नहीं दिया था, किन्तु मन से नर को दिया ।

टिप्पणी—कोई प्रतिव्रता ऐन वचन नहीं सुन सकती, जो उसके प्रतिभूट

हो । दमयन्ती ने कहा कि इन्द्रदूती के बचन जो वह सुनती रही, वह केवल इन्द्र के प्रति सम्मान रखने के कारण । वास्तविकता यह है कि दमयन्ती पहिले ही इन्द्रास नर (र-ल मे अभेद से नल) को मन मे बर चुकी है । अब वह अन्य को प्रतिरूप मे बरने की बात सुन भी नही सकती । उनका पनि मानवरूप मे उपस्थित इन्द्र नल है, अमर देवेन्द्र नही ॥ ९५ ॥

तस्मिन्विमृश्यैव वृते हृदया नैन्द्री दया मामनुतापिकाभूत् ।

निर्वातुकाम भवसम्भवाना धीर सुखानामवधीरणैव ॥ ९६ ॥

जीवानु—तस्मिन्निति । तस्मिन् नरे हृदा हृदयेन, विमृश्यैव वृते सति इदमेव साध्विति सम्यङ्निश्चित्यैव प्रवृत्तेरित्यर्थ । एषा ऐन्द्री, दया परिजि घृक्षालक्षणा कृपा । निर्वातुकाम मोक्तुकामम्, इदमेव साध्विति निश्चित्य मोक्षे प्रवृत्तमियथ । 'मुक्तिं कैवल्यनिर्वाण' इत्यमर । धीर निर्विकारचित्तं विद्वान्म । भवसम्भवाना सुखानाम्, अवधीरणा सासारिकसुखसत्यास एव भवानुतापिका हा कष्टमनाघृतामनि मम पश्चात्तापकारिणी भाभूत् । 'अकेनोभविष्यदाध-मर्षयो' इति षष्ठीप्रतिषेधात् कर्मणि द्वितीया ॥ ९६ ॥

अन्वय—तस्मिन् हृदा विमृश्य एव वृते एषा ऐन्द्री दया निर्वातुकाम धीरं भवसम्भवाना सुखानाम् अवधीरणा इव माम् अनुतापिका न अभूत् ।

हिन्द्री—उस (नल) को मन से ठीक से विचार कर बर लेने पर यह इन्द्र की दया निर्वाण (मोक्ष) की कामना करते निर्विकारचित्त (विद्वान्) को ससार मे उत्पन्न सुखों की अवज्ञा सदृश मुझ (दमयती) को सन्ताप-कारिणी न हुई ।

टिप्पणी—दमयती ने कहा कि अब जो इन्द्र महाराज का विवाह प्रस्ताव आया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्वीकार्य है और किसी विवाहाधिकारी तरणी को इस पर मोह हो सकता है, किन्तु मैंने तो विचार पूर्वक नल को हृदय से बर लिया है । मुझे अपने इस कृत्य पर कोई पश्चात्ताप नहीं है । मेरी स्थिति तो बँसी ही है, जैसी मोक्ष कामना करने वाले व्यक्ति की सांसारिक मोक्ष पक्षों के प्रति होती है । जैसे मोक्षार्थी को ससार के सुखों का त्याग करने में कोई अनुताप नहीं होता, वैसे ही मुझ दमयती को भी नल के समुल्लेखी का मोह नहीं है—न इन्द्र राज्य का, न नन्दन कानन का, न रुद्री के

साहचर्यं है । मैंने विवेकी व्यक्ति के समान बहुत सोच विचार कर नल वर
वरण स्वीकारा है ॥ ९६ ॥

वर्षेषु यद्भारतमायंघुषाः स्तुवन्ति गार्हस्थ्यमिवाध्रमेषु ।

तत्रास्मि पयुर्वन्विदस्यवाहं शर्मोमिनिर्भोरितधर्मलिप्सु ॥ ९७ ॥

जीवानु—विमृश्य कृतमित्युक्तमयं विमर्शप्रकारमेव श्लोकचतुष्टयेनाह—
वर्षेष्वित्यादि । आर्यंघुषां श्रेष्ठा आश्रमेषु ब्रह्मचर्यादिषु चतुर्षु गार्हस्थ्यं गृहस्था-
श्रममिव । वर्षेष्वित्यादिषु नवसु यद्भारतवर्षं स्तुवन्ति प्रशंसन्ति । तत्र
भारतवर्षे जह पन्वर्वरिदस्यया शुश्रूषया । 'वरिवस्ना तु शुश्रूषा' इत्यमर ।
वरिवस्यते कथञ्चान्तात् 'ज प्रत्ययात्' इति आकारप्रत्यये टाप् । शर्मोमिनि सुव-
परम्परानि, किर्मीरित चित्रित तत्तहचरधर्मं लिप्सुर्लक्ष्मिचद्वरम्भि । 'धर्मंशात-
सुमानि च' । 'चित्र किर्मीरत्वत्मापशवर्षेत्तरत्वं क्वुरं' इति चामर ॥२७॥

अन्वय—आर्यंघुषां आश्रमेषु गार्हस्थ्यम् इव वर्षेषु यत् भारत स्तुवन्ति,
एतन्न बह पत्यु वरिवस्यया शर्मोमिनिर्भोरितधर्मलिप्सु जस्मि ।

हिन्दी—आर्यों में श्रेष्ठ (विचारक) आश्रमों में गृहस्थाश्रम के समान वर्षों
के मध्य जिस भारत की स्तुति करते हैं, उस (भारतवर्ष) में मैं पति (नल)
की शुश्रूषा द्वारा मुख की तरंगों (परम्पराओं) से मिश्रित धर्म का अमिलाप
करती हूँ ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्पष्ट कर दिया कि वह इलाजुआदि सड़ों के मध्य
श्रेष्ठ जम्बूद्वीप के नवमास भारत सड़ म ही रहना चाहती है, जिसे मनु आदि
विचारकों ने सब वर्षों के मध्य उसी प्रकार उत्तम बनाया है, जिस प्रकार
कि चारों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास) आश्रमों के मध्य गृहस्थाश्रम
को । दमयन्ती की कामना है कि वह सब दशों में श्रेष्ठ भारत में ही रहकर
श्रेष्ठ गृहस्थाश्रम का परिपालन करती हुई सुख और धर्म का भोग करे ।
विद्याधर के अनुसार उपमा अलंकार ।

गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता के विषय में मनु का कथन है—'यथा वायु समा
श्रिन्य वत्तन्ते सर्वजन्तव । तण गृहस्थमाश्रित्य वत्तन्ते सर्व आश्रमा ॥
मस्मात् त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्तेन चान्वहम् । गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठ-
तमो गृही ॥'

—मनुस्मृति (३।७७-७८)

हमचन्द्राचार्यं नं भारत को प्रथम वर्षं बशामा है—

‘भारत प्रथम वर्षं तत्र किम्भुष्य स्मृतम् । हरिवर्षं तथैवाग्न्यन्मरोर्दक्षिणता
द्वित्रा ॥ रम्यक चोत्तर वर्षं तत्सर्ववानु हिरण्यमम् । उत्तरा कुरवश्चैव मया
वै भारत तथा ॥ मन्दास्व पूर्वत्रो मरो वेतुमाल तु पश्चिमे । नवनाहस्र-
मेर्कमेतेषा द्वित्रसतम’ ॥ (अमि० चिन्ता० ६।१३) ॥ ९७ ॥

स्वर्गो मना शर्म पर न धर्मो भवन्ति भूमाविहृ तच्च ते च ।

दृष्ट्यापि तुष्टि सुकरा मुराणा कथ विहाय श्रयमेकमीहे ॥ ९८ ॥

तीवानु-ननु स्वर्गोऽपि सुधर्मो न इत्यहम् आह—स्वर्गं इति । स्वर्गं सता
स्वर्गदासिनामिषयं । धर्मं परमुक्त्वेव (अस्ति) । धर्मो मुकृतानि न भवन्ति ।
इहास्या भूमौ तच्छर्मं च त धर्माश्च भवन्ति मग्भवन्ति । किञ्चेह दृष्ट्या मागत
मुराणा तुष्टिरिति सुकरा सुसम्पाद्या । एव सति कथ नय धर्मधर्मतुष्टिर
विहायैकं सुखमीहे । न चैतत् प्रज्ञावत्कृत्यमिति भावः । तस्मात् स्वर्गादपि
भूलो एव इच्छ्य इत्यर्थं ॥ ९८ ॥

अन्वय — स्वर्गं सता पर धर्मं धर्मो न, इह भूमौ तत् च ते च भवन्ति,
इष्टया मुराणा तुष्टि अत्र सुकरा, कथम् श्रय विहाय एकम् ईहे ?

हिन्दी—स्वर्ग दासियों को केवल सुख मिलता है, धर्म नहीं। इय
घरती (मृत्युलोक-भारतवर्ष) में वह (सुख) और वे (धर्म) भी होते
हैं। यज्ञ द्वारा देवों को अनुष्ट करना भी मरत है। (ऐसी स्थिति में) क्यों
में तान (सुख, धर्म, यज्ञ द्वारा देव तुष्टि) को छोड़ एक (सुख) की
कामना करे ?

टिप्पणी—धीमद् भावत में इसी कारण भारत की श्रेष्ठता का गान
किया गया है कि यह सुख-भूमि होने के साथ साथ धर्मभूमि भी है, जो स्वर्ग
नहीं है। स्वर्ग तो केवल पुण्य-सुख भोगने का स्थान है, धर्माभरण करके
पुण्याजन का स्थान तो यह भारत भूमि ही है। यज्ञ करके यही देवा को
प्रमन्न भी किया जाता है। दमयती इसी लक्ष्य का आश्रय लेकर इन्द्र की
-पेशा नश को बरने का औचित्य स्थापित करती है। इन्द्र को बरने से
केवल सुख मिले लकेगा, नश का बरने से तीनों—सुख, धर्म, देवतुष्टि ।
विद्याधर के अनुसार अनुचय छत्रधार ॥ ९८ ॥

साधोपि म्व हृत् गामिताभोगामी म नु स्वर्गमित्त् प्रमाने ।

इतनापि चिन्तयतो हृदि द्वे द्वयोस्दक्षः किमु शक्रे न ॥ ९९ ॥

जीवानु—स्वर्गनि कारणात् मूलेक एव श्रयान्त्वित्याह—जाशोरिति । किञ्च, साधो मुहूर्तिनोपि स्व स्वर्गदशोत्तमिता गमिष्यता उच्यते । (साधुरपि कदाचि-
दप्यववेक्ष्यते ।) न साधुरितोन्मात् मूलेकात् प्रमाने तु स्वर्गगामी गमि-
ष्यति । 'ते तं बुक्त्वा स्वर्गलोकं विजानन् सीने पुम्ये मर्त्यलोकं विदन्ति'
इति गीतावाक्यात् । 'नविष्यति मम्यादय' इति गमित्स्वन्दस्य नविष्य-
दयता । 'अक्रेनो' इति पृथीप्रतिपेयात् कर्मणि द्वितीया । इतीत्यनामतिमुत्तर-
कारम् । 'उत्तर कार आसति' इत्यन । हृदि चिन्तयतो विवेकिनो द्वयो-
स्वर्गलोकयो । उदकं नूनरफल्म् । 'उदकं फलनूनरम्' इत्यनर । द्वे शक्रे
न किमु, शक्रे एवेत्यनं । एका शक्रे (इक्षुवम्भवा) शिलाशक्रेत्याया,
मृश्राया जयरापीशुविद्याय । तत्र क्रमाद्भावप्युदको द्वे शक्रे, तन्वना-
विषयं । जय एव निदसंनान्द्वारभेद । 'शक्रेण सन्निविष्टतामृश्री शक्रेण-
शयो' इति चिन्त ॥ ९९ ॥

अन्वय—साधो इति स्व श्रयोत्तमिता उच्यते प्रमाने तु स्वर्ग गामी-
इति आसति चिन्तयतो हृदि द्वयो उदकं द्वे शक्रे न किमु ?

हिन्दी—साधु—शान्तिक का भी स्वर्ग से लोके आना निश्चित है और
वह (पुण्यात्मा) यहाँ (धरती) जाने पर स्वर्ग जाता है । इस प्रकार अतिम
परिणाम विचारनेवाले के हृदय में दोनों (स्वर्ग और मृत्युलोक) के उत्तरवर्ती
परिणाम क्या दो शक्रेण ! ककड और शक्रे) नहीं हैं ?

टिप्पणी—स्वर्ग में निवास की अपेक्षा पृथ्वी पर रहना अच्छा और
उपयुक्त है—इस तथ्य की अन्य एक सं वृष्टि की गयी । पुण्यात्मा सज्जन
स्वर्ग में रहकर पुण्य सीमा होने पर पुन निम्न लोक में निरवयव जाता है ।
श्रीमद् भगवद् गीता (१।२१) में बताया गया है कि पुण्यात्मा जन विशाल
स्वर्गलोक भोग कर पुण्य सीमा होने पर मर्त्यलोक में शक्रे हैं । इसके विपरीत
मृत्युलोक से जाने पर पुण्यशाली स्वर्ग जाता है । स्वर्ग वास का उत्तरफल है
अपमान—ककड के समान कठोर और कष्टदायी, और पृथ्वी-वास का फल
है, स्वर्ग-प्राप्ति, ऊपर उठना । शक्रे के समान कोमल और मीठा । इस प्रकार

सिद्ध हुआ कि पृथ्वी वास का परिणाम अच्छा होता है। सो पृथ्वी वास ही उचित है। इस श्लोक में क्रम से दो उदकों (उत्तरफलों) को दो शकंरा—द्विशकंराकल्प कहा गया है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार निदर्शना अलंकार है, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षालंकार का संकर है ॥ ९९ ॥

प्रक्षीण एवायुषि कर्मकृष्टे नरान् उपतिष्ठते यः ।

बुभुक्षते नाकमपथ्यकल्प धीरस्तमापातसुखोन्मुख क ॥ १०० ॥

जीवातु—प्रक्षीण इति । किंच यो नाक कर्मकृष्टे कर्माचिते आयुषि प्रक्षीणे सत्येव नरान् मनुष्यानुपतिष्ठते सङ्गच्छते । तिष्ठति सति नोपतिष्ठते 'उपाद्देव-पूजा' इत्यादिना सङ्गतिकरणे तद् । आपाते प्रारम्भे, सुखोन्मुख सुखप्रवण, न तु परिणाम इत्यर्थं । अत एव अपथ्यकल्प अपथ्यान्नसंज्ञा, त नाक, स्वर्ग धीरो धीमान्, क बुभुक्षते भोक्तुमिच्छति । अपथ्यान्नभोजनवशात्सुखमरणाधिकार नाकभोग कस्मै नाम रोचत इत्यर्थं ॥ १०० ॥

अन्वयः—य कर्मकृष्टे आयुषि प्रक्षीणे एव नरान् उपतिष्ठते तिष्ठति न, क धीर आपातसुखोन्मुखम् अपथ्यकल्प त नाक बुभुक्षते ?

हिन्दी—जो (स्वर्ग) कर्मों से प्राप्त आयु के क्षीण होने पर ही मनुष्यों को मिलता है, (आयु) वर्तमान होने पर नहीं, (अथवा 'या कर्मकृष्टे आयुषि तिष्ठति एव नरान् उपतिष्ठते, प्रक्षीणेन' अवयव करने पर—तो पुण्य-कर्माजित आयु के विद्यमान रहने पर ही प्राप्त रहता है, पुण्य क्षीण होने पर नहीं), कौन विवेकी (व्यक्ति) अविचारित सुखकारी, अपथ्य भोग्य के समान उस स्वर्ग को भोगना चाहेगा ? (कोई नहीं) ।

टिप्पणी—स्वर्ग वास, आयु के क्षीण होने पर—मरने पर ही मिलता है, जीते भी नहीं, अत एव वह अविचारित सुख है—कल्पनामात्र वा, जब कि धरती पर रहने का सुख समाप्त हुआ अर्थात् वास्तविक है। इसके अतिरिक्त स्वर्ग-वास स्थिर भी नहीं है, पुण्य समाप्त हुए बिना वहाँ से हटना ही होगा। दोनों दृष्टियों से पृथ्वी वास ही उपयुक्त है। यहाँ का सुख भी वास्तविक है और पुण्यक्षीणता का भी भय नहीं। अतः देवदत्त के वरण की अपेक्षा पृथ्वी-वास का वरण ही अच्छा है। स्वर्गवास तो अपथ्य-भोजन के तुल्य है, जिसकी परिणति कष्टद होती है। विद्याधर के अनुसार उपमा ॥ १०० ॥

इतीन्द्रदूत्या प्रतिवाचमर्थे प्रन्युह्य संपामिदधे वयस्याः ।

किञ्चिद्विवशोल्लसदोष्णलक्ष्मीजितापनिद्रदृत्पङ्कजास्या ॥ १०१ ॥

जोवातु—इतीति । संपा भंभी, इतीत्यमिन्द्रदूत्या विषये, प्रतिवाच प्रत्यु-
त्तरम् । अर्थे प्रत्युह्य मध्ये मध्ये निरुध्य, असमाप्येवेत्यर्थं । 'उपसर्गाद्घ्रुस्व
ऊहते' इति ह्रस्व । किञ्चिद्विवशया यत्किञ्चिद्वक्नुमिच्छया, उल्लसत
स्फुरत, ओष्ण्य लक्ष्म्या शोभया जितमनिद्रदृढल विक्रमत्पत्र यस्य तत् ।
अपनिपूर्वाद् ज्ञाने शनृप्रत्यय । तच्च तपङ्कजञ्च तदिव आस्य यासा ता
वयस्या सखी अमिदधे उवाच । दधाते कर्तरि लिटि तद् ॥ १०१ ॥

अन्वयः—इति इन्द्रदूत्या प्रतिवाचम् अर्थे प्रन्युह्य सा एषा किञ्चिद्विवशोल्लस-
दोष्णलक्ष्मीजितापनिद्रदृत्पङ्कजास्या वयस्या अमिदधे ।

हिन्दी—इन्द्र की दूती को दिये जाते प्रन्युत्तर को आधे म रोककर वह
मह (दमयती) कुछ कहने की इच्छा से स्फुरित होते ओष्ठों की शोभा से
विकसित पत्रा वाले कमलों के जमी मुलों वाली सखियों से बोली ।

टिप्पणी—दमयती इन्द्रदूती के प्रस्ताव को अमान्य करने के कारण बता
रही थी कि उसकी कमलमुखी सखियों ने इन्द्र के पक्ष में कुछ कहने की इच्छा
की । दमयती ने यह समझा और सखियाँ कुछ कहने को ओठ हिलाये कि
वह उनसे उनका मनोभाव समझ कर कहने लगी । विद्याधर के अनुसार उपमा ॥

अनादिषाविस्वपरम्पराया हेतुस्रजस्रोतसि वेश्वरे वा ।

आयत्तधीरेष जनन्तदार्या । किमोदृश पर्यनुयुज्य कार्यं ॥ १०२ ॥

जोवानु—अनादीति । हे आर्या, एष जन अनादि यया तया, षाविन्या
प्रवहत्या स्वपरम्पराया स्वदेहपरम्पराया इत्यर्थं । तत्सम्बन्धिन्या हेतुस्रज
हेतुस्रजकर्मपरम्पराया स्रोतसि प्रवाहे वा । 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी'ति वचनात्,
ईश्वरे वा । 'एष एव कारयिते'ति श्रुते । आयत्तधी । न तु स्वाधीनबुद्धिरि-
त्यर्थं । निरोश्वरत्तेश्वरमतभेदात् पक्षद्वयोक्तिः, तत्तस्मात्, ईश्वर परतन्त्र एष
जनः, पर्यनुयुज्योपालम्भ । किं कार्यं कारयितुं शक्यं । कारयतेरचो यत् ।
यत स्वयमपि देवपरतन्त्रा न पर्यनुयुज्येति भावः ॥ १०२ ॥

अन्वयः—आर्या, एष जन अनादिषाविस्वपरम्पराया हेतुस्रजस्रोतसि
ईश्वरे वा आयत्तधी तद् ईदृश पर्यनुयुज्य किं कार्यं ?

हिन्दी—हे श्रेष्ठ सखियो, यह व्यक्ति (दमयन्ती) अनादि रूप से पुनः पुन आवर्तमान जीव-परम्परा के कारणों की माला के प्रवाह के अथवा ईश्वर के प्रति अधीनबुद्धि है, तो ऐमी (मुय) को उपालम्भ दे कर क्या कार्य होगा ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने अपनी सखियो को बताया कि वह तो कर्माधीन अथवा ईश्वराधीन ही सब कुछ कर रही है । देवों को छोड़ जो नर को वरण करने की उमकी इच्छा है, वह भी कर्माधीन या ईश्वराधीन है, दमयन्ती की स्वतंत्र इच्छा नहीं है । ऐसी स्थिति में समझदार 'आर्या' सखी निरर्थक उसे कुछ समझाने का प्रयत्न करना चाहती है । इसका कुछ फल न होगा । निरीश्वरवादी के अनुसार जीव कम-परम्पराधीन है, ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वराधीन । जा हाता है, वह स्वेच्छा म नहीं, कमफल अथवा ईश्वरेच्छा के अनुसार । विद्याधर के अनुसार काव्यालिंग अलंकार ॥ १०२ ॥

नित्य नियत्या परवत्यशेषे कः सविदानोऽप्यनुयोगयोग्य ।

अचेतना सा च न वाचमर्हद्धक्ता तु वक्त्रथमकम भुङ्क्ते ॥ १०३ ॥

जीवातु—ननु देवपारतन्त्र्येऽपि मा मूढ पर्यनुयोग्य । विद्वास्तु पर्यनुयोग्य एवेत्याशङ्क्य आह—नित्यमिति । अशेषे जन नित्य सर्वदा नियत्या दैवेन परवति परतन्त्रे सति सविदानो विद्वानपि । 'समो गम्युच्छि' इत्यादिना विदेरात्मनेपदम् । क अनुयोगयोग्य उपालम्भाह । विदुषापि नियतेरलङ्घ्यत्वादिति भाव । तर्हि नियतिरेव पर्यनुयोग्यताम् तत्राह—अचेतना सा नियतिश्च वाच पर्यनुयोगनाहत् । अचेतनोपालम्भस्याग्न्यरुदितकल्पत्वादिति भाव । तथाप्युपालम्भे दोषमाह—वक्ता अचेतनोपालम्भ्या तु वक्त्रथमकम आतिरेव त्रियत इति कर्म वाग्व्यापारफल तद् भुङ्क्ते । वाग्विज्ञापनादयत्फल न किञ्चिदस्तीत्यर्थ ॥ १०३ ॥

अन्वय —अशेषे नित्य नियत्या परवति सविदान अपि का अनुयोग-योग्य , अचेतना सा च वाचम न अर्हत्, वक्ता तु वक्त्रथमकम भुङ्क्ते ।

हिन्दी—समस्तजनों के निरर्थक रूप से (मदा) नियति (भाग्य) के अधीन होन पर विद्वान् भी किस उपालम्भ के योग्य है ? (नहीं है) । और अचेतन (जड) बह (नियति) भी वागनुयोग (उपालम्भ-कहने-मुनन) के

योग्य नहीं है, कहनेवाला (उपात्मकर्ता व्यक्ति) ही मुझ को धर्म देव का कर्म मोता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने सवियों को कुछ न कहने, उपात्म देने, सममाने-बुझाने का धर्म करने को निरर्थकता पूर्व श्लोक में सूक्त बताया । इस श्लोक में उनी व्रत में यह बताया कि सब कुछ मायाधोन ही है, अतः इस विषय में किसी समतार का भी सममाना-बुझाना व्यर्थ है । और यदि यह कहा जाय कि तब सब कुछ करनेवाली नियति को ही सममाना-बुझाना उचित होगा तो यह भी ठीक न होगा, क्योंकि नियति तो कुछ बोल्सी-कहती नहीं, बड़ है । नियति को उपात्म देने वाले व्यक्ति का कथन केवल उमका मुझ दुवापना, और कुछ नहीं । भाव यह कि वरुण के विषय में मूर्खियों द्वारा दमयन्ती का सममाना निराल प्रश्न है, अतः ऐसा परिश्रम करना उचित नहीं । विद्याधर के अनुसार काव्यनिर्णय प्रकाश ॥ १०३ ॥

क्रमेण्क निन्दति कोमलेच्छु क्रमेण्क कष्टकल्पन्तन्तम् ।

प्रीती तयोरेष्टमुजो नमाया मध्यम्यता नैकतरोपहान ॥ १०४ ॥

जोवानु—ननु सुरेन्द्र विहाय नन्स्वीकान् आत्पुनःशान्यता न्यातवाह—
क्रमेण्कमिति । कामकमिच्छु कोमलेच्छु मृदाहारी मवाश्वादि । 'न लोच' श्यादिना पृथीप्रतिपेयान्मपुनिसामुवद् द्वितीयागमात् । क्रमेण्कनुष्टुप्निन्दति । 'दष्टु क्रमेण्कमयमहाङ्गा' इत्यमरः । कष्टकेपु लन्तयो लोचुः क्रमेण्क । 'लोचुप लोचुन लोच लन्तय नन्स विदु' इति ह्यनुत् । त कोमलेच्छु निन्दति । दष्टमुजोन्मयोर्द्वयो प्रीती तुष्टी नमाया तत्र एकतन्म्योपहातो मध्यम्यता । भावस्थय न । मध्य यदिष्ट तुष्टिन्त च तन्म तत्र प्रवृत्ती सर्वस्याप्यान्मत्पान्नेन सन्तोष्टधेःपुनहसत् स्वयनेवोनःशान्ता नवन्तीनि भाव ॥

अन्वय —कोमलेच्छु क्रमेण्क निन्दति, कष्टकल्पन्त इनेण्कः तम्, दष्टमुजोः तयो प्रीती नमायाम् एकतरोपहान् मध्यम्यता न ।

हिन्दी—कोमल (मुलायम) शब्द का अतिशयो (जन्तु) जट को निंदा करता है और कटि (खाने) का लोचुन जट उस (कोमलायी) की । इच्छानुसार खानेवाले उन दोनों (कोमलपदार्थमयी और काटे खानेवाला

ऊँट) की सतुष्टि एक समान होने पर किसी एक का उपहास मध्यस्थता नहीं है।

टिप्पणी—‘मिश्ररुचिर्हि लोक’ के अनुसार प्राणियों की विभिन्न रुचियाँ होती हैं, और वे परस्पर-विरुद्ध भी हो सकती हैं। उदाहरणार्थ मनुष्य और अनेक पशु भी मुलायम, कोमल वस्तुएँ खाते हैं और ऊँट कठोर काँटों का प्रेमी है। दोनों एक दूसरे का उपहास करते हैं। मध्यस्थ समतदार व्यक्ति दोनों पक्षों को अपनी रुचि के अनुसार मोहन कर समान रूप से सतुष्टि पाने के कारण किसी की हँसी नहीं उठाता। यदि वह किसी एक का उपहास करे और एक की प्रशंसा, तो यह उचित न होगा। वह मध्यस्थ नहीं, पक्षपाती समझा जायेगा। ऐसी स्थिति में देव-वरण की अपेक्षा नर वरण के कारण दमयन्ती का उपहास करनेवाला सत्तार मध्यस्थ नहीं, पक्षपाती समझा जायेगा। और पक्षपाती स्वयम् उपहास का पात्र होता है। यह समय नर दमयन्ती की सल्लियो द्वारा दमयन्ती की इच्छा का उपहास अथवा उपालम्भ उचित न होगा। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ १०४ ॥

गुणा हरन्तोऽपि हरेर्नर मे न रोचमान परिहारयन्ति ।

न लोकमालोक्यथापवर्गात्त्रिवर्गमर्वाञ्चममुञ्चमानम् ॥ १०५ ॥

जीवातु-ननु नलादपि गुणाधिके हरो कथमरुचिरत आह-गुणा इति । सत्य हरन्तोऽपि मनोहरन्तोऽपि हरेरिन्द्रस्य गुणा मे मह्य, ‘रुच्यर्थाना प्रीयमाण’ इति चतुर्थी । रोचमान मनोहर त नर न परिहारयन्ति न त्याजयन्ति । कुत, अपवर्गा-मोक्षादवाञ्चमपकृष्ट, त्रिवर्गं धर्मार्थकामानमुञ्चमान-मत्यजन्त, लोक नालोक्यथ? न पश्यथेति काकु । न गुणमपेक्षते रागवृत्तिरिति भाव । श्यान्तालंकार ॥ १०५ ॥

अन्वय—हरन्त अपि हरे गुणा मे रोचमान नर न परिहारयन्ति, अपवर्गात् अर्वाञ्च त्रिवर्गम् अमुञ्चमान लोक न आलोक्यथ ?

हिन्दी—मन हरनेवाले भी इन्द्र के गुण मुझे रुचते नर का त्याग (मुझसे) नहीं करवा पाते । मोक्ष से अपकृष्ट त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) को न छोड़ते सत्तार को नहीं देखते ?

टिप्पणी—‘सुध्वद्भुवनंयाय’ से दमयन्ती एक बार यह मानकर भी कि इन्द्र में अनेक आकर्षक गुण हैं और वह नर की अपेक्षा वरुण-भोग्य है, अपने द्वारा मनुष्य-वरण के विषय में तर्क देती है कि जिस पर रश्मि होती है, उसी को लेंच-नीचे का विचार छोड़ अपनाया जाता है। ससार में सभी ऐसा करते हैं। यह स्पष्ट है कि पुरुषार्थ-चतुष्टय में मोक्ष शेष तीन धर्मार्थकाम की अपेक्षा उच्च और वरुण्य है, फिर भी लोग मोक्ष को छोड़ त्रिवर्ग-साधना में ही लगे रहते हैं। इस दृष्टि से दमयन्ती का चुनाव भी लोह-परम्परा के अनुसार ही है। वह भी देवों को छोड़ नर को वर कुछ विचित्र नहीं कर रही है। अनुराग गुणवगुण का विवेचन नहीं करता। मन्त्रिणाथ के अनुसार दृष्टान्त अलंकार, विद्याधर के अनुसार विभावना और उभयन्यास ॥ १०५ ॥

आकीटमाकैटभर्त्रैरि तुल्यं स्वामीष्टलानात् कृतकृत्यभावः ।

भिन्नसृहाणाम्प्रति चार्यमर्थं द्विष्टत्वमिष्टत्वमप्यव्यवस्यम् ॥ १०६ ॥

जोवानु-ननु महेन्द्र प्राप्य कृतकृत्या नव, कि न-प्रार्थनया, दु-स्वायत्सेष्ठ आह-आकीटमिति । आकीट कीटादारन्य, आकैटभर्त्रैरि तत्पर्यन्तम् । उभय-त्राप्यभिविधादर्थभावः । स्वामीष्टलानात् कृतकृत्यभावः, कृतार्थत्वानिमान-स्तुल्य साधारण मनाप्यभीष्टलानात् कृतकृत्यता केन्द्रलानादित्यर्थः । तर्हीन्द्र एवेष्यतामित्यत आह-भिन्नसृहाणा भिन्नरचीना जनानामर्थमर्थं प्रत्यर्थम् । द्विष्टत्वमिष्टत्वञ्च द्वयमभाता व्यवस्था घटदवपटत्वादिवत् प्रतिनियमो मन्थ तदप्यव्यवस्यमप्यवस्यमन्ववस्यितम् । अपि त्वापेक्षिकम् । तस्मादिन्द्रोऽपि मया नेष्यते को दोष इत्यर्थः ॥ १०६ ॥

अन्वय—आकीटम् आकैटभर्त्रैरि स्वामीष्टलानात् कृतकृत्यभावः तुल्यं, भिन्नसृहाणाम् अर्थम् अर्थं प्रति द्विष्टत्वम् इष्टत्व च अपव्यवस्यम् ।

हिन्दी—कीड़े से लेकर कैंठ के शत्रु (विष्णु) तक अपना अभीष्ट प्राप्त करके कृतार्थता समान होती है। भिन्न-भिन्न वस्तुओं की इच्छा करने वालों के विषय विषय के प्रति द्वेष और इच्छा के विषय में कोई निश्चित व्यवस्था नहीं है।

टिप्पणी—दमयन्ती ने अपनी रश्मि के अनुकूल आचरण के विषय में तर्क दिया कि क्या अच्छा है और क्या बुरा—यह निश्चित नियम से निर्णय नहीं

होता । सब स्वरुचि के अनुकूल, अभीष्ट पाकर स्वयम् को कृतार्थ मानते हैं, चाहे छोटा हो, चाहे बडा । धुद्र कीट से लेकर जगन् के परिपालक विष्णु तक सभी स्वेच्छया किसी पदार्थ को अच्छा बुरा मानते हैं । तुष्ट और कृतकाम अभीष्ट से ही होते हैं । अतः दमयन्ती को देव नहीं, नर नल अभीष्ट है तो इसमें भूल क्या है ? विद्याधर के अनुसार कायवित् का अलकार ॥ १०६ ॥

अग्राध्वजाप्रनिभृतापदन्ध्रुवन्धुयदि स्यात् प्रतिबन्धुमहं ।

जोष जन कायवित्स्तु वस्तु प्रच्छया निजेच्छा पदवी मुदस्तु ॥१०७॥

जीवात्-अग्राध्वेति । अग्रचासाध्वेति समानाधिकरणसमास । अत एव 'अग्रहस्ताग्रहादयो गुणगुणिनोर्भेदाभावादि'ति वामन । तस्मिन्नाध्वनि पुरोमाणे, जाग्रत् स्फुरत् आसन्न इति यावत् । स चामौ निभृता नियता आप-देवान्धु रूप । 'पुस्पेवान्धु प्रहि रूप' इत्यमर । त प्रतिबन्धुमहो निवारितु शक्तो बन्धु स्याद्यदि, स जनो बन्धुजन कायवित् कायन्तोऽपि । प्रश्नपर्यं त जोषमस्तु तूष्णीमास्ताम् । न तु मा निवारयेदित्यथ । कुतस्नहि ते कार्यविज्ञान तदाह-मुद श्येस । पदवी तु, निजेच्छैव प्रच्छया प्रष्टव्या । मंत्र मे प्रवर्तिका नान्य कथञ्चिदस्तीत्यर्थ । वस्तु सत्यमयमेव परमार्थ इत्यथ । प्रच्छेद्विभ्रं क्त्वादप्रधाने कर्मणि 'ऋह्लोर्ण्यत्' ॥ १०७ ॥

अन्वय,—अग्राध्वजाप्रनिभृतापदन्ध्रु प्रतिबन्धुम् अहं य ध्रु यदि स्यात्, जन कायवित् जापम् अस्तु, मुद पदवीं तु निजेच्छा एव प्रच्छया वस्तु ।

हिन्दी—समुत्तमार्गं मे वतमान, द्वेषे आपन्निरूप रूप मे गिरजाने से रोक सकने की क्षमतावाला यदि वधु (मित्र) हो तो भी जन (व ध्रु) को कार्य का ज्ञाता होने पर भी चुप रहना उचित है (अथवा—बन्धु अग्राध्वजाप्रनिभृतापदन्ध्रु यदि स्यात् प्रतिबन्धुम् अहं, कायवित् जन जोषम् अस्तु । यदि मित्र समुत्तम मार्गं मे विद्यमान आपन्निरूप रूप मे गिरता हो तो उसे रोकना उचित है, अथवा कार्यवेत्ता वधु चुप रहे) । ह्य के मार्ग पर तो अपनी इच्छा ही पूठने की वस्तु है ।

टिप्पणी—अच्छे मित्रों को—यदि उनका मित्र विपत्ति की ओर जा रहा हो और निषेध करनेवाले मित्रों में प्रतिरोध की क्षमता हो तो—अपनूप की

ओर जाते मित्र को रोकना उचित है। यदि मित्र विपद् के अग्ररूप में नहीं गिर रहा है अथवा रोकने की स्वयं में क्षमता नहीं है तो उस स्थिति में चुप ही रहना उचित है। दमयन्ती न तो विपत्ति के रूप की ओर जा रही है और न उसे रोकने की क्षमता ही सखियों में है, सो उन्हें कुछ न बोलना ही उचित है। स्वयंवर में मनचाहे का वरण प्रसन्नता की वस्तु है स्वयंवर को जो दखे, उसमें उसकी इच्छानुसार आचरण ही कन्याणकर होता है। इस दृष्टि में दमयन्ती की सखियों को भी दमयन्ती की प्रसन्नता के अनुकूल आचरण उचित है। जो उसकी इच्छा ममझने वाली सखियाँ हैं, वे तदनुकूल आचरण करें, शेष चुप रह। विद्याधर के अनुभार छेकानुप्रास, कृक, कान्तलिंग अल्कारो का मकर ॥ १०७ ॥

इत्य प्रतीपोक्तिमति सखीना विलुप्य पाण्डित्यबलेन बाला ।

अपि श्रुतस्वपतिमन्त्रिमूर्त्तिं दूती वभापेऽद्भुतलोलमौलिम् ॥ १०८ ॥

जोवातु—इत्यमिति । बाला भैमी, इत्य सखीना प्रतीपोक्तिमति प्रति-
 क्लोकिनवृद्धिमित्य पाण्डित्यबलेन प्रागन्भ्यावाम्भेन विलुप्य निषिष्य श्रुता
 स्वपतिमन्त्रिण शत्रुमन्त्रिवस्य बृहस्पते सूक्तयो वाचो यथा तामपि 'अह्रा-
 दीना पत्यादिषु' उति रेफादेश । अद्भुतेन अहो बृहस्पतेरपि प्रागन्भेत्याश्चर्येण
 लोलमौलि कम्पशिरम शिर कम्पयन्तीमिदर्थ । दूती बनापे ॥ १०८ ॥

अन्वय—बाला इत्य सखीना प्रतीपोक्तिमति पाण्डित्यबलेन विलुप्य
 श्रुतस्वपतिमन्त्रिमूर्त्तिम् अपि अद्भुतलोलमौलि दूती बनापे ।

हिन्दी—बाला (दमयन्ती) इस प्रकार (सखियों को) प्रतिकूल वचन
 विषयक बुद्धि का पाण्डित्य के बल से विलुप्त करके स्वर्गराज (इन्द्र) के
 मंत्री (बृहस्पति) की मूर्तियों की सुननेवाणी होकर भी आश्चर्य में गिर
 हिलानी दूती में बोली ।

टिप्पणी—इन्द्रवरण के विषय में दमयन्ती ने उन्हें तर्क देकर समझा
 दिया (श्लोक सं० १०१-१०७) कि वह जो कुछ करने जा रही है, वह
 उचित है। इन्द्र को दूती को दमयन्ती की तर्क क्षमता पर बड़ा आश्चर्य हुआ,
 यद्यपि वह इन्द्र-मंत्री गुरु बृहस्पति की पाण्डित्यपूर्ण वाणी अनेक बार सुन
 चुकी थी। दूती को लगा कि दमयन्ती की विचारशक्ति और स्वयं प्रति-

पादन-सामर्थ्यं अद्भुत है । जैसा कि इलोक सख्या १०१ में कहा गया, दमयंती इन्द्र-दूती से कहते कहते बीच में अपना कथन अधूरा छोड़कर सक्षियों की ओर उन्मुख हो गयी थी । अब वह पुनः उस अर्द्धोक्ति को पूरा करने को उद्यत हुई । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अक्षरकार छेवानुप्रास ॥ १०८ ॥

परेतमर्तुर्मनमैव दूती नभस्वतेवानिलसख्यभाज ।
त्रिस्रोतवसेवाम्बुपतेस्तदाशु स्थिरास्यमायातवती निरास्यम् ॥१०९॥

जीवातु—परेतेति । मनसैव आक्षयकेणेति शेष । आगमनसाघनेनेत्यथ । एव वायुगङ्गायोरपि द्रष्टव्यम् । परेतमर्तुं धमस्य दूती, नभस्वता वामुर्नैव अनिलसख्यभाजोऽनेर्दूती त्रिस्रोतसा गङ्गायैव अम्बुपतेर्वरणस्य दूती स्थिरास्य दृष्टाभिनिवेश यथा तथा आशु शीघ्रमायातवती, सती, तदा अगमनक्षण एव निरास्य पर्यहापम् । 'अस्यतिवक्तिख्यातिम्बोऽङ्' इत्यस्यतेलु डि च्लेरडा-देश । 'अस्यतेस्युक्' इति धुक् । यमादिदूत्यो दूरादेव निरस्ता इन्द्रगौरवा-त्त्वया एतावत् काल समभाषीत्यर्थः । अत्र मनोवायुगङ्गाना क्रमाद्यमादि-विधेयत्वेन तत्प्रियार्थं ताभिरेवातिवेगवतीभिरन आनीता (यमादीना दूत्य) इत्युपप्रेक्षार्थं ॥ १०९ ॥

अन्वय — स्थिरास्यम् आशु आयातवती परेतमर्तुं दूती मनसा एव, अनिलसख्यभाज नभस्वता एव, अम्बुपते त्रिस्रोतसा एव तदा निरास्यम् ।

हिन्दी—(इन्द्रदूती से दमयंती बोली) मैंने विश्वस्तता के साथ पौष्टतया आयी गतप्राणो के स्वामी (यमराज) की दूती की मन से ही, वायु के मित्र (अनिल) की दूती को वायु से ही, जल के स्वामी (वरुण) की दूती को गंगा से ही तमी निराकृत कर दिया ।

टिप्पणी—दमयंती का भाव यह है कि शीघ्रता से दमयंती के निकट पहुँचने के निमित्त प्राणो के स्वामी धम ने अपनी दूती को मन के वाहन पर, अनिल ने वायु के वाहन पर और वरुण ने गंगा वाहन पर भेजा था । उन दूतियों के प्रस्ताव को दमयंती ने सुरन्त अस्वीकार कर शीघ्र ही वापस भेज दिया । वे अपने अपने वाहनों से बिना उतरे ही वापस चली गयी । एक प्रकार से उनका प्रस्ताव ठीक से सुना ही नहीं गया । इन्द्र के प्रति दमयंती

को विधेय आस्था है, अतः उसका कथन सुना और निवेदन किया यदि ऐसी आस्था न होती तो उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार हो सकता था, जैसा कि यमादि की दूतियों के साथ हुआ। प्राणों के स्वामी यम के अधीन भन के होने से, वायु के अग्नि का मित्र होने से और गंगा के बहणाधीन होने से इनका यमादि-विधेयत्व क्रम से है जोर यमादि की दूतियों का उनके बाहन मन-वायु गंगा में वेगपूर्वक आना भी, मल्लिनाथ के अनुसार यह उत्प्रेक्षार्थ है। विद्याधर के अनुसार यहाँ हेतु, अनुप्राण और अतिशयोक्ति अलंकार हैं।

‘स्थिरात्मम’ को दमयन्ती के साथ जोड़कर यह अर्थ भी किया जाता है कि उसकी तल के प्रति आस्था दृढ़ थी, अतः ‘आसृ’ आयी यमादि की दूतियों को उसने ‘आसृ’ विदा कर दिया ॥ १०९ ॥

भूयोऽग्निमिदं यदि मा त्वमात्यं नदा पदावालभने मघोनः ।

मतीव्रतैर्नोव्रमिमं तु मन्तुमन्तं परं वज्रिणिं मार्जिताम्भि ॥ ११० ॥

जीवातु—भूय इति । हे शक्र इति । त्वं भूय पुनरेतमर्थमिन्द्र वृणीष्वेत्य-
मुमर्थं मामात्यं ब्रूये यदि । ‘ब्रुव पञ्चानाम्’ इत्यादिना विपस्थादेशो ब्रुव
आह्वयः । ‘जाह्वय’ इति हकारस्य यकारादेशः तदा मघोनं पदावङ्घ्रौ ।
‘पदङ्घ्रिश्चरणोऽश्विनियाम्’ इत्यमरः । आत्मसे हिनस्सि स्पृससि वा । वज्रिणि
इन्द्रे विषये अन्तरन्तरङ्गे परं श्रेष्ठं, गुणत्वेन गृह्यमाणमित्यर्थः । इमं तीव्रं
दुस्सहं मन्तुं निजाज्ञोन्लङ्घनापराधम् । ‘आगोऽपराधो मन्तुश्च’ इत्यमरः ।
मतीव्रतैः पतिव्रतानियमैः मार्जिताम्भि मार्जित्वाप्यामि । मृजेलुटि मिप् । पति-
व्रताधर्मज्ञं सर्वज्ञो भगवान् मघवा मामस्मादपराधात्प्रास्पृतीत्यर्थः ॥ ११० ॥

अन्वय—यदि त्वं भूय एतम् अर्थं माम् आत्यं तदा मघोनं पदौ आत्मसे,
वज्रिणि अन्तं परम् इमं तीव्रं मन्तुं सतीव्रतैः मार्जिता अस्मि ।

हिन्दी—(हे दूति,) यदि तू पुनः इस विषय को मुझसे कहे तो तूझे मघवा
(इन्द्र) के चरणों की सौमध । वज्रधारी (इन्द्र) के प्रति अन्तःस्थित इस
परम तीव्र अपराध का मार्जन मैं पातिव्रतनियमों द्वारा कहूँगी ।

टिप्पणी—इमयतो को बार-बार यह वरण विषयक वार्ता मली नहीं लग
रही थी, अतः उसने इन्द्र की दूती को इन्द्र के चरणों को ही सौमध देकर पुनः
मुझ कहने से निवारित किया । इन्द्र वज्रधारी है, दंड देने वाला । वह

अपनी अवज्ञा करने वालों पर क्रुद्ध हो उन्हें बज्र से प्रताडित कर सकता है 'वज्रिणि' शब्द का प्रयोग यही द्योतन करता है। किंतु इस परम दुःसह अपराध को करती दमयती निर्भय है। उसे विद्वान् है कि वह अपने पातिव्रत के बल पर इंद्र को दंड देने से विरत कर मकेगी।

नारामण ने चतुर्थ चरण का पाठांतर 'अन्तर्वरं वज्रिणि माजितामि' दिया है। उनको 'प्रकाश'—'व्याख्या है—'अन्तर्वरं वरस्य नलस्य अतमध्ये वज्रिणि राज्ञो लोकपालाशत्वेन नले स्थित इन्द्र इति।' अर्थात् दमयती के वर नल के मध्य उस राजा के लोकपालाश होने के कारण स्थित इंद्र को वह सतीव्रत से मना लेगी। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्राप ॥ ११० ॥

इत्थं पुनर्वागवकाशनाशान्महेन्द्रद्रूत्यामवयातवत्याम् ।

विवेश लाल हृदय नलस्य जीव पुनर्क्षीवमिव प्रबोध ॥ १११ ॥

जीवात्—इत्यमिति । इत्यमुक्तप्रकारेण पुनर्वागवकाशनागात् भूयोवचनावकाशनिवृत्ते । इन्द्रद्रूत्यामवयातवत्या गताया नलस्य जीवाऽंतरात्मा लोल चलाचला हृदय क्षीव मत्तम् । 'मत्ते शीण्डोत्कटक्षीवा' इत्यमर । 'क्षीवृ मद' इति घातो कर्तरि वत् । 'अनुपमगात् फुल्लक्षीवकृशोन्लाघा' इति निपातनात् साधु । प्रबोधो विवेक इव पुनर्विवेग पुनर्जात इवाभूत् । तदा विश्र्वास उच्छ्वासो चेत्यर्थं ॥ १११ ॥

अन्वय — इत्य पुन वागवकाशनाशान् इंद्रद्रूत्याम् अवयातवत्या नलस्य जीव लोल हृदय क्षीव प्रबोध इव पुन विवेक ।

हिन्दी—इस प्रकार पुन कुछ कष्टने का अवसर समाप्त हो जाने से इंद्र की दूती के चले जाने पर नल का प्राण उसके चञ्चल चित्त में पुन प्रविष्ट हुआ जैसे कि मत्तवाले पुरुष में विवेक लौट आता है ।

टिप्पणी—देव दूतियों के प्रस्ताव और उन पर विवेचन नल के हृदय का मत्त पुरुष के चित्त के सदृश चञ्चल कर रहे थे । जब निराश हो सब दूतियाँ चली गयी—विशेषतः इंद्रदूती, सब नल की वह चञ्चलता दूर हुई । उसे लगा कि उसके प्राण पुन लौट आये । उसको विनष्टराय विचारणाशक्ति पुन लौटी । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमा ॥ १११ ॥

श्रवणपुटयुगेन स्वेन साधूपनीतं दिग्धिपकृपयात्तादीदृश सन्निधानात् ।
अलभत मधुबालारागवागुत्थमित्य निपघजनपदेन्द्र पातुमानन्दसान्द्र ॥

जीवानु—श्रवणेति । निषधाना जनपदानाम्, इन्द्रो नन्वे दिग्धिनानाम्, इन्द्रादीना कृपया तिरोधानशक्तमनुग्रहस्वया आत्तात् प्रासादीद्वय सन्निधानाद-
प्रकाशमानित्वान् स्वेन स्वकीयेन श्रवणमुदभुगेन साधुपनीतनर्षितमिष्यमुत्त-
रोन्ध्या वाग्या मन्ध्या रागवाग्य्य अनुगावचनेभ्य उन्ध्या यन्व तत्तदुच्य मधु
क्षीरं, स्वामृतमित्यर्थं । आनन्दसान्द्र सुखमय मधु पानुमलमत तन्वानं तन्व-
वानित्यर्थं । 'शक्युप' इत्यादिना तुमुन् प्रत्यय ॥ ११२ ॥

अन्वय—निषधजनपदेश्च दिग्धिनकृपया आत्तात् ईदृश सन्निधानान्
स्वेन श्रवणमुदभुगेन साधु जननीतम् इत्य वाजारागवाग्य्य मधु आनन्दसान्द्र
पानुम् मलमत ।

हिन्दो—निषध नामक जनपद के देश (राजा नन्) ने दिग्पालों को
कृपा में प्राप्त इस प्रकार के (अदृष्ट रहने के कारण प्राप्त) सान्निध्य के कारण
अपने कण-पात्र-मुत्त-द्वारा मली मांति लाया गया । इस प्रकार के (अपूर्व)
वाग्य (दमयती) के प्रपञ्चवचनों में उन्ध्या मधु आनन्द से परिपूर्ण होकर
पीने को मिला ।

टिप्पणी—इष्ट की स्थिति भी कभी हृदय का कारण बन जाती है । नन्
को अपनी प्रिया के प्रति अन्व का प्रपञ्च-मद-हर बनने का निःकृष्ट, अपमाना-
स्पद और कष्टकर कार्य मिला था, जिन्से उसी के निमित्त उसे स्वच्छया अदृश्य
होने की क्षमता मिली थी, जिससे अदृश्य रहते हुए उसने सब-कुछ देखा-
सुना । मुत्त, वाग्य प्राप्ति की अनुराग-वचन—प्रपञ्चस्वीकृति उसी के मुख
से कीर्त प्रेमी मुन तक, यह प्रेमी के लिए किस मधु से न्यून है ? नन् ने
अपने कणपात्रों में टाल कर लाया ऐसा मधु आनन्द से छत्रकर पीने का अवसर
पाया । विद्याकर के अनुसार अनुप्रास-रूपक का चक्र । मांतिनी छन्द ॥११२॥

श्रीहर्षं कविगजरात्रिमुकुटालङ्कारहोर मुन

श्रीहर्षः मुपुवे जितेन्द्रियधम मामल्यदेवो च यम् ।

पष्ट खण्डनखण्डनोर्जिषि भृत्रान् क्षोदसमे तन्महा-

काव्ये चार्धजि नैषधीयचरिते सगौणमद् भास्वरः ॥ ११३ ॥

जीवानु—श्रीहर्षनिष्ठि । श्रीहर्षमित्यादि सुगमम् । सहजान् सोदरान्,
समानवर्तुंकादित्यर्थं । खण्डनखण्डित खण्डनखण्डितान् प्रयात् । यद्वा खण्डन

नाम ग्रन्थ । तदेव खण्ड इक्षुविकार । 'स्यात् खण्डश्चकले चेषुविकारमणि-
दोषयो.' इति विश्व । ततस्तस्मादपि क्षोदक्षमे सघर्षणसहे षष्ठु सगं अगमत्
समाप्त इत्यर्थं ॥ ११३ ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु'समाख्याने षष्ठु सगं समाप्त ॥६॥

—०—

अन्वय —श्रीहयं च यम् (पूववत्) । सहजात् खण्डन-
खण्डत अपि क्षोदक्षमे तन्महाकाव्ये चारुणि नैपथीयचरिते भास्वर षष्ठु सग
अगमत् ।

हिन्दी—पूर्वाद्धं का अर्थ पहिले के समान । सहजात (सोदर, एक ही
द्वारा रचित, समानकृतक) 'खण्डन खण्ड' (ग्रन्थ) से भी उसी प्रकार सरस
और विचारयोग्य (जैसी कि इक्षु विकार घिसी चकंरा सरस होती है) उस
(श्रीहय) के महाकाव्य, मनोरम 'नैपथीयचरित' में उज्ज्वल छठा सगं समाप्त ।

टिप्पणी—श्रीहयं ने 'खण्डनखण्डताय' नामक ग्रन्थ रचा था, इसका
संकेत । नारायण पंडित के अनुसार इस सगं में धर्मशास्त्रानुसारी द्रुतगुण
कहे गये हैं ॥ ११३ ॥

'नैपथीयचरित' का षष्ठु सगं समाप्त ।

—०—

नैपथीयचरितम्

सप्तमः सर्गः

अथ प्रियासादनशीलनादी मनोरथः पल्लवितरिवर यः ।

विलोकनेनैव स राजपुत्र्याः पत्या भव पूर्णवदभ्यमानि ॥ १ ॥

जीवानु-अपेति । अथ इन्द्रद्वीपननान्तरम् । नृपः पत्या मत्तेन, 'पति-
स्मना एव' इति निमनादनमात्रे विनम्राऽनावात् विक्रमाऽभावः, प्रियाया
दनपत्या, वाताशनं प्राप्ति, शीघ्रन परिचिति, तदादी विषये जादिरुन्दा-
दास्तेषादिसङ्ग्रहः । सो मनोरथः चिर चिरात्प्रवृत्ति पल्लवित सुञ्जातपल्लवः,
स मनोरथो राजपुत्र्या विलोकनेनैव पूर्णवत् फलितवदभ्यमानि अभिमेने । तथा
मनन्देत्पर्यं । मन्पतेः कर्मणि लुङ् ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ प्रियासादनशीलनादीय मनोरथः चिर पल्लवितः भुव-
पत्या स राजपुत्र्या विलोकनेन एव पूर्णवत् अन्वमानि ।

हिन्दी—इनके (दूतियों के निराकरण के) अनन्तर प्रिया (दनपत्नी)
की प्राप्ति और परिचय आदि के विषय में जो आकाश चिरकाश से पल्लवित
हुई थी (मन में उठ रही थी), धरती के स्वामी (नर) द्वारा वह राजपुत्री
(दनपत्नी) को देख लेने से ही पूर्ण-बैसी मान ली गयी ।

टिप्पणी—राजा नर ने बहुत दिनों से सोचा-विचार था कि दनपत्नी
कैसी होगी, कैसे वह प्राप्त हो सकेगी, उसका निज न कितना आनन्द-दायक
होगा—आदि-आदि ? अब अब उसने प्रयत्नपूर्वक दनपत्नी को निहार, तो
उसे तथा कि कैसे उसका चिर पल्लवित कनीड लानय पूर्ण हो गया । नाव
यह कि दनपत्नी को प्रयत्न कर लेने मात्र से नर को प्राप्ति सरस आनन्द
मित्र गया । नर दर्शनमात्र से हर्ष से पूर्ण हो गया, इससे मनोरथ (कार्य)
के महत्त्व तथा दनपत्नी-अवलोचन (कर्ण) के अन्वय में विरोध का हर्षा-
धिक्य के कारण समाधान हो गया—अतः विद्याधर ने इस श्लोक में विष-

मोपमालकार का निर्देश किया है। विद्याधर ने यह भी बताया है कि इस सर्ग में कुछ श्लोकों में उपेन्द्रवज्रा और कुछ में इन्द्रवज्रा छद है। इस श्लोक में उज्जाति छंद है ॥ १ ॥

प्रतिप्रतीकं प्रथमं प्रियायामथान्तरानन्दमुधासमुद्रे ।

तत्र प्रमोदाश्रुपरम्पराया ममज्जतस्नस्य दृशी नृपस्य ॥ २ ॥

जीवातु—प्रतीति । तस्य नृपस्य दृशी नेत्रे प्रथमं प्रियाया भैम्या, तत्रापि प्रतिप्रतीकं प्रत्ययवयव ममज्जतुः तामवयवशो ददर्शेत्यर्थं । अथ तदनन्तरं अन्तः अन्तरात्मनि य आनन्दमुधासमुद्रं तस्मिन् ममज्जतुः दर्शनफलमानन्दं अनुबभूव तु रित्यर्थं । करणे कर्तृत्वोपचारः । तत्र प्रमोदाश्रुपरम्परायामानन्दवाप्यप्रवाहे ममज्जतुः । अत्र दृशूपस्यैकस्याधेयस्य कर्मादिप्रियावयवाद्यनेकाधारवृत्तित्वकथनात् पर्यायालङ्कारभेदः । 'कमेणैकमनेकस्मिन्नाधारे वर्तते यदि । एकस्मिन्नर्थवानेक पर्यायालङ्कृतिर्द्विधा' । इति लक्षणात् ॥ २ ॥

अन्वयः—तस्य नृपस्य दृशी प्रथमं प्रियायां प्रतिप्रतीकम्, अथ आन्तरानन्दमुधासमुद्रे (अन्तः आनन्दमुधासमुद्रे वा), तत्र प्रमोदाश्रुपरम्परायां ममज्जतुः ।

हिन्दी—उस राजा (नल) के नेत्र पहिले प्रिया के प्रत्यय, तदान्तर अन्तस् में उत्पन्न आनन्दामृत के समुद्र में और तदरशात् हर्ष के आँसुओं में मग्न हो गये ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयती के सर्वांगमुन्दर रूप को देख कर नल को धसीम आनन्द प्राप्त हुआ । पहिले नल के नेत्र अग अग के शीर्ष में निमग्न हुए, उससे उत्पन्न आनन्द के मुधा सागर में मग्न हुए और उससे हर्षाँसुओं में मग्न हो गये । त्रिक विवरण । इस श्लोक में आधेय एक है—नेत्र और उसकी प्रियावयवादि अनेक आधारों में स्थिति वर्णित है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पर्याय अलकार का एक भेद है । पर्याय दो प्रकार का होता है—(१) वही एक आधेय की अनेक आधारों में स्थिति, (२) वही अनेक आधेयों की एक आधार में स्थिति । यहाँ उपेन्द्रवज्रा छद है—एक जगण (151), एक सगण (55), एक जगण (151), दो गृह (55) ॥ २ ॥

ब्रह्माद्वयान्वयमवप्रमाद रोमाग्र एवाग्रनिरीक्षितेऽप्या ।

यथोचिनीत्य तदसौपदृष्टावय स्मराद्वैतमुद तथासौ ॥ ३ ॥

जीवानु—ब्रह्मेति । असौ नर , अन्वा नैम्या , रोमाग्र एव रोमाग्रमात्रे अग्रे प्रथम निरीक्षिते दृष्टे सति यथा ब्रह्मवाद्ब्रह्मद्वितीय वस्तु तस्य प्रमोद स्थानन्दमन्वमवदियर्थं । आनन्दस्य ब्रह्मभेदेऽप्युपचाराद्भेदव्यपदेशः । अथाऽ-ग्रदसंतानंतर तस्य रोमाग्र जगोपदृष्टौ हृन्मदसंनि सति, द्वयोर्भावो द्विवा, द्वित्वं द्वैतम् । प्रनादित्वात् स्वायंज् प्रथमः । तद्रहितमद्वैत स्मर एवाद्वैतनद्वितीय वस्तु तस्य मुदमन्वमवद् । अत्र ब्रह्मानन्दात् स्मरानन्दाधिक इति विवक्षितम् । तथा रोमाग्रि रोमाग्रादधिक, तत्र यथाव्यदसंतानन्त्यानन्दः, अधिक्दसंतानन्दा-पिहानन्द इतियथा तथा—मद्वयार्थं , इत्यनौचित्यी कारणानुरूप कार्यब्रह्मोचित-भेदेत्यर्थं । अत्र ब्रह्मानन्दस्मरानन्दयोरेकस्मिन्नेव भ्रमेण वृत्तिकथनात् 'एक-स्मिन्मववानेकम्' इत्युक्तञ्जगो द्वितीयः पर्वणालङ्कारभेदः ॥ ३ ॥

अन्वय—असौ अन्वा रोमाग्रे एव अग्रनिरीक्षिते ब्रह्माद्वयस्य प्रमोदम् अन्वमवद्, अय इत्य तदोपदृष्टौ यथा औचित्यी तथा स्मराद्वैतमुद् ।

हिन्दी—इस (नर) ने उस (दमयन्ती) के रोमाग्र को ही प्रथम देखने पर ब्रह्म-एकता के आनन्द का अनुभव किया, तत्पश्चात् द्वितीय क्रम में उस (दमयन्ती) को सन्तुष्ट देखने पर यथोचित प्रकार से मदन ऐक्य का अनुभव किया ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती को योशा सा भी देखते ही, रोमाग्र-मात्र निहायते नर को ऐसे आनन्द का अनुभव हुआ, जैसा कि योगिजन ब्रह्म से अद्वैतभाव होने पर—ब्रह्म से अनिन्ता स्थापित होने पर अनुभव करते हैं । तदनन्तर जब नर ने अशेष-पूर्ण दमयन्ती को देखा तब मदनानन्द का अनुभव पाया । दमयन्ती को संपूर्ण भाव से देखने पर नर मदनानन्द में निमग्नित हो गया । योशा-ना भाग देखने पर ब्रह्मानन्द मिला, पूरा देखने पर मदनानन्द । इसमें धोखित होता है कि ब्रह्मानन्द की अपेक्षा मदनानन्द दृष्ट है । अन्विनाय ने तृतीय-वस्तुयं चरण का अन्वयांतर करके मर्म किया है कि रोमाग्र देखने पर ब्रह्मानन्द का अनुभव किया अशेष (दमयन्ती) का देख कर स्मरानन्द का । इस प्रकार उचित हुआ—कारण के अनुरूप वाच्य वा ज्ञान । यहाँ

इहानन्द और स्मरणन्द—दीनों की एक में ही इन से विद्यमानता कही गयी है, अतः मन्दिनाप के अनुसार द्वितीय प्रकार का पर्यायवाचक है। विदावर के अनुसार विषय और वचनाङ्कार। वचनाति छर ॥ ३ ॥

वेलाभक्तिरूपं चिरं मुडेन्दोराद्येऽपीयुषादेन तस्याः ।

नस्य स्यान्मुनिषी विवृद्धे तुङ्गी कुचावाशयति स्म दृष्टः ॥ ४ ॥

जोवानु—वेलाभिति । नस्य दृष्टि, तस्या मुडेन्दोराद्योको दान प्रकाशम् ।

'आनेने दशनचोती' इत्यन्तः । अ एव पीयुषममृत तस्य खेत स्वारेन, सग-
म्बुविषी अनुपातमूरे पृथु महती वेला काल मर्मादा च । 'वेला कालमर्मादयोगी'
इति विषय । अतिरूपं विवृद्धे प्रवृद्धे सति तुङ्गी कुचावाशयति स्म । मुडेन्दा
दृष्टि, स्यादस्यात्तुचनी परातिरूपं । अतः दृष्टिविषयतामात्राच्चन्द्रोदये अनुद-
वृद्धो प्रमगदनमदादुम्बेधाशयवनप्रतीते समाधौक्तिरङ्गद्वारः । नेन चास्मि-
नन्वदनमदादिके पुत्रे सा अगस्त इन्दलकारेणालकारध्वनि ॥ ४ ॥

अन्वयः—नस्य दृष्टि तस्या मुडेन्दो बालोऽपीयुषादेन स्यान्मुनिषी
चिर वेलाम् अतिरूपं विवृद्धे तुङ्गी कुची वाशयति स्म ।

टिप्पणी—नल की दृष्टि ने सय (दमपती) के मुखचन्द्र के इदंममृत रस
के आश कही मर्मादा का अतिरूपन कर अनुपाद-मात्र के प्रवृद्ध हो जाने
पर इन्द्र कुची का आशय मिला ।

टिप्पणी—दमपती के प्रपञ्च का निर्माण करती नल की दृष्टि स्वभाविक
रूप में उनके अनु कुचमुदलों पर टहरा नी और नल प्रिया के अनुपात में
और नी मग्न होन लया । इसी नाश पर कवि ने अन्वयता की है उस व्यक्ति
की, जो सार में स्थान कर रहा है कि पूर्ण पत्र रचन के कारण समुद्र में
ज्वार का बहा है और समुद्र का अतः हमकी विशाल टटी की मर्मादा का
इन्द्रपत्र का बढ़ने लगा है । मुडेन्दा की दृष्टि में का दृष्टि द्वैत स्थान का
आशय ले मिला है । यही दमपती का मुख चन्द्र है, जिसके दर्शन में नल ने
अनुपात कर मात्र में ज्वार का मया और वृ इतना प्रवृद्ध हुआ कि नल
इस मर्मादा का भी अन्वय कर गया कि वृ दमपती के पास एक अनुपाती
के रूप में नहीं, इन्द्र के रूप में है । दमपती का का निहाने इसके नेत्र-

जैसे डूबने से बचने के लिए ऊँचे स्थान ऊँचे कुच्चों को आश्रय लेने लग गये । मल्लिनाथ ने निर्देश किया है कि इन रत्नों में दृष्टि के विशेषण की सम्पन्न के कारण चन्द्रोदय से समुद्र में वृद्धि हो जाने पर डूब जाने से बचने के लिए (कुच रूप) ऊँचे स्थान की प्रतीति हाँसी है जो समासोक्ति अलंकार है । उसने इन उत्प्रेक्षा की ध्वजना होती है कि दृष्टि समुद्र में डूबने के डर से भाग कर ऊँचे स्थान पर पहुँच गयी है । इस प्रकार अलंकार ध्वनि है । विद्याधर के अनुसार श्लेषरूपकातिशयोक्ति अलंकार है ॥ ४ ॥

मग्ना सुधाया किमु तन्मुखेन्दोऽलग्ना म्यिता तत्कुचया किमन्त ।

चिरेण तन्मध्यममुञ्चतान्य दृष्टिः कशीय स्खलनाद्भ्रिया नु ॥ ५ ॥

जीवानु—मग्नेति । अस्य नलस्य दृष्टिस्तस्या भैम्या मुखे दोस्सुधाया मग्ना किमु, तत्कुचयोरन्तरमन्तरे च लग्ना म्यिता किम् । उभयत्राप्ययथा कथं तावान् विलम्ब इति भावः । किञ्च कशीयः कृशतरं तन्मध्यं कर्म स्खलनाद्भ्रिया नु भयेन किम् । चिरेणामुञ्चत । रज्जुमन्धारिवदिति भावः । उत्प्रेक्षात्रयस्य सजातीयस्य समृष्टिः ॥ ५ ॥

अन्वय —अस्य दृष्टिः तन्मुखेन्दो सुधाया मग्ना, तत्कुचयो अन्तः लग्ना किन्तु, (यत्) कशीयः तन्मध्यं स्खलनाद् भ्रिया नु चिरेण अमुञ्चत ।

हिन्दी—इन (नल) की दृष्टि उस (दमयती) के मुखचन्द्र के अमृत में मग्न हो गयी थी क्या ? (अथवा उसके मुखचन्द्र की सुधा में भोग कर) उस (दमयती) के कुच युगल में बिपक गयी थी क्या कि उस (दमयती) के पतले मध्य भाग को मानो गिरने के डर से विलम्ब से छोड़ा ?

टिप्पणी—नल दमयती के मुख, कुच युगल और मध्यभाग (कटि) के सौन्दर्य से अभिन्नुत हो देर तक देखते रहे । इन पर ये कल्पनाएँ हैं कि नल की दृष्टि मुखचन्द्रमुखा में मग्न हो गयी, कुच्चों पर ठहर गयी, और कटि पर देर तक टिकी रही कि कहीं पतली, सँकरी डगर ने किमल कर गिर न जाय ? मल्लिनाथ के अनुसार तीन सजातीय उत्प्रेक्षाओं की समृष्टि है, विद्याधर ने उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ ५ ॥

प्रियाङ्गुपान्या कुचयोनिवृत्य निवृत्य लोला नलदृग्भ्रमन्ती ।

बभौतना त मृगनाभिलेपनमसमानादिनदिग्भ्रमेव ॥ ६ ॥

टिप्पणी—वक्षस्यल, नितम्ब और ऊरु युगल को देखकर क्रमशः नल की दृष्टि दमयती के चरणों को देखने लगी। 'नेत्र' शब्द अनेकार्थ है। यहाँ उसके दो अर्थ अभिप्रेत हैं—(१) वस्त्र, (२) नयन। इसी आधार पर चमत्कार लाया गया है। नल की वक्ष, नितम्ब, ऊरु और तदनन्तर चरणों पर पड़ती दृष्टि जैसे दमयती के चरणों पर गिर कर प्रार्थना कर रही है कि 'वास' (वस्त्र) को ही 'नेत्र' नहीं कहा जाता, 'दृष्टि' को भी 'नेत्र' कहा जाता है। ऐसा भी क्या पक्षपात कि एक 'नेत्र' (वस्त्र) पर तो ऐसी दया कि उसे वस्त्र, नितम्ब और ऊरुयुगल पर आलिंगित कर दिया गया है (दमयती स्वभावतः अपने शरीर को दुकूल आदि वस्त्रों से ढके थी) और दूसरे 'नेत्र' (दृष्टि) का ऐसा तिरस्कार कि उसे दूर किये हो ? जब एक 'नेत्र' को इन अपवित्रियों का आलिंगन दिये हुए हो, तो दूसरे को मत छरसाओ, कृपया उसे भी आलिंगन दे कृतार्थ करो। उत्प्रेक्षा जलहार ॥ ८ ॥

दृशोर्षं शकाममधोपहृत्य म प्रेयसीपालिकुल च तस्याः ।

इद प्रमोदाद्भूतसम्भूतेन महामहन्द्रा मनसा जगाद ॥ ९ ॥

जीवान्-दशोरिति । अथ महीमहेन्द्रस्य नलो रशो स्वाक्ष्णो प्रेयसी भूमी, तस्या आलिकुल सखीवर्गं च यथाकाममुपवृत्त्योपहारीकृत्य यथेच्छ इष्ट्वेदमर्थं । प्रमोदाद्भुताभ्यामानन्दविस्मयान्या सभृतेन पूर्णेन मनसा इद वदयमाण जगाद स्वगतमुवाचेत्यर्थं ॥ ९ ॥

अन्वयः—अथ स महीमहेन्द्र प्रेयसी तस्या आलिकुल च दृशोः यथा-कामम् उपहृत्य प्रमोदाद्भुतसम्भूतेन मनसा इद जगाद ।

हिन्दी—इसके पश्चात् वह पृथ्वी का इन्द्र (नल) प्रिया (दमयती) और उसके सखी समूह को जी भर कर नेत्रों का उपहार बना आनन्द और विस्मय से पूर्ण हो मन ही मन यह कहने लगा ।

टिप्पणी—भाव यह कि नल ने यथेच्छ रूप से दमयती और उसकी सखियों को जी भर कर देखा। उस अद्भुत सौन्दर्य-भागर को निहार कर न केवल नल को प्रचुर हर्ष हुआ, प्रत्युत आश्चर्य भी हुआ। ऐसा जगद्-विस्मयकारी सौन्दर्य एकत्र। वह मन में तरह तरह से विचार करने लगा ॥९॥

पदे विधानुयंदि मन्मथो वा ममानिपिच्येन मनोरथो वा ।

तदा घटेतापि न वा नदेनप्रतिप्रतीकाद्भूतरूपमित्यम् ॥ १० ॥

जीवातु-पद इति । विधानु पदे द्रव्याः स्थाने, मन्मथो वा मन मनोरथो वा अनिपिच्येत यदि तदा तत्रनिदम् एतत् पुगेवति प्रतिप्रतीक प्रदवपवम् अद्भुत रूपमित्यम् आकारनिर्माण घटनापि न वा घटेत, तमननानि निर्माणु-मगत्रय किमुन दह्यानेत्रय । अत्र मैनीरूपमित्यम् प्रसिद्धब्रह्मण्वर्धेऽप्यन्यत्रो-क्तेस्तथा मन्मथाद्यन्यत्रेऽपि सम्भावयता तन्मन्वर्धोक्तेऽत्र, तद्भूतानिपिच्यो-क्तिभेदो ॥ १० ॥

अन्वयः—यदि विधानु पदे मन्मथ मन मनोरथ वा अनिपिच्येत, तदा यदि तत् एतत् प्रतिप्रतीकाद्भूतरूपमित्यम् घटेत न वा ।

हिन्दी— यदि मृष्टिकर्ता (ब्रह्मा) के पद पर काम अथवा मने मनोरथ का अनिपेक ही जाय तो नौ बह (अद्भुत) यह (समुत्स्थित) प्रत्येक जग के विमलपकारी रूप-लावण से युक्त सिल्पा रचा जा सके अथवा न नौ रचा जा सके ?

टिप्पणी—अद्भुत और मन्मथोक्तोक्त रूपराशि को देखकर हृद्यदिवसं से पूरा नए विचारने लगा कि एसा रूप क्या ब्रह्मा रच सकता है, जिसने मूर्त मृष्टि बनायी है ? समभव है कि मृष्टिकर्ता स्वयं काम बन जाय अथवा मने मनोरथ ही ऐसा स्थान पा सके तो ऐसी मर्वागनुन्दर रचना हो सके, कदाचित् तब भी न हा सके ? एसा सोच्यं तो कभी दत्ता नहीं गया । ऐसे सिल्पा को रचना न तो ब्रह्मा से ही समभव है, न तो ब्रह्मा से ही समभव है, न मनोभव मे, न मनोरथ से । इस श्लोक में मैनी रूप सिल्पा के प्रसिद्ध ब्रह्मा से मन्मथ होने पर भी असम्भव कहा गया और मन्मथ आदि मे अमन्मथ होने पर भी समभवता के द्वारा मन्मथ बनाया गया, अतः मन्मिनाय के अतिगयोक्ति के दो नेद हैं । छन्द उपेन्द्रवय्या है ॥ १० ॥

तरङ्गिणी भूमिमूत्र प्रभूता जानामि शृगाररसम्य सेत्रम् ।

लावण्यनुराज्जनि योवनेन यस्या तयोच्चैस्तनत्राजनेन ॥ ११ ॥

जीवातु—तरङ्गिणीति । सेय दमयती भूमिमृत्वी भीममूनरुवेव भूयरा-दिति सित्पुत्रकम् । मुक्ता प्रभव इत्यतदान्वात्पक्षमी । प्रभूता मन्भूता ।

जीवानु—पुरेनि । विधातु स्रष्टु, पुराकृति पूर्वसृष्टि तत्र स्त्रेण स्त्री समूह पूर्वा स्त्रीसृष्टिरित्यर्थः । इमा भैमी विधातु स्रष्टु हस्तलेख अभूत् सनु । लेखनाभ्यासिभिर्हस्तकौशलार्थमेव यल्लिख्यते स हस्तलेख, तादृशोयमिति निरसं नानुप्राणिता पूर्वसृष्टिर्भैमीनिर्माणार्थान्यासरूपत्वोत्प्रेक्षा । किं च येव भावि नीना पुरन्ध्रीणा सृष्टि सा अस्य भैम्यं तासा पुरन्ध्रीणा जयेन जात तज्जयजयणो प्रदातुमिति फलोत्प्रेक्षा ॥ १५ ॥

अन्वयः—पुराकृति स्त्रेणम् इमा विधातु विधातु हस्तलेख अभूत् सनु, या इय भवद्भावविपुरन्ध्रिसृष्टि सा अस्यै तज्जयजय यश प्रदातुम् ।

हिन्दी—पहिले रचा हुआ स्त्री समूह इस (दमयन्ती) की रचना के निमित्त विधाता का निरचयत प्रथम अभ्यास था, और जो यह विद्यमान और भविष्य में रची जानी नारियों की रचना है, वह इस (दमयन्ती) को उन (सुन्दरियों) को जीतने से उत्पन्न कीति देने के निमित्त है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के समान न तो पहिले ही कही कोई सुन्दरी रची गयी और न दमयन्ती के समय में ही और न भविष्यत् में होगी । पहिले जो उर्वशी, रम्भा आदि की विधाता ने अपनी परा का विस्तारने के प्रथम प्रयास के लिए रचा था और यह जो वर्तमान-भविष्यत् की नागरिकाओं की रचना है वह इसलिए है कि यह प्रचारित हो सके कि दमयन्ती का सौन्दर्य अप्रतिम है, त्रिकाल न थी, और विधाता की यह सदा-सर्वदा की उत्कृष्ट कृति है । मल्लिनाथने फलोत्प्रेक्षा का उल्लेख किया है और विधातर ने उत्प्रेक्षा का ॥

भव्यानि हानोरगुरेनदङ्गात् यथा यथानति तथा तथा तै ।

कस्याधिकम्योपमयोपमाता दाता प्रतिष्ठां खलु तेभ्य एव ॥ १६ ॥

जीवानु—भव्यानीनि । भव्यानि रम्याणि चन्द्राद्युपमातवम्भूनि, एतस्या भैम्या, अङ्गात् मुखादेयया यथा हानीरूपकपत्ति 'ग्लाङ्गाजहानिम्यो निर्बन्धव्य' इति जहाते स्त्रिया निप्रत्यय वितनाऽशवात् । अगुरगमत्, 'इणो गा मुक्ति' इति गादेने 'गाति स्था' इत्यादिना तिचो लुक् । 'आत' इति क्षेर्मुसादेश । तथा तथा तैश्चन्द्राद्युपमानैरनति ह्यर्पितृत्य कृतमित्यर्थः । नन्वपवर्षे कथं ह्यं ? तथाह—उपमाता क्वि 'मातेर्माङ्गि वा तृन्' । अधिकम्योत्कृष्टस्यास्य भैम्यङ्ग-स्योपमया उपमानीकरणेन । अथ वा गत्व तराभावात् तरत्र तुलनया तपामेनोप-

मानीकरणेनेत्यर्थं । तेन्यञ्जनादिभ्य एव प्रतिष्ठा दाता इत्यति । ददातेल्लुट् ।
तथा च यथा कविविद् प्रतिष्ठाच्छूरे उभेयत्वेन वा, उभययामुत्तमानत्वेन वा
कविप्रसादाच्चन्द्रादीना पुन प्रतिष्ठा भविष्यति इत्यन्तीत्यर्थं ॥ १८ ॥

अन्वय—एतदङ्गान् भवन्ति यथा यथा हानी अगु तथा तथा सै वन्ति,
अधिकृत्य अन्य उपमा उपमाता तेभ्य एव प्रतिष्ठा दाता खलु ।

हिन्दी—इन (दमयन्ती) के अग (मुखादि) से रमणीय (चन्द्रनादि
उत्तमान) जैसे-जैसे हानि (अरुण्यं) पाते गये वैसे वैसे वे नाचने लगे
(प्रमन्न हुए), क्योंकि विशिष्ट इस (दमयन्ती-आ) की उपमा से उपमा
देने वाला (रचयिता) उन्हें (उपमानों को) ही प्रतिष्ठा निश्चयपूर्वक देगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती के अग की उपमा देने में यद्यपि कविसमयसिद्ध
उत्तमान हीन होने से उचित प्रमाणित नहीं हुए, तथापि अन्य उत्तमान वहाँ
में लगे जायें ? और स्पष्टीकरण के लिए उपमा तो देनी होगी ही । इस
दृष्टि से मले ही हीन प्रमाणित हों, मले ही अकीर्ति, अपमान और अवहेलना
प्राप्त हो, उत्तमान तो वे प्रसिद्ध चन्द्रादि ही रहेंगे । सो इन चन्द्रादि उत्तमानों
को दमयन्ती-अगों से उपमित होते हुए अग्र ही मिला, फिर भी वे अत्यन्त
प्रमन्न हुए । उन्हें लगा कि वे घब हूए कि कम से कम उन्हें अपने से अच्छा
प्रतियोगी तो मिला । किसी न किसी रूप में अपने से अच्छे का उत्तमान बनने
का सौभाग्य तो मिला अब तक तो हीन का ही उत्तमान बनने का दुर्भाग्य
आता था । विद्याधर के अनुसार यहाँ हानि-गमन-नर्तन-क्रिया-विरोध अलंकार
है । चन्द्रकलाकार ने असवध में सवध का वर्णन होने के आधार पर अति-
शयोक्ति का उल्लेख किया है ॥ १६ ॥

नास्वसि दृष्टापि विमोहिकेय दोषैरमेयै स्वभिनेति मन्ये ।

जन्धेनु नैराकुलिनस्तदस्या वस यसानल्यमुक्षी गुणोत्र ॥ १७ ॥

जीवानु-नेति । श्यापि विमोहिका दसंनमात्रेणापि व्यामोहिकेय दमयन्ती
अपेयैर्दोषै स्वमिया यस्मानविमोहियन्तीत्यामीयनयेनैव नास्वसि न स्पृष्टेति
मन्ये । उन्नेसा । मीरको हि भयहेतुनू स्प्रष्टमेव विम्यतीति भावः । तत्तस्मात्
दोषस्पर्शान्नावात् । अयेषु स्म्यन्तरेषु तैर्दोषैराकुञ्चित पीडितो गुणोषोऽप्या

भैम्याममापत्येन अकण्टकत्वेन सुखी मन् वसति 'प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानामि'त्यपवादोऽस्यामेव ह्यट इति भावः ॥ १७ ॥

अन्वय — दृष्टा अपि इय विमोहिता अशेषं दोषं, स्वप्नियान् अस्याश्चि इति मन्ये, तत् अन्येषु सं आकुलितः गुणोप अस्याम् असापत्न्यसुखं वसति ।

हिन्दी—देखने मात्र से इस विमोहित (आहृष्ट, बेमुघ) करनेवाली (दमयन्ती) को समस्त दोषों ने अपने (बेमुघ हो जाने के) ही डर से नहीं छुआ—(मैं नल) ऐसा मानता हूँ,—सो अन्य (सुन्दरियो) ने उन (दोषों) से व्याकुल गुणसमूह इस (दमयन्ती) में अवैरिभाव का सुखानुभव करता बसता है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के स्वरूप में, शरीर सीपठव में एक भी दोष नहीं है और समस्त गुण हैं । दोषों को डर है कि दमयन्ती के पास पहुँचते ही वे बेमुघ हो जायेंगे, क्योंकि उसकी तो देखते ही लोग विमोहित हो जाते हैं, छूने की तो बात क्या ? दोषों का ही गुण है—एसा एव विपर्यस्ततया गुणा । सो जब दोष पास तक नहीं फरकते, तो गुण दमयन्ती देह में निष्कटक भाव से प्रसन्नता-पूर्वक टिक गये । अन्यत्र तो दोष जब-तब उनकी सीमा में प्रविष्ट हो कण्ट देते रहते थे—कलकित करते रहते थे । विद्याधर के अनुसार उल्लेख ॥ १७ ॥

ओज्जित प्रियाङ्गुधुण्यैव रुक्षा न वारिदुर्गात्तु वराटकस्य ।

न कण्टकैरावरणाच्च कान्तिधूलीमृता काञ्चनकेतकस्य ॥ १८ ॥

जीवातु—ओज्जति । प्रियाङ्गुधुण्यैव वराटकस्य बीजकोशस्य कमलकण्ठिवाया इत्यप । 'बीजकोशो वराटक' इत्यमरः । रुक्षा पक्ष्वा कान्तिधुण्यैव रोक्ष्यजुगुप्तयैव ओज्जित विमृष्टा । उज्ज विसर्गे कर्मणि लुङ् । वारिदुर्गाद्धारिदुगस्थत्वात्तु न । किं च काञ्चनकेतकस्य धूलीमिभृता पूर्णा कान्तिरौज्जित रज कीर्णत्वादेवोज्जिता कण्टकैरावरणात्तु न । रोक्ष्यादिदोषदूषितत्वात्तु मीमांसयकान्तिसाम्यमर्हति । महती तत्काम्बतिरित्यर्थः ॥ १८ ॥

अन्वय — प्रियाङ्गु वराटकस्य रुक्षा कान्ति धुणया एव ओज्जित वारिदुर्गात्तु न, काञ्चनकेतकस्य च धूलीमृता कान्ति (ओज्जित) कण्टकैरावरणात्तु न ।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) के अर्गों ने कमलकणिका की रूखी काँति घृणा से ही छोड़ी, इसलिए नहीं कि वह जल के दुर्ग में रहती है, और सुवर्ण केतकी की काँति भूलि-धूसरा होने से छोड़ी, कुछ काँटों के घेरे में घिरी रहने के कारण नहीं ।

टिप्पणी—कमलकणिका और केतकी का सुनहरा रंग शरीर-वर्ण के लिए अच्छा माना जाता है, किंतु दमयन्ती का शरीर-वर्ण कमलकणिका और केतक के रंग जैसा नहीं है । तब प्रश्न होता है कि क्यों दमयन्ती के शरीर ने ऐसा किया ? क्या इसलिए कि वह कमल की कणिका जल-दुर्ग में रहने से गूहीत नहीं हो सकती, और क्या केतकी पुष्प काँटों की बाढ़ में रक्षित है, इससे नहीं पाना जा सकता ? ऐसा नहीं है । कमलकणिका को जान-बूत कर, घाँटि होने पर भी इसलिए छोड़ दिया गया कि वह रूखी और कटोर है और केतकपुष्प की काँति पर धूल जन जाती है । ये दोनों इन दोषों से ब्रह्म रहते । भाव यह है कि दमयन्ती की देहकाँति के समुच्च कमल-कणिका और केतकपुष्प—दोनों छोड़े, हीन अवस्था ब्रह्म हैं । दमयन्ती की देहकाँति इन दोनों से अधिक व्यर्थक वर्ण की और सिग्व चिक्का थी । विद्याकर के अनुसार उन्मेषा-दीपक अलंकार ॥ १८ ॥

प्रत्यङ्गमस्त्वामभिकेन रक्षा कर्तुं मघोनेव निजास्त्रमस्ति ।

वप्यश्च भूपामणिमूर्तिधारि नियोजित तत् द्युतिकामुंक् च ॥ १९ ॥

जीवानु—प्रत्यङ्गमिति । अस्या भैम्याम् । अतिकामयत इत्यभिकेन कामु-केन 'कमन कामगोऽभिक' इत्यमर । 'अनुकामिकामीक' कमपिता' इति निपातनात्साधु । मघोना इन्द्रेण प्रत्यङ्ग रक्षा कर्तुं नियोजित नियमित भूपा-मणीना वप्यमणीना मूर्तिमाकार धारयतीति तद्धारि निजास्त्र वज्र' च तेषां मणीना द्युतय एव कामुकभणियनुस्त्वान्तीव इन्द्रनियोगात् भूपामणित्प्रना-व्याजेन अवरोधरक्षार्थं वज्रामुष धनुश्च प्रत्यङ्गमावृत्त्य तिट्ठतीवेत्पुन्रेक्षा ॥ १९ ॥

लन्वय—अभिकेन मघोना प्रत्यङ्ग रक्षा कर्तुं भूपामणिमूर्तिधारि निजास्त्र वज्र तद्द्युतिकामुंक् च अस्या नियोजितम् इव अस्ति ।

हिन्दी—कामुक इन्द्र ने (दमयन्ती) के अग-वज्र की रक्षा करने के निमित्त आनूपर्णों में जड़ी मणियों (वज्र-हीरा) का रूप धारण किये अपने २ नै० सप्त०

अस्त्र वज्र और उस (वज्रमणि) की दमक रूप धनुष् (वर्षा से सबध रखने वाले इन्द्र धनुष्) को इस (दमयन्ती) के प्रति नियुक्त सा किया है ।

टिप्पणी—दमयन्ती हीरा (वज्र) आदि मणियों से जड़े आभूषण पहिने है, जिनमें दमक और चमक है । कवि-कल्पना है (नल ने विचारा कि) देवराज इन्द्र दमयन्ती का अमिलायी है, अतएव कहीं कुछ ऐसा न हो कि दमयन्ती का कोई अण दूषित हो जाय, इससे उसने मणियों के रू मे वज्र और उन मणियों से निकलती काति के रू मे सुरचाप को प्रहरी बना दिया है । मत्स्यनाय ने इस श्लोक मे उत्प्रेक्षा, नारायण ने वज्र शब्दच्छत्र के द्वारा सहेतुकोत्प्रेक्षा और विद्याधर ने सापह्नु शोत्रप्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ १९ ॥

अभ्या. सपक्षैकविधो कचौघ स्थाने मुखस्योपरि वासमाप ।

पक्षस्थतावद्बहुचन्द्रकोऽपि कलापिना येन जिन कलाप ॥ २० ॥

जोवानु—अयासगसमाप्तेर्दमयत्याश्विचुरादिशादनखान्त्वर्गनमारमने—
अस्या इत्यादि । अस्या भ्रम्या कचौघ केशराश सपक्ष सद्यः सुहृद्भूतस्वैक एव विधुश्चन्द्रो यस्य तस्य सपक्षैकविधो 'तृतीयादिषु भाषितपुस्क पुवद्गालव-
स्य' इति वैकल्पिक पुवद्भाव । मुखस्योपरि वास स्थितिमाप, स्थाने युक्तम् ।
फुत येन कचौघेन पक्षस्था गहश्लिष्ठा स्ववर्ग्याश्च तावन्तो बहुवचन्द्रका मेवका चन्द्राश्च यस्य सोऽपि । 'समी चन्द्रकमेचकौ' इत्यमर । चन्द्रपक्षे 'शेषा-
द्विभाषा' इति कप् । कलापिनां वट्टिणा कलापो बह्वं जित अनेकचन्द्रसहाय विजयिन एकचन्द्रविजयस्तदुपर्यवस्थान च किं चित्रमित्यर्थं ॥ २० ॥

अन्यथ—अस्या सपक्षैकविधो मुखस्य उपरि कचौघ स्थाने वासम् आप, येन पक्षस्थतावद्बहुचन्द्रक कलापिनां कलाप अपि जित ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के—जिसका पदापर एकमात्र चन्द्रमा ही है (चन्द्रसदृश), ऐसे मुख के ऊपर केशों के समूह ने उचित ही स्थिति प्राप्त की, जिसने पक्षों में लगे उतने बहुत से चन्द्रका मे पुत्र मयूरों के विच्छमार की जीत लिया है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के मुख की तुलना यदि की जा सकती है, तो चन्द्र से ही । उसका अनेक आभूषणों से मण्डित केश जाल अनेक चन्द्रका से युक्त प्रतीत होता है, जिसने समूह मयूरों के अनेकचन्द्रक पुत्र विच्छमार की

नहीं ठहरते। केय धने हैं, उतने कि बितने मयुरनिच्छ नों नहीं हैं और चन्द्रकयुति अनेक आभूषण उनमें गुंये हैं, अतः वे मयुरनिच्छों से अधिक आकर्षक हैं। इस प्रकार जब अनेक चन्द्रकों को दमदन्ती-केयमार ने पराव्रित कर रखा है, तो एक बंचारे चन्द्र (छमुताद्योजनायं चन्द्रक) की क्या पित्तो ? इसी कारण मुखरूप में पराव्रित चन्द्र के ऊपर, उच्चम्पान शीरं पर त्रिजगी केयमारों को स्थान देकर विषाजा ने युक्तियुक्त कार्य ही किया है। इस श्लोक से आरम्भ कर अन्तिम १०९ वें श्लोक तक दमदन्ती के केय से लेकर धरपनखों तक का वर्णन किया गया है—'इति स विक्रयदारन्त्या नवावधि वर्गयत्' । २०, २१, २२ वें श्लोकों में केयों का वर्णन है ॥ २० ॥

अन्या यदास्येन पुरन्निरक्ष निरन्वृतं शीतहवान्धकारम् ।

स्तुट्स्फुरद्भङ्गकचच्छलेन तदेव पश्चादिदमन्ति बद्धम् ॥ २१ ॥

जीवानु—अस्या इति । अन्या नान्या आन्देनैव शीतहवा मुखचन्द्रेण यदन्यकार तन । 'जन्धकारोर्गत्रिणा ध्वान्तम्' इत्यनर । पुरो अग्ने त्रिच्छ पार्श्वमोश्च त्रिरस्तुत तदपकारमेवेद स्तुट् स्तुरन् भङ्ग कौटिल्यं परावयस्व येना तेषा क्वचाना छलेन पश्चाद्बद्धमन्तीस्तुन्द्रीका । निरन्वृती हि मन्तोत्साहः क्वचिन्मृशनामे बद्धस्तिश्रुतीति भाव ॥ २१ ॥

अन्वयः—अन्या आन्देन शीतहवा यद् अक्षकारं पुर त्रिः च त्रिरस्तुतम् तत् एव स्तुट्स्फुरद्भङ्गकचच्छलेन इद पश्चात् बद्धम् ।

हिन्दी—इस (दमदन्ती) मुख रूप शीत किरण (चन्द्र) ने जो जन्धकार आगे और इधर-उधर पार्श्वों में अन्तर्गमित किया, वही प्रकट विन्तित मन्तिना-युक्त केयों के व्याज से यह पीठे बाँध दिया ।

टिप्पणी—दमदन्ती का केयनाथ जसन्त इनाम और मन्तिनायुक्त (धुंधलाने) है बित्ते पीठे जुड़े के रूप में समेट कर बाँध दिया गया है और उसका मुख शीतकिरण चन्द्र के समान सुन्दर और शक्ति-युक्तशयो है। कवि-कल्पना है कि मुख के रूप में चन्द्रना ने समुद्रनाथ और पार्श्वभागों से अक्षकार को हटाकर अन्तर्गमित और पराव्रित किया केय-नाथ रूप में उनी पराव्रित अक्षकार को पीछे बाँध लिया गया है। त्रिरस्तुत और ह्यंशःत्साह

वेचारा अन्वकार केशपाशरूप मे पीछे-बँधा पडा हुआ है। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा है और विद्याधर के अनुसार रूपकापह्नुति। चन्द्रकलाकार ने रूपक वैतवापह्नुति-प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के अगानिभाव सकर का निर्देश किया है ॥ २१ ॥

अस्या कचाना शिखिनाञ्च किन्नु विधि कलापो विमतेरगाताम् ।

तेनायमेभि किमपूजि पुष्पैरभत्सि दत्त्वा स किमर्धचन्द्रम् ॥२२॥

जीवातु—अस्या इति । अस्या भैम्या कचाना केशाना शिखिना बर्हिणश्च कलापो केशपाशवहंभारो । 'कलापो भूषणे बहूँ तूणीरे सहती कचे' इत्यमर । विमतेमियो विवादाद्विधिमगाता स्वतारतम्य प्रष्टुमगमता कि न । 'इणो गा लुडि' इति गादेश । तेन विधिना अय केशपाश एभि पुष्पैरिति हस्तेन पुरोवर्तनिर्देश अपूजि किम् । महत् पूज्यत्वादिति भावः । स शिखिकलाप अर्धचन्द्र चन्द्रकलहस्त च दत्त्वा अभत्सि भत्सित कि महाजनद्वेषिणो नीचस्य शास्यत्वादिति भावः । अर्धचन्द्रस्तु चन्द्रके गलहस्ते बाणभेदः इति विश्व । शिखिकलापस्य चन्द्रकवत्व केशपाशस्य तत्कुसुम ब्रह्मदत्त शाश्वतमिति भाव । अत्रोत्तरोत्प्रेक्षयोः प्रथमोत्प्रेक्षापेक्षत्वात् सजातीयसङ्कर ॥ २२ ॥

अन्वय —अस्या कचाना शिखिना च कलापो विमते विधिम् अगाता किन्तु, तेन अयम् एभि पुष्पै अपूजि किम्, स अर्धचन्द्र दत्त्वा अभत्सि किम् ?

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के केश और मयूरों के पिच्छमार परस्पर विवाद होने से क्या (निर्णय कराने को) विधाता के निकट गये थे ? क्या उन (ब्रह्मा) ने इस (केशपाश) को इन (केशों में गुंथे) फूलों से पूजा है ? उस (मयूरपिच्छ) की क्या गरदनिया देकर मत्सना की है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के केशपाश और मयूरपिच्छ में विवाद उठ खडा हुआ कि दोनों में कौन अच्छा—बडा है ? निर्णय के लिए वे विधाता की सेवा में पहुँचे । जैसा कि स्वामाविक था, विधाता ने दमयन्ती-केशपाश को उत्तम बताया और फूलों से—फूल खड़ाकर उसकी आराधना की और मयूरपिच्छ को गरदनिया देकर डाँट फटकार कर बाहर कर दिया ! भाव यह कि फूल गुंथे केशपाश चन्द्रक वृत्त मयूरपिच्छ से वहाँ मनोरम हैं । नारायण के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा प्रतीय और मल्लिनाथ के

अनुसार उत्तरवर्तिनी दो उत्प्रेक्षाओं के प्रयनोत्प्रेक्षासाधेक्ष होने के कारण सजातीय सकर है ॥ २२ ॥

केशान्यकारादय दृश्यफालस्यन्नार्धचन्द्रा स्फुटमष्टमीयम् ।

एता यशसाद्य जगज्जयाय मनोनुवा सिद्धिरसाधि साधु ॥ २३ ॥

जीवानु—केशेति । केश केश्याद्य एवान्यकारान्तस्मात् जयानन्तर दृश्यो दर्शनाहं फालस्यल ललाटनाग एवाधंचन्द्रो यस्यास्त्वा इय दमयन्ती अष्टमी । तत्राप्यवकारानन्तरदृश्याधंचन्द्रत्वात्कृष्णाष्टमी शुक्लक्षेत्रे विपर्ययात्स्फुटमित्युत्प्रेक्षायाम् । कुत ? यद्यस्मान्मनोनुवा जगज्जयाय एतामासाद्य साधु सिद्धिः जगज्जयमिद्धि असाधि साधिता । कृष्णाष्टम्या जैत्रयाश्रावा जयसिद्धिरिति ज्योतिर्विद । यथाह पितामह—‘जयदा विजिगीषूणा यात्रायामसिताष्टमी । श्रवणेनाय रोहिण्या जययोगो युता यदि ॥’ इति ॥ २३ ॥

अन्वयः—केशान्यकारान् अय दृश्यफालस्यन्नार्धचन्द्रा इय स्फुटम् अष्टमी, यद् मनोनुवा जगज्जयाय एताम् आसाद्य साधु सिद्धिः असाधि ।

हिन्दी—केशों के बंधियारे के पश्चात् (नीचे) दर्शनीय ललाटपट्ट रूप आया चंद्रमा धारण करती यह (दमयन्ती) प्रत्यक्ष अष्टमी है, कि मनोजन्मा (काम) ने जगत् विजय के निमित्त इसे प्राप्त कर ठीक ही सिद्धि साधी है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में आधे चन्द्रमा के समान ललाट अथवा अधंचन्द्राकार तिलक लगे ललाट का वर्णन है । इसी आधार पर दमयन्ती को अधंचन्द्रधारती कृष्णपक्ष की अष्टमी माना गया है, जिस रात को जगत् को वश में करने के लिए गुटिकादि सिद्धि साधी जाती है । ज्योतिषशास्त्र के अनुसार कृष्णाष्टमी को आरब्ध जययात्रा सफल होती है, यदि वह श्रवण और रोहिणी नक्षत्र में युक्त है । काम ने इसी अष्टमीरूपी दमयन्ती को प्राप्त कर स्वयंवर में जगत् विजय के लिए यात्रा करने का उचित ही निर्णय किया है । उत्प्रेक्षालकार ॥ २३ ॥

पुष्प धनु कि मदनस्य दाहे श्यामीभवत्केसरशेषमासीत् ।

व्यघाद्द्विधेशन्नदपि क्रुधा कि भैमीभ्रुव्नी येन विधिर्व्यंघत् ॥ २४ ॥

जीवातु—पुष्पमिति । मदनस्य दाहे दाहकाले, पुष्पमेव धनु श्यामीभवन्तः केशरा क्रिष्टवत्का एव शेषो यस्य तदासीत् किम् । किञ्च ईषो हरः तदपि

क्रुधा क्रोधेन द्विधा व्यधात् द्वेषा व्यभजत् किम् । येन द्विधा विभक्तेन पुष्येण
विधिर्वेषा भैम्या भ्रुवो व्यपत्त असृजदित्युत्प्रेक्षा ॥ २४ ॥

अन्वय — मदनस्य दाहे पुष्प धनुः श्यामीभवत्केसरशेषम् आसीत् किम्,
ईष तत् अपि क्रुधा द्विधा व्यधात् किम्, येन विधि भैम्या भ्रुवो व्यपत्त ?

हिन्दी—काम के (शिव द्वारा) दग्ध किये जाने पर ' इसका) दुसुम-
चाप श्याम केसरमात्रावशेष रह गया था क्या, और शिव ने उस (धनुष्)
को भी क्रोध से दो सडकर डाला था क्या, जिससे विधाता ने भीमपुत्री का
भ्रूयुगल बनाया ?

टिप्पणी—दमयन्ती का भ्रूयुगल अत्यन्त श्याम, धनुष् के दो सडो के
आकार का अतएव इतना मनोहर है कि काम-धनुष् की भाँति वह जगत् को
मोहने में समर्थ है । ऐसा प्रतीत होता है कि विधाता ने उसी काम-चाप से
दमयन्ती की दोनों भौहें बनायी हैं, जो शिवद्वारा मदनदाह होते जलकर वाला
पड गया था और क्रोध में भरे शिव ने उस धनु अस्त्र के दो सड कर डाले
थे । उससे ही विधि ने ये दो काली भौहे बनायी हैं, तभी सो ये श्याम और
विश्वजय सामर्थ्य से पूर्ण हैं । मल्लिनाथ के अनुसार उत्तरेता और विद्याधर के
अनुसार उत्प्रेक्षातिथयोक्ति ॥ २४ ॥

• भ्रूम्या प्रियाया भवता मनोभूचापेन चापे धनसारभाव ।

निजा यदप्त्रोपदशामपेक्ष्य सप्रत्यनेनाधिकवीर्यताजि ॥ २५ ॥

जीवातु—भ्रूम्यामिति । विश्व प्रियाया भैम्या भ्रूम्या भवता भ्रूयुगलत्वेन
परिणमता मनोभूवश्चापेन धनसारभावी इदस्थिराशक्तवर्षरत्व च । 'सागे
बले स्थिरासि च । अय वर्षरमस्त्रियाम् । धनसार' इति चामर । चापे प्राप्त ।
आप्नोते कमणि लिट् । मद्यरमात्, निजामप्त्रोपदशामपेक्ष्य अदाहावस्यात्
इत्यर्थं । सप्रत्यनेन मनोभूचापेन अधिकवीर्यता अधिकपराक्रमीऽपि अजि प्रापि ।
कमणि लुङ् । 'वीर्यं पराक्रमे रेतति' इति वैजयन्ती । दग्धस्यापि स्मरचापस्य
तद्भ्रूभूतस्य पूर्वाम्यधिकपराक्रमदर्शनाङ्गुन धनसारभाव प्राप्त इत्युत्प्रेक्षा ॥

अन्वय — प्रियाया भ्रूम्या भवता मनोभूचापेन धनसारभाव च चापे,
यन् निजाम् अप्त्रोपदशाम् अपेक्ष्य सप्रति अनेन अधिकवीर्यता अजि ।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) का भ्रूयुगल बनते काम धनुष् ने धनसार-

भाव (अतिदय बल और कर्पूरभाव) प्राप्त कर लिया, जो कि अपनी बलने से पूर्व की दशा की अपेक्षा इस समय (बल जाने पर) अतिदय पराङ्गम का दर्शन कर लिया ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक और इस श्लोक तथा अगले (२६ वें) में दमयन्ती के भ्रूयुग्म का वर्णन है । इस प्रकार तीन श्लोकों में भ्रूयुग्मन हुआ । इस श्लोक में प्रथम श्लोक के भाव के प्रसंग में कवि-कल्पना है कि बलकर और टूटकर तो वस्तु प्रायः निःसार हो जाता करती है, परन्तु काम-चाप के सदम में इसके विपरीत हुआ । शिवदाग बलाया और दो टूक किया काम धनुष् दमयन्ती का भ्रूयुग्म बनकर और भी बलशाली और पराङ्गी बन गया । पहिले तो फूल का सा-निःसार, अब तो सारवान् बन गया । दमयन्ती-भ्रूयुग्म रूप में उसकी जाहङ्गीकरण समता वहीं अधिक हो गयी है—'घनसारभाव' उसे प्राप्त हो गया है । इतना ही नहीं, बल कर काटा पटा काम-चाप अब गौर हो गया कर्पूर के समान, जो जलकर ही अधिक टाप देता है । मस्तिनाय के अनुसार चतुरेखा और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति-अनुमान ॥ २५ ॥

स्मारधनुषं द्विधुनोर्ज्जितास्या यास्येन भूतेन च लक्ष्मरेखा ।

एतद् भ्रुवौ जन्म तदाप युग्मं लीलाचलत्वोचिन्वात्मभावम् ॥ २६ ॥

जीवातु-स्मारमिति । यत्स्मरस्येद स्मारधनुः । अस्या भूम्या आस्येन भूतेन आत्मभाव इतेन विधुना चतुरेखोक्तिता, या लक्ष्मरेखा कल्हुरेखा च तद्युग्म तदुभय कर्तुं । लीलाचलत्वोचित्वात्मभावमिति चोच्यते । यो यो वाचनाव केशवर्षे बवभोरभेदाच्छिद्युत्वं च यस्मिन् जन्मनि तत्तयोक्तम् । एतस्या भूम्या भ्रुवौ अथ भ्रू रूपेणोत्पत्तिमाप । एतस्या मुखमकल्हुरेखा च भ्रुवौ च स्मारधनुश्चन्द्र-लक्ष्मणोरपरावतार इत्युपेक्षा ॥ २६ ॥

अन्वयः—एतु स्मारं धनुः अस्या आस्येन भूतेन विधुना उक्तिता या लक्ष्मरेखा च तद् युग्मं लीलाचलत्वोचित्वात्मभावम् जन्म एतद् भ्रुवौ वाप ।

हिन्दी—काम के धनुष् और इस (दमयन्ती) का मुख हुए चन्द्रमा द्वारा छोट दी गयी बलक-रेखा—इस युग्म ने चपल चेष्टाओं से पूर्ण बचपन से मुक्त, विरास लीलाओं में पूर्ण बेशर्त से सपन बन इस (दमयन्ती) के भ्रूयुग्म के रूप में पाया है ।

अस्सी भाग तक का निर्देश किया गया है—'अशीतिभागो वृद्धि स्यात् ।'
 (हिन्दी-व्याख्याकार के विचार में यह 'अशीतिभाग' १।८० का चोक्क है ।
 व्यवहार में कदाचित् एक मुद्रा ध्याज सहित १ + १।८० तक ली जाती होगी,
 जैसे कि आधुनिक युग में एक रुपये के एक सौ अस्सी पैसे तक मूल-ध्याज
 सहित बसूल किये जायें ।) विद्याधर के अनुसार छैकानुशास उत्प्रेक्षा-समाप्तोक्ति
 अलकार ॥ ३३ ॥

दृशौ किमस्याश्चपलस्वभावे न दूरमाक्रम्य मियो मिलेताम् ।

न चेत्कृत स्यादनयो प्रयाणे विघ्न श्रव कूपनिपातमीत्या ॥ ३४ ॥

जीवातु—दृशाविति । चपलस्वभावे चञ्चलशीले, अस्या भूम्याः दृशौ
 दूरमाक्रम्य अन्वुपर्यन्त गत्वेत्यथ । मियो न मिलेता न सङ्गच्छेयाताम्, काकु ।
 मिलतेलिङ्गिततस्तामादेश । किं त्वनमोदृशो प्रयाणे दूरगमने श्रवती श्रोत्रे
 एव कूपाविति रूपकम् । तयोनिपाताद्भ्रूत्या कर्ष्या विघ्न हृतो न स्यान्चेत् ।
 अत्र दृशो कर्णान्तविधान्तयो' कूपपातभयहेतुकवोत्प्रेक्षारूपकोज्जीवितेति
 'सङ्कर ॥ ३४ ॥

अन्वय —अस्या चपलस्वभावे दृशौ दूरम् आक्रम्य किं मियो न मिलेता
 चेत् अनया प्रयाणे श्रव कूपनिपातमीत्या विघ्न न कृत स्यात् ।

हिन्दी -- इस (दमयती) के चञ्चल प्रकृति के नेत्र दूर तक दौडते जाकर
 क्या परस्पर मिल न जाते यदि इनके दूर जाने के मार्ग में कर्णकूपा रूप कूप
 में गिर जाने के डर से विघ्न न पड जाता ?

टिप्पणी—दमयती के दोनों नेत्र उन चञ्चल और, आकर्षक बालकों के
 समान हैं, जो हसर-उघर भागते फिरते हैं किन्तु रास्ते में कूप, गढ़ा आदि में
 गिरने के भय से रुक जाते हैं, अर्थात् नेत्र अत्यन्त चञ्चल और दडे बडे हैं—
 बानों एक फँसे । मल्लिनाथ के अनुसार रूपकोज्जीविता उत्प्रेक्षा होने से
 सङ्कर अलकार है, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-समाप्तोक्ति ॥ ३४ ॥

केदारभाजा शिशिरप्रवेशात्पुण्याय मन्ये मूनमुत्पलिन्या ।

जाता यतस्तत्कुमुभेक्षणेय यतश्च तत्कोरकदृक् चकोर ॥ ३५ ॥

जीवातु—केदारैति । केदार क्षेत्रविशेष पर्वतविशेषश्च । त भजतीति
 तद्भात् । 'केदार. पर्वते शम्भो क्षेत्रभेदालवाल्यो' इति विश्व । तयोत्पलिन्या

शिधिरप्रवेशात् शिधिरर्तुप्रवेशाद्धेतो पुण्याय धर्माय मृत मन्त्रे । भावे क' ।
मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम् । यतो यस्मात् केदारमरणादिय नैमी तस्या उत्पलिन्याः
कुसुमे पुष्पे एव ईक्षणे यस्याः सा जाता । यतश्चकोरश्च तत्कोरकावेव दृशी
यस्य स जात । केदारक्षेत्रमरणादुत्तमजन्मलाभ इत्यागम ॥ ३५ ॥

अन्वयः—केदारभाजा उत्पलिन्या शिधिरप्रवेशात् पुण्याय मृत मन्ये, यतः
इय तन्कुमुमेक्षणा जाता, यत चकोर च तत्कोरहृक् ।

हिन्दी—आलवाला (बाला) रूपी केदारनाथ शिव के समीप स्थित
कमलिनी ने शिधिर ऋतु रूप शीत जल में प्रवेश करके पुष्प के निमित्त मृत्यु
स्वीकारी, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि यह (दमयती) उस (कमलिनी के)
नेत्रोंवाली हृद् और चकोर उसकी कली के नेत्र बाला ।

टिप्पणी—द्योतित यह करना है कि दमयती के नेत्र कमलतुल्य हैं और
चकोर के उसकी कली-जैसे । बलिष्ठा की अपेक्षा कुसुम श्रेष्ठ होता है—इस
क्रम से दमयती के कमलकुसुम नयन चकोर के कलिका नयनों की अपेक्षा
सुन्दर हैं । पर कमलिनी को ऐसा सोमाग्य मिला कैसे कि वह दमयती और
चकोर-नेत्र रूप में पुनर्जन्म पा सकी ? उसने पुण्य में जीवनात्मर्ग किया था
केदारस्वर में शीतल जल में स्नान करके । केदार का अर्थ केदारनाथ शिव
भी है और बाला भी, शिधिर प्रवेश का अर्थ शिधिर, ऋतु का आना भी
है और शीतस्वर में प्रवेश भी । शिधिर के पाले में कमलिनी नष्ट हो
जाती है । 'विश्व'कोय के अनुसार—'शिधिर, स्वाहोर्भेदे तुषारे ।' मलिनाय
के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ३५ ॥

नामादसीया तिलपुष्पतूषां, जगत्त्रयन्यस्तशरत्रयस्य ।

श्वामानिलामोदमरानुमेया दधद्द्वित्राणी कुमुमायुधस्य ॥ ३६ ॥

जीवातु-नासेति । जमुग्या इयमदसीया, नामा नासिका, जगत्त्रये न्यस्त
प्रयुक्त शरत्रय मस्य तस्य कुमुमायुधस्य सम्बन्धिनी तिश्वासानिल्स्य निरनास-
मारतस्य आमोदमरेण सौरमानिशनेन अनुमेया द्विवाणी सिष्ट बाणद्वयम् । समा-
हारे द्विगोर्दोषु । दधन् तिलपुष्पमेव तूषामिपुधिरित्युत्प्रेक्षा ॥ ३६ ॥

अन्वय — अदसीया नासा जगत्त्रय-यस्तशरत्रयस्य कुमुमायुधस्य श्वासा-
निलामोदमरानुमेया द्विवाणी दधन् तिलपुष्पतूषम् ।

हिन्दी—इस (दमयती) की नासिका त्रिजगत् (जय) के निमित्त तीन बाणों का प्रयोग कर देने वाले कुसुमायुध (काम) के निश्वास वामु की सुगंध मार से अनुमित, (दोष) दो बाणों को धारती तिलके फूलों से बना तूपीर है ।

टिप्पणी—अग वर्णन क्रम मे नासिका का वर्णन, जिसे दो बाणों को धारते काम का तूपीर बताया गया । नासिका के दो छेदों मे काम के तीन लोको के जय से बचे दो पुष्पबाण हैं, इसका अनुमान नासा रघो से निकलती सुगंध से होता है । यदि पुष्प न होते तो सुगंध न होती । और सुगंध है, अतः फूल है, क्योंकि जहाँ सुगंध है, वहाँ फूल होते हैं । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और काव्यलिंग ॥ ३६-१॥

बन्धूकबन्धुभवदेतदस्या मुखेन्दुनातेन सहोज्जिह्वानम् ।

रागश्रिया शैशवयौवनीया स्वमाह सन्ध्यामधरोष्ठलेखा ॥ ३७ ॥

जीवातु—बन्धूकेति । अस्या भ्रम्या अधरोष्ठलेखा अनेन मुखेन्दुना सहो-
ज्जिह्वानमुद्यत् । बन्धूकबन्धुभवत् । बन्धुजीवकुसुमसमीभवत् एतत्पुरोवति
स्वमात्मानम् । 'आत्मनि स्वम् इत्यमरः । रागश्रिया आरुण्यसम्पदा, शैशव-
यौवनयोरेतत्सम्बन्धिनी सन्ध्यामाह । अधोरात्रसन्धाविवक्षयसाधी भवा सन्ध्या
स्वयमेवेति स्वरागसमुद्ध्या कथयति इवेत्युत्प्रेक्षाप्रयोजनाप्रयोगाद्गम्या ॥ ३७ ॥

अन्वय—अस्याः अधरोष्ठलेखा अनेन मुखेन्दुना सह उज्जिह्वान बन्धूक-
बन्धु भवत् एतत् स्व रागश्रिया शैशवयौवनीयां सन्ध्याम् आह ।

हिन्दी—इस (दमयती) के निचले ओठ की लेखा (अधर) इस (दमयती के) मुख चद्र के साथ उत्पन्न होते, बन्धूक (दुपहरिया के फूल) के बधु (सहस्र) बनते इस अपने को अरण दोभा के कारण बाल्यावस्था और यौवन की संध्या (संधि) कर रही थी ।

टिप्पणी—इस २७ वें से ४२ वें (छ दलोंमें) दलोक तक दमयती के अधरोष्ठ का वर्णन है । इस दलोक मे दमयती की वय संधिका चमत्कारपूर्ण चित्रण हुआ है । दुपहरिया के फूल के समान लाल अधर की लाली के कारण बाल्यावस्था का ओतक बताया गया है, जो चद्र के समान गुलाबी मुख के साथ इस अरणरागमयी थी को प्राप्त हुआ है । कल्पना की गयी है कि लाल अधर-

लेखा करने को ही शंख-ध्वज की सजि घोषित कर ही है। दिन-रात का नभ्यकाष्ठ—सन्ध्यासनय लाउ होता है और उदित होता चर भी गुावी। शंख-ध्वज दिन-रात है, जपों की लाली लकी सन्ध्या की लाली है। सन्ध्या उदित होते लाल चद्रमा की नाति लाल होती है। इस श्लोक में दिन-रात की सन्ध्या के दृश्य वदयति में होने वाली सन्ध्या ने जननी राग-सुनृष्टि के कारण जैसे करने को ही सन्ध्या कहा, अत्रैव मन्दिनाय के अनुशा अत्रैव शब्द का प्रयोग न होने से सम्बोद्धता है। विद्याधर के अनुसार अतिरूपोक्ति-रूपक अन्कार है ॥ ३७ ॥

अस्या मुहेन्दोरधरः सुधान्बिम्बस्य दृष्टः प्रतिबिम्ब एषः ।

तस्याय वा श्रीद्रुमभाजि देशे समान्यमानान्य तु विद्रुमे सा ॥ ३८ ॥

लौकानु—अस्या इति । अस्या नैस्या एषोऽधर अथोऽहं मुहेन्दो मुषा-
माननृते नवन्धाविनंबतीति सुधान् बिम्बस्य बिम्बदलस्य प्रतिबिम्ब सदृशो
दृष्टः । न तु च बिम्बदलान्कश्चिद्विज्ञेयोऽप्यतीत्यर्थः । तस्य बिम्बदलस्य श्री
शोनाद्रुमभाजि द्रुमवति देशे समान्यमानाना । अस्याधरस्य त्वत्तौ श्री विद्रुमे
प्रवालं विद्रुमद्रुमे च समान्यत इत्यर्थः । 'विद्रुमं पृथि प्रवालं पुनरुत्कम्'
इत्यनर । विद्रुमसमर्थारित्यर्थः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—अस्याः मुहेन्दो मुषानु एषा अधर बिम्बस्य प्रतिबिम्बः दृष्टः,
अप तस्य श्री द्रुमभाजि देशे समान्यमाना, अस्मि तु सा विद्रुमे ।

हिन्दो—इस (दमयन्ती) का मुख-चन्द्र के अनृत में उत्पन्न यह अधर
बिम्बदल के सदृश है, परतु (विद्रुमता यह है) तस्य (बिम्बदल) की शोना
दृशों वाले स्थान (बन-उपवन) में समव है, इस (अधर) की वह (शोना)
तो प्रवाल में अथवा 'विद्रुम' (द्रुमरहित, वृषरहित) प्रदेश (नगर) में
समावित है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के चन्द्रानृतजात, रागात्म अधर की शोना बिम्बदल
ने विभिन्न द्योतित करना कवि का उद्देश्य है, इसी कारण 'विद्रुमरहित' प्रदेश
में उसकी समावना की गयी है, अर्थात् 'बिम्बदल' तो जगली पदार्थ है, अधर
तो नागरयो से सरज है। अथवा 'काटु' के आधार पर यह अर्थ भी किया
जाता है कि क्या इस 'मुषेनुमुषानु' अधर का प्रतिबिम्ब बिम्बदल है ?
अर्थात् नहीं है, क्योंकि बिम्बदल जगली है—द्रुमभाजि देश में उत्पन्न, अधर

की समावना तो द्रुमरहित प्रदेश में की जाती है। इसके अतिरिक्त अघर चन्द्र-सुधा से उत्पन्न है, जब कि बिम्बफल में यह वैशिष्ट्य नहीं होता। रससिक्त होने से और अरुण होने के कारण एक बार बिम्बफल को 'सुधाभू' अघर का प्रतिबिम्ब कहा भी जा सकता है, परन्तु अघर की 'विद्रुमदेश' में समावना तो सबथा ही बिम्बफल में नहीं है, अतः अघर की तुलना बिम्बफल से करना ठीक नहीं। एक प्रकार से विद्रुम (जो अघर के साथ अरुण होने के आधार पर साम्य प्राप्त कर सकता है) भी अघर की तुलना में नहीं ठरहता, क्योंकि वह सरस 'सुधाभू' नहीं है। इस प्रकार दमयन्ती का अघर बिम्बफल और विद्रुम (मूंगा) -दानों से श्रेष्ठ है। विद्याधर के अनुसार यहाँ रूपक अतिशयोक्ति व्यतिरेक-आक्षेप अलंकारों का सङ्कर है। चन्द्रकलाकार ने रूपक-उपमा श्लेष की सृष्टि का निर्देश किया है। इन्द्रवज्रा छन्द है ॥ ३८ ॥

जानेऽतिरागादिदमेव बिम्ब बिम्बस्य च व्यक्तमितोऽधरत्वम् ।

द्वयोर्विशेषावगमाक्षमाणा नाम्नि भ्रमोऽभूदनयोर्जनानाम् ॥ ३९ ॥

जीवातु—जान इति । अतिरागादतिलोहित्याद्धेतो इदं पुरोवर्त्यैव बिम्ब बिम्बनामाह बिम्बस्य च इतोऽस्मादधरत्वमपृष्टत्वमोष्ठत्व च व्यक्त तदेवाधरनामाह प्रतीयत इत्यर्थं । एव स्थिते द्वयोरनयोर्धरबिम्बयोर्नाम्नो विषये विशेषावगमे इदमस्य नामेति निर्धारणे अक्षमाणामसमर्थानां जनानां भ्रमोऽभूत् । जाने जानामीत्युत्प्रेक्षा ॥ ३९ ॥

अन्वय—अतिरागात् इदम् एव बिम्ब बिम्बस्य च इतः अधरत्व व्यक्तम् जाने अनयो द्वयो विशेषावगमाक्षमाणा नाम्नि भ्रमः अभूत् ।

हिन्दी—प्रचुर लालिमा होने के कारण यह (अघर) ही बिम्ब है, बिम्बफल की तो इस (अघर) से अधरता (निम्नता) प्रकट है। प्रतीत होता है कि इन दोनों (दमयन्ती अघर और बिम्बफल) के तारतम्य (उच्चत्व-निम्नत्व) को न समझ सकने वालों को नाम में भ्रम हो गया।

टिप्पणी—इस श्लोक में अन्य भगिमा से दमयन्ती-अघर की बिम्बफल से श्रेष्ठता प्रतिपादित है। कल्पना है कि अघर ही वास्तविक बिम्ब है, क्योंकि उसमें प्रचुर लाली है। जहाँ सब बिम्बफल का प्रश्न है, वह तो अघर से निम्न माना ही जाता है, क्योंकि उसे बिम्बनाम इसी कारण मिला है कि

वह दमयन्ती के अघर के तुल्य है। अघर उपमान है, विम्बफल उपमेय। उपमान की अपेक्षा उपमेय निम्न होता ही है। लोगों में तारतम्य का विवेक नहीं था, सो उलटा-पलटा नामकरण हो गया। दमयन्ती के निचले ओष्ठ को अघर-मञ्जा दे दो और फल को विम्ब-मञ्जा। होना चाहिए था दमयन्ती-ओष्ठ का नाम विम्ब (जो वाम्बविकृता है) और फल का अघर। मन्त्रिनाथ के अनुमार उत्प्रेक्षा त्रिद्याघर ने उत्प्रेक्षा रूपक-काव्यलिंग जलकार माने हैं ॥३९॥

मध्योपकण्ठावग्रेष्ठभागी भात किमप्युच्छ्वसितौ यदस्या ।

तत्स्वप्नसम्मोगवितीर्णदन्तदशेन किं वा न मयापराद्धम् ॥ ४० ॥

जीवातु—मध्येति । यद्यस्मान्, अस्या सम्बन्धितौ मध्यत्वाघरमध्यप्रदेशस्य उपकण्ठी सनिन्त्रिणी अघरोष्ठस्य भागी तदुभयपार्श्वे इत्यर्थं । किमप्युच्छ्वसितौ किञ्चिदुच्छ्वसितौ भात स्फुरत । नत्तस्मात् स्वप्नसम्मोगे वितीर्णो दत्तो दन्तदशो दन्तक्षत येन तेन मया नापराद्ध किं वा । स्वप्ने स्वकृतदन्तक्षतमेता-विन्दुप्रेक्षा ॥ ४० ॥

अन्वय—यत् अस्या मध्योपकण्ठी अघरोष्ठभागी किमपि उच्छ्वसितौ भात तत् किं वा मया स्वप्नसम्मोगवितीर्णदन्तदशेन न अपराद्धम् ?

त्रिन्दी—किं इस (दमयन्ती) के मध्यस्थल के निकट अघर और ओष्ठ कुछ मूजे-से सुगोमिन हो रहे हैं, सो वहीं मैंने स्वप्नकृतसमोग में दन्त-क्षत करने का अपराध तो नहीं कर दिया है ?

टिप्पणी—ओष्ठ अघरों का कुछ फलापन (उच्छ्वसिता) सामुद्रिक शास्त्र की दृष्टि में गुण है। दमयन्ती के ओष्ठाघर वैसे है। इसके आधार पर यह भी घोषित कर दिया गया है कि गङ्गानुरागी नल प्रत्येक रात्रि को उससे स्वप्न में मिलता है। स्वप्न सम्भोगकृत दन्तक्षत के कारण उच्छ्वसिता को नमावना यही निर्देश करती है। विवेकी नर यह अपना अपराध मानता है कि एक कुमारी के साथ उसके द्वारा यह अनुचित हो गया। उत्प्रेक्षा ॥ ४० ॥

विद्या विदमैन्द्रमुनाधरोष्ठे नृत्यन्ति कथन्तरभेदमात्र ।

इतीव रेखाभिरपथमन्ता मस्थातवान् कौतुकवान्विधाता ॥ ४१ ॥

जीवातु—विद्या इति । कौतुकवान् जिनाशी विधाता विदमैन्द्रमुनाया अघरोष्ठे कति विद्या अन्तरन्मन्तरं अभेदमात्र भेदरहिता सत्यो नृत्यन्ति

टिप्पणी—दमयन्ती की मुसकान का हजारवां भाग भी यदि चाँदनी में पड़ जाये तो जैस गगाजल की एक बूँद प्रचुर जल में गिर कर उसका महत्व स्थापित कर देती है, वैसे ही चाँदनी में महत्व आजाय और इस प्रकार वह कृताय हो अपना सत्ता सफल कर ले। भाव यह कि दमयन्ती की मुसकान का यत्किञ्चित् जश भा अनेक चाँदनिया से रमणीय और आनन्ददायक है। नारायण ने 'निमित्त' के स्थान में 'निमित्तच्छद्य' पाठभेद मानकर अर्थ किया है कि चन्द्र कौमुदी समूह द्वारा पूजा करके—आरती करके उनका जन्म सफल करले। इस श्लोक में कौमुदी समूह का समावना-नाश द्वारा स्मिञ्जास से संबन्ध नहीं है, तथापि उसका संबन्ध कथन है, अतः मल्लिनाथ और विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ४३ ॥

चन्द्राधिकृतं मुद्गैश्चन्द्रिकाणां दरायत तत्किरणाद्धनानाम् ।

पुर परिस्सतपृषद्वितीयं रदावल्लिद्धन्धति विन्दुवृन्दम् ॥ ४४ ॥

जीवात् चन्द्रेति । तस्य चन्द्रस्वरूपे किरणाद्भस्मे चन्द्रकान्ते, घनानां सांज्ञायां तन्मुखस्य चन्द्राधिकत्वाच्चन्द्रिकीणामिति ततोऽधिकमिति भावः । अत एवाह—चन्द्राधिकत्वं तन्मुखस्य चन्द्रिकीणां मुखस्य दरायतमीपद्दोर्धं पुर परिस्सतानि प्रथमसृत्तानि सृत्ति विक्त्वा यस्य तद्वितीयं विन्दुवृन्दं रदावल्लिद्धन्धति तद्विद्धं आचरति 'सर्वादिभिर्यदि कर्म्य' क्विप् 'इत्पञ्चिारक्विबन्ताल्लट् । प्रथमनिस्सृता विन्दुपङ्क्तिरदन्तमेव उत्तरानन्वे जातेत्यपेक्षा ॥ ४४ ॥

अन्वय—तद्विद्विणात् घनानाम् एतन्मुखचन्द्रिकाणां दरायत पुर परिस्सतपृषद्वितीयं विन्दुवृन्दं रदावल्लिद्धन्धति ।

हिन्दी—उस (चन्द्र) की किरणों से घनी, इस (दमयन्ती) के मुख (मुख चन्द्र) की चाँदनीयों की कुछ बड़ी, पहिले और दूसरी बार गिरी बूँदों का समूह (दमयन्ती) की रसपकितया के युग्म का आचरण कर रहा है।

टिप्पणी—तीन (४४-४६) श्लोकों में दमयती की दत्तपक्ति का वर्णन है। यह सिद्ध ही हो चुका है कि दमयती का मुखचन्द्र और उसकी स्मित कौमुदी सामान्य चन्द्र-चन्द्रिका से श्रेष्ठ हैं। यहाँ कल्पना है कि सामान्य चन्द्र की चाँदनी की अपेक्षा घनी और बड़ी बूँद मुखचन्द्र की चाँदनी की है। दे धीरे धीरे जब टपकी तो उनकी पहिले गिरी राशि नीचे की ओर दूसरी बार

गिरी राशि उपर की दशावलि बन गयी । भाव यह कि दमयन्ती की दशावलि कुछ घन और सूझन है । सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार यह गुण है कि नीचे के दाँत सूझन हों और ऊपर के कुछ आसन और घने । दमयन्ती की दशावलि ऐसी ही है । मन्त्रिणां के अनुसार दरद्रेषा और मिटानर के अनुसार अतिशयोक्ति-उपमा रूपक अलंकार हैं ॥ ४४ ॥

सेय ममेतद्विरहानिमूर्च्छानमीविभातस्य विभानि सन्ध्या ।

महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री द्विजैरमीभि ममुपास्यमाना ॥ ४५ ॥

जीवानु—सेति । महेन्द्रस्य काष्ठामुर्कपं गतोऽनुराग अथवा पूर्वदिगतो रागो लीहितम् । 'काष्ठोर्कपे स्थितौ दिशि' इत्यमर । 'रागोऽनुरागे लीहित्ये' इति विश्व । तस्य कर्त्री जनपित्री अमीभिर्द्विजैर्दंतै विप्रैश्च । 'दन्तविप्रान्दवा द्विजा.' इत्यमर । समुपास्यमाना सेव्यमाना सेय दमयन्ती मम एतस्या भैष्या विरहात्प्रा विभोगवीडया या मूर्च्छां संव तमी रजनी । 'रजनी यामिनी तमी' इत्यमर । तस्या विभातस्य सवधिनी सन्ध्या प्रात सध्या विभाति । सन्ध्या-धर्मसन्ध्यात्सध्या त्वमुत्प्रेष्यते ॥ ४५ ॥

अन्वय—महेन्द्रकाष्ठागतरागकर्त्री अमीभि द्विजै समुपास्यमाना सा इय मम एतद्विरहात्तिसमूर्च्छानमीविभातस्य सध्या विभाति ।

हिन्दी—महेन्द्र (स्वर्गराज) के परमाणुपंक्त अनुरक्ति उत्पन्न करने वाली, महेन्द्र की काष्ठा (पूर्व दिशा) के राग (लाली) उत्पन्न करनेवाली (के तुल्य) इन द्विज (ब्राह्मण रूप) दाँतों से सेवित यह यह (दमयन्ती) मेरे इसके विभोग की पीडाजनित मूर्च्छा रूप रात्रि के प्रभात की सध्या-सम धाना दे रही है ।

टिप्पणी—रमणीय दशावलि से घोमिता दमयन्ती को इस श्लोक में नल की विरहव्य-पीडागत-मूर्च्छा को दूर करनेवाली बताया गया है । उसको उत्पन्न रात्रि के परचात् आनवादी प्रमान-मध्या से की गयी है, जिसकी स्थिति में इद्र की दिशा (प्राची) में लालिमा छा जाती है और ब्रह्मण सन्ध्यावासना किया करत है । दमयन्ती ने इद्र में परमकोटि की अनुरक्ति उपजायी है, इस प्रकार वह महेन्द्रदिग् में लालिमा उत्पन्न करनेवाली प्रभात सध्या है, विरह-व्य मूर्च्छा रूपी रात्रि को वह समाप्त करनेवाली है और द्विज (दशावलि)

जवदात हो जाते हैं, उसी प्रकार वैकल्य राग-द्वेषादि-रहित ब्राह्मण भी काल्पयहीन हो जाते हैं। जैसे स्वच्छ दाँत मोती की उपमा पाते हैं, वैसे ही श्रेष्ठ ब्राह्मण जोवन्मुक्त कहाने हैं। मात्र यह कि दमयन्ती के दाँत बड़े ही आकर्षक हैं और उनके बीच ये चार राजदन्त तो और भी आकर्षक। मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विशाघर ने छेकानुप्राण-नमामोक्ति के सकर का निर्देश किया है ॥ ४६ ॥

शिरीषकोशादपि कोमलाया वेंगा विधायान्नशोपमन्या ।

प्राप्तप्रकर्षं मुकुमारसर्गो मनापयद्वचि मृदुत्वमुद्राम् ॥ ४७ ॥

जीवातु—शिरीषेति । वेंगा विराता शिरीषस्य कोशात्कुड्मलादपि कोमलाया जन्त्या नम्या, शोपमङ्ग विराय मुकुमारसर्गो कोमलमृष्टी प्राप्त-प्रनयो लोके लब्धोत्कर्षः मन् मृदुत्वमुद्रा मार्दवमङ्गो वाचि ममोवाण्या मनापयत् ननापितवान् । सर्वातिशायिन्या वाट्नाधुर्यमिति भावः ॥ ४७ ॥

अन्वय—शिरीषकोपात् अपि कोमलायाः अस्या लशोपम् अङ्ग विधाय मुकुमारसर्गो प्राप्तप्रकर्षं वेंगा मृदुत्वमुद्रा वाचि मनापयत् ।

हिन्दी—सिरस के फूलों में भी कोमल इन (दमयन्ती) के मपूर्ण अंगों को बनाकर मुकुमार रचना में उत्कर्ष को पाये विधाता ने मृदुता (मुकुमारता) की मर्यादा को (दमयन्ती की) वाणी (की रचना) में मनास कर दिया ।

टिप्पणी—चार (४७-५०) में दमयन्ती की वाणी का वर्णन है । यहाँ भाव यह है कि दमयन्ती की वाणी अत्यन्त मृदु है । कदाचित् विधाता ऐसी मोठी, कोमल वाणी की रचना बड़े अभ्यास के पश्चात् ही कर पाया होगा, क्योंकि दमयन्ती की वाणी में तो मृदुता की परकाष्ठा है । लगता है वह अभ्यास विराता ने दमयन्ती के मुकुमार अंगों की रचना से ही प्राप्त किया है, तभी तो ऐसी मृदु, मुकुमार वाणी बना सका । दमयन्ती की वाणी सर्वातिशायिनी है । विशाघर के अनुसार जतिशयोक्ति-परिद्वेषा का सकर ॥४७॥

प्रमूतवाणाद्वयवादिनां मा कापि द्विजैर्नोपनिपत्यिकेन ।

जन्त्या किमान्यद्विजैराजतो वा नाधीयेते भिक्षभुजा तन्मन्- ॥ ४८ ॥

जीवातु—नन्विनाऽपि मयुरा कोकिलवाणी, नेत्याह—प्रमूनेति । प्रमू-वाणमेवाद्वयनद्विजैव वस्तु तद्वदतीति तत्प्रतिपादिका कापि उपनिपत् पिकया-

शुभं वा शान्तं कुर्यात् । निजानाम्पुत्रो वैश्वम् । 'सैव निजा वन्दवम्'
 इत्यन्तर । 'निजादिभ्योऽम्' । उन्मुगा उन्मुगोऽम् इत्यन्तरिणो निजादिभ्य
 स्मन्त्रादिभिः नात् । निवेन निजायेन द्विवेन पक्षिण विवेण च कम्पा सैव
 शान्तमेव द्विव्ययजतौ ब्राह्मणेभ्यम् । उन्मुगान्तामीत्ये वा विन् ?
 श्यायत् एवेत्यर्थः । इत्यनेनाधिक्योपलम्भादिति नाव । उन्मुगा ॥ ४८ ॥

अन्वय — उन्मुग सैवमुगा निवेन द्विवेन प्रमृदापट्टपदादितो सा वा
 श्वि उरानिपत् श्या शान्तद्विव्ययजत न वा अनोपत्ते विन् ?

टिप्पणी—दृशो से नीस छेकर छाने वाला कोकिलरूप ब्राह्मण मुनवान
 (जान) का अर्द्ध प्रतिपादन करनेवाला वह (दमयन्ती क्या) कपूर्व इत्
 निषद् इत् (दमयन्ती) के मुख-चन्द्र-रूप ब्राह्मण श्रेष्ठ से क्या नहीं पड़ता है ?
 (पड़ता ही है) ।

टिप्पणी—प्राचीन काठ में गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचारी विद्यार्थी अष्ट
 गुरु से वैशाखि का अध्ययन करता था और निष्कृति से जीवन यापन करता
 था । इस श्लोक में पिक को ऐसा ही ब्रह्मविद्याध्येता विद्यार्थी बताया गया है,
 जो श्याला, दृशो से मजरी आदि की निशा पाकर जीवन यापन करता है
 और दमयन्ती के चन्द्रमुख रूप द्विवराज से 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म' के समान
 'एक उपनिर्णय कामः—इस कामाद्वैतवाद का पाठ पढ़ता है । कापाप
 श्च और आक्रमजरी आदि के भक्षण से कोकिल का स्वर मधुर होता है,
 वह पंचम स्वर में बोलता है । कहा गया है—'पुष्पमाधारणे काले कोकिल
 पञ्चमा वदेत्' । (मतंग, वृहद्देशी, त्रिवेन्द्रम् सस्क० पृ० १२-१३), ऐसा
 कोकिल भी भीमपुत्री के मधुरतम स्वर का कम्पास कर रहा है । इसने द्योतित
 होता है कि दमयन्ती की वाणी कोकिल-वाणी से श्रेष्ठ है । कोकिल स्वर से
 श्रेष्ठ दमयन्ती स्वर क अध्ययन से यह प्रतीति होन लगती है कि जगद् में
 पुष्पमा ही सत्य है, शेष मिथ्या है । उसके प्रमृदापट्ट ही अन्वय है ।
 मल्लिनाथ के अनुसार उन्मुगा विद्याधर ने समाप्तोक्ति-रूपक-व्यतिरेक अलंकारों
 के सकार का निर्देश किया है ॥ ४८ ॥

पद्याद्भुत्सपानमवेक्ष्य लक्ष्मीमेकम्य विष्णो. श्रयणात्सपत्नीम् ।
 आस्येन्दुमस्या भजते जिताब्ज सरस्वती तद्विजिगोपया विम् ॥ ४९ ॥

जीवात्-पद्माद्येति । सरस्वती वामदेवता एकस्य विष्णोः पत्युरिति शेषः । श्रयणादाश्रयणाद्धता । समान एव पतियस्या ता सपत्नी । नित्य सपत्न्या-दिषु' इति ङीप् नकारश्च, एतस्मादेव निर्देशात्समानशब्दस्य समाव । ता लक्ष्मीः पद्माद्युसधान पत्नी बहूनि केतनामवेश्य तथा लक्ष्म्या विजयीयया जिताश्च पद्मविजयिनमस्या जास्यन्दुमानेन्दुमानेन्दु किं भवत इत्युपप्रेक्षा । दुबलाऽपि वैरनिर्गतनार्थी प्रबलमाश्रयत इति भावः । सरस्वत्या विष्णुपत्नीत्व पुराण-प्रसिद्धम् । तद्यार्थास्वपि दृश्यते यथा पुरुषोत्तमस्य जगन्नाथस्य पार्श्वे लक्ष्मा-सरस्वत्या तयो मुरतदाशेषचारश्च ॥ ४९ ॥

अन्वयः—सरस्वती एकस्य विष्णोः श्रयणात् सपत्नी लक्ष्मी पद्माद्युसधान-मम् अवश्येति विजयीयया । कम् जिताञ्चम् अस्या आस्यन्दु भवत ?

हिन्दी—सरस्वती एक विष्णु के आश्रय के कारण सीत लक्ष्मी का कमला-स्नान आवास देखकर उस जीवन की आकाशा से क्या कमलजयी इस (दमयन्ती) के मुखचद्र का आश्रय लिय हुए है ?

टिप्पणी—इकतालासथे इलाक म कहा गया है— विद्या विदमन्द्रसुताव-रोठे नृत्यान्ति—इस प्रकार दमयन्ती का मुखचद्र सरस्वती का निवास है । उस पर कल्पना है कि सरस्वती ने अपनी सीत लक्ष्मी की अपेक्षा श्रेष्ठ आवास पाने की स्वभाविक आकाशा से दमयन्ती के मुखचद्र को अपना आवास बनाया है । सरस्वती और लक्ष्मी—दोनों विष्णु पत्नी है । लक्ष्मी ने तो कमल-झाड़ को अपना आवास बना लिया (इसीलिए लक्ष्मी को पद्मासना कहा जाता है) । अब सीतियाहाह के कारण सरस्वती की आकाशा कमलावास से उत्तम आवास पाने की हुई । उन्होंने देखा कि कमल चद्र को देखकर संतुषित हो जाता है, अतः चद्र कमलजयी है । चद्र दमयन्ती के मुख से हार चुका है, अतः दमयन्ती का मुख चद्रजयी होने के कारण कमल से तो कहीं उत्तम ठहरा । यह विचार कर सरस्वती ने कमलजयी चद्र के जेठा दमयन्ती-मुख को अपना आवास बना लिया । अथवा कमलजयी दमयन्ती-मुखचद्र को अपना आवास बना लिया । 'प्रकाश'-कार के अनुसार बहोक्ति-वातुयं इस (दमयन्ती) में ही है—यह भाव है । सरस्वती-लक्ष्मी का सपत्नीत्व पुराण प्रसिद्ध है । पुरुषोत्तम जगन्नाथ के पार्श्वे में लक्ष्मी सरस्वती—दोनों हैं । मत्तिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर ने बहो-ममासोक्ति-उत्प्रेक्षा अलकारों का संकर माना है ॥ ४९ ॥

अन्वय — पद्मचन्द्रो तातात् जलात् मित्रात् मुकुरात् च अस्या मुखयो-
प्रतिबिम्बम् एव याचितक विभूषण कदाचित् अम्यर्यं घत्त खलु ।

हिन्दी—कमल और चन्द्रमा (क्रम से) पिता जल और मित्र दर्पण से
इस (दमयती) के मुख की शोभा की परछाँही ही माँगे का आभूषण कभी
माँग कर निरचयत धारण कर लेते हैं ।

टिप्पणी—एक अथ भगिमा से मुख की अपेक्षा चन्द्र कमल की यूनता,
जो हिन्दी व्याख्याकार के पूर्वकथन के पक्ष में जाती हैं । बेचारे चन्द्र और
कमल पर तो अपने आभूषण भी नहीं है । कमल अपने जनक जल से और
चन्द्र अपने मित्र दर्पण से माँगकर जब तब अपना साज तिगार पटाते हैं ।
कभी आभूषण मिलता है, कभी नहीं । इसी कारण उनका आभूषण-धारण
'कादाचित्क' है जब कि अपना ही होने से दमयन्ती मुख का 'अकादाचित्क' ।
जल में उत्पन्न होने से पद्म का पिता जल है और 'समानशील व्यसनेषु
सख्यम्' के अनुसार वृत्ताकारिता, उज्ज्वलतादि युक्त होने से चन्द्र-दर्पण में
मित्रता है । 'माँग' के विषय में प्रकाशकार का स्पष्टीकरण है कि जल में जब
भैमीमुख प्रतिबिम्बित होता है, तब तात जल से वह प्रतिबिम्ब पद्म माँग लेता
है और मुकुर में जब प्रतिबिम्बित होता है तो मित्र मुकुर से चन्द्र माँग लेता
है । इस प्रकार तात और मित्र भी सदा माँग पूरी करने में समर्थ नहीं रहते ।
भाव यह कि चन्द्र और पद्म तो दमयन्ती की परछाँही के समान भी नहीं हैं,
मुख की तो बात क्या ? मल्लिनाथ के अनुसार माँगे के आभूषण' उत्प्रेक्षा है,
विद्यावर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति यथामत्य समामोक्ति-उत्प्रेक्षा
अलंकार हैं ॥ ५६ ॥

अर्कयि पत्ये खलु तिष्ठमाना भृङ्गमितामक्षिभिरम्बुकैलौ ।

भमी मुखस्य श्रियमम्बुजिन्यो याचन्ति विस्तारितपद्महस्ता ॥ ५३ ॥

जीवानु-अकथिति । पत्ये भर्त्रे, अर्कयि तिष्ठमाना स्वामिलाप प्रकाशयन्त्य
कामुष्य । सत्य इत्यर्थ । 'श्लाघहूँ इ' इत्यादिना चतुर्थी 'प्रकाशयन्त्येवास्वयादश्च'
इत्यात्मनेपदम् । अम्बुजिन्य पत्न्यम् अम्बुकैलौ जलक्रीडाकाले भृङ्गरेवाक्षिभि-
मितामुपलब्धा मुखस्य श्रियं मुखशोभा विस्तारिता प्रसारिता पद्मा एव हस्ता
याता ता, सत्यो भर्त्री याचति त खलु स्वरितेत्वाद्याधेयमयपदित्वम् । दुहादित्वाद्

द्विकर्मकत्वम् । अत्र परितीता भैमीमुख्यानाद्योपदेशया मुखस्य पञ्चाधिक्य-
व्यतिरेकः प्रतीयते ॥ ५७ ॥

अन्वयः—एष्ये अकांठ तिष्ठन्नाता जन्मुच्चिद्यः जन्मुक्तेः च नृत्तं जसिमि
निता मुखस्य श्विन विस्तारित्प्रहृन्ता भैमी श्वः दाषन्ति ।

हिन्दी-पति मूर के लिए सडा (प्रतीया कर्ता) कमलिनियां जन्कोश
में नारे रूप जांवे द्वारा जान मुख को शाना को पत्र स्त्री हाथ फैला कर
निश्चयत भैमी से मागती है ।

टिप्पणी—कमलिनियां रूप नादिकार नायक त्रिप मूर्य के साथ जन्केलि
की प्रतीया में सडी है । वे चाहती है कि जब उनका त्रिप मूर्य आये उस
मनन वे जीर उनका मुख शृगापदन हो, मुन्त्र हो । एतदर्थं वे अनर-नेत्रा
के स्केत से पद्महस्त फैलाकर इनपत्नी से शाना की माचना कर रही हैं ।
साव पट कि कमलिनियां और इनपत्नी मुख में शान्य नहीं है । पहिली माचक,
हूमरा दाता । माचक-दाता में क्या मनता है, कमलिनियां के अनुमार इन शोक
में भैमीमुख्या-याद्या उपदेशा द्वारा मुख का पञ्चाधिक्य व्यतिरेक प्रतीत
होता है । इन पर शत्रु कलाकार के अनुमार उपदेशाव्यतिरेक का महा जा-
पिनाव सकर है । विद्याकर के अनुमार श्वक-उपदेशा सुनाभोक्ति जचकार
है । इदवत्या उद है ॥ ५७ ॥

अस्या मुखेनैव विजिन्य निन्दत्यर्षी निन्दतु ह्युमगोपनात् ॥

प्रमह्य चन्द्र श्वर नह्यनात स्यादेव निष्ठन् परिवेषनात् ॥ ५८ ॥

जोवानु—अस्या इति । निन्द्य स्यर्षेण इति निन्दत्यर्षी चन्द्र निन्दती
व्याप्तुवती कुटुम्बनेव रोपना शोषप्रभा सन् तेन । जस्या मुखेनैव विजिन्य
प्रमह्य श्वरान् नह्यनातो बध्यमानः तिष्ठन् परिवेष एव पाशो बज्रप्रदहो
यस्य स स्यादेवेत्युपदेशा ॥ ५८ ॥

अन्वयः—निन्दतु कुटुम्बरोपनात्, अस्या मुखेन एव निन्दत्यर्षी चन्द्र
श्वरु विजिन्य जमह्य नह्यनात एव तिष्ठन् परिवेषनात् स्यात् ।

हिन्दी—एकी हृद कुटुम्ब रूप श्वर की लाजिना में मुक्त शत्रु (इनपत्नी)
के मुख से ही महा शब्दों करनेवाला चन्द्रमा निश्चय ही जाकर हृदयक

बाँधा हुआ रहता ही परिवेष (चतुर्दिक् आवृत गोलाकार घेरा) रूप पाश में बद्ध रहता है ।

टिप्पणी—दमयती के मुख पर कुकुम लगा है, जिससे वह लाल है । चंद्रमा ऐसे भ्रमीमुख की समानता नहीं कर सकता । कल्पना है कि चंद्रमा दमयती के मुख से स्पर्धा करने की घृष्टता प्रायः किया करता है (प्रायः चंद्रमुख कहा ही जाता है) यह अपराध है । इस पर क्रुद्ध हो मुख अपराधी चंद्र को दब देता है और उसे रस्सी में बाँध कर डाल देता है । मुख पर लदे कुकुम को लाली रोप का प्रतीक है और चंद्रमा के चारों ओर जो घेरा सा बन जाया करता है, वही जैसे पाश है, जिसमें बाँधकर अनुचित स्पर्धा करने का दंड मुझने चंद्रमा को दिया है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विधाधर के अनुसार रूपक-उत्प्रेक्षा समाप्तोक्ति ॥ ५८ ॥

विधोर्विधिविम्बशतानि लोप लोप कुहूरात्रिपु मासि मासि ।

अभङ्गुरश्रीकमम् किमस्या मुखेन्दुमस्थापयदेशेपम् ॥ ५९ ॥

जीवातु—विधोरिति । विधिविधाता विधोश्चन्द्रस्य विम्बशतानि मासि मासि मासे मासे 'पहन' इत्यादिना मासशब्दस्य मासित्यामादेशः । कुहूरात्रिपु नष्टचन्द्ररात्रिपु लोप लोप लुप्तवा लुप्तवा आभीक्ष्ये 'णमुल् च' इति णमुल्प्रत्यय आभीक्ष्ये द्वे भवत इति वक्तव्यम् । 'आभीक्ष्ये पौन पुन्यम्' इति काशिका । अभङ्गुरश्रीकमनश्चरशोभ, 'शेषाद्रिभाषा' इति कप् । अमुमस्या मुखेन्दुम् । एकशेषमेकमेव शिष्यमाणमस्यापयत् स्थापितवान् । किमित्युत्प्रेक्षा । व्याकरणे मरूपाणामेकशेषवदिति भावः ॥ ५९ ॥

अन्वय—विधि मासि मासि कुहूरात्रिपु विधो विम्बशतानि लोप लोपम् किम् अभङ्गुरश्रीकम् अमुम् अस्या एकशेषम् मुखेन्दुम् अस्थापयत् ?

हिन्दी—विधाता ने प्रतिमास अमावस्या की रातों में चंद्रमा के बहुत से मण्डलो का बराबर लोप कर के क्या अनश्वर शोभाशील इत (दमयती) के एक मास शेष मुखचंद्र की स्थापना की है ?

टिप्पणी—विधाता ने चन्द्र की रचना की, किंतु वह अपनी इस रचना से सतुष्ट न हुआ । असतुष्ट शिल्पी विधाता प्रतिमास चंद्र को गड़वा, पर शतोप न होने पर (प्रति अमावस्या को) मिटा देता । ऐसे ही उसने अनेक

चन्द्र बनाये, फिर रचे, फिर नष्ट किये। अतः मैं उसने दमयती के मुख रूप चन्द्र की रचना की। इसने विधि शिल्पी को सतोष हुआ कि अब मनचाही रचना उसने की। उनसे दमयती मुख-चन्द्र को अनश्वर शोभा शाली बनाकर फिर नहीं मिटाया। भाव यह कि सँकटों क्षयी चन्द्रों में अक्षय शोभा शाली दमयन्ती-मुखचन्द्र को समानता करने की क्षमता नहीं है। विघाता की यह अनुपम चन्द्रकृति न जाने कितने अन्याय के परचात् बन सकी है। व्याकरण का नियम है कि समान रूप वाले शब्दों में एक ही शेष रहता है। यही एक शेष है—संख्यानामेकशेष एक विनक्तौ। (अष्टाध्यायी, १।१।२४)। मन्त्रिणाथ ने 'किम्' के आधार पर उत्प्रेक्षा मानी है, नारायण ने जमावस्या को सर्वथा चन्द्रदर्शन न होने के कारण पर—अमावस्या सर्वथा चन्द्रादर्शनादियमुत्प्रेक्षा। विद्याधर ने यहाँ अतिशयोक्ति-व्यतिरेक उत्प्रेक्षा का निर्देश किया है। चन्द्र-कलाकार ने भङ्गुरश्लोक चन्द्रविदों का लोप करके अमङ्गुरश्लोक भैमी मुखचन्द्र की म्यायना को उत्प्रेक्षा कहा है और चन्द्र को क्षयी और दमयती-मुख को अक्षयशील कहे जाने के कारण पर व्यतिरेक अलंकार को व्यञ्जना मानी है ॥ ५९ ॥

कपोलपत्रान्मकरान्सकेतुभ्रूम्याञ्जिगोपुधनुषा जगन्नि ।

इहावलम्ब्यास्मि रतिं मनोभू रज्यद्वयस्यो मधुनाधरेण ॥ ६० ॥

जीवातु—कपोलेति । मनोभू कपोलपत्रात् पत्रमङ्गादेव मकरादेतोः सकेतु केतुमान् मकरध्वज इत्यर्थं । भ्रूम्यामेव धनुषा जगन्ति जिगीषु जेनुमिच्छु अधरेणैव मधुना क्षीत्रेण वसन्तेन च रज्यद्वयस्योऽनुरक्तस्य इहास्या रतिं प्रीतिं स्वदेवीं चावलम्ब्यास्ति । जगज्जिगीषो कामस्य सर्वापि साधन-सम्पत्तिरस्यामेवास्तीत्यर्थं । अत्र पत्रमङ्गादावारोप्यमाणस्य केत्वादेस्ता-दात्मनेन प्रकृतजगज्जयोपयोगित्वात् परिणामालङ्कारः । 'आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम' इति लक्षणात् ॥ ६० ॥

अन्वय —कपोलपत्रात् मकरात् सकेतु भ्रूम्या धनुषा जगन्ति जिगीषु अधरेण मधुना रज्यद्वयस्य मनोभू रतिम् अवलम्ब्य इह अस्ति ।

हिन्दी—कपोलों पर लिखी पत्रावली रूप मकर का झंडा लिये भौहा के धनुष से त्रिजगत् को जीतने का आकांक्षी, मधु अधर के रूप में अनुरागी

मित्र मधु (वसत) के साथ मनोजन्मा (काम) रति (प्रीति) सहित (अपनी पत्नी रति के सहित) यहाँ (भैमीमुख में) बसता है ।

टिप्पणी—कपोलो की पत्रावली मकर-ध्वज, भ्रूयुग्म घनुप, मधु अपर मित्र वसत—ये सब कामचिह्न प्रकट करते हैं कि काम अपनी पत्नी रति सहित दमयन्ती के मुख को अपना आवास बनाये है । भाव यह है कि ये सब चिह्न यह अनुमान कराते हैं कि काम सपरिवार भैमी मुख का वासी है, अर्थात् दमयन्ती का मुख देखकर सब में क्रोमोत्पत्ति हो जाती है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ परिणामालंकार है, क्योंकि कपोलपत्रादि में आरोप्यमाण बेंतु आदि के तादात्म्य से प्रस्तुत जगज्जयोपयोगिता बताया गयी है । विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति और रूपक अलंकार हैं ॥ ६० ॥

वियोगवाप्याञ्चितनेत्रपद्मच्छद्मान्वितोत्सर्गपय प्रसूनी ।

कर्णौ किमस्या रतितत्पतिभ्या निवेद्यपूपो विधिशिल्पमीदृक् ॥ ६१ ॥

जीवातु—वियोगेति । इदमपूर्वं विधिशिल्प ब्रह्मनिर्माणमस्या कर्णौ वियोगेन हेतुना बाष्पाञ्चितयोरधुयुक्तयो नेत्रपद्मयो । छद्मेत्यपह्नवभेद । तेन छद्मनान्विते मिलिते उत्सर्गपय प्रसूने दानोदकमिध्वकुसुमे ययोस्ती रतितत्पतिभ्या सम्प्रदाने चतुर्यो । निवेद्यावर्णणीयो पूपावपूपो किम् । 'पूपोऽपूप पिष्टक स्यात्' इत्यमर । नैवेद्यसमर्पणेन पुष्पाञ्जलिमुत्सृजन्ती साधुनेत्र योगात्तत्कर्णयोस्तादृक्पुष्पमुक्तरतिस्मरन्नेवेद्यापूपत्वोत्प्रेक्षया सापह्नवया कर्णान्त विद्यान्त लोचनत्व वस्तु व्यज्यते ॥ ६१ ॥

अन्वयः—वियोगवाप्याञ्चितनेत्रपद्मच्छद्मान्वितोत्सर्गपय प्रसूनी रति-तत्पतिभ्या निवेद्यपूपो अस्या कर्णौ—ईदृक् किं विधिशिल्पम् ?

हिन्दी—विरह जनित आँसुओं से पूजित नेत्र कमलों के ब्याज से दान के निमित्त जल और फूलों से युक्त, और उसके पति (काम) के निमित्त उपहार के अपूप (पुए) जैसे इस (दमयन्ती) के दोनों कान इस प्रकार की क्या विधाता की बारीगरी है ।

टिप्पणी—पाँच (६१-६५) में कानों का वर्णन है । नल वियोगिनी दमयन्ती के दोनों नेत्रों में आँसू भरे हैं । ऐसा लगता है कि कामिनी दमयन्ती ने रति और काम को प्रसन्न करने के लिए निवेदनार्थं ये जल और फूल

सञ्जाये हैं और उसके कान (जिन् तक विशाल नेत्र फैले हैं) अर्पित करने के लिए अपूप (मिष्टपक्वाण) हैं । इस प्रकार दमयन्ती जल, फूल और मिष्टान्न अर्पित कर रति काम की आराधना कर रही है । इन आकर्ण नेत्रों को देखकर कामोत्पत्ति हो जाती है और ऐसे उत्तम शिल्प के रचनाकार विधाता की प्रशंसा में मुँह से निकल पड़ता है—'बाहू रे विधाता, क्या तेरी कारीगरी है ।' मन्त्रिनाथ के अनुसार यहाँ सापहूवा उत्प्रेक्षा द्वारा कर्ण पर्यंत फैले लोचन होना-वस्तु ध्वनित है, क्योंकि सवाप्य नेत्रों को जल-फूल और उनसे युक्त कर्णों को अपूप कहा गया है । विद्याधर के अनुसार छैकानुप्रास-रूपक-अपह्नुति उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥ ६१ ॥

इहाविशद् येन पयातिवक्रं शास्त्रोघनिष्यन्दमुषाप्रवाहः ।

मोऽन्या श्रव पत्रयुगे प्रणाली रेण्वेव धावत्यभिकर्णंकूपम् ॥ ६२ ॥

जीवानु—इहेति । अतिवक्रं शास्त्राणांमोष समहन्तस्य निष्यन्द सारः एव सुवाप्रवाहो येन पया वर्तमाना यया प्रणाल्या इहास्मा भूम्यामविशत् प्रविष्टः, अस्या, श्रवसी पत्रे दले इव श्रव पत्रे तयोयुगे मुग्धे या रेखा वक्रप्रणाली सुषाप्रवाहपदवीव । 'द्वयो प्रणाली पयस पदभ्याम्' इत्यमरः । अभिकर्णंकूप धावति कर्णरं धममिगच्छति । यया कुतश्चिन्निभृत जल वक्रगत्या कयाचित्प्रणाल्या कश्चिन्निम्नदेश गच्छति तद्वदिति भावः । अत्र कर्णस्य रेखाया सुषाप्रणालीत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥ ६२ ॥

अन्वय—अतिवक्रः शास्त्रोघनिष्यन्दमुषाप्रवाहः येन पया इह अविशत्, स अस्या श्रव पत्रयुगे रेखा प्रणाली इव अभिकर्णंकूप धावति ।

हिन्दी—अत्यन्त टेढ़ा (जटिल) शास्त्र समूह का साररूप अमृत-प्रवाह जिस मार्ग से यहाँ (दमयन्ती के कंठ में) प्रविष्ट हुआ, वह इस (दमयन्ती) के कर्ण-त्राटक-युगल में रेखा प्रणालिका (जल-प्रवाह की नाली की भाँति कर्णरंध्र की ओर जाती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती शास्त्रपठिनी है, उसमें शास्त्रामृत-प्रवाह विद्यमान है । शास्त्र-सार बड़ा जटिल है, यूद्धार्थ, दुर्बोध । वह कैसे दमयन्ती तक पहुँचा ? प्रवाह किसी मार्ग—प्रणालिका में होकर ही बहता है । वह शास्त्रामृत प्रवाह वक्र कर्ण रेखारूपप्रणाली में बहकर कानों में प्रविष्ट हुआ । प्रणाली वक्र है,

एत प्रवाह भी बरू है । भाव यह है कि कान सुन्दर है और दमयन्ती सुधासम वक्रोक्ति, शास्त्रादि के मर्म को जाननेवाली सकलकला प्रवीणा है । मन्त्रिणाप के अनुसार यहाँ कान की रेखा में सुधा प्रणालीत्व की उत्प्रेक्षा की गयी है, विद्याधर के अनुसार अपह्नुति-उपमा ॥ ६२ ॥

अस्या यदष्टादश मविभज्य विद्या श्रुती दध्नतुरधमधम् ।

कर्णान्तरहकीर्णगभीरलेख कि तस्य मन्वेव न वा नवाङ्गु ॥ ६३ ॥

जीवातु—अस्या इति । अस्या श्रुती कर्णी अष्टादश विद्या वेदवेदाङ्गा दिवानि वेदास्थानानि सविभज्य द्विधाकृत्य यदधमधं दध्नतु विभ्रतु । कर्णस्यान्तर्गमे उत्कीर्ण उत्पादित गभीरो दूरगतो लेखोऽयवविपाप तस्यायस्य सङ्घर्म्यैव मूर्ता नवसङ्घर्षैव न किम् । यद्वा नवानामङ्गो नवाङ्गो बालमङ्गल्याविह्व वा न भवति किम् । मवत्येवेत्यर्थ । उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

अन्वय—अस्या श्रुती अष्टादश विद्या सविभज्य यत् अधम् अथ दध्नतु, किं तस्य कर्णान्तरहकीर्णगभीरलेख नवाङ्गु एव सख्या न वा ?

हिन्दी इस (दमयन्ती) के दोनों कान अठारह विद्याओं को बराबर-बराबर बाँटकर जा आधा-आधा धारते हैं, क्या उसका कानो के भीतर उद्घृत (उकेरा) गहरा लेख नया अमिट अंकित नो अरु ही सख्या 'ही' है ? (है ही) ।

टिप्पणी—विष्णुपुराण के अनुसार अष्टादश विद्या इस प्रकार हैं— अङ्गानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तर । धर्मशास्त्र पुराण च विद्या होताश्चतुर्दश ॥ आयुर्वेदो धनुर्वेदो गाधवश्चेति ते त्रय । अर्थशास्त्र चतुर्थं तु विद्या स्रष्टादशैव ह ॥ ऋक्, यजु, साम और अथर्व—४ वेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द-६ वेदांग, मीमांसा, न्याय, धर्म-शास्त्र, पुराण-४, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गाधव—य ३, और अथर्वशास्त्र-१=१८ । दमयन्ती के दोनों कानों कि मध्य नो के सद्य चिह्न हैं, सामुद्रिक विद्या के अनुसार धुमचिह्न । कल्पना है कि परमविदुषी दमयन्ती के पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार) एक-एक कान में ये ही अठारह विद्या आधी-आधी, नो नो करने प्रविष्ट हुई हैं । नो की सख्या का घोटक अर्क विघाता ने यही गणना करने के निमित्त दमयन्ती के दोनों कानों में अंकित कर दिया है । भाव यह कि

दमयन्ती के कानों की रेखा नी बरु के सहज है और नुन लक्ष्य है ।
मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार छैकानुमान और
उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

मन्येऽनुना कर्णलतानयेन पाशद्वयेन च्छिदुरेतरेम ।

एकाकिपाशं वरुण विञ्चियेऽनङ्गीकृताऽमानतती रतीशः ॥ ६४ ॥

जोवातु—मन्य इति । रतीशो रतिपति अमुना कर्णलतानयेन कर्णपाश-
रूपेण च्छिदुर्गदितेण च्छिदुरेतरेगानङ्गुणम् । 'विदिमिदिच्छिदे वृच्'
इति कर्मकर्तरि कुरच् । पाशद्वयेन पाशापुत्रयुग्मेन । 'पाशो बन्धनमन्त्रयो'
इत्यमरः । एकाकी अद्वितीयः पाशो मन्य तनेकाकिपाशम् । वरुणमनङ्गीकृता
परिहृता, आयानतति प्रयान्परम्परा येन नोऽजायाम स्तु विजिये
जिगाय । मन्य इत्युत्प्रेक्षायाम् । 'विपरान्वा जे' इत्यात्मनेपदम् । अधिकनाशने-
नाल्पनाशनं मुञ्चय इति भावः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—मन्ये अनङ्गीकृतायाममती रतीशः, अनुना कर्णलतानयेन
छिदुरेतरेण पाशद्वयेन एकाकिपाश वरुण विजिये ।

हिन्दी—प्रतीत होता है कि बिना अधिक परिश्रम किये रतिपति (कान)
ने इन (दमयन्ती के) कर्णशाल रूप दृइतर पाशयुग्म से एक पाशवाले वरुण
को जीत लिया ।

टिप्पणी—कान को दो पाश मिल गये दमयन्ती के कर्णों के रूप में ।
इस प्रकार सगलता से ही उनमें एक पाशधारी वरुण को जीत लिया । एक
अन्वधारी को दो अन्वधारी महज में जीत ही सकता है । भाव यह कि
वरुणादि देव भी दमयन्ती-कर्ण देव कानवश हो जाते हैं । 'मन्ये' को उत्प्रेक्षा-
द्योतक मानकर मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार छैकानु-
मान-अपह्नुति-उत्प्रेक्षा । आमवन वरुण के दमयन्ती-स्वयंवर में मुनिलित
होने का नाटकीय पूर्वानाम ॥ ६४ ॥

आतमेव तातस्य चतुर्मुखस्य जातश्चतुर्दोहचिरः स्मरोऽपि ।

तच्चत्पयोः कर्णलते भ्रुवोर्ज्ये वसन्वाशौ चिपिटे किमन्याः ॥ ६५ ॥

जोवातु—आतमेति । चतुर्मुखस्य चतुर्दोहोः तातस्य स्वजनकस्य विज्योरात्मा
स्वरूपमेव जातः । 'आत्मा वै पुत्रतानात्रि' इति श्रुतेः स्मरोऽपि चतुर्दोहिः

चतुर्बाहुभि रश्चिर तस्य चतुर्बाहो स्मरस्य चापयोरस्यां भ्रूवो अस्या एव
 कर्णो लतेव वशस्य त्वक्सारस्य त्वगशो त्वग्भागमयो चिपिटे अनते ऋजू
 इत्यमर । 'इनच्यिटच्चिक्विच' इति ने पिटच्प्रत्यये नेदिचरादेश ।
 भासान्तवाचिना तत्त्वमात्र लक्ष्यते । ज्ये मीढ्यो किम् । 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी
 गुण' इत्यमर । अत्र स्मरस्य चतुर्भुजत्व ततो भ्रूमौवोस्तच्चापयुगत्व
 तत्कर्णयोरेव ज्यात्व च उत्प्रेक्ष्यते ॥ ६५ ॥

अन्वय — चतुर्भुजस्य तातस्य आत्मा एव जात. स्मर अपि चतुर्दोहश्चिर,
 किं तच्चापयो अस्या भ्रूवो कर्णलते वशत्वगशो चिपिटे ज्ये ?

हिन्दी— चारभुजा वाले (कृष्णरूप विष्णु) चिता के आत्मा रूप में
 उत्पन्न काम भी चतुर्बाहु सुन्दर है । क्या उसके दो धनुष रूप इस (दमयन्ती)
 के भ्रू युगल की कर्णलता रूप बाँस के ऊपरी अक्ष से निमित्त, ऋजू (अनत,
 विस्तृत) दो प्रत्यचा हैं ? (हैं ही) ।

टिप्पणी— इस श्लोक में दमयन्ती के भ्रूयुगल के काम के दो चाप
 (क्योंकि चतुर्भुज का वेदा—आत्मज (आत्मा वं जायते पुत्र) भी चतुर्भुज
 है, चतुर्भुज होने से काम दो धनुष धारण करता है) और उसकी कर्णलताओं
 की उन चापा की प्रत्यचा बनाया गया है—'वशत्वगश' ही रचित, अतएव
 कमनीय । वे सीधी रखी हैं, क्योंकि काम धनुषों को चढ़ाकर प्रहार नहीं कर
 रहा है । प्रहार की आवश्यकता ही नहीं है, दमयन्ती की मोह जात (धनुष-
 प्रत्यचा) देखकर ही सब कामाधीन हो जाते हैं । इस श्लोक में काम का
 चतुर्भुज होना और उससे ही भोमपुत्री के भ्रूयुगल का दो धनुष होना तथा
 कानों का उनकी दो प्रत्यचा होना उत्प्रेक्षित है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार
 उत्प्रेक्षालकार, विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और उत्प्रेक्षा ॥ ६५ ॥

श्रीवाद्भुतैवावटुशोभितापि प्रसाधिता माणवकेन सेयम् ।

आलिङ्ग्यतामप्यवलम्बमाना सरूपताभागविलोर्ध्ववाया ॥ ६६ ॥

श्रीवातु—श्रीवेति । या श्रीवा वटुना माणवकेन शोभिता अलङ्कृता न
 भवतीत्यवटुशोभिता । तथापि माणवकेन वटुना प्रसाधितेति विरोधः ।
 'अपि विरोधे' । अवटुशोभिता वृषाटिकालङ्कृता । 'अवटुर्षाटा कृकाटिका'
 इत्यमर । 'माणवकेन विद्यति सरेण मुक्ताहारेण प्रसाधितेति विरोधः ।

विशतिसरा माणवकोऽपत्यात्' इति दीरस्वामी । 'भवेन्माणवको हारभेदे बाले कुपूस्ये' इत्यग्निधेय । विश्व, आलिङ्गयतामालिङ्गनीयत्वमलम्बमाना-
प्याश्रयत्यपि सख्यतामाक् साख्ययोगी अखिलोऽयून ऊर्ध्वं च आलिङ्गयत्वम्
इति भावप्रदानो निर्देश । यस्या सा । 'अद्भुपालिङ्ग्योर्ध्वंकाञ्चन' इत्यमर ।
'हरीतयमाहृतिस्त्रद्भुघो यवमध्यस्नयोर्ध्वं च । आलिङ्गयश्चैव गोपुच्छा
मन्यदक्षिणवामगा ॥' इति च । आलिङ्गयोऽयूध्वं च इति विरोध । आलिङ्गयता-
मालिङ्गनीयत्वमूर्ध्वं च ऊर्ध्वं भाग इत्यविरोध । सेय प्रीवाद्भुर्नवोक्तविरोधा-
दुक्तत्वगत्योर्ध्वोऽप्येति भावः । अत्र विरोधाभासयोः ससर्गात् सजातीय-
समृष्टिः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—सा इय प्रीवा अद्भुता एव, या अवदुशोमिता अपि माणवकेन
प्रमाथिता, आलिङ्गयताम् अलम्बयमाना अपि सख्यताभागविलोर्ध्वंकाया ।

हिन्दी—वह यह (दमयन्ती की) प्रीवा भी विचित्र ही है, जो कि
'अवदुशोमिता' (बालक से अशोमित होकर) भी 'माणवक' (बालक) से
अलङ्घित है (विरोध), अवदुशोमिता (गरदन के पुरोभाग 'कृशाटिका' से
शोमित होकर) भी माणवक (बीसलडो मोती माला, 'प्रकाश'कार के
थुमार छोटी माला-अर्धहार से अलङ्घित है (परिहार) । जो 'आलिङ्गयता'
(गोद में रखकर बजाये जाने वाला गोपुच्छाकार मृदग भाव) धारण करती
भी 'सख्यताभागविलोर्ध्वंकाया' (सर्वथा समरूप वाले ऊर्ध्व-ऊपर रखकर
बजाये जाने वाले मृदग के तुल्य यशस्कार) है, अथवा आलिङ्गन-योग्य होने
पर भी 'असख्यताभागविलोर्ध्वंकाया' (अमुद्धर ऊपरी देहांशवती अथवा
'सख्यतामाक्'—अर्थात् सपाट ऊपरी देहांशवाली अतः आलिङ्गन के अयोग्य)
है (विरोध), आलिङ्गन योग्य होने पर भी समान अर्थात् उपमुक्त ऊपरी
माणवती—जहाँ जैसी ऊँचाई नीचाई, गुमाव किराव उचित हो, वैसी ऊर्ध्वं देहांश
धारिणी है (परिहार) ।

टिप्पणी—प्रीवा-यगनं । भाव यह कि दमयन्ती की प्रीवा में मुच्छाहार है
और वह सम (उचित) आकार की है । अनेकार्थ 'अवदु', 'माणवक' आदि
शब्दों के आधार पर पूर्वाह्न और पराह्न में दो विरोधाभासों की मल्लिनाथ के
अनुसार सजातीय समृष्टि, विद्याधर के अनुसार विरोधाभास ॥ ६६ ॥

कवित्वगानप्रियवादसत्यान्यस्या विधाता न्यधिताभिकण्ठे ।

रेखात्रयन्यासमिषादमीपा वासाय मोऽय विवभाज सीमा ॥ ६५ ॥

जीवातु—कवित्वेति । विधाता अस्या अधिकण्ठ कण्ठे । विभक्तघर्षोऽव्ययी भाव । कवित्व च गान च प्रियवादश्च सत्य च तानि चत्वारि न्यधित निहितवान् । सोऽय विधाता अमीपा कवित्वादीनां चतुर्णां वासाय कण्ठे अमुङ्कीर्णस्थितये रेखात्रयन्यासमिषात् कम्बुपीवा त्रिरेखा सती लक्ष्मसम्पत्तिरिति भाव । सीमा मर्यादा विवभाज मध्यरेखात्रयविन्यासेन चतुर्धा विभक्तवान्, अविवादयेति भाव । अत्र प्रीवागतमाग्यरेखात्रये सीमाविभागचिह्नत्वमुत्प्रेक्ष्यते ॥६७॥

अन्वय—विधाता अस्या अभिकण्ठे कवित्वगानप्रियवादसत्यानि न्यधित, स अयम् अमीपा वासाय रेखात्रयन्यासमिषात् सीमा विवभाज ।

हिन्दी—विधि ने इस (दमयन्ती) के कंठ में कवित्व, गान, प्रियवचन और सत्य रख दिये, उस विधाता ने ही इन (चारों) के वासार्थ तीन कंठ रेखाओं द्वारा (चार) सीमाएँ विभक्त कर दी ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती काव्यरसिका, समीतप्रिया, प्रिय और सत्य बोलने वाली है (सामान्यतः प्रिय और सत्य बोलना कठिन है) । ये चार हैं, अतः इनके वासार्थ चार कक्ष अपेक्षित हैं । प्रतीत होता है कि विधाता ने यही ध्यान में रखकर दमयन्ती कंठरूप विशालकक्ष में तीन कठरेखाओं को खींच कर तीन विभाजक दीवारें (पार्टीशन वाल) बना दी और एक बड़े कक्ष को चार निवासयोग्य कक्षों में बदल दिया । एक 'हाल' के चार बेडरूम बना दिये तीन 'विभाजक' डालकर । तीन 'विभाजकों' से चार स्थान ही ही जायेंगे । दमयन्ती कवित्व आदि कलाओं में प्रवीण और 'कम्बुपीवा' है । कम्बुपीवा तीन रेखाओं से अधिक प्रीवा होती है—रेखात्रयाद्भिता कम्बुपीवेति कथ्यते । ऐसी प्रीवा श्रेष्ठ मानी जाती है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, क्योंकि प्रीवा के रेखात्रय में सीमाविभागचिह्न की समावना की गयी है । विधातर के अनुसार ऐकानुप्रास-अपह्नुति ॥ ६७ ॥

बाहू प्रियाया जयता मृणालं दृन्द्रे जयो नाम न विस्मयोऽस्मिन् ।

उच्चैस्तु तच्चित्रममुष्य भग्नस्यालोक्यते निर्व्यथनं यदन्त ॥ ६८ ॥

जीवातु—बाहू इति । प्रियाया बाहू मृणालं जयता नाम । जयतेर्लोपि

तसस्तामादेश । अस्मिन् द्वन्द्वे युग्मे बलहे च । 'द्वन्द्व बलहयुग्मयो' इत्यमर ।
जयो नाम विस्मयोऽद्भुतो न, किंतु भग्नस्य जितम्यामुप्य मृणालस्य अन्तर्गते
अन्त वरणे च व्ययनस्याभावो निर्व्ययनमव्यय छिद्र च 'छिद्र निर्व्ययन रोकम्'
इत्यमर । अर्थाभावे अव्ययीभाव । यद्विलोक्यते तदुच्चैर्महच्चित्र भग्नोऽप्यव्यय
इति विरोधात् । छिद्र विलोक्यत इत्यविरोधः । मृणालस्यान्तस्छिद्रत्वात् ।
विरोधाभासोऽङ्कार ॥ ६८ ॥

अन्वय — प्रियाया बाहू मृणाल जयताम्, अस्मिन् द्वन्द्वे जय नाम न
विस्मय, उच्चं तु चित्र तद् यत् भग्नस्य अमुप्य अन्त निर्व्ययनम् आलोक्यते ।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) की मुजाएँ कमलनाल को जीत ले, इस
द्वन्द्व में (मुजाओं की जीत आश्चर्य नहीं है, अत्यधिक विचित्र तो वह है कि
भग्न (पराजित, टूटे) इस (कमलनाल) का अन्तःकरण निर्व्ययन (पीड़ा
रहित, सच्छिद्र) दीखता है ।

टिप्पणी—दो (६८, ६९) श्लोकों में बाहूयुग्म का वर्णन । दमयन्ती
का बाहूयुगल मृणालो की अपेक्षा मोरा और कोमल है । इस तथ्य को नगिमा
विशेष प्रतिपादित किया गया है । दो प्रतिद्वन्द्वी हैं, बाहूयुगल और मृणाल ।
बाहूयुगल की विशिष्टता स्वतः सिद्ध है, वे जीतते हैं । इसमें किसी को विचित्र
नहीं लगता, बाहूयुगल को जीतना ही था । विचित्र यह है कि हारने पर भी
मृणालो का अन्तः 'निर्व्ययन' अर्थात् व्ययारहित है । यह विरोध है, क्योंकि
पराजित व्ययारहित नहीं होता । परिहार है कि मृणालो का अन्तःकरण
(मन्त्र) 'निर्व्ययन' अर्थात् छिद्र युक्त है । 'निर्व्ययन' शब्द ही 'भग्न' के
भी दो अर्थ हैं — (१) पराजित, (२) टूटा । मन्त्र खनु । 'मुञ्जे छिद्र होते
हो हैं, टूटने पर वे स्पष्ट दीख गये । मल्लिनाथ के भाव । मृणालो का अन्तःकरण ही
और विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और श्लेष ॥ ६८ ॥

अजोयतावतं शुभयुनाभ्या दोभ्यां मृणाल किमु कोमलाभ्याम् ।

निस्सूत्रमास्ते धनपङ्कमृत्सु मूर्तासु नाकीर्तिषु तन्निभग्नम् ॥ ६९ ॥

जीवानु—अजीयतेति । आवर्तोऽभ्रमसा भ्रम स इव शुभयु शुभवती
नाभिर्यस्या सा । तथा भैम्या । 'शुभयुस्तु शुनान्वित' इत्यमर । 'अहशुन-
योर्धुम्' इति शुभमिति मकारान्ताव्ययान्त्वयोयो युसुप्रत्ययः । कोमलाभ्या

मृदुम्या दोर्म्या भुजाम्या मृणालमजीयत किमु भार्दवगुणेन जित किमित्युत्प्रेक्षा ।
कुत , घनासु साद्रासु पङ्ककृपासु मृत्स्वेव मूर्तासु मूर्तिमतीष्वकीर्तिषु तन्मृणाल
निमग्न निस्सूत्र निर्व्यवस्य निर्भयदि नास्ते किं काकु अपराजितत्वे कयमकीर्ति
पङ्कपात इति भाव ॥ ६९ ॥

अन्वय — आवर्तं शुभयुनाम्या कोमलाम्या दोर्म्या मृणालम् अजीयत
नि सूत्र तत् किमु घनपङ्कमृत्सु मूर्तासु अकीर्तिषु निमग्न न आस्ते ?

हिन्दी—दक्षिणावर्तं शल्ल के समान भीर युक्त शुभ नामि वाली इस
(दमयन्ती) के कोमल बाहुओं ने मृणाल को जीत लिया (इसी से) नि सूत्र
(निरुपाय, ततुहीन) वह (मृणाल) क्या घनी कीचड मिट्टी (रूप) में
देहधारिणी अकीर्तियों के बीच निमग्न नहीं है ?

टिप्पणी—भाव वही है कि दमयन्ती के बाहु मृणाल को अपेक्षा आरूपक
हैं, कोमल मृणाल भी उनकी समता नहीं कर सकता, जो स्वभावतः 'नि सूत्र'
(ततुरहित) होता है । इसी अनेकार्थ 'नि सूत्र' का 'निरुपाय' अर्थ लेकर
मृणाल की विवशता प्रतीत करायी गयी है । मृणाल काली कीचड में होता
ही है । यहाँ कल्पना है कि पराजित और निरुपाय मृणाल अवश की काली
कीचड में फँसा पड़ा है । अकीर्ति की कविसमयसिद्ध श्यामता के आघार पर
कीचड मिट्टी के रूप में उसे मूर्त कहा गया है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा
और काकुवक्रोक्ति । विद्याधर के अनुसार छैकानुप्रास समासोक्ति रूपक श्लेष
बलकार हं ॥ ६९ ॥

रज्यन्नलस्याद्गुलिपञ्चकस्य मिषादमौ हैङ्गुलपद्मतूणे ।

हैमैकपुद्गा विन्दुद्वर्वा प्रियाकरे पञ्चशरी स्मरस्य ॥ ७० ॥

जो दमयन्ती का रज्यन्त स्वभावरवता नखा यस्य तस्य । 'शु'पिरजो
प्राचा व्यन्त रेखाओ से । अद्गुलिपञ्चकस्य मिषात् असौ पुरोवतिनी हैमा
सौवर्णा एके वेवला असाधारणा पुद्गा वर्तयत्या मूलप्रदेशा यस्या सा ।
'वर्तरी पुद्ग' इति यादव । विशुद्धपर्वा निव्रणग्रन्धि सरलग्रन्थिरित्यर्थ ।
स्मरस्य पञ्चशरी शरपञ्चकम् । तमाहारे द्विगोर्डीप् । प्रियाकरे भैमीपाणावेव
हिङ्गुलेन रवत हैङ्गुल तस्मिन्नेव पद्मतूणे अस्ति वर्तत इत्युत्प्रेक्षा ॥ ७० ॥

अन्वय — रज्यन्नलस्य अद्गुलिपञ्चकस्य मिषात् हैमैकपुद्गा विशुद्धपर्वा
यसो स्मरस्य पञ्चशरी हैङ्गुलपद्मतूणे प्रियाकरे अस्ति ।

हिन्दी—प्रकृति से लाल नखोंवाली पाँच अंगुलियों के व्याज से श्रेष्ठ मुक्तां पुष्प (अरुणाय) वाली, ऋजु ग्रन्थि (जोड़) से मुक्ता यह (प्रत्यज समुद्र) काम की पचगरी (पाँच कुमुदवाण) हिगुल से रंगे पद्म तूगीर-ये प्रिया (दमयन्ती) के हाथ में है ।

टिप्पणी—तीन (७०-७२) में हाथ का वर्णन है । इस श्लोक में स्वभावतः लाल नखोंवाली अंगुलियों को स्वर्णमुक्तामय काम के पाँच कुमुदवाण बताया गया है, नख उन अंगुलिबाणों के पंख हैं तथा अंगुलियों के पार उनकी मरुत गाँठें हैं । हिगुल से रजित दमयन्ती का हाथ उन अंगुलि कुमुदगणों का तूगीर है । काम के पुष्प वाग है, अतः उनका तूगीर भी पुष्पमय होना चाहिए । इसी दृष्टि से रत्नग्रन्थ से साम्य रखनेवाले दमयन्ती-कर को 'पद्मनूय' कहा गया । पचगरी अंगुलियाँ हैं, जो 'हैमैकपुत्रा' है, क्योंकि नख लाल हैं । अयुक्तन मुक्तां रजत होता है । विमुद्ग पर्व (पोर और गाँठ) दोनों में हैं । भाव यह है कि भीममुक्ता का हाथ और अंगुलियों को देखनेमात्र से कामप्रादुर्भाव हो जाता है । मल्लिनाथ के अनुसार उन्प्रेक्षा और विद्याधर के अनुसार अपहृनुति ॥ ७० ॥

अस्या दग्मपानगाविच्छृद्धिर्वाल्वमापम्बलु पलत्वो य ।

मूयोऽपिनामापरसाम्यगर्वं कुर्वन् कथं वाऽस्तु स न प्रवालः ॥ ७१ ॥

जादानु-अस्या इति । य पल्व किमल्प अस्या करेण स्वर्जनं गृह्णातीति तद्गर्भिणी शृद्धिः कान्तिरस्य स कृतस्वर्गं सन्नित्यर्थः । 'शृद्धक' इति प्रकृतिभावः । बालन्व शिशुश्च प्रथमत्र मूर्खन्व चापश्च क्षनु । 'मूर्खोऽर्भकेऽपि बालः स्यात्' इत्यनन्तर । अयोऽपि कर्मणीं मूर्खो भवतीति भावः । मूयोऽपि नाम पुनरपि किल मूर्खन्व प्राप्स्यतीत्यर्थः । जडरमाम्येन गर्वं कुर्वन् जडरमाम्यानिमानं कुर्वन् मपल्वं प्रवालं प्रवालशब्दात् बधयोरभेदात् प्रकरोति बालश्च कथं वा नाम्नु न स्यात् ? स्यादेवेत्यर्थः । जन्मोऽपि कृतस्वर्गो त्वतिमूर्ख इति भावः । अपि कृतस्वर्गं करारद्वररतिमर्बस्वत्वात् । तथा चायोरनाम्य तावदास्ताम् । पल्वस्य कस्मात्समपि दूरापास्तमित्यर्थः । तत्रश्च प्रवालशब्दस्य पल्व-प्रवृत्तिनिमित्तमप्येतदेवेति भावः ॥ ७१ ॥

अन्वय —य पल्लवः अस्या करस्पर्शनगर्धनश्रद्धि बालत्व सलु आपर, भूय अपि नाम अधरसाम्यगर्वं कुर्वन् स प्रवाल कय वा न अस्तु ?

हिन्दी—जो पल्लव (नया पत्ता) इस (दमयन्ती) के हाथ को छूने की अत्यधिक आकांक्षा रखता हुआ 'बालता' (बचपन, नवीनता, मूर्खता) को प्राप्त हो गया था, फिर भी (दमयन्ती) के अधर की समानता करता हुआ वह 'प्रवाह' (मूंगा, 'घ' 'ब' के अभेद से मूर्ख) क्यों न हो जाय ? (होना ही उचित है) ।

टिप्पणी—दमयन्ती-कर पल्लव की अपेक्षा अधिक मनोरम है वैसे ही, जैसे कि मूंगा (प्रवाल) से उसका अधर । दमयन्ती के कर नव पल्लव से भी अधिक लाल हैं । अधर का प्रसंगत उल्लेख हो गया है । 'बाल' और 'प्रवाल' के प्रयोग से यहाँ चमत्कार चाहत्व आयी है । पत्ते ने एक 'बालता' अर्थात् मूर्खता की—बचपना दिखाया, अभी 'नया' ही जो था, अनुभवहीन कि दमयन्ती के कर से स्पर्धा करने चला, फलत उसे 'बाल' (मूर्ख, बच्चा, अनुभवहीन) कहा गया । पुनः उसने मूर्खता को कि 'प्रवाल' (मूंगा) बन कर अधर-साम्य करने चला । इस प्रतिस्पर्धा में वह और भी मूर्ख (प्रवाल) सिद्ध हुआ, और अधिक अनुभवहीन बच्चा । पल्लव कर तक तो हो नहीं पाया, अधर से होड़ करने पर उसे अत्यधिक मूर्ख 'प्रवाल' तो बनना ही पड़ता । 'अधर' को 'रतिसर्वस्व' माना जाता है, अतः कर की अपेक्षा वह श्रेष्ठ है । प्रथम चरण में पाठांतर है—'करस्पर्धनगर्धनश्रद्धि' करस्पर्धनस्य गर्धनेन श्रद्धि यस्य । मल्लिनाथ को 'करस्पर्शनगर्धनश्रद्धि' पाठ समत है । उन्होंने 'श्रुत्यक' से (अष्टा० ६।१।१२८) द्वारा गर्धनश्रद्धि में प्रकृतिभाव का निर्देश किया है । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेसा और समासोक्ति ॥ ७१ ॥

अस्यैव सर्गाय भवत्करस्य सरोजसृष्टिर्मम हस्तलेखः ।

इत्याह धाता हरिणेषणाय किं हस्तलेखीकृतया तथास्याम् ॥ ७२ ॥

जोवातु—अस्येति । अस्य भवत्करस्य भवत्या पाणे सर्गायैव सरोजसृष्टि मम हस्तलेखी रेसाम्यास इति विधाता अस्यां हरिणेषणाय भूम्या हस्तलेखी-कृतया अभ्यासीकृतया हस्तकृतपद्मरेखीकृतया च तथा सरोजसृष्ट्या करणेनाह किम् ? भूम्यं वचयति किमित्युत्प्रेसा ॥ ७२ ॥

अन्वय—घाता वस्या हरिषेक्षणाया हस्तलेखीकृतया तथा किम् इति
 बाह—अस्य भवत्करस्य सर्गाय एव सरोजवृष्टिं मम हस्तलेख ?

हिन्दी—विधाता ने उक्त (दमयन्ती) हरिणनयना के हाथ में लिखी उक्त
 (कमलरेखा) से क्या यह कहा—‘इस बाप (दमयन्ती) के हाथ की रचना
 के निमित्त ही कमल-सर्जना मेरा हाथ का अन्वय है ?’

टिप्पणी—दमयन्ती कर में दुर्गलक्षण कमलरेखा है और वे कमलों की
 धपेक्षा अधिक रमणीय हैं। इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया गया कि
 जैसे ‘सरजनहार’ विधाता दमयन्ती के कर से यह निवेदन कर रहे हैं कि उक्त
 रमणीयतर रचना के निमित्त हाथ में रफाई लाने के लिए अनेक ‘सरोजवृष्टि’
 करके उन्होंने असीम अन्वय किया है, तब आकर वे हाथ बन पाये। मल्लिनाथ
 के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति ॥७२॥

कि नर्मदाया मम सेषमस्या दृष्यार्शमतो बाहुलता मृणाली ।

कुचौ किमुत्स्यतुरुन्तरीपे स्मरोष्मशुष्यत्तरवात्यवार ॥ ७३ ॥

जीवातु—किमिति । स्मरोष्मणा स्मरसत्तापेन शुष्यत्तरमतिशुष्यत् । बान्य-
 मेव वा वारि यस्मास्तस्या नैम्या एव नर्मदाया त्रीडाप्रदाया रेवापाश्च
 सम्बन्धिनी । ‘रेवा तु नर्मदा’ इत्यमर । अनित उभयतो वत्या सेष बाहुलता
 मृणाली विसलता किम् ? जय नर्मदाया विषेयप्राधान्यात् मृणात्सा साक्षात्
 सम्बन्धात् ‘अमित परित्’ इत्यादिना द्वितीया नास्ति । कुचादेवान्तरीपे
 अपामतस्तटे ‘द्विपोऽस्त्रियामन्तरीप यदन्तर्वारिषस्तटम्’ इत्यमर । ‘शुष्पुपा’
 इति समास । ‘श्लक्-पू’ इत्यादिना समासान्तोऽकार । ‘द्वपन्तस्वस्येभ्योऽ
 ईत्’ उक्तस्यतुरुन्तरीपे किम् ? अर्ध्वकर्मत्वात् परस्मैपद रूपकोऽजीविता
 उत्प्रेक्षा ॥ ७३ ॥

अन्वय—स्मरोष्मशुष्यत्तरवात्यवार मम नर्मदाया अस्याः अमिता
 वत्या सा इय किं बाहुलता मृणाली, कुचौ किम् अन्तरीपे उक्तस्यतु ?

हिन्दी—काम ताप रूप अन्ना (घूर) से जिसका बालापन-रूप जल
 खूब मूख गया है, ऐसी मुझे नर्म अर्थात् त्रीडानद-वाहिनी इस (नैमीरूप)
 नर्मदा (रेवा नदी) के दोनों तटों पर देखने योग्य वह यह भुजलता रूप
 क्या कमलनाथ है, क्या (ये) स्तनयुगल दो द्वीप (टापू) उठ जाये हैं ?

टिप्पणी—आठ (७३-८०) श्लोको मे कुचो का वर्णन किया गया है। बाल्यावस्था व्यतीत होकर तारुण्य आ जाने से दमयन्ती की दोनों बाहु मृणालवल्लरी जैसी रमणीय और दर्शनीय हो गयी हैं और उसका कुचयुग्म उन्नत होकर आकर्षक हो गया है। नल को वह नर्म (आनद) देती है, नर्मदा नदी के समान। कल्पना है कि दमयन्ती उस नर्मदा नदी के तुल्य है, जिसके दोनों तट सुख गये हैं, बाल्यावस्थारूप जल गर्मी से पूर्णतया शुष्क हो गया है। तटरूप बाहुयुगल मृणालों के समान है और स्तनयुग्म बल-मूखने से उठ आये दो टापुओं जैसे प्रतीत हो रहे हैं। मल्लिनाथ के अनुसार वहाँ रूपकोञ्जीविता उत्प्रेक्षा है, जिसका चन्द्रकलाकार ने रूपक उत्प्रेक्षा के अगाधिभाव सकर के रूप मे निर्देश किया है, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास उत्प्रेक्षा अलकार हैं ॥ ७३ ॥

ताल प्रभु स्यादनुकर्तुमेतावुत्थानमुस्यो पतित न तावत् ।

पर च नाश्रित्य तद् महान्त कुचो कृशाङ्गया स्वत एव तुङ्गो ॥७४॥

जीवातु—तालमिति । तावत् पतित च्युत तालकञ्च कर्तुं उरथानेन ऊर्ध्वावस्थानेन मुस्यो सुप्रतिष्ठो अपतित्वावित्ययं । एतो कुचो अनुकर्तुं न प्रभु समर्थ न स्यात्, पतिताऽपतितयो वृत्तं साम्यमिति भाव । परपतित च महान्त-मतिवृत्ततमश्रित्य, सदिति शेष । स्वत एव तुङ्गो कृशाङ्गया कुचो अनुकर्तुं न प्रभु । वृत्त स्वाभाविकी सदित्ययं । अस्वाभाविकीभ्रत्ययो क्य साम्यमिति भाव ॥ ७४ ॥

अन्वय —पतित तावत् तालम् एतो उरथानमुस्यो अनुकर्तुं प्रभु न स्यात्, पर च महान्त तद्म आश्रित्य स्वत एव तुङ्गो कृशाङ्गया कुचो न ।

हिन्दी—(घरती पर) गिरा ताड फल इन उमार के कारण मुख्यवस्थित (उन्नत, अपने स्थान पर प्रतिष्ठित कुचा) के अनुकरण में समर्थ न होगा और दूसरा (पेड पर लगा फल) ऊँचे बडे पेड का आश्रय लेकर अपने आप ही ऊँचे तन्वगी (दमयन्ती) के कुचो का अनुकरण नहीं कर सकता ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती के कुच ताडफल की धपेक्षा अधिक मुडोल, गोल और उन्नत हैं। ताडफल की दो स्थितयाँ समभव हैं—(१) वह पेड से घरती पर गिर गया हो, (२) पेड पर ही ऊँचे लगा हो। पहिछा

इस लिए कृशागी मीनी कुचों के समान नहीं है, क्योंकि कुच उन्नत हैं, अपने म्यान पर हैं, जब कि फल नीचे गिरा पड़ा है और स्थान च्युत है। दूसरी स्थिति में ताड़फल इस कारण समानता नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वयम् स्वयान्मध्य के कारण उन्नत नहीं, वृक्ष के बलवन से उसे उच्चता प्राप्त हुई है, जब कि कुच स्वयान्मध्य से स्वभावतः उन्नत हैं। पहिली स्थिति में पतित होने से फल असम है, दूसरी स्थिति में वृ पणश्रितता के कारण समान नहीं है। विद्यावर के अनुसार यहाँ काव्यांश-विरोधानाश-सनातोक्ति बलकार है ॥ ७४ ॥

एतन्कुचस्पर्धितया घटन्य स्यात्स्य शास्त्रं निदर्शनत्वम् ।

तस्माच्च शिल्पान्मणिकादिकारी प्रसिद्धनामाजनि कुम्भकारः ॥ ७५ ॥

जीवानु—एतदिति । एतन्कुचस्पर्धितया स्यात्स्य लाके प्रसिद्धस्य घटस्य कुम्भस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्व तत्र तत्र स्थान्त्वन्वजन । किञ्च मणिकादिकारी अलिञ्चरदिमहाभाण्डनिर्माता कुशल 'अलिञ्चर स्यान्मणिक' इत्यमरः । तस्मादेव शिन्नात् घटनिर्माणात् कुम्भकार इत्येव प्रसिद्धनामाजनि । महत्सर्गा इव तत्सङ्घर्षोऽपि स्यात्किञ्च इति भावः ॥ ७५ ॥

अन्वय—एतन्कुचस्पर्धितया स्यात्स्य घटस्य शास्त्रेषु निदर्शनत्वम् अजनि, मणिकादिकारी तस्मात् शिन्नात् कुम्भकारः प्रसिद्धनामा ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के स्तन को सदा के कारण प्रसिद्ध घट का शास्त्र में दृष्टात बनाया, मटका आदि (बड़े भाँड़ों) का निर्माता उसी शिष्य से कुम्भकार नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुच घड़े-जैसे हैं । कथना है कि मीनी-स्तनों की सदा के कारण ही न्यायशास्त्रादि में घट का दृष्टात बना है—'पन्चतन्त्रं तदन्वय यथा घट, यन्मन्व न तददृष्टकमनि न यथा घट' (वा बनावटी है, वह अन्वित है जैसे घड़ा, जो नन्व है, वह अदृष्टिम भी नहीं है जैसे घड़ा) । इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक से घट-दृष्टात दिया गया है । यह दृष्टात घट को मीनीकुच-सदा से ही मिला और उसी शिष्य-कुचसदा से बड़े-बड़े मटका आदि बनाने से निर्माता कुम्भकार नाम से विद्वान्त हो गया । बड़ा के शब्द विरोध से अर्थ होता है—यह विरोध ही अर्थ नहीं है (नाद-

किरातार्जुनीय) । विद्याधर के अनुसार यहाँ असम्बन्ध में भी सम्बन्ध कथन है, इस प्रकार रूपकातिशयोक्ति-काव्यलिङ्ग अपह्नुति अलंकार हैं ॥७५॥

गुच्छालयस्वच्छतमोदविन्दुवृन्दाभमुक्ताफलफेनिलाङ्गे ।

माणिक्यहारस्य विदभंसुभ्रूपयोधरे रोहिति रोहितश्रीः ॥ ७६ ॥

गुच्छेति' । माणिक्यमयस्य हारस्य रोहितश्री लोहिता काति । विदभसुभ्रूपयोधरे भैमीकुचे रोहित प्रादुर्भवति । किम्भूते गुच्छो हारविशेष आलस्य आश्रयो येषा तानि स्वच्छतमानि निर्मलतरा (मा) णि उदविन्दु-वृन्दवज्जलविन्दुसमूहवदामा येषा तानि मुक्ताफलानि तं फेनिल फेनगुलः उज्ज्वलतरोऽङ्गो मध्यो यस्य । मुक्ताहारमाणिक्यहाराम्ना भैमीकुचो शाभेने इति भाव । अथ च पयोधरे मेघे रोहितश्री ऋजुशश्रघनु शोभा प्रादुर्भवती-त्युक्ति । 'हारभेदा यष्टिभेदाद् गच्छगुच्छादङ्गोस्तना ' इन्द्रायुध शश्रघनुस्तदेव-ऋजुरोहितम्' 'रोहिते लोहितो रवत' इत्यमर । फेनिल, मत्वर्थ 'फेनादिलच्छ' इतीलच् ॥ ७६ ॥

अन्वय — माणिक्यहारस्य रोहितश्री गुच्छालयस्वच्छतमोदविन्दुवृन्दाभ-मुक्ताफलफेनिलाङ्गे विदभंसुभ्रूपयोधरे रोहित ।

हिन्दी—माणिक्य के हार की लाल काति 'गुच्छ' नामक हार में लगे अत्यंत उज्ज्वल लाल विन्दुओं की आभावाले मोतियों से फेनिल (मेघपदा में—जल-विन्दुरूप मोतियों से फेनिल) मध्य भागवाले विदभं की सुभ्रू (दमयंती) के पयोधर- (कुच) रूप पयोधर (दादल) पर सुशोभित हो रही है ।

टिप्पणी—दमयंती के पक्ष पर 'गुच्छ' (बत्तीसलडा या मत्तरलडा) नामक हार सुशोभित है, जो माणिक्य धीर मोतियों से जड़ा है । लाल काति माणिक्य की है और शुभ्र मोतियों की । 'रोहित' का एक अर्थ ऋजु (सरल) इन्द्रधनुष भी होता है । माणिक्य की लाल काति मोतियों पर पड़ती, स्तन रूप फेनिल घन पर सुशोभित लच्छीहे इन्द्रधनुष-सी प्रतीत हो रही है । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास उत्प्रेक्षा-श्लेष अलंकार । चन्द्रकलाकार के अनुसार श्लेष-उपमा की सृष्टि ॥ ७६ ॥

१ इस श्लोक की मल्लिनाथकृत 'जीवानु'-व्याख्या अनुपलब्ध है, अतः चारायणी प्रकाश (ससृष्ट) टोका दी गयी है ।

नि शङ्खमकोचितपकत्रोऽयमस्यामुदीतो मुञ्जमिन्दुविम्ब ।

चित्र तयापि स्तनकोकगुग्म न स्तोकमप्यञ्चति विप्रयोगम् ॥ ७७ ॥

जीवानु—निःशङ्केति । निःशङ्क यथा तथा सङ्खचितानि मुकुलितानि पङ्कजानि येन सोऽयं मुखनेत्रेन्दुविन्दोऽहमा भूम्यामुदीत उदितस्तयापीन्दुदयेऽपि स्तनावेव कोनी चक्रवाकी । 'कोकश्चक्रश्चक्रवाक' इत्यनर । तयोर्युग्मं स्तोत्रमन्यमपि विप्रयोग नाञ्चति न गच्छति चित्र मुखेन्दुदयेऽपि कुचकोकयोर-विप्रयोग इति रूपकोत्यापितो विरोधाभास इति सङ्करः ॥ ७७ ॥

अन्वय —मुखम् अस्याम् उदीत अयं नि शङ्खमङ्कोचितपङ्कज इन्दुविम्ब , तयापि स्तनकाकगुग्म स्तोकम् अपि विप्रयोग न अञ्चति—इति चित्रम् ।

हिन्दी—(दमयन्ती का) मुख इम (दमयन्ती) में उदित यह शकाहीन हो कमलों का सज्जित करनेवाला (कमलझरो) चन्द्रविम्ब है, तयापि स्तनरूप चक्रवाक युग कुठ देर को भी विप्रयोग नहीं प्राप्त करता—यह आश्चर्य है ।

टिप्पणी—चन्द्र-विम्ब-दर्शन से कमल मुंद जाते हैं और चक्रवाकदम्पती विपुक्त हा जाते हैं, पर यहाँ (दमयन्ती में) विचित्र यह है कि मुखरूप में कमलों का लज्जानेवाला (मुंदनेवाला) चन्द्र भी है, तयापि चक्रवाकदम्पती रूप स्तन सहजागे ही हैं । भाव यह है कि चन्द्र मुख कमलझरो है और स्तन इतने सदृश हैं कि सयोगस्त्यति में दर्शमान चक्रवाकयुगल से लगते हैं, विशाल और सघनकुच । एक कल्पना यह भी है (जिसका आधार 'नि शङ्क'-प्रयोग है) कि चन्द्र पूर्णतया शका रहित हो कमलों का सकोच कर रहा है, रात में नहीं, दिन में भी । यह सामान्यचन्द्र नहीं है, जो सूर्य से उचित हो, दिन में निस्तेज हो जाय । यह दमयन्ती का विशिष्ट मुख चन्द्र है, जो न रात में म्लान होता है, न दिन में, अतः हर समय रात-दिन इसके समुच्च पङ्कज सज्जित रहते हैं । इन प्रकार हर समय सज्जित कमल रहने से चक्रवाकगुग्म (स्तनयुगल) को दिन-रात का भान ही नहीं होना । वे दमयन्ती-मुख को ऐसा चन्द्र मानते हैं, जो सूर्य से भी नि शङ्क हैं । चन्द्र तो सूर्य के समुच्च ही निस्तेज रहता है, यह मुखचन्द्र तो सूर्य को भी निस्तेज रखता है, इसी से तो नि शङ्क हो, सदा कमल को सज्जित रखता है । इसके सपुत्र कवठविरासी

'मित्र' सूर्य भी आकर कोई सहायता नहीं कर पाता । चन्दा बेचारा क्या समुझ पड़ेगा ? सो चन्दा नहीं तो रात नहीं, फलस्वरूप चक्रवाक्युग्म (स्तन-युग्म) में पल भर को भी वियोग नहीं होता, क्योंकि मुखेन्दु के उदय पर कुचकोक्युग्म में वियोग नहीं होता, इस आधार पर मल्लिनाथ ने यहाँ रूपकोत्थापित विरोधाभास मानकर मकर का निर्देश किया है, अर्थात् रूपक विरोधाभास का अगागिभाव सकर । विद्याधर ने विशेषोक्ति और स्वर-बलकार माने हैं ॥ ७७ ॥

आभ्या कुचाभ्यामिभकुम्भयो श्रीरादीयतेऽभावनयो* क्व ताभ्याम् ।
भयेन गोपायित मौक्तिकी ती प्रव्यक्तमुक्ताभरणाविमी यत् ॥ ७८ ॥

जीवातु—आभ्यामिति । आभ्या कुचाभ्यामिभकुम्भयो श्री शोभा-सम्पच्च, आदीयते शृङ्खते ताभ्यामिभकुम्भाभ्यामनयो कुचयो* असौ थी क्वादीयते ? न क्वापि इत्यर्थं । यत् यस्मात् ती इभकुम्भौ भयेन कुचभीत्या गोपायितमौक्तिकी अन्तर्गुप्तमुक्ताफली । गोपायते कर्मणि क्त । इमी कुचकुम्भौ प्रव्यक्त प्रकाशित मुक्ताभरण याम्या ती । यथा राजा हृतघनो भयाद्धनशेष गोपायति राजा तु प्रकाशयति तद्वदित्यर्थं । इभकुम्भयिष आदानादखण्डितस्व-धीवत्वाच्च ताभ्यामप्यधिको कुचकुम्भाविति भाव ॥ ७८ ॥

अन्वय—आभ्या कुचाभ्याम् इभकुम्भयो श्री क्व आदीयते, ताभ्याम् अनयो असौ न, यत् ती भयेन गोपायित मौक्तिकी, इमी प्रव्यक्तयुक्ताभरणी ।

हिन्दी—इन (दमयन्ती के) दोनो कुचो ने गज के मस्तको घोभा-सपदा की छीन लिया है, उन (इभकुम्भो) ने इन (कुचो) की यह (घोभा-सपदा) नहीं छीनी है, क्योंकि उन दोनो (गजमस्तको) ने मोती छिपा रखे हैं, इन दोनो ने मोतियो के आभूषण प्रकट कर रखे हैं ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुच गजकुम्भो से अधिक रमणीय हैं । स्पष्ट है कि वे इन से हार गये हैं, और अपनी श्री-सपदा सो बँटे हैं । कारण कि अपनी शेष सपत्ति मोती छिपाये रखे हुए हैं, डरे हारे, कुचयुगल तो प्रत्यन्तः मुक्ताभूषण धारण किये हैं । हाग डरा सपत्ति छिपाता है विजयी प्रत्यदा रहता है । विद्याधर के अनुसार यावयलिङ्ग बलकार । चन्द्रकलाकार ने व्यतिरेक माना है ॥ ७८ ॥

कराग्रजाग्रच्छतकोटिर्था ययोरिमौ तौ तुलयेत् कुचौ चेत् ।

सर्वं तदा श्रीफलमुन्मदिष्णु जात वटीमप्यधुना न लब्धुम् ॥ ७९ ॥

जीवातु—कराग्रेति । कराग्रे हस्तस्याग्रे जाग्रत् प्रकाशमान शतकोटि वज्रं उत्सङ्गय धन च यस्य स महेन्द्रो ययो कुचयो कर्मणोरर्थौ ताविमौ महेन्द्राभ्यदितौ कृचौ कर्म वटी क्षुद्रकनदिकामपि 'वट कपदे न्यग्रोध' इति विश्व । अपचयविवक्षाया स्त्री लिङ्गप्रयोगः । 'स्त्री स्यात्काचिन्मृगाल्यादिविवक्षापचये यदि' इत्यमरान्निघानात् । लब्धु न जात न शक्न निःस्वमित्यर्थं । सर्वं श्रीफल वित्त्वफल कर्तुं । 'वित्त्वे शाण्डिल्यशैलूयो मालूरश्रीफलावपि' इत्यमरः । तुलये-यात्मनो नचिनुयाच्चेत् तदा उन्मदिष्णु उन्मादि स्यादित्यर्थं । 'अलङ्कृन्' इत्यादिना इष्णुच् । उपमातीति वस्तुनि उपमात्वाभिमान । तथा धनिकं कर्म्ये वस्तुनि निःस्वस्य लिप्सा चोन्माद एवेत्यर्थं ॥ ७९ ॥

अन्वय — कराग्रजाग्रच्छतकोटि पयो अर्थो उन्मदिष्णु सर्वं श्रीफल तौ इमौ कुचौ तुलयेत् चेत् तदा अधुना वटीम् अपि लब्ध न जातम् ।

हिन्दी—(१) जिसके हाथ में वज्रविद्यमान है, ऐसा इन्द्र भी जिन (दोनों) का वाचक है, उन्मद होता (पका) सपूर्ण वित्त्वफल उन इन स्तनों की यदि समता करेगा तब इस काल उसे कौड़ी भी हाथ न लगेगी । (२) जिसके हाथों में सौ करोड़ धनराशि भी आवी-जाती है, ऐसा धनपति जिसका अर्थ है, वह पपना यदि सपूर्ण लक्ष्मी के फल को इन दोनों कुचों से समता करेगा तो उसे कौड़ी भी हाथ न लगेगी । अन्वयांतर करके मन्त्रिणाय ने अर्थ किया है कि उन्नत कार्य करने वाला बेलफल कौड़ी बराबर (क्षुद्र) है और वह दमयंती कुचों की समता करेगा तो उन्मादी होगा ।

टिप्पणी—भाव यह है कि रमादि अप्सरियों के सौंदर्य का मोपी इन्द्र भी जिनका अमितापी है, उनकी तुलना वित्त्वफल से करना उचितता—पागल्पन है । बड़े-से बड़ा धनपति भी सपूर्ण सपदा यदि इन कुचों का मूल्य लगायेगा तो उससे हाथ कानी कौड़ी भी न लगेगी और वह पागल समया जायेगा । न रमादि प्रलोक्यमुदरियों के यौवन की दमयंती कुचों से तुलना उचित है, न ससार की सपूर्ण सपत्ति-शोभा ही इनके बराबर है । जो ऐसा विचारते हैं, वे उन्मत्त हैं, कुछ भी न पाने योग्य, कौड़ी-बराबर, क्षुद्र ।

ये तो उपमातीत हैं। विद्याधर के अनुसार श्लेष-समासाक्षि, चद्रकलाकार केवल श्लेष माना है ॥ ७१ ॥

स्नानाट्टे च दनपङ्किलेऽप्या जातस्य यावद्युवमानसानाम् ।

हारावलीरत्नमयूखधाराकारा स्फुरन्ति स्वलनस्य रेखा ॥ ८० ॥

जोवातु—स्तनेति । चन्दनेन पङ्किले पङ्कवति । 'पिच्छादित्वादिलब्' अस्या स्तनयो अतटे प्रपाते 'प्रपातस्त्वतो नृत्तु' इत्यमरः । जातस्य यावन्ति युवमानसानि तेषा सर्वेषा सम्बन्धिन सात्कन्यायस्य यावच्छब्दस्य विशेषण-समासः । स्वलनस्य रेखा गमनमार्गं हारावलीरत्नाना मयूखधारा रश्मि-पङ्कतम एवाकारायासाता सत्य स्फुरन्ति रत्नमयूखधारासु युवमानसस्वल्प-रेखाङ्कत्वमुत्प्रेद्यते ॥ ८० ॥

अन्वय—अस्या चन्दनपङ्किले स्तनाट्टे जातस्य यावद्युवमानसाना स्वलनस्य रेखा हारावलीरत्नमयूखधाराकारा स्फुरन्ति ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के चन्दन की पङ्क से युक्त स्तनाट्ट (स्तन-अतट अर्थात् स्तन-प्रसात-भाग) में ('स्तनावट' पाठांतर में स्तनों के मध्यवर्ती गडहे में) पङ्क गयीं जिनकी तर्जानों के फिसलने की रेखाएँ (फिसलने के चिह्न) हैं, वे हारों में जड़े रत्नों की किरणधाराएँ-जैसी प्रतिमासित हो रही हैं ।

टिप्पणी—चन्दन लगे दमयन्ती की कुचतटी पर रत्नजटित हार हैं, जिनकी पङ्क उन पर पङ्क रही है । कल्पना है कि ये रत्न मयूख-धाराएँ नहीं हैं, उन ठरामानसों की फिसलन के चिह्न हैं, जो इस स्तनाट्ट पर उतरे और (चन्दन की) कीचड़ में फिसल गये । 'स्तनाट्ट' अथवा 'स्तनावट' को देखकर सभी मोहित हो जाते हैं, यहाँ रत्नमयूखधाराओं में युवमान-सम्बन्धनरेखाओं की समावना की गयी है, अत्र मन्त्रिणाथ के अनुसार उप्रेक्षा है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और अयह नुति अन्वय है ॥ ८० ॥

शीघेन मध्येऽपि सतोदरेण यत् प्राप्यते नाक्रमन् वक्षिष्य ।

नर्वाङ्गनुद्धो तदनङ्गराज्ये विजृम्भित भीममुदीह चित्रम् ॥ ८१ ॥

जोवातु—शीघेनेति । इहास्या भीमनुवि भ्रम्या मयद्भूरस्याने च शीघेन श्येन दुर्बलेन च मध्ये अवलम्बे प्रवत्सुत्रुमध्ये च सता वसतापि उदरेण त्रिव-

स्वभोगानेन जत एव वलिन्य विवलिन्त्यः । ववभोरभेशन् वलिन्वो वल-
वद्वनन्व सक्तागार् आकृतामनिन्वतिरनिनवत्त्वं न प्राप्सते इति यत् तदना-
कृणन् चित्र, वलिन्वोने दुर्वलन्त्यानाकृता, चित्रनिन्वयं । किञ्च सर्वेषामनाना
शरवरनाशोना स्वाम्यना गरीना च शुद्धी नान्यामन्ङ्गन्व जङ्गहीनस्य कामस्य
च राज्ये विवृन्मिन्न तदिदमन्वच्चित्रनित्ययं । अत्र वाच्यप्रतीपनानभोरभेशा-
ध्यवसानाद्विरोनानास ॥ ८१ ॥

अन्वयः—मन्त्रे मध्ये सत्ता अनि क्षीमेन उदरेण वलिन्व यत् आकृता न
प्राप्सते तत् सर्वाङ्गशुद्धो इह नीनमुवि चित्रम् जनङ्गराज्ये विवृन्मिन्नम् ।

हिन्दी—(१) मन्त्र में रहते हुए भी कुछ उदर द्वारा विवृन्मिन्नो से जो
अनिन्वति नहीं पायी जाती, सर्वत्र सुन्दर-पुन जागवान् इस नीनराज की
पुत्री (दमदन्ती) में आरक्ष्यंजनक जगहीन (काम) का विच्छास है ।
(२) जो के मन्त्र पड़े दुर्वल (उदर) द्वारा वन्दान् व्यक्तियों से जो
पराभव नहीं पाया जाता, वह उदा (छ) अर्थात्—राजा, अनायादि पडगो)
जाँ से पुनं शत्रुओं द्वारा इन दुर्गम भूमि में वसते जगहीन दुर्वल का विचित्र
कार्य है ।

टिप्पणी—दयन्ती के उदर, विवलि, कटि आदि सभो अन गुरवित्र जोर
सानुसात है । इस प्रकार नीन मुता अनम राज्य की एक अद्वितीय कार्यरती-
सी, प्रतीत हो देखनेवाले का मन हर लेती है । विशेषत उदका कुछ उदर
तो बढा ही जानुसातिक है, अपने निकटस्थ अर्गों के सीस्यं के समुच्च वह
फोका नहीं पडता । इस वैचित्र्य को इस रूप में देखा गया है कि एक दुर्वल,
राज्य के पडगो से रहित राजा सब राज्यागो से पुनं प्रबल शत्रुओं के पडोस में
मदानक भूमि में रहते हुए भी पराभव नहीं पाता, वह उदा दुर्वल जगहीन का
आरक्ष्यंजनक कार्य है । प्रकाशकार ने कुछ और भाव भी व्यक्त किये हैं—
(१) नीन राजा की नू-बस्ती पर, नदीगन्तुध घरती पर अनम राजा का
राज्य आरक्ष्यं की वस्तु भी है, वशोकि घरती किन्ती को और राज्य दिन्ती का-
यह आरक्ष्यं ही है । (२) नीन महादेव की घरती पर अनम-काम का राज्य
आरक्ष्यं ही है । (३) नीन अर्थात् शत्रुओं द्वारा अविचार न ना सके जाने के
शोच्य घरती पर अतिविषम भूमि पर जो जाहीन-दुर्वल को पराभव नहीं

मिलता इसमें क्या कोई आश्चर्य है ? नहीं ही है । यहाँ वाच्य और प्रतीयमा^१ में अभेदाध्यवसाय है, अतः मल्लिनाथ के अनुसार विरोधाभास है, विद्याधर के अनुसार समासोक्ति और विरोधाभास ॥ ८१ ॥

मध्य तनूकृत्य यदीदमीयं वेधा न दध्यात् कमनीयमशम् ।

केन स्तनो सप्रति योवनेऽस्या सृजेदनन्यप्रतिमाङ्गदीप्ते ॥ ८२ ॥

जीवातु—मध्यमिति । वेधा इदमीयमेतदीय मध्यमवलम्बन तनूकृत्य निर्माण-काले ह्रासयित्वा कमनीयमशमुद्घृत भाग न दध्यात् यदि क्वचिन्न स्थापयेद्यदि सप्रति योवने अनन्यप्रतिमाऽनन्योपमाङ्गदीप्तिर्यस्यास्तस्या भूम्या स्तनो केन सृजेत ? नूतमुदरोद्घृतसारेण अस्या स्तनो निर्मितवानित्युत्प्रेक्षा ॥ ८२ ॥

अन्वयः—वेधा यदि इदमीय मध्य तनूकृत्य कमनीयम् अश न दध्यात् सप्रति योवने अनन्यप्रतिमाङ्गदीप्ते अस्या स्तनो केन सृजेत् ?

हिन्दी—विधाता यदि इस (दमयन्ती) के मध्य (कटि) को पतला करके रमणीय भाग बचा न रखते तो अब योवन में अप्रतिम अग-कातिवाली इस (दमयन्ती) के स्तन किस (सामग्री) से बनाते ?

टिप्पणी—दमयन्ती की कटि कृष्ण है और स्तन पीन । इसी पर कल्पना है कि विधाता दूरदर्शी थे, जो उन्होंने आरम्भ में ही ध्यान रख कर दमयन्ती की कटि में थोड़ी सामग्री का प्रयोग किया और पतली बनाया, अन्यथा तात्पर्य जानेपर कुछ किस सामग्री से बनाते ? अब सामग्री से तो रोप अर्गों के अनुरूप रमणीय बन न पाते । दमयन्ती के अतिमुदर कटिभाग-निर्माण में से बचाकर उसीके रोपांश से कुर्वों की संरचना की । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अनुमान ॥ ८२ ॥

गौरीव पत्या सुमगा वदाचित् कर्त्रायमप्यर्धननूतमस्याम् ।

इतीव मध्ये निदधे विधाता रोमावलीमेचकसूत्रमस्या ॥ ८३ ॥

जीवातु—गौरीति । सुमगा मर्तुंक्लमा इय दमयन्ती वदाचित् गौरीव पत्या भर्त्रा सह अपंतनूतमस्याम्, अर्थाङ्गसङ्घट्टना कर्त्रा करिष्यतीति मत्वति रोप । विधाता अस्या मध्ये अर्वाङ्गमध्ये रोमावलीमेव मेचकसूत्रसीमानिणयार्थं नीलसूत्र निदधे इव निहितवान् किमित्युत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

अन्वयः—इय सुमगा वदाचित् गौरी इव परया अर्धंतनूतमस्यां कर्त्रा—इति विधाता अस्या मध्ये रोमावलीमेचकसूत्र निदधे इव ।

हिन्दी—यह सीनाम्य शालिनी (दमयन्ती) कनी पार्वती के समान पति के साथ शरीरगर्हण करेगी—यह विचार कर विधाता ने इसके मध्य में रोमावलीरूप नीला मृत्र चिह्न बना दिया ।

टिप्पणी—दमयन्ती नौलक्षति, मध्यस्थिता रोमावलि की सीमारखा-रूप में कल्पना की गयी है, जिसे विधाता ने इन लिए रचा कि कनी दमयन्ती श्री गौरी के समान रूप पति का अर्घांग बनेगी तब यह रेखा पहिचान का कार्य करेगी । नादी पति प्रियता का संकेत । मन्दिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा-रूपक-लैकानुप्रास अलंकार है ॥ ८३ ॥

रोमावलीरज्जुमुरोज्जुम्भौ गम्भीरमानस्य च नामिकूपम् ।

मद्दृष्टिनृणा विरमेद्यदि स्थान्निपा बनेपा सिचयेन गुप्तिः ॥ ८४ ॥

जीवानु—रोमावलीति । मद्दृष्टेस्तृणा पिनासापि रोमावलीमेव रज्जु-शरीरावेव कुम्भौ तथा गम्भीर नामिमेव कुम्भसाद्य लब्ध्वा तदा विरमेद्-धाम्नेत् । अनीनिरुपायं लावण्यामृतमुद्बुधं मुष्टु पीत्वैतवर्षं । एषा सायना-नामेया सिचयेन दग्धेन 'बद्धन्तु सिचयं पट' इति ह्यायुज् । गुनिरुपादन न स्याद्यदि । बहेति खेदे । रूपकालङ्कार ॥ ८४ ॥

अन्वयः—मद्दृष्टि तृणा रोमावलीरज्जुम् उगेज्जुम्भौ गम्भीर नामि-कूपम् आसाद्य विरमेत् यदि बत एषाम् एषा सिचयेन गुप्ति न स्यात् ।

हिन्दी—मेरी दृष्टि की प्यास रोमावली रूप रस्सी, स्तन रूप घड़े और गहरे नामि-रूप कूप को पाकर छूट हो जाती, खेद कि यदि इनकी यह वस्त्र से गुप्ति (टहन, डिनावन) न होती ।

टिप्पणी—गरावण की कल्पना है कि राजकन्या दमयन्ती के उपसुक्त रूप उपसुक्त रज्जु, कुन और रूप के समान हैं । राजकीय सभति है, इसलिये 'सिचय' (खड्गधारिजनों) से गुप्त अर्थात् रसित है, इस लिए दग्ध-जल नहीं प्राप्त होता, प्यास नहीं मिटती । यों इस उध्य का भी संकेत है कि आवृत रूप ही उत्कटा और अनुप्रास में वृद्धि करते हैं, अनावृत दग्धन से तो विराग उपजा है । गो० तुलसीदास के अनुसार—'बसन्हीन नहि सोह मुरारी । सब मृदन मूर्धनवर नारी ॥' (रामचरितमानस, सुन्दरकाण्ड २३।४) । नामि आदि अत्यन्त सुन्दर हैं, बार-बार देखकर भी देखने की तृप्ता नह

अस्या खलुग्रन्थनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् ।

स्मरप्रशस्तीरजताक्षरेय पृष्ठस्थली हाटकपट्टिकायाम् ॥ ८७ ॥

जीवानु—अस्या इति । अस्या भंम्या पृष्ठस्थली कायपश्चाद्भाग । 'पृष्ठ तु चरम तनो' इत्यमर । सर्व हाटकपट्टिका 'हेमफलक तस्या ग्रन्थिना बन्धेन निबद्धेषु सयतेषु केशेषु मल्लीकदम्ब मल्लीकुसुमनिकुरम्ब तत्प्रतिबिम्बस्य वेशात् प्रवेशाद्धेतोः इय रजताक्षरा रजतमयवर्णा स्मरप्रशस्ति स्मरवर्णना खलु नर्मल्यात् पृष्ठफलप्रतिबिम्बितानि घम्मिलमल्लिकाकुसुमानि हेमफलकविन्वस्ता राजती मदनप्रशस्तवर्णावलीव भातीत्युत्प्रेक्षा ॥ ८७ ॥

अन्वय —अस्या ग्रन्थनिबद्धकेशमल्लीकदम्बप्रतिबिम्बवेशात् पृष्ठस्थली हाटकपट्टिकायाम् इय खलु रजताक्षरा स्मरप्रशस्ति ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के गुंथे केशों में गुंथे हुए मल्लिका फूलों की प्रतिच्छाया के अंश से पीठ रूपी सुवर्ण की पट्टिका पर यह (प्रत्यक्ष होती) निश्चय ही चाँदी के अक्षरों में लिखी काम की प्रशस्ति (प्रशंसा) है ।

टिप्पणी—दमयन्ती की चोटी में गुंथे मल्लिका कुसुमों की परछाहीं उसकी स्वर्णगौर पीठ पर पढ़ रही है । इसी पर सभावना की गयी है कि यह फूलों की रजत छाया रजताक्षर हैं, जिनमें काम का प्रशंसागान पीठ की स्वर्णपट्टिका पर लिखा गया है । कामरूप महापुरुष पधारें हैं, सो उनके स्वागत में इस प्रकार प्रशस्ति उपस्थित की गयी है । निर्मलता के कारण पृष्ठफलक पर प्रतिबिम्बित घम्मिलमल्लिकाकुसुम स्वर्णफलक पर लिखी काम-प्रशस्ति जैसी है, अत मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है, विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उत्प्रेक्षा-अपह्नुति-रूपक अलंकार हैं ॥ ८७ ॥

चक्रेण विश्व यदि मत्स्यकेतु पितुर्जित वीक्ष्य सुदर्शनेन ।

जगज्जिगीपत्यमुना नितम्बद्वयेन किं दुर्लभदशनेन ॥ ८८ ॥

जीवानु—चक्रेणेति । मत्स्यकेतु पाम सुदर्शनेन सुदर्शनाख्येन सुलभदर्शनेन च पितु विष्णो चक्रेण विश्व जित वीक्ष्य यदि वीक्ष्य किल अमुना दुर्लभ-दशनेन नितम्बद्वयेन कटीफलद्वयेनेव चक्रेण जगज्जिगीपति जेतुमिच्छति विमित्युत्प्रेक्षा ॥ ८८ ॥

अन्वय—मत्स्यकेतु पितु सुदर्शनेन चक्रेण विश्व जित वीक्ष्य यदि किम् अमुना दुर्लभदर्शनेन नितम्बद्वयेन अगत् जिगीपति ?

हिन्दी—मीनकेतन (काम) पिता (श्रीकृष्ण) के मुदघन (मुदघन नामक नर्त्तकीमाँडि प्रत्यक्ष और नितम्बरस नै सुन्दर) चक्रद्वारा सप्तर को विव्रित देखकर क्या उस विमला दर्शन दुर्लभ है (दम्त्रान्छादित), ऐन (प्रति-सुन्दर बहस) नितम्बरमूल से सप्तर को जीतना चाहता है ?

टिप्पणी—शो (८८-८९) श्लोकों में नितम्बर-दर्शन । दमयन्ती के चक्र-कार—गोल नितम्बर अत्यन्त आकर्षक हैं । बम्बों के क्षीने आवरण में उनके दो ओर भी आकर्षक हो जातू में काम-प्रादुर्भाव का देते हैं और जातू अज्ञीत और विव्रित हो जाता है । पिता श्रीकृष्ण ने मुदघन चक्र से सप्तर जीता, बेटा काम (प्रद्युम्नाबतारों) दमयन्ती के नितम्बरमूल से सप्तर जीतने का उच्छुक है । बेटे में पिता से वैशिष्ट्य यह है कि पिता का चक्र सुन्दरान् अर्थात् प्रत्यक्ष था, पुत्र का चक्र ऐसा है कि उसके दर्शन ही दुर्लभ हैं । पुत्र अत्यन्त शत्रु से ही जगत् जीतना चाहता है, जब कि पिता ने सुप्रत्यक्ष शत्रु द्वारा आज्यम किया था । 'दुर्लभ' शब्द का विकसित—विहृत रूप 'दून्हा' है; दून्हा अर्थात् पनि । इस प्रकार नितम्बर 'दुर्लभदर्शन' अर्थात् पति द्वारा दृष्ट है । सब कोई उसे देख ले, सुदघन—'सुखेन दर्शनं यस्य' नहीं है, प्रत्युत् 'दुर्लभेण वरेण दर्शनं यस्य' है । मल्लिनाथ के अनुसार उपदेश, विद्याधर के अनुसार उपदेशा-व्यतिरेक ॥ ८८ ॥

रोमावलीदण्डनितम्बरचक्रे गुणञ्च लावण्यजलञ्च बाला ।

तादृग्मूर्तेः कुचकुम्भकर्तुर्विनानि शङ्के सहकारिचक्रम् ॥ ८९ ॥

जीवानु—रोमावलीति । बाला दमयन्ती तादृग्मूर्तेः स्वरूपं यस्य तस्य यौवनाभ्यस्येभ्यः । कुचावेव कुम्भौ तयो कर्तु-निर्मातु कृष्णकारण्य रोमा-वस्येव दण्ड-स च नितम्ब एव चक्रञ्च तै गुणौ सौन्दर्यादि तनेव गुण सूत्र-ञ्चेति निवृत्त्यकम् । तत्रममव जलञ्च सहकारिकारचक्र सहकारिकारण-कलाः विनानि शङ्के । सक्तो यानिनेपमुप्रेषेति सङ्कष्ट ॥ ८९ ॥

अन्वयः—'तद्धे बाला तादृग्मूर्तेः कुचकुम्भकर्तुं रोमावलीदण्डनितम्बर-चक्रे गुण लावण्यजल सहकारिचक्र च विनानि ।

हिन्दी—जाता है कि बाला (दमयन्ती) यौवन स्वरूप कुचों खी कुम्भों के कर्ता (कृष्णकार-कृन्धार) के रोमावली रूप (चक्र धुनाने का)

रमयती देव लिया और अविक्त तृप्ति पा ली । यहाँ एक दमयन्ती की अनेकनात्मता के कारण विरोध का आभास होता है, और वह श्लेषमूलक है अतः मल्लिनाथ के अनुमास श्लेषमूलक विरोधाभास का सकार है । विद्याप के अनुसार ऋक्, श्लेष, अतिशयोक्ति हैं ॥ ९१ ॥

रम्भापि किं चिह्नयति प्रकाण्ड न चात्मन स्वेन न चेतदुरु ।

स्नस्यैव येनोपरि सा दधाना पत्राणि जागर्त्यनयोभ्रमेण ॥ ९२ ॥

जीवानु—रम्भेति । रम्भा वदत्यपि आत्मन प्रकाण्ड स्क्न्ध स्वेन स्वात्मना स्वमित्यर्थं । प्रवृत्त्यादिभ्य उपमह्वधानात् तृतीया । न चिह्नयति किमेतस्या ऊरु च न चिह्नयति किं मियो व्यत्यासपरिहाराय द्वयोरन्यतरस्यापि चिह्न न चकार किमित्युत्प्रेक्षा । कुत येन कारणेन भा रम्भा अनयो-र्ब्रवोभ्रमेणोरुभ्राग्वेत्यर्थं । स्नस्यैव स्वकीयस्व-घस्यैव उपरि पत्राणि दधानि प्रतिपक्षोपरिधेयानि साक्षरपत्राणि च दधाना जागति । अत्र सौन्दर्ये सङ्घट्टिणी रम्भापि स्वस्मिन्नेव ऊरुभ्रात्या पत्राव-म्बनकरणात् आतिमदलङ्कारः । तामूना चोक्तोत्प्रेक्षेति तयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः ॥ ९२ ॥

अचय—निम् रम्भा अति न आत्मन प्रकाण्ड स्वेन, एतदुरु च न चिह्नयति येन सा अनयोः भ्रमेण स्वस्य एव उपरि पत्राणि दधानि जागति ?

हिन्दी - क्या कदली भी न अपने तने को अपने आप चौहूती है और न उस (दमयन्ती) की जघा को, जिससे वह इन दोनों (तना और जघा) में भ्रम के कारण अपने ही ऊपर पत्रा को ढकती हुई रहते है ?

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में प्रसंगतः ऊरु-वर्णन करके चार (९३-९६) श्लोकों में पुनः ऊरुवर्णन है । दमयन्ती के ऊरुयुग्म पूर्णतया कदलीयुग्म (कंठे ण तना) के समान हैं । इस भाव को प्रतिपादित करने के लिए एक अतिशयोक्ति का प्रयोग किया गया है । कदली के स्तम्भ और दमयन्ती के ऊरु में सौन्दर्य-सुघष है, सो कदली अपने प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध अभियोग-पत्र (सम्भन) देना चाहती है, पर वह समझ ही न पा रही है कि कौन-सा उसका तना है, कौन दमयन्ती ऊरु ? इस भ्रम में पड़ी कदली पत्रों के रूप में पत्र (अभियोग) अपने पर ही रखलेती है । भ्रम के कारण ऐसा हो ही जाता है । कदली ही नहीं, इस भ्रम में सारा ससार पड़ जाता है कि कदली स्तम्भ कौन-सा है

और दमयन्ती-जड़ कौन-सा है ? ऐसा साम्य है दोनों में । मल्लिनाथ के अनुसार
 आतिमातृ और उर्रेजा का जगागिभाव मकर है, क्योंकि सौन्दर्यप्रतिद्वन्द्विता
 में सनर्प-शीला रम्या-कृष्णादि के कारण अपने पर ही पत्रावन्धन कर लेती
 है, तन्मूला उर्रेजा है । विद्याधर के अनुसार अतिसयोक्ति-आतिमद-उर्रेजा
 बलकार है ॥ ९० ॥

विद्याय मूर्धानमवधरञ्चेन्नुच्चेनगामि न्वमसाग्भादम् ।

जाडयच्च नाञ्चेत् कदली बलीमन्तदा यदि न्यादिदमूच्चात् ॥९१॥

जीवानु—विद्यायेति । कदली रम्या तपोमि तपश्चर्यामि मूर्धानमवधर-
 रनभोवतिन विद्याय गिरोबुध्योदताधरभाववैपरीत्यञ्च मन्त्रैत्यर्थं । स्व
 स्वकीयननारनाद नि सारन्वच्च मुञ्चेत्चेत् बलीयो जाडयनेदान्तर्गन्व
 नाञ्चेत् न गच्छेत् । तत्रापीम्, ददमूच्चात् जम्बा कुरु इव चात् शोभना
 स्याद्यदि स्यादेवेत्यर्थं । जत्र कदम्बा जघ शिरस्त्वादिमार्गिम्ब-वेपि सन्वध-
 सन्भावनाया सन्व-शोकतेरतिशयोक्तिभेद इति सर्वस्वञ्च ॥ ९१ ॥

जन्वय—कदली तदा इदमूच्चात् स्यात् यदि चेत् तपोमि मूर्धानम्
 कदवधर विद्याय स्वम् असाग्भादम् मुञ्चेत्, बलीयः जाडय च न अञ्चेत् ।

हिन्दी—कदली तब इस (दमयन्ती ' के ऊरु के समान सुन्दर होगी,
 यदि तब द्वारा शिर को नीचे की ओर करके अपनी निःसारता को छोड़ दे
 और मार्गकालिक जड़ता (सीटलता) को न प्राप्त करे ।

टिप्पणी—वस्तुतः समो एक दमयन्ती-जड़ अनुपम है । कदली दमयन्ती-
 ऊरु के समान है नहीं, क्योंकि ऊरु ऊपर स्थूल और नीचे की ओर सूक्ष्म और
 सन्नार है, जब कि कदली इसके विपरीत है—नीचे मोटी, ऊपर पतली ।
 कदली ऐसा सौन्दर्य तभी प्राप्त कर सकती है, जब उलटी हो जाय । ऐसे ही
 शिर नीचे करके तपस्या के रूप में कह गया है । तप करके ही कोई सिद्धि
 मिलती है । ऐसे तप से ही कदली को ऊरु के समान सौन्दर्य प्राप्त हो सकेगा ।
 अनो तो वह सुन्दर नहीं है । इसके अतिरिक्त सार्वकालिक सीटलता (ठडा-
 पन) भी उग्रम है । कोई व्यक्ति शिर नीचा कर तप द्वारा अपनी जड़ता
 (मूखता और जलाग्घा) को त्याग कर उठम के तुल्य हो पाता है । जाडय
 का अर्थ मूर्खता और सीटलता—दोना होगा है—'सुपीमा शिपिरो जड' ।

दमयन्ती ऊरुयुगल का समालिगन किये हुए हैं। भृगु, नारद और व्यास सत्रश घुरिप्रतिष्ठित महामुनि भी जब दमयन्ती की ओर धावृष्ट हैं, तो अन्य की तो बिसात क्या? मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेष मूला मुनिमोहोत्प्रेक्षा द्वारा यह वस्तु व्यजना है कि मुनिजन दमयन्ती पर माहित है, औरों की तो गणना क्या? विद्याधर ने भी उत्प्रेक्षा श्लेष का निर्देश किया है ॥ ९५ ॥

क्रमाद्गता पीवरनाधिजङ्घ वृक्षाधिरुद्धि विदुषी किमस्या ।

अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्ग वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥ ९६ ॥

जीवातु—क्रमेति । अस्या भ्रम्या अधिजङ्घ जङ्घघो विभक्त्यर्थेऽव्ययी-
भाव । क्रमेणानुपूर्व्यात् उद्गता उदिता पीवरता पीनस्व वृक्षाधिरुद्धमारलेष-
विशेष विदुषी किं ज्ञात्रा किम् ? 'न लोक' इत्यादिना पृष्ठीप्रतिषेध । किञ्च
भ्रमीभङ्गिमिवेष्टनविशेषे धावृताङ्गमाच्छादितगान् वासो वस्त्रमपि लता
वेष्टितके आलिङ्गनविशेषे प्रवीण किम् ? उभयत्राप्यन्यथा कथमित्यमाश्लिष्ये-
दिति भाव । अनयोर्लक्षणमुक्त रतिरहस्ये—'रमणचरणभेकेनाङ्घ्रिणाक्रम्य
मिन्न श्रसितपरपादेनाश्रयन्ती तदूरम् । निजमथ भुजमेकं पृष्ठतोऽस्वार्ययती
पुनरपरभुजेन प्राञ्चयन्ती तदङ्गम् । तस्मिन् कामितारं चुम्बनार्थाधिस्ता
पदमिलपतरागात् तच्च वृक्षाधिरुद्धम् । प्रियमनुकृतवल्लीविभ्रमा वेष्टयती,
द्रुममिव सरलाङ्गी मदसीत्का तदीयम् ॥ वदनमुचितखेदा कम्पमाचुम्बनार्थं
नमयति विनदन्ती तन्लातावेष्टित स्यात् ।' इति ॥ ९६ ॥

अन्वय —अस्या अधिजङ्घ क्रमाद्गता पीवरता किं वृक्षाधिरुद्ध विदुषी,
भ्रमीभङ्गिभिर्धावृताङ्ग वासो अपि लतावेष्टितकप्रवीणम् ?

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के जघायुगल में क्रम से ऊपर उठती स्थूलता
(मोटाई) क्या वृक्ष पर चढ़ने की रीति (अथवा वृक्षाधिरुद्ध प्रकार का
आलिगन) जानती है और लपटन—आवत करने की भंगिमाओं से घरीर
ढकनेवाला वस्त्र लता के समान लपेटन में (अथवा लतावेष्टितक आलिगन में)
प्रवीण है ?

टिप्पणी—दमयन्ती का जघायुगल क्रमशः नीचे से ऊपर की ओर मोटा होता
चला है, जैसे कि वृक्ष ऊपर को बढ़ता जा रहा हो । घरीर पर सुन्दर वस्त्र
(दुपट्टा आदि) पड़ा है, जो देह का और आरपंक बना रहा है । एव-
वियाम चातुस से दो आलिगन-विशेषों में प्रवीणता भी संकेतित है—

(१) दृग्गच्छिष्ट जिम्मे कामिनी दोनों बाहुओं से बंध का आलिंगन करती है, ऐसा करती वह छोटे प्रिय की गोद में चढ़ जाती है—'बाहुभ्या षष्ठ-
मार्द्ध्य कामिनी कान्त उत्स्रिये । अद्भुतागृहे तत्र दशारुह स उच्यते ॥'

(२) ललावेष्टिक, जिम्मे कामिनी लला की नाँति प्रिय के अंगों में लिपट जाती है,—'सन्वापसथयोगेन ललाव-परिवेष्टनं । यत्र प्रत्यङ्गमादिलष्ट लला-
वेष्टिक तु सत् ॥' अथवा बैठे प्रियका लेंटी कामिनी जब आलिङ्गन करती है, तब भी ललावेष्टिक कहा जाता है—'उपदिष्ट प्रिय कान्ता सुप्ता वेष्टयते यदि ।
सन्ललावेष्टित ज्ञेय कामानुभववेदिनि ॥' विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा इन्पे
अलंकार हैं ॥ ९६ ॥

अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिन्ध्रमीजम्भद्विपद्दारनवान्बिकानाम् ।

चतुर्दशीय तदिहोचितैव गुल्फद्वयात्ता यददृश्यसिद्धिः ॥ ९७ ॥

जीवातु—अरुन्धतीति । इय दमयन्ती अरुन्धती वसिष्ठपत्नी च कामपुरन्ध्री
रतिश्च लक्ष्मी पद्मा च जम्भद्विपद्दारा शची च नवान्बिका ब्राह्मीप्रभृतयो
नवमातरश्च यासामहस्यत्वसिद्धिरस्तीति प्रसिद्धिरिति भाव । तासा त्रयोदशाना
चतुर्दशी इयमपि तदन्त-पातिनीत्युपेक्षा । तत् तस्मात् तदन्त-पातित्वात्
इहास्या दमयत्या गुल्फी पादप्रन्थी । 'तद्प्रन्थिधुटिके गुल्फी' इत्यमर । तयो-
द्वयेनात्ता प्राप्ता या च सा अहस्यनिद्धिश्च यदहस्यनिद्धि येय गुल्फनोरहस्यत्व-
सिद्धिरित्यर्थ । स्तीति शेष । पत्तदो नित्यसम्बन्धात्ता उचितैव तत् सम्बन्धि-
नोऽपि तद्वत् सिद्धिर्युक्तैवेत्यर्थ । गूढगुणत्व स्त्रीलक्षण तदस्यामस्तीति भाव ॥

अन्वय — अरुन्धतीकामपुरन्ध्रिन्ध्रमीजम्भद्विपद्दारनवान्बिकानाम् * इयम्
चतुर्दशी इह गुल्फद्वयात्ता यत्र अद्भुतसिद्धि तत्र उचिता एव ।

हिन्दी—अरुन्धती (वसिष्ठपत्नी), कामपत्नी (रति), लक्ष्मी, जम्भ
द्वी (दत्त) की पत्नी (इन्द्राणी शची) और भी लक्ष्माताया की यह
चतुर्दशी (दमयन्ती) है । इस (दमयन्ती) में गुल्फद्वय (दोनों टखनों) का
जो अहस्यनिद्धि प्राप्त हुई, वह उचित ही है ।

टिप्पणी—दस श्लोक में दमयन्ती के गुणयुगल (दोनों टखनों) का
वर्णन है । दमयन्ती के गुल्फों में हड्डियाँ नहीं दीखती, यही उनकी अहस्यता
है । सामुद्रिक के अनुसार ऐसे गुल्फ शुभ माने जाते हैं । भाव यह है कि

दमयन्ती ऊरुयुगल का समालिगन दिये हुए हैं। मृगु, नारद और व्यास सहस्र धुरिप्रतिष्ठित महामुनि भी जब दमयन्ती की ओर आकृष्ट हैं, तो अन्य की तो बिसात क्या? मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेष मूला मुनिमोहोत्प्रेक्षा द्वारा यह वस्तु व्यञ्जना है कि मुनिजन दमयन्ती पर माहित है, औरों की तो गणना क्या? विद्याधर ने भी उत्प्रेक्षा श्लेष का निर्देश किया है ॥ ९५ ॥

क्रमाद्गता पीवरताधिजङ्घ वृक्षाधिरूढि विदुषी किमस्या ।

अपि भ्रमीभङ्गिभिरावृताङ्ग वासो लतावेष्टितकप्रवीणम् ॥ ९६ ॥

जीवातु—क्रमेति । अस्या भ्रम्या अधिजङ्घ जङ्घयो विभवत्यर्थेऽव्ययी-
भाव । क्रमेणानुपूर्व्यात् उद्गता उदिता पीवरता पीनत्व वृक्षाधिरूढमारश्लेष-
विशेष विदुषी किं ज्ञात्रा किम् ? 'न लोक' इत्यादिना पट्टीप्रतिषेध । किञ्च
भ्रमीभङ्गिभिवेष्टनविशेषे आवृताङ्गमाच्छादितगात्र वासो वस्त्रमपि लता
वेष्टितके आलिङ्गनविशेषे प्रवीण किम् ? उभयत्राप्यन्यथा क्यमित्यमादिलभ्ये-
दिति भाव । अनयोर्लक्षणमुक्त रतिरहस्ये—'रमणवरणमेवेनाद्भिणाकम्प
मिन्न श्रुतितपरपादेनाश्रयन्ती तदहम् । निजमय भुजमेक पृष्ठतोऽप्यापंयती
पुनरपरभुजेन प्राञ्चयन्ती तदङ्गम् । तरुमिव कामितार चुम्बनायाधिष्टिता
यदमिलपतरागात् तच्च वृक्षादिष्टम् । प्रियमनुकृतवल्लीविभ्रमा वेष्टयन्ती,
द्रुममिव सरलाङ्गी मन्दसीत्का तदीयम् ॥ वदनमुजितछेदा कम्पमाचुम्बनाथै
नमयति विनदन्ती तल्लातावेष्टित स्यात् ।' इति ॥ ९६ ॥

अन्वय—अस्या अधिजङ्घ क्रमाद्गता पीवरता किं वृक्षाधिरूढ विदुषी,
भ्रमीभङ्गिभि आवृताङ्ग वासो अपि लतावेष्टितकप्रवीणम् ?

हिन्दी—इस (दमयन्ती) के जघायुगल में क्रम से ऊपर उठती स्थूलता
(मोटाई) क्या वृक्ष पर चढ़ने की रीति (अथवा वृक्षाधिरूढ प्रकार का
आलिगन) जानती है और लपटन—आदृत करने की भगिमाओ से घरीर
ढकनेवाला वस्त्र लता के समान लपटन में (अथवा लतावेष्टितक आलिगन में)
प्रवीण है ?

टिप्पणी—दमयन्ती का जघायुगल क्रमश नीचे से ऊपर की ओर मोटा होता
शला है, जैसे कि वृक्ष ऊपर को बढ़ता जा रहा हो । घरीर पर सुन्दर वस्त्र
(ड्रपट्टा आदि) पडा है, जो देह को और व्यापक बना रहा है । एम्बर-
विद्यास चातुय से दो आलिगन-विशेषों में प्रवीणता भी संकेतित है—

(१) दुर्गाद्विष्ट मित्रने कामिनी दोनों बाहुओं से कूट का आँकन करती है, ऐसा बरती वह छोड़े प्रिय की गोद में चढ़ जाती है—बाहुन्मा कूट-मात्त्रिय कामिनी काम्य उखिये । अहनागहृते तस्य वशात् स उच्यते ॥

(२) लजावेष्टितक, जिनमें कामिनी लजा को भाति प्रिय के साथ में लिज जाती है,—‘सन्धारसन्धयोत्त लजावन्निवेष्टनं । यत्र प्रयत्नमाश्लिष्ट लजा-वेष्टितक तु तत् ॥’ अथवा बैठे निष्का सैटी कामिनी जब आँकन करती है, तब नी लजावेष्टितक क्या जाता है—‘उद्विष्ट प्रिय काम्या मुता वेष्टयते यदि । उल्लजावेष्टित ज्ञेय कामानुभववेदिनि ॥’ विद्याधर के अनुसार उन्प्रेक्षा रूप ललकार है ॥ ९६ ॥

अरुण्यतीकामपुरन्निर्लक्ष्मीजन्मद्विपद्दारनवाम्बिकानाम् ।

चतुर्दंशोय तदित्योचितैव गुणद्वयात्ता यदद्वयमिद्धिः ॥ ९७ ॥

जीवातु—अरुण्यतीति । इय दमयती अरुण्यती वसिष्ठयन्ती च कामपुरन्धी रतिश्च लक्ष्मी पया च जन्मद्विपद्दारा शची च नवाम्बिका श्राष्टीप्रभृतयो नवमातरश्च यासामहयन्वसिद्धिरन्तीति प्रसिद्धिरिति भाव । तासा त्रयोदशाना चतुर्दंशो इयमपि तदन्तपातिनीत्युपेक्षा । तद् तन्मात् तदन्तपातित्वात् इहाम्ना दमयत्या गुण्यो पादग्रन्थी । ‘तद्ग्रन्थिपुटिके गुण्यो’ इत्यमर । तयो द्वयेनात्ता प्राप्ता या च सा अहयसिद्धिरच यदहयसिद्धिः येय गुण्योरहयत्व-सिद्धिरित्ययं । सतीति शेषः । तत्तोनित्यसम्बन्धान्ता उचितैव तत् सन्वयि-नोऽपि तद्वत् सिद्धिर्युक्तैवेत्ययं । गूःगुण्यश्च खेत्क्षप तदन्त्यामतीति भावः ॥

अन्वय—अरुण्यतीकामपुरन्निर्लक्ष्मीजन्मद्विपद्दारा नवाम्बिकानाम् ‘इयम् चतुर्दंशो इह गुणद्वयात्ता यत् अद्वयमिद्धि तत् उचित एव ।

हिन्दी—अरुण्यती (वसिष्ठयन्ती), कामयन्ती (रति), लक्ष्मी, जन्म-पद्म (इन्द्र) की पत्नी (इन्द्राणी शची) और नौ लक्ष्माताया की यह चतुर्दंशो (दमयन्ती) है । इस (दमयन्ती) में गुणद्वय (दोनों टखनों) का जो अहयसिद्धि प्राप्त हुई, वह उचित ही है ।

टिप्पणी—इस श्लोक में दमयन्ती के गुणद्वय (दोनों टखनों) का वान है । दमयन्ती के गुणों में टिप्पणी नहीं दी जाती, मही उनकी अहयता है । सामुद्रिक के अनुसार ऐसे गुण शुभ माने जाते हैं । भाव यह है कि

दमयन्ती उन तेरहो देवियों से विशिष्ट है, जिन्हें अदृश्यसिद्धि प्राप्त है। यह चौदहवीं उनकी विषम सख्या को नम बनाकर पूर्ण करती है, अतः यह उनकी पूरण है, यो विशिष्ट है। वे तेरह है, यह उनसे अगली चौदहवीं—विशिष्ट है। देवियों को जो अदृश्यसिद्धि प्राप्त है, वह इसके चरणाग-गुल्फ में है, जो उह प्राप्त है, वह दमयन्ती के चरणाग को ही सिद्ध है। यह भी वैशिष्ट्य। इसके अतिरिक्त दमयन्ती में यह मिद्धि 'आस'—अव्यभिचरित, नित्य है। कभी दूर नहीं होती। इस प्रकार दमयन्ती उन तेरह देवियों के समान ही नहीं, विशिष्ट भी है। अरन्धती, रति, लक्ष्मी और सची (चार) और नौ मातृकाएँ—(१) शैलपुत्री, (२) ब्रह्मचारिणी, (३) चित्रघटा, (४) कूर्माण्डा, (५) स्कन्दमाता, (६) कात्यायनी, (७) कालरात्रि, (८) महागौरी और (९) सिद्धिदात्री—योग तेरह, चौदहवीं दमयन्ती। दुर्गा-सप्तशती (कवच—३, ४, ५) के अनुसार—प्रथम शैलपुत्री च द्वितीय ब्रह्मचारिणी। तृतीय चित्रघण्टेति कूर्माण्डेति चतुर्थकम् ॥ पञ्चम स्कन्दमातेति षष्ठ कात्यायनी च। सप्तम कालरात्रीति महागौरीति चाष्टम् ॥ नवम सिद्धिदात्री च नवदुर्गा प्रकीर्तिता ॥ आगम के अनुसार—ब्रह्माणो वैव माहेशो कोमारी वैष्णवी तथा। वाराहो नारसिंही च माहेंद्री चण्डिका तथा ॥ महालक्ष्मीरिति प्रोक्ता द्रमेणैता नवाम्बिका ॥ जिस प्रकार साधका को चतुर्दशी को अदृश्य-करण विद्या की सिद्धि प्राप्त होती है उसी प्रकार दमयन्तीरूप चतुर्दशी में गुल्फद्वय को जो यह अदृश्यसिद्धि हुई, वह उचित ही है। विद्याघर के अनुसार रूपकालकार ॥ ९७ ॥

अस्या पदी चारुनया महान्तावपेक्ष्य सौध्म्याल्लवभावभाज* ।

जाता प्रवालस्य महीमहाणा जानीमहे पल्लवसद्वलम्बि ॥ ९८ ॥

जीवानु-अस्या इति। चास्तया सौन्दर्यगुणेन महान्तो अस्या पदी पादी अवश्य। 'पाद पदङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। सौध्म्यात् तदपेक्षयाऽप-
स्वादिति भावः। लवभावभाजोऽल्पत्वभाजो महीमहाणा प्रवालस्य किसलयस्य
पल्लवसद्वलम्बि पद्मधा लवोऽप्य इति व्युत्पत्त्या पल्लवसजा प्राप्तिर्जाता जानी-
महे इत्युत्प्रेषामहे इत्ययम्। 'अस्मदोद्गयोश्च' इति विवरुपादेकस्मिन्नेव बहु-
वचनम् ॥ ९८ ॥

अन्वय —जानीमहे (यत्) अस्या चारुया महान्ती पदो अवेद्य सौश्र्यात् लवभावमान महीरुहाणा प्रवालस्य पल्लवस्यलम्बि जाता ।

हिन्दी—रुगता है कि इस (दमयन्ती) के सौंदर्य के कारण उत्तम चरण देखकर अन्गठा से (पैरों की मोटा की) अनियूनता (अलगाय) प्राप्त करते वृक्षों के बाल किसलय को 'पल्लव' (पद्+लव = पैर से अन्य) नाम प्राप्त हुआ है ।

टिप्पणी—चार (श्लोक म० ९८-१०१) में दमयन्ती के चरणों का वर्णन है । इस श्लोक में दमयन्ती-चरण को नवपल्लव से चारुतर सिद्ध किया गया है । समावना की गयी है कि पल्लव को पल्लव नाम इमीलिए मिला है कि वह 'पदम्या लव' (पैरों में छोटा) अथवा 'पदो लव मय्याश्चणसम्बन्धी लवो लेशो यस्य' (नीमनुता के पद का न्यूनाश्राही) अथवा 'पदो लवह्यः' (पैर लव-अल्प ह्य) है । सब प्रकार से कहना यही है कि दमयन्ती के चरण 'प्रवाल' (नवपल्लव) से अधिक रमणीय हैं । 'जानीमहे' के आधार पर यहाँ मन्त्रिणां ने उन्प्रेक्षा का निर्देश किया है । विद्याधर के अनुसार उन्प्रेक्षा-अतिशयोक्ति ॥ ९८ ॥

जगद्वधूमूर्धंनु रूपदर्पाद् यदेतयाज्यायि पदारविन्दम् ।

तन्नान्द्रमिन्दूरपरागगंघ्रुव प्रवालप्रदलारुण तत् ॥ ९९ ॥

जोवातु—जगदिति । यत् यस्मात्, एतया मय्या रूपदर्पात् सौन्दर्यगर्वात्, द्वयमुनय पदारविन्द द्वे अणि पदारविन्दे इत्यर्थं । जगद्वधूमूर्धंनु अघायि निहित, घात्र कर्मणि लुङ् । 'जातो युवचिगृहो' इति युगागम । तत् तस्मात्, तेषु मूर्धंनु ये सान्द्रा मिन्दूरपरागगगा तं प्रवालाद्विद्रुमादपि प्रवालारुणमधिकारण घृदमित्युन्प्रेक्षा ॥ ९९ ॥

अन्वय —एत्या यत् रूपदर्पात् पदारविन्द जगद्वधूमूर्धंनु अघायि; घृव तत् तत्साद्रमिन्दूरपरागं प्रवालप्रदलारुणम् ।

हिन्दी—इस (दमयन्ती) ने जो सौन्दर्य के गर्व से चरण-कमल त्रिलोक को सुन्दरियों के मूर्धात्रों पर घरा, निश्चयपूर्वक वह (दमयन्ती का चरण) उन (जगत्-बन्धुओं) के (मस्तकों पर लगे) गाढे सिन्दूर की लाली से प्रवाल (मूँ या नवपल्लव) से अधिक गुलाबी हो गया है ।

टिप्पणी—भगिमातर से पूर्वोक्त का समर्थन । दमयन्ती के चरण भूगा धीर नवकिसलय से भी अधिक लाल हैं । दमयन्ती की उत्तमता के कारण जगत् की मुद्गरियाँ उसके चरणों में अपना सिन्दूरपूर्ण मस्तक रखती हैं, उसी सिन्दूर की लालिमा से यह चरण प्रबालाधिक जरुण है । उत्तम के चरणों में निम्न सिर रखते ही है । 'ध्रुवम्' के आधार पर यहाँ मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार ऐकाग्रता और असम्बन्ध में सम्बन्धरूपा अतिशयोक्ति । चन्द्रकलाकार ने उपमा, अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा का अगाधि-भाव सकर माना है ॥ ९९ ॥

स्वारुण सर्वगुणैर्जयन्त्या भैम्या पद श्री स्म विधेर्वृणीते ।

ध्रुव स तामच्छलयद्यत् सा भृशारुणैतत्पदभाग्विभाति ॥ १०० ॥

जीवातु—रूपेति । श्री, लक्ष्मी रूपा पराजयश्रोत्रेण अरुणा सती सर्वगुणैर्जयन्त्या आत्मानमतिक्रामन्त्या भैम्या पद स्थान विधे सकाशात् वृणीते स्म वद्रे । स विधिस्ता थियमच्छलयत् प्रतारितवान् ध्रुव स्थानार्थविवक्षया पद-प्रार्थनायामङ्घ्रिदानादिति भाव । 'पद व्यवसितप्राणस्थानरुग्म्यङ्घ्रिवस्तुपु' इत्यमर । अतः सा श्रीरत्नत्वदभागेनस्या भैम्या तदङ्घ्रिमाक् सती शोभास्ते-षेति भाव । भृशारुणा विभाति आरुण्यप्रत्यभिज्ञानात् तदङ्घ्रिरेवैतत्स्थानमिति जानी-इत्यर्थ ॥ १०० ॥

अन्वय—रूपा अरुणा श्री सर्वगुणैर्जयन्त्या भैम्या पद विधे वृणीते स्म स ता ध्रुवम् अच्छलयत्, यत् भृशारुणा सा एतत्पदभाक् विभाति ।

हिन्दी—क्रोध से लाल लक्ष्मी ने सब गुणों के कारण जयिनी भीमसुता के पद (पैर को छुवा स्थापन) को विघाता से मारना था, उस (विघाता) ने उसे (लक्ष्मी को) निश्चयत छोड़ा दिया, क्योंकि और भी अधिक (क्रोध धीर अपमान से) लाल वह (लक्ष्मी) इस (दमयन्ती के) पद (चरण) को प्राप्त कर शोभित हो रही है ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती की चरण-शोभा लोकोत्तर है और लक्ष्मी भी दमयन्ती के समान नहीं है । दमयन्ती के सभी गुणों से पराजित लक्ष्मी क्रोध और ईर्ष्या से लाल हो गयी और विघाता से मारने लगी कि वे लक्ष्मी को दमयन्ती का पद (स्थापन) दें, अर्थात् दमयन्ती की अपेक्षा लक्ष्मी

को उच्चरन्ति मित्रं मुक्ते । विद्याना ने 'पद' तो दिया, पर 'पद' शब्द की अनेकार्थता के कारण पर 'पद'—'स्थान' नहीं दिया, 'पद'—'चरण' दिया कि लो दमयन्ती का पद, और बग्गी रहो पद-सेवा । इस प्रकार 'पद' शब्द से विद्याना ने लक्ष्मी की प्रशंसा की । वह बेचारी अपमान और क्रोध से गीर्ण भी छाड़ होनी दमयन्ती का चरण लिये बैठी सेवा कर रही है । नारायण ने 'नृशास्त्रोत्पदनाक्' का एक शब्द मानकर यह अर्थ भी संकेतित किया कि 'अत्यन्त अष्टा दमयन्ती का पैर पानेवाली' लक्ष्मी (और भी अक्षय होती) सुशोभित होती है । विद्याना ने लक्ष्मी का चरण ही दिया, स्वरूपादि नहीं । इस प्रकार प्रसारित किया कि दमयन्ती का पद (चरण) ही लक्ष्मी का 'पद' (उचित स्थान) है । विद्याना के अनुसार उत्प्रेक्षालकार ॥ १०० ॥

यानेन तन्व्या जितदन्तिनाथौ पदाब्जराजौ परिशुद्धपाष्णौ ।

जाने न शुश्रूपयितुं स्वमिच्छन्तेन मूर्ध्ना क्तरस्य राज्ञः ॥ १०१ ॥

जौवातु—यानेनेति । यानेन गत्या दण्डयात्रया च जितो दन्तिनाथो भ्रज्येष्टो गजराजश्च यान्त्वा तौ परिशुद्ध निशोषो बर्गीकृतश्च पाष्णि पश्चाद्भाग पाष्णि-ग्राहश्च दयोन्तो तन्व्या पदाब्जे एव राजानो पदाब्जराजौ क्तरस्य राज्ञ प्रन्नु-परिपयितश्च ननेन मानशान्तये रीद्रशान्तये च नत्रोप मूर्ध्ना स्वमात्मान तेभ्य शुश्रूपयितुं सेवयितुमिच्छू अभिप्रापुक्तौ न जाने । अत्र पदान्तराजादिति रूपकस्य स्तेपेणाद्गाद्भिभावेन सङ्कर ॥ १०१ ॥

तन्वय—यानेन जितदन्तिनाथौ परिशुद्धपाष्णौ तन्व्या पदाब्जराजौ न जाने क्तरस्य राज्ञ ननेन मूर्ध्ना म्ब शुश्रूपयितुम् इच्छू ?

हिन्दी—गति अथवा विजय यात्रा में गजराज अथवा गजनेता के स्वामी राजा के यथी, रमणीय (चरण का) पृष्ठ मानवाले अथवा जितका पाष्णिग्राह (पीठे में आक्रमण करने वाला सँयदल) परिशुद्ध अर्थात् निशोष है, ऐसे (दमयन्ती के) चरण-कमल हुए राजा न जाने कित्त राजा के विनत नम्रक से अपनी सेवा कराने के द्बुद्ध है ?

टिप्पणी—न के इस विचार में एक तो यह उत्कठा है कि न जाने कौन राजा ऐसा भाग्यशाली होगा, जो इस दमयन्ती के गजविनिदितकृति और रमणीय टाँगों वाले चरणकमलों के प्राय-वत्ह में प्रसन्न करने के लिए अनाद

मस्तक रडेगा ? दूसरे यहाँ चरण-कमलों को ऐसे राजाओं के रूप में चित्रित किया गया है, जो विजयमात्रा में गजसेनाधीश राजा (नन्दायण के अनुसार चौडाधिप) को पराजित करते हैं और जिनका पृष्ठसंघदल-पाणिग्राह-अत्यन्त समर्थ है। इन्हीं राजार्य के कारण 'न जाने' और सार्वक है। गुहमत्र राजा किससे सेवा लेगा, यह नहीं जाना जाता। मल्लिनाथ के अनुसार 'पदाद्वजराजौ' में रूपक का श्लेष से अयागिभाव सकर है। विद्याधर ने यहाँ रूपक और श्लेष मानने हुए यह टिप्पणी भी की है कि यहाँ अर्थान्तर की प्रतीति रूपक द्वारा ही होती है, इससे समासोक्ति नहीं हो सकती ॥ १०१ ॥

कर्णाक्षिदन्तच्छदवाहृपाणिपदादिन स्वाखिलतुल्यजेतु ।

उद्वेगभागद्वयताभिमानादिहैव वेधा व्यधित द्वितीयम् ॥ १०२ ॥

जीवानु-कर्णेति । स्वस्या या-यखिलानि तुल्यानि शङ्कुलीकमन्त्रायुपमान-वस्तूनि तेषां जेतु भाषितपुस्कत्वात् पुबद्भाव । कर्णंश्चाक्षि च दन्तच्छदश्च बाहुश्च पाणिश्च पदश्च कर्णाक्षिदन्तच्छदवाहृपाणिपदम् । प्राण्यङ्गत्वादेकवद्भाव, शदश्रिम्यं तत् आदिसद्वात् कुवादितग्रह । तदादिनोऽवयवज तस्य अद्वयता-भिमानात् अद्वितीयत्वगर्वात् उद्वेगभाक् रोपभाक् वेधा इहास्यामेव भैम्या द्वितीय कर्णादिक व्यधित विहितवान् । तदवयवानामप्रतिमतया परस्परमेवौ पम्पमासीत् । यथा कर्णस्येतरकर्णेन वरस्येतरकरेणेत्यर्थं ॥ १०२ ॥

अन्वय — स्वाखिलतुल्यजेतु कर्णाक्षिदन्तच्छदवाहृपाणिपदादिन अद्वय-ताभिमानात् उद्वेगभाक् विधाता इह एव द्वितीय व्यधित ।

हिन्दी—अपने समान समग्र (वस्तुओं) के जेता कान, आँख, ओठ, बाहू, हाथ, पैर आदि की अद्वयता (अनुपमता) के अभिमान से उद्विग्न हुए विधाता ने इस (दमयन्ती) में ही दूसरा (जोड़े का) बना दिया ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती के कान आदि समस्त अंग अनुपम, अद्वितीय हैं। कर्ण आदि के जो प्रसिद्ध उपमान हैं—पाना, कमल, बिम्ब, लता, कमल (कर-चरण)—वे सब दमयन्ती के अंगों के समान अप्रमाणित हुए। इस प्रकार में अंग अपनी अद्वितीयता के अत्यभिमानो हो गये। विधाता ने उद्वेग और क्रोध में भरकर दमयन्ती के अंग के समान् उसका जोड़ा बना डाला। पहिले कान के ओठ में दूसरा कान, पहिले नेत्र के जोड़े में दूसरा नेत्र—

इसी प्रकार दूसरा बाहु, दूसरा हाथ और दूसरा पैर । अब कोई अंग अकेला-
 अङ्ग नहीं रहा, उनकी अद्वितीयता समाप्त हो गयी । होता भी नहीं है, बृद्ध
 रचनाकार अभिमान मिटाने के लिए प्रतिद्वन्द्वी को रच ही देता है । कर्णादि
 की गणना करते-करते कवि ने जो अंत में 'जादि' शब्द जाड़ा है—'पदादि',
 मन्दिनाथ की उचित मान्यता है कि इस 'आदि' से अभिप्राय समजना चाहिए
 अन्य 'बृचादि' अंग । नारायण का स्पष्टीकरण है कि आदि शब्द से अगुलि
 आदि अवयव मानना चाहिए । इन अंगों को अभिमान हो गया था कि मरे
 सद्य सुन्दर कोई अन्य नहीं है, मैं ही अकेला सुन्दर हूँ । इसी गर्व पर उद्दिप्त,
 श्लोकमुक्त विघाता ने उसके ही जोड़ के दूसरे अंग की रचना भी नहीं
 कर दी—'आदिशब्दादङ्गुल्यादेरवयवस्य प्रत्येकमद्वयताभिमानान् मत्सदृश
 सुन्दरमन्यन्नास्तीति अहमेवैव सुन्दरमित्यद्वैतगर्वाद्दुद्वेगनाक् श्लोकमुक्त वेधा
 इहेवास्या नैम्यामेव द्वितीय द्वयो पूरण कर्णादि वृत्तवान् ।' विद्याधर के
 अनुसार यहाँ अनवयोपमालकार है । चन्द्रकलाकार के अनुसार 'इस पद्य में
 अनन्वय अलकार से दमयन्ती के श्रोत्र आदि इन्द्रिय लोकोत्तर ये, ऐसी
 वस्तुध्वनि है' ॥ १०२ ॥

तुपारनिशेषितमञ्जसर्गं विधातुकामस्य पुनर्विधानुः ।

पञ्चस्विहास्याङ्घ्रिकरेष्वभित्यानिक्षाऽधुना माधुकरीसदृक्षा ॥१०३॥

जीवानु-तुपारेति । तुपारेण नि शेषित नाजितमन्वसा पद्मनृष्टि पुनर्वि-
 धातुकामस्य सप्तकामस्य विधातुरधुना इहास्या नैम्या पञ्चसु आस्य चाङ्घ्री
 च करो च तेषु अधिकरणीतावत्त्वे चेत्येकवद्भावप्रतिषेध इहाधिकरण समाना-
 धारत्वाद्द्विपदार्थं । तस्यैतावत्त्व पञ्चत्वमभिन्यानिक्षा सोभावाच्या । 'जमित्या
 नानशोभयो' इत्यमरः । माधुनरी नाम पञ्चमिक्षा तथा सदृक्षा सदृशी 'द्वे
 कसरच वक्तव्य' इति कसरप्रत्यय । वतंत इति शेष । एतदास्यादिपञ्चके
 यावन्तावत् तावत् पद्मेषु नास्तीत्यर्थं ॥ १०३ ॥

अन्वयः—तुपारनिशेषितम् अञ्जसर्गं पुन विधातुकामस्य विधातुः अधुना
 इह पञ्चसु आस्याङ्घ्रिकरेषु अभित्यानिक्षा माधुकरी सदृक्षा ।

हिन्दी—पाले से पूर्ण विनष्ट कमलों की पुनारचना की कामना करते

विधाता की इस काल इस (दमयन्ती) के पाँच मुख, चरण और करों से सोना की याचना सन्यासी की भिक्षा (मधुकरि) जैसी है ।

टिप्पणी—एक मुख, दो हाथ, दो पैर का योग हुआ पाँच (१ + २ + २ = ५) । दमयन्ती के इन पाँच अंगों से पाले के कारण सफल नष्ट हुए कमला की पुनः सृष्टि के निमित्त सृष्टिरत्ता जो थोड़ी-थोड़ी सुदरता की याचना करता है, वह उस भीख के समान है, जो घर-घर यति—सन्यासी माँग माँग कर एकत्र करता है, एक मधुकर (भ्रमर) के तुल्य फूल फूल से मधु माँगकर पेट भरता—'मधुकरि' पाँच जा, से माँगी भीख । दमयन्ती के मुख, कर, चरण से थोड़ी-थोड़ी चारुता मिल जाय 'बाबा' को तो भित्तारी जाबा का काम चल जाय और पेट पल जाय । सिरजनहार भी भित्तमगा हा गया जिनसे सौन्दर्ययाचना करता । भाव यह है कि मुखादि के उपमान रूपम प्रसिद्ध कमल दमयन्ती के मुखादि की अपेक्षा नगण्य हैं—असदृश । १०३ ।

एष्यन्ति यावद्गणनादिदगन्तान् नृपां स्मरार्तां क्षरणे प्रवेष्टुम् ।

इमे पदाब्जे विधिनापि सृष्टास्तावत्य एवाङ्गुल्योऽत्र रेखा ॥१०४॥

जीवातु—एष्यन्तीति । स्मरार्तां नृपा इमे पदाब्जे क्षरणे प्रवेष्टुं यावन्ती गणना यस्य तस्मात् यावद्गणनात् यावत्सत्याकात् दिग्गतात् यावत् सङ्ख्या-केभ्य दिग्गन्तेभ्य इत्यर्थः । जातावेकवचनम्, एष्यन्ति, अत्रानयो पदाब्जयो तावत्य एव तत्सङ्ख्या एवाङ्गुल्य एव रेखा सृष्टा, स्वयवरायमागामिना राज्ञामपादानदिवसङ्ख्यासूचकरेखा इव दशाङ्गुल्य सृष्टा इत्युत्प्रेक्षा ॥१०४॥

अन्वय—स्मरार्तां नृपा इमे पदाब्जे क्षरणे प्रवेष्टुं यावद्गणनात् दिग्गतात् एष्यन्ति, विधिना तावत्य एव अङ्गुल्य रेखा सृष्टा ।

हिन्दी—काम पीड़ित राजा (दमयन्ती के) इन चरण कमलों में क्षरण-प्राप्तय जितनी सर्या के दिगतो (दश, अर्थात् सपूर्ण दिशा-ना) से आवेंगे, विधाता ने उतनी ही (दस) अंगुलियाँ रूप रेखाएँ इस (दमयन्ती) में बना दी ।

टिप्पणी—भाव यह है कि दशा दिशाओं के राजा दमयन्ती के अभिलाषी हैं । वे इममें चरणों में प्रणय याचना करके क्षरण लेने आवेंगे । विधि ने

पहिले से ही सन्धी गाना हो सकने के लिए, दोनों पैरों में इन जंजुनियों बना दी, जिससे सुविधा हो, उत्प्रेक्षा उत्पन्नकार ॥ १०४ ॥

प्रियासखीभूतवती मृदेव्यव्यावृषिः सानुदगन्धमिन्दोः ।

एतत्पदच्छदसरागपत्रसौभाग्यभाग्य व्यन्मन्वया म्यान् ॥ १०५ ॥

जीवानु-प्रिनेति । दिनिदिवाता प्रियाया नैन्या सखीभूतवत मुहूद्भूतस्य जनुतदद्वात्रे ध्वि, नवतेः स्रवतुप्रपयत्त । इन्दोरिद सङ्घुदस्य च सनोचो-
नावस्यन्वसम्पद् दशाना परिपाक मुदा सन्तोदेष व्यनात् विहितवानितर्यम् ।
वन्वयाज्ज्येन्दो एतस्या परस्य च्छदन्च्छठ पन्म तन्म सरा पदन्म्य सोनाम्ये
सोन्दरे भाग्य क्यम् ? एतच्चरागो परोदकास्व व्यनित्यर्थ ॥ १०५ ॥

जन्वय—विधि मुदा प्रियासखीभूतवत इन्दो इद सङ्घुदस्य (वनवा
'शान्व साधु') व्यनात्, जन्वया एतत्पदच्छदसरागपत्रसौभाग्यभाग्य क्य
म्यात् ?

हिन्दी—विवाता ने प्रसन्नतापूर्वक प्रिया (दमयन्ती) के सखा हो पय
चद्र का (चरणसहचरिनें) यह सुधर दगनाद ठीक ही बनाया, वन्वया
इस (दमयन्ती) चरण-व्याज से जहाकनच की सुनगता (सोन्दरे) पाने
का (चन्द्र का) भाग्य कैसे होता ?

टिप्पणी—दमयन्ती के पैरों के इस गुलाबी नख बहा चन्द्र जोर पय
की गोमा वाले हैं । चद्र तो एव है, उसे इस नखों की सुनटा देने के
लिए उसके इस रूप उचित हैं—'साधुस्यन्व' जयात् नली अवम्या जोर उचित
दगाननात् । इससे चन्द्र को यह खान हुआ कि इनपती चरण-व्याज से
उसे 'अरण-व्य' नौभाग्य लान हो गया । चद्र-पत्र-विरोध नाता जाता है ।
इस गहनव की सम्भावना दमयन्ती-चरण-सेवा से ही चद्र को हुई । विद्या-
धर के अनुसार यहाँ धैकानुप्रास इत्ये-जनुनाद-जन्तु-मुति-जन्तार हैं ॥ १०५ ॥

यद्य पदात् गुणलखी मुत्रश्च विनक्ति पून्नुचनुष्य या ।

क्या वतुयच्छिषैतु वास तस्या कथं मुञ्चु विनाम नान्याम् ॥ १०६ ॥

लोवातु—यद्य इति । या मुञ्चुयंश कीति- पदाद्गुणलखी मुखश्चैति
पुनैतुवदुश्च विनक्ति । तस्यामस्या मुञ्चुवि मुन्दया काना पोटसनाता
विद्याना च चतुस्तया पष्टि चतुषष्टि वास निवास क्य नाम नोपैतु उपे-

वेत्यर्थं । चन्द्रचतुष्टये प्रतिचन्द्र पौडशकलत्वाच्चतु पष्टिकलासम्पत्तिरित्यर्थं ।
द्वयीनामपि कलानामभेदाध्यावसायेन अयं निर्देशः ॥ १०६ ॥

अन्वय — या यत्र पदाङ्गुष्ठनखौ मुखं च पूर्णोदुचतुष्टयं विभक्तिं, तस्याम्
अस्यां सुभ्रूवि कलाचतुष्टयि कथं नाम वासं न उपैतु ?

हिन्दी—जो (दमयन्ती) यत्र, पैर के अंगूठों के दो नख और मुख
(१ + २ + १ = ४)—इस प्रकार चार पूर्ण चन्द्र धारण करती है, उस इस
सुन्दर मौहवाली में चौसठ कलाएँ क्यों न निवास प्राप्त करें ? (करना ही
उचित है ।)

टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती गीत-वाद्यादि चौसठ कलाओं में
प्रवीणा है और उसके यत्र (१) पैर के अंगूठे, (२) और मुख (१)—
ये चार-चार पूर्ण चन्द्रों के तुल्य हैं । इस प्रकार दमयन्ती में चार चन्द्रों का
वास है । एक चन्द्र में सोलह कलाएँ होती हैं, १६ × ४ = ६४ । इस प्रकार
दमयन्ती में चौसठ कलाओं की स्थिति ठीक-ठीक हो गयी । विद्याधर के
अनुसार अतिशयोक्ति श्लेष अलंकार । कामशास्त्र के अनुसार चौसठ कलाएँ
हैं—१ गीत, २ वाद्य, ३ नृत्य, ४ नाट्य, ५ विप्रकारी, ६ तिलकरचना,
७ धावल फूलों से चौक बनाना, ८ फूलों की सेज विठाना, ९ दाँत, बल
और अंगों का रंगना, १० गृहसज्जा, ११ शयनरचना, १२ अलतरंग
बनाना, १३ गुलाबजल आदि छिड़कना १४ चित्रायोग (तरुण को वृद्ध,
वृद्ध को तरुण बनाना), १५ माला गुंथना, १६ सिर पर फूल सजाना,
१७ नेपथ्ययोग (वस्त्रभूषणादिसज्जा), १८ कर्णफूलादिरचना, १९ इत्र-
फुल्लेन बनाना, २० भूषण योजना, २१ इद्रजाल, २२ प्रसाधन-सामग्री
बनाना—कीचुमार योग, २३ हस्तलाषव, २४ शाक-पक्वान आदि बनाना,
२५ शरवत आसवादि पेय निर्माण, २६ सिलाई, २७ बेलबूटे काटना, २८
पहेली-बुझाना, २९ अत्याक्षरी, ३० कठिन पदों का अर्थ करना, ३१-
पुस्तकवाचन, ३२ नाटकदेखना दिखाना, ३३ समस्यापूर्ति, ३४ छाट बुनना,
३५ तर्ककर्म (कातना), ३६ तर्कण, ३७ वास्तुविद्या, ३८ रत्नपरीक्षा,
३९ धातुवाद (कीमियगरी), ४० मणिराग ज्ञान, ४१ खाना की विद्या,
४२ वृक्षायुर्वेदयोग, ४३ मेघ कुक्कुट लावन-शुद्ध-विधि, ४४ शुक्सारिका-

प्रत्यक्ष ज्ञान, ४५ उत्तादन (उबटन) लगाना, ४६ देशनाजंनकौशल,
 ४७ अगुलि सकेत से क्यन, ४८ विद्वशी भाषा-ज्ञान, ४९ देशभाषाज्ञान,
 ५० देवीलक्षणों के आधार पर भविष्यत्कथन, ५१ मन्त्रमातृका (निर्माण),
 ५२ स्मरणमातृका, ५३ सपाट्ट, ५४ मानसी काश्चक्रिया, ५५ त्रिग-
 विन्ध्य, ५६ छलितक योग (ऐदारो), ५७ जनिघान कौपच्छन्दो ज्ञान,
 ५८ बख्तोपा, ५९ द्यूतविशेष, ६०. पाना-नेलना ६१ बच्चे खिलाना,
 ६२ बंनार्यकी विद्या (शिष्टाचार), ६३ वैजयिकी विद्याज्ञान, और ६४
 वैतालिकी विद्या ॥ १०६ ॥

सृष्टि विद्वत्त्वा विधिर्नैव तावन्नन्यापि नीनोगरि यौवनेन ।

वैदग्ध्यमध्याप्य मनोभुवदमवापिता वाक्पथपारमेव ॥ १०७ ॥

जीवानु-सृष्टेति । इय तावत् विधिर्नैव अतिविश्व विश्वमतिक्रान्ता विश्वा-
 तिसामिनीत्यर्थ । 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीये'ति समास । सृष्टा निमित्ता
 अथ यौवनेन तस्य विधिहृनातिशयस्माप्युपरि नीता ततोऽप्यतिशय प्राप्ति
 त्वर्थ । अथ मनोभुवा वैदग्ध्यं प्रागन्त्यमध्याप्य वाक्पथस्य वाङ्मार्गस्य
 पारम्परतीरमवाङ्मनसगोचरत्वमेवावापिता अत्र श्रेणैकस्यानेकधर्मसम्बन्ध-
 कथनान् एकस्मिन्नर्थवानेकमिन्चुक्तलक्षणनर्थाविभेद ॥ १०७ ॥

अन्वयः—विधिना एव इय तावत् जनिविद्वत्त्वा सृष्टा, यौवनेन तस्य अपि
 उपरि नीता, मनोभुवा वैदग्ध्यम् अध्याप्य वाक्पथपारम् एव अवापिता ।

हिन्दी—विधाता ने ही इसे (दमयन्ती को) पहिले विद्वत्विद्यायिनी
 (जगन्मयिनी) रचा, तर्पाई द्वारा उसके भी ऊपर ले जायी गयी और
 मनोज्ञ (काम) ने तो विदग्धता सिखाकर वागगोचरत्व (वर्णनाशक्यता)
 को ही पहुँचा दिया ।

टिप्पणी—दमयन्ती जन्मकाल से ही त्रिलोकसुन्दरियों की अपेक्षा सुन्दर
 थी, तास्य आने पर वह अत्यधिक सुन्दर हो गयी और जब हृदय में
 कामनाएँ जगने लगी तो समस्त व्यापार-चातुर्यं सीखकर तर्पाणी कामिनी
 दमयन्ती का सौन्दर्य वर्णनातीत स्थिति को प्राप्त हो गया । भाव है कि
 दमयन्ती के त्रिलोकजयी सौन्दर्य का वर्णन सन्नव नहीं है । मन्लिनाथ के

अनुसार तम से एक का जनेक धर्मों में सबध-कथन होने के कारण पर्याय अलंकार है, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १०७ ॥

इति स चिकुरादारभ्येता नखावधि वर्णयन्
हरिणरमणीनेत्रा चित्राम्बुधौ तदनन्तर ।
हृदयभरणोद्वेलानन्द* सखीवृतभीमजा-
नयनविषयीभावे भाव दधार धराधिप* ॥ १०८ ॥

जीवातु—इतीति । इतीत्य स धराधिपो नलो हरिणरमणीनेत्रामेता भ्रंमो चिकुरात् केशपाशादारभ्य नखावधि पदाङ्गुष्ठनखान्त वर्णयन्चित्राम्बुधौ आश्चर्यसागरे तदनन्तर प्लवमानान्तरङ्गस्तथा हृदये भरणात् पूरणात् उद्वेलो नि सीम आनन्दो यस्य स सन् सखीवृताया भीमजाया भैम्या नयनविषयीभावे दृगोचरत्वे भावमभिप्राय दधार, तस्या प्रत्यक्षीभवितुमैच्छदित्यर्थं ॥ १०८ ॥

अन्वय — इति स धराधिप हरिणरमणीनेत्राम् एता चिकुरात् आरभ्य नखावधि वर्णयन् चित्राम्बुधौ तदनन्तर हृदयभरणोद्वेलानन्द सखीवृतभीम-जानयनविषयीभावे भाव दधार ।

हिन्दी—इस प्रकार उस घरती के स्वामी (राजा नल) ने हरिण की रमणी (हिरनी) के समान नयनवाली इस (दमयन्ती) का केशपाश से आरम्भ करके नखपयन्त वर्णन करते हुए आश्चर्य सागर में तिरते अतस् वाला हो, हृदय के परिपूर्ण हो जाने से तट की अतिक्रांत करते आनन्द से युक्त होकर सखियों से घिरी भीमसुता (दमयन्ती) के नेत्रों का विषय होने (प्रकट हो जाने) की इच्छा धारण की ।

टिप्पणी—उपर्युक्त प्रकार से दमयन्ती के नख-शिख का विस्तृत वर्णन करते हुए सम्मुख दमयन्ती के त्रिलोकातीन सौन्दर्य को निहार कर राजा नल का हृदय आश्चर्यमय आनन्द से इतना परिपूर्ण हो गया कि वह अब उसके सम्मुख प्रकट होने को विवश हो गया । जैसे उबार आने पर सागर तट का अतिशयण करके बहने लगता है, आश्चर्य-आनन्द से परिख्यात नल का अत करण भी उमी स्थिति में ही गया । अत्यन्त हर्ष हुआ उसे । और वह दमयन्ती के सम्मुख प्रकट हो गया । विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा, अतिशयोक्ति, द्येयानुप्रास अलंकार हैं, च द्रवलाकार ने रूप उममा की

सृष्टि को मान्यता दी है। यह हरिणी छन्द है—नसमरसला ग पड्वेदंहुँवै-
हंरिणी मता। जयात् त्रिसके चारो चरानो मे समहसवह वान इव क्रम से
होते हैं—१ नाग (III), १ मगा (IIS), १ मगण (SSS), १ राग (SIS),
१ राम (IIS), एक लघु (I), १ गुरु (S)=१७। हरिणी छन्द के प्रत्येक
चरण में ६, ४, ७, पर पति होती है ॥ १०८ ॥

श्रीहृषं =विगडराडिमृकुटालङ्कारहीर सुन
आहीर सुपुवे जितन्द्रियचय मामलादेवी च यन् ।
गोडोर्वीशकुलप्रशस्तिमिति भ्रानयंत्र तन्महा-
काव्ये चाक्षिण नैपथीयचरिते माँजामत्सप्तम ॥१०९॥

जीवानु—श्रीहृषंमित्यादि। गोडोर्वीशकुलप्रशस्तिमितिर्नामास्य वृत्
प्रदयं तद्भ्रातरि तन्ममानकवृत्क इत्यर्थ ॥ १०९ ॥

इति मन्त्रिनायनूरिविरचिते 'जीवानु'नमाह्वाने
सप्तम सर्गं समाप्त ॥ ७ ॥

— ० —

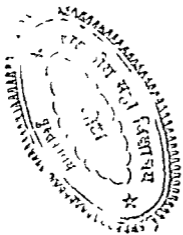
अन्वय—श्री हृषं च यम्, गोडोर्वीशकुलप्रशस्तिमिति भ्रातरि
चाक्षिण तन्महाकाव्ये नैपथीयचरिते सप्तम सर्गं जानन् ।

हिन्दो—दो चरणों का पूर्ववत् अर्थ। 'गोडोर्वीशकुलप्रशस्तिमिति' के
सहोदर भाई, चाह उस महाकाव्य नैपथीयचरित में सप्तम सर्ग पूर्ण हुआ।

टिप्पणी—इस श्लोक में यह सङ्केत दिया गया कि नैपथकार श्रीहृषं ने
'गोडोर्वीशकुलप्रशस्तिमिति' नामक प्रशस्तिनाम्य भी रचा था। नैपथीय
चरित का भ्राता, एक कवि की ही वृत्ति। तृतीयचरण में 'नैपथीयचरिते'
का पाठांतर 'वैरसेनचरिते' भी है ॥ १०९ ॥

श्रीहृषरचित 'नैपथीयचरिते' का सप्तम सर्ग समाप्त ।

— ० —



नपैवीयचरितम्

अष्टमः सर्गः

अथाद्भुतेनास्तनिनेयमुद्रमुद्रिद्रोमापनम् पुवानम् ।
दृशा पनुन्ता सुदृश समन्ताः पुता च नीमस्य महीनधोन ॥ १ ॥

जीवानु—अथेति । अथ नन्नादुनांवात्तरनद्भुतेन दमयन्तीनामात्कार-
चन्द्रविस्मयवशेन अस्ता निनेयमुद्रा निनीचनव जो यस्य त निनिनेयमित्यर्थ ।
उन्निद्रोमाप हृष्टोमापमिति च विस्मयानुभावोक्तिः । पुवानम् नन्मस्य-
नाद्भुतेन नन्तरसाक्षात्कारविस्मयेन अस्तनिनेयमुद्रा उन्निद्रोमापो पुत्रउप-
रति परिणामः कार्यः । ता यमो नासद सनस्ता सुदृश छिन दृशा पनु-
रन्तिद्रोमा ददुष्टिरित्यर्थः । तथा महीनधोपो नृदेवेत्यस्य नीमस्य मुता मीनी
च पूर्वोक्तविस्मयानुभववती यवतिरवेति भावः । त दृशा पवावित्यर्थः । मीन्या
पृथुनादानदंनित्यानुपपन्नपूर्वकत्वात्साविद्येपद्योतनार्थः ॥ १ ॥

जन्वप—अथ जद्भुतेन जन्वतिनेयमुद्रम् उन्निद्रोमापो पुवानम् अनु ता
सनस्ता सुदृश महीनधोन नीमस्य मुता च दृशा पनु ।

दिन्द्री—नदनतर (नर के प्रत्यय ही जाने का पञ्चात्) अद्भुत (दमयन्ती-
रूप शक्ति) से पलक मनाता त्यागे, रोमाचित तथा इन (नर) को वे सब
मुन्यनार्थ (सखियाँ) और घरती के इद्र नीन की पुत्री (दमयन्ती) दृष्टि से
(जैसे) पीने लगी ।

टिप्पणी—अद्भुत दमयन्ती और उनके अद्भुत समाज की देख कर नर
तो अनिनेय और रोमाचित हो ही रहे थे, उन मूर्ति-दमयन्ती तथा आकर्षक
नर को देख कर दमयन्ती और सभी समूह भी अभिन्त हो उठा और नर
को अत्यन्त निहारने लगा । 'उन्निद्रोमस्य' मान्त्रिक भाव का द्योतक है ।
विद्वान्तर के अनुकार धैर्यानुशास और नावोद्य जन्मद्वार हैं । इस मर्म मर्म
में शायद उन्निद्रोम का प्रयोग किया गया है ॥ १ ॥

कियच्चिर दैवतभाषितानि निह्नोतुमेन प्रभवतु नाम ।

पलालजालं पिहित स्वय हि प्रकाशमासादयतीक्षुडिम्भ ॥ २ ॥

जीवातु—नन्वयमिन्द्रादिवाक्यानिन्मेष कथमासा प्रादुरासीदित्यप्रोत्तर-
माह—कियदिति । दैवतभाषितानि आहत्य एव दूत्यमाचरत्वेवरुपाणीन्द्र-
वाक्यादि कियच्चिर कियन्न बहुकालमित्यर्थं । जत्यतसयोगे द्वितीया अध्याय
विशेषणत्वात् किमिति नपुसकलिङ्गनिर्देश । क्रियाध्ययाना भेदकान्धेकत्वेऽपि
इति नपुसकलिङ्गशेषेऽप्यमर । एव नल निह्नोतुमाच्छादयितु प्रभवन्तु धक्नुवन्तु
नामानि धक्नुवन्तु खल्वित्यर्थं । सम्भावनाया लोट् । तथाहि—पलालजालं
प्रीष्टादितृणपूर्णं पिहित सरक्षणार्थमाच्छादित इक्षुडिम्भ इक्षुप्ररोह स्वय
स्वत एव प्रकाश प्रादुर्भावमासादयति इक्षुडिम्भुरस्येव कामिनोऽप्यतिप्रौढरागस्य
दुर्वारो विकार इति भाव । अथ नलेक्षुडिम्भयोर्विम्बप्रतिबिम्बभावेन समान-
धर्मनिर्देशाद् दृष्टान्तालङ्कार ॥ २ ॥

अन्वयः—दैवतभाषितानि कियच्चिरम् एन निह्नोतु प्रभवतु नाम, हि
पलालजालं पिहित इक्षुडिम्भ स्वय प्रकाशम् आसादयति ।

हिन्दी—देवताओं के कथन कितने समय तक इस (नल) को छिपा
रहने देने में समर्थ होते, कारण कि तिनको से डका ईख का अक्षुर अपन आप
ही प्रादुर्भूत हो जाता है ।

टिप्पणी—दमयती के प्रति दुर्वार अनुराग से पूर्ण नल कब तक अपने
को छिपाये रखता ? देवों ने जो उसे अर्थात् तिडि ही थी, कब तक वह
उससे छिपा रह जाता ? अनुराग वेग ने नल को स्वय प्रत्यक्ष कर दिया ।
वह ईख के पीछे के समान सब आवरणों को उतार कर प्रत्यक्ष ही गया ।
सूखे तिनको का जात कब तक इक्षुडिम्भ को अच्छादित रख सकता है ? प्रणय
छिपाये नहीं छिपता । उसकी दूवारता अप्रतिहत होती है । मल्लिनाथ के
अनुसार यहाँ दृष्टात अलंकार है, क्योंकि नल और इक्षुडिम्भ में विम्ब-
प्रतिबिम्ब भाव से समान धर्म का निर्देश है । विद्याधर के अनुसार अर्थात्
न्यास है ॥ २ ॥

अपाङ्गमेष्याप दृशोर्न रश्मिर्नलस्य भेमोमभिलष्य यावत् ।

स्मराणुग सुभ्रुवि तावदस्या प्रत्यङ्गमापुद्गलशिक्ष भमज्ज ॥ ३ ॥

जीवानु—जपाङ्गमिति । अस्य नलस्य दृशो रश्मिः नैमीमनिप्य काम-
यिन्वा दावदपाङ्गन्तस्या अपाङ्गदेवानपि नाप नैमी तु नापति किमु वक्तव्य
तावदेव स्मरागुगोऽप्या सुभ्रुवि नैम्या प्रत्यङ्गानुद्धृच्छि सभूलाप्रमिन्पर्यं ।
अनिवित्रावययीभाव । ममज्जेत्यद्योऽनरातोक्तिः । अत्र दृष्टिगतस्मरणानयो
कारणयो पौर्वापर्यमङ्गोक्तिरित्यतिशयोक्तिभेद ॥ ३ ॥

जन्वय —अस्य दृशो रश्मि नैमीम् जमिलप्य दावत् अनाङ्गम् अपि न
आप तावत् एव स्मरागुग अम्या सुभ्रुवि प्रत्यङ्गम् जपुद्धृच्छि ममज्ज ।

हिन्दी—इत (नल) के नयना की किरण भीमसुता की कामना करके
दृग्गत तक भी न पहुँच पायी थी (नेत्रा की प्रतिनिकट कोट तक भी न
पहुँची थी) कि तब तक ही काम का शीघ्रगानी बाण इस सुन्दर भ्रुकुटिवती
(दमयती) के अग-अग से पुछ से शिवा तक (कोट से पूछ तक, सपूर्ण)
पूरी तरह धुत्त गया ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल के मानिलाप देखने ही, अनुरागमयो
दृष्टि पडने ही दमयती उसके प्रति पूर्णतया जाहृष्ट हो कामाधीना हो गयी ।
मयन किरण की अपेक्षा काम-बाण अधिक तीव्रगामी प्रभावित हुआ । मन्लि-
नाय के अनुसार यहाँ दृष्टिपान और स्वरपात कारणों की पौर्वापर्यमङ्गोक्तिरुप
अतिशयोक्तिभेद है, विद्याधर ने भी अनिनवोक्ति का उल्लेख किया है ॥३॥

यदक्रम विक्रमशक्तिमाम्यादुपाचरद् द्वावपि पञ्चबाण ।

चक्रे न वैमत्यममुष्य कस्माद् बाणैरनर्द्धाङ्गविभागनाग्नि ॥ ४ ॥

जीवानु—सुनरप्ययोऽप्यापुरामेवाह—यदिति । पञ्चबाणो विषमेषु
द्वानपि नैमीनल अक्रममविद्यनातक्रम धृानदिन्पर्यं विक्रमेण या शक्तिस्तस्या
गाम्यात् नाम्यमाभ्य स्यन्तोपे पञ्चमी । उपाचरत् उपावचार विषमं बाणै
युापत् उभावप्पवैषम्येण प्रहृतवानिति । अमुष्य समोचरणस्य अर्धांशो
विनागभाजो न भवतीति तयोक्तं विषमसङ्ख्यं अशक्यसमविभागेरित्यर्थः ।
बाणै शरै कर्तुमि. पञ्चनिरिति भाव । वैमत्यममन्मति कस्नात् कथ न चक्रे
कृ= महच्चित्रमिति भाव । अत्र विषमैर्युापदुनयत्र समप्रहारविरोधस्य स्मर-
महिम्ना समाधानाद्विरोधानासोऽङ्कार ॥ ४ ॥

अन्वय — पञ्चबाण द्वौ अपि अक्रम विग्रमशक्तिसाम्यात् यत् उपाचरत् तत् अमुष्य अनर्द्धाद्धैविभागभाग्नि वाणं वैमत्य कस्मात् न चक्रे ?

हिन्दी—पाँच बाणों वाले (काम) ने दोनों (नल-दमयती) को ही जो बिना प्रमके—एक साथ विक्रम (उत्साह) और शक्ति (बल) की तुल्यता से जो (वश में) कर लिया, उसमें इस (काम) के आधे-आधे भागों (दो दो) में न बँट जाते बाणों ने अममति क्या नहीं (प्रकट) की ?

टिप्पणी—काम के बाण पाँच हैं। उचित तो यह होता कि नल दमयती दोनों को एक साथ वश में करने के लिए दोनों पर एक समय एक समान सन्या के अश्रु से प्रहार होता। परन्तु यह संभव नहीं था, क्योंकि काम-बाणों की सख्या विषम है, सम नहीं। पाँच को पूर्णतया दो भागों में नहीं बाँटा जा सकता, उसमें एक बाण को दो भाग में करना पड़ेगा। इस प्रकार काम ने रीति विरुद्ध दोनों को एक साथ वश में करके अद्भुत कार्य किया। ऐसा परिपाटीरहित कार्य काम इसलिए कर सका कि उसके मन में विग्रम (उत्साह) था और तन में शक्ति (बल)। ऐसा भी संभव था कि काम पहिले पाँचों बाण छोड़कर नल को वश में करता, तदनन्तर उसी प्रकार दमयती को। पर ऐसा करने पर समानुरागी नल दमयती का एक साथ अनुराग दर्शन न हो पाता। पीर्वापर्य हो जाता। बाईं-बाईं बाणों का उपयोग भी उचित नहीं था, क्योंकि उसमें एक बाण तोड़ना पड़ता। एक पर दो, दूसरे पर तीन का प्रहार भी तुल्यानुराग में बाधा देता। इमने अतिरिक्त बाणों में 'वैमत्य' अर्थात् असहमति भी उत्पन्न हो जाती। जिसे तोड़ा जाना, वही असहमति प्रकट करता। अतः काम ने अपने विक्रम और शक्ति की तुल्यता—मन के उत्साह और तन की शक्ति का समानता से उपयोग कर नल-दमयती को वश में किया। कोई अधिकारी व्यक्ति भी अपने कार्य-कर्ताओं में वैमत्य की आशंका करके इसी प्रकार उपायात्तर से कार्य मिट्ट करता है, अतः काम ने बाणों में 'वैमत्य' न आने दिया। भाव यह है कि नल-दमयती का समानुराग था, एक साथ सघटित। न किमी का अनुराग धम था, न अथिक्। सम, एक समय में उत्पन्न। 'विग्रमशक्तिसाम्यात्' के अर्थ अर्थ भी किये गये हैं—'वे पणिण क्रम आक्रमण ग्रहण तत्र या शक्ति

सामर्थ्यं तेन नाम्नात्तुल्यत्वात् । 'बलेष्पोतन्यादेन' इति यावत् । (प्रकाश-
टीका) । पशियो के एक साथ अनाज चुगने की शक्ति के समान काम ने भी
स्वशक्ति दिनायी । जैसे कबूतर खल्लान में पडे अन्नकणों को एक साथ
चोंच से पकड़ता है वैसे ही पचवाप-काम ने दोनों को एक साथ स्ववश कर
लिया । इसी कारण बाणों के अमम होने पर भी विरोध नहीं हुआ । अथवा
पशियों के एक साथ मिला कर दाना-चुगने के समान पाँचों बाणों ने मिलकर
एक साथ नल दमयती को वश में कर लिया । अथवा नल है विक्रम-तुल्य
और दमयती है शक्तिमत्ता । पाँच पुष्पां (बाणों) में काम ने एक साथ
विक्रम-शक्ति की पूजा की । जाग्य यही है कि प्रत्येक दृष्टि से—काल,
परिमाण्यादि को ध्यान में रखने हुए नल-दमयती का परस्परानुराग तुल्य था ।
मन्त्रिनाथ के अनुमार यहाँ विरोधानास अलकार है, क्योंकि विषमसह्यक
बाणों द्वारा एक साथ दो स्थानों पर एकना प्रहार करने में विरोध है,
बिनका मन्त्रान कान के जघटित घटित करने की क्षमता के आधार पर
क्रिया गया है । विद्याधर के अनुमार क्षेत्रानुप्राण और अतिसामोक्ति अलकार है ।

नन्मिन्नलोष्माविनि साञ्चरज्जन् क्षण क्षां क्वेह स इत्युदान्त ।

पुरः स्म तस्या बलनेऽभ्य चित्तं दूत्यादनेनाथ पुनर्न्यदति ॥ ५ ॥

जोडानु—नन्मिन्निति । सा भौमी तस्मिन् पुनि अनौ नल इति ह्यसादि-
मुखध्रुतह्यसवादानु इति मत्वा क्षा क्षामन्त्रालमत्यन्तनयोमे द्वितीया ।
बन्वरज्जन्नुनरलाञ्जवत् । एतेन रूपं सूचित । पुरे न नल क्वेहेऽभ्यमम्भाविन-
मिति मन्वेत्यर्थ । इतिर्नैवोन्तार्थं वादप्रयोग । क्षामुदास्त उदासीना स्थिता ।
जाते कर्तरि लृट् । एतेन विषाद सूचित, तथा चास्या भावनन्विरासी-
दित्यर्थ । अथ नलस्य तस्या भाविसुन्विमाह—अभ्य नलस्य चेत् पुर प्रथम
तस्या दमयत्या बलने स्म चचालेति ह्योक्ति पुन दूत्यादनेन कर्त्ता नलेव
न्यवति नीचहृये स्थितभ्य इरमनुचिनमिति बलात्कारेण निर्वातमिति
विषादोक्ति, समद्रष्ट एवानयो रिति भाव ॥ ५ ॥

अन्वय —सा तस्मिन् अनौ नल इति क्षाम् जन्वरज्जन्, पुन स इह
क्व इति क्षाम् उदास्त, जय अभ्य चित्तं पुर तस्या बलने स्म, अनेन पुन-
दूत्याद् न्यवति ।

हिन्दी—वह (दमयन्ती) उसने 'यह नल है'—ऐसी धारणा करके क्षण भर अनुरक्त हुई, फिर यह विचार कर क्षण भर उदासीन हुई कि वह (नल) यहाँ (कुडिनपुरी) में कहीं से आ सकता है? और इम (नल) का मन दमयती के प्रति विचलित हुआ, परन्तु उसने दूत होने के कारण उसे लौटा दिया ।

टिप्पणी—नल दमयती के समानुराग की एकप्रकारता का संकेत । दमयती का मन पहिले नल की ओर चला, फिर उदासीन हुआ । इसी प्रकार नल का मन भी पहिले दमयती की ओर चल हुआ, पुन लौट आया । दोनों के हर्ष-विषाद का सूचन यहाँ हुआ है, अत मन्त्रिनाथ के अनुसार भावसन्धि ॥ ५ ॥

क्याचिदालोक्य नल ललज्जे क्यापि तद्भासि हृदा ममज्जे ।

त कापि मेने स्मरमेव कन्या भेजे मनोभूवशभूयमन्या ॥ ६ ॥

जीवातु—अथ तत्सखीनामपि तदा शृङ्गारभावा बभूवुरित्याह—क्येति । क्याचित्कस्या नलमालोक्य ललज्जे लज्जित, भावे लिट् । क्यापि तद्भासित स्लाक्ष्ये हृदा ममज्जे हृदि तन्मयत्व भावितमित्यर्थ । एतेन तत्प्राप्तिसङ्कल्पो गम्यते, भावे लिट् । कापि कन्या त नल स्मरमेव मेने, इति विस्मयोक्ति अया कन्या मनोभूवो वशभूय वशत्व 'भूवो भावे' इति कथम् । भेजे । एतेन अतीसुख्य गम्यते ॥ ६ ॥

अन्वय —नलम् अलोक्य क्याचित् ललज्जे, क्या अपि तद्भासि हृदा ममज्जे, का थपि कन्या त स्मरम् एव मेने, अन्या मनोभूवशभूय भेजे ।

हिन्दी—नल को देखकर कोई (सखी) लज्जित हो गयी, कोई उस (नल) की सौन्दर्य प्रभा में हृदय में मग्न हो गयी, कोई क्या उसे काम ही मानने लगी और कोई अन्य मनोभव (काम) के वश ही हो गयी ।

टिप्पणी—नल के प्रभावशाली व्यक्तित्व का वर्णन । समूचा सखी समाज नल से प्रभावित हो गया । विद्याधर के अनुसार भावोदयजाति अन्वय ।

वस्त्व कुतो येनि न जानु शेकुस्तं प्रष्टुमप्यप्रतिभाति भारात् ।

उत्तस्युरभ्युत्तिनिवाञ्छयेव निजासनान्नेकरसा वृशाह्वय ॥ ७ ॥

जीवातु—अन्वमिति । वृषाङ्गुलं स्त्रिय एकरसा जानन्दपरवशा
 सत्यं इत्यर्थं । अत एवाप्रतिनामा जप्रतिननेरतिनारादतिनहृत्कादिति कर्मव्युत्प
 मोहानिर्वादिभ्यं । न नल अन्व वृत्तो वा जायते इति प्रष्टुमिति जानु
 क्त्वानि न शक्ये । किञ्च जन्मुत्पत्तिवाङ्मया प्रन्मुत्पानेच्छनेवोक्तस्यु निजा-
 सनात् नोक्तस्यु , तन्म तेजो विनेषाद्दशात्मनस्यैवोक्तस्यु । न तु वदुया र-
 पारवन्मादिति भावः ॥ ७ ॥

अन्वयः—वृषाङ्गुल एकरसा अप्रतिमातिनारात् त कः त्व कुत वा इति
 प्रष्टुम् जनि जानु न शक्ये, अन्मुत्पत्तिवाङ्मया इव निजासनात् न वक्तव्यु ।

हिन्दी—तकती सखिमा एर रस (लज्जा, नय, अनुराग, जानन्द जादि
 से परवग) हो जप्रान्नता की बहूला के कारण उससे यह पूछने में भी
 समय न हो सकी कि तुन (नल) कौन हो अथवा वहाँ से जाये ही ? और
 (स्वानामर्थ) मानो उठने की इच्छा से अपने आसन में न उठ पायीं ।

टिप्पणी—दमयन्ती की नखियाँ नल को देखकर अनेक भावों से इतनी
 अभिभूत हो गयीं कि वे सामान्य शिष्टाचार के अनुसार यह भी न पूछ सकीं
 कि वह कौन है, वहाँ से जाया है, किस कारण से आया है—जादि ?
 स्वागतार्थ उठ भी न पायी, यद्यपि इच्छा थी । दो शो बोले अनुर ये, किन्ते
 वे कुछ भी न कर पायीं—(१) जप्रान्नता का अतिनार (सखियाँ बालाएँ
 थीं, बाक्चतुरा प्रान्ना नहीं), (२) उठने की इच्छा का भार (स्वागतार्थ
 उठने की इच्छा तो बहुत थी, पर वह भी बोझ बन गयी) । नारवाही
 कैसे कुछ कर सकती है ? 'नैररसा अन्मुत्पत्तिवाङ्मया इव वक्तव्यु' भी
 पाठांतर है । अर्थ होगा—जनेकरसां (भावशक्तता) से अभिभूत हो, कुछ
 बोल तो न पायीं, पर आसन पर खड़ी हो गयीं । विद्याधर के अनुसार
 उत्प्रेमा जलकार ॥ ७ ॥

स्वाच्छन्दमानन्दपरम्पराया नैमी तमालोक्य किनप्यवाप ।

महारथ नितारिणीव वारामासाद्य धाराधरकेलिकालम् ॥ ८ ॥

जीवातु—स्वाच्छन्दमिति । नैमी त नलमालोक्य किनप्यनिर्वाच्यमानन्द-
 परम्पराया स्वाच्छन्दमुच्छ्रुत्स्वम् । 'स्वच्छन्दो निरवग्रह' इत्यनरः ८

नियरिणी गिरनदी घाराघरकेलिकाल मेघविहारकाल वर्षाकालमासाद्य वारा
वारीणाम् । 'आप स्त्रीभूमिन् वारारि' इत्यमर । महारयमिवाप ॥८॥

अन्वय — तम् आलोक्य भूमौ किम् अपि ज्ञान-दपरम्पराणां स्वाच्छद्य
नियरिणी घाराघरकेलिकालम् आसाद्य वारा महारयम् इव अवाप ।

हिन्दी—उस (नल) को देख कर भीमसुता कुछ ऐसी अनिर्वर्तनीय
ज्ञान-द की परंपराओं की स्वच्छदता को प्राप्त हो गयी, जैसा कि नियरिणी
(पगडी नदी) मेघों के झीडा काल (वर्षाकाल) को प्राप्त कर जल के
महान् वेग को प्राप्त कर लेती है ।

टिप्पणी—नल को देख कर दमयती लोकोत्तर ज्ञान-द और हर्ष को प्राप्त
हो गयी । कवि ने उसकी तुलना उस पर्वतीय नदी से की, जो वर्षाकाल में
जलवेग से उमड़ उठती है । विद्याघर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमा ॥८॥

तत्रैव मग्ना यदपश्यदग्रे नास्या दृग्स्याङ्गमयास्यदन्यत् ।

नादास्यदस्यै यदि बुद्धिधारा विच्छिद्य विच्छिद्य चिरान्निमेप ॥ ९ ॥

जीवातु—तत्रैति । अस्या भूम्या इक् दृष्टिरस्य नलस्य यत् अङ्गमग्रे प्रथम-
मपश्यत् तत्रैव मग्ना सती जयदस्याङ्ग नामास्यत् नागमिष्यत्, यदिनिमेप
पक्षमपात् चिराद्विच्छिद्य विच्छिद्य विरमय्य विरमय्य बुद्धिधारां ज्ञानपरम्पराम्
अस्यै इति नादास्यन् न दद्यात् । क्रियातिपत्तौ लृट् । निमेपद्विच्छिद्येदा-
दङ्गान्तरप्राप्ति, न तु तृप्नयेति भाव ॥ ९ ॥

अन्वय—अस्या इक् अस्य यत् अङ्गम् अग्रे अपश्यत् तत्र एव मग्ना अन्यत् न
ध्यास्यत् यदि निमेप चिरात् विच्छिद्य विच्छिद्य बुद्धिधाराम् अस्यै न अदास्यत् ।

हिन्दी—उस (दमयती) की दृष्टि ने जग (नल) के जिस अंग को
पहिले देखा, उसी पर मग्न हुई वह दूसरे (अग) पर न जाती यदि नेत्र-
सङ्कोच (पलक झपटना) बार-बार (दृष्टि का पूर्व दृष्टि अंग से) विच्छेद
करके इसे बुद्धि की धारा (ज्ञान परंपरा, दर्शनेच्छा प्रवाह) न दे देती ।

टिप्पणी—नल का प्रत्येक अंग इतना आकर्षक था कि दमयती की
दृष्टि को उसी में निमग्न हो जाना चाहिए था, परन्तु जैसे डूबते को
धारा प्रवाह बहाकर अग्र ले जाता है, ऐसे ही नेत्र निमीलन के कारण
पूर्वदृष्ट अंग से हटकर दमयती की दृष्टि अन्य अंग को देखने लगती थी ।

यदि पलक न क्षम्यते तो दमयन्ती के नयन जिस अग को पहिले देख लेते, उसे ही निहारते रहते । हमरे अग से विरक्ति नहीं थी, वह तो पलक-क्षमक जाने से विच्छेद हो जाता था और हठी दृष्टि दूसरे पर चली जाती थी । इस श्लोक में विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार है ॥९॥

दृशापि सालिङ्गिनमङ्गमस्य जग्राह नाप्रावगताङ्गहर्षे ।

अङ्गान्तरेऽनन्तरमीक्षिते तु निवृत्य सस्मार न पूर्वदृष्टम् ॥ १० ॥

जीवानु—स्येति । सा मैत्री दृशा आलिङ्गित प्राप्तमस्य नन्वस्याङ्गामङ्गातर अप्रावगताङ्गहर्षे पूर्वगृहीताङ्गजनितानन्दे तत्सारवस्येनेत्यर्थे । न जग्राह नाज्ञामीत् । अथ क्यञ्चिदनन्तर अङ्गान्तरे ईक्षिते गृहीते तु निवृत्य पूर्वदृष्टमङ्ग न सस्मार । तस्य तस्य लोकोत्तरत्वादिति भाव ॥ १० ॥

अन्वय—सा दृशा आलिङ्गितम् अस्य अङ्गम् अप्रावगताङ्गहर्षे न जग्राह, अनन्तरम् अङ्गान्तरे ईक्षिते तु निवृत्य पूर्वदृष्टम् अङ्ग न सस्मार ।

हिन्दी—जम (दमयती) ने दृष्टि द्वारा आलिङ्गित इस (नल) के अग को पूर्वदृष्ट अगो से ज्ञात हर्ष परम्परा के कारण नहीं ग्रहण किया (देखा), तत्पश्चात् अगातर (अथ अग) देखने पर पुन परावृत्त हो पूर्वदृष्ट अग का स्मरण नहीं किया ।

टिप्पणी—मन का प्रत्येक अग आकर्षक था । दमयन्ती जिस अग को देखती, हर्ष विभोर हो जाती और पहिले अग को भूल जाती । कवि का कथन है कि इसमें यह कारण नहीं है कि पूर्वदृष्ट अग सुन्दर नहीं था, ऐसा भी नहीं था कि अन्य अग से उत्पन्न हर्ष के कारण वह अथ अग को देखती हो । वस्तुतः नल का प्रत्येक अग ऐसा रमणीय था कि दमयन्ती जिसे देखती, उसका आनन्द द्विगुणित हो जाता और आनन्दतिरेक में अन्य पूर्वदृष्ट अग का स्मरण ही न हो पाता । इस श्लोक में अग के दृष्टि द्वारा आलिङ्गित होने कारण होने पर भी उसका ग्रहण कार्य नहीं कहा गया और उसमें हेतु कहा गया पूर्वदृष्ट अग इस कारण विद्याधर के अनुसार उक्ति-निमित्त विशेषोक्ति और अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ १० ॥

हिस्त्रैकमस्यापथन विशन्ती तद्दृष्टिरङ्गान्तरभुक्तिसीमाम् ।

धिर चकारोभयलामलोभात् स्वभावलोला गतमागतश्च ॥ ११ ॥

जीवातु—हिवेति । स्वभावलोला अभिमतविषयलाभे किमु वक्तव्यमिति भाव । तदृष्टिर्भेमीर्षष्टिरस्य नलस्य एवमपघनमवयवम् । 'अपघनोऽङ्ग'-मित्यदन्तो निपात । हित्वा अङ्गान्तरभुक्तिसीमामवयवान्तरदेश विद्यन्ती चिरमुभयो लाभे लोभाद्गर्भनात् । 'उभादुदात्तो नित्यम्' इत्यत्र पृथक्सूत्र करणादेव नित्यमजादेशे सिद्धे पुनर्नित्यग्रहणमुभयशब्दस्य वृत्तावप्ययजयमिति कैपट । गतमागतञ्च चकारा । उभयोरपि तथा रमणीयत्वादि भाव ॥११॥

अन्वय—स्वभावलोला तद्दृष्टि अस्य एकम् अपघन हित्वा अङ्गान्तर-भुक्तिमीमां विद्यन्ती उभयलाभलोलात् चिर गतम् आगत च चकार ।

हिन्दी—स्वभावत चचल उस (दमयन्ती) की दृष्टि इस (नल) के एक अंग को छोड़ कर अय अंग को देखने की सीमा में प्रविष्ट होनी हुई जानो (पूर्वदृष्ट जीर पश्चाद्दृष्ट) अवयवो (को देखने) के लोभ के कारण चिर काल तक गमनागमन करती रही ।

टिप्पणी—नल का प्रत्येक अङ्ग सुन्दर था । जब एक अङ्ग से हट कर दमयन्ती की दृष्टि नल ले अन्य अङ्ग पर पड़ती तो पहिले से कठिनता से हट पाती । सब ही तो अङ्ग भले लगते थे । 'जिससे नयन हटें, जिस पर स्थिर रहे ? एक तो नयन प्रकृत्या चचल, उस पर यह स्थिति । एक व्यापारी भी तो देशांतर जाते हुए अपनी वस्तु बेचने और नयी वस्तु खरीदने में ऐसे ही गमनागमन किया करता है ! क्या बेंचे, क्या खरीदे ? ॥ ११ ॥

निरीक्षितञ्चाङ्गमवोक्षितञ्च दृशा पिबन्ती रमसेन तस्य ।

समानमानन्दमिय दधाना विवेद भेद न विदभंसुभ्रुः ॥ १२ ॥

जीवातु—निरीक्षितमिति । इय विदभंसुभ्रुर्वेदभो तस्य नलस्य सदग्धि निरीक्षित च अविक्षित चाङ्ग दृशा रमसेन पिबन्ती तृप्णया पश्मन्ती समान-मानन्द दधाना भेदमिद दृष्टपूर्वमिदमदृष्टपूर्वमिति विवेक न विवेद । उभे अप्य-नवद्यया अपूर्ववदेव पीते इत्यर्थ ॥ १२ ॥

अन्वय—इय विदभंसुभ्रु तस्य निरीक्षितम् अवीक्षित च अङ्ग दृशा रमसेन पिबन्ती समानम् आनन्द दधाना भेद न विवेद ।

हिन्दी—यह विदभंसु की सुन्दर भ्रुकुटिवाली (दमयन्ती) जान (नल)

के सादर देखे और विशेष कारण से अदेखे जङ्ग को दृष्टि से जीत्सुक्य, हर्ष-
नृष्णापूर्वक पीती हुई एक भी अमरता प्राप्त करती (दोतो—देने-जदेखे)
अङ्गों में भेद (तारतम्य) न जान पायी ।

टिप्पणी—सभी जङ्ग सुन्दर थे । सो दमयन्ती को देखे और अदेखे
अङ्गों के बीच कुछ भेद, किमी प्रकार का भेद ही न जान होता था । उसका
हृदय उन्मुक्तता, प्रमत्तता और जङ्गों को देखने की नृष्णा से ऐसा पूर्ण हो
रहा था कि वह जैसे प्रत्येक अङ्ग को दृष्टि से पी जाना चाह रही थी ।
उसे देखे अदेखे अङ्ग में यह ज्ञात ही न हो पा रहा था कि जिनके सुन्दर
कौन है ? यह भी पता नहीं चल रहा था कि क्या देखा, क्या न देखा ?
किस अङ्ग को पूर्णतया देखा, किसे अपूरा देखा ? किमको सादर देख लिया,
किमको कारण विशेष से न देख पाया ? भावभावता और आनन्दानिरेक में
दमयन्ती की दशा उस योगिनी के समान हो रही थी, जो सर्वत्र ब्रह्म ही
को देखती है । देखे घट आदि और अदृष्ट, वाग्गोचर, श्रुतिगम्य ब्रह्म-
स्वरूप में क्या नि मार है, क्या साखान्, यह सादर विचार करती आनन्द
स्वरूप ब्रह्माशात्कार में परमानन्द का अनुभव करती है । लोक जीवन में
देखे के प्रति अवेक्षा और अदेखे के प्रति जो उत्साह होता है, वह दमयन्ती में
नहीं था । सभी तो समीचीन थे । उसे समान आनन्द हो रहा था । विद्याधर
के अनुसार अत्रिगोक्ति और काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥ १२ ॥

सूक्ष्मे घने नैपथकेशपाशे निपत्य निपन्दनरीभवद्भ्रुवाम् ।

तस्यानुवर्धं न विमोच्य गन्तुमपारि तल्लोचनवञ्जनाभ्याम् ॥ १३ ॥

जीवानु—मूक्ष्म इति । मूक्ष्मे तनीयसि घने साद्रे दृडे च नैपथस्य नलस्य
केशपाशे केशकल्पने केशपावर्धने च । 'घन साद्रे दृडे हाष्ठे पाश पञ्चादि-
वचनं' इति विश्व । निपत्य निपन्दनरीभवद्भ्रुवामेव विम्ववादयत्र यन्त्र-
लनाच्च निञ्जनीभवद्भ्रुवा तस्या भ्रुव्या लोचने एव अङ्गनी नेत्रोपमान-
पदिषी । 'अञ्जरीटस्तु खजन, दत्पमर' । ताम्या तस्य केशपाशस्य सम्बन्धिन-
मनुवर्ध तत्र सञ्चित वञ्चनञ्च विमोच्य मोचयित्वा गन्तु नापारि न मेके ।
पारमनेभावे लुङ् । दिङ्ष्टविशेषण रूपकम् ॥ १३ ॥

अन्वय—मूक्ष्मे घने नैपथकेशपाशे निपत्य निपन्दनरीभवद्भ्रुव्या
तल्लोचनवञ्जनाभ्या तस्य अनुवर्ध विमोच्य गन्तु न अपारि ।

हिन्दी—महीन और घने निपधराज के केश जाल में पडकर पल्लव-
झपकना छोड़ निष्पद हुए उस (दमयन्ती) के नयन रूप खजन उस (केश-
पाश का अनुबन्ध (बन्धन, केशावलोकन-मोह) ताटकर जाने में समर्थ न
हो पाये ।

टिप्पणी—दमयन्ती के खजन-पक्षी जैसे नयन निपधाधिपके केशों पर
ऐसे मुग्ध हो गये कि बस देखते ही रह गये, हट ही न पाये । केशों के
जाल में कैसे पक्षी खजन-नयन बन्धन तोड़कर कैसे उड़ जाते ? कठिन
बन्धन काट पक्षी उड़ ही नहीं सकते । भला आदमी अनुबन्ध (मुहायश,
काट्टीबट) तोड़ ही कैसे सकता है ? भाव यही है कि दमयन्ती के लोचन
नल के सूक्ष्म घनकेशजाल में उलझ कर रह गये । सामुद्रिक के अनुसार
हाथ, दाँत, अंगुलि-शिर और केश सूक्ष्म और घन ही शुभ होते हैं—'सूक्ष्मास्तु
पाणिदशनाङ्गुलिपर्वकेशाश्चेत्सुक्ष्मास्तु' के अनुसार दिलिप्तविशेषण रूपक है,
विद्याधरे ने श्लेष और रूपक अलंकारों का निदेश किया है ॥ १३ ॥

भूलोकभर्तुं मुखपाणिपादपद्मं परिरम्भमवाप्य तस्य ।

दमस्वसुदृष्टिसरोजराजिश्चिर न तत्याज सवन्धुबन्धम् ॥ १४ ॥

जीवातु-भूलोकभर्तुं मुखपाणिपादपद्मं परिरम्भमवाप्य तस्य ।
राजि भूलोकभर्तुस्तस्य न तत्याज सवन्धुबन्धम् ॥ १४ ॥
प्राप्यङ्गत्वादेवकवद्भावो विद्वत्पदानि तं सति परिरम्भमाश्लेषमवाप्य समाना
बन्धव सम्बन्धव । 'जातिजनपद' नृपादिना समानशब्दस्य 'स' भाव । तेषु
बन्धमाश्रित चिर न तत्याज । स्निग्धा हि बन्धव चिरमनाश्लेष्य न
मुञ्चन्तीति भाव । पद्मत्वसजातित्वात् सवन्धुत्वम् ॥ १४ ॥

अन्वय — दमस्वसु दृष्टिसरोजराजि तस्य भूलोकभर्तुं मुखपाणिपाद-
पद्मं परिरम्भम् अवाप्य सवन्धुबन्ध चिर न तत्याज ।

हिन्दी—दम की बहिन (दमयन्ती) की दृष्टिरूपा कमलावलि उस
पृथ्वीलोक के भर्ता (नल) के मुख, कर, चरण-रूप कमला का आलिंगन
प्राप्त कर (भलीभाँति देखकर) अपने सम्बन्धी (सगोत्री) का बन्धन
(दशानलिन) चिरकाल तक न छोड़ पायी ।

टिप्पणी—बहुत समय तक दमयन्ती नल के मुह, हाथ, पैरों को

वनुराग पूर्वक, टकटकी बांधे निहारती रही। नयनों का उन्मान भी कमजोर है, और मुँह, कर, चरण का भी। सो दमयन्ती के कमल-नयन और नल के मुख, कर, चरण—कमल क्या निले, दो बन्धु, दो सगोत्री निले। ये सगोत्री चिरकाल तक बैठते रहे। ऐसा होजा ही है। विद्याधर के अनुसार यहाँ धैर्यानुग्रह रूपक-समासोक्ति जलकार है ॥ १४ ॥

तत्कालमानन्दमयी भवन्ती भवत्तरानिवंचनीयमोहा।

सा मुक्तमन्तारिदशारसान्या द्विस्वादमुल्लासमनुङ्कृतमृष्टम् ॥ १५ ॥

जीवातु—तत्कालमिति । तस्मिन् काले तत्कालम् अत्यन्तसमोपे द्वितीया।

आनन्दमयी भवती जानन्दारिदशा मतीं दित्वाद्भुनयन् डीन् । तथा च भवन-
रोऽतिशयेन भवन् अनिवंचनीयो निवंचनुमशक्तो मोह अतिशयित्यस्या सा
आनन्दमनेत्यर्थः । सा भवती विमुक्तमन्तारिणोदंशे जबस्ये तयोर्भौ रती स्वादौ
तान्या द्वौ स्वादौ यस्य तद्द्विस्वादन्तादृक् स्वादमित्यर्थः । मृष्ट शुद्धमुल्ला-
समुल्लासतामनुङ्कृते मुक्तवती । 'नुञ्जोऽनर्त' इति लुङ् लृट् । आनन्दसारव-
तजालैव किञ्चिद्विद्वेदेत्यर्थः ॥ १५ ॥

अन्वय—तत्कालम् जानन्दमयी भवती भवत्तरानिवंचनीयमोहा सा
मुक्तमन्तारिदशारसान्या द्विस्वाद मृष्टम् उल्लासम् अनुङ्कृत ।

हिन्दी—उस समय आनन्दमयरूपा होती अत्यन्त लोकोत्तर (जवर्जनीय)
मोह में पड़ी उस (दमयन्ती) ने मुक्त और ससारी—दो प्रकार की दशाओं
के दो प्रकार के रस से दो-स्वाद वाले स्वादिष्ट उल्लास का भोग किया ।

टिप्पणी—उस समय दो प्रकार का अद्भुत, लोकोत्तर जानन्द निला
दमयन्ती को । ससारमुक्त योगियों के परमानन्द-ज्ञान और लोक-जीवन के
आनन्द अंश । दो स्वाद, दो रस, दो गुणा हर्षोल्लास । यह नल है, यह
जान कर दमयन्ती आनन्दमयी हुई । यह आनन्दरूपता हुई मुक्तदशा । इन
नुरसित अन्त पुर में नल कैसे ही सकते हैं ? यह हुआ मोह अथवा अन,
मूर्च्छा । यह अनिवंचनीय मोहता हुई संसारिदशा । इस प्रकार एक ही
समय दमयन्ती ने मुक्त और ससारी—दोनों दशाओं का अनुभव किया ।
विद्याधर के अनुसार भावोदय और अतिशयोक्ति जलकार ॥ १५ ॥

दूने नलश्रीभृति भाविभावा कलङ्किनीय जनितेति नूनम् ।

न स व्यघान्नेपथकायमाय विधि, स्वयं दूतमिमा प्रतीन्द्रम् ॥१६॥

जीयातु—जय भैमीदूतसम्भाषण विवधुर्नलकवदप्राणाया तस्यास्पदमनो-
चित्तं दाम्या परिहरति—दूत इत्यादि । नलस्य श्रियमिय श्रिय विभर्तीति
नलश्रीभृत् तत्सद्य इत्यर्थं । निदघनालङ्कार । तस्मिन् दूने भाविभावा
नविष्यदनुरागा इय भैमी कलङ्किनी भगवता जनिता नविष्यतीति मत्वा
जनिघातोर्लुट् । विधिविधाता इमा भैमी प्रति नैपथस्य काय एव माया कपट
वस्य त नलरूपधारिण स्वयं माशादिद्रमेव दूत न मव्यधात् न कल्पितवान्
उक्तदोषपरिहारार्थेन्द्रस्य तादृशी बुद्धि नाजीजनदित्यर्थं । नूनमिति वितर्क
वन्मुविचारत्वाप्रायमुत्प्रेक्षालकार । दूतभावतिरोहितस्यापि तस्य वस्तुनो
नलत्वाप्राय कलक इति भाव ॥ १६ ॥

अन्वय—नलश्रीभृति दूते भाविभावा इय कलङ्किनी जनिता—इति
नून विधि इमा प्रति नैपथकायमाय स्वयम् इन्द्र दूत न सव्यधात् ।

हिन्दी—नल को कान्ति धारण करने वाले दूत में अनुरागिणी हो
यष्ट (दमयन्ती) कलङ्किनी हो जायेगी, लगता है—यही (विचारकर)
विधाता ने इम (दमयन्ती) के प्रति निपथराज का शरीर धारण करने
वाले (कपटनलरूपधारी) स्वयम् इन्द्र को दून नहीं कल्पित किया ।

टिप्पणी—इन्द्र का कपट प्रसिद्ध ही है । इन्द्र के मन में यह भी आ
सकता था कि वह नल का कपटवेप बना ले और नल रूप में स्वयं दूत
बन कर दमयन्ती के निकट धावना करने जा पहुँचे । ऐसी स्थिति में नल
के रूप में इन्द्र को देखकर, उसे नल मानकर दमयन्ती उसकी अनुरागिणी
हा जाती । मले ही अनजाने में सही, नल-बुद्धि से, नल के भ्रम से ही
मही, दमयन्ती का यह इन्द्रानुराग हो जाता और उसका पातिश्रन कलङ्किनी
हो जाता । नवि-कल्पना है कि विधाता ने इन्द्र को नलरूप बना स्वयं दून
बनने की इसी आशका से बुद्धि ही नहीं दी । वह स्वयं नहीं गया, उसने नल
को ही दून बनाकर भेजा । परिणामतः दमयन्ती पर कलक लाने का अवसर
नहीं आया । अनौचित्य नहीं हुआ । द्वितीय धरण में 'जनितेति' के स्थान में
'जनि मनि' पाठान्तर भी है । अर्थ हुआ—'यह कहीं कलङ्किनी न हो

जाय " ।' विद्याधर ने यहाँ उत्प्रेक्षालकार माना है, परन्तु इसके विपरीत मन्त्रिनाथ यहाँ उत्प्रेक्षा का निषेध करते हैं, क्योंकि उनके अनुसार यहाँ 'भूतम्' का प्रयोग वस्तुविचारण के कारण वितर्क में हुआ है। दूतभाव-निरोहित भी उम 'वस्तु' के नल होने में यह कलक नहीं है, यह आशय है। मन्त्रिनाथ ने यहाँ निदर्शनालकार का विधान किया है। चन्द्रबलाकार 'भूतम्' को उत्प्रेक्षा योग्य ही मानने हैं ॥ १६ ॥

पुण्ये मन कस्य मुनेरपि स्यात्प्रमाणमान्ते यदधेऽपि धावत् ।

तच्चिन्ति चित्त परमेश्वरन्तु भक्तस्य हृष्यत्करणो म्णाद्धि ॥१७॥

जीवात्—नवि त्रेऽपि समागते तदभिलाषेनोक्तोपावकाश कुन इत्या-
शङ्क्य चित्तवृत्तीना क्षणिकत्वात् तथा श्रद्धेयमित्याह—पुण्य इति । मुनेयंतेरपि
किमुत्पन्नस्येति भाव । कस्य मन पुण्ये स्यात् पुण्य एव प्रमाण न कस्यापी-
त्ययं । कुत , यद्यस्मादधे पापेऽपि धावदुच्छ्रुत्काल प्रवर्तमान तमन एव प्रमाण
निश्चायकमान्ते । किंतु हृष्यत्करण उद्यत्कृत परमेश्वर एव तच्चिन्ति पाप-
चिन्तक भक्तस्य चित्त दग्धि निवारयति । तस्मात् विनिवृत्तमेवैतदिन्द्र-
चेष्टितमिति भाव ॥ १७ ॥

अन्वय—कस्य मुने अपि मन पुण्ये स्यात्, यत् अधे अपि धावत्
प्रमाणम् आस्ते ? तु हृष्यत्करण परमेश्वर तच्चिन्ति भक्तस्य चित्त रणद्धि ।

हिन्दो—किम मुनि का भी मन पुण्य में (लीन) रहेगा (किमी का
नहीं), क्योंकि पाप के प्रति दौडना (मन ही) प्रमाण होता है । (ऐसा
भी अन्वय किया जाता है—कस्य अपि मुने मन पुण्ये प्रमाण स्यात् (अपि
तु न स्यात्), यत् अने अपि धावत् जास्ते अर्थात् किस मुनि का भी मन
पुण्य के विषय में प्रमाण (निश्चिन्त) होगा—किमी का नहीं, क्योंकि
(वह मन तो) पाप के प्रति दौडना रहता रहता है ।) किन्तु करुणापरायण
परमेश्वर पाप का चिन्तन करते भक्त के (अज्ञवा परमेश्वर का चिन्तन
करन वाले भक्त के) चित्त को (पापाभुख होने में) रोकते हैं ।

टिप्पणी—मन चञ्चल है, प्रकृत्या पापोमुख । बड़े में बड़ा मुनि भी
मन को इन चञ्चला के कारण कलङ्की हो सकता है, बेचारी समझती तो
एक सनारिणी बाला ही थी । वह नलक्ष्मणारी इन्द्र के प्रति अनुरागिणी हो

सक्तौ थी । भक्त पर कठणापरायण भगवान् दया करते हैं, वे सदा भक्त को पाप में पडने से बचाया करते हैं । कठणापर परमेश्वर ने दमयन्ती की भी रक्षा की । उन्होंने इन्द्र को नलकपटरूप धारण करने की बुद्धि नहीं दी । जिन पर भगवान् की कृपा होती है, वे पाप में प्रवृत्त कभी नहीं होते । विद्याधर के अनुसार अर्थान्तरन्यास ॥ १७ ॥

शालोकदृष्टे मदनोन्मदिष्णुयंथाप शालोनतया न मौनम् ।

तथैव तथ्येऽपि नले न लेभे मुग्धेषु क सत्यमृपाविवेकः ॥ १८ ॥

जीवातु—सम्प्रति घाष्टर्षदोष परिहरति—सेति । मदनो-मदिष्णु उन्मद-शीला 'अलङ्कृञ्' इत्यादिना इष्णुच् । सा भैमी यथा अलीकष्टे मिथ्यादृष्टे शालीनतया अधृष्टनया । 'शालीनकीपीने अधृष्टाकार्ययो' इति निपात । मौन नाप तदैव तथ्येऽपि नले न लेभे । एतत्सत्येऽनुचितमित्याशङ्क्य अर्थान्तरन्यासेन परिहरति । मुग्धेषु मदनोन्मादेषु सत्यमृपा सत्यासत्ययोविवेको विवेचना नास्तौत्यर्थं । अत एव न घाष्टर्षदोषोऽपीति भाव ॥ १८ ॥

अन्वय —मदनोन्मदिष्णु सा यथा अलीकष्टे शालीनतया मौन न आप तथा एव तथ्ये अपि नले मौन न लेभे, मुग्धेषु सत्यमृपाविवेक क ?

हिन्दो—काम से जमाद युक्त वह (दमयती) जैसे मिथ्यादृष्ट (नल) के प्रति (अपनी स्वाभाविक) शालीनतया के कारण (भी) चुप न रह सकी, वैसे यथार्थ भी नल के प्रति चुप न रही, मूढ़ हुए व्यक्तियों में सत्या-सत्य का विवेक कहाँ ?

टिप्पणी—दमयती स्वभावतः शालीन थी, घृष्टा-प्रगल्भा न थी । ऐसी नारियाँ प्रिय के वास्तविक रूप में समुख होने पर लज्जा के कारण चुप रह जाया करती हैं—भले ही स्वप्न-चित्रादि में मिथ्यादृष्ट प्रिय से जो चाहे कह बोल लें । दमयती क्योंकि मदनोन्मादिनी होर ही थी, अतः वह प्रिय के वास्तविक रूप में समुख होने पर भी चुप न रह पायी । वस्तुतः मुग्ध, मोहग्रस्त जना में विवेक रह ही नहीं जाता । सत्य-असत्य, वर्तमान-अकृतव्य का विचार वे कर नहीं पाते । द्वितीय चरण में 'शालीनतया' का पाठांतर 'शालीनतमा' भी है । वहाँ 'शालीनतमा' को 'सा' का विशेषण मान कर अर्थ करना चाहिए—'अतिमलज्जा' । अर्थान्तरन्यास अलंकार । १८।

व्यर्थोमत्रद्भावविधानयन्ता स्वरेण नात्र इत्याद्गदेन ।

सखीजने साध्वसमन्तवाचि स्वयं तमूचे नमदाननेन्दु ॥१५॥

जीवानु—व्यर्थोमत्रदिति । अथ द्विस्वादिनातात्पर्ये व्यर्थोमत्रन् भावविधाने
कारणोपने यतो यस्या सा गोप्सुनयकतेयम् । सा नैनी सखीजने साध्व-
सेन सत्रवाचि कृन्तिनमुो कृन्तिने मति, अन्यथा मनीमुनेनैव ब्रूयादिति भाव ।
नमदाननेन्दुं ग्वानत्रनुची सुती इत्याद्गदेन स्वल्पितेन स्वरेण न न स्वयमूचे
कर्त्तरि लिङ् 'ब्रूवो वचि' ॥ १५ ॥

अन्वय—अथ व्यर्थोमत्रद्भावविधानयन्ता सा साध्वसमन्तवाचि सखीजने
नमदाननेन्दु त स्वय इत्याद्गदेन स्वरेण ज्ञे ।

हिन्दी—तदस्वात् सान्विक नात्र को छिदाने में त्रिसका प्रथम व्यर्थ
हो गया है, ऐसी वह (दमपती परसुदय के अत्रपुर में महसा प्रविष्ट हो जाने
से) नय के कारण सविधों से अत्रात् रह जाने पर मुख-वत्त्र को नीचा किये
उन (नल) से स्वय विरल—छिन्न स्वर में बोली ।

टिप्पणी—दमपती के नल ने प्रति मौत न रह पाने का एक बौर
कारण । परसुदय को अत्रपुर में देख सखी-नन्दू जातकित हो कृत्ति जोर
बक् रह गया, जन दमपती को स्वयम् अतिथि से दोलता पडा । इत्य-
गदात् स्वर जोर यिनत-आनन स्वानाधिक लज्जा का द्योतक । विचारर के
अनुसार भावोदय और स्वरक अलकार ॥ १५ ॥

न्त्वा गिरोरन्तस्ववाचि पाथ सम्पाद्यमाचारविद्वानिथिभ्य ।

त्रिदाशगलोन्मन्त्रारवाचि वैश्वं विपेया मनुचकंनुसि ॥ २० ॥

जीवानु—अत्रान्वादिभ्य विद्वोर्दुश्चिनिस्तर्कन्यनामाह—नन्वेत्यादि ।
आचारविदा गृह्येन अतिथिभ्यो न्त्वा पदयोनिपद गिरोरन्तस्य न्त्वा
काल्पादि पाठ पदार्थेन 'माशार्थान्ना च' इति शब्दचय । सम्पाद्य, किञ्च
त्रिदाशगन्त्वा त्रिदाशकन्दम्बकेन वा रक्षारा आनन्दहृगे तयानि वैश्वी
दिनिदानमनुचकं वा तृनि स विपेयासन्त्वाद्या मुत्प्यानुन्तोन्त्यनुत्वेव इति
भाव ॥ २० ॥

अन्वय—आचारविदा नन्त्वा गिरोरन्तस्ववाचि अतिथिभ्य पाथम्
सम्पाद्यम् त्रिदाशगलोन्मन्त्रारवाचि वैश्वी मनुचकंनुसि विपेया ।

हिन्दी—आचार के ज्ञानी (गृहस्थ) को झुंकर शिरोरत्न (चूडामणि) की दीप्ति में भी अतिथियों को पाद्य (चरण क्षालनार्थं जल) समर्पित करना चाहिए और प्रिय—मीठे वचनों की रसचारा से भी विधियुक्त मधुपर्क से (प्राप्त होनेवाली) तृप्ति देनी चाहिए ।

टिप्पणी—उचित साधन सामग्री के अभाव में भी अतिथि का सद्व्यक्तित्व सत्कार सदगृहस्थ का कर्तव्य है । जल न हो तो शिर झुका कर विनय रूप पाद्य समर्पित कर दे और मधुपर्क (दधि, घृत और मधु मिश्रित खाद्य) न हो तो मधु जैसे मीठे वचन बोलकर ही अतिथि को तृप्त करे । भाव यह कि अतिथि सत्कार तो प्रत्येक दशा में सदगृहस्थ का कर्तव्य है । उत्तरार्द्ध का पाठांतर 'उक्त्यापि मुक्ता मधुपर्कतृप्तिर्भेदगिरस्स्वादति घृष्टता मे' भी पाठांतर है । सुखावबोध (जिनराज) और साहित्यविद्याधरी में व्याख्या है—'त्वांशिव भवत्सदृशे प्राधूर्णके मे मम वाचो घृष्टता घाष्ट्यं दूषणं न भवति'—आप जैसे अतिथि के प्रति मेरे बोलने की घृष्टता दोष नहीं है, (क्योंकि मधुपर्क तृप्ति वाणी से तो देनी ही चाहिए ।) प्राधूर्णक अर्थात् अतिथि (घुमकवड, रमते राम) । इस प्रकार दमयती ने स्वयम् नल से वार्तालाप करने की घृष्टता का एक और उचित कारण उपस्थित कर दिया । छैकानुप्रास और वाच्य-लिंग अलंकार साहित्य विद्याधरी समत ॥ २० ॥

स्वात्मापि क्षीलेन तृण विधेयं देया विहायासनभूनिजापि ।

आनन्दबाष्पैरपि कल्प्यमम्भ पृच्छा विधेया मधुभिर्वचोभि ॥ २१ ॥

जीवात्—स्वात्मापीति । किञ्च क्षीलेनाचारप्रमाणेन स्वदेहोऽपि । 'आत्मा जीवधृती देह' इति वैजयती । तृण विधेयं तृणवदपंणीयम् निजापि आसन-भूषणवेशनस्यान विहाय स्वयं तत उल्याय देया, आनन्दबाष्पैरप्यम्भ पादादक कल्प्यम्, मधुभिर्मधुप्रायै वचोभि पृच्छा मुशलप्रदान । 'प्रश्नोऽनुमोगं पृच्छा च' इत्यमर । मिदादित्वादङ् प्रत्यय । विधेया कर्तव्या । 'तृणानि भूमिरदक वाक् चतुर्षी च सूनुता । अप्रणमोऽतिथिं सायमपि वाग्भूतृणोदकै' इति स्मरणात् तृणाद्यसम्भवे तत्स्थाने स्वशरीरादिकमपि देयम् अशक्यतस्यानुकल्पेनापि सास्त्रार्थ-सिद्धेरिति भाव ॥ २१ ॥

अन्वय — क्षीलेन स्वात्मा अपि तृण विधेयम् निजा अपि आसनभू-

विहाय देना चान्द्रबाणं जपि वन्नः बल्पन् मधुनि वचोमि पृच्छा
वियेय ।

हिन्दी—शौच (मन्त्राचार) के ज्ञानी (गृह्य द्वारा) अपना शरीर भी
(अतिथि निमित्त) दृग-दृग्य (जपित) कर देना चाहिए, अपने बैठने का
भी स्थान छोड़कर देना चाहिए, जाननाशुद्ध ने भी पाद्य कल्पित करना
चाहिए और मीठे वचनों से भी कृशक प्ररत पूजना चाहिए ।

टिप्पणी—भाव यही है कि साधनाभाव जयवा सामग्री के अभाव में
अतिथि की सेवा उचित और आवश्यक है । जो भी समझ हो, उसी से
अतिथि-सत्कार भद्राचारी गृह्य का कर्तव्य है । उनके भी न हों तो अपना
शरीर तो है और जासन नहीं तो अपने बैठने की बरती तो है । जानना-
शुद्ध का पाद्य, मीठे वचनों का मधुपर्क तो समझ ही है । स्मृति-वचन यही
है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और ह्यत्र अलंकार ॥ २१ ॥

पदोपहारेऽनुपनम्रतापि सम्माध्यतेऽना त्वरत्यानराव ।

तत्कर्तुंमर्होऽञ्जलिञ्जनेन स्वममृत्तिप्राञ्जलतापि तावत् ॥ २२ ॥

जीवानु-पदेति । पदोपहारे पादोन्वाद्यन्तावे त्वरत्या वेयेन अनामुदकाना
अनुपनम्रता असनिहितचनपराष अनचार सम्माध्यते अनराधनेन गृह्यत
इत्यर्थ । तत्, तस्मात् अञ्जलिञ्जनेनाञ्जलिबन्धेन तत्पूर्वकन्वनित्यर्थ । स्व
स्थानेन समृथा सम्मरेण सन्निधानेन प्राञ्जलता जायते विधेदिति यावत्
सापि तावत्कर्तुमर्हा जातिभ्यस्त्रिणासानभ्ये विनयाचरणेनापि तन्चित्तोपाजंन
कर्तव्यम् । मन्वया प्रत्ययायादिति भाव ॥ २२ ॥

अन्वय—पदोपहारे त्वरत्या अनाम् अनुपनम्रता अपि अनराधः सम्माध्यते
तत् अञ्जलिञ्जनेन स्वममृत्तिप्राञ्जलता अपि तावत् कर्तुम् अर्हा ।

हिन्दी—चरण धोने के लिए झट से जल न लाना भी अपराध माना
जाता है, सो अबलि बाँध कर अपनी जातिभ्य रूप विनम्रता प्रकट करना
उचित है ।

टिप्पणी—यह समझ है कि अतिथि के चरणप्रक्षालनार्थ पाद्य उपस्थित
करने में कुछ विनम्र ही । लोकरक्षि के अनुसार यह भी दोग है, अतएव
उचित यह है कि अतिथि के समुख हाथ बाँध कर अपना विनम्र प्रकट करें

ही आनिध्य सत्कार किया जाय । भाव यह है कि इस प्रकार विनम्रभाव प्रकट करके भी अतिथि सत्कार हो जाता है । विद्याधर के अनुसार दाम्य णिग बलकार ॥ २२ ॥

पुरा परित्यज्य मयात्यसजि स्वमामन तत्किमिति क्षणन्न ।

अनर्हमप्येतदलङ्क्रियेन प्रयातुमीहा यदि चान्यतोऽपि ॥ २३ ॥

जीवातु-पुरेति । मया स्वामात्मीयमासन पुरा पूर्वं त्वद्दर्शनक्षण एव परित्यज्य तत उत्थायेत्यर्थं । अत्यसजि अदायि तदेतदासनमनर्हमत्यश्लाघ्यमपि यदि वा भयत कुत प्रयातुमीहा वा तथापि किमिति क्षण नालत्रियेत । भवतजना नुकम्पया क्षणमात्रमत्रोपवेष्टव्यमिति भाव ॥ २३ ॥

अन्वय -- मया स्वम् आसन पुरा परित्यज्य अत्यसजि, यदि वा एतत् अनर्हम् अयत्न प्रयातुम् अपि ईहा विम् इति क्षणं न अलङ्क्रियेत ।

हिन्दी--मैंने (दमयती ने) अपना आसन पहिले ही छोड़कर अपित कर दिया है, और यदि यह (आसन) अवाञ्छनीय मान अन्यत्र जाने की भी इच्छा है तो क्षण भर को क्यों न इसे मुशोभित करें ।

टिप्पणी--विनय प्रकट करती दमयती ने स्वागतार्थ उठकर अपने द्वारा रिक्त आसन पर क्षण भर तो अवश्य बैठने की नल से प्रार्थना की । उसने यह आशका प्रकट की कि आप जैसे श्रेष्ठ पुरुष को कदाचित् नारी के आसन पर बैठना उपयुक्त न लगे और उसकी अन्यत्र जाने की इच्छा हो । ऐसी स्थिति में भी कुछ क्षण को तो उसे इस आसन को अलङ्कृत करना उचित ही होगा । यह प्रार्थना मानता अनुचित न होगा । विद्याधर के अनुसार विभादना ॥ २३ ॥

निवेद्यता हन्त समापयन्ती शिरीषकोपम्रदिमाभिमानम् ।

पादौ कियद्दूरमिमी प्रयासे निधित्सते तुच्छदय मनस्ते ॥ २४ ॥

जीवातु-निवेद्यतामिति । शिरीषकोपस्य म्रदिमाभिमान मादंबगर्भं समापयन्ती निवर्तयन्ती इमी पादौ । 'पाद पदङ्घ्रिभ्ररणोऽस्त्रियाम्' इत्यमर । तुच्छदय निष्कृप ते मन (कर्तुं) कियद्दूर कियच्चिरमित्यर्थं । प्रयासे निधित्सते निघातुमिच्छति । दधाते सप्र-तात्लटि तद्धे । 'सनिमीमा' इत्यादिना इत्ता-देषा । अत्र 'सोपोऽभ्यासस्य' इति अभ्यासत्रोप । निवेद्यतां ज्ञाप्यतां वाक्याप (कर्म) । हृतेरपनुकम्पायाम् ॥ २४ ॥

अन्वय — हस्त, निवेद्यनाम्—शिरीषकोपत्रदिमानिमान ममापयन्ती इमी पदौ तुच्छदय ते मन विषदद्वर प्रगमे निरिच्छते ?

हिन्दी—कृपया बनायें—निरिम-फूला की कोमलता के अनिमान को मनास करने इन चरणों को हृताशून्य आपका मन कितनी दूर तक आघात (धन) में रचना चाहता है ?

टिप्पणी—शिष्ट-व्यवहारोचिन वचनों की एक शैली । आपका गतव्य क्या है ? इन कोमल चरणा को चना-चना कर और कितना बट्ट देगे ? जब सा दया कीजिए, इन निरिमकुमुनों से भी कोमल चरणा को कुछ तो विश्राम कीजिए । उपेद्रव्या छद । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास-उन्नेक्षा उपना जल्कार ॥ २४ ॥

अनामि देशः वनन्तमुक्तस्य वनस्य दशाम् अनामि ।

त्वदात्ममद्धेतया कृतार्या श्रय्यापि नानेन जनेन सजा ॥ २५ ॥

जीवानु-अनायीति । अद्य त्वया कतमो देशो वनन्तमुक्तस्य वनस्य दशाम-नामि नीनो शिवीकृत इत्यर्थं । तपनेद्विकर्मकत्वात् प्रदाने कर्मणि लुङ् । किञ्च त्वदात्मकैतया त्वयि लब्धमङ्गलितया कृताया सफला सजा नामानेन जनेन आम्भना श्रय्यापि श्योतुमर्हापि न किमिति काकु कश्च अचोदयत्, कुत आगत, किञ्च ते नामनेय सत्रिवेदनेनाप्यनुग्राह्योऽयं जन इति भाव ॥ २५ ॥

अन्वय—त्वया अद्य कतम देश वनन्तमुक्तस्य वनस्य दशाम् अनामि ? जनेन जनेन त्वदात्ममद्धेतया कृतार्या सजा श्रय्या अपि न ?

हिन्दी—आपने आज किस देश को वनत श्रुतु से परित्यक्त वन की स्थिति को पहुँचा दिया है ? यह जन (वनजती) आपका संकेत करने से कृतार्य सजा (आपका नाम) क्या मुनने योग्य भी नहीं है ?

टिप्पणी—आप किस देश के वामी हैं और आपका मुन नाम क्या है ? पूठने की शिष्ट शैली । आपके चले आने से कोन-सा देश उजड़ गया है, वनत के चले जाने से श्री-हीन वन के समान ? क्या मैं ऐसी अशुभार्थ हूँ कि आपके मुन नामवेद से अशुभ हो कृतकाम जज्ञरा को भी नहीं जान सकती ? मन्त्रिणास के द्वारा काकुवदोन्दि का संकेत, विद्याधर के अनुसार निदर्शना और काव्यजिग अल्कार ॥ २५ ॥

तीर्णं किमर्णोनिधिरेव नैव सुरक्षितेऽभूदिति यत्प्रवेशः ।

फलं किमेतन्मयं तु साहसस्य न तावदद्यापि विनिश्चिनोमि ॥ २६ ॥

जीवातु—तीर्णं इति । सुरक्षिते साधुगुप्ते अत्यन्तदुष्प्रवेश इत्यर्थः । इहान्त-
पुरे प्रवेशोऽभूदिति यत् एष प्रवेश अर्णोनिधिरणव एव तीर्णो न विम् ! अर्ण-
तरणतुल्यं न किमिदमर्थः । किन्तु एतस्य साहसस्य फलं किमद्यापि धिर विमृश्या-
पीत्यर्थः । तावत् विनिश्चिनोमि निश्चेतुं न शक्नोमीत्यर्थः । अत्रान्त पुरप्रवेशा
णवतरणलक्षणवाक्यार्थयोर्निर्दिष्टसामान्याधिकरणान्यथाऽनुपपत्त्या तत्तुल्यमिति
साहस्यसाक्षेपात्सम्भवद्वस्तुसम्बन्धो वाक्यार्थनिष्ठनिदर्शनाभेदः ॥ २६ ॥

अन्वयः—इह सुरक्षिते यत् प्रवेश अभूत् किम् एष अर्णोनिधिः एष
न तीर्णः ? एतस्य साहसस्य तु फलं किम्, अद्य अपि तावत् न विनिश्चिनोमि ?

हिन्दी—यहाँ सुरक्षित (रनिवास) मे जो (आपका) प्रवेश हुआ,
क्या यह सागर सतरण ही न हो गया ? इस साहस का तो फल क्या है—
मैं आज भी निश्चय नहीं कर पा रही ?

टिप्पणी—अप्रवेश्य अथवा दुष्प्रवेश्य अतः पुर मे मल का प्रविष्ट हो
जाना एक दुष्कर कर्म करना हो गया, जैसे समुद्र को तैर कर पारना ।
प्रश्न यह है कि इस दुष्कर कर्म का उद्देश्य क्या है ? शिष्ट भाषा मे जाने के
प्रकार और उद्देश्य की पृच्छा । इस श्लोक मे मलिनार्थ के अनुसार
वाक्यार्थनिष्ठ निदर्शनाभेद है, क्योंकि अतः पुर-प्रवेश और अर्णवसतरण
वाक्यार्थो मे निर्दिष्ट सामान्याधिकरण की अन्यथानुपपत्ति होने के कारण
साहस्य के आक्षेप से असम्भव वस्तु संबन्ध कटा गया है । विद्याधर के अनुसार
निदर्शना और काव्यलिङ्ग ॥ २६ ॥

तव प्रवेशे सुकृतानि हेतु मन्वे मदक्षोरपि तावदत्र ।

नलक्षितो रक्षिमटैर्यदाभ्या पीतोऽसि तन्वा जितपुष्पधन्वा ॥ २७ ॥

जीवातु—एवेति । अथवा अत्रान्त पुरे तव प्रवेशे मदक्षोः सुकृतान्यपि
तावत् यावदभ्योऽपि हेतु श्रोतव्य इति भावः । हेतु कारण मन्वे कुत, यद्य-
स्मात् तन्वा मूर्त्या, जितपुष्पधन्वा जितकाम एव रक्षिमटै रक्षकयोर्धर्मं लक्षित-
लक्षितं सन् । नत्रर्थस्य नचाहस्य 'मुप् सुपा' इति समासः । आभ्या मदक्षिम्या
पीतोऽतितृष्णया दृष्टोऽसि । सुकृतविधिषु विना कथमीदृशमूर्तरूपसाक्षात्कारलाभ-
इति भावः ॥ २७ ॥

अन्वय — तव अत्र प्रवेशे मदङ्गो सुकृतानि अत्र तावत् हेतु मये, यत्
रक्षिन्ते न रक्षितं तन्वा जितपुण्यत्वा काम्या पीतं जति ।

हिन्दो—महारे यहाँ प्रविष्ट होने में मेरे (दम्पती के) दोनो नयनों
के सुचरित (पुन्य) नी कारण हैं—ऐसा माननी हूँ, क्योंकि रक्षवाले
मोक्षाओंद्वारा जन्मित शरीर से पुण्यत्वा (काम) के वेता को इन्होंने
(नेत्रों ने) पी लिया है (मली नांति देख लिया है) ।

टिप्पणी—नल सुरक्षित अतः पुर में पहरेदारों को दीखे बिना प्रविष्ट हो
गये । वे दर्शनीय थे, कामाधिक रमणीय । पहरेदार देख नी न पाये पर
दम्पती ने मली नांति तृप्त हो निहारा । इस अचनव की समावना का
कारण दम्पती नयनों का पुन्य ही ही सक्ता है, ज्यया अज्ञाप्यसिद्धि
कैसे होती ? विद्वानर के अनुमार जतिश्लोक्ति-काव्यलिङ्ग-उपमालकार । २७ :

यथावृत्तिः काचन ते यथा वा दीवारिकाभङ्गुरणी च शक्तिः ।

रुच्यो रुचीभिर्जितकाञ्चनीभिस्तयामि पीयूषमुखा सनामि ॥ २८ ॥

जीवानु—यथेति । यथा यतस्ते तव आकृतिर्भूति काचन अमानुषीत्यर्थं ।
यथा वा यतश्च द्वारि निमुक्ता दीवारिका तत्र निमुक्त इति ठक् । 'द्वारादीनां
च' इयंजायम । तेषाम् जन्वीज्यन्ते अनयेति अष्टद्वुरणी दृष्टिप्रतिबन्धिका
'आटपनुना' इत्यादिना वृत्त करणार्थं ह्युत्प्रत्यय । 'अगद्विपत्' इत्यादिना
मुमायम, ह्युत्प्रत्ययात् ङीप् । शक्तिश्च काचनेत्यनुपपद्यते । किञ्च जितकाञ्च-
नीभिर्जितदृष्टिभिः । 'निग्राह्या काञ्चनी पीता हृष्टिा वरवर्णिनी' इत्यनर ।
समासान्तविधेरनित्यत्वात् । नचूतश्च' इति वदभाव । टावन्तपाठे जितकन-
कानिरित्यर्थं । रुचीनिर्दोषिणि, कृदिकारादकित्तनो वा वक्तव्य, रोचत इति
रुच्यो देशीप्पनानोपति 'राजनीयमूर्ध' इत्यादिना कर्त्तरि कपवन्तो निपाठ । तथा
ततो मूर्तिप्रभावत्रेजोनि पीयूषमुखा देवाना समाना नामिर्नूल मस्य सनामिर्न-
ग्धुरसि कश्चिद्विष्णुपुराण उत्प्रेक्ष इत्यर्थं । 'ज्योतिर्वेनपद' इत्यादिना उमान-
शब्दस्य समाव ॥ २८ ॥

अन्वय — यथा ते काचन आकृति यथा वा दीवारिका अष्टद्वुरणी शक्ति-
जितकाञ्चनीनि रुचीनि रुच्य च अस्ति तथा पीयूषमुखा सनामि अस्ति ।

हिन्दो—दोनों सुन्दारी बौद्ध (लोकोत्तर) आकृति है और दोनों द्वार

भूयोऽपि बाला नलमुन्दर त मत्वाऽमर रक्षिजनाक्षिबन्धात् ।

आतिथ्यचाटून्यपदिश्य तत्स्था थिय प्रियस्यास्तुत वस्तुत मा ॥३१॥

जीवातु—इत्य नलमेव मत्वैतावदुक्त्वा पुनर्नलमरशमन्य मत्वाऽयथा व्याह-
रतीत्याह—भूयोऽपीति । भूय पुनरपि सा बाला भैमी त पुरुष रक्षिजनस्याजि-
बन्धादन्धीकरणादमानुषत्वाद्धेतोर्नलमुन्दरममर कश्चिद्देव मत्वा आतिथ्यान्य
तिथ्याति 'अतिथेयं' । चाटूनि प्रियवाक्यानि अपदिश्य व्याजीकृत्य तस्मिन्
पुष्टये तिष्ठतीति तत्स्था तन्निष्ठा 'मुपि स्थः' इति क । प्रियस्य नलस्य थिय
शोभा वस्तुत परमायंतो दृष्ट्वैव अस्तुत स्तुतवती । स्तोतेलशि तद् । अत्राय
धमस्यायसम्बन्धात्प्रभवेन प्रियमिति सादस्याक्षेपात्रिदसंभाभेद । न चैव पर
पुष्पगुणस्तुतिप्रसङ्ग , वस्तुतस्तथात्वेऽपि तस्यास्तथाभिमानाभावादिति ॥३१॥

अन्वय —सा बाला भूय अपि रक्षिजनाक्षिबन्धात् त नलमुन्दरम् अमर
मत्वा आतिथ्यचाटूनि अपदिश्य तत्स्था प्रियस्य थिय वस्तुत अस्तुत ।

हिन्दी—उस बाला (दमयंती) ने पुनरपि प्रहरियो के नेत्र बाँध देने
के कारण (अदृष्ट रहजाने से) उस (नल) को नल के समान सुन्दर देवता
मान कर अतिथि मत्कार-योग्य प्रिय वचनों के व्याज से उसमें विद्यमान
प्रिय (नल) के स्तुत्य की तत्त्वतः स्तुति (वर्णना) की ।

टिप्पणी—नल प्रहरियो के नेत्रों से अदृष्ट रहकर अतः पुर मे आ गया
था । यह मानुषी वाय नहीं है । नल ने भी देववर के बल पर ऐसा किया
था । इस कारण दमयंती उसे मानव—नल न मान सकी । उसने समझा
कि यह नल के सश रमणीय कीर्ति देव है । उसने आतिथ्य के सत्कारयोग्य
प्रिय वचनों मे जो स्तुति की, वह वस्तुत नल की ही हुई, क्योंकि वह नल
ही था—भले ही दमयंती उसे 'अमर' समझ बैठी थी । इस प्रकार यह
परपुष्पगुणस्तवन भी न हुआ । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ अन्य धर्म का
अय-संग्रह असम्भव होने से प्रिय सादस्याक्षेप के कारण निदसंभाभेद है,
विद्याधर के अनुसार इत्थेय रूपक-उपमालकार हैं ॥ ३१ ॥

वाग्जन्मवैकन्यमसहाय्य गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत् ।

खल्वत्रमत्प्रीयमि जल्पितेऽपि तदस्तु वन्दिभ्रमभूमिनेव ॥ ३२ ॥

जीवातु—अथ नदधापि स्तुतिकरणे वारणमाह—वागिति । मुन्दरमुत्त

जपिके स्तुत्यहं इत्यर्थं । वस्तुनि विषये मीनिता तृणीनादश्चेत् जगद्दृश्यं
दुस्सह्यं प्राय वाग्द मनो वाक्सत्ताया वंद्यं स्यात् । जयंत्यपरिहारमाह—
जन्मीयसि जल्पिते ब्रह्मवचनेऽपि । भावे कत । सन्त्व दौर्जन्यमसहिष्णुत्व
म्यादित्यर्थं । उत्तन्माद्वन्दी स्तुतिपाठकोऽप्रमिति भ्रमस्य भूमिता विषयित्व-
मेवास्तु । 'दन्दिनः स्तुतिशठका' इत्यमर । कत्रन्दिपु वन्दिभ्रम धोतृदोषो
न वाग्दृश्यं स्वप्ने एव म्रोतृदोष । प्रत्युत मुग्धास्तुतिमन्त्य गुण एवेति
तदङ्गीकरणमिति भाव ॥ ३२ ॥

अन्वयः—मुग्धादनुते वस्तुनि मीनिता चेत् जगद्दृश्यं वाग्दन्मवंदस्यम्,
जन्मीयसे जल्पति अपि स्वप्नत्वम्, तत् वन्दिभ्रमभूमिता एव वस्तु ।

हिन्दी—मुग्धों के कारण आश्चर्यजनक वस्तु के संबंध में यदि भीतरारण
हो, तो अकहनीय बटक के समान वागी के जन की विफलता होगी, और
यदि अन्य कहा जाय तो सलता (दुर्जनता), सो (मही अच्छा है) स्तुतिकर्ता
(भाट चारण) होने के भ्रम का स्थान बनना ही हो ।

टिप्पणी—मग्जनता यही है जि जो वर्णनीय है, उदका वाने मनी भाति
जिया जाय । चुप रंगा जाना बयवा घोडा सा कट देने का उपचार दुर्जनता
मानी जाती है । भन्ने ही समार विशिष्ट स्तुति करने के कारण मुग्धानदी,
स्तुतिकर्ता चारण भाट मान ले, परन्तु प्रसन्ननीय की प्रशंसा मुक्तकठ हो
करनी ही चाहिए । नीतिवचन यही है—'परमुग्धापरमाभूत् पर्वतीकृत्य नित्य
दिदृष्टदि विकसन्त सन्ति सन्त ।' विज्ञाता ने वागी दी ही प्रसन्ननीय की
प्रशंसा के निमित्त है । इस श्लोक को दममन्ती की उक्ति भी माना जा सकता
है, कविकथन भी । विद्याधर के अनुसार काव्यति ॥ ३२ ॥

वन्दर्ष एवेदमविन्दत्र त्वा पृष्येन मन्ये पुनरन्यजन्म ।

चण्डीशचण्डाक्षिहतागुणुष्टे जुहाव यन्मन्दिरमिन्द्रियापाम् ॥ ३३ ॥

जीवातु—अथ स्तोति—वन्दर्ष इत्यादि । वन्दर्ष एव पुष्येन मुहूर्तवसेन
इद त्वा त्वद्वपमन्यजन्म जन्मान्तर पुनरविन्दतेति मन्ये इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा
कथमीदृशमिति भाव । कि तन्मुग्ध तदाह—चण्डीशस्य हरस्य चण्ड क्रूरमसि
तृतीयनेत्र तदेव हृत्तासस्तन्य कृत्तमयावतन तन्मिन्द्रियाणां मन्दिरमिन्द्रि-
याणामाश्रय शरीरमिति यावत् । तज्जुहाव तेन पुष्येनेति पूर्वेण सम्बन्ध ॥ ३३ ॥

जीवानु—भवदिति । कुसुमायुधेन कामेन भवतः पदाङ्गुष्ठं धिता
धीरपि न लब्धा न प्राप्ता ध्रुवम् ? भवच्छ्रिता धीस्तु दूष्यपास्तेति भावः ।
तथा हि—न काम जेतुः स्मरहरस्य वृत्तन्तत्वात् 'न लोक' इत्यादिना
पट्टीप्रतिषेधः । तज्जेतुरिति समासपाठे वृत्तं तेन पट्टीसमासः साधुश्चापमेव पाठः ।
वृत्तपंथस्य ताच्छील्यस्यानुपयोगात् रतीशजेतुरिति देशांतरपाठस्त्वयुक्त एव ।
प्रवृत्तार्थस्य सर्वनामोपादेयस्य स्वशब्दोपादाने षीनरुक्च्यदोपादिति । हस्तेन
निदिशन्त्याह—एतदर्थेन्दुस्य चिह्नमस्मिन्नङ्गुष्ठे नखकंठवेनास्ते छत्विक्स्य
पह्लवभेदः । अर्थेदुचिह्नधारणाद्यमपि कामजेता । यद्वा तच्चिह्नधारणात्
तस्यापि स्मरस्य जेतुत्वमप्यापि कथमेतच्छीलान्न कामदेजस्येति भावः ॥३६॥

अन्वयः—कुसुमायुधेन भवन्पदाङ्गुष्ठं धिता धीः अपि ध्रुवः न लब्धा, छलुः
छस्मिन् त जेतुः नखवेपधारि एतत् अर्थेन्दुचिह्नम् आस्ते ।

हिन्दी—पुष्पचन्दा (काम) ने आपके पैर के अँगूठे की शोभा भी
निश्चयतः नहीं पायी, क्योंकि इस (अँगूठे) में उस (काम) के जेता (शिव)
का नख का वेप धारे यह आधे चन्द्रमा का चिह्न विद्यमान है ।

टिप्पणी—नल काम की अपेक्षा बही अधिक सुन्दर है, काम तो उसके
पैर के अँगूठे के समान भी नहीं है । इस दृष्टि में शौन्दर्य-प्रतियोगिता में अँगूठे
न काम को जीत लिया है और वह कामजयो शिव के तुल्य बन उन्ही के
समान अर्थेन्दुचिह्न धारण करने लगा है, नख के रूप में । चन्द्राकार नख
सुन्दर और धुन माने गये हैं । लगता है, नल के पैर के अँगूठे के पास तब
फटकने का साहस काम में नहीं है । वह चन्द्राकार नख के अँगूठे का शिव
समत्वता है और डर जाता है । नारायण के अनुसार अनुमान से प्रमाणित
तथ्य—'त्वदङ्गुष्ठं कामस्य जेता, अर्थचन्द्राङ्कितत्वात् यथा शिवः ।' नल
का अँगूठा काम का जेता है, अर्थचन्द्र चिह्न होने के कारण, जैसे शिव ।
तृतीय चरण का पाठांतर 'रतीशजेतुः छलुः चिह्नमस्मिन्' भी है—'कामजयो
का चिह्न इस (अङ्गुष्ठ) में है ।' मल्लिनाथ ने 'वृत्तन्त' के ताच्छील्यानुपयोगी
होने के कारण यह पाठांतर अयुक्त माना है । इसमें षीनरुक्च्य दोष होगा ।
सर्वनामोपादेय प्रवृत्तार्थ का स्वशब्द से कथन उचित नहीं हाता । सुखावबोध
और साहित्य विद्याधरी टीकाश्री में 'नखवेपधारि' की अरथा 'नखकंठवेन'

पाठान्तर को माना गया है। मल्लिनाथ इस 'कैतवेन' के आधार पर यहाँ अपह्नृति का निर्देश करते हैं। विद्याधर के अनुसार अपह्नृति और उत्प्रेक्षाएक ही हैं ॥ ३६ ॥

राजा द्विजानामनुमामभिन्नः पूर्णां तनुकृत्य तनु तपोमि ।

कुहूपु दृश्येतरता किमेत्य सायुज्यमाप्नोति भवन्मुखस्य ॥ ३७ ॥

जीवानु—राजेति । द्विजाना राजा चन्द्रो ब्राह्मणो नमश्च अनुमास प्रति-
माम भित्तोर्य क्षन अपेक्षितव्यर्थकस्य प्रतिकुहूपु मुखसायुज्याभावादिति भाव ।
पूर्णां सकास्विति भाव । तनु शरीर तपोमि प्रत्यह देवनाम्य कलासमर्पण-
चर्चंगिति भाव । तनुकृत्य कुहूपु अमावास्यासु दृश्येतरतामदृश्यतामेत्य भव मुखस्य
सायुज्यमैक्य प्राप्नोति किमिन्द्रप्रेशा । यथा कश्चिद् ब्राह्मण नीत्रेण तपमा
द्वह्यसायुज्यमाप्नोति तद्वदित्यर्थ अन्यथा कथ कुहूपु न दृश्यत इति भाव ॥ ३७ ॥

अन्वयः—द्विजाना राजा पूर्णां तनु तपोमि तनुकृत्य अनुमासभिन्न कुहूपु
दृश्येतरताम् एतत् किं भवन्मुखस्य सायुज्यम् आप्नोति ?

हिन्दो—द्विजराज (ब्राह्मण श्रेष्ठ) के सदृश द्विजराज (चन्द्र) पूर्ण
शरीर को तपस्वर्या से क्षीण करके, प्रतिमाम क्षीण दुर्बल हों, अमावस्याओं
को अदृश्यत्व प्राप्त कर बग आप (नल) के मुख में सायुज्य (ऐक्य)
चाहता है ?

टिप्पणी—ब्राह्मण श्रेष्ठ तपस्वर्या द्वारा क्षीणातिक्षीण हो जैसे ब्रह्म-सायुज्य
प्राप्त कर लेता है कदाचित् चन्द्र भी प्रतिमास अपने पूर्ण शरीर को अमा-
वस्याओं में क्षय करके नल मुख सायुज्य पाना चाहता है । चन्द्र नलमुख सदृश
नर्ण है (वह वैसा होना चाहता है) क्योंकि वह पूर्णिमा को तो पूर्ण रहना
है पर धीरे-धीरे क्षीण होना अमा को जहश्य हो जाता है । नलमुख तो सदा
पूर्ण विकसित है । 'अनुमामभिन्न' का प्रतिमाम और प्रकार का—नवीन मी
अर्थ किना गया है । जैसे द्विजराज का अर्थ जन्म हो । अनेक जन्म बीत
गये चन्द्र को शरीर गलाने दूर पर अभी तक वह नलमुख सायुज्य न पा सका ।
मल्लिनाथ के अनुसार 'किम्' के आधार पर उत्प्रेक्षा । विद्याधर के अनुसार
अपिन्द्रपेक्षित और अपह्नृति जलकार ॥ ३७ ॥

तृत्वा दृगो ने बहुवर्गचित्ते कि कृष्णमारम्य तत्रोमृगम्य ।

अङ्गाय द्वेदराग श्रीरखामयच्छद्विधिर्ध्वचन्द्रम् ॥ ३८ ॥

मृगस्यैव तटीयमेवेत्यर्थं । किञ्च एष तव कचपाशवेश केशपाशसन्निवेश
तस्यैव मृगस्य पुच्छे वालघी स्फुरच्चामरगुच्छ इत्युत्प्रेक्षा । अन्यथा वचन
घोरीदशी घोभेति भाव ॥ ४० ॥

अन्वय — त्वदास्मै विधौ दृश्य नेत्रद्वितय विधुत्वानुमितस्य मृगस्य, तस्य
एव च पुच्छे स्फुरच्चामरगुच्छ एष त्वत्कचपाशवेशः ।

हिन्दी—तुम्हारे मुख चन्द्र में दीखता नयनयुगल (मुख के) चन्द्र हान
के कारण अनुमित मृग का (नयनयुगल) है, उसी (मृग) की पूछ में
विलसित चमर का गुच्छा तुम्हारे केश समूह के वेष में है ।

टिप्पणी—भाव यह है कि नल का मुख चन्द्र के समान है, नयन चन्द्रांक
में स्थित मृग के नेत्र सदृश हैं और नल के केश उसी मृग के चामरगुच्छ तुल्य
हैं । अनुमान का आधार है मुख का चन्द्र हाना । जहाँ-जहाँ विधुत्व होगा,
वही-वही मृगत्व । नारायण के अनुसार—'नवास्ये विधौ मुखरूपे चन्द्रे 'विमनो
मृगबाम्, चन्द्रतवात्, समतवत्' इति हेतुनानुमितस्यानुमानगम्यस्य मृगस्य नेत्रद्वय
दृश्यम् ।' भक्तिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, नारायण के अनुसार रूपक और
अपह्नुति । चन्द्रकलाकार ने रूपक-उत्प्रेक्षा की निरपक्षतया स्थिति होन से
ससृष्टि मानी है ॥ ४० ॥

आस्तामनज्जीकरणाद्भवेन दृश्यं स्मरी नेति पुराणवाणी ।

तवैव देहधितया श्रियेति नवस्तु वस्तु प्रतिभाति वाद ॥ ४१ ॥

जीवातु—आस्तामिति । स्मरो भवेनेश्वरेणानज्जीकरणादशरीरीकरणा-
द्धेतोर्दृश्यो नेति पुराणवाणी पुरातनवादस्तावदास्ताम् । तवैव देह धितया
'द्वितीयाश्रितातीति'त्यादिना समास श्रिया सौन्दर्येण न दृश्य इति नवी नूतनो
वादस्तु परमाय प्रतिभाति । तदतिह्यमात्रमिदं तु प्रत्यक्षमित्ययं । जन
पराजयलज्जानिमित्तमस्यादृश्यत्वमित्युत्प्रेक्षा ॥ ४१ ॥

अन्वय—स्मर भवेन अनज्जीकरणाद् दृश्यं न—इति पुराणवाणी आस्ताम्,
अथ एत देहधितया श्रिया—इति नव वाद तु वस्तु प्रतिभाति ।

हिन्दी—काम महादेव द्वारा देहहीन कर दिये जाने के कारण नयनगाचर
नहीं—यह पुराणों की (सही गली पुरानी) वाणी (मान्यता वचन) रहे (ठीक

नहीं है), हाँ, हमारी ही धीरे सुवर्षितों की कान (कान दर्शनीय नहीं रह जा) है—यह नवीन कथन (मान्यता) को सारगुण्य लाता है।

टिप्पणी—कथन यह है कि यह जो शिव द्वारा कान दर्शन और उसके अन्त हो जाने का कथन है, वह पुराण-कथन-मात्र है—एक 'निर्दक' एक प्रतीक-कथनमात्र। वास्तविकता यह है कि अपने से अधिक सुन्दर मूल के अनुभव लभित होने की आसक्ति से काम प्रवृत्त होकर रहता है। 'दयोनर सुनीना प्रानाम्यम्' के अनुसार नव-वाद सारवाद है, पुराण-कथन तो पुराना पडकर अमान्य हो गया है। नल काम से सुन्दर है। वामी तो पुरानी (पुरानी), जोषा म्पी है, बाद नव पुमान् है, बल वही ग्राह्य है। नारायण ने 'अनौकर' का उच्य 'अन्वोहृति' भी किया है। नल की देहाश्रित श्री ने कान को अन्वोहृति दी, मान्यता नहीं दी, इसी से वह अल्प है। यह भी संकेत हो सकता है कि—'पुराने लोग काम को चर्चा योग्य न माने, नव (सुन्दर) उसे अनौकर (अस्वीकार) दे, नवीन वन तो देहाश्रित काम को मान्यता देने भले ही प्रवृत्त को न दें।' नवीन प्रवृत्त काम को मान्यता देते हैं, इसका प्रमाण 'नैवनीयचरित' का अष्टादश सर्ग है। मन्त्रिणाप के अनुसार उद्देश्या, नारायण के अनुसार अति-शयोक्ति ॥ ४१ ॥

त्वया अगन्तुश्चिन्तकान्तिगारे यदिन्दुनाङ्गीलि शिलोच्छ्वस्तिः ।

वागेपि तन्मादवमोपि मौली म यज्जगज्जेपि महेश्वरेण ॥ ४० ॥

जीवानु—त्वदेति । त्वया अति उच्चिन्तकान्तिगारे त्हीतरादम्भदम्भे सति इन्दुना शिलोच्छ्वस्ति वृत्ति जोदिका 'उद्गी घान्तराशान कणिका शर्वन शिल्पम् इति वादक' । अशीलि हीनेति मत् ततन्नादेतो मनोरथय पुनान् मानव 'तन्मादवम्' इत्यत्रादे मन्वम् । 'जन्मे कुम्भिते मूढे मनोरथो-त्सार्क स्मृत । नकारम्प तु नूयंयन्नेन सिद्धन्ति भाव' ॥' तेन सोऽप्यो मादवक । बालोऽपि स इन्दुनेश्वरेण महादेवेन महाराजेन च मौली शिरसि तथा नन्दराजे द्विवरायन्नेऽप्यारोनि आरोरित इन्दुप्रेक्षा । प्रकृष्टवर्णं कर्म्म फलाय न भवतीति भाव, प्रैवनाह्लादकश्चात्रोऽपि तन्मादवमोपि एवेति तात्पर्यं ॥ ४१ ॥

गन्धर्व — क्या उच्चितकान्तितारे जगति यद् इन्दुना शिलोञ्छवृत्तिः
अजोलितं तत् माणवकं अपि स महेश्वरेण मौली यञ्चराज्ये अपि आरोपि ।

हिन्दी—तुम्हारे द्वारा औभा का तत्व भाग ले लिये जाने पर जगत् में जो
चन्द्र ने शिलोञ्छवृत्ति (खेतों में पड़े रह जाने वाले दानों के कण चुनकर जीवन-
यापन करना—'कणाद'-वृत्ति) स्वीकारी, अन्तः बाल (छोटा द्वितीया सम्बन्धी)
होने पर भी उसे महादेव ने मस्तक पर याज्ञिकों के राज्य पर (यज्ञकर्त्ता श्रेष्ठ
रूप में) स्थापित कर दिया ।

टिप्पणी—नल को ससार का समस्त सौन्दर्य प्राप्त हो गया तो बेबारा
चन्द्रमा क्या करना ? जैसे खेत से अनाज उठाये जाने पर कुछ दाने पड़े रह जाते
हैं, वैसे ही कुछ सौन्दर्य कण पड़े रह गये । चन्द्र ने वेही कण लिये और अपन
को सजा लिया । अर्थात् सौन्दर्य का सहस्रांश भी वह न पा सका । चन्द्र नल के
नमुख अल्पत तुच्छ है । परन्तु किसी कारण सही, चन्द्र बना तो कणजीवी
तपस्वी, फल स्वरूप उसे महादेव न श्रेष्ठ याज्ञिक रूप में भायता दे अपने
मस्तक पर स्थापित कर दिया । शिलोञ्छवृत्ति अर्थात् 'ऋत' के सेवी को
उचित सत्कार मिला । ब्राह्मण के लिए यही वृत्ति उपयुक्त मानी गयी है । मनु
स्मृति (४।४) के अनुसार—'ऋतामृताग्न्या जीवेत्तु मृतेन प्रमृतेन वा । सत्यानृता-
ग््न्यामपि वा न श्रवत्या कदाचन ।' ऋत अर्थात् शिलोञ्छवृत्ति, अमृत अर्थात्
अनाचित, मृत (याचित), अमृत अर्थात् खेती, सत्यानृत अर्थात् याज्ञिक्य तथा
मेवा—इन प्रकारों से जीवन यापन कर ले, कृत्ते की भाँति कभी नहीं । इन में
उक्त वृत्ति प्रथम अर्थात् ऋत (शिलोञ्छवृत्ति) है । इसी वृत्ति को स्वीकारने
से शिव ने चन्द्र को मान्यता दी, वह द्विजराज (ब्राह्मणोत्तम) कहाया । ऋत
जीवी बालेन्दुरूप ब्रह्मचारी 'माणवक' को 'महेश्वर' महाराजाधिराज ने शिरोधार्य
किया । महापत्नी ने माणवक अर्थात् बीस लड़ी माला को गले में न पहन मस्तक
पर पहिना । अचरज की बात । कदाचित् धनी ने बही कठिनता से माणवक
हार सजोया होगा । मन्त्रिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार
वतिसामोक्ति ॥ ४२ ॥

आदेहदाहं कुमुमानुघस्य विधाय सौन्दर्यकयादरिद्रम् ।

त्वदङ्गशिल्पात्पुनरीश्वरेण चिरेण जाने जगदन्वकम् ॥ ४३ ॥

जोवानु—आदेहेति । ईश्वरेण सम्मुता कुसुमायुषस्य कामस्य देहदाहा-
दारभ्य आदेहेदाह मर्मादामानन्वयीभाव । जगन्नोक सौन्दर्यकथादरिद्र
सौन्दर्यवार्ताशूय विधाय विरेण त्वदङ्गस्य शिल्पाग्निर्माणात् त्रिष्व पुनरन्वकम्पि
अनुकम्पिन त्वया पुन सौन्दर्यमरित कृतमिति जान इत्युपदेश । तव मूर्तिमतः
कामान् को भेद इति भाव ॥ ४३ ॥

अन्वय—जाने कुसुमायुषस्य, आदेहेदाह जगत् सौन्दर्यकथादरिद्र विनाय
त्वदङ्गशिखात् ईश्वरेण पुन विरेण -वकम्पि ।

हिन्दी—सतीत होना है कि पुत्राम्त्र (काम) के देह-दाह से प्रारम्भ कर
सत्कार को सौन्दर्य-कथा से दरिद्र करके तुम्हारे शरीर-रोगी की रचना द्वारा ईश्वर
(शिव) ने फिर से बहुत काल पश्चात् कृपा की है ।

टिप्पणी—भाव है कि नञ कामाधिक सुन्दर हैं । महादेव ने काम को जजा-
कर सत्कार से सौन्दर्य वार्ता ही समाप्त कर दी थी । उनके मन में जात्र को दुष्ठी
देख दया सनकी, सो महादेव ने पुन कामाधिक सुन्दर नञ की रचना कर दी ।
उपदेशालङ्कार ॥ ४३ ॥

महो कृतार्था यदि मानवोऽसि जित दिवा यद्यमरेषु कोऽपि ।

कुल त्वगालङ्कृतमोरगञ्चेन्नाथोऽपि कस्योपरि नागलोक ॥ ४४ ॥

जोवानु—महीति । मनोरथ मानवो मनुष्योऽसि यदि 'तस्येदम्' इत्यण-
प्रत्यय । मही कृतार्था । अनरेषु कोऽप्यसि यदि दिवा द्युलोकेन जित सर्वोत्कर्षेण
स्थित नपुंसके भावे क्त । त्वया औरग कुल नागकुलमङ्कृत चेत् नागोऽसि
चेदित्यर्थ । जय सर्वान् स्थितोऽपि नागलोक कस्य लोकेऽप्यपरि न । सर्वस्या-
प्युपरि वर्तते इत्यर्थ । 'उपसृपेरिष्टात्' इति निपात ॥ ४४ ॥

अन्वय—यदि मानव अति मही कृतार्था, यदि अमरेषु क अपि, दिवा
जितम्, त्वया औरग कुलम् अलङ्कृत चेत्, जय अति नागलोक कस्य उपरि न ?

हिन्दी—यदि (तुम नञ) मनुष्य हो, तो यह घरती (मृत) कृतार्थ है,
यदि देवों में कोई हो, तो द्युलोक (स्वर्ग) ने ऊपर को जीत लिया, और यदि
नागवध को मुशोमित करने हो, तो नीचे स्थित नी नागलोक (पाताल) किस
(तल) के ऊपर नहीं है ? (जयार्थ सर्वोपरि है) ।

टिप्पणी—भावना यह है कि दमयती के अनुसार उपस्थित व्यक्ति (नल)

इतना गरिमामय है कि वह जिस लोक का वासी है, वही लोक श्रेष्ठ है। इच्छिष्टोक्ति स दमयती यह जानना चाहती है कि वह (नल) मानव है, देव है या नाग है ? किस लोक का वासी है वह ? दमयती स्वयं मानवी है और वह उपस्थित व्यक्ति में अभिलाष होने के कारण उसमें नल की समावृत्ता कर रही है, अतः पहिले मानव का उल्लेख किया। 'न गच्छन्तीत्यगा, न अगा नागास्तेषां लोकः—अप्रतिहतगति नागो का लोक सब के ऊपर होने योग्य है, यदि नल वहाँ का वासी है तो। इसी प्रकार 'मही' का विपरीतार्थ पूज्य—'महते पूज्यते सा मही' भी सायक होगा और 'दीप्यति विजिगीषते इति धी' (विजय शील) नाम भी नल के तद्भासी होने से ही सार्थक हो सकेगा। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ४४ ॥

सेय न घत्तेऽनुपपत्तिमुच्चैर्मच्चित्तवृत्तिस्त्वयि चिन्त्यमाने ।

ममो स भद्र चुलुके समुद्रस्त्वयात्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्र ॥ ४५ ॥

जीवातु—सेयमिति । त्वयि चिन्त्यमाने स्वस्वतो गुणतश्च विभाव्यमाने सति सेय विभावयन्तो मच्चित्तवृत्ति उच्चैर्महतीमनुपपत्ति न घत्ते समुद्रस्यागस्त्यचुलुके अनुपपन्नतावुद्धि न करोतीत्यर्थ । तत्र हेतुमुद्रप्रेक्षते स समुद्र त्वया आत्ता गृहीता गाम्भीर्यमहत्त्वे एव मुद्रा चिह्न यस्य स सन् । अत एव चुलुके भुनिमुष्टिगर्भे ममो भद्र युक्तमित्यर्थ । अन्यथा कथं तथा महतो गम्भीरस्य तस्य मुनिचुसुकितेति भाव । अत्र मानहेतोरत्तेत्यादिविशेषणगत्या निर्देशात्पदाप्यं-हेतुक काव्यलिङ्गमलङ्कारः । तत्सङ्कीर्णमुद्रप्रेक्षा भद्रमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्या ॥ ४५ ॥

अन्वय—सा इय मच्चित्तवृत्ति त्वयि चिन्त्यमाने उच्चैः अनुपपत्ति न घत्ते, भद्र त्वया प्राप्तगाम्भीर्यमहत्त्वमुद्र स समुद्र चुलुके ममो ।

हिन्दी—वह (विश्वास न करने वाली) यह मेरे मन की वृत्ति तुम्हारा विचार करने पर (उस) बड़ी अविश्वसनीयता का (अब) धारण नहीं करनी, यह ठीक ही लगता है कि तुम्हारे द्वारा गम्भीरता और महत्ता की मुद्रा (मर्मांदा) से ली जाने पर वह समुद्र (अगस्त्य द्वारा) चुल्लू में पी लिया गया ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन का आशय है कि नल सागर से भी अधिक गम्भीर और महात् है। सामा यत् इस पर अब तक विश्वास करना कठिन है

रहा था कि महामुनि आस्त्य समुद्र की एक चूल्ह में पी गये होंगे, समज में यही आता था कि यह कवन लाक्षणिक है, आस्त्य न समुद्र सम्बन्धी कोई ऐसा काय किया होगा, - जिससे यह कहा जाने लगा एक मुहावरे के रूप में कि अस्त्य चूल्ह में सागर पी गये। अब नल देव्यन पर यह लगता है कि सचमुच ऐसा अघटित घटा होगा, क्यों कि समुद्र की गहराई और विचालता नल के समुझ छोटी पड़ गयी है। छोटा पड़ा सागर मुनि के चूल्ह में समा गया होगा। इग श्लोक में महर्षिऋष के अनुसार मानहेतु का निर्देश 'आत्तगाम्भीयमहत्वमुद्र' इस विद्वेषण की गति से होने के कारण पदारथ हेतुक काव्यलिंग अलंकार है और उससे सकीर्ण उत्प्रेक्षा की गयी है, जो 'मद्रम्' व्यञ्जक के प्रयोग के कारण वाच्य है, अयत् कि काव्यलिंग उत्प्रेक्षा का सकर। विद्याधर के अनुसार विरोधातिशयोक्ति ॥ ४५ ॥

ससारसिन्धावनुविम्बमत्र जागति जाने तव वैरसेनि ।

विम्बानुविम्बो हि विहाय धातुर्न जातु वृष्टातिसरूपमृष्टिः ॥४६॥

जोबानु—ससारेति । विश्वात्मास्मिन् ससारसिन्धो वैरसेनि नलस्तवानु-विम्ब जागति स्फुरतीति जाने तक्षयामीत्यय । कुत, हि तस्माद्विम्बानुविम्बो विहाय बज्रमित्वा धातु अतिसरूपमृष्टि जातु कदाचिदपि न दृष्टा । अन्यथाऽकथमेतदत्यन्तसाहचर्यमित्यर्थ । मवान् नल एवेति मे प्रतिभातीति भाव ॥४६॥

अन्वय—अत्र ससारसिन्धो जाने वैरसेनि तव अनुविम्ब जागति, हि धातु अतिसरूपमृष्टि विम्बानुविम्ब विहाय जातु न दृष्टा ।

हिन्दी—इस ससार रूप सागर में प्रतीत होता है कि बीरसेन के पुत्र (नल) तुम्हारे प्रतिविम्ब रूप में विद्यमान है, क्योंकि विधाता को अतीत समान रूप वाली मृष्टि विम्ब प्रतिविम्ब को छोड़कर कहीं नहीं देखी गयी ।

टिप्पणी—विधाता की मृष्टि का यह नियम है कि विम्ब के सदृश प्रति विम्ब ही होता है, इस से यह प्रतीति हो रही है कि उपस्थित व्यक्ति नल का प्रतिविम्ब है। अत्यन्त सुन्दर नल का ही ऐसा प्रतिविम्ब भ्रमव है। भाव यह कि उपस्थित व्यक्ति पूर्णतः नल ही लगता है। विद्याधर के अनुसार अर्थान्तर न्यास, उपमा और उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥४६॥

की जाय । मल्लिनाथ के अनुसार काकुबक्रोक्ति, विद्याधर के अनुसार अतिशय-
याक्ति अलंकार ॥४९॥

इत्य मधूत्य रसमुद्दिगरन्ती तदोष्ठत्रधूकधनुविसृष्टा ।

कर्णात्प्रसूनाशुगपञ्चबाणी वाणीमिषेणास्य मनो विवेश ॥ ५० ॥

जीवातु—इत्यमिति । इत्य मधुन क्षौद्रादुत्थमुत्पन्नम् । 'आतश्रोपसर्गे'
इति कप्रत्यय । रस तत्सदृश रसमुद्दिगरन्ती स्रवती तस्या ओष्ठ एव बन्धूक
बन्धुजीवकुसुमम् । 'बन्धूकी बन्धुजीव' इत्यमर । तदेव धनु तेन विमृष्टा
मुक्ता प्रसूनाशुगस्य कुसुमेपो पञ्चाना बाणाना समाहार पञ्चबाणी ।
'तद्विज्ञातार्थं' इत्यादिना समाहारे द्विगु । अकारान्तोत्तरपदत्वात्त्रिषया 'द्विपो'
इति ङीप् वाणीमिषेण वाग्व्याजेनास्य कर्णात् कर्णं प्रविश्य त्पद्वयोपे पञ्चमी ।
अस्य नस्य मनो विवेश कर्णद्वारा प्रविवेशेत्यर्थ ॥ ५० ॥

अन्वय — इत्य मधूत्य रसम् उद्दिगरन्ती तदोष्ठत्रधूकधनुविसृष्टा प्रसूना-
शुगपञ्चबाणी वाणीमिषेण कर्णात् अस्य मन विवेश ।

हिन्दी—इस प्रकार अमृत मधु-रस शरती उस (दमयन्ती) के ओठ रूप
बन्धूक पुष्प (दोपहरी का फूल गुलेदुपहरी) रूप धनुस् से छोड़ी कुसुम बाण
(काम) की पञ्चबाणी (पाँचो बाण) (दमयन्ती) के बचनों के व्याज से कान के
मार्ग से इस (नल) के मन में प्रविष्ट हो गयी ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कहे गये इतने शिष्ट और मधुर वचन—अमृतमधु-
मयी वाणी)—सुन कर नल पूर्ण मुग्ध हो गया और दमयन्ती को पाने को इतना
उत्कण्ठित हो गया कि विलम्ब-व्यथा उसे ऐसी पोंडित करने लगी, जैसे कि
काम के एक साथ पाँचो बाण दमयन्ती की वाणी के व्याज से उसके अतस् में
घुस गये हो । आश्चर्य कि मधुमयी वाणी और व्यथा । भाव यह कि वचनमात्र
सुनकर नल कामना से उद्दीप्त हो गया । विद्याधर के अनुसार छैत्रानुप्रास रूपक
और अपह्नुति अलंकार हैं ॥५०॥

अमज्जदालज्जमसो सुधासु प्रिय प्रियाया वदनान्निपीय ।

द्विपन्मुखेऽपि स्वदने स्तुतिर्या तन्मिष्टता नेष्टमुखेत्यमेया ॥ ५१ ॥

जीवानु—अमज्जदिति । असौ नल प्रियाया वदनात् प्रिय प्रियायाय
निपीय सुधासु आमज्ज मज्जान पानुममिष्याप्येत्यथ । अग्निविद्याव्यपीभाष ।

'जनश्च' इति समामान्तप्लुत् । अमञ्जदमृताम्बादनुत्तमन्वभूदित्यर्थः । तथा हि—द्विपन्मुखेऽपि तन्मुखतश्चेदित्यर्थः । या स्तुति स्वदने स्वादून्भवति इष्टमुखे प्रियजनमुखे तु तस्या स्तुतेर्मिष्टता स्वादुता अमेया जपरिच्छेद्या न किमिति वाक् ? अपि तु परिच्छेत्तुमशक्यंवेत्यर्थः । अत्रेष्टमुखेऽपि द्विपन्मुखस्तुत्य-
पेक्षया कर्मत्वेन स्वादुत्वोत्कर्षप्रतिपादनादर्थाप्यन्वयद्वारः । तस्य वाक्यभूतस्य आमञ्ज मृतामञ्जनहेतुत्वाद्वाक्यार्थहेतुकं काव्यलिङ्गमिति सङ्करः ॥ ५१ ॥

अन्वय — प्रियाया वदनात् प्रिय तिपोय जसौ मुघामु आमञ्जम् अमञ्जद्, या स्तुति द्विपन्मुखे अपि स्वदते, इष्टमुखे तुर्तामिष्टता अमेया न ?

हिन्दी—प्रिया (दमपन्ती) के मुख से (निःसृत) प्रिय (वचनामृत) का सादर पान कर यह (नल) अमृत प्रवाह में मग्नापर्यंत (भीतर तक, पूर्णतः) मग्न हो गया । जो प्रशसावचन शत्रु के मुख में भी (शत्रु कथित होने पर भी) स्वाद देते हैं (अच्छे लगते हैं), प्रिय मुखोक्त होने पर तो उनकी मिठास क्या उपरिमेय—परिमाणहीन न होगी ? होगी ही ।

टिप्पणी—दमपन्ती द्वारा कहे गये प्रशसा नरे मुखवचन सुन कर नल को परमानन्द प्राप्त होना एक स्वाभाविक स्थिति थी । प्रशसा तां शत्रु भी करे तो भली लगती है और प्रियजन के प्रिय मुख से प्रशसा सुनना तो अत्यधिक आनन्ददायी होता है । 'आमञ्जम्' के स्थान में पाठांतर 'आवृष्टम्' भी है—अर्थात् 'गले तक अमृत प्रवाह में डूब गया ।' मल्लिनाथ ने वाक् के साथ साथ अर्थापत्ति और वाक्यार्थ हेतुक काव्यलिङ्ग के सङ्कर का निर्देश किया है, क्योंकि शत्रुमुख स्तुति की अपेक्षा प्रियमुखस्तुति में स्वादुतात्कर्ष का उपपादन हुआ है और वह वाक्यभूत आमञ्जमुघामञ्जन के हेतु रूप में कथित है । विद्याधर ने अर्थान्तरन्यास का उल्लेख किया है ॥ ५१ ॥

पौरुष्यशैल जननीपनीता गृह्णन् यथाहर्षतिरर्घ्यपूजाम् ।

तथातिथेयीमथ मप्रतीच्छन्नम्या वयन्वासनमासमाद ॥ ५२ ॥

जीवानु—पौरुष्येति । अथ नल' अह्ण पति अहर्षति मयं 'अहंराश्रीनां पत्न्यादिपत्न्यङ्गयानम्' इति रेफादेशः । यथा जनानां समूहो जनता । 'ग्रामज-
नबन्धुमहायेभ्यस्तलु' । तथा उपनीता समविताम् अर्थात् जलमर्घ्यं 'पाशार्धा-
भ्याञ्च' इति यत्प्रत्ययः । तदेव पूजा ता गृह्णन् स्वीकृतुं पुरो भव पौरुष्यः

परिसङ्घना निगद्यते ॥' इति लक्षणात् तस्योत्तरार्धे सामान्येन समयनात्
सामान्येन विशेषसमर्पणरूपोऽर्थांतरयास इति सङ्करः ॥ ५४ ॥

अन्वय—अथ तद्वागुपवीणित अपि स धर्म्यात् स्मराज्ञाम् अवधीय ऊचे,
वाम विवेकपाराशतघोत सताम् अन्तः न कल्पुपीकरोति ।

हिन्दी—उत्पश्चात् उस (दमयन्ती) की वाणी-वीणा द्वारा प्रशंसा प्राप्त
करके भी वह (नल) धर्म से काम के आदेश को अवज्ञा करके बोला । विवेक-
जल को धाराओं से शतवार धोकर उजले किये सज्जनों के अंतःकरण को
काम काला (विकृत) नहीं करता ।

टिप्पणी—यद्यपि दमयन्ती की प्रशंसामयी वीणा के समान मधुर वाणी
सुनकर नल कामनाओं के ज्वार में बहा जा रहा था, तथापि—जैसा कि
पूर्व श्लोक में कहा जा चुका है, उसके धर्म ने उसकी उद्दीप्ति पर विजय पायी
और वह सयत हो दमयन्ती की प्रत्युत्तर देने लगा । विवेकी और धर्मघन
साधु जनों के निर्मल अन्तःकरण काम से विकृत नहीं हुआ करते । धीर होने
ही वे हैं, जिनके मानस विकार के कारण होने पर भी विकृत नहीं होते—
'विकारहेतावपि विक्रियन्ते येषां न चेतासि त एव धीराः ।' मल्लिनाथ के
अनुसार इस पद्य में परिसङ्घना और अर्थांतरन्यास का सङ्कर है । पूर्वाद्ध में
काम और धर्म—इन दो के द्वारा आक्रान्त चित्त का धर्म से नियमन है और
उत्तराद्ध में सामान्य के द्वारा विशेष का समर्पण । विद्याधर ने विशेषोक्ति
और अर्थांतरन्यास का निर्देश किया है ॥ ५४ ॥

हरित्पतीना सदसः प्रतीहि त्वदीयमेवातिथिमागत माम् ।

वहन्तमन्तगुण्णादरेण प्राणानिव स्वःप्रभुवाचिकानि ॥ ५५ ॥

जोवानु—हरिदिति । मा गुण्णा आदरेण अतिप्रयत्नेन स्व प्रभूणामिन्द्रा-
दीना व्याहृतार्था वाचो वाचिकानि सन्देशवाक्यानि 'सन्देशवाक्याचिक स्यात्'
इत्यमरः । 'वाचो व्याहृतार्थायाम्' इति ठक् । प्राणानिव त्वदीयानित्यर्थः ।
अन्तरतरात्मनि वहन्त हरित्पतीनामि द्रादिविक्यालाना सदस आस्थानादागत
त्वदीयमेवातिथि प्रतीहि त्वामवोद्दिद्यागन विद्धीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अन्वय—मा गुण्णा आदरेण स्व प्रभुवाचिकानि प्राणान् इव अन्त वहन्त
हरित्पतीना सदस आगतत्वदीयम् एव अतिथि प्रतीहि ।

हिन्दी—(नल ने कहा)—मुझे (नल को) अत्यन्त आदर के साथ अपने स्वामियों के दावियों (मदेगवचनों) को प्राणों के तुल्य अन्त करण में धारण करता हुआ, दिक्पालों (इंद्रादि) की सभा में भाग अपना ही अतिथि समझे ।

टिप्पणी—नल न बड़े ही सिद्धवचनों में दमयन्ती को सूचित किया कि वह इंद्रादि दिक्पालों का मदेगवचक बनकर दमयन्ती के समीप ही आया है । इस प्रकार उम्मे दा प्रश्नों का उत्तर दिया कि वह कहाँ म आया है और किन्हे निकट आया है ? मदेगवचना को प्राणतुल्य धारण करता कहकर स्वामी के प्रति आदर प्रकट किया और दूतधर्म का गान किया । विद्याधर के अनुशासनमा ॥ ५५ ॥

विरम्यता मूत्रवती सपत्नी निविरम्यतामाननमुग्धित किन् ।

या दूतता न फलिना विनेना मैवानियेयी पृथुरदुमवित्री ॥ ५६ ॥

जीवानु—विरम्यतानिति । सपत्नी पूजा मूत्रवती मूर्ख । मवने लक्ष्मि-प्रसन्ने होन् । विरम्यतानवनीनता भावे लोट् । निविरम्यता उरविरम्यता कि किनयनावनमुग्धित लक्षम् । फलिना फणवती, फलवर्हान्मानित्व-कल्प । विनेना कर्तव्या नोऽम्नाज् वा दूतता इत्येव पृथुनह्ये वातियेयी अतियिदूवा उद्गावित्री भाविनी ॥ ५६ ॥

अन्वय—विरम्यता, सपत्नी मूत्रवती, निविरम्यताम्, आत्म किम् उज्जित-तम् ? या न । दूतता फलिना विनेना, सा एव पृथु-आतियेयी उदुमवित्री ।

हिन्दी—एक कीबर्, पूजा हो गयी, बैठ जाइए, सामन क्यों छोड़ दिया ? जो हमारा दूतकार्य सफल होना, वही बड़ा अतिथि-कार होगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने जो कुछ अतिथि के आदरार्थ किया—जातनादि में उठकर खड़ा हो जाना आदि नल ने निवेदन किया कि अब ऐसा कुछ न कीजिए । उन्वार—गिष्टाचार तो पर्याप्त हो गया । दूतकार्य यदि सफल बनायेंगी तो बड़े अतिथि-कार होगा । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग-अन्वय ॥ ५६ ॥

कल्पानि । कल्पानि तत्राङ्गकानि कच्चित्तमा चिनननाविल ते ।

अत्र विलम्बेन विर मदीनामाकर्षनात्तद्वदनादि ॥ १७ ॥

जीवातु—कल्याणीति । हे कल्याणि । भद्रे ! तवाङ्गकानि कोमलाप-
ङ्गानि कल्यानि पट्टनि कञ्चित्तमा ? कञ्चिदिति प्रश्नार्थमव्ययम् । 'कञ्चित्तमान-
प्रवेदने' इत्यमरः । तस्मात् 'अतिशयाने तमविपुनौ' इति तमप् । 'किमे-
तितटव्यधात्' इत्यामुप्रत्ययः । किञ्च ते चित्तमनाविलमकतुष कञ्चित्त-
माम् । आकर्णतटात्कर्णतटपर्यन्त मर्यादायामव्ययोभावः । तत 'सुप्पुग'
इति समासे आकर्णतटायते अक्षिणी यस्मा सेति 'बहुव्रीहौ सवप्पुणो
स्वाङ्गात् पच्,' 'पिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीप् । 'अभ्वार्यनद्योह'स्व' हे
आकर्णतटायताक्षि । विलम्बेनाल मदीया गिरमाकर्णय ॥ ५७ ॥

अन्वयः—कल्याणि, तव अङ्गकानि कल्यानि कञ्चित्तमाम्, ते बित्तम्
अनाविलम् ? आकर्णतटायताक्षि, विलम्बेन अल, मदीया गिरम् आकर्णं ।

हिन्दी—भद्रे, तेरे कोमल अंग नो रोग हैं ? तेरा चित्त निमल है ? (स्वल्प
है ?) हे कानों तक फँसे नयनों वाली, विलंब न करो, मेरा कपन सुनो ।

टिप्पणी—सामान्य शिक्षाचार के अनुसार स्वस्थताविषयक प्रश्न और
क्षति मूल बात पर आ जाने का प्रस्ताव, बिससे सदेशवाक्य तुरत कहा
जा सके । विद्याघर के अनुसार उल्लेखनीय अलंकार छेकानुप्रास ॥ ५७ ॥

कीमारमारभ्य गणा गुणाना हरन्ति ते दिक्षु घृताधिपत्यम् ।

सुराधिराज सलिलाधिपञ्च हुताशनन्वार्यमनन्दनञ्च ॥ ५८ ॥

जीवातु—कीमारमिति । हे भूमि ! कीमार नव कुमारवयम् आरभ्य
'प्राणमृज्जातिवयोवचनोद्गामादिभ्योऽङ्' । ते तव गुणाना गणाः दिक्षु घृताधि-
पत्यम् दिशामघोक्षम् सुराधिराजमिन्द्र सलिलाधिप वरणञ्च हुताशनमग्निञ्च
अयंमनन्दन सूर्यंतनय यमञ्च हरन्ति आकर्षयन्ति ॥ ५८ ॥

अन्वयः—कीमारम् आरभ्य ते गुणाना गणा दिक्षु घृताधिनस्य सुराधिराज
सलिलाधिप च हुताशनम् च अयमनन्दन च हरन्ति ।

हिन्दी—कीमारमें अबस्था से लेकर तुम्हारे गुणों का समूह दिशाओं का
अधिपतित्व धारण करने वाले (दिक्पाल) देवराज (इन्द्र), जलों के स्वामी
(वरुण), आहुत के मोत्री (अग्नि) और अयंमा (सूर्य) के नन्दन (यम)
को आहूत कर रह है ।

टिप्पणी—जल ने इन्द्र, वरुण, अग्नि और यम—चारों के चिरकाल से

दनजन्ती पर जनुरल होने की बात बतायी । मृग (मीन्यादि) मृग मृग (रज्जु) में चारों दिशाओं को खींच रखा है । विषेयभावदोष विषेयों से दिशाओं के दोषों का जो आवेगित हो गया—एत्र नृत्ते के राजा 'सुयुगाम् अदिगम्' दो हैं ही 'मुराया अदिगम्' नदिग के राजा भी हैं—शोर मछली, बहन मछलियाँ हैं—चारों ओर पानी ही पानी, एकदम जड़, कृमि तो जो नीचे ही, निकट ही उभरे जा जाना है और धन तो अर्चना (मूर्त, लठ करने वाले) का देता है । विद्यमान के मनुष्य उल्लेख अकार छेकानुमान ॥ ५८ ॥

अरन्ध्रं शैलवर्षीवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि वेदनेति ।

तेषां स्वध्वीतरेण चिन्तं पञ्चेमुना तुष्टिर्नैर्विदितम् ॥ ५९ ॥

जैवानु—अरन्ध्रि । शैलवर्षीवनीयद्वैराज्यभाजि, 'वृद्धाच्छ' नञ्च तद् द्वैराज्य इतो राजो (धर्म) बाह्यादिवात् पञ्चरत्न । तद्भावि शैलवर्षीवनीयद्वैराज्यद्वैराज्यभाजिनिर्दिश्यं । एतेनाम्ना वयं=निश्चय, तस्या त्वयि चिर अरन्ध्रंमान तेषामिन्द्रादीनां चित्तं (कर्तृ) स्व ध्वीतरेण विहितोहारिण्य । पञ्चेमुना तुष्टिर्नैर्विदितम् अहर्षधर्मन नद् वेदनेति द्वैराज्ये प्रदाना चोरबाधा ज्ञान इति भाव । वनोद्भवैरुपमे पञ्चेमुना चोरेण तेषां धर्मविनि ह्यनिनि रुचम् । तद्वैतुक्त्वात् वेदम्य वाक्पायहेतुकं चान्द्विनिदि मच्छुर ॥ ५९ ॥

जन्वप — शैलवर्षीवनीयद्वैराज्यभाजि त्वयि चिर चरन् तेषां स्व चोरतरेण पञ्चेमुना तुष्टिर्नैर्विदितं चिन्तं वेदम् एति ।

हिन्दी—वाग्भाष्यभा जीर दीवन-इन दो उक्तों में स्पष्ट तुल्य पर बहुत समय में आया उन (इन्द्रादि) का भाति के महाचोर पचदान (काम) द्वारा चित्तका धर्म मय धन लुट गया था है ऐसा—चित्त विन्तता को प्राप्त हो रहा है ।

टिप्पणी—जो दो उक्तों के मध्य विवरण करता है, सीमा पर किसी राजा का स्वाभिव्यक्त न होने के कारण, ऐसे मानी को कोई अनुचित चोर लुट सकता है । दनजन्ती इस समय दो राजाओं की सीमाभूमि है—शैलवर्षी, दीवन की । पूर्ण अधिकार किसी का नहीं है । इन्द्रादि लक्ष मूर्ति पर विवरण

अटनि, डोरी बांधने के लिए घनुप् के किनारे पर बना गढ़वा) पर पहुँच गयी है ।

टिप्पणी—साठवें श्लोक तक मासूहिक रूप से देवदूतता संपादन करके द्रुमठके में सत्तरवें श्लोक तक द्रुम का दूतत्व-प्रतिपादन है । भाव यह है कि जैसे-जैसे दमयन्ती का जीवन उत्कर्ष को प्राप्त हो पराकाष्ठा को पहुँचा, द्रुम का उम पर अनुराग भी परा कोटि को पहुँच गया और पुष्पधन्वा काम ने भी जगत् को वशीभूत करने के लिए अपने घनुप् की प्रत्यक्षा वाण छोड़ने के लिए खींच ली । इन्द्रादि को पामत्र दन के लिए काम ने भी घनुप् पर डोरी चढ़ा दी । मल्लिनार्थ के अनुसार 'स पद्य मे तुल्ययोगिता और सहोक्ति का संकेत है, क्योंकि यहाँ प्रकृत (प्रस्तुत) प्रेम और गुण में विशेषण समानता से और अर्थ के उपगम के कारण केवत्रप्रवृत्तविषया तुल्ययोगिता है और उन प्रेम-गुण में 'परा कोटिम'—इति प्रयोगात् अमेदाध्यवसाय रूप अतिशयोक्ति सूचक 'यौवनेन सोधम्' (यौवने के साथ)—यह सहायं मन्वष-कथन होने से यह प्रेम के विधाघर के अनुभार, अतिशय श्लेष-तुल्ययोगिता अलंकार है ॥६१॥

प्रसूति प्रयाते विरह दधत् । तापाच्च रूपाच्च शशाङ्कशङ्की ।
 परापरार्थनिदधाति । आनी रपाश्च लोचनवृन्दमिन्द्र ॥ ६२ ॥
 जीवात् प्रयाते विरह दधत् । इन्द्र विरह दधत् दधान सन् अत एव प्राची
 दिश प्रयाते प्रातः । तापाच्च रूपाच्च शशाङ्कशङ्की । तापाच्च रूपाच्च शशाङ्कशङ्की
 दिति भाव । रूपाच्च उदयनाले उमयोरपि रक्तत्वादिति भाव । शशाङ्क-
 शङ्की चन्द्र इति ज्ञात्या परापरार्थान्दशैस्तथाभादिभि हेतुभि रपाश्च लोचनवृन्द
 निदधाति शीघ्राद्दृष्टिब अक्षिमहर्षेणापीक्षत इत्यर्थ । प्रोधाध्यस्य
 कृत मापराधानपराधत्रिवेक इति भाव । अत्र कविसम्भनमाश्रयेन मानो
 शशाङ्कभमाद् भ्रान्तिमदलङ्कार ॥ ६२ ॥

अन्वय—द्रुम से विरह दधत् प्राची प्रयाते मानो तापात् रूपात् च शशाङ्कशङ्की परापरार्थं रपाश्च लोचनवृन्द निदधाति ।

हिन्दी—इन्द्र तेरे विरह को धारण करता, पूर्व में स्थित भूय पर ताप दायक होने और (मास्य) होने के कारण (सूर्य में) चंद्रमा की भ्रांति करता दूसरे के जगत् को के कारण रोय से लाठ लाठ नैत्र कर लेता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के विरह में पीड़ित इन्द्र को रात्रि में तो चन्द्रमा व्याप्त होती ही है, प्रभात में जब सापदायक लाल सूर्य पूर्व दिशा में उदित होता है, तब ह्य-साम्य और सजापदायक होने से सूर्य में चन्द्रमा के भ्रम से उस पर ही क्रुद्ध हो वह अपने लाल नेत्रों से क्रोध दिखाता है। इस प्रकार वैसे रात में वैसे ही दिन में भी इन्द्र दमयन्ती के विरह में कष्ट पाता रहता है। रात्रि-जागरण करते इन्द्र की आँखें लाल होनी ही उचित है और क्रोध ने-कथ में विवेकशून्य होने में भ्रम में पड़ा इन्द्र चन्द्र के अपराध पर सूर्य से क्रुद्ध हो ही सकता है। अन्य का अपराध, अन्य पर रोष। इस पद्य में मन्त्रिनाथ के अनुभार कविनमतसादृश्य से सूर्य में चन्द्रमा का भ्रम होने से भ्रातिमत् जलकार है ॥ ६२ ॥

त्रिनेत्रनात्रेण स्या कृत यन्देव योज्यापि न सवृणोति ।

न वेद दृष्टेऽद्य सहस्रनेत्रे गन्ता स कामं खलु कामवन्ध्याम् ॥ ६३ ॥

अन्वय — त्रिनेत्रेण । त्रिनेत्र एव त्रिनेत्रमात्र । 'मात्र कामस्येऽवगारणे' इत्यन्तर । तेन तमात्रेण स्या यद्वृत्तमनङ्गत्वमिति भाव । तदेव य कामोऽद्यापि न सवृणोति नाच्छाद्यन्तु शक्नोतीत्यर्थः । स कामोऽद्य सहस्रनेत्रे इद्रे नष्टे क्रुद्धे नति कामवन्ध्या दशा यत्ता गमिष्यति । गमेर्लुट् । न वेद न जाने सन्तु । वाक्यार्थं कर्म । 'विदो लटो वा' इति मिनो षादेशः । त्रिनेत्र-मास्यन्ध नष्ट काम सहस्रनेत्र कथ जेष्यतीत्यर्थः । कामस्त्वल्लुते निशङ्क-मिद्व दुःखाकरोतीति तात्पर्यार्थः ॥ ६३ ॥

अन्वय - त्रिनेत्रनात्रेण स्या यत् कृत तत्र एव य अद्य अपि न सवृणोति नः कामः अथ सहस्रनेत्रे शृं कामं अवन्ध्या श्नु गन्ता—न वेद ।

हिन्दी—तीन नेत्र मात्र धारण करने (शिव) ने क्रोध में जो किया, वह (देहदाह) ही जो आज भी संभाल नहीं पा रहा, वह काम आज सहस्रनेत्र (इन्द्र) के कष्ट हो जाने पर किस अवस्था को प्राप्त होने वाला है—मैं (नल) वह समझ नहीं पा रहा ।

टिप्पणी—केवल तीन नेत्र वाले शिव ने ही काम दाह करके उसे बना दिया । काम इस हानि को पूर्ति आज तक न कर पाया । अब सहस्रनेत्र धारी इन्द्र को पीडा देकर काम किस दशा को प्राप्त होगा—यह नल समझ

नही पाता । स्वामाधिक है कि तीन नेत्रधारी की अपक्षा सहस्र नेत्र धारी का क्रोध अधिक भयानक होगा और अधिक कष्टकर, परन्तु शरीर भस्म होने से अधिक और दहा दह हो ही नया सकता है ? भाव यही है कि निश्चय काम इन्द्र को अत्यन्त कष्ट दे रहा है, काम को और बटे दह से यदि दमयन्ती बचाता चाहती है तो इन्द्र का अनुराग उसे स्वीकार्य होना उचित है । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा ॥ ६३ ॥

पिकस्य वाङ्मात्रकृताद्व्यलीकान्न स प्रभुनन्दति नन्दनेऽपि ।

बालस्य चूडाशशिनोऽपराधान्पाराधन शीलति शूलिनोऽपि ॥ ६४ ॥

जीवातु—पिकस्येति । स प्रभुरिन्द्र पिकस्य कोकिलस्य वाङ्मात्रकृतात् न तु कामवत् कायकृतादिति भाव । व्यलीकादप्रियाग्रनन्दने नन्दनात्प्रे आनन्दकरेऽपीति गम्यते । वने न नन्दति किमुतान्यत्रेति भाव । किञ्च बालस्य कृशस्य चूडाशशिनोऽपराधात् अपकारात् सन्तापरूपात् किमुत पूर्णेन्दोरिति भाव । शूलिन शिवस्याप्यपाराधन पूजा न शीलति नाचरति । 'शीलसमाधौ' इति मीमादिकाल्त् । इन्द्रो विरहपारवश्यादावश्यम् किमपि कर्म न करोतीत्यर्थ । अत्रानन्दशिवाराधनसम्बन्धेऽयत्सम्बन्धोक्तेरतिसाधोक्तिभेद ॥ ६४ ॥

अन्वय — प्रभु स पिकस्य वाङ्मात्रकृतात् व्यलीकात् नन्दने अपि न नन्दति, बालस्य चूडाशशिन अपराधात् शूलिन अपि अपाराधन न शीलति ।

हिन्दी—सामर्थ्यावान् बह (इन्द्र) कोकिल के वचन (बाल) मात्र द्वारा हृत् अप्रिय (कार्य) में नन्दन (आनन्दित करनेवाले) में भी आनन्दित नहीं होता और बालक (एक बालवान्), चूडा में स्थित चन्द्र के अपराध के कारण शूलधारी शिव की भी आराधना नहीं करता ।

टिप्पणी—दमयन्ती के विरह में सबसामर्थ्यशाली स्वर्गराज इन्द्र आनन्ददायक नन्दन कानन (नन्दयतीति नन्दन) में भी काकिल स्वर होने के कारण आनन्द नहीं पाता और यद्यपि शिव शूली हैं, तथापि वे कष्टकारक (बाल ही सही) चन्द्र को चूडा में धारे हैं, अतः इन्द्र उनकी पूजा भी नहीं करता । कोकिलरव और चन्द्र—दोनों ही विरहित्रनों को पीडा देने हैं, अतः इन्द्र इनकी छाया मात्र से कष्ट पाता है । न उसे नन्दन में आनन्द है और न शूली के पूजनाभाव में क्रुद्ध हो जान का भय । इन्द्र दमयन्ती के वियोग में

नद्यात् भन- नीर पूजापाठ-महा इन्द्रि, नित्य कामे लोडे व्रैज है । न बर
 उमे नन्दन (पुत्रमम नदिन भरनेवाले) का ध्यान है और न दिव रोष का
 मय । मन्त्रिणाथ के अनुसार यहाँ आताइ और निवारणन में सबध होने पर
 भी उमबध अपन हन मे अनिसमोक्ति है, विद्यापर के अनुसार हनु और
 मनानामिड ॥ ६४ ॥

तमोमयीकृत्य दिना परागे स्मरेपत्र सत्तृणा दिशानि ।

कूहगि चञ्चुपुटं द्विजस्य राकारजन्वामपि सन्धवाचम् ६० ॥

जीवानु—तमोमयीनि । स्मरेपत्र कुमुमेपुवाणा परागे रपोनि करण-
 दिश सत्तृणा मन्त्रये तमोमयीकृत्य तप्रहृतवचने मयडतादनुनवद्वाप
 चि । अत्र एव विप्रमननोरनम्बन्धे तसम्बन्धोक्तेरतिशयोक्ति । कूह
 कुहाम्या नी, कूजिन मन्त्र । अथत्र तु कूहरमानास्येति गोर्वचन मस्य । 'कूह
 म्याकादिनात्पानष्टे दुत्तपोरनि' इति विश्व । तस्य द्विजस्यान्दरस्य
 कोविन्दोप्यं । अथत्र विप्रस्य 'दन्विप्रा-इशा द्विजा' इत्यमर ।
 चञ्चुपुटं मुम राकारजन्वा पूर्णिमापामपि सन्धवाच दिशत्वादिसति कय-
 यतीप्यं । राकारजन्वि कूहोमिव तमोमयीकृत्योप्यं । अत्र दिष्टो
 पातपोरनि कूहोद्विजयोश्चाभेदास्पृशमापमुक्त्वा कूह-जन्मवादिभ्यस्य
 विष्टस्यानि पूर्वोक्तातिशयोक्तिहेतुना निद्वेषात्कार्यहेतुक कारत्विङ्ग म्
 स्त्रेशानिषोक्तविरोधरत्नं सकीर्यते । तेन सक्रम्ये राकारा कूहभ्रात्या
 भ्रातिमदन्कारो व्यग्यन इमुहम् ॥ ६५ ॥

अन्वय —स्मरेपत्र परागे दिश सत्तृणा तमोमयीकृत्य कूहगिर द्विजस्य
 चञ्चुपुट राकारजन्वाम् अपि सन्धवाच दिशानि ।

हिदो—काम के (पुत्र) बाप मकरदों से दिशाआ को इन्द्र की दृष्टि में
 अथकारपूर्व करके 'कूह' छन्द बोलने वाले द्विज (कोविन्द, बाल्य) के चञ्चु-
 पुट (चोंच, मुम) की राका रजनी (पूर्णिमा दिशा) में भी सन्धवचनपुक्त
 बचाने हैं ।

टिप्पणी—काम के पुत्र बापा में शङ्कर उडे पराग ने इन्द्र की दृष्टि को
 धयी बना दिया है । वह कोविन्द के चञ्चुपुट से बोले जाने वाले 'कूह कूह'
 छन्द के कारण पूर्णिमा की रातों की भी अमावस्या की रातों मान लेना है,

जैने कोई अथा द्राह्मण (द्विज) के कथन मात्र पर यह विश्वास करले कि पूर्णिमा की रात नहीं, अमावस्या है। भाव यह है कि काम से अति पीड़ित इन्द्र की पूर्णिमा की आनन्ददायिनी रातें अमावस्या की काली रातों-नी मयानक लगती हैं। कामाय हो जाता है इन्द्र राकारजनी में कोकिलत्व सुनकर। इस श्लोक में श्लेष के आधार पर 'कुहू-कुहू' और द्विज में अनेक ध्ववसाय कह कर विषद भी कुहूत्व सत्यवादिता के पूर्वोक्त अतिशयोक्ति हेतु द्वारा सिद्ध होने से वाक्यार्थ हेतुक वाग्वलिय पूर्वक श्लेषातिशयाक्ति का विरोधागों से सकर है, उससे इन्द्र को राका में कुहू की भ्राति हो जाने के कारण भ्रातिमत् अलकार व्यजित होता है। विद्याधर के अनुसार विरोध और अतिशयोक्ति अलकार हैं ॥ ६५ ॥

शरैः प्रसूनैस्तुदतः स्मरस्य स्मरतुं स किं नाशनिना करोति ।

अभेद्यमस्याहूह* । वर्म न स्यादनङ्गता चेद्गिरिशप्रसादः ॥ ६६ ॥

जीवातु—शरैरिति । स इन्द्रः प्रसूनैरेव शरैस्तुदत आत्मानं विधत् स्मरस्य स्मरमित्यर्थं । 'अयोग्यं'—इत्यादिना कर्मणि शेषे यष्टी । अशनिना वञ्च्येण स्मरतुं न करोति किं स्मृतिमाश्रयेण-कुर्यादेव । किन्तु तस्य स्मरस्य गिरिशस्य प्रसादः प्रसादलब्धमित्यर्थं । कार्यकारणयोरभेदोपचार सोऽलुण्ठ-ञ्चैतदङ्गता अभेद्यमस्ति रूपकम् न स्याच्चेत् अहहेत्यद्भुते खेदे वा साङ्गत्वे पुनर्वज्जलशयलानादेन हन्यादेवेत्यर्थं । तथा पीडयत्येनमनङ्गाञ्जीति भावः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—बहू, सः प्रसूनैः शरैः तुदतः स्मरस्य अशनिना स्मरतुं न करोति किम् चेत् अस्य गिरिशप्रसादतः अनङ्गता अभेद्यमस्ति न स्यात् ।

हिन्दी—जरे, वह (इन्द्र) पुष्प शरी से पीड़ित करते काम को वज्र से वश स्मृति शेष न कर देता यदि इस (काम) का कैलासपर्वतशायी (गिब) के प्रसाद से अनग (शरीर रहित) हो जाना-हय अच्येय कवच न होता ?

टिप्पणी—जैसा कि पूर्व श्लोक में कहा गया है कि काम पुष्पबाणों से इन्द्र को अत्यन्त व्यथित करता रहता है, ऐसी स्थिति में प्रसन्न हो सकता है कि इन्द्र तो बसपारी है, वह पुष्पानुष काम को वज्र से मार क्या नहीं चालता, जिससे वह व्यथित करने को रह ही न जाय ? कल्पना है कि इन्द्र

ब्रह्म होकर अपने पर प्रहार कर द्यवा देने वाले काम को दञ्ज मार कर स्मृति-
रोप अदस्य बना देता, पर इन्द्र प्रहार किस पर करे ? काम तो देहरहित है ।
भगवान् शिव ने उसे भग्म करके नष्ट नहीं किया, अपितु अनग कर सद प्रकार
के प्रहारों से रक्षित बना दिया । अनगता उसका अभेद्य कवच बन गयी ।
शिव का शोध तो काम को प्रसाद बन गया । हानि से लाभ मिला । मल्लि-
नाथ के अनुसार यहाँ रूपक है, क्योंकि कार्य-कारण में अभेदोपचार है, इस
प्रकार कारण अनगता और कार्य अभेद्य बर्म (कवच) में अभेद है, आरोप है ।
विद्याधर के अनुसार ऐकानुप्रास-अतिशयोक्ति-काव्यलिङ्ग उलकार हैं ॥ ६६ ॥

धृताधृतेस्तस्य भवद्वियोगान्नानाद्रंशय्यारचनाय लूनै ।

अप्यन्यदारिद्र्यहरा प्रवालैर्जाता दरिद्रास्तरवोऽमराणाम् ॥ ६७ ॥

जीवानु—धृतेति । अन्येपा दारिद्र्य हरन्तीत्यन्यदारिद्र्यहरा अपि ।
हरतेरनुद्यमनेऽञ् । जमराणा तरव कल्पद्रुमा भवत्या वियोगात् । सर्वान्मनो
वृत्तिमात्रे पुदद्भाषो वक्तव्य । धृताऽधृतिररतिर्येन तस्येन्द्रस्य नानाविधाना-
माद्रश्याना शिथिरशयनाना रचनाय लूनै प्रवालै दरिद्रा रचना जाता,
तापस्तु तथापि नापत् इति भाव । सुष्टुमाणा प्रवालदारिद्र्यासम्बन्धेऽपि
तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिभेद ॥ ६७ ॥

अन्वय —अन्यदारिद्र्यहरा अपि अमराणा तरव भवद्वियोगात् धृताधृतेः
तस्य नानाद्रंशय्यारचनाय लूनै प्रवालै दरिद्रा जाता ।

हिन्दी—दूसरों की दरिद्रता दूर कर देने वाले भी देवों के (कल्प आदि)
वृक्ष, आप (दमयती) के वियोग में घंघं त्यों उस (इन्द्र) की अनेक गीली
शय्याओं की रचना के निमित्त, तोड़ लिये गये नव पल्लवों के कारण दरिद्र
हो गये हैं ।

टिप्पणी—देवतह कल्पवृक्ष आदि यद्यपि शयजनों की दरिद्रता मिटाने के
लिए विख्यात हैं, परतु आजकल वे वृक्ष स्वयं दरिद्र हो गये हैं, क्योंकि इन्द्र
दमयती के वियोग में इतना दस्य हो रहा है कि उसका वियोग जय दाह दूर
करने के लिए अनेक बार अनेक गीले नव पल्लवों की अनेक शय्या रची जाती
है । बार बार ऐसा होने से देववृक्षों के सब पत्ते तोड़ लिये गये और वे पत्रहीन
हो दरिद्र हो गये । दूसरों की दरिद्रता मिटाने वाले स्वयं दरिद्र बन गये,—कैसा

अधरज है। ऐसी भयन्त्र है इन्द्र की काम व्यथा! कल्पवृक्षों के सब पत्ते ममाप्त हो गये, पर व्यथा न गयी। देववृक्षों का प्रवाल दारिद्र्य असबद्ध है, तथापि उसका यही मन्त्रध्वन्य है, अतः मन्त्रिनाथ के अनुसार अतिशयोक्ति है। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और विराघ अलंकार ॥ ६७ ॥

रत्नगुणास्फालभवे स्मरस्य स्वर्णायकर्णा बधिरावभूताम् ।

गुरोः शृणोतु स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि किमक्षराणि ॥६८॥

जीवानु—रत्नैरिति । स्वर्णायस्य स्वर्गनाथस्येन्द्रस्य 'पूत्रपदात्सज्ञायामग' इति पात्रम् । कर्णौ स्मरस्य गुणास्फालभवे उदाघट्टनप्रभवे रत्नै बधिरावभूताम् । एव बाधिते मति गुरोर्बृहस्पते मकाशात् स्मरमोह एव निद्रा तस्या प्रबोधे दक्षाण्यक्षराणि विवेकज्ञानोपदेशवाक्यानि शृणोतु शृणुयात् किम् ? न शृणोयवेत्यर्थं । त्वद्विरहमोहात्प्रमत्तं बृहस्पतिरपि बोधयितु न प्रभवतीति भावः ॥ ६८ ॥

अन्वय — स्वर्णायकर्णौ स्मरस्य गुणास्फालभवे रत्नै बधिरौ अभूताम्, गुरोः स्मरमोहनिद्राप्रबोधदक्षाणि अक्षराणि किं शृणोतु ?

हिन्दी—स्वर्णाय (स्वर्ग के स्वामी इन्द्र) के दोनों कान काम द्वारा प्रत्यक्षा सींचे जाने से उत्पन्न शब्दों से बहिरे हो गये हैं, गुरु (बृहस्पति) के काम की मोह निद्रा दूर करने में समय अन्तरों (शब्दों) को (बह) कैसे सुने ?

टिप्पणी—शका हो सकती है कि इन्द्र के गुरु तो महाज्ञानी बृहस्पति महाराज हैं, उनके उपदेश सुन कर इन्द्र का कामजनित व्यामोह क्या नहीं मिटता ? कल्पना है कि इन्द्र के कान सुनने की शक्ति ही खो बैठे हैं। काम ने अपने धनुष की डोरी इतनी दार प्रहारार्थ सींची कि उससे उत्पन्न शब्द में कान श्रवणसामर्थ्य खो बैठे और इन्द्र बहिरा हो गया। बहिरा कैसे कुछ सुने ? भाव यह है कि दमयती विरह में इन्द्र इतना काम मोहाव हो गया है कि जब गुरु बृहस्पति भी उसे नहीं समझा सकते। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ६८ ॥

अनङ्गनापप्रणमाय तस्य कदर्य्यमाना मुट्टुरामुणालम् ।

मघो मघी नाङ्गनदीनलिन्यो धर वहन्ता शिगिरेऽनुरागम् ॥ ६९ ॥

जीवानु—अनङ्गंति नाङ्गना स्वर्णया नलिन्या मघो मघी वमन्त

बन्धने तस्येन्द्रन्यायान्कृतापश्यमान मुहुरामृतात् नृणां त्वयं नमः, जनिविषाव-
 यीभात्र । कश्यो कुस्मिन्वस्ति, 'को वलत्सुदयेऽचि' इति को वदादेश ।
 न्दर्या क्रियमाणा कश्यंमाना उन्नीहयनाता नस्य इत्ययं । तत्करोतीति
 'दन्त्यान्कर्मणि लट् शान्तादेन । निगिरेऽनुराग वरम् । वग्निति मनाक्
 शिपे । वहन्ता नानन्विकापचारता ताम्ना तत्र पूर्वोक्तोत्तरवमरादिति भाव ।
 वहे न्वरितेन्वादान्मनेन्दम् ॥ ६९ ॥

अन्वय—नाकनदीतलिन्य मघो मघो तस्य अनङ्गनाग्रदमाय मुहुर-
 अमृतात् कश्यंमाना शिपिरे वरम् अनुराग वहन्ताम् ।

हिन्दी—स्वयम्भरा (मदाकिनी) को कमत्रिनिदां प्रतिशंसते मे उम
 (इन्द्र) के काम-ताप को शांति के निमित्त बार-बार मृगाल तक उखाड़ी
 जाती पीड़ित हो शिपिर शत्रु में कुछ अनुराग रखने लगी है ।

टिप्पणी—ब्रह्म जब बन्ध जाता है, इन्द्र की मदन-व्यथा और बड़ जाती
 है । उस काम दाह के उपशान्त मदाकिनी में उत्पन्न कमत्रिनिदां पुत्रों से
 लेकर मृगालदह तक बार-बार उखाड़ डाली जाती हैं, फल स्वप्न अब उन्हें
 वमन की अपेक्षा शिपिर ही भन्न लगन ला है । शिपिर में तो वे केवल
 पत्र पुत्रहीन होती हैं—तुपारहता होकर, किन्तु वमन में तो उनके मृगाल तक
 उखाड़ डाले जाते हैं । अब वमन में तो थोड़ी हानि पहुँचाने वाला शिपिर
 ही अच्छा । पत्र पुत्र तो फिर आ जाते हैं, मृगाल तो फिर नहीं उपजता ।
 भाव यह कि वमन में इन्द्र की काम पीडा असह्य हो जाती है । विद्याधर के
 अनुसार अतिशयोक्ति और काव्यलिपि बलकार ॥ ६९ ॥

दमन्वन्तु सेवमुपैति तृणा जिष्णोर्जगन्वग्रिमश्रेष्ठत्वं नोम् ।

दृशा यद्वन्निन्वव नाम दृष्टिभिर्नागलोभानि मसौ विभति ॥ ७० ॥

जीवानु—शमेति । हे दमस्वप् । दमयन्ति । जिष्णा शत्रव्य 'तिष्णु-
 ल्लेखनेन शकः' दमर । मेव तृणा वाया जाति जरे दमनग्रिमम्, 'अग्रादि-
 पश्चाद्भिर्बु यत्रत्य' तच्च तन्लेख्य च तस्य लक्ष्मीनप्रवग्यनासुपैति अक्ष-
 न्नादिति भाव । कुन यदस्माद्दृशामद्विराकरोगाविन्द्रन्वव दृष्टेभिर्नाग-
 स्तृणांदाश मद्दृशाशब्दस्य वृत्तिविषये पूरायात्वाङ्गीकारात् । तत्र लोभेन
 दृश्या जातिनापि विभति नाम घने शत्रु । तदेतदाद्यतनस्य कृतिशक्तो-

भवच्चिन्नीयत इत्यर्थं । तल्लेशराम एव स्वदृष्टिसम्पत्ते फलमित्यभिमानस्त
स्येति भावः ॥ ७० ॥

अन्वय — दमस्वस, सा इय जिष्णो तृष्णा जगति अग्रिमलेख्यलक्ष्मीम्
सर्वेति यत् दृष्टाम् अन्धि नाम असौ तत्र दृष्टिभिर्नागलोभाति विभक्ति ।

हिन्दी—हे दम की भगिनि, वह अत्यन्त स्वात इन्द्र की तृष्णा ससार में
सर्वप्रथम गणनीय पदार्थ की शोभा को प्राप्त हो रही है कि नेत्रों का समुद्र भी
वह (इन्द्र) तुम्हारी (दमयती की) दृष्टि (नेत्र) के तीसरे भाग (कटाक्ष)
के अमिलाय स उत्पन्न पीढा को धारण कर रहा है ।

टिप्पणी—इम पद्य का भाव तो यही है कि इन्द्र जैसा सामर्थ्यशाली
दमयती के कटाक्ष विशेष का आकाशी है, तिरछे खजन नयन-कटाक्ष से देख
लेती दमयती उसको । इस भाव को एक विशिष्ट भगिनी के साथ कहा गया
है । बताया गया है कि दमयती-विषयक इन्द्र की तृष्णा सबसे अधिक उत्लक्ष्य
है । कितना विशिष्ट है कि जिस इन्द्र के पास सहस्र नेत्र हैं, वह दमयती के
नेत्र का तीसरा भाग पाने के लिए उत्सुक है । सहस्रधारी की तृतीयाय के
निमित्त इतनी उत्कट आकाशा ! है न अनुभूततम ! कोट्पथीय की तृष्णा
कानी कौडी के लिए ! दमयती का एक कटाक्ष लाभ सहस्र नेत्र धारण करने
का फल लाभ है इन्द्र का । विद्याधर के अनुसार विषम और अनुप्रास ॥७०॥

अग्निपाहिता नित्यमुपासते या देदीप्यमाना तनुमष्टमूर्ते ।

आशापतिस्त्वे दमयन्ति । सोऽपि स्मरेण दासीभवितु न्यदेशि ॥ ७१ ॥

जीवातु—अथ भगवतोऽग्नेरवहृषा वर्णयति—अग्नीति । अग्निपाहिता
आहिताग्नेय, 'वाहिताग्नेयादिषु' इति निष्ठाया परनिशता । यां देदीप्यमाना
जाग्यमाना दीप्यमाना दीप्यतेर्यद्वृत्तात्कर्त्तरि लट् । धानजादेश । अष्ट-
मूर्तेरीश्वरस्य तनु नित्यमुपासते, हे दमयन्ति । आशापतिर्दिव्यति सोऽग्निरपि
स्मरेण कथां तत्र दासीभवितु न्यदेशि दासो भवेत्यादिष्ट इत्यर्थं ॥ ७१ ॥

अन्वय—दमयन्ति, अग्निपाहिता या देदीप्यमानाम् अष्टमूर्ते तनु नित्यम्,
स अपि आशापति स्मरणे तं दासीभवितु न्यदेशि ।

हिन्दी—हे दमयन्ति, अग्निहोत्र में दीक्षित जन (अग्निहोत्री) जिस

देशीयमान अष्टभुवि ईश्वर (शिव) के तनु को नियं उपासना करने हैं, वह भी दिक्पाल (अग्नि) कान द्वारा तुम्हारा दास बनने को आदिष्ट है ।

टिप्पणी—श्लोक संख्या ७१ में ७६ तक अग्नि का द्रुतन्व-प्रतिपादन है । अष्टभुवि शिव की एक मूर्ति अग्नि है—तेजस्वी मूर्ति । वह इतना पावन है कि समस्त अग्निहोत्री उनकी निरन्तर आराधना किया करते हैं । शिव न कान को मन्त्र कर दिया था, वे कामजरी हैं । कितनी विचित्र बात है कि उन्हीं की एक मूर्ति अब दमयती के कारण कानाचीन हो गयी है जो उसका जाना का पावन करने में तत्पर है । भाव यह है इन्द्र ही नहीं, अन्य दिक्पाल अग्नि भी दमयती पाणिप्रार्थी हैं ॥ ७१ ॥

त्वद्गोचरम्न खलु पञ्चबाणः कर्णेति मन्ताप्य तथा विनीतम् ।

न्वय यथान्वाहितसमूयः परं न सन्तापयिता स मूयः ॥ ७२ ॥

जोवातु—त्वदिति । पञ्चबाणः कामत्वद्गोचरत्वामेव लक्ष्मीकृत्य इत्यर्थः । तनग्निं सन्ताप्य तथा तेन प्रकारेण विनीतं शिषितं करोति खलु । यथा येन प्रकारेण स्वयं स्वादितसमूयः तत्समूयं तत्तत्त्वं येन स मन् । 'भुवो भावो' व्यप् । भूयः पुनः परमन्वयं मन्तापयिता न सन्तापयिष्यति स्वयमनु-भूतदुःखः स्वान्मदृष्टान्तेन परं तथा न दुःखाकरोतीति भावः ॥ ७२ ॥

अन्वयः—त्वद्गोचरः पञ्चबाणः तं सन्ताप्य तथा विनीतं करोति खलु यथा स्वयं स्वादितसमूयः परं न सन्तापयिता ।

हिन्दो—तुम (दमयती) से सबद पाच बाणों वाला (काम) उक्त (अग्नि) को सतप्त करके उतना विनयो (निष्पदक) बना रहा है कि स्वयं तप्त होने का अनुभव प्राप्त करके वह अन्य को सहाय न देगा ।

टिप्पणी—अग्नि सब को जना देता है । किसी को कितना कष्ट होता है जलने में—यह अग्नि अभी तक नहीं जानता था । अब काम दमयती का आचार बना कर उसे बलविक्रम तप्त दे रहा है । अब उसे जलने की व्यथा का अनुभव हो गया है, अतः पुनः वह किसी को नहीं बलायेगा । भाव वही है कि दमयती के कारण ज्वलनशील अग्नि भी कान-संतत हो रहा है ॥ ७२ ॥

असाहि यन्तेन दशार्धबाणः पुरा पुरारेण्यनालयेन ।

स निदहस्तं भवदक्षिवासी न वैरशुद्धेरखुनाधनर्गः ॥ ७३ ॥

११ नै० अष्ट०

जोवातु—अदाहीति । यो दशाववाण पञ्चेषु पुरा पुरारेनयनाल्येन नयनाश्रयेण नेश्वाग्निना अदाहि दग्ध स पञ्चपुरघुना मक्षदक्षिवासी त्वभेत्र-निष्ठ सन तमग्निं निर्दहन् वैरशुद्धेर्वरनिर्यातनादधमर्णं ऋणी न अनृणो भूदित्यथ । यो यथा यस्यापकरोति स तस्य तथैव प्रतिवृत्त्य निर्दरो भवतीति भावः ॥ ७३ ॥

अन्वय—पुरा पुरारे नयनाल्येन य दशाववाण अदाहि अघुना भव दक्षिवासी स त निर्दहन् वैरशुद्धे अधमर्णं न ।

हिन्दी—पहिले त्रिपुरारि (शिव) के नेश्वाग्नि द्वारा जो दश के आधे (पाँच) बाण वाला (पचबाण काम) दग्ध कर दिया गया था, अब आप (दमयन्ती) के नेत्रों में निवास करने वह (काम) उस (अग्नि) को दग्ध करता हुआ वैर की शुद्धि करके ऋणी नहीं रह गया है ।

टिप्पणी—अग्नि दमयन्ती के वियोग में काम दग्ध हो रहा है—यह अन्य अग्निमा से ध्यक्त किया गया । शिव की नेत्र ज्वाला ने पूर्व काल में काम को जल दिया था । इस प्रकार काम पर अग्नि का वैर ऋण बड़ा । इस समय दमयन्ती के कटास में बस कर काम अग्नि को दग्ध करता हुआ अपना पुराने वैर का प्रतिशोध लेकर ऋणमुक्त हो रहा है । नारामण पंडित के अनुसार काम अग्नि की अपेक्षा अधिक ममर्थ सिद्ध हो रहा है । अग्नि ने शिव अर्थात् एक पुरुष—महादेव का आश्रय लेकर काम को जलाया था, स्वयं तो वह 'अकिञ्चित्कर' था, अन्याथय लेकर ही वह कुछ कर सका । काम ने तो एक नारी के ही नेत्र-स्थित होकर अपनी सामर्थ्यं घोलता सूचित कर दी—'पुरुष धितस्य वहे स्वतोऽकिञ्चित्करत्वम्, अह्नानामपाद्गेषु कामो वसतीति वृत्वा त्त्रिय श्रितस्य कामस्य महत्प्रभुत्व सूचिनम् ।' विद्याधर के अनुसार व्यापाद अलकार । मम्मट के अनुसार—'यद्यथा व्यापाद केनाप्यपरेण तदन्वया । तथैव यद्विधीयेत स व्यापाद इति स्मृत ॥' (बाध्यप्रकाश, १०१ १३८) । उपेद्रवञ्जा वृत्त ॥ ७३ ॥

सोमाय कृप्यान्नद विप्रयुक्त न सोममाचामनि ह्यधानम् ।

नामापि जागति हि यत्र शत्रोस्तजस्विनस्त वनमे महन्ते ॥ ७४ ॥

जोशानु—सोमायेति । विप्रयुक्तस्तजस्विनस्तोऽग्नि सोमाय चन्द्राय

कुन्निव विमाननिवेत्यं । 'ब्रुधदृष्ट' इत्यादिना सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी ।
 दृग्मान यने दीयमान मोम सोमरसमाचामति पिबति । तथा हि यत्र पुष्टे
 शत्रानामानि जागति प्रकाशने त शशुनामधारिण तेजस्विन परावमाना-
 नहिताव, 'अपिक्षेपाद्यमहन तेज प्राणात्ययेष्वपि' इति लक्षणात् । कतमे
 महन्ते न कैजीत्यर्थं । तेजस्विना शशुनामाप्यमह्यमिति भाव । सामान्येन
 विशेषनर्थेनरूपाधानरूपात् ॥ ७४ ॥

अन्वय—विप्रपुत्र न मोमाय कृष्यन् इव हूयमान मामम् आचामति,
 हि यत्र शत्रा नाम अनि जागति त कतमे तेजस्विन महन्त ?

हिन्दी—दिरही वह (जग्मि) चद्र पर कोष करता हुआ मानो आहुति
 ने दिग् गये मोम (चद्र) के रस का जावमन किया करता है, कारण कि
 त्रिसुमे शशुना नाम भी प्रकट होता है, उमे कौन तेजस्वी जन महन्ते हैं ?
 (कोई नहीं सहते) ।

टिप्पणी—दिरही को चद्रमा व्यथादायी होता है । अग्नि दमयन्ती वियोगी
 है, चद्र इसलिए उसे पीटिन करनेवाला प्रतीत होता है, वह उसका शशु
 हुआ । चद्र को मोम भी कहा जाता है । अग्निहोत्र में मोमलना का रस भी
 यजमान द्वारा आहुति में दिया जाता है । इस पर कल्पना है कि सोमरस में
 'सोम'-शशु चद्र का एक नाम पाकर वैर के कारण अग्नि उसका नश्व
 (पान) किया करता है । कोई तेजस्वी व्यक्ति शशु नाम को नहीं सहता—
 यह जगत् गीति है । भाव यह कि चद्र अग्नि को व्यथा देता है । मल्लिनाथ
 के अनुसार मामाय द्वारा विशेषनर्थेनरूपा अर्थात्तरन्यास श्लकार है,
 विद्याधर के अनुसार अर्थात्तरन्यास उत्प्रेक्षा इत्ये श्लकार ॥ ७४ ॥

अन्वय—कुमुमायुषस्य कदर्यमानस्तव कारणात् ।

अभ्यर्चयद्भिर्भक्तिवैद्यमानादप्येव मन्ये कुमुमाद्विभेति ॥ ७५ ॥

जोत्रानु—शरैरिति । हे शक्ति ! तव कारणात् त्वदर्थे त्वन्कृते, तादर्थ्ये
 चतुर्थी । कुमुमायुषस्य शरैः कुमुमशरैरुत्त कदर्यमान पीड्यमान
 एषोऽग्नि अभ्यर्चयद्भिः पूजयद्भिर्विद्वेषमानान्मन्यमानादपि कुमुमाद्
 विभेति मये । उत्प्रेक्षा ॥ ७५ ॥

अन्वय—तव कारणात् (पाडाउर-शक्ति, त्वदर्थे) कुमुमायुषस्य शरैः

अजस्र कदम्ब्यमान एष, मग्ये अन्यर्चयद्भिः विनिवेद्यमानात् अपि कुसुमात् बिभेति ।

हिन्दी—(हे यौवनवती) तेरे कारण पुष्पायुष (काम) के बाणों द्वारा निरन्तर पीड़ित होता यह (अग्नि), लगता है कि अर्चना करने वालों द्वारा निवेदित किये गये (चढ़ाये) भी फूल से डरता है ।

टिप्पणी—अग्नि दमयन्ती के कारण काम के कुसुमशरों से इतना पीड़ित है कि पूजन करते समय आराधक जो पूजा का फूल अग्नि पर चढ़ाता है, वह उससे भी डरता है । फूल मात्र को कुसुमशर समझ कर अग्नि को भय लगने लगता है । मल्लिनाथ के अनुसार उत्प्रेक्षा, विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ।

स्मरेन्धने वक्षसि तेन दत्ता सर्वतिका शैवलवल्लिचित्रा ।

चकास्ति चेतोभवपावकस्य धूमाविला कीलपरम्परेव ॥ ७६ ॥

जोवातु—स्मरेन्धन इति । तेनाग्निना स्मरेन्धने कामाग्निदाहो वक्षसि दत्ता तापशान्तये न्यस्ता शैवलवल्लिभिश्चित्रा वर्बुरा सर्वतिका नवदल्म् । 'सर्वतिका, नवदल बीजकोशो वराटक' इत्यमर । चेतोभवपावकस्य कामाग्नेर्धूमाविला कीलपरम्परा ज्वालावलिरेव चकास्ति दीप्यते । 'वह्नेर्द्वयो-ज्वालकीलौ' इत्यमर ॥ ७६ ॥

अन्वय—तेन स्मरेन्धने वक्षसि दत्ता शैवलवल्लिचित्रा सर्वतिका चेतोभवपावकस्य धूमाविला कीलपरम्परा इव चकास्ति ।

हिन्दी—उस (अग्नि) द्वारा काम के ईंधन (काम द्वारा दाह) स्ववक्ष पर शैवाल लता से चितकवरी (आश्चर्यदायक भी) नवकमलपत्रिका मनोभव (काम) के अग्नि की धुएँ से भरी ज्वालावलि जैसी शोभित होती है ।

टिप्पणी—भाव यही है कि अग्नि के हृदय में निरन्तर काम-दाह होता रहता है । काम उसको जला रहा है, अतः अग्नि का वक्ष हुआ कामाग्नि में जलनेवाला इंधन, जलते वक्ष पर उपघम के लिए उसने शैवाल-वत्सली से युक्त चितकवरी, विचित्र लगती नव कमल की पत्ती रखी । गीली पत्ती जलकर धुँधुआने लगी । ऐसी प्रतीति हुई कि यह पिगलवर्णा, धूमाग्नि ज्वालावलि मन में प्रज्वलित कामाग्नि की धूमाविता ज्वालमाल है । विद्याधर के अनुसार यहाँ ऐकानुप्रास और उत्प्रेक्षा अलंकार हैं ॥ ७६ ॥

पुत्रा मुहुर्घेन सरोरुहाणा यत्प्रेयसी चन्दनवासिना दिक् ।

घैर्यं विभु साऽपि तवैव हेतोः स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ॥ ७७ ॥

जीवातु—अथ यमस्य विरहावस्था वर्णयति—पुत्रीति । येन सरोरुहाणा मुहुर्घेन पुत्री पुत्रवान् एतेनाभिजन उच्यते । चन्दनमन्त्रज्यं द्रुमैर्वामिता सुरमिता दिक् दक्षिणा यत्प्रेयसी यन्म प्रियतमा एतेन भोगमभ्यर्त्तिरस्ता । स विभुर्वैवस्वतोऽपि तवैव हेतोस्त्वन्मितादेव । 'यद्ये हेतुप्रयोगे' इति पद्ये । घैर्यं स्मरस्य प्रतापज्वलने प्रतापानी जुहाव । परवशा वर्तते इत्यर्थः ॥ ७७ ॥

अन्वय—येन सरोरुहाणा मुहुर्घेन पुत्री चन्दनवासिना दिक् यत्प्रेयसी स विभुः अथ तव एव हेतोः घैर्यं स्मरप्रतापज्वलने जुहाव ।

हिन्दी—जिसके कारण कमलौ का मित्र (सूर्य) पुत्रवान् है और चन्दन से सुवासित दिशा (दक्षिणादिक्) जिसको प्रिया है, उस नामधेयशाली (यम) ने भी तरे (दमयन्ती क) ही कारण से घैर्य की काम के प्रतापान्नि में आहुति दे डाली है ।

टिप्पणी - ७७-७९ श्लोकों में यम की विरहदशा का विवरण कर उसका दूतत्व समादन है । सब के प्राणों का स्वामी, सूर्यपुत्र यम भी दमयन्ती के निमित्त कामान्नि में जड़ रहा है, न तो पिता सूर्य की अशर जलव सपदा उसका उपशम कर पाती है, न प्रिया दक्षिण दिशा की चकूत चन्दन-राशि । न कमलौ की कमी है, न चन्दन स्तंभ की, पर विदोषान्नि की दाहकता इतनी प्रबल है कि यम की पीडा का पार नहीं । यम का घैर्य जैसे उस आग में जल गया है । कामवीडित यम में जब घोरज नहीं रह गया है कि वह दमयन्ती-विरह सह सके ॥ ७७ ॥

न दह्यमानैरपि मग्मघैघ हन्तैरुपान्ते मलय प्रवालैः ।

कृच्छ्रेऽप्यनौ नोज्जति तस्य सेवा मदाथदाशामवलम्बने यः ॥ ७८ ॥

जीवातु—तमिति । मलयो मन्वादि मन्मघैघ कामाग्नीध्वनम् । 'काष्ठ दाबिन्धनन्वेध' इत्यमरः । त यम दह्यमानैस्तदङ्गुलङ्गात्पञ्चबाणैरपि प्रवालैः पन्लवैव हन्तैरुपान्ते तस्य शीतोपचारमाचरतीति भावः । युक्तञ्चैतं दिवाह—यो जन सदा यस्यासा देशम् अनुरागञ्चावल्म्बने । असी जन कृच्छ्रे आपद्यति तस्य सेवा नोज्जति न त्यजति । यो यदुपजीवी तस्य तत्सेवा विरहस्वरि कर्तुमुचितेऽपि । कर्णान्तरध्यासः ॥ ७८ ॥

अन्वय — मलय मन्मथैव त दह्यमानै, अपि प्रजालं हस्ते उपास्ते, य सदा यदाशाम् थदलम्बते, असौ कृच्छ्रे अपि तस्य सेवा न उज्झति ।

हिन्दी—मलयाचल काम के ईधन (काम से जलते) उस (यम) की जलते हुए भी प्रवाल (पल्लव)-करा से सेवा करता है । जो सदा जिसकी आशा करता है (जिस आशा अर्थात् दक्षिणादिक् में आश्रित है), वह सफट में भी उस (आश्रयदाता, मरोसे वाले) की सेवा नहीं छोड़ता ।

टिप्पणी—यम प्रचंड कामाग्नि में जल रहा है । मलयाचल अपने पल्लव करों से उनके झुलसने की चिंता न करके भी यम की सुधूपा करता है, इसका लोकसमत कारण यह लगता है कि मलयाचल है दक्षिण में, उसी का स्वामी है यम । दक्षिण दिशा का आश्रित होने के कारण मलय का यह क्तय है कि वह अपने आश्रयदाता की विपदा में काम आये । सा मलय बेचारा अपने हाथों को झुलसाता भी यम की प्रचंड कामाग्नि के उपशमन में मत्तग्न है । मल्लिनाथ के अनुसार अर्थात्तरन्यास, विद्याधर ने ह्यक और इलेपाविद्ध अर्थात्तरन्यास का निर्देश किया है । आशा के दो अर्थ हैं—(१) भरोसा, (२) दक्षिणा दिक् ॥ ७८ ॥

स्मरस्य कीर्त्यैव सितीकृतानि तद्दो प्रतापैरिव तापितानि ।

अङ्गानि घत्त स भवद्वियोगान् पाण्डूनि चण्डज्वरजर्जराणि ॥ ७९ ॥

जीवातु-स्मरस्येति । स यमो भवद्वियोगात्पाण्डूनि चण्डेन तीव्रेण ज्वरेण जर्जराणि अत एव क्रमात् स्मरस्य कीर्त्या सितीकृतानि घवलीकृतानीव तस्य स्मरस्य दो प्रतापैस्तापितानीव स्थितानीत्युभयत्राप्युत्प्रेक्षा । अङ्गानि घत्त । अत्र यथासङ्घोत्प्रेक्षयो सङ्कुर ॥ ७९ ॥

अन्वय—स भवद्वियोगात् पाण्डूनि चण्डज्वरजराणि स्मरस्य कीर्त्या सितीकृतानि इव तद्दो प्रतापै तापितानि इव अङ्गानि घत्त ।

हिन्दी—वह (यम) आप (दमयन्ती) के वियोग से पांडुर, प्रचंड (काम) ज्वर से जर्जरीभूत, (अतएव) काम के यदा से सुध्र हुए जैसे, उस (काम) के पुत्र प्रताप से तब जैसे अगा की धारण कर रहा है ।

टिप्पणी—यम दमयन्ती के वियोग में अत्यन्त पीड़ित है । उसके अंग पांडुर पड़ गये हैं कामाग्नि में जल रहे हैं । कल्पना है कि कामज्वर में

जल्ने विद्योग में पांडुर यम के अंग देख कर लगता है कि काम ने अपने मुज प्रताप में यम का पराभूत कर दिया है और उसके यश की श्रेतिमं हो जैसे यम के जगों पर छा गया है। हाग व्यक्ति भीतर ही भीतर तपमान से जाना रहता है और चिन्ता से उनके जंग पांडुर हो जाते हैं। यम के अंग स्मरकीति ने ही तीव्रत हैं और मुज प्रताप में सत्तापित है—ये दो उ-प्रेषणें यमाम्भ्य हैं, अतः मन्त्रिनाथ के अनुमान यमाम्भ्य और उप्रेक्षाद्वय का सकर है। विद्याधर ने उप्रेक्षा का निर्देश किया है ॥ ७१ ॥

यन्तन्वि । भर्ता धुमृणेन साय दिशः समालम्भनकौतुकिन्या ।

तदा स चेन प्रजिघाय तुभ्य यदा गतो नैति निवृत्त पान्य ॥८०॥

जीवातु—अथ वरुणस्य विरह वर्णयति—य इत्यादि । हे तन्वि । वृथाङ्गि । यो देव साय धुमृणेन कुङ्कुमेन समालम्भने अनुलेपने कौतुकिन्या कुतूहलवत्या वातपारुष्यात् कुङ्कुमलिप्तवद्भासमानाया इत्यर्थ । दिश प्रतीच्या भर्ता प्रात प्राच्या अपि तथा वात्तद्वेषावृत्ययं स्वय प्रहंगम् । स वरुण तदा तस्मिन् काले तुभ्यन्वेन प्रजिघाय प्रहितवान् । 'हे स्वडि' इति कुत्वम् । यदा यस्मिन् काले गत प्रयात् नित्य पन्वान गच्छतीति पान्यां निवन्त्य नैति नायाति अपुनरावृत्तिलिङ्गानुन चिन्तास्वात्सो प्रहितवानि त्मुप्रेक्षा । 'नन्दति न निवर्तन्ते चिन्तास्वात्सोपेता नर' इति वचनात् । अत एवात्र कवे पायसादप्रयोग 'पयो ष निरम्' इति नित्याध्वगन्ने पदिन् शब्दात् षप्रत्ययपान्यादेशयोदियानात् । अत एव 'नित्यप्रहण प्रत्ययार्थ विशेषाम्' इति काशिकायाम् । तन्वित्त्वय्येव सानन्द विरहति न निवर्तन् इति तात्पर्यम् ॥ ८० ॥

अवन्त्र --तन्वि, य साय धुमृणेन समालम्भनकौतुकिन्या, दिश भर्ता स गता तुभ्य चेन प्रजिघाय यदा गत पान्य निवृत्त न एति ।

हिन्दी—ह वृथाङ्गि, जो शब्दाकार में कुङ्कुम से अगराग लगाने वाली दिशा (प्रतीची दिक्) का स्वामी है, उस (वरुण) ने उस समय तुम्हारे प्रति चिन्त भेज दिया है, जिस समय गया पयिक लौटकर नहीं आता ।

टिप्पणी--श्लोक स ८०-८२ सब वरुण का दूतत्व सपादन किया जाता है । इस श्लोक में वरुणस्य यथा ह इति वरुण उस परिचयदिशा का स्वामी है,

जो पति सध्या को (छिपने सूर्य की गनी से लाल हो) अपने धरीर पर वृकुम का धगराग-लेपन कर, शृगार कर, अपने स्वामी के प्रति स्वानुराग प्रकट करती है, परन्तु ऐसा बरुण भी उस घड़ी अपना मन दमयन्ती को दे बैठा है, जिस घड़ी में परदेश गया पथिक लौट कर नहीं जाता । चित्रः और स्वाति नक्षत्रों में गया पथिक लौटता नहीं, ऐसा मान्यता है । सो बरुण को देखकर ऐसी प्रतीति होती है कि उसने भी ऐसी ही घड़ी में दमयन्ती को मन दिया है कि वह गया मन लौट नहीं रहा, अर्थात् बरुण दमयन्ती के प्रति आसक्त हो, अपनी आसक्ति को हटा नहीं पाता । दमयन्ती को दिया गया बरुण का चित्त अब दमयन्ती पर पूर्ण अनुरक्त है, वही सानन्द विहार करता है, लौटता नहीं । विद्याधर के अनुसार ओज गुण ॥ ८७ ॥

तथा न तापाय पयोनिधीनामश्वामुखोत्थ क्षुधित शिखावान् ।

निज पति सप्रति वारिपोऽपि यथा हृदिस्य स्मरतापदु स्य ॥८१॥

जीशानु—तथेति । तथा क्षुधित वृभूक्षित । 'वसतिक्षुयो' इति तिग्रा-
यामिडागम । अश्वामुखोत्थ शिखावान् बडवाग्नि पयोनिधीना तापाय न
भवति यथासौ स्मरदाहेन दुःख तिष्ठतीति दुःस्थोऽस्वस्थो निज पतिवदग
हृदि तिष्ठतीति हृदिस्य स्मरमाण एव वारीणि पातीति वारिपो वारि
रक्षकोऽपि सन् तापाय भवति तथा साक्षात्कुक्षिस्थोऽपि बडवाग्निर्न तापय-
तीत्यर्थ । ईदृक्तापासम्बन्धेऽपि, सम्बन्धोक्तैरतिशयोक्तिभेद ॥ ८१ ॥

अन्वय — यथा स्मरतापदु स्य वारिप अपि हृदिस्थ निज पति पयो-
निधीना तापाय तथा क्षुधित अश्वामुखोत्थ शिखावान् न ।

हिन्दी—जैसा काम ताप से अस्वस्थ जन्मे का रक्षक (स्वामी) भी
हृदयस्थित (मध्य में विराजमान, स्मरणीय) इवीय स्वामी (बरुण) जन्मे
के आगारो (समुद्रों) को सतप्त कर रहा है, वैसा भूला बडवामुख से उरियत
शिखी (बडवानल) नहीं करता ।

टिप्पणी—दमयन्ती के वियोग में बरुण का काम-सनाप इतना बढ़ गया
कि उसके समुख बडवाग्नि भी कुछ नहीं । यद्यपि बरुण 'वारिप' अर्थात्
जन्मे का स्वामी है, उसे तापोपशम के लिए जल की भया कमी, तयारि ताप
झना कि समुद्र—जलनिधि भी उसने उसने उतप्त रहते हैं, जितने कि

मध्य में बसने बडवानल में भी उत्सव नहीं हो पाते । वरुण के अश्वस्य रहने में उसके रश्मि समुद्र भी मजस हैं । स्वामी—रक्षक के अश्वस्य से रश्मियों को व्यापक बडवाती ही है । 'हृदिस्थ' और 'वारिष' वरुण और 'शिखावात्' दोनों के विशेषण हैं । 'हृदिस्थ' अर्थात् हृदय में विराजित स्वामी वरुण तथा 'हृदिस्थ' अर्थात् मध्य में रहना बडवानल । वरुण 'वारिष गतीति वारिष' है, अर्थात् अश्वसानी । बडवानल 'वारिष पिबतीति वारिष' है—जल में सोखनेवाला अर्थ । वरुण और बडवानल शब्दों में विशेषणार्थ समान हैं—वारिष और हृदिस्थ दोनों हैं, तथापि वरुण 'क्षामशापदुग्ध' होने से अधिक तापदायक है । बडवानल समरशापदुग्ध नहीं है । इसी कारण वरुण बडवानल में अधिक तापदायक बन गया है । उठना बड़ा है वरुण का सन्दाप हि समुद्र भी उससे ठन रहे हैं । वारिषरक्षक होने भी वरुण अपना ताप दे रहा है, उठना वारिष पीने वाला बडवानल नहीं । रक्षक मजस से ब्रह्म गया है । इस प्रकार के ताप में अमकष्य रहने पर भी मजस वषट् के कारण मन्त्रिनाय के अन्वयान् उन्निशोक्ति अलंकार ॥ ८१ ॥

यत्र प्रच्युत त्वन्मृदाद्वाह्वस्त्रीन्मूनिवज्र गुम्फति दुर्विनीता ।

ननो विधनेऽत्रिकमेव ताप तेन शिता शैत्यगुणा नृणाम् ॥ ८२ ॥

जीवानु—यदिति । तेन वरुणेन शिता सन्तापनात्तये सेविता शैत्यमेव गुणो यस्या सा शैत्यगुणा शीतलैक्यवद्भावेदर्थ । तथापि दुर्विनीता प्रति-
 बन्धाग्नी मृगाती वात्सृगात् । जत्र विविक्षाया श्रीतिङ्गता 'श्री-
 म्यात्तावि मृगात्तादिविक्शापचर यदि' इत्यमर । 'जतिरश्रीविषयादयोप-
 षात्' इति ङीप् । यद्यन्तात्तत्र मृदुवाह्वस्त्र्याविव तथा स्मृतीना शत्र नात्
 गुम्फति रचयति अजस्र स्मारपत्रीचर्य तदम्बद्वाह्वस्त्र्यादेतो प्रच्युत
 वैदरीत्वेन । प्रच्युते मुन्निवर्णोश्च उति गन्त्र्यान्नामम् । अत्रिक तापमेव
 विधने विद्यते एतेनास्य ज्वरावस्थायाः । जत्र मृगात्त्या कविमन्त्र-
 मासनाद्वाह्वस्त्रीन्मारक्यान्ते स्मरणात्प्रच्युत । प्रच्युतीकनेन तस्यान्ताप-
 शान्तिहृदोस्त्रिरीतत्रात्प्रच्युतिरूपनाद्विद्यतेऽर्थात्प्रच्युतीकनेन विषमात्-
 प्रच्युतभेद इत्यन्योरङ्गाङ्गिनात्वेन सङ्कर ॥ ८२ ॥

अवयव—नैषधगुणा तेन शिवा मृणाली यत् त्वन्मृदुबाहुवल्लीस्मृतिलक्ष
गुण्यति तत्र प्रयुक्त अधिकम् एव ताप विधत्ते (अतएव) दुर्विनीता ।

हिन्दी—शीतलता जिनका गुण (नित्यधम) है, उस (वरुण) के द्वारा (तापोरक्षम के निमित्त) धारण की गयी बाल मृणाली, क्यों कि तेरी शीतलताओं की स्मरणमाला भूषती है (सादृश्य के कारण भुजाओं का स्मरण दिलाती है) उस कारण, अपने गुण के विपरीत अधिक ही सन्ताप दिया करती है । सो वह मृणाली दुष्ट है ।

टिप्पणी—कामोपशांति के निमित्त वरुण शीतगुणा मृणाली का प्रयोग करता है, परन्तु मृणालता देखकर सदृशता के कारण उसे दमयन्ती की बालमृणाली समान बाहों का स्मरण हो जाता है और उसका सन्ताप शान्त होने के स्थान पर और बढ़ जाता है । इस प्रकार मृणाली का गुण दोगुना जाता है और वह गुणवती के स्थान पर सदोषा प्रमाणित होती है । तात्पर्य यह कि वरुण का कामोपशांति अब शान्तयोग्य भी नहीं रह गया है । ऐसा बढ़ गया है उसका कामज्वर । कविसमस्त सादृश्य के कारण मृणाली की बाहुवल्ली का स्मरण कराने वाला कहा गया, अतः स्मरणालंकार है । मृणाली साप-शांति का हेतु है, किन्तु उससे ताप और बढ़ रहा है, सो विरुद्ध कार्य की उत्पत्ति हो रही है । इस कथन के कारण विरुद्धकार्योपति रूप विषमालंकार का भेद हुआ । इस प्रकार मल्लिनाथ के अनुसार स्मरण और विषम का अगागिमाव सकर है, विद्याधर ने भी छेकानुप्रास के साथ ही, स्मरण और विरोध का निर्देश किया है ॥ ८२ ॥

न्यस्तं ततस्तेन मृणालदण्डखण्डं बभासे हृदि तापभाजि ।

तच्चिन्तमर्गमर्दनस्य बाणै कृतं शतच्छिद्रमिष क्षणेन । ८३ ॥

जीवातु—न्यस्तमिति । ततस्तदनंतरमपि तेन वरणेन तापभाजि हृदये न्यस्तं मृणालदण्डस्य विसकाण्डस्य खण्डं शकल तस्य वरुणस्य चित्ते मर्ग-मर्दनस्य बाणै क्षणेन कृतं शिद्राणि यस्य तत्तथा कृतमिदं प्रतिशूलाचरण-रोषाच्छतधा प्रणीतमिव बभासे । उत्प्रेक्षा ॥ ८३ ॥

अन्वय—ततः तेन तापभाजि हृदि न्यस्तं मृणालदण्डखण्डं तच्चिन्तमर्ग-मर्दनस्य बाणै क्षणेन शतच्छिद्रं कृतम् इव बभासे ।

हिन्दी—द्वेज्ज (वरुण) के द्वारा सताप पाते (सतल) हृदय पर रखा मृगाल-दण्ड का खड्ड उठा (वरुण) के वित्त में घसि काम के दागों में उस क्षण मनु शन छिद्रों में दूक्त बैठा गोमित हुआ ।

टिप्पणी—काम के दागों में वरुण का हृदय जख्म हो रहा है । वरुण के सत्प हृदय पर रखे मृगालदण्ड में निहित अनेक छिद्र ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे कानवालों के प्रविष्ट होने से हृदय में बने छिद्र । मृगाली ने उपरम देने के स्थान पर और ताप देकर प्रतिकूल आचरण हुआ, दहस्वरुण उसमें मँडका छिद्र कर दिने गये । उच्छ्वासा ॥ ८३ ॥

इति त्रिलोकीतिलकेषु तेषु मनोमुवो विक्रमकामचार ।

अमोघमन्त्र भवतीमवाप्य मदान्धतानगलचापस्त्य ॥ ८४ ॥

औवानु—श्रीति । हे भूमि ! भवतीमैवामोघमन्त्रवाप्य मदान्धतया अनगन्त्रात्म्य उच्छृङ्खलवेष्टितस्य मनोमुव कामस्य त्रिलोकीतिलकेषु त्रिमुवनभूषणेषु तेष्विन्द्रादिषु विपये स्तीय विक्रमस्य कामचार स्वाच्छन्द-वृत्तिर्वर्तते इति शेष ॥ ८४ ॥

अन्वय—इति भवतांम् अमोघम् अस्त्रम् अवाप्य मदान्धतानगलचापस्त्य मनोमुव तेषु त्रिलोकीतिलकेषु कामचार ।

हिन्दी—इस प्रकार आप (दमयन्ती) को अन्वय अस्त्ररूप में प्राप्त करने अग्निनाश से अघे होने के कारण उच्छृङ्खल चपन्ना धारण करते मनोव (काम) का उन (इन्द्रादि) तीनों लोकों के तिनक-स्वरुप देवों के प्रति पराक्रम का स्वेच्छाचार चला रहा है ।

टिप्पणी—चारों देवों के दुःकार्य-सपादन का समाहार करते हुए नल ने यह बताया कि दमयन्ती के रूप में कामदेव को अब ऐसा अमोघ अस्त्र मिल गया है कि अब वह बड़े बड़े त्रिलोकी के शृंगार इन्द्र, यम, अग्नि, वरुण जैसे दिव्यनायों की भी अवमानना कर रहा है । काम अब मदाघ, उच्छृङ्खल-निमर्षाद और स्वेच्छाचारी हो गया है । अब वह दुर्विचय हो गया है । अतएव यह कि दमयन्ती का अस्त्र सौन्दर्य जात-विमोहन है । नारायण के अनुसार काम दमयन्ती को अस्त्ररूप में पाकर मतवाले, मदाघ गज के सदृश सबको घसत कर रहा है—'मदान्धतेभ्यनेन कामस्य द्विरदत्त्व मृचितम् ।' विद्याधर के अनुसार ऐकानुप्रास और रूपक अलंकार हैं ॥ ८४ ॥

माणेऽप्य धारेव मुधारमस्य स्वयवर श्वो भविता भवेति ।

मन्तर्पयन्ती दमयन्ति । तेषां श्रुतिः श्रुती नाकजुषामयामीत् ॥ ८५ ॥

जीवानु—सार इति । अथानन्तरममये हे दमयन्ति । तत्र स्वयवर श्व परेऽर्हन् भविता भविष्यतीति श्रुतिर्वाता । 'श्रुति श्रोत्रेऽप्ययाम्नाये वाठीया श्रोत्रमणि' इति विश्व । सुधारमस्य सार सारभूता घोत्रेव सन्तर्पयन्ती नामजुषामिन्द्रादीनां श्रुती श्रोत्र अयामीत् प्राप । 'मारोत्रे'ति पाठे सारप्रभवेत्यर्थ ॥ ८५ ॥

अन्वय—अथ दमयन्ति, तत्र स्वयवर श्व भविता—इति श्रुति मुषा रमस्य सार धारा इव मन्तर्पयन्ती नाकजुषा श्रुती अयामीत् ।

हिंसी—अत्र हे दमयन्ति, तुम्हारा स्वयवर ऋ होने वाला है—यह समाचार पीषुपरस की मारभूत धारा के तुम्हें मलीनीति नृस करती स्वर्ण-वामिना के कानों में पहुँची है ।

टिप्पणी—दमयन्ती का स्वयवर शीघ्र होगा, यह समाचार जब से इन्द्रादि के मुना है, बड़े प्रमत्त है,—इतने कि त्रितन पीषुपरमधारान से सतृप्त होते । उन्हें लग रहा है कि अब उनके विद्योग की घटिया समाप्त होगी ॥ ८५ ॥

मम सपत्नीभवदुःखतोऽपौ स्वदारनामापयिरेमं हृदि म ।

अनङ्गोयान्तरानाद् दुःखैरथ प्रतस्ये हृदिता मरुदिम ॥ ८६ ॥

जीवानु—समिति । मम स्वयवरवार्ताधवगानन्तरमनङ्गस्य शौर्यात्तलेन प्रतापग्निना यस्तापमतेन दुःखैरथस्वर्षहंरिवा दिशा सम्बन्धिनिर्मरुद्भिर्दे-
वैरिन्द्रादिभिः स्वस्वामिभावसदधे पट्टोसमास । समान पतिपत्न्या सा सपत्नी । 'नित्य सपत्न्यादिषु' इति छोप् तकारश्च । तद्भवेन दुःखेन तोडगीदुःसहै स्वदारात् नासामु पयान गच्छन्तीति पयिर्ष पाथर्मर्षद्भिः सम वाधुनि सह 'मदतो पवनामरो' इत्यमर । प्रतस्ये प्रसियत नावे णिच् । शच्यादिभि-
रिन्द्रादिभिरनारागामिसापत्न्यदुःखादीधंमुगाश्च निश्चितनिरपयं । अत्र पवनामरप्रस्थानयो कायंकारणभावात्तदङ्गलक्षणातिशयोक्त्युप्यापिन सहो-
वपलकार । 'सहायैतान्वयो यत्र भवेदतिशयोक्तिवत् । क्वचित्तोपम्यपर्यंता सा सहोचित्तिहोष्यते ॥' इति लक्षणात् ॥ ८६ ॥

अन्वयः—अत्र अनङ्गशोर्मानलतापदु स्वीं हृग्नि मरुद्भिः सपत्नीभव-
दु सतीशं स्वदानासागणिकं मरुद्भिः सम प्रतन्वे ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (स्वयवर समाचा -श्रवणानंतर) कामदेव के प्रसा-
पान्निसत्ताप से अस्वम्य दिशाओं के स्वामियों (इन्द्रादि दिक्पालों) ने
सपत्नीहेतुक (मोड़ के कारण उत्पन्न) दुःख से तीक्ष्ण (अत्यन्त उष्ण)
अपनी पत्नियों की नासिका के पथिक वायु (श्वास-अनिल) के साथ
प्रस्थान किया ।

टिप्पणी—काम के वशीभूत, कामपीडित इन्द्रादि दिक्पाल दमयन्ती के
स्वयवर का समाचार सुनकर स्वयवर में सम्मिलित होने चले पडे । उनकी
पत्नियों ने उनके इन कार्य को देखकर दुःखमय उच्छ्वास लिया, क्योंकि
उहे लगा कि दमयन्ती के रूप में उनकी एक और सौत आ जायेगी । सौत के
कारण स्त्रियों को पीडा होती ही है । दिक्पालों ने अपने दारमडल के कष्ट
पर कोई ध्यान नहीं दिया और दुःख के कारण उष्ण उच्छ्वास छोड़नी अपनी
पत्नियों की ओर ध्यान न देकर वे उसी प्रकार प्रस्थान कर गये, जैसे पथिक
को यात्रा पर जाते देख अन्य पथिक भी चले उठता है । इधर देवदारार्यों की
नासिका के पथिक उच्छ्वास चले, उधर दिक्पाल देवगण चले पडे । नारायण
की टिप्पणी के अनुसार मात्रासभ्य में देवदारार्यों के नासिका सबडे उष्ण वायु
अशक्त मूत्रक हुए—'अशक्तवायुभिः साधमित्यनेनाशक्तुन मूत्रितम् ।' पवन
और देव प्रस्थान में कार्यकारण भाव होने में महिलनाय के अनुसार इस श्लोक
में अतिगयोक्त्यागित सहोक्ति अलंकार है, विद्याधर के अनुसार अनुप्रास
और सहोक्ति । उपेन्द्रवज्रा छन्द ॥ ८६ ॥

अपाम्तपायेयमुधोपयोगेस्त्वन्धुम्बिनेव स्वमनोरथेन ।

क्षुप्रश्च निर्वापयता तूपश्च स्वादीयमाध्वागमित-सुम्न तो ॥ ८७ ॥

जीवातु-अपास्तेति । पयि साधु पायेयम् । 'पायेय सबल स्मृतम्' इति
यादव । 'पय्यटिपिवसतिस्वपतेर्दुः' । तच्चामी सुधा च तस्या उपसायो-
ष्पास्ता यैरिन्द्रादिभिः क्षुप्र क्षुप्रश्च तूप तृष्णा पिपासा निर्वापयता शनन्तता
स्वादीयता अमृतादि स्वादुतरेण त्वन्धुम्बिना मवद्गोचरेण स्वय मनोरथे-

नैवान्ना सुख गमितो नीत, समृतमप्युत्सृज्य त्वद्ध्यानमात्रमन्वया प्राप्ता
दम्पति ॥ ८७ ॥

अन्वय—अपास्तपादेयमुधापयोगे तै धुष तृष च निर्वापयता स्वादीयता
श्चच्छुम्बिता स्वमनोरथेन एव अथवा सुख गमित ।

हिन्दी—पाथेय (मांग का मोहन सुदल) रूप समृत का उपयोग छोड़े
वे (दिक्पाल) भूल और प्यास को भुगकर अतिस्वादिष्ट तेरा (दमयन्ती)
चुम्बन करते (दमयन्ती-विषयक) अमिलाप (मनोरथ रूपरथ) से ही
मांग सुखपूर्वक पार कर गिये ।

टिप्पणी—दमयन्ती को पाने के निमित्त इतने उत्कण्ठि है दिक्पाल कि
उन्होंने न तो अपने प्रिय पाथेय अनृत का ही उपयोग किया, न मांग में
उपयोगार्थ साध लिया । उन्होंने न भूल की चिन्ता की और न प्यास
की । वे मांग में यही सोचते-विचारते मन मोदक खाते चले आय कि कैसे
उन्हें दमयन्ती प्राप्त होगी और जब प्राप्त होगी तब किस-किस प्रकार से उसके
सोप आनन्द विहार करेंगे ? यही सोचते विचारते भक्ति भाँति के अमिलाप
करते देवगण बिना किसी पाथेय के ही सुखपूर्वक यात्रा पूरी कर आये ।
दमयन्ती के विषय में विचारते वे भूल-प्यास की चिन्ता से मुक्त हो गये, न
कोई पाथेय साध लिया, प्रिय, स्वादु अनृत भी छोड़ा, बस जैसे मनोरथ के
शीघ्रगामी रथ पर ही चले आय । दमयन्ती की प्राप्ति के आगे उन्हें सब नगण्य
रुगा । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ८७ ॥

प्रिया मनोभूषणदावदाहे देवीस्त्वदर्थेन निमज्जयद्भिः ।

सुरेषु सारं क्रियतेऽधुना तै पादारपणानुग्रहभूरिय भू ॥ ८८ ॥

जीवानु-प्रिया इति । त्वमेवाय प्रयोजन तेन निमित्तेन प्रिया दयिता
देवी शच्यादिवारा मनोभुषण कामस्य शरा एव दावो दावाग्निस्त्वस्य दाहे
विरहानले निमज्जयद्भिः सुरेषु सारं धंष्टरिन्द्रादिमिरधुना इय भुविदमंदेश
पादारपणमेवानुग्रहस्तस्य भू म्यान क्रियते । कुण्डिनोपकण्ठ एव तिष्ठन्तीत्यर्थं ॥

अन्वय—त्वदर्थेन प्रिया देवी मनोभूषणदावदाह निमज्जयद्भिः सुरेषु
सारं तै अधुना इय भू पादारपणानुग्रहम् क्रियते ।

हिन्दी—सुरेश (दमयन्ती के) निमित्त प्रिय देवियों (शची आदि

पत्निया) को मनोप्रय (काम) के बाणानल के दाह में निमग्न करते देवों ने नारमुन (श्रेष्ठ) वे (इन्द्रादि) इस समय इस घरती (कुण्डिनपुरी प्रदेश) को (स्व) चरण रखने का कृपापात्र बना रहे हैं ।

टिप्पणी—दमयन्ती को पारों के इन्द्रुक इन्द्रादि बगनी-अपनी प्रिय पत्निया को विरह पीडिता, काम-बाण-दग्धा बनाने इस समय कुण्डिनपुरी के प्रदेश में स्थित हैं और स्वचरण निक्षेप की कृपा कर रहे हैं । दमयन्ती के लिए शिकूल यहाँ आ गये हैं और उनकी देवियाँ उनका वेग में दग्ध हो रही हैं । विद्याधर के अनुसार अनिशयोक्ति ॥ ८८ ॥

अलङ्कृतामन्नमहीविभागैरय जनस्त्वरमरैर्भवन्नाम् ।

अवापितो जङ्गमलेख्यलक्ष्मी निक्षिप्य सन्देशमप्राक्षराणि । ८९ ॥

जीवानु-अलङ्कृतेति । अलङ्कृत यामन्नमहीविभागो भूप्रदेशो दैर्घ्य-समीप गर्वस्त्वरमरैरय जन स्वप्रमित्यर्थं । भवत्या विपये त्वा प्रवीत्यर्थं । सन्देशमप्राक्षराणि सन्देशरूपाणि वाक्यानि निक्षिप्य अर्पयित्वा जङ्गमलेख्यस्य च लेख्यस्य लक्ष्मीमवापित तेषामह सन्देशहृ इत्यर्थं ॥ ८९ ॥

अन्वय—अलङ्कृतामन्नमहीविभागैः तै अमरै भवत्या सन्देशमप्राक्षराणि निक्षिप्य अय जन-जङ्गमलेख्यलक्ष्मीम् अवापित ।

हिन्दी - निकटस्थ घरती के विभाग (कुण्डिनपुरी प्रदेश) को मुशोभित करते इन अमरों (इन्द्रादि) ने आप (दमयन्ती) में सबद सदेश से पूर्ण अक्षर (सदेश-वाक्य) देकर इस जन (नल) को चैतन्य आलेख की शोभा को प्राप्त कर दिया है ।

टिप्पणी—शिशुभाषा में नल ने दमयन्ती को सूचित किया कि वे देवगण कुण्डिनपुरी के निकट उपस्थित हैं और नल का उन्होंने अपना सदेशवाहक बनाकर भेजा है । कोई लिखित सदेश भेजने की अपेक्षा उन्होंने मौखिक सदेश भेजना अधिक उपयुक्त समझा । नल क्या है, देवा की चैतन्य, जीवित, चलती-फिरती सदेशप्रविका है । विद्याधर के अनुसार रूपक ब्रह्मकार ॥ ८९ ॥

एकैकमेते परिरम्य पीनस्वमापपीड त्वयि सन्दिशन्ति ।

त्व मूच्छंयान्न स्मरमिल्लशाल्यंमुदे विशल्योपप्रिवन्तिरेधि ॥ ९० ॥

जीवानु—एकैकमिति । एते देवा एकैक प्रत्येकनेवेत्यर्थं । वीष्माया

टिप्पणी—देवो की इच्छा है कि जैसे सूर्य के चारो ओर मडल बनता है, वैसे ही देवो को अपनी बाँहा के घेरे में लेकर दमयन्ती उन्हें बकपाली (अँकवार—गले में बाँह डालकर) देकर भेंटें और इस प्रकार काम की लीलायित लहरियो से युक्त अतएव शीतल अपने अगो के स्पर्श से देवो का काम ताप दूर करे । अनग की लीला का ताप अपने अग सस्पर्श से मिटाय । देवगण सूर्य के सदृश कामताप से तप रहे है, 'लहरीतुषार अगो' का शीतल सग उस ताप को दूर कर मकेगा । सकाम अगस्पर्श से देवो का कामग्वर शान्ति को प्राप्त हो जायेगा । जब इसमें विलम्ब बहृकारक बन रहा है । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार छेवानुप्रास ॥ ९२ ॥

दयस्व नो घातय नवमस्माननङ्गचाण्डालशरैरदृश्यैः ।

भिन्नावर तीक्ष्णकटाक्षवाणै प्रेमस्तव प्रेमरसात्पवित्रै ॥ ९३ ॥

जीवात्—दृष्टयेति । हे भूमि ! नोऽस्माक दयस्व अस्माननुक्म्पस्वेत्यर्थ । 'अधीप्येदेवसा कमणि' इति प्रथी । अक्षरैरलक्ष्यैरनङ्ग एव चाण्डालस्तस्य शरैरेषमस्मान् न घातय न मारिष । किन्तु प्रेमैव रसोऽनुरागो जल च तस्मान्निविने लुडस्तव तीक्ष्णैः कटाक्षैरेव वाणैभिना विदारिता सन्त प्रेम प्रियाम्प्रेम प्रपूर्वादिणो लुडतमबहुवचनम् । वर मनाक् प्रियम् । जीवना-मम्मवे वर चाण्डालहस्तमरणात्तीर्थमरणमिति भाव ॥ ९३ ॥

अन्वयः—हे भूमि, दयस्व, अदृश्ये, अनुङ्गचाण्डालशरै एवम् अस्मान् न घातय, प्रेमरसात्, पवित्रैः तव तीक्ष्णकटाक्ष प्रेमैः—वरम् ।

हिन्दी—हम पर दया करो । अदृश्य अदृह- (काम) रूप चाण्डाल के बाणा द्वारा इस प्रकार हमें न मारो । प्रेम के रस से पवित्र तेरे तीव्र कटाक्षो (बाणो) से मरें—यह अच्छा है ।

टिप्पणी—निघ चाण्डाल के बाणा से मरना उचित नहीं माना जाता, उसकी अपेक्षा किसी प्रवित्र गुद्धाचारी व्यक्ति द्वारा वध अच्छा है । देवो की भी यही कामना है कि चाण्डालसम काम-बाणो से उनकी हत्या न हो, दमयन्ती के प्रेमरसनात (परिपूण) कटाक्षो की बलि मले ही वे बन जायें । भाव वही है कि दमयन्ती क्या देवो को कामपीडा का आछेट बनवा रही है, उनका वरण कर अपने प्रेममरे कटाक्षा से उन्हें कृतार्थ करे । और

जब मरना ही है तो चाडाल के हाथों क्यों मरा जाय, (प्रेमरसपूर्ण) तीर्थस्थल पर क्यों न प्राण दिये जायें ? विद्याधर के अनुसार रूपक और अनिशाक्ति अलंकार हैं ॥ ९३ ॥

त्वर्दयितुं सन्तु परस्मैह्यस्वा प्राणान्तु नस्त्वच्चरणप्रसाद ।

विशङ्कमे कैतवर्नतिनश्चेदन्तश्चर पञ्चशरं प्रमाणम् ॥ ९४ ॥

जीवानु—स्वदिति । ह मैंमि । त्वामर्थयन्त इति त्वर्दयितुं त्वत्कामुका महत्सात् परे परस्मैह्यस्वा महत्साप्तिकमहृचाका इत्यर्थ । 'परशताद्यास्ते येषा परा सङ्ख्या शताप्तिका' इत्यमर । पञ्चमीति योगविभागात् ममाम्, रात्रदतादित्वादुपमजनस्य सहस्रशब्दस्य परनिपात । पारस्करादित्वात् मुडागम । स तु, नोऽस्मात् प्राणान्तु त्वच्चरणयो प्रसादोऽनुग्रहो वय त्वदेका-यत्तवीविना इत्यर्थ । अयं कैतवर्नतिन कपटनाटक विशङ्कमे चेत् अतश्चरो हृदयान्तर्वर्ती पञ्चशरं प्रमाणम् काम एवान् साक्षी । स हि महतो देवतेति भाव ॥ ९४ ॥

अन्वयः—स्वर्दयितुं परस्मैह्यस्वा सन्तु न प्राणाः तु त्वच्चरणप्रसाद , कैतवर्नतिन चेत् विशङ्कमे, अन्तश्चर पञ्चशरं प्रमाणम् ।

हिन्दो—तेरे चाडनेवाले महत्साप्तिक हो, परन्तु हमारे (देवों के) प्राण तो तेरे (दमयन्ती के) चरणों की प्रसन्नता है । यदि तुम्हें आगका है कि हमारा कपटनृत्य (झूठा कथन) है, तो इसका माझी अन्तम् मे सचरण करता पचवाण (काम) है ।

टिप्पणी—देवों का कथन है कि, लोक में अनेक व्यक्ति दमयन्ती के प्रार्थी हो मरने हैं परन्तु उनकी अपेक्षा देवों का प्रणय अधिक ध्यान देने योग्य है, क्योंकि यदि देवों को दमयन्ती के चरणों का प्रसाद न मिला तो उनके प्राण निकल जायेंगे । मर्त्यलोकवासियों के प्राण भी दमयन्ती के बिना निकल सकते हैं, परन्तु इसमें विशेष हानि न होगी । मर्त्य तो मरणप्रर्मा है ही, उनके प्राण निकले, वे मर गये । इसमें नवीन क्या है ? आपत्ति की बात तब होगी, जब जनर देव निष्प्राण हो, श्वर-उपर प्रस्मरमूर्तिया जैसे पडे मिलेने जनर हान के कारण वे मरेंगे तो नहीं, निष्प्राण हो जायेंगे । यह निश्चय ही आपत्तिजनक होगा । देवों का यह कथन निथ्या भी नहीं है,

इसका साक्षी हूँ सबके हृदय में वास करता मनोज, महादेवता काम । काम अन्तवर्ती होने से सब जानता है । अतः दमयन्ती का अनुग्रह देवों को ही मिलना उचित है । विद्याधर के अनुसार अतिसयोक्ति अलंकार ॥ ९४ ॥

अस्माकमध्यासितमेतदन्तस्तावद्भवत्या हृदय चिराय ।

वह्निस्त्वयालङ्क्रियतामिदानीमुरो मुर विद्विपत श्रियेव ॥९५॥

जीवातु—अस्माकमिति । भवत्या पूज्यमा । भवतेर्द्वन्द्वप्रत्ययः । 'उगितञ्च' इति ङीप् । त्वयाऽस्माकमेतदन्तर्वन्ति हृदय स्वान्त चिराय चिरात्प्रमृति अध्यासित तावदधिष्ठितमेव । अवधारणे तावच्छब्दः । निरन्तरचिन्तयेति भावः किं त्विदानीं बहिर्वाह्यमपि हृदय वक्ष्ये 'हृदय वक्षसि स्वान्तम्' इति विश्वः । मुर मुरस्य विद्विपतो विष्णोःसुरो हृदय 'द्विपोऽग्निने' इति सत्प्रत्ययः । 'द्विप श्वतुर्वा' इति विक्ल्पात् 'न लोके' इत्यादिना पृष्ठीप्रतिषेधः । श्रियेवालङ्क्रियताम् ॥ ९५ ॥

अन्वयः—भवत्या अस्माकम् एतत् हृदयम् तावत् चिराय अतः अध्यासितम्, इदानीम् मुर विद्विपत उरः श्रिया इव त्वया बहिः अलङ्क्रियताम् ।

हिन्दी—आप (दमयन्ती) ने हमारा (देवा का) यह हृदय बहुत समय तक भीतर रखा, अब मुरारि (विष्णु) के हृदय को (अलङ्कृत करती) तेरे (दमयन्ती के) द्वारा बाहर सुशोभित किया जाय ।

टिप्पणी—देवों का निवेदन है कि उनका हृदयस्थित प्रणय बहुत समय तक दमयन्ती द्वारा अप्रकट रहा, अब वह उसे प्रकट करे । इसके लिए उपमान है विष्णु के अन्तस् और प्रकट वक्ष पर आवाम करती लक्ष्मी । जैसे विष्णु के हृदय में वास करती लक्ष्मी उनके वक्ष पर भी प्रकट है, वैसे ही देवा का प्रणय भी आभ्यन्तर और बाह्य-दोना रूपों में रहना चाहिए, बहुत दिना तक देवा का हृदय दमयन्ती के अन्तस् में रह आया-देवों ने अपना हृदय चिरकाल से दमयन्ती का दे रखा है, अब दमयन्ती को उचित है कि वह उन्हें बरे और हृदयार्थिलगन दे, कृतवाम बनाये । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और उपमालंकार ॥ ९५ ॥

दयोदयश्चेतसि चेतवान्दलङ्कुरं द्यां विष्णो विष्णुम् ।
 भुवः स्वरादेशमाचरामो भूमौ धृतिं यामि यदि स्वभूमौ ॥१६॥

जीवानु—देवति । तव चेतसि दयोदयं दयाविनाशं जन्ञ्चेत् द्यां स्वानलङ्कुरं विष्णो विष्णुं दण्ड्यं । 'भुमन्व्यं शीघ्रम्' इति न्यायादिति भावः । अथापवा स्वभूमौ स्वजन्मस्थाने भूमौ भूतोके धृतिं सन्तोषं यामि यदि तर्हि भुवो भूमे स्वरादेशं स्वर्गलोकमाचराम' इति चार्थं न्यायान्तरं दण्ड्यं । स्वाधिष्ठित एव स्वां इति भावः ॥ १६ ॥

अन्वयः—तव चेतसि दयोदयं चेत् अहं द्याम् अलङ्कुरु, विष्णुः विष्णुः, अथ स्वभूमौ भूमौ धृतिं यामि, भुवः स्वरादेशम् आचराम' ।

हिन्दी—तेरे (दमयन्ती के) चित्त में यदि दया उदित हो तो स्वर्ग को लुप्त कर, विष्णु व्ययं है । जोर यदि अपनी जन्मस्थली भूमि पर प्रीति करती हो तो भू का ही स्वरादेश कर दे (धरती का ही स्वां बना दे) ।

टिप्पणी—देव-प्रस्ताव है कि यदि दमयन्ती उनके साथ स्वर्गमुख का अन्वय करना चाहती है तो व्ययं विष्णु न करके, उनके साथ तुरन्त स्वर्ग चले । तमभूमि भव को प्रिय होती है, जो दमयन्ती को भी प्रिय हो सकती है । यदि वह धरती पर ही रहने की इच्छा हो तो वैसा प्रवचन भी हो सकेगा । देवान् भुवो स्वर्गमुख धरती पर ही उपस्थित करके उन धरती को ही स्वर्ग बना दें जोर यही चले जायेंगे । 'भुवः स्वरादेशमाचराम' में विशेष बलान्तर है । 'भू' का 'स्वरादेश' कर दे, अर्थात् 'भू' में जो 'व्यञ्जन भू' है, उसके स्थान में 'स्वर' कर दे । व्यञ्जन स्वर के द्वारा व्यञ्जित होता उसके उच्चारण में प्राणवायु में उचरोय होता है । इन प्रकार उसमें निर्वाणता, स्वतन्त्रता नहीं है । इसके विपरीत 'स्वर' होता है स्वयं उदित—'स्वयं गजन्त इति स्वराः ।' (पातञ्जल महान्याय-१।१।११) । स्वर के उच्चारण में प्राणवायु अवाप्यति रहती है, अतः वह निर्वाण, स्वतन्त्र है । भूलोक और स्वर्ग में भी यही अन्तर है व्यञ्जन-स्वर का । भू में दाया है, स्थान स्थान पर दाया । स्वर्गलोक है स्वतन्त्र, वाप्यारहित । देव आ दयो प्रस्ताव है कि दमयन्ती की इच्छा होने पर भूलोक को भी स्वर्गलोक स्वच्छन्द क्रीडामय्यती

बनाया जा सकता है। जहाँ दमयन्ती होगी, वहीं देव रहेगे, वही स्वर्ग बन जायेगा। विद्यावर के अनुसार अनुप्रास और काव्यलिंग अलंकार ॥ ९६ ॥

धिनोति नास्मान् जलजेन पूजा त्वयान्ब्रह्म तन्वि । वितन्व्यमाना ।

तव प्रसादाय नते तु मौली पूजास्तु नस्त्वत्पदपङ्कजाभ्याम् ॥ ९७ ॥

जीवानु—धिनोतीति । तन्वि । त्वया अबहमनुदिन वीप्सायामव्ययीभाव 'अनञ्च, नपुंसकादयतरस्याम्' इति समासान्त, 'अह्णष्टखोरेव' इति टिलोप । वितन्व्यमाना क्रियमाणा जलजेन जातावेकवचनम् । जलजं पूजा अस्मान् न धिनोति न प्रीणयति । किन्तु तव प्रसादाय प्रसादार्यं नते नञ्च मौली मूर्ध्नि त्वत्पदपङ्कजाभ्या नोऽस्माकं पूजा अस्तु । प्रणयापराधेषु त्वत्पादताडनाधिनो वयमिति भाव ॥ ९७ ॥

अन्वय—तन्वि, त्वया अबह्म वितन्व्यमाना जलजेन पूजा अस्मान् न धिनोति, तव प्रसादाय तु नते मौली त्वत्पादपङ्कजाभ्या न. पूजा अस्तु ।

हिन्दी—हे कुशागि, तेरे (दमयन्ती के) द्वारा प्रतिदिन की जाती कमल द्वारा पूजा हमें प्रसन्न नहीं करती, तुझे प्रसन्न करने के लिए झुके सिरों में तेरे चरण-कमलों द्वारा हमारी पूजा हो ।

टिप्पणी—देवों का प्रणय निवेदन है कि दमयन्ती ही देवपूज्या है, देव दमयन्तीपूज्य नहीं । देवों को यह नहीं रुचता कि अपने हाथ से कमल चढ़ा कर दमयन्ती देवों को पूजती है । व तो यह चाहते हैं कि सामान्य कमल निवेदन करने के स्थान में अपने चरणों में मनाने के लिए झुके देवों के सिर पर दमयन्ती अपने चरण कमल चढ़ाये । देवप्रिया दमयन्ती उन्हें वरने के पश्चात् कभी प्रणयक्रोष करे, देख उसके चरणों में अपने सिर रखकर उसे प्रसन्न करें—मनायें । यह सब प्रणय-विलास देवों का काम्य है । इसी में उन्हें प्रसन्नता होगी, इस सामान्य पूजा से उन्हें तोष नहीं । देवों की इच्छा है कि प्रणय अपराधों में दमयन्ती उनके सिर पर चरण प्रहार करे । कमला से दमयन्ती के चरण अत्रिक अच्छे हैं । विद्यावर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ ९७ ॥

स्वर्णवित्तीर्णः करवाम वामनेत्रे । भवत्या किमुपासनाम् ।

अह्ण । त्वदङ्गानि निपीतपीतादर्पाणि पाणि सखु याचते न ॥९८॥

जोमानु—स्वर्गोरिति । हे वामनेत्रे । चाक्षुषेभ्यो । भवत्या त्वया निजो-
पामनामु पूजामु विनीर्णं समर्पितै र्भ्यो वनवक्त्रादिभि नि करवाम न
क्षिणीययं । यत स्वर्गावलाभानिमेवमिति भाव । नि तु जज्ञेचामप्रणे,
निरीतो वृहीत पीताना हरिद्राया दय नातिगर्भो यैस्तानि, 'निशाब्धा
काश्वनी पीता हरिद्रा वरुणानो' इत्यमर । त्वदङ्गानि नोऽस्माक पाणिर्पा-
वित सन्तु । पीतदर्शानिति पुच्छिङ्गपाठे पीताना स्वर्गादिभ्योऽपि दपेनिति
ध्यायेदम् । स्वर्गादुत्पृष्टवस्तुमग्नेवे अपहृष्टमग्नेम्बीकारो न युक्त इति भाव ।
साधुदवापमेव पाठ । अथवा स्वर्गनश्वारिणा त्वदङ्गेषु स्वर्गादुत्कर्षे वक्तव्ये
हरिद्रानात्रादुत्कर्षोक्त्यनौचित्यमिति ॥ १८ ॥

अन्वय—वामनेत्रे, भवत्या उपामनामु विनीर्णं स्वर्गं कि करवाम ?
बद्ध, न पाणि निरीतपीतादर्शानि त्वदङ्गानि सन्तु याचते ।

हिन्दी—हे बाँके नयनवाली, आरके द्वारा पूजाओं में समर्पित स्वर्ग
(वनवादि) का हम क्या करें ? (वह सब हमारे उपयोग का नहीं) ।
निचे, हमारा हाथ हल्दी का कातिदपं (अथवा 'पीत' पाठांतर से—पीले
सुवर्गादि का गर्भ) पान करनेवाले (अग्निमान मिटानेवाले) तुम्हारे अंगों
की निश्चयत धाचना करता है ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक के मर्म में ही नच ने दमयन्ती से निवेदा किया
कि देवगण दमयन्ती द्वारा पूजा उपासनाओं में अति किये जाते स्वर्गादिभ्य
की कामना नहीं करते हैं । उन्हें स्वर्गादि की क्या आवश्यकता है ? वे तो
स्वर्गपरत सुमेह के बासी ही हैं । उ हैं वन और भ्रामा की दृष्टि से स्वर्ग की
अनेका कमनीय दमयन्ती के अंगों के स्वर्ग की कामना है । देव स्वर्ग नहीं,
उनमें उदृष्ट दमयन्ती के जग चाहते हैं । देवों का वरण कर दमयन्ती उनकी
इच्छा पूरा करे । मन्त्रिणाथ न उत्तराद्ध का पाठ 'पीतादर्शानि' की अथवा
'पीतदर्शानि' ही उचित माना है । नारायण ने भी यही स्वीकारा है । 'पीता
अर्थात् हल्दी का रंग ही पीला है, पर यत्र कोई उदृष्ट पदार्थ नहीं है, अत
दमयन्ती व अंगों की तुलना में उसकी देवों द्वारा अप्राप्तता कोई उल्लेख्य बात
नहीं है । 'पीत' अर्थात् पीला स्वर्ग दमक और चमक-दोनों की दृष्टि से सूच्य-
वान् है । दमयन्ती के अंग उसका भी काति दपं मिटाने वाले हैं । वे स्वर्ग

से भी उत्कृष्ट हैं। स्वर्ण का त्याग करके देवता उससे उत्कृष्ट दमयन्ती-अगो के कामी है—यही भाव यहाँ अपेक्षित है। विद्याधर के अनुसार छेकानुग्राम और अतिपयोक्वि ॥ ९८ ॥

वय कलादा इव दुविदग्धं त्वद्गौरिमस्पर्धि दहेम हेम ।

प्रमूननाराचशरासनेन सहैकवशप्रभवभ्रु । वभ्रु ॥ ९९ ॥

जीवातु—वयमिति । प्रमूननाराचशरासनेन कामचापेन सह एकवशप्रभवे एककारणोत्पन्ने अत्यन्ततत्सद्वेषे इति यावत् । भ्रुवी तस्या स तद्भ्रुरित्यू-
ङन्तोत्तरपदो बहुव्रीहि । अन्यथा अनुङन्तस्य भ्रुश्चन्द्रस्योवङ्स्थानस्यानदीत्वात् सम्बुद्धावम्भशर्मादिना नदीह्रस्वो न स्यात् । तनु ऊङन्त इत्युक्त कथमूवारा-
दिति चेत, सत्यम्, अप्राणिजातेश्चारज्ज्वादीनामित्यत्र 'अलावू कर्कंभू' इति भाष्यकारेणोदाहरणादूकारादप्युङ्स्थयेवेति ज्ञायते । अत एव वामन—'ऊकारा दप्युङ्प्रवृत्ते' रिति । तदेतत् सम्यग्विवेचिनमस्माभि कुमारगम्भवसञ्जीविन्या, 'विमानना मुभ्रु । कुत पितुगृह' इत्यत्र । तस्या गम्बुद्धि एकवशप्रभवभ्रु । वय कला स्वर्णलण्डान घटित लण्डयन्तीति कलादा स्वर्णकारा इव । 'कलादा रक्मकारवा' इत्यमर । तव गौरिम्णा सह स्पर्धत इति तत्स्पर्धि अत एव प्रबलविरोधितया दुविदग्धमविदग्ध बुद्धिशू य च वभ्रु पिङ्गलम् । 'वभ्रु स्यात् पिङ्गले त्रिपु' इत्यमर । हेम सुवर्णं दहेम । त्वदङ्गस्पर्धापराधादविशुद्धेश्चा स्माक दाह्यस्वर्णसमर्पणात् सर्वानवघातसमर्पणमेव सातर्पणमिति भाव ॥९९॥

अन्वय — प्रमूननाराचशरासनेन सह एकवशप्रभवभ्रु, वय कलादा इव त्वद्गौरिमस्पर्धि दुविदग्ध वभ्रु हेम दहेम ।

हिन्दी—हे कुसुमबाण (काम) के धनुष के साथ एक वश (बाँस, फूल) में उतरन भौंहों वाली, (कामधन्वासदृश मोहा वाली) हम (देवगण) स्वर्ण-
लण्डों को तोड़ने वाले (अथवा 'कलाम् स्वर्णलण्डम् अस्ति खादति गृह्णाती-
त्यर्थं सा कलादा ते' स्वर्णलण्ड को मार लेने वाले) स्वर्णकारों के सदृश तुम्हारी (दमयन्ती की) गौरिमा (गोरेपन) में स्पर्धा करनेवाले (अतएव) मूर्ख, पीले स्वर्ण को आग में फूकते हैं ।

टिप्पणी—भाव यह कि देवों को स्वर्ण की कोई आवश्यकता नहीं, व ता उसे जला डालते हैं अर्थात् निरर्थक वस्तु की भाँति फेंक देते हैं । उह

तो भावश्यकता है उसके बननीयतर दमयन्ती देह की। इसी को भगिमा-
विद्येय से व्यक्त किया गया। स्वांकार जैसे आग में (आनुष्ण बनाने के
लिए) जौने को आग में डालते हैं, वैसे ही देवता भी स्वर्ग को आग में
झोंके देते हैं। वस्वा जो उसकी घृष्टता और मुखता का यह दृष्ट देते हैं कि
क्यों वह दमयन्ती के जौने से स्वर्ग बनने की घृष्टता करता है? विद्याधर के
अनुसार उपमा और उदाहरण ॥ ९९ ॥

सुनामरमु त्वदनङ्गनाम गान्त्वो न न कि पुनरप्सरन्मु ।

निर्वाति न त्वन्नमनाक्षरेण मृनामुगोमेषुगीकरेण ॥ १०० ॥

जीवानु—मृषेति । हे नैन । सुनामरमु जन्तुवर्गीषु नोऽस्माक त्वत्कृ-
तानङ्गनामो न गान्त्व अन्तरम्बना सरनु त्वदद्यादिवेद्यामु वा कि पुन
चिन्तु ? किन्तु मृनामुगो फानवीगस्य मपुगीकरेण मरुत्तद्विन्दुता
तत्तद्वेनेत्यर्थ । तत्र मनाक्षरेण नमनाव्यञ्जकवाक्येन मदीया मृनिदेव-
होत निर्वाति शान्ति । अद्विरहाद्य धान स तानङ्गनकृष्णाध्या नोनायान्तर-
नाम् इत्यर्थ ॥ १०० ॥

अन्वय—न त्वदनङ्गनाम सुनामरमु न गान्त्व अन्तरामु कि पुन ?
मृनामुगो मपुगीकरेण त्वन्नमनाक्षरेण तु निर्वाति ।

हिन्दी—हजार तरे (दमयन्ती) अतङ्गव का धान (दमयन्ती के वियोग
के कारण उत्पन्न कामसुतान अथवा दमयन्ती के 'अतङ्गव' अर्थात् जा प्राप्त
न होने के कारण उत्पन्न धान) जन्तु-परोवरों में भी गात नहीं होता,
अप्सरसों (रत्नादि देवानाओं के मध्य वान अथवा 'अनाम मर मु' अर्थात्
सानाय ब्रह्मणों) में क्या गात ही ? कुतुबवान (काम) के पुत्र के मधु
मन्दरद विदु के तुल्य तरे (दमयन्ती के) मनाक्षरे अक्षर (प्रणयवचन)
से ही गात हो जाता है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के आगे की प्राप्ति न होने से वेद को ऐसा काम-
ताम सता रहा है कि वह सुधाकरों से डूब जाने से भी गात नहीं होता,
मानाव्य अनामों और जन्तुवियों का साग्नित्य तो उसे गात कर ही नहीं
सकता, परन्तु दमयन्ती एक प्रेममता, मनाक्षरों से उद उच्चार दे ला उनका
सुधां धान गात हो जाता है । जो अपने उद्योग से नहीं निरता, वह काम-

सताप एक वचन मान से निट जाता है । वितना आश्चर्य है ! भाव वही है, देवो का धरण कर ले दमयन्ती, विलम्ब न करे । विरहजन्य सताप सयोग से ही शांत होगा । कायं कारण मे विरोध होने से विद्याधर के धनुषार विषम अलंकार ॥ १०० ॥

खण्ड किमुत्वद्गिर एव खण्ड. किं शकंरातत्व्यशकंरेव ।

कृशाङ्गि ! तद्भङ्गिरसोत्यक्च्छतृणन्तु दिक्षु प्रथित तदिधु ॥१०१॥

जोवातु—खण्ड इति । ये कृशाङ्गि ! खण्ड खण्डशकंरात्वद्गिर एव त्वद्भवत एव खण्ड शकल किम् ? 'स्यात्खण्ड' शकले क्षेप्तुविकारमपि-दोषयो' इति विद्व । 'तथा शकंरा नितास्यशकंरा तस्या गिर पन्पास्तत्व्य तस्मिन् मायै शकंरा शिलाशकलप्रचुरमृदेव किम् ? शकंरा खण्डविकृतानुपल कर्पराशयो' इत्युभयत्रापि विश्व । दिक्षु प्रथित प्रख्यातमिक्षुरिदवास्य तत् तृण तव गिर त्वद्गिर भङ्गी भङ्गवान् तरङ्गितो रत्त शृङ्गारो दत्तक च तदुत्प कच्छे अनूपे तृण मु ? उत्सेति पाठे रसोत्सो रमप्रवाह तस्य कच्छतृण किमित्यर्थं । 'अलप्रायमनुय स्यात् पुति कच्छस्तथाविध' इत्यमरः । सर्वशान्यया कथ खण्डादीनामोद्गृहमाधुयमिति भाव । किवाद्यस्तूत्रेणायामशोत्रेणशान्यस्य ससृष्टवात्सजातीयसमृष्ट । अत्र द्रव्ये वैशेषिककार— मन्स्यदिवा खण्डसिता क्रमेण गुणवत्तमा । यथा यथा हि नैर्मल्य मधुरत्व तथा तथा ॥ घोटत्वादि-मलत्वाच्च तथा सिततमप्रमात् । बालुकेव भृश सूदमा सुस्निग्धा मितपिगला ॥ मत्स्याण्डावृति सादृश्ययोगान्मल्यन्दिवा स्मृता । स्फटिकोपलखण्डाम खण्डस्त-च्छकंरा समा ॥ शकरा निर्मला संव सिता तु सितशकरा निर्मलैव सिता सा तु राजराज इतीरिता' ॥ इति ॥ १०१ ॥

अन्वय—कृशाङ्गि, त्वद्गिर खण्ड एव खण्ड किमु, तत्पद्यक्य एव शकरा किम्, तद्भङ्गिरसोत्यक्च्छतृण दिक्षु इक्षु प्रथित तु ?

हिन्दी—हे कृशगि, तुम्हारी (दमयन्ती की) बाणी का लेश ही क्या खाट है ? उस (दमयन्ती की बाणी) के मार्ग की कबडो ही क्या शकर (चीनी) है ? उस (बाणी) की भगिमा (उक्तिवैचित्र्य) के रस से उत्पन्न, कच्छ (तट) का तिनका ही क्या धारों दिशाओं में गने के नाम से नहीं प्रसिद्ध है ? (निश्चयन ऐसा ही है) ।

टिप्पणी—भाव यह कि दमयन्ती की वाणी गन्ने के रस से भी मधुर है। वाणी की मणिना अर्थात् उत्तिर्विषय का रस शृंगारादि ही न अर्थात् तरण-मय (मङ्गल अम्बास्तीति मङ्गल) रस अर्थात् रस है, उसी से उपजा लट का वृत्त जयात् रसद्वारावचन लड मसार में इच्छुद्ध (गन्ना) रूप में प्रतिद्ध है। दमयन्ती के वचनछांड खांड, शरर और गन्ने से भी मधुर हैं। विद्याधर के अनुसार उन्प्रेक्षा और अनुदास। मन्त्रिनाय न तीन उन्प्रेक्षापो के कारण यहाँ उन्प्रेक्षानो ही सत्रालीय समृष्टि का निर्देश किया है ॥ १०१ ॥

ददाम कि ते सुधराधरेण त्वदान्य एव स्वयमास्पते यतः।

विष्णु विजित्य स्वयमेव भावि त्वदानन तन्मखभागभोजि ॥ १०२ ॥

जीवानु—किञ्च नैष्टदानेन त्वदाराधने शक्ता वय किन्तु त्वत्करुणैककारण इत्याशयेनाह—दशनेति। ते तुभ्य कि ददाम कि वितराम दातव्य किमपि नास्तीत्यर्थ। अमृतमस्तीति चेत् त्वैवास्तीत्याह। कुत यतो यस्मात् कारणात् सुधया अधरेणाधररूपेण त्वदास्य एव स्वय साक्षादास्पते स्वीयने भावे हट्। यक्षनागोऽस्तीति चेत् साऽपि ते अयमस्य इत्याह—त्वदानन कर्तुं विष्णु च स्वयमेव परानपन्न विजित्य तस्य विजोमंखे दागे भागमय भोक्तु शीलमत्परेति तद्भोजि भावि भविष्यत् तत्स्यानाधिपत्यादन धर्मलाभ इति भाव ॥ १०२ ॥

अन्वय—ते कि ददान, हि सुधया अधरेण त्वदास्ये स्वयम् एव आस्पते, त्वदानन विष्णु विजित्य स्वयम् एव तन्मखभागभोजि भावि ?

टिप्पणी—सुध (दमयन्ती) को (देव) क्या दें, क्योंकि सुधा (अमृत) तो अधर (अधरामृत) के साथ स्वयमेव तेरे (दमयन्ती के) मुख में स्थित है, तैसा सुध चन्द्र को श्रोत कर स्वय ही उस (चन्द्र) के मन-भाव का भोक्ता हो चाहेगा ?

टिप्पणी—दमयन्ती समस्त भौतिक ऐश्वर्य से संपन्न है। धन धान्य, वस्त्र, महल, दास, दासी—सब है उसके पास। समावना यही थी कि देवता दो वस्तुएँ और दमयन्ती को दे सकते थे, क्योंकि वे मर्त्यलोक के प्राणी को उपलब्ध नहीं होगी। एक तो अमृत और दूसरा यज्ञों में यजमान होताजो द्वारा अर्पित यज्ञ भोग। पर दमयन्ती पर ये दोनों भी हैं। अमृत उसके अधर में वास करता है और चन्द्रमा को भी परार्जित करनेवाला दमयन्ती का

मुख तो जब चाहे चन्द्र को यज्ञार्पित हुआ भोग ले सकता है। भाव यह है कि दमयन्ती का अथररस अमृत की अपेक्षा श्रेष्ठ है और मुख चन्द्र की अपेक्षा। इस चातुर्यपूर्ण उक्ति से देवों का शिष्टाचार भी प्रतीत होता है अर्थात् उनका विनय, परन्तु यह भी संकेत हो जाता है कि देवों के पास स्वर्ग में भी दमयन्ती जिसकी इच्छा कर सके, ऐसा कुछ है नहीं। उपेन्द्रवज्रा वृत्त और विद्याघर के अनुसार छेकानुप्रास रूपकातिशयोक्ति अलंकार ॥ १०२ ॥

प्रिये ! वृणीष्वामरभावमस्मदिनि त्रपोदञ्चि वचो न किन्नः ।

त्वत्पादपद्मे शरण प्रविश्य स्वयं वयं येन जिजीविषाम ॥ १०३ ॥

जीवातु—त्वदायत्तमेवेत्याह—प्रिय इति हे प्रिये ! दमयन्ति ! अस्मद्भस्मत् अमरभावममरत्वमविनाशित्वं च वृणीष्वेत्येव रूपं नोऽस्माकं वचं त्रपामुदञ्चसीति त्रपोदञ्चि लज्जावहं न भवति किम् ? भवत्येवैतपर्यं कुत, येन कारणेन पादादेव पद्मं ते एव शरणं प्रविश्य रक्षकं प्राप्य वयं स्वयमनामयं जिजीविषामो जीवितुमिच्छामः । स्वयं धुधितस्याप्रयत्नस्तुदातु धुधुर्भयप्रतिज्ञावत् परिहासास्पदमेवेति भावः ॥ १०३ ॥

अन्वय — प्रिये, अस्मत् अमरभाव वृणीष्व, येन त्वत्पादपद्मे शरणं प्रविश्य वयं स्वयं जिजीविषाम — इति न वचं किं त्रपोदञ्चि न ?

हिन्दी—हे प्रिये, हमसे अमरता ले लो (हमारा अमरभाव बर लो), जिससे तेरे (दमयन्ती के) शरणभ्रमलो में शरण पाकर हम स्वयं जीना चाहते हैं—ऐसे हमारे वचन क्या लज्जावह न होंगे ? (हाँगे ही) ।

टिप्पणी—देव पूवश्लोक के अनुसार दमयन्ती को और कुछ तो दे नहीं सकते, एक अमरता और रह जाती है। पर चूँकि दमयन्ती में उनके प्राण अटके हैं, उसे जिना पाये वे अमर भी मृतममान हो रहे हैं, उसे वे अमरता देने का प्रस्ताव करें, 'अमरता ले लो हममें'—ऐसा कहे, यह तो लज्जास्पद ही होगा। सो ऐसा करने में भी देवों को सजोच हो रहा है। विद्याघर के अनुसार काव्यालिंग और अतिशयोक्ति अलंकार है ॥ १०३ ॥

अस्माकमस्मान्नदनापमृत्योस्त्राणाय पीयूषरमोऽपि नासी ।

प्रमादं तस्मादधिकं निजन्तु प्रयच्छन्तु पानु रदनच्छदन्त ॥ १०४ ॥

जोदानु—न चामृतसेविना व कुतो मरणप्रसक्तिरिति वाच्यमित्याह—
अस्माकमिति । हे दमयन्ति ! अस्मान्मदनादेवापमृत्या सवाशादस्माकं त्राणाय
रक्षताम अर्षो पीयूषरसोऽपि नालम्, किं तु तस्मात् पीयूषरसादधिकं निज
त्वदीय रदनच्छदमोष्ठ पातु नोऽम्मभ्य प्रयच्छ देहि प्रसीद प्रसता भव ॥१०४॥

अन्वय—अस्मात् मदनापमृत्योः अस्माकं त्राणाय अर्षो पीयूषरसं अपि
न, तस्मात् तु प्रसीद, न पातुम् अधिकं निज रदनच्छदं प्रयच्छ ।

हिन्दी—इस काम द्वारा प्राप्त होती अपमृत्यु से हमें बचाने में यह अमृत
रस भी (समय) नहीं है, इससे (हे दमयन्ति,) प्रसन्न हो, हमें बचाने को
(अमृत से) अधिक अपना अघरोष्ठ दे ।

टिप्पणी—अमृत मृत्यु से बचाता है, किंतु कामसदृश निर्दम देव ही
देवों को अपमरण दे रहा है, तब अमृत से क्या होगा ? देव वंशी सामान्य
मृत्यु से ग्रस्त तो हो नहीं सकते, अपमरण को प्राप्त हो रहे हैं । इस अपमृत्यु
से अमृत नहीं, उससे भी अधिक प्रभावशाली दमयन्ती का अघरामृत बचा सकता
है । देव दमयन्ती से उसी की याचना कर रहे हैं । सामान्य औषध से काम
न चलने पर विशेष औषध ही अपेक्षित होती है—रसायन । नाव यही है कि
दमयन्ती देव-वरण करले, जिससे उनकी दुःसह काम-पीड़ा का उपशम हो
सके । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार । 'रदनच्छदं पातु न-
प्रयच्छ' अवयव भी किया जाता है, अर्थात् अघरोष्ठपानार्थं हम (देवों)
को दो ।'

'निर्जयसागर प्रेस, बंबई' से महामहोपाध्याय प० शिवदत्त शास्त्री के
संपादन में प्रकाशित 'नं० च०' में पद्यानवें श्लोक की पद-टिप्पणी में निम्ना-
ंकित श्लोक भी इस टिप्पणी के साथ दिया गया है कि कहीं-कहीं यह भी प्राप्त
होता है—'क्वचिन्मूलोऽस्मात् प्राक् पठित उपलभ्यते'—

अस्माकमस्या मदनापमृत्योः त्राणाय पीयूषरसायनानि ।

सुधारसादप्यधिकं प्रयच्छ प्रसीद वंदामि निजाघर न ॥

यह श्लोक इसी (१०४ वें) श्लोक का पाठांतर प्रतीत होता है । अर्थात्
हे विदमं कुमारी, मदन द्वारा होती अपमृत्यु से हमें प्राण दिलाने के लिए पीयूष
रसायन, अमृत से भी अधिक उपयोगी अपना अघर हमें दो, प्रसन्न हो जाओ ।

नारायण ने भी पूर्वाह्न का पाठांतर यों माना है—'नास्त्वाकमस्मान्मदनामृतो-
स्त्रापाय पीवदस्त्रायनाति ।' यथां हने मदनानवरण से प्राप दिलाने में
अनुरम पर्याप्त नहीं है— - ॥ १०४ ॥

प्लुष्ट्यापेन रोषैरपि नह मकरेणामनू केतुनाऽभू-

इत्ता नस्त्यत्रनादादय मनसिजता मानसो नन्दन सन् ।

अभ्यां ते तन्वि । धन्वी भवतु तव नितैर्जैत्रभक्त स्मिनेन्ता-

दन्तु त्वन्नेत्रचञ्चत्तररुपरुग्राधीनमीनध्वजाद्भूः ॥ १०५ ॥

जीवानु—प्लुष्ट इति । हे तन्वि ! दनयन्ति ! आत्मना स्वपदेव भवती

स्यामनू काम स्वै स्वकीरं चापेन रोषैर्वापै , 'पथी रोप इयुदयो' इत्यनर
नकरेणैव वेतुना च सह प्लुष्टो दग्धोऽभूत् । स आत्मनुरपेक्षती तव प्रमादाद्वेतो
नोन्मान तव च सम्भूदेत्यर्थं । 'त्यदादीनि सर्वैरित्यम्' इति युष्मदस्मदोरेकशेषे
परशेषः । मानसो मनः सवधी नन्दनः पुत्रः आनन्दयिता च सन् । 'नन्दनो
हृदके मूत्रे' इति विश्व । मनसि जातो मनसिजस्तस्य भावस्तता ता 'उपभ्या
जनेडं' 'हृदन्तात्मिमभ्या सतासाम्' इत्यलुक् घन्ता दधात् 'तुल्लोस्तातद्डा-
यिष्यन्तरस्याम्' । प्लुष्ट दग्ध आत्मनुरभंभवस्तु मनसोऽप्यात्मत्वादिभ्यर्थं ।
'आत्मनेहनने, ब्रह्मन्भावधृतिवृद्धिपु' इति विश्व । त्वयस्मासु च कामस्तुन्य-
वृत्तिरस्तिवति भावः । किञ्च ते तव भ्रूम्या घन्वी चापवान् भवतु । धन्वन्-
गन्दाद्गोहादिपाठादिनि । तव नितनिर्मलं स्मिनेर्हंसितं जंश नन्ता यस्य
न जिह्वरेपु स्नाद्भवतु अस्नेर्लोडि तेस्तातडादेशः । तव नेपे एव चञ्चलरा-
वनिचञ्चली सन्तरो त्योर्पुं तदधीनस्तन्लभ्यो मीनरूपो ध्वज एवाद्यो
राञ्छन यस्य सोऽभ्यु त्वन्नेत्राभ्या मीनध्वजवानन्वित्यर्थः । अत्र यथाउच्य
सङ्कीर्णो रूपकालङ्कारः । सङ्गरा वृत्तम् ॥ १०५ ॥

अन्वयः—चापेन रोषै मकरेण केतुना च सह आत्मनू प्लुष्ट अनूत्,
जप स्वस्त्रतादात् नः मानस नन्दन सन् मनसिजता घताम्, तन्वि, ते भ्रूम्या
घन्वी भवतु, तव नितं स्मिनें जैत्रभक्त स्तात्, त्वन्नेत्रचञ्चत्तररुपरुग्राधीन-
मीनध्वजाद्भू अस्तु ।

हिन्दी—प्लुष्ट, चाप और मकरध्वज के साथ मनसिज (काम) ब्रज
गया, जब तरे (दनयन्ती के) प्रसाद से हम (देवों) का मानस-नन्दन

(मन को मानसिक करने बाधा, मानसपुत्र) होगा हुआ (वह) (मनसि वात तस्य भाव गम्) मन में उत्पन्न होने की भावनाकला (मान-कला) को धारण करे । हे मुकुन्दारि, (वह) तेरी (दमयन्ती को) मैंहीं में धनु-धारी हो, तेरी यज्ञ मुद्रकानों में नदशयक बागवान् हो और तेरे नेत्र स्व अद्विष्य चक्र (सुशोभित) मोनपुत्र से मोन्यवबिह्वामी बने ।

टिप्पणी—जो एक बार मृत हो पुनर्जीवन प्राप्त करता है, वह द्विगुणशक्ति-युक्त हो जाता है—यह मानस्य विद्वान् है । शिव की नेत्र-ज्वाला में एक बार वह 'स्वयम्भू' काम धनुष-बाण और मकरध्वज सहित मग्न हो गया और अब बन्ना है और उसे 'मनसिवा' नाम मिलाना है । धनुष यह नाम कथन मात्र है, अभी यदि देवों पर दमयन्ती की कृपा हो गये और वह उन्हें बर सके तो सबमुख काम का देव मानस में पुनर्जन्म हो जायेगा (देव दमयन्ती के नाथ स्वच्छन्द काम-विहार करे) और 'मनसि वात' होकर उसका 'मनसिवा' नाम सार्पक ही जायेगा । वह पहिले की जन्मा नये जन्म में अधिक शक्तिशाली होगा, क्योंकि उसे अधिक प्रभावी नये उत्तरण प्राप्त होंगे । दमयन्ती का ऋषुमुख उसका चार बनेगा और चाँदनी को भी लतात्री शुभ मद्र मुनकान उसके अनोप यमी बाण । मउन्तियों से भी अधिक चक्र, शोभनतम दमयन्ती के दोनों नयन उसकी मोन-स्वभा बनेगी । इस प्रकार वह देव मानस-जन्म-देवों का मानसपुत्र काम द्विगुणित शक्तिशाली होकर पुनर्जीवित होगा । दमयन्ती को देव वरण में यह पुत्र और मिलेगा कि एक मृत को पुनर्जीवन मिल जानेगा । इस श्लोक में म-ध्या उद है । विद्याधर के अनुसार छैकानुग्रह सशोभित-अद्विष्योक्ति पत्रकार हैं । मन्त्रिनाथ ने यथा-मन्वसकीर्ण मयकानकार का निर्देश किया है अर्थात् मयनस्य-कला का मकर ॥ १०५ ॥

म्वप्नेन प्राप्तिवाया प्रतिरत्ननि मव श्रीयु मनः कटाक्ष.

श्रोने गीतानुनाथ्यां त्वापि ननु तनूनङ्गरोसीकुमार्यै ।

नासा स्वामाधिवासेऽपरमधुनि रसजा चरित्रेषु चित्तं

तमस्तन्वङ्गि ! कैश्चिन्न करणहरिर्गैर्वागुरा मन्मितासि ॥१०६॥

जोमानु-स्वप्नेनेति । हे तन्वङ्गि ! तनुन्वङ्गानि मन्मान्मन्मन्-सन्मुक्तिः ।

'अङ्गगात्रवण्डेभ्य' इति ङीप् । कृशाङ्गि । प्रतिरजनि रजन्या रजन्या, वीष्पायामव्ययीभाव । स्वप्नेन (कर्त्रा) प्रापिताया स्वप्नदृष्टाया तव श्रीपु मौन्दर्यं—हरीपु नोऽस्माक वटाक्षो मग्न गीत एवामृताब्धौ सुधासमुद्रे श्रोत्रे मग्ने, तनु मूर्तिरेव मजरी कुमुमगुच्छ तस्या सौकुमार्ये मादंवे त्वगपि मग्ना । ननु स्वासाधिवासे निश्वासमारुतसौरभे नासा मग्ना अधरमधुन्यधरा-मृते रसज्ञा रसना मग्ना चरित्येषु चेष्टामु चित्त मग्न तद् तस्मात् कैश्चित् करणैरिन्द्रियैरव हरिणैस्त्व वागुरा मृगबन्धिनी रज्जु न लम्बिता न प्राप्तासि सर्वैरपि प्रापितेभ्यः । अस्माक सर्वेन्द्रियसम्माहन ते रूपशिल्पमिति भाव । अत्र चतुस्रपादाशय्य पूर्वपदवाक्यार्थहेतुस्त्वादाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग तच्च करणहरिणैरित्यादिरूपत्रेण सकीर्यत । पूर्वोक्तमव वृत्तम् ॥ १०६ ॥

अन्वय—ननु कटाक्ष प्रतिरजनि स्वप्नेन प्रापिताया तव श्रीपु मग्न, श्रोत्रे गीतामृताब्धौ, त्वक् अपि तनूमञ्जरीसौकुमार्ये, नासा स्वासाधिवासे, रसज्ञा अधरमधुनि, चित्त चरित्येषु, तद् तवङ्गि, न कैश्चित् करणहरिणौ वागुरा न लम्बिता (पाठांतर 'लङ्घिता') असि ।

हिन्दी—निश्चयत (हम देवों का) कटाक्ष (नेत्र) प्रतिरात्रि को स्वप्न में प्राप्त तेरी (दमयन्ती की) अपार शोभा में डूब गये हैं, कान (तेरे) गीता के अमृतरस के सागर में, त्वचा भी (तेरे) शरीर रूपा मञ्जरी की मुकुमारता में, नासिका (तेरे) निश्वास सुगन्ध में, रसना (जीभ) अधर-मुधामधु में और चित्त (तेरे) चरित्रों (दैनदिन विलासादि व्यापारों) में, सौ है मुकुमारि, हमारे किन इन्द्रियरूप हरिणों ने (तेरे रूप में) अधररज्जु नहीं प्राप्त करती है ? (सभी इन्द्रिय रूप हरिण तेरे वग्धना में बद्ध हैं ।) अथवा किसी इन्द्रिय-हरिण न वागुरा रूप तुझ दमयन्ती का लघन नहीं किया है—सब तेरे वग्ध में हैं ।

टिप्पणी—भाव यह है कि देवगण दिन-रात दमयन्ती का ही विचार करते हैं । स्वप्न में भी प्रतिरात्रि उमें ही देखते हैं, क्योंकि वरिही देव गाढ़ निद्रा लीन हा नहीं पात । उनकी पाँचों इन्द्रियाँ दमयन्ती की शोभा आदि के वग्ध में पाशबद्ध हरिणों जैसी हैं । नारायण न यह आश्चर्य उठायो है कि देवों का स्वप्न कैसा ? उसके कई समाधान भी उपस्थित किए हैं । (१) तन्नुन देवों को स्वप्न नहीं आते, नरदूत ने यह स्वानुभववापार पर कहा । (२) विरह

में रजनी जिनके प्रतिभूल है, ऐसी दमयन्ती स्वप्न अर्थात् विषयं ज्ञान बन गयी है। (३) उन्मादावस्था के कारण दमयन्ती ही देवों को सर्वत्र व्याप्त दीक्षती है। (४) रजनी अर्थात् हरिद्रा के प्रतिभूल, जितहरिद्रा दमयन्ती। भाव यही है कि दमयन्ती का रूप देवों की समग्र इन्द्रियों का मोहक है। श्लाघरा छन्द। विद्याधर के अनुसार ऐकानुग्रान-रूपक-दीपक अलंकार हैं। मन्त्रिनाय के अनुसार चतुर्थ वरण का अर्थ पूर्व छ वाक्यों के अर्थ का हेतु होने के कारण वाक्यायहेतुक काव्यलिङ्ग है औ-वत् 'हरणहरिणी' इत्यादि रूपक से सूचीर्ण है, अर्थात् काव्यलिङ्ग रूपक का सकर ॥ १०६ ॥

इति धृतमुरतार्यवाचिकन्नडनिजरसनातल्पत्रहारकस्य ।

सफल्य मम दूतता वृणीष्व स्वप्नमवधार्यदिगीशमेकमेपु ॥ १०७ ॥

जीवानु- इतीति । इतीत्य धृता मुरतायस्वेन्द्रादिवृन्दस्य वाचिकस्य सन्दर्शवाक्यपरम्परा येन तस्य निजस्य रसनातल्पस्यैव पत्रस्य लेखस्य यो हारकस्तस्य मम दूतता सफल्य सद्गता कुरु, एषु मध्ये एक दिगीश स्वप्नमाग्न-नैवावधार्यं निदिचत्य वृणीष्व वृणीष्या । वाचिकी व्याख्यात । अत्र नत्तून्य-साफल्यस्य वरणवाक्यायहेतुकत्वात् पूर्ववदङ्कार । न च रसनातल्पस्य यो हारकन्तस्मेति रूपकोऽसङ्कीर्णने । पुंनिताया वृत्तम् ॥ १०७ ॥

अन्वय — एषु एक दिगीश स्वप्नम् अवधार्यं वृणीष्व—इति धृतमुरतार्य-वाचिकस्य निजरसनातल्पत्रहारकस्य मम दूतता सफल्य ।

हिन्दी—इन (वरिष्ठ) में से एक दिग्पाल का स्वप्न विचार करके (हे दमयन्ति,) वरण कर लो, और इस प्रकार देवगण की सदशमाला को धारण करते अपने जित्वा रूप पत्र को लाने वाले मेरा (नलका) दूतत्व सफल बनायो ।

टिप्पणी—इत्यादि चारों दिग्पालों की विरहदशा, उनकी उत्कट कामना आदि का श्रमण विस्तृत विवरण उपस्थित कर नल ने उपसंहार में दमयन्ती से निवेदन किया कि इन्द्र, अग्नि, वरुण, यम में से अपने आप विचार करके जो उसे रचे, उसको बह वर ले और नल का दूतत्व सफल बनाये। मन्त्रिनाय के अनुसार इस श्लोक में नल की दूतता के सफल होने में वरण के वाक्यायहेतुक होने के कारण काव्यलिङ्ग है और उसका 'रसनातल्प' रूपक से सकर है,

अतः पूवः श्लोकवत् सकरः अलकारः है । विद्याधरः ने रुक्म का निर्देश किया है ।
पुष्पनागा छन्द है ॥ १०७ ॥

आनन्दयेन्द्रमय मन्मथमग्नमग्नि केलीभिस्त्वर तनूदरि ! नूतनाभि ।
आसादयोदितदय शमने मनो वा नो वा यदोत्थमथ तद्वरुण वृणीथा ॥

जी शतु—आनन्दयेति । हे तनूदरि ! कृशोदरि ! नूतनाभिरभिनवामि
केलीभिः श्रीडाभिः मन्मथमग्नमिन्द्रमानन्दय अथवा तादृशमेव अग्निं तामिच्छदर,
अथवा शमने यमे उदितदय जातानुक्म्प मन आसादय निवेशय । इत्थं नो
वा यदि अथ तत्तर्हि मन्मथमग्न वरुण वृणीथा वृणीष्व ॥ १०८ ॥

अन्वय —तनूदरि, नूतनाभि केलीभिः मन्मथमग्नम् इन्द्रम् आनन्दय अथ
अग्निं उदर वा शमने उदितदय मन आसादय अथ यदि इत्थं नो वा तद् वरुण
वृणीथा ।

हिन्दी—हे कृश उदर वाली (दमयन्ति), (वरुण करने के पश्चात्)
नयी नयी विलास श्रीडाओ द्वारा काममग्न इन्द्र को आनन्दित करो अथवा
अग्नि का उदर करो अथवा यम पर दयापूर्ण मत करो और यदि ऐसा न
कर सको तो वरुण का वरुण कर लो ।

टिप्पणी—अतः में पृथक् पृथक् नामोल्लेख करते हुए नल न पुनः दमयन्ती
से इन्द्राग्निमयवरुण मे से किसी एक का वरुण करके उक्त कृतार्थ करने की
प्रार्थना की । सभी काम के सागर में आपादमस्तक डूबे हैं, अप्रियत-पीडित हैं ।
चारों में किसी एक पर अनुग्रह दिखानी दमयन्ती गल की दूरता सफल बनाये ।
वसततिलका छन्द ॥ १०८ ॥

श्रीहर्षं कविराजराजिमुकुटालङ्कारहीर सुत

श्रीहीर सुपुत्रे जितेन्द्रियचयमामल्लदेवी च यम् ।

तस्यागादयमष्टम कविकुलादृष्टाध्वपान्थे महा-

काव्ये चाहणि वैरसेनिचरिते सर्गो निसर्गोज्ज्वल ॥ १०९ ॥

जीवातु—श्रीहर्षमित्यादि । कवीना कुत्रेण समूहेन अष्टमो अध्वनि
यत्पाद्य नित्यपथिव तस्मिन् चाहणि शोभने वैरसेनेन न्यस्य चरिते तस्य श्रीहर्षस्य
महाकाव्ये निसर्गोज्ज्वलोऽयमष्टम सर्ग आगात् सम्पूर्ण इति भावः ॥ १०९ ॥

इति मल्लिनाथमूरविरचिते 'जीवातु' समाख्याने अष्टम सर्ग समाप्तः ॥८॥

अन्वय—कविराजगतिमुकुटालङ्कारहीरः मुपुत्रे तस्य कविकृत्वा-
दृष्टाः वसान्ये चाग्नि वैग्मेनिचरिते महाकाव्ये निम्नगोञ्ज्वत् जयम् अष्टम सर्ग
कात् ।

हिन्दी—दो चरणों का अर्थ पूर्ववत् । उसके कविकुल (कालिदासदि
प्राचीन कविमंडल) द्वारा उद्वेगन के पथिक (अपूर्वप्रमेयनगिपुष्ट, अपूर्व),
मनोरम वैरसेनि (नल) चरित महाकाव्य में निम्नगोञ्ज्वत् यह आठवाँ सर्ग
पूर्ण हुआ ।

टिप्पणी—कविकुलालङ्कार-वसान्ये' का विग्रह 'कविकुलेन आदृष्टोऽन्वा
तन्व पान्ये नी श्रिया जा सकृता हे । इस प्रकार अर्थ होगा पूर्वकवियों द्वारा
मन्त्री नांति अवलोकित पय का पथिक । ऐसा ही विनय 'मर्षो वयसमुत्कीर्णो
मृत्रस्येवान्ति में गति' कहकर महाकवि कालिदास ने प्रदर्शित किया था । पर
कदाचित् टीकाकारों को 'जाटशब्द' की अपेक्षा 'अटशब्द' ही पाठ अधिक
स्विकृत प्रतीत होता है । सन्देह है, श्रीहर्ष की गवोक्तिदों के अनुरूप यही हो,
परन्तु यदि श्रीहर्ष में कुछ विनय दीख सके तो अनाप नहीं होना चाहिए ।

नैपथीयचरित का अष्टम सर्ग समाप्त ।

नैषधीयचरितम्

नवमः सर्गः

इतीयमस्मिन्नुवविभ्रमेङ्गिते स्फुटामनिच्छा विवरोनुमुमुक्षा ।

तदुक्तिमात्रप्रवणेच्छयाऽमृषोदिगोमसन्देगिरो न गौरवात् ॥ १ ॥

जीवानु—अथ दमयन्तीवृत्तान् वक्तुं विवरोनुमुमुक्षा इति नान्प्रवणादनिता-
निन्द्राद्यनुरागशब्दा तावद्वाच्यति—इतीति । इय दमयती जज्ञिषो च भ्रुवी
च अस्मिन्नुव विभ्रमे इति । 'अचतुर' इत्यादिना ममाज्ञातादिनिपातनात्
साधु । तस्य विभ्रमो विकार स एव शङ्कित चेष्टा तरेव स्फुटा व्यक्तम-
निच्छामिन्द्रादिद्विषयामिति शेष । तथा विवरोनु वाचा निपेक्षुमुमुक्षा
उद्युक्ता मती । 'दृष्टाद्योद्युक्त उन्मुक्त' इत्यमर । निपेक्षस्य ज्ञानपूर्वकत्वात्
तज्ज्ञानार्थममृषोदिपय । किञ्च तदुक्तिमात्रप्रवणेच्छया नलवागमृतविभाषया
चेत्यर्थ । दिगीशसन्देगिरि जगृषोत् । मात्रपदव्याख्यंमाह—गौरवादिनि ।
न तु दिगीशादीना गौरवात् । जस्मिन् नो वसन्प्रवृत्तम् । अज्ञानवृत्तना-
दिमत्तो ॥ १ ॥

अन्वय—अस्मिन्नुवविभ्रमेङ्गिते स्फुटाम् अनिच्छा विवरोनुम् उन्मुक्ता
इय तदुक्तिमात्रप्रवणेच्छया दिगीशसन्देगिरिः अमृषोत्, गौरवात् न ।

हिन्दी—नेत्र और भ्रुवुटि के विकार-संकेतों द्वारा स्पष्ट अनिच्छा प्रकाशित
करन को उन्मुक्त वह (दमयन्ती) उस (नल) के वचनमात्र सुनने की इच्छा
से दिक्पालों के संदेश वचन सुनती रही, (उन देशों के प्रति) जादर से नहीं ।

टिप्पणी—दमयती क्योंकि नलानुरागिणी थी जत उसने दिक्पालों के
संदेश को सुनकर भी अनसुना कर दिया । वह सुनती भी इसलिए रही कि
उसे नल की वाणी अमृत सुन्य लाती थी (नै० व० ८।४९) । उसने देशों
के प्रति अपनी विरक्ति अपने नेत्र भ्रु आदि विकारों में स्पष्ट कर दी । विद्याधर
के अनुसार इस पत्र में अत्रिचयोक्ति भाषोदय-काव्यलि अलंकार हैं । सर्ग में
श्लोक मत्वा १—१५५ तक वसन्प्रवृत्त है ॥ १ ॥

तदर्पितामश्रुतवद्विधाय ता दिगीशसन्देशमयी सरस्वतीम् ।

इद तमुर्वातलशीतलद्युति जगाद वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी ॥ २ ॥

जीवातु—तदिति । वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी दमयन्ती तेनानलेनार्पिता प्रयुक्ता दिगीशसदेशमयी तद्रूपा सरस्वती वाचमश्रुतवद्विधायामश्रुतामिव कृत्वा । 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वृत्ति' । उर्वीतलशीतलद्युति भूलोकचन्द्र त नलमिद वक्ष्यमाण जगाद गदितवती ॥ २ ॥

अन्वय — वैदर्भनरेन्द्रनन्दिनी तदर्पिता दिगीशसदेशमयी वा सरस्वतीम् अश्रुतवत् विधाय उर्वीतलशीतलद्युति तम् इद जगाद ।

हिन्दी—विदर्भराज को नदित करने वाली (पुत्री दमयन्ती) उस (दूत नल) द्वारा कथित दिक्पाली के संदेश से युक्त उस वाणी को अनसुनी जैसी करके मृतल के चन्द्र उसे (नल) से यह बोली ।

टिप्पणी—दमयन्ती को संदेश के प्रति अनादर होने से उसमें काई रुचि नहीं थी, सो दिक्पाली के वरण-संबद्ध संदेश-वचनों को अनुसना करती हुई पृथ्वीतल को चन्द्रतुल्य आह्लादित करनेवाले नल से आगे कहे वचन कहने लगी । प्रत्युत्तर न देकर अपना मनोरथ व्यक्त किया दमयन्ती ने । आकाश के देवों की अपेक्षा पृथ्वी का राजा अधिक उपयुक्त लगना ही चाड़िए । आकाश का सत्य कल्पना का होता है, धरती का वास्तविक । विद्याधर के अनुसार उपमान-रूपक अलंकार ॥ २ ॥

मयाङ्ग । पृष्टं कुलनामनी भवानमू विमुच्यं व किमन्यदुक्तवान् ।

न मह्यमत्रोत्तरधारयस्य किं ह्यितेऽपि सेय भवतोऽधमर्णता ॥ ३ ॥

जीवातु—मयेति । हे अङ्ग ! भो धीमन् ! मया भवान् कुलनामनी पृष्टं सन् पृच्छतेदुं हादित्वादप्रधाने कमणि वत, 'अप्रधाने दुहादीना'मिति वचनात् । किं किमर्षममू कुलनामनी विमुच्य अन्यदुक्तवान् किमप्यसङ्गतमिव प्रलपसीति भाव । तदवधाने को दोषस्तत्राह—नेति । अल कुलनामप्रश्नं मह्यमुत्तरमर्णयि इति शेष । 'घारेस्तमर्णे' इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । धारयतीति धारय 'अनुपसर्गात्लिङ्गवि-धारि' इत्यादिना सप्रत्यय । उत्तरत्य धारय तस्य भवत तव शेषमधम ऋणेन अधमण । मयुरव्यसकादित्वात् तत्पुरुष । तस्य भावतत्ता सा ह्यितेऽपि न किम् ? लोके उत्तमर्णेन याच्यमानस्याधर्मस्य उदप्रदानं लज्जायै भवत्येव, भवतस्तु सापि नास्तीति भाव ॥ ३ ॥

अन्वय — अहम्, मया कृत्नामनी पृच्छन्वान् अमुं विमुच्य किम् प्रयत्नं कृतवान् । अत्र मह्यम् उत्तरधारण्यं भवति सा इयम् जन्मार्ता किं हिन्दे क्वि न ?

हिन्दी—प्रिय महाशय, मेरे (दमयन्ती के) द्वारा कूल और नाम पूछे जाने पर आप (नल) ने इन्हें (कूल-नाम को) जोड़कर क्या और सब कह डाला ! इस विषय में मेरे निमित्त उत्तर (रूप श्रृण) के धारक जापना वह यह अप्रमत्तभाव (गूढ़ी रहना) क्या लज्जा के निमित्त मौ नहीं है ? (है ही) ।

टिप्पणी—दमयन्तीने नल के नाम-कूल की जिज्ञासा की थी, परन्तु नलने वह न बता कर देववरण का प्रभाव रख दिया । यह शिष्टाचार विरुद्ध है । अपना नाम घाम परिचय बता कर तब किनी कुमारी के समुच्च ऐसा आत्मीय प्रभाव रखा जाता है । इस पर दमयन्ती ने उचित रूप में ही नल को लज्जित होने को कहा । जिस प्रकार श्रृणदाता का श्रृण न चुकाना अवमर्ण के लिए लज्जा का विषय होता है, ऐसे ही उचित उत्तर न देकर इधर-उधर को दूसरी बात छेड़ना भी लज्जास्पद और असम्य व्यवहार है । एक सामान्य व्यक्ति भी ऐसे अनुचित व्यवहार पर लज्जित होता है, नल जैसे श्रेष्ठ व्यक्ति को तो और भी लज्जित होना चाहिए । विद्यापद के अनुमार काव्यलिङ्ग अलंकार ॥ ३ ॥

अदृश्यमाना क्वचित्प्रकाशा क्वचिदम्पुटापंस सरस्वती ।

क्वचित्प्रकाशा क्वचिदम्पुटापंस सरस्वती जेतुमना सरस्वतीम् ॥ १ ॥

जीवानु—अदृश्यमानेति । मनानुगोणे प्रश्ने विषये । 'प्रश्नोऽनुयाय पृच्छा च' इत्यमरः । क्वचित् कुत्नामविषये अदृश्यमाना अप्रकाशितेत्यर्थः । क्वचित् कुत नागतं कस्य त्वमित्यत्र ईक्षिता दृष्टा प्रकाशितार्थेति यावन् ईदृशी भवति सरस्वती क्वचित् प्रकाशोदका क्वचिदम्पुटापंसप्रकाशोदका सरस्वती वाच सरस्वती नदी च । 'सरस्वती नदीभेदे गीर्वाणदेवतयोर्गिरि' । स्त्रीगन्धे चाप-गादाञ्च' इति विश्वः । जेतु मनो यस्या सा जेतुमना 'तु काममनसोरपि' इति मकारलोपः । जत्र न वाच सरस्वतीनदीप्रमंनम्ब घातजिवगीयोत्प्रेक्षा व्यङ्ग्यप्रयोगाद्गम्या । तथा चोपमा व्यज्यत इत्यङ्कारिणालङ्कारध्वनिः । १४ ।

अन्वय — नम अनुगोणे क्वचित् अदृश्यमाना क्वचित् ईक्षिता भवति सरस्वती क्वचित् प्रकाशा क्वचित् अम्पुटापंस सरस्वती सरस्वती च जेतुमना ।

हिन्दी—मेरे (दमयन्ती के) अनुयोग (प्रश्न के विषय) में कही अहम्य (उत्तर न देती) और कही दृश्यमान (उत्तर देती) आपकी सरस्वती (वाणी) कही प्रकाशित (जल प्रकट करती) और कही जल न प्रकट करती सरस्वती नदी और सरस्वती (वाग्देवता) को जीतने की इच्छुक प्रतीत होती है ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कुछ प्रश्नों का उत्तर तो नल ने दिया—जैसे वहाँ से आये हो, इस प्रश्न का उत्तर दिया—‘हरित्यतीना सदस प्रतीहि त्वदीय-मेवातिथिमागत माम् ।’ (दिग्गलों द्वारा भेजा गया मैं आपका ही अतिथि हूँ । नं० ३० ८।१५) । कुल नाम के विषय में उत्तर नहीं दिया । इस प्रकार कही तो नल की सरस्वती (वाणी) प्रकट रही, कहीं अप्रकट । यही स्थिति सरस्वती नदी की मानी जाती है । कही उसका जल दीखता है, कही नहीं । दमयन्ती का ध्येय है कि कदाचित् नल की सरस्वती वैसा ही आचरण करके सरस्वती नदी और साथ ही मूडागुट रहती वाग्देवता सरस्वती को भी जीतने की इच्छुक है । भाव यह है कि यह व्यवहार छोड़कर कुल नाम बताना नल का कर्तव्य है । विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा । मल्लिनाथ के द्वारा अलकार से अलङ्कार ध्वनि है, क्योंकि यहाँ सरस्वती नदी के घर्म सवय से नल की वाणी के जीतने की इच्छुक का प्रयोग न होने से गम्या उत्प्रेक्षा है, जिसमें उपमा व्यजित होती है ॥ ५ ॥

गिर श्रुता एव तव श्रवमुधा भवन्नाग्नि तु न श्रुतिस्पृहा ।
 विषामुक्ता शान्तिमुपेक्षि वारिणा व जतु दुग्धात् मधुनाऽधिकादपि ॥
 जीवानु-गिर इति । श्रवमुधात् कर्ममृतानि तव गिर श्रुता एव,
 किन्तु भवन्नाग्नि विद्वेः श्रुतिस्पृहा श्रवणेन न श्लया न निवृत्ता । न च
 मुरम-देशश्रवणादेन मरिचिर्नृतिरित्याह-श्रुता विषामुक्ता विषामुक्ता विषामुक्ता । वारिणा
 वारिणानेव शान्तिमुपेक्षि अधिवात्तुग्धात् दुग्धात् क्षीरात् मधुना क्षीराद्वा,
 जातु कदापि न शान्तिमुपेक्षि अधिवात्तुग्धात् शान्तालङ्कार ॥ ५ ॥

अन्वय—श्रवमुधा तव गिर श्रुता एव तु भवन्नाग्नि श्रुतिस्पृहा न श्लया, विषामुक्ता वारिणा शान्तिमुपेक्षि, अधिवात् दुग्धात् मधुना अपि जातु न ।

हिन्दी—कर्णामृत रूप तुम्हारी (नल की) वाणी (वचन) तो मुन ही

ली किन्तु धार (नल) के नाम के विषय में श्रुति (सुनने को अथवा कानों) की आवाजा शिथिल नहीं हुई । पिपासा (प्यास) जल से शांति को प्राप्त होती है, अधिक दूध अथवा मधु से भी शांत नहीं होती ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा कि नल के वचन तो पर्याप्त मात्रा में सुनने को मिल गये । वे कानों को अमृत के समान प्रिय लगे, किन्तु नाम कुल नहीं जानने का मिला । उनके विषय में उत्कृष्ट श्रेय है । तो जित वस्तु की इच्छा—आवश्यकता होती है वही वस्तु प्राप्त होने पर मत्सृष्टि होती है, अन्य पूर्वप्राप्त अथवा अप्राप्त— नये ही वह अधिक मूल्यवान् हो—वस्तु प्राप्य को इच्छा पूर्ण नहीं कर सकती । उदाहरणार्थ प्यासे की प्यास जल से ही बुझेगी, पर्याप्तमात्रा में बहुमूल्य दूध या मधु प्राप्त हो जाने से प्यास नहीं बुझ सकती । जैसे पिपासु को जल अर्पित होता है, वैसे ही दमयन्ती की इच्छ नल का कुल नाम जान कर ही पूरा होगी, देववरण प्रस्ताव अर्पित नहीं । नल को कुल-नाम ही बनाना चाहिए । मन्त्रिणाप के अनुसार दधातु और विद्याधर के अनुसार रुक् और जयान्तरन्वास ॥ ५ ॥

विमर्ति वश क्तमन्मोऽह भवाद्दृश नायकरत्नमोदृगम् ।

तमन्यनामान्यधिप्राग्भवानित त्वया महान्त बहु मन्तुमुत्सहे ॥ ६ ॥

जीवानु—विमर्ति । तमोऽह भवाद्दृशमोदृश नायकरत्न राजश्रेष्ठ हारमध्य-
मर्ति च 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमज्यनायवि' इति विश्व । क्तमो वश
कृतं वेत्तु च । 'वशो वेशो कृते वशे' इति विश्व । विमर्ति ? किमर्थमिति चेत्
अन्यमाना यधिप्रा पूर्व सर्वसाधारणवृद्ध्या अवमानित दृष्ट तयाप्यथ त्वया
महान्त तमुन्मत्तमाप वश बहु मन्तु बहुकर्तुमुमहे, नर्वोऽपि हि वशो मान्यं
पृथ्वीरेयैव प्रकाशने न स्वरूपत इति भाव । अत्र मध्यमगिरुपर्यान्तर-
प्रतीतिर्वनिरेव । अत्र वेपोर्नृत्तयोनिश्चे प्रमाणम् । 'करी-इत्रीनूतवराह-
सह्यनन्त्याग्निशुक्लपुद्गववेणुजाति । मुक्तात्नानि ग्रियानि लोके तेषा तु
शुक्लपुद्गवमेव मूरि' ॥ इति ॥ ६ ॥

अन्वय — तमोऽह भवाद्दृशमोदृश नायकरत्न क्तमो वशो विमर्ति, अन्य-
नामान्यधिप्रा अवमानित त्वया महान्त न बहु मन्तुम् उत्सहे ।

हिन्दी—अप्यकार को दूर करने वाले आसःइय ऐसे नायक हय रत्न को
कौन सा वश—(मूर्खकुल, चन्द्रकुल) रूप वश (वांछ) धारण करता है ?

अथ शमाय युद्धि से तिरस्कृत (शत्रु) आपसे महान् स्वीकृत उस (कुल-बाँस) को मैं (दमयन्ती) अत्यन्त समान देने को उत्साहित हूँ ।

टिप्पणी—दमयती यह जानना चाहती है कि समुल्ल उपस्थित व्यक्ति सूर्यकुल में जन्मा है अथवा चद्रकुल में ? नल-जैसे श्रेष्ठ, नायक गुणा से युक्त व्यक्ति के उत्पन्न होने से ही वह वध धन्य कहाया है, उसने पूर्व नहीं था, जैसे कि बाँस अच्छा रत्न उत्पन्न होने से ही समान पाता है, अथवा कौन बाँस को पूछे ? रत्न देखकर ही बाँस का समान होता है । ऐस ही नल से वध समानित है, वैसे नहीं । महापुरुषों के कारण ही वध महान् होता है । विद्याधर के अनुसार श्लेष श्लकार । मल्लिनाथ के अनुसार नायक के मध्य मणिरूप अर्थान्तर प्रतीति ध्वनि ही है । नायक अर्थात् श्रेष्ठ, नेता, हार के मध्य की मणि ॥ ६ ॥

इतीरयित्वा विरता पुन म ता गिरानुजग्राहतरा नराधिप ।

विरृत्य विश्रान्तवती तपात्यये घनाघनश्चातमण्डलीमिव ॥ ७ ॥

जीवात्—इतीति । इतीरयित्वा इत्य व्याहृत्य विरता तूष्णीभूतां ता भैमी स नराधिप नल तपात्यये ग्रीष्मात्ते विरृत्य विपासया आश्रय विश्रान्तवती विरता चातकाना मण्डली समूह घनाघनो वर्षुणाब्द इव । 'वर्षुणाब्दो घनाघना' इत्यमर । पुनगिरा वचनेन गजितेन चानुजग्राहतरामतिशयेनानुगृहीतवान् आदरात् प्रत्युवाचेत्यथ । 'किमेत्तिङ्' इत्यादिना अभ्यत्यय ॥ ७ ॥

अन्वय—इति ईरयित्वा विरतां ता तपात्यये विरृत्य विश्रान्तवती चातक-मण्डली घनाघन इव स नराधिप गिरा पुन अनुजग्राहतराम् ।

हिन्दी—यह कहकर उस (दमयती) के विरत (चुप) हो जाने पर जैसे ग्रीष्म की समाप्ति पर प्यास से चिन्ताने चातको के समूह पर बरसाऊ घादल शृणु करता है, वैसे ही वह राजा (नल अपने) वचनों से (दमयती को) पुनः अतिशय अनुगृहीत करने लगा ।

टिप्पणी—जैसा कि दमयती कथन से प्रकट हुआ, दमयती नल की मधुरा वाणी से अत्यन्त प्रसन्न थी और वह नल का कुञ्ज नाम जानना चाहती थी । नल द्वारा अपने कथन का प्रत्युत्तर दमयती को बैसा ही प्रतीत हुआ, जैसा ग्रीष्मकार के शत में प्यास से व्याकुल चातक (पपीहो) को बादल-

बगुने पर होता है। वचनदागि की ध्याती हूँ दमपती और 'धनधन' है राजा नल। उपमा अलंकार। विधानर के अनुमा अलंकार अलंकार उक्तानुप्रासः।

अरे ! मनोदासिनमेव जिह्वया द्वयेऽपि तस्मिन्ननतिप्रयोजने ।

गरी गिरः पल्लवनाथंलाघवे मितञ्च मारुच्च वचो हि वाग्मिता ॥८॥

जोवानु—जयं इति । अरे ! दमपति ! न विदितं अतिप्रयोजनमनति-प्रयोजन यस्मिन् तस्मिन् द्वयेऽपि कुलनामोद्युत्तेऽपि मम जिह्वया उदासित माध्यस्थेन स्थित, 'नपुंसके भावे वत' । तथा हि—पल्लवन विस्तरण वृथा-शब्दप्रदानमिति दावत् । तच्छायंलाघवञ्च वक्तव्यायंसङ्ख्योचनञ्च गिरः वाच गराविद्व निपप्रायावुभाविन्दर्यं । मितमन्पाक्षर सार महायञ्च वचो वाक्य वाग्मिता वक्तृत्वम्, जयया वाचान्ता स्यादिति भावः । 'वाचो ग्मिनि' । नामान्धेन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ ८ ॥

अन्वयः—अरे, मम जिह्वया अनतिप्रयोजने तस्मिन् द्वये अपि उदासितम् एव, हि पल्लवनाथंलाघवे गिर गरी, मित सार च वच वाग्मिता ।

हिन्दी—अरे, मेरी जीभ द्वारा विशेष प्रयोजन से शून्य उन दोनों (कुल-नाम) के विषय में उदासीनता का ही व्यवहार हुआ, क्योंकि (व्यर्थ) विस्तर और कथन मकोच—दोनों वापों के विषय (रूप) हैं और छोटा शिनु सारपूर्ण (कथन) वचनों का पाठिय है ।

टिप्पणी—नल ने कुलनाम न बताने का कारण स्पष्ट किया कि उसने ये दोनों बातें निरर्थक समझी, जिनके बताने से कोई विशेष लाभ नहीं । जिस विषय में अधिक कहना अनशित न हो, उसे बड़ा-बड़ा कर कहा जाय और जपशित को सुक्षेप में कहा जाय, यह बोलने की कला के दुर्गुण है—विषय-तुल्य हानिकारक । वचन वे ही पाठियपूर्ण समझे जाते हैं, जो सशित हों, पर तत्त्वपूर्ण हों । इसी कारण नल ने निरर्थक कुलनाम बताने का उदाहरण नहीं दिया । विद्याधर के अनुमा यहाँ काव्यलिंग और अर्थान्तरन्यास अलंकार हैं, मन्दिनाय ने सामान्य द्वारा विशेष समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ।

वृथा कथेय मयि वार्पद्धति कथानुपूर्व्या समवेति केति च ।

शमे समसन्देहवारनावयो पदे विधानु खलु युष्मदन्मदी ॥ ९ ॥

जीवातु—कुलनामकचन वृथेत्युक्त, तत्र नामकचनस्य वैयर्थ्यमाह—
वृथेति । का वर्णपद्धतिरक्षरपङ्क्ति । कथानुपूर्व्यानुक्रमेण मयि समकेति
मज्ञात्वेन सकेतितेतीय कथा प्रश्नोक्तिश्च वृथा । किमुतोत्तरमिति भाव ।
नामरूपापरिज्ञाने कथमावयोमिथ सवादस्तत्राह—आवयोस्तव मम चेत्यर्थ ।
त्यदायैकशेषे यत्पर तदिति वचनादस्मद शेषता । अक्षणे समीपे ममज्ञ
सम्मुखेन । समीपार्थेऽव्ययीभावे शरत्प्रभृतित्वात् समासात् । व्यवहार
मिथ सकथा विघातु युष्मच्चास्मच्च युष्मदस्मदी पदे त्वमहमित्येती शब्दा-
वित्यर्थ । क्षमे समर्थे खलु ॥ ९ ॥

अन्वय—मयि का वर्णपद्धति कथा आनुपूर्व्या समका—इति इय च कथा
इति वथा, खलु आवयो समक्षव्यवहार विघातु युष्मदस्मदी पदे क्षमे ।

हिन्दी—मुझ (नल) मे कौन से अक्षरो का क्रम किस क्रम से (सजा-
रूप मे) सकेतित है—यह और इस प्रकार का प्रश्न—दोनों व्यर्थ हैं । निश्चयत
हमारे (दमयन्ती नल के) समुख-व्यवहार (सवाद) के प्रतिपादन मे 'तुम'
और 'मैं' पद पर्याप्त हैं ।

टिप्पणी—नल ने कहा कि यही पर्याप्त है कि दमयन्ती और नल परस्पर
नाम से नहीं, सर्वनाम से ही परिचित हैं । 'युष्मद्-अस्मद्' (मैं-तू) का
व्यवहार समुख वार्तालाप के लिए पर्याप्त होता है । अतः दमयन्ती की कुल-
नाम-जिज्ञासा व्यर्थ है । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलङ्कार ॥ ९ ॥

यदि स्वभावान्मम नोज्ज्वल कुल ततस्तदुद्भावनमौचिती कुत ।
अथावदात तदहो विडम्बना यथा तथा प्रेक्ष्यतयोपसेदुप ॥१०॥

जीवातु—अक्यने च कारणमाह—यदीति । मम कुल स्वभावादुज्ज्वल-
मक्लङ्क न यदि, ततस्तदिति तस्य कुलस्योद्भावन प्रकटन कुत औचिती
औचित्य नोचितमित्यय । धर्मधर्मिणोभेदोपचारात् औचिती व्याख्यातव्या ।
अथावदातमुज्ज्वल तथापि यथा तथा कथञ्चिदपि प्रेक्ष्यतया किङ्करतया
उपसेदुप प्राप्तस्य मम तत् कुलोद्भावन विडम्बना परिहास । अहो ॥ १० ॥

अन्वय—यदि मम कुल स्वभावात् उज्ज्वल न, ततः तदुद्भावन कुत
औचिती अहो, अथ अवदात तत् यथा तथा प्रेक्ष्यतया मम विडम्बना ।

हिन्दी—यदि मेरा कुल स्वभावतः (प्रकृत्या) निर्मल नहीं है, तब उसका

प्रकाशन (बताना) किस प्रकार औचित्य है ? (नहीं है) । और यदि उज्ज्वल है, तो जैसे तैमै मंत्री प्रेष्यता (दूत होकर भेजा जाना) के कारण (कूल-प्रवाचन) महान् उपहास ही है ।

टिप्पणी—नाम कथन इसलिए व्यर्थ है कि प्रत्यक्ष-व्यवहार में सर्वनाम से काम चल जाना है और कूल बताना इसलिए उचित नहीं है कि वच के मन्त्रि होने पर उक्तका प्रकट न होना ही भला होता है, और कूल निमल हो तो दूत-कार्य में आने के कारण कूल का उपहास होगा । अतः न बताना ही श्रेयस्कृत है । विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ १० ॥

इति प्रतीत्यैव मयावधीरिते तथापि निर्वन्धरसो न शोभते ।

हरित्यतीना प्रतिवाचिक प्रति श्रमो गिरा ते घटते हि सम्प्रति ॥ ११ ॥

जीवानु—इतीति । इतीत्य प्रतीत्य कूलनामकथन वृथेति निश्चित्यैव मयावधीरिते उपेक्षिते सति तदापि निर्वन्धरमा निर्वन्धेच्छा न शोभते । किंतु सम्प्रति हरित्यतीनामिन्द्रादीना प्रतिवाचिक प्रतिसंदेश प्रत्युत्तर प्रतीत्यर्थ । ते तव गिरा श्रम प्रयत्न वाम्ब्यापारो घटते युज्यते हि ॥ ११ ॥

अन्वय —इति प्रतीत्य एव मया अवधीरिते तव अपि निर्वन्धरस न शोभते, हि सम्प्रति हरित्यतीना प्रतिवाचिक प्रति ते गिरा श्रम घटते ।

हिन्दी—यह (श्लोक म० ८-१० के अनुसार) विचार करके ही मेरे द्वारा उपेक्षित (कूल नामकथन-विषयक प्रश्नों) के प्रति तुम्हारे (दमपती) द्वारा आग्रह करना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि इस काल दिक्पाला के प्रत्युत्तर के प्रति तुम्हारी वाणी का श्रम उचित है ।

टिप्पणी—भाव यह कि निरर्थक कूल-नाम-विषयक जिज्ञासा का त्याग कर दमपती की इन्द्रादि दिक्पालों के प्रस्ताव पर विचार करके समुचित उत्तर देना ही कार्योचित और उपयुक्त है । विद्याधर के अनुसार काव्यालंकार अलंकार ॥ ११ ॥

तथापि निर्वन्धति । तेज्यवा स्पृहामिहानुसन्धे मिनया न कि गिरा ।

हिमाशुवशस्य कगेरमेव मा निशम्य कि नामि फलेग्रहित्प्रहा ॥ १२ ॥

जीवानु—तथापीति । तथापि वैयर्थ्येऽपि निर्वन्धति । निर्वन्धकारिणि । अघ्नाते शत्रुतादुगितश्चेति डीबतात् सम्बुद्धि । इहाप्ये ते तव स्पृहा वाञ्छा

‘मितया गिरा नानुराघे नानुवर्ते किम् ? अनुरोत्स्यायेवेत्यर्थं । कुलस्वरूपमात्रं
नययामीत्यर्थं । रघेल्लिटि तद् । मा हिमाशुवशस्य करीर सोमकुलाकुरमेव
निशम्य फल गृह्णातीति फलेग्रहि सफल ग्रह आग्रहो यस्या सा सफलाभि-
निवेशा नासि किम् ? तावता न तुप्यमि किमित्यर्थं । ‘फलेग्रहिरात्मम्भरिश्चे’
ति निपातनात् साधु ॥ १२ ॥

अन्वय — अथवा तथापि निर्वन्धति, इह ते स्पृहा मितया गिरया किं न
अनुरन्धे ? मा हिमाशुवशस्य करीरम् निशम्य एव किं फलेग्रहिराहा न असि ?

हिन्दी—अथवा इतने पर भी हे आग्रहशीले, ईश (कुल नाम) के विषय
मे तेरी जिज्ञासा को थोड़ा बहकर ही क्यों न समाप्त कर दूँ ? मुझ (नल)
को शीतकिरण (चन्द्र) के वश वा करीर (अकुर, बालक) सुनकर ही क्या
तुम्हारा आग्रह फटित (सफल) नहीं है ?

टिप्पणी—अपने को चन्द्रवश का करीर (एक सामान्य बालक) बना
कर नल ने कुल परिचय भी दे दिया और अपने को छिपा भी लिया । अपने
को सामान्य कहना सिद्धाचार भी है, पर राजा सामान्य नहीं, असामान्य होता
है, और नल तो विश्वविख्यात—पुण्य श्लोक था । इस प्रकार ‘करीर’ पद
से उसका छिपाव भी ही गया । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और रूपक
श्लकार ॥ १२ ॥

महाजनाचारपरम्परेदृशी स्वनाम नामाददते न साधव ।

अतोऽभिधातु न तदुत्सहे पुनर्जनं किलाचारमुच विगायति ॥ १३ ॥

जीवानु—कुलमुक्त नाम तु वाच्यमित्याह—महाजनेति । महाजनाना
सत्तामाचारस्य परम्परा सम्प्रदाय ईदृशी । तामेवाह—साधव सत् स्वनाम
नाददते न गृह्णन्ति नाम । नामेति प्रसिद्धो—‘नामानुकीर्तनं पु सामात्मनश्च
गुरो स्त्रिया’ । दिनमेव हरस्यायु’रिति निषेधादिति भाव । अता निषेवाद्
सत् पुनस्तन्नाम तु अभिधातु नोत्सहे न शक्नोमि । ‘शक्युष’ इत्यादिना
तुमुत्प्रत्यय । तथा हि—जनो लोक आचारमुचमारत्यज विगायति किल
गर्हते खलु ॥ १३ ॥

अन्वय.—साधव स्वनाम न आददते, महाजनाचारपरम्परा ईदृशी, अत
त् अभिधातु न जगमह पुन जनं किल आचारमुच विगायति ।

हिन्दी—सञ्जन अन्ना नाम नहीं लेवे—महापुरुषों के आचार व्यवहार की परम्परा ऐसी ही है, इसलिये वह (नाम) कहने को उचित नहीं हो पा रहा है, क्योंकि फिर (नाम बताने पर) लोक निश्चयत आचार छोड़ देने वाले की निन्दा करता है ।

टिप्पणी—‘अन्नानाम गुरोर्नाम नानानिहृताभ्य च । आनुकामो न गृहीयात् ज्येष्ठपत्यकन्त्रयो’—इस परम्परा के अनुसार अन्ना नाम बताना आचरण-विच्छेद है, अतः लोकनिन्दा का ध्यान रखते हुए नञ् ने स्वनामोच्चारण न करने का कारण प्रस्तुत कर दिया । विद्या-पर के अनुसार शब्दार्थ और अर्थान्तरत्यास अलङ्कार ॥ १३ ॥

जदोऽयमागच्छेत् सिद्धीव शारदो बभूव तूष्णीमहितापहारकः ।

अयाऽय्य रागस्य दद्या पदे पदे वचासि हृषीव विदमंजाददे ॥१४ ॥

जीवातु—अद इति । अहितानामरीणामपकारकं अपकर्ता अपत्राहीना तानकारकोऽतिहिताकरः । अय नञ् शरदि भव शारद, ‘सन्निव्वेलाद्युत्पन्नक्षनेभ्योऽङ्’ । सिद्धी के लिये अद इद वचनमालम्ब्य व्याहृत्य तूष्णीं बभूव । जयान्तरमस्य वाक्यस्य मन्वन्विनि पदे सुतिङ्गन्तरूपे पदे विषये रागस्य श्रवणेच्छया दधातीति दद्या धत्वि प्रथमशर सुधात्तावित्वादविच्छिन्नतृप्पेत्पर्यं । ‘ददातिदधात्योविनापा’ इति दधातेःप्रत्यये इलाविति द्विभावं, ‘जजाद्यष्टाप्’ । अयन पदे पदे चरणद्वये आस्ये चञ्चुदृटे रागस्य लोहित्यस्य दद्या । ‘राजहसास्तु ते चञ्चुचरणैर्नोहितं सिता’ इत्यमरः । विदमंजा वंदनीं हृषीव वचास्याददे वचाचेत्यर्थं । शरदि नि-शब्दाः शिन्निन राजहसा शब्दापन्ते तद्वदिति भावः ॥ १४ ॥

अन्वय—अहितानकारक अय शारद सिद्धी इव अद आन्ध्य तूष्णीं बभूव अय अस्य पदे पदे रागस्य दद्या विदमंजा (आस्य रागस्य पदे पदे दद्या) हृषी इव वचासि आददे ?

हिन्दी—अहितों (शत्रुओं) का अपकार करने वाला, शारद ! (शिन्नुग) यह (नञ्) अहि (सर्प) को ताप (कष्ट) देनेवाले शरदकाल में उत्पन्न शारद (हिंसक) मयूर के समान यह (पूर्वोक्त) आलस्य क (शोककर) चुप हो गया, तदनन्तर इस (नञ्) के शब्द-शब्द पर अनुशासित धारण करती

(मुग्ध होती) विदभसुता (दमयन्ती) आस्यराग अर्थात् मुख लालिमा को प्रत्येक चरण पर धारण करती हूँ की समान वचन बोली ।

टिप्पणी—नल के वचन पर प्रतिशब्द मुग्ध हुई दमयन्ती मन लगाये उसकी बात सुनती रही और जब वह अपनी बात कहकर चुप हो गया, तब आगे आने वाले वचन बोली । यहाँ नल की तुलना वर्षाकाल में बोलकर शरत् काल में चुप हो जाने वाले मयूर से की गयी है । 'अहितापकारक' और 'शारद' नल-मयूर—दोनों का सामान्यधिकरण्य है । दमयन्ती की तुलना शरत् काल में मधुर बोलनेवाली हूँ से की गयी है, दमयन्ती 'अस्य पदे पदे रागस्य दधा' (नल के प्रतिशब्द पर मुग्धा) है और हमी है 'आस्यरागस्य पदे पदे दधा' (लाल चोंच और चरणो वाली) यह दमयन्ती हूँ की समानता है । कहा जाता है कि वर्षाऋतु में बोलता बोलता मयूर शरद् में चुप हो जाता है, क्योंकि उसके स्वर में कुछ विरसता आ जाती है । नल के वचन भी कुछ रुझाये ही । शरत् काल में राजहूँ मधुरालाप करती है । इस प्रकार मधुरा वाणी बोलनी दमयन्ती की तुलना शारदीया हूँ से उचित ही है । रूझस्वर मयूर-नल चुप हुआ, तदनंतर मधुरस्वरा शारदीया हूँ-दमयन्ती बोली । विद्याधर के अनुसार श्लेषोपमाकार जिसे चन्द्रावलाकार ने श्लेष और उपमा का संकर कहा है । १४।

सुधाशुवशाभरण भवानिति श्रुतेऽपि नापैति विशेषसशय ।

कियत्सु मौन वितता कियत्सु वाङ्महत्पहो वञ्चनचातुरी तव ॥१५॥

जोवातु—सुधाश्रिति । भवान् सुधाशुवशाभरणमिति श्रुतेऽपि विशेष विषये सशयस्तत्रापि क इति सन्देहो नापैति अतो विशेषो वक्तव्य इति भाव । अथावाच्यत्वान्नोच्यते तर्हि कियद्वाच्य तदेव विविच्यतामित्याह—कियत्स्वर्षेषु मौन कियत्सु विषयेषु वाग्वितता विस्तृता न किञ्चिदत्र नियामकमस्तीति भाव । किंतु तव वञ्चनचातुरी प्रतारणाच्चातुर्यं महती । अहो ! औचित्यवच्चातुरी व्याख्येया ॥ १५ ॥

अन्वय — भवान् सुधाशुवशाभरणम् इति श्रुते अपि विशेषसशयः न अपैति, कियत्सु मौन, कियत्सु वितता, अहो, तव वञ्चनचातुरी महती ।

हिन्दी—(दमयन्ती ने कहा) आप (नल) अमृतकिरण (चंद्र) के बुल के आभूषण हैं—यह सुनकर भी विचिष्ट (व्यक्ति नल) होने का सदेह दूर नहीं

होता । किन्हीं (प्रश्नों के उत्तर में) मौन किन्हीं में विस्तार । बहुत बड़ी है आश्चर्य कारिणी अपनी प्रतारणाचानुरी (ठगने में कुशलता) ।

टिप्पणी—नल ने कहा कि वह 'चन्द्रवश काही' है, पर नाम नहीं बताया । दमयन्ती इससे संदेह में पड़ गयी कि यह चन्द्रवशोत्पन्न राजा नल है क्या वाद नद ? इस पर उसने नल को 'वचनचतुर' कहा । कुछ प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया, कुछ का दे दिया । आश्चर्यजनक प्रतारणाचानुरी दिखाया उसने मात्र यह है कि नल जैसा प्रशंसा तो दमयन्ती ने नहीं देखा । उसके दूत है, किस काम में जाये हैं—तो विचार से बताया, पर कुलनाम एक शब्द में कह दिया । शेष परिचय में पूर्णतः मौन साध लिया । विद्याधर के अनुमान हेतु बलकार ॥ १५ ॥

मयापि देय प्रतिवाचिक न ते स्वनाम मत्कर्णमुधामकुर्वते ।

परेण पुसा हि मयापि संक्षुया कुलावलाचारसहासनासहा ॥ १६ ॥

जीवानु—अथ यदुक्त नामकथन निषिद्धमिति तत्र प्रतिवन्दी गृह्णाति-मयापीति । स्वनाम मन कर्णमुधा कर्णामृतमकुर्वते जथावयने इत्यर्थं ते तुभ्य मयापि प्रतिवाचिक प्रतिसन्देशन न देय, कुत, हि यस्मान्मयापि परेण पुसा संक्षुया सम्भाषण कुलावलाणा कुलाङ्गनानामाचारस्य सहासन सहवासस्तस्य न सहन इत्यसहा असमा । 'पचाद्यच्' । कुलस्त्रीमनाचारविरुद्धे इत्यर्थं ॥ १६ ॥

अन्वय —स्वनाम मत्कर्णमुधाम् अकुर्वते ते अपि प्रतिवाचिक न देयम्, हि मन अपि परेण पुसा संक्षुया कुलावलाचारसहासना ।

हिन्दी—अपने नाम को मेरे कानों का पीयूष बनाते (न बताते हुए) तुम्हें मेरे (दमयन्ती के) द्वारा भी प्रत्युत्तर देना उचित नहीं है, क्योंकि मेरा भी परपुरुष के साथ सलाह कुलनारियों के आचार के साथ एकाङ्गीता को सहने वाला नहीं है ।

टिप्पणी—नल ने स्वनामाकथन में जिस लोकाचार की दुलाई दी थी, दमयन्ती ने भी उसी आधार पर कहा कि अज्ञातकुलनामा परपुरुष के साथ बान-बोज करना कुलनारियों के लिए अच्छा नहीं माना जाता, अतएव नल द्वारा उपस्थित किये गये दिक्कालों के संदेश का उत्तर देने में दमयन्ती अग्रमर्ग

हे । कुलस्त्री समाचार-विषुद्ध कार्य वह नहीं कर सकती । विद्याधर के अनुसार
छैकानुप्रास वाच्यलिंग अलंकार ॥ १६ ॥

हृदयाभिनन्द्य प्रतिबन्धनुत्तर प्रियागिरि नस्मितमाह स स्म ताम् ।
वदामि वामाक्षि ! परेषु मा क्षिप स्वमीदृश माक्षिकमाक्षिपद्वच ॥१७॥

जीवातु—हृदेति । स नल प्रियाया गिरो वाक्यानि हृदा हृदयेन
अभिनन्द्यानुमोद्य प्रतिबन्धा पूर्वश्लोकाकर्या अनुत्तर ता प्रिया सस्मितमाह
स्म सवतवान् । 'लट् स्म' इति भूने लट् । हे वामाक्षि ! चाहलोचने ।
वदामि । माक्षिकाभि कृत माक्षिकम् । 'मधुभेदो मधु क्षौद्र माक्षिकादि'
इत्यमर । तेन कृतमित्यर्थे सज्ञायामित्यणप्रत्ययः । तदाक्षिपत् निराकृवत्
तत्सदृशमित्यथ । ईदृश लोकोत्तर स्व वच परेषु परपुरेपेषु मा क्षिप मा
निधेहि सत्य कुलस्त्रीणा परपुष्टसम्भाषणमनुचितमङ्गीकृत च स्वयं तु न
परपुरुष इति भावः ॥ १७ ॥

अन्वय—प्रियागिरि हृदा अभिनन्द्य प्रतिबन्धनुत्तर स ता सस्मितम्
आह स्म—वामाक्षि, वदामि, ईदृश माक्षिकम् आक्षिपत् स्व वच परेषु मा क्षिप ।

हिन्दी—प्रिया (दमयन्ती) की वाणी का हृदय से अभिनन्दन (स्तुति)
करके (दमयन्ती की) पूर्वश्लोकोक्ति द्वारा निरुत्तर वह (नल) उस (दमयन्ती)
से मन्दस्मित के साथ बोला—हे वचनपने, निवेदन है कि ऐसे मधु को तिरस्कृत
वनाने (मधु से भी मधुर) अपने वचन (मेरे जैसे) परपुरुष पर मत फेंको ।

[टप्पणी—दमयन्ती ने अज्ञातकुलनामा व्यक्ति से सलाप अस्वीकार कर
दिया, क्योंकि परपुरुष से वार्तालाप कुलललनाओं के आचरण के विषय है ।
नल ने दमयन्ती की इस वचन चातुरी को मन ही मन प्रशंसा की । इस उक्ति
का उत्तर उसके पास नहीं था, जिस आचारपालन के आधार पर नलने नाम
बताना अनुचित कहा था, उसी युक्ति का सहारा लेकर दमयन्तीने भी उसे
निरुत्तर कर दिया । अब नल ने प्रशंसा-मूचक मुमकान के साथ उससे निवेदन
किया कि उसका वचन ठीक है । दमयन्ती अज्ञातकुलनामा व्यक्ति से सलाप न
करे । अपने मधु से भी मधुर वचनों से इन्द्रादि दिक्पालों से ही सलाप करना
मान कर उनके सदेव का उत्तर देने की कृपा करे । इन्द्रादि तो अज्ञातकुलनाम
नहीं हैं सो दमयन्ती का दिया प्रत्युत्तर दिक्पालों के प्रति ही समझा जायेगा,

ब्रह्मकुण्डलानामा दूष (नल) के प्रति नहीं । अतः दमयन्ती की इस प्रकार की 'प्रतिवर्दी' का परित्याग कर शातकुलीयानाम दिक्षपालों को ऋजुमार्ग से उत्तर देना चाहिए ।

'प्रकाश' शर ने अन्वयात्तर करके जीव भी अर्पण विशेष किये हैं । 'सस्मिन् मासिकम् जासिपत् वष आहम्न ईदस स्व परेषु या सिप'—अर्थात् स्मिन् के नाथ मधु को लिखित करते वचन नल ने दमयन्ती से कहे—ऐसे अपने (मुझ नल) को ज्यों ' परायो ' में मत डकेलो । भाव यह कि इन्द्रादि के इन रूप में उपस्थित 'पर' नहीं है, जिसमें सञ्चाप हुआचार-विग्रह हो । दिक्षपाल-रूप में परिचित होने पर अब परता कहीं रही ? इन्द्रादि के इन रूप में वह उनके नमान ही दमयन्ती का अपना है । 'मासिकम् जासिपत् वष परेषु मा सिप कितु मपि सिपेति वा ।' जयवा मधु को जवमानित करते वचन परायो से मत कही, किन्तु मुझ से कही । मुझमें पर बुद्धि न करके यह मानो कि मैं नल ही हूँ । इस प्रकार नाम बटाया ही समझो । अथवा 'वदामि' अर्थात् नाम बटाता हूँ, 'परेषु मा सिप', परायो में मत गिनो अर्थात् उपस्थित नल से अन्य है—ऐसा मत मानो । भाव यही है कि उपस्थित व्यक्ति को किसी तर्क के आधार पर परपुरुष न मान, अपना मान कर ही दिक्षपालों के सन्देश का उत्तर देना ही दमयन्ती को उचित है । दिक्षाघर के अनुसार छेकानुशास और रूपक ॥ १७ ॥

करोपि नेन फलिन मम श्रम दिगोऽनुगृह्णासि न कञ्चन प्रभुम् ।
त्वमिन्धमर्हानि मुरानुवासिनु रमामृन्मनानपवित्रया गिरा ॥१८॥
जीवानु—करोपीति । हे ममि । मीमवे । मम इम श्रम मुक्तायंप्रशान फलिन फलवत्त 'फलवान् फलित फली' इत्यमर 'फलवर्हाम्यानिन्-ज्वत्तत्र' । न करोपि कथ, कञ्चनैकमपि दिश प्रभु दिगोऽनुगृह्णासि, त्वमिन्ध रसो मापुर्वमेवामृतं तत्र स्नानेनावगाहेन पवित्रया पूतया गिरा मुरानुवासितुमर्हानि स्नाताधिकारत्वाद्देवपूजाया इति भावः ॥१८॥

अन्वय—मम इम श्रम फलिन न करोपि, कचन दिश प्रभुं न अनुगृह्णासि त्वम इत्य रमामृतस्नानपवित्रया गिरा मुरान् उरानितुम् अर्हासि ।

हिन्दो—वमा (तुम) इस मेरे परिश्रम को सफल नहीं करोगी ? क्या

अन्वय — दयच्छिरस्य मत्पथे अवदधन्ति इन्द्रनेत्राणि अशनि न निममो किम् ? सत्वरवार्यमन्वर मो धिक् अस्तु, यत्र परप्रेष्यगुण अपि न स्थित ।

हिन्दी—इतने समय तक मेरे (नलदूत के) मार्ग में अवहित (प्रतीक्षा करते) इन्द्र के नेत्रों को क्या वज्र ने नहीं बनाया है ? (बनाया ही है, अन्यथा इतने समय बाट कैसे जोहने रहते इन्द्र-नेत्र ?) शीघ्रता से किये जाने वाले कार्य में विलम्ब लगाने वाले मुझ (दूत) को धिक्कार है, जिसमें अन्य का दूत (अथवा 'पर' अर्थात् उत्कृष्ट दूत) बनने का गुण भी नहीं है ।

टिप्पणी—सबमुच इन्द्र की आँखें वज्र से ही बनी हैं, तभी इतनी कठोर और दृढ़ रहकर दूत के लौटने की बाट जोह रही हैं । विलम्ब अत्यधिक हो गया है । कार्य शीघ्रता से संपन्न हो, यह दास का गुण होता है । पर नल शीघ्रतया कार्य न कर सका, अतः वह उपयुक्त दूत भी प्रमाणित न हुआ, यह कितना खेदजनक है ? चाकरी निकृष्ट कही जाती है, पुण्यलोक नल उसके योग्य भी सिद्ध नहीं हो रहा है—यह कितना धिक्करणीय है ! भाव यही है कि देवों के उत्तर की प्रतीक्षा करते करते अत्यधिक विलम्ब हो गया है, अतः अब तुरन्त उत्तर मिलना ही उचित है । 'अशनि'—कथन से इन्द्र के क्रोध का भी संकेत है और उसके माध्यम से अथ दिक्पाला के क्रुद्ध हो जाने का भी । इन्द्र की आँखों में वज्र है, बड़ा कठोर है वह । उसके क्रोध करने पर अपराधी का विस्तार नहीं । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति अलंकार ॥ २१ ॥

इद निगद्य क्षितिभर्तारि स्थिते तयाऽभ्यधाधि स्वगत विदग्धया ।

अधिस्त्रि स दूतयता भुवः स्मर मनो दधत्या नयनैःपुणव्यये ॥ २२ ॥

जीवानु—इदमिति । क्षितिभर्तारि भूमे इद निगद्य स्थिते तूष्णीं भूते सति स्त्रीष्वधिस्त्रि विभक्त्यर्थेऽभ्यधीभावे नपुंसकह्रस्व । भुवः स्मर भूलोक-ममय त पुरुष दूतयता दूतकृत्ये निषिद्धमत्यतिमुदरमेन दूत कुर्वतामित्यर्थं । यथा भरत—'नोज्ज्वल रूपवन्त च नाथवन्त न चातुरम् । दूत वापि हि दूतो वा बुध बुर्वात्क्रदाचन ॥' इति । नयनैःपुणव्यये नीतिचातुर्यं-पत्ये मनो दधत्या निदधत्या एते नीतिशून्या इति जानन्त्येवेत्यर्थं । अत एव विदग्धया कुशलया दमयन्त्या स्वगतमप्रवाश यथा तथा आत्मपेवाभ्यधाधि

लभित्वा 'सर्वश्रान प्रजास म्यादध्राव्य स्वान मृडम्' इति दशरथे
लज्जात् । अहो बुद्धिनान्दमेया यथेन ज्ञान द्वये निमुनवत इति भाव । २० ।

अन्वय — क्षितिभर्त्तरि इदं निवृत्तं स्त्रियं नृव स्मरत दूनयता लक्ष्मि
नयनैषुपन्त्ये मतो दप्रत्या विदप्रमा टना स्वानम् म्यनापि ।

हिन्दा — धरती के स्वामी (राजा नर) के इस प्रकार (श्लोक न०
१७-२१) कहकर उठर जाने (चुप हो जाने) पर स्त्रियों के विषय में
मूलोक्त के काम (अतिमुदर) उम (नर) को दूत बनाते (देवों का)
स्त्रियों के विषय में नीति निष्ठाता का अभाव मन में धरती नीति-चतुरा
लस (दमयन्ती) न स्वगत कहा ।

टिप्पणी—नलमुग्धा दमयन्ती ने दूत नल का चातुर्यपूर्ण कथन सुन कर
मन-ही-मन विचार किया—स्वगत नापण अर्थात् अप्रकाश कथन । वह
सोचने लगी कि देव नारी मनोविज्ञान में जारिचित है । वहीं ऐसे कामदेव
के ममान सुन्दर व्यक्ति को प्रणय सदेगवाही दूत बनाया जाता है ? ऐसे
सुन्दर रूप को देखकर कौन नारी जय पुरुष का विचार कर सकती है ?
इन्द्रोक्ति नीतिशास्त्र में कहा गया है—ऐसे स्त्री जयवा पुरुष को इतकार्य नहीं
सोना जाना चाहिए, जिनका उज्ज्वल रूप हो, जो अत्यन्त चतुर हो अथवा
रोगी हो । स्त्रियों के निकट अनव्य, मामान्य दून भेजना उचित है । इन्द्रादि
ने हम विषय में ऐसे सुन्दरतम व्यक्ति को इतकर ने भेज का नीति विपरक
बदने अज्ञान का परिचय दिया है । विदाधर के अनुसार व्यतिरेक अज्ञकार ।
जलाधिपस्त्वामदिगन्मपि ध्रुव परेतराज प्रजिघाय स स्फुटम् ।

मन्वनेव प्रहितोर्गमि निश्चिन नियोजितधोर्ध्वमुन्नेन तेजसा ॥ २३ ॥

ब्रौयानु—स्वगतवाचयनेव ह—ज्जेलि । जलाधिपो वरुण लडपोरभेदात्
लज्जानीश्च मपि विपने मा प्रतीत्यर्थ । त्वामदिगदतिमृष्टवान् ध्रुवम् ?
स प्रसिद्ध परेतराजो यम प्रेतमुन्यश्च त्वा प्रजिघाय प्रहितवान् स्फुटम-
सदिगम् । मग्तो देवा उद्धता मरुन्वता इन्द्रेण दातुन्नेन च । 'मस्तो
पावनामरो' इत्यमर । प्रहितोर्गमि निश्चितमूर्ध्वमुन्नेन तेजसा अग्निना
स्फुटगा च नियोजित प्रेषितोर्गमि । ते च प्रेषितवन्त त्वञ्च प्रेषित सत्य-
मेवैतत् निष्कतोऽममारम्न इति स्वगतमुवाचेत्यर्थ ॥ २३ ॥

अन्वय—जलाधिप मयि त्वा घ्रुवम् अदिशत्, स परैतराज स्पुट प्रजिघाय, मरत्वता प्रहित एव ऊर्ध्वमुपेन तेजसा च निश्चत नियोजित वसि ।

हिन्दी—(दमयन्ती ने सोचा) जल के स्वामी वरुण ने निश्चय ही मेरे पास आने का तुम्हें आदेश दिया है, उस प्रेतप्रमुख ने प्रकट है कि भेजा है, पवन के मित्र इन्द्र ने तो भेजा ही है और जिसका मुख ऊपर को रहता है, उस अग्नि ने तो निश्चित ही (तुम्हें) नियुक्त किया है ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने इशारे को नयनिपुणरहित माना, क्योंकि उन्होंने नल जैसे सुन्दरतम व्यक्ति को दूत बनाकर नीतिविरुद्ध कार्य किया था । उसी मूर्खता का यहाँ उपहास किया गया है, अर्थात् ये सब तो मूर्ख हैं ही, मूर्खता उनकी सज्ञा से ही प्रकट हो जाती है । वरुण जलाधिप है—जड़ जल का स्वामी, जड़राज । यम परैतराज है—सबसे बड़ा प्रेत, मृतको का राजा अर्थात् मृतका—अचेतना, जड़ों में घुरिप्रतिष्ठित । क्या कहना इन्द्र का ? वह है ही मरुत्वान्—वातूल, बकवादी, ऐसी बकवाद सदा किया करता है । और तेजोमय अग्नि वह तो 'ऊर्ध्वमुख' है, विशाच, अप्रतिभ । सो इन सब ने परमसुन्दरी दमयन्ती के निकट परमसुन्दर दूत नल को भेजा, अपनी मूर्खता प्रकट कर दी । वे क्या विचार कर पाते ? विद्याधर के अनुसार उत्प्रेक्षा अलंकार । चन्द्रस्लाकार के अनुसार उत्प्रेक्षा-रत्नेय या अगाग्निभाव से सकर ॥ २३ ॥

अथ प्रकाश निभृतस्मिता मती मतीकुलम्याभरण किमप्यसौ ।

पुनस्तदाभाषणविभ्रमोन्मुख मुख विदर्भाधिपसम्भवादधे ॥ २४ ॥

जीवानु—अधेति । अथ स्वगतोक्त्यनन्तर सतीकुलस्य पतिव्रतावर्गस्य किमप्यनिर्वाच्यमाभरणमलङ्कारमूता असौ विदर्भाधिपसम्भवा वैदर्भी निभृतस्मिता गम्भीरस्मिता मती प्रकाम यथा पुनस्तेन महाभाषणमेव विभ्रमो विनोद तथोन्मुखमुत्सुक मुखमास्यमादधे आबभाषे इत्यर्थ ॥ २४ ॥

अन्वय—अथ सतीकुलस्य किम आभरणम् अतो विदर्भाधिपसम्भवा निभृतस्मिता सती पुन प्रकाश तदाभाषणविभ्रमोन्मुख मुखम् आदधे ।

हिन्दी—इसके पश्चात् सतीकुल (पतिव्रतासमूह) की लोकोत्तर आभूषण (सतीभूषण) इस विदमराज की पुत्री (दमयन्ती) ने गुप्तपद हास्य करने

दूर पुनः प्रकाशयन् नै उच्यते (नञ्) मे आभाषणरूप विज्ञान मे उन्मुख अने मुख को विज्ञा ।

टिप्पणी—मन ही-मन देवों की भूर्तना पर विचार करनी और हठती उत्तीश्रेय, परममुद्दरी दमयन्ती प्रकाश रूप से नञ् के प्रति वार्तालाप के निमित्त उन्मुख हुई । नारायण के अनुसार 'तदानापाविभ्रमोन्मुखम्' यह सूचित होना है कि मनी दमयन्ती इन को नञ् मानने हुए स्वयं मुख में उमते वार्तालाप ही करने को उद्यत हो नन्देश का उत्तर प्राणविक रहा । आभाषणमुख ही दमयन्ती का लक्ष्य था, उत्तरदान नहीं । विद्यापार के अनुसार हेकानुमान और रूपक बन्धन ॥ २४ ॥

वृथा परं ह्यस्य इति प्राप्नोता ननेति च त्वादृशि चाग्निवाहंणा ।

भवत्यवज्ञा च प्रवच्यनुनरादन. प्रदिन्तु प्रतिवाचमस्मि ते ॥ २५ ॥

जीवानु-वृथेति । भवति पुरं त्वादृशि विषये वृथा परीहान इति वाक् । 'उपमान्य घञ्मननुप्ये बहुल' निति परेदीपे । प्रगन्मता प्राप्नोत्य शोपादहेत्यर्थ । आसंकाज्जोरभेदोदधार । ननति च वाप्यन्तनिषेधोक्तिश्च, जानीष्ये द्विगिति । विगृहंणा गह्योक्ति म्यादिश्यर्थ । अनुतरात् उत्तराप्रदानात् अवज्ञा जनादरदोषो भवति । अतो हेतोमने तुम्य प्रतिवाच प्रत्युनर प्रदिन्तु प्रदातुमिन्द्रस्मि । परमार्थतन्तु प्रत्युनरातहेमेव दाशिम्यात्ते वदामीति तात्पर्यम् । २५ ॥

अन्वय.—भवति त्वादृशि वृथा परीहण—इति प्रगन्मता, नन—इति वाक्-विगृहंणा, अनुतरात् अवज्ञा भवति, जत ते प्रतिवाच प्रदिन्तु जन्मि ।

हिन्दी—पूजनीय अथ सदा व्यक्ति ने व्यर्थ परित्याग करना—यह घृष्टता है, 'नन' (निदेषाम्भक उत्तर)—ये वचन विगेष निन्द्य हैं और उत्तर न देने से अवज्ञा (जनादर) होती है, चतएव प्रत्युनर देने को उद्यत हैं ।

टिप्पणी—नञ् के प्रति भवान्' विशेषण ने जोरित होता है कि यह सब आदर भाव नञ् के प्रति ही प्रकट करना दमयन्ती का न्देश्य था उसी की प्रतिष्ठा स्वीकार कर वह उत्तर देने को तैयार हुई, इन्द्रादि के ध्यान या माहात्म्य की स्वीकृति के कारण नहीं । अन्य किन्ती इन से वह बात भी नहीं करती, उत्तर देना तो दूर । जवरिचन से उपहास घृष्टता होती है, सो दमयन्ती

पर 'प्रतिपद्यादि' एव श्रीडावाद करने का आरोप उचित नहीं। श्रेष्ठ, आदरणीय पुरुष के प्रति निषेधवाक्य निंदा का कारण होता है, मध्य व्यक्ति के प्रति निरुपपत्तिक वक्तव्य विग्रहणा है, मोपपत्तिक ही कहना चाहिए। चुप रहने में भी अनादर प्रकट होता है, अतः दमयन्ती ने गव विचार कर उत्तर देने का निर्णय किया। विद्याधर के अनुसार काव्यमिग्न अलंकार ॥ २५ ॥
 कथं नु तेषां कृपयापि वागमावसायि मनुष्यकृपाञ्छने जने।

स्वभावभक्तिप्रण प्रतीश्वरा कया न वाचा मुदमुद्गिरन्ति वा ॥ २६ ॥

जीवातु—कथमिति। तेषामिन्द्रादीनां कृपयापि (कर्त्या) मनुष्यस्य भावो मनुष्यवत् । 'योषधाद् गुरुतोत्तमाद्भुम्' । तदेव लाञ्छनं कलङ्को यस्य तस्मिन्निर्दोषजनविषयेऽस्मिन्नित्ययम् । असी वागस्मान् वृणीष्वेति वचनं कथमसायि सूता अनुचितमित्यर्थं सूते कर्मणि लुट् । वा अथवा ईश्वरा स्वामिन स्वभावभक्तिप्रवण जन प्रति कया वाचा मुद नोद्गिरन्ति भक्तवात्सल्यात् नीचमपि भक्तजनमप्युक्त्वापि वाचा बहु कुर्वन्ति कृपात्वात् स्वामिन इत्ययम् । तथा च तद्वचनमुपचारत्वेन गृह्यते । न तु कर्तव्यतयेति भावः ॥ २६ ॥

अन्वय — मनुष्यकृपाञ्छने जन असी वाक् तेषां कृपया अपि कथं नु असायि ? वा ईश्वरा स्वभावभक्तिप्रवण प्रति कया वाचा मुद नोद्गिरन्ति ?

टिप्पणी—मनुष्य होने के लाञ्छन में युक्त व्यक्ति (दमयन्ती) के प्रति यह वाणी (वरुण करलो—यह वचन) उन (दिक्पालो) की कृपा से भी कैसे उत्पन्न हुई ? अथवा समय जन अपन भाव और भक्ति में तीन (भक्त) के प्रति किस वाणी से प्रसन्नता नहीं व्यक्त करते हैं ?

टिप्पणी—दमयन्ती ने कहा—देवा ने जो उमने निकट धरण सन्देश भेजा, उसकी तो समावना ही कठिन है। कहीं मनुष्यों के प्रति हमरा की ऐसी इच्छा हा सकती है, भले ही वे कृपातु क्यों न हा ? मनुष्यत्व का लाञ्छन जिस पर लगा है, देव उसे पत्नी भाव से स्वीकारने की कृपा क्या करेंगे ? कदाचित् उनकी यह आने भक्त के प्रति कृपा है। ममर्थ व्यक्ति भक्तों के प्रति अपना अनुग्रह किसी प्रकार प्रकट कर सकन हैं। इसीसे देवोंने दमयन्ती के भक्ति-भाव पर प्रसन्न होकर यह सन्देश भेजा है। भाव यह कि देवा की वास्तविक इच्छा यह नहीं है कि दमयन्ती उनकी पत्नी हो उहोंने

दमयन्ती को चित्र पर अपनी प्रमत्तता इस प्रकार व्यक्त की है। वे तो पूजनीय हैं, वरणाय नहीं। विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उत्प्रेक्षा। २६।

उहो महेंद्रस्य कथं मर्याचिनी सुराङ्गनामङ्गमशोभिताभूत् ।

हृदस्य ह्मावलिमासर्लाश्रया बलाकयेव प्रवला विडम्बना ॥ २७ ॥

जोवानु—अहो इति । सुराङ्गनामङ्गमेव शोभत इति तच्छोभितस्य भावस्तथा तां विनतीति तद्भूता महेंद्रस्य ह्मावल्या मासला मासवती सात्र तरेति भावत् । मिथ्यादिरनाल्लब्धः । सा श्रीयम्य तस्य हृदस्य सरसो बलाकयेव मया निमित्तेन प्रवलो महती विडम्बना परिहास कथमोचिती न कथञ्चिदित्यर्थः । अहो, सति सुराङ्गीजन मानुषीमनुसरतो महेंद्रस्यामृतमप्यवधीर्योदजपान-प्रवृत्तिरपि सम्भाव्यत एवेति भावः ॥ २७ ॥

अन्वय—उहो, सुराङ्गनामङ्गमशोभिताभूत महेंद्रस्य ह्मावलिमासलश्रिय-हृदस्य बलाकया इव मया अवला विडम्बना कथम् औचिनी ?

हिंदी—दरमगिया (अम्पराओ) के सगम से शोभाशीलता धारण करते महेंद्र (स्वगराज) की, हृदय पत्रिका से गाड जाभा सपन्न सरोवर की बगुली समान मुझ से शनी बडी विडम्बना कैस उचित है ? (किसी प्रकार नहीं ।)

टिप्पणी—दमयन्ती ने स्पष्ट किया कि उसके साथ परिणय मन्वष करके स्वर्गाधिपति महाभारज महेंद्रनिदित और उपहामास्पद बन जायेंगे, ठीक वैसे ही जैसे ह्मावलि से भरपूर, मुसोमित्त सरोवर किमी निदृष्ट बगुली के धान से दूषित हो जाये। इन्द्र शाभाशाली जलाशय के तुल्य है, जिनकी सगति में उवमी, रमा, यतका आदि अम्परिया ह्मावलिसझ। ऐसी ह्मावलि - मय्य मानुषी दमयन्ती एक बगुली-नी लगकर इन्द्रस्य सरोवर के दोष और उपहास का कारण ही बनेगी। इन्द्र महागज इम सब का ध्यान भी नहीं रख पा रह और ऐमा अनुचित प्रस्ताव कर रह हैं—यह महानु आश्चर्य है। गूढ भाव यह कि दिन-रात अम्पराओ के साथ रमा रहनवाला विश्वामी इन्द्र स्वर्गाधिपति होने पर भी दमयन्ती के उपयुक्त नहीं है। अमृत पायी का नामान्न जल का तृण ही आश्चर्य है। विद्याधरके अनुसार अनुप्रास और उपमा अलंकार ॥ २७ ॥

तया दमयन्त्या धृतो श्रात्रे लगित्वा नामना भूत्वाभिहिता कथिता आलिः
सखी आलपत् जापितरती । निमित्त्यत जाह—इय दमयन्ती हिया लज्जया
मे मम हृदय प्रविश्य यद्वच आह भूते । मम मुखेनैवाध्वना विनियद्विनिगच्छत्
तद्वच आकर्णय शृणु ॥ ३० ॥

अन्वय —उद निगद्य एव नतास्यया तया धृतो लगित्वा अभिहिता
जापि आलिपत्—इय हिया मे हृदय प्रविश्य यत् आह, मन्मुखाध्वना
विनियंत् तन् आकर्णय ।

हिन्दी—इतना बड़कर ही नीचे को मुख कर उम (दमयन्ती) के
द्वारा कानो मे कहे जाने पर (दमयन्ती की) सखी ने कहा—इस (दमयन्ती)
ने लज्जा के कारण मेरे हृदय मे प्रविष्ट होकर जो कहा, मेरे मुख मार्ग से
निकलने उसे (मतव्य) को सुनिए ।

टिप्पणी—दिक्पाला के प्रति अरुचि का मुख्य कारण था दमयन्ती का
नरक के प्रति दृष्ट अनुराग । दमयन्ती किसी पुरुष—और उस पुरुष के समुख,
जिममे उसे नलत्व का सदेह हो—अपने अनुराग की बात कैसे कहती ?
उसका कारण थी नारीजनोचित स्वाभाविक लज्जा । यह बात दमयन्ती ने
अपनी एक सखी के कान मे बूह दी और वह सखी नल को बताने लगी ।
विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलंकार छेकानुप्रास ॥ ३० ॥

विभेति चिन्तामपि कर्तुंपीदृशी चिराय चित्तापितनैपथेश्वरा ।

मृगालान्तुच्छिदुरा मनीस्थितिलंवाद्यपि व्रुट्यति चापलान् विल ॥३१॥

जीवानु—विभेतीति । चिराय चिरात्प्रभृति चित्तैरपित स्यापितो
नैपथेश्वरो नलो यया मा स्त्री ईदृशी परविषया चित्तामपि कर्तुं विभेति ।
कुत्र उच्यते जाह मृगालस्य तत्तुरिव च्छिदुरा च्छेदवीणा, 'विदिमिदिच्छिदे'
इत्यादिना वमकनरि कुरच् सत्या पतिव्रताया या स्थिति मर्यादा सा
लवात्त्यादपि चापल्याल्लोयाद्वेत्ती व्रुट्यति विल व्रुट्यति वनु । 'वा भाशे'
त्यादिना इयप्रत्यय ॥ ३१ ॥

अन्वय —चिराय चित्तापितनैपथेश्वरा ईदृशी चिन्ताम् अपि कर्तुं
विभेति, मृगालान्तुच्छिदुरा सतीस्थिति लवात् अपि चापलात् किञ्च व्रुट्यति ।

हिन्दी—चिरात्त मे चित्त मे नियधराज (नर) को स्थापित किये
(दमयन्ती) इस प्रकार (अचवरण) की चिन्ता (दिचार) नी करन मे

डरती है, मृपाल (कमण्डल) के सूत्र से स्वयमेव टूट जानेवाली पतिव्रता की मर्यादा अत्यल्प भी चपलता से निश्चयरूपेण टूट जाती है।

टिप्पणी—नल के प्रति दमयन्ती का चिरह्तानुराग बताने हुए उसकी सखी ने सूचित किया कि यह दमयन्ती तो जब मन से भी अन्य वरण का विचार नहीं कर सकती, शरीर से अय को स्वीकारने की बात क्या ? पतिव्रता की स्थिति बड़ी कोमल होती है विसततु तुल्य, क्षण की चपलता में मर्यादा भंग हो सकता है, सो दमयन्ती ऐसा न मोच सकती है, न सुन सकती है। जब एक को मनसा बर लिया, सब जय के विषय में विचार भी असंगत है। विद्याधर के अनुसार हेतुमालशार ॥ ३१ ॥

ममाशय स्वप्नदशाज्ञयापि वा नल विलङ्घ्येतरमस्पृशद्यदि ।

कुत पुनस्तत्र समस्तसाक्षिणी निजैव बुद्धिर्विवुधैर्न पृच्छयते ॥ ३२ ॥

जीवानु—ममेति । अथवा ममाशयश्चित्तवृत्ति स्वप्नदशया स्वप्नावस्थाया आज्ञयापि वा नल विलङ्घ्य इतरपुरुष यदि अस्पृशत् प्राप्तवान् । तर्हि समस्तस्य साक्षिणी निजा स्वकीया बुद्धिरेव तत्र विषये कुत पुनर्विवुधै इन्द्रादिभि न पृच्छयते नानुयुज्यते । सर्वसाक्षिण स्वयं किं न जानन्ती-त्यर्थं ॥ ३२ ॥

अन्वय—वा यदि मम आशय स्वप्नदशाज्ञया अपि नल विलङ्घ्य इतरम् अस्पृशत्, पुन समस्तसाक्षिणी निजा बुद्धि एव तत्र कुत, विबुधै न पृच्छयते ?

हिन्दी—अथवा यदि मेरी (दमयन्ती की) मनोवृत्ति ने स्वप्नावस्था की अज्ञता से भी नल को छोड़ अय का स्पर्श किया हो तो फिर समग्र संसार को साक्षात्करती अपनी (देवी की) बुद्धि से ही उन विषय में देव क्यों नहीं पूछने ?

टिप्पणी—देव अन्नर्यामी हैं, सब की बात समझ सकते हैं। वे मली मांति जानते हैं कि दमयन्ती स्वप्न में, अनजाने में भी नलातिरिक्त किसी का विचार नहीं करती। ऐसी स्थिति में अच्छा यही होगा कि वे अपनी 'समस्तसाक्षिणी बुद्धि' से ही यह जानने का कष्ट करें कि दमयन्ती का नलानुराग कैसा है ? तदनन्तर वे स्वयं जान जायेंगे कि उनका प्रस्ताव कितना असंगत है ? विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और हेतु अलंकार।

मन्त्रिणाथ ने 'स्वप्नदशाया आज्ञया' विग्रह किया है, अथ हुआ कि स्वप्न में प्राप्त आज्ञा से नी। यह अर्थ उतना सगत नहीं लगता, त्रितना 'स्वप्नदशाया आज्ञया जपि' छेद करके 'सपने मे जनजाने' अर्थ। नारायण ने दोनो प्रकार के अर्थों का संकेत दिया है ॥ ३० ॥

अपि म्रमस्वप्नमसूपुपत्रमो परस्य दाराननवैतुमेन माम् ।
स्वय दुरध्वाणंघनाविवा. कथ स्पृशन्नु विज्ञाय हृदापि तादृशीम् ॥ ३१ ॥

जीवानु-अपीति । अमी इन्द्रादय देव अस्वप्न स्वप्नवर्जित स्वमात्मान मा परस्य दाराननवैतुमज्ञातुमेव असूपुपन् स्नापितवन्त । स्वापेणो चङि 'द्वृतिस्वाप्यो'रिति सम्प्रसारणम् । अन्यथा सर्वज्ञाना तेषामस्मिन्नेवागे कथमज्ञानमित्यय । तदेवोपपादयति-स्वय दुष्टोऽध्वा दुरध्वं, 'जनसर्गादध्वन' इति समाप्तान्तोऽच् । स एवाणवस्तस्य नावा तरन्तीति नाविका कर्पंधारा सत 'नी द्वयचष्टुन्' इति ठन्प्रत्यय कथ तादृशीं मा हृदा विज्ञायापि स्पृशन्तु स्पृशेयु । स्वयममायनिवारकाणा उत्प्रवृत्तिरनर्हेति भाव ॥ ३१ ॥

अन्वय —अमी मा पदस्य दारान् अनवैतुम् एव स्वम् अस्वप्नम् अपि असूपुपन्, स्वय दुरध्वाणंघनाविवा अपि तादृशीं मा विज्ञाय कथ हृदा स्पृशन्तु ?

हिन्दी—लगता है, ये (देवगण) मुझ (दमयन्ती) को अन्य (नल) की पत्नी न समझने के लिए ही अपने को स्वप्न रहित मुलाते रहे, (अथवा) स्वयम् दुराचार-मार्ग-रूप समुद्र के नाविक (होकर) भी वैसे (नलपत्नी) मुझे जानकर कैसे व हृदय से (मो) छूत ?

टिप्पणी—पूव श्लोक मे मसी न बताया कि दमयन्ती नल की दानुरा-गिणी है, वह स्वप्न मे भी अन्य को बरने की बात सोच भी नहीं सकती, देवा को स्वय यह समझना चाहिए । यही वह कहती है कि कदाचित् इसी तप्य से अनजान बने रहने के लिए देवगण स्वप्नरहित, गाढ निद्रा लेन रहे कि ससार मे जा हाता है, उससे अनभिज्ञ बन रह । यदि ऐसा न होता तो परदार वरग के दुराचार के विषय मे दिग्भूल साचे भी नहीं, क्योंकि वे ही तो दुराचार के समुद्र मे डूबते व्यक्तियों के कणधार हैं अर्थात् दुरा-चारियों को सदाचार के मार्ग पर चरने वाले उद्धारकर्ता है । वे सदाचार के

बादलों द्वारा चरण के विषय में विचार भी नहीं कर सकते। इस प्रकार दमयन्ती ने दिक्पालों के उन्हासास्त्र होने का भी संकेत कर दिया। जो अन्य वनों के उन्हेछा हैं, वे स्वयं दुराचारमार्ग पर चलने को प्रवृत्त हैं, ऐसे शकानियों से विवाह करना कौन बुद्धिमती ठीक समझेगी? भाव यह कि देवों को ऐसा कदम विचार भी नहीं करना चाहिए। विद्याधर के अनुसार विरोध-रूपक हेतु अलंकार है ॥ ३३ ॥

अनुग्रह-केवल एष मादृशे मनुष्यजन्मनि यन्मो जने ।

स चेद्विधेयस्तदमी तमेव मे प्रन्थ निशा वितरीनुमोगतान् ॥ ३४ ॥

जावानु-अनुग्रह इति । मनुष्येषु जन्म यन्म तस्मिन्ननि मादृशे जने मन्मन्त्रित वतते एष केवलोऽनुग्रहो विधेय कर्त्तव्यचेतसि अमी इन्द्रादभो देवा प्रसन्ना भूत्वा मे मह्य त नल्मेव निशा वितरीनु दातुम्, 'श्रुतो वा' इति शीर्षं । ईशतामीश्वरा एव भवन्तु । नल्लक्ष्मणदृशेनैवानुग्राह्योऽय जना नायदा मन्तव्य इति भाव ॥ ३४ ॥

अन्वय — एष केवल अनुग्रह यत् मादृशे मनुष्यजन्मनि अपि जने मन, स विधेय चेत् तत् अमी प्रसन्न तम् एव मे निशा वितरीनुम् ईशताम् ।

हिन्दी—यह केवल (देवों की) कृपा है कि मुझे जैसी (दमयन्ती-सी) मनुष्य योनि में जननी भी स्त्री पर (उत्तका) मन है। यदि उन्हें कृपा ही करनी हो तो वे प्रसन्न होकर उस (नल) को ही मुझे निशा में देने के लिए समर्थ हो।

टिप्पणी—शुची ने बताया कि दमयन्ती का निवेदन है कि किसी तक से देवों और मानुषी का परिणय उचित नहीं सिद्ध होता। और दमयन्ती तो परदार है। देव जो यह प्रस्ताव रख रहे हैं, उसका कारण यही लाता है कि वे दमयन्ती की भक्ति से प्रसन्न हो अनुग्रह करना चाहते हैं, तत्त्वतः अनुरक्त नहीं हैं। सो यदि देव दमयन्ती पर कृपा करना ही चाहते हैं तो यह करें कि प्रसन्न होकर ऐसी स्थिति ला देने की कृपा करें, जिससे नल दमयन्ती को प्राप्त हो जाय। वे ईश हैं—समर्थ। दमयन्ती यही चाहती है, और कुछ नहीं। इनी से अनुग्रहीत होंगे। विद्याधर के अनुसार हेतु अलंकार ॥ ३४ ॥

अपि द्रवीय शृणु मे प्रतिश्रुतं स पीडयेत् पाणिमिमं न चेन्नृप ।
हुताशनोद्बन्धनवारिवारिता निजायुपस्तत्करवै स्ववैरिताम् ॥ ३५ ॥

जीवानु—अपीति । घोर ! द्रवीय इदतर मम प्रतिश्रुत प्रतिज्ञामपि शृणु । तामेव प्रतिज्ञामाह—स नृप नल इम मदीय पाणिं न पीडयेत् न गृह्णीयाच्चेत्तर्हि निजस्यायुप स्वेनात्मना वैरिता साश्रव हुताशनश्च उद्बन्धनञ्च वारि च तै वारिता निर्वृत्ति करवै करवाणि ॥ ३५ ॥

अन्वय—मे द्रवीय प्रतिश्रुतम् अपि शृणु—स नृप इम पाणिं न पीडयेत् चेत्, हुताशनोद्बन्धनवारिवारिता (वारिताम्) निजायुप स्ववैरिता करवै ।

हिन्दी—मेरी इह प्रतिज्ञा भी सुन लो—वह राजा (नल) इस (मेरे) पाणि को यदि पीडित नहीं करेगा (पाणिपीडन—विवाह नहीं करेगा) तो जग्नि में जल, पेड़ आदि में लटक जयवा जल में डूब कर निपिद्ध रीति से (भी) अपनी आयु को स्वयं वैरिन हो जाऊँगी ।

टिप्पणी—सखी ने दमयन्ती का निश्चय भी प्रकट कर दिया कि यदि देवी की अकृपा अथवा अन्य किसी कारण से यदि राजा नल उसका पाणि-ग्रहण न करे तो वह आग में जल, फाँरी लगा अथवा डूब डूब कर अपना जीवन स्वयं समाप्त कर देगी, अपनी आयु की रात्रि स्वयं ही बनेगी । इतना इह अनुराग है नल पर दमयन्ती का कि उसे न पाने पर वह आत्महत्या-जैसा कदाचार भी करने में न हिचकेगी । अग्नि आदि में जल कर आत्महत्या निपिद्ध है । भाव यह कि चाहे जो हो, पर नलातिरिक्त किसी का वरण दमयन्ती नहीं करेगी ॥ ३५ ॥

निपिद्धमप्याचरणीयमापदि क्रिया सती नावति यत्र सर्वथा ।

घनाम्बुना राजपथेऽतिपिच्छिन्ने क्वचिद्बुधैरप्यथेन गम्यते ॥ ३६ ॥

जीवानु—न चात्मनो व्यापादनमयुक्तमित्यत्राह—निपिद्धमिति । यत्रापि यदि सती घर्म्या क्रिया सर्वथा सर्वप्रकारेण नावति न रक्षति । तत्र निपिद्धमप्याचरणीयम् । तथा हि राजपथे राजवीथ्यामपि घनाम्बुना सान्द्राङ्केन मेघजलेनातिपिच्छिन्ने पङ्क्तिले सति बुधै विद्वद्भिः अपथेनामार्गेषां क्वचित्प्रदेशे गम्यते । 'पथो विभाषा' इति समासान्त । 'अपथ नपुंसकम् ।' सर्वथा श्रेष्ठा प्राणत्यागेनापि पातिव्रत्य रक्षणीयमिति भाव । इष्टातालङ्कार ॥ ३६ ॥

अन्वय—यत्र आदि सती क्रिया सर्वथा न जवति, निषिद्धम् अत्रि
 आचरणीयम्, धनाम्बुना अतिनिष्ठे राजस्ये बुधे अयेन अत्रि क्वचित्
 गन्धे ।

हिन्दी—विष विरति में धर्मननन जाचरण सर्वथा रक्षा नहीं कर पाता,
 वहाँ निषिद्ध (धनाचरण विन्ड) की आचरण उचित है । क्या जल से
 बचन बीच नग, रसना राजमाँ हो जाने पर समतदार व्यक्ति अय
 (मनदागननानोंर मार्ग) से भी नहीं-हठी बना करते है ।

टिप्पणी—आत्महत्या जैसे कदाचार के जोषिण्य को इन रण में छिद्र
 क्रिया गया । जब प्राण देने से ही मर्दा की रक्षा हो तो जन्महत्या भी
 पाय नहीं । जब निर्धारित मार्गपर छिद्रन हो जाय तो विष-विनी मार्गपर
 जाना ही पडता है । समतदार भी ऐसा ही कर लेते हैं । जब सीने राम्ने से
 चकर काम न बने तो टेटा ही जनाना पडता है । यह आनन्दमें होता है ।
 नखिलनाय के अनुसार दृष्टात अकार, विद्याधर और नारायण ने जयोंतर-
 ग्याम का निर्देश किया है ॥ २६ ॥

श्रिया मया वाग्निषु तेषु शक्यते न जानु मन्वग्निवर्गेषुनुत्तरम् ।
 नदत्र मद्भाषितमूत्रपदती प्रबन्धनाम्तु प्रतिबन्धना न ते ॥ २७ ॥

जीवानु-स्वियेति । वाग्निषु वाक्केषु तेष्विन्द्रादिषु विषयेषु श्रिया
 मया उत्तर सम्बन्ध मया भवति तथा विवरीनु प्रबन्धयितु जानु कदाचिदपि
 न शक्यते । तत् तस्मात् कारणात् अत्र मद्भाषितता वचनानानेव म्वापा
 पडती मार्गे विषये ते तत्र प्रबन्धना प्रबन्धकृतृत्वमन्तु, प्रतिबन्धना प्रतिबन्ध-
 कृतृत्व नास्तु । उमनयापि वृजन्ताद्दधेन्तु । अस्मिन्निषेधोत्तरे ममानुद्वूलो
 नव, न प्रतिबन्ध ददर्श ॥ २७ ॥

अन्वय—मया श्रिया तेषु वाग्निषु सम्बन्ध उत्तर विवरीनु जातु न
 शक्यते तत् अत्र मद्भाषितमूत्रपदती ते प्रबन्धना न ।

हिन्दी—मून म्वा (दमयती) द्वारा उन पहिजे (देवों) को सतोप-
 अनर उतर देता किसी प्रकार समब नहीं है, नो इस विषय में मेरे (दमयन्ती
 के) न्हें ही मूत्र प्रगाली (नक्षेण वचन-पदति) में तुम्हारी भाष्यकारिता
 हो, प्रतिबन्धना न हो ।

टिप्पणी—सखी ने दमयन्ती वचनो को अपने मुख से बहकर अत मे दूत नल से यह भी निवेदन किया कि दिक्पालगण वाग्मी पठित है, एक दमयन्ती-जैसी अनुभवहीन बालिका उनको सतुष्ट करने वाला उचित उत्तर किसी प्रकार नहीं दे सकती, अत दूत से प्रार्थना है कि इस थोड़े, अस्पष्ट, सक्षिप्त कथन की व्याख्या करके वह देवों को दमयन्ती की भावना भलीभाँति समझाने की कृपा करे, ऐसा नहीं कि कुछ विरुद्ध रीति से उलटा-पुलटा कहकर और स्थिति बिगाड़ दे। जैसे भाष्यकार अथवा वातिककार सूत्र की व्याख्या कर उसके भाव को स्पष्ट कर देता है, वैसे ही दूत भी दमयन्ती के कथन को पूर्ण स्पष्ट करके देवों को सतोष देने की कृपा करे। दमयन्ती के अनुकूल रहना, विरुद्ध प्रतिकूल मत हो जाना—यह भाव। विद्याधर के अनुमार रूपक अलकार ॥ ३७ ॥

निरस्य दूत. स्म तथा विसर्जित प्रियोक्तिरप्याह कदुष्णमक्षरम् ।

कुतूहलेनेव मुहु कुहूरव विडम्ब्य डिम्भेन पिक प्रकोपित ॥ ३८ ॥

जीवातु—निरस्यति । न दूत यथा तेन प्रकारेण निरस्य न्यकृत्य विसर्जित सन् कुतूहलेन हेतुना डिम्भेन शिशुना मुहु कुहूरव विडम्ब्य अनुकृत्य प्रकोपित पिक कोकिल इव प्रिया उक्ति वचन यस्म स तादशोऽपि कदुष्ण-मोषत्वपर 'वद चोष्णे' इति को वदादेश । अक्षर वाग्यमाह ॥ ३८ ॥

अन्वय—तथा निरस्य विसर्जित दूत कुतूहलेन डिम्भेन मुहु कुहूरव विडम्ब्य प्रकोपित प्रियोक्ति अपि पिक इव कदुष्णम् अक्षरम् आह ।

हिन्दी—उस प्रकार (सखी द्वारा दमयन्ती निणय सुनाकर) निराकरण करके छोड़ दिया गया दूत (नल)—कौतुक से अजान बालक द्वारा बारबार 'कुहू कुहू' शब्द कर अनुकरण करके क्रुद्ध कर दिये गये, प्रकृत्या मधुरभाषी भी, काकिल के सदृश—सतापकारी वचन बोला ।

टिप्पणी—यद्यपि नल स्वभावत परुषवादी नहीं था और इसके अतिरिक्त वह दमयन्ती-अनुरागी भी था, तथापि दमयन्ती का निर्णय—वह भी सखीमुख से—सुनकर कुछ उपेक्षित हो ऐसे वचन बोला, जो दमयन्ती को भले लगने वाले नहीं थे—बहकर थे । नल ने पुन यह समझाने का प्रयत्न किया कि दमयन्ती का निणय किसी प्रकार उचित नहीं, देवों की

बनायना ठीक नहीं। इस प्रकार मताधिकारी वचन बोलने स्वभावतः प्रिय-
नाथी तल की तुलना उस प्रकृत्या नधुरनाथी कोकिल से की गयी है, जो
किसी ब्रह्मण छोकरे द्वारा अपने ख—'दूह दूह' की जनुहति से विड कर
कठोर शब्द करने—ता है। कोकिल जैसे बचना ने कृतिन हो पद्य बोलने
रूपता है, ऐसे ही बचनाश्रम दूह—ता नी बोलता। नायिका है कि बालक
द्वारा विडम्बित कोकिल दूह हो पद्य बोलने लगा है। शरापण ने इसी
प्रकार पर यहाँ 'जाति' ब्रह्मण का नकेन किया है। विप्र, धर ने उल्लेख्य
ब्रह्मणर छेकानुश्रम का निर्देश किया है और चन्द्रकान्तान ने उचना ॥३८॥

एहो मनम्बामनु तेषि तन्वने त्वमप्यमोन्वो विमुञ्चीनि कौतुकम् ।

क्व वा विप्रनिर्घनमेनि किञ्च न न वाक्वाट घटयन्तिरन्वति ॥३९॥

जीवानु—जहो इति । ते इन्द्रादप्यपि त्वामनु त्वामुद्दिश्य मनम्बामने
कृदन्ति जहो आश्रयं स्वमनि अमोन्व इन्द्रादिभ्य विमुञ्ची पराङ्मुञ्चीनि
पञ्चीवृद्ध चित्रनिर्घनं । किञ्च क्व वा लोके विप्रनिर्घनमेनि, क्व वा स
निन्द्य कदाचिद्वियोगाशातमपि त निधि वा क्वाट घटयन्तिरन्वति द्वार
निधाय निषेधोत्तर्यं । ईदम दद्वेष्टितमिति दृष्टात्ताल्लङ्कार ॥ ३९ ॥

अन्वयः—जहो, ते अपि त्वाम् अनु मन तन्वने, त्वम् अपि अमोन्व
विमुञ्ची इति औतुकम्, क्व वा निर्घनम् एनि, कि च वा न क्वाट घटयन्
तिरन्वति ?

हिन्दी—आश्चर्य है कि वे (उत्तम देव) भी तुम (मानवी) पर
मन फेंकते हैं (अनुरक्त हैं), और तू (दमयन्ती) भी इन (देवों) से
पराङ्मुख है—यह महान् आश्चर्य है। यहाँ सशक्ति निर्घन के पाठ जाती है
और कहीं वह (दक्षिण) द्वार बन्द कर उनका विरुद्धकार करता है ?

टिप्पणी—न ने कूट पद्य शब्दों में कहा कि वे उल्लेख्य दिग्बाल
दमयन्ती जैसी मानवी पर इतने अनुरक्त हो उठे हैं कि उनकी बुद्धि पर
आश्चर्य होता है और उनमें भी बड़ा आश्चर्य यह है कि एक मानुषी देवों के
अनुराग ने जयत पराङ्मुख है। यह तो वैना ही है कि महान् निधि स्वयं
दक्षिण के पान पहुँचे और वह दक्षिण द्वार बन्द कर महान्वादि निधि की
बदहेलना करदे। भाव यह है कि जैसे दक्षिण का निधि निराकरण अनुचित

है, जैसे कि इन्द्रजी का श्वेतुरा-निरन्तर बन्धनितो तो यह कि
 दिव्यात् का भी नाशों के प्रति ऐसा श्वेतुरा स्तुत नहीं है और मनुष्य
 द्वारा उसकी अवहेलना तो और भी अनुचित है। ऐसा नहीं न देता जान
 है, न मनु। मन्त्रिणाय के अनुकार इन्द्र अन्कार ॥ ३९ ॥

महाविष्णोः श्वेतुरा महेन्द्रा इन्द्रादरं त्वयि।
 त्वमोदनी धेयसि सनुकेऽसि न पगद्मन्वी चन्द्रमुखी। न्यदीव्य ॥४०॥
 ज्ञानानु—महेति । हे चन्द्रमुखी । महेन्द्रम् उगच्छेत् । त्वमिन्द्र
 महान्मन्दरमखिलमन्वीषु विद्यते अवहेलना अनदरेन सह बहो त्वन्मन्दरमन्वा-
 स्वनादर व इहानि त्वामेव मान्यन्ती मन्व इत्यर्थः । बहोः स्वरितेन्वादात्पने-
 पद सहोक्तिरन्कार । इहो धेयसि सनुके अनिन्दुषे सन्तति त्व पदह-
 नुषी सती, त पूर्वोक्तमान्य न्यदीव्य निर्वर्तितव्यसि । श्वेतुरी चति निदि-
 ह्यन् । 'इति'त्पकार सन्ध्यावे साम्प्रतिकार ॥ ४० ॥

अन्वय—महेन्द्रपदात् श्वितवस्त्रोः अवहेलना सह त्वमिन्द्रम् आदर
 वहे, चन्द्रमुखी, इहो धेयसि सनुके अति पदहनुषी च त न्यदीव्य ।

हिन्दी—महेन्द्र (इन्द्रदेव) के अनुपद के कारण सूर्य निशों (इन्द्राणी
 बादि) के प्रति अवज्ञा के साथ (मैं नन्द-भूत) तुम्हारे प्रति महान् आदर
 धारण करता हूँ हे चन्द्रमुखी ऐसे कल्याण (इन्द्रादि की स्वानित्व प्राप्ति) के
 अनुभव होने पर विरुद्ध हो नू ने उद (आदर) को नष्ट कर दिया ।

टिप्पणी—उक्त में कहीरदा से कहा कि इस समय तक वह इन्द्रजी का
 बड़ा आदर करता था और अन्य इन्द्रादि अङ्गनाओं की अवज्ञा करने
 लग था क्योंकि उसके प्रति स्वर्ग के महाराज इन्द्र अनुरक्त हैं । पर अन्य को
 प्रकाश देकर सब कुछ स्रष्ट करने वाले चन्द्र जैसा उच्चतम भूत होते हुए
 भी चन्द्रमुखी दबकली अंगी हो जो इन्ने कल्याणकारक प्रकृतियों को अवहेलना
 कर रही है, उसने उनके प्रति नम्रता का वह महान् आदर समाप्त हो गया । ऐसी
 मूर्खों का आदर कौन करे, जो चन्द्रा का भूत होने पर भी कुछ देख नान
 नहीं पाती । विद्वान् ३ अनुपदार्थ कल्याण और सहोक्ति अन्कार,
 मन्त्रिणाय से भी पूर्वोक्त के आकार पर सहोक्ति का निर्देश किया है ॥ ४० ॥

दिवीकम कामधते न मानवी नदीनमध्रीदि त्वाननादिदम् ।

कथ न वा दुर्हृदोः एव ते हिंसेन सन्ध्यात्प्राप्ति शान्ति ॥ ४१ ॥

चीनात्—दिवीकनमिति । मानवी मानुषी, दिवीकन देव न कामयते
 मानस्य इति दद नवीनमश्रुत्वं दधन्मननादभ्रादि धुम् हुन्त, एष ते
 तत्र दुर्ग्रहदोष मूपांनिग्रहदोषश्च । 'जयाकादिन्दग्रहा' इति वैपयन्ती ।
 हिनेनातेनाहुत्ते च मुत्ता नित्रादिना गिन्निना च । 'मुत्तांनिनित्राद्यो'
 दन्धनर । कय वा नम्यक् न गाम्यते न निवर्त्यते । शनेपंलात्कर्मणि लृट् ।
 पुष्यत्नवत्ता शान्ता 'कि कुर्वन्ति ग्रहा नवे केन्द्रस्थाने बृहस्पती' इति
 वचनादप्युक्तान्ते ग्रहान्तरनिरामे च पुष्यत्नवत्तादिना इति भावः । जया-
 मिषायाः प्रकृतार्थेतिप्यन्तादग्रहानां प्रतीतिर्नितरेव न इत्येव ॥ ४१ ॥

बन्धन—मानवी दिवीकन न कामयते—इदं तत्र आननात् नवीनम्
 अभ्रादि, एषः ते दुर्ग्रहदोष' नम्यक् हिनेन मुत्ता अति वा कय न गाम्यते ?

हिन्दी—'मानुषी स्वर्गनिवासी (देव) की जानना नहीं करनी'—यह
 तरे (दमयन्ती के) मुख में 'नया' सुना । अथवा यह तरे का दुराग्रह दोष
 (कुष्ट शनित्तर आदि जमित कष्ट) 'अपन्न हितकारी (तरे) निता
 (देवगुरु बृहस्पति, धुन ग्रह) द्वारा भी कने दूर नहीं किया जाता ?

टिप्पणी—मानव्य देवी की कृपा सभी भयंलोक्वासो चाहा करने हैं
 और कोई नारी यदि देवयन्ती वा सके तो उसका बड़ा मोभाव्य माना
 जायेगा । किन्तु इनके विपरीत दमयन्ती ने देव-वरग के प्रति घोर अतिशुद्धा
 प्रकट की । इन नरु इमे एक नवीन ही नहीं, पूर्वत अश्रुत और किन्ही कुष्ट
 ग्रन्थन जतिन दोष मानता है, जो दमयन्ती के दुराग्रह-रूप में प्रकट हो
 रहा है । आश्चर्य तो यह है कि जैसे कुष्ट ग्रह के दोष को कोई श्रेष्ठ ग्रह
 बृहस्पति जादि दूर न कर सके, उनी प्रकार दमयन्ती के दुराग्रह दोष को
 उनके निता भी दूर नहीं कर पा रहे । 'मुष्ट' शब्द अनेकार्यक है—निता और
 बृहस्पति । माना जाता है कि जन्मकुष्टों के केन्द्रस्थान में यदि गुरु बृहस्पति
 हो तो अन्य कोई कुष्टग्रह प्रभावों नहीं रहता और कष्ट नहीं पहुँचा सकता ।
 यह भी अर्थ है कि कितनी विविध बात है कि देवी का आग्रह है कि दमयन्ती
 उनमें से किन्ही का वरग करे और मुख अर्थात् देवगुरु बृहस्पति, जो इन्द्र के
 मंत्री हैं, वे भी देवी के इस आग्रह को शान्त नहीं कर पा रहे । न दमयन्ती
 अपना दुराग्रह छोड़ रही है, न देवात । न उसे उनके निता समझा पा रहे

हैं और न देवों को उनके मन्त्री गुरु वृहस्पति । मामा-यत पिता सतान का दुराग्रह दूर कर सकते हैं, पर दमयन्ती के सम्बन्ध में ऐसा नहीं हो रहा, और न देवों को वृहस्पति ही ममना पा रहे हैं । किन्ना आश्चर्यजनक है यह मन्त्र । विद्याधर के अनुसार छेकानुग्राम हेतुक श्लेषालकार । मन्दिनाथ के अनुसार यहाँ श्लेष नहीं है, किन्तु अभिधा के प्रकृतार्थ नियन्त्रण से अप्रकृतार्थ की प्रतीति हो रही है, जा ध्वनि है ॥ ४१ ॥

अनुग्रहादेव दिवोकमा नरो निरस्य मानुष्यकमेति दिव्यताम् ।

अयोर्धकारे स्वग्नित्वमिष्यते कुतोऽप्यसा सिद्धरसस्पृशामपि ॥ ४० ॥

जीवातु—जय मानुषी देवा न ग्रहीष्यतीति यदि तदपि नेत्याह—अनुग्रहादिति । दिवमोको येषा घोरोको येषामिति यदि वा पृषोदरादित्वात्माधु । तेषा दिवोकमा देवानामनुग्रहादेव नरो मानुष्यभाव निरस्य 'योपधाद्गुत्पांत-माद्गुत्' इति वृत्ति 'यस्ये'ति लोपे 'प्रहृत्याङ्के राजयमनुष्ययुवाने' इति प्रकृतिभावा 'दपत्यस्य च तद्धिनेऽज्ञानी'नि मलोपामाव । दिव्यतामेति तत्परिग्रहादेवभूयमपि ते भवितेति भावः । तथाहि—रम पारद । 'देहघात्वम्बुपारद' इति रसशब्दाद्येषु विश्वः । स हि सस्कारवल्गल्लोहान्तरगुवर्णोकरणे समर्थ निद्वरन उच्यते । तत्स्पृशाभयमामपि तत्स्पर्शास्त्वर्णभूतायसामपीत्यर्थः । अयोर्धकारे अय प्रस्तावे स्वरितत्वमधिकृतत्व तेषु परिगणनेति यावत् । 'स्वरितेनाधिकार' इति वैयाकरणपरिभाषाधमणादेव व्यपदेशः । स्पृ शब्दोपतापयोरिति घात्रोद्वादिवात् क्त । कुत इष्यते नेष्यत एवेत्यर्थः । रसरपृष्ठाद्यम स्वर्णभाव एव तत्रापि तत्स्पृष्टाया देवत्वमेव न मानुषत्वमित्यर्थः । अत्र श्छात्ताल्ङ्कार स्पष्ट ॥ ४२ ॥

अन्वय —नर दिवोकताम् अनुग्रहात् एव मानुष्यक निरस्य दिव्यताम् एति, निद्वरसस्पृशाम् अयसाम् अपि अयोर्धकारे स्वरितत्व कुतः इष्यते ?

हिन्दी—मनुष्य देवों की कृपा से ही मनुष्यभाव को त्यागकर देवत्व को प्राप्त होता है, निद्वरस (जड़ी-बूटिया माधित पारद) का स्पर्श कर लेने वाले लौहपदार्थ का भी लोहाधिकार (लौहपदार्थों) में स्वरितत्व (परिगणन) नहीं होता है ?

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन कि 'देव-मानुषी सम्बन्ध अनुचित है' का

बहन करने हुए नर ने कहा कि 'जब मानुषी देवपत्नी बन जाती है तो वह भी देवी बन जाती है, ननु देवपत्नी से भय भी देव बन जाता करता है। ऐसे ही देवपत्नी होने पर देवपत्नी भी मानुषी न रह देवता बन जायेगी। तब कनोविचर वहाँ रह जायेगा। इन सब को एक इत्यान्त से प्रमादित किया गया। सिद्धवारद के मंत्र में लोहा सोना बन जाता करता है। ऐसे सोना बन लोहे लक्ष्मी उससे निर्मित पदार्थों को गाना लोहे में नहीं लेते में होती है। एक मन्त्र में 'स्वरित्त्व' इत्ये के प्रयोग में व्याकरण का उदाहरण दिया है। पाणिनि का सूत्र है—'स्वरित्त्वाधिकार' (अ० १।३।११), 'पांस्वरित्त्वाधिकार' होने में अधिकार हो जाता है पर स्वरित्त्व रहा ही नहीं, पाठकों के लोह रह ही नहीं गया, तब लोह पदार्थों में पाना हैगी' मन्त्र का उद्देश्य नहीं है कि देवपत्नी देव-वत्न कर ले, फिर वह भी देवी हो जायेगी। कोई कनोविचर रह ही नहीं जायेगा। इस प्रकार 'मानुष्यक्याञ्छते जने' (नं० ब० १।२६) का उत्तर हो गया। मन्त्रिणाथ के अनुसार इत्यान्त अकार मन्त्र है, विद्याधर के अनुसार वही जयान्त-मन्त्र है ॥ ४० ॥

हरि परिपन्थ नलानिष्ठापुका न नृपते वा विदुषिषुवा कथन् ।

उनेभिर्देशो करमाउनीरतादुद वदे त्वा करनोह । नो इति ॥ ४२ ॥

औदानु—हरिनिधि । हरिनिधि देव परित्यज्य नर नरनिष्ठापुका ताच्छीत्सेनादिभ्यो 'नृपते' इत्यादिना उक्तम् । 'न लोक' इत्यादिना पृथो-प्रतिभेदात्कर्मणि द्वितीयाया नन्वादिनात्तन्मात्रम् । अत्र एव विदुषी मात्री 'विदे इत्युक्ते' 'उ-उत्तेति' इति । ब्रवीतीति वृत्वा विदुष्या वृत्वा विदुषी-इवेति कर्मणि पठ्यन्तम् । विदुषीनामान व्याजपत्नी पठ्यन्तम् इत्यर्थः । 'पठ्यन्तवेत्त्वात्पठ्यन्तत्वेणु इत्युक्तेऽवो हन्वः' इति 'हन्व', वृज' पवाडच् । एवमादेव त्रिगन्ताद्गुणव्या देशपौरमात्र इत्ये त्व रूप न उक्तमे मति विदुष्य वाच्यत्वात् कथं न नृपतेऽकर्मिण्यम् । जत एवात् न्वा-महनेव व्याहरिष्यामीनाह-उनेभिर्देशेति । उनेभिर्देशो परिदुषेपुकात्तात् उनी-उत्तमीनात्तात्तात् करमादुपुद्गात् उह मौदयनाधिकान्त्वाम्नो ! करनोह' हे करनोविति मन्वोध्य वदे वदामि । नामनादिभ्यो जनाय

तद् । न तु करम करभागविशेष तद्गुरु यस्या इति व्युत्पत्त्यर्थं । 'करमो मणिबन्धादिक्निष्ठान्तर उष्ट्रक' इत्युभयत्रापि विश्व । 'अयसम्बोधनाथं वा - स्यु पाट् प्याडङ्ग हे रे भो' इत्ययमेवमर । चादिपाठाभिपातसनायाम् 'श्रोत्' इति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिसन्धि । अनव्ययपक्षेऽपि भवच्छब्दतकारस्य स्त्वादिकार्ये यलोपस्यासिद्धत्वाद्वादेशनिवृत्ती भो इत्यमेव सन्धि, कित्त्वत्र स्त्रीसम्बोधने स्त्रियम् 'उगितश्च' इति डीप्प्रत्यये भवतीति सम्बुद्धि स्यात् । न तु भो इति । करभोवित्यत्र करम इवोरु यस्या इति 'उत्तरपदादौपम्य' इत्युङ्प्रत्ययः । करमादुर करमोरु इति पक्षे तु मनुष्यजातिविवक्षाया ब्रह्म- बन्धूरित्यादिवत् । 'ऊङ्ठुत' इत्युङ्प्रत्यये नदीह्रस्व । यथाह वामन - 'मनुष्य जातेविवक्षाविवक्षे' इति । अहो कष्टमुष्ट्रवेष्टितवत् त्वच्चेष्टित हास्यास्तद जातमिति भावः ॥ ४३ ॥

अन्वय — हरि परित्यज्य नलाभिलापुका विदुषिब्रुवा कथं वा न लज्जते ? भो करमोरु, त्वाम् उपेक्षितेशी शमीरतात् करमात् उरु बदे ।

हिन्दी—अथवा इन्द्र को छोड़कर नल का अभिलाप करने वाली (नल नामक सुदधाम की अभिलापुका) अपने को विदुषी (पण्डिता) कहती तुम लज्जित क्यों नहीं होती ? (होना चाहिए ।) हे करमोरु (कनिष्ठा मणिबन्ध मध्यप्रदेश सम कोमल ऊरवाली), तुम्हें (अब मैं) ईश्वरस की उपेक्षा करनेवाले, (कट्टु) शमी (कटकलता) में रत (मशक) करम (ऊँट) से उद्वृष्ट कहता है ।

टिप्पणी— नल ने दमयन्ती से कहा कि दमयन्ती 'नलाभिलापुका' अपने को कहती है, वह इन्द्र को अनिच्छुक है । यह वैसा ही है, जैसे कोई नल अर्थात् सुदध तृण का अभिलाप करे स्वर्ग सपना छोड़कर । ऐसी नासमझी की बात सोचती हुई भी दमयन्ती अपने को पंडिता मानने में लज्जित क्यों नहीं होती ? ऐसी मूर्खता करके अरुने को 'पंडितब्रुवा' मानना लज्जसास्पद ही है । इस मूर्खता के कारण आज नल की दृष्टि में दमयन्ती करमोरु अर्थात् कोमल ऊरवाली नहीं रही, वह 'करमोरु' इस अर्थ में है कि 'उसका तारतम्य ज्ञान ऊँट से भी कम है । मूर्खता में यह ऊँट से भी बड़ी है । वह मधु इश्वरम छोड़ काटे खाता है, दमयन्ती इन्द्र को छोड़ नल पास से नल की

इच्छुत्र है। जो अग्नि इन्द्र और शमी में है, वही इन्द्र और नलवृषत्सम्
 सुत्र नल में है। चन्द्रबलाकार ने इस पद्य में निरक्त नामक काव्यलक्षण का
 निर्देश किया है ॥ ४३ ॥

विहाय हा स्वमुपवन्नायक त्वयादृतः किं नरमाधिमभ्रमः ।

मुखं विमुच्य श्वमिनन्य धारया वृथैव नामापथघावनश्रमः ॥ ४४ ॥

जोत्रानु—विहायेति । किञ्च हा वत ! त्वया सर्वमुपवन्नायक देवेन्द्रं
 विहाय नरे मनुष्ये साधिमभ्रम माधुत्वभ्रान्ति । पृथ्वादिपाठात् साधोरिम
 तिभ्रमम् । किं किमर्थमाह्व ? अथवा नियति केन लङ्घयत इत्याशयेनाह—
 स्वसितस्म धारया निश्चासपरम्परया (कर्त्या) मुखं मुखद्वार विपुल विमुच्य
 वृथैव नासायनेन नासारन्ध्रेणातिक्लेशेन घावनश्रम जाह्व सन्विति शेष ।
 तद्वत्तथापि ईदृशी भदितव्यनेति भावः । दृष्टान्तालङ्कार ॥ ४४ ॥

अन्वय -- हा, त्वया सर्वमुपवन्नायक विहाय किं नरमाधिमभ्रम जाह्वत !
 स्वसितस्य नासायना मुखं विमुच्य नामापथघावनश्रम वृथा एव ।

हिन्दी—हाय, तुमने सब देवों के नायक (देवेन्द्र) को छोड़कर क्या
 मनुष्य में श्रेष्ठता के भ्रम को आदर दिया ! निश्वासधारा द्वारा मुख को छोड़
 नाक के मार्ग से जाना जाना व्यर्थ ही है ।

टिप्पणी—नल ने कहा—सीधी सच्ची बात यी दमयन्ती इन्द्र को बर
 लेती । उसने क्या भूलों की कि देवेन्द्र के स्थान में नर को आदर दिया,
 जो पूर्णतः भ्रम है । 'नरसाधिमभ्रम' का अर्थ 'रजोरभेद' के आधार पर
 'नर' का अर्थ 'नर' भी हो सकता है—देवेन्द्र को छोड़ नल को आदर दिया ।
 'किन्तु नरमाधिमभ्रम'—किन्तु जर्थात् देवों से हीन जाति भी हो सकता है और
 'कृतित नर' निर्दिष्ट मनुष्य भी, अर्थात् देवेन्द्र के स्थान पर निम्न देव-
 जानीय अथवा कृतितनर को बरेष्यता दी । यह ऐसे ही व्यर्थ है, जैसे कि
 स्वासधारा का मुख छोड़ नासिका मार्ग से गमन । मुख की अपेक्षा नासिका-
 मार्ग से श्वास लेना आसन्नक होता है । भाव यह है नल या नर की श्रेष्ठता
 भ्रम है, दमयन्ती को चाहिए कि वह इन्द्र वरण करे । मन्त्रिनाथ के अनु-
 दृष्टात बलकार, विदाधर के अनुसार छेकानुवाच ॥ ४४ ॥

तपाञ्जले जुह्वति सूर्यमनूदिवे फलायान्यजनुर्भविष्णवे ।

करे पुन कर्पनि सेव विह्वला बलादिव त्वा बलसे न बालिसे । ॥४५॥

जीवातु—तप इति । किञ्च सूर्य सन्त अन्यस्मिन् अनुपि जन्मातरे भविष्णवे भाविष्ये । 'भूष्णुर्भविष्णुविता' इत्यमर । 'ध्रुवश्च' इति इष्णुव-प्रत्यय । 'भाषायामपीष्यते' भाषितपुस्त्रत्वात् पुब्रूवाव । दिवे स्वर्गायैव फलाय तनू शरीराणि तपोञ्जले जुह्वति त्यजन्ति । 'अदभ्यस्ता'दित्यत्रादेश । त्वा पुन मा प्राणातिक्त्वा साध्या द्यौरेव विह्वला उत्सुता सती बला द्बलात्कारादिव करे कर्पति हे बालिने । मूढे । 'शिशावज्ञे च बालिस' इत्य-मर । न बलसे न बलसि नेच्छसीत्यर्थ । अह ते दुर्वुद्धिरिति भाव ॥ ४५ ॥

अन्वय—सूर्य अन्यजनुर्भविष्णवे दिवे फलाय तनू तपोञ्जले जुह्वति, विह्वला सा एव पुन त्वा बलात् इव करे कर्पति, बालिसे, न बलसे ।

हिन्दी—विद्वज्जन (सन्त) क्रमात्तर मे होने वाले स्वर्ग फल के निमित्त शरीरों का तपानि म हवन किया करते हैं, और ध्यातुल हो वह (स्वर्ग) ही तुम्हें जैसे बलपूर्वक हाथ पकड़ सीवरहा है । अरी मूर्ख, तू टप से मत नही होवी ।

टिप्पणी—नल बलाता है कि स्वर्ग प्राप्ति के निमित्त बड़े मत भी अनेक्य सपत्ना द्वारा अपने शरीर को त्याग दिया करते हैं । वह स्वर्ग जैसे दमघाती को निवेदित हो रहा है । इंद्रादि पागला के समान उन्हें सदह स्वर्ग ले जाता चाह रहे हैं । पर दमघाती ऐसी धार मूर्खों के कि घोड़ी भी विचलित नही होती । ऐसा समझ रही है, जैसे उम लर यह बलात्कार होने वाला हो । विद्याधर के अनुसार काव्यलिंग और उपदेशालकार ॥ ४५ ॥

यदि म्रमुद्वन्वुमना विना नल भवेभ्वन्तो हरिरन्नरिक्षगाम् ।

दिविन्धिताना प्रमित पतिस्ततो हरिष्यति न्याय्यमुपेक्षते हि क ॥४६॥

जीवातु—अथ यदुक्तं नानामे हुताशनोद्बधनादिना मरिष्यामीति तत्रोत्तरमाह—यदीत्यादिना चतुष्टयेन । हे मुग्धे ! नल विना नलालाभे स्व-मात्मानमुद्बध मनी यस्या सा उद्बन्वुमना पापेन मनुकामा । 'तु काममन-पाररि' इति मकारलोप । भवेयदि म्नाब्देत् सजोत्तरिक्षण भवन्ती दुर्मण-सोपादन्तरिणना मनी त्वामिति शेष । दिविस्थितानामतरिणगताना स्वर्ग-

ताना च प्रदिव पतिं प्रदिद्ध स्वानी हरिरिन्द्रो हरिष्यति प्रहीष्यति जन्ना-
न्तर्येति त्वा न ह्यश्वतीत्ययं । तथा हि—न्याय्य न्यायुप्राप्त वस्तु क उनेष्टे-
न कोऽनीत्यर्थांतरयात् । अम्बानिकद्रव्यस्य राजगामिन्व न्याय्यनिति भावः ।

बन्धय—यदि नल विना स्वम् उद्बन्धुमना नवे नत बन्धरिष्ठा
नवन्ती दिवि न्दिताना प्रदितः पति हरि हरिष्यति, हि न्याय्य क उनेष्टे ?

हिन्दो—यदि तुन नल के विना बरने को फाँसी लगाना चाहती हो, तब
बन्धुनिष्ठ जाँगी (बन्धुराहस्या) बापको बन्धुरिष्ठ में बरने वालों का विख्यात
स्वामी इन्द्र हर लेगा, कारण कि न्याय से प्राप्त वस्तु की कौन उपेक्षा करता
है ? (कोई नहीं ।)

शिष्यो—दमयन्ती ने क्या या कि यदि नल उसका पारिग्रह न करेता
तो वह बचकर, फाँसी लगाकर बधवा डूबकर प्राण दे देगी—‘तृतायनोद्-
बधनवारिवारिदा निवासुपस्तत्कारवं स्वर्वरिताम् ।’ (न० व० १।३५) ।
इसकी व्ययंता का प्रतिपादन नल द्वारा चार श्लोकों (४६-४९) में किया
जा रहा है । इन श्लोक में बताया गया कि पत्ने में बधन लगाकर नर जाने से
जब भय कर जाती दमयन्ती बन्धुरिष्ठ भास में होती, तो वहाँ बन्धुरिष्ठियों का
स्वामी बनने थाप प्राप्त हुई उसका ग्रहण प्रसन्नतापूर्वक कर ही लेता । सत्कार में
सनी न्यायत प्राप्त पदार्थ का ग्रहण कर ही लेते हैं । यह स्वाभाविक है ।
जता जिनसे डरकर दमयन्ती नरना चाहती है, नरकर उन्हें ही प्राप्त होती,
अत व्यर्थ है प्राण देना । दमयन्ती के कथन में प्राण त्यागने के उपायों का
इन इस प्रकार या—(१) बाण में अग्ना, (२) उद्बन्धन, (३) डूबना ।
इस स्थिति में दूसरे उपाय की व्ययंता पहिले, तदनन्तर प्रपन्न की, तत्पश्चात्
तृतीय उपाय की क्रम-बद्ध-वैसा लभता है । सुखावदोष’ टीका के प्रयेता
जिनराव ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है—‘प्रतिज्ञादत्ते उद्बन्धन-
प्रदिज्ञा द्वितीया तथापि बन्धुरिष्ठस्येन्द्रस्वानिकम्बाद्रिद्रव्य च प्राधान्यात्प्रपन्न
दुषिता ।’ अर्थात् दमयन्ती की प्रतिज्ञा में फाँसी से प्राण देने का उल्लेख
द्वितीय है, परन्तु इसका निराकरण प्रपन्न दो कारणों से किया गया—
(१) प्राणत्याग कर सबको बन्धुरिष्ठस्य से ही जाना होता है, वहाँ का इन्द्र
स्वामी है, अतः पहिले उसे ही दमयन्ती-ग्रहण का अवसर मिलेता । (२) इन्द्र

मत्र दिक्पात्री मे प्रमुख भाग्य जाता है। मल्लिनाथ ने बताया है कि बरगृह्य दोष स मृतक का अन्तर्निष्ठा होना पडता है। उसके अनुसार यहाँ अर्धान्तर-न्यास है। विद्याधर ने छेकानुप्रास हाव्यलिंग-अर्धान्तरन्यास का निर्देश किया है ॥ ४६ ॥

निवेश्यसे यथनले नलोञ्जिता सुरे तदस्मिन्महती दयादृता ।

चिरादनेनाथंनरापि दुलभं स्वयं त्वदेवाङ्ग ! यदङ्गमप्यन ॥ ४७ ॥

जीवातु—निवेश्यसे इति । हे मुग्धे ! नलेनोञ्जिता सती बनले निवेश्यसे यदि जीवितनस्त्वृत्त्यादिति मवेद्यसि चेदित्यर्थ । जाधारत्वविवक्षया सतमी 'नेविश' इत्यामनेपदम् । एतत् तर्हि अस्मिन्ननले बनलात्पे सुरेऽपि तदधिष्ठात्रि देवे च भूतमात्र इति भाव महती दया आस्ता कृता स्वीकृतैत्यर्थ । कुत्र यद्यस्मादननानलेन विरादथनया यत्स्वयापि दुलभमङ्ग शरीरम्, अङ्ग । अपि । स्वयं स्वयमात्मनैव अप्यते तथा स स्मृतममेव जीवग्राह प्रहीष्यतीति भाव । अत्र प्रजापते जीवितजिहासोरन्यग्रहणं विरूपानयोन्नेविषमभेद । 'विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिरनियमस्य वा भवेत्' । विरुद्धकार्येणा वासी विषमालङ्कृतिस्त्रिवेति' लक्षणम् ॥ ४७ ॥

अन्वय—यदि नलोञ्जिता बनले निवेश्यसे तद् अस्मिन् सुरे महती दया आस्ता, यत् अनेन चिरात् अर्धनया अपि दुलभम् अङ्गम् अङ्ग, त्वया एव अप्यते ।

हिन्दी—यदि नल से अगृहीता होने पर अग्नि में प्रवेश करोगी तो इस देव (अग्नि देव) पर बड़ी दया स्वीकारोगी, क्योंकि इस (अग्निदेव) के द्वारा चिरकाल से प्रायना करने पर भी दुलभ (दमयन्ती का) अंग हे अंग, (सुन्दरि दमयन्ती,) तेरे द्वारा ही (उसे) अर्पित होगा ।

टिप्पणी—जलकर मरना भी व्यय है, क्योंकि उससे तो दमयन्ती अग्नि को अपने आप ही मिल जायेगी । अग्निदेव चिरकाल से दमयन्ती-अंग-स्पर्श के निमित्त उसकी याचना कर रहे हैं । वह शरीर जलने के लिए अग्नि-प्रवेश करते ही अग्निदेव को अनायास मिल जायेगी । यह तो दमयन्ती की अग्नि पर बड़ी दया हुई । अग' संबोधन द्वारा दमयन्ती के अज्ञान का उपहास सुचित किया गया । मल्लिनाथ के अनुसार इस पद्य में नल के न मिलने पर

प्रणयान् करती दमयन्ती का जग्नि द्वारा उद्यतीर भ्रष्ट हो जायेगा—दमयन्ती की कारण विषम अलंकार है, विद्याधर के अनुसार उक्तानुप्रास जोर काव्यच्छिन्न है ॥ ४३ ॥

जित् जित तन्मल्लु पाशपाणिना विना नल वारि यदि प्रवेश्यमि ।

तदा त्वदाख्यान् बहिरप्यसूनमौ पत्रनिर्वक्षमि वक्ष्यतेतराम् ॥४८॥

जांवातु—जितमिति । हे मुग्धे ! नत्र विना वारि प्रवेश्यमि यदि मरणा-
यमिति शेष । अथेदानीं पाश पाणौ यन्मतेन पाशपाणिना बहोन प्रहरणायैम
परे निग्रासतम्यो भवत । जित जितमनीक्षण जित खनु । भावे क्त ।
'नित्यवीप्योरि'ति नित्याये द्विर्भाव 'नित्यमानीक्ष्ये' इति काशिका । तद
वाग्निप्रवेशकात् जगौ पत्रनिर्वरणोऽपि त्वदान्यान् त्वनामकान् । बहिरप्यसून
बहिर्वतिन प्राणान् वक्षसि वक्ष्यतेतराम् । बहे स्वरितेत्वात् लटि तदि
तरप्यामुप्रत्यय । सोऽपि त्वा जीवघाह प्रहीप्यतीत्ययं । अत एव पूर्व एवा-
लङ्कार ॥ ४८ ॥

अन्वय—यदि नल विना वारि प्रवेश्यमि, तत् पाशपाणिना मल्लु जि-
जितम्, तदा जगौ पत्र पति त्वदाख्यान् असून बहि अपि वक्षसि वक्ष्यतेतराम्

हिन्दो—यदि नल के विना जल में प्रवेश करोगी, तो पाशपाणि (वक्ष
ने निश्चयत विषय लाभ कर लिया, तब वह जल का स्वामी (वरुण) तेरे
नाम के (तेरे) प्राणों को बाहर भी हृदय पर धारण कर लेगा ।

टिप्पणी—दूबने के लिए जल-प्रवेश करना होगा । जल का स्वामी वरुण
है । दमयन्ती की तो उठे चिरकाल से कामना है । जैसे ही दूबने को जल में
दमयन्ती बुझगी, दस, पाश हाथ में लिये वरुण उद्यत बैठा ही है । उसे खींच
कर तुरन्त छात्री में लगा लेगा । अभी तो वह दमयन्ती को मन-ही मन धाद
करता है, अतम् में ही चिपकाये हैं, जल में पहुँचते ही वह दमयन्ती के प्राणों
को बाहर हृदय से लपा लेगा । वरुण की आकाशा पूरी हो जायगी । इन
प्रकार दूबकर जान देना भी व्यर्थ है । मच्छिनाय के अनुसार विषम अलंकार,
विद्याधर के अनुसार उपदेश और उक्तानुप्रास ॥ ४८ ॥

कश्चिद्यसे यद्यत्र एव दूषतादुपासमन्य विदुषो स्वमृष्ये ।

प्रिनातियि स्वेन गतामृहात् कथ न धर्मगव चरित्तार्येयि

जीवातु—करिष्यसे इति । अथ विदुषी पण्डिता विदग्धा त्व यदि तु अत एव दूषणादेतस्मादेवोद्बन्धनादिना स्वमृत्यवे स्वमरणाय अन्यमुपायमनसनादि करिष्यसे, तदा प्रियातिथिरतिथिप्रिया त्व स्वेन स्वत एव गृहान् घमराजगेह गता सती घमराज वैवस्वतमतिथिसत्तममिति भाव । कथं न चरिताथयिष्यसि न वृत्तार्थं करिष्यसि । कर्तव्यमेवेद कृतयुगधर्मत्वात् स्वयं गत्वातिथिमनोरथ पूरणस्येति भाव ॥ ४९ ॥

अन्वय — यदि विदुषी (त्वम्) अतएव दूषणात् स्वमृत्यवे अन्यम् उपाय करिष्यसे, स्वेन गृहान् गता प्रियातिथि घमराज कथं न चरिताथयिष्यसि ?

हिन्दी—यदि पंडिता (तू दमयन्ती) इही कारणों से (जलना, फाँसी, दूबना) दोषपूर्ण होन से अपनी मृत्यु के लिए अन्य उपाय करेगी तो स्वयं (यमराज के) घर-महल की प्रिय अतिथि (जिसके जाने की तिथि निश्चित हो, अनपेक्षित) घमराज को कृपाय क्यों न करेगी ? (करेगी) ।

टिप्पणी—नल ने सिद्ध कर दिया कि फाँसी लगाकर इन्द्र का, जलकर, अग्नि को और बहल को अनायास ही दमयन्ती प्राप्त हो जायेगी, अतः इन तीनों उपायों द्वारा प्राण देना व्यर्थ होगा । इस स्थिति में दमयन्ती अन्य उपाय से प्राणत्याग का विचार कर सकती है, पर इसमें भी व्ययंता ही प्राप्त होगी । मरने पर घमराज (यमराज) के घर पहुँचना पड़ता है । वे घमराज तो उत्कंठा से साँप दमयन्ती के कामे हैं । जब अनपेक्षित अतिथि के रूप में प्रिया दमयन्ती उनके घर पहुँचती है तो वृत्तार्थ हो उठेंगे । इस प्रकार प्राणत्यागमात्र व्यर्थ है । उससे इन्द्र, अग्नि, बहल, यम में से किसी-न किसी की इच्छा पूरी होगी ही, जो दमयन्ती का काम्य नहीं है । 'विदुषी' विशेषण द्वारा यह संकेतित है कि घमराज ही तो दमयन्ती को है ही कि वह नल के तक्यों को समझ सके । 'विदुषी स्वमृत्यवे' के स्थान पर विद्याधर ने 'विदुषीति मृत्यवे' पाठ को उचित माना है । इस स्थिति में 'विदुषी-इति' पदच्छेद करके 'विदुषि' संबोधन हो जाता है । ऐसी स्थिति में 'स्वम्' का अन्वयाहार न करना होगा, अतः पाठांतर अधिक समीचीन प्रतीत होता है । इस प्रकार किसी भी प्रकार से प्राणत्याग करने में दमयन्ती का अभीष्ट सिद्ध न होगा— यह दूत नल ने प्रमाणित कर दिया । विद्याधर के अनुसार वाक्यलिङ्ग ॥ ४९ ॥

निपेयवेनो विधिरेव तेज्यवा तत्रैव युक्ता खलु वाचि वक्रता ।

विजृम्भित यस्य किल ध्वनेरिदं विदग्धनारीवदन तदाकरः ॥ ५० ॥

जीवातु—निपेयंति । हे विदग्धे 'अथवा तत्र एव इन्द्रादिनिपेयो निपेय-
वेनो निपेयाकरो विपिरङ्गीकार एव । तथा हि वाचि वचने वक्रता वक्रोन्नि-
षानुरी व्यङ्ग्योक्तिवातुरीति यावत् । सा तत्रैव युक्ता खलु । कुत् इव दत्
वाक्य वञ्चनावातुं यस्य ध्वनेर्यञ्जकवृत्तैर्विजृम्भित विजृम्भित ननु=नान
क्त' । विदग्धनारीवदन मूर्च्छि चनुरम्भीमुख तदाकरस्तस्य ध्वनेरत्यनिस्थान
निपेयान्तरव्याप्त । तत्र न्यूनात्स्वतन्म्यानं विधिरेव द्रष्टव्यनुमेयनिपेय-
नाटकमिति निपेयं विधिरेव व्यञ्जन इति भावः ॥ ५० ॥

अन्वय—अथवा ते एव निपेयवेन विधि एव तत्र एव वाचि वक्रता
युक्ता, खलु इव यस्य विपे किल विजृम्भित तदाकरः विदग्धनारीवदनम् ।

हिन्दो—अथवा तेषां (दमयन्ती) यह निपेय के रूप में स्वीकार ही है
तैरी ही वाणी में वक्रोक्ति-वातुं उपयुक्त है, क्योंकि यह विस्र ध्वनि अर्थात्
व्यवनादृति का प्रसिद्ध विनास है, उमका उद्भवस्यात् विदुषी नारी का
मुख ही है ।

टिप्पणी—पूर्व श्लोक में दमयन्ती का 'विदुषी' कह दिया गया, इस श्लोक
में भी यदम को लेकर कहा गया कि कदाचित् नन् ही को दमयन्ती की
विदग्धवाणी—'विदग्धनारीमिति' को मनझने में भूल हो गया । दमयन्ती ने
देव-वरम प्रस्वीकारा नहीं है, स्वीकारा है । यह स्वीकृति अनिष्टान्तिका नहीं
है, व्यवनादृति है । यह निपेय के रूप में विधि है । 'नहीं' से 'हाँ' व्यक्त
है । विदग्ध वाणी का जन्म होता ही विदुषी के मुख से है । सो नन् यह दमयन्ती
की स्वीकृति ही मानता है । वाच्य और प्रतीयमानार्थ की निम्नता के हेतु
बनाते हुए आनन्दवद्वैनाचार्य ने कहा है—'य हि क्वचिद् वाच्ये प्रतिपेक्ष्यते
विपिष्या यदा-वत्ता एव निमज्जते एव जह दिवसत्र पञ्चोएहि । मा पहिद
रत्तित्र घत्र नेज्वाए मह निमज्जति ।' (ध्वन्यालोक—११४ की वृत्ति) ।
यहाँ नादिका घर आये नायक ने कह रही है कि—तू दिन में ही देव समझ ले,
क्योंकि गान रतौषी के कारण तूने झूठता नहीं । यहाँ मेरी पास सेती है और
यहाँ मैं । नहीं रात में मेरी शय्या पर न गिर जाना । इस उदाहरण से शय्या
१६ नं० २४०

पर न गिर जाने का अर्थ 'गिर जाना' ही है। अर्थात् रात को चुपचाप शरणा पर आ जाना। यह निषेधरूप में विधि है, जो व्यग्य है। यह ध्वनि है, वज्रपदरचना। तो दमयन्ती का भी कुछ ऐसा ही अमिप्राय लगता है, वह 'न' में 'हां' कह रही है। कदाचित् इसका कारण नारीजनोचित लज्जा हो। विद्याधर के अनुसार हेत्वाक्षेपालकार ॥ ५० ॥

भ्रमामि ते भूमि ! सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु निपत्य कत्यद ।

त्रपामपाकृत्य मनाक् कुरु स्फुट कृतार्थनीय कतम' सुरोत्तम ॥ ५१ ॥

जीवातु—एव सुरस्वीकारपक्षमेव मिद्धवत्कृत्य निर्वन्ध्य पृच्छति—भ्रमा-मीति । हे भूमि ! ते तव सरस्वती वाक् नदीभेदश्च तस्या रम शृङ्गारो जलञ्च तस्य प्रवाहस्तस्य चक्रेष्विति पाठेऽप्ययमेवायं । 'चक्राणि पुटभेदा स्युरित्यत्र' 'चक्राणीति' पाठस्यापि स्वामिनाञ्जीकारात् । कति किय-त्यमूनि चक्राणि यस्मिन् कमणि तद्यथा निपत्य भ्रमामि मुह्याभ्यावर्ते च । अत्र वाच्य-प्रतीयमानयोरभेदाध्यवसायान्निपातनादिक्रियानिर्वाह । अल वक्रोक्तयेति तात्पर्यं कि-तु कतम सुरोत्तम कृतार्थनीयो वरणीय ? एतदेव त्रपा मना-गपाकृत्य सिधिलीकृत्य स्फुट कुरु व्यक्त ब्रूहीत्यर्थं नात्र लज्जितव्यम् 'आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्ज सुखी भवेदिति' न्यायादिति भाव ॥ ५१ ॥

अन्वय — भूमि, ते सरस्वतीरसप्रवाहचक्रेषु निपत्य कति भ्रमामि, कतम सुरोत्तम कृतार्थनीय ? त्रपा मनाक् अपाकृत्य अद स्फुट कुरु ।

हिन्दी—हे भीमपुत्रि, तेरी सरस्वती (वाणी) रूप सरस्वती नदी के शृङ्गारादिरसप्रवाह (वक्रोक्ति)—रूप जलप्रवाह के चक्र अर्थात् मण्डल (समूह) रूप आवर्तों में पढ़कर कितना चक्कर खाऊँ ? (इन्द्रादि दिक्पालों में से) कौन में देवोत्तम का तुम कृतार्थ करोगी ? लज्जा को थोड़ा दूर हटाकर यह स्पष्ट करो ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक में नल ने दमयन्ती से कहा था कि उसके निषेध का तात्पर्य विधि ('न' का अर्थ 'हां') ही लगता है, जो कदाचित् विदुषी दमयन्ती ने वक्रोक्ति—वैदग्ध्यभगीमणिति का आश्रय लेते हुए कहा है। इस श्लोक में नल ने विनयपूर्वक दमयन्ती से निवेदन किया कि वह इस उक्तिवैचित्र्य से आत होकर बैसे ही चकरा रहा है, जैसे कि कोई नदी जल के आवर्तों में पढ़कर

चक्रर खाता है। नल जानना चाहता है कि दमयन्ती इन्द्राग्निवह्नायम मे से किमवा वरण करेगी, क्योंकि यह दमयन्ती के कपन से स्पष्ट नहीं हो पा रहा है। वह लज्जा छोड़कर, वक्रोक्ति चक्र मे न फँसा कर स्पष्ट उस दिक्पाल का नाम लेने की कृपा करे, जिसे वह वरना चाहेगी। 'मनाक्' का अन्वय 'स्फुट कुह' से करके यह भी किया जा सकता है कि दमयन्ती वरणीय सुरोत्तम के विषय मे जाडा-सा ही स्पष्ट कर दे- सकेतमात्र। मन्लिनाथ 'कत्यदा' को एक शब्द मानकर उमना अन्वय 'कत्यद निपय भ्रमामि'—इस प्रकार करते हैं अर्थात् 'कितने चक्रर पडकर खाऊँ'—कति कियन्पमूनि चक्राणि यन्मिन् कमनि तद्। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और श्लेषालंकार ॥ ५१ ॥

मनः किमैरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपीनस्तनदिग्धवस्तव ।

सहस्रनेत्रान्न पृथङ् मते मम त्वदङ्गलक्ष्मीमवगाहितु क्षम ॥ ५२ ॥

श्रीवातु—अथैकस्मिन्नेव नामग्राहमनुरागमष्टमि पृच्छति—मत् इत्यादि। हे भूमि ! ऐरावतकुम्भयोः कंतवेन भिषेणेत्यपह्लवभेद । प्रगल्भी कठोरो पीनो च स्तनो यस्यास्तस्या दिश प्राच्या घवः पतिरिन्द्रस्तव मत् सम्मत किम् ? क्रियन् प्रश्ने । 'मतिबुद्धी'त्यादिना वर्तमाने क्त । 'तन्म्य च वर्तमाने' इति तद्योगात्तेवेति षष्ठी । युक्तश्च तदित्याह-मम मते मत्पक्षे त्वदङ्गस्य लक्ष्मीं लावण्यसम्पदमवगाहितु सम्यग्रहीतु सहस्रनेत्रात् सहस्राक्षात् पृथगन्योऽपि इत्यर्थः । 'पृथग्विने'त्यादिना पक्षे पञ्चमी । क्षमो न । अत्रोत्तरवाक्यार्थेन पूर्ववाक्यार्थसमर्पनाद्वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्गम् । 'हेतोर्वाक्यार्थहेतुत्व काव्यलिङ्गमुदाहृतम्' इति लपणात् । तस्य पूर्वोक्तापह्लवेन समृष्टिः ॥ ५२ ॥

अन्वयः—ऐरावतकुम्भकैतवप्रगल्भपीनस्तनदिग्धव तव किं मत् ? मम मते त्वदङ्गलक्ष्मीम् अवगाहितु सहस्रनेत्रात् पृथक् क्षम न ।

हिन्दी—ऐरावत (सुरपत्र) कुम्भस्यल के व्याज से कठोर और पीन (मासल) स्तनो-वाली दिशा (पूर्वदिशा) का पति (इन्द्र) क्या तेरा अभीष्ट है ? मेरी समति में तेरे शरीर की घोना के अवगाहन (भली भाँति ग्रहण) में सहस्रनयन (इन्द्र) के अतिरिक्त अन्य समर्थ नहीं है ।

—टिप्पणी—भाव यह है कि दमयन्ती का बुचबुगल ऐरावत हापी के मस्तकसिपठ पाईसिड—कुम्भस्यल की नाँति कठोर और मासल है। इन्द्र

ऐरावत का स्वामी है। इस दृष्टि से जैसे ऐरावत पर उसका अधिकार है, ऐसे ही दमयन्ती का अधिकारी भी वही होना चाहिए। इसके अतिरिक्त दमयन्ती के अङ्गों की शोभा इतनी व्यापक और असीम है कि दो नेत्रवाला उसका भली भाँति ईक्षण कर ही नहीं सकता, उसके लिए दो नहीं, सहस्र नेत्र अपेक्षित हैं। इन्द्र सहस्रनेत्र है। इस प्रकार उसी में इस शरीर शोभा के अवगाहन की क्षमता है। विद्याधर के अनुसार इस दलोक में अपह्नुति और समासोक्ति अलंकार हैं। मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ काव्यलिङ्ग और अपह्नुति की सृष्टि है, क्योंकि पूवाद्ध में 'कैतव' शब्द अपह्नुति का चोतक है और उत्तरवाक्यार्थ द्वारा पूर्ववाक्य का समर्थन होने से वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है।

प्रमोद तस्मिन् दमयन्ति । सन्तत त्वदङ्गसङ्गप्रभवेर्जगत्प्रभु ।

पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्ठकैस्तनु घनाभातनुता स कण्ठकै ॥ ५३ ॥

जीवातु—प्रसीदेति । हे दमयन्ति ! तस्मै इद्राय प्रसीद प्रसन्ना भव ।

क्रियाप्रहणाच्चतुर्थी । जगत्प्रभु स इन्द्र सन्तत तनु निजाङ्ग निजाङ्गप्रभवैरत एव पुलोमजाया शय्या लोचनयोस्तीक्ष्णकण्ठकैर्निशितवर्वरादिद्रुमाशयवविशेषस्तथा ध्ययाकरं सपत्नीभावेरित्यर्थ । कण्ठकै पुलकैः 'वेणी दुमाङ्गे रोमाञ्चे क्षुद्रसत्री च कण्ठक' इति उभयत्रापि वैजयन्ती घना सा द्रामातनुता करोतु, शय्या सपत्नी भवेत्यर्थ । अत्र पुलकेषु कण्ठकत्वारोपाद्रपकालङ्कार ॥ ५३ ॥

अन्वय — दमयन्ति, तस्मै प्रसीद, स जगत्प्रभु तनु त्वदङ्गसङ्गप्रभवे-पुलोमजालोचनतीक्ष्णकण्ठकै कण्ठकै सन्तत घनाम् धातनुताम् ।

हिन्दी—हे दमयन्ती, तू उस (इन्द्र) पर प्रसन्न हो जाओ (वरण करो) । वह लोकपाल (अपने) शरीर को तेरे (दमयन्ती के) अगो के सग से उत्पन्न, पुलोमा की पुत्री (सखी, इद्राणी) के नेत्रों के निमित्त तीखे काँटों जैसे रोमाँचों द्वारा निरन्तर परिपूर्ण रखे ।

टिप्पणी—मात्र यही है कि दमयन्ती इन्द्र का वरण करले, तब उसके अगो के स्पर्श से इन्द्र के शरीर में रोमाँच होगा, यह इन्द्र की पत्नी की आँखा में तीक्ष्ण काँटा के समान खटका करेगा । दमयन्ती सखी की सपत्नी हो जायेगी, जिसके बस में इन्द्र रहेगा । सखी पति को सपत्नी सग से रोमाँचित देल 'अ-य-सयोगदुःखिता' हो जायेगी । मल्लिनाथ के अनुसार पुलकी में कण्ठक का

मारोप होने से रूपक है, विद्याधर ने भी अनुप्रास और रूपक का निर्देश किया है ॥ ५३ ॥

अबोधि तत्त्व दहनेऽनुरज्यमे स्वय खलु क्षत्रियगोत्रजन्मन ।

विना तमोजस्विनमन्यन कथ मनोरथन्ने बलन विलासिनि ॥ ५४ ॥

जीवानु—अबोधिनि । विलासिनि । विलासशैले । वा कथसन्त्य-
न्मन इति विनुप्रत्यय । तत्त्व त्वन्मनोरथस्वरूपनबोधि बुद्धम् । कर्मणि
लुङ् । तदेवाह—स्वय त्वमित्यर्थं दहने जातवेदमि अग्निदेवे अनुरज्यमे अनु-
रक्तानि सन्तु । रज्जेदेवादिक्वाह स्वरितेन कर्तरि लट् । 'अनिदिताम्' इत्या-
दिना अनुनासिकडोष । कुत, क्षत्रियगोत्रे जन्म मन्यास्तस्यास्ते ओजस्वि-
वराजाया इत्यर्थं । मनोरथ ओजस्विन तमग्नि विनाऽन्यतोऽन्यत्र सावं-
विनक्ति कन्तमि । कथ बलते प्रवर्तते न कथमपीत्यर्थं । एतेनोभयोरोजस्वि-
त्वेन समागमानुरूप्याद्दहनानुरागित्व ते युक्तमिति समर्थनाद्वाक्यायहेतुक
काव्यञ्जि व्यक्तमेव ॥ ५४ ॥

अन्वय—तत्त्वम् अबोधि, स्वय दहने अनुरज्यसे खलु । विलासिनि, क्षत्रिय-
गोत्रजन्मन ते मनोरथ तम ओजस्विन विना अन्यत कथ बलते ?

हिन्दी—(अथवा मैंने) तत्त्व (ठीक बात) समझ लिया, तुम स्वयम्
अग्नि में निश्चयन अनुरक्त हो । हे विलासमयी (विलासिले), क्षत्रिय कुल
में जनमनेवाली तेरा मनोरथ उम तेजस्वी (अग्नि) को छोड़ और किसी
में कैसे प्रवृत्त होगा ?

टिप्पणी - इन्द्रविषयक अनुराग की कल्पना करके दा (५४-५५) श्लोकों
में दमयन्ती के अग्नि के प्रति अनुराग की समावना की गयी है । दमयन्ती
क्योंकि तेजस्वी क्षत्रियकुल में उत्पन्न हुई है, अतः उसका तपोमय अग्नि की
इच्छा करना उचित और स्वामाविक्र ही है । दमयन्ती का मन रथ के समान
है, वह तेजस्वी की ओर ही प्रवृत्त होगा । विद्याधर ने हेतु और समासोक्ति
का निर्देश किया है, किंतु मल्लिनाथ का मत है कि यहाँ वाक्यायहेतुक
काव्यञ्जित फलकार स्पष्ट है, क्योंकि दोनों (दमयन्ती-अग्नि) के ओजस्वी
होने से समागम की अनुरूपता होने के कारण अग्नि में दमयन्ती के अनुराग
की उचितता का समर्थन हुआ है ॥ ५४ ॥

त्वयैवपत्या तनुतापशङ्कया ततो निवर्त्य न मन कथञ्चन ।

हिमोपमा तस्य परीक्षणक्षणे सतीषु वृत्ति शतशो निरूपिता ॥ ५५ ॥

जीवात्—न च दाहाद्भूतव्यमित्याह—त्वदेति । एकपत्या मुख्यपतिव्रता, अत एव त्वया तनुतापशङ्कया देहदाहसम्भावनया वा ततोऽग्नेर्भवनं कथञ्चन कथञ्चिदपि न निवर्त्य न निवर्तयितव्य, वृत्तेष्वन्ता'दचो यदि'ति प्रत्या । धृतस्तस्याग्ने परीक्षणक्षणे अग्निदेवेन पातिव्रत्यपरीक्षावसरे सतीषु विद्ये हिमेनोपमा साम्य यस्यास्ता वृत्ति । शतश शतकृत्वो निरूपिता निर्घोमिता, न तु घुणाक्षरवत् सकृदित्यर्थ । तस्मात् त्वया न भेतव्य प्रत्युत स एव माध्या एवा दग्धु विभेतीति भाव । अत्र पूर्ववाक्यस्यैकपत्नीपदार्थहेतुवत्त्वात्तरदार्य हेतुवमेव काव्यलिङ्गम् तस्याप्युत्तरवाक्यार्थहेतुवत्त्वाद्वाक्यार्थहेतुवच्चेत्यन्वयो सङ्कर ॥ ५५ ॥

अन्वय—एकपत्या स्वया तनुतापशङ्कया तत मन कथञ्चन १ निवर्त्यम् परीक्षणक्षणे तस्य सतीषु हिमोपमा वृत्ति शतश निरूपिता ।

हिन्दो—एक ही पतिवाली (पतिव्रता) तू (दमयन्ती) शरी- के सत्त्व होने की आशंका से उस (अग्नि) की ओर से मन किसी प्रकार न हटाना, क्योंकि परीक्षा के समय (पातिव्रत्य-परीक्षा के अवसरो पर) उस (अग्नि) का सतियो के प्रति हिम के समान शीतल व्यवहार सँकड़ों बार देखा गया है ।

टिप्पणी—वह आशंका यदि दमयन्ती के मन में हो कि अग्नि ज्वलनशील है, उसका ससर्ग दाह का कारण बनेगा तो इससे डरना ठीक नहीं, क्योंकि सीता आदि पतिव्रताओं का ससर्ग जब उससे हुआ तो वह बर्फ के समान टडा पाया गया । दमयन्ती भी पतिव्रताओं में मुख्य है ही । पातिव्रत की परीक्षा के लिए 'दिव्य' की योजना की जाती है, दिव्य अर्थात् अग्नि में प्रविष्ट होकर परीक्षण, जिसमें पतिव्रता होने पर स्त्री सञ्जुल रहती है, न होने पर जल प्लावी है, जैसे सीता की अग्नि-परीक्षा (वाल्मीकिरामायण, मुद्रकाण्ड ११६-११८ सर्ग) । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग अलंकार, मल्लिनाथ ने पदार्थ हेतुक और वाक्यार्थहेतुक दो काव्यलिङ्गों का संकर माना है, पूर्ववाक्य के एकपत्नी पदापहेतुक होने से पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है तथा उसके वाक्यार्थ हेतुक होने से अपहेतुक हान से वाक्यार्थहेतुक ॥ ५५ ॥

स धर्मराजः खलु धर्मशील्या त्वयाम्नि चित्तातिथितामवापिन ।

ममापि साधु प्रतिभात्प्र क्रमश्चक्रान्त योग्येन हि योग्यमङ्गम ॥५६॥

जीवानु-म इति । अथवा स प्रसिद्धो धर्मराजो यमः धर्म शीलवतीति । धर्मशीला धमचारिणी । 'शील्वामिमङ्गावन्मोष' । तथा त्वया चित्ता-
तिथिता चित्तगोचररूपमवापिनोऽस्ति खलु ? कामित । किमित्यर्थः । खनु-
शब्दो विज्ञापयाम् । 'निषेधवाक्यालङ्कारविज्ञानानुनये खनु' इत्यमरः ।
यथा चेद्वरमित्याह-ममाप्यय क्रमः क्रमण प्रवृत्ति साधु यथा तथा प्रतिभाति
पगिन्दुरति । तथा हि—योग्येन सत् योग्यस्य समागम सम्बन्धश्चास्ति
शोभते, उमयोर्षामिवत्वादिनि भावः । अर्थात्तरन्यासोऽङ्कार ॥ ५६ ॥

अन्वयः—धर्मशील्या त्वया स धर्मराज खलु चित्तानिधिताम् अवापित
अस्ति—अत्र क्रम मम अपि साधु प्रतिभाति, हि योग्येन योग्यमङ्गम चकास्ति ।

हिन्दो—धर्माचारिणी तेरे (दमयन्ती के) द्वारा वह (प्रसिद्ध) धर्मराज
(यमराज) कदाचित् चित्त का अतिथि (मनोगोचर) बनाया गया है,—
यत् परिपाटी मुझे (दूत नर को) भी मन्त्री प्रतीत होती है, क्योंकि योग्य से
योग्य (उत्तम से उत्तम) का मगम सुशोभित होता है ।

टिप्पणी— दो (५६ ५७) श्लोकों में धर्मराज के वरण का औचित्य
प्रतिपादन किया गया है । दमयन्ती धर्मशीला है, अतः धर्मशीला के चित्त
में यदि धर्मराज बसा है तो उचित ही है । नियम ही है कि 'योग्य योग्येन
शोभते' । समानगीत जनो का मग शोभित होता है—'समानशील्यसनेषु
सहजम् ।' मन्तिनाथ के अनुसार अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने छेकानुप्रास और
अर्थात्तरन्यास का निर्देश किया है ॥ ५६ ॥

जज्ञानविच्छेददत्रै स्मरोन्मयेगस्ताभासा दिशि निर्मलत्रिपि ।

धनार्नि लात्तमन्युसङ्किता निमेषवत्तेन नयन्व केलिभि ॥५७॥

जीवानु—अगतेति । हे मेमि ! अथत्यभासा निषेधत्रिपि दिशि
दक्षिणार्था दिशोऽयम् । तेन धर्मराजेन मह । 'बुद्धी युते'ति ज्ञापकाद्
सहाप्रमोहेऽपि सहायै कृतीया । अविद्यमान मृत्युसङ्किता मरणसङ्का यस्या सा
सतीः अतस्त्वैवात्मदासत्वादिति भावः । अत्रातो विच्छेदलवो विच्छेदशो
येषु तैः स्मरोत्सर्वं सम्प्रोक्षेत्वे के-भिर्भित्तोरै सुतोऽवर्णारतो यस्य तदनन्त-

काल निमेषवत् निमेषतुल्य नयस्व यापय । वरान्तरस्वीकारे दुर्लभमिदं
सौभाग्यमिति भाव ॥ ५७ ॥

अन्वय — जगस्त्यभासा निर्मलस्वियि दिशि तेन अमृत्युसङ्कृता अजात-
विच्छेदलवैः स्मरोत्सवैः केचिन्नि धृतावधि काल निमेषवत् नयस्व ।

हिन्दा—अगस्त्य (मुनिनामक नक्षत्र) के प्रकाश से निर्मलकांतियुता
(दक्षिण) दिशा में उस (घर्मराज) के साथ मृत्यु की दृष्टि से रहित होकर
व्याग के क्षणों से हीन कामोत्सव श्रीडाजो द्वारा असीम काल को क्षणसम
अतीत करो ।

टिप्पणी—जिस दिशा में विद्याचल पारकर अगस्त्यमुनि जा वसे थे
और जो उन्हीं के नामधारी नक्षत्र के आलोक से निर्मल है, उस दक्षिणा
दिक् का स्वामी घर्मराज है । उससे विवाहित होने पर दमयन्ती को एक
अपन अन्वय लान यह होगा कि मृत्यु और तत्समव वियोग की आशंका ही
मिट जायेगी और अमर्यादित समय तक दमयन्ती काम श्रीडाएँ करती
आनन्द उठा सकेगी, क्योंकि घर्मराज तो मृत्यु के अग्रिपति ही ठहरे । ऐसा
अवसर और से विवाह करने में प्राप्त न होगा । विद्याधर के अनुसार उपमा ।

शिरीषमृद्धो वरुण किमोहमे पयःप्रकृत्या मृदुवर्गवासवम् ।

विहाय सर्वान् वृणुते स्म किञ्च मा निशापिशीतागुमनेन हेतुना ॥५८॥

जीवातु—शिरीषेति । अथवा शिरीषमृद्धी त्व पयःप्रकृत्या जलस्वभावेन
वरुणशरीरस्य तथात्वान् कारणगुणदेशेनेत्यर्थं । मृदुवर्गं वासवमिन्द्र श्रेष्ठ
वरुणमोहमे किमिच्छसि वा ? तदपि योग्यमेवेति शेष । तथा हि सा मृदु-
स्वभावा निशापि अनेनैव मृदुस्वभावत्वेन हेतुना कारणेन । 'सर्वनाम्नस्मृतीया
च इति तृतीया । सर्वास्तीक्ष्णान् सूर्यादीन् विहाय शीतागु न वृणुते स्म
किम् ? वृणुत एव । दृष्टान्तात्कार ॥ ५८ ॥

अन्वय—शिरीषमृद्धी किं पयःप्रकृत्या मृदुवर्गवासव वरुणम् ईहमे ? सा
निशा अपि अनेन हेतुना सर्वान् विहाय हि शीतागु न वृणुते स्म ?

हिन्दी—शिरीष कुगुमां के तुन्द्य कोमलामी (तू दमयन्ती) क्या जल
स्वभाव के कारण कोमल पत्तियों के इन्द्र (स्वामी) वरुण की दृष्टि करती
है ? उस रात्रि ने भी हमी कारण से मूत्र को छोड़ क्या शीतकर (चन्द्र) को
नहीं बरस है ? (इसी कारण बरस है) ।

टिप्पणी—(दो ५८-५९) इन्होंने मे वरुण वरुण का औचित्य प्रति-
पादित है। दमयन्ती कोन्यागी है, अब इसकी पूर्ण मनावना है कि वह
कोनल पति की ही इच्छा करे। इसने यह मनावना भी मान ही है कि वह
वहा-वग्ण करे। दम्पन्ती भी कोनल और अल-प्रकृति होने से वरुण का
स्वामी वग्ण भी कोनल। रात्रि द्वारा चन्द्र-वग्ण के दृष्टात् से इन औचित्य को
पुष्ट किया गया। रात्रि में शीतल स्वभाव, मृदु होती है, इसी कारण
उसने शीतकिरण चन्द्र का वग्ण किया। ऐसा ही दमयन्ती का वरुण-वरमेच्छा
भी मान ही है। इन्द्रातिरिक्त ही अज्ञात वरुण पर प्रकृति होने से कहीं कोनल
है। यहाँ 'योष्य योष्यन योष्यतु' परिभाषा 'साधु' होती है। मल्लिनाथ के
अनुसार दृष्टान् अङ्कार, विद्यापर ने वद्व की परिभाषा 'मनानाम्पावधौ
मृदुदुसनाया स्वल्पद्रावती त्रिदिग्ने यस्मिन्नुमन्त्याः स विज्ञेयः' के अनुसार
यहाँ उमययाम अलङ्कार का निर्देश किया है ॥ ५८ ॥

अनेत्रि यन्प्रलदिवा दिवानिज श्रिय प्रियेमानुगमनीयकः ।

सहानुता तत्र पय पयोनिधौ वृशोदरि । क्रीड ययाननोरयम् ॥५९॥

औदरि—अनेत्रोति । हे वृशोदरि ! अनु मृदुद्रानां यत्र रमणीयत्वं यस्य
मौर्जितनीयो यः पयस्योतिनि त्यक्ता ह्यै येन तेन श्रिय प्रियेय लक्ष्मी-
पत्निका शिवा च निशा च दिवानिजमहोरात्रभोरियम् । इन्द्रैकवद्भावे
अप्यन्तस्यने द्वितीया । अनेत्रि नेत्रिव । तत्र पयस्योनिधौ धीरावधौ अनुता
वदधेन सह ययाननोरय यत्रैव क्रीड, लक्ष्मीनारायणवदिति भावः ॥ ५९ ॥

अन्वय—वृशोदरि, अनुगमनीयक व त्यक्त्वा श्रियः प्रियेय दिवा-
निजम् अनेत्रि, तत्र पयस्योनिधौ अनुता सह ययाननोरय क्रीड ।

हिन्दी—इ तनुमय (दमयन्ति), नात्यन्वयनीन (अप्यन्त मनाग्ण)
जिनका स्वगत्यागी लक्ष्मीवल्लभ (विष्णु) ने शिरसा सेवन किया, उन
श्रीरमार में इस (वरुण) के साथ अनिल्लयानुसार खेल करे ।

टिप्पणी—वरुण वरुण का एक और औचित्य । उसने विवाह कर श्रीर-
मार में यत्रैव विहार का अर्थ प्राप्त होगा । यह बात मान है, क्योंकि
श्रीरमार स्वर्ग में भी रमणीय है । इसका प्रमाण यह है कि स्वयम् लक्ष्मी के
सिद्धि विष्णु ने लक्ष्मी के साथ वही विहार किया । यदि श्रीरमार-विहार

जीवातु—तत' विमत आह—तदिति । तत्तस्मात् औन्सुक्यादद्य विधम्य मे मम दयालुरेधि भव, अद्यास्मद्गोहे निवासेन मामनुग्रहाणेत्पर्यं । अस्तेनोदिमिपि 'दृशत्स्यो हेधि', 'ध्वसोरेद्धावन्मासतोपरचे'त्येकार' । तनिवातस्य फलमाह—भवत विलोकत इति नवद्विलोकिनी सती दिन निनीषामि, त्वद्विलोकनेन दिन नेतुमिच्छामीत्यर्थं । महर्शनात् कथ ते कालयापनमित्याशङ्क्याह—न मत्प्रियो नल' पञ्जिणा दूतहृतेन नखैर्विलिख्य तथैव रूपेणाकारेण सम' सदा आख्यायि किल, आत्पात खलु । ख्यात कर्मणि लुङ् । विषी युगागम' । अतस्त्वहर्शनात् दिन नेष्यामि । सदृशदशनादिना कालविनोदन साधनत्वाद्धियोगिनामिति प्रागेवोक्तमनुसन्धेयम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—तत् अद्य विधम्य मे दयालु' एधि, नवद्विलोकिनी दिन निनीषामि, पञ्जिणा नखै' विलिख्य स' मत्प्रिय' तथा एव रूपेण सम' आख्यायि किल ।

हिन्दी—सो आज विधाम करके मुझ पर दयालु हो जाइए, आप (समुख स्थित नल) को देखती दिन व्यतीत करना चाहती हूँ, (कारण कि) पक्षी हंस ने नखों द्वारा अकित करके वह मेरा (दमयन्ती का) प्रिय (नल) बंसा ही आकार मे (आपके) सदृश ही बताया था ।

टिप्पणी—सखी बताया कि नल अब ऐसी बातें न करे, जो दमयन्ती का व्यथित करती हैं । यह उनकी बड़ी दया होगी । दमयन्ती की इच्छा यह है कि समुख उपस्थित नल (नल) को देख-देख कर ही यह पहाड़-सा दिन व्यतीत कर लें । दमयन्ती जान गयी है कि दून नल ही हैं, क्योंकि स्वर्णहंस ने नखों से जो चित्र बनाया था, वह पूर्णतया ऐसा ही था । विद्याधर के अनुन्तार उपमा और काव्यलिंग ॥ ६६ ॥

दृशोद्धयो ते विधिनास्ति वञ्चिता मुखेन्दुलक्ष्मी तव यत्र वीक्षते ।

अनावपि श्वस्तदिमा नलानने विलोक्य माफन्त्यमुपेतु जन्मन ॥६७॥

जीवातु—अद्येह विधामे न केवल ममैव साफल्य किन्तु तवापीत्याह—दृशोरिति । सोम्य 'विधिना सदा ते दृशोद्धयी वञ्चितास्ति विजलीकृता पतने । यद् यस्मात् एव मुखेन्दुलक्ष्मी न वीक्षते स्वमुखस्य स्वच्छुपा इष्टुम-नायत्वादिति भाव । तत्तस्मादसी ते दृग्गम्यपि श्व परेऽहनि इमां त्वमुख-

लक्ष्मीं नलानने विलोक्य उन्नयतिष्ठत्वात् समानधर्मन्पेति भावः । जन्मत
साफल्यमुपैतु । अत्र दूते सुरबुद्ध्या दूतनलमुखलक्ष्म्योन्नेदेष्यभेदोक्तेरतिश-
योक्तिभेदः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—विपिना ते दृशो द्वयी बन्धिता अन्ति यत् तव मुखेन्दुलक्ष्मीं न
दोषते, तत् श्रावसौ अपि इमा नलानने विलोक्य जन्मसाफल्यम् उपैतु ।

हिन्दी— बिधाता ने तेरे (दूत के) नेत्र युगल को विफलना दी है, क्योंकि
वह (नेत्रयुगल) तुम्हारे मुखचंद्र की शोभा को नहीं देख पा रहा है, सो कल
यह (नेत्र युगल) भी इस (शोभा) को नल के मुख में देखकर जन्म की
सफलता को प्राप्त करे ।

टिप्पणी—दमयन्ती के आकृष्ट होने का कारण नल की असामान्य रूपश्री
है । मन्त्री ने बताया कि अब तक उन्नमित व्यक्ति के नेत्र विफल हैं, योद्धा
प्रतीक्षा बल तक कर लें, बल स्वयंवर में जब नल की उस मुखचंद्रश्री को
देखेंगे, तब सफल होंगे । भाव यह कि नल को देखकर ही इस उत्कृष्ट
आकर्षण का कारण जाना जा सकेगा । तात्पर्य यह है कि उन्नमित व्यक्ति
नल है, उसके नेत्रों ने तो स्वयम् उसका रूप देखा न होगा, क्योंकि स्वयम्
अपने नेत्रों से अपने को नहीं देखा जा सकता । यहाँ यह भी स्पष्ट
कर दिया कि अब यह अप्रकट नहीं रह गया है कि दूत नल ही है । विद्याधर
ने हेत्वविशयोक्ति का निर्देश किया है और मन्त्रिणाप ने अभेद कथन रूपा
अतिलयोक्ति का, क्योंकि दूत में सुरबुद्धि के कारण दूत और नल की मुख-
लक्ष्मी में भेद है ॥ ६७ ॥

ममैव पाणोकरणेऽग्निसाक्षिक प्रसङ्गसम्पादितमङ्ग । सङ्गतम् ।

न हा । सहाधोतिघृन स्पृहा कथ तवार्यपुत्रीयमजयमर्जितुम् ॥६८॥

जीवानु—ममैवेति । किञ्च अङ्ग । मो । मम पाणोकरणे पाणिप्रहण
एव 'नित्य हस्ते पाणावृत्तयमने' इति पाणौ शब्दस्य गतित्वात् 'कुगतिस्रादय'
इति समासः । अग्निसाक्षिक मया तथा त्रिवाहाग्निमन्त्रिणावेवेत्यर्थः । प्रसंगात्
स्वयंवरप्रसंगात् सम्पादित सगनमुन्मयोराधुष्पाद्युक्तम् । आर्ययो श्वशुरयो
पुत्र आर्यपुत्रो भवति नल तदीयमार्यपुत्रीयः, 'बुद्धाच्छ' न जीर्यदीत्यजय सगन
राममुषीवयोरीद स्थिरसन्धमित्यर्थः । 'जयय सगत्'मिति यत्प्रत्ययान्तो,

निपात । अर्जितु सम्पादयितु सहाधीति सन्नहाचारिता वा धारयतीति धृष्ट
सारूप्यभृदित्यर्थं । घृघातो विवप् । तस्य तव स्पृहा कथ नास्ति । हेति
विपादे । सर्वथा स्पृहणीया तत्सगतिरित्यर्थं ॥ ६८ ॥

अन्वय.—अङ्ग, मम पाणौकरणे एव अग्निसाक्षिक प्रसङ्गसपादित सगतम्,
हा, सहाधीतिघृत तव आर्यपुत्रीयम् अजयम् अर्जयितु स्पृहा कथ न ?

हिन्दी—हे सौम्यदूत, मेरे (दमयन्ती के) विवाह समय मे ही अग्नि का
साक्षित्व अमगत सम्पन्न होकर (नल के साथ) सगत (दृष्ट मैत्री) हा
जायेगा, खेद है कि कुलशील रूप मे समान तुम्हारी (दूत की) आर्यपुत्र
(नल) की मैत्री पा लेने की आकांक्षा क्यों नहीं है ?

टिप्पणी—भाव यह है कि अग्नि आदि का दूतकार्य करने आया व्यक्ति
स्वयंवर समय उपस्थित रहने से नल की मैत्री—सगति भी पा जायेगा । वह
बुलशील रूप में नल के समान है, अतः उसके मन में नल-मैत्री की आकांक्षा
होनी ही चाहिए, क्योंकि 'समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।' खेद यही है कि ऐसी
इच्छा होने में उपस्थित व्यक्ति को सकोच क्यों है ? सकेत यह भी है कि एक-
एक दिशा के स्वामी इन्द्रादि की मैत्री प्राप्त करने के लिए जब ऐसा कार्य
उपस्थित व्यक्ति कर रहा है तो अष्टलोकपालाद्य राजा नल के लिए वह कार्य
क्यों नहीं करता ? एक दिशा के स्वामी की तुलना में आठ दिशाओं के स्वामी
की मैत्री अधिक काम्य होनी चाहिए । यह तात्पर्य भी है कि कल स्वयंवर
होते ही त्रिम अग्नि का दूतत्व उपस्थित व्यक्ति कर रहा है, उसी अग्नि की
साक्षी में दमयन्ती-नल का उचित सवध सम्पन्न हो जायगा, उपस्थित व्यक्ति
को भी रूप कुलशील में सम होने के कारण नल से मैत्री कर लेनी चाहिए ।
विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास ॥ ६८ ॥

दिगीश्वरार्यं न कथञ्चन त्वया कदर्थनीयास्मि वृत्तोऽप्यमञ्जलि ।

प्रसद्यता नाद्य निगाद्यमीदृश दधे दृशौ वाप्परयास्पदे भृशम् ॥६९॥

जीवातु—दिगीश्वरेति । विश्वाह त्वया दिगीश्वरार्यं कथञ्चनापि कदर्थ-
नीया निबन्धनीया नास्मि, अयमञ्जलि वृत्त प्रायये त्वामित्यर्थं । प्रसद्यतां
प्रमत्नेन भ्रूयता, मावे लोट् । अद्य ईत्स दिगीश्वरदेशरूप न निगाद्य न
वाच्यम्, 'शृङ्खलोग्यत्' 'गदमदे'त्यादिनानुपसगादेव यतो विधानात् । कि

बहुना—मृत वाष्पत्वात्सदे जश्रुवेवाश्रयो इशी दधे क्षरयामि रोदिनीत्यर्थ ।
नैव दुःखकर्तुमुचितमिति भाव ॥ ६९ ॥

अन्वय—वया दितीश्वरार्थे कथञ्चन न कथयन्तीया अस्मि, अयम् अल्लि
कृत, प्रसन्नताम्, अद्य ईदृश न निराद्यन् मृत वाष्पत्वात्सदे इशी दधे ।

हिन्दी—नुम (दूत) दिक्ष्वालो के निमित्त किसी प्रकार मुझ (दमयन्ती)
को पीड़ित मत करो, हाप जोड़ती हूँ, प्रसन्न होऊँ, आज ऐसा न बहो, मैं
अनभिष्ट आंशुओं के प्रवाह से पूर्ण नेत्र धारण किये हूँ ।

टिप्पणी—उषी ने कहा कि दूत, अब नुम दया करके ऐसी अप्रिय बातें
न करो, दमयन्ती हाप जोड़े, आंशु मरे विनय कर रही है । पाणिग्रहण की
मगलवेला में ऐसी रुझाने बाड़ी, अप्रिय, अशुभ बातें कहना किसी प्रकार
उचित नहीं है । शुभसमय में अशुभ कथन अच्छा नहीं होता । विद्याधर के
अनुसार ईश्वर भावीदेव जल्कार ॥ ६९ ॥

वृणे दिगीशानिति वा कया तथा त्वयीति नेचे ननुभानपीहना ।

नवीव्रतेऽनौ तृणयामि जीविन स्मरन्तु किं वस्तु नदन्तु भस्म य ॥७०॥

जीवानु—वृणे इति । किञ्च दिगीशान् वृणे इति वा कया, जन्तु-
सन्नावितमित्यर्थ । तथा हि—नन्व्य भा कान्तिमपि त्वन्निशानिति शेष ।
त्वयीति त्वयि परसुखे स्थिते इति हेतो तथेहया तादन्तुराणो नेचे । इह
त्वयि या ननुता ता नन्मानिति केचित् योदन्ति । नन्वेव भुवादधीरणे
वन्विरोध इत्यागङ्गुधाह—उतीव्रते पातिद्रव्ये एवानौ जीवित तृणयामि
तृणीकरोमि, जीवितामृतशपा पतिद्रव्याना न कृतश्चिद्रूपमिति भाव । स्मर-
न्तु तु दूरारास्त्रनिन्द्याह—स्मरन्तु तन्प्रसिद्ध किं वस्तुवस्तुक् पदार्थो नवेत् न
कोऽपीत्यर्थ । कृत य स्मरो भस्म भस्मीभूत व्रतं कजीविना भोग्ये तुच्छ किं
करिष्यतीत्यर्थ । चारित्र्यभरापणा सन्धो न किञ्चिद्गुणवन्तीति भाव ॥

अन्वय—दिगीशान् वृणे इति वा कया, ननु भाष् अयि त्वयि इति
ईदृश न ईशे, उतीव्रते अनौ जीवित तृणयामि, स्मर तु किं वस्तु, यः भस्म ।

हिन्दी—दिक्ष्वालो को बर्ष—इसको तो क्या (कृती) ही क्या, नरु
की आनावाही तुम को भी मैं बैठी दृष्टा (अनुराग) में नहीं देखती । उती-

व्रत-पालन में मैं आग में जीवन को तृण समान झोंक सकती हूँ, काम ('स्मर' अर्थात् स्मरणशेष-मृत) क्या पदार्थ है, जो भस्ममात्र है ।

टिप्पणी—सखी ने कहा कि दमयन्ती तो नल समान उपस्थित व्यक्ति के प्रति भी अनुराग दृष्टि नहीं रखती, दिव्यार्यों के वरण की तो बात ही बसभव है । पांडित्य की रक्षा में वह तृण-समान जीवन होम देगी, काम भय उसे नहीं है । काम तो स्वयं मृत है, भस्ममात्रावशेष । उससे जलने का तो कोई कारण ही नहीं है । जो आग में धुंसा सकता है, वह भस्म से क्या डरेगा ? विद्याधर के अनुसार स्पष्ट और ऐकानुप्रास ॥ ७० ॥

न्यवेदि रत्नत्रितये जिनेन य स धर्मचिन्तामणिरुज्जिता यया ।

कपालिकोपानलमस्मनः कृते तदेव भस्म स्वकुले स्मृतं तथा ॥७१॥

जोवानु—न्यवेद्योति । हे सौम्य । यो धर्मस्य चिन्तामणिर्जिनेन देवेन अर्हता रत्नत्रितये जैनपरिभाषया सदृष्टिज्ञानवृत्ताख्ये रत्नत्रये न्यवेदि निवेद्यित्त 'सदृष्टिज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदु रिति तैत्तिरिक्वात् । विशेष्यन्तात् कर्मणि लुङ् । स धमचिन्तामणि यया स्त्रिया कपालि हर तत्कोपानलमस्मनस्तद्रूपस्य कामस्य कृते, कृत इति तादर्थ्यव्ययम् । उज्जितस्त्यक्त तथा स्त्रिया तदेव भस्म स्वकुले स्मृतं विस्तृतम् । कामाख्यनस्मान्यतया चरित्रत्यागिणा स्त्रिया स्वकुलमेव भस्मयात् कृतं भवेदित्यर्थः । अतो नलैकव्रताया ममाग्रे महन्द्रादिनामग्रहणमपि न कायमिति भावः ॥ ७१ ॥

अन्वय — जिनेन रत्नत्रितय य धर्मचिन्तामणि न्यवेदि, स यया कपालिकोपानलमस्मनः कृते उज्जित, तथा तत् एव भस्म स्वकुले स्मृतम् ।

हिन्दी—जिन (अर्हत्) ने तीन रत्ना (सदृष्टि, मनु-ज्ञान, सद्वृत्ति) में जिस धर्म स्वर चिन्तामणि का निवेद्य किया है, उसे जिस (स्त्री) ने कपालधारण करने वाले (शिव) के क्रापाग्नि की भस्म (काम) के निमित्त छाड़ दिया, उस (स्त्री) ने वही भस्म अपने कुल पर डाल दी ।

टिप्पणी—जिस प्रकार कोई नारी श्रेष्ठ चिन्तामणि (विष्णु के वन स्थल पर स्थितमणि) की एक सामान्य मृण्डवारी के हर से छोटकर भस्म का प्रथम दे, वह निदनीय होती है, उसी प्रकार वह नारी भी कुलकलिकी है जो कामरूप शिवकोपाग्नि की भस्म के लिए चिन्तामणि तुल्य मनुज

अर्थात् सञ्चारित्र का त्याग कर देती है। ओई उन्नादी ही राख के लिए मणि का त्याग करता है। यह एक प्रकार में उग्वरु वश पर ही मन्म फँक कर उसे कलकित करना है। दमयन्ती मदननीति में चिन्तामणि तुल्य पावित्र्य का त्याग नहीं कर सकती। 'कपालिकोपानमन्म' का अर्थ काम तो है ही, साथ ही 'कपाली' का प्रयोग अकिंचन भिक्षु का मकेत देता है। एक अकिंचन की मन्म के लिए रत्नराग महामूर्खता ही है। नारायण पण्डित ने 'जिन' का अर्थ बुद्ध किया है। मानाग्यत 'बुद्ध' और 'जिन' दो धर्मसंस्थारक हैं, जिनके धर्म क्रमशः बौद्धधर्म और जैनधर्म कहते हैं। बौद्धधर्म के अनुसार 'रत्नत्रितय' अर्थात् 'त्रिरत्न' हैं—(१) बुद्ध (२) धर्म और (३) सद्यः। सद्बुद्धि, सत् ज्ञान और सद्बुद्धि जैनपरिभाषा के अनुसार रत्नत्रितय हैं। श्लोक का नाश यह है नृकतिष्ठा दमयन्ती दिक्पालों को थोड़ा भी प्रसन्न न देगी। विद्याधर के अनुसार अनुग्राम ॥ ७१ ॥

निपीय पीयूषमौर्गमोरमी गिरः स्वकन्दपट्टनाशनाट्टनी ।

कृतान्तदूत न तथा यथोदिनं कृतान्तमेव स्वममन्वनादयम् ॥ ७२ ॥

जीवानु—निपीयेति । अमी नरु पीयूषरमस्यामृतरमस्य उरमा निर्मिता औरमी आमजा सुखीरिययं । 'उरमोऽन्' चे'त्यग्रन्त्य । मजाविकाराद-
मिषेयनियम उति काशिका । स्वकन्दपट्टनाशनस्य निजकामाग्रेराट्टीरट्टीप-
नीतिरो मैनीवाक्यानि निपीय स्वनात्मान तथा मैस्या यथोदिन यथोक्त
तदनतिक्रमनेत्यर्थं । 'यथासादृश्ये' इत्यव्ययीभावः । कृतान्तदूत नाम यत
किन्त्वदय निर्देय यथा तथा स्व कृतान्तमेवामन्वत । दूतधर्मत्वात् निर्दोषिण्य
वशपानीत्यन्वयेत्यर्थं ॥ ७२ ॥

जवन्य—असौ पीयूषरमोरमीः स्वकन्दपट्टनाशनाट्टनीः गिरः निपीय स्व
तथा यथा उदित कृतान्तदूत न अदय कृतान्तम् एव जमन्वत ।

हिन्दी—इस (नरु) ने अमृतरम की पुत्रियों और अपने काम रूप अग्नि
की आहुतिप्राग्ण (दमयन्ती) की वाणी का पान कर (मयुर और उट्टीस
करने वाले घचन मुनकर) अपने ओ (नरु को) उस (दमयन्ती) के
कदन के अनुसार उमरात्र का दूत नहीं, दयाहीन यम ही माना ।

स्वविग्रहेषु आहवनीयादिषु स्वयमेव हृत स्वाश स्वदेवताक हवियेन स सावं कामिक सर्वकामिक सर्वकामप्रयोजनक, 'प्रयोजनमि'ति ठक् । ऋतु विघत्ते यदि तदा स वैदिको वेदावगतो विधिरनुष्ठान कथ तु मिथ्यास्तु निष्फल स्यात् । अत्र स्वशब्दत्रयेण क्रमादग्नेरेव कर्तृदेवताहवनीयादिरूपताप्रतिपादनात् कर्मणि प्रमादानवकाश सूचित । तस्माद्देवप्रामाण्यादनलसादसीति सिद्धमिति भाव ॥ ७५ ॥

अन्वय —सिखी त्वदवाप्तिकामना विनाय स्वमूर्तिषु स्वय हृतस्वाशहवि यदि सावंकामिक ऋतु विघत्ते, स वैदिकः विधि कथ मिथ्या अस्तु ?

हिन्दी—अग्नि तुम (दमयन्ती) को प्राप्त करने की कामना करके अपनी मूर्तियों (आहवनीय स्वावयवों) में स्वय ही अपनी अशमृत हवि होम कर यदि समस्त कामना पूर्ण करने वाला यज्ञ करे, तो वह वेद विहित विधि कैसे झूठी पड़ेगी ?

टिप्पणी—अग्नि क तीन श्रोत रूप माने गये हैं—दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि और आहवनीयाग्नि । ये अग्नि की मूर्तियाँ हैं । 'सावंकामिक यज्ञ' में अपना अश प्राप्त कर अग्नि यज्ञमान को अमीष्ट फल देता है । यह वेदोक्त विधि है, जिसको अप्रमाणित नहीं किया जा सकता । नल दमयन्ती के समुत्स ठक् रलता है कि यदि स्वयम् अग्नि ही यज्ञमान, देव और आहवनीय होकर दमयन्ती के निमित्त सावंकामिक यज्ञ करेगा तो उसे प्राप्त कर लेगा, उसे कोई रोक नहीं सकेगा । अच्छा है कि दमयन्ती अग्नि का वरण स्वेच्छया कर ले । जो दूमरे को देता है, वह स्वय यज्ञ फल और सरलता से प्राप्त कर लेगा । विद्याधर के अनुसार काव्यलिङ्ग ॥ ७५ ॥

सदा तदाशामधितिष्ठन कर वर प्रदानु बलितादूलादपि ।

मुनेरगमत्याद् वृणुते स धर्मराड् यदित्वदासि भणका तदा गति' ॥७६॥

जीवातु—सदेति । स धर्मराड् सदा सर्वदा तस्य धर्मराजस्याश द्विशम्, दक्षिणामधितिष्ठतोऽधिवसत । अत एव बलादपि वरमेव कर बलि प्रदातु बलितात् प्रवृत्तादगस्त्यामुनेस्त्वदासि त्वत्प्राप्ति वृणुते यदि, तदा का गति ? भण । वाक्यार्थं कर्म ॥ ७६ ॥

अन्वय —सः धर्मराट् यदि सदा तदाशाम् जयित्विष्टत बलात् अपि वर करं प्रदातुं दक्षिताद् मुने श्रान्त्यान् त्वदासि वृत्ते, नन्—तदा का गति ?

हिन्दी—वह धर्मराज (यम) यदि सदा उसकी दिशा (दक्षिण दिशा) में वास करते बलपूर्वक (नारायण के अनुसार 'स्वेच्छया') भी वर (दमयन्ती-प्राप्ति) कर (राज नाय) देने को प्रवृत्त मुनि अगस्त्य से तेरी (दमयन्ती की) प्राप्ति माँगा है, वता, सब क्या गति (परिणाम) होगी ?

टिप्पणी—धर्मराज के हाथों पड़ने में भी दमयन्ती विषय है, क्योंकि यम की दक्षिण दिशा में मुनि अगस्त्य वास करते हैं। इस दृष्टि से यम के प्रदेश में रहने के कारण मुनि राजदाय कर अवश्य देते होंगे। यदि उस कर के रूप में यम ने दमयन्ती को माँगा तो मुनि जगस्त्य वह वर-कर देगे ही। और अगस्त्य को रोकनेवाला कोई है नहीं, अतः दमयन्ती को धर्मराज की पत्नी बनना ही होगा। इस आधार पर नल का तर्क समस्त मत मही है कि दमयन्ती स्वेच्छया यम वरण कर ले। विद्याधर के अनुसार रूपक अलंकार ॥ ५६ ॥

ऋतो कृते जाप्रति वेत्ति क कति प्रभोरथा वेश्मनि कामधेनवः ।

त्वदयमेकामपि याचते स चेत् प्रचेतन पाणिगता एव वर्तते ॥७७॥

जीवानु—ऋतोरिति । किञ्च ऋतो कृते ऋत्वयमेव प्रभो वरुणस्य वेश्मनि कति कामधेनवो जाप्रति वर्तन्ते को वेत्ति असह्ययाका सन्धीग्ययं । स वरुणस्त्वदयं त्वच्छिद्रयं तत्रैकामपि या याचते चेत्, दमयन्तीं देहीति प्राप्यते चेत् तर्हि प्रचेतमो वरुणस्य पाणिगता एव वर्तते । तदा कस्त्वा मोष-पिप्यतीति भाव ॥ ७७ ॥

अन्वय —अग प्रभो वेश्मनि ऋतो कृते कति कामधेनव जाप्रति—क वेत्ति ? ग त्वदयम् एकाम् अपि याचते चेत् प्रचेतसः पाणिगता एव वर्तते ।

हिन्दी—वरुण के स्वामी (वरुण) के गृह में यज्ञ के निमित्त कितनी कामधेनुरें हैं—कौन जानता है ? वह (वरुण) तेरे निमित्त यदि एक (कामधेनु) में भी याचना करे तो तू प्रचेता (वरुण) के हाथों में ही होगी ।

टिप्पणी—यज्ञ निमित्त जावाय में स्थित अनेक कामधेनुओं में से एक से भी वरुण ने दमयन्ती के निमित्त याचना की तो उसे वरुण का पाणिग्रहण करना ही होगा, क्योंकि कामधेनु का दिना वर अनोष है। कोई नहीं रोक

सकेगा उस स्थिति में वरुण फर गता होने में दमयन्ती को । अच्छा है, वह स्वयं ही वरुण को स्वीकार ले । इस प्रकार एक एक श्लोक में नल ने एक एक दिक्पाल की शक्ति का वर्णन कर यह सिद्ध कर दिया कि दमयन्ती को ये सब बलात् ले सकते हैं । उससे पूर्व को ऐसी स्थिति उत्पन्न हो, उचित यही है कि दमयन्ती इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण में से किसी एक का स्वेच्छया वरण कर ले । दूसरा कोई उपाय नहीं है । विचार के अनुसार उल्लेख्य अलंकार अनुप्रास ॥७७॥

न सन्निधात्री यदि विघ्नसिद्धये पतिव्रता पत्युरनिच्छया शची ।

स एव राजब्रजवैशसात् कुतः परस्परस्पर्द्धिवरः स्वयवरः ॥७८॥

जीवातु—नेति । किञ्च पतिव्रता शची पत्युरिन्द्रस्यानिच्छया असम्मत्या कारणेन विघ्नसिद्धये स्वयवरविधातार्थं सन्निहिता न यदि=न स्यात् चेत् । विघ्नसति हिनस्तीति विशसो हिसव, पचाद्यच् । तस्य वमं वैशस, मुवादि त्वादण् प्रत्यय । राजब्रजस्य राजन्यकस्य वैशसाग्नियो विरोधाद्धेतो परस्पर-स्पर्धिनोऽन्योन्यसङ्घर्षिणो बरा बोडारो यस्मिन् स तथोक्त स्वयवर एव कुत कुतस्तरा नलवरणमिति भाव । स्वयवरे शचीसन्निधानादविघ्नसिद्धिरिति शास्त्रम् । तथा च रघुवसे—‘सान्निध्ययोगात् निल तत्र शच्या स्वयवरक्षोभ-कृतामभाव’ इति ॥ ७८ ॥

अन्वय—पतिव्रता शची पत्यु अनिच्छया विघ्नसिद्धये न सन्निधात्री, राजब्रजवैशसात् परस्परस्पर्द्धिवर स स्वयवर एव कुतः ?

हिन्दी—पतिव्रता शची (इन्द्राणी) पति की अनिच्छा से यदि विघ्न उपस्थित करने के लिए (स्वयवर में उपस्थित होने को) उद्यत न हो तो राजाओं की बलह जनित हिंसा के कारण अन्योन्य की स्पर्धा करते वरों से युक्त वह स्वयवर ही कहाँ होगा ?

टिप्पणी—(७४-७७) चार श्लोकों में भेदनीति का प्रयोग कर नल इस श्लोक में दण्डनीति का मय दिखाता है । यह माना जाता है कि स्वयवर में शची की उपस्थिति से विघ्न घाति होती है । इन्द्र का दमयन्ती द्वारा अनादर हुआ है, यह जान कर शची यदि स्वयवर में उपस्थित हो न होगी तो विघ्न पड़ेगा । स्वयवर में एका राजा परस्पर स्पर्धा में लड़ मरेंगे । हत्या-मारकाट-ध्वंस हो जायेगा । दमयन्ती को स्वयं धरने का अवसर ही न मिलेगा ।

स्वयं ही न नकेगा, नन् का स्वच्छया वरण तो दूर की बात है जैसा कि ६१-६६ श्लोकों में इच्छा प्रकट हुई है। विवाह में गौरी और स्वयंवर में शची का सान्निध्य प्रार्थना परम्परा है। कालिदास ने 'रघुवज' (७३) में लिखा है कि शची के सान्निध्य से स्वयंवर क्षीमकान्तियों का वहाँ अभाव रहा। विद्याधर के अनुसार उक्तानुप्रास और हेतु कलकार ॥ ७८ ॥

निजस्य वृत्तान्तमजानता मियो मूत्रस्य रोपात् पर्याणि जल्पन् ।

मूत्र किमच्छत्रकदण्डताण्डव भुजामुजि क्षोणिमुजा दिदृक्षसे ॥७९॥

जौवानु—निजस्वेति । मियो रोपात् पर्याणि जल्पन्तो निजस्य मूत्रस्य वदनस्य वृत्तान्तमजानता रोपाध्यात् स्वोक्तमप्यविजानता क्षोणिमुजा सम्बन्धि अच्छत्रका क्षामुननङ्गेनापनीतच्छत्रा ये दण्डास्तोपा ताण्डव तरेव मूत्र मूत्र दण्डादङ्गीन्दर्य । तथा तेषामपि भङ्गं मुजान्या मुजान्या प्रवृत्त मुद्र मुजामुजि मुद्र च तन्ममानार्यन्वात् च-श्रयाप्रयोग 'तत्र तेनेदमिति सस्ये' इति बहु-व्रीहात्रिभु कर्मव्यतिहारे इतीन्द्र-प्रथम । तिष्ठद्गुणाशादध्यशीभावसुजा । दिदृक्षसे द्रष्टुमिच्छसि 'ज्ञाशुस्त्वृष्टा सत' इत्या मनेपदम् ॥ ७९ ॥

अन्वय — कि रोपात् मियो पर्याणि जल्पन्तः निजस्य मूत्रस्य वृत्तान्तम् अजानता क्षोणिमुजाम् अच्छत्रकदण्डताण्डव मुजामुजि मूत्र दिदृक्षसे ?

हिन्दी—जरा क्रोध से परस्पर कठोर वाक्य कहते, अपने मुँहों से क्या कहा जा रहा है—यह न जानते पृथ्वीराजों (राजारों) का शत्रु के शत्रु के ताड़न से परिपूर्ण बाहुमुद्र देखने की इच्छा कर रही हो ?

टिप्पणी—शची के न जाने से ऐसा विपन्न और कलह उपस्थित होगा कि स्वयंवर सम्पन्न न रह कर मुद्र भूमि धन आनेगा, जिसमें राजागण क्रोध में गालियाँ बकते, टूटे शत्रु के शत्रुओं से और मुजाराजों से परस्पर लड़ मरेंगे। उस स्थिति में नल को बरने का अवसर ही न मिलेगा। नल ने दमयन्ती के अनुसूच सिद्ध कर दिया कि क्या वह ऐसा चाहती है ? क्या वह राजागण का मुद्र देखने की इच्छुक है, स्वयंवर की नहीं ? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य कलकार उक्तानुप्रास ॥ ७९ ॥

जनार्यपन् मासिकपून्वृत्तिभ्रम ज्वलेद्रुपा चेद्वपुषा तु नानल ।

अल नन् कनुमनग्निनाशिको विधि विवाहे तव सारसाक्षि ! किम् ॥८०॥

जोवातु-अपार्थयन्निति । हे सारसाक्षि ! सरोरहाक्षि ! 'सारस सरमीरुहम्' इत्यमर । तव विवाहे अनलोऽग्निं याज्ञिकस्य फूत्कृतिथ्रम याजकफूत्कृतिथ्रम सनिघनप्रयासमपार्थयन् व्यर्थयन् रुपा रोपेणैव ज्वलेत् वपुषा स्वरूपेण तु न ज्वलेच्चेत् तदा नल अग्न्यभावाद्ग्निसाक्षिको न भवतीत्यनग्निसाक्षिकस्त क विधिमनुष्ठान कर्तुमल शक्यत न कञ्चिदित्यर्थं ॥ ८० ॥

अन्वय — याज्ञिकफूत्कृतिथ्रमम् अपार्थयन् अनल चेत् रुपा ज्वलेत् वपुषा तु न, हे सारसाक्षि, अनग्निसाक्षिक नल क विधि कर्तुम् अलम् ?

हिन्दी—यज्ञकर्त्ताओ के फूंक मार कर प्रज्वलित करने के परिश्रम को व्यर्थ करता अग्नि यदि रोप से जलने लगे, शरीर से नहीं तो हे कमलनयने, अग्नि की साक्षी से रहित नल किस विधि के सपादन मे समर्थ होगा ?

टिप्पणी—पूर्वश्लोक मे इन्द्र के क्रुद्ध होने से समाहित दण्ड का रूप उपस्थित कर नल यहाँ अग्नि के क्रुद्ध होने पर समाहित दण्ड का मय उपस्थित कर रहा है । 'विवाह अग्निसाक्षिक'—विवाह अग्नि की साक्षी में होता है, घूम की साक्षी मे नहीं । यदि अनाहत अग्निदेव क्रोध मे जलकर ज्वाला रूप मे प्रकट हों ही नहीं तो होमादि विधि ही ही नहीं सकेगी, बेचारा नल विवाह मे किस रीति का आश्रय लेगा ? अग्नि के क्रुद्ध होने पर विवाह-विधि ही न हो सकेगी । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और उपमालकार ॥ ८० ॥

पतिवराया कुलज वरस्य वा यमं कमप्याचरितातिथिं यदि ।
कथं न गन्ता विफलीभविष्णुता स्वयवर साध्वि । समृद्धिमानपि ॥ ८१ ॥
जोवातु-पतिवराया इति । किञ्च यमोऽन्तक पतिं दूणीत इति पतिवरा वधू । 'मज्ञाया भृतुवृ' इत्यादिना खच् 'अरुद्विपदजन्तस्य मुम्' । तस्या वरस्य वीदुर्वा कुलज कमपि । जनमतिथिमम्यागतमाचरिता यदि मारयिष्यति चेदित्यर्थं । 'अनद्यतने सुट्' । हे साध्वि ! समृद्धिमान् सर्वसाधनसम्पन्नोऽपि स्वयं त्रियते अस्मिन्निति स्वयवर स्वयवरकर्म । 'ग्रहवदुनिश्चिगमरचे'त्यप्रत्यय । विफलीभविष्णुता 'भुवश्च' इति इष्णुप्रत्यय । कथं न गन्ता, गमिष्यत्येवेत्यर्थं । गमेलुट् । दूषा नलैवासविनहतासीति भावः ॥ ८१ ॥

अन्वय — यदि यम पतिवराया वरस्य वा कम् अपि कुलजम् अतिथिम् आचरिता साध्वि, समृद्धिमान् अपि स्वयवर कथं विफलीभविष्णुता न गन्ता ?

हिन्दी—यदि यम पति का वरण करनेवाली (कुल्हिन-दमयन्ती) अथवा वर (द्रुहानल) के कुल (वध) के किसी व्यक्ति को (अपना) अतिथि बना लेंगे (भार देंगे) तो हे पतिव्रत, समृद्धिपूर्णा (सपत्न) भी स्वयंवर क्यों निष्फल न हो जायेगा ?

टिप्पणी—यम मृत्यु के स्वामी हैं, उनके अनादर का फल दमयन्ती का यह प्राप्त हो सकता है कि स्वयंवर होने-होने नल अथवा दमयन्ती का कोई पारिवारिक जन यम की इच्छा से मृत्यु को प्राप्त हो जाय। ऐसी स्थिति में स्वयंवर निष्फल रह जायेगा। अत उचित है कि दमयन्ती यम का ही वरण करे। क्यों किसी आत्मीय की मृत्यु चाहती है। विद्याधर के अनुसार हेतु अलङ्कार ॥ ८१ ॥

अथा पतिः स्वामिनया परः सुर स ता निपेयेद्यदि नैपयकृष्या ।

नलाय लोभायतपाणयेऽपि नत् पिता क्य त्वा वद मप्रदान्यते ॥८२॥

जोवातु—अपामिति । हे सात्त्विक ! अथा पति स प्रसिद्ध परः सुर स्वामिनया अप्यतित्वान्नैपये नले ऋषा क्रोशेन ता असो निपेयेत् प्रतिवञ्जीयात् यदि तत्तद्दि लोभेन जायतपाणये प्रचारितहस्तायापि लौब्धाञ्जल विना विष्टसतेऽपीत्यर्थ । नलाय पिता मीनस्त्वा क्य सम्प्रदास्त्वे न क्यञ्चिदित्यर्थ । वद । वाक्यार्थं कर्म ॥ ८२ ॥

अन्वय—स पर (स्वामिनया—अनर विच्छेद में अपर) सुर अपा पति। स्वामिनया यदि नैपयकृष्या ता निपेयेत् तत् वद, लोभायतपाणये (लोभात् तत्पाणये) अपि नलाय पिता (तै पिता) त्वा क्य सम्प्रदास्यते ।

हिन्दी—वह अप देव जब स्वामी (वध) स्वामी होने के कारण (अधिकारी होने से) यदि निपयराज (नर) पर क्रोध होने से उन (वल) का निपेय कर दे तो बोलो, लोभ से हाथ फैलाये भी नल को तुम्हारे पिता तुम (दमयन्ती) को कैसे दोगे ?

टिप्पणी—अनादर से क्रुद्ध हो जत्र के अधिकारी वरुण जब को रोक सकते हैं। तत्र मीनराज नल को अपनी कृपा का दान ही कैसे कर सकेंगे, क्योंकि बिना जन् के कृपादान तो शास्त्रसमज होता नहीं। अत्र उचित है कि वरुण का अनादर न करके दमयन्ती उसका ही वरण कर ले। नारायण ने एक शका

उज्जयी है कि उस के जनाव में गाभवादि विवाहों का स्मृति में निर्देश नहीं है, उन स्थिति में दम्पती-नरु का गाभवं विवाह ही मुकता था, फिर यह जागजा व्यर्थ हो जाती है। समाधान में उन्होंने बताया है कि न ने ऐसा दम्पती को बचकर में वाचने के लिए—दराने के लिए ही कह दिया—
‘गाभवादिविवाहेषु’ समाधाने ऋतुर्वन्वे स्मृत्या निषिद्धं स्थिति नैमी प्रसार-
पायमेवमुक्तम् ।’ विद्यापर के अनुसार अनुप्रास और कारुणिक ॥ ८२ ॥

इदं महत्तेजमिहितं हित् मया विहाय मोहं दमयन्ति । चिन्तय ।

सुरेषु विनैकपरेषु नो नरः कर्मण्यमप्यसंवाप्तुमीश्वर ॥ ८३ ॥

जोवातु—सम्प्रति हिद्वार्यप्रह्वारिकामाह—दरमिति । हे दमयन्ति !

मया इदं महद्विषयं ते नरं तुभ्यं वानिहितं, मोहं नोत्पन्नं विहाय चिन्तय विमुक्त ।
नया हि—सुरेषु विघ्न एवैक पर प्रमाण देना तेषु विघ्नतत्त्वेषु मनु को नरु
कर्मण्यमप्यसंवाप्तुमीश्वरः शक्य, त कोजीतरपान्तरभाव । तस्मादल
दुरतेन बन्धितोर्ननेति नाव ॥ ८३ ॥

दम्पत्य—दमयन्ति, मया इयं ते महत् हितम् अनिहितम्, मोहं विहाय
चिन्तय, सुरेषु विनैकपरेषु कर्मण्यम् अति अर्थे क नरु. अवाप्तुम् ईश्वर ?

हिन्दी—हे दमयन्ति, मैंने (न ने) यह ठीरे बड़े हित की बात कही है,
मोह को छोड़कर विचार ! दोनों के एकाग्रत विघ्नकारी हो जाने पर हाथ में
आयी नौ बन्धु की कोन मनुष्य प्राप्त करने में समर्थ है ? (कोई नहीं) ।

टिप्पणी—न ने उपर्युक्त प्रकार से दम्पती का प्रयोग करत हुए
दम्पती का सम्पत्ता कि देवों के विरुद्ध हो जाने पर वह नरु का बरा
नहीं कर सकती । दो (७८, ७९) इत्यादि में इन्द्र के, एक (८०) में अग्नि
के, एक (८१) में धम के और एक (८२) में बरा के इन्द्र का भय
व्यक्ति करके निष्कर्ष रूप में दम्पती को समझि दी गयी कि न को पाता
सम्भव नहीं है, अत उचित है कि इन्द्रादि में से किसी का बरुन दम्पती
कर है । इसी में कथ्याप्त है । विद्यापर के अनुसार उक्तानुप्रास और अर्थांतर-
भाव प्रकार ॥ ८३ ॥

इमा तिरस्मस्य विविन्स्य चेतना तथेति सम्प्रत्ययनामनाद मा ।

निशाग्निदानद्रव्योर्गन्तरे मनोनभस्यवस्त्वन्मयद् दृष्टो ॥ ८४ ॥

जीवानु—इना इति । सा दमयन्ती इनास्तस्य इतस्य गिरचेतसा विचित्र्य पर्यालोच्य तथेति सम्प्रत्यय विश्वामनामनात् । अय निवारितावग्रहो निष्प्रतिबन्धो नीरनिज्ञे यमोन्ते दृशौ लोचने नमोनमस्यन्व थावणमाद्र-पदत्वम् । 'नमा थावणिकश्च स, स्युर्नमस्यग्रीष्ठमनाद्रपदा समा' इत्यमरः । अन्ममदत् प्रापयदित्युपमातिशयोक्तिः । तत्र लभे प्राप्पयन्त्रैरपि तदुपसर्जन-मन्थयंत्रिज्ञाया 'गतिबुद्धी'त्यादिना जनिवतुं कर्मत्व, गतपुनर्जनेनप्रापययत्वे तु कर्मत्व नास्त्येव । यथा भाषे 'सित सिनिभने'त्यत्र यदाह वानन --'लभेर्ग-त्यर्थत्वात्त्रिच्यर्था कर्तुं कर्मत्वावकर्मत्वे' इति । लभेदथेति नुमागम ॥ ८४ ॥

अन्वय — तस्य इनाः गिरः चेतसा विचित्र्य सा तथा इति सम्प्रत्ययम् आससात्, निवारितावग्रहनीरनिज्ञेरे दृशौ नमोनमस्यन्ववम् जलम्भयत् ।

हिन्दी—उन (नल) के उपसृक्त (७४-८२) वचनों का मन में विचार करके उसे (दमयन्ती को) बैसा ही विश्वास हो गया और जितने जल-हरने का प्रतिबन्ध हट गया है, ऐसे दोनों (दमयन्ती के) नयन 'सावन-नादी' बन गये ।

टिप्पणी—नल के साम-दाम-दण्ड भेद की नीति से पुष्ट वचन सुनकर दमयन्ती की समय में आ गया कि सबमुच देवों की दृष्टा के विरुद्ध वह नल को नहीं पा सकती । इससे उसे इतना क्षोभ और दुःख हुआ कि उसने नेत्रों से धारा प्रवाह अश्रु-वर्षा होने लगी, ऐसी कि जैसे सावन-नादी मास में आकाश से अबल वर्षा होती है । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ ८४ ॥

स्फुटोत्पन्नाभ्यामलिदम्पतीव तद्विलोचनाभ्या कुचकुड्मलाभ्या ।

निपत्य बिन्दु हृदि कज्जलाविलो मणीव नीली तरली विलेमतु ॥८५॥

जीवानु—स्फुटैति । जय कज्जलेनाञ्जनेनाविलो मलिनो बिन्दू अश्रुबिन्दू तद्विलोचनाभ्यामेव स्फुटोत्पन्नाभ्यामलिदम्पतीव मृङ्गमिधुनमिव कुचकुड्मल-योरासदा लौन्धेन हृदि वसति निपत्य तरली चञ्चलो हारमध्यगी नीली मणी इव इन्द्रनीचरले इव । 'ईशदीना प्रगृह्यन्ते मणीवादीना प्रतिषेधो धक्त्व' इत्युपसर्गानि 'प्रगृह्यत्वनिषेधात् ऋषण्दीर्घं । विलेमतु । विरेजतु । 'अत्र एवहन्मन्थेनादेशादेलिटौ'त्वेत्वाभ्यासलोपी ॥ ८५ ॥

अन्वय — वज्रलावली विन्दू स्फुटोत्पलाम्याम् अलिदम्पती इव कुचकुह-
मलाशया तद्विलोचनाभ्यां हृदि निपत्य तरलो नीली मणी इव विलेपनु ।

हिन्दी—वाज्रल से क्लुपित दो अग्रविन्दु खिले दो कमला से भ्रमरदपती
के तुल्य कुच रूप कलिका के अमिताप से उस (दमयन्ती) के दोनों नेत्रों से
वश स्थल पर गिर कर दो तरल (वचल) नीलमणियों जैसे सुशोभित हुए ।

टिप्पणी—वाज्रल से काले, बतुल और विकसित दो कमलों जैसे दो
नयनों से निकल कर कुचकलिकाओं पर पड़े दो अग्रश्रोत्रों का साम्य भ्रमर-
दपती से किया गया और वश स्थित नीलमणि माला के सान्निध्य के कारण
वे दो नीलमणियों के सदृश बूढ़े गये । नेत्रों की खिले कमला और कुचों की
कलिया से सदृशता अत्यन्त स्वामाविक है । भ्रमरदपती खिले कमलों का
उपभोग कर खिलती बत्ती के अमिलापी होती ही हैं । तात्पर्य यह कि भ्रमर
मिथुन के तुल्य दो अंगुष्ठाती पर गिर कर विलसित होने लगे । विद्याधर के
अनुसार उद्वेगा-रूपक-उमालकार । चतुर्थ चरण के 'मणीव' का पदच्छेद
दो प्रकार से किया जाता है—(१) मणी + इव, (२) मणी + व । मल्लिनाथ
और नारायण ने मणी + इव को मान्यता दी है । सामायत 'ईदृदेद्विवचन
प्रगृह्यम्' (अष्टा० १।१।११) नियम से प्रगृह्य सज्ञा होने के कारण दीर्घसंधि
महो होती, अतः 'ईदादीना प्रगृह्यत्वे मणीवार्शना प्रतिषेधो वक्तव्य' के आधार
पर दीर्घसंधि का औचित्य दोनों टीकाकारों ने स्वीकार किया है । न० च०
के निर्णयसागरीय संस्करण की पद टिप्पणी में इस समाधान को अनावश्यक
बताया गया है । टिप्पणीकार की मान्यता है कि यहाँ मणी + व से ही कार्य
चल जाता है, फिर ऐसी कल्पना व्यर्थ है । 'व' भी 'इव' के अर्थ का द्योतक
है । ऐसे प्रयोग हैं—जैसे 'वादम्बसिंहितदरानि व पद्भुजानि ।' महाकवि ने
'मणी इव' प्रयोग को ही अचञ्चल अष्टा माना है—'मणी इवोद्भिन्नमनोहर-
त्वयो ।' इस प्रकार प्रकृतिभाव की मान्यता दी है । 'मणी इवोद्भिन्न
मनोहरत्वयो' इति महाकविप्रयोगे प्रकृतिभावदर्शनात् 'वादम्बसिंहितदरानि
व पद्भुजानि' इत्यादि प्रयोगेषु इवाथक्कारदर्शनात् 'मणीव' इत्यादी तेन
वकारणैव निबद्धि अस्य मान्यानुत्वात्किस्वोपपत्तये मुषैव ॥ ८५ ॥

धृता पतन्पुष्पशिलीमुखाङ्गुणे शुचेन्तदासीत् सरसी रम्यमा ।

रमाय बद्धादरयाश्रुधारया सनालनीलत्पटलीललोचना ॥ ८६ ॥

जीवानु—धुवेति । पतञ्जिः पुष्पशिलीमुखागुर्न. पुष्पवागंबिसिखैरग्यत्र
 पतत पुष्पाणि शिलीमुखा अल्परश्च येषा तैरागुर्नवाग्निम् । धुना कम्पिता ।
 'अग्निदानो शिलीमुखो वाग्निर्वाग्निर्वाग्निः' इति चामर. । रयाप बद्धादरया
 रपुक्तया अश्रुधारया निमित्तेन सनात्नीलोत्पलस्य लीलेत्र लीला ययोन्ने
 लोचने नम्या सा नैमी तदा धुवे रसस्य शृङ्गारस्य सम्बन्धिनः जग्यत्र
 धुवेर्गोमस्य सम्बन्धिनः, काश्यादिति नात्र । प्रीप्सुशृङ्गारयो मुचिरित्य
 निधानात् रसस्य जस्य वरती उर आसीत् । अत्र नैम्या शृङ्गारतरलीत्वेन
 ग्रीष्माम्बुसरसीत्वेन च रूपपाद्रूपकालङ्कार । तस्य श्लेषोपमान्यामङ्गान्या
 सङ्कर स्पष्ट ॥ ८६ ॥

अन्वयः—पतत्पुष्पशिलीमुखागुर्न ध्रुता रयाप बद्धादरया अश्रुधारया
 सनात्नीलोत्पललीलेत्रेचना सा तदा धुवे रसस्य सरसी आसीत् ।

हिन्दी—जागिते पुष्प-बाग (बाग) के बागीं से काँरी (पीडिता),
 निरतर बहती अश्रुधारा के कारण नालसहित नीलकमलों की लीला करते
 नदनों वाली बह (दमयन्ती) उस समय शारदादि पक्षियों, फूलों पर बैठे
 झरनों और वायु से चंचल (जल अल्प होने के कारण) दीखते नाल वाले
 नीलकमलहन लीलायुक्त नदनों वाली निमल जल की प्रीप्सुकालीन सरसी के
 समान धुवि रस अर्थात् विमोगशृङ्गार अथवा मुचिरस अर्थात् सोकरस की
 सरसी हो गयी ।

टिप्पणी—नात्र यह है कि नल के बदन सुतकर निराश, अजस्र अश्रु-
 प्रवाह करती हुई, कामनीडा से व्यथित दमयन्ती ने बहूत रोदन किया । उस
 समय वह निदाध की उस सरसी के तुल्य प्रतीत हुई, जल की ग्लुनदा के
 कारण नालसहित नीलकमल त्रिसमें प्रत्यक्ष हों, जो आते-जाते माग्धादि
 पक्षियों और फूलों पर बैठे नीरो जीर वायु के कारण हिल रहे हों । इस
 साम्य के निमित्त अनेकार्थ 'धुवा रसस्य सा' इत्यादि का उपयोग किया
 गया है । नेत्र नीलोत्पल है और अश्रुधारा नाल । इस प्रकार आँसु बहाती,
 विमोहिनी, निराशा से व्यथित दमयन्ती की तुलना प्रीप्सुकालीन अल्पजला
 सरसी से की गयी । 'विश्व' भाष के अनुसार धुवि का अर्थ सुद, अनुपहृत,
 शृंगार, आषाड, प्रीप्सु और अलि है—'धुवि- पुदेन्नुपहृते शृङ्गारापारयो

स्मृतं । ग्रीष्मे हृतवहे वापि ।' मल्लिनाथ के अनुसार दमयन्ती का शृङ्गार-
नरसी और ग्रीष्मान्बुसरसी रूप में रूपण होने के कारण इस श्लोक में रूपा
बलकार है, त्रिमके अगमूढ हैं, श्लेष और उपमा, अतः रूपक श्लेष-उपमा का
स्पष्ट मकर है ॥ ८६ ॥

अधोदध्रमन्ती रुदती गतक्षमा ससम्भ्रमा लुस्रतिः स्वल्पमति ।

व्यधात्प्रियावासि विधातनिश्चयान्मृदूनि दूना परिदेवितानि सा ॥ ८७ ॥

जीवानु—अयेति । अथ स्मरविकारोदयानन्तर प्रियावासि विधातस्य
प्रियप्राप्तिप्रतिबन्धस्य निश्चयात् दूना परिनता 'स्वादय ओदित' इत्यौदित्वा
तिदेशान् 'ओदितश्च' इति दूङो निष्ठानत्वम् । अत एव सा दमयन्ती उदध्रमन्ती
उमाधाती रुदति अधूणि मुञ्चती गतक्षमा नष्टधैर्या ससम्भ्रमा सत्वरं लुप्ता
रतिविषयान्तरस्पृहा यस्या सा स्खलती मतिस्तत्त्वावधारणशक्तियस्या सा
सती मृदूनि परहृदयद्रावणानि परिदेवितानि विलापवचनानि व्यधात् । अत्र
प्रियावासि विधातप्रयुक्तविन्ताविषादभावा उदध्रमादय इत्यनुसन्धेयम् ॥ ८७ ॥

अन्वय —अथ प्रियावासि विधातनिश्चयात् दूना उदध्रमन्ती रुदती गतक्षमा
ससम्भ्रमा लुस्रति स्वल्पमति सा मृदूनि परिदेवितानि व्यधात् ।

हिन्दी—घदनतर प्रिय (नल) को प्राप्ति में प्रतिबन्ध के निश्चय से
दुःखिता, उन्मादिनी, रोती, सहनशक्ति से रहित, घबरायी, स्नेहहीन तथा कि
कतव्यविमूढ वह (दमयन्ती) श्रोताओं में कष्टना जगा देने वाले विलाप
करने लगी ।

टिप्पणी—जब दमयन्ती को यह निश्चय हो गया कि नल की प्राप्ति
समय नहीं है और वह कुछ कर भी नहीं सकती, तब वह अत्यन्त दुःखित हुई ।
रोती रोती, उमाद से भरी दमयन्ती का धैर्य, सहनशक्ति और बुद्धि सब
जवाब दे गये । फलस्वरूप वह ऐसे विलापवचन कहने लगी, जिसे सुनकर
किसी के हृदय में कष्टना जग जठे । विधात के अनुसार उल्लेख्य बलकार
अनुशास ॥ ८७ ॥

त्वरस्व पञ्चेपुहुताशनात्मनस्तनुष्व मद्भ्रमचय यशश्चयम् ।

विधे । परेहाकुरुमक्षणव्रती पनाय तूप्यश्रसुभिर्ममाफये ॥ ८८ ॥

जीवानु—अथ त्रयोदशमि श्लोकं परिदेवितान्वेवाह—स्वरस्वेत्यादि ।
हे पञ्चपुङ्गवाद्यन ! कामाग्ने ! त्वरस्व त्वरितो भव । मद्भ्रमनाच्चय राशि-
मैवान्ननस्ते यद्यश्चय यशोराशि तदुत्थ विस्तारय स्त्रीवधश्चाति सम्पादये-
न्त्ययं । हे विदे ! विनात ! परेषामीहाकलस्य क्रियाफलस्य भग्नये व्रती
निद्रमो सन् न तु तपस्व्यन्तरवद्भग्न्यफलमक्षणव्रतीत्ययं । अद्याफलैर्नलानवाप्त्या
निष्कर्ममामुनि प्रायं तृष्यन् तृप्त सन् पठ पतितो भव । स्त्रीवधपातकी
नवेत्ययं ॥ ८८ ॥

अन्वय—पञ्चपुङ्गवाद्यन, त्वरस्व मद्भ्रमनाच्चय यशराच्चय तदुत्थ, विदे,
परेहाकलमक्षणव्रती अद्य अफलं मम अमुनि तृष्यन् पठ ।

हिन्दी—हे पञ्चबाण (काम)-अग्नि, शीघ्रता करो, मेरे भ्रम के डेर
का (अग्नी) कौतियुक्त के हृत् में प्रसार करो । हे अन्व की इच्छा के फल-
नष्पगशील विनाता, आज निष्फल मेरे प्राणों से तृप्त हो—अपतित होओ ।

टिप्पणी—विनात कर्त्ता दमयन्ती विविध प्रकार के आश्लेषवचन कहने
लगी । पीडित करते कामदेव को सबोधन करते हुए वह इच्छा करने लगी कि
कामाग्नि उसे अत्रिलव जलाकर राख कर डाले और इस प्रकार अपना यद्य
फलये । विनाता बड़ी कठिनता से किसी व्यक्ति को अनीष्ट देता है, प्राय-
दृच्छा-पूर्ति नहीं करता, दमयन्ती को भी अपनी इच्छा पूरी होती न प्रतीत हो
रही थी, अतः विनाता पर क्रोध प्रकट करती वह उसके अध पतित होने—
नरकगामी होने की कामाना करने लगी । स्त्रीवध के पातक से विधि को
नरकगामी होना ही चाहिए । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और
समासाक्ति अलंकार ॥ ८८ ॥

भृश वियोगान्भ्रम्यमान । किं विलीयसे न त्वमयोमय यदि ।

स्मरेषुमिर्मैद्य । न वज्रमप्यसि ब्रवीषि न स्वास्त । कथं न दीयसे ॥ ८९ ॥

जीवानु—भृशमिति । हे भृश वियोगान्भ्रम्यमान ! दह्यमान ! हे
स्वान्त ! हृदय ! त्वमयोमय यदि किं न विलीयसे अयोधनस्यासि तापात्
विलयनादशंसादयोमयमपि नासीति भाव । हे स्मरेषुमिर्मैद्य ! अत एव
वज्रमपि नामि वज्रस्य लोहेभ्यस्त्वामावादिति भाव । किंतु कथं न दीयसे न
विदन्सि वज्रादभ्यस्य लोहेभ्यस्त्वामावादिति भाव । न ब्रवीषीति काकु ।
किमिति न ब्रूये त्वत्स्वरूपमित्ययं ॥ ८९ ॥

अन्वय — मृग वियोगानलतप्यमान स्वान्त, यदि त्वम् अयोमय किं न विदीर्यसे ? स्मरेषुमि भेष्य, वज्रम् अपि न असि, कथं न दीर्यसे—न ब्रवीषि ?

हिन्दी—वियोगान्नि में अत्यन्त तप्त होते मेरे हृदय, यदि तू लोहा नहीं है तो विदीर्य क्यों नहीं हो जाता ? हे काम-बाणों से भेदनीय, तू वज्र भी नहीं है, तो क्यों नहीं फट जाता—यह बताता क्यों नहीं ?

टिप्पणी—अपने नल वियोग में तप्त होते हृदय को संबोधित करते हुए दमयन्ती ने उसे लौह और वज्र से भी कठोर माना, क्योंकि इतना कष्ट उठाते हुए भी वह फट नहीं रहा है। अत्यन्त गर्म होने पर लोहा भी द्रवीभूत हो जाता है। काम बाणों से विदीर्य न होने वाला दमयन्ती का हृदय वज्र से भी कठोर प्रमाणित होता है। मल्लिनाथ ने 'न ब्रवीषि' में 'काकु' माना है। विद्याधर के अनुसार यहाँ निश्चयगर्भ संदेहालंकार है ॥ ८९ ॥

विलम्बसे जीविन । किं द्रव द्रुत ज्वलत्यदस्ते हृदय निवेतनम् ।

जहामि नाद्यापि मृषा सुखासिकामपूर्वमालस्यमहो तवेदुशम् ॥९०॥

जीवानु—विलम्बस इति । हे जीवित । प्राणवायो । किं विलम्बसे द्रुत द्रव शीघ्र गच्छ । द्रुत, यतस्ते तव अदो निवेतनमावासग्रह हृदय ज्वलति प्रज्वलति । अद्यापीदानीमपि मृषा वृषा सुखासिका सुरासन धात्वर्थनिर्देशे ष्वुल् वक्तव्य । न जहासि । दह्यमाने गेहे न वस्तुव्यमित्यर्थः । तथा तव जीवनस्य ईदृशमालस्यमपूर्वं नूतनमहो ॥ ९० ॥

अन्वय — जीवित, किं विलम्बसे, द्रुत द्रव, यतस्ते अद निवेतन हृदय ज्वलति ? अद्य अपि मृषा सुखासिका न जहासि, अहो, तव ईदृशम् आलस्यम् अपूर्वम् ।

हिन्दी—हे जीवन, तू विलम्ब क्यों लगा रहा है, शीघ्र भाग जा, क्याकि तेरा यह घर-हृदय जल रहा है ? धात्र भी निश्चित हो सुखपूर्वक बैठना नहीं छोड़ता, अरे तेरा ऐसा आलस्य तो अपूर्व है ।

टिप्पणी—नामानि से दमयन्ती का हृदय जल रहा है, यह हृदय ही जीवन का आवास है। जब घर जलता है, तो वृही बाहर भागता है। इसी लिए दमयन्ती अपने जीवन से हृदय-आवास का छोड़ भाग जाने का आग्रह कर रही है। वह आश्चर्य प्रकट करती है कि जीवन जलते हृदयावास का

परिचा क्यों नहीं करता ? अपूर्व है यह उमंग आनन्द । ऐसा तो देखा नहीं गया । विद्याधर के अनुसार व्यतिरेकालङ्कार ॥ ९० ॥

दशौ । मृगापातकिनो मनोरथा जयं पृथु वामपि विप्रलम्बिरे ।

प्रियप्रिय प्रेक्षणाघाति पातकम् स्वमश्रुभिः क्षालयते जन समा ॥९१॥

जोवानु—ध्याविति । हे दशौ ! मृगापातकिनोऽनृतमानकिनो मनोरथा नन्दिदृशाख्या पृथु महयो विप्रलम्भानहं इत्यर्थं । वा युवामपि क्य विप्रलम्बिरे वक्ष्यामामु । माहसिका किं कुमुदित्यर्थं । मनोरथा वा विफला इत्यर्थं । किञ्च प्रियप्रियो नलसौन्दर्यस्य प्रेक्षणाघाति दर्शनपातक स्व स्वकीय पातक जन्मान्तरकृतनिति नाव । अश्रुनि शनं समा । वत्सरान् । जल्पन्त-सदोषे द्वितीया । क्षालयते गुरुपाप गुह्यप्रायश्चित्तापनोद्यमित्यर्थं । जहाँ मे दर्शनासापि निरस्तेति नावः ॥ ९१ ॥

जन्वन्—हृषी, मृगापातकिन मनोरथा. पृथु वाम् अनि क्य विप्रलम्बिरे ? प्रियप्रिय प्रेक्षणाघाति पातकम् अश्रुभि इत समा क्षालयते ।

हिन्दी—जरे नेत्रों, झूठे और पापी मनोरथा ने बडे तुम दोनों को, मी किस प्रकार ठग लिया ? प्रिय (नल) की दोषों के दर्शन के विघात रूप पाप को जामुओं से सँकड़ो वर्षों तक धोते रहो ।

दिग्गो—दमपन्ती के नेत्र विद्याल हैं—और अगुणम मनोरथ लघु । छोट, झूठे और पापी मनोरथों ने नलदर्शन को झूठी आशा दिला कर बडे-बडे नेत्रों को धोला कैसे दे दिया, यह अचरज की बात है यह कैसे हुआ—दमपन्ती को इसी पर आश्चर्य है । नेत्रों से यह पाप हुआ कि नलदर्शन-विघात उन्होंने किया अतः उन्हें मही उचित है कि वे बहते चयुजल से उस पातक का प्रभान्न अनन्तकाल तक करते रहें । यही पाप का प्रायश्चित्त होगा । विद्याधर के अनुसार छेकानुगाय और सनातौक्ति जलकार ॥ ९१ ॥

प्रिय न नृत्युन लभे त्वदोपित तदेव न स्यान्मम यत्त्वमिच्छसि ।

विद्योगमेवेच्छ मनः । प्रियेण मे तव प्रसादान्न भवत्वमो मन ॥९२॥

जोवानु—प्रियनिति । हे मन ! तव ईप्सितमाप्नुमिष्ट प्रिय न लभे तदलभे ईप्सित मृपु भराञ्च न लभे तस्मात् त्व मम यदिच्छसि तन्न स्यादि-स्थन्वप्यतिरेकदर्शनादिति नाव । अनो मे प्रियेण विद्योगमेवेच्छ तव प्रसादा-

दसौ वियोगो मे मम न भवति नलप्राप्यभावे परपनेव मे शरणमित्यर्थं ।
अत्र सयोगार्थं वियोगप्रार्थनाद्विचित्रालङ्कारः । 'विचित्र स्वविरद्धस्य फल-
स्याप्त्यर्थमुद्यमः' इति लक्षणात् ॥ ९२ ॥

अन्वयः—मम, त्वदीप्सित न प्रिय न मृत्यु लभे, यत् त्वम् मम इच्छसि,
तत् एव न स्यात्, प्रियेण मे वियोगम एव इच्छ, ससौ अपि तव प्रसादान् मे
न भवति ।

हिन्दी—रे मन, न तो तेरे अभीष्ट प्रिय (नल) को पाती हूँ, न अभीष्ट
मृत्यु को । जो तू चाहता है, वही नहीं होता । प्रिय से मेरे वियोग ही की
इच्छा कर, वह भी तेरी कृपा से मेरा नहीं होगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती का कोई मन चीता पूरा नहीं होता । उसने नल को
चाहा, वह नहीं मिल रहा । उसके अभाव में मौत चाही, वह भी नहीं मिली ।
सो जब मनचीता पूरा ही नहीं होता, तो उचित यही है कि मन दमयती से
नल के वियोग की ही कामना करे । वह भी नहीं होगा और इस प्रकार
दमयन्ती को नल मिल जायेगा । क्योंकि यहाँ सयोग के निमित्त वियोग की
प्रार्थना की गयी, अतः मल्लिनाथ के अनुसार विचित्र अलंकार है । (फल
प्राप्ति के निमित्त उसके विरुद्ध के लिए उद्यम विचित्र है ।), विद्याधर के
अनुसार हेतु अलंकार ॥ ९२ ॥

न काकुवाक्यैरतिवाममङ्गज द्विषत्सु याचे पवनन्तु दक्षिणम् ।

दिशापि मद्भस्म किरत्वय तथा प्रियो यथा वैरविधिर्वघावधि ॥९३॥

जीवातु—नेति । द्विषत्सु चन्द्रादिवैरिमध्ये अतिवाममतिवक्रमङ्गज वाम
काकुवाक्यै करुणोक्तिभिः । न याचे न प्रायये, किन्तु दक्षिण दक्षिणदिग्भव
दाक्षिण्यवन्त च पवन याचे, किमिति ? अयं पवनो यथा दिशा प्रियो नल
सञ्चरेत् तथा दिशा तद्दिग्भागेनापि मद्भस्म किरतु क्षिपतु । प्रार्थनाया स्तोत्र ।
ननु दक्षिणोऽपि शत्रुपक्षे क्यमुपकरिष्यति तत्राह वैरविधिर्वैराचरण वषाव-
धिभरणात् 'भरणात्तानि वैराणी'ति न्यायादित्यर्थं ॥ ९३ ॥

अन्वयः—द्विषत्सु अतिवामम् अङ्गज काकुवाक्यं न याचे तु दक्षिण पवनम्
(याचे), यथा दिशा प्रियो सञ्चरते तथा अयं मद्भस्म किरतु, वैरविधि-
वषावधि ।

हिंदी—(विद्योगियों के) शत्रुओं से प्रतिवाम (उत्पन्नसुन्दर, ज्यन्त प्रतिभूत और नारी के दक्षता को न करने वाले - अनिजानता वाता येन टम्, दक्षता 'रतिवामम्' अर्थात् रति जिसकी पत्नी है, उसको, अर्थात् 'रती प्रीति वन दक्षम्' अर्थात् प्रेम में वह) अर्थात् (जर्थात् काम) की दीन दक्षता से माचना नहीं करती किन्तु दक्षिण-पवन (मलयानिल) से प्रार्थना करती है कि जिस दिशा में होकर प्रिय (नर) सचरण करे, उस दिशा में यह (दक्षिण-पवन) मेरी राख बिखरा दे । वर मृत्युपर्यन्त ही किया जाता है ।

टिप्पणी—विद्योगियों को संसत करने के कारण काम, बदमा, मलयपवन कोविल, वसत आदि उनके अनेक शत्रु माने गये हैं । इनमें सबसे दुष्ट और प्रमुख है काम । इस स्थिति में यदि दीनता दिखानी ही हो और माचना करनी हो तो उसी प्रमुख काम से करनी चाहिए, किन्तु दक्षिण-पवन का कथन है कि वह काम माचना के निमित्त अनुमत्त नहीं है, क्योंकि वह प्रतिवाम है - बड़ा देहा और स्त्रियों की वात न सूतने वाला । वह अतिसुन्दर अवश्य है, किन्तु माचना का पात्र होने का आधार सुन्दरता नहीं है, वह तो अप्रतिभूतता अर्थात् दक्षिण्य (उदारता) है । काम दक्षिण नहीं है । वह रतिनाथ तो 'रतिवाम' अर्थात् प्रीतिविभूत है (नागपण ने 'वाकुवाक्यं रतिवामम्'—यह भी पदच्छेद किया है) । काम के पश्चात् शत्रुओं में दुष्टतम प्रथम शत्रु है दक्षिणपवन मलयानिल । उसका विरोध कि 'दक्षिण' है, जहाँ उद्यम दक्षिण्य होना चाहिए, अतः उसे ही उपयुक्त मनिटी दक्षिणपवन से प्रार्थना करती है कि हे दक्षिणपवन, जिस पथ पर प्रिय नर के चरण पड़ते हों, भर जाने के पश्चात् नक्षीनृत मेरी राख उसी मार्ग पर उडाकर बिखरा देना । भरने के पश्चात् मेरी नन्म तो प्रिय-चरण स्पर्श प्राप्त होगी, नर ही मुझे वह अवसर जीवित रहते न मिले उदा हो । यहाँ शत्रु हो सकती है कि दक्षिणपवन की प्रार्थना दक्षिणपवन को स्वोकारेण, जब कि वह शत्रु है, परन्तु शिष्टवर्तों में यह माना जाता है कि वर जीवित वरों से किया जाता है, मृत्यु के पश्चात् वर निम्नता उचित नहीं है । रावण का वध करके श्रीरामचन्द्र ने कहा था—'अरण्यगतानि वरानि' (शम्भुकि-रामायण, मुद्रकांड, १११।१००), अर्थात् वर मरने तक ही रहता है, पश्चात् नहीं । मलय पवन का प्रवाह दक्षिण से उत्तर की ओर होता है ।

बुद्धिनगरी से नल की राजधानी निषधदेश उत्तर में है, अतः 'मरणान्तानि वैराणि'—इस सामान्य आचार को जानता दक्षिण का उदार पवन मार्ग में बिखरी मम्म को प्रिय की दिशा में पहुँचाने की याचना तो मान ही लेगा, जाना तो उस दिशा में पवन को है ही। एक कार्य यह भी सही। 'विश्व' कोप के अनुसार अङ्गज रुधिरऽनङ्गवेत्तापुत्रमदेऽङ्गज'। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और अर्थान्तरन्यास ॥ ९३ ॥

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणं कियन् सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे ।
स मा न कान्तः स्फुटमन्तर्हज्जिता न त मनस्तच्च न कायवायवः ॥९४॥

जीवातु—अमूनि । गच्छन्ति विपरिद्वर्तमानान्यमूनि युगानि न क्षणं एकोऽप्यय क्षणो युगसहस्रायत इत्यर्थः । कियत् सहिष्ये, मृत्युमरणञ्च मे नास्ति हि स कात्तस्तु जन्त अन्तरात्मनि मा नोज्जिता नोज्जिष्यति, स्फुट त कान्त मनश्च नोज्जिता तन्मनश्च कायवायव प्राणा नोज्जितारः । हन्त का गतिरिति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अमूनि युगानि गच्छन्ति, क्षणं न, कियत् सहिष्ये, हि मे मृत्युः न अस्ति, स्फुट—स कान्त अतः मा न उज्जिता, त च न मन त् च न कायवायव ।

हिन्दी—ये युग बीत रहे हैं, क्षण नहीं (प्रिय-वियोग में बीतता क्षण युग-सा है) अथवा ये युग अर्थात् दुःखरूप बीत रहे हैं, क्षण अर्थात् उत्सवरूप नहीं, कितना सहैगी, क्योंकि मुझे मौत भी नहीं आती । यह स्पष्ट है कि बट प्रिय (नल) स्थूल शरीर के मध्य स्थित 'अहं' अर्थात् 'मैं' शब्द से प्रतिपादित मेरा (दमयन्ती) का त्याग नहीं करेगा और मन उस (नल) का त्याग नहीं करेगा और प्राणवायु उस (मन) को नहीं छोड़ेगा ।

टिप्पणी—दमयन्ती के कथन का भाव यह है कि वियोग के ये क्षण युगों के समान दुःख हैं । यदि मृत्यु आ जाती तो इस पीड़ा से छुटकारा मिलता, पर वह आयेगी नहीं । न प्रिय नल इस स्थूल शरीर के मध्य जो 'मैं' शब्द से अभिहित दमयन्ती है, उसे छोड़ेगा, मन उसे नहीं छोड़ेगा और प्राणवायु मन को नहीं छोड़ेगा । लिंग शरीर का उपलक्षक मन होता है—'बुद्धोद्भवाणि क्षतुपञ्च तथाऽपराणि चर्मेन्द्रियाणि मन आदिबहुष्य च । प्राणादिपञ्चकमयो

विषदादिकं च काननच कर्म च तमः पुनरुभमी पू ।' इस प्रकार जब तक लिंग शरीर है तब तक स्थूल शरीर है । जीव के उत्क्रमण करने पर इन्द्रियां उत्क्रमण कर देती हैं और लिंग के उत्क्रमण करने पर स्थूल शरीर वायुमयिक होकर विच्छिन्न हो जाता है । श्रुति के अनुसार—'तनुत्क्राम'उ प्राणोऽनुत्क्रामति, प्राणानुत्क्रान्त सर्वे प्राणा उत्क्रानति ।' सो इस प्रकार क्षेत्रज्ञ का उत्क्रमण न होने पर जिनो का उत्क्रमण न होने से नरक नहीं होगा । नारायण ने उत्तरार्द्ध का यह तात्पर्य भी माना है कि उत्क्रमण में विद्यमान काय मुझे नहीं छोड़ता और अतः काय उसे नहीं छोड़ता । भाव यही है कि जीव रहते नरक का जन्मनाश मिटेंगा नहीं और नरक मिटता नहीं, जो क्षण भी दमयन्ती के बाटे नहीं बटता । मृत्यु आती नहीं, क्योंकि यह परम्परा बनी है कि अन्तस्त्वं नरक नहीं छोड़ेगा, मन नरक को न छोड़ेगा और शरीरस्य वायु अर्थात् प्राणवायु मन को न छोड़ सकेगा । विद्याधर के अनुसार जहन्नुविहेनु-दीपक ककार ॥१४॥

मदुप्रतापव्ययनक्तशीकरः सुराः । न व केन पने कृषार्णव ।

उदेति कोटिर्न मुदे मदुस्तया किमानु सङ्कल्पकणध्रमेण च ॥ १५ ॥

जीवानु—मदिति । हे सुरा ! मदुप्रतापव्यये मदतितीव्रतन्तापशान्ती सक्ता व्यापृता. शीकरा यस्य स प्रसिद्धो वो पुनाङ्क कृषार्णव केन पने पीत. । अगम्येन प्रसिद्धार्णव इवेति भाव । त्वन्नेभेनैव पीत इत्यत्राह—सङ्कल्पकणध्रमेण शमिध्यानलेपप्रयानेन मनोऽप्युत्तमा कोटि स्थान्तरमित्यर्थे । वो पुनाङ्क मुदे वायु नोदेति किमु शक्यादिवदिति भाव । तस्मादनुकम्पनीये जने विपरीताचरणमनुविनिति तात्पर्याये ॥ १५ ॥

अन्वयः—सुरा, मदुप्रतापव्ययनक्तशीकर स. व कृषार्णव केन पने, वा सङ्कल्पकणध्रमेण मदुलमा कोटि मुदे किम् जागु न उदेति ?

हिन्दी— हे देवों, मेरे (नरक-विरहजन्य) तीक्ष्ण तार के नाश में जिस का एक विन्दुका पवास है, उस तुम्हारे कृषा के समुद्र को किसने पी लिया ? तुम्हारे (इन्द्रादि के) इच्छालेण मात्र धम से मृग से अच्छी कोटि (दमयन्ती से अधिक मनोप) की नारी तुम्हारी प्रसन्नता के निमित्त क्या अविश्व नहीं उन्नत होती ?

टिप्पणी—दमयन्ती को नरक की अनाति का कारण यही है कि देव उसे

कुट्टिननगरी से नल की राजधानी निपथदेश उत्तर में है, अतः 'भरणान्ता
वैराणि'—इस सामान्य आचार की जानता दक्षिण का उदार पवन भाग
बिखरी मस्म की प्रिय की दिशा में पहुँचाने की याचना तो माग ही ले
जाना तो उस दिशा में पवन धो है ही। एक कार्य यह भी सही। 'विश्व -
के धनुमार अङ्गज हथिरेज्जनेधपुत्रमदेऽङ्गज'। विशाघर के धनु-
अतिशयोक्ति और अर्षान्तरन्यास ॥ ९३ ॥

अमूनि गच्छन्ति युगानि न क्षणं कियन् सहिष्ये न हि मृत्युरस्ति मे ।
स मा न कान्तः स्फुटमन्तरज्जिज्ञाना न तं मनस्तच्च न कायवायव* ॥'

जीवातु—अमूनीति । गच्छन्ति विपरिद्वर्तमानान्यमूनि युगानि न ।
एकोऽप्यय क्षणो युगसहस्रायत इत्यर्थः । कियत् सहिष्ये, मृत्युमरण-
नास्ति हि स कान्तस्तु अन्तः अन्तरात्मनि मा नोज्जिता नोज्जिष्यति, स्फु-
टात् मनश्च नोज्जिता तन्मनश्च कायवायव प्राणा नोज्जितारः । ह-
गतिरिति भावः ॥ ९४ ॥

अन्वयः—अमूनि युगानि गच्छन्ति, क्षणं न, कियत् सहिष्ये, हि म-
न अस्ति, स्फुट—स कात् अन्तः मा न उज्जिता, त च न मन तत्
कायवायव ।

हिन्दी—ये युग बीत रहे हैं, क्षण नहीं (प्रिय-वियोग में बीतता क्ष-
ण है) अथवा ये युग अर्थात् दु खरूप बीत रहे हैं, क्षण अर्थात् -
नहीं, कितना सहेंगी, क्योंकि मुझे मौत भी नहीं आती । यह स्पष्ट है
प्रिय (नल) स्थूल शरीर के मध्य स्थित 'अह' अर्थात् 'मैं' शब्द से प्र-
मेरा (दमयती) का त्याग नहीं करेगा और मन उस (नल) का र-
करेगा और प्राणवायु उस (मन) को नहीं छोड़ेगा ।

टिप्पणी—दमयती के कथन का भाव यह है कि वियोग के उ-
के समान दु सह हैं । यदि मृत्यु आ जाती तो इस पीडा से छुटका-
पर वह धारणी नहीं । न प्रिय नल इस स्थूल शरीर के मध्य ल-
से अभिहित दमयती है, उसे छोड़ेगा, मन उसे नहीं छोड़ेगा की
मन को नहीं छोड़ेगा । लिंग शरीर का उपलक्षण मन होता है—'न-
स्तु पञ्च तपाऽवराणि कर्मोद्भवाणि मन आदिबहुष्य च । प्राणाणि

टिप्पणी—प्रार्थना पर देवों का ध्यान न जाने को एक मभावना यह भी है कि विराट्की दमयन्ती के नेत्रों में निरंतर आसुओं की वर्षा हो रही है। देवों ने कहा कि इसमें वर्षा ऋतु का आगमन समझ लिया है और देव रोगी गये हैं। सोमे देव प्रार्थना सुन ही नहीं पाते और दमयन्ती का कहा मुना व्यक्त हो रहा है जगल में रोने के समान। भाव यह है कि संपूर्ण अपराध दमयन्ती का ही है। न वह निरंतर गेरी रहती, न देवों को वर्षा का भ्रम होता। वे जाने रहते और दमयन्ती की प्रार्थना पर ध्यान देते। विद्याधर के अनुभार अतिशयोक्ति और निदर्शना। मन्त्रिनाथ के अनुभार भी उस काल के वर्षा होने और देव उषण के अस्मद्ध होने पर भी जो उसका स्वयंकरण है, वह अतिशयोक्तिद्वय है और दमयन्ती का कथन अरण्यरोदन समझ न होने से सार्वभौम का आक्षेप जिया जाकर निदर्शना है, अतः अतिशयोक्ति-निदर्शना का संकर है ॥ ०६ ॥

इय न ते नैषध । दूषयानिधिस्त्वदेकानस्य जनस्य यातना ।

हृदे हृदे हा न कियद्गवेपित म वेधमागोपि स्रगोऽपि वक्ति य ॥१७॥

जीवानु—इयनिधि । हे नैषध । इय त्वदेकानस्य त्वत्परास्य 'एकानो-
ज्जन्मवृत्ति' इत्यमरः । जनस्य स्वस्मैवेत्यर्थः । यातना तीव्रवेदना ते तव
दूषयानिधिर्न दूगोबरो न देशविप्रभ्यादिति भावः । विश्व य स्रगो हसो
वक्ति नलाय मद्यतना निवेदयेद् स स्रगोऽपि वेधसा जगोपि क्वापि गृत् । कुत-
हृदे हृदे नर्वेषु ज्वाशयेपित्यर्थः । वीप्साया द्विवक्तिः । कियन्न गवेपितो
नान्दिष्टः । ना बरेत्यर्थः ॥ १७ ॥

अन्वय—नैषध, त्वदेकानस्य जनस्य इय यातना ते दूषयानिधि न,
या स्रग वक्ति, वेधसा स अवि अगोपि, हा, हृदे हृदे अपि कियन् न गवेपित ?

हिन्दो— हे नियमराज, तेरे प्रति एकनिष्ठ जन (दमयन्ती) की यह (सार्वभौम)
वेदना तेरे (नल के) नयन पथ की अतिपि नहीं बननी (नल की पीडा नहीं
दीखती), जो पत्नी (हस) बनाता, विषाता ने उसे भी छिपा दिया । हाय,
तारों तारों में उसे किन्ना न खोजा गया ? (बहुत बार खोजा) ।

टिप्पणी— चार श्लोकों (१७-१००) में विलाप करती दमयन्ती नल
को संबोधित कर कहने लगी कि वह इतनी दारुण व्यथा भोग रही है कि यदि
नल अपने नेत्रों से उसे देख लेता, तो अवश्य क्षमन की चेष्टा करता, पर उसे

चाहते हैं, वे दमयन्ती की इच्छा पर ध्यान देने की कृपा भी नहीं करते। ऐसा लगता है कि अगस्त्य के समान कोई और समुद्रपायी उत्पन्न हो गया है, जिसने सहज कृपालु देवों के कृपासमुद्र को पी डाला है, अन्यथा वे अवश्य दमयन्ती पर थोड़ी सी कृपा तो कर ही देते, जिससे उसका क्रमण हो जाता। देव तो इच्छामात्र से ऐसी नारी बना सकते हैं, जो अद्वितीय सुन्दरी हो, पर वे कृपा-सागर के दुष्क हो जाने से दमयन्ती से अच्छी नारी रचना भी नहीं करते और दमयन्ती के उग्रताप का कारण बने हैं। दमयन्ती का देवों को यह उपालम है कि क्यों एक नारी के लोभ में उभे पीड़ित कर रहे हैं? विद्याधर के अनुसार अनुप्रास रूपक हेतु अलंकार ॥ ९५ ॥

ममैव ब्राह्मिण्यश्नुदुदिने प्रसह्य वर्षामु ऋतौ प्रमञ्जिते ।

कथं नु शृण्वन्तु सुपुष्य देवता भवत्वरण्य हृदित न मे गिर ॥ ९६ ॥

जोब्रान्तु—अथ मदीयमार्तघोष देवा नाकर्णयन्तीत्यत्राह—ममैवेति । वा अथवा ब्रह्मि च दिवा च ब्रह्मिण्यश्नुदुदित्यर्थं । ममैवाश्नुदुदिनेरश्रुवपरित्यर्थं । प्रसह्य बलाद्वर्षामु ऋतौ वर्षतो 'स्त्रियया प्रावृट् स्त्रियर्वा भूमि वर्षा' इत्यमर । 'ऋत्यक्' इति प्रकृतिभाव । प्रसञ्जिते प्रवर्तिते देवता सुपुष्ट सुप्त्वा सुपुष्य । 'वाचिस्वर्षा'त्यादिना सम्प्रसारणम् । 'वर्षातिर्दुर्म्यं सुषिसूतिसमा' इति पत्वम् । मे गिर कथं नु शृण्वन्तु सुपुष्ये तदयोगादत एव मे गिर कथमरण्ये हृदितम् । 'क्षेप' इति समास । 'तत्पुण्ये कृति बहुलम्' इति सप्तम्या अलुक् । न भवतु । विधेयप्राधान्यादेकवचनम् । सम्भावनामा लोट् । निष्फल वचनमरण्यहृदितप्रायमित्यर्थं । वर्षामु भगवतो हरे स्वापादन्यत्रापि देवतात्व-सामान्यादानोप्यन्यपदेश । अथ तत्कालस्य वर्षात्वेन देवताना स्वापेन चासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिद्वयम्, तथा तद्विरामरण्यहृदित-सम्भवेन सादृश्याक्षेपाभिदसंनानाभेद तत्र सङ्कीर्णं ॥ ९६ ॥

अन्वय—वा ब्रह्मिण्यश्नुदुदिने प्रसह्य वर्षामु ऋतौ प्रसञ्जिते देवता सुपुष्य मे गिर कथं नु शृण्वन्तु, अरण्ये हृदित न भवतु ?

हिन्दी—अथवा (प्रतीत होता है) दिन-दिन मेरे ही औसूरूप वर्षा दिवसों के बल से वर्षा की ऋतु हो जाने के कारण देवगण सोकर मेरे घबन कैसे सुन पावें ? (नहीं सुन पाते) मेरी प्रार्थना और विलाप वचन 'अरण्य-रोदन' क्यों न हों ? (हो ही रहा है) ।

टिप्पणी—प्रार्थना पर देवों का ध्यान न जाने की एक सभावता यह भी है कि विरहिणी दमयन्ती के नेत्रों से निरंतर जामुओं की वर्षा हो रही है, देवों ने कहा कि इससे वर्षा ऋतु का आगमन समझ लिया है और देव सो गये हैं। मोये देव प्रार्थना सुन ही नहीं पाते और दमयन्ती का कहा मुता व्यर्थ हो रहा है जगत् में रोने के समान। भाव यह है कि सपूर्ण अपराध दमयन्ती का ही है। न वह निरंतर रोती रहती, न देवों को वर्षा का भ्रम होता। वे जागे रहते ही दमयन्ती की प्रार्थना पर ध्यान देते। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और निदर्शना। मन्त्रिनाथ के अनुसार भी उस काल के वर्षा होने और देव उषस के अनन्वद्ध होने पर भी जो उसका स्वयंभय है, वह अतिशयोक्तिद्वय है और दमयन्ती का कथन थरथरोदन सम्व न होने से साहस्य का आक्षेप जिया जाकर निदर्शना है, अतः अतिशयोक्ति-निदर्शना का सकार है ॥ ०६ ॥

इय न ते नैपथ ! दृक्षयातिभिस्त्वदेकतानस्य जनस्य यातना ।

हृदे हृदे हा न कियद्गवेपितं न वेधसागोपि खगोऽपि वक्ति य ॥२७॥

जीवानु—इयमिति । हे नैपथ ! इय त्वदेकतानस्य त्वत्परस्य 'एकतानो-
जनस्य वक्ति' इत्यमर । जनस्य स्वस्यैवेत्ययं । यातना तीव्रवेदना ते तव दृक्षयातिभिर्न दृगोचरो न देशविप्रस्थादिति भाव । किञ्च य खगो हगो वक्ति नलाय मद्यानना निवेदयेत् स खगोऽपि वेधसा अगोपि क्वापि शुभ । कुत हृदे हृदे सर्वेषु जलाशयेष्वित्ययं । वीप्साया द्विरक्तिः । कियन्न गवेपितो नात्विष्ट । ना बलेत्ययं ॥ १७ ॥

अन्वय—नैपथ, त्वदेकतानस्य जनस्य इय यातना ते दृक्षयातिभिर्न, य खगो वक्ति, वेधसा स अपि अगोपि, हा, हृदे हृदे अपि कियन् न गवेपितं ।

हिन्दी - हे नियधराज, तेरे प्रति एकनिष्ठ जन (दमयन्ती) की यह (दाह्य) वेदना तेरे (नल के) नयन पर की अतिथि नहीं बनती (नल को पीडा नहीं दीखती), जो पत्नी (हस) बठाता, विद्याला ने उसे भी छिपा दिया । हाय, तालों तालाबों में उसे किन्ना न खोजा गया ? (बहुत बार खोजा) ।

टिप्पणी - चार श्लोकों (१७-१००) में विलाप करती दमयन्ती नल को संबोधित कर कहने लगी कि वह इतनी दाह्य व्यथा भोग रही है कि यदि नल अपने नेत्रों से उसे देख लेता, तो अवश्य शमन की चेष्टा करता, पर उम्मे

ज्ञात ही नहीं है। एक सदेशवाहक स्वर्णहस्त कदाचित् दमयन्ती की व्यथा-
कथा मूल को जा सुनाता, पर वाम विधि इतना निर्दय हो गया है कि उसने
उसे भी कहीं छिपा डाला। अनेक मरोवर अनेक बार खोज डाले, पर वह हस्त
कहीं न मिला। कैसे मिटे यह दारुण पीडा? विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य
ब्रह्मकार छेदानुप्रास ॥ ९७ ॥

ममापि किं नो दयमे दयाधन ! त्वदङ्घ्रिमग्न यदि वेत्थ मे मन ।
निमज्जयन् सन्तमसे पराशय विधिस्तु वाच्य क्व तवागस कथा ॥९८॥
जीवातु—ममापीति । हे दयाधन ! कृपानिधे ! मम मनस्त्वदङ्घ्रिमग्न
त्वच्चरणशरण वेत्थ यदि वेत्मि चेत् 'विदो लटो वा' इति सिपस्थलादेश ।
ममापि किं न दयसे ममापि किं नानुकम्पसे, 'अधीगर्धदयेशा कर्मणि' इति षष्ठी ।
अथवा परस्याशय हृदय सन्तमसे महामोहाघकारे । 'विष्वक्सन्तमसम्' इत्य-
मर । 'अवसमन्धेभ्यस्तमस' इति समासान्तोऽच्प्रत्यय । निमज्जयन् विधिस्तु
वाच्य उपालम्भ, तवागतोऽपराशय कथा क्व । विधिता व्यामोहितो मामिमा
न वेत्थ, न तु निर्दयत्वादित्यर्थ ॥ ९८ ॥

अन्वय — दयाधन, त्वदङ्घ्रिमग्न मे मन यदि वेत्थ, मम अपि किं नो
दयसे? पराशयं सन्तमसे निमज्जयन् विधिं तु वाच्यं तव आगता कथा क्व?

हिन्दी—हे दयानिधे (नल), अपने चरणों में मग्न मेरे मन को यदि
जानते हो तो मुझ (दमयन्ती) पर भी क्यों दया नहीं करते? अन्य के अन्त-
करण को अज्ञानाघकार में डुबाता दैव तो उपालभयोग्य है, किन्तु तुम्हारे (नलके
ऐसे) अपराध की बात तो कहीं सुनी नहीं गयी।

टिप्पणी—नल तो परम कृपालु है, दमयन्ती पूवसद्वर्त्म में रहने लगी कि
परम कृपालु नल दमयन्ती की व्यथा जानता है तो दयालु होने पर भी वह
दया क्यों नहीं करता? भाग्य को तो निर्भय और भटकाने वाला कहा जाता
है, कहना उचित भी है, पर नल को निन्दा तो कहीं सुनी नहीं जाती? फिर
नल दया करके दमयन्ती की दारुण यातना क्यों नहीं समाप्त करता? दयालु
को दयालुता दिखानी चाहिए, अन्यथा वह भी उपालम्भ का पात्र बन जायेगा।
विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और सम ब्रह्मकार ॥ ९८ ॥

कथावशेष तव सा श्रुते गतेत्युपैष्यति श्रोत्रपथ कथं न ते ।

दयाणुना मा समनुग्रहीष्यमे तदापि तावद्यदि नाथ ! नाघुना ॥ ९९ ॥

जीवातु—कथेति । हे नाय ! तव वृते त्वदयं सा दमयन्ती कथंवावशेषोऽवसानं त गतेति तव श्रोत्रपथ कथं नोर्षयति उपैष्यत्येवेत्यर्थं । तदापि त=छ-वणकालेऽपि दयाणुना कृपालेशेन मा समनुग्रहीष्यसे तावदनुग्रहीष्यस्येवेत्यर्थं । ग्रहोऽऽल्टी' तीटो दीर्घं । अधुना न यदि न चेत् मास्तु पश्चादनुशोचनमपि महानुग्रह इति भाव ॥ ९९ ॥

अन्वय—तव वृते सा कथावशेष गता इति ते श्रोत्रपथ कथं न उपैष्यति ? नाय, यदि अधुना न तदा अपि तावत् दयाणुना मा समनुग्रहीष्यसे ।

हिन्दी—तेरे (नल के) लिए वह (दमयन्ती) कथावशेष हो गयी (मर गयी)—यह तेरे कर्णों मार्गों को क्यों न प्राप्त होगा ? (कान में पड़ेगा ही ।) हे स्वामी, यदि इस काल दया नहीं दिखा रहे हो तो तब तो (मरने पर) दया के एक अणु से मुझ पर अनुग्रह करोगे ही ।

टिप्पणी—दमयन्ती ने आगे कहा कि वह नल के न मित्रने पर मर जायेगी । जब नल को यह समाचार प्राप्त होगा (और यह समझ ही नहीं है कि यह समाचार नल तक न पहुँचे ।) तो जैसे स्वामी सेवक के मर जाने पर उस पर दया दिखाता ही है, भले ही जीते जी न दिखाता हो, वैसे ही कथावशेष दमयन्ती पर तो नल कृपा करेगा ही । दमयन्ती मरकर भी यदि नल का कृपालेश पा सकी तो घन्य हो जायेगी ? विद्याधर के अनुसार ऐकानुप्रास अलङ्कार ॥ ९९ ॥

ममादरोद विदरोनुमान्तर तदर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये ।

मिदा हृदि द्वारमवाप्य मेव मे हृतासुमि प्राणममः समङ्गम ॥ १०० ॥

जीवातु—ममेति । हे नाय ! ममेदमान्तर हृदय विदरीतु, 'वृत्तो वा' इति दीर्घं । आदरि आदरवत्, तत्तस्माद्द्विदरणाद्धेतो हे अर्थिकल्पद्रुम ! किञ्चिदर्थये याचे । किमिति ? प्राणसम प्राणतुन्य त्व हृदि मिदा भेदमेव । 'पिद्भिदादिभ्योऽङ्' । द्वारमवाप्य मार्गं लब्ध्वा मे मम हृतेस्त्वदप्राप्त्या विर-लैरसुमि सममेव मा गम. मा निर्गच्छ गमैर्लुङ् । 'पुपादी' त्यादिना च्छेरह्लादेश । 'न माहयोग' इत्यङ्गमाभाव । प्राणोत्क्रमणकाले त्वया जमान्तरेऽपि त्वत्प्राप्तिकामाया मे हृदयान्नापयातव्यम् । 'य य वापि स्मरन् भाव त्यजत्यन्ते क्लेवरम् । त तमेवेति कौ-टेय ! सदा तद्भावभावित' इति भगवद्बचनादिति भाव ॥ १०० ॥

अन्वय —मन इदम् आन्तर विदरीतुम् आदरि तत् अविक्ल्पद्रुम, किञ्चिद् अर्धये हृदि मित्रा द्वारम् जवाप्य प्राणसम मे हतासुभि समम् एव मा गम् ।

हिन्दी—मेरा यह अतस् विदीर्ण होना चाह रहा है, वो है याचको के निमित्त कल्पवृक्ष (नल), कुछ (थोड़ी सी) याचना कर रही हूँ—हृदय मे विदीर्ण स्थल-रूप द्वार प्राप्त कर प्राणतुल्य (तुम नल) मेरे अभागे प्राणों के साथ ही मत चले जाना ।

टिप्पणी—दमयती ने नल से अतिमें प्रार्थना की कि उसका हृदय अब प्राणप्रिय नल के अभाव में फट जायेगा । नल से यही उसकी याचना है कि हृदय के फट जाने से बने मार्ग से प्राण तो चले ही जायेंगे, पर ऐसा नल न करे कि प्राणों के साथ वह भी हृदय से निकल जाय, क्योंकि प्राणप्यारा नल भी 'प्राणसम' (प्राण जैसा) है । प्राणतुल्य होने से प्राणों के साथ चले जाने की सम्भावना हो सकती है, परन्तु नल मृत की अतिम प्रार्थना मान कर दमयती के अतस् में बना ही रहे, आर्य नहीं । इससे दमयती को यह लाम होगा कि नल उसे अय जन्म में प्राप्त हो जायेगा, भले ही इस जन्म में दमयती की यह इच्छा पूर्ण न हो सकी, क्योंकि कहा जाता है कि प्राणी जिस भाव का स्मरण करता शरीर त्याग करता है, सदा उस भाव से भावित होने के कारण उसे वही प्राप्त होता है । (धीमद्भगवद्गीता, ८।६) ॥ १०० ॥

इति प्रियाकाकुम्भिरुन्मिपन् भृश दिगीशद्वत्येन हृदि स्थिरीकृत ।

नृप स योगेऽपि वियोगमन्मथ क्षण तमुद्भ्रान्तमजीजनत् पुन ॥१०१॥

जीवातु—इतीति । दिगीशद्वत्येन हृदि स्थिरीकृतो नियुद्ध स वियोग-मन्मथो विप्रलम्भमृद्भार इतीत्य प्रियाया काकुम्भि करुणोक्तिमि उन्मिपन्नु-द्वुद्ध सन् त नृप योगे सन्निधाने सत्यपि क्षण पुनरुद्भ्रान्तमुद्भ्रान्तचित्तमुन्मत्-चित्तमिति यावत् । अजीजनदकार्षीदित्यर्थ । उन्मत्तचित्तविभ्रम सन्निधिविप्रयोग नर्दथा विकरोतीति भाव ॥ १०१ ॥

अन्वय—दिगीशद्वत्येन हृदि स्थिरीकृत स वियोगमन्मथ इति प्रिया-काकुम्भि मृगम् उन्मिपन् त नृप योगे अपि क्षणम् पुन उद्भ्रान्तम् अजीजनत् ।

हिन्दी—' इत्यादि) दिक्पालों का दूत होने से हृदय में (इस समय तक) स्थिर (चाँठ) बिचे हुए उस वियोगरूप मनोमथन करने वाले काम ने (उपमूर्क)

ऐसे (कदमानरे) प्रिया (दमयन्ती) के तीन वचना द्वारा जतीव उद्बुद्ध हो उस राजा (नल) को योग (सयोग) होते हुए भी जगत् नर पुनः उद्भ्रात (उन्मत्तचित्त) बना दिया ।

टिप्पणी—राजा नल 'धर्मघन' था, वह जन्तु इतना ही का निर्वाह करता हुआ, अपनी वियोगपीडा का मन में दबाये बैठा था, पर जब दमयन्ती ऐसे अत्यन्त कष्ट विलाप करने लगी तो वह वियोग दशा न सह सका और— यद्यपि दमयन्ती समुच्च थी तथापि—नल का मन पीडा से भर उठा और वह उन्मत्त-सा हो गया । योगसाधना करते योगी का हृदय स्थिर होता है, पर अन्यत कष्टों की स्थिति उसके चित्त को भी उद्भ्रात कर सकती है, जैसे शौचविहीन के कष्ट विलाप से ऋषिपुत्र वान्शीकि का भी अतस् विचल हो उठा था और वे शाप दे बैठे थे । ऐसे ही नल यद्यपि अत्यन्त धर्मवान् और कर्तव्यनिष्ठ था और दमयन्ती उसके निकट भी थी, तथापि इस कष्ट स्थिति ने उसे भी विचलित कर दिया । विद्याधर के अनुसार हेतु जोर रूपक अङ्कुर ॥ १०१ ॥

महेन्द्रद्वयादि समन्तमात्मनस्ततः स विन्मृत्य मनोरथस्थितैः ।

क्रिया प्रियाया ललितैः करम्बिता विकल्पयन्निन्दनलीकमालपत् ॥१०२॥

जीवानु—अयोन्मादानुभावः प्रापः प्रवृत्त इत्याह—महेन्द्रेति । तत उन्मादोदयानन्तरं स नल आत्मनो महेन्द्रद्वयादि समस्त सर्ववृत्त्य विस्मृत्य मनोरथस्थितैः सङ्कल्पविकल्पितैर्विनाशैः करम्बिता मिश्रिताः प्रियायाः क्रियाः शृङ्गारवेष्टा विकल्पयन्नालोचयन्तित्य वक्ष्यमाणप्रकारेणालोकमबुद्धिपूर्वकमालपत् ॥ १०२ ॥

अन्वयः—ततः स आत्मनः समस्त महेन्द्रद्वयादि विन्मृत्य मनोरथस्थितैः ललितैः करम्बिता प्रियायाः क्रिया विकल्पयन् इत्यम् जलीकम् आलपत् ।

हिन्दी—तदनन्तर वह (नल) अपने समस्त इन्द्रादि दिक्पालों के दूतादि भाव को भूतकर स्वेच्छाकल्पित विलासों से मिश्रित प्रिया (दमयन्ती) की क्रियाओं (शृंगार बधवा विलाप की चेष्टाओं) की नानाविध समावना करता इस प्रकार (आगे वर्णित) अबुद्धिपूर्वक कहने लगा ।

टिप्पणी—धर्मघन भी नल उद्भ्रात हो उठा और नूल बैठा जना सम्पूर्ण

कतव्य कि वह इन्द्रादि का दूत है और उन्मादी के तुल्य, जैसे कोई बुद्धिहीन मनुष्य व्यवहार करता हो, वैसे ही प्रिया की भ्रांति-भ्रांति शृंगार चेष्टाओं और विलाप-प्रलापों की तर्कणा करता कहने लगा। नारायण के अनुसार उन्मादवश प्रणयकलहादि की सभावना करता दमयन्ती के प्रति प्रलाप-सा करता बोला। विद्याधर के अनुसार विरोधाभास ॥ १०२ ॥

अयि ! प्रिये ! कस्य कृते विलप्यते विलिप्यते हा मुखमश्रुबिन्दुभिः ।

पुरस्त्वयालोकं नमन्नयन्न कि तिरश्चलत्त्रोचनलीलया नल ॥१०३॥

जीवात्—अय प्रलापमेवाष्टादशभिराह—अयीत्यादि । अयि प्रिये ! भैमी ! कस्य कृते क प्रति विलप्यते । भावे लट्, मुखम्, अश्रुबिन्दुभिविलिप्यते । प्रदूष्यते । कर्मणि लट् हेति छेदे । पुरोऽपि लभमन् प्रणमन् अय नलस्त्वया तिरश्चलत् त्रियक् प्रसरत् लोचनम् लीलया विलासेन धात्रीकृतदृष्ट्येत्ययः । नालोकं न दृष्ट किम् ? अपरोक्षे परोक्षवद्व्यालम्भा न युक्त-इत्ययम् ॥१०३॥

अन्वय — अयि प्रिये, कस्य कृते विलप्यते, मुखम् अश्रुबिन्दुभिः विलिप्यते ? हा, पुर नमन् अय नल कि तिरश्चलत्त्रोचनलीलया त्वया न आलोकं ?

हिन्दी—अरी प्यारी, किसके, निमित्त विलाप कर रही हो और मुख को आँसुओं की बून्दों से परिपूर्ण क्यों दे रही हो ? हा, समुल्लसता यह नल क्या तिरछे आर चंचल नयनों की विलासलीलाओं द्वारा प्रसार करती तुझ (दमयन्ती के) द्वारा नहीं देखा जा रहा ?

टिप्पणी—नल उद्भ्रात हा दमयन्ती की व्यथा दूर करने के लिए उसके समुल्ल विनम्र हो गया, माना चरण-विनिपात कर रहा ही छठी प्रिया को मनाने के लिए । वह उससे कहने लगा कि क्या व्यथ विलाप कर रही है और सुन्दर मुसंडे का आँसुओं से विरूप बना कर अमंगल कर रही है । जिसके लिए तू व्यथित है, वह तो तेरे समुल्ल प्रतीक्षा कर रहा है कि कब तू अपने चंचल, तिरछे षटाक्षों से उसे निहारे ? लगता है, आँसुओं से दृष्टि पूर्ण होने के कारण दमयन्ती को सामने खड़ा प्रिय नहीं दीस पा रहा । रोना छोड़ कर दमयन्ती को उचित है कि प्रणय-बलह समाप्त कर प्रेम से प्रिय को निहार कर हृत्ताय बनाये । विद्याधर के अनुसार छेवानुप्रास और हेतु ॥ १०३ ॥

चकान्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी घनाश्रुबिन्दुन्नू निकैतवात्तव ।

मसारसाराक्षि । मसारमात्मना तनोपि मसारमसृशय यतः ॥१०४॥

जीवानु—चकास्तीति । मसारसाराक्षि इतीति । ताविकाक्षिणी यस्यास्तस्या सम्बुद्धिः । हे मसारसाराक्षि ! घनाश्रुबिन्दुन्नूते सान्द्राश्रुबिन्दु-
च्युते । कैतवात्तव बिन्दोरनुस्वारस्य च्युतमेव च्युतकं बिन्दुच्युतकं विचित्र-
दाकरभेदं तत्रातिचातुरी चकास्ति नाति, ततस्तच्चानुपदिशेव ससारं नव
मसारसद्वन्वात्मना स्वमामर्थ्येन च ननार सारवन्न च्युतानुस्वारञ्च तनोपि ।
जसृशय सृशयो नास्तीत्यर्थः । अर्थाभावेऽर्थान्भावः । त्वया मे मसारसाकृत्य
मिति भावः । अत्र कैतवशब्देनाश्रुबिन्दुच्युतस्ताद्रूप्यापह्नवेन वर्णात्मकबिन्दुच्युत-
स्वारोपादपह्नवभेदः, तदुपजीवनेन मसारमिति सिद्धपदोपात्तप्रागुक्तार्थ-
द्वयाभेदाध्यवसायेन बिन्दुच्युतकाख्यकाव्यकरणोत्प्रेक्षणात् श्लेषमूला सापह्नवो-
त्प्रेक्षा सा चासृशयमिति व्यञ्जकप्रयोगाद्वाच्येति ॥ १०४ ॥

अन्वयः—घनाश्रुबिन्दुन्नूतिकैतवात् तव बिन्दुच्युतकातिचातुरी चकास्ति
यत् मसारसाराक्षि, जसृशय ससारम् आत्मनः ससारं तनोपि ।

हिन्दी—घनी आँसू की बूंदों के गिरने के व्याज से तुम्हारी बिन्दुच्युतक
नामक शब्दालंकार विशेष में अत्यंत चतुरता व्यक्त हो रही है, क्योंकि हे
इन्द्र नील मणि के सदृश नयनों वाली (दमयन्ती), तुम निःसंदेह 'ससार'
(नमस्त) को (बिन्दु हटाकर) 'ससार' (सारवान्) बना रही हो ।

टिप्पणी—नल कहने लगा कि दमयन्ती का रुदन भी मनोहर है,
उससे उसकी श्रेष्ठ इन्द्रनीलमणि सदृश आँसू मसार को मनोहर बना रहीं हैं ।
वह जो ये आँसू-बूँदे गिरा रही है—'बिन्दुच्युत' कर रही है, उससे प्रतीत
होता है कि वह 'बिन्दुच्युतक' अलंकार की विशेषज्ञा है, क्योंकि अश्रुबिन्दु-
रूप बिन्दु हटाकर वह 'ससार' को 'ससार' अर्थात् अपने नयनों के विलास
से रमणीय बना दे रही है । 'बिन्दुच्युतक' चित्रकाव्य का एक प्रकार है,
जिससे 'बिन्दु' अर्थात् अनुस्वार हटा देने से अर्थ बदल जाता है—'अनुस्वार-
च्यवनासत्रार्थांतरप्रतीतिस्तद्बिन्दुच्युतकम् ।' जैसे 'ससार' (जात्) का
अनुस्वार हटा दिया तो बन गया 'ससार' (सारवान्) । भाव यह कि यह
समार' दमयन्ती के लीचनों से ही 'ससार' है । मन्त्रिनाथ के अनुसार यहाँ

वैतव शब्द द्वारा अधुविदुच्यति का उस रूप में अपह्नव करके उसमें वर्णात्मक विदुच्युतक का आरोप किया गया है, अतः अपह्नुति है। उसके उपजीवा द्वारा 'समार' इस श्लेष पदोपात्त पद के अर्थद्वय में अभेदाध्यवसाय से विदुच्युतक की उत्प्रेक्षा हुई है, अतः श्लेषमूत्र सापह्नवा उत्प्रेक्षा हुई, जो 'असशयम्' इस व्यञ्जक के प्रयोग से वाचा है। इसे चन्द्रकलाकार ने श्लेष-अपह्नुति और उत्प्रेक्षा की ससृष्टि कहा है। विद्याधर के अनुसार यहाँ अनुप्रास-अपह्नुति और श्लेष हैं ॥ १०४ ॥

अपास्तपाथोरुहि शायित करे करोपि लीलानलिनं किमाननम् ।

तनोपि हार कियदश्रुण सर्वैरदोपनिर्वासितभूषणे हृदि ॥१०५॥

जीवातु—अपास्तेति । हे प्रिये ! किं किमि-अपास्त त्वक्त पथोरट् लीला-पथोरह येन तस्मिन् करे शायित स्थापितमारोपितमाननमेव लीलानलिन करोपि, लीलाकमलपरिहारेण करकपोलकरणे कि कारणमित्यर्थः ॥ अदोपाप्येव निर्वासितानि परित्यक्तानि भूषणानि येन तस्मिन् हृदि अश्रुण सर्वैरश्रुधारा-भिरेव हार कियत्तनोपि ? किमर्थं रोदिपीत्यर्थः ॥ १०५ ॥

अन्वय —अपास्तपाथोरुहि करे शायितम् आनन लीलानलिन कि करोपि, अदोपनिर्वासितभूषणे हृदि अश्रुण कियत् हार तनोपि ?

हिन्दी—अस हाथ ने लीलाकमल त्याग दिया है, उस पर स्थापित मुख को लीलाकमल क्यों बना रही हो और बिना अपराध ही जिसके आभूषण हटा दिये हैं, उस हृदय पर अश्रुधाराओं से कितना अवसा कबतक हार बनानी रहोगी ?

टिप्पणी—विरहिणी दमयंती ने अपने हाथ से लीलाकमल हटा दिया था और दुःख और चिन्ता से मुख हथेली पर टिकाये धारा प्रवाह अभुवर्षा कर रही थी। हथेली पर रखा मुख ऐसा लगता था कि लीलाकमल हो और हृदय पर गिरती आँसू की बूँदें जैसे मुक्ताहार प्रतीत हो रही थी। नल दमयंती को दुःख चिन्ता छोड़ स्वामाविक स्थिति में आने को कहता है कि यह पुनः लीलाकमल ग्रहण करे और रुदन का परित्याग कर आभूषणादि पहिन ले। भङ्गिमाविद्येय से मुख को लीलाकमल और अधु-विन्दुओं को मुक्ताहार कट् उनकी मनोहरता व्यक्त की गयी। विद्याधर के अनुसार जतिशयाक्ति और लेख ॥ १०५ ॥

दृशोरमङ्गल्यमिद मिलज्जल करेण तावन् परिमार्जयामि ते ।

अथापराध नवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभि सममात्ममौलिना ॥१०६॥

जीवानु—दृशोरिति । इद ते दृशोरक्ष्योमिलदुन्वयमानममङ्गलकारि
जन्मयु तावत् करेण परिमार्जयामि परिमार्ज्जिन, मृजेञ्चौरादिकाञ्छत् । अथाथु-
माजंनान्तरम्, अत्रापमानवञ्चनदोष नवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभि सम
त्वच्चरणकमन्तेषुभि महेति सहोक्त्यलङ्कार । आगतो मौलिना मुकुटेन
प्रणामेनेत्यर्थं । परिमार्जंयामि ॥ १०६ ॥

अन्वय—तावत् करेण इद ते दृशो मित्त्व अमङ्गल्य जल परिमार्जयामि
अथ नवदङ्घ्रिपङ्कजद्वयीरजोभि समम् अनराधम् जान्ममौलिना ।

हिन्दी—मैं (नल) पहिले हाथ से इस तरे (दमयन्ती के) नेत्रों मे
लगे अमंगलकारी (अशुभ) जल (जामुजो) का परिमार्जन करता हूँ
(बामू पाँछता हूँ), तदरचात् तुम्हारे चरणकमलद्वय में लगी घूलि के साथ
अपने (नल के जब तक दुःख पहुँचाने के) अपराध को अपने मुकुट से ।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती को प्रमत्न रखने के निमित्त अपने हाथ से
सगके बामू पाँछने और कोप दूर करने के लिए चरणों में प्रणत हो अपने
मुकुट में चरण घूलि स्वच्छ करने का निवेदन किया और इस प्रकार अब
तक दमयन्ती का प्रवचन कर दूत कर्तव्य पालन करते व्यथित करने वाले
वचन कहने का अनराध दूर करने का प्रस्ताव रखा । भाव यही है कि
नल ने दुःख छोड़ प्रसन्न हो जाने का आग्रह दमयन्ती से किया । मल्लिनाथ
के अनुसार सहोक्ति, त्रिद्वय ने सहोक्ति-तुन्वयोगिता का निर्देश किया है ।

मम त्वदच्छाद्घ्निनन्तामृतद्युते किरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी ।

उषाननामन्य कगेनु रोहिणी त्यज त्यजाकारणरोषणे । एयम् ॥१०७॥

जीवानु—ममेति । हे अकारणमेव रोषणे ! कोपने ! 'क्षुम-दार्पण्यम्'
इति मुच्यन्त्य । रोहिणी लोहितवर्णा 'वर्णादिनुदात्तासौप्तवासौ न' इति ङीप्
नकारञ्च । मम किरीटमाणिक्यमयूखाना मञ्जरी सैव रोहिणी चन्द्रप्रिया सैव
तारा अन्य पुर स्थितस्य तवाच्छाद्घ्निनखन्यैवानृतद्युतेश्च त्रस्योपासना करोतु,
रोहिणश्च त्रसेवौषिधादिति भाव । एय रोष त्यज जनीत्याल्यजेत्यर्थं ।

'नित्यबोधयो' इति नित्याथे द्विर्भाव । नित्यमभोधम् । 'प्रणिपातप्रसीकार-
सम्भा हि महात्मना'मिति भावः । रूपकालङ्कार ॥ १०७ ॥

अन्वय—मम रोहिणी विरीटमाणिक्यमयूखमञ्जरी अस्य त्वदच्छाड्भि-
नखा मृतद्युते. उपासनां करोतु, अकारणरोपणे, रूप त्यज, त्यज ।

हिन्दा—मेरी चन्द्रप्रिया रोहिणी (रक्तवर्णा) मुकुट के माणिक्यरत्ना
की विरणा की दीप्ति इस तरे (दमयन्ती के) स्वच्छ चरण-नख रूप अमृत-
द्युति (चन्द्र) की उपासना करे । हे व्यय ही रोप करन वाली, रोप को
पूर्णतया छोड़ दे ।

टिप्पणी—नट दमयन्ती के चरणों में झुक कर उसे मनाने का प्रयत्न
किया, जिससे नल के मुकुट में लगे माणिक्या की लाल कांति दमयन्ती के
चरण नखा की रजित करने लगी । 'माणिक्यमयूखमञ्जरी' 'रोहिणी' (रक्त-
वर्णा) होने से उसकी तुलना चन्द्रपत्नी रोहिणी (तारा) से की गयी, जो
दमयन्ती के चरणनख रूप प्रिय चन्द्र का रजन कर रही है । जैसे चन्द्र प्रिया
रोहिणी समीपस्था हो चन्द्र की सेवा करती है, वैसे ही मुकुट माणिक्य की
दीप्ति दमयन्ती के चरण नखा को समीपवर्तिनी हो उसका रजन करने लगी ।
मल्लिनाथ के अनुसार रूपक अलंकार, विद्याधर ने अनुप्रास रूपक-रूप का
निर्देश किया है ॥ १०७ ॥

तनोपि मान मयि चेन्मनागपि त्वयि श्रये तद्बहुमानमानत ।
दिनम्य वक्त्र यदि वर्तसे कियन्तमामि ते चण्डि ! तदा पदावधि ॥ १०८ ॥

जीवातु—तनोपीति । हे चण्डि ! अतिवाचन मनागोपदपि मान मयि
रोधमपि तनोपि चेत् । तत्तद्दि त्वयि विषये आनत सन् बहुमान श्रये सम्मान
कुर्वे, प्रतिकोपासकैरिति भावः । अतिक्रोध चेति गम्यत । किञ्च वक्त्र कियत्
किञ्चिद्दिनम्य दिनमय्येत्यर्थः । अन्तर्भावितो गिजयं । वर्तसे तदा ते पदावधि
पादपर्यन्त ममामि । पूर्वोक्त एवाभिप्रायः ॥ १०८ ॥

अन्वय—ममि मनाक् अपि मान तनोपि चेत् तत् आनत त्वयि
बहुमान श्रये, चण्डि, यदि वक्त्र कियन् विम्य वर्तसे तदा ते पदावधि ममामि ।

हिन्दी—यदि मुझ पर यादा भी मान (प्रणयनाप) करती हो तो
विनव हा तरे प्रति अपना अत्यन्त 'मनोवत' प्रस्तुत करता हूँ । हे चण्डि

(अत्यन्त दृष्ट) यदि मुक्त को (मान ने) झुका रही हो तो मैं तेरे चरणों तक विनत हूँ ।

टिप्पणी—मानिनी दमयन्ती का रोप दूर करने के निमित्त नल चरणों तक नत होकर दमयन्ती 'मनोबल' करने लगा । दमयन्ती के 'मनाङ् मान' (छोटे मान) को जगने 'बहुमान' (खूब मनाना सञ्चार) में और 'कियत् 'वक्त्रविनमन' (छोटे मूत्र को चुकाने) को 'पदावधि नमन' (अत्यन्त झुकने) से दूर करने का प्रयास । भाव यही कि दमयन्ती प्रसन्न हो । विद्याधर के अनुसार छेकानुप्रास और विरोध ॥ १०८ ॥

प्रभुत्वभूमनानुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमेऽपि क थम ।
 क्व याचना कल्पलतासि मा प्रति क्व दृष्टिदाने तत्र बद्धमुष्टिता ॥१०९॥

जीवानु—प्रभुत्वेति । हे मेनि ! प्रभुत्वभूमना प्रभुत्वप्रवृत्तगौरवेषानुगृहाण वा न वा, किन्तु प्रणाममात्रस्याधिगमे स्वीकारेऽपि क थम को भार इत्यर्थं । अथ सोऽपि मामृत दर्शनमानेऽपि किं नानुगृह्णासीत्याह—क्वेति । याचता मयिना कल्पलतानि, क्व ? त्व क्वेत्यर्थं । असीति त्वमप्यंशकपालद्वारपारायुष्मदयानुवादेऽसीति गव्याख्यानानात् । मा प्रति दृष्टिदाने बद्धमुष्टिता लुपता क्व ? 'स्याद्बद्धमुष्टि कृपणो दृग्गपादिषु चेष्यते' इति विश्व । विस्मयघटनाह्नो विजमालङ्कार ॥ १०९ ॥

अन्वय—प्रभुत्वभूमना अनुगृहाण वा न वा प्रणाममात्राधिगमे अपि क थम ? क्व याचता कल्पलतासि, नव मा प्रति दृष्टिदाने अपि तत्र बद्धमुष्टिता ?

हिन्दी—पूर्वास्वामित्व के अधिकार से तुम मूत्र पान अनुग्रह करो या न करो किन्तु (मेरी) प्रपत्तिमान स्वोत्कारने में भी तुम्हें क्या थम पडता है ? कहाँ तो तुम याचकों के निमित्त कल्पवल्गरी हो—यह प्रसिद्धि और कहाँ मेरे प्रति निमित्त जवलोवन में भी यह मूट्टी बाँध लेना (कृपणता) ?

टिप्पणी—नल के कथन का अनिप्राय है कि उसने अपने को सपूना मात्र ने दमयन्ती के अधीन कर दिया है और उतका पूर्ण अधिकार—प्रभुता अपने पर मानता है, सो दमयन्ती का अधिकार है कि वह नल पर कृपा करे या न करे । प्रभु को दास पर कृपा करने या न करने का अधिकार है । प्रभु चाहे जैसा आज रहे, दास तो विरत रहेगा ही । नल को जानति इसी में है

कि नल की प्रणति भी दममन्ती नहीं स्वीकार रही। ऐसी भी क्या निममता? प्रणाम स्वीकार ने मे तो कुछ परिश्रम भी नहीं होता। इसके अनिरिक्त प्रसिद्धि तो यह थी कि दमयन्ती याचको की इच्छा उसी प्रकार पूरी करती थी, जिस प्रकार कि कल्पवृक्ष की लता, परन्तु वही दमयन्ती नल के प्रति इतनी कृपणता क्यों दिखा रही है कि क्षण भर को उससे दृष्टि भी नहीं मिलती? भाव यह कि एक बार तो नल को दमयन्ती निहारने की कृपा करे। मल्लिनाथ के अनुसार विस्पद्यतनाम्प विषम बलकार, विद्याधर ने विषमरूपकालकार का निर्देश किया है ॥ १०९ ॥

स्मरेषु बाधा सहसे मृदु कथ हृदि द्रतीयकुचसवृते तव ।

निपत्य वैमारिणकेतनस्य वा व्रजति बाणा विमुखोत्पनिष्णुताम् ॥११०॥

जीवातु—स्मरेति । हे मीमी ! मृदु मृदुनी त्व स्मरेषुबाधा कामबाण-
व्यया कथ गहसे ? अथवा विभरतीति विचारी म एव वैमारिणो मत्स्य
'विमारिणो मत्स्ये' इति स्वार्थेऽप्रत्यय । तत्केतनस्य कामस्म बाणा द्रवी-
योम्या हृदतराम्यां कुचाभ्या सवृते तव हृदि निपत्य विमुखा कुचप्रतिहया
पराङ्मुखा । अत एवोत्पनिष्णव उत्पत्तनीता, 'जलङ्घनि'त्यादिना
इष्णुप्रत्यय । तत्ता व्रजति वा, अथवा कथमुपेयस इति भाव ॥ ११० ॥

अन्वय—मृदु स्मरेषुबाधा कथ सहसे, वा वैमारिणकेतनस्य बाणा-
द्रवीय कुचसवृते तव हृदि निपत्य विमुखोत्पनिष्णुता व्रजति ?

हिन्दी—कोमल (दमयन्ती) काम बाणा की पीडा को कैसे सह रही
हो, जयवा (प्रतीत होता है कि) मकरध्वज (काम) के हृदतर कुचों से
आच्छादित तेरे (दमयन्ती के) हृदय पर टकरा उलटकर उलट जाने हैं ?

टिप्पणी—नल का लक्ष है कि जब दमयन्ती नल के कारण काम पीडिता
है तो वह अब क्यों व्यय कष्ट उठा रही है ? इस पर दो समावर्णार्थ हैं—
या तो कोमल होकर भी दमयन्ती की महनशक्ति अपूर्व है कि प्रहार चुनचाप
सह ले रही है अथवा ये कामबाण उसके हृदय तक पहुँच ही नहीं पाते,
उसके कठोर, पीन पयाधरा से टकरा उछल कर लक्ष्य छूट हो जात हैं।
'विमारी' अथवा 'वैमारी'—मछली जो विपरण करे। अमरकोष के
अनुसार—'मीनो वैमारिणोऽङ्गव ।' विद्याधर के अनुसार निरोध और
आशेषाङ्कार ॥ ११० ॥

स्मितस्य मंभावय मृक्वगा कपान् विवेहि लीलाचलमञ्चल भ्रुवोः ।
 अपाङ्गरध्यापयिकीञ्च हेल्या प्रसह्य सन्नेहि दृश मनोपरि ॥१११॥

जीवानु—स्मितस्येति । स्मितस्य । कपान्मन्दहासलेशान् मृक्वगा जोष्ट-
 प्रान्तेन । प्रात्रावोष्टन्य मृक्वगी इत्यनर । मन्भावय भ्रुवोरश्चान्नल लीलाया
 च चञ्चल विवेहि । तथा जराङ्गरध्या कटासमार्गं । तत्र पन्थान उच्छतीति
 पयिकी सञ्चारिणी 'पय ध्वन्' इति ध्वप्रत्यये 'पिद्गीरादिभ्यश्च' इति
 ङोप् । इय मनोन्मुनरिष्टात्, 'पठ्यतस्यंप्रत्ययेने'ति पठ्यी । हेल्या प्रसह्य
 वनात् सघेहि प्रसारयेत्यय । 'ध्वसोरेद्धावभ्यासोपश्चे'त्येकार ॥१११॥

अन्वय—मृक्वगा स्मितस्य कपान् मभावय, भ्रुवो अञ्चल लीलाचल
 विवेहि अनाङ्गरध्यापयिकी दृश च मन उपरि हेल्या प्रसह्य सन्नेहि ।

हिन्दी—जोष्ट प्रात मे मन्दहास्य के कपो को धन्य करो (ओठों पर
 मुग्धान गयो), भ्रुवुग के प्रदेश को लीला विलास से चञ्चल बनाओ
 (झूझें करो) जोर में प्रसन्न रूप रध्या (गली, छोटा मार्ग) की निन्थ-
 यात्रिणी दृष्टि का मुख पर हेल (दिनासावोकेन) के साथ बन्दुर्वक
 प्रकार करो (लीलाकटाशो से नेती-नल को-जोर निहारो) ।

टिप्पणी—भाव यही है कि प्रसन्न हो दम्पती मन्दस्मित सहित नल
 को प्रणम्युं दृष्टि से निहारो । भाव, हाव और हेरा—जमी सन्द की
 देहानञ्च म्पिति के परिणाम है । ये सत्त्वभेद से देह में प्रकृतिस्य हैं और
 परस्पर नमुचित भी होते हैं । सामान्यत इनका शून है—पहिले भाव, तब
 हाव तदनन्तर हेरा (नाट्यशास्त्र २०।९-७) । निर्विकारामञ्च मन्त्र ने
 कायि विवृति भाव है (दण्डन २।३३, साहित्यदर्पण ३।१०३), भाव से
 हाव की उत्पत्ति होती है । हाव जयात् शयि, भ्रू, प्रोवा की भ्रिमाओं से
 शृङ्गार का मूक्च सत्त्वोन्धित विकार (ना० शा० २२।१०) । हाव की
 मन्दता ही हेरा है, हाव की अनेका इसमें विकार अधिक लक्ष्य होता है
 (ना० शा० २२।११) । नारायण ने चतुर्थ चरण के 'प्रसह्य की अनेका
 'प्रसह्य' पाठांतर को माना है, जिसका अर्थ हुआ—'प्रसन्न होकर' । यह पाठांतर
 अधिक उपयुक्त है । विद्याप के अनुसार अनुप्रास-रूपक-उत्तमालका ॥१११॥

ममापय प्रावृषमश्रुविप्रुषा स्मितेन विश्राणय कौमुदीमुद ।

दृशावित खलनु खञ्जनद्वयी विकासि पङ्केरुहमस्तु ते मुखम् ॥११२॥

जीवातु—समापयेति । किञ्चाश्रुविप्रुषा प्रावृष वर्षर्तुं वृष्टमित्यर्थं । समापय मा रोदीरित्यथ । प्रावृष्टसमाप्ते फलमाह—स्मितेन मन्दहासेन कौमुदीमुदो विश्राणय वितर । श्रुण दान इति चौरादिकाल्लोट् । दृशावेव खञ्जनद्वयी खञ्जनपक्षियुगमितो मयि खलनु प्रसरतु, ते मुख विकासि पङ्केरुह मस्तु, प्रसन्न भवत्वित्यर्थं ॥ ११२ ॥

अन्वय — अश्रुविप्रुषा प्रावृष समापय, स्मितेन कौमुदमुद विश्राणय, खञ्जनद्वयी दृशो इत खेत्तु, ते मुख विकासिपङ्केरुहम् अस्तु ।

हिन्दी—अश्रु बिन्दुओं की बरसात समाप्त करो (न रोओ), मन्दहास्य से चाँदनी की प्रसन्नता फैलाओ (मुसकाओ), खजनयुगल से नेत्र इस ओर (नल की ओर) देखें (नल की ओर प्रेम से निहारो) और तेरा (दमयन्ती का) मुख गिलते कमल मा हो जाय ।

टिप्पणी—नल ने दमयन्ती को समझाया कि वह रोना छोड़ प्रसन्नतासे मुसकुराये और प्रसन्नमुती हो नल की ओर अपने खजन पक्षी से नयनों से निहारे । इसे वर्षा की समाप्ति और शरदागम के उपमान से कहा गया है । वर्षा समाप्त हो और शरदागम हो, जिसमें निर्मल चाँदनी का प्रसार हो, खजनपक्षी कल्लोल करे और कमल विकसित हो । दमयन्ती के आँसू वर्षा प्रवाह है, जिसके समाप्त होने पर उसके मन्दहास्यरूप चाँदनी का प्रसार होगा, खजन से नेत्र प्रसन्नता से नाच उठेंगे और मुख विकसित कमल-पक्षी का प्राप्त करगा । भाव है कि रोना छोड़, प्रसन्न हो स्मितपूर्वकटाक्ष-विशेषण के साथ कुछ वीले दमयन्ती । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति और रूपक ॥ ११२ ॥

मुधारसोद्वेलनकेलिमक्षरस्रजा सृजान्तमम बर्णकूपयो ।

दृशो मदीये मदिराक्षि । कारय स्मितश्रिया पायसपारणाविधिम् ॥११३॥

जीवातु—मुषेति । हे मदिराक्षि ! मदकराक्षि ! 'इपिमदी'त्यादिना औणादिन किरच्छ्रत्यय अक्षरस्रजा वर्णाश्रया वाग्मुक्तेन बर्णकूपयोरत मुधारसयोद्वेलनकेलिमुञ्जनतीला सृज । आलपेत्यथ । विश्व मदीये दृशो

स्मितधिया करणेन पायसपारणाविधिं पायसमोजनविधिमपि कारय । 'पर-
माश्रन्तु पायसम्' इत्यमरः । 'हृद्धारण्यतरस्याम्' इति विकल्पादपि कर्तु-
कमेत्वम् ॥ ११३ ॥

अन्वयः—मम कर्णरूपयो जत जसस्त्रवा मुपारसोद्वेनकेलि मृज,
मदिरासि, मदीने ह्यौ स्मितधिया पायसपारणाविधिं कारय ।

हिन्दी—मेरे (नन् के) कानो रूप कृशों (कर्णछिद्रों) के भीतर
बगंमालाद्वारा अमृतरस को उठाने की क्रीडा करो । हे मदमरे नयनों
वाली (मदिर नयनें), मेरे नेत्रों को मदहास्य की शोभा द्वारा खीर-
मोजन से पारणा (उपवासानन्तः भोजन) कराओ ।

टिप्पणी—नन् के कथन का भाव यही है कि दमयन्ती कुछ प्रसन्न हो
बोले, जिससे नन् के कानों में अमृतरस जैसा उद्वेलित होने लगे और वह
जपने मदमरे नयनों से नन् को निहारती अपनी मुमुक्षान द्वारा उसके नेत्रों
को सुख और सतोष देने की कृपा करे । ऐसे मधुर, प्रेमपूर्ण वचन दमयन्ती
के मुख से निकले कि जिस प्रकार कोई केलिप्रिया बालिका रूप वादली में
पानी उछाल-उछाल कर परिवेश को जलसिक्त कर देती है, उसी प्रकार
दमयन्ती के मुख से उद्भूत वांछाना रूप बालिका अमृतरसोद्वेन केलिद्वारा
नन् के कर्णरूपमुण्ड को परिषिक्त कर दे । दमयन्ती के मदमरे नयन हैं,
नन् का निवेदन है कि नन् के नेत्र न जाने कब से दमयन्ती की मुमुक्षान के
लिए तरस रहे हैं, उपवास करते ध्वनि के तुल्य हो उन उपोषित नयनों की
पारणा के निमित्त दमयन्ती जपने स्मित का खीरमोजन देकर कृपायं करे ।
सुदूर शोक में जलाशय में जलकैलि करती, मदहास्य-शोभा का प्रसार
करती केलिपरायण बालिका का चित्र उमरता है, जो दर्शक को हृषं से
आम्पासित कर देती है । मधुर वाक्य रचना अमृत तुल्य है और कवि समय
के अनुसार शुभ्र स्मित की समता 'पायस' (खीर) से की गयी है । विद्याधर
के अनुसार अतिशयोक्ति और श्लेष ॥ ११३ ॥

ममामनाद्यै भव मग्हन नन प्रिये मद्दुस्तङ्गविभूषण भव ।

अनाद् अनादालपमङ्ग । मृप्यता विना ममीर कतरत्नवासनम् ॥११४॥

जीवातु—ममेति हे प्रिये । ममासनाद्यै मण्डन भव । तत्रोपविशेत्यर्थं । नन । अत्यनुचितमेतदित्यर्थं । किन्तु मदुत्सङ्गविभूषण भव, अङ्कुमारोहेत्यर्थं । तदपि नेत्याह— भ्रमाद्भ्रमादालप भ्रमादालप भ्रमादालापमित्यर्थं । लपेलङ् । अङ्ग भो ! मृष्यता क्षम्यता, किन्तु ममोरो वक्षो विना तवासन कतरत् किमस्ति ? 'चापले द्वे भवत इति वक्तव्यमि'ति ननेत्यादौ चापले द्विर्भाव । चापल सभ्रमाद्विबृत्ति सम्भ्रमश्चानौचित्यभयादिति । अन भूम्या क्रमेणाधार-हृवृत्तिकथनात्पर्यायालङ्कार । 'एकमनेकस्मिन्ननेकस्मिन् वा क्रमेण पर्याय' इति सर्वस्वकारलक्षणात् ॥ ११४ ॥

अन्वय—प्रिये, मम आसनाद्धन मण्डन भव, नन, मदुत्सङ्गविभूषण भव, अङ्ग, भ्रमात् भ्रमात् आलपम्, मृष्यताम्, मम उर विना तव आसन कतरत् ?

हिन्दी—प्यारी, मेरे आसन के आगे भाग की सोमा बनो, नहीं-नहीं, मेरी गोद का आभूषण बनो ! हे अग (हे सुन्दरि, हे मेरे अवयव तुल्य), (जो कुछ मैंने कहा) भ्रम—केवल भ्रम से कहा, क्षमा करो ! मेरे हृदय को छोड़कर और तेरा आसन कौन सा है ?

टिप्पणी—प्रणयी नल अपनी प्रिया को मनाता बहने लगा कि दमयन्ती उसके साथ उसके राज्यासन के अर्द्धभाग पर आ विराजे, जैसी कि परम्परा है—रानी के साथ सिंहासन पर विराजती है । फिर उसे लगा कि यह समान तो है पर प्रणयी का समान नहीं, अत 'न-न' कह कर उसने दूसरा प्रस्ताव किया कि दमयन्ती उसकी गोद में विराजे, परन्तु तुरन्त ही उसे बोध हुआ कि प्रिया के लिए इतना भी पर्याप्त नहीं है, वह तो उसकी अग है, उससे अभिन्न । तो उसका सबसे अच्छा स्थान हा सकता है प्रिय (नल) का हृदय, अत अत म उसने अपनी भूत मानते हुए दमयन्ती को हृदय में स्थित हो जाने का निवेदन किया । नारायण ने तृतीय चरण का पाठांतर दिया है—'अह भ्रमादालपमङ्ग मृष्यताम्'—अर्थात् मैंने यह सब भ्रम से बोल दिया, तू क्षमाकर । हृदय ही तेरा उचित आसन है, उसके अतिरिक्त और कोई अग तेरा आसन हो ही नहीं सकता । कोमल आम्रनात्मक 'अङ्ग' अवयव का भी सूचक है । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ पर्यायालंकार है,

क्योकि क्रममे नैमी की आधारदृष्टिमे का कथन हुआ है। विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है ॥ ११४ ॥

अर्धोपपञ्चाशुगवाणवञ्चने । म्यिता मदन्तर्वहिरपि चेदुर ।

स्मराशुगेभ्यो हृदय विभेतु न प्रविश्य तत्स्वन्मयमपुटे मम ॥११५॥

जीवातु—विञ्चोर स्थलाद्यवस्थानेषु ममापि कामादमयमित्याह—अर्धा-
तेति । जघीना अभ्यस्ता पञ्चाशुगस्य पञ्चैशोर्बाणाना वञ्चना प्रतारणादिद्या
मया सा तथोक्ता तस्या सम्बुद्धि । प्रायेण मनस्विना लज्जावशवदतया
मदनवञ्चनताच्छीन्यादित्य सम्बोध्यते स्वहृदयप्राणसामर्थ्यसूचनायं हे नैमि ।
त्वमदन्तर्मान्यतरे स्थिता जवस्थिता । अथ बहिर्हरदचैपि प्राप्नोपि चेत्
तत्तर्हि मम हृदय (कर्तुं) त्वमये त्वदात्मके अपुटे पेटिकाया प्रविश्य स्मराशुगेभ्य-
स्मरशरेभ्यो न विभेतु । त्वया गुप्तम्य मे कुत कामास्त्रमयमित्यर्थं ॥११५॥

अन्वय—जघीतपञ्चाशुगवाणवञ्चने, मदन्त म्यिता वहि उर एपि
चेत् तत् मम हृदय त्वमयमपुटे प्रविश्य स्मराशुगेभ्य न विभेतु ।

टिप्पणी—हे पञ्चबाण (काम) के बाणों की वचना का अध्ययन किये
हुई (दमयती), तुम यदि मेरे जन्म मे दमती बाहर वक्ष स्थल पर रहो तो
मेरा हृदय त्वद्रूप (दमयती रूप) संपुट (सडूक) मे प्रविष्ट हो काम
बाणों से न डरे ।

टिप्पणी—नल कामव्यथित है । उसे इस कामदत्त व्यथा से दमयन्ती ही
सुटकारा दिला सकती है । दमयती मे ऐसी क्षमता है, क्योकि वह काम-
बाणा की भी प्रतारणा कर सकती है, जैसा कि श्लाक सुन्ना ११० मे कहा
गया है कि उसके वक्षपर गिर कर कामबाण भी विमुक्त हो जाते हैं । इस
लिए कामबाण वचना की पारगता दमयन्ती से नल का निवेदन है कि वह
नल के जतस में, नीतर नी विराज और बाहर 'उर' पर भी । इन दोनों
के बीच जैसे सडूक मे टिपा नल का हृदय कामबाणा से निर्भय रहेगा । भाव
है कि मन मे टिपी प्रिया उसके वक्ष से जा लौं, जिनसे नल की वामपीड
दूर हो जाय । विद्याधर के अनुमार अतिशयोक्ति ॥ ११५ ॥

पग्ध्वजम्बानवकाशवाणता स्मरम्य लग्ने हृदयद्वयेऽन्तु नौ ।

दृष्ट मम त्वन्मुचयो कठोरयोःरस्मन्टीय परिचारिकोचिता ॥११६॥

जीवानु—परिष्वजस्वेति । ह प्रिये ! परिष्वजस्व आलिङ्ग । तथा सती लने मियोषटिते नौ आवयोहृदयद्वये स्मरस्यानवकाशा नीरन्ध्रत्वान्निरवकाशा वाणा यस्य तस्य भावस्तता अस्तु । इत्यमालिङ्गन स्मरशरप्रवेशानवकाश-कारकमिति भाव । किञ्च दृढा कठोरा ममेयमुरस्तटी कठोरयोस्त्वत्कुचयो परिचारिका उचिता युक्ता । समानगुणयो सम्बन्धो युक्त इत्यर्थः । अत्र समा-लकार । 'सा समालङ्कृतियोगे वस्तुनोरनुष्पयो' इति लक्षणात् ॥११६॥

अन्वय — परिष्वजम्ब, नौ हृदयद्वये लने स्मरस्य अनवकाशवाणता अस्तु, मम दृढा इयम् उरस्तटीय कठोरयो त्वत्कुचयो परिचारिका उचिता ।

हिन्दी—(हे प्रिये !) आलिङ्गन कर, हम दोनों के दोनों हृदय मिल जाने पर वाम के बाणों को अवकाश ही न रहे । मेरी यह कठोर वक्ष स्थिती का तेरे (दमयन्ती) के कुचों की सेविका होना अत्यन्त उपयुक्त है ।

टिप्पणी—भाव है कि नल दमयन्ती आलिङ्गन बद्ध हो जायें, जिससे दोनों की काम ध्यया मिट सके । जब दोनों के हृदय मिल जायेंगे, तब काम-वाणों के प्रवेश का स्थान ही नहीं रहेगा, स्थानाभाव के कारण काम बाण व्यर्थ हो जायेंगे । नल का विशाल वक्ष स्थल दमयन्ती के पीनपयोधरो से आश्रित होने का औचित्य रखता है, कुछ कठोर है, तो वक्षस्तटी भी दृढ—अत्यन्त कठोर है । समानशीलता है, सो सख्य उचित है । उचित स्वामी का सेवक भी उपयुक्त होना ही चाहिए । कठोरकुचों की उचित 'दृढ उरस्तटी' ही हो सकती है । मल्लिनाथ के अनुसार सम अलकार ॥११६॥

शुभाष्टवर्गस्त्वदनङ्गजन्मनस्तवाधरेऽलिरूपत यत्र लेखया ।

मदीयदन्तक्षतराजिरञ्जन स भूर्जतामर्जंतु दिम्बपाटलः ॥११७॥

जीवानु—शुभेति । यत्र यस्मिन्न तवाधरे रेखया रेखाभिरित्यर्थः । जाता-वेकाचनम् । त्वदनङ्गज मन त्वदीयममयोदयस्य सम्बन्धी शुभाष्टवर्गं शुभ-सूचकाष्टवर्गं ज्योतिष्शास्त्रप्रसिद्धः अलिरूपत रेखारूपेण लिखित । रेखारूपस्यैव शुभावेदकत्वात् त्रिदुर्गस्य वैपरीत्याच्चेति भाव । मदीयदन्तक्षतानां राग्या रञ्जन त्रिम्बफलवत् पाटल सोऽपर भूजता भूजपत्रत्वमर्जंतु भजतु । अर्जोर्भावा-दनात्लोट् । अत्राधररेखाणामष्टवर्गरेखात्वमधरस्य भूजपत्रत्व चोत्प्रेक्ष्यते ।

तेन च कामोदयस्य शुभोदकत्व व्यस्यते । जन्मकालप्रहासानमाविशुभादेदको
रेखात्रिदुलेस्वचक्रविशेषाद्दामो ग्रहसन्निवेशविशेषोऽष्टवां ॥ ११७ ॥

अन्वयः—त्वदनङ्गजन्मन शुभाष्टवां रेखया यत्र तत्र अघरे अलिख्यत-
द्विम्बपाटल स मदीयदत्तसतराजिरञ्जनं भूर्जंताम् अजंतु ।

हिन्दी—तुम्हारे (दमयन्ती के) अलग (काम) के जन्म का शुभ-
सूचक अष्टवां (कुण्डली चक्र) (ज्योतिर्विद् विपाठा की) रेखा द्वारा जिस
स्याम में तेरे अग्र पर लिखा गया है, बिम्बपाटल-सम गुलाबी बट (अघर)
में (नरु) दत्तसतों से रचित हो भूर्जपत्रमात्र का अर्जन करे ।

टिप्पणी—ज्योतिर्विद् द्वारा जन्मकाल के ग्रहविचार के निमित्त शुभ का
सूचक चक्र रेखा द्वारा लिखा जाता है, जिसमें सूर्य, चंद्र, मंगल, बुध,
बृहस्पति, शुक्र, शनैश्वर और राहु—इन ग्रहों का शुभाष्टक बनता है । यहाँ
दमयन्ती के लाल अग्र को (कामोदीयक होने के कारण) भोजपत्र बनाया
गया है जिस पर यह शुभाष्टक लिखा जाता है । इसका उपनीत दत्तसत
देकर नरु को अपेक्षित है । शाल दन्तसत से रचित होकर ही लिखे जाने
योग्य भोजपत्र के बाँ का हो सकता है । भाव यह है कि तेरा काम शुभकाल
में उत्पन्न हुआ है, जो सफलता को प्राप्त होगा । तेरा गुलाबी अग्र प्रियरस-
पानजनित दत्तसत से चिह्नित हो भोजपत्र के रंग को प्राप्त करेगा ।
मल्लिनाथ ने अघर के भूर्जपत्रत्व की समाधिना के आधार पर यहाँ उल्लेख
उल्लेख किया है जिससे काम का शुभत्व व्यक्त होता है । नारायण ने
टिप्पणी की है—'त्वदोद्योष्टरेखावान् दन्तसतमुन्दरो भूर्जपत्रोपमीयते ।'
(आठ रेखाओं से युक्त दमयन्ती का अग्र दन्तसत से मुन्दर हो भोजपत्र से
चपनिष्ठ होगा ।) नारायण ने इस श्लोक का क्रमांक ११९ माना है ॥११७॥

तवाधराय सृह्यामि यन्मधुल्लवा श्रवसाजिनमाक्षिका गिरः ।

अधियकासु स्तनयोस्तनोनु ते ममेन्दुरेखान्मुद्रयादनुत नख ॥११८॥

जीवानु—तवेति । किञ्च तवाधराय सृह्यामि । अघर पातुनिच्छा-
मीत्यर्थे । 'सृह्रेरीप्सित' इति सन्प्रदानत्वाच्चतुर्यां । कुत इति चेतु—यस्या-
धरम्य मधुल्लवे माक्षिकद्रवे तव गिरो वचनानि श्रवसां शोत्रे साक्षिणी यन्म
तच्छ्रव साक्षिक माक्षिक यासु ता । श्रोत्रपेया इति भाव भवतीति शेष ।

द्विच ते स्तनयोरधित्यकासूर्ध्वभागेषु 'उरत्यकाद्रेरासन्ता भूमिरूर्ध्वमधित्यका'
इत्यमर । 'उपाधिभ्या त्यकन्तारूढयो' इति त्यकप्रत्यय । एतेन स्तनयोरट्टि-
रूपण गम्यत । मम नख इन्दुरेखाम्बुदयाद्भुत चन्द्रकलोदय चित्र तनोतु ।
कुचकुम्भयोर्नखसतञ्च कर्तुमिच्छामीत्यर्थं ॥ ११८ ॥

अन्वय — तव अधराय स्पृहयामि तव गिर यन्मधुसर्वं श्वत्र साक्षिक-
माक्षिका, ते स्तनयो अधित्यकामु मम नख इन्दुरेखाम्बुदयाद्भुत तनोतु ।

हिन्दी—तेरे अधर की स्पृहा करता हूँ (अधरपानेच्छुक हूँ), तेरी बाणी
जिम (अधर) के मधु निक्षरा के कारण कर्णों की साक्षीभूत मधु हैं । तेरे
स्तनो की अधित्यकाभा (ऊर्ध्व प्रदेशों) में मेरा नख चन्द्र कला के उदय के
आश्चर्य का कारण बने ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोकोक्त अधर रन पान की लालसा और उस अधर के
सम्बन्ध से मधुमम मधुर वचन सुनने की इच्छा । इसी कारण अधर से
प्रसवित मधुधाराओं से सम्बद्ध वचनो का 'माक्षिक' (मधु) कहा गया ।
इसके साथ ही नख ने स्तनोरभोग की लालसा भी प्रकट की । उच्च स्तन
पर्वत का ऊर्ध्व प्रदेश है जिस पर लगा नख-सत चिह्न उगती चन्द्रकला-सा
आश्चर्यजनक है । मल्लिनाथ के अनुसार स्तनयुगल के अधित्यका-कथन से
स्तनो का पर्वतत्व गम्य हुआ है । विद्याधर ने छेकानुप्रास अनिशयोक्ति-
उपमा आक्षेप अलंकारों का निर्देश किया है ॥ ११८ ॥

न वतसे मन्मथनाटिका कथ प्रकाशरोमावलि सूत्रधारिणी ।

तत्राङ्गहारे रुचिमेति नायक शिखामणिश्व द्विजराड्विदूषक ॥११९॥

जीवानु—नेति । हे भैमि ! त्व मन्मथेन कविता कृता नाटिका रूपक
विशेषो मन्मथनाटिका सती कथ न वतसे एवेत्युत्प्रेक्षा । यन्मयोदीपनेति च
प्रतीयते । उभय शिष्टविशेषणैरुपपादयति—प्रकाश स्फुट रोमावलि सूत्रमिथ
रोमावलिसूत्र तद्धारिणी अन्यत्र सूत्रधार कथाप्रस्तावक तद्वती सूत्रधारिणी
तत्र अङ्गहारे मुक्ताहारे नायको मध्यमाणिवय रुचि शोभामेति अन्यत्र नायक-
कथानायकोऽङ्गहारे अङ्गविशेषे रुचि प्रीतिमेति । शिखामणि शिरोरत्नञ्च
द्विजराजश्च श्वविशेषणो विदूषको निन्दको निदूषकस्ततोऽपि रमणीय
। अन्यत्र द्विजराट् ब्राह्मणो विदूषको नायकस्य हास्यप्रायो नमनचिब

शिक्षामगिरादग्नीय इत्यर्थं । एव मूत्रधारदियोगत् कथ नाटिकानीत्यर्थं । अन्यत्र यौवनार्त्कारादिमुक्ता कथ न मानयोद्दीपनेत्यर्थं । 'आन्म्वनगुणस्त्वं तच्चेष्टा तदङ्गुति । तटम्पदवेति विशेषश्चतुर्षोद्दीपनक्रम' । इति लक्षणम् ।

अन्वय — प्रकाशरोमावलिमूत्रधारिणी कथ नामनाटिका न वर्त्तते ? नायक तत्र जङ्गहारे रविम् एति, द्विवराद्विदूषकः च शिक्षामणि ।

हिन्दी—मुग्धोन्मत्त रोमावलिह्व मूत्रधार से निर्देशित काम की नाटिका क्यों नहीं हो—(अनिवु हो ही), तुहारे वस्त्र पर न्यित हार में (अथवा 'अङ्ग + हारे' पदच्छेद मानने पर हे मुन्दरि, तुम्हारे हर में) मध्यमणि ह्व नायक रवि (दीप्ति-नायक पत्र में प्रीति प्रमत्तता) को प्रीत होता है और द्विवराट् (चन्द्र) का विदूषक (उपहासक) बुडामणि ब्राह्मण श्रेष्ठ विदूषक है ।

दिप्तिणी—नल ने हम श्लोक में दमयन्ती को काम की नाटिका कहा, अर्थात् वह कामोन्मादिनी है, उसी प्रकार, जिन प्रकार कि एक नाटिका, काम अर्थात् हर्ष का कारण होती है । इसके निमित्त रोमावलि को मूत्रधार, 'अङ्गहार' (कथस्थित मुक्ताहार) में दीप्ति पाते नायक अर्थात् मध्यमणि को प्रसन्न नायक (प्रसन्न पात्र) और शिक्षामणि को विदूषक कहा गया है । नारायण ने 'अङ्गहारे रविमेति नायक' का अर्थ यह भी किया है कि अङ्गहार अर्थात् नृत्य में सनापति रवि (प्रीति) को प्राप्त होता है । नृत्य नानाकरण मयुक्त अङ्गहारों में विभूषित होना है । कर, चरण, कटि, पार्श्व, उदर, उदर आदि स्थल से स्रवद्ध चारी तथा नृत्यहस्त मानुका है । मानुकाओं के योग से करण होता है । नृत्य, बुद्ध, निबुद्ध, गति, परिक्रम, गति-प्रचार में पैर, जघा, उर तथा कटि के सनाकरण की चेष्टा चारी है । 'करण' सामान्यतः 'हस्त-पाद-समायोग' होता है । नलपुत्रपुत्र जादि एक सौ आठ करण होते हैं, जिनसे न्यिर हस्तादि बत्तीस अङ्गहार निम्न होते हैं—जङ्गहार अर्थात् विशिष्ट अङ्गविभेन । (नाट्यशास्त्र चतुर्थ अध्याय) । नाटिका प्रधान उपरूपक है । यह स्त्री चतुर्, गृह्यार प्रधान उपरूपक है, चार अङ्ग का, जिसमें नृत्य-भोगादि की पर्याय योजना होनी है । इसे 'नाटी' भी कहा जाता है, क्योंकि यह मन को व्युत्पन्न बनाकर नचा देती है—

‘नाटघति नतंयति व्युत्पाद्य मनांसि’ । (नाटघदपंण २।५ ६) दमयन्ती नाटिका के समान ही नल के मन को हृषविभोर करने वाली है । नायक कहते हैं—कथा शरीर के फल से प्रधान रूप में सबद्ध पात्र को—‘कथाशरीर-फलेन प्रधानतया सम्बद्धममानो नायक उच्यते ।’ (अभिनव गुप्त, ना० धा० १८ अध्याय) । नायक का सहचर ‘हास्यकृत्’—कर्म, शरीर, वेष, भाषा आदि से हास्य उत्पन्न करने वाला पात्र विद्रूपक होता है । (साहित्यदपंण ३।५०) । विद्याधर के अनुसार यहाँ अतिशयोक्ति-रूपक-श्लेष अलंकार हैं । गिरानुकम्पस्व दयस्व चुम्बने प्रसीद शुश्रूपयितु मया कुचौ ।

निशेव चान्द्रस्य करोत्करस्य यन्ममत्वमेकासि नलस्य जीवितम् ॥१२०॥

जीवातु—गिरा इति । गिरा सम्भाषणेनानुकम्पस्व चुम्बनेदयस्व दया कुरु, मया कुचौ शुश्रूपयितु प्रसीद, अन्यथा कथमह जीवेयमित्याशयेनाह—यत् यस्मात् चान्द्रस्य करोत्करस्य किरणसमूहस्य निशेव नलस्म मम त्वमेवा जीवितमसि चान्द्रस्य दिवापि जीवनसम्भवात् करग्रहण तस्य निशेकरणत्वादिति द्रष्टव्यम् ॥ १२० ॥

अन्वय—गिरा अनुकम्पस्व, चुम्बने दयस्व, मया कुचौ शुश्रूपयितु प्रसीद, यत् चान्द्रस्य करोत्करस्य निशा इव त्वम् मम एवा नलस्य जीवितम् अस्ति ।

हिन्दी—बाणी द्वारा (बोलकर) अनुकम्प करो, चुम्बने द्वारा दया करो और मेरे द्वारा स्तनो की शुश्रूषा (चन्दनलेप, पत्ररचनादि करने का अवसर देकर) कराने को प्रसन्न हो जाओ, क्योंकि चन्द्र की किरणों के लिए रात्रि के तुल्य तुम (दमयन्ती) एक ही मुझ नल का जीवन हो ।

टिप्पणी—कामोत्पीडित नल ने दमयन्ती से विविध विलास-केलि निमित्त प्रस्ताव किया, क्योंकि एक बही उरकी प्राणहार प्रिया थी, चन्द्र-किरणों का जीवन जैसे निशा होती है, वैसे ही । यदि रात्रि न हो तो चन्द्र किरणों का जीवन—अस्तित्व ही न प्रकाशित हो । ऐसे नल चन्द्र का किरण समूह (इच्छा-आकाशाएँ) दमयन्ती-निशा पर ही अबलम्बित है । नारायण के अनुसार नल ने कहा—‘मेरा जीवन तेरे ही अधीन है, चुम्बनादि द्वारा मुझे अनुग्रहित करो, अन्यथा मेरा जीवन ही न रहेगा ।’ विद्याधर के अनुसार यहाँ उपमा-अतिशयोक्ति हेतु है ॥ १२० ॥

मुनिर्यथात्मानमथ प्रबोधवान् प्रबानमन्त स्वमनावदुध्यत ।
अपि प्रपन्ना प्रकृति विलोक्य तामवाप्तमस्कारतयाञ्जुजडिगम् ॥१२१॥

जीवानु—मुनिरिति । अथैव भ्रान्त्यनन्तरमग्रे नलो मुनिरंथा मुनिरिव
प्रबोधवानुत्पन्नतत्त्वावबोधः सन्नात्मान स्व स्वस्व प्रकाशयन्त सन्तनबुध्यत,
नल्प्यता प्रकाशितेभ्यबुद्धेत्यर्थः । जय प्रपन्ना प्राप्ता ता प्रकृति स्वभाव विलो-
कापि ज्ञात्वानि जवाम उद्बुद्ध मस्कारो निजद्वन्द्वस्मारकवासना येन तद्य
भावस्तत्ता तथा गिरो ह्य्यानुगुणान्देव वाक्यान्मनृवद्वेकोचदिभ्यय । यदा
मुनिर्योत्पन्नात्मतन्वावबोधोऽपि वासनावगात् दाह्यननुसन्वत्ते तथा नलोऽपि
प्रकृतिदाग्मा पुन सस्वास्वधान् ह्यपनेवानुत्तरनुवाचेत्यर्थः ॥ १२१ ॥

अन्वय—अथ यथा मुनि प्रबोधवान् अतो आत्मान प्रकाशयन्त स्वम्
अदुभ्यत, ता प्रकृति प्रपन्ना विलोक्य अदाप्तमस्कारतया गिर अपि अनृजत् ।

हिन्दी—तत्पश्चात् जैसे मुनि प्रबुद्ध हो जाता है, वैसे ही प्रबोध को
प्राप्त (गतभ्रम) यह (नः) अपने को प्रकाशित करते हुए ('मम नल्प्य'
कहकर अपने को प्रकट करते हुए) स्वयं को जान गया (फिर नल्प्य
प्रकाशित हो जाने मात्र से) उसे (दमयन्ती को) प्रकृतिस्य देखकर सम्कार
प्राप्त होने के कारण (दूत होकर स्वयं को प्रकट करना उचित नहीं था,
यह बोध हो जाने से) तदनुकूल वचन बोला ।

टिप्पणी—नल ने 'मम नल्प्य' कहकर एक भूल कर दी । दूत होने के
कारण उसे भ्रम-नोह में आकर अपने को प्रकट कर दूतधर्म की अवहेलना
नहीं करनी थी । नल का अन्वित्व जानकर ही दमयन्ती की पीडा जैसे
समाप्त हो गयी और वह रोना घौना छोड़ प्रकृतिस्य हो गयी । नल को भी
अब बोध हुआ कि उनसे भूल हुई, किन्तु वह सत्कारी पुरुष था, अतः बात
संभालकर पुन समबोधित वचन कहने लगा । यहाँ नल की तुलना एक
मुनि से की गयी है, जो वेदाशास्त्रास जीर शम-दमादि द्वारा प्रबोध प्राप्त
कर 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ही सच्चिदानन्दैकरस ब्रह्मस्वरूप हूँ, ऐसा
ज्ञान प्राप्त कर लेता है । और मन्त्रार की उपादिका उत्तरवस्तुम की
नाम्मावन्द्याम्मा प्रकृति को एव से पृथक् मानता हुआ विवेकपूर्वक मुक्त हो
जातिन्ववहार करता है । नारायण ने जन्वयात्तर करके एक और स्पष्ट अर्थ

किया है जैसे भूल करके ज्ञानी मुनि पुन प्रबोध प्राप्त कर लेता है (आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है), वैसे ही प्रबुद्ध नल भी अपने से हुई भूल को समझ गया और सस्कार उदबुद्ध हो जाने से पुन प्रकृति को प्राप्त कर (गतमोह हो) दूतधम के अनुसार उचित विचार करने लगा। भाव यही है कि नल समझ गया कि अपना नामोच्चार करके उसने भूल कर दी और फिर उसने उचित व्याख्यान किया। आपने के श्लोकों में नल के एतस्मिन्नुद्विष्यार हूं। विद्याधर के अनुसार उपमा अलकार ॥ १२१ ॥

अये मयात्मा किमनिहनुतीकृत किमत्र मन्ता स, तु मा शतक्रतु ।
 पुर स्वभक्त्याथ नमन् ह्रियाविलो विलोकिताहे नसदिङ्गितान्यपि ॥१२२॥
 जीवातु—अये इति । अये इति विपादे । 'अये विपादे क्रोधे च' इति विश्व । मया आत्मा स्वरूप किं किमयंमनिहनुतीकृत प्रकाशित, अत्रात्म-प्रनाशनं स शतक्रतुरिन्द्रस्तु मा किं मन्ता मस्यते । अय पुरोऽप्रे स्वमन्या नमन् प्रणमन् ह्रिया आविल क्लुप सन् तस्येन्द्रस्येङ्गितानि चेष्टितान्यपि न विलोकिताहे न विलोकयिष्यामि । सुटीट् । तन्मुखमवलोकितुमपि नोत्सहे इत्यर्थ ॥ १२२ ॥

जन्वय —अये, मया आत्मा किम् अनिहनुतीकृतः, अत्र स शतक्रतु तु मा किं मन्ता ? पुर स्वभक्त्या नमन् अय ह्रिया आविल तदिङ्गितानि अपि न विलोकितामहे ।

हिन्दी—अरे, मैंने अपने को क्यों प्रकट कर दिया, इस विषय में वह शतमखी (इन्द्र) मुझे क्या समझेगा ? पहिले अपनी भक्ति से नमन करता, तन्तर लज्जा से क्लुपित (मैं नल) उस (कोपाविष्ट इन्द्र) के भ्रूभगादि मनेत भी न देख सकूँगा (प्रसन्नता लाभ तो दूर की बात है) ।

टिप्पणी—अपने को अपराधी मान नल ने सोचा कि वह शतक्रतु इन्द्र के कोप का भाजन अवश्य बनेगा । उसको मुँह दिखाने योग्य भी नल नहीं रहा । कर्तव्यभ्रष्टता की ग्लानि । विद्याधर के अनुसार उल्लेख्य अलकार छेकानुप्रास ॥ १२२ ॥

म्वनाम यन्नाम मुघाम्भधामह महेंद्रकार्यं महदेतदुज्जितम् ।

हनूमदाद्येपेशसा मया पुनर्दिपा हसेद्वैतपथ सितोक्त ॥१२३॥

जीवानु—स्वेति । यद्यस्मात् मुषा वृषैव स्वनाम अन्यथाभाम् ? अबोच
 वल्लु ? तन्महेन्द्रेणमहेन्द्रकार्यमुज्जितं त्यक्तम् । अहो हनुमदायै दूतपथो यद्यथा
 मित्तीकृतो घवलीकृतो मया पुनर्द्विपा हसैर्हासैः, 'स्वनहसोर्वा' इत्यप्रत्यय ।
 मित्तीकृतो घवलीकृतः । यद्योदद्वाप्तस्यापि घवलत्वादिति भावः । विश्वेश्वरीये
 तु हासस्य घवल्पेऽपि शत्रुहासस्य मालिन्यानादक्त्वादित्याशयेन मेचकीकृत-
 मिति व्याख्यातम् । 'मित्ती घवलमेचकी' इत्यमरः । अत्र हनुमद्ग्रहणं पूर्व-
 क्त्यानिप्रायमन्वया कृतत्रैनावतारपुरुषपथो पौर्वापर्यवित्तेयादिति ॥ १२३ ॥

अन्वय — नाम यह मत् मुषा स्वनाम अन्यथा, एतत् महत् महेंद्रकार्यम्
 उग्निनम्, हनुमदायै यद्यथा सिद्धो कृत दूतपथ मया पुन द्विपा हसैः
 (मित्तीकृत) ।

हिन्दी—खेद है, मैंने जो व्ययं ही अपना नाम कह दिया और यह महेंद्र
 का वडा (दूत) कार्य छोड़ दिया । हनुमान् आदि द्वारा यद्य से शुभ्र किया
 गया दूत का पथ मैंने पुन शत्रुओं के उपहासों से शुभ्र कर दिया ।

टिप्पणी—यद्य का वां भी कविसमयानुसार शुभ्र है और हास्य का भी ।
 यहाँ नल का अमिप्राय यह है कि हनुमान् आदि ने समुद्रमंथन और लंकादाह
 करके श्रीरामचन्द्र को सीता का पता बताया था, इस प्रकार यगोविस्तार कर
 दूतकर्म की उच्च मर्यादा स्थापित की थी, नल बैसा न कर सका । इसके
 विरोध दमयन्ती के समुक्त अपने को प्रकट करके उसने देवों का कार्य ही
 बिगाड डाला । अब नल के शत्रु उसकी हसी उदासोंगे । इस प्रकार जो दूतपथ
 पहिले यद्यशुभ्र था, अब उपहासशुभ्र बन जायेगा । नल को अयश मिलेगा ।
 मन्त्रिनाथ का आशय है कि नल राम के पूर्ववर्ती थे । नल कृतयुग में थे,
 राम त्रैता में । इस प्रकार यह पौवापर्य विरोध हुआ, ऐतिहासिक क्रम में
 भूल हुई । हनुमान् का उदाहरण उनके पूर्ववर्ती नल के द्वारा दिया जाना
 इतिहासक्रम-विरोध है । विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और व्यतिरेक
 अलंकार ॥ १२३ ॥

धिवात्मनन्नावदवार नाचर परन्तु यद्वेद म तद्वदिष्यति ।

जनावनायोद्यमिन जनार्दन क्षये जगज्जीवपित्र वदन् शिवम् ॥१२४॥

जीवानु—धिदेति । अथवा तावदात्मनो निजा बुद्धिपूर्वकमित्ययं । अचावं-

साधु नाचर एव स्थिते परोऽयो जनो यदचा वदिष्यति तत्तु जनानामवनाय रक्षणायोद्यमिनमुद्योगिन विष्णुमिति शेष, जनानामर्दयतीत्यर्दनं सहर्तारम् । नद्यादित्वात् ल्युट् प्रत्यय । अथ क्षये कल्पान्ते जगज्जीवानां पिबतीति पिब सत्तारं रुद्रमिति शेष । 'पाप्मादिना' शप्रत्यय । शिव शान्त वदन्, शिवम-शिवमशिव शिवश्च वदन्नित्यर्थं । स पर एव वेद । अनर्गलो लोकस्तावदास्ता ममानपराधित्वमन्तर्यामिसाक्षिकमिति भाव ॥ १२४ ॥

अन्वय—आत्मन धिया तावत् अचारुन आचरम् तु जनावनाय उद्यमिन जनार्दन क्षये जगज्जीवपिब शिव वदन् स पर यत् वदिष्यति तद् वेद ।

हिन्दी—(अथवा मैंने) अपनी बुद्धि से (जान बूझकर) तो असुन्दर आचरण (इन्द्रादि के प्रतिकूल व्यवहार) किया नहीं, किंतु लोकपालन के उद्यमी (विष्णु) को 'जनादन' (जनान् अर्दयति षोडशति जनार्दन—लोक पीडक) और प्रलयकाक मे जगत् के जीवन पायी (प्राणहर्ता) को 'शिव' (मग्न) कहनेवाला वह ससारी दुर्जन जो कहेगा, वह (मैं) समझता हूँ । (अथवा 'यत् वेद तद् वदिष्यति—ऐसा अन्वय करने पर अर्थ होगा—'लोक जा समझता है, वह कहता है ।')

टिप्पणी—एक सी तेईसवें पूर्वश्लोक मे स्वनाम-प्रकट कर देने के कारण नल ने अपने को दोषी माना था वहाँ वह विचारता है कि उसने इन्द्रादि के कार्य के प्रतिकूल व्यवहार जान बूझकर तो नहीं किया, वह परिस्थितियों के कारण अथवा भावावेश मे हो गया । दमयन्ती का दुःख उससे न देखा गया और वह अपने को प्रकट कर बैठा । पर नल ने सोचा कि यह ससार—ये ससारी जन कहीं ठीक-ठीक विचार पाते हैं । वे सदा अनर्गल ही कहा करते हैं । जैसा ऊपर-ऊपर मे लगा, वही कह डालते हैं । उदाहरण के लिए जो ससार की स्थिति-पालन के विधाना हैं, उन विष्णु को कहता है—'जनार्दन'—जनो को कष्ट देने वाला और जगत्संहारक रुद्र को कहता है—'शिव'—शुभ मंगलस्वरूप । ऐसे ही नल के भाव पर उचित विचार न करके ऐसा अनर्गलवादप्रिय ससारी तो नल को अपराधी कहेगा ही । लोकक्षय का निवारण बड़ा कठिन है, उसका कोई प्रतीकार नहीं है । विद्याधर क अनुसार छेकानुप्रास और हनु धलकार । चन्द्रकलाकार ने इन श्लोक से 'निष्क' नामक काव्यलक्षण का निर्देश किया है ॥ १२४ ॥

स्फुटत्पदं किं हृदय त्रपानरात् यवस्य शुद्धिविबुधैर्विबुध्यताम् ।
विदन्तु ये तत्त्वमिदं नु दन्तुरञ्जनानने कः करमपिप्यति ॥१२५॥

जीवानु—स्फुटतीति । अदो हृदय त्रपानरात् अज्ञादिनारात् स्फुटति
किम् ? स्फुटिष्यति किम् ? 'आशयाया नृत्वच इति चकारादाशया
नविष्यदर्थे वर्तमानवन्प्रत्यय' । यद्यस्मात् स्फुटनादस्य हृदयस्य शुद्धिविबुधैर्देवै-
र्विबुध्यता ज्ञायताम् । जन स्फुटनमाशास्यमित्यर्थः । पन्तु ते विबुधान्स्त्व
हृदयशुद्धिं विदन्तु तथापि दत्तुरमतिविषमन्तदेवाह—जनानने कः करमपि
पिप्यति न कोऽपीयम । क्वचिद्देवनाप्रत्यायनेऽपि जनप्रत्यायनं दुष्करमिति
तात्पर्यायं ॥ १२५ ॥

अन्वयः—किम् अदं हृदय त्रपानरात् स्फुटति, यस् अन्व शुद्धि विबुधै
विबुध्यताम् ? ते तु इदं दन्तुर तत्त्व विदन्तु, जनानने कः करम् अपिप्यति ?

हिन्दी—क्या (मंग-नर का) यह हृदय लज्जा-भार में फटा जा रहा
है कि इन (हृदय) का निरपराय होना देव समन लें ? वे (देव) तो इन
वन्त विषम (कठिनता में समथ में आनेवाला) तत्त्व को समन लें, ससारी
जनो के मुँह पर जौन डाल धरेगा ? (लोगों का मुँह कौन बन्द करेगा) ?

टिप्पणी—जनजाने अपराय-बोध में नो जनमप्रकृति नल का अन्वन्त
आनरगति हो रही थी । वट् चान्ते रगा कि उसका हृदय फटकर बाहर
का जाता बिसने उसकी शुद्धि—निरपरायता सर्वत्र देव तो आन लेते, जिनका
नल अरगपी है । वे 'विबुध'—विशेष बुद्धिमान् बड़े जाते हैं—उन्हें तो 'विबोध'
हो जाना चाहिये । ये ससारी जन नो जनमंज कदा ही करते हैं, उनकी निन्दा-
स्तुति की चिन्ता व्यर्थ है । न कोई लोगों का कुछ भी करने से रोक पाया
है न रोक सकता है । भाव यह है कि देव नर्बन्ध हैं, वे तो तथ्य को समन
ही लेंगे कि नल का हृदय शुद्ध है, लोग जो चाहें, बन्ने । उनकी क्या चिन्ता ?
'जनानने कः करमपिप्यति'—लोकोक्ति का प्रयोग । विद्याधर के अनुसार
अठगयोक्ति ॥ १२५ ॥

मम धमरश्चेतन्यानया फली बलीयताऽऽपि च मैत्र वेधसा ।

न वन्तु देवस्वरनाद्विनस्वर सुरेश्वरोऽपि प्रविञ्चुर्भोस्वर ॥१२६॥

जोवातु—ममेति । मम श्रमो दूतयप्रयास अनया चेतनया स्वरूपनिगूहन-
बुद्ध्या फली सफल स्यात् बलीयसा बलवत्तरेण वेधसा दैवेन सा चेतनैवालोपि
नाशिता च । तथा हि—दैवस्य स्वरसात् स्वेच्छातो विनश्वर वस्तुवर्थं सुरेश्वर
शक्रोऽपि प्रतिकर्तुं नेश्वरो न शक्त इत्यर्थात्तरन्यास । ईदृशी भवितव्यतेति
भाव ॥ १२६ ॥

अन्वय —अनया चेतनया मम श्रम फली, बलीयसा वेधसा च सा एव
अलोपि, दैवस्वरसात् विनश्वर वस्तु सुरेश्वर अपि प्रतिकर्तुं न ईश्वर ।

हिन्दी—इस चेतना से कि 'मैं नल इस समय दूत हूँ', मेरा श्रम सफल
होता, किन्तु बली विघाता ने उसका ही लोप कर दिया । दैवेच्छा मे बिनाशित
वस्तु की रक्षा करने मे देवराज भी समर्थ नहीं है ।

टिप्पणी—नल का भाव यह है कि जो भी अपराध हुआ, उसको इच्छा
से नहीं हुआ । बलवान् दैव ने उसको चेतना-समझ ही समाप्त कर डाली ।
दैवेच्छा का प्रतिकार तो इन्द्र से भी सम्भव नहीं, नल-एक मनुष्य की वो
क्षमता ही क्या ? उसका कोई अपराध नहीं है । मल्लिनाथ और विद्याधर ने
अर्थात्तरन्यास अलंकार का निर्देश किया है ॥ १२६ ॥

इति स्वय मोहमयोमिनिर्मित प्रकाशन शोचति नैपथे निजम् ।

तथा व्यथामग्नतदुद्दिधीर्पया दयालुरागाल्लघु हेमहसराट् ॥१२७॥

जोवातु—इतीति । इतीत्य नैपथे नले मोहमयोमिणा अज्ञानविलसितेन
निर्मित निजमात्मीय स्वय प्रकाशन स्वस्वरूपप्रकटिन प्रति शोचति व्यथमाने
सति दयालुर्हेमहसराट् सुवर्णराजहस तथा व्यथामग्नस्य तस्य नलस्योद्दिधीर्पया
उद्धर्तुमिच्छया, धरतत्पूर्वात् सत्तन्तात् स्त्रियामग्रन्यये टाप् । लघु क्षिप्रमाणा
दागत् ॥ १२७ ॥

अन्वय —नैपथे इति मोहमयोमिनिर्मित निज स्वय प्रकाशन शोचति
दयालु हेमहसराट् तथा व्यथामग्नतदुद्दिधीर्पया लघु आगात् ।

हिन्दी—निपथराज नल के मोह (अज्ञान) की तरफों के धारण हुए
अपने स्वयप्रकाशन (अपना 'नल नाम' स्वय कह देने) पर 'शोच' (निन्दा)
करने पर दयालु स्वर्णहना का राजा उस अनिर्वचनीय पीडा मे मग्न उस
(नल) का उद्धार करने की इच्छा मे (स्वनिन्दा से विरत करने के लिए)
शीघ्र आ पहुँचा ।

टिप्पणी—स्वर्णहस्त ने ही दम्पती को नल सदेव पहुँचाने का कार्य किया था, इन समय भी पश्चात्तान करते—पछताते नल की पीड़ा दूर करने वह आ गया। विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति की—छैकानुशास ॥१२७॥

नल = नलस्य दोषोर्वीक्षितः स एव पश्यति भग्नमन्यमान् ।

नयाददनामनि मा निराननामनून् विहातेमतः पर पान् ॥१२८॥

जीवानु—नमिति । स राजहृत् तस्य हृत्स्य पशरवंग निमित्तेनोर्ध्वं वीक्षण इति वीक्षितं तथा एव स सर्वोपकारी पश्यति भग्नमेव नलमन्यमान् अनिहितवान् । हे अदय ! निर्दय ! एना दम्पतीमतिनिराशता नैराश्य मा नय प्राचय । कुत जन निरन्तर पर केवलमनून् प्रागान् विहाता विशम्भति । जहातेर्लुट् । तदेतद्राजवाङ्मनाङ्गिणा त्वया नैवनाशाच्छेद कार्यं इत्यर्थं ॥

अन्वय—तस्यस्योर्ध्वंवीक्षितम् एव स पश्यति—इति भग्न नल सः अन्वयत्—पश्य, एनाम् अतिनिराशता मा नय, कुत परम् इय परम् अहम् विहाता ।

हिन्दी—उस (स्वर्णहस्त) के पक्षों के शरीरों से (जाहृष्ट हो) ऊपर (आनाथ की ओर) देखने और 'यही वह पक्षी है'—ऐसा कहते नल से वह (स्वर्णहस्त) बोला—अर निर्दयी, इने (दम्पती) को बहुत निराश मन बना । इसके अनन्तर (और अधिक निष्कलन अभिय कहने पर यह प्राण भी छोड़ देगी ।

टिप्पणी—भाव यह है कि स्वर्णहस्त ने कहा कि नल अब सीमा से जागे जा रहा है । इतना शिंभ होगा ठीक नहीं । ऐसी निर्दयता यदि नल को दृष्टि सिद्धाये तो दम्पती प्राण दे दगी । इस प्रकार न केवल नल को नल ही होगा, वह स्वयम् एक एनी रमणीय का हारा का पराशर सं, वनेंग, जो सकार से उत्पन्न है । श्रीवचन का पानक नल पर शोभा, उक्त जन यह नमन व्यवहार अधिक मशी रक्तता चाहिए । तृतीय वरप के अति मा निराशता प्रती पर जायति करते हुए पूर्वपक्ष के रूप में नारायण ने यह वाक्य उक्त व्याकरण विरह बनाया है कि 'ति प्राप्तातो' , उष्ठा १।४।८०) शिंभ के अनुसार 'निराशता मा अतिनय दाक्य होना चाहिए । समाधान में उनसे कहा है कि महाकवि द्वारा प्रयुक्त होने पर, ऐसा व्यवहित प्रने भी

साधु है—'महाकविप्रयोगाद्ध्यतहितानामपि प्रयोग साधु' ।' पदच्छेदांतर से इस वाक्य के अन्वय भी उन्होंने किये हैं—(१) 'अतिमानिराशताम्'—अतिशयिता मा शोभा राजलक्ष्मीर्वा यस्या सा अतिमा इयमित्यस्य विशेषणम् । एनामनिराशता नयेत्यन्वय । अर्थात् जिनकी शोभा या राजलक्ष्मी अतिशय है, ऐसी दमयन्ती को अनिराशा को प्राप्त करा (२) 'अतिम + अनिराशता नय'—हे अतिम (अतिसुन्दर—अतिशयिता मा यस्य स), इसे अनिराशा को प्राप्त करा । (३) इससे यह सूचित किया गया है कि अतिमुन्दर होने के कारण नल ही दमयन्ती के योग्य है, अन्य कोई नहीं । (४) 'अत पर निराशताम् एनां नय, अतिमा परम् अतुव् विहाता'—इससे अधिक निराश भाव पर इस पदुँचाया कि यह 'अतिमा' (अतिमुन्दरी दमयन्ती) प्राण भी छोड़ देगी और ऐसी सुन्दर वस्तु बूधा चली जायेगी । अस्तुत लौकिक ससृष्ट मे उपसर्गादि धातुजादि के पूर्व प्रयुक्त होने लगे, वैदिक ससृष्ट मे यह मायता नहीं थी । विद्याधर के अनुमार उल्लेख्य अलकार अनुप्रास है ॥१२८॥

सुरेषु पश्यन्निजनापराधनामित्यस्यापि यदर्थसिद्धये ।

न कूटसाक्षीभवनोचितो भवान् मता हि चेत'शुचितात्मसाक्षिका ॥१२९॥

जीवातु—सुरेष्टिवृत्ति । हे ऋत् ! भवान् तदपस्य सुरकार्यस्य सिद्धये इय-
देतावत् प्रयस्याप्यायस्यापि, यसु प्रयत्न इति धातो समासे क्तवो त्यबादेन ।
सुरेषु विषये निजा सापराधतामेव पश्यन् उत्प्रेक्षमाण सन् कूटसाक्षीभवनस्य
कपटसाक्षीभावस्य । अभूततद्भावे चि' । उचितो य अनपराधि यात्मपराधो-
त्प्रक्षित्वमेव कूटसाक्षित्व तत्ते अनुचितमित्यथ । तथा हि—सता चेत शुचिता
चित्तशुद्धि आत्मसाक्षिका स्वप्रमाणिका हि स्वय प्रमितेऽर्थे किं विचारणये-
त्यथ ॥ १२९ ॥

अन्वय —भवान् तदर्थसिद्धये इयत् प्रयस्य अपि सुरेषु सापराधता पश्यन्
कूटसाक्षीभवनोचिन न, हि सता चेत शुचिता जात्मसाक्षिका ।

हिन्दी—आप (ऋत्) को उन (देवो)को कायसिद्धि के निमित्त
इष्टना (अत्यधिक) प्रयत्न करके भी देवों के प्रति अपने को सापराध देख
कूटसाक्षी (झूठा गवाह, जो अथ के निमित्त झूठ बोलता है) होना उचित

नहीं, क्योंकि मन्त्रों की चित्त-शुद्धि स्वयं प्रमाण (अग्नी साक्षी स्वयम्) होती है।

टिप्पणी—छान्दिग्य ने कहा है—'उता हि मन्त्रेह्यस्येषु वन्तु प्रनागन्त-
करणप्रवन्तः ।' (अग्निज्ञानशास्त्रकर्म)। सुदेहव्रतक स्थितियों में मन्त्रों का
हस्ता बिना ही प्रमाण होता है। हमने नी ऐसी ही नीति का अनुकरण करके
नए जो बोध दिया कि वह शिरोष है। वह स्वयं अब ऐसा मानता है, ता और
श्रियों के कर्मों पर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं। क्यों वह दूसरों के लिए
बल-कर्मों के इतने प्रमाणों को कर रहा है और स्वयं को और दमयन्ती
को व्यर्थ कर रहा है? नए ने निष्कण्ट नाव में यनामनव द्रुतकार्यं सन्त
दिया। वह इस मन्त्र का स्वयं भागी है। देव भी यह स्वीकारेंगे, भले ही
सामान्य मन्त्र न मानें। उसकी क्या चिन्ता? विद्यापार के अनुसार अर्थांतर-
न्याय अन्वय ॥ १०९ ॥

इतीरिषानुष्ठय नल विदमंत्रामपि प्रयातेन खगेन सान्धिनः ।

मृदुवभाषे भगिनी दमन्त्य म प्राम्य चित्तेन हरिन्नील्लूपः ॥१३०॥

जीवानु—श्रीति। इतीरिषा इत्यवादिना नल विदमंत्रामपि मैत्री चापु-
च्यमान्प्रयातेन प्रयागप्रवृत्तेन खगेन ह्येन सान्धितो बोधित स नृशिव-
त्तेन हरिन्नीलिन्द्रादीन् प्राम्य मृदुराद्रचित्तं नृ दमत्य भगिनी वभाषे ॥१३०॥

अन्वय—इति इतिषा नल विदमंत्राम् अपि आपुच्य प्रयातेन खगेन
सान्धित स नृश चित्तेन हरिन्नीन् प्राम्य मृदु दमत्य भगिनी वभाषे ।

हिन्दी—इस प्रकार कह नए और विदमंत्रों (दमयन्ती) से जो
जन्म के र गये पक्षी (हम) से सान्धन प्राप्त कर वह राजा (नृ) मन
ही मन दिव्यात्मा को प्रणाम करने जोम स्वयं में इन को बहिन (दमयन्ती)
से बोध ।

टिप्पणी—हम के बाध देने पर नए आश्चर्य हुआ और उसने अपने को
अनराध-बोध से मुक्त माना और वह निर्ममता छोड़ दमयन्ती ने कहने लगा ।

ददेऽपि तुभ्य क्रियन्ती वदयन्ता सुरेषु रागप्रसवावर्कगिनी ।

रुदमन्त्रेण मज्जतु वा ददा दिग्गन्तु वा दष्टममो नमागता ॥१३१॥

जीवानु—दद इति । हे भिने सुरेषु विदने रागप्रसवे अनुपानप्रवने अव-

केशिनी बन्ध्या अममर्या इत्यर्थ । 'बन्ध्याऽफलोऽवकेषी च' इत्यमर । विद्यती-
रियत्तारहिता इत्यर्थ, कदर्यंता कुत्सना । अश्लीलप्रयोगानिति यावत् । तुभ्य
केवल प्रियार्हायै इति भाव । ददेऽपि ददाम्यपि अतिगर्हितमाचरामीत्यर्थ । अपि
गर्हाभाम् । 'अपि सम्भावनाप्रश्नशङ्कागर्हासमुच्चये' इति विश्व । किञ्चैव
सति अमी देवा अदम्भेनाकपटेन हूत्येन दूतकर्मणा 'कपटोऽस्त्री ध्याजदम्भोप-
घमदृष्टप्रकृतवे' इत्यमर । दया वा भजन्तु आगसा अपराधेन मम दण्ड दण्डा
वा विशन्तु, इत परमिमा तु न कदर्यंयामीति भाव ॥ १३१ ॥

अन्वय — तुभ्यम् अपि सुरेषु रागप्रसवावकेशिनी कियती कदयना
ददे, अमी अदम्भदूत्येन दया वा भजन्तु, आगसा मम दण्ड वा दिशन्तु ।

हिन्दी—तुम (दमयन्ती) को भी देवों में अनुराग उत्पन्न करने में
विफल किन्ती पीडाएँ दूँ, ये (देव) निष्कपट (मेरे) दूत-कार्य संपादन के
कारण चाहे दया करें, चाहे (स्व नाम प्रकाशन रूप) अपराध के कारण
मुझे दंड दें ।

टिप्पणी—नल ने ययाशक्ति प्रयत्न किया कि दमयन्ती दिक्पालामिमुख
हो सके, किन्तु वह विफल हुआ । इसके विपरीत दमयन्ती को दस मन्त्रों द्वारा
व्यथा हुई कि नल ने भ्रातृ होकर स्वनाम-प्रकाशन कर दिया । उसने समझ
लिया कि इस विषय में और कुछ कहना करना दम्पती की असह्य व्यथा
का ही कारण बनेगा, देवों के प्रति अनुरागिणी वह नहीं हो सकेगी । जब
उसने अतृप्ततावा यह निषय प्रकट कर दिया कि इस विषय में और कुछ
कहकर वह दमयन्ती को पीडा देना अनुचित मानता है । दसवें स्वयम् नल को
भी दुःख होता है । क्योंकि वह प्रिया की वेदना सह नहीं सकता । उसने
निष्कपट भाव में कर्तव्य निवाह कर दिया । यह देवों की इच्छा है कि वे
नल पर दया करें या अपराधी मानकर दंडित करें । नल अथ इसकी चिन्ता
नहीं करता । वह दंड सह लेगा, दमयन्ती को दुःखी नहीं देय पायेगा ।
विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति रत्नकार ॥ १३१ ॥

अयोगजाम्बभव न वेदना हिनाय मेऽमूदियमुन्मदिष्णुता ।

उदेति दोषादपि दोषलाघव कृशत्वमज्ञानवशादिवेनम ॥१३२॥

जीवातु—अयोगजामिति । इयमुन्मदिष्णुता उन्मत्तता । 'अलकृत्' इत्या-

दिना इच्छुः प्रत्ययः । मे हितायोपकारायाम्भूत् । वृत्, अयोगजा विद्योते एव
वेदना नान्वनवम् । तथा हि—अज्ञानवशात् अज्ञानवशादेनस पापस्य कृत्वा
ज्ञानवृत्तापेक्षया ननु तन्मिव दोषादुन्माददोषादपि दोषस्य विद्योयदु खन्व लाघव-
नल्पत्वमुदेति तस्माद्दोषोऽपि कदाचिदुपकरोतीति नात्र ॥ १३२ ॥

अन्वय—इयम् उच्यते अज्ञानवशात् मे हिताय अभूत्, अयोगजा वेदना =
अन्वयवत् अज्ञानवशात् एतस कृत्वा इव दोषात् अपि दोषलाघवम् उदेति ।

हिन्दी—यह उन्माद मेरे (नल के) हित का निमित्त हुआ, क्योंकि
(इसने) वियोगजन्य व्यथा का अनुभव न हो पाया । अज्ञान में हुए पाप की
बन्धना के तुल्य दोष से भी दोष की बन्धना उन्नत होती है ।

टिप्पणी—नल को उन्माद की अवस्था में रहा, उसे भी उसने गुण माना,
क्योंकि उस स्थिति में उसे दमयन्ती के वियोग की व्यथा का अनुभव नहीं
हो सका । कभी-कभी दोष भी दोष को छोटा बना देता है और इस प्रकार
गुण बन जाता है । अज्ञान भी दोष है और पाप करना भी, परन्तु अज्ञान में
किया पाप उतना बड़ा नहीं माना जाता, जितना कि ज्ञान रहते किया जाय ।
इस प्रकार अज्ञान-दोष पाप-दोष को छोटा बनाने वाला हुआ और गुण बन
गया । ऐसे ही उन्माद-दोष विरह-वेदना दोष को छोटा बनाने वाला प्रमाण
है, गुण बन गया । विद्यापद के अनुसार उन्मादकार ॥ १३० ॥

तन्वैक्ययोगस्मरपावकोऽपि मे कर्धनात्यर्थतयागमद्दत्ताम् ।

प्रदासमुन्माद्य यदद्य कारग्रमयात्मनो माम्नुकम्पते स्म स ॥१३३॥

जीवानु—उच्येति । हे प्रिये ! इतीत्य तव कर्धनानामा मदीयाप्रियोक्तिह-
स्तुत्तनानानत्यर्थतया अयाप्रियेने हेतुना मे नम सम्बन्धि जयोगो य स्मरपावक-
कानाग्नि मोर्ति दयामगमत् दयातुरभूदित्यर्थः । यद्यस्नादद्य स कामानि
(प्रयोक्त्वतां) उन्मात् मानुमन कृत्वा मया प्रयोगेन आत्मनो मत्स्वरूपस्य
प्रकाश प्रकाशन कारयन् त्वामनुकम्पये स्म । तस्मात् आमाग्नेरपि दयोन्म-
त्युत्प्रेक्षा । कि इदृशा उन्मादप्रसादात् उभावप्यावा वृत्तार्थो स्व इति तात्पर्य-
र्थः ॥ १३३ ॥

अन्वय.—इति तव कर्धनात्यर्थतया मे अयोगस्मरपावक अपि दयाम्

अगमत्, यत् अथ जन्माद्य मया आत्मन प्रकाश कारयन् स० माम्, अनु-
कम्पते स्म ।

हिन्दी—इस प्रकार (पूर्वश्लोकोक्त कारण से) तुम्हारी (दमयन्ती की)
पीडा की अतिशयता से मेरे वियोगकामानल ने भी दया की, जो आज उन्मत्त
परके मेरे द्वारा आत्म प्रकाश कराते उस (वियोगस्मरणावक) ने भी मुझ
पर कृपा की ।

टिप्पणी—दोष के गुण होने का एक और उदाहरण नल ने दिया ।
दमयन्ती की अतिशय पीडा, दमयन्ती नल का दहना वियोग कामानल, नल
द्वारा आत्म नाम प्रकाशन—ये सब दोष हैं, किन्तु ये भी गुण बन गये ।
दमयन्ती के पीडाधिक्य के कारण, उत्पन्न विरहकामाग्नि ने नल को उन्मादी
बना दिया, जिससे भाविन हा उसने स्व नाम प्रकाशन किया, जिससे नल को
पहिचान कर दमयन्ती के प्राणो की रक्षा हुई ओर नल की भी । दमयन्ती के
न रहने पर नल की मृत्यु भी हो जाती । इस प्रकार ये सब दोष परस्पर कारण-
भूत होने हुए दमयन्ती नल को आत्मरक्षा-रूप गुण बन गये । मल्लिनाथ के
अनुसार उन्प्रेषा, विद्याघर के अनुसार अतिशयान्ति अलकार ॥ १३३ ॥

अमा समीहैकपरास्तवामरा. स्वकिङ्कर मामपि कन्तुमीशिपे ।
विचार्यं कार्यं सृज मा विधान्मुधा कृतानुतापस्त्वयि पाणिविग्रहम् ॥

जोवातु—अमी इति । अमी अमरास्तवसमीताया त्वत्कृतानुरागे एषपरा
एकाग्रास्ते च त्वामपेश ते इत्यर्थ । त्वत्त्व मामपि स्वकिङ्कर निजदास कन्तु-
मीशिपे शकनोपि अपि शब्दात्तानपीत्यर्थ । 'ईत्त से' इतीडागम । किन्तु
विचार्यं विमृश्य कार्यं सृज उत्पादय । अत अनुताप पश्चात्ताप कृत सर्व
त्वयि पाणिविग्रह पाणिग्राहककृत्य मुधा माविधात् माकार्दात् । अविमृश्य-
करणात्यश्चात्तापस्ते मा भूदित्यथ । विपूर्वाद्घातेर्लुङि 'न माङ्योग' इत्यङ-
भाव ॥ १३४ ॥

अन्वय —अमी अमरा तव समीहैकपरा, माम् अपि स्वकिङ्कर कर्तुं मु-
शीशिपे, विचार्यं कार्यं सृज, कृतानुताप त्वयि पाणिविग्रह मुधा मा विधात् ।
हिन्दी—ये देव तुम्हारी ही आवाणा कर रहे हैं, (तुम दमयन्ती) मुझे

भी अपना दास बनाना चाहती हो, (सो) विचार करके जाय करो, परचात्ताप तुम पर बीठे से प्रहार करने वाले शत्रु के समान कृपा विरोधन करे।

टिप्पणी—नल ने बताया कि सनम्या वृद्ध कठिन है। देव दमयन्ती की इच्छा के विरुद्ध उसके अमितापी हैं, वह नल को बरना चाहती है, नल ने भगिमा से अपनी अभीप्सा भी प्रन्ट कर दी। देवों के क्रुद्ध हो जाने पर अनिष्ट समझ है। उचित यही है कि कार्य करने के पूर्व अच्छी तरह परिणाम पर विचार कर लिया जाय, अन्यथा पड़ताना पड़ सकता है। परचात्ताप 'पाणिप्राह' अर्थात् पीठे रहकर वार करने वाले शत्रु के तुल्य है, उससे सावधान रहना चाहिए। भाव यही है कि बिना विचारे निर्णय मत लो, इससे परचात्ताप होगा। विद्याधर के अनुसार ऐकानुप्रास अतिशयाक्ति ॥ १२४ ॥

उदासितेनेव मयेदमुद्यम मिया न तेन्य स्मरतानवान् न वा ।

हितं यदि स्यान्मदमुष्ययेन ते तदा तव प्रेमणि शुद्धिलभ्यते ॥१२५॥

जीवानु—एतच्च माध्यस्थेनैवोच्यते न तु पक्षपातेनत्याह—उदासितेति । उदासितेनोदासीयेन माध्यस्थेनैवेत्ययं, नावे स कर्तरि वा । उदासितेन माध्यस्थेनैव मया इदं पूर्वोक्तमुच्यते । वने कर्मणि ऋटि यकि 'वचस्विपी' त्यादिना सम्प्रसारणम् । तेन्य सुरेन्य मिया वा स्मरतानवात् कामप्रयुक्तकास्यान्ना न । मुवादित्वादनप्रत्यय । तन्नाद्विमृदय कुविति भाव । जय विमृश्यैव कुर्वे त्वद्वरणमेवेति निश्चयस्तदाह—मदमुष्ययेन मत्प्राप्तमपंपणेन ते तव हितं पथ्य प्रिय यदि स्यात् । यदा मत्प्राप्तमपंपणमिति शेष । तव प्रेमणि विषये शुद्धिलभ्यते जानृम्यलाभाय भवति । त्वत्कृतानुरागोपकारस्य प्राप्तमपंपणमेव प्रत्युपकार इति भाव ॥ १३५ ॥

अन्वय—उदासितेन इव मया इदम् उच्यते, तेन्य मिया न, स्मरतानवात् वा न, यदि मदमुष्ययेन ते हितं स्यात् तदा तव प्रेमणि शुद्धिलभ्यते ।

हिन्दी—मैं जो कह रहा हूँ (पूर्वोक्त श्लोक में), वह एक तटस्थ (मध्यस्थ) व्यक्ति की दृष्टि से, उन (देवों) से हरकर शयवा कामदेव शत्रुता (कृशता) के कारण नहीं (अथवा देवों के अथवा स्मरतनुता के भय से नहीं) । यदि मेरे प्राणों के व्यय से तेरा (दमयन्ती) का कल्याण हो सके तो वह तेरे प्रेम में शुद्धि (सन्धभाव अथवा अनृणता) की प्राप्ति के निमित्त ।

टिप्पणो—नल ने स्पष्ट कर दिया कि उसने दमयन्ती के समुच्च जो देवों के बग्ने अथवा स्वयम् नल को ही बरने में विचारपूर्वक निर्णय लेने का प्रस्ताव ला है, वह एक तटस्थ की समति है, जिसका किसी पक्ष के प्रति बल नहीं होता—एक निष्पक्षपाती की समति । इससे यह न समझा जाय कि नल देवों से अथवा कामपीडा से आतन्त्रित हा ऐसा वह रहा है । दमयन्ती के प्रति अनुराग नी उसका कम नहीं है । पर नल दमयन्ती का हिन चाहता है । उसका कल्याण जिसमें हो, वह करे । नल का प्रेम स्वार्थी नहीं है, नल दमयन्ती के कल्याणार्थ अपने प्राण देकर अपने प्रेम की शुद्धता प्रतिपादित करेगा, उससे उसका प्रणय ही ऋणमुक्त होता है । मन्वा प्रेमी अपने प्रेमाश्रय के हित के लिए प्राण देने में नहीं चूकता । इसके विरुद्ध उसे प्रेम में बलि देकर प्रसन्नता ही होती है । नल को भी यही स्थिति है । वह दमयन्ती के हितार्थ सबस्व-त्याग सकता है—अनुसमति भी, प्राण भी । दमयन्ती ने अमूल्य दुर्लभ प्रणय देकर जो नल पर अनार किया है, उसको ऋण प्राप्त देकर भी चुकाने को, गौरव और हर्ष के समित नल सद्यत ही विचार के अनुसार ऐकानुप्रास-अतिशयोक्ति-उपमालका ॥ १३५ ॥

इतीरितैर्नैपथसूनुतामृतं विदमंजन्मा भृशमुल्ललास सा ।

ऋतोरविश्री शिशिरानुजन्मन पिकस्वरैरदूरविकस्वरैर्यया ॥१३६॥

जोवानु—इतीति । इतीत्यमीरितैर्नैपथसूनुतामृतं सत्यप्रिय-वाक्यैरेवामृतं सा विदमंजन्मा वंदर्भा शिशिरमनु जन्म यस्य तस्य शिशिरानु-जन्मन शिशिरानुतरमाविन ऋतोर्वसन्ततोरधिका श्रीदूरविकस्वरैरतिस्लाघ्यैः पिकस्वरैर्यया कोकिलकूजितैरिव भृशमुल्ललास जहर्ष । अत्र सूनुतानामुपमान भूतकोकिलालापवत्तादात्मिकत्वेनातिश्राव्यद्योतनार्थं वसन्तस्य शिशिरानुजन्म-त्वेन व्यपदेश ॥ १३६ ॥

अन्वय—शिशिरानुजन्मन ऋतो अविश्री यथा दूरविकस्वरं पिकस्वरं (तथा) सा विदमंजन्मा इति ईरितैर्नैपथसूनुतामृतं भृशम् उल्ललास ।

हिन्दी—शिशिर के अनन्तर उत्पन्न होने वाले ऋतु (वसन्त) की प्रचुर-यामा दूर तक कूजित होने कोकिल के स्वरों से जिस प्रकार विशेष उल्लसित होती है, उसी प्रकार वह वंदर्भा (विदमंजन्मा दमयन्ती) इस प्रकार

(१३१-१३५ लोकोक्त) कहे निपधराज (नल) के सत्यवचनानृत से अत्यंत सन्ताप को प्राप्त हुई।

टिप्पणी—वसुतश्री की विचिष्टता कोविस्वर से पुष्ट होती है, इसी प्रकार दमयती को प्रिय के सत्य और दृढ प्रेम से नूत वचन मुधाधारासम वानन्दशायक लगे और वह प्रसन्नता से जैसे नाच उठी। विद्याधर ने छेका-मुशामु और उपमा का निर्देश किया है। मन्त्रिनाथ की टिप्पणी है कि इस श्लोक में मृतन (सद्वचनों) को कोकिलालाप के सदृश कहा गया है, इस तादात्म्य के द्वारा डाकी अत्यंत श्रवणीयता प्रतिपादनाय शिशिर के अनुजन्मालन में वसुत का निर्देश किया गया है। शिशिराच्छादिता प्रकृति वसन्त में रमणीयतर हो जाती है। शिशिर का मृतापन, तदनंतर वसुतश्री। नारायण का कथन है कि पिक्न्वर से समानता बताकर नल के वचनों का कामोद्दीपक होना सूचित किया गया है। भाव यही है कि तुषाराच्छादिता नलिनी की भाँति मुरझायी दमयन्ती नल-वचनानृतवाराओं को पाकर उल्लसित हो गयी ॥

नल तदावेत्य तमाशये निजे घृणा विगानञ्च मुमोच भीमजा ।

जुगुप्समाना हि मनो द्रुत तदा सतीधिया दैवतद्रुतधावि सा ॥१३७॥

जीवानु—नलनिति । तदा नलस्य स्वरूपगोपनकाले दैवतद्रुते धावति प्रवर्तते इति दैवतद्रुतधावि यया तथा द्रुत मनः सतीधिया पतिव्रतास्वामिमानेन हेतुना जुगुप्समाना भीमत्समाना भीमजा तदा नलस्य स्वरूपकथनकाले त द्रुत नलमवेत्य बुद्ध्या निजे आशये घृणा परपुंस्य इति जुगुप्सा विमानमात्मनिन्दा च मुमोच ॥ १३७ ॥

अन्वय—तदा त नल निजे आशये अवैष्य तदा दैवतद्रुतधावि द्रुत मनः सतीधिया जुगुप्समाना सा भीमसुता घृणा विगान च मुमोच ।

हिन्दी—तब (नल के प्रकट हो जाने पर) उस नल को अपने मन में समझकर उस समय (नल के स्वरूप प्रकट न होने पर) देवा के द्रुत के प्रति दौड़ने वाले चञ्चल मन को सती (प्रतिव्रता नारी) की दृष्टि से घृणित मानती उस भीमपुत्री (दमयती) ने (मन के प्रति) घृणा और निंदा की भावना का परित्याग कर दिया ।

टिप्पणी—ब्रह्म तर्क दमयती को यह ज्ञान न हुआ था कि देवद्रुत के रूप

क्योंकि दमयन्ती अग को कदव कहा गया । विद्याधर ने अतिशयोक्ति और भावोदय अलंकार का निर्देश किया है ॥ १३९ ॥

मयैव सर्वोद्य नल व्यलापि यत्स्वमाह मद्बुद्धमिद विमृश्य तत् ।
असाविनि भ्रान्तिमसाद्दमस्वमु स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रम ॥१४०॥

जोवातु—मयेति । मया नलमेव सम्बोध्य व्यलापीति यत् तदिद मद्बुद्धि पित विमृश्यालोच्यासौ नल मद्बुद्ध स्वसम्बोधनलिङ्गेन मया ज्ञातमेव स्वमात्मानमाह । 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वम्' इत्यमर । अथवा ज्ञातस्य मे किं गोप-ननेति मत्वा नलोऽहमिति कथितवानित्यर्थ । आहेति भूते पलन्तभ्रमादिति वामन । अत्र तु वर्तमानतामीप्याद्वा गतिरिति । दमस्वसु या भ्रान्तिस्ता भ्रान्तिममौ नल स्वेन भाषित कथित स्वोद्भ्रमविभ्रमाणा स्वोन्मादविल-मिताना प्रम 'क्षये प्रिये' इत्यादिश्लोकोक्तप्रकारो येन स सत् असात् असासीत् अचञ्छत्मीदित्यर्थ । स्पतेर्लुङि 'विभाषा घ्राघेऽशाच्छास' इति वा गिचो लुक् । उमादादात्मप्रकाशनमिति नलवाक्यादेवावगमात् स्वेन ज्ञात्वा दूतभ्रान्तिनि वसोत्यर्थ ॥ १४० ॥

अन्यथ—मया एव नल सम्बोध्य यत् व्यलापि तद् इद विमृश्य अमौ मद्बुद्ध स्वम् आह स्वभाषितस्वोद्भ्रमविभ्रमक्रम दमस्वसु इति भ्रान्तिम् असात् ।

हिन्दी—मैंने (दमयन्ती ने) ही नल को संबोधन करके जो विलाप किया, उसका विचार करके इस (नल) ने मेरे द्वारा ज्ञात अपने को प्रकट किया,—स्वकथित को अपने उमाद की विलासलीला बताकर दम की नगिनी (दमयन्ती) के इस भ्रम को नल ने दूर किया ।

टिप्पणी—नल ने आत्मप्रकाशन किया । दमयन्ती ने समझा कि उसने जो विलाप (१।८८-१००) किया, उससे द्रवीभूत हो उस नल ने अपने को प्रकट कर दिया (१।१०१) । नल ने कहा कि यह भी समय लिया या कि जब दमयन्ती उसे पहचान ही गयी तो छिपाने से लाभ भी क्या ? और अपना नाम बता दिया—'पुरस्कृत्यालोकि नमग्नय न कि नल ?' पर नल ने यह कहकर कि उसने आत्म प्रकाशन करके अच्छा नहीं किया, यह सब मोहमयोभिनिमित्त (मोह में पड़कर) हुआ (१।१२२-१२७), दमयन्ती के

उपसृत भ्रम को दूर कर दिया । नल ने स्पष्ट कर दिया कि उसने दमयन्ती के समुल्लसित आत्मप्रकाशन प्राप्त होकर किया, और इन्से दमयन्ती को तृप्ति हुई कि उसके अभिप्रायजनित भ्रम के कारण नल ने अपना नाम बहू डाला ।
विद्याधर, के अनुसार उल्लेख्य उलकार उंचानुप्रास ॥ १६० ॥

विदमरा प्रभवा ततः पर त्रयामत्रो वक्तुमन्न न सा नलम् ।

नुरम्नमूचेज्जिभिनूच यदत्रपा ममज्ज तेनैव महाहृदे ह्रियः ॥१६१॥

जो जानातु—विदमरेति । सा विदमराजप्रभवा वैदमी तत पर नलोप्यमिति ज्ञानानन्तर त्रयया मती रुज्जिता सती नल वक्तु साक्षात् सम्नापितु नाल न शक्य । कृत, पुर पूर्वमत्रपा निधना सती त नलमभिमुख यथा तथा उच्येति यत् तेनैव हेतुना ह्रियो महाहृदे महति लज्जाहृद इत्यर्थे । घटस्य स्मृतिवत् क्यच्चिद्भेदनिर्देश । ममज्ज मग्ना ॥ १४१ ॥

अन्वयः—उत पर सा विदमराजप्रभवा त्रयासखी नल वक्तुम् अल न, पुर अत्रया यत् तम् अभिमुखम् उच्ये तेन तव ह्रिय महाहृदे ममज्ज ।

हिन्दी—तत्पश्चात् (नल-निश्चय के अनंतर) वह विदमराज की पुत्री (दमयन्ती) लज्जा को मित्र (रुज्जित) हो नल से वार्तालाप करने में समर्थ न हो सकी, पहिले (नल ज्ञान न होने पर) लज्जाहीन हो जो उस (नल) के समक्ष कह गयी थी, उससे ही लज्जा के विद्याल तालाव में डूब गयी ।

टिप्पणी—जब तक दमयन्ती को यह निश्चय नहीं था कि यह दूत नल है, तब तक दमयन्ती उसे दूत समझ प्रायः, रोष बादि से सबकुछ ऐसी अनेक बातें कह गयी थी, जिन्हें एक कुमारी बाला सामान्यतः न कह पाती । अब जब यह निश्चय हो गया कि यह नल ही समुल्लसित है, तब उसे उम सबका विचार कर बड़ी लाज लगी कि वह क्या क्या बक गयी ? अब रुज्जित हो वह नल से कुछ बोल ही न पायी । थोड़ी लज्जा होने पर तो कदाचित् कृठ कह नो पाती पर वह तो लज्जासागर में ही डूब गयी थी । कुछ न बोल पायी । लज्जा दमयन्ती की सखी जो थी, वह पल भर को भी क्यों उसे छोडती ? विद्याधर के अनुसार विरोधान्नाल अलकार ॥१४१॥

नदापनार्यापि न दातुमुत्तरं शशाक नत्या धवसि प्रियाय सा ।

विहस्य सत्येव तमन्नवोत्तदा ह्रियाघुना मौनघना भवत्प्रिया ॥१४२॥

जीवानु—पदेति । सा नैमी, यदा अपवार्यं व्यवघायाति सख्या धदसि धोत्रे प्रियापोत्तर दातु न शयाक तदा सख्येव विहस्य त नलमब्रवीत् । किमिति अधुना भवत्प्रिया नैमी हिया मोनधना बद्धमोना, न तु वैराग्याद्द्वेषाद्देति भावः ॥ १४२ ॥

अन्वय—सा यदा अपवार्यं बनि सख्या धवसि प्रियाम उत्तर दातु न शयाक तदा सखी एव विहस्य तम् अब्रवीत्—अधुना भवत्प्रिया हिया मोनधना ।

हिन्दी—वह (दमयती) जब खाट का सहारा लेकर भी क्षयवा भूँह को कुछ तिरछे करके सखी के कान में भी प्रिय (नल) को उत्तर देने में समर्थ न हो पायी, तब सखी ही हसकर उस (नल) से बोली कि अब क्षयकी प्रिया लज्जा से मोन हो गयी है ।

टिप्पणी—सामान्यतया अभिजात नारिया—रानिया, राजकुमारियाँ आदि अपनी दासियों और सखियों के माध्यम द्वारा पुरुषों से वार्तालाप किया करती थीं, किन्तु लज्जाधिक्य के कारण दमयती उस समय ऐसा भी न कर सकी जैसा कि वह पहिले कर चुकी थी (नै० च० १।३०) । तब उसकी सखी ने स्पष्ट कर दिया कि नल की प्रिया दमयती किसी विराट क्षयवा द्वेष के कारण नहीं, अपितु लज्जा के कारण चुपनी साध बँठी है । यह सखी का परिहास भी है कि पहिले तो दमयती इतना सब कह गयी, अब विचित्रलिखित जैसी—क्षयवा पुत्तलिका जैसी चुप बँठी है । 'अपवार्य कथन' अर्थात् 'अपवारित' एक प्रकार की विचिष्ट शैली की नाट्योक्ति होती है, जिसे 'गूढभावसन्वृत वचन' कहा गया है । धनञ्जय ने (दशरूपक १।६३-६६) अपवादित को 'नियत-धाम्य', अर्थात् विचिष्ट व्यक्तियों के द्वारा सुनी जाने योग्य उक्ति का एक भेद माना है । अपवारित अर्थात् भूँह फेर कर कहना । दमयती ने ऐसी शैली का भी उपयोग न किया, इतनी अधिक लजा रही थी वह । विद्याधर के अनुसार अतिशयोक्ति बलकोर ॥ १४२ ॥

पदातिघेयाँल्लिखितस्य ते स्वय वितन्वती लोचननिर्जराणाम् ।

जगाद या सैव मुखान्मम त्वया प्रतूनबाणोपनिपन्निशाम्यताम् ॥१४३॥

जीवातु—पदेति । इय भवत्प्रिया लिखितस्य चित्रगतस्य ते पदयोराति श्रयानतिपिपु साधून् पादभूतानिपयं । 'पम्यतिपिपवसतिस्वपतेदं' । लोचन-

निर्नरात् वाष्पपूरान् वितन्वती या प्रसूनबाणोपनिपद कानरहस्य जगद
त्वदागमात् प्रागिति शेषे सैव प्रसूनबाणोपनिपन्नम् मुञ्जात् त्वया स्वयं
निशम्यता श्रूयताम् ॥ १४३ ॥

अन्वयः—इयं लिखितस्य ते पदाश्लेषेण लोचननिर्नरान् वितन्वती या
जगद, सा एव प्रसूनबाणोपनिपदं त्वया मम मुञ्जात् निशम्यतान् ।

हिन्दी—यह (दमयती) चित्र में अकिन् तुम्हारे (नल के) चरणों के
आनिदेय (अतिपि-मत्कार के निमित्त पाद्य-चरणोदक) नैशों के निर्नरों
(आमुश्रों) का प्रसार करती जिते बोली थी, वही कुमुमबाण (काम) की
उपनिपत् (कामरहस्य) तुम मेरे (सखी के) मूँह ने सुनी ।

टिप्पणी—दमयती के एकदम चुन्नी साय लेने पर उसकी सतरंग सखी
ने समयोचितता को ध्यान में रखकर नल से कहा कि इस समय दमयती तो
बुद्ध बोलेंगी नहीं, किन्तु पहिले नल के चित्र के समुच्च अश्रुधारा बहाती
कानाहुँत की प्रशिक्षा जित उपनिपत् अर्थात् कामरहस्य का बह उद्घाटन
दिया करती थी, वही अब यह उसकी सतरंग सखी बजाती है । नल को उसे
ही सुनना चाहिए । उपनिपद अर्थात् बह्यारहस्य प्रतिपादक अल्पश्लेष ।
यहाँ काम-बह्य के रहस्य प्रतिपादक जालाप की उपनिपद कहा गया । यह भी
भाव है कि दमयती ने यह, जो भी कहा था, कानपीडित होने से कहा था ।
विशाषर के अनुसार अतिशयोक्ति ॥ १४३ ॥

अनात्र स त्वयि ह्यम एव मा शशम न त्वद्विन्हात्म्यशयान् ।

क्व चन्द्रवशस्य वनन ! मद्दधान्तृशसना ममविनी भवादृगे ॥ १४४ ॥

जीवानु—अशयमिति । हे चन्द्रवशस्य वनसावतम् । 'वष्टि वागुरिरल्लो-
पनदाप्सोश्चसर्गायो' अकारलोप । न ह्यस त्वद्विन्हात्मनस्य प्रातप्राय-
स-इहा मा त्वयि विषये न शशमैव अशयम् । अथवा भवार्थे त्वद्विधे
'त्यशदियु' इत्यादिना कञ्प्रत्यये । 'आ सर्वनाम्न' इत्याकारादेश । मद्दधाद्धे-
तोन्तृशमता घातुक्तव खोदघपातकित्वमिति यावत् । 'नृशमो घातुक् कूर'
इत्यमर । क्व सम्मविनी सम्भवति न क्वापि सम्मविनेत्यर्थ । मज्जवस्य
दयानिषेष्टव नेत्रकार्यं मुक्तमिति भाव ॥ १४४ ॥

अन्वयः—स हस एव त्वद्विरहाप्तसद्यया मा त्वयि असद्य न शशस चन्द्रवशस्य अवनस, भवाद्ये मदघात् नृशसता वच समविनी ?

हिन्दी—उस हस (स्वर्णहस) ने ही तुम्हारे (नल) के वियोग के कारण जिसका जीवन सधयास्पद हो उठा है, ऐसी भुञ्जको तुम (नल) ने नि मदेह नहीं कहा, अन्यथा हे चन्द्रकुल के अलवार (नल), आप जैसे (श्रेष्ठपुरुष) में मेरे (नारी दमयती के) वध की निदयता कहाँ सम्भव है ?

टिप्पणी—दमयती जो जो कहा करती थी, उसे सखी ने तेरह श्लोका (१४४-१५६) में बताया। उसने बताया कि विरह-पीडिता दमयती कहा करती थी कि जो स्वर्णहस नल दूत के रूप में दमयती के पास आया था, उसने नि सन्देह नल के पास लौटकर उन्हें नहीं बताया होगा कि उसके विरह में सतस दमयती के प्राणों का भी सद्य हो गया है, ऐसी दुःसह व्याधा है उसकी। यदि हस ने नल को बताया होता तो चन्द्र जैसे अमृतकिरण वर का अवतस नल क्या कभी प्रिया की रक्षा करने न आता ? पुण्यश्लोक नल तो निर्दोष पुरुष का वध भी नहीं कर सकता, वह यदि सूचित होता तो व्यर्थ स्त्रीहत्या का कारण क्यों बनता ? निश्चय ही दमयती की पीडा हतदूत ने नल को नहीं बताया। वह ऐसा निर्दय हो ही नहीं सकता। विद्याधर के अनुसार अनुप्रास और हेतु अलवार ॥ १४४ ॥

जितस्त्वयास्येन विधु स्मर श्रिया कृत्प्रतिज्ञी मम तो वधे कुत ।

तवेति कृत्वा यदि तज्जित मया न मोघसङ्कल्पधरा किलामरा ॥१४५॥

जीवातु—जित इति । विधुश्चन्द्रस्त्वया आस्येन जित । स्मर. श्रिया सौन्दर्येण जित । कुत कारणात् तो विधुस्मरो मम वधे कृतप्रतिज्ञी त्वयि जेतारि स्थिते निरपराधा मा किमिति मारयत इत्यर्थं । अथ तवेति त्वदीयेति कृतया यदि तत्तर्हि मया जित त्वा विना जीवनाभावात् मरणमेव मे प्रियमित्यर्थं । सेत्स्यति चेत्तदित्याह अमरा मोघसङ्कल्पस्य धरन्तीति धरा, 'पचाद्यच्' । किल । सत्यसङ्कल्पा सखु देवा, देवी च विधुस्मराविति भाव । अत्र नलापकाराममर्थयोविधुस्मरयास्तदीयजनापकारकथनात् प्रत्यनीकालङ्कार । 'बलिन प्रतिपक्षस्य प्रतीकारे मुहुर्करे । यस्तद्दोषतिरस्कार प्रत्यनीक तदुच्यते ।' इति लक्षणात् ॥ १४५ ॥

अन्वयः—तदा आस्येन विदुः प्रिया स्वर. वित, कुत तौ नन वनं
 कृतमिहा ? यदि इति त्व हृत्वा तद् मया वितम्, जमरा मोपसङ्ख्यता
 किं न ।

हिन्दी—तुम (नन) ने मुख में चन्द्र को और घोमा से काम को जीन
 लिया है, किस कारण वे दोनों (चन्द्र-काम) मेरे मन के लिए प्रा कि
 बैठे हैं ? यदि ऐसा (प्रा) तुमको करके (नन को प्रिया होने के मवष से)
 है, तो मैं जीत गयी क्योंकि देव निश्चल सकल्प-वारण ता निश्चयन नही
 करते ।

टिप्पणी—विरहिणी दमयती का चन्द्र और काम दोनों कष्ट देने रहे हैं,
 जैसे वे उनकी हाना करना चाहत हैं । नन ने दोनों को पराजित किया है ।
 मुख घोमा से चन्द्र को और शरीर भग्नता से काम को । वे जो दमयती के
 प्राणोंवा शत्रु हो रहे हैं, वह इस कारण कि नन पर तो उनका बुरा चान
 नहीं अब उसको प्रिया दमयती के प्राण लेकर उसका प्रतीकार लें । दमयती
 सोचती थी कि यदि यह मनावना ठीक है तो दमयती की शीत समझिए, क्योंकि
 देवों का सकल्प—मानस-विवार झूठा हो नहीं सकता । उन्होंने दमयती का
 नन प्रिया मान लिया ता यह झूठ हो ही नहीं सकता । दमयती नन्प्रिया
 होगी ही । दमयती की जीत यही है कि वह ननप्रिया बने । यह भी मवष
 है कि नन ने वित चन्द्र-काम को अपने व्यवसाय से ही जीत लिया, उह
 उसको धर्मातिन। ता जीत हो लेगी । मन्त्रिणाथ के अनुचार यहाँ प्रत्यक्ष
 बलकार है, वना कि नन के अन्तार में असमय चन्द्र-काम का कयन उस नन
 की प्रिया के अन्तारक रूप में दृशा है । प्रत्यक्ष का लक्षण है कि वन
 मन्त्रिणाथ का अन्तार मुहुर्त हए पर उनसे सबद का विस्कार । विदाय
 के अनुचार प्रतिपत्ति-श्रमनोक-कामजित जलवार ॥ १४५ ॥

विवाःशुनिदधनदङ्गमन्मिमुना विपुर्वाञ्जलि लञ्छनोन्नुत्रम् ।

त्वदान्यता धान्यनि तात्रनाकि कि वधूवनेनेद पुनः बल्लिङ्कनः ॥१४६॥

जीवानु—निजेति । विपुर्वात्र निजैरमुनि निरंजन्म नदङ्गम्य मच्छगी-
 रण्य मन्मनिर्नञ्छनोन्नुवा स्वञ्चरिनाजंनम् 'यिञ्जिदादिम्योञ्ज' । मुत्र
 वधूव वाञ्छति, नन्मुक्ताम्भार्यनिनि शेष । तथा हि-हं मिये । वधूवने

मद्वधपातकेनैव पुन कलङ्कितं सन् तावतापि मदङ्गमस्मनोन्मार्जनेनापि
त्वदास्पता त्वत्तुल्यतामित्यर्थः । यास्यति प्राप्स्यति किम् ? न यास्यत्येवेत्यर्थः ।
अत्र विधोर्नलास्यताम्याय भैरव्यङ्गमत्तमि स्वकलङ्कमार्जनाद्भवधकलकप्राप्ति-
कथनादनर्थोत्पत्तिरूपो विधमालङ्कारः ॥ १४६ ॥

जन्वय-विधु निजागुनिर्गममदङ्गमस्ममि. लाञ्छनोन्मूर्जां मुधा वाञ्छति,
वयूदधेन पुन कलङ्कितं किं तावता अपि त्वदास्पता यास्यति ?

हिन्दी—चन्द्रमा अपनी किरणों से जला डाले मेरे अंगों की भस्म से
अपने कलक का मार्जन व्यर्थ चाहता है, नारी हृन्पा से फिर कलकित हो
क्या उतने से भी तुम्हारे (नल के) मुख के साम्य को प्राप्त कर सकेगा ?
(नहीं कर सकेगा) ।

टिप्पणी—भाव यह है कि चन्द्र दमयन्ती को अत्यन्त पीडित करता है ।
चन्द्रमा है कि वह दमयन्ती की देह जलाकर उसकी राख से माँझ-रगड़ कर
अपना कलक साफ करना चाहता है । पर, चन्द्र का यह प्रयत्न झूठा और
बुद्धिहीन है, क्योंकि राख से मजि तो चन्द्र-कलक मिटेगा नहीं, जिस पर वह
सोचना है कि कलक हट जाने से नल के मुख की समता प्राप्त कर लेता
उलटे स्त्री हत्या के पाप से और द्विगुण कलकी वह हो जायेगा । मल्लि-
नाथ के अनुसार इस श्लोक में विषम अलङ्कार है क्योंकि चन्द्र को नलमुख-
साम्य की प्राप्ति के निमित्त दमयन्ती के अंगों की भस्म से अपने कलक का
मार्जन करते नारी वध कलक की प्राप्ति का कथन हुआ है, जो अनर्थोत्पत्ति-
रूप है । विद्याधर न छेकानुप्रास और यतिशयाक्ति का निर्देश किया है ॥१४६॥

प्रसीद यच्छ स्वशरान् मनोभुवे स हन्तु मा तैर्मुतकौसुमाशुग ।

त्वदेकचित्ताहममून् विमुञ्चती त्वमेव भूत्वा तृणवज्रयामि तम् ॥१४७॥

जीवानु—प्रसीदेति । हे प्रिय ! प्रसीद स्वशरान्मनोभुवे कालाय यच्छ
देहि । 'पाप्रा'—दिना दापो यच्छादश स कामो घृतकौसुमाशुग त्यक्तकुसुम-
दाणंस्त्वंस्वच्छंमां हन्तु हिनस्तु । तस्योपयोगमाह अह त्वय्येकस्मिन्नित्त यस्या
ना मती असून् प्रपान् विमुञ्चती त्यजन्ती, 'आच्छीनद्योर्नुम्' इति विकल्पा-
न्नुमभावः । अत एव त्वमेव भूत्वा, 'य य वापि स्मरन् भावम्' इत्यादिगीता-
प्रामाण्यादिति भावः । त काम तृणवज्रतुल्य जयामि जेष्यामीत्यर्थः । आश
साया वर्तमानवत्प्रथम ॥ १४७ ॥

अन्वय—प्रतीद, स्वयत्तान् ननोन्मुदे मच्छ, धुतवीमुनागुण म तं या हन्तु, त्वदेकचित्ता जम्न विमुञ्चती अह त्वम् एव भूत्वा त तृणवत् जयानि ।

हिन्दी—प्रसन्न हो जाओ, अपने (नल के) बाणों को मनोभू (काम) को दे दो, वे कुमुद-बाण छोड़ना वह (काम) उन (बाणों) से मुझे मार डाले, तुम (नल) में मन लगाकर प्राण छोड़ती मैं (तुम में विलीन हो) तेरा ही रूप प्राप्त कर उमे (काम को) वृन्वन्—बिना श्रम के जीत लूँगी ।

टिप्पणी—पीडित दमयन्ती चाहती है कि काम उनके प्राण ले ले, पर अपनी बाणों से नहीं, नल के द्वारा प्रदत्त बाणों से । नल के बाणों से नल का ही ध्यान करती दमयन्ती यदि मृत्यु को प्राप्त होगी, तो तद्रूप ही हो जायेगी, क्यों कि मरते समय जिसकी भावना जेनी होगी, उसे वैया ही रूप प्राप्त होगा । नल रूप से पुनर्जन्म प्राप्त करके दमयन्ती काम को जीत ही लेगी अनायास, क्योंकि नल से तो काम मदा पराजित है । यह भी कल्पना है कि काम के बाण पूरों के हैं जो कोमल होने से वे घातक नहीं हैं, केवल पीडा देते हैं । यदि नल लौह बाण उसे दे दे तो उनके प्रहार से पीछे मर कर दमयन्ती को व्यथा से मुक्ति मिलेगी और पुनर्जन्म में नल रूप में उत्पन्न हो वह काम-जय करेगी । विद्याकर के अनुसार अतिशयोक्ति और उपमालकार ॥ १४७ ॥

श्रुति-सुगाणा गुणगायत्री यदि त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य किं तत्र ।

स्त्रवे रवेरप्सु कृताप्लवै कृते न मृद्वती जातु भवेत् कुमुदती ॥१४८॥

जीवानु—ननु श्रुतयोगिनि देवानेन गायत किमिति तत्तेषु वेदवेद्येषु विद्वानमन आह—श्रुतिरिति । श्रुतिवैशेषिनि सुराणा गुणगायत्री गुणस्तोत्र्येव यदि, कर्तारि लुद्, टिन्वात् डीप् । त्वदङ्घ्रौ मग्नस्य स्वचरणांशरारास्य जनस्य स्वस्पेत्यर्थ । तत्र किं तद्वै कोऽयं श्लेषः । तथा हि—अप्सु कृताप्लवै कृतावगाहै जनै रवेरकंस्यस्तवे स्तोत्रे कृते सति कुमुदायस्या सतीति कुमुदती कुमुदिनी, 'कुमुदतडवेतसेम्पो इन्वत्' टिन्वे डीप् । जातु कदापि मुदस्यातीति मुदती मोदवती विद्याश्रवती न भवेत्, कथमपीति गेप । दृष्टान्तालकारो रसगानूक्तम् । १४८॥

अन्वय—श्रुति यदि सुराणा गुणगायत्री, त्वदङ्घ्रिमग्नस्य जनस्य तत्र किम् ? अप्सु कृताप्लवै रवे स्त्रवे कृते कुमुदती जातु मृद्वती न भवेत् ।

हिन्दी—वेद यदि देवा के गुणों के गायक (स्तुतिकर्त्ता) हैं, तो तुम्हारे (नल के) चरणों में अनुरागी इस जन (दमयन्ती) को उससे (श्रुति देव-गुण गायन से) क्या प्रयोजन ? (कुछ भी नहीं ।) । जल में स्नान किये व्यक्तियों द्वारा सूर्य की स्तुति किये जाने पर कुमुदिनी कभी प्रसन्न नहीं होती ।

टिप्पणी—नल ने विविध तक देते हुए दमयन्ती द्वारा देववरण को उचित ठहराया था, उसका ही निराकरण दमयन्ती का भाव प्रकट करती दमयन्ती को सखी ने बताया कि देव चाहे जितने श्रेष्ठ हों, दमयन्ती तो नल की एकनिष्ठ अनुरागिणी है, देवों से और उनकी गुण-परपरा से उसे कोई प्रयोजन नहीं । वेदों में अग्नि, इन्द्र आदि देवों की स्तुतियाँ हैं । ऋग्वेद स्तुति प्रधान है । उसकी प्रथम श्रुवा 'अग्निमीडे ' इत्यादि अग्नि की स्तुति है । तो यदि यह कल्पना की जाय कि श्रुतिस्तुत देवों की अवहलना उचित नहीं, तो ठीक नहीं । सूर्य और कुमुदिनी के उदाहरण द्वारा इस स्पष्ट किया गया । सूर्य श्रेष्ठ है, आदि देव है । प्रातः जलाशयों में स्नान कर भक्त उसी की स्तुति किया करते हैं, किंतु चन्द्र की एकनिष्ठ अनुरागिणी कुमुदिनी उन स्वर्गों की सुनकर सूर्यानुरागिणी नहीं हो जाती । ऐसी ही दमयन्ती की स्थिति है । वह नलानुरागिणी है, उसे घर घर ही प्रसन्न होगी । वस्तुतः बड़ी बात है एकनिष्ठ अनुराग, किसी का अनुररण नहीं, भले ही वह वेद—जगत्पूज्य क्या न हो । किसी के द्वारा किसी का गुणगान सुनकर अन्यानुरक्त जन पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता । मल्लिनाथ-विद्याधर के अनुसार वृथात अलकार ॥ १४८ ॥

कथासु शिष्ये वरमद्य न द्विये ममावनन्तासि न भावमन्यथा ।

त्वदगमुक्तामुनयाशु नाथ मा प्रतीपि जीवाम्यधिक । त्वदेकियाम् ॥

जीवातु—कथास्थिति । हे नाथ । शिष्य कथामात्रशेषा भवामि मरिष्या-भीत्यर्थ । शिष्य असर्वोपयोग इति घातोर्द्धादिकात् प्राप्तकाले कतरि लट् । वर मनाक् प्रियम् अथ न द्विये न स्यास्ये न जिविष्यामीत्यर्थ । वृद्ध अवस्थाने इति घातोर्द्धादिकात् प्राप्तकाले कतरि लट् । 'रिङ्गयमिङ्क्षु' इति रिटा-देश । अथवा जीवेन परीक्षणे मम भावमाशय नावगतासि नावगमिष्यामि, मपेल्लुटि सिप् । त्वदये तुभ्य मुक्तामुतया त्यक्तप्राणतया आशु मा हे जीवाम्य-

दिक । अत एव त्वमेवैको नृत्यो यम्यारता त्वदेविका त्वदेव्यरगामित्यर्थं
शैपिके कवि बान्धुवस्मेकार । प्रतीहि जानीहि ॥ १४९ ॥

अन्वय — कथासु शिष्ये वरम, अद्य त्रिये न, अथवा मम भाव न क्व-
गन्तानि, नाथ, जीवात्मधिक आसु त्वदर्थमुत्सामुतया मा त्वदेविका प्रतीहि ।

हिन्दी—मैं (दमयती) कथाओं में शोय रह जाऊँ (मर जाऊँ)—यह
बच्छा है, आज रूंगी नहीं (मर जाऊँगी), अथवा मेरा (दमयती का)
आशय तुम (नल) न समझ पाओगे । हे स्वामी, हे जीवितधिक (प्राणादि-
श्रिय नल), शीघ्र अपने (नल के) निमित्त प्राण त्याग करने से मुझे तुम
स्वैकनिष्ठा (एक नानुगामिणी) मानो ।

टिप्पणी—दमयती का आशय है कि यदि नल अब भी यह नहीं समझ
रहा है—नहीं मान रहा है कि दमयती नल की ही अनुरागिणी है, अन्त-
अपनी निष्ठा नल को रताने के लिए शीघ्र प्राण देने की बात करती है,
जिससे नल को विश्वास हो सके कि कहीं उसका एक मात्र स्वामी है, प्राणों से
और जीवन से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है । तभी तो दमयती उनके लिए प्राण
भी दं देना चाहती है । तृतीय चरण का पाठांतर है—स्वदर्थमुत्सामुतयासुनाय ।
नागयण ने 'सुनाय का एक अर्थ शोभनस्वामी किया है और सुतया—
असुनाय' पदच्छेद करके असुनाय अर्थात् प्राणों का स्वामी भी । भाव यह है
कि शोभन स्वामी और प्राणों के नाथ का विश्वास प्राप्त करने के लिए स्वयं
के समान दमयती भी प्राण देना उचित समझती है । 'असुनाय' का 'न
सुनाय' असुनाय' विग्रह करके 'बुरास्वामी' भी जय लिया गया है, अर्थात्
नल बच्छा स्वामी नहीं है । सुनाय तो किसी काय से सेवक का स्वानुराग
जान लेता है, पर असुनाय (बुरास्वामी) अथवा असु अर्थात् प्राणों का नाथ
बिना असुनाय के इस एकनिष्ठानुराग को नहीं समझ पाते । सो दमयती अब
नल के निमित्त प्राण दे देना उचित समझती है । विद्याधर के अनुमात्र
अद्वितीयोक्ति अन्कार ॥ १४९ ॥

महेन्द्रहेतेरपि रक्षण भयाद्यदयिसाधारणमन्त्रभूद्व्रतम् ।

प्रमूनवाणादपि नाभरश्चन क्षप तद्गुन्वैरवकीर्णिनस्तव ॥१५०॥

जीवातु—महेन्द्रेति । महेन्द्रेतेव आमुषादपि यद्भय तस्माद्रक्षण, 'भीष्मा-
दाना भयहेतु' इति क्रमादुभयत्रापादानत्वात् पञ्चमी । अयिस्त्वयिनात्रेष्टु

द्रुमकाण्डानां वृक्षस्कानानाञ्च मण्डलसमूहं तृणैश्चि हिनस्ति दहति खल्वित्यर्थः ।
तृहि हिनाया लट् 'रुवादिभ्यश्च शनम्' 'तृणह इम्' गुणट्वादिकार्यम् । विशेषेण
सामान्यसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यासः ॥ १५२ ॥

अन्वय — बुधौ लघौ लघौ एव परे पुर आत्मनेपस उत्तेजन विषेयम्,
ज्वलन् तृणैश्चालम् क्रमात् खनु करोपद्रुमकाण्डमण्डल तृणेडि ।

हिन्दी—पण्डितों को छोटे-से-छोटे ही शत्रु के प्रति पहिले अपने तेज
की उत्तेजना करनी चाहिए. अग्नि (पहिले) तिनके मे जलता हुआ धीरे-
धीरे (क्रम से) निश्चयत सूखे गोबर (उपले) और वृक्षों के लट्ठों को
जला देना है ।

टिप्पणी—यह धमत्त कर कि काम पुण्यबाण—सुकुमार अस्त्रधारी
छोटा, नगण्य चण्डाल है, उसकी उपेक्षा करनी उचित नहीं । नमत्तदार व्यक्ति
पहिले अपना तेजोमय रूप—बल छोटे शत्रुओं पर ही प्रकट करते हैं, इसी
क्रम से वे बड़े शत्रुओं का भी नाश कर डालते हैं । उदाहरण है अग्नि का,
जो पहिले तिनका घास जला, क्रमशः कण्डे, लकड़ियाँ, मोटे मोटे वृक्षों के
स्कन्ध—कुन्दे लट्ठे भी भस्म कर देता है । अतः हीन होने से काम की अव-
गणना ठीक नहीं । मल्लिनाथ के अनुसार विशेष से सामान्य समर्पणरूप
अर्थान्तरन्यास, विद्याधर ने छेकानुप्रास अर्थान्तरन्यास का निर्देश किया है ।

सुरापराधस्तव वा कियानय स्वयवरापामनुकम्प्रता मयि ।

गिरापि वक्ष्यन्ति मुखेषु तर्पणादिदं न देवा मुखलज्जयैव ते ॥१५३॥

जीवातु—सुरेति । तव स्वयमेव वृणोतीति स्वयवरा 'पचाद्यच्' । तस्या
मयि अनुकम्प्रता अनुकम्पित्व 'नमिक्मि' इत्यादिना ताच्छीत्ये ञिनिप्रत्ययः ।
भावाद्ये तल् प्रत्ययः । अयं कियान् सुरापराध तत्रैषितस्यापि मया वृत्तत्वात्
कोऽपराध इत्यर्थः । अयापराद्धत्वेऽपि मुखेषु तर्पणात् प्रीणनात् देवास्तै मुख-
लज्जयैव मुखदाक्षिण्येनैव इदमपराद्धत्वं गिरापि न वक्ष्यन्ति । अपिचक्षामन-
सापि न स्मरिष्यन्तीत्यर्थः ॥ १५३ ॥

अन्वय — वा स्वयवराया मयि तव अनुकम्प्रता अयं कियान् सुरापराध ?
मतेषु तर्पणात् ते देवा मुखलज्जया एव इदं गिरा अपि न वक्ष्यन्ति ।

हिन्दी—अथवा स्वयवरण मे सलभना मूस (दमयन्ती) पर तुम्हारी
(नल की) दयालुता—यह बिठना-सा देवों के प्रति अपराध है ? (नहीं

है)। यज्ञों में तपंग मिलने से वे देव समुच्च होने की लक्षा से ही इसे (जपराय को) दागी से भी न कहेंगे ।

टिप्पणी—नल ने सुनावना की दो कि स्वान्मन्त्रवाचन कर वह देवा-पराशो बन गया है (१।१२२) दमयन्ती की भावना प्रकट करती दमयन्ती की नसी इल कल्पना को निर्मूल बताती है । नल स्वयवर में पधारें, यह देवा-पराश नहीं है । यदि है भी तो नल, जिन्का उल्लेख कचनों से भी देव नहीं करेंगे । प्रतिदिन नल द्वारा यज्ञों में तपंग से नृप हाने देवों को समुच्च होने की लक्षा तो होगी ही, अतः मन में रखना क्या वे ता दम नपापराश का मुख से उच्चारण भी न करेंगे । स्वच्छावगा अपराय नहीं है, और जब दमयन्ती स्वच्छा नल का वषण करती है, तो नल का क्या जपराय ? विद्याधर के अनुसार काव्यलि ॥ १५३ ॥

ब्रजन्तु ते तेऽपि वर स्वयवर प्रसाद्य तानेव मया वरिष्यन्ते ।

न सर्वया तानपि न स्पृशेद्दया न तेऽपि तावन्मदनस्त्वमेव वा ॥१२४॥

जीवानु—ब्रजन्विति । अथवा हे नल ! तें देवा अपि ते तव सम्बन्धिन स्वयवर ब्रजन्तु वर साध्वेवैतदित्यर्थ । कुत, मया तानेव प्रसह्य प्रसन्नान् वृत्वा वरिष्यन्ते । न च ते दुराधर्पा इत्याह—सर्वया तान् देवानपि दया न स्पृशेदिति न । न तु स्पृशेदेवेत्यर्थ । सम्भवस्य नियमनिवृत्तंगे द्वौ नञ्प्रति-पद्यो स्त । तेऽपि तावमदनस्त्वमेव वा न । छोके त्वा मदन च विना न कोऽपि निष्कृय इति भावः ॥ १५४ ॥

अन्वय—तें अपि स्वयवर ब्रजन्तु, वरम्, मया तान् एव प्रसाद्य वरिष्यन्ते, तान् अपि सर्वया दया न स्पृशेत्—न, तें अपि तावत् न मदन वा त्वम् एव ।

हिन्दी—वे (देव) भी स्वयवर में पहुँचें, ठीक है, मैं (दमयन्ती) उन्हें (देवों को) ही प्रसन्न करके (तुम्हारा-नल का) वरण करूँगी । ऐसा नहीं है कि उन्हें किसी प्रकार दया जाये ही नहीं, वे (देवता) भी न मदन (काम) हैं और न तूम (नल) ही ।

टिप्पणी—देवान भी अच्छा है कि स्वयवर में समिलित हो । दमयन्ती कहती है कि उन्हें प्रसन्न और संतुष्ट करके ही वह स्वच्छा नल का वरण करेगी । देवता संपूर्णतया निर्दय नहीं है कि प्रसन्न ही न हों । ऐसा कार्य समार

के प्राण हर रहा है (उसी प्रकार कि जिस प्रकार चण्डाल मधु अर्थात् मद्यप (शराबी) को । मित्र बनाकर और स्वयं भी मधुपान कर घर के बीच घुस जाये और किसी के प्राण हरे) । उससे तुम्हारी कीर्ति दिग्गत में व्याप्त हो ।

टिप्पणी—पूर्वश्लोक (१५१) में काम को अनङ्ग चण्डाल और मधु-सखा कहा गया था, उसी को और पुष्ट करती हुई दमयन्ती की सखी ने कहा कि नलानुरागजन्य अतएव नल सबधी काम निश्चय ही क्रूरबाणो वाला, प्रचण्डबाणवर्षी, छिनागुलि होने से अनङ्ग चण्डाल ही है, इसीसे न तो वह दीखता है, न स्पर्श में आता है । नल से पराभूत है, जनः अगुलि कटाये चण्डाल बन गया है कि अपराध करके भी बर्च जाय कि अगुलि कट कर इसे अपराध का दण्ड मिल गया है । वह काम चण्डाल एक शराबी की भाँति अन्तस् (हृदय, घर) में प्रवेश कर वसन्त ऋतु में दमयन्ती की हत्या अवश्य कर डालेगा और नल का यश अपयश बन चारों ओर फैलेगा कि इसके दास ने एक निरपराधिनी रमणीरत्न की हत्या की है । भाव यह है कि नल सम्बन्धी काम उसकी अनुरागिणी दमयन्ती को प्राणातक पीडा दे रहा है, जिससे उसकी मृत्यु हो जायेगी और नल को अयश मिलेगा, सो नल को ऐसा कार्य करना चाहिए कि दमयन्ती को पीडा का दान हो और नल को अयश न मिले । मल्लिनाथ के अनुसार यहाँ गम्या उत्प्रेक्षा है, क्योंकि चण्डाल-घर्म-योग्य होने के कारण काम की चण्डालभाव से समावना की गयी है, और व्यञ्जक पद का प्रयोग नहीं है । विद्याधर ने अतिशयोक्ति का निर्देश किया है । चन्द्रकलाकार ने अदिवनस्थान और अन्तस् में रूपक, काम-चण्डाल में उत्प्रेक्षा मानकर दोनों का अगागिभाव स्वरूप माना है । मदाक्राता छन्द है, जिसके प्रत्येक चरण में सत्रहवर्ण इस क्रम से होते हैं—१ मगण (५५५), १ मगण (५११), १ नगण (१११), २ सगण (५५१) २ गुव (५५)—मन्दाक्रान्ताम्बुविरसतर्गमो भनो तो गयुग्यम् ॥ १५६ ॥

अथ भीमभुवैव रहोऽभिहिता नतमौलिरपत्रपया स निजाम् ।

अमरै सह राजसमाजगति जगतीपतिरभ्युपगम्य ययी ॥१५७॥

जीवातु—अपेति । अथ भीमीवाक्यश्रवणानन्तर जगतीपतिर्नल भीमभुवैव

जीवातु—श्रीहर्षमिति । सन्दृष्ट्वा ग्रथितमर्णववर्णनमणदवर्णनाख्याप्रबन्धो
येन तस्येत्यय । 'ग्रथित ग्रथित इवम्' इत्यमर ॥ १६० ॥

इति मल्लिनाथसूरिविरचिते 'जीवातु' समाख्याने नवम सर्गं समाप्तः ॥१॥

- ० -

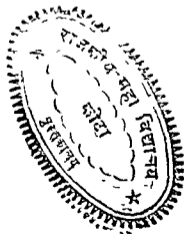
अन्वय—प्रथम दो चरणो का पूर्ववत् । सदृशार्णववर्णनस्य तस्य
चारुणि महाकाव्ये नैपथीयचरिते नितर्णोज्वल नवम सर्गः व्यरसीत् ।

हिन्दो—दो चरणो का अर्थ पूर्ववत् । 'अर्णववर्णन' नामक ग्रन्थ के प्रणेता
उस (श्रीहर्ष) के चारु महाकाव्य नैपथीयचरित मे प्रकृत्या उज्ज्वल नवम
सर्ग समाप्त ।

टिप्पणी—श्रीहर्ष द्वारा 'अर्णववर्णन'—प्रणयन का सकेत ॥ १६० ॥

नैपथीयचरित का नवम सर्ग समाप्त ।

- ० -



पद्यानुक्रमणिका

(६-६ सर्गा.)

श्लोका.	सर्ग श्लो०	श्लोका.	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो०
	अ	अनेन सावै तव	८ ६१	अलीकभैमी	६ १६
अग्निवाहिना	८ ७१	अन्नपुरान्त	६ १३	अश्रीपमिन्द्राद्	६ ६६
अह्ने न केनापि	७ ६१	अन्नपुरे	६ १६	असशय स	६ १४४
अज्ञानविन्दे	६ २६	अन्पोन्यमम्यत्र	६ २१	असेत्रि यस्त्यक्त	६ २६
अजीयतावर्त	७ ६६	अपां पति	६ ८२	अस्माकमध्या	८ ६८
अथ प्रहारात्	६ २४	अपाङ्गनप्याप	८ ३	अस्माकमस्मात्	८ १०४
अथ प्रियावादन	७ १	अपार्थयन्	६ ८०	अस्या श्शुभ्युह	७ १२
अथ मीममुवैव	६ ११७	अपास्तपायेय	८ ८७	अस्या कत्राना	७ २७
अथ स्मराजामय	८ २४	अपास्तपायोहृदि	६ १०६	अस्या करस्य	७ ७१
अथाद्मुषेनास्त	८ १	अपि ब्रह्मीय शृणु	६ ३६	अस्या स्वह	७ ८७
अयोद्भ्रमन्ती	६ ८७	अदि स्वमस्वप्न	६ ३३	अस्या पर्दा	७ ६८
अयोपकायमम	६ ११	अबोधि	६ २४	अस्या सपदैक	७ २
अदाहि यस्तेन	८ ७३	अमज्जद्राकण्ठ	८ २१	अस्या सुमश्री	७ ६६
अदृश्यमाना	६ ४	अर्मा समीहेक	६ १३४	अस्या मुनस्पास्तु	७ ६३
अदोऽरमालप्य	६ १४	अमूमि गच्छन्ति	६ ६४	अस्या मुखेनैव	७ ६८
अदो निगद्यैव	६ ३०	अम्बा प्रणत्योप	६ ४८	अस्या मुखेन्दोर	७ ३८
अघोतपद्माशुग	६ ११६	अर्षं क इत्यन्य	६ १२	अस्या यदप्यादा	७ ६३
अध्वाम	६ १०७	अधि प्रिये कस्य	६ १०३	अस्या यदास्येन	७ २१
अनङ्गवानप्रशसा	८ ६६	अये भमोऽमित	६ ८	अस्यैव सर्गाय	७ ७७
अनादिघात्रि	६ १०२	अये मयात्मा	६ १२२	अदो येनस्त्वा मनु	६ ३६
अनादिमर्गस्रजि	६ १४	अयोगजामन्थ	६ १३२	अदो महेन्द्रस्य	६ २७
अनायि देव	८ २६	अयोधि तद्द्वैयं	८ ६३	आ	
अनाश्रवा व	६ ८	अरन्धतीकाम	७ ६८	आकीटमाक्रेटम	६ १०६
अनुग्रह	६ ३४	अर्काय पत्ये खलु	७ ६७	आधुर्गितं पद्मल	७ २६
अनुग्रहादेव	६ ४२	अलकृतासद्य	८ ८६	आज्ञा तदीयामनु	६ ६२

नैवधोयचरितम्

श्लोका	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो०
आदेहदाह कुमुदा	८ ४३	इयच्चिरस्याव	६ २१	कथावशेष तव	६ ६६
आनन्दयेन्द्रमथ	८ १०८	इपरकृत वेन	८ ४०	कथामु शिर्ये	६ १४६
आभ्या कुचाभ्या	७ ७८	इपुत्रयेणव	७ २७	कपोलपत्रान्मक	७ ६०
आर्ये विचार्याल	६ ८७	इहाविशयेन	७ ६२	कयाचिदालोक्य	८ ६
आलिर्य सख्या	६ ६६	इं		करामजाप्रच्छत	७ ७६
आलीकवृत्तीकृत	८ ३०	इंघस्मिन्नतत्कालित	६ ६०	करिष्यसे	६ ४६
आन्तामनन्नीकर	८ ४१	उ		करोपि नेम फलि	६ १८
इ		उदासितेनैव	६ १३६	कर्णासिदन्तच्छद	७ १०३
इति त्रिलोकी	८ ८४	उद्गतयन्त्या हरये	६ २२	कर्णोत्पलेनापि	७ ३०
इति धृतसुरसार्धं	८ १०७	उन्मूलिताजान	७ ८६	कल्याणि कल्या	८ २७
इति प्रतीत्येव	६ ११	उल्लास्यताम्	६ ३४	कवित्वगतप्रिय	७ ६७
इति प्रियाका	६ १०१	उल्लिरय हसेन	६ ३७	कस्व कुतो धेति	८ ७
इति सचिदाकु	७ १०८	उ		कि नर्मदाया मम	७ ७३
इति स्फुट तद्वध	६ ६०	ऊ		क्रियच्चिर दैवत	८ २
इति स्वय मोहम	६ १२७	ऊरप्रकाण्ड	७ ६४	कृत्वा दृशी ते	८ ३८
इतीन्द्रदस्यां प्रति	६ १०१	ऊ		केदारभाजा	७ ३६
इतीयमसिभव	६ १	ऊ		केनान्धकारादथ	७ २३
इतीयमालेक्ष्यग	६ १२६	ऊ		कौमारगन्धीनि	६ ३८
इतीरयित्वा	६ ७	ऊ		कौमारमारभ्य	८ २८
इतीरिणापृच्छथ	६ १३०	ऊ		कृतो कृते जाप्र	६ ७७
इतीरितैर्नैपथ	६ १३६	ऊ		क्रमेत्कं निन्दति	६ १०४
इत्थ पुनरांगव	६ १११	ऊ		क्रमोद्गता	७ ६६
इत्थ प्रतीपोक्तिम	६ १०८	ऊ		क्षीणेन मध्येऽपि	७ ८१
इत्थं मपूथम	८ २०	औ		खण्ड किमु	८ १०१
इत्थुक्त्वाया	६ ८६	औ		ग	
इद निगद्य चिति	६ २२	क		गुच्छान्त्यस्वच्छ	७ ७६
इद महोऽभि	६ ८३	कदर्पं एयेदग्	८ ३३	गुणा हरन्तोऽपि	६ १०२
इमा गिरस्त्वय	६ ८४	कण्ठ किमस्या	६ २६	गौरीय पत्था	७ ८३
इयं न ते नैपथ	६ ६७	कण्ठे समन्ती	७ २०	प्रीवाद्भुतैवावटु	७ ६६
		कथं नु तोषाम्	६ २६		

नैपथीयचरितम्

श्लोकाः	सर्ग श्लो०	श्लोकाः	सर्ग श्लो०	श्लोकाः	सर्ग श्लो०
		तद्विचलितम्	१ १२६	त्वद्गोचरस्त	८ ७२
घ		तदद्य विश्रम्य	१ ६६	त्वया जगन्मुचि	८ ४२
चक्रास्ति विन्दु	१ १०४	तदपि तामधुत	१ २	त्वयैकरन्त्या	१ ११
चक्षोरनेत्रेण	७ ३०	तनोपि मानम्	१ १०८	त्वयैव पञ्चेषु	१ ८८
चक्षेण विशवं	७ ८८	तन्वीमुखम्	६ ७६		
चण्डालस्ते	१ ११६	तपःफलत्वेन	६ १३	द	
धनुःपत्रे त विनि	६ २७	तपोनले जुह्वति	१ ४१	ददाम कि ते	८ १०२
चन्द्राधिकैतन्मुख	७ ४४	तमर्चितुम्	१ ६७	ददेषि तुभ्यम्	१ १३१
चन्द्राममभ्रं	६ ६०	तमालिरूचेऽथ	१ ६४	दमस्वस	८ ७०
चरच्चिर शैशव	८ १६	तमोमयीकृत्य	८ ६१	दयस्व	८ ६३
चित्रं तदा	६ ८	तरङ्गिणी भूमि	७ ११	दयोऽपश्चेतमि	८ ६६
दिरादनप्याय	१ ६१	तव प्रवेशे	८ २७	दलोदरे	६ ६३
		तवाधराय	१ ११८	दिगीधरायं न	१ ६६
छ		तवास्मि	१ १२१	दिवारजन्यो	७ ११
छायामय प्रैत्रि	६ ३०	तवेत्ययोगस्मर	१ १३३	दिवो धवस्वाम्	१ ७४
		तस्मात्तद्दयादपि	६ ३०	दिवौकर्म कामयते	१ ४१
ज		तस्मिन्लोऽन्ता	८ १	दृते नलश्रीमृति	८ १६
जगद्गुरुमूर्धसु	७ १६	तस्मिन्धिय सेति	६ ७३	दृत्पाय दैत्यारि	६ १
जनैर्विदुःशैर्भवं	६ ६	तस्मिन्धियसुदयैव	६ १६	दृशापि	८ १०
जम्बालजालान्	७ १३	तस्मिन्धियपज्यायं	६ ४२	दृशोरमङ्गलय	१ १०६
जलाधिपस्वाम	१ ७३	ता कुम्भिनाल्या	६ ४	दृशोर्दृषी ते	१ ६७
जागति तच्छाय	६ ३३	तामेव मा यत्र	६ ७०	दृशोर्यथाकाम	७ ६
जानेनिरागादित्र	७ ३६	तान्मय	६ ४०	दृशो किमस्या	७ ३४
जितं जित तस्यलु	१ ४८	ताल प्रमु	७ ७४	दृशो मृषा	१ ११
जितस्वायस्येन	१ १४८	तीर्णं	८ ७६	दोमूर्त्तमालोक्य	६ २०
		तुपारनिशेषित	७ १०३		
त दहमानैरपि	८ ७८	तेषामिदानीम्	८ ६०	घ	
तच्छायमौन्दर्य	६ ३१	त्रिनेत्रमात्रेण रथा	८ ६३	धिनोति नास्मान्	८ १७
तच्छालमानन्दम	८ ११	स्वयं ममुत्तार्यं	७ ३१	धियात्मनस्ताव	१ १२४
तत्रैव मग्ना	८ ६	स्वकान्तिमम्मा	८ ११	धुनापतपुण्य	१ ८६
तथा न तापाय	८ ८१	त्वदर्थिन सन्तु	८ १४	धृतरतेन्द्रस्य	८ ६७
तथापि निर्वृणति	१ १०	त्वदास्यनियन्मद	१ ६३		

पद्यानुक्रमिका

श्लोका	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो०
न		पदे विप्रानुयंदि	७ १०	प्रिया विकल्पोप	६ १७
न काकुवाक्यैरति	१ १३	पदोपहारोऽनुप	८ २०	प्रियाङ्गुपान्या	७ ६
नवा शिरोरत्न	८ २०	पद्मथा नृप मचरद	१० २७	प्रियामन्वीभूत	७ १०१
न मन्मथमन्वम्	८ २१	पद्माष्ट	७ ४६	प्रियामनोभूतार	८ ८८
नल तदावेय	१ १३७	परम्परस्पर्श	६ १८	प्रियानुर्वीभूय	७ १२२
नल म नल्पव	१ १०८	परिष्वङ्गपानव	१ ११६	प्रिये वृष्णीज्वार	८ १०३
नलप्रणागी	६ ३	परोत्तनुं भनमैव	६ १०६	प्लुष्टधापेन	८ १०१
न धर्वसे मन्मथ	१ १११	पदयन् स भस्मि	६ १८		
न सनिघात्री	१ ७८	पदया	६ ३१	व	
नामा स्मर	६ ६६	पिकन्ध वाह	८ ६४	वन्पूक	७ ३७
नामादमीया	७ ३६	पु मि स्वमनृष्य	६ ४३	वाह	७ ६८
नास्पर्शि दृष्टापि	७ १७	पुग्ये मन कस्य	८ १७	दिमति वन	१ ६
निगन्धुमद्योचित्र	७ ७७	पुरी मुह्येन	८ ७७	दिमति चिन्ताम	१ ३१
निबन्ध	१ ७१	पुमानिवास्पर्शि	६ ४७	दनीति	८ ४८
निजाशनिदंश	१ १४६	पुरा मुरीगान्	१ २८	ब्रह्माह्वयम्यान्व	७ ३
निने मृजाम्नासु	८ १२	पुराकृति	७ ११	म	
नित्य नित्यन्या	६ १०३	पुरा परिष्वज्य	८ २३	मवन्दालगुष्टम	८ ३६
निनीय पीयूष	१ ७७	पुरा घनु	७ २४	मवग्रहदय	६ ४६
निर्माहलम्पष्ट	६ २०	परिष्वजं लम्	८ १७	मद्यानि	७ १६
निरम्न दूत स्म	१ ३८	प्रदीप एवापुपि	६ १००	मयोऽपि बाला	८ ३१
निरीदित चाह	८ १२	प्रतिप्रतीकम्	७ २	मयोऽर्थमेनम्	६ ११०
निवेद्यसे यद्यन्ते	७ ४७	प्रत्यङ्गमस्या	७ ११	नृगेकमनुं सुं	८ १४
निवेद्यता हन्त	८ २४	प्रनुवन्मन्नासु	१ १०१	नृदा वियोगा न	१ ८३
निगिदमप्यादर	१ ३६	प्रमीद तस्मै	१ १३	भैमी च दूष्य च	१ ८१
निपेद्येनो विधि	१ १०	प्रमीद यच्छ	१ १२७	भैमीनिराधो हृदि	६ १६
नैनं त्यत्र क्षीरधि	६ ८०	प्रमूनवागाह्वय	७ ४८	भैमीपदस्पर्श	६ ४
न्यवेक्षि रानप्रितये	७ ७१	प्रमूननित्येव	१ १३१	भैमीमुपावीणय	६ ६७
न्यस्तं ततस्तेन	८ ८३	प्रमूनमादाधिग	६ ४१	भैमीविनोदाय	६ ७४
परिवराया	१ ८१	प्रार्थी प्रयाते	८ ६२	भैमीसुमीपि	६ ७७
पद् शनेनार	६ ८७	प्रार्थैव तावत्तव	८ ४१	भैम्या	१ ७
पन्त्रियेयोऽलि	१ १४३	प्रियं न सूर्यं न	१ १७		

नैपथीमञ्जरितम्

श्लोकाः	सर्ग श्लो०	श्लोकाः	सर्ग श्लो०	श्लोकाः	सर्ग श्लो०
अनष्टनुप्यासुव	६ ३६	मुनिव्यातात्मान	६ १२१	रोमाञ्जिताञ्जामनु	६ २३
अमानि ते मैमि	६ ३१	सुगम्य	८ ४०	रोमावलीदग्ध	७ २२
अभ्यां प्रियाया	७ २८	य		रोमावलीभ्रू	७ २६
अश्रित्रगेना	७ ३१	य- प्रेर्यमागोऽपि	६ ७३	रोमावलीरज्जु	७ २४
म		यत्प्रत्युत	८ २०	ल	
मनाः	७ ६	यत्रावदत्तान्ति	६ ६८	लवौ कवावेव	६ १५०
मत्- किमैरावत	६ ३०	यत्रैकयालीकन	६ ६१	लिपिर्न देवी सुत	६ ७७
मदुप्रतापन्यय	६ ३२	यथाकृतिः काच	८ २८	लीनस्वर्गानीति	६ १०
मध्यं तनूकृत्य	७ ८०	यथा तथा मान	६ २६	लोकत्रयि यौदि	६ ८१
मध्योपकम्पादघ	७ ४०	यथा यथेह	६ २०	व	
मनोनुदम्भं भवि	६ १३८	तदश्रमं विक्रम	८ ४	वयं कलादा इव	८ ६६
मन्त्राकिनी	६ ८३	यत्राववाप्यपि	६ १४०	वर्षेणु यद्भारत	६ ६७
मन्देऽमुना कर्म	७ ६४	यदि प्रमादीकुल्ये	७ ४३	वाग्धन्म	८ ३०
मम त्वदच्छा	६ १०७	यदि स्वभावान्मनह	१०	वामः	७ ८
मम अमद्वेत	६ १०६	यदि म्वनुदबन्तु	६ ३६	विज्जतिमन्त्र-	६ २६
ममादरीदं विद्	६ १००	यज- पडाङ्गुष्ठ	७ १०६	विदन्नाराज्यमवा	६ १४१
ममापि कि नो	६ ६८	यस्तन्वि मर्ता	८ ८०	विद्या विदनेन्द्र	७ ४१
ममाद्य- स्वप्न	६ ३०	यस्मिन्नल	६ ३८	विषय	७ ६३
ममामनार्थं भव	६ ११४	यानेन तन्या	७ १०१	विप्रोर्विधिविन्व	७ २६
ममैव पागौक	६ ६८	यानेव देवान्	६ ८५	विभिन्ना दुःकृ	६ ६०
ममैव वाहादि	६ ६६	र		विश्रम्य तच्चात	७ ७
ममाङ्ग पृष्ट-	६ ३	रज्यस्वम्या	७ ७०	विप्रोगवापाञ्जित	७ ६१
ममापि देप	६ १६	रज्यस्व राज्ये	६ ८३	विरम्यदां भूत	८ २६
मयैव संबोध्य	६ १४०	रयादमौ सारथि	६ ७	विलम्बमे	६ २०
महावनाचार	६ १३	रभ्यापि	७ ३०	विलम्बमे	६ २०
मही कृतार्था	८ ४३	रवैर्गुणाम्नाल	८ ६८	विलम्बमे	६ २०
महेन्द्रदृष्यादि	६ १०२	राज्ञा द्विजाना	८ ३७	विलम्बमे	६ २०
महेन्द्रहेतेरपि	६ १२०	राज्ञौ द्विजाना	७ ३६	विलम्बमे	६ २०
मौल्य	६ २१	रगन्म	७ १००	विलम्बमे	६ २०
सुग- म मोहात्	८ ३६	रुपं प्रति	६ ४८	वृषा कथेर्य मयि	६ ६

श्लोका	सर्ग श्लो०	श्लोका	सर्ग श्लो	श्लोका	सर्ग श्लो०
वृथापरीहास	६ २६	सत्येव साम्ये	७ १४	स्पर्शा तमस्या	६ २२
वैलामतिक्रम्य	७ ४	सदा तदाशामाधि	६ ७६	स्पर्शातिहर्षा	६ २३
वेश्माप सा धैर्यं	६ २६	स धर्मराज खलु	६ २६	स्फुटस्यद	६ १२६
व्यधत्त धाता	७ २४	स भिन्नमर्मापि	६ ७३	स्फुटोत्पलाभ्या	६ ८६
व्यर्थं भवद्भाव	८ १६	सम सपरतीभव	८ ८६	स्मरस्य की र्वैव	८ ७३
वज्रन्तु ते तेऽपि	६ १२४	समापय	६ ११२	स्मराशुगीभूय	६ ६७
श		सरत्र	६ २४	स्मरेन्धने वञ्चसि	८ ७६
शरै प्रमूनेस्तुदत	८ ६६	सन्तीन्माञ्जिह	६ ७८	स्मरेपु राधा सह	६ ११०
शरैरवस्य कुमु	८ ७६	सहाग्लिस्त्रीपु	६ ४०	स्मार धनुर्यद्विधु	७ २६
शारीं चरन्ती	६ ७१	साधोरपि स्व	६ २६	स्मितस्य सभाव	६ १११
शिपी विधाय	६ ७६	सारोत्थधारैव	८ ८६	स्ववासनादष्ट	६ २०
शिरीषकोष्ठादपि	७ ४७	सालीकहृष्टे	८ १८	स्वनाम यज्ञाम	६ १२३
शिरीषसृष्टी	६ २८	सुधाशवशाभर	६ १६	स्वप्नेन प्रापिता	८ १०६
शुभाष्टवर्गस्त्वद	६ ११७	सुधारसोद्वेलन	६ ११३	स्वर्गे सता शर्म	६ ६८
शुश्रूषिताहे	६ ६४	सुधासर सु	८ १००	स्वर्गे वितीर्णं कर	८ ६८
शोभायशोभि	८ ३४	सुरापराधस्तन	६ १२३	स्वाच्छन्द्यमानन्द	८ ८
श्रवणपुटयुगेन	६ ११२	सुरेषु पश्यतिज	६ १२६	स्वात्मापि शीलेन	८ २१
श्रीहर्षं कत्रिराम	६ ११३	सुरेषु सदेशयसी	६ १६	स्विघातप्रमोदाधु	६ ६
७ ११०, ८ १०६,	६ १६०	सूक्ष्मे घने नैपथ	८ १३	ह	
श्रुति सुराणाम्	६ १४८	सृष्टातिविश्वा	७ १०७	हन कयाचित्पथि	६ २६
श्वस्तस्या प्रिय	६ १६८	सेय न	८ ४६	हरि परित्यज्य	६ ४३
स		सेय ममैतद्वि	७ ४६	हरित्पतीना	८ २६
सघट्टयन्त्यास्त	६ ८८	सेय शृदु कौसु	७ २८	हित्वैकमस्याप	८ ११
सभुज्यमानाद्य	७ ४२	सोमया कुप्यन्ति	८ ७४	हित्वैव	६ २४
ससारसिन्धावसु	८ ४६	स्तनातटे चन्दन	७ ८०	हुताशकीनाश	६ ७६
मखीशताना	६ २८	स्तुतौ	६ ६१	हृदाभिनन्द	६ १७
		स्त्रिया मया	६ ३७		

नैपथ-कथासार

(पष्ठे सर्ग)

मुमानिमुंवनैकदृश्यतनुरप्युर्ध्वैरदृश्यस्तदा

कक्षा सप्त वगाह्य नीमदुहितु प्रासादनासादयन् ।

ता तत्र प्रमनोक्ष्य स्रष्टनरा तीर्वांगदूर्तीपिरा

द्वारादुच्छसिति स्त वेतसि मूय दूर्नोर्षि दौम्येन स ॥

—श्रीहृणारामकवि

देवशैल्य मपादन के निमित्त राजा नल कृ डिनपुर पहुँचे और स्वेच्छया अदृश्य होकर उन्होंने राजमंदिर में प्रवेश कर सात स्रष्ट पार करते हुए अन्तपुर में प्रवेश किया । त्रिपेन्द्रिय नल ने वहाँ अनेक प्रकार के रमणीय क्रिया-कलाप देखे, परन्तु उनमें विडुडि न आयी । वे वहाँ से चौराहे पर पहुँचे । मार्ग में माँ को प्रणाम करती दमयन्ती को उन्हीं देखा, पर धन के कारण वे उसे पहिचान न सके, अदृश्य रहने के कारण दमयन्ती तो नल को देख सकती ही नहीं थी । धूमने-फिगने नल दमयन्ती के प्रासाद में पहुँचे और सखी समुदाय के मध्य स्थित बैठा दमयन्ती को उन्हीं देखा और पहिचाना । अदृश्य रूप में वहा स्थित नल ने देवदूतियों का आगमन देखा । अग्नि, यम और वरुण की दूतियों ने अपने-अपन प्रस्ताव दमयन्ती के समुच्च रखे किन्तु दमयन्ती के द्वारा वे स्वीकृत न हुए । इसमें नल को आशा बँधी कि दमयन्ती की प्राप्ति इन्हें समव है । तनी इद्र का विशेष संदेश लेकर उसकी दूर्ती जायी, त्रिमने इद्र के महत्त्व का वर्णन कर दमयन्ती को पारिजात को माला नोट की और इद्र को वरने की समति दी । दमयन्ती ने 'मघवत्प्रसाद'-ग्रहण किया, सखियों में भी दमयन्ती को इद्र-वरण की मलाह दी, इससे नल की आशा विधिल भी हुई, परन्तु दमयन्ती ने इद्रदूर्ती को इद्र के चरणों की ही शपथ दी कि वह ऐसा प्रस्ताव पुन न करे । दमयन्ती ने बताया कि वह मन ही मन नल का वरण कर चुकी है । नल को क्षीणता पुन लीटी, नल के प्राण पुन बापस आये, जैसे उन्मत्त को बांध आ गया हो ।

लेख-कथासार

(सप्तम सर्ग)

अग्रान्त तरदन्तरोद्गमोत्सवकारपरान्तरे

प्रत्यारभ्य मुञ्चान्नसर्वीपिनेकसि प्रादुराहस्तुवन् ।

सा तु व्यक्तमम् समीक्ष्य चकिता तद्रूपलुब्धा सखी-

प्लाश्चर्यंस्तिमिकामु कोऽसि किमिह प्राप्नोऽस्यगृच्छत्स्वयम् ॥

—श्रीकृष्णरामकवि

इन्द्रादि को दूनियो के निराश होकर चले जानेपर नल को यह विश्वास हो गया कि दमयंती का उसके प्रति हृदय अनुराग है और उसे यह प्रतीत होने लगा कि दमयंती अब उसे प्राप्त हो सकेगी । नल का अग-अग दमयंती को निरन्व-निरख कर तुष्ट और आनन्दमग्न होने लगा और मन प्रसन्नता से परिपूर्ण हो गया । उसने मन-ही-मन दमयंती का पर्यवेक्षण किया और विस्तार के साथ शिक्षा से लेकर नखपथगत उसके रूप का वर्णन-विवेचन किया । अंत में दमयंती पर मुग्ध वह इतत निर्णय पर पहुँचा कि दमयंती विधाता की अनुपम कृति है, यौवन ने उसके आकर्षण को द्विगुणित कर दिया है और मनोमुक्त ने तो उसे वणनूत्तीत बना दिया है । उसका हृदय आश्चर्य और हृषं में निमग्न हो गया और उसने विचार किया कि अब अहम्य रहना व्यर्थ है और उचित होगा कि अंत सखी समझ के मध्यस्थित दमयंती के समुक्त प्रकट हो लिया जाय ।

नैपथ-कथासार

(अष्टम सर्ग)

दमयन्ती और उसके सखी समूह व समुख जब नियमराज प्रकट हुए तब वे सभी आश्चर्यचकित हो मूग्ध भाव से उनकी ओर देखने लगीं । दमयन्ती नल को समूह मुखमात्र से निहारने लगीं और अनिन्त हो गयी । बड़ी कठिनता से वह आशुन छोड़कर उठी और स्वागत करने हुए नल से टसने बैठने का अनुरोध किया और उचिन और सुनयानुक्क वातांजन किया—आन कौन है, कहां से पधारते हैं, कहा जाना है—यादि ? जिन प्रकार वयांजल में दिक्षरिणी जल-धेग से पूा हा जाता है, उसी प्रकार दमयन्ती आनद-भरनराशो से पूां हो उठी और उसकी नलनिमग्ना दृष्टि जैसे नल का आश्रित करने लगी । बड़ी प्रसन्नता हुई दमयन्ती को, ऐसी, जैसी कि मुक्तदगा मे होती है । नलरु मग्ना दमयन्ती ने बड़ी शालीनता के साथ नल से सुमयोचित वातांजन किया । दमयन्ती ने जब नल के कुल आदि का परिचय जाना तो उने लगा कि ही न हो, यह नल ही है । आनत ग्रहण कर नल ने निवेदन किया कि वह इन्द्रादि देवों का दूत है । वे दमयन्ती के विषय में ब्यधित हैं और उसके पाणिग्रहमार्थी हैं । सम्मत् सामर्थ्य से मयल देव आज दमयन्ती के समुख पाचक हैं । आज ही देव यह समझने लगे हैं कि उनके पास दमयन्ती को देने योग्य कुछ नहीं है—जमृत भी नहीं । मुधा तो दमयन्ती के अग्ररो में ही है । आज तो वे अपना अमरत्व देकर भी दमयन्ती के पादभद्रन की शरण में जीने को इच्छा करते हैं । हम लिए दमयन्ती से उनका निवेदन है कि वह इन्द्र, जग्नि, यम, वरुण में से किसी का वरुण करे और नल का दूतकर्म सफल बनाय । नल ने निष्कर्षत अत में कहा—'हे मीमि, वरुण करके तू या तो इन्द्र को आनदिन कर अपवा मग्गमयनल अग्नि का नूतन सुरत-शीडाश्री द्वारा उधार कर । यम पर दना कर अदवा वरुण का ही वरुण कर ।'

नैषध-कथासार

४५५५५

(नवम सर्ग)

नल ने यद्यपि बड़ी तत्परता के साथ अपना दूतकार्य संपादन करते हुए इन्द्र, अग्नि, यम और बरुण के से किमी एक दिक्पाल को पतिरूप में स्वीकारन का निवेदन किया, पर दमयती ने उस ओर अपनी अनिच्छा प्रकट की और नल से कहा कि—'महोदय, मैंने तो आपसे आपका कुल नाम जानना चाहा था, पर आपने तो वह न बता कर यह सब अनपेक्षित कह डाला ? क्या यह लज्जास्पद नहीं है ? सो कृपा करके आप वही बताइए ।' नल ने उत्तर दिया—'आपका जिज्ञासा व्यर्थ है । मैं' हूँ, 'तुम' हो—'क्या वातालाप के ये 'मैं' तू सवनाम ही पर्याप्त नहीं है ? इसके अतिरिक्त मेरा कुल यदि अनिमल है, तो बताना अनुचित ही होगा । और यदि उच्च है तो यह दूतकर्म ? जहाँ तक नाम का प्रश्न है स्वयम् अपना नाम लेना शिष्टव्यवहार नहीं है । सो अच्छा यही है कि आप मेरे पूर्वोक्त निवेदन पर हा विचार करें । आपका कल्याण उमीमे है । पर दमयती ने अज्ञात कुल नामा व्यक्ति के साथ बात करने में ही असमयता प्रकट की और प्रस्ताव का उत्तर देने में भी अपने को असमय बताया । तब दमयती की एक सखी ने बताया कि राजनदिग्धी नल में अनुरक्त है, नल के बिना वे जीवित नहीं रहेंगी । पर नल ने पुन अपने प्रस्ताव पर ही दमयती से विचार करने का अनुरोध किया । नल को इस पर दमयती ने मृत्युदूत कहा । पुन जब सखी ने दमयती के नल के प्रति दुःखानुराग की बात कही तो नल ने समझाया कि देवों के विरुद्ध रहने पर नल दमयती-परिणय असम्भव है । दमयती इस पर कृष्णा पूर्ण विलाप करने लगी, जिसे सुनकर नल अपनी स्थिति भूलकर दमयती को अनेक विध आश्वस्त करने लगा और उसे पछतावा लगा कि क्यों वह देवदूत बना ? इतने में ही वहाँ स्वयं हंस आ गया और उसने नल से अनुरोध किया कि वह दमयती को निराश न करे । तब नल ने दमयती को विचारपूर्वक व्यवहार करने को कहा और निवेदन किया कि वह देवों जयवा नल के मध्य किसी का वरण करे । नल को समुझ देख और प्रस्ताव सुन दमयती प्रसन्न हुई और लजा गयी, पर सखी ने दमयती का दृढ़ निश्चय नल को बता दिया । नल स्वयं देवा के साथ अपने उपस्थित रहने की बात कहकर सारा समाचार कहने के लिए देवों के पास चला पडा ।